जगद्गुरु त्रिदण्डिग्रन्थमालाया द्वादशपुष्पम्

॥ श्रीसीतारामाभ्यां नमः ॥

॥ प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकाराय नमः ॥

श्रीरामानन्दसम्प्रदायस्योनचत्वारिंशत्तमाचार्य

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरघुवराचार्यविरचिता

श्रीरघुवरीयवृत्तिः

जगद्गुरु श्री त्रिदण्डिग्रन्थमालाया द्वादशपुष्पम्

॥ श्रीसीतारामाभ्यां नमः ॥

॥ प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकाराय नमः ॥

श्रीरामानन्दसम्प्रदायस्योनचत्वारिंशत्तमाचार्य

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरघुवराचार्यविरचिता

श्रीरघुवरीयवृत्तिः

(ब्रह्मसूत्रीय वेदान्तवृत्तिः)

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र प्रणीत

तात्पर्यदीपाख्यविवरणेन

स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीत

सारबोधिन्या च सनाथिता

वृत्तिकार श्री रामानन्द सम्प्रदाय के ३९ वें आचार्य

महामहोपाध्याय

जगद्गुरु श्री रामानन्दाचार्यजी रघुवराचार्यजी वेदान्तकेसरी

आविर्भाव १९४३ तिरोभाव २००७ विक्रम

॥ श्री हनुमते नमः ॥

वृत्तिः

वृत्ति शब्द की सिद्धि "स्त्रियां क्तिन् ३।३।९४" इस पाणिनीय सूत्र से वर्त्तते अनया इस व्युत्पत्ति में वृत धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर निस्पन्न होना बतलाई है। मेदिनीकार कहते हैं "वृत्तिर्विवरणाजीवकैशिक्यादिप्रवर्त्त ने ५८।६०" अमरकोषकार जीविका-वेतन अर्थ बता रहे हैं तो मेदिनीकार विवरण के साथ अन्यान्य कोशकारों ने अनेक अर्थ का उल्लेख किया है उन्हीं में "भाष्य, टीका, विवृति, जटिलटीका जिसकी व्याख्या करने की आवश्यकता पडे" आदि अर्थों का उल्लेख है। मेरा इष्ट भी प्रकृत विषय ही है। दार्शनिक जगत् में वृत्ति का नाम लेते ही वे पुण्यश्लोक पूर्वोत्तर मीमांसा तथान्य अनेक विषयों पर वृत्तिकर्ता श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के ९ वें आचार्य जगद्गुरु श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी बोधायन उपस्थित हो जाते हैं। जिनके वृत्ति ग्रन्थों के समस्त परवर्ती भाष्यकार व टीकाकार ऋणि हैं। सभी भाष्यकार व टीकाकारों ने अपनी उक्ति में प्रामाण्य की मुद्रा लगाने के लिए "तदाह भगवान् बोधायनः" इस प्रकार बडे सम्मान से उनकी उक्तियों को उधृत किये हैं। आपने श्री रामानन्द सम्प्रदाय के ७ वें आचार्य श्रीवादरायण व्यासजी के ब्रह्मसूत्रों पर अद्भुत वृत्ति लिखी थी जो बोधायन वृत्ति के नाम से जगविख्यात हुई। वह ब्रह्मसूत्रों की प्रथम व्याख्या थी अपनी महनीयता के लिए अद्वितीय थी अपने प्रतिपाद्य विषय-विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादन में 'अप्रतिद्वन्दमाहवे' की उक्ति को अक्षरश चरितार्थ करती थी। अतः असहिष्णु कालेहृदयवालों के काले करतूत ने नष्ट करने का प्रयत्न किया तथापि उसकी अतिविस्तृततम कीर्ति तथा यत्र तत्र ग्रन्थान्तरों में उधत महत्वपूर्ण वाक्यांश अद्यावधि ज्यों के त्यों हैं जो रामानन्द सम्प्रदाय के दर्शन भण्डार के अमूल्य रत्न हैं।

इस दुरुहप्राय वृत्ति को सरलतया बोधगम्य कराने की दृष्टि से विक्रम सम्वत् के ३२६-५२६ में वर्तमान जगद्गुरु श्रीदेवानन्दाचार्यजी जो श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के १४ वें आचार्य हैं ने "प्रमिताक्षरावृत्ति" नाम से श्रीबोधायनवृत्तिसार लिखी। उसमें भी लोगों को अतिसारगर्भित होने के कारण इन्द्र के अर्थ विडौजा सा ही अनुभव होने लगा, अतः परवर्ति आचार्य जगद्गुरु श्रीपूर्णानन्दाचार्यजी जिनका काल सम्वत् ८६६-१०६७ है श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के १८ वें आचार्य थे ने श्रीबोधा-

यनमतादर्श के नाम से प्रमिताक्षरावृत्तिसार लिखी जिसको सहस्त्रश्लोकी नाम से भी दार्शनिक जगत् जानता है। यह भी यत्र तत्र पूर्ववृत्तानुसार अपने गौरवमय गूढ़ार्थ गूढ रखने में पीछे नहीं रहा अतः लोगों को क्लेशानुभव करते देख जगद्गुरु श्री श्रियानन्दाचार्यजी स्थितिकाल संवत् १०२६–१२०६ श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के १९ वें आचार्य ने "प्रमिताक्षरावृत्तिसार" लिखा। इस प्रकार श्रीबोधायनवृत्ति की उत्तरोत्तर एक के पीछे एक टीका विवृति होती गई उसकी महत्ता बढ़ती ही गई।

पर अत्यन्त खेद के साथ लिखना पड़ता है कि १२०६ के बाद की स्थिति का कोई अता पता नहीं। प्रायः विधर्मियों के जोर का काल वही है यह समय वह था जब पश्चिमोत्तर से आये अफगान एवं तुर्क दृढ़ हो चुके थे उत्तर भारत की हिन्दू–सत्ता प्रायः डांवा डोल थी। लगातार आक्रमणोंसे प्रजा परेशान थी। एक ओर देशी रजवाडों का पारस्परिक संघर्ष था तो दूसरी ओर विदेशी आक्रमण, हिन्दू राजागण असंगठित था विलासमत्त थे। एक अभिनव विजयी धर्म दृढता पूर्वक शासकों का आश्रय लेकर सिरउठारहा था और निशंक रूपेण अपने प्रचार में रत था। जिहाद के नामपर निरीह हिन्दुओं का नृशंस संहार प्रारंभ हो चुका था बलात् धर्म परिवर्तन का मार्ग खुल रहा था। विशृङ्खलित हिन्दु प्रजा का स्वमान पग पग पर भंग हो रहा था तथा राजनैतिक परिस्थितिहिन्दुओं के लिये तो सर्वथा विपरीतही थी। उस समय में वेद स्मृति इतिहास पुराण भाष्यादि आकर ग्रन्थों को ढूंड–ढूंड कर जला देना एक आम बात थी। इतिहास विदों से यह छूपा नहीं है कि छ छ महिने तक पुस्तक भण्डार जलते रहते थे। यह श्रीसम्प्रदाय श्रीरामनन्द-सम्प्रदाय की अमूल्य निधि भी प्रस्तुत प्रसङ्ग के चपेट में आया हो या हितेच्छु की जामा पहने सवर्णों की कालीकरतूत का शिकार हुआ पर आज तक सम्पूर्णतया वह वृत्ति अनुपलब्ध ही है।

प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकार श्रीसम्प्रदाय (श्रीरामानन्द सम्पदाय) के प्रधान आचार्य 'जिनकी अवतरणतिथि विक्रमसम्वत् १३५६ साकेत गमनतिथि १५३२ है' जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य जी यतिसम्राट् ने अपने ब्रह्मसूत्रानन्दभाष्य के अवतरणिकामें– "यस्याश्चसूत्ररूपत्वेनातिसूक्ष्माकारतामवधार्य साक्षाद्भगवदवतारस्वरूपस्य स्वपरमगुरोस्तस्याशयं तत एव समधिगम्य पारमैकान्त्यनिरतस्य स्वगुरोश्च श्रीशुकदेवमुनेराज्ञया बोधायनापरनामधेय श्रीपुरुषोत्तममुनिना सुखबोधाय विशदतमा वृत्तिरभ्यधायि। इयञ्चभगवद्बादरायणेन निश्चितानामेवार्थानामवबोधिकेति वेदान्ताध्वनि प्रवर्तमानानाम्महानवलम्बोऽस्या भवे भवेद्यदि कात्स्न्येंनोपलब्धिरेतस्या भारतवसुन्धरायाम्। न

च सुहृदं गवेशयद्भिरप्यस्माभिः सोपलभ्यते अतोऽस्मत्पूर्वाचार्यैर्येऽशाः क्वचिदस्याः सङ्गृहीतास्तान् सबहुमानं यथा स्थलमुद्धृत्येदं विधीयते सूत्रभाष्यमानन्दभाष्यं नाम" लिखा है अतः आचार्य श्री के कालमें वृत्ति पूर्णतः अनुपलब्ध थी ।

साथ ही स्वग्रन्थान्तमें आचार्यजी लिखते हैं-

"बोधायनवृत्त्यभावे तत्सारमनुसृत्य हि ।
आनन्दभाष्यमेतच्च रामानन्देन निर्मितम् ॥"

अतः यह विदित होता है कि श्रीबोधायन वृत्ति का सार तथा प्रमिताक्षरासार आदि पूर्वाचार्य प्रबन्धों के आधार पर आचार्य श्री का भाष्य अवलंवित है जो प्रायः पदे पदे झलकता है, इस विषय की विशेष चर्चा भाष्य विवरण में कीजा चूकी है अतः एहां अधिक चर्चा अस्थाने होगी ।

प्रकृत में कालक्रम व परिस्थिति के अनुसार भाष्य से अभिलषित पदार्थ को प्राप्त न कर सकने वालों को ध्यान में रखकर श्री रामानन्द सम्प्रदाय के ३९ वें आचार्य जगद्विजयी महामहोपाध्याय अनन्त श्री विभूषित १०८ जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रघुवराचार्यजी वेदान्तकेसरीजी ने अति गमीराशय प्रसन्न मधुर अल्पाक्षरा श्रीरघुवरीयवृत्ति (ब्रह्मसूत्रीय वेदान्तवृत्ति) १९९४ वि०सं में रचना की थी यह भी अपने नामार्थ प्रकट करने में कोई कशर नहीं रखती वृत्तिकार महाभाग की ही प्रतिज्ञा वाणी है-"अति संक्षिप्ता वृत्तिर्विधीयते" तो विशदार्थगर्भस्वाभाविक है जैसे कि आप ही कह रहे है-"वेदान्तार्थप्रकाशिकाम्" उपसंहार श्लोक ४ में अतः समस्त वेदान्त तत्व को स्वल्पाक्षरों में समाविष्टकर स्फुट करना तथा उससे समस्त-तत्वावबोध होना कोई साधारण कार्य नहीं अतः तत्व जिज्ञासुओं को क्लेशानुभव होना स्वाभाविक है । उसमें भो यह वृत्ति संपूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय वाराणसी से ली जानेवाली श्रीरामानन्द वेदान्त के आचार्य परीक्षा में पाठ्यरूपेण नियत होने से छात्रों को परीक्षा सेतु सन्तरणजन्य क्लेश तो मर्कटस्य सुरापानम् वाली कथा चरितार्थ प्रायः कर रहा था। कई विज्ञसज्जन कनेक छात्रगण की इच्छा थी की वृत्ति को विवृत की जाय । सूचना स्थाने थी अति उत्तम थी पर किसी के ऊपर कलम उठाना कोई साधारण वात नहीं उसमें भी-

"तावद्गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुकाविपिने यथा । न गर्जति महासिंहो यावद्वेदान्त केसरी"

इस आभाणक से कोई अपरिचित नहीं तो ब्रह्ममीमांसा शास्त्र में कलम टेढी सीधी करनो कोई नानी मां का खेल नहीं। सावकाशता गहन चिन्तन तपः पूतान्तः

करणतादि सापेक्ष है ऐसे महान् कार्यों के लिये । इतरसाधनाभाव न होनें पर भी सावकाशताभावजन्य हेतु से वृत्तिविवरण शीघ्र प्रकाश में नहीं आ सका । उसमें कारण था वाराणसी में प्रधान आचार्यपीठ स्थापन व शीघ्रनिर्माण जो कि अभीभी आचार्य श्री तत्कार्य में अहर्निशव्याप्त हैं तो भी किञ्चित्सावकाश हो कर मेरी विशेष प्रार्थना को लक्ष्य में रखकर स्वाचार्य कृति वृत्ति को विवृत करने की महानुग्रह आचार्य श्री ने किया । उसको यथाबुद्धि वैभव सम्पादन कर वृत्ति के साथ प्रकाशित किया जा रहा है इस प्रसंग में वाराणसी में प्रधान आचार्य पीठ आनन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ के संस्थापक निर्माता व संस्थापयाचार्य श्री रामानन्दसम्प्रदाय के ४० वें आचार्य जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र जी के प्रसङ्ग में कुछ लिखना अप्रासङ्गिक न होता पर इस ग्रन्थ के साथ 'देशिक परिचर्या' शीर्षक से एक निवन्ध जुडा है उसी में ब्रह्मतत्वोपदेशक लेखक सभी पूर्वाचार्यों का व्यास–समास रूप से चर्चा आई है अतः यहां प्रपञ्च से विरत हो रहे है ।

वृत्ति विवरणने अपने पूर्वाचार्यो का रास्ता नहीं छोडा यत्र--तत्र व्यास समास से अछूता नहीं तो प्रसङ्गोपात्त गहनता को कैसे गूहित किया जा सकता ? मेरे स्वल्प विचार से यह अतिगहन ब्रह्मविद्या का गुण ही है । हां यह विवरण प्रायः समस्त पूर्वाचार्यो के दिव्य प्रबन्धों को उधृत कर यत्र तत्र स्वसिद्धान्तमत पुष्ट करने में थोडासा भी हिचकिचाता नहीं, जो इन विशिष्टाद्वैती समस्त पूर्वाचार्यो की परिपाटीसी रही है, अतः विवरणकार ने क्या अपराध किया कि इन्हे उत्पथ कहा जाय ? समयाभाव तथा निवन्ध काय वृद्धि भय से विशेष चर्चा नहीं कर लेखनी व्यापार से विरत हो रहे हैं क्योंकि हाथ अरशी को कंगन क्या ?, विवरण महाप्रबन्ध आप के अपने हाथों है यथेच्छ रसास्वाद करें परिणाम स्वरूप सायुज्य मुक्ति भाक् वनें ।

अनेक ब्रह्मतत्वजिज्ञासुओं का संस्कृत भाषामें पूर्ण प्रवेश न होने के कारण ऐसे शास्त्रों के रसास्वाद से वञ्चित रह जाते हैं उन लोगों के आग्रह को ध्यान में रखकर राष्ट्र भाषा में सारबोधिनी नामक हिन्दी विवरण को भी साथ में प्रकाशित किया जा रहा है । आशा तो यह है कि इससे सोधारण पढे लिखे साधक भी अपना अभिष्ट तत्वज्ञान प्राप्त कर श्रीसाकेत लोकस्थ सर्वेश्वर श्रीसीतारामजी की कैंकर्य प्राप्ति रूप मुक्ति के भागी वनकर अपने को कृतकृत्य करायेगे । पर इशमें विषय की दुरुहता ने यत्र तत्र विषय को कठीन सा बना दिया है । क्योंकि दार्शनिक परिपाटी व परिभाषा ही ऐसी है कि उस विषय को उसी के नियत शब्दों से न वताया जाय

तो उसका स्वारस्य टूटसा जाता है । रस का विच्छिन्न होना पाठक को अन्याभिमुख कर देता है, अतः यथा संभव दोनों पक्षों का रक्षण का प्रयत्न किया गया है, सफलता का मुहरतो विज्ञपाठक ही लगायेंगे, मैं तो क्या कहूँ ?

"निज कवित्त के ही लाग न नीका । सरस होउ अथवा अति फीका" ॥

मेरी अनभिज्ञता के कारण व दृष्टि दोष से अनेक छोटी मोटी भूले रह गई हैं । शोधनिका भी नहीं लगा पाये कार्याधिक्य के कारण । जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठ मासिक पत्रिका का पूर्ण कार्य सम्पादन करना आनन्दभाष्य टीका तथान्य प्रस्थानों की टीका व स्वतन्त्र प्रकरण ग्रन्थों का टीका कार्य साथ साथ में चल रहा है अतः बौद्धिक मानसिक परिप्रेक्ष के साथ पश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्दपीठ श्रीशेषमठ का कार्य व उससे सञ्चालित श्रीरघुवर संस्कृत महा विद्यालय तथा श्रीरामानन्दपीठ—श्रीकोसलेन्द्रमठ अहमदाबाद या उससे सञ्चालित श्रीरघुवर रामानन्द वेदान्त महाविद्यालय सञ्चाल का व्यवहारिक प्रपञ्च तो है ही । तथा दूसरा कारण यह भी बना कि इस वृत्तिविवरण को मैं जितना शीघ्र प्रकाशित करना चाहा उतना ही विलम्ब अनेक कारणों से होता गया, विलम्बता जन्यखिन्नता मेरी दुर्बलता का ही प्रतिक है । अतः इस न्यूनता के प्रति ध्यान देकर असावधानी से रही भूलों को सुधार कर पढें तथा कृपया पूर्वक सूचित करें ताकि पुनरावृत्ति में पूर्णध्यान दिया जा सके ।

वृत्ति—विवरण के प्रूफ शोधनादि कार्य में मेरे शिष्य सद्गृहस्थ व्याकरण श्री वल्लभ वेदान्ताचार्य श्रीशरच्चन्द्र शास्त्री का पूर्ण सहयोग रहा एतदर्थ अनेक धन्यवाद ।

सुधिजनविधेय श्रीरामानन्दसम्प्रदाय का एक सेवक
स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्य
पश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्दपीठ. श्रीशेषमठ. गुरुपूर्णिमा २०३९

॥ सर्वेश्वर श्रीसीतारामाभ्यां नमः ॥

वेदान्तदर्शन की श्रीरघुवरीयवृत्ति

'अब मुझे मरना है' यह जानकर प्राणीको जो दुःखहोता है उसका वर्णन उस प्राणीसे अतिरिक्त दूसरा कोई भी नहीं कर सकता है । राजा हो या रङ्क बलवान् हो या निर्बल मृत्युकर्त्ता यमराज से डर कर काँपने से या प्रार्थना करने से भी प्राणी की मृत्यु कारता ही है इसीलिये भगवान् ने गीता में कहा है कि 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' (जन्म ग्रहण करने वाले की मृत्यु निश्चित है) अन्योने भी कहा है

कि—'मृत्योर्विभेषि किं मूढ ! भीतं मुञ्चति नो यमः ।' (अरेमूढ़ मृत्यु से क्यों डरता है । डरे हुऐ को मृत्यु छोड़ नहीं देता है ।) अब शंका यह होती है कि मृत्यु किसको नहीं पकड सकता है । वहीं पर कहा भी है—अजन्मानं न गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि । (अजन्मा—जिसका जन्म न हो मृत्यु उसे नहीं पकड़ सकता है इसलिए अजन्मा होने के लिए अर्थात् मृत्यु को जीत लेने का प्रयत्न करना चाहिए ।

'अपाम सोमममृता अभूम' (यज्ञ करके हम सोमपान करेंगे और अमृत-मृत्युरहित बनेगे। परन्तु 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (यज्ञ के पुण्य के क्षीण होने पर फिर मृत्युलोक में प्रवेश करना पड़ता है और मृत्यु को प्राप्त होना पड़ता है।) श्रुति भी कहती है कि—

"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान् नास्त्यकृतः कृतेन" (कर्मसम्पादित स्वर्गादिलोकों की परीक्षा करके कि जैसे इस लोक के कर्मसम्पादित पदार्थ अनित्य हैं वैसे ही यज्ञादि कर्मों द्वारा सम्पादित लोक भी अनित्य है ।)

'भोक्ता योग्यं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ।' (भोक्ता (जींव) योग्य (देहादि प्रकृति) तथा सर्वनियामक भगवान् श्रीराम (ब्रह्म) को जानकर (उपासना करके) प्राणी भगवान्से प्रसन्नकिया हुआ होकर अमर पद को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।

"तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय" (उस ब्रह्म को जान करके ही अर्थात् ब्रह्म की उपासना करके ही मनुष्य मृत्यु से जीतता है अर्थात् मृत्युका उल्लंघन करके मोक्ष को प्राप्त करता है। मोक्ष प्राप्ति का दूसरा उपाय नहीं है ।) जिनके लिए कहा जाता है कि-

"अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः । अभाललोचनः शम्भुर्भगवान् वादरायणः ॥"

इसीलिए अर्थात् अनादिकाल से कर्मवन्धन से बद्ध जीवो का उद्धारकर उनकी मोक्ष प्राप्ति के लिए श्रीसम्प्रदाय के परमाचार्य भगवान् श्रीवादरायण व्यास जी ने बेदान्त दर्शन (ब्रह्ममीमांसा) शास्त्र की रचना की । जिस मैं चार अध्याय हैं । प्रत्येक अध्याय में चार चार पाद हैं और प्रत्येक पाद में कई अधिकरण तथा कई सूत्र हैं । प्रत्येक अध्यायों के तथा उनके पादों के अत्यन्त सूक्ष्म अर्थ मैने श्रीब्रह्मसूत्रार्थ संग्रह में कर दिये हैं । श्रीआनन्दभाष्य का हिन्दी वैष्णवालङ्कारभाष्य भी अपूर्ण छपा दिया है । वेदान्त दर्शन के समस्त अधिकरणों के सूक्ष्मार्थ अधिकरण रत्नमाला में कर दिये हैं । वे सब मुद्रित हो चुके हैं ।

परमाचार्य श्रीवेदव्यासजी के वेदान्त दर्शन के विषय में कहा जाता है कि—

तावद् गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका बिपिने यथा ।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदान्त केशरी ॥

वेदान्त दर्शन के सूत्रों में अल्पाक्षर द्वारा बहुत अर्थ का प्रतिपादन किया गया है, वह सर्व साधारण के लिए दुर्लभ है अतः सुगम बनाकर सर्वजन संवेद्य करने के लिए श्रीसम्प्रदाय के उदार आचार्यों ने प्रसंसनीय प्रयत्न किए हैं । जिनमें बोधायन वृत्तिकार महर्षि श्री पुरुषोत्तमाचार्यजी बोधायनाचार्यजी कृत गुरुभाष्यनामक अति महती श्री बोधायनवृत्ति अपरबोधायनाचार्य जगद्गुरु श्रीदेवानन्दाचार्यजी वेदान्त विद्यानिधिकृत श्रीप्रमिताक्षरावृत्ति तथा श्री रामावतार आनन्दभाष्यकारभगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी श्रीसम्प्रदाचार्यकृत श्रीआनन्दभाष्य आदि प्रधान हैं ।

उक्त श्रीब्रह्मसूत्र के व्याख्यान अति विस्तृत हैं । अतः ब्रह्मसूत्रार्थ के ज्ञान में प्रवेश करने के लिए श्रीसम्प्रदाय के महाविद्वान् सर्वतंत्र स्वतन्त्र महामहोपाध्याय शतावधानी जगद्गुरुश्रीरघुवराचार्यजी श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज श्रीसम्प्रदाय के उन्तालीसवें आचार्य ने वेदान्त सूत्रों पर श्रीरघुवरीय वेदान्तवृत्ति नामक अत्युत्कृष्ट वृत्ति की रचना की । उन श्रीमहामहोपाध्यायजी के सिंहासन पर आसीन श्री सम्प्रदाय के चालिसवें आचार्य जगद्गुरु श्रीरामप्रपन्नाचार्यजी श्रीरामानन्दाचार्यजी योगीराज ने उक्त श्री रघुवरीयवृत्ति को अत्युत्तम श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरण नामक संस्कृत व्याख्या से विभूषित किया है । जिसे उक्त योगीराज के अत्यन्त योग्य और महाविद्वान् शिष्यरत्न स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्यजी ने सारबोधिनी नामक अति सरल हिन्दी व्याख्या से अलङ्कृत करके मुद्रित कर दिए हैं ।

श्रीरघुवरीयवृत्ति वाराणसेय सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की श्रीरामानन्द वेदान्त की परीक्षा का पाठ्य ग्रन्थ है । इस व्याख्या से श्रीरामानद वेदान्त के परीक्षार्थियों को तथा श्रीरामानन्द वेदान्त के जिज्ञासुओं को तथा श्रीरामानन्द वेदान्त के प्रचारकों को अत्यन्त लाभ होगा । उक्त तीनों महानुभावों के इस सुन्दर कार्य से श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के सभी अनुयायी बहुत प्रसन्न हैं । भगवान् श्रीरामजी इस ग्रन्थ के प्रचार को विस्तृत करके श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के यश को दिगन्त व्यापी बनावें यहीं प्रार्थना है । महामहोपाध्याय श्रीयोगीराजजी तथा स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्यजी को सहस्त्रशः धन्यवाद है । इस विशाल ग्रन्थ के प्रकाशक श्री विश्रामद्वारिकास्थ श्रीरामानन्दपीठ के धर्मप्रचार विभाग को भी सहस्त्रश धन्य-

वार है जिनके सत्प्रबन्धकत्व में श्रीरामानन्द दर्शन साहित्य के अनेक अमूल्य ग्रन्थ प्रकाशित हुये ।

श्रीरामानन्द प्रम्प्रदाय का लघुसेवक
पण्डितसम्राट् स्वामी वैष्णवाचार्य
त्रणदेरी श्रीराममन्दिर–शारंगपुर दर्वाजाबाहर
अहमदाबाद–२

जगद्गुरुश्रीअनन्तानन्दाचार्यप्रदर्शितम्

श्रीबौधायनदर्शनम्

रामे दुर्गुगवृन्दखण्डनपरा नैर्गुण्यवादाः श्रुतौ
गौणार्था न गुणोक्तयः शुभगुणाम्भोधौपरब्रह्मणि ।
अद्वैतश्रुतयो विशिष्टविषया द्वैतश्रुतिस्तात्विकी
रामानन्दमतं हि तद्विजजयते बौधायनं दर्शनम् ॥१॥

स्थूलेनाथ चिताऽचिता किल युतं कार्यं परं ब्रह्म यत्
सूक्ष्मेणाथ चिताऽचिता खलु युतं ब्रह्मैव तत्कारणम् ।
ऐक्यंचाथमतं द्वयोः शुभविशिष्टाद्वैतके यत्र वै ।
रामानन्दमतं हि तद्विजयते बौधायनं दर्शनम् ॥२॥

चिद्वाच्यस्त्वणुचेतनो बुधवरै र्ज्ञानस्वरूपोमतः
श्रीरामस्य परेश्वरस्य सुतनुर्देही स्वदेहस्य यः
न प्रागस्त्वथ नेन्द्रियं नच तनुर्जीवोऽमृतोयत्र वै
रामानन्दमतं हि तद्विजयते बौधायनं दर्शनम् ॥३॥

ज्ञेयाऽचित्प्रकृतिर्जडा गतमतिः सत्वादयो यद्गुणा
अव्यक्तादिपदेरिता विकृतिकृन्माया जगन्मोहिनी ।
रामाधिष्ठितरूपिणी तु जगतो हेतुः सती यत्र वै
रामानन्दमतं हि तद्विजयते बौधायनं दर्शनम् ॥४॥

श्रीरामश्चिदचित्तनुर्हि जगतो जन्मादिहेतुर्विभुः
सर्वज्ञः सकलेश्वरः श्रुतिमतो यो भक्तितो मुक्तिदः ।
तत्वं यत्र परो यतोऽधिकतमं नो येन तुल्यं क्वचित्
रामानन्दमतं हि तद्विजते बौधायनं दर्शनम् ॥५॥

श्रीरामानन्दशिष्य श्री अनन्दानन्ददर्शितम् ।
बोधाब्धिमुक्तिदं भूयाद् श्रीबौधायनदर्शनम् ॥६॥

श्रीरघुवरमङ्गलम्

वशिष्ठगोत्रोत्पन्नाय त्रिपवरयुताय च ।
शिखादक्षिणपादाय रघुवराय मङ्गलम् ॥१॥

बोधायनीयधर्मस्य सूत्रतत्वावबोधिने ।
मीमांसातत्ववित्तस्मै रघुवराय मङ्गलम् ॥२॥

कान्यकुब्जावतंसाय रामनिवास सूनवे ।
जानकीनन्दनायाथ रघुवराय मङ्गलम् ॥३॥

माध्यन्दिनीयशाखास्थ शुक्लवेदविदे सदा ।
कात्यायनीयश्रौतस्य रघुवराय मङ्गलम् ॥४॥

हनुमदाचार्यसच्छिष्य वेदवेदान्त वेदिने ।
वाक्यतत्वविदे तस्मै रघुवराय मङ्गलम् ॥५॥

येनाचार्यकृतानन्दभाष्यं संशोधितं मुदा ।
सम्प्रदायाब्धिचन्द्रस्य रघुवराय मङ्गलम् ॥६॥

येन वृत्तिकृतारम्या भाष्यगूढार्थबोधिका ।
भाष्यगुह्यार्थवित्तस्मै रघुवराय मङ्गलम् ॥७॥

यस्य मन्त्रार्थमीमांसा राजते तत्त्वबोधिका ।
मन्त्रतत्त्वबिदे तस्मै रघुवराय मङ्गलम् ॥८॥

गीतार्थचन्द्रिका यस्य राजते चन्द्रवद्भुवि ।
गीतहृदयवित्तस्मै रघुवराय मङ्गलम् ॥९॥

सर्वशास्त्रार्थ संगोष्ठ्यां प्रतिपक्षि पलायिता ।
जगद्विजयिने तस्मै रघुवराय मङ्गलम् ॥१०॥

देवदिङ्नवब्रह्माब्दे विजयादशमी तिथौ ।
आविर्भूतो हि यस्तस्मै रघुवराय मङ्गलम् ॥११॥

चत्वारिंशत्तमाचार्यं रामप्रपन्नयोगिराट् ।
शिष्यतां यातो यस्य श्रीरघुवराय मङ्गलम् ॥१२॥
वैष्णव-जानकी-रामा विधाशिष्या हि विश्रुताः ।
अनन्तशिष्यशिष्याय रघुवराय मङ्गलम् ॥१३॥
दुःखमुक्ताः समेजाताः शिष्यतांप्राप्ययस्य वै ।
रामानन्दावताराय रघुवराय मङ्गलम् ॥१४॥
अश्वखशून्ययुग्मेऽब्दे वसन्तपञ्चमीतिथौ ।
नित्यपार्षदतांयातो रघुवराय मङ्गलम् ॥१५॥
यस्य ज्ञानप्रकाशोऽभूत्सम्प्रदाय विवर्धकः ।
रामेश्वरप्रशिष्याय रघुवराय मङ्गलम् ॥१६॥
रघुवरप्रशिष्येण रामेश्वरार्यनिर्मितम् ।
मङ्गलंभवता देतत्पाठाज्ज्ञानविवर्धकम् ॥

परैर्वेदान्तार्थे कलुषितपथं प्रापयति यो-
विशिष्टाद्वैताख्यं प्रथित मतमेतत्प्रकटयन् ।
परप्रत्यग्भेदं श्रुतिशिरसि सिद्धं विशदयन्
यती रामानन्दः स हि सुगुणसिन्धुर्विजयते ॥१॥

(जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरघुवराचार्याः)
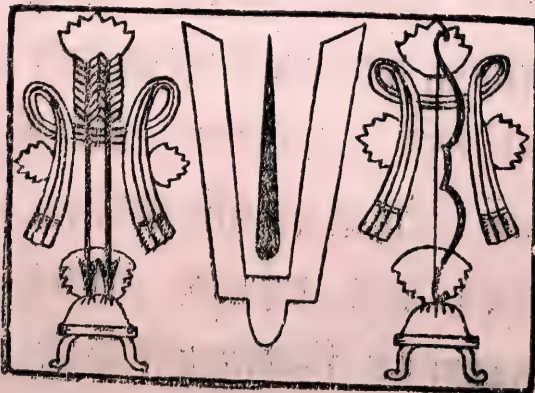
जगद्विजयि श्री रामानन्दाचार्यरघुवराचार्य निर्मितं

श्री रामानन्दमङ्गलदशकम्

मोक्षमार्गश्च येनात्रानन्दभाष्ये हि दर्शितः ।
तस्मै च भाष्यकाराय रानानन्दाय मङ्गलम् ॥१॥

आ प्राणं येन चावृत्ती रामभक्तेः प्रदर्शिता ।
भक्तोपकारिणे तस्मै रामानन्दाय मङ्गलम् ॥२॥

अविद्यायां मता येन सप्तधाऽनुपपत्तयः ।
तस्मै भगवते श्रीमद्रामानन्दाय मङ्गलम् ॥३॥

भाष्ये च ब्रह्मसूत्राणां येनाध्यासोऽतिखण्डितः ।
तस्मै भगवते श्रीमद्रामानन्दाय मङ्गलम् ॥४॥

ब्रह्मणश्च प्रकारांशाज्जातं जगद्धि यन्मते ।
तस्मै भगवते श्रीमद्रामानन्दाय मङ्गलम् ॥५॥

जगतश्च विवर्त्तत्वं भाष्येचानन्दसंज्ञके ।
निरस्तं येन तस्मै श्रीरामानन्दाय मङ्गलम् ॥६॥

ब्रह्मणः प्रतिबिम्बत्वं येन जीवस्य नो मतम् ।
तस्मै भगवते श्रीमद्रामानन्दाय मङ्गलम् ॥७॥

सर्वोच्चफलदात्रे च सर्वोच्चधामदायिने ।
मन्त्रराजप्रदात्रे श्रीरामानन्दाय मङ्गलम् ॥८॥

श्रीसुशीलात्मजाय श्रीपुण्यसद्मसुताय च ।
वशिष्ठगोत्रिणे श्रीमद्रामानन्दाय मङ्गलम् ॥९॥

प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकाराय धीमते ।
राघवानन्दशिष्याय रामानन्दाय मङ्गलम् ॥१०॥

श्रीमद्रघुवराचार्य रामानन्दैश्च निर्मितम् ।
दशकं भवतादेतत् पाठान्मङ्गलकारकम् ॥११॥

अधिकरणसूची

श्री साकेतविहारिणे नमः

श्री हनुमते नमः

प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकारजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्याय नमः

जगद्विजयिमहामहोपाध्याय जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरघुवराचार्य-कृता

श्रीरघुवरीयवृत्तिः

(श्रीब्रह्मसूत्रीयवेदान्तवृत्तिः)

समस्तचिदचिद्वस्तुशरीराय परात्मने ।
नमः श्रीराघवेन्द्राय जगज्जन्मादिहेतवे ॥१॥

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य—रामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतं

श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणम्

सीतां तथा च सीतेशं व्यासबोधायनौ मुनी ।
नत्वा नमाम्यहं श्रीमद्रामानन्दंजगद्गुरुम् ॥१॥
प्रणम्यानुभवानन्दद्वाराचार्यं तथा गुरुम् ।
वृत्तेरघुवरीयायाष्टीकामेतां करोम्यहम् ॥२॥

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रशिष्य
स्वामिरामेश्वरानन्दाचार्यकृता

सारबोधिनी

नत्वा परात्परं ब्रह्म श्रीसाकेतविहारिणम् ।
सूत्रवृत्तिकृतौ वन्दे व्यासबोधायनावहम् ॥ १ ॥

टिप्पणी—अथ विघ्नविनाशाय अथवा निर्विघ्नग्रन्थसमाप्तये मङ्ग-
चरितवान् ग्रन्थकारः परन्तु तन्न समीचीनमिवाभाति, यतो
येन सह अन्वयव्यतिरेकौ भवतस्तत्रैव कार्यकारणभावो भवति
तु सर्वत्र । यथा दण्डसत्त्वे घटो जायते दण्डाभावे घटो न जायते
न्वयव्यतिरेकयोः सद्भावाद् भवति दण्डघटयोः कार्यकारणभावः
सर्वत्रान्वयव्यतिरेकयोरेव कारणताग्राहकत्वात् । प्रकृते तु मङ्गलसद्भावेऽपि

नमस्तस्मै यतीशाय रामानन्दाय धीमते ।
भाष्यत्विषांपतिर्यस्य मोहध्वान्तनिवर्तकः ॥२॥

श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणम्—शारीरकमीमांसायाआनन्दभाष्यंपरमदुरूहत्वेन तत्राल्पधियां कथमिव प्रवेशः स्यादिति विचार्य भाष्याम्बुधौ स्वल्पमतीनां प्रवेशाय तदर्थप्रकाशिकां वृत्तिं कृतवानाचार्यः । सा च वृत्तिरतिसंक्षिप्तेति तदर्थप्रकाशनप्रवणं यथाशक्ति तनोमि तत्र विवरणम् । प्रारीप्सितग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्तये स्वेष्टदेवतानमस्कारात्मकं मङ्गलं करोति वृत्तिकारः "समस्तेत्यादि" "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । यस्मात् पुरुषविशेषात्सर्वज्ञात् सर्वशक्तिसमन्विताद् सर्वेश्वर श्रीरामादिमानि परिदृश्यमानानि गगनादीनिपञ्चभूतानिभौतिकानि च जायन्ते समुत्पद्यन्ते समुत्पन्नानि च तानि भूतानियस्मिन् जीवन्ति अर्थादुत्पद्यावस्थितानि भवन्ति यथास्थानम् तथा प्रतिसर्गसमये तस्मिन्नेव परमात्मनि लीयमानानि भवन्ति

आनन्दभाष्यकृद्रामानन्दं नत्वा जगद्गुरुम् ।
वन्दे चानुभवानन्दं द्वाराचार्यं जगद्गुरुम् ॥ २ ॥
श्रीमद्रघुवराचार्यं नत्वा च परमं गुरुम् ।
रामप्रपन्नयोगीन्द्रं रामानन्दं जगद्गुरुम् ॥ ३ ॥
मुक्तिदञ्च मुमुक्षूणां सज्जिज्ञासुप्रबोधदाम् ।
वृत्ते रघुवरीयाया कुर्वेऽहं सारबोधिनीम् ॥ ४॥

३. सारबोधिनी—समस्त अर्थात् सकल जो चिदचित् जड़चेतन कार्यजात है शरीर जिसका इस विसेषण से वेदान्त का अभिमतजो परमेश्वर के साथ शेष शेषी भाव सम्बन्ध है वह प्रकाशित होता है । अर्थात् भगवान्

स्थलविशेषे समाप्तिर्न दृश्यते । क्वचित्तु मङ्गलाभावेऽपि समाप्तिर्निर्विघ्नपूर्वकोपलभ्यते तत्कथं प्रकृते कार्यकारणभावः । फलाभावे निष्फले मङ्गलकार्ये कथं प्रवृत्तिः "न कुर्यान्निष्फलं कर्म नात्मानमसुखोदयमिति", स्मृते जलताडनवत् निष्फलकर्मणः करणस्य निषेधादिति । अत्रोच्यते अन्वयव्यभिचारस्य व्यतिरेकव्यभिचारसंशयस्य प्रात्यक्षिककार्यप्रतिबन्धक.

दुःखसागरसंमज्जज्जीवोद्धरणतत्परम् ।
यतिवर्यं ब्रह्मनिष्ठं स्वाचार्यमाश्रयेऽनिशम् ॥३॥

तद्ब्रह्मेति शेषः" इत्याद्यनेकश्रुतिप्रतिपादितसकलजडचेतनात्मकजगतः कारणाय। तथा 'यस्य पृथिवी शरीरम्" इत्याद्यन्तर्यामिप्रकरणस्थश्रुति-बोधितजडचेतनात्मकपदार्थवपुषे परमात्मने परश्चासौ आत्मा चेति परात्मा।आत्मनि परत्वं चानन्तकल्याणगुणाधिकरणात्मकतादिलक्षणमेव। एतादृशाय परमात्मने। तथा "श्रीराघवेन्द्राय" रघुकुलोत्पन्नेषु राजसु अतिशयेन श्रेष्ठाय श्रीरामचन्द्राय नमोऽस्तु। यद्यपि सकलजगत्कारणस्य जरामरणादिधर्मरहितस्य परमपुरुषस्य रघुकुले जन्मेति विप्रतिषिद्ध-मिवाभाति तथापि भक्तानुग्रहाय लीलाविग्रहधारणं कुर्वन्नातिक्रामति लोकमर्यादामिति न किञ्चिदपि विप्रतिषिध्यते "वेद वेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे" "रघोकुलेऽखिलं राति राजते यो महिस्थितः" इतिश्रुत्युक्ते इति ॥१॥

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः"यस्य परमश्रद्धाशीलस्य पुरुषस्य देवविषयिणी भक्ति-

---

का सकल पदार्थ के साथ आत्यन्तिक भेद है अथवा सर्वथा अभेद है इन दोनोंपक्षों में जो विप्रतिपत्तियां होती है उनका नियत श्रुति द्वारा अंशांशो भाव का बोध कराया जाता है। एतादृश परमात्मा का अन्वय नमस्कार क्रिया के साथ में है। आत्मा में परत्व क्या है ? जो अनन्त कल्याणगुणाधिकरणता-रूप है। यह जो परत्व परमात्मा में है, वह श्रुतिसिद्ध तथा अबाधित भी है। एवं स्थावरजंगमात्मक जो जगत् है तादृश जगत् के परमात्मा हेतु कारण हैं। यहाँ हेतुपद कर्तारूप कारण का द्योतक है। अर्थात् परमात्मा जगद्रूप कार्य को वनाने वाले कर्ता हैं जैसे घटादि कार्य के प्रति कुलालादि चेतन कर्ता

त्वेऽपि अनुमितौ पक्षतासंपादनविधया संशयस्य जनकत्वेन प्रत्यक्षतो मङ्गलविघ्नध्वंसयो कार्यकारणभावस्य साधयितुमशक्यत्वेऽपि अनु मानद्वारा मङ्गले फलवत्त्वसाधने क्षत्यभावात् मङ्गलं सफलमविगीतशिष्टा-चारविषयत्वादित्यनुमानेन सफलत्वसिद्धेः, यथा दर्शनामकयागे यथोक्त-

श्रीमदानन्दभाष्यस्याशयं तदनुसारतः ।
विचार्य ब्रह्मसूत्रेषु वृत्तिरेषा विधीयते ॥४॥

विद्यते । अथवा यादृशी भक्तिर्देवे तादृशी यदि भक्तिर्गुरुविषयिणी भवेत्तदैव तत्कथितपदार्थप्रकाशो लोके जायते नातोऽन्येन प्रतिपादितपदार्थप्रकाशनं भवतीति नियमं हृदि निधाय गुरुनमस्कारं कुर्वन्नाह "नमस्तस्मै यतीशाय" इत्यादि यतीनां यमिनामीशो यतीशस्तस्मैयतीशाय वैराग्यादिविविधगुणविशिष्टाय ज. गु. श्रीरामानन्दाचार्याय एतन्नामकजगत्प्रसिद्धश्रीवैष्णवाचार्याय । प्रसिद्धार्थकोऽपि "तत्" शब्दः क्वचित्क्वचिदुपलभ्यते यथा "द्वयंगतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः । कला च सा कान्तिमतीकलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी" इति कुमारसंभवीयश्लोके"कला च सा" इत्यत्र जगति प्रसिद्धा चन्द्रमसः कला" इत्यर्थो वर्णितः, एवमिहापि नम-

होता है । कर्ता वही कहलाता है उत्पाद्य कार्य का जो समवायि कारण उसको प्रत्यक्ष रूप से जान सके तथा कार्य विषयकचिकीर्षाकृतिमान् हो । तो प्रकृति में जगत्कर्ता परमात्मा है । यदि कदाचित् हेतु पद से समवायी कारण मानें तो परमेश्वर से जायमान पृथिव्यादिक जड़ में भी चेतनता हो जायगी । क्योंकि कारण में रहनेवाला गुण कार्य में सजातीयगुणान्तर का आरम्भक होता है । ऐसा होने से जगत् में जो जड़चेतन विभाग है जो कि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं वह बाधित हो जाएगा, यह तो न्यायमत है । वेदान्तमत से तो परमेश्वर में अभिन्न निमित्तोपादान बोधक श्लोकस्थचतुर्थचरणघटक हेतु पद हैं । एतादृश भगवान् कोशलेन्द्रसरकार के लिए हमारा नमस्कार हो । अर्थात् एतादृशानन्त गुणगणविशिष्ट भगवान् श्रीरामचन्द्र को नमस्कार करता हूँ । राघवेन्द्राय=राघवों में इन्द्र के समान यहां यदि राघव

हेतुस्तिष्ठतीति यथोक्तसाध्यमपि तिष्ठतीति सर्वसंमतं तथैवेहापि । किमत्र फलं मङ्गलस्येति जिज्ञासायाम् स्वर्गादिपरोक्षस्य फलस्य न प्राप्तिरपितु ऐहिकस्यैव ऐहिकेपि न पुत्रादिः कारीरवत् दृष्टफलम् कारीरीयागे तथा सर्वेऽपि प्रकृते उपस्थितसमाप्तेरेव फलत्वात् । यद्वा चात्र

स्करणीयाः श्रीरामानन्दाचार्याः साधुसमाजे तदितरसमुदाये चातीव प्रसिद्धा न तु कदाचिदश्रुतपूर्वा इति। पुनर्यस्याचार्य चूडामणेरानन्दाख्यभाष्यसूर्यप्रकाशः कुतैर्थिककुतर्कसंवादिताज्ञानलक्षणान्धकारनिवर्तने सर्वथा समर्थः एतेनेतरसमस्तव्याख्यानापेक्षया प्रकृतभाष्यरत्नस्योत्कृष्टत्वं द्योतितम्। एतादृशगुणगणशालिने श्रीरामस्वरूपाय महात्मने मदीयनमस्कारो भवतु नमामीत्यर्थः ॥२॥

एवं यथोक्तक्रमेण सम्प्रदायप्रधानाचार्यं नमस्कृत्य स्वाचार्यपर्यन्ताचार्यपरंपरां नमस्कर्तुं प्राह "दुःखसागरेत्यादि" प्रतिकूलवेदनीयदुःखबहुलसंसारसागरे सागरवत् अनादिकालप्रवृत्तेऽनन्तकल्याणगुणकभगवत्कृपामन्तरेणाशक्यसमुच्छेदे संमज्जतां स्वकीयशुभाशुभकर्मबलेन परिपच्यमानजीवनिकराणां दुःखमयसागरादुद्धाराय तत्परं प्रयत्नं कुर्वाणम् यतिवर्यम्—यतिषु साधुसमाजेषु श्रेष्ठं ब्रह्मनिष्ठम् उपासनया

तथा इन्द्र पद में कर्मधारय समास करें तब तो सर्वातिशायी बलवान् यह अर्थ होता है और यदि षष्ठीतत्पुरुष समास करें तब तो रघुकुलोत्पन्न राजाओं में सर्वश्रेष्ठ यह अर्थ होता है परमेश्वर होने के कारण से यह सर्वश्रेष्ठ हैं और श्री शब्द जो है वह सर्व जगत् का उत्पादकशक्तिलक्षणजनकतनया का बोधक है। शक्ति शक्तिमान् में तादात्म्य होता है ऐसा दार्शनिक लोग कहते हैं। इससे श्रीसीताजी का सान्निध्य भगवान् के साथ सर्वदा रहता है ऐसा अभिव्यक्त होता है। "अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा-यथा" ऐसा श्रीरामायण में कहा है। यद्यपि लौकिक दृष्टि से कदाचित् वियोग प्रतिभास होता है तथापि वह ईश्वर की लीलामात्र है ॥ १ ॥

जिस प्रकार से देवभक्ति हितसाधक है उसी प्रकार गुरुभक्ति भी हितसा-

---

मानेन सफलता सिद्धा तदा यत्र मङ्गलाभावे समाप्तिस्तत्र जन्मान्तरीयतदनुमानबलान्निश्चियते, यत्र सद्भावेऽपि मङ्गलस्य समाप्तिव्यतिरेकस्तत्र विघ्नप्राचुर्यादिकं कारणम्। प्राचीनमतेन विघ्नध्वंसद्वारा समाप्तिफलम् नवीन-मतेतु विघ्नध्वंस एव फलम "शक्तिर्निपुणतेत्यादिरीत्या समाप्तौ बुद्धिप्रतिभादिरेव कारणम् स्वतः सिद्धविघ्नविरहस्थले तु न विघ्नवंसो

साक्षात्कृतसाकेताधिपतिम् । स्वाचार्यं ज. गु. श्रीहनुमदाचार्यं स्वकी-याचार्यपर्यन्तान्याचार्यश्चानिशमहर्निशमहमाश्रये दण्डवत् प्रणामादिना तदीयानुसरणं करोमि तदीयचरणयोः प्रणतिप्रसूनाञ्जलिं समर्पयामी-त्यर्थः ॥३॥

कथमेतावान् गुर्वादिनमस्कारकरणे भवतो प्रायासस्तत्राह "श्रीमदानन्दभाष्यस्येत्यादि । "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते" इति लौकिकन्यायेन कम्प्रयोजनविशेषमवलम्ब्य भवतामत्र प्रवृत्तिरिति लोका-शयमाकलय्य स्वकीयप्रवृत्तौ फलविशेषदर्शनामाह श्रीमद्रामानन्दाचार्य-कृतभाष्यस्य आशयमभिप्रायम् तदनुसारतः भाष्यानुसारेणैव विचार्य सम्यगालोच्य एतेन स्वकृतित्वेनिखिलपूर्वाचार्याविरुद्धत्वं सूचितम् । ब्रह्मसूत्रेषु एषा मदीयबुद्धौ विद्यमाना वृत्तिर्विधीयते समीचीनरूपेण सम्पाद्यते ॥४॥

धक हैं । इस नियम के अनुसार वृत्तिकार सर्वप्रथम स्वकीयइष्टदेवता को नम-स्कार करके प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी के नम-स्कार को द्वितीयश्लोक द्वारा उपस्थित करते हैं । नमस्तस्मै इत्यादि जिस श्रीरामानन्दाचार्यजी यतिसम्राट् के भाष्यप्रकाश कुवादिप्रत्युपस्थापित कुतर्कज-नित अज्ञानलक्षण अन्धकार को नष्ट कर देता है । तथा यतियों में श्रेष्ठ जगत में अतिप्रसिद्ध जगदाचार्य श्रीरामानन्दाचार्य जी को में नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

दुःखबहुल संसाररूपीसागर में डूबते हुए जीवराशि का उद्धार करने में सर्वदातत्पर यतियों में श्रेश्ठ तथा ब्रह्मज्ञानी स्वकीय आचार्य जगद् गुरु श्री-हनुमदाचार्यजी का सतत आश्रय लेता हूँ अर्थात् एकादश स्वकीय गुरु जी को नमस्कार करता हूं ॥ ३ ॥

हेतुरपि तु विघ्नात्यन्ताभावः समाप्तिकारणम् प्रतिबन्धकसंसर्गाभावकारणताया अन्यत्र व्यवस्थितत्वात् तत् सिद्धं यत् समाप्तये विघ्नाभावाय मङ्गलाचरणमावश्यकमिति मनसि निधाय ग्रन्थादौ मङ्गलाचरणं कृतवान् वृत्तिकार इति । विशेषस्तु माङ्गलिको विचारो मत्कृतमङ्गलमालायामालोकनीयः । विस्तारभिया विरतो भवामीति स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्यः ।

● जिज्ञासाधिकरणम् ॥१॥ ●

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ।१।१ ।

श्रीरघुवरीयवृत्तिः

अथाखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणनिलयनिलिम्पपतिसमर्चितचरणः

वृत्तिविरवणम्-अथाखिलेत्यादि अखिलाः समस्ता ये हेयपदार्था दुःखादिकास्तेषां प्रत्यनीका बिरोधिनो ये कल्याणगुणाः श्रुतिप्रतिपादितसत्यकामादिकाः एतेषां कल्याणानामाधारभूताः । तथा ब्रह्मेन्द्रादिदेवैरपि संपूजितचरणः सर्वेश्वरः सर्वनियन्तृत्वशक्तियुक्तो भगवान् ऐश्वर्यादिविलक्षणगुणालङ्कृतः साकेताधिपतिः समस्तजडचेतनपदार्थजातस्यनियामकः श्रीरामचन्द्रो द्वापरयुगस्य चरमभागे दुःखमहोदधावोतप्रोतान् जीवराशोनवलोक्य दिव्यचक्षुषा साक्षात्कृत्य दयासमुद्रस्तादृशजन्तूनां समुद्धाराय कृतविचारः, स्वयमेव व्यासरूपेण गृहीतावतारः मोक्षप्रयोजिकां वेदान्तार्थनिर्णयस्वरूपां विलक्षणामिमां ब्रह्ममीमांसां प्रणिनाय कृतवानित्यर्थः । "इमामित्यादि" ततश्चेमां ब्रह्ममीमांसामतिशयेन गम्भीराशयवतीन्तथाऽक्षरेणातिलघुशरीरमिति विमृश्य (विचार्य्य) प्रतिपन्नस्वकीयजनानामुपरि जातकरुणास्तामेव ब्रह्ममीमांसां विस्ताररूपेण व्याख्यातुकामो भगवान् कलियुगस्य प्रारम्भकाल एव भारतभूमौ पुनरपि देवदेवो भगवान् श्रीरामो रामानन्दाचार्यशरीरं धृत्वा प्रसन्नाशयगभीरामानन्दभाष्यं सम्पादितवानित्यर्थः ।

जो यह अपने स्वकीयकण्ठ शोषण कर रहे हो वह किस कार्यविशेष के संपादन करने के लिए? इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में-वृत्तिकार कहते हैं श्रीमदानन्दे'-त्यादि भाष्य के गंभीर आशय का समीचीनरूप से विचार करके ब्रह्मसूत्र के ऊपर भाष्यानुसारिणी सर्वजन बोध्य वृत्ति का मैं निर्माण करता हूं मंगल विघ्नविनाशद्वारा अभिलषितग्रन्थसमाप्ति में कारण है। इसलिए वृत्तिकार ने मंगलाचरण करके शिष्यपरम्परा का पालन किया है ॥ ४ ॥

सारबोधिनी-अखिल जो हेय-त्याज्य पदार्थ उन पदार्थों का बिरोधि

सर्वेश्वरो भगवान्साकेताधिपतिर्द्वीपरान्ते जनान् वृजिनार्णवनिमग्नानव लोक्य कृपाकूपारस्तेषामुद्धाराय कृतेक्षणः स्वयमेव द्वैपायनस्वरूपेणाध्यव- निमण्डलमवतीर्य प्रणिनाय परमपुरुषार्थजननीं त्रय्यन्तार्थनिर्णयलक्षणां ब्रह्ममीमांसाम् । इमामतिगभीराशयशालिनीं संक्षिप्ताञ्चोपलक्ष्यात्प

श्रीमदाचार्यसम्पादितभाष्येऽपि ये पदार्थास्ते पण्डितैरेव ज्ञातुं शक्या, न तु स्वल्पमतिभिरिति विचार्य सर्वसाधारणानामनायासेन तदर्थज्ञानाय, एषाऽल्पक्षरबालबोधगम्यातिमधुरावेदान्तसिद्धान्तबोधन- क्षमा वृत्तिर्मया विधीयते सम्पाद्यत इति भावः ।

अत्र वादिविप्रतिपत्त्या संशयो भवति यदिदं ब्रह्मविचारशास्त्रमा- रभ्यं नवेति । तत्र सिद्धस्वरूपे ब्रह्मणि ब्रह्मबोधकसत्यादिपदानां शक्तेर- भावादनारभ्यमेव प्रकृतशास्त्रमिति पूर्वपक्षः । अयं भावः यानीमानि वेदान्तवाक्यानि तेषां सिद्धब्रह्मात्मककार्यबोधकत्वं न संभवति यतो लौकिकवाक्ये कार्यान्वितपदानामेवार्थेन सह संगतिग्रहणदर्शनात् यथा लोके भवति वेदेऽपि तथैव भाव्यम्, "लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधक" इति न्यायात् लोके तु उत्तमप्रयोजकवृद्धस्य गामानये- त्यादिशब्दश्रवणानन्तरं मध्यमवृद्धस्य श्रोतुर्गवाद्यानयने प्रवृत्तिं दृष्ट्वा समीपस्थो बालको व्युत्पत्तिमिच्छन् मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्तिर्ज्ञानपूर्विका स्वतन्त्रप्रवृत्तित्वात् मदीयस्वतन्त्रप्रवृत्तिर्वदित्यनुमानेन स्वात्मदृष्टान्तेन प्रवृत्तिलक्षणहेतुना प्रवर्त्तकज्ञाने पदसमुदायस्य सामान्याकारेण सामर्थ्यं ज्ञात्वा पुनरावापोद्वापाभ्यां कार्यान्विते एव गवादिपदानां सामर्थ्यं निश्चिनोति । यद्यप्यानयनादिपदमेव सर्वत्र वाक्ये न संभवति 'पश्यति, कुरु' इत्यादि पदानामपि सद्भावदर्शनात्तत्र व्यभिचार इति,, तथापि कार्यतावाचकपदं तव्यत्तव्यानीयरलिङ्लोडास्त्यं भवत्येवेति कार्यान्विते एव पदानां शक्तिर्नतु कार्यताविरहितस्थले शक्तिर्ज्ञायते । वेदान्तवाक्ये

अनन्त संख्यातीत सत्य कामादिक श्रुतिप्रतिपादित कल्याण । (अप्राकृतिक परमेश्वरनिष्ठगुण विशेष) तादृशगुणविशेषका अधिकरण तथा देव एवं देवप- तियों से पूजित हैं पदपंकज जिनका एतादृश तथा सबका शासक भगवान्

श्रुतेरर्थान्तरयोजनायाऽनया तत्त्वबुभुत्सुनामप्यनर्थावाप्तिर्जातु स्यादिति संभाव्य स्वजनजातकरुणस्तां पुनः सुविशदं व्याचिख्यासुः कल्वेरादावधि भारतभूमिं भूयोऽपि स एव साकेतनिकेतनो देवदेवः श्रीरामानन्दस्वरूपं विधाय व्यरीरचदत्रानन्दभाष्यम् । श्रीमदाचार्यप्रसादिते चात्र

तु तादृश लिङादिकं कार्यतावाचकपदं न विद्यते, यतो वेदान्ते प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणः सिद्धत्वात् असिद्धे एव वस्तुनि क्रिया समर्था भवति न तु सिद्धे वस्तुनि यथा दण्डादीनां व्यापारोऽसिद्धघटमुद्दिश्य न सिद्धे वस्तुवि जायमानसान्निध्याद्यसफलो भवतीति यद्वस्तु सिद्धमेव तस्य निष्पादनमशक्यं पिष्टपेषणमिव च भवतीति ।

न च व्यवहारमन्तरेणापि "पुत्रस्ते जातः" इत्यादिवाक्यश्रवणानन्तरं श्रोतुर्देवदत्तस्य मुखप्रसादादिहेतुना देवदत्तगतसुखादिकं विज्ञाय तादृशविज्ञानोत्पादकत्वं पारिशेष्यात्तादृशपुत्रस्तेजातः, इत्यादिशब्दान्नानुमिनोति तत्कथमुच्यते सिद्धे पदे नास्ति संगतिरिति वाच्यम् । तत्र तादृशसुखज्ञानजनकत्वं "पुत्रस्ते जात" इति वाक्यबोध्यस्य प्रियासुखप्रसवस्येति वा निर्णेतुमशक्यत्वात् न तत्र पुत्ररूपोऽर्थो विलक्षणसुखजनकः प्रियासुखप्रसवस्यापि तत्संभवादिति । न च यत्र 'प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' इत्यादिस्थलेऽपि कार्यपरतां नातिक्रामति यतः प्राथमिकव्युत्पत्तिनिबन्धनतया तदानुगुण्येनैव व्यवस्थानात् । एवं'पुत्रस्ते जात' इत्यत्र लक्षणावृत्यापि निर्वाह इति संभवति पूर्वपक्षिणामभिप्राय इति

"पिता ते सुखमास्ते" इति सिद्धार्थबोधकपदे शक्तेरभावात् कार्यतावाचकलिङादीनामभावेन शक्तिग्रहासंभवात्तादृशपदानि 'बोधजनकानीति यः पूर्वपक्षः कृतः स न युक्तः, यतः पिता तव सुखपूर्वकं तत्र विद्यते इत्यर्थकात 'पिता ते सुखमास्ते, इतिवाक्यादपि शाब्दबोधदर्शनात् अन्यथा स्वकीयपितुः सुखादिकमजानन् कथमिव श्रोता विश्वस्तो भवेत्

श्रीसाकेताधिपति श्रीरामचन्द्रजी द्वापर के अन्त, अवसानकाल में जीवराशि को दुःखमय संसार लक्षण समुद्रमें ओत-प्रोतहोते हुए (डूबते हुए) देख कर उस कृपासागर भगवान् ने उन जीवों को संसारिकदुःखजाल से उद्धार करने का

भाष्ये सर्वेऽप्यर्था विपश्चिद्धुरीणैरेवावगन्तुं शक्या न पुनः साधारणै-रित्यवधार्य महाचार्यकृपावलम्बिना मया समेषां सुखादवगमायेयमतिसं-क्षिप्ता वृत्तिर्विधीयते।

अत्रेदं ब्रह्मविचारशास्त्रमारभ्यं न वेति संशयः सिद्धार्थे ब्रह्मणि व्यु-

---

भवति च मे परिवारः सुखी न वेति पृच्छतो जनस्य परिवारीय सुखविषयकं ज्ञानम्। अतः सिद्धमपि पदं बोधजनकं भवत्येव।

अयं भावः अज्ञातान्यदेशभाषो द्रविड उत्तरभारतस्थितः कस्यचिद् गृहेवस्थितः पुत्रजन्मञ्च दृष्टवान्। ततः तत्र तद् गृहस्थितस्त्वजनः भवनात् पुत्रजन्मवार्ता वार्ताहारेण सह प्रेषितवान् पितुः सकाशम् तेन वार्ताहारेण सह द्रविडोऽप्यभिज्ञो जातः। तत्र गत्वा स वार्ताहारः चैत्रं कथयति "चैत्र पुत्रस्ते जातः" इति कथयित्वा पुत्रजन्मचिन्हितवस्त्र मर्पितवान् ततः श्रोतुर्मुखविकाशादिलिङ्गेनाज्ञातभाषोऽपि द्रविडो निश्चिनोति यदयं दृष्टसुतज्ञानवान्। एवं प्रकारेणलिङ्गादिपदाभावेऽपि शाब्दबोधदर्शनात् न कार्यताबोधकस्थले एव शक्तिः। न च तत्र प्रियासुखप्रसवस्यापि संभवात् न पुत्रजन्मश्रवणं सुखहेतुरिति वाच्यम् पुत्रजन्मसूचकपटादिप्रदर्शनवत् प्रियासुखप्रसवसूचकहेतोरभावात्। एवं यदा उक्तरीत्या सिद्धवस्तुनि प्राथमिकशक्तिग्रहसंभवात् "प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति" इत्यादिप्रसिद्धपदसमभिव्याहारस्थलेऽपि पदानां व्युत्पत्तिर्जायते एव। तदा सिद्धार्थबोधकब्रह्मण्यपि सत्यादिपदानां शक्तिग्रहसंभवात्तेन सत्यज्ञानादिपदेन ब्रह्मविषयकबोधः स्यादेव। तस्मात् ब्रह्मविचाराख्यशारीरकशास्त्रस्यारम्भोऽवश्यमेव कर्त्तव्य इति सिद्धान्ताशयः। तथा च सूत्रे "अथशब्द" इत्यादिः। अथ योऽयमथ-शब्दो दृश्यते. स किमारम्भार्थको यथा अथ शब्दानुशासनम्, अथ योगा-नुशासनम् इत्याद्यौ सूत्रघटकोऽथ शब्दो व्याकरणशास्त्रस्य योगशास्त्रस्य

विचार करके स्वयमेव द्वैपायन व्यास रूप से पृथ्वीमण्डल पर अवतरित होकर के पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष का प्रयोजक वेदान्तार्थ के निश्चित करने वाली इस ब्रह्ममीमांसा का अर्थात् विचारशास्त्र का निर्माण किया।

त्पत्त्यसंभवादनारभ्यमिति पूर्वपक्षः। "पिता ते सुखमास्ते" इत्यादि वाक्यैर्बोधदर्शनात् सिद्धार्थे ब्रह्मण्यपि व्युत्पत्तिसंभवादारभ्यमेवेदं शारीरकं शास्त्रमिति सिद्धान्तः। तथा च सूत्रेऽथ शब्दः आनन्तर्यरूपार्थमभिधत्तेऽतः शब्दोऽतीतस्य हेतुत्वम्। एवञ्च यतः पूर्ववृत्तानां कर्मणां स्वर्गा-

---

चारम्भं दर्शयति योगशास्त्रनामकशास्त्रमारभ्यते व्याकरणनामकं शास्त्रमारभ्यते। तद्वत् प्रकृते ब्रह्मविचार आरभ्यते इत्ययमर्थः स्यात्। यद्वा-मंगलार्थकः "ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभा"विति–स्मृतिदर्शनेन मङ्गलार्थकोऽपि भवति।

ततश्च मङ्गलहेतुत्वात् प्रत्यहं ब्रह्मविचारः कर्तव्यार्थः स्यात् यद्वा पूर्वप्रकृतापेक्षो यथा घटो नित्योऽथानित्य इति वाक्यघटकोऽथशब्दः पूर्वप्रकृतं घटमपेक्षते तथा प्रकृतेऽपि पूर्ववृत्तं कर्मापि अपेक्षेत। अथवा आनन्तर्यार्थकः यथा भुक्त्वा अथ व्रजतीत्यत्र भोजनस्यानन्तर्यं गमनं दर्शयति तद्वत्प्रकृतेऽपि ब्रह्मविचारः कस्यचिदानन्तर्यमपेक्षेतेति विमृश्य प्राह— सूत्रेऽथ शब्द आनन्तर्यमभिधत्त" इति। अयं भावः योऽयं सूत्रघटकोऽथ शब्दः, स न आरम्भार्थस्य वाचको यतः प्रत्यधिकरणमारम्भस्याप्रस्तूयमानत्वात्। नापि मङ्गलार्थकः अथ शब्दस्य मङ्गलार्थे शक्तिलक्षणयोरभावात् पदार्थस्यैव वाक्यार्थेऽन्वयो भवति, न चेह मङ्गलमथशब्दस्यार्थः, ततस्तर्हि पूर्वोपदर्शितस्मृतिव्याकोप स्यादिति वाच्यम्, श्रवणमात्रेणैवाथशब्दस्य मङ्गलप्रयोजकत्वात्। अन्यार्थनीयमानपूर्णकलशदर्शनवीणाशङ्खादिध्वनिवदिति। नवा पूर्वकृतापेक्षोऽपि फलतस्तस्यानन्तर्याव्यतिरेकात्। अथवा यत्र कल्पान्तरोपन्यासस्तत्राथशब्दः पूर्वप्रकृतापेक्षो भवति, नात्र कल्पान्तरोपन्यासस्तस्मान्न पूर्वप्रकृतापेक्षकोऽथशब्दः प्रकृते। किन्तु आनन्तर्यार्थक एव, तथा च स्वाध्यायाद्यनुष्ठानयोरानन्तर्य-

परन्तु इसको अत्यन्त गम्भीर आशयवाली तथा अत्यन्त शब्दसंक्षेप को देखकरके अल्पश्रुत कुतर्कशील व्यक्तियों से अर्थान्तर में योजित प्रकृत मीमांसा से वास्तविक तत्त्व विषयक ज्ञानेच्छावान् व्यक्ति को भी कदाचित्

दिरूपानित्यसातिशयफलदायित्वं वर्त्तते अतो हेतोर्निरतिशयनित्यापवर्ग-रूपफलावाप्तये कर्मज्ञानानन्तरं ब्रह्मणः परमपुरुषश्रीरामस्य उक्तंचाचार्य-सार्वभौमभगवच्छ्रीरामानन्दाचार्ययतिराजप्रणीते ब्रह्मसूत्राणां श्रीमदान-न्दभाष्ये-"ब्रह्मशब्दश्च महापुरुषादिपदवेदनीयनिरस्ताखिलदोषमनवधि-

---

मभिदधाति प्रकृतेऽथशब्दः इति सूष्ठुक्तं वृत्तिकृता, तथाच सूत्रेऽथशब्द आनन्तर्यरूपार्थमभिधत्त इति । अथशब्दस्यानन्तर्यार्थकत्वं समर्थ्य सूत्रघटकस्य "अतः" शब्दस्यार्थं परिस्फोरयितुमाह "अतः शब्दोऽती-तस्य हेतुत्वमित्यादि । योऽयं सूत्रघटकोऽतः शब्दस्स हेतुरूपमर्थं बोध-यति, यस्मात्कारणाद् वेदः स्वयमेव पूर्ववृत्तस्य कर्मणोऽनित्यफलकत्वं दर्शयति, तथा ब्रह्मज्ञानस्य नित्यनिरतिशयमोक्षफलकत्वञ्च तस्मात्कार-णात् कर्मजनितैहिकामुष्मिकफलविरक्तोऽधिकारी ब्रह्मविचारमेव कुर्यादिति न च तर्हि कर्मानुष्ठानस्य वैयर्थ्यमापद्यत इति वाच्यम् कर्मणामनुष्ठानेन पूर्वोपचितदुरितकर्मणां विनासद्वारा वैराग्योत्पादनेन ब्रह्मज्ञानोत्पादकत्वेन सार्थक्यात् । तदुक्तं भाष्यकारेण "कर्म-ज्ञानानुष्ठानयोश्चित्तकल्मषाप-नयनपूर्वकवैराग्योत्पादनद्वारा च ब्रह्मज्ञानं प्रति साधनत्वेन तयोर्हेतुहेतुम-द्भावतयाऽपीति" [आनन्दभाष्यम् १।१।१] पूर्वोपचितदुरितक्षयस्य ब्रह्म-ज्ञानप्रयोजकतायां भवति शास्त्रं प्रमाणम् , तथाहि-ज्ञानमुत्पद्यते पुसां क्षयात् पापस्य कर्मणः" तावत्पर्यन्तं नोत्पद्यते ज्ञानं यावत्पर्यन्तं हृदय-स्थितदुरितकर्मणां विनाशो न भवति, तथा न भवेद् यावत्पर्यन्तं वैराग्योदयः, अतः पूर्वोपचितदुरितकर्मणः विनाशायावश्यमेव कर्मानुष्ठानं कर्तव्यम् । तदुक्तं "ज्ञानमुत्पद्यते पुसां क्षयात् पापस्य कर्मणः । नित्य-नैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम् । ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तु पाचयेदिति । ननु कर्मानुष्ठानवैराग्यादनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा स्यादिति कथितं तत् कथं स्यात्, इहामुत्रार्थफलभोगविरागस्यैवानुपपत्तेः सुखं हि फलमं

अनर्थ की प्राप्ति हो जायेगी ऐसी संभावना से अपने भक्तों के ऊपर समुत्पन्न है दया जिन को एतादृश भगवान् सर्वेश्वर श्रीराम पुनः विशदरूप से इस मीमांसा की व्याख्या करने की इच्छा से कलियुग के प्रारम्भकाल में इस भारत

कातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणं भगवन्तं श्रीराममेवाह। सामान्यवाचकानां पदानां विशेषार्थे पर्यवसानात्। तदाह भगवान् वृत्तिकारः—विशेषार्थेन सामान्यार्थोऽवसीयत इति बो०वृ०)"जिज्ञासा विचारः कर्तव्यः इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति जातसंस्कारः पुमानादौ वेदमधीत्य पूर्वमीमां-

---

नुकूलवेदनीय—मिष्टलक्षणत्वात् फलस्य। न चानुरागकारणे वैराग्यं सम्भवति। न च वैषयिकसुखे दुःखानुषङ्गदर्शनात् ततो वैराग्यमिति चेत् तदा सुखानुषङ्गदुःखेऽरागः कुतो न स्यात्। तस्मात् सुख उपादीयमाने दुःखपरिहारः कर्तव्यः। अवर्जनीयतयाऽऽगतदुःखं परिहृत्य सुखोपभोगमात्रं करिष्यति। कदाचिदतिभीरुर्विषयसुखं स्वोपसृष्टं त्यजेदपि परन्तु स्वर्गसुखं नित्यम् "यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वःपदास्पदम्, अपाम सोमममृता अभूम" इत्यादिना स्वर्गसुखस्य नित्यत्वश्रवणात् तत्कथं तादृशसुखेभ्यो विरक्तीभूत्वा ब्रह्मविचारं कुर्यादिति। इत्यादिशङ्कां मनसि निधायातः शब्दस्य हेत्वर्थकतां प्राह। ऐहिकामुष्मिकफलानामनित्यत्वं श्रुतियुक्तिभ्यां स्वयमेवानुपदं दर्शयिष्यति। ततस्तेभ्यो विरक्तः प्रवर्तत एव ब्रह्मजिज्ञासायामिति।

"एवं च पूर्ववृत्तानां कर्मणामित्यादि वृत्तिः" यस्मात् कारणात् पूर्वनिष्पन्नाः कर्मसमुदायाः अनित्यसातिशयस्वर्गादिकफलसम्पादकाः (स्वर्गः क्षयी भावत्वे सति कार्यत्वात्' इत्यनुमानेन तस्य क्षयित्वम्, तथा स्वर्गे केचनाधिकसुखभाजो वाजपेयादिकर्तारः, केचनाल्पफलभाजः, तत्र परसम्पदुत्कर्षो हीनसम्पदं दुःखीकरोति। यत् तत्वश्रवणमपि स्वर्गस्यापेक्षिकमेव। "आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते" इति नियमात्। अतोऽनित्यस्वर्गसुखादपि वैराग्यं सुकरमेव नित्यसुखमिच्छताम्) वर्तन्ते तस्मात्कारणान्निरतिशयमोक्षात्मकसुखप्राप्त्यर्थं मुमुक्षुणा

भूमी में पुनः "रामानन्दः स्वयं रामः प्रादुर्भूतो महीतले" इस आगम वचन प्रमाणानुसार वह भगवान् साकेतवासी देवाधिदेव श्रीरामजी ने श्रीरामानन्दाचार्य के स्वरूप को धारण करके आनन्द भाष्य को बनाया। (एतावता इस

सादिशास्त्रसहकारेण वेदार्थमवगच्छति । तेन च पूर्वभागावसेयकर्मणामल्पाध्रुवफलकत्वमुत्तरभागावसितब्रह्मज्ञानस्य चानन्तध्रुवफलकत्वमापाततो विज्ञाय तल्लब्धये ब्रह्मजिज्ञासायामेव प्रवर्तते । कर्मणामनित्यफलकत्वं

कर्मज्ञानादनन्तरं परमपुरुषसाकेतनिवासिनो ब्रह्मपदाभिधेयस्य जिज्ञासा-विचारोऽवश्यमेव सम्पादनीय इत्यर्थ इति ।

सूत्रघटकब्रह्मजिज्ञासाविशेषणीभूतो ब्रह्मशब्दोमहापुरुषादिपदवेदनीयनिरस्ताखिलदोषमनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणाकरं सर्वेश्वरं भगवन्तं श्रीराममेव प्रतिपादयति सामान्यवाचकोऽपि शब्दो विशेषार्थः परको जायते यथा द्रव्यं दक्षिणेत्यत्र द्रव्यशब्दः सुवर्णं बोधयति, तद्वत् प्रकृते सामान्यार्थकोऽपि ब्रह्मशब्दः विशेषं श्रीराममेव कथयति तदुक्तं बोधायनवृत्तिकृता महर्षि श्रीपुरुषोत्तमाचार्येण "विशेषार्थेन सामान्यार्थोऽवसीयते" इति ।

ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र या षष्टी सा कर्मषष्ठी कर्तृकर्मणोः कृतीति सूत्रेण कृद्योगे च षष्ठी समस्यते' इति नियमात् "प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते" इति निषेधस्य न प्राप्तिः । अथवा शेषलक्षणेयं षष्ठीति न कोपि दोषः पदमादधाति । ननु तर्हि सर्वत्र शेषषष्ठ्यैव कार्यसंभवात् षष्ठीसमासप्रतिषेधसूत्राणां का गतिरिति चेत् तेषां स्वरादिचिन्तायामुपयोगसम्भवान्न लोक उपयोग इति । न च ब्रह्मशब्दो वेदेऽपि प्रयुज्यमानो दृश्यते यथा ब्रह्मोदकम्, क्वचित् ब्राह्मणजातौ ब्रह्महत्या, क्वचित् परमात्मनि तदा प्रकृते कस्य ब्रह्मणो जिज्ञासेति संशये भाष्यकारेण समर्थितं यत् कल्याणगुणाकरस्य श्रीरामस्यैवात्र ब्रह्मपदेन ग्रहणमिति "ब्रह्म शब्दश्च महापुरुषादिपदवेदनीयनिरस्ताखिलदोषमनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणं भगवन्तं श्रीराममेवाह सामान्यवाचकानां पदानां विशेषार्थपर्यवसानात् तदाहवृत्तिकारः

ब्रह्मसूत के उपर में जो इतर भाष्य हैं. तदपेक्षया प्रकृत भाष्य में गौरवातिशय तथा प्रामाणिकत्व व्यवस्थित होता है । क्योंकि भाष्यान्तर तो मनुष्य निर्मित हैं और प्रकृत भाष्य तो सर्वेश्वरावतार आचार्य श्री से निर्मित है ।)

ब्रह्मज्ञानस्य च नित्यफलकत्वमाहुः श्रुतयः। "प्लवा ह्येतेऽदृढा यज्ञरूपाः" (मु० १।२।७) "तद् यथेह कर्मचितोलोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" (छा० ८।१।६) तमेव विदित्वा" (श्वे० ३।८) "ब्रह्मवि-

---

"विशेषार्थेन सामान्यार्थोऽवसीयत इति" (आनन्दभाष्यम् १।१।१) अतो न जात्याद्यर्थान्तरमाशङ्कितव्यम् ।

'एतदुक्तं भवतीत्यादि' गुरुणाकृतसंस्कारो ब्राह्मणो वेदाध्ययनयोग्यतामासाद्याधीत्य च साङ्गवेदराशिं पूर्वमीमांसादिशास्त्रसहकारेण वेदार्थमवधार्य कर्मकाण्डभागस्थितकर्मणामनित्यफलदायकत्वमवगत्य वेदान्तप्रतिपादितब्रह्मात्मकश्रीरामज्ञानस्य नित्यनिरतिशयमोक्षफलकत्वमापातो ज्ञात्वा मोक्षार्थं ब्रह्मजिज्ञासायां प्रवृत्तिं कुर्यादिति मुकुलितोऽर्थः। यानि कर्माणि तान्यनित्यफलकानि ब्रह्मज्ञानं तु नित्यफलप्रयोजकमिति यत् पूर्वं कथितं तत्र हेतुर्न प्रतिपादितः, हेतुप्रतिपादनायानेकां श्रुतिं प्रदर्शयति "प्लवा एतेऽदृढा यज्ञरूपाः" इत्यादि (एते वाजपेयादयो यागाः अदृढाः, प्लवा–अस्थिराः, येषु यागेषु अवरं–हीनम् अष्टादशसंख्या यजमान–तत्पत्न्यृत्विगादयो भवन्ति। एतद् यज्ञकर्मैव श्रेयो ये मन्यन्ते, यज्ञकर्तारः पुनः पुनरपि जरामृत्युलक्षणं संसारमेव प्राप्नुवन्ति, न कदाचिद् दुःखबहुधात् संसारान्निवर्तन्त इत्यर्थः । तद्यथेत्यादि—यथेह लोके कृष्यादिकर्मणा सेवितो धान्यादिको भोगेन कालपरम्परया क्षीयते इति प्रत्यक्षादेवाधिगतम् । एवमेव पुण्येन कर्मणा सेवितः स्वर्गादिलोको भोगेन क्षीयते, इति ज्ञायते। तदुक्तं भगवता श्रीकृष्णेन "ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते"। तदिह वैदिककर्माचरणेनापि शाश्वतसुखं न प्राप्यतेऽपि तु क्षणिकमेव सुखं दुःखमिश्रितमेव प्राप्तं भवति।

श्रीमान् आचार्य के द्वारा इस भाष्य में प्रतिपादित पदार्थ विद्वान् से जानने के योग्य हैं परन्तु सकल साधारण व्यक्ति इसको नहीं जान सकते हैं इसबात का आकलन करके महाचार्य की कृपा को अवलम्बन करके, सबको

दाप्नोति परम्'' (तै०२।१।१) इत्यादि रूपाः। तस्मादारम्भणीयमेवेदं ब्रह्मविचारशास्त्रम् ॥१॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ जिज्ञासाधिकरणम् ॥१॥

इत्याकलय्य विवेकिनस्ततो निवृत्यैकान्तिकसुखसाधने ब्रह्मज्ञान एव प्रवर्तन्ते इति कर्मणामनित्यफलकत्वं व्यवस्थाप्य ब्रह्मज्ञानस्य नित्यसुखसाधनत्वं दर्शयितुं श्रुतिरुदाहरति—''तमेव विदित्वेत्यादि'' चिदचिद्विशिष्टं परमात्मानं विदित्वा सम्यग् ज्ञात्वा अतिमृत्युं मोक्षमवाप्नोतीत्यर्थः। ब्रह्मवित् परमात्मज्ञानवान् परं–संसारधर्मातीतं साकेताधिपतिं प्राप्नोतीति श्रुत्यर्थः।

अत्र ब्रह्मज्ञानवन्तमुद्दिश्य परप्राप्तिर्विधियते। तत्रोद्देश्यतावच्छेदकप्रयोज्यत्वं विधेये भवतीति नियमः। यथा धनवान् सुखीत्यत्र सुखात्मकविधेये उद्देश्यतावच्छेदकधनप्रयोज्यत्वं भवति यदैव धनवान् तदैव सुखि न तु धनविरहकाले सुखि। एवं यदा ब्रह्मज्ञानवान् तदैव परप्राप्तिमान् न तु ब्रह्मज्ञानविरहे, इति उद्देश्यतावच्छेदकब्रह्मज्ञानप्रयोज्यत्वं परप्राप्तौ प्रदर्शयता ब्रह्मज्ञानस्य कारणत्वं समर्थितमेवेति सिद्धमात्मज्ञानस्य पुरुषार्थसाधनत्वम्, तादृशं च ब्रह्मज्ञानं ब्रह्मविचारशास्त्रप्रयोज्यमिति।

यतः कर्मणामनित्यसातिशयफलकत्वं श्रुत्यादिप्रमाणेन समधिगतं तथा नित्यनिरतिशयसाकेतप्राप्तिरूपं फलं ब्रह्मज्ञानस्य फलमिति प्रदर्शितश्रुतिस्मृतिभिः समर्थितं तस्मात् कारणात् प्रकृतमिदं ब्रह्मविचारशास्त्रमवश्यमेवारम्भणीयमिति उपसंहरन्नाह ''तस्मादारम्भणीयमेव ब्रह्मविचारशास्त्रमिति यद्यपि यद् वस्तु संदिग्धं भवति तदेव जिज्ञास्यते संदिग्धे न्यायः प्रवर्त्तते, इतिनियमात्

सुखपूर्वक इन पदार्थों का बोध हो, इसलिए अतिसंक्षिप्त इस श्रीरघुवरीय वृत्ति को मैं बनाता हूं।

यद्वस्तु संशयरहितं तन्न जिज्ञास्यते, यथा माध्यन्दिनादित्याऽऽलोकाऽऽलोकितः समनस्कचक्षुःसन्निकृष्टो घटादिपदार्थव्रातो नहि केनापि जिज्ञासितो भवति । तत्कस्य हेतोः ? तम्प्रति घटादेर्निश्चयात् । तथा च यत्र यत्र जिज्ञासा तत्र तत्र संशय इति व्याप्तिरन्वयमुखी, यत्र संशयो

सारबोधिनी—यहां यह संशय होता है कि— इस ब्रह्म विचारशास्त्र का आरम्भ करना चाहिये वा नहीं, एतादृशसंशय में जब ब्रह्म पदार्थ सिद्ध है तो सिद्ध वस्तु में पद की शक्ति नहीं होती है, किन्तु जो पदार्थ क्रिया से सम्पाद्यमान होता है, उसी में व्यवहारादिद्वारा पद की शक्ति का ग्रहण होता है, लोक से अवगत सामर्थ्य वाला शब्द ही वेद में भी शाब्दबोध का जनक होता है, तो प्रकृतसिद्धार्थकब्रह्मादिपदार्थोंमें पदों की शक्ति नहीं होने से ब्रह्मविचारशास्त्र का आरम्भ नहीं होना चाहिये यह पूर्व पक्ष होताहै ॥

इस प्रश्न के उत्तर में वृत्तिकार कहते हैं कि— 'पिता ते सुखमास्ते' इत्यादि, इसका अभिप्राय यह है कि— यद्यपि व्यवहाराधिगमसमय में 'घटमानय घटंनय प्रसादं पश्य घटं कुरु' 'घट लाओ घट ले जाओ, महल देखो, घड़ा बनाओ' इत्यादिस्थल में लिङादिककार्यान्वितघटादिशब्द की

टिप्पणी— यहां कर्म तथा ज्ञान के विषय में कुछ विचार किया जाता हैं, अपर भक्तिनामक ज्ञानसे अतिरिक्त कर्म से मोक्ष होता हैं, वा कर्मरहित केवल ज्ञान से मोक्ष होता हैं । तो इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि— यदि केवल कर्म से मोक्ष हो तो यह मोक्ष कर्मफल का अन्यतम कहलाया, तथा ब्रह्मविचार करने के लिये जो व्यास भगवान् ने इतना बड़ा शास्त्र उत्तर मीमांसा के लिये कण्ठशोषण किया, वह निरर्थक हो जायगा । द्वितीय पक्ष—ज्ञानमात्र से मोक्ष होता हैं, यह भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि--तब एक तो अपसिद्धान्त हो जायगा, तथा नैष्कर्म्यवाद की भी आपत्ति आजायगी इसलिये कर्मसहकृतज्ञान मोक्ष का कारण होता हैं, यह श्रुतिस्मृतिसिद्ध तथा बोधायनादि महर्षियों का अनुमत पक्ष ही श्रेष्ठ हैं । श्रुति भी कहती है कि—"अन्धंतमः

नास्ति तत्र जिज्ञासाऽपि न भवति, यथा समनस्केन्द्रियसंयुक्तस्फीतालोकवर्तिघटे। एवं च प्रकृते प्राणिमात्रस्याऽऽत्मनि संशयाभावेन कथं जिज्ञासा स्यात् ?

ब्रह्मशब्दस्य व्यापको देहादीनां परिणमयिता यस्तस्यैव नाम ब्रह्म

शक्ति का निर्धारण होता है, परन्तु पश्चात् लाघव होने से घटादिपद की शक्ति घटत्वावच्छिन्नमात्र में मान्य होती है, अन्यथा यदि एकान्तरूप से कार्यान्वित पदमें ही शब्द की शक्ति माने तो कार्येतरप्रत्यमभिव्याहृतवाक्य से शाब्दबोध नहीं होगा, परन्तु 'पुत्रस्ते जातः' 'तेरा लड़का हुआ है, इत्यादि वाक्य के श्रवण के बाद श्रोता के मुखप्रसन्नतादिहेतु से श्रोता के ज्ञान का अनुमान कर तादृशसुखज्ञान का जनक 'पुत्रस्ते जातः' यह शब्द निश्चित किया जाता है, नहीं कहो 'पुत्रस्ते जातः' यहां 'तं पश्य' तेरा पुत्र हुआ है उसे देखो' इस प्रकार से दर्शनक्रिया का अध्याहार करके ही शाब्दबोध होता है, तो वह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि—सर्वत्र क्रिया का अध्याहार

प्रविशन्तीत्यादि,' वह अत्यधिकतम अन्धकार में पड़ता है जो अविद्याशब्दवाच्य केवल कर्म का अनुष्ठान करता है, और जो व्यक्ति स्वाधिकारोचित कर्म छोड़कर केवल उपासना करता है वह तो और अत्यधिक गाढान्धकार में पड़ता है, इत्यादि श्रुति स्मृतियों से सिद्ध होता है कि—न केवल कर्मानुष्ठान करने से मोक्ष होता है, न वा केवल ज्ञान से मोक्ष होता है, अर्थात स्वातन्त्र्य से एक किसी को भी मोक्षजनकत्व नहीं है, किन्तु दण्डचक्रादिन्याय से मिलित ज्ञानकर्म को मोक्ष साधनत्व प्राप्त है। "विद्यां चाविद्यां चेत्यादि-श्रुति से सिद्ध होता है कि- विद्या तथा अविद्या इन दोनो मिलित से मोक्ष होता है, उनमें कर्म अङ्ग है, ज्ञान अङ्गी है, नित्यनैमित्तिकादि कर्म ज्ञानोत्पत्ति प्रतिबन्धकदुरितकर्म के विनाशद्वारा ज्ञान में सहायक होता है, ज्ञानशब्द का अर्थ है-भक्ति जिस का अपर पर्याय है, एतादृश तैलधारावत् विच्छेदरहित दर्शनात्मक ज्ञान। ये दोनों मिलित होकर मोक्षसाधक होते हैं, नतु तृणारणिमणिन्याय से प्रत्येक मोक्ष कारण है, अपितु दण्डचक्रादिन्याय से मिलित ही कारण हैं, विशेष

भवति, तादृशमात्मरूपं ब्रह्म सर्वस्यापि प्रसिद्धमेवाहम्प्रत्ययात्। न चाहम्पदवाच्यस्तु देह एव, अहं स्थूलोऽहं कृश इतिप्रत्ययदर्शनात् न तु तद तिरिक्तः कश्चिदात्मा निश्चित इति वाच्यम्, देहस्याहम्प्रत्ययगम्यत्वे योऽहं बालावस्थायामितरमन्वभूवं स एवाहमिदानीं वृद्धावस्थायां पौत्रा-

होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। और 'पुत्रस्ते जातो मृतश्च' पुत्र तेरा हुआ लेकिन मर गया इत्यादिस्थल में 'पश्य' इत्यादि का अध्याहार भी बाधित है। अतः क्रियान्वित (पद) में ही शक्ति है, यह नियम नहीं है किन्तु अकार्यबोधक लौकिक पद का भी प्रयोग होता है; जैसे—'कमनीयनारीसमुदायसुशोभितदेवताओं का विहारस्थल पर्वतराज सुमेरु है, इसमें कार्यतावाचक कोई भी पद नहीं है, तथापि शाब्दबोध होता है, अन्यथा तादृशपदसमुदाय- प्रयोग निरर्थक हो जायगा। एवं वेदान्तमें भी परमात्मबोधकशब्दप्रयोग सार्थक होता है, इस अभिप्राय से वार्तिककार ने लिखा कि— 'पिता ते सुखमेधते' इत्यादि' "पिता ते सुखमास्ते" इत्यादि लौकिकवाक्य से शाब्दबोध देखने में आता है तो इसी प्रकार से सिद्धार्थकब्रह्मपद में शक्तिग्रह को सम्भावित होने से इस शारीरक वेदान्तशास्त्र का आरम्भ जरूर करना चाहिये। यह सिद्धान्त हुआ।

जिज्ञासु व्यक्ति यह विषय आनन्दभाष्य में देखें। मैंने केवल दिग्दर्शन-मात्र के लिये थोड़ा लिखा। बहुत लोग अविद्यानामक कर्म भिन्न अनिर्वचनीय मानकर उस अविद्या को जगद्विभ्रम के प्रति उपादान कारण मानते हैं। परन्तु यह उनका कथन युक्तिसिद्ध नहीं है, 'तथाहि' यहां अविद्याघटक जो नञ् पद है, अर्थात् न विद्येति अविद्या इस प्रकार से समास के अन्तर्गत जो नञ् है, उसका क्या अर्थ है? क्योंकि—समास के अन्तर्गत नञ् के छ अर्थ होते है,''तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं, तदल्पता। अप्राशस्त्य, विरोधश्च नमर्थाः षट् प्रकीर्तिताः। तत्सादृश्य, अभाव, तदन्यत्व, तदल्पता, अप्राशस्त्य और विरोध। जैसे—'अनश्वो गर्दभः' यहां अश्वसदृश गर्दभ है, 'अघटं भूतलम्' यहां घटाभाववाला भूतल हैं यहां नञ् अभावार्थक है, 'अघटः पटः' यहां पर नञ् घटभेदार्थक है, 'अनुदरा कन्या' यहां नञ् अल्पतार्थक अल्पोदर वाली कन्या है, 'अब्राह्मणो वार्धुषिकः,

दिकमनुभवामीत्याकारकप्रतिसन्धानं न स्यात्. अवयवोपचयाभ्यां शरीरस्य प्रतिक्षणोत्पादबिनाशदर्शनात्, तस्माद् देहादिनाऽऽत्मा, किन्तु देहेन्द्रियादिभिन्नः स्फुटतरानुभवसमर्थितः, स च कीटपतङ्गादारभ्य देवर्षिपर्यन्तप्राणिमात्रस्य सुप्रसिद्ध एव. नहि आत्मनि

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र में जो 'अथ' शब्द है, वह आनन्तर्यरूप अर्थ को कहता है, अर्थात् सूत्रघटक अथ शब्द का अर्थ आनन्तर्य है, अथ शब्द के चार अर्थ होते हैं आनन्तर्य, आरम्भ, मङ्गल, और पूर्वप्रकृतापेक्ष। उनमें 'अथ योगानुशासनम्' यहां अथशब्द आरम्भार्थक है, इस योगशास्त्र का आरम्भ होता है, स्थलविशेषमें मङ्गलार्थक होता है, कहीं आनन्तर्यार्थक, कहीं पूर्वप्रकृतापेक्ष होता है, जैसे 'घटो नित्योऽथाऽनित्यः' यहां पूर्वप्रक्रान्तघट का बोधकविमर्शवाक्यघटक अथ शब्द है। परन्तु प्रकृत में आनन्तर्यार्थक है तदितर अर्थ प्रकृत में उपयोगी नहीं है। और सूत्रघटक जो अतः शब्द है, वह पूर्ववृत्त अर्थात् अतीत जो कर्म है, उसके कारणत्व का बोधक है, तब यह सूत्रार्थ निष्पन्न होता है कि- जिस से पूर्ववृत्तकर्मों को स्वर्गादिरूप अनित्य सातिशयविनश्वरफलों की उत्पादकता है, इस कारण से नित्यनिरतिशयसाकेतप्राप्तिरूप जो अपवर्गलक्षणफल हैं उसकी प्राप्ति

यहां अप्रशस्त ब्राह्मण वार्धुषिक हैं, असुरः, अधर्मः' यहां नञ् विरोधार्थक है। सुरविरोधी राक्षस, धर्मविरोधी पाप यह अर्थ होता है, इस प्रकार प्रकृत में अविद्याघटकनञ का अर्थ अभाव है। अथवा विरोध अर्थ है ? वो भेद है। तो उनमें प्रथम अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि तब तो विद्या (ज्ञान) के अभाव का नाम हुआ अविद्या तो जिस प्रकार वेद्य जो घटपटादिक उसका जो अभाव पटपटाद्यभाव उसको कोई अविद्याशब्द से व्यवहार नहीं करता है, न वा घटाभाव को अनिर्वचनीय मानता है, वैसे ज्ञानाभावरूप अविद्या भी अनिर्वचनीया सिद्ध नहीं होती है। द्वितीयपक्ष विरोध अर्थ भी ठीक नहीं है, क्योंकि-- तब तो विद्या का जो विरोधी है, उसको अविद्या कहियेगा, तवतो विद्या (ज्ञान) का विरोधी संशयविपर्ययज्ञान भी अविद्याः-- पदवाच्य हो जायगा, और संशयविपर्यय को तो आपभी अविद्या नहीं कहते हैं। इसलिये द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है। तृतीय

कश्चित् सन्दिग्धेऽहमस्मि नवेति जिज्ञासाव्यापकस्य संशयाभावात्, व्याप्यलक्षणाया जिज्ञासाया अप्यभाव एव प्राप्तो भवति, वह्न्यभावे धूमाभाववदिति कथं प्रकृते जिज्ञासेति पूर्वपक्षमाकलय्य वृत्तिकारः प्राह "तस्मादारम्भणीयमेवेदं ब्रह्मविचारशास्त्रम्" अयं भावः– यद्यपि

के लिये कर्मज्ञान के बाद में परम पुरुष भगवान् साकेताधिपतिश्रीरामस्वरूप-ब्रह्मविषयकजिज्ञासा अर्थात् तादृशब्रह्म का विचार जरूर ही करना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि– शास्त्रविधि प्रकार से उपनयनादि संस्कार हो गया है जिसका एतादृशद्विजाति पुरुष विधिवत गुरु के समीप में साङ्ग सरहस्य स्वाध्यायराशि का अध्ययन कर पूर्वमीमांसा इतिहास पुराणादिशास्त्र की सहायता से वेदार्थ का ज्ञानसम्पादन करे। उसमें पूर्वभाग कर्मकाण्डप्रतिपादित कर्म (वाजपेयादियाग) अनित्यसातिशयस्वर्गादिफलजनक तथा ब्रह्मज्ञान नित्य-निरतिशयानन्तफलजनक है ऐसा आपाततः समझ कर तादृशनित्यमोक्षरूपफल की प्राप्तिकामना से ब्रह्मजिज्ञासा में प्रवृत्त हो जाय। कर्म अनित्यफलक है, तथा ब्रह्मज्ञान नित्यफलक है, इसको श्रुति खुद ही कहती है जो अग्निहोत्रादि कर्म अदृढमूलवाला तथा चलायमान है, इसी कर्म को जो कर्मजड़ मीमांसक परमश्रेयस का साधन मानते हैं, वे लोग इस संसार में बारंबार जननजरामृत्यु

पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि-तब तो विद्या से भिन्न सकल जगत् है, तो सकल जगत् अविद्या हो जायगा इसलिये नञर्थ का निर्वचन नहीं होने से अविद्या की सिद्धि नहीं होगी। और भी यह विद्या जन्य है वा अजन्य, (नित्य)! यदि जन्य मानो तो उस अविद्या की जनिका यही अविद्या है, वा दूसरी ? यदि अविद्या है तो आत्माश्रय दोष है, यतः स्व से स्व की उत्पत्ति नहीं होती। घट से घट उत्पन्न नहीं होता है। और एक ही में कारणत्व कार्यत्व इन विरुद्ध धर्मों का समावेश नहीं हो सकता है। यदि कहो कि ब्रह्म कारण है अविद्या का, तो सो ठीक नहीं है, क्योंकि--सोपाधिक ब्रह्म कारण है, वा निरुपाधिक! यदि सोपधिक ब्रह्म कारण हो तो अविद्या से पूर्व ब्रह्म निरुपाधि ही रहता, अविद्या से ही सोपाधिक ब्रह्म होता है, वह निरुपाधि ब्रह्म किसी का कारण नहीं है, यदि निरुपाधिक को भी कारण माने तो संसार का कारण अज्ञान ब्रह्म में सदा रहेगा, तो

आपाततः सर्वोऽप्यात्मास्तित्वं जानाति, परन्तु विशेषतो न जानाति जीवात्मतत्त्वम् । देहमात्रमात्मेति केचनावगच्छन्ति, अन्ये इन्द्रियाण्येवात्मेति, मन इत्यन्ये, विज्ञानमिति चापरे, शून्यमिति माध्यमिकाः । कर्ता भोक्तेत्यन्ये, भोक्तैव केवलं न कर्तेत्यपि केचन, इत्येवं

प्राप्त करते हैं, जैसे इस लोक में कृष्यादिकर्म के द्वारा सञ्चितधनधान्यादि पदार्थ उपभोग द्वारा कालक्रम से विनष्ट हो जाता है, वैसे अग्निहोत्रादिकेवल यज्ञ द्वारा जायमान पुण्य के बल से उपार्जित स्वर्गादिफल भी परलोक में उपभोग द्वारा कालक्रम से विनष्ट हो जाता है । एवं गीतानन्दभाष्यमें कहाकि वे कर्म करने वाले व्यक्ति पुण्यफल प्राप्त विशाल स्वर्ग का भोग कर पुण्य के क्षय होने पर वहां से इस मर्त्यलोक में आजाते हैं । (गी. ९।२१)

(यद्यपि " अपाम सोमममृता अभूम " हमलोगों ने सोमयाग में सोम रसपान किया इससे हम अमरणधर्मा हो गये हैं । " अक्षय्यं ह चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति " चातुर्मास्ययाग करने वाले को अक्षय पुण्य मिलता है " इत्यादिश्रुतिस्मृतियों से सिद्ध होता है कि—स्वर्गफल नित्य है, तथा "यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वःपदास्पदम् " जो दुःख से संमिलित नहीं है, जिसका अन्तभाग अभावग्रस्त नहीं है जो इच्छामात्र से प्राप्त होता है तादृश सुखविशेष को स्वर्ग कहते हैं । यदि

संसार सर्वदा चलता ही रहेगा इस प्रकार से तो मोक्ष का अभाव हो जायगा । यदि कदाचित् अज्ञान नित्य है, इस द्वितीय पक्ष को माने तो अनादि जो भाव पदार्थ है, उसका अभाव तो होगा ही नहीं होने से अज्ञान की निवृत्ति के लिये जो गुरुतम शास्त्र का उपदेश है सो सब निरर्थक हो जायगा । 'अविद्या न निवर्तते, अनादिभावपदार्थत्वात्, आत्मवत् । अविद्या निवृत्त नहीं होती है, अनादिभावपदार्थ होने से जो अनादि भावपदार्थ होता है, सो निवृत्त नहीं होता है, जैसे आत्मा, आत्मा अनादि भाव है सो कभी नष्ट नहीं होता है । ऐसे अविद्या भी अनादि भाव होने से नष्ट नहीं होगी । इस अनुमान से अविद्या की निवृत्ति नहीं होने से गुरुशास्त्रादि का उपदेश सर्वथा व्यर्थ हो जायगा, अतः प्रकृतमत ठीक नहीं है । नवा इस मत का विषय प्रकृतमीमांसाशास्त्र है । किन्तु समस्त श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादि

कुवादिभिः कुतर्कानुमितमिवात्मतत्त्वमिति भवति संशयविषय इति संदिग्धत्वादात्मतत्त्वस्य तदर्थस्वरूपपरिमार्जनाय शास्त्रारम्भ आवश्यक एवेति संक्षेपः । इति जगद्गुरु-श्रीरामानन्दाचार्य-रामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्रकृतस्य श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणस्य प्रथमं जिज्ञासाधिकारणम् ।

यह स्वर्ग अनित्य हो तो अमृतत्वकथन अयुक्त हो जायगा' इत्यादि श्रुतिस्मृत्यादि प्रमाण से स्वर्गादिफल को नित्यत्व सिद्ध होने से कर्म को अनित्यफलक कहना सर्वथा साहसमात्र है। तथापि अनेकश्रुतिस्मृतियोसे तथा युक्त्यनुभवादि प्रमाणसे सिद्ध होता है कि—कर्मका फल अनित्य है। अन्यथा ज्ञानभक्तिप्रतिपादक उत्तरमीमांसा सर्वथा विफल हो जायगी । विशेषता इतनी है कि केवल कर्म बन्धनजनक होने से त्याज्य है, परन्तु वही कर्म यदि ज्ञानसहकृत होता है तो नित्यानन्तफलमें भी कारण होता है) एवं ब्रह्मज्ञानसे मोक्ष होता है, इस वात को कहती है। "तमेव विदित्वा" उस परमात्मा भगवान् श्रीराम को जान कर उपासक मोक्ष पाता है ब्रह्मज्ञानवान् पुरूष मोक्ष पाता है इत्यादि श्रुति और स्मृति अनेक है जो आत्मज्ञान से मोक्ष का प्रतिपादन करती है, अतः ब्रह्मविचार शास्त्र का आरम्भ करना चाहिये । इति सारबोधिन्यां जिज्ञासाऽधिकणम् ॥

के समन्वयबल से अनादिवैदिक जगद्गुरु श्रीपुरुषोत्तमाचार्यबोधायन प्रवर्तित प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य-प्रवर्धितविशिष्टाद्वैत मत ही मीमांसाशास्त्र का विषय है । तथा हि चित् तथा जडपदार्थ परमेश्वर का शरीर होने से अपृथक् सिद्धरूप से विशेषण हैं, और जड़चेतन विशिष्ट भगवान् साकेताधिपतिशरीर होने से प्रकारी है। इस मत के पोषक अनेक श्रुति है, प्रेरयिता परमात्मा को स्वभिन्न जानकर एतदर्थ "परा पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा तथा "ज्ञाज्ञावजावीशानीशौ' जीव और ईश्वर ये दोनो अजायमान तथा ज्ञानवान् और अज्ञानवान् हैं । तथा भोक्ता भोग्य एवं प्रेरयिता को जानकर इत्यादि । "क्षरंप्रधानममृताक्षरं हरः" इत्यादि अनेकश्रुति प्रमाण हैं । इसी अभिप्राय को स्मृत्यादिकने भी प्रतिपादन किया है। एवं सूत्रकार भी "ईक्षतेर्नाशब्दम्" तदनन्यत्वम्' प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा" इत्यादि अनेक सूत्रों में पृथक्त्व प्रतिपादन करते है। इस अभिप्राय को लेकर वृत्तिकारने लिखा-कि इतिजिज्ञासाऽधिकरणम् इसलेखस्वरससे इस पूर्वोक्त अभिप्राय को स्पष्ट किया है ॥

अथ जन्माद्यधिकरणम्

जन्माद्यस्य यतः ।१।१।२॥

पूर्वसूत्रे जिज्ञास्यं ब्रह्मेत्युक्तं तच्च ब्रह्म किंलक्षणकमित्याकाङ्क्षाया-मभिधीयते- 'जन्माद्यस्य यतः" इति । अत्रायं संशयः– "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविसन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म (तै.३।१।)" इति श्रुतिर्लक्षणविधया ब्रह्म प्रतिपादयति नवेति । श्रुत्यभिहित–जगज्जन्माद्यनेकधर्माणां स्वाश्रयभेदकत्वनियमाद् विशेषणतयोपलक्षणतया वैकं ब्रह्म नाभिदधातीति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु जगज्जन्मादीनामुपलक्षणतया श्रुतिरियं ब्रह्मणो लक्षणं ज्ञाप-

---

वृत्तिविवरणम्— अथ यद्वस्तु लक्षणप्रमाणाभ्यां परिनिष्पन्नं भवेत्तदैव तस्य विचारो भवति । लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुनः प्रसिद्धिरिति नियमात् । लक्षणप्रयोजनं तु स्वेतरव्यावृत्तिर्व्यवहारो वा 'व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनमि"ति । परन्तु लक्षणं तदेव भवति यत्राव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवान्यतमदोषो नावतरति,, तत्सत्त्वे लक्षणमलक्षणमेव । यथा कश्चिद् गोर्लक्षणं नीलत्वं कुर्यात्तदा नीलभिन्ने श्वेते गवि नील स्याभावाल्लक्ष्यैकदेशे लक्षणागमनलक्षणाऽव्याप्तिरापतेत् । शृङ्गित्वं यदि लक्षणं कुर्यात्तदा लक्ष्यभिन्नमहिष्यादौ शृङ्गित्वस्य सत्त्वेनाऽलक्ष्ये लक्षणगमनात्मिकाऽतिव्याप्तिः स्यादिति । तथैव एकशफवत्त्वं यदि लक्षणं कुर्यात्तदा लक्ष्यमात्रावर्तनलक्षणाऽसम्भव एवापतेत् । इत्यतो दोषत्रयरहितमेव लक्षणं भवति ।

सारबोधिनी–"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस प्रथम सूत्र में ब्रह्म की जिज्ञासा कहकर ब्रह्मविचार करना चाहिये, इस प्रकार से ब्रह्म में जिज्ञास्यत्व का प्रतिपादन किया गया । परन्तु जिज्ञासाशब्द का अर्थ होता है– ज्ञानविषयक इच्छा, ज्ञान विषयनिरूपण का अधीन है, और विषय लक्षण–प्रमाणाधीन होता

यत्येव । बृहत्त्वधर्मसम्बन्धादुक्तश्रुतौ प्रसिद्धवद् यत इत्यादि-निर्देशाच्चास्त्येव जगज्जन्मादीनामुपलक्षणत्वम् । तथाविधप्रतिद्धानुगुणकारणत्वं तु "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् (छा.६।२।१)। तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति । तत्तेजोऽसृजत" (छा ६।२।१) इत्यादिश्रुतिसिद्धमभिन्ननिमित्तोपादानरूपम् एवमेतच्छ्रुतिगत-जगज्जन्मादीनां विशेषणविधयाऽपि ब्रह्मलक्षणता सम्भवति । न च खण्डो मुण्डो गौरितिवदनेकविशेषणानां धर्मिभेदकत्वमिति वाच्यम् । परस्परविरुद्धानां तेषां तथात्वेऽप्यविरुद्धानां 'दण्डी, कुण्डली देवदत्त" इत्यादीनां नाश्रयभेदापादकत्वम् । प्रकृते तु कालभेदेन जन्मस्थितिलयानां विशेषणत्वं सम्यगुपपद्यते । इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ जन्माद्यधिकरणम् ॥

अथैतद्दोषसत्त्वे का क्षतिरिति चेच्छृणु– लक्षणं लक्ष्यस्य व्यावर्तकं भवति, तत्रेतरभेदानुमानेऽव्याप्तं लक्षणं हेतूक्रियते चेत्तदा 'गौः स्वेतरेभ्यो भिद्यते नीलरूपादितीतरभेदानुमाने नीलस्य हेतोः पक्षैकदेशे श्वेते गव्यभावेन पक्षैकदेशे हेतोरभावलक्षणभागाऽसिद्धिर्भवेत् 'वायुघटौ रूपवन्तौ रूपादितिवत् । अतिव्याप्तलक्षणस्य हेतुत्वे साध्याभाववति हेतोः सत्त्वेन वह्निमान् प्रमेयत्वादितिवद् व्यभिचारः स्यात् । असम्भवग्रस्तस्य लक्षणस्य हेतुत्वे पक्षे हेतोरभावेन शब्दो गुणश्चाक्षुषत्वादितिवत् स्वरूपा-

है, तो ज्ञानविषयीभूत जो ब्रह्म, उसका लक्षण क्या है? क्योंकि पदार्थों का निरूपण अर्थात् व्यवस्था लक्षण– प्रमाणाधीन है, और लक्षण उसका नाम है, जो लक्ष्य का असाधारण धर्म होकर लक्ष्य को स्वेतर से भिन्न करता हो, जैसे पृथिवी का लक्षण होता है गन्ध, यह गन्ध पृथिवी का असाधारण धर्म होकर पृथिवीरूप लक्ष्य को पृथिवीतरजलादित्रयोदश पदार्थों से भिन्न करता हैं। यद्यपि उत्पत्तिकालिकघटादिपृथिवी में गन्ध नहीं, तथा प्रलय में परमाणु में गन्ध नहीं रहता है. तथाऽपि गन्धाधिकरण में वृत्ति जो द्रव्यत्वव्याप्य पृथिवीत्वजाति, तादृशजातिमत्व लक्षण– गन्धवत्त्व पृथिवीमात्र में रहजाने से

सिद्धिरूपो हेत्वाभास आपतेत्। इति तदनुमानं नेतरभेदसाधनायाऽलं स्यादित्ययमेव दोषः स्यादिति। अतस्तादृशमेव लक्षणं यत्रैषु नान्यतमो दोषो भवेत्। एतादृशेन लक्षणेन प्रसिद्धस्यैव लक्षणव्यवस्थापकत्वं लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धेरिति नियमात्। प्रकृते निर्दुष्टस्य लक्षणस्याभावात् परमात्मतत्त्वाव्यवस्थितत्वात् कथमप्रसिद्धस्य ब्रह्मणो जिज्ञासा प्रतिज्ञाता प्रथमसूत्रे? इत्याद्यभिप्रायं पूर्वपक्षिणो मनसि निधायाऽऽह वृत्तिकारः- "पूर्वसूत्रे जिज्ञास्यं ब्रह्मेत्युक्त" – मित्यादि। पूर्वस्मिन् "अथातो 'ब्रह्मजिज्ञासे'– ति सूत्रे ब्रह्म जिज्ञास्यं– ब्रह्मविषयको विचारः कर्तव्यो मुमुक्षुणेति प्रतिपादितम्। तत्र ब्रह्मजिज्ञासाघटकं ब्रह्म किंलक्षणकम्? एतादृशब्रह्मणः स्वरूपं किमिति स्वभावत एव जिज्ञासा जायते यतो लक्षणमन्तरेण लक्ष्यापरिचयाद् विचार एवाशक्यः स्यादिति। एवं जिज्ञासावतां कृते ब्रह्मलक्षणमाह सूत्रकारः– "जन्माद्यस्य यतः" यस्य नामद्वयेन विभक्तस्य कर्तृभोक्तृयुक्तस्यानेकप्रकारकस्य जडचेतनात्मकस्य जन्मादि –उत्पत्तिस्थितिप्रलयैतत्त्रयम् यतः –यस्मात् सर्वज्ञात्

पृथिवी का लक्षण होता है, तो वह स्वेतरभेदक है। इसी प्रकारसे प्रकृत में ब्रह्म का क्या लक्षण है? जिस लक्षण से लक्षित ब्रह्म में जिज्ञास्यत्व होगा। इस अभिप्राय से ब्रह्म का लक्षण करने के लिये वृत्तिकार उपक्रम करते हैं– "पूर्वसूत्र" – इत्यादि। पूर्वसूत्र में अर्थात् "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र में ब्रह्म जिज्ञासा का विषय है, ऐसा कहा है, तो इस ब्रह्म का क्या लक्षण है, अर्थात् ब्रह्मनामक पदार्थ किसी लक्षण के द्वारा व्यवस्थित हो जायगा तब उसकी जिज्ञासा होगी। इस प्रकार से शिष्य की जिज्ञासा होने से इस जिज्ञासा के उत्तर में भगवान् सूत्रकार वेदव्यास कहते हैं– "जन्माद्यस्य यतः" नाम और रूप के द्वारा व्याकृत अनेक प्रकारक जड़चेतनात्मक जो कि– अनेकप्रकारककर्ता और भोक्ताओं से युत स्वर्गनरकादिशाखोपशाखा से परिवृत है, एतादृश परिदृश्यमान जगत् का जिस सर्वज्ञ सर्वशक्ति से युक्त

सर्वशक्तेरनेककल्याणगुणवतः साकेताधिपतेः सकाशाज्जायते तद् ब्रह्मेति मुकुलितोऽर्थः विस्तृतार्थस्तु श्रीसम्प्रदायाचार्ययतिराजश्रीरामानन्दाचार्यप्रसादितानन्दभाष्याम्बुधौ द्रष्टव्यः॥ यद्यपि जन्मादिकं न ब्रह्मलक्षणं सम्भवति यतो जन्मादेर्ब्रह्मण्यवृत्तित्वात् पक्षे वर्तमान एव हेतुर्गमको भवति यथा पर्वते वर्तमानः साध्यनिरूपितव्याप्तिमान् धूमो ज्ञापयति पर्वते वह्निम्। प्रकृते हेतुस्तु संसारनिष्ठत्वेन व्यधिकरणः, नहि अन्यगतो हेतुरन्यस्मिन् साध्यं साधयति। अपि तु तद्धर्मस्तदात्मक एव साधकः। तथापि ब्रह्मधर्मत्वेन ब्रह्मतादात्म्येन जन्मादिकं न ज्ञापयतु परमात्मानम्। किन्तूत्पत्त्याऽनुज्ञापयत्येव। यथा वह्निजन्यो धूमो वह्निं व्याप्तिपक्षधर्मतात्वात् पर्वते बोधयति तथा परमात्मजन्यं जगद् व्याप्तिपक्षधर्मताबलात् स्वजनकं परमात्मानं गमयिष्यत्येव जगन्निष्ठकार्यतानिरूपितकारणतावत्त्वेन। ब्रह्म जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानमिति वक्ष्यति। अत्रायं संशय इति वृत्तिग्रन्थः अत्र– ब्रह्मल-

समस्त कल्याणगुणों का आकार सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पुरुषविशेष से उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होते हैं, अर्थात् जो भगवान् रजोगुणाश्रितशक्तियुक्त होकर इस समस्त प्रपञ्च को उत्पन्न करते हैं तथा सत्वगुणविशिष्ट–शक्तिद्वारा जड़चेतन जगत् का पालन करते हैं, और तमोगुण–विशिष्ट–शक्ति द्वारा प्रलयकाल में सर्वजगत् को अपने में लीन करते है। "यतो वा इमानि भूतानि" इत्याद्यनेकश्रुति, एवम् "यस्य ब्रह्म च सत्रं च उभे भवत ओदनः" शेतेऽनन्तासने नित्यमात्मसात्कृत्य चाखिलम्" (जिससे जगत् की उत्पत्ति होती है, जिसका ब्राह्मणक्षत्रियोपलक्षित सकलचेतनाचेतनात्मक जगत् ओदनस्थानीय है, और मृत्यु स्वयं उपसेचन शाकसूपस्थानीय है एतादृश महान् पुरुष को कौन जान सकता है? जो प्रलयकाल में अखिलजगत् को आत्मसात् कर अनन्तासन पर सो जाता है) इत्यादिश्रुतिस्मृति प्रमाण है। परमेश्वर के जगत् के उत्पत्त्यादिक में कारण होने में। यही जगदुत्पत्त्यादिक ब्रह्म का लक्षण है। लक्षण का प्रयोजन

क्षविषय इत्यर्थः। विरुद्धानेकभावाभावकोटिक एकधर्मिकः संशयः। स च क्वचित् साधारणधर्मदर्शनेन कचिदसाधारणधर्मदर्शनजन्यः कचिद् विप्रतिपत्तिजन्यः। "यतो वा इमानि, तद् ब्रह्म"(तै. ३।१।१) यस्मात् परमेश्वरात् सर्वशक्तिकात् इमानि–अनुभूयमानानि भूतानि–आकाशादिपृथिव्यन्तानि भूतपदवाच्यानि जायन्ते–समुत्पद्यन्ते, तथा येन ब्रह्मणा तानीमानि भूतानि,जीवन्ति–जीवधारणं कुर्वन्ति-स्थितिमन्ति भवन्ति, तथा प्रतिसर्ग(प्रलय) समये यस्मिन् ब्रह्मणि प्रलीयन्ते तदेव ब्रह्म, तादृश-ब्रह्मण एव जिज्ञासा कर्तव्येत्यर्थ उक्तश्रुतेः। सेयं जगतो जन्मादिबोधिका श्रुतिर्लक्षणवाक्यविषया जगत्कारणं परमात्मानं प्रतिपादयति–बोधयति। अथवा तादृशपरमात्मानं न बोधयति ? इत्याकारकः संशयो जायते। तत्र लक्षणं लक्ष्यते ज्ञाप्यत उद्देश्यो येन तल्लक्षणं व्यवहारव्यावृत्तिप्रयो-

होता है इतरभेदानुमिति। यह लक्षण दो प्रकार का होता है इसका विचार आगे किया जायगा। " अत्रायं संशय " इति वृत्तिः। इसके विषय में यह लक्ष्यमाण सन्देह होता है। " यतो वै– " त्यादि। जिस परब्रह्मपरमात्मा से ये सब स्थावराकाशादिसकलभूत जायमान होते हैं एवं उस परमात्मा से उत्पन्न होकर स्थित रहते हैं और प्रलय के समय में उसी परमात्मा में लीन होते हैं इस उत्पत्त्यादिनियामक महापुरुष की जिज्ञासा करो वही ब्रह्म है अर्थात् यह जो अनेक प्रकार का जगत् है जिसका निर्माता परमेश्वरेतर से मनसे भी आलोचनीय नहीं है एतादृशजगत् को उत्पादकता भगवान् को छोड़कर अन्यव्यक्ति में असम्भव है यह जो उपर्युक्त श्रुति है वह लक्षणरूप से ब्रह्म की बोधिका है अथवा प्रतिपादिका नहीं है ऐसा संशय होता है "श्रुत्यभिहित" इत्यादि। लक्षण का भेद लक्ष्यभेद का नियामक है जैसे गन्धवत्त्व शीतस्पर्शवत्त्व आदिलक्षण पृथिवी तथा जल को भिन्न बनाते हैं यह पहले कहा गया है, तो प्रकृत में जगज्जन्मादिक अनेक लक्षण हैं अर्थात् तीन लक्षण का भेद स्वाश्रयलक्ष्य को भिन्न कर देता है ऐसा नियम है तथा यह लक्षणत्रय विशेषणरूप से वा

जनकम्। तल्लक्षणं द्विविधम्। तटस्थस्वरूपभेदात्। तत्र यो धर्मो यावल्लक्ष्यकालमवस्थितो लक्ष्यं स्वेतरस्माद्विभेदयति यथा गन्धवत्त्वं पृथिव्या लक्षणम्। स च गन्ध उत्पत्तिकाले प्रलयकाले च पृथिव्यां न भवति, यतो निर्गुणं निष्क्रियं च द्रव्यमुत्पद्यते उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियं च भवतीति नियमात् घटादीनामुत्पत्त्यनन्तरं पाकादिबलेन गुण उद्भवति। यदि समकालं घटतद्गतगुणयोर्युगपदुत्पत्तिं स्वीकुर्यात्, तदा समकालिकयोर्जन्यजनकभावो न स्यात्। कारणं त्वव्यवहितप्राक्कालवृत्ति भवति, कार्यन्तु पश्चात्कालवृत्ति भवतीति नियमात् तयोः कार्यकारणभाव एव न स्यात्। न हि भवति यमलजातयोः परस्परं जन्यजनकभावः। तत्कथं तथा? समसमयत्वादागन्तुकत्वाच्चेति। एवं लक्ष्यभूतपृथिव्या

उपलक्षणरूप से एकब्रह्म का प्रतिपादक नहीं हो सकते हैं। और परमेश्वर तो जगज्जन्मादिक में कर्ता कारक है कर्ता उसे कहते हैं जो स्रष्टव्य वस्तु के उपादान कारण का अपरोक्षज्ञानवान् तथा चिकीर्षावान् और कृतिमान् हो तो अपरोक्षज्ञानवत्त्व चिकीर्षावत्त्व और कृतिमत्त्व ये तीन लक्षण हुए तो इस प्रकार से उत्पत्ति के विषय में तीन लक्षण स्थिति के विषय में तीन लक्षण,, और प्रलयमूलक तीन लक्षण हुए, ये नौ लक्षण नौ आश्रयों को सिद्ध करेगें। तव जगदुत्पत्त्यादि लक्षणों से एक परमेश्वर की सिद्धि नहीं होती है, अतः "यतो वा इमानि" इत्यादिश्रुति ब्रह्मलक्षण प्रतिपादन करने में तात्पर्य नहीं रखती है,। यह पूर्वपक्ष का अभिप्राय है

"सिद्धान्तस्तु" इत्यादि वृत्तिः। एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्ती उत्तर देते हैं– स्थावरजङ्गमात्मक जगत् का जो उत्पत्तिस्थितिप्रलयादिक हैं, उन सबको उपलक्षणरूप से "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिश्रुति ब्रह्मलक्षण की ज्ञापिका है। क्योंकि व्यापकत्वलक्षण धर्म का सम्बन्ध है, तथा इस श्रुति में प्रसिद्ध के समान "यतः" इस पञ्चमीविभक्ति के निर्देश से जगज्जन्मस्थितिप्रलय ये सब ब्रह्म के उपलक्षण होते हैं इस प्रसिद्धि में अनुकूल

यावान् कालस्तावत्कालं नावतिष्ठते गन्धोऽभवन् न पृथिवी स्वेतरेभ्यो भिद्यते गन्धादिति क्रमेण लक्ष्यं लक्ष्यभिन्नाद् भेदकृद् भवति तटस्थलक्षणं पृथिव्या गन्धः। अपरं तु स्वरूपलक्षणम्, तत् स्वरूपात्मकमेव लक्ष्यस्य। प्रकृते जगज्जन्मादिकं ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणम्, सत्यज्ञानादिकं तु स्वरूपात्मकमेव लक्षणम्। एतादृशलक्षणरूपेण श्रुतिर्बोधयति परमात्मनो लक्षणम्

यस्माद् "यतो वा इमानि भूतानि" (तै. ३।१।१) इत्यादिश्रुतिर्लक्षणत्रयं प्रतिपादयति। तत्रैकं लक्षणं जगदुत्पादकतारूपम्, अपरं जगत्स्थापकतारूपम् तृतीयं लक्षणं जगन्नाशकत्वरूपम्। एवं च लक्षणत्रयेण नैकं ब्रह्म सिध्येत् यथा घटपटयोर्लक्षणं विभिन्नं भवत् स्वकीयं लक्ष्यं परस्परं विभिनत्ति। एवं प्रकृते ब्रह्माभित्तिप्रकारकं स्यात्, तथा कर्तृत्वं नाम उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वलक्षणमेव। ततश्च अपरोक्षज्ञान-

कारण यह जगत् जड़चेतनलक्षण जो परिदृश्यमान है, वह उत्पत्ति के पूर्व में एक तथा सजातीयद्वितीयरहित सत् व्यापक परब्रह्म के अभेदरूप से ही व्यवस्थित था। वह प्रकृत परमात्मा ने ईक्षण संकल्प अर्थात् विचार किया कि— एक ही मैं अनेकरूप से उत्पन्न होऊंगा " इस प्रकार से प्रकृत वह परमात्मा ने आकाश और वायु को उत्पन्न कर तेज जल पृथिवी ओषधिवनस्पत्यादि अनेकप्रकारक विलक्षण जगत्प्रपञ्च रचा, " इत्यादि अनेकश्रुतियों से सिद्ध अभिन्ननिमित्तोपादानरूप ही है, जैसे ऊर्णनाभिनामक कीट जो कि सूत बनाता है, वह जन्यतन्तु के प्रति स्वयमेव उपादान कारण है, तथा निमित्तकारण, अर्थात कर्ता भी होता है, न तु घटादिक कार्य में जैसे उपादानकारण सजातीय मृत्तिका होती है, तथा कर्तृ कारण कुलाल होता है उस तरह प्रकृत जगत के प्रति निमित्त कारण अलग कोई हो, और उपादान कारण भिन्न कोई हो, ऐसा नहीं है, किन्तु यही सर्वशक्तिमान् परमात्मा जगत् का उपादान कारण भी होते हैं, तथा अपरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमद्रूप कर्ता भिन्न नहीं होते हैं। अतः इसमें अभिन्ननिमित्तोपादानता है। एतादृश अभिन्ननिमित्तोपादानता ही

वत्त्वमेकं लक्षणम्, चिकीर्षावत्वं द्वितीयम् कृतिमत्त्वं तृतीयं लक्षणमिति मिलित्वा लक्षणत्रयं जातम्। तथा जगत्स्थितिविषयेऽपि ज्ञानचिकीर्षा कृतिघटितं लक्षणम्। एवं नाशेऽपि ज्ञानचिकीर्षाकृतिघटितं लक्षणत्रयमिति सर्वसंकलनया नव लक्षणानि भवन्ति। तानि च सर्वाणि लक्षणानि स्वंस्वं लक्ष्यभूतं परमात्मानं भेत्स्यन्ति। इति नैकस्य परमात्मनः प्रतिपादनं करोति यतो वा इमानि भूतानी"–ति श्रुतिः। किञ्च सर्ववेदान्तेषु निर्विशेषं ब्रह्मैव प्रतिपादितं भवति, न तु सविशेषम्। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद् भूतयोनिं पश्यन्ति धीरा" इत्यादिश्रुतिशतप्रतिपाद्यं निर्विशेषं ब्रह्मैवेति तादृशब्रह्मणो जिज्ञास्यमानं लक्षणं किं भविष्यति? यतो लक्षणं विशेषात्मकः कश्चिद् धर्म एव निर्विशेषे च कस्यचिदपि धर्मस्य पर्यवस्थानं सर्वथा प्रमाणविरुद्धमिति न "यतो वा इमानी"—

अनुगुण कारण है। ऐसा होने से इस श्रुति में जो जगज्जन्मस्थितिप्रलय है, वह विशेपणरूप से भी ब्रह्म का लक्षण वन सकता है,। प्रश्न– जन्मस्थिति और प्रलय ये तो परस्पर अनेक लक्षण हुए, तो अपने अपने आश्रय को जरूर ही भिन्न करेगें जैसे गन्ध तथा शीतस्पर्श भिन्नाश्रय के उपस्थापक होते हैं, वैसे ज्ञेयब्रह्म में भी अनेकता हो जायगी, न तु ब्रह्म में एकता होगी। यथा वा खण्डो गौः, मुण्डो गौः" इत्यादिस्थल में अनेक विशेषण अपने अपने आश्रय को भिन्न करते हैं, वैसे प्रकृत में भी होगा। तव तो "वरघाताय कन्योद्वाहनम्' इसन्याय का अतिक्रमण नहीं होता है, अर्थात् " यदर्थमयमारम्भस्तत्सर्वमवसादितम् " जिसके लिये यह आरम्भ किया गया, उससे तो मूल का ही विनाश हो गया यह जो लौकिक वृत्तान्त है उसका अतिक्रमण नहीं होता है इस प्रश्न के उत्तर में वृत्तिकार कहते हैं कि–'परस्परविरुद्धानामित्यादि'। यह ठीक है कि– लक्षण का भेद लक्ष्यभेद का नियामक होता है जिस स्थल में उन-लक्षणों में विरोध रहता है, जैसे– गन्ध तथा शीतस्पर्श। जिस पृथिवी अधि-

त्यादिश्रुतयो ब्रह्म प्रतिपादयितुं समर्थी इति पूर्वपक्षसंक्षेपः ॥

सिद्धान्तपक्षस्तु जगज्जन्मस्थितिनाशाः अलक्षणरूपेण ब्रह्मणो लक्षणानि भवन्ति। यद्यपि जगज्जन्मादिकमिति प्रतिपादयति "यतो वा इमानि भूतानी"–त्यादिश्रुतिः, यद् बृहत् तद् ब्रह्म। अथवा यो हि भूतानां परिणमयिता स एव परमात्मेति बृहत्त्वधर्मसम्बन्धमादाय तथा "यत" इति निर्देशाच्च भवत्येव जगज्जन्मादीनां ब्रह्मण उपलक्षणत्वम्। ब्रह्मणो बृहत्त्वधर्मसम्बन्धे कारणं तु श्रुतिसूत्रसिद्धमभिन्नोपादानत्वलक्षणमेव। तथा च "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"।(छा.६।२।१।३) इदं-परिदृश्यमानं जडचेतनात्मकं वस्तु उत्पत्तेः पूर्वावस्थायामेकाद्वितीयब्रह्मत्मकमेवासीदित्यर्थः) 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति (तत् सदात्मकं चेतनमहमेकमपि विविधजडचेतनरूपेण भवेयमिति पर्यालोचनमकरोदित्यर्थः) "तत् तेजोऽसृजत"(छा.६।२।१।३)(तत्–प्रकृतं चेतनमाकाशवायू समु-

करण में गन्ध रहता है उसमें शीतस्पर्श नहीं रहता है और जिस जल में शीतस्पर्श है, उसमें गन्ध नहीं रहता है तो सहानवस्थानलक्षण विरोध होने से परस्पर विरुद्ध गन्ध शीतस्पर्श अपने अधिकरण के भेद को सिद्ध करे परन्तु जहां सहानवस्थानलक्षण विरोध नहीं है किन्तु सामानाधिकरण्य होने से अविरोध है यथा– छत्री कुण्डली वासस्वी देवदत्तः " यहां विशेषण छत्रादि को स्वाश्रयभेदकत्व नहीं होता है अपि तु अभेदक, संवादकत्व दोष देखने में आता हैं ऐसे प्रकृत में जन्मादिक जो हैं वे परस्पर विरोधी नहीं है अपितु अविरुद्ध समानाधिकरण हैं तो आश्रय ब्रह्म के भेदक नहीं हो सकते हैं अपितु लक्ष्यब्रह्म की एकता का ही संपादक है, यद्यपि प्रकृत में भी तो कालिक विरोध है ही, क्योंकि– जिस काल में ब्रह्म में जगज्जन्मोत्पादकता है, उस काल में प्रलयकर्तृता तो नहीं है, तथापि कालभेद को लेकर इसका समाधान किया जाता है, जसे घट में पाकजरक्तरूप है, पाकसे पूर्वकाल मे श्यामरूप है, इन दोनों में कालभेदकृत भेद होने पर भी परस्पर विरोध नहीं

त्पाद्य तेजोलक्षणं वस्तु समुत्पादयामासेत्यर्थः) इत्याद्यनेकश्रुतिभिर्ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वं प्रतिपाद्यते । तस्मात् सम्भवत्येव स्थावरजङ्गमजगतः कारणता ब्रह्मणः । श्रीमदानन्दभाष्यकारेणापि तथैवानुमोदितं प्रकृतश्रुतिव्याख्याने तथाहि–"इदं परिदृश्यमानं विभक्तनामरूपमनेकावस्थं घटपटादिजगदग्रे सृष्टिकालात्पूर्वमेकमेवाविभक्तनामरूपतया एकत्वावस्थापन्नमेव अद्वितीयं कर्तृत्वान्यकारकत्वरहितं सदेव सदाकारकप्रतीतिविषयतापन्नमेवासी" दिति (आनन्दभाष्य ६।२।१।) तथा "तत्सच्शब्दवाच्यं परं ब्रह्म ऐक्षत ईक्षणं सङ्कल्पं कृतवान् एकोऽप्यहं बहुविचित्रानन्तजडचेतनमिलितव्यष्टिजगद्रूपेण बहु अनेकरूपः स्यां प्रजायेय प्रकर्षेण जायेय" इति च । (छा.६।२।३) यदिदं श्रुतिप्रतिपादितं जगजन्मादिकं तद् विशेषणरूपेणापि ब्रह्मणो लक्षणं भवत्येव ।

न च जगज्जन्मादिकानि यानि त्रीणि नव वा लक्षणानि तानि तु स्वस्वस्वरूपं लक्ष्यमेव भेत्स्यन्ति लक्ष्यभेदस्य लक्षणभेदनियमात् खण्डो

है, तथा आधारभेदप्रयोजकता है, वैसे प्रकृत में भी समझना चाहिये । यदि कालिक अव्याप्यवृत्ति इन लक्षणों को माने तो भेदलक्षण लक्ष्यतावच्छेदक के व्यापकता बने नहीं तब तो इतरभेदानुमान में भागासिद्धि होगी, लक्ष्यतावच्छेदकव्यापक ही लक्षण होता है ऐसा नियम है । अतः यहां वा अन्यत्र भी जातिघटितलक्षण किया जाता है, वा स्वरूप लक्षण से निर्वाह किया जाता है जैसे उत्पत्तिकालिक घट में तथा प्रलयकालिक परमाणु में गन्ध नहीं रहने से गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यपृथिवीत्वजातिमत्त्व लक्षण किया जाता है, वा स्वरूपलक्षण का शरण लिया जाता है । प्रकृत में सत्यज्ञानानवधिकानन्तकल्याणत्व ही परमात्मा का स्वरूप लक्षण होता है, लक्षण दो प्रकार का होता है एक तो तटस्थलक्षण दूसरा स्वरूपलक्षण । उनमें जो यावत्कालपर्यन्त लक्ष्य की सत्ता रहे तबतक स्थित न होकर लक्ष्य को इतर से भिन्न करे वह तटस्थ लक्षण है जैसे पृथिवी का गन्ध तटस्थलक्षण है क्योंकि जबतक पृथिवी का अवस्थान

गौर्मुण्डो गौ- रित्यादौ तथा दर्शनात्। एवं च प्रकृतेऽपि लक्षणभेदेन लक्ष्यभेदसिद्धौ नैकं वेदप्रतिपाद्यमनन्तगुणाकरं सविशेषं ब्रह्म सिध्येदिति वाच्यम्। भावानवबोधात् सत्यं लक्षणभेदो लक्ष्यभेदप्रयोजको यथा शीतस्पर्शवत्त्वं गन्धवत्त्वं च स्वाश्रयं परस्परं भिनत्त्येव किन्तु यानि परस्परविरुद्धानि लक्षणानि तान्येव लक्ष्यभेदकानि भवन्ति न तु परस्परमविरुद्धानि तानि लक्ष्यभेदसमर्पकाणि यथा—"पीताम्बरः शङ्खचक्रगदाधरो मुकुन्दः" अत्र यानि पीताम्बरादिविशेषणानि, न तानि मुकुन्दविशेष्यं भिन्दन्ति तद्वत् प्रकृते जगज्जन्मादिकानि स्वरूपतो विभिन्नानि न लक्ष्यस्य भेदकानीति प्रकृते कालभेदेन सर्वसम्भवादिति। यद्यपि श्रुत्या पूर्वपक्षे निर्विशेषं ब्रह्मैवेति कथितं तदप्यनेकश्रुतिस्मृत्यनुभवविरोधादुपेक्ष्यमेव। किन्तु सकलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणाकरो भगवान् सीतापतिरेव वेदान्तवेद्यः सविशेषो लक्षणीयो जिज्ञास्यश्चेति परवादिमतखण्डनम-

रहता है तबतक गन्ध नहीं रहता है और पृथिवी को पृथिवीतर से भिन्न करता है ऐसे प्रकृत में जबतक ब्रह्म का काल है तबतक ब्रह्म में जगत्कर्तृत्वादि धर्म नहीं रहता है और परमात्मा स्वेतर से भिन्न है जगत्कर्ता होने से इस प्रकार से भेदक होता है जगत्कर्तृत्वादिधर्म। अतः यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। और स्वरूपलक्षण वह है जो लक्ष्य का स्वरूपात्मक ही हो। जैसे प्रकृत में, ब्रह्म का लक्षण होता है— अप्राकृतिकनिरतिशयानवधिकानन्तकल्याणगुण। यह लक्षण परमात्मा का यावत्कालावस्थ भी होता है तथा जड़चेतनादि से व्यावर्तक भी होता है इत्यादि अभिप्राय को लेकर वृत्तिकार ने जो कहा है "**कालभेदेन तु जन्मस्थितिलयानां लक्षणत्वं सम्यगुपपद्यते**" यह ठीक ही कहा है। इस प्रकार से लक्षण के सम्पन्न होने से एतादृशलक्षणद्वारा सम्पन्न ब्रह्म जो कि शास्त्रानुमोदित सविशेष श्रीरामात्मक हैं, तादृशब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिये, यह सिद्ध हुआ। अतः इस ब्रह्मविचारशास्त्र का आरम्भ अवश्य करना

प्रकृतत्वादुपेक्षितमिति संक्षेपः । इति जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य-रामप्रपन्नाचार्य-योगीन्द्र-कृत-श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे जन्माद्यधिकरणम् इति द्वितीयसूत्रम् ॥

अथ शास्त्रयोनित्वाद्यधिकरणमारभ्यते—

शास्त्रयोनित्वात् १।१।३॥

अत्र जगज्जन्मादिकारणत्वेन सिद्धस्य ब्रह्मणः प्रमाणान्तरवेद्यतोत वेदान्तैकवेद्यतेति संशयः। तत्र शास्त्रस्य प्रमाणान्तरानधिगतार्थज्ञापकत्वान्न ब्रह्मणि शास्त्रं प्रमाणमपि त्वनुमानमेवेति पूर्वः पक्षः। अत्रोच्यते—

अथ लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुनः सिद्धिर्भवतीति नियमात् इतः पूर्वस्मिन्नधिकरणेऽवस्थां प्रसाध्य तादृशब्रह्मणः सिद्धिः प्रतिपादिता, तदनन्तरं प्रमाणद्वारा ब्रह्मणः सिद्ध्यर्थं प्रकरणमिदमारभ्यते । तत्र ब्रह्मणि प्रत्यक्षं प्रमाणम्, अनुमानं वोपमानं वाऽऽगमः प्रमाणम् ? तत्र न तावत् प्रत्यक्षं प्रवर्तते, तथाहि– प्रत्यक्षं द्विविधम् बाह्यमाभ्यन्तरं च । तत्र बाह्य-

चाहिये, यह भी सिद्ध होता है, इस विषय पर विशेष विचार भाष्यादि आकर ग्रन्थ से ही करना ।

इति श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणस्य श्रीरामेश्वरानन्दाचार्यप्रणीतायां सारबोधिन्यां जन्माद्यधिकरणम् ॥२॥

सारबोधिनी–लक्षण तथा प्रमाण से पदार्थों की सिद्धि होती है," ऐसा नियम है, जैसे – गन्धवत्त्वादि लक्षण चक्षुरादि प्रमाण से पृथिव्यादि पदार्थों की व्यवस्था होती है । उसमें लक्षण जो होता है वह" व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्" लक्षण का प्रयोजन होता है लक्ष्य में लक्ष्येतर से भेद का अनुमान कराना तथा व्यवहार कराना । जैसे - पृथ्वी स्वेतर से भिन्न है । गन्धवती होने से, जिसमें पृथिवीतरभेद नहीं है, उसमें गन्ध भी नहीं रहता हैं, और लक्षण लक्ष्यतावच्छेदक का व्यापक होकर ही अनुमापक

शास्त्रयोनित्वादिति । शास्त्रं योनिः प्रमाणं यस्येति ब्रह्मणि शास्त्रमेव प्रमाणं नानुमानम् । अत एव 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ. ३।९।२६) इत्यादावुपनिषदेकगम्यत्वमुक्तम् ॥३॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् ॥

प्रत्यक्षेण रूपिस्पर्शवद्द्रव्यस्यैव रूपस्पर्शसहकृताभ्यां चक्षुस्त्वक्प्रमाणाभ्यां लौकिकसन्निकर्षसहकृतेस्ताभ्यामध्यक्षं जायते, यथा– घटादिद्रव्याणाम्, ब्रह्म तु न रूपवन्न वा स्पर्शवत्, "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इत्यादि श्रुतेः । नाप्यान्तरप्रत्यक्षगम्यं ब्रह्म "यतो वाचो निवर्तन्ते" इति श्रुतेः । "मनोमात्रस्य गोचरः" इति नियमेन जीवतत्सुखदुःखादियोग्यगुणानामेव मनसा ग्राह्यत्वात्, परमात्मा तु न जीवो नापि जीवगणो येन मनसा गृहीतः स्यात् । इत्येवं क्रमेण न प्रत्यक्षप्रमाणवेद्यत्वं परमात्मनः । न वाऽनुमानप्रमाणेन तदधिगमः, अनुमानस्य प्रत्यक्षाधीनत्वात्प्रत्यक्षाभावे

होता है, अन्यथा यदि अव्याप्तिदोषदुष्ट हो तो इतरभेदानुमान में भागासिद्धि दोष हो जाता है । यदि अतिव्याप्तिदोषदुष्ट हो तो इतरभेदानुमान में व्यभिचार दोष हो जाता है । एवं यदि लक्षण में असंभव दोष हो तो इतरभेदानुमान में स्वरूपासिद्धिदोष होता है । तो एतादृश दोषत्रयरहित लक्षण लक्ष्यतावच्छेदक का व्यापक होकर अनुमापक होता है, यह नियम है । तो प्रकृत में ब्रह्म का क्या लक्षण है, इस जिज्ञासा के उत्तर में ब्रह्म का लक्षण जगज्जन्मादिकारणतारूप ही है, इस बात का निश्चय द्वितीय अधिकरणमें कर अब जगत् के जन्मस्थितिप्रलयकारणरूपसे सिद्ध जो ब्रह्म हैं, सो प्रमाणगम्य हैं, इसका निश्चय हुआ । परन्तु वह ब्रह्म किस किस प्रमाण से सिद्ध होता है ? इस बात को भी सूचित करने के लिये तृतीय अधिकरण का उत्थान होता है- "शास्त्रयोनित्वात्" १।१।३॥ शास्त्र जो ऋग्वेदादिक, वह है योनि अर्थात् प्रज्ञापक प्रमाण जिसका वह होता है शास्त्रयोनि, उसका भाव शास्त्रयोनित्व है वह ब्रह्ममें है, इस से यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेदादिक

तदप्रसरात्। दृश्यते प्रत्यक्षयोरेव वह्निधूमयोर्महानसादौ व्याप्तिमवगम्य व्याप्तधूमेन पक्षतासहकृतेनानुमापकत्वम्, इह परमात्मनोऽप्रत्यक्षत्वात् तेन सह न कस्यचिदपि व्याप्तिग्रहो व्याप्तिग्रहाभावे नानुमानप्रसरः तदेवं नानुमानगम्यता परमात्मनः। नाप्युपमानं प्रमाणं प्रक्रमते परमेश्वरे, यत उपमानस्य सादृश्याधीनत्वात्, परमेश्वरस्य न कश्चित् सदृशः, "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इति श्रुतेः परमेश्वरसदृशवस्तुनोऽभावप्रतिपादनात्। नापि शब्दः प्रमाणम् परमेश्वरे, अन्योऽन्याश्रयात् परमेश्वरप्रणीतत्वेनाऽऽगमस्य प्रामाण्यं भवति। तथा च– परमेश्वरप्रणीतत्वेनाऽऽगमस्य प्रामाण्यसिद्धावेव तादृशागमेन परमेश्वरसिद्धिः, परमेश्वरसिद्धौ वाऽऽगमसिद्धिरिति वेदस्यान्योऽन्याश्रयदोषग्रस्तत्वेन न तेनागमेन परमेश्वरसिद्धिः। इति प्रमाणाभावात् परमेश्वरसिद्धिर्न भवति, प्रमाणाभावश्च प्रमेयाभाव साधक इति नियमः। अत एव सप्तमरसो न सिध्यति, तस्मिन् प्रमाणाभावात्। तद्वत् प्रकृते प्रमाणस्याभावेन कथं प्रमेयस्य परमेश्वरस्य सिद्धिः,

शास्त्र ब्रह्ममें प्रमाण है। ऐसा हुआ तब द्वितीय अधिकरण लक्षणरूप से साध्य ब्रह्म का उपस्थापक है, और यह तृतीय सूत्र हेतु का उपस्थापक है। इस प्रकार से यद्यपि दोनों समानार्थक होने से एक प्रकरण सिद्ध होता है, तथापि निराकरणीय जो संशय पूर्वपक्षादि उसके भेद होने से दोनों अधिकरण भिन्न हैं। इस विषय को वृत्तिकार कहते हैं, जो यहां जगत् के जन्मस्थिति और प्रलय के कर्तृरूपसे सिद्ध ब्रह्म है, वह ब्रह्म प्रमाणान्तर अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमानादिप्रमाणों से अवगत होता है? अथवा केवल वेदान्त प्रमाण से अवगत होता है? इसमें वादियों की विप्रतिपत्ति ऐसी है कि - कोई कहते हैं – ब्रह्म अनुमानप्रमाणगम्य है, कोई कहते है कि - ब्रह्म शास्त्रप्रमाणमात्रगम्य है, तो एतादृश विप्रतिपत्ति में यह संदेह होता है कि - ब्रह्म प्रमाणान्तरगम्य है, अथवा शास्त्रगम्य है, संशयोपस्थापकवाक्यविशेष का नाम विप्रतिपत्ति है, कहीं कहीं तो साधारणादिधर्मदर्शन से भी संशय होता है।

तदसिद्धौ च कम्प्रमाणविशेषमवलम्ब्य वेदान्तविचारः स्यात्, तदभावे च कथं वेदान्तशास्त्राणामारम्भो भवेदिति सर्वमाकुलं भवतीति विचार्य परमेश्वरे प्रमाणं दर्शयितुमुपक्रमते– "शास्त्रयोनित्वात्" इति, शास्त्रम्– ऋग्वेदादिकं योनिः प्रमाणं यस्य, योनिशब्द उत्पादकताकारणतावाचकः। कारणं च द्विविधम्– कारकरूपं ज्ञापकरूपं च, यथा– 'दण्डेन घटः' इत्यत्र येयं तृतीया सा दण्डे जनकतालक्षणं कारणत्वमभिव्यनक्ति, द्वितीयं च 'प्रदीपेन घटः' इति। अन्तर्हिते घटे प्रदीपस्य ज्ञापकता। प्रकृते ऋग्वेदादिकं न परमेश्वरं जनयति, अपि तु ज्ञापयति, परमेश्वरस्य नित्यत्वेनाजन्यत्वात् शास्त्रं केवलं तं ज्ञापयति, नित्यस्यापि ज्ञाप्यत्वसम्भवात्। अर्थात् परमेश्वरस्य स्वरूपाधिगमे प्रयोजकमेव शास्त्रम्, एतादृशं शास्त्रं योनिः प्रमाणं यस्य तच्छास्त्रयोनि, तस्य भावः शास्त्रयोनित्वम्, तस्माच्छास्त्रयोनित्वात्। एवं चेदं सूत्रं हेतुरूपं द्वितीयसूत्रं साध्यपरकमिति उभयोः सूत्रयोरैकार्थ्यादेकमेवाधिकरणं कर्तव्यं कथमधिकरणद्वयमिति,

इस संदेह के बाद पूर्वपक्ष होता है कि—शास्त्र तो प्रमाणान्तर से अनधिगत अर्थ का ही ज्ञापक होता है, अतः ब्रह्म में शास्त्रप्रमाण नहीं है किन्तु अनुमानप्रमाणसे ही ब्रह्म अधिगत है अतः अनुमानगम्य ही है, अर्थात् शास्त्र तो अन्य किसी प्रमाण से अप्राप्त जो स्वर्ग अपूर्वादिक पदार्थ है उसका नियामक होने से प्रमाण है, और जो प्राप्त का प्रापक सो अनुवादक होता है, नियामक नहीं, प्रकृत में तो ब्रह्म प्रमाणान्तरप्राप्त होने से तादृशशास्त्र का कोई फल नहीं है, अतः शास्त्र ब्रह्म को नहीं समझाता है, किन्तु कार्यलिङ्गक अनुमान से ब्रह्म गम्य है। तथाहि - द्व्यणुकादिरूप पृथिवी सकर्तृक है, कार्य (जन्य) होने से, जैसे जो जो कार्य (जन्य) होते हैं, वे सब किसी कर्ता से जन्य होते हैं, जैसे घटपटादिकार्य जन्य होते हैं वह सचेतनकुलालादिकर्तृक हैं, ऐसे द्व्यणुकादि कार्य (पदार्थ) भी जन्य है, तो वह भी अवश्य किसी कर्ता से जन्य हैं और कर्ता वह कहलाता है, जो कार्योपादानविषयकप्रत्यक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमान् हो, प्रकृत में द्व्यणुक का उपादान

तथापि निराकरणीयसंशयपूर्वपक्षादीनामुभयत्र विभिन्नत्वादधिकरणद्वयं घटत एव। तत्र केन प्रमाणेन ब्रह्मणः सिद्धिः? रूपस्पर्शादिरहितत्वेन अभिचारिलिङ्गरहितत्वेन सादृश्यज्ञानरहितत्वेन चेतरप्रमाणाविषयत्वेऽप्यागमप्रमाणेन ब्रह्म साधयितुं सूत्रमिदं प्रवर्तते, इति।

अत्र "जगज्जन्मादिकारणत्वेने"— त्यादिसंशयपर्यन्तं वृत्तिग्रन्थः, यो हि जडजङ्गमात्मकजगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानं स परमेश्वरः, एवं क्रमेण परमेश्वरस्य सिद्धिः प्रतिपादिता द्वितीयसूत्रेण, तत्र संशयो भवति यदयं परमेश्वरः प्रमाणान्तरेणानुमानादिना ज्ञायते, वा वेदान्तशास्त्रेणैव? इति पूर्वपक्षस्तत्रैवं भवति— यत् परमेश्वरः प्रमाणान्तरेणानुमानेनैव ज्ञायते न तु शास्त्रेण, यतोऽप्राप्ते शास्त्रमर्थवद् भवति' इति नियमात्। अयमाशयः यद्वस्तु प्रत्यक्षादिप्रमाणेन नाधिगतं, तस्य ज्ञापकं यद् भवेत् तदेव शास्त्रम्। यथा— "स्वर्गकामो यजेत" अत्र स्वर्गकामनावतः पुरुषस्य कृते स्वर्गसाधनीभूतो यागो न प्रमाणान्तरेण प्राप्तस्तादृशयागस्य

कारण परमाणु का प्रत्यक्षज्ञान अस्मदादि को होना अशक्य है, अतः तादृश चिकीर्षाकृतिमान् भगवान् सर्वेश्वर श्रीराम ही हो सकते हैं, तो तत्कर्तृत्व से श्रीराम की सिद्धि होती है। कोई तो कहते हैं कि प्रत्यक्ष-प्रमाण-सिद्ध भी हैं भगवान् यथा - भक्तशिरोमणि, आञ्जनेय (हनुमान्) को प्रतिदिन प्रतिक्षण साकेताधिपति का साक्षात्कार होता रहता है, अतः फलितार्थ यह हुआ कि- प्रमाणान्तरगम्य परमेश्वर हैं, न तु शास्त्रैकगम्य हैं। यह पूर्व पक्षियों का अभिप्राय हैं। जिस को वृत्तिकार ने "इति पूर्वः पक्षः" इस वर्णसमुदाय से अभिव्यक्त किया है।

अब इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं, अर्थात् उसका उपक्रम करते हैं वृत्तिकार "अत्रोच्यते " शास्त्रयोनित्वादि' - तीति। सर्वं वाक्यं सावधारणम् इस नियम से शास्त्र जो ऋग्वेदादिक, वही है योनि - प्रज्ञापक प्रमाण जिसका एतादृश परब्रह्म है, इस प्रकार के कथन से यह सिद्ध होता है कि - ब्रह्मा-

बोधनात् तादृशं प्रमाणं भवति । यत्र तु घटादिर्लौकिकप्रमाणसिद्धस्तादृशघटस्य बोधकः शब्दो न प्रमाणम्, अपि तु अनुवादक एव तद्वदिहापि क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकम्, कार्यत्वात् घटवत् । यद् यत् कार्यं तत् सर्वमवश्यं केनापि कर्त्रा जनितं भवति यथा– घटादिकार्यं कुलालादिना जनितं भवति । उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वमेव कर्तृत्वम्, तदत्र क्षित्याद्यनेकविधकार्यस्य परमाणुरेवोपादानकारणं तस्य परमाणोरस्माकं प्रत्यक्षज्ञानाभावात् तथा कृतेश्चाभावान्नास्मदृदृशास्तादृशस्य क्षित्यादेः कर्तारः संभवन्ति किन्तु अतीन्द्रियार्थदर्शी भगवानेव तस्य कर्ता परिकल्पितो भवति, इत्यनुमानेनैव जगत्कारणस्य परमेश्वरस्य सिद्धिर्जायते । न च यो हि कर्ता भवति, स सशरीरो भवति, यथा कुलालादिः न चायं परमेश्वरः शरीरवान्, "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" इत्यादिश्रुत्या लोकप्रसिद्ध्या च तस्य शरीराभावात् । ततश्च

वगति में शास्त्रमात्र ही प्रमाण है, अनुमानादिक प्रमाण नहीं है । अत एव " तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" मैं उस औपनिषद उवनिषन्मात्र से अधिगत आत्मा को पूछता हूँ " इत्यादि शास्त्र में परमात्मा श्रीसीतारामजी को शास्त्रमात्र प्रमाण से गम्य वतलाया है । यदि वह ज्ञेय परमात्मा इतरप्रमाण से भी अधिगत हो, तव तो औपनिषदविशेषण अनुकूल नहीं होगा । अतः शास्त्रमात्र प्रमाण से श्रीरामजी ज्ञेय होते हैं ।

अथवा जो अल्प अक्षर से अधिक अर्थ समाझता है । उसे सूत्र कहते हैं, यही उस की सूत्रता है, अतः इस सूत्र का अन्य अर्थ करने पर भीं वाक्यभेदादि दोष नहीं होने से इस सूत्र का दूसरा भी अर्थ होता है । ब्रह्म में जगत्कारणता का समर्थन करने से ब्रह्म में सर्वज्ञत्व तथा सर्वशक्त्यादिमत्त्व अर्थत एव (अर्थ से ही) सूचित होता है । इस वात को अभी दृढ़ करते हैं – "शास्त्रयोनित्वात्" शास्त्र जो ऋग्वेदादिक है योनि अर्थात् कर्तृरूप कारण होने से परमब्रह्म श्रीराम में सर्वज्ञत्व है, इस प्रकार से सूत्र का द्वितीय

क्षित्यङ्कुरादिकं न कर्तृजन्यं शरीराजन्यत्वात्, आकाशवत्, यत्र यत्र शरीरेणाजन्यत्वं भवति, तत्र तत्र कर्त्रजन्यत्वमपि भवति, आकाशस्य शरीराजन्यत्वेन कर्तृजन्यत्वस्याप्यभावादिति प्रत्यनुमानेन स्थापनानुमाने सत्प्रतिपक्षः समानबलबोधितसाध्यविपर्ययकत्वस्य तथात्वात्, अथवा साध्याभावव्याप्यवान् पक्षः सत्प्रतिपक्षः। साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य स सत्प्रतिपक्ष इति वा लक्षणादिति वाच्यम्, हेतुरस्तु साध्यं माऽस्तु इत्याकारकव्यभिचारशङ्कानिवर्तकानुकूलतर्कस्याभावेन प्रत्येकहेतोरप्रयोजकत्वेन हीनबलत्वाद् हीनबलश्च हेतुः प्रतिबन्धको न भवति। स्थापनानुमाने तु कार्यत्व– सकर्तृत्वयोः सर्वानुभूतकार्यकारणभावस्यैवानुकूलतर्कत्वाद् भवति साध्यसाधकता। एवं "कार्याऽऽयोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः। वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः" इत्यायोजनादिहेतुभिरेव परमेश्वरसिद्धिसम्भवेन प्रमाणान्तरेणैवेश्वरसिद्धिर्न शास्त्रेण, यतः शास्त्रस्य ज्ञातार्थज्ञापकतयैव प्रामाण्यादिति। न च प्रति-

अर्थ होता है। अर्थात् सर्वज्ञ के सदृश जो वेद तादृश वेद के उत्पादक होने से ब्रह्म में सुतरामेव सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है। यहां यह जो महान् परमात्मा हैं, उनका निःश्वासरूप ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्वाङ्गिरस तथा इतिहास और पुराण हैं, यह जो वेदवाक्य है, सो इस सूत्रका विषय है, वहां यह वेदवाक्य, वेद के कारण परमेश्वरश्रीराम में सर्वज्ञत्व सिद्ध करता है। अथवा ब्रह्म में सर्वज्ञता सिद्ध नहीं करता है ? एतादृश संशय होता है। इस संदेह के वाद पूर्वपक्ष होता है कि - वेदोत्पादकरूप से ब्रह्म में सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि - वर्ण नित्य है, तो तादृशवर्णसमुदायरूप वेद भी नित्य हुआ, तब नित्यपदार्थ का उत्पादन नहीं हो सकता है। और "वाचा विरूप ! नित्यया" हे विरूप ! नित्यवाणीवेद से" इत्यादि श्रुति, तथा "अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी नित्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः" स्वयम्भू ने सर्ग के आदि में उत्पादेविनाशरहित अत एव नित्यवेदमयी वाणी अभिव्यक्त की, जिससे संसार की कार्यमात्र प्रवृत्त होता है

क्षणविनाशप्रतियोगिमेघमालादौ कार्यत्वदर्शनात् कर्तुश्चादर्शनात्तत्र व्यभिचार इति वाच्यम्। तत्रापि कर्तुः परमेश्वरस्य सत्त्वस्वीकारात्, अन्यथा सर्वशरीरकत्वव्यापकत्वयोर्व्याघातात्। तस्मादनुमानेनैव परमेश्वरस्य सिद्धिर्भवति, न तु तदन्येन प्रमाणेनेति पूर्वपक्षिणामाशयः॥

एतत्सर्वं पूर्वपक्षिणामभिप्रायं हृदि निधायाऽऽह वृत्तिकारः- अत्रोच्यते- 'शास्त्रयोनित्वाद्'' इतीति, तत्र ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्त''- इत्यादिशास्त्रमेव योनिः=प्रमाणं- प्रज्ञापकं यस्य तच्छास्त्रयोनि, तस्य भावः शास्त्रयोनित्वं तस्माच्छास्त्रयोनित्वात्, अर्थात् परमेश्वरस्य स्वरूपाधिगमे शास्त्रमेव प्रज्ञापकं भवति, यथा- घटादिस्वरूपाधिगमे प्रदीपः प्रज्ञापकस्तथैव। अनुमानं तु प्रमाणं शास्त्रमूलमादायैव प्रवर्तते, अन्यथा प्रत्यक्षाविषयपरमेश्वरेण सह व्याप्तेरेवासम्भवात् तदनुमानं न स्यात्। यदि कदाचिच्छास्त्रेतरप्रमाणमपि परमेश्वरलब्धपदं भवेत्तदा

इत्यादि वचन से वेद में नित्यत्व का प्रतिपादन होता है। अतः नित्य निर्दोष-अपौरुषेय वेद को होने से, तादृशवेदके उत्पादकरूप से ब्रह्म में सर्वज्ञत्व नहीं हो सकता है। न वा वेद के उपादानकारणत्व से भी परमेश्वरमें सर्वज्ञता की सिद्धि हो सकती है, क्योंकि - उपादान उपादेय में सर्वत्र सजातीयत्व देखने में आता है, जैसे घट मृत्तिका में। यहां तो जगत् का उपादान ब्रह्म है, और उपादेय जगत् जडचेतन है, तब विजातीय में कार्यकारणभाव किस प्रकार से होगा? यदि कदाचित् द्रव्यत्व प्रमेयत्व व्यापकधर्म से सजातीय मान कर प्रतिपादन करें तो भी वर्णपारायणतः जो व्यापृत है, उसका ज्ञान नहीं होने से वेदकर्तृत्वरूप से ब्रह्म का सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होगी। यह हुआ पूर्व पक्ष, इस का उत्तर है कि - ब्रह्म को सम्पूर्ण—वेदजनकत्वरूप से सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है, इसकी सर्वज्ञतामें अनेक श्रुति प्रमाण है। यथा ''रूपस्मत ह ते भूतस्य विश्वमात्मने'' इति यजुर्वेदे, सामवेदोऽथर्ववेदो वा अङ्गिरसः तस्य पुराणविद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानि'' इस महान् पुरुष का

"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी"–त्यादिशास्त्रे प्रोच्यमानं बाध्येत। उपनिषत्स्वेवाधिगत औपनिषदः। यथा–स्वर्गापूर्वादिकं शास्त्रमात्रसमधिगम्यं न तु प्रमाणान्तरगम्यम्, एवमेव प्रकृतेऽपि शास्त्रप्रमाणमात्रगम्यता ब्रह्मणः। न च यदि ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं तदा पूर्वसूत्र एव "यतो वा इमानी"—त्यादिशास्त्रेण शास्त्रप्रमाणकत्वं तस्य सिद्धमेव तत्कथमिदं सूत्रान्तरमिति वाच्यम्। पूर्वसूत्रे स्पष्टरूपेण तत्कथनात् कदाचिदनुमानादिगम्यत्वमपि कोऽपि विजानीयादिति सन्देहनिवृत्त्यर्थं सूत्रान्तरस्य कर्तुमौचित्यात् वेदान्तवाक्यलक्षणप्रसूतावगमनमेव सूत्राणां प्रयोजनमिति॥

अथवा यद् बह्वर्थसूचकं भवेत् तत् सूत्रम्। इदमपि बहुमर्थं सूचयति, ततश्च शास्त्रयोनिरित्यत्र षष्ठीतत्पुरुषसमासमादृत्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादेरनेकशाखास्थानयुक्तस्य मायादिवत् सकलपदार्थविभासनसमर्थस्यात एव सर्वज्ञकल्पस्य योऽप्रयत्नेन लीलान्यायेन निर्माणं चकार स परमेश्वरोऽतिशयेन सर्वज्ञः। अर्थात् परमेश्वरः केवलं भूतभौतिकप्रपञ्चस्यैव न जनको-

निःश्वासस्वरूप यह ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराण विद्या उपनिषद् श्लोकसूत्र और उन सबका अनुव्याख्यान को बनाया। (जिसतरह हमलोगो को निःश्वास होने में परमात्मविशेष की आवश्यकता नहीं होती है, उसी प्रकार लीलान्याय से परमेश्वरने अनन्य प्रयत्न से इन वेदो को उत्पन्न किया) एवं "छन्दांसि जज्ञिरे" परमेश्वरने छन्दो को बनाया। इत्यादि वेद प्रमाण से सिद्ध होता है कि - परमेश्वर वेद का उत्पादक है, यह सिद्ध होता है। यहां प्रमाणान्तर से अर्थ समझकर तदनुकल्पेन वेद का निर्माणकर्तृत्व नहीं है जिससे कि - विषयापेक्ष होने से वेद में पौरुषेयत्व की आपत्ति होती है, नवा केवल ऊच्चारयितृत्वरूप कर्तृत्व है; जिससे कि - अस्मदादि अध्यापकसदृश हो जाने से विशिष्टब्रह्मकर्तृत्व वेद में सिद्ध नहीं होगा इसलिये सृष्टिके पूर्व में यादृशक्रमस्वरवर्णानुपूर्वीमान् वेद था, तादृशक्रमस्वरवर्णानुपूर्वीविशिष्ट वेद का निर्माण कर लोकों मे उस वेद का प्रचार करते हैं, लोकभिन्न परमेश्वर।

ऽपि तु असौ नैयायिकाभिमतशब्दराशिभूतस्य शास्त्रस्यापि जनकोऽस्त्येव, "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमृग्वेदः" इत्याद्यनेकश्रुतिभिः परमेश्वरस्य वेदजनकत्वश्रवणात्। न च ककारादिवर्णानां प्रत्यभिज्ञया युक्त्यन्तरेण नित्यत्वश्रवणात्तद्राशिरूपस्यापि तथात्वात् कथं तज्जनकत्वं परमेश्वरस्य न हि नित्यस्योत्पत्तिः क्वचिद् दृष्टा श्रुता वोपपद्यते वाचाम्, प्रत्यभिज्ञाया जातिविषयकत्वेन वर्णनित्यतायामौदासीन्यात्। किंच मीमांसकमते वर्णस्य नित्यत्वेऽपि वर्णपदवाक्यानुपूर्वीविशिष्टस्यानित्यत्वात्। वैयासिकमतमनुवर्तमानास्तु न नैयायिकवत् प्रतिक्षणविनाशित्वं मीमांसकवदपि न सर्वथा नित्यत्वमनुमन्यन्ते, अपि तु सर्गादौ जायमानत्वं प्रलये प्रलीयमानत्वं च मन्यन्ते, यदपि वेदानां नित्यताप्रतिपादकं वचनं तदप्याकाशादिवदेव चिरस्थेमानमेव प्रज्ञापयति। परन्तु यादृशानुपूर्वीको वेदः प्राक्सर्ग आसीत् तदनुपूर्वीविशिष्टमेव वर्णराशिलक्षणं वेदं प्रज्ञापयति परमेश्वरः। अत एव प्रत्युच्चारणे भिद्यमानेऽपि न त्यजति कदा

"धाता यथापूर्वमकल्पयत्" "परमेश्वर जिस प्रकारक क्रमानुपूर्वीक वेद था, तादृशानुपूर्वीक ही वेद का निर्माण करते हैं" इत्यादि प्रमाण से सर्वज्ञत्व सकलवेदकर्तृत्व परमेश्वर में सिद्ध होता है, यही परमात्मा में अन्यविलक्षण वेदकर्तृत्व है कि - अन्यसंकलितक्रमवर्णाद्य न होने से स्वातन्त्र्येण पूर्वकल्पस्थ स्वकृतक्रमानुपूर्वीयुक्त वेद को इस कल्प में भी बनाने से वेद का कर्ता कहलाते हैं। ऐसा हुआ तब वेद को परमात्मकर्तृक होने पर भी अनादिसिद्ध वर्णक्रमानुपूर्वी तथा अर्थ को यथापूर्व होने से वेद में स्वतःसिद्ध प्रामाण्य तथा अपौरुषेयत्व भी सिद्ध होता है। सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणकर्तृत्व का नाम होता है पौरुषेयत्व यहां सजातीयोच्चारणसापेक्ष हो उच्चारणविषयता है, अतःइस वेद में अप्रामाण्य की शङ्का भी नहीं होती है, क्यों कि - अखिलहेयप्रत्यनीक— सकलकामनावान् नित्यनिरतिशय ज्ञान से अनुभूयमान है पदार्थसमुदाय जिसको तथा निरवधिकमहिमवान् भगवान् श्रीसाकेताधिपतिश्रीरामात्मक ब्रह्म का

चिदप्यपौरुषेयत्वम् । सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वस्यैव पौरुषेयत्वम् । इह तु सजातीयोच्चारणसापेक्षत्वेन तथात्वाभावादिति कृतं पल्लवितेनेति प्रकरणान्तरे द्रष्टव्यः ॥३॥

इति जगद्गुरु–श्रीरामानन्दाचार्य– रामप्रपन्नाचार्य–योगीन्द्रकृतस्य श्रीरघुवरीय–वृत्तिविवरणस्य तृतीयं शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥

तत्तु समन्वयात् १।१।४॥

तच्छास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः सम्भवति नवेति संशयः । तत्र शास्त्रस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्यतरप्रयोजनाभिधायितया ब्रह्मणश्च परिनिष्पन्नवस्तुतया न तस्य शास्त्रप्रमाणकत्वं सम्भवतीति पूर्वः पक्षः । अत्राभिधीयते– तुशब्दश्शङ्कां निवर्तयति । परिनिष्पन्नस्यापि ब्रह्मणो निरतिशयसुखरूपतया शास्त्रप्रमाणकत्वमस्त्येव । वेदान्तशास्त्रेण परमानन्दरूपस्य ब्रह्मणोऽभिधेयतयाऽन्वयात् । उपक्रमोपसंहारादिरूपतात्पर्यनिर्णायकैर्लिङ्गैस्समस्तानां वेदान्तानां परब्रह्मणि श्रीराम एव समन्वयः । स चेत्थम्– 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्', अत्र सूक्ष्मचिदचिच्छरीरं कारणरूपं ब्रह्मैव सत्पदेनाभिहितम् । 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' (के. १।१।

अथ यद्वस्तु संशयरहितं प्रयोजन–रहितं च भवति तादृशवस्तुनो जिज्ञासा न भवति, यथा समनस्कचक्षुरादिसंनिकृष्टो बहलप्रका-

वेद वचन है । जिस व्यक्ति का अन्तःकरण रागद्वेष से कलुषित है, तादृश व्यक्ति के वचन में ही अप्रामाण्य की शङ्का होती है । जब यह वेद उत्पत्तिमान् हुआ, तब विनाशी अवश्य होगा । इस तरह से त्रिक्षणावस्थायित्वप्रसङ्ग होता है, ऐसा नहीं कहना क्योंकि–ऐसा मानने पर जिस वेद को पण्डितजी ने पढा, उसी वेद को मैं भी पढता हूँ, यह जो स्थायित्व की प्रत्यभिज्ञा होती है, उसका बाध हो जायगा । अतः यथोक्त ही सुस्थ है इस विषयका विस्तार विवरण अन्यत्र किया जायगा ।३।

सारबोधिनी—जो पदार्थ सन्दिग्ध तथा सप्रयोजनक होता है उसकी ही जिज्ञासा होती है, किन्तु जो पदार्थ सन्देह तथा प्रयोजसे नरहित रहता है

४।) 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३। ८) अनया श्रुत्या परमात्मन एकस्यैव परिज्ञानेन मृत्युसन्तरणमुच्यते 'नान्यः पन्थाः' इति ह्युपायान्तरञ्च निषिध्यते। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते गेन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंबिशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म' (तै० ३।१।१) ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' (बृ० ४।१। १०) 'योह वै श्री रामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा' (रा० ता०) 'आनन्दो ब्रह्म' (तै०) 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (मु० १।२।९) 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ पर ब्रह्माभिधीयते' (रा० पू० ता०) इत्यादिश्रुतयो ब्रह्मणः श्री रामस्यैव स्वरूपगुणविभूतिवर्णनं कुर्वत्यस्तत्रैव समन्विता भवन्ति। एवम् 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ० १।४।७) इत्याद्युपासनविध्यभिधानेनापि वेदान्तानां परमपुरुष एव समन्वयः।

शितो घटो न भवति केषां चिदपि जिज्ञासाविषयः। कुतः? संशय रहितत्वात्। तथा यद्वस्तु प्रयोजनरहितं भवति तदपि जिज्ञासितं न भवति यथा कीटपतङ्गादीनां दन्ताः। तथा प्रकृते ब्रह्मापि संशयप्रयोजनरहितमिति तदपि न जिज्ञास्यम्। तथा हि यः शरीरादीनां परिणामयिता स एव आत्मा ब्रह्म, स चायमात्मा सर्वेषां प्राणिनामहमस्मीत्यादि प्रत्यक्षेणैव ज्ञातत्वान्न भवति जिज्ञासाविषयः। एवमात्मज्ञानस्य प्रयोजन-

उसकी जिज्ञासा नहीं होती है। जैसे मनः संयोग विशिष्ट चक्षुः संनिकृष्ट प्रकाशादि संयुक्त घटकी जिज्ञासा कोई नहीं करता है क्योंकि—वह संदेहरहित तथा जलताड़नादिककार्य प्रयोजनरहित होने से वह भी जिज्ञासित नहीं होता हैं, अर्थात् सन्दिग्धत्व तथा सप्रयोजनत्व जिज्ञासा का व्यापक है। और जहाँ व्यापक नहीं होता है उस स्थल में व्याप्य भी नहीं रहता है, यथा व्यापक जो वह्नि उसका अभाव रहता हैं तो उस स्थल में व्याप्य धूम का अभाव अवश्य रहता हैं जलादिक में। इसी प्रकार जिज्ञासा का व्यापक है

अयमत्र निर्णयः— 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा' (श्वे० १।६) "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा" (श्वे० १।१२ 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' (श्वे० ६।१३) "स कारणं करणाधिपाधिपः' (श्वे ६।९) 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्' (बृ० ३।७।३) 'य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्' (बृ० ३।७।२२) इत्यादि-श्रुतयश्चिदचिदीश्वरस्वरूपाणि भोक्तृभोग्यनियन्तृतया पृथगुपवर्ण्याचिद्वस्तुनः स्वरूपपरिणामं चिद्वस्तुनो ज्ञानसङ्कोचविकाशरूपपरिणामं नियन्तुर्ब्रह्मणस्तादृशपरिणामराहित्यञ्च प्रतिपाद्य चिदचितोर्ब्रह्मशरीरत्वं ब्रह्मणश्च तदात्मतया तदन्तर्यामित्वं नित्यानवद्यत्वं चाभिदधते। एवञ्च सृष्टेः प्राक् (ङ्) नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मचिदचिच्छरीरं ब्रह्मैव कारणम्। तदेव च नामरूपविभागार्हस्थूलचिदचिद्विशिष्टं सत्कार्यत्वं भजते। एतादृक्

मपि किमपि नोपलभ्यते सद्यस्तस्माद्ब्रह्म न जिज्ञास्यम्। अजिज्ञास्यत्वे च तत्प्रतिपादकवेदान्तशास्त्रस्यारम्भोऽपि न कर्तव्य इत्यादिशङ्कां प्रथमाधिकरणेन निराकृत्य प्रतिपाद्य च ब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वम्, तदनु च जिज्ञास्यं ब्रह्म तत् किं लक्षणकमिति जिज्ञासाया अपि निराकरणं द्वितीयाधिकरणेन संपाद्य जिज्ञास्यवस्तुनि प्रमाणं किमित्यनुयोगे लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुनः सिद्धिरिति सर्ववादिसर्वशास्त्रप्रसिद्धतया ब्रह्मणि लक्षणं

सन्देह तो सन्देह के अभाव में व्याप्य जो जिज्ञासा उसका अवश्यमेव अभाव है, तब ब्रह्मजिज्ञासा का व्यापक जो आत्मा उसका संदेह उसका अभाव होनेसे व्याप्य जो ब्रह्म जिज्ञासा सो नहीं हो सकती है। ब्रह्म शब्दका अर्थ है जो शरीरादिक को परिणमित करें उसको ब्रह्म कहते हैं, प्रकृत में शरीर के परिणमित करने वाला जीवात्मा है तो वह भी ब्रह्मपद बोध्य है और यह जीव तो कीट पतंग से लेकर देवर्षिपर्यन्त प्रत्येक प्राणीको शरीरेन्द्रियादि से भिन्नरूप से अहं इत्याकारक प्रत्यक्षानुभवसिद्ध होनेसे असंदिग्ध है, तब संदेहाभावसे जिज्ञासा किस तरह से हो सकती है। नहीं कहो कि—अहं स्थूलः अहं कृशः

स्वरूपं सामानाधिकरण्यमुखेन 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा०) इत्यादिश्रुतिभिरुपपादितम्। न चैवं जीवपरयोस्स्वरूपस्वभावाभ्यां भिन्नत्वान्नित्यत्वाच्च वेदान्तप्रसिद्धाया एकविज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञाया हानिरिति वाच्यम्। जीवेऽवस्थान्तरापत्तिरूपपरिणामस्याभ्युपगमात्तस्य ब्रह्मकार्यत्वेन नोक्तप्रतिज्ञाया हानिरित्यवेहि। इयांस्तु विशेषो यदचेतनवत्स्वरूपपरिणामो जीवे न भवति। अपि तु ज्ञानसङ्कोचविकाशरूपोऽन्यथाभाव एव स्वीक्रियते। 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (छा० २। १८) इत्यादिकाः श्रुतयस्तु स्वरूपान्यथाभावरूपां जीवस्योत्पत्तिं वारयन्त्यश्चरितार्थाः। इत्थं परस्य ब्रह्मणः स्वरूपं तत्प्राप्त्युपायश्चाभिदधच्छास्त्रं तस्मिन्नेव कार्त्स्न्येन समन्वेतीति सिद्धम्।

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ समन्वयाधिकरणम्

चतुः सूत्री समाप्ता॥

द्वितीयेन तृतीयाधिकरणेन च प्रमाणं तस्मिन्ब्रह्मण्युपदर्शितवान् यथाविधि। परन्तु शास्त्रप्रमाणकत्वं दर्शितं प्रतिज्ञामात्रेण हेतुस्तु न स्पष्टरूपेण दर्शितः न च प्रतिज्ञामात्रं वस्तुनः साधकं, नहि भवति पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञामात्रेण "संभावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साध्येत हेतुने"त्यभियुक्तोक्तेरिति। ब्रह्मणि वेदान्तस्य प्रामाण्यं न संभवति तत्र ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयासंभवादित्याकारक-शङ्कायाः समुच्छेदाय प्रक्रमते। कथं तृतीयाधिकरणेन शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः, यतः "प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतके-

इत्याकारक प्रतीति होती है, तो इस प्रतीति के बलसे शरीर ही आत्मा सिद्ध होता है तदतिरिक्त आत्मा तो है ही नहीं तब यह प्रश्न ठीक नहीं है ऐसा नहीं कहना क्योंकि—शरीर आत्मा मानो तबतो जो मैंने बाल्यावस्था में माता-पिता का अनुभव किया था वही आज मैं पौत्र, दौहित्र का अनुभव करता हूँ इत्याकारक स्मरण नहीं होगा, क्योंकि बालकशरीर और वृद्धशरीर तो एक नहीं है। अवयव के उपचय अपचय से शरीर प्रतिक्षण में विनष्ट होनेसे विनाशी है।

न वा। पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते" इति नियमात् यानि-शास्त्राणि सर्वाणि क्रियापरकाण्येव। "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य-मतदर्थानाम्" इति जैमिनीय-वचनात् शास्त्राणां क्रियापरत्वमेव। वेदान्त वाक्यानि तु न क्रिया-प्रतिपादकानि अक्रियार्थत्वात्, तत्कथं वेदान्तानां-ब्रह्मप्रतिपादकत्वमिति शङ्काया निराकरणाय चतुर्थाधिकरणीयं सूत्रमिदं प्रवर्तते 'तत्तु समन्वयात् ॥१।१।४॥

अत्र तत् इत्येकं पदम् तु इति द्वितीयं, समन्वयादिति तृतीयं पदम् एवं च पदत्रयघटितमिदं सूत्रम् तत्र तदिति प्रथमपदम् प्रकृतब्रह्मपरा-मर्शकतया द्वितीयान्तम्। अव्ययं तु पदं पूर्वशङ्काया निराकरणपरकम्। ततश्च जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्म यत् तादृशं ब्रह्म शास्त्रप्रमाणेन सिद्धं तादृशपरमात्मानं वेदान्तवाक्यानि स्वकीयतात्पर्यबलेन प्रतिपाद-यन्त्येव। (उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये')। एतानि उपक्रमादीनि तात्पर्यग्राहकलिङ्गसमन्वितानि वेदान्तवाक्यानि नियमतः परमात्मानं बोधयन्तीति। अत्र सर्वाण्यपि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादीनि यानि वेदान्तवाक्यानि तानि सर्वाण्यपि विषयः। संशयाकारं तु दर्शयति वृत्तिकारः। पूर्वोदीरित शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः संभवति नवेति संशयः। इति वृत्तिः। अत्रापि विप्रतिपत्तिवाक्याधीन एव संशयः, स च परमात्मनिष्ठशास्त्रप्रतिपाद्यत्व

यदि बालकशरीर तथा वृद्धशरीर एक होता तब लघु शरीर से अनुभूत वस्तु का स्मरण होता। अन्यदृष्ट वस्तु का स्मरण अन्यव्यक्ति को नहीं होता है। और यहाँ जो मैंने बाल्यावस्था में माता-पिता का अनुभव किया था वही मैं अभी पौत्रादिका अनुभव करता हूँ इत्याकारक अनुसंधान नहीं होता, इसलिए शरीरादिरूप आत्मा नहीं है किन्तु शरीरादिभिन्न आत्मा है। एवं स्वप्ना-वस्थामें दिव्य शरीर को धारण करके तदुचित भोगको भोगता हुआ मनुष्य जाग्रत् अवस्था में कहता है कि मैं देव नहीं हूँ, मैं तो मनुष्य हूँ, इस प्रकार

प्रतिपाद्यत्वाभावप्रकारक एव एकधर्मिकविरुद्धानेककोटिकः संशय इति तल्लक्षणात्। तदुक्तं जगद्गुरुणा श्रीश्रियानन्दाचार्येण श्रौतप्रमेयचन्द्रिकायाम्–"एकस्मिन् संशयो भावाभावप्रकारिका मतिः" इति (१।३) तत्र शास्त्रस्य पुरुषहितोपदेशकस्य क्रियाप्रतिपादकप्रवृत्ति निवृत्त्यन्यतरजनकत्वेनैव प्रामाण्यम्' "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्"। तथा 'प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा। पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते' इति नियमात् वेदान्तवाक्यानां क्रियाप्रतिपादकत्वाभावात् तथा ब्रह्मणः परिनिष्पन्नत्वेन न शास्त्रप्रमाणकत्वम् कथमपि संभवतीति वृत्तिस्थितपूर्वपक्षवाक्यघटकाक्षरार्थः। पूर्वपक्षाभिप्रायस्तु इत्यम् तथा हि घटादिशब्देन कम्बुग्रीवादिमतोऽर्थस्यैव ज्ञानं जायते न तु घटपदेन पटाद्यर्थस्य बोधो जायते, तथात्वे एकस्य शब्दस्यार्थवाचकत्वप्रसङ्गात्, स च नेष्टस्तथात्वे तदितरपदानां वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तस्मात् पदपदार्थयोः संबन्धरूपशक्तिरपेक्षिता सा च अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारकपरमेश्वरेच्छारूपा। यथा घटादिपदानामुपस्थितौ घटादिपदजन्यज्ञानस्यावश्यकता जायते तथा घटपदपदार्थ शक्तिज्ञानस्याप्यावश्यकता अन्यथा अमुकपदस्यामुकपदार्थवाचकत्वं नान्यस्येति व्यवस्था न स्यात्। तस्मात् प्रथमतः शक्तिज्ञानमावश्यकम्। शक्तिज्ञानं च वृद्धव्यवहारसाध्यम्। वृद्धव्यवहारश्च कार्यमात्रविषयकः, तथा हि कार्यताप्रतिपादकं तु भवति लिङादिपदम् 'घटमानय' इत्यादि प्रयोजकवृद्धवाक्यश्रवणानन्तरं प्रयोज्यवृद्धस्य घटाद्यानयने प्रवृत्तिमुप-

से देव शरीर का बाध होने पर भी अहमाकारक अनुव्रजन होने से देह आत्मा नहीं है, किन्तु देहादि से अतिरिक्त आत्मा है सो यह आत्मा सर्वानुभवसिद्ध होने से संदेहरहित है। तब एतादृशसंदेहरहित आत्मा की जिज्ञासा नहीं हो सकती है। इत्यादिरूप से जो शास्त्र के अनारभ्यत्वप्रयोजक जो शंका थी उस शंका का प्रथम अधिकरण से निराकरण कर ब्रह्म में जिज्ञास्यत्व का प्रति-

लभ्य तत्समीपस्थो व्युत्पत्तिमिच्छन् बालकस्तस्य प्रवृत्तौ स्वकीयप्रवृत्तौ इष्टज्ञानजन्यत्ववत् कार्यताज्ञानजनकत्वमनुमाय शक्तिं निश्चिनोति तादृश पदानाम् । तदनन्तरं 'घटं नय पटमानय' इत्यादिवृद्धव्यवहारतो घटादिपदानामावापोद्वापाभ्यां कार्यान्विते एव शक्तिं निश्चिनोति, ततश्च कार्यतावाचकपदयुक्तस्यैव बोधकत्वं न तु तद्विरहितपदानां बोधकत्वं शक्तेरभावात् । प्रकृते कार्यवाचकपदरहितवेदान्तानां तद्रहितपदरहितत्वेन तादृशपदानां कथं ब्रह्मबोधकत्वम् । अबोधकत्वे च नैरर्थक्यम् । अथवा कार्यबोधकमध्याहृत्योपासनादिषु वेदान्तवाक्यं संप्रयुज्य तस्य सार्थक्यं संपादनीयं न तु तेषां स्वातन्त्र्येण प्रामाणिकत्वमिति पूर्वपक्षिणामाशय इति ॥

यद्यपि ब्रह्म परिनिष्पन्नसिद्धस्वरूपं च तत्र क्रियाजन्यलेशोऽपि न विद्यते तथापि एतादृशब्रह्मस्वरूपं बोधयतामपि "सदेव सौम्ये"-त्यादिवेदान्त वाक्यानां ब्रह्मस्वरूपबोधकत्वं संभवत्येव "उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये" इत्यादि तात्पर्य हेतुसमन्वयात् । अयं भावः पूर्वकार्यार्थव्युत्पत्तिः कारणतया स्वीक्रियते तदनन्तरं जाते बोधे त्यज्यते, कार्यार्थव्युत्पत्तेः कारणता । अत एव 'चैत्र पुत्रस्ते जातः' इत्यादिस्थले वार्ताहारपुरुषवाक्यश्रवणानन्तरं चैत्रस्य मुखविकाशं दृष्ट्वा चैत्रपुत्रजातद्रष्टा बालः चैत्रसुखमनुमिनोति ततश्चैत्रस्य तादृशसुखज्ञानकारणं पुत्रजन्मैव कल्पयति, एवं क्रमेण सिद्धार्थपदेष्वपि व्युत्पत्तिर्भवत्येव । एवं क्रमेण वेदान्तवाक्येष्वपि

पादन किया । उसके बाद जिज्ञास्य ब्रह्म का लक्षण क्या हैं ? एतादृश शंका के निराकरण करने की इच्छासे पदार्थ की सिद्धि लक्षण प्रमाण द्वारा से ही होती है यह बात सर्वानुमत होने से द्वितीय तथा तृतीय अधिकरण से ब्रह्म का लक्षण तथा प्रमाण का भी उपपत्तिपूर्वक प्रतिपादन किया गया है । ब्रह्म में प्रमाण शास्त्र योनित्वाधिकरण में यथावत् प्रतिपादन किया है—ब्रह्म का बोधक प्रमाण

संभवत्येव परिनिष्पन्तब्रह्मबोधकत्वमित्यभिप्रायेणाह वृत्तिकारः "अत्रा भिधीयते" इति, "तत्तु समन्वयादि"-ति सूत्रे योऽयं तु शब्दः स च पूर्वपक्षव्यावृत्तिपरकः। तत् शब्दो ब्रह्मबोधकः तद्-ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं कुतः समन्वयात् सर्ववेदान्तवाक्यानां तात्पर्यतस्तदर्थस्यैव बोधकत्वादिति सूत्रार्थः। अयमेवार्थः प्रदर्श्यते वृत्तिकारेण 'परिनिष्पन्ने'-त्यादिप्रकरणेन। यद्यपि परिनिष्पन्नमर्थात् सिद्धस्वरूपं न तु साध्यस्वरूपं ब्रह्म, तस्य ब्रह्मणः "सत्यं ज्ञानमानन्दम्" इत्याद्यनेकश्रुत्या सुखस्वरूपत्वात् तादृशस्य ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वं संभवत्येव वेदान्तशास्त्रेण "सत्यं ज्ञानमि"-त्यादिवाक्येन परमानन्दस्वरूपस्य, अर्थात् निरतिशयनिरवधिक सुखाकरस्य तस्य प्रतिपाद्यतयाऽन्वयादिति। उपक्रमोपसंहारादितात्पर्यग्राहकहेतुभिः सर्वेषामेव वेदान्तवाक्यानां परब्रह्मणि सर्वव्यापकपरमेश्वरस्वरूपे श्रीरामे साकेताधिपतावेवान्वयात्। एवमेव समन्वय प्रकारं दर्शयितुमाह "स चेत्थमि"ति, स च समन्वयप्रकारः इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण भवतीत्यर्थः। "सदेवेत्यादि" हे सौम्य श्वेतकेतो! इदं परिदृश्यमानं जड़चेतनात्मकं सर्वमपि जगत् अग्रे सृष्टेः पूर्वकाले एकम् एकमेव अद्वितीयं सजातीयद्वितीयरहितं समस्तचिदचिच्छरीरकसद्रूपमेव जड़चेतनस्वरूपकपरमात्मरूपं सदेवासीत्। अर्थात् सृष्टेः पूर्वकाले विभक्तनामकं नाभवत्, अपि तु अविभक्तनामरूपकपरमात्मस्वरूपकमेवाभवदित्यर्थः। अत्र श्रुतौ यत् सत्पदं तेन सत्पदेन सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकं सर्वजगत्कारणरूपपरमेश्वरः श्रीराम एव परिगृहीतो भवति।

वेदान्त शास्त्र है यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, सत्यं ज्ञानम् इत्यादि श्रुति का उदाहरण को बतलाते हुए। परन्तु शास्त्र नाम है उसका जो प्रवर्तक अथवा निवर्तक हो, तो यह वेदान्त तो प्रवृत्तिनिवृत्तिरहित परिनिष्पन्न ब्रह्म का अर्थात् सिद्ध पदार्थ का प्रतिपादक है। शास्त्र तो क्रिया का प्रतिपादक है, तब तो इस वेदान्त को ब्रह्म का प्रमाण किस तरह से कहा जा सकता है, इत्यादि

कस्मात् कारणात् एकः सर्वशरीरकः परमात्मैवात्र परिगृह्यतेऽत्र श्रुतौ तत्र कारणं वक्तुमाह वृत्तिकारः "तदेव ब्रह्म" इत्यादि, तदेव समस्त चिदचिच्छरीरकं परब्रह्मैव त्वं विद्धि-जानीहि। "तमेव" इत्यादि तं सर्वं सूक्ष्मस्थूलचिदचिच्छरीरकं परमात्मानं विदित्वा प्रत्यक्षसमानात्मकज्ञानेन विषयीकृत्यैवोपासकोऽतिमृत्युं मोक्षं प्राप्नोति, परमात्मज्ञानव्यतिरिक्तं कारणमयनाय निरतिशयनिरवधिकसुखस्वरूपाय मोक्षाय न भवति अर्थात् परमात्मसाक्षात्कारेणैव मोक्षो जायते न तु तदतिरिक्तेन कारणेन मोक्षो भवतीत्यर्थः श्रुतेः। अनया श्रुत्या अर्थात् इत्यनेकश्रुतिभिः एकस्यैव सर्वजगत्कारणपरमेश्वरस्य भगवतः श्रीरामस्य परिज्ञानादेवातिमृत्युसन्तरणं प्रतिपादितं भवतीति। "नान्यः पन्थाः" अनेन च वाक्येन मोक्षकारणान्तरस्य प्रतिषेध एव सूचितो भवतीति। "यतो वा इमानि" इमानि दृश्यादृश्यसाधारणानि गगनादीनि भूतानि, यस्मात् सर्वशक्तिसमन्वितसर्वज्ञात् परमेश्वरात् समुत्पद्यमानानि भवन्ति, उत्पद्य च यस्मिन् परमात्मनि समवस्थितानि भवन्ति तथा प्रतिसर्गसमये यस्मिन्भगवति महामहिमशालिनि प्रलीयमानानि भवन्ति तमेव परमात्मानं विजिज्ञासस्व एतादृशपरमात्मन एवोपासनां कुरु एतदेव ब्रह्म नान्यद् व्यतिरिक्तं ब्रह्मेति श्रुत्यर्थः। ब्रह्म वा इदमग्र आसीदिति इदं परिदृश्यमानं स्थावरजङ्गमात्मकं स्थूलं जगत् ब्रह्मैव कारणीभूतसूक्ष्मचिदचिच्छरीरकं ब्रह्मस्वरूपमेवासीदिति। "योह वै श्रीरामचन्द्रःस भगवानि"त्यादि यश्चायं भगवान् श्रीरामचन्द्रः साकेताधिपतिः स खलु

प्रकार से आनेवाली अनेक शंकाओं को हृदय में रखकर उन शंकाओं का निराकरण करने के लिए इस चतुर्थ समन्वयाधिकरण का उत्थान करते हुए वृत्तिकार चलते हैं, तत्तु समन्वयादिति। सूत्रस्थ जो तत् शब्द है उसका अर्थ है ब्रह्म और तु शब्द पक्ष का निराकरणपरक है, तब वह जगत्कारण सर्वशक्तियुक्त सर्वेश्वर परमात्मा का प्रतिपादन वेदान्त शास्त्र स्वकीयतात्पर्य के बल से

अद्वैतपरमानन्दः सकलहेयप्रत्यनीकनिरतिशयनिरवधिकपरमानन्दस्वरूपः सर्वेषां स्थावरजङ्गमानाम् आत्मा स्वरूपभूत इत्यर्थः । आनन्दो ब्रह्म परमात्मैवानन्दात्मकः । ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति । यो हि समुपासकः समस्तजगत आधाररूपेण समस्तस्थूलसूक्ष्मचिदचिच्छरीरकतया परमात्मानं वेद विजानाति तमेव प्रपन्नो भवति स तत्स्वरूपस्तत्सायुज्यमवाप्नोतीत्यर्थः । "रमन्ते योगिनोऽनन्ते" इत्यादि यस्मिन्ननन्ते सर्वकर्तृस्वरूपे नित्यनिरतिशयनिरवधिकानन्दस्वरूपे चिदात्मनि परमात्मनि योगिनो निवृत्तैषणाः परमधामान्वेषिणः पुरुषधौरेयाः परमानन्दमहार्णवे निमग्ना भवन्तीति एतादृशानेक–कल्याणगुणगणविशिष्टो भगवान् परमात्मैव रामपदेनाभिधीयमानः प्रतिपादितो भवतीति रामतापनीयोपनिषदोऽर्थ इति । इत्याद्यनेकाः श्रुतयो भगवन्तं परमात्मानं श्रीराममेव प्रतिपादयन्त्यतस्तादृशराम एव समन्विता भवन्ति तादृशरामस्वरूपगुण विभूतीनां वर्णनमेवाङ्गीकुर्वन्तीति । एवम् "आत्मेत्येवोपासीत" इत्यादि वेदान्ता अपि उपासनाविधिं प्रयुञ्जाना भगवन्तं श्रीराममेव प्रतिपादयन्ति तत्रैव समन्विता भवन्तीति ।

अथ द्वितीयोऽप्यर्थोऽस्य सूत्रस्य तथाहि -"जन्माद्यस्य यतः" अनेन द्वितीयसूत्रेण यत इत्यत्र हेत्वर्थकपञ्चमीविभक्त्या ब्रह्मणि निखिलजगत्कारणत्वं प्रदर्शितम्, केवलं प्रतिज्ञामात्रेण कथितम् न च प्रतिज्ञामात्रे साध्यसाधकम्, तस्मात्तादृशप्रतिज्ञाया उपपादनायै हेतुदर्शनम-

करता है । यह सूत्रार्थ हुआ । अब इसके ऊपर वृत्तिकार संदेह को उपस्थित कर पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष द्वारा निर्णय करने के लिए कहते हैं 'तच्छास्त्र-प्रमाणक मित्यादि' जिज्ञासा लक्षणप्रमाणद्वारा प्रमाणित जो ब्रह्म है, तादृश ब्रह्ममें शास्त्र प्रमाण संभवित है कि नहीं है ? अर्थात् वेदान्त शास्त्र से ब्रह्म प्रतिपादित होता है अथवा नहीं होता है ? एतादृश संशय होता है । विप्रतिपत्ति के बाद उपस्थित संदेहानन्तर पूर्वपक्ष के स्वरूप को उपस्थित करते हुए वृत्तिकार

ण्यावश्यकमिति हेतुजिज्ञासायां सत्यां हेतुरूपेण प्रकृतं चतुर्थसूत्रमिद-मुपन्यस्तम् "तत्तु समन्वयात्" इति। अत्र समन्वयपदम् व्यतिरेकस्या-प्युपलक्षणम् अन्वयश्च तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् तदभावे तदभावोऽन्वयव्यति-रेकाविमौ कारणताग्राहकौ द्वावपि भवतः। "जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादित-रतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराडि"ति भागवते भगवतो वेदव्यासस्य वचनान्तरात्। तथा चायमर्थः सूत्रस्य भवति, यथा मृत्तिकासत्त्वे घटसत्त्वं मृत्तिकाया अभावे घटो नोपलभ्यते इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां घटं प्रति कारणत्वं मृत्तिकायाः संपद्यते। एवं प्रकृतेऽप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां जगतोऽभिन्नो-पादानता रामात्मकब्रह्मणि सिध्यति, तथाहि—एतादृशजगत्कारणत्वे ब्रह्मणः कार्यमात्रे पदार्थमात्रे च व्यापकरूपेण समन्वयाद्भवत्येव "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" इत्यादिशुक्लयजुर्वेदसंहितया कार्यमात्रं प्रति ब्रह्मणः श्रीरामस्यान्वयः प्रदर्श्यते। तथा "त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति शुक्लयजुर्वेदसंहितावाक्येन च तस्यैव रामाख्यब्रह्मणो व्यति-रेकोऽपि प्रज्ञापितः। एवं "स भूमिं सर्वतस्पृत्वे"-ति शुक्लयजुर्वेद वाक्येन तथा "सर्वतः पाणिपादं च सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुति-मल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठती"-ति स्मृत्या च सर्वस्मिन्नेव स्थावरजङ्ग-मात्मके जगति ब्रह्मणोऽन्वयः प्रदर्शितः। एवम् "अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलमि"

कहते हैं कि—तत्र शास्त्रस्य प्रवृत्तिनिवृत्ती-त्यादि— शास्त्रमात्र का नियम है कि— वह प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का ही वाचक होता है। ऐसा कहा भी हैं प्रवृत्ति र्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा। पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते नित्य अथवा जन्य जिसके द्वारा प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति उपदिश्यमान हो उसको शास्त्र कहते हैं। इससे फलित यह हुआ कि शास्त्र का प्रयोजन प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति कराना ही है, और ब्रह्म तो परिनिष्पन्न सिद्ध वस्तु है इसलिए वह एता दृश ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक नहीं हो सकता है, अपितु जो कार्य पदार्थ है वही शास्त्रप्रमाणक है। एतादृश पूर्वपक्ष का अभिप्राय सिद्ध होता है।

-ति शुक्लयजुर्वेदीयवाक्ये"-असङ्गो ह्ययं पुरुष"-इति वाक्ये च तथा "असक्तं सर्वभृच्चैवे"-ति गीतावाक्ये च तस्यैव ब्रह्मणो व्यतिरेकोऽपि निर्धारित एव। एताभ्यां श्रुतिस्मृतिवाक्यप्रतिपादितान्वयव्यतिरेकाभ्यां ब्रह्मणि जगत्कारणत्वं व्यवस्थापितं भवति। एतच्च कारणत्वं न सांख्यवत् केवलमुपादानत्वलक्षणम्। न वा नैयायिकवत् केवलं निमित्तकारणतालक्षणं किन्तु "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादि"ति–सूत्रानुमोदितमभिन्ननिमित्तोपादानतालक्षणमेव। "एतत्सर्वं" यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन "इति श्रुतौ तथा "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञे"-ति सूत्रे एवम् "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः "इति सूत्रे च विस्तरेण समर्थितं भविष्यतीति। एतच्च कारणत्वं त्रिवृत्कृतम् त्रिकादिपदार्थानां तत्तदीयघटादिकार्ये जाते व्यापकरूपेण समन्वयस्य व्यतिरेकस्य च सर्वत्राव्यभिचरितरूपेण दर्शनेन कारणतानिश्चयो जायमानो दृश्यते। इति यथा दृष्टान्ते दृश्यते तथैव दार्ष्टान्तिकेऽपि सर्वगतत्वात्मकव्यापकतया सर्वजगत्समन्वयेन तद्व्यतिरेकेणैकत्र प्रधानतया समन्वितत्वेन हेतुना सर्वजगत्कारणत्वं ब्रह्मणि समुद्यत एवेति। अथ ब्रह्मणः सर्वत्र विद्यमानत्वेन अन्वयमात्रं भवति, ब्रह्मसत्त्वे कार्यसत्त्वम् न तु व्यतिरेको ब्रह्मणोऽभावे कार्याभावः

एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं वृत्तिकार अत्राभिधीयते इति अर्थात् यथोक्त पूर्वपक्ष में यह सूत्र तत्तु समन्वयात् होता है जो हित वस्तु का प्रतिपादक होता है, उसको सूत्र कहते हैं। तो यह वेदान्त यद्यपि ब्रह्म परिनिष्पन्नवस्तु है, तथापि नित्यनिरतिशयस्वरूप है तो, एतादृश पदार्थ का प्रतिपादक होता है इस अभिप्राय से कहते हैं वृत्तिकार" परिनिष्पन्नस्यापी–त्यादि, अर्थात् यद्यपि ब्रह्म परिनिष्पन्न है तथापि तादृश ब्रह्मभी नित्यनिरतिशयसुखात्मक होने से शास्त्रप्रमाणक होते ही हैं, क्योंकि- वेदान्त शास्त्र से परमानन्दस्वरूप ब्रह्म का भी व्याप्य रूप से अन्वय होता है। उपक्रमोपसंहार अभ्यास अपूर्वता फल अर्थवाद उपपत्ति अर्थात्

यतो ब्रह्मणो व्यापकत्वेन तद्व्यतिरेकस्य युक्तेरप्यसंभवादिति चेत्। अत्र प्राचीनाः यथा श्रुतिभिर्ब्रह्मणः प्रपञ्चसमानकमपि रूपं प्रदर्श्यते तथा प्रपञ्चविलक्षणरूपमपि द्विरूपस्य ब्रह्मणः श्रुतौ प्रतिपादनात् तत्र यद्रूपं ब्रह्मणः प्रपञ्चविलक्षणं रूपं यत् जगति नान्वेति तादृशरूपमेव ब्रह्मणोऽन्वयव्यतिरेकज्ञापकमिति कृत्वा समाधानं कुर्वन्ति। परन्तु नेदं तर्कसिद्धं समाधानम् इति तु समाधाने केवलं श्रद्धामात्रग्राह्यं श्रुतिगौरवमात्र साध्यं च। तस्मान्नेदृशो व्यतिरेकः साधीयान् किन्तु, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणताया विनिश्चयो भवतीति नियमः सार्वत्रिकप्रायो भवन्नपि यत्र कारणमन्वयव्यतिरेकग्रस्तं भवति तत्रैवान्वयव्यतिरेकौ कारणताग्राहकौ यथा दण्डघटयोः, अत्र दण्डस्य क्वचित्सत्त्वं क्वचिदसत्त्वम् व्याप्यत्वात्, ततोऽत्र दण्डे कारणता अन्वयव्यतिरेकाधीना भवति किन्तु यत्र कारणं व्यापकं व्यतिरेकविरहितम्, न तत्र कारणता तादृशान्वयव्यतिरेकाधीना यथा सुखजीवयोर्यः कार्यकारणभावो न सोऽन्वयव्यतिरेकाधीनः, यतो जीवासत्त्वे सुखासत्त्वमित्याकारकव्यतिरेकस्यासम्भवात्, आत्मा तु व्यापकस्तदभावस्याभावात्। ततश्च सार्वत्रिको नियमः कार्यकारणभावव्यवस्थापकावन्वयव्यतिरेकाविति मन्येत तदा आत्मसुखयोरीशतदीयज्ञानयोश्च कार्यकारणभावः सिद्धो न स्यात्। तस्मात् कारणस्य व्यापकस्थले अन्वयमात्रम् कार्यकारणभावनियामकम् अन्यत्र तु अर्थात् व्याप्यकारणस्थले तदुभावन्वयव्यतिरेकौ तथा भवत इति न्यायानुमतः पन्थाः।

युक्तिलक्षण जो तात्पर्यग्राहक प्रमाण से समस्त वेदान्त का परब्रह्म नित्यनिरतिशयसुखात्मक पकलहेयप्रत्यनीक अनन्तावधिककल्याणगुणाकर श्रीरामचन्द्र साकेताधिपति में निराबाधरूप से समन्वय होता है। अर्थात् सब वेदान्तवाक्य श्रीभगवान् राम का बोधक होता है। वह समन्वय इस प्रकार से समझना चाहिये तथाहि—"सदेव सौम्येदमग्र आसीत" हे सौम्य श्वेतकेतु, यह परिदृश्यमान जड़चेतनात्मक जगत् संसार, अग्रे" उत्पत्ति से पूर्व कालमें

वेदान्तवाक्यानि तात्पर्यतः श्रीरामाख्ये ब्रह्मणि समनुगतानीत्यस्मिन्सूत्रे कथितम्, तत्र द्वित्रा आगमा युक्तयश्च प्रदर्शिताः। अतः परं तेषामेवानेकेषां वाक्यानां स्वरूपं दर्शयित्वा सर्वेषां तात्पर्यावधारणाय तथा स्मृतिपुराणादिवचनानां श्रुत्युपोद्बलकानां प्रदर्शनं कुर्वन् तेषामपि ब्रह्मण्येव तात्पर्यमिति दर्शयितुं श्रुतिसंमतयुक्तिमप्युपदर्शयितुमुपक्रमं कुर्वन्निवाह वृत्तिकारः "अयमत्र निर्णय" इति, अस्मिन् विचारप्रवाह पतितवस्तुतत्त्वे, अयं वक्ष्यमाणो निर्णयः विचारजनितफलप्राप्ति निश्चयः। तथाहि—"भोक्ता भोग्य प्रेरितारं च मत्वा" (संसारसागरान्तः पतितः स्वकृतशुभाशुभकर्मजनितविविधफलविशेषं भुञ्जानो भोक्ता जीवो भोग्यं संसारस्वरूपं तथा तत्र फलभोगकर्मणि प्रेरितारं प्रयोजकं सर्वान्तर्यामिणं परमात्मानम् मत्वा ध्यानविषयतां संपाद्येत्यर्थः,, "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा" (अयमल्पज्ञो जीवः स्वस्मात् पृथग्भूतम् कर्मणि प्रेरकमात्मानं निखिलजगदुपादानकारणभूतं साकेताधिपतिं मत्वा ज्ञात्वा, ध्यात्वेत्यर्थः) अर्थात् योऽयं परमात्मा स जीवविलक्षणो जीवानां स्वकीयकर्मणि प्रेरकश्च, स एव सर्वानेव जीवात् स्वस्वव्यापारे "सत् एक" अद्वितीय सजातीयद्वितीयरहित परमात्मस्वरूप ही था" यहाँ सूक्ष्म चित् अचित् है। शरीर जिसका एतादृश जो ब्रह्म वही सत् शब्द से प्रतिपादित होता है। एवं "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" जो चक्षुरादि करणों का करण है अर्थात् चक्षुरादि करणों में रूपादिग्राहकतासामर्थ्य रूप है उसी को ब्रह्म समझो न तु इन सबको ब्रह्म समझो, जिस को उपासना करते है। " तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" उस परमात्मा को जो कि-सकल जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं. तादृश परमात्मा को जानकर ही अतिमृत्यु मोक्ष को प्राप्त करता है परमात्मज्ञान से अतिरिक्त—अन्य कोई भी कारण मोक्ष के लिए नहीं है। " इस श्रुति से एक जो परमात्मा जगदुपादानकारण है उसी के ज्ञान से मृत्युसंतरण कहा गया है।" नान्यः पन्थाः" दूसरा

युनक्ति न तु स्वतन्त्रो जीवः किमपि कर्तुमीश इति बुद्ध्या प्रकल्पयेत्यर्थः । तदेतत्समर्थितमाचार्यसार्वभौमेन श्रीमदनुभवानन्दाचार्येण—आचार्यसम्राट् श्रीश्रुतानन्दाचार्यानुगृहीतश्रौतसिद्धान्तविन्दुस्थं "विकारश्चरामो दयाब्धि-स्तथात्वे दयाशून्यतां पक्षपातश्च नैति । प्रकारे विकारस्तथा चित्रसृष्टौ च हेतुर्यतः प्राणिनां प्राच्यकर्म ।" इतिमहावाक्यभूतपद्यमुदाहरता । "नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" (मृदोऽब्रवीदापोऽब्रवीदित्यादिश्रुत्या चेतनत्वेनाभिमतानां तयाऽनित्यानां जलादीनामपि नित्योऽविलुप्तसर्वविषयकज्ञानवान् तया नित्यत्वेनाभिमतानामाकाशादीनामपि नित्यः प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगिरूपः उत्पादविनाशरहितः एकः सजातीयद्वितीयरहितोऽपि बहूनां तिर्यङ्मनुष्यदेवादिभेदेन विभिन्नानामनेकेषां जीवराशीनां विभिन्नाननेकान् कमनीयपदार्थान् यः परमात्मा सर्वान्तर्यामिस्वरूपो विदधाति संपादयति, एकः पुरुष एकमपरं पुरुषमुपकरोतीति प्रायो लोकनियमः अयं तु परमात्मा लोकोत्तरलोकोत्तराप्राकृतिकानेकगुणवान् स्वमहिम्ना सर्व जीवानां सर्वानेव कमनीयान् पदार्थान् विदधाति विविच्य सम्यक् सम्पादयतीत्यर्थः । एवंभूतो विलक्षणशक्तिमन्तं परमात्मानं मत्वेति सर्वत्रा-

कोई मार्ग नहो है. यह जो श्रुति का अवयव है उससे यह प्रतिपादित होता है कि—परमात्मज्ञानव्यतिरिक्त अन्य किसी भी कारण का निषेध होता है, अर्थात् यदि मोक्ष होता है, तो परमात्मा के ज्ञान से ही होता है, उपायान्तर से नहीं, इस अन्वय व्यतिरेक से परमात्मज्ञान में ही मोक्षकारणत्व व्यवस्थित होता है, अन्यत्र नहीं। (यद्यपि इस वाक्य से तो सिद्ध होता कि - ज्ञान ही मोक्षकारण है, तदतिरिक्त भक्ति प्रभृतिक मोक्षकारण नहीं है तथापि, 'भक्त्या त्वनन्यया लभ्यः" अनन्यभक्तिमात्रसे मैं लभ्य होता हूँ" इत्यादि वचन से दण्डचक्रादि न्याय से यहाँ मोक्षकारणता का ज्ञान में प्रतिपादन किया गया है। एवम् "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्र

नुषञ्जनीयमिति श्रुत्यर्थः। "स कारणं करणाधिपाधिपः" स परमात्मा कारणं सर्वेषां चेतनाचेतनवस्तूनां समुत्पादकः करणानां चक्षुरादीनां योऽधिपः स्वामी तत्तदधिष्ठातृदेवः तेषामपि परमात्मा अधिपो नियन्तेति शेषः। "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्" यः परमात्मा निखिलभूताधिपतिः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीमध्ये वर्तमानः पृथिव्या अन्तरो न तु तद्बहिः परन्तु यं परमात्मानं पृथिवी न वेद अयं परमात्मा ममान्तरे एव तिष्ठतीति, एवं रूपेण पृथिवी यं न विजानाति यस्य पृथिवी शरीरं शरीरमिव शरीरम् यः पृथिव्यां वर्तमानः पृथिव्या नियन्त्रणं करोतीति श्रुत्यर्थः। "य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्" यः आत्मा सर्वशक्तिमान् परमात्मा आत्मनि विज्ञानमयो जीवे तिष्टन् वतमानः यस्य परमात्मनोऽयं जीवः शरीरम्" एवं क्रमेण सर्वश्रुतीनां यथासंप्रदायमर्थो ज्ञातव्याः। इत्यादिश्रुतयः" उपर्युक्ता इमाः श्रुतयः।" चिदचिदीश्वरस्वरूपाणि" तत्र चित्-चेतनवान् जीवोऽचित् चेतनागुणरहितो जड़स्वभावकः पृथिव्यादिपदार्थः ईश्वरः सर्वस्य शासको जगदाधारः, तत्र चित्पदार्थों द्विविधः स्थूलः सूक्ष्मश्च, सूक्ष्मः स्थूलश्चेति जडोऽपि द्विविधः परमात्मा तु सर्वविलक्ष-यन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म" यह जड़ चेतन संपूर्ण जगत् सर्ग के आदि में जिस महान् परमात्मा से उत्पन्न होता है, एवं उत्पन्न होकर जिस परमात्मा में अवस्थित रहता है, और प्रतिसर्ग (प्रलय) के समय में लीयमान हो जाता है उस परमात्मा की तूं भी जिज्ञासा करो, अर्थात् भक्तिप्रवृत्ति के द्वारा हो उसको जानो, वही ब्रह्म है।" ब्रह्म वा इदमग्र आसीन्नान्यत्किंचनमिषत्" यह परिदृश्यमान जड़ चेतन जगत् सृष्टि के पूर्व काल में ब्रह्मरूप ही था अन्य कुछ नहीं था।" "यो ह वै श्री रामचन्द्रः स भगवान अद्वैतपरमानन्द स्वरूप परमात्मा है।" "आनन्दो ब्रह्म" ब्रह्म परमानन्दस्वरूप है ब्रह्म

णोऽपि सर्वतादात्म्यं भजमानः सर्वानतिशेत इति । इत्येवं तेषां चिदचित् परमेश्वराणां यानि स्वरूपाणि तानि अस्य प्रतिपाद्येतिल्यबन्तक्रिययाऽनुपदं वक्ष्यमाणया सह संबन्धः, ततश्चैताः श्रुतयश्चिदचित् परमेश्वराणां रूपाणि प्रतिपादयन्तीत्यर्थः । "भोक्तृभोग्यनियन्तृतया पृथगुपवर्ण्य" इति तत्र भोक्ता जीवः भोग्यश्च जडपदार्थः, नियन्ता परमेश्वरः । एतेषां स्वस्वरूपं पार्थक्येनोपवर्ण्येति पूर्वेणान्वयः । तथा अचिद्वस्तुनः पृथिवीगगनादेः स्वरूपेण पणिामो भवति, चित्पदार्थस्यापि ज्ञानस्य संकोचविकाशाभ्यां परिणामो जायते न तु स्वरूपतः पृथिव्यादिवदित्यपि वर्णयित्वा नियन्तुः परमेश्वरस्य जडचेतनवत् न स्वरूपपरिणामो न वा जीववत् ज्ञानसंकोचविकाशात्मको वा परिणामो जायते, अपि तु परमेश्वरः सर्वदा सर्वपरिणामरहित इत्याकारकपरिणामराहित्यं भवतीति प्रतिपाद्य प्रतिपादनं कृत्वा, योऽयं जडचेतनपदार्थः स च परमात्मनः शरीरलक्षण इत्यपि ज्ञापयित्वा, ततश्च ब्रह्म परमात्मा चेतनावेद ब्रह्मैव भवति" ब्रह्म परमात्मा को तत्त्वरूपसे जानता है वह ब्रह्म स्वरूप हो जाता है अर्थात साकेताधिपति के सारूप्य को प्राप्त कर जाता है । एवम् रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि" इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते योगीलोग जिस अनन्त (अन्तरहित प्रागभावप्रध्वंसाभावरहित) नित्यानन्द चिदात्मामें रमण करते हैं वही यह भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ब्रह्म शब्द के वाच्य हैं ।" इत्यादि पूर्व उदाहृत श्रुतिसमुदाय भगवान् श्रीरामचन्द्र परमात्मा का स्वरूप गुण विभूतियों का वर्णनपूर्वक भगवान् श्रीरामचन्द्र में हीं समन्वित होते है । अर्थात् तादृश भगवान् श्रीरामचन्द्र का ही प्रतिपादन करते हैं, और आत्मेत्येवोपासीत" आत्मा अर्थात् परमात्मा भगवान् श्रीरामचन्द्र ही उपासनीय हैं. इत्यादि उपासनाविधि का प्रतिपादन जो कियाा गया है, उससे भी यह सिद्ध होता है कि — सब वेदान्त भगवान् का ही प्रतिपादक है ।

चेतनपदार्थयोः स्वरूपभूत आत्मस्वरूपतया जडचेतनयोरन्तर्यामी परमात्मा इति प्रतिपादयन्ति ताः श्रुतयस्तथा परमात्मा अनवद्यः सकल हेय–प्रत्यनीकोऽनवधिककल्याणगुणको नित्यः त्रिकालेऽपि सर्वथा बाध-विवर्जितः सर्वदैकरूपेण ऽवस्थितो लीलामात्रेण संसारचक्रं परिभ्राम-यन् भक्तानुग्रहाय केवलं धृतशरीरो लोकप्रत्यक्षयोग्योऽपि भवतीति प्रतिपादयन्तीत्येताः श्रुतयोऽहर्निशमिति। एवं च सर्गस्य पूर्वकाले नाम रूपविभागायोग्यं यत् चिदचिद् वस्तु, तदेव शरीरं यस्य एतादृशः परमात्मा जडचेतनसकलप्रपञ्चस्याभिन्ननिमित्तोपादानकारणं भवति, न केवलं रूपतो भगवान् जगतः कारणमपि तु सूक्ष्मचिदचिद्भ्यां समन्वित एव कारणं भवति। तत्रापि न केवलं कुलालादिवत् कर्ता न वा कपाला-दिवदुपादानं किन्तु लूताकीटवत् स्वयमेव विशेषणांशं पुरस्कृत्योपादान कारणं पुरस्कृत्य च विशेष्यांशं च तत्वतया निमित्ते कर्ता कारको भवन्

इस प्रकरण का क्या तात्पर्य है ? इस बात को बतलाने के लिए वृत्तिकार कहते है –" अयमत्र निर्णय" इति, इस प्रकरण का यह निर्णय है कि–" पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा" यह जीवात्मा अपने से भिम्न उस आत्मा अर्थात परमात्मा को जान कर तथा वह परमात्मा सबका प्रेरयिता है, इस बात को जानकर "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" हे अर्जुन, परमात्मा भगवान् सबके हृदय में विराजमान होकर सबको प्रेरयिना होकर सबको प्रेरणा देनेवाले हैं, तथा" केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि" कोई एक देव विशेष जो मेरे हृदय में अव-स्थित है उनकी प्रेरणा से मैं कार्य करता हूँ, इत्यादि अनेक स्मृति, पुराण वचनों से भगवान् को सर्वनियन्ता को प्रेरयिता समझकर एवम् भोक्ता भोग्य प्रेरितारं च मत्वा" भोक्ता अर्थात् जीवात्मा भोग्य जड़ादिक पदार्थ को तथा प्रेरयिता परमात्मा को जानकर "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् नित्यत्वेन अभि-

कारणतां भजते। एतादृशं कारणमेवाभिन्ननिमित्तोपादानमिति कथ्यते। विज्ञाययिष्यति च श्रुतिं पुरतः कृत्वा प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादिति सूत्रे भगवानानन्द भाष्यकारोऽमुमेवार्थं तत्सूत्रीयभाष्ये तत एव द्रष्टव्यम्।"

एवं तदेव ब्रह्म यदा नामरूपविभाग्यं भवति स्थूलचिदचिद्वस्तु तदा कार्यमपि भवति अर्थात् एकमेव जगतः कारणमपि भवति तथा कार्यमपि भवति, एतावानेव विशेषो यत् सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं तदा तु कारणम्, यदा च स्थूल–चिदचिद्विशिष्टं भवति तदा कार्यम्, एवं च सविशेषणे हीति न्यायेन कारणत्वकार्यत्वधर्मौ विशेषणे भवतः, ब्रह्मणि तु वैशिष्ट्यमात्रेणोभावपि धर्मौ ब्रह्मसंबन्धिनौ भवत इत्यभिप्रायेण ब्रह्मण एव कारणत्वं कार्यत्वं चेति बोधायनसिद्धान्तः। एतादृशं च ब्रह्मणः स्वरूपं न कपोलकल्पितमेव, सामानाधिकरण्यद्वारा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" ऐतदात्म्यमिदं सर्वं(ग. ६।८।७)–मित्यादिश्रुतिभिरेव स्वयं प्रतिपादितत्वादाचार्यपरम्परासिद्धत्वाच्च। ये तु श्रुतिसिद्धान्तप्रतिकूलास्ते तु सर्वथा असन्त एवेति॥

मत जो आकाशादिकपदार्थ उन सबकी अपेक्षा से नित्य अर्थात् आकाशादिक पदार्थ जगत् में नित्यरूप से प्रसिद्ध हैं, परन्तु परमात्मा तो तदपेक्षया भी नित्य हैं, अर्थात् आकाशादिक में जो नित्यता है, सो आप्रलयान्तावस्थायित्वरूप चिरस्थेमलक्षण है, और परमात्मा में जो नित्यता है सो अनपेक्ष सार्वदिक नित्यता है, इसी नित्यता को अन्यलोग त्रिकालाबाध्यत्व कहते हैं और चेतनत्वेन अभिमत जो जीव उनका भी जो चेतन है, अर्थात् जीव की जो चेतना उसका संपादक जो है, तथा वह परमात्मा एक होकर सजातीयद्वितीयरहित होने से सहायक व्यक्त्यन्तरानपेक्ष होकर भी अनेको उपासकों का अनेक प्रकारक कमनीय वस्तु को जो बनाने वाले तथा देनेवाले हैं।" स कारणं करणाधिपाधिपः' परमात्मा संपूर्ण

अथ यदि जीवात्मनोर्भेदः स्वीक्रियते स्वरूपतः स्वभावेन च तदा एकस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति प्रतिज्ञा कथं संगता स्यात् यतो यदि मृत्तिका घटयोरभेदस्तदैव मृदो ज्ञाने जाते तदभिन्नो घटोऽपि विज्ञातो भवति, न तु सुवर्णे ज्ञाते मार्दो घटो विज्ञातो भवति, तथैव यदि जीवपरमात्मानौ परस्परमभिन्नौ कार्यकारणाभ्यां धर्मौ भवेतां तदैवैक विज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा समर्थिता भवेत् न तु जीवेश्वरयोर्भेदे इयं प्रतिज्ञा समर्थिता स्यादिति पूर्वपक्षिणामाशयमभिव्यञ्जयन्नाह वृत्तिकारः "न चैवं जीवपरयोरित्यादि" जीवपरयोर्जीवात्मपरमात्मनोर्यदि स्वरूपेण स्वभावेन च परस्परं भेदः समर्थितः "सर्वं खल्वित्यादि"-श्रुत्या तदा एकविज्ञानेन सर्वधिज्ञानप्रतिज्ञा या वेदान्ते विद्यते तस्याः समर्थनं कथं स्यात् न हि घटे विज्ञाते पटो विज्ञातो भवतीति पूर्वपक्षः। यथा जलदुग्धयोः स्वभावस्वरूपाभ्यां परस्परं विभिन्नयोरपि दुग्धपात्रपतितजलस्यदुग्धज्ञानेन ज्ञानं जातमेव भवति, तथैव प्रकृतेऽपि जगत् का कारण है, और करण जो चक्षुरादिक आम्यन्तर तथा बाह्यकरण दण्डादिक, उसका अधिप स्वामी जीव उसका भी अधिप पालयिता प्रेरयिता है, "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" जो पृथिवी के अभ्यन्तरमें रहता है। फिर भी पृथ्वी से अन्तर है जिसको पृथ्वी नहीं जान सकती है, जिस परमात्मा का पृथ्वी शरीर है, अर्थात पृथ्वी एक अवयव है।" य आत्मनि तिष्ठन्" यस्यात्मा शरीरम्" जो परमात्मा जीव में रहता, जिसका जीव शरीर है अर्थात् अवयव है। परमात्मा का अवयव है जड़ तथा चेतन, उसमें आकाशादिभेद से अनेक प्रकारका है, एवं नारकदेवमनुष्यादिभेद से जीव भी अनेक प्रकारके है, तथापि जीवत्वेन सकल जीव का एकरूप से संग्रह होता है तथा जड़त्वरूप से सकल जड़का संग्रह होता है। और ईश्वरत्वरूप से दोनों जड़ जीव का एकरूप से संग्रह होता है। यही विशिष्टाद्वैतवाद का स्तम्भ है।

कथं न स्यात् किं च नात्यन्तिको भेदो जीवपरयोः परस्परं कार्यकारण भावस्यापि स्वीकारोऽस्त्वित्याशयेन पूर्वपक्षस्य समाधानं कुर्वन्नाह वृत्तिकारः 'जीवेऽवस्थान्तरापत्तिरि'–त्यादि जीवस्य परिणामित्वेन पूर्वदोषस्याभा-वात्, तथाहि–जीव एकां देवाद्यवस्थां परित्यज्य कर्मवशान्मनुष्याद्यवस्थां भजमानः प्राप्नोत्येव परिणामं परिणामवत्त्वात्, तथा ब्रह्मणः कार्यत्वाच्च यथा मृत्तिकायाः कार्यं घटादि, तथैव परमेश्वरकार्यं च जीवराशिरपीति स्वीकारेण सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः समर्थनसंभवात्। यद्यपि सर्वज्ञत्वा-ल्पज्ञत्वधर्माभ्यां परजीवयोर्भेदोऽपि चेतनावत्त्वधर्मेण तदुभयोरेकत्व-स्यापि संभवात्। तथा जीवो न सर्वथा स्वतन्त्रोऽपि परमेश्वराधीनत्वेन तत्कार्योऽपि ॥

न चैवं यदि जीवस्य परमेश्वरकार्यत्वं मन्येत, तदा जीवो विनश्यति भावकार्यत्वादित्याद्यनुमानेन तस्य जीवस्य विनाशित्वं स्यात्, ततो बन्ध

इत्यादिश्रुतय" इत्यादि वृत्तिः" पृथगात्मानं प्रेरितारं च" यहाँ से लेकर" य आत्मनि तिष्ठन्" एतत्पर्यन्त श्रुति तथा स्मृतिपुराणादि वाक्य-समुदाय चित् जीवात्मा' अचित् जड़राशि, वह भी सूक्ष्म स्थूल भेद से दो प्रकारका है। इनका तथा ईश्वर सर्वनियन्ता का जो स्वरूप है उन सब का प्रतिपादन करते हैं। भोक्ता जीव भोग्य जडराशि और परमेश्वर के पृथक् पृदक् रूपसे उपवर्ण्य प्रतिपादन करके अचिद्वस्तु जड़ का स्वरूपतः परिणाम होता है। चिद्वस्तु का परिणाम स्वरूपतः नहीं होता है, किन्तु ज्ञान का संकोचविकाशरूप परिणाम होता है, अर्थात् जीव स्वरूपतः परिणामी नहीं है, किन्तु जब कीटपतंगादियोनि को प्राप्त करता है तब ज्ञानमात्र अल्प होता है। और जब मनुष्यदेवादियोनि को प्राप्त करता है, तब उसकी ज्ञान मात्रा अधिक होती है। उस रूप से ज्ञान संकोच और विकाश को प्राप्त करता हुआ परिणत होता है, और सर्वनियन्ता जो परमेश्वर सो उभय

मोक्षव्यवस्था कथमुपपादिता स्यात् कथं वा मनुष्यादिदेहकृतसुकृतदुष्कृतयोः फलं शरीरान्तरे भोक्ष्यते जन्यत्वेन विनाशित्वादित्याक्षेपकस्याशयं हृदि समाधाय समाधत्ते वृत्तिकारः इयांस्तु विशेष इत्यादि संभवेत् त्वदीय आक्षेपो यदि जडवत् जीवस्यापि परिणामः स्वीक्रियेत, परन्तु यथा जडपदार्थः स्वरूपेण परिणतो भवति पूर्वावस्थां परित्यज्योत्तरामवस्थां भजमानः, किन्तु जीवे ज्ञानस्य संकोचविकाशात्मक एव परिणामो भवति। यथा गृहे वर्तमानस्य प्रदीपस्य प्रभा गृहव्यापिनी भवति, घटमध्यस्थितस्य प्रदीपस्य प्रभा तु घटमात्रव्यापिनी भवति, तदत्र प्रदीपेन भवति विलक्षणता, एवं जीवोऽपि यदा कीटपतङ्गादिशरीरमधितिष्ठति, तदा तदीयं ज्ञानं स्वल्पमिवाभाति, यदा च स एव मनुष्यदेवादिशरीरमाश्रित्यावतिष्ठते तदा तदीयं प्रतिबन्धकरहितं सत् अति-

प्रकारकपरिणामरहित है, उसका प्रतिपादन कर और चित् अचित् यह दोनों पदार्थ ब्रह्म परमात्मा का शरीर अर्थात् अवयव है। कार्य तदा कारण में तादात्म्य होता है, उस नियम से ब्रह्म को चिदचिदात्मक होने से चिदचित् का परमेश्वर अन्तर्यामी हैं एवं ब्रह्मस्वरूप नित्य है, सर्वदोषरहित है, उन सब वस्तु को पूर्वोक्त श्रुतिजाल प्रतिपदन करता है। ऐसा ब्रह्म ही कारण हैं, और कार्य भी है। सृष्टि के पूर्व काल में नामरूपविभागरहित सूक्ष्मचिदचिच्शरीरक जो ब्रह्म वह संपूर्ण जगत् का कारण है। और तव वही ब्रह्म नामरूपविभागयोग्य जो स्थूलचित् पदार्थ, उस से युक्त जो ब्रह्म है। सो कार्यपरिभाषा को प्राप्त करता हैं। यद्यपि एक ही पदार्थ कार्य होगा तथा कारण होता है, यह तो अनुभवविरुद्ध तथा युक्तिसंगत नहीं होता है, क्योंकि अव्यवहितपूर्वकालवृत्ति को कारण कहते हैं, और अव्यवहितोत्तरकाल वृत्ति को कार्य कहते हैं, तो एक ही पदार्थ तत्पूर्वकालावच्छिन्न होगा तथा तदनवच्छिन्न होगा सो असंभवित है, तथापि यद्रूपविशिष्ट ब्रह्म में कारणता है तद्रूपविशिष्ट में कार्यता नहीं है, कार्यतावच्छेदक तथा कारण

विस्तीर्णमिव भवति। एवं क्रमेण जीवीयज्ञानस्य संकोचविकाशमात्रं भवति. इति जीवधर्मस्य ज्ञानस्य संकोचविकाशलक्षणपरिणामेन ज्ञान धर्मिणो जीवस्यापि कथंचित् जायमान इव भवति न तु सर्वथा स्वरूपान्तरापत्तिलक्षणपरिणामो भवति जीवस्य। यथा घटावच्छिन्नस्य नभसो घटविनाशे विनाशो घटस्योत्पादे चोत्पाद इति व्यवहारो भवति न तावता आकाशस्योत्पादो न वा विनाशस्तथैव प्रकृते जीवधर्मस्य ज्ञानस्यैव संकोचविकाशौ भवतो न तु जीवस्य परिणामो भवति। अन्यथा जीवस्य स्वरूपान्यथाभावलक्षणपरिणामस्वीकारे "अजो नित्यः शास्वतः" इत्यादिवाक्यानां का गतिः स्यादिति। एतदेव दर्शयति श्रुतिमुदाहरन्सूत्तिकारः "न जायते म्रियते" इत्यादि, अयं विपश्चित्

तावच्छेदक धर्म के भिन्न होने से एक में कार्यकारणभाव होता है। जैसेः- सर्पः स्वात्मना स्वात्मानं वेष्टयति" सर्प अपने से अपने को वेष्टित कर लेता है" यहाँ वेष्टन क्रिया के प्रति वही सर्प कर्ता भी है, और करण भी है, कर्म भी होता है तो कर्तृत्वकरणत्वकर्मत्वप्रयोजक धर्म भिन्न रहता है। इसी प्रकार से यद्रूपविशिष्ट ब्रह्म में कारणता है, तद्रूपविशि में कार्यता नहीं है, किन्तु सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट में कारणता है, और स्थूलविशिष्ट में कार्यता है तो कार्यतावच्छेदक कारणतावच्छेदक धर्म को भिन्न होने से एक में भी कार्यकारणभाव होता है। जैसे एक ही द्रव्यता जाति सत्ता की अपेक्षा से अपर है और पृथिवीत्वादिकी अपेक्षा से पर है, उसीप्रकार से वही ब्रह्म जब सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट होता है तब कारणशब्द से व्यवह्रियमाण होता है सृष्टि के पूर्वकाल में, तथा सर्ग-काल में स्थूलचिदचिद्विशिष्ट होकर कार्य कहलाता है तो इस प्रकार से एक ही ब्रह्म कार्य भी कारण भी कहलाता है।, जैसे एक ही व्यक्ति अध्यापनक्रियाकाल में अध्यापकपदबोध्य होता है। तद्वत् प्रकृत में भी समझना चाहिये। परंतु इतना समझना चाहिए कि—"सविशेषणेन" इसन्याय से कार्यत्व कारणत्व स्थूल सूक्ष्म विशेषणांश

ज्ञानवान्, न जायते घटादिजडवस्तुवत् कदाचिदपि कारकव्यापारेण समुत्पद्यमानो न भवति, यथा घटो दण्डचक्रकुलालादिकारकसमुदायेन न जायते, तथाऽयं जीवोऽपि नोत्पादकसमवायिकारणादेरभावात् समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणैः कार्याणि जायमानानि भवन्तीति नियमः, परन्तु प्रकृते समानजातीयस्य कस्य चिज्जीवसमवायिकारणस्यानिर्वचनात् नोत्पाद्यते जीव इति। ननु अजायमानोऽपि प्रागभावो यथा घटे जाते विनष्टो भवति, तथाऽजायमानो जीवः कुतश्चित् कारणवशात्कदाचिद्विनष्टो भविष्यति। न चेष्टापत्तिः, जीवस्य विनाशित्वे में ही है विशेष्यांश में नहीं है, क्योंकि ब्रह्म एक है तथापि उभयसंन्घित होने के कारण से विशेष्यांश में भी कार्यत्वकारणत्व का उपचारमात्र ही होता है।

"एतादृक्स्वरूपमित्यादिवृत्तिः" एतादृशविलक्षण ब्रह्म के स्वरूप को सामानाधिकरण्यद्वारा सर्वं खल्विदं ब्रह्म" ये परिदृश्यमान सब पदार्थ ब्रह्मस्वरूप हैं, इत्यादि श्रुतिके द्वारा प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् अर्थ कुछ कपोलकल्पित नहीं है किन्तु श्रुतिप्रतिपादित है॥

प्रश्न-यदि जीव और परमेश्वर स्वरूप तथा स्वभाव से यदि अत्यन्त भिन्न है तथा नित्य है, तब तो वेदान्त में प्रसिद्ध जो एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा हैं उसका उपपादन किस प्रकार से होगा। अर्थात् यदि जीव ब्रह्मस्वरूप होता तब ब्रह्मविज्ञान से ब्रह्माभिन्न जीव भी ज्ञात होता। जैसे मृत्तिका के ज्ञान होने से मृदभिन्न घट का ज्ञान होता है। यहाँ तो आपने ब्रह्म जीव में भेद मान लिया, तब ब्रह्मविज्ञान से ब्रह्मभिन्न जीव का तो ज्ञान नहीं होगा, और एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतीज्ञा समर्थितो नहीं होगी। क्या घट के विज्ञान से घटभिन्नपदार्थ विज्ञात होता है? समाधान—यद्यपि स्वरूप तथा स्वभाव से जीवेश्वरमें भेद प्रतिभासित होता है, तथापि जीव परिणामी है, इसमें अवस्थान्तर को प्राप्त करने का स्वभाव

मोक्षाभावप्रसङ्गात् इत्थं च पूर्वयुक्त्या जीवस्य विनाशित्वेनेष्टसिद्धि-रित्याशङ्कां निवारयितुं श्रुतिराह "न म्रियते" अथं विपश्चिज्जीवः प्राग-भाववद्धटवद्वा विनाशात्मकमरणक्रियामपि नानुभवति, तथात्वे जन्मा-न्तरानुभूतवस्तुनः स्मरणादीनां व्यक्तिविशेषे दर्शनेन तदनुपपत्तिप्रसङ्गात् एवं गीतादिवचनान्यपि जीवस्य नित्यताप्रतिपादकानि। एवं सूत्रका-रोऽपि जीवस्य नित्यतामेव प्रतिपादयति। अतो जीवस्थ स्वरूपेऽन्यथा-भावो न भवति केवलं जीवधर्मज्ञानस्य संकोचविकाशावेव भवतः। अतो न कोऽपि श्रुतिविरोधो न वाऽनुभवतर्कादिविरोधो वा भवतीति। संप्रति प्रकरणार्थमुपसंहरन्नाह वृत्तिकारः—"इत्थं च परस्ये"—त्यादि, इत्थं च यथोक्तप्रकारेण परस्परनिखिलचेतनाचेतनजगदुपादानस्य सर्वशक्तिमतः सर्वेश्वरस्य हेयप्रत्यनीकनित्यनिरतिशयाप्राकृतगुणगणाकरस्थ भगवतः

है, और वह जोव में परिणाम हैं, सो परमकारण से उत्पन्न होता है तो तादृशपरिणामविशिष्ट जोव भो ब्रह्म का कार्य कहलाता है। अतः कारण जो ब्रह्म है, उसके ज्ञान होने पर कार्यरूप जो जीव है उसका भो ज्ञान हो जाने से एक विज्ञान से सव विज्ञान को प्रतिज्ञा का बाधरूप दोष नहीं होता है। यदि इस प्रकार से जीव को जन्म होने से अनित्यत्व होता है, तो स्वर्ग मोक्षादि व्यवस्था का बाध होता है, और कोई भी दार्शनिक विचार वाले व्यक्ति जोव को अनित्य नहीं नानते हैं।" एवं श्रुति तथा सूत्र में जीव की उत्पत्ति का निराकरण किया है, सो ता जीव को जन्य-मानने से वह व्यवस्था अस्तव्यस्त हो जायेगी। इस शंका का निराकरण करने के लिए वृत्तिकार कहते हैं कि– इयांस्तु विशेष इत्यादि। जोव को जन्यता मे इतनी विशेषता है कि - जिस प्रकार जड पदार्थ स्वरूप से परिणाम को प्राप्त करता है, अर्थात् पूर्व जो आकार उसको सर्वथा परित्याग कर- अभूतपूर्व अपर आकार को प्राप्त कर जाता है किन्तु जीव में एतादृशस्वरूपपरिणाम नहीं होता है, अर्थात् धर्मी के अंश में परिणाम नहीं

श्रीरामचन्द्रस्य ब्रह्मणः स्वरूपं स्वरूपविभूतिलीलादिकम् तथा तादृशस्य भगवतः प्राप्तेरुपायं भक्तिप्रपत्त्यादिकम् अभिदधत् प्रतिपादयत् वेदान्तशास्त्रं तस्मिन् सकलतन्त्रस्वतन्त्रे सर्वात्मनि श्रीराम एव कल्प्येत संपूर्णरूपेण समन्वेति समन्वयं प्राप्नोति। तदेव वेदान्तशास्त्रस्य शास्त्रत्वं यत् श्रीमति भगवति श्रीरामे समन्वयं प्राप्नोतीति संक्षेपः ॥

इति समन्वयाधिकरणम् ।

इति जगद्गुरु–श्रीरामानन्दाचार्य– रामप्रपन्नाचार्य–योगीन्द्रकृतस्य श्रीरघुवरीय–वृत्तिविवरणस्य चतुर्थंसमन्वयाधिकरणम् ॥ ४ ॥

इति चतुर्थसूत्रवृत्तेर्विवरणम्

होता है, किन्तु जीव का जो धर्म है ज्ञान तदंश में फेरफार हो जाता है जब वह जीव जघन्य योनि को प्राप्त करता है, तब उस का ज्ञान संकुचित हो जाता, और वही जब देव-मनुष्यादि–शरीर को प्राप्त करता है तब उसमें ज्ञान का विकाश हो जाता है। इसलिए वृत्तिकार ने कहा है – अचेतन के समान जीव में स्वरूप-परिणाम नहीं होता है अपितु ज्ञान के संकोच-विकाश रूप अन्यथाभावलक्षण परिणाम होता है जो कि–धर्मस्थित परिणाम है न तु धर्मी जीवका परिणाम है। अतएव "न जायते म्रियते वा" इत्यादि–श्रुति जीव के स्वरूप के अन्यथाभावलक्षणपरिणामात्मक उत्पत्ति का निवारण करती है, न तु धर्मांश में होनेवाला संकोचविकाशलक्षणपरिणाम का निराकरण करती है। एतावता ही जीव में नित्यता का समर्थन होता है। इस प्रकार से परब्रह्म के स्वरूप को तथा ब्रह्मप्राप्ति के उपाय का प्रतिपादन करता हुआ शास्त्र संपूर्णरूप से ब्रह्म में ही समन्वित होता है, अर्थात् यह शास्त्र ब्रह्मका प्रतिपादक है, यह सिद्ध हुआ ॥ ४ ॥ इति समन्वयाधिकरणम्। समाप्ता च चतुःसूत्री ॥४॥

॥ अथेक्षत्यधिकरणं पञ्चमम् ॥

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥१।१।५॥

(रघुवरीय-वृत्तिः)

अनया च ब्रह्ममीमांसया समन्वयाविरोधसाधनफलाख्यैश्चतुर्भिरध्यायैः परमपुरुषार्थावाप्तयेऽखिलहेयप्रत्यनीकानन्त-कल्याणगुणाकरस्य प्राप्यस्य ब्रह्मणः श्रीरामस्य स्वरूपं मोक्षो-पायो मोक्षाख्यं फलञ्चाभिधीयते (तत्र चतुःसूत्र्या वेदान्तशास्त्रानारम्भयत्वशङ्कामपाकृत्य ब्रह्मणो जिज्ञा-

---

योगिनः परमानन्दबोधलक्षणलक्षितम् ।
यमाश्लिष्यन्ति सर्वज्ञं तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥१॥
विहाय कार्यताबोधं सिद्धे ब्रह्मणि मानना ।
पुरुषार्थस्वरूपे च वेदान्तानां प्रसाधिता ॥२॥

"अथातो ब्रह्म जिज्ञासे" ति प्रथमसूत्रेण ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय, "जन्माद्यस्य यत" इति सूत्रेण प्रतिज्ञातब्रह्मणो लक्षणाशङ्कां निराकृत्य;

सारबोधिनी— सर्व प्रथम ब्रह्मजिज्ञासा का कथन कर चतुर्थ सूत्र से सब वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म में ही समन्वय का प्रतिपादन करते हुए चतुः सूत्री के प्रतिपादन द्वारा सब वस्तु को बतलाया । जो कुछ भी पदार्थ यहाँ प्रतिपादित हुआ है, उसी वस्तु को प्रमाण तथा सद्युक्ति के द्वारा विस्तार पूर्वक चार अध्यायवाला प्रकृत इस शास्त्र में प्रतिपादन करेंगे । प्रतिपादनीय पदार्थ का लक्षण प्रमाण का प्रतिपादन प्रथमतः होना चाहिये तथा परमत का निराकरण भी होना चाहिये, अन्यथा जबतक परमत का निराकरण नहीं हो जाता है, तबतक स्वाभिमतप्रस्तुत की सिद्धि नहीं होगी । अतः प्रतिपादनीय विषय के विचार से पहिले परमतका निराकरण करने के लिए यहाँ समन्वय--विरोध का परिहार—साधक प्रमाण और फल की एक एक अध्याय करेंगे, उसमें प्राथमिक समन्वयाध्याय में चार पाद से समस्त वेदान्त को चिद-

सनलक्षणे तत्र प्रमाणं तत्रैव च समेषां वेदान्तानां समन्वय इति दर्शितम्। इदानीमवशिष्टेनादिमपादेन जगत्कारणत्वं ब्रह्मण एव सम्भवति न त्वन्यस्येति विचार्यते। तत्रानेनेक्षत्यधिकरणेन सांख्याभिमतप्रधानस्य जगत्कारणत्वं न सम्भवतीत्येतदुच्यते। अत्र "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' तदैक्षत बहु स्याम्प्रजायेय" (छा० ६।२।१।३) इत्यादिकारणवाक्ये सत्पदवाच्यं प्रधानं भवितुमर्हति नवेति संशयः।

तृतीयसूत्रेण "शास्त्रयोनित्वादि"-त्यनेन तस्मिन् ब्रह्मणि शास्त्रप्रमाणकत्वमभिधाय, "तत्तु समन्वयादि"-त्यन्तसूत्रसमुदाये सर्वज्ञसर्वशक्तिमति जगदुत्पत्तिस्थितिनाशकारणे ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयोऽपि प्रदर्शितः। तत्र परमार्थतो ब्रह्मणि जगत्कारणता प्रदर्शिता। ननु ब्रह्मण्येव कारणता प्रदर्शिता, तादृशकारणता तु तदन्यस्मिन्नपि संभवति। तत्र सन्देहो जायते यत् जगतः स्थावरजङ्गमस्य कारणता चेतनेऽचेतने वा? तत्र चिच्छरारक ब्रह्मस्वरूप के प्रतिपादन में तात्पर्यहै, यह कहेंगे तथा स्पष्ट ब्रह्मस्वरूप के प्रतिपादन में तात्पर्य है, यह कहेंगे तथा स्पष्ट ब्रह्मलिंगक वाक्यों का विचार कर जगत् का कारण रूर से सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्वरूप से सगुण ब्रह्म ही वेदान्तवेद्य है इस बात को व्यवस्थित करेंगे उसी सगुण ब्रह्म का लक्षण तथा प्रमाणादि के द्वारा विवेचन पूर्वक समर्थन किया गया है। प्रकृतमें जगत्कारणत्व जो ब्रह्म का लक्षण किया गया है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि-जगत् का कारणरूपता तो प्रधान परमाण्वादिक में भी संभावित है? एतादृश पूर्व पक्ष का खण्डन करने के लिए पंचम सूत्र का उपक्रम वृत्तिकार करते हैं- "अनया च ब्रह्ममीमांसया" इत्यादि, इस ब्रह्ममीमांसा ब्रह्मविचारशास्त्र से समन्वयाध्याय अविरोधाध्याय साधनाध्याय और फलाध्यायनामक चार अध्यायों से परमपुरुषार्थलक्षणफल को प्राप्ति के लिए अखिलः समस्त जो हेय गुण उसका विरोधि जो अनन्त कल्याण गुण अर्थात् संख्यातीतगुणनिकर का आकर समुद्र स्वरूप जो कि स्वभावतः प्रत्येक प्राणियों से प्राप्त-

तत्र त्रिगुणत्वेन परिणामित्वेन च प्रधानस्यैव जगत्कारणत्वं न त्व परिणामिनो ब्रह्मण इत्यत्र वाक्ये सत्पदवाच्यं प्रधानमेवेति पूर्वः पक्षः। अत्राभिधीयते—एतच्छ्रुतिवाक्यं न प्रधानमभिधत्ते। यतस्तत्र सङ्कल्पार्थकस्येक्षति-पदस्य श्रवणात्। सङ्कल्पश्च चेतनस्य धर्मो न तु जडस्य प्रधानस्येति ॥५॥

विशेषकारणस्याभावे वादिनां विप्रतिपत्तेः सन्देहो जायते। तत्र प्रधानस्याचेतनस्यानुमानसिद्धस्यैव जगदुपादानकारणतां समर्पयन्ति वेदान्ता इति सांख्याः। तत्र जीवव्यतिरिक्तपरमेश्वरात्मकचेतनेनाधिष्ठिताः पृथिवीजलतेजोवायवीयाः परमाणवो जगदुपादानमिति काणादाः। अभाव एव निखिलजगदुपादानकारणमिति बौद्धाः। स्वभाव एव सर्वस्योपादानमिति स्वभाववादिनः। काल एव सर्वोपादानमिति कालवादिनः। अनिर्वचनीयानाद्यविद्यया शक्तिमच्चेतनं जगदुपादानमिति केचन।

च्य है, एतादृश पर ब्रह्म भगवान् श्री रामजी का स्वरूप—मोक्ष, मोक्ष का उपाय तथा मोक्षाख्य फल का भी कथन करेंगे। उसमें सबसे पहिले चतुःसूत्रों से वेदान्तशास्त्र की अनारम्भ्यत्व की जो शंका, उस शंका का निराकरण करके ब्रह्मकी जिज्ञासा ब्रह्मका जगदुपादानादिलक्षणकारणत्व ब्रह्म में प्रमाण और संपूर्णवेदान्तवाक्यों का ब्रह्ममें ही समन्वय होता है, इन सब बातों को बतलाया गया है। अवशिष्ट प्रथम पाद से ब्रह्म में जगत्करणत्व हो सकता है, अथवा नहीं हो सकता है, इत्यादिरूप से विचार किया जाता है। अर्थात् अवशिष्ट प्रथम पाद से जगत् जो स्थावरजंगमात्मक है, तादृश जगत्कार्य के प्रति कारणता जोकि अभिन्नोपादानता लक्षण है तादृश कारणता तो ब्रह्म में ही है, न तु प्रधानादिक में जो कोई भी जगत्कारणता प्रधान में मानते हैं, सो भी तो तादृशकारणतापरिणाम्युपादनता मात्र मानते हैं, और जो जीव को कारण मानते हैं, वे भी केवल निमित्त

सगुणं ब्रह्म श्रीसीताधिपतिरेव स्थावरजङ्गमात्मकजगत उपादानकारणमिति वेदान्तरहस्यवेदिनो श्रीबोधायन-रामानन्दीयमतावलम्बिनः। तदेवमनेकप्रकारकविप्रत्तिपत्त्या संशये सति तत्र न ब्रह्मणि नोपादानता संभवति ज्ञानक्रियाशक्तिरहितत्वात्, तथा ब्रह्मणोऽपरिणामित्वादेकरूपवत्त्वाच्च त्रिगुणात्मके परिणामिनि प्रधाने तादृशशक्तेः संभवात्। यद्यपि साम्यावस्थायां प्रधानेऽपि ज्ञानक्रियादयो न भवन्ति तथापि अव्यक्तेन शक्त्यात्मना संभवत्येव तत्। तथा च प्रधानमेव सांख्यैरनुमानकल्पितं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितं च न तु ब्रह्म, यद्यपि ब्रह्मणि स्वरूपचैतन्यं भवति, तथापि तत्स्वरूपचैतन्यं जीववदनुपयोग्येव। न च स्वरूपचैतन्ये कर्तृत्वं, तस्याकार्यत्वात् कार्यत्वे तु सर्वदा न सर्वज्ञता, कार्यत्वस्याकस्मिकत्वात्। भोगापवर्गलक्षणपुरुषार्थद्वयप्रयुक्तानादिप्रधानपुरुषसंयोगनिमित्तमहदहंकारादिक्रमेण चेतनस्यापि चेतनेनानधिष्ठितस्यापि प्रधा-

कारणता की ही शंका करते हैं; किन्तु अभिन्ननिमित्तोपादानता तो नहीं है, अचेतन तथा अल्पज्ञ होने से इन सब बातों का विचार होता है। उसमें भी इस ईक्षत्यधिकरण से प्रधान को जो कि—सांख्यमतकल्पित सत्त्वरजस्तमोलक्षण गुण का केवल साम्यावस्थारूप है। तादृशप्रधान को जगद्रूप कार्य के प्रति कारणता नहीं हो सकती है. इस बात का विचार करते हैं। यहाँ "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति" हे सोम्य श्वेतकेतु! यह परिदृश्यमान सूक्ष्म स्थूल स्थावर जंङ्गम जगत् सृष्टि के पूर्व में सजातीय द्वितीयरहित एक अद्वितीय सत्स्वरूप परमात्मा तादात्म्यापन्न था। जैसे फलितपुष्पितवृक्षनिकर अभिव्यक्ति अवस्था के पूर्वकाल में बीज के साथ ही तादात्म्यापन्न रहता है, बीज से भिन्न रूप में नहीं देखने में आता है, तद्वत्—उस सदात्मककारण ने जो कि चेतनातिरिक्त नहीं है उसने ईक्षणात्मक संकल्प किया कि—एक मैं अनेक रूप से अभिव्यक्त होऊं। यह जो जगत् के प्रति कारणताबोधक वाक्य है उस

नस्य प्रतिक्षणपरिणामिनः प्रधानस्य संभवत्येव परिणामरूपः सर्गः। अचेतनमपि वस्तु चेतनेनानधिष्ठितमपि पुरुषार्थसंपादनाय प्रवर्तमानं भवतीति दृश्यते, यथा वत्सविवृद्ध्यर्थमचेतनमपि क्षीरादिकं प्रवर्तते। तथा "तदैक्षत बहु स्यामि"-त्याद्यागमोऽपि अचेतनेऽपि चेतनवदुपचारात् स्वकार्योन्मुखतामादर्शयति। तथा "ता आप ऐक्षन्त तत्तेज ऐक्षत" इत्यादि वचनमप्यौपचारिकमेव। "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" इत्यत्रापि जीवात्मत्वं जीवार्थकारितया प्रधानस्य सांख्यपरिकल्पितस्यैव कथनं करोति। एवं 'तत्वमसी'-त्यागमोऽप्यौपचारिक उपासनापरको वा। एवं स्वमपीतो भवतीति श्रुतिरपि जीवस्य स्वकीये प्रधाने सुषुप्तावस्थायामप्ययं दर्शयति, यतः प्रधानावयवतमोगुणस्योदये जीवो निद्राणस्तमसीव निमग्नो भवति, तदुक्तम्—"अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रे"-ति। एवं सर्वज्ञं प्रक्रम्य श्वेताश्वतरमन्त्रेऽपि "स कारणं करणाधिपाधिपः" इत्या-

वाक्य में सद्वाच्य ब्रह्म नहीं है, किन्तु प्रधान ही सत्पदवाच्य है, एतादृश सन्देह वादिप्रतिपत्ति के द्वारा उपस्थित होता है! अर्थात् प्रकृत ब्रह्म में कारगता बोधक है?, अथवा सांख्याभिमत प्रधान में कारणता का बोधक है?।

एतादृश शंशय में पूर्वपक्ष होता है कि—प्रधान त्रिगुग है, तथा परिणामी है, इसलिये प्रधान को ही जगत् के प्रति कारणता है, न तु स्वरूपतः परिणामरहित ब्रह्म में कारणता है। अतः कारणवाक्यघटकसत्पद का वाच्य प्रधान ही है यह पूर्वपक्ष होता है। यहाँ पूर्वपक्ष का अभिप्राय यह होता है कि—स्वतन्त्र रूपसे सांख्यशास्त्र में प्रतिपादितगुणत्रययुक्तप्रधान में ही जगत्कारणत्व युक्त है, किन्तु ब्रह्म में नहीं। क्योंकि ब्रह्म तो किसी भी जन्य धर्म का आश्रय नहीं होने से अपरिणामी है। प्रधान तो अचेतन है, परिणामी नित्य है, और एक है। "सदेव सौम्येदमग्र" इस श्रौतकारणवाक्य में इदम् पद से प्रसिद्ध अचेतन त्रिगुणात्मक कार्यसमुदाय का निर्देश कर उसी को स्थूलअवस्थारहित को सद्रूपत्व का प्रतिपादन किया गया है सदासीत् पद

दिकः प्रधानाभिप्राय एव। प्रधानस्य पूर्वयुक्त्या सर्वज्ञत्वं सर्वज्ञानवत्त्वरूपं प्रतिपादितम्। तस्मादचेतनं प्रधानमेव सर्वजगत उपादानम्, न तु परमाणवोऽभावादि न वा चेतनं ब्रह्म, तस्य गुणक्रियादिधर्मैः स्वरूपेण वाऽपरिणामित्वादित्यादिपूर्वपक्षं मनसि निधाय तदपाकरणाय वैयासिकि-पश्चमसूत्रमवतारयति। 'ईक्षतेर्नाशब्दमिति। अशब्दमर्थात् अनुमानोपनीतं सांख्यैः प्रकल्पितं स्वकीयपरिभाषया परिभाषितं सत्त्वरजस्तमसां साम्या-वस्थात्मकं प्रधानं न जगतः स्थावरजङ्गमात्मकस्योपादानकारणम् कुतः? ईक्षतेः 'तदैक्षते'-ति श्रुतौ ईक्षति -धातोः श्रवणात् अर्थात् स एव जगतः कारणं यस्मिन् ईक्षतिः संकल्पो विद्यते स च संकल्पवान् भगवान् सर्वेश्वर श्रीसाकेताधिपतिरेव स एव कारणं न तु प्रधानं कारणं यतः स चेतन-स्तस्मिन् ईक्षणात्मकसंभवात् प्रधानस्य तु चेतनाराहित्येन तदसंभवात्। अर्थात् 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत् तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'—इत्यादि से और उस एक कारणरूप प्रधान के विज्ञान से प्रधान का कार्यरूप समस्त जगत् का विज्ञान होता है, यह जो आगे कहा जाएगा, उसका भी सामञ्जस्य घटता है। अत एव अन्यत्र अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजा-जनयन्तीं सरूपाः" इत्यादि रूप से स्पष्ट ही प्रधान को ही जगत् का उपादान कारणता का प्रतिपादन किया है। उस में सत्वगुण के अंश से शुक्ल सुखमय प्रजा, रजोंश से लोहित प्रजा, और तमोगुणांश से कृष्ण प्रजा को पैदा करती है, यह अर्थ होता है श्वेताश्वतरीयवाक्य का। प्रकृतिशब्दवाच्य वह प्रधान सर्ग के प्रारंभ काल में महदहंकारादिक्रम से परिणत होता है, उसी को चतुर्विंशतितत्त्वात्मक कहते हैं। ईश्वरकृष्ण ने भी कहा है "मूलप्रकृति-रविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त षोडकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।" प्रधान को जगत्—कारणता मानने पर रजोगुण तथा सत्त्व गुण के योग से क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति भी होती है। क्योंकि—ज्ञान जो है, सो सत्त्व गुण का धर्म है। "सत्वात्संजायते ज्ञानम्" सत्त्वगुण से

सृष्टिवाक्येषु जगत्कर्तृकृतस्येक्षणस्य संकल्पापरनामकस्य श्रवणेन चेतनात्मककर्तृकत्वमेवेक्षणस्यानुभवसिद्धत्वेन चेतनलक्षणस्य ब्रह्मण एव जगदुत्पत्त्यादिकं प्रति कारणत्वं स्थितं भवति न त्वचेतनस्य प्रधानस्य जगत्प्रति कारणत्वं स्वातन्त्र्येण भवति परमपुरुषपराधीनतया तु तस्य प्रधानस्य सहकारिकारणत्वं भवत्येव। तदधीनत्वादर्थवदिति "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतदि"—त्यादिसूत्रश्रुतिस्थानन्दभाष्यानुसरणात् प्रधानस्य चेतनभिन्नस्य कारणत्वं भवत्येवेति सूत्रार्थः ॥

तदेतत्सर्वं संक्षेपविस्तरमावेदयितुं वृत्तिकार उपक्रमते "अनया च ब्रह्ममीमांसया" इत्यादि इदं च ब्रह्मविचारशास्त्रं निरतिशयसुखलक्षणफलोपदेशकत्वेन शास्त्रपदप्रतिपाद्यं भवति॥ शास्त्रत्वं हितशासनादिति। तदेव शास्त्रं समन्वयाविरोधसाधनफलाख्येनाध्यायचतुष्टयेन विभक्तम्। तत्र प्रथमेऽध्याये चत्वारः पादाः एवं, द्वितीये तृतीये चतुर्थेऽपि, तत्र प्रथमे पुनः सर्ववेदान्तवाक्यानां स्पष्टास्पष्टब्रह्मलिङ्गकानां चेतने परमकारणे समन्वयो दर्शितः। द्वितीयेऽध्याये मतान्तरविरोधः परिहृतो भविष्यति। तृतीये तु प्राप्यस्य साकेताधिपतेः प्राप्तिमार्गः प्रतिपादयिष्यते, चतुर्थे

ज्ञान समुत्पन्न होता है, ऐसा भगवान् का वाक्य है। "सत्त्वाद्रजस्तमसी-अभिभूय प्रवृद्धसत्वगुणाज्ज्ञानेन्द्रियेषु विशदं ज्ञानं सञ्जायते" (रजोगुण तथा तमोगुण को दबाकर प्रवृद्ध सत्व गुण से ज्ञानेन्द्रियोंमें विशद ज्ञान उत्पन्न होता है) इस गीतावाक्य की अर्थचन्द्रिकानामक विशदार्थगर्भक-टीका में महामहोपाध्यायजगद्विजयी जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरघुवराचार्यने उक्त विवरण लिखा है, विस्तारपूर्वक वहीं द्रष्टव्य है। यह जो सत्त्व गुण है प्रधानावस्थामें भी वर्तमान है, इसलिए अचेतन भी प्रधान को सर्व सत्त्वसर्वशक्तिमत्त्व उत्पन्न होता है। सत्व गुण स्वयं यद्यपि क्रियारहित होने से प्रकाशस्वरूपज्ञानात्मकवृत्ति का उत्पादक नहीं होता, तथापि चलायमान रजोगुण के संबंध से ज्ञानोत्पादक होता है और तमोगुण आवरक तथा

तादृशसाधनेन कीदृशं फलं भवतीति विचारयिष्यतीति। एभिश्चतुर्भिरध्यायैः प्रकरणविशेषैः पुरुषार्थप्राप्तये नित्यनिरतिशयपरमानन्दलक्षण-मोक्षात्मकफललाभाय समस्तहेयगुणानां प्रत्यनीकाः, अर्थात् प्रकृति-जनितदुःखसाधनानां विरोधिनो येऽनन्ताः संख्यातीताः कल्याणगुणा-स्तेषामाकरस्य समुद्रसदृशस्य भक्तप्रपन्नैः प्राप्तुं योग्यस्य ब्रह्मणः श्रीसाकेता-धिपतेर्भगवतो रामचन्द्रस्य यत् स्वेतरविभिन्नमप्राकृतिक-सर्वान्तर्यामिस्वरुपम्, तथा मोक्षस्य प्रापकमर्चिरादिमार्गविशेषः तथा प्राकृतिकबन्धनविवर्जितं सायुज्यादिलक्षणान्यतमात्मकमोक्षफलं चोच्य-मानं भवतीति। तत्रापि चतुः सूत्र्यन्तप्रकरणेन वेदान्तशास्त्रस्याऽऽरम्भः कर्तव्यो नवेति संशयानन्तरं पूर्वोत्तरपक्षाभ्यां वेदान्तशास्त्रस्यारभ्यत्वम् तथा प्रथमसूत्रेण ब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वम्, द्वितीयसूत्रेण जिज्ञास्यस्य ब्रह्मणो लक्षणदोषराहित्येन लक्षणं दर्शयित्वा, तृतीयसूत्रेण ब्रह्मणि वेदान्तशास्त्रस्य प्रामाण्यमुपदर्श्य चतुर्थसूत्रेणाकार्यपरकाणामपि वेदा-न्तानां सिद्धस्वरूपे परब्रह्मणि समन्वय आक्षेपप्रतिक्षेपाभ्यां समाहितः। इतः परं पञ्चमसूत्रादारभ्येदमीयादिपदान्तप्रकरणेन ब्रह्मण एव चेतनस्य

गुरुरूप होने से सत्त्वगुण तथा रजोगुण को किसी स्थल में प्रवृत्त कराता हुआ किसी स्थल में निवृत्त कराता हुआ नियमित करता है। यह प्रवृत्त्यादिककार्य-द्वारा अनुमित होता है, और ब्रह्म में तो सत्त्वादिक कोई भी धर्म नहीं रहता है। इसलिए ब्रह्म में क्रियाशक्तिज्ञानशक्तिमत्त्व नहीं है, न वा जगत् की सृष्टि संहार शक्ति ही हो सकती है। और प्रधान में तो तीनों प्रकार का गुण है, इसलिए ज्ञानक्रियाशक्तिमत् होने से जगत्सृष्टिस्थितिविनाशकर्तृत्व होने में कोई विरोध नहीं होता है। अत एव "प्रकृतेः क्रियामाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः" इस वाक्य में स्पष्टरूप से कहा है। इसलिए प्रकृत में सर्वज्ञ सर्व शक्तिमत् प्रधान ही सर्व जगत् का कारण है, और इसी प्रधान का बोधक सदेवेत्यादिक वाक्य है।' यह हुआ पूर्वपक्षवादी का अभिप्राय ॥

सूक्ष्मस्थूलजीवाजीवप्रपञ्चजालस्य कारणत्वं, न तु तदतिरिक्तस्याचेतनस्य प्रधानादिपरमाणुस्वभावादेरिति विचारयिष्यति।

तत्रापि पञ्चमसूत्रादारभ्य द्वादशसूत्रान्तात्मकेक्षत्यधिकरणेनानुमानिकसांख्यमतप्रतिपादितसत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थालक्षणप्रतिक्षणपरिणतशीलाऽव्यक्ताऽपरनामकप्रधानस्य जगत्कारणत्वं चेतनत्वादित्यादिविचारं सपरिकरं करोतीति। अन्तः विचारणीयपञ्चमाधिकरणे "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् "(हे सौम्य श्वेतकेतो ? इदं नामरूपाभ्यां विभक्तं जड़चेतनात्मकं जगत् अग्रे स्वोत्पत्तेः पूर्वकाले सदेवासीत्, सदात्मकब्रह्मस्वरूपमेवाभवत्, तच्च सदेकं-सजातीयद्वितीयरहितं चाभवत् ब्रह्मतादात्म्यापन्नमेवाभवन्न तु कार्यकारेण विभक्तमिवाभवदिति श्रुत्यर्थः "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय"। तत् कारणावस्थं चेतनमैक्षत' विचारं संकल्पं कृतवान् यद-हमेकोऽपि बहु अनेको भवेयम्, अर्थात् अपरित्यजन् एव कारणात्मकतां कार्याकारेण

इस पूर्वपक्ष को निराकरण करने के लिए वृत्ति कार कहते हैं—"अत्राभिधीयते" इत्यादि " सदेव सौम्ये"त्यादि श्रुतिवाक्य प्रधान में कारणता का प्रतिपादन नहीं करता है, क्योंकि—"तदैक्षत" इत्यादिस्थल में ईक्षतिपद का श्रवण है। संकल्प तो चेतन का धर्म है, न तु जड़ात्मकप्रधानादिक का धर्म। अयंभावः, अनुमानगम्य सांख्याभिमत जो प्रधान सत्त्वादिगुणों का समुदायात्मक है, वह "सदेव सौम्येदम" इस वाक्य में सत्पदवाच्य नहीं है। अत एव वह प्रधान जगत् का कारण नहीं हो सकता हैं, क्योंकि—"तदैक्षत" इस श्रुति में ईक्षति पद का प्रयोग है, ब्रह्म चेतन है उसमें संकल्प संभवित होने से वही कारण है,प्रधान अचेतन में संकल्प तो सर्वथा असंभवित है। अर्थात् "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" यहाँ से लेकर "तदपोऽसृजत" एतत्पर्यन्त सृष्टिवाक्य में जो जगत् का कारण है उसमें ईक्षणात्मकधर्मका

परिणतो भवेयमिति श्रुत्यवयवार्थः)। यदस्मिन् कारणवाक्ये सदिति पदं दृश्यते तत् चेतने एव कारणतां समर्पयति, यद्वा प्रधाने कारणतां समर्पयतीति वादिविप्रतिपत्तेः संशयो जायते। तदनन्तरम् यत् परिणामि तदेव परिणमते यथा क्षीरं परिणतं सदेव दधि भवति, इह तु चेतनं ब्रह्म न परिणामि तस्य कथमिव जगत् परिणामलक्षणं भवेत् स्वरूपतो ब्रह्मणोऽपरिणामित्वस्य स्वीकारात्। प्रधानन्तु स्वरूपगुणाभ्यां परिणामि इति तदेव जगतः कारणं स्यात्, तदेव चेह कारणश्रुतौ सत्पदेन संगृहीतं भवति, न तु चेतनम्। यद्यपि कारणान्तरवाक्ये सर्वज्ञत्वमपि कारणे श्रुतमस्ति, तच्च सर्वविषयकज्ञानवत्त्वात्मकसार्वज्ञ्यं तु प्रधाने नास्ति, तस्य जडत्वात् परमपुरुषस्य तु चेतनतया सार्वज्ञ्यं संभवतीति चेतनमेवोपादानं नाचेतनं प्रधानमिति। तथापि ज्ञानं तु सत्त्वगुणात्मकम् "सत्वात्संजायते ज्ञानमि"-ति स्मृतेः। सत्वगुणस्य च प्रधानसंबन्धित्वात् तेन रूपेण कथंचित् प्रधानेऽपि तत्संभवादिति पूर्वपक्षाशयः॥ एतादृशं पूर्वपक्षाशयं

श्रवण है, और ईक्षण तो चेतनात्मककर्तृक है। इसलिए चेतन रूप जो ब्रह्म है, वही जगत् का स्वतंत्र कारण है, जड़ात्मकप्रधान स्वातंत्र्येण जगत् का कारण कथमपि नहीं हो सकता है, परन्तु ब्रह्मात्मक रूप से तथा ब्रह्म के अधीन होकर परसुखार्थेक्षितरूप से आंशिक रूप से वह भी कथंचित् कारण होता ही है। अतएव "तदधीनत्वादर्थवत्" १।४।३ ब्रह्मसूत्रमें एवं "अस्मान्माकी सृजते विश्वमेतत्" इस श्रुति में ब्रह्म के अधीन होकर प्रधान को जोवव्यतिरिक्तजगत् के प्रति आंशिक कारणत्व का प्रतिपादन किया है। ऐसा हुआ तब अचेतन प्रधानको अचेतनांश जगत् के प्रति कारणत्व होने पर भी चेतनाचेतनसाधारणसूक्ष्मस्थूलसाधारण सकलजगत् के प्रति तो कारणता नहीं है। ब्रह्म तो स्वरूपतः एवं तेजःप्रभृति सकल जगत् का कारण है, क्योंकि सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट है, इसलिये और "अस्मान्मायी" इत्याद्यनेक श्रुति के अनुरोध से सत्पदवाच्य ब्रह्म आत्म

मनसि समाधाय तदुत्तरयितुमाह "अत्राभिधीयते" इति "सदेव सौम्य" इत्यादिकारण-वाक्यस्थं सत्पदं न प्रधानस्य वाचकमपितु चेतनस्यैव वाचकं यतः कारणवाक्ये संकल्पार्थकेक्षतिपदस्य श्रवणात् संकल्पो हि चेतनस्य धर्मो भवति, नहि भवति कदाचिदपि प्रतीति-र्यद् घटः संकल्पयति, तस्मात् संकल्पधर्मपरिगृहीतं चेतनमेव कारणं न तु जडात्मकं प्रधानं जगतः कारणमिति । यद्यप्यचेतनेऽपि नद्याः कूलं पिपत्सति या तुमिच्छतीत्यादिस्थले औपचारिकः प्रयोगस्तथापि मुख्यार्थसंभवे गौणी कल्पना गौण्येव भवतीति । सूत्रार्थस्तु इत्थम्-अशब्दम् आनुमानिकं प्रधानं सांख्यपरिकल्पितं न कारणं कुतः ईक्षतेः कारणवाक्ये सङ्कल्पार्थकेक्षतिपदश्रवणात्, संकल्पश्च चेतनस्य धर्मो भवति, नतु सर्वथा जडस्येति सदेवेत्यादिसत्पदवाच्यं चेतनं परमात्मैव कारणम्, न तु तदतिरिक्तं प्रधानमितिदिक्, विस्तरस्तु श्रीरामानन्दाचार्यभाष्यतोऽवगन्तव्यः ॥५॥

शब्दादिवाच्य परमात्मा ही प्रधानद्वारा सकल जगत् का उत्पादक होता हैं। उसमें भी जलादि सृष्टि में तथा अवान्तरसृष्टि में स्व में सूक्ष्मरूप से अव्याकृतनामरूपद्वारा अवस्थित सभी पदार्थों का व्याकृतनामरूपात्मक सृष्टि को करते हैं। ऐसा हुआ तब अचेतनमात्र को प्रधानकार्य होने से विकारित्व होने से विकारित्वादि दोष प्रधान में ही पर्यवसित होता है, ब्रह्म तो सर्वथा निर्विकार ही है, ऐसा सिद्ध होता है। इस विषय को आचार्य प्रवरश्रीश्रुतानन्दाचार्यजी ने श्रौतसिद्धान्तबिन्दु में "विकारश्च रामो दयाब्धिस्तथात्वे" इत्यादिप्रबन्ध में किया है विशेषार्थियों को वहीं से अवगत करना चाहिये इत्यादि उत्तरपक्ष का आशय है। इस विषय के सम्बन्ध में विस्ताररूप से विचार आनन्दभाष्यादि सांप्रदायिकग्रंथ तथा आचार्यपरंपरा से जानना चाहिये। मैं ने केवल वृत्तिग्रंथ के अक्षरार्थाशय को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है ॥५॥

गौणश्चेन्नात्मशब्दात्।१।१।६।

ननु 'तत्तेज ऐक्षत' "ता आप ऐक्षन्त" (छा० ६।२।३।) इतीक्षण व्यपदेशवदचेतने प्रधानेऽपीक्षण व्यपदेशो गौण एव स्यादिति चेन्न, 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो (छा ६।८।७।) इत्युत्तरत्र सच्छब्दाभिहितस्यैवात्मशब्देन व्यपदेशात् । एतदनुरोधेन 'तत्तेज ऐक्षत' इत्यादावपि तेजशरीरकस्य परमात्मन एव ग्रहणम् ।६।

विवरणम्-अथानुमानिकस्य प्रधानस्य जगतः कारणत्वं न संभवति, यतः कारणे ईक्षितृत्वधर्मस्य श्रवणात् तादृशं चेक्षणवत्त्वमचेतनस्यन संभवतीत्यतश्चेतनः परमात्मैव जगतः कारणमिति 'ईक्षते र्ना शब्द' मिति पञ्चमसूत्रेण प्रतिपादितम् । तत्र मृतप्रायस्याश्वो गोंमयाघ्राणेन पुन रुज्जीवनवत् पुनः सांख्यवादी शङ्कते, नायमभ्युपगमः सम्यक्, यतःकारणे श्रूयमाणमीक्षितृत्वं गौणं न तु मुख्यम्, यथा नदीकूलस्य प्रत्यासन्नता मालक्ष्यकूलं पिपतिषतीति अचेतनेऽपि कूले पतनेच्छावत्त्वं गौणमारोपितं भवति, तथैव सदेवेत्यादि वाक्ये सङ्कल्पोऽपि प्रत्यासन्नकार्यो न्मुखे प्रधाने एव गौणः सङ्कल्पः । श्रुतावपि मृदब्रवीदित्यादि स्थले तथा प्रयोगो दृश्यते। एतादृश पूर्वपक्षिणामाशयमाकलय्य तन्मतनिरासाय षष्ठसूत्रमवतारयितुमाह वृत्तिकारः–ननु तत्तेज ऐक्षत इत्यादि । तत्तेज

सारबोधिनी–पंचमसूत्र में कहा गया कि-प्रधान जगत्का कारण नहीं हो सकता है क्योंकि कारणमें ईक्षण धर्मका श्रवण है । ईक्षण चेतन का धर्म है और वह अचेतन प्रधान में संभवित नहीं है, इत्यादि युक्तिओं से प्रधानमें जगत् कारणता का निराकरण किया गया । परन्तु ईक्षण मात्रसे चेतन में कारणत्व सिद्ध नहीं हो सकता । तथा हि–तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्त (उस तेज ने ईक्षण संकल्प किया उन जलने संकल्प किया) इत्यादि स्थल में अचेतन जल तेज में ईक्षण धर्म का श्रवण हो रहा है । उसी प्रकरण के समान इस प्रकरण में एवं उसके साहचर्य से "सदेव सौम्येदम्"

ऐक्षत ता आप ऐक्षन्त:,, तत्पूर्वोक्तं तेजः अर्थात्तेज शरीरक ब्रह्म ऐक्षत ईक्षणं सङ्कल्पमकरोत् तथा आपो जलानि ऐक्षन्त समकल्पयन् इत्यादि स्थले अचेतने तेजः प्रभृतिषु पदार्थेषु गौणमीक्षणं भवति तद्वत् अचेतनमपि प्रधानं तथापि तादृशाचेतने सत्पद बोध्ये गौणमेवेक्षणं संभविष्यति। ततश्च सङ्कल्प बलेन यत् कारणवाक्ये परमात्मग्रहणं भवति, तन्न युक्तम् अपि तु गौणमीक्षणमादाय प्रधानमपि जगतः कारणं संभवत्येवेति पूर्वपक्षः। तन्निराकरणायाह वृत्तिकारः–इति चेन्नेत्यादि। एतत् परिदृश्यमानं जडचेतनात्मकं जगत् ऐतदात्म्यम् परमेश्वरस्य रूपमेव हे श्वेतकेतो ! तत् सर्वकारणं परमात्मा जड़चेतनशरीरकः सत्यः परमार्थतः सत्यः तथा स परमात्मैव आत्मा सर्वेषामात्मभूतः त्वमपि तादृश एव सर्वशरीरक परमात्माश्रृत एवेत्यादि छान्दोग्यीयाग्रिमप्रकरणे सदेवसौम्येत्यादि कारणवाक्यघटक सत्पदेनप्रतिपादितस्य वस्तुनः कथनात् तदनुरोधात् तत्तेज ऐक्षत इत्यादि वाक्येष्वपि तेजः शरीरकस्य परमात्मन एव ग्रहणात्। अर्थात् आत्मशब्दो हि चेतनस्य वाचको न तु अचेतनस्य वाचकः। चेतन श्च श्वेतकेतुः तादृश चेतनस्य आत्मा परमात्मैव सत्पद वाच्यो न तु तदात्मकं प्रधानं संभवति अतः समान प्रकरणे वर्तमानः परमात्मैव

यहाँ भी जो सत् में ईक्षण है वह गौण है। अतः सत्पद बोध्य सांख्यकल्पित अचेतन प्रधान में भी ईक्षित्व की उपपत्ति हो सकती है, तब प्रधान को ही जगत् कारण मानना समुचित है। एतादृश आशंका का निराकरण करनेके लिये सूत्र के उत्थान पूर्वक पूर्वपक्ष को वृत्तिकार बतलाते हैं "ननु तत्तेज ऐक्षत इत्यादि" "तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्त" उस तेज ने ईक्षण किया उन जलों ने ईक्षण संकल्प किया इत्यादिस्थल में अचेतन जल तेज में जिस प्रकार से गौण ईक्षण व्यवहार है उसी तरह अचेतनानुमानिक प्रधान में भी गौण ही ईक्षण व्यवहार होगा तथा प्रधान में जगत् कारणता की सिद्धि भी होगी। आप लोग भी "अस्मान्मायी

सत्पदवाच्यो न तु गौणार्थमादाय प्रधानस्य ग्रहणमुचितम् । तथाऽचेतने प्रधाने सचेतनस्य श्वेतकेतोस्तादात्म्य प्रतिपादनं सर्वथैवा सङ्गतं स्यात् तस्मात् 'तत्तेज' इत्यादि स्थलेष्वपि सतः परमात्मन एव ग्रहण मिति । सूत्रार्थस्तु अचेतनयोरपि जलतेजसोः 'तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्त" इत्यादि श्रौतस्थलेऽपीक्षणं यथा गौणमवदृष्यते नहि जले तेजसि च मुख्यमीक्षणं सम्भवति । अनेनैव प्रकारेण सदेवेत्यादि वाक्येऽपि सत्-पद बोध्ये सांख्यपरिकल्पिताचेतने प्रधानेऽपि संकल्पो गौण एव भवेत् । ततश्च प्रधानमेव सर्वजगतः स्वातन्त्र्येण कारणं भवतु न तु परमात्मनि जगतः कारणतेति चेन्न कुतः? आत्मशब्दात् । अर्थादिदमीयोत्तरवाक्येषु चेतनबोधकात्मशब्दस्य प्रयोगदर्शनात् तथाहि सदेव सौम्येदमग्र आसीदित्यारभ्य तत्तेज ऐक्षत इत्याद्यन्तप्रकरणेन पृथिव्यप्तेजसां सृष्टिं प्रतिपाद्य तानि चाग्रिम वाक्ये तदेव सत्पदबोध्यं संप्रत्येकं देवतापदेनानुकृष्य कथयति "सेयं देवतैक्षत" "हन्तमहमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति" इत्यादि श्रुतिषु जीवेन सह मुख्य स्य सतः तादात्म्यं दर्शयति, न चेदं तादात्म्यं चेतनाचेतनयोः सम्भ वति, किन्तु चेतनस्य जीवस्य चेतनात्मकेन परमात्मना सर्वशरीरकेणैव सृजते इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध से तो कारणता प्रधान में मानते ही है, तब स्वातन्त्र्येण गौण ईक्षण धर्म का स्वीकार कर सम्पूर्ण जगत् की कारणता स्वतन्त्र रूप से प्रधान में ही मानिये, अपरिणामी परमेश्वर की जगत्कारणता का प्रतिपादन किस तरह से करते हैं? एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में वृत्तिकार कहते हैं इति चेन्न इत्यादि । ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो" यह परिदृश्यमान चेतनाचेतन सर्वपदार्थ परमात्मस्वरूप है और वह परमात्मा सार्वदिक सत्य हैं हे श्वेतकेतु तुम भी तादृश सर्वशरीरक परमात्मा श्रुत होने से तत्स्वरूप ही हो । इसके आगेके प्रकरण में सत्पद का

संभविष्यति, तस्मात् सदेवेत्यादि वाक्ये कारणरूपेण परमात्मन एव ग्रहणं न्याय्यं न तु जडस्य प्रधानस्य, चेतनाचेतनयो स्तादात्म्यानुपपत्तेः ईक्षणमपि मुख्यमेवग्राह्यं न तु गौणम्। अर्धजरती न्यायस्यानुचितत्वात्। यदि कुत्रचिदचेतनेऽपीक्षणं दृष्ट्वा कथयसि गौणमीक्षणं न तत्रापि जलाद्यचेतने तदीक्षणं, किन्तु अन्तर्यामित्वेन प्रतिपादितपरमात्मनो जडाजडशरीरवतः सर्वशेषिण एव तदीक्षणम्। जलादावन्तर्यामितया तस्य सर्वनियमनकर्तृत्वं तु शास्त्रे प्रसिद्धमेव। तथाहि "यस्तेजसि तिष्ठन्तेजसोऽन्तरोऽयं तेजो न वेद यस्य तेजःशरीरं तेजसोऽन्तरोयमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः योऽप्सुतिष्ठन्तदापोऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरोयमयत्येषत आत्मान्तर्याम्यमृतः" "यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदु र्यस्य सर्वाणि भूतानिशरीरम्"। तथा "ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ (गी.१८-६१) इत्यादि श्रुतिस्मृति पुराणादिषु तथा श्रवणात्। परमात्मनस्तेजः प्रभृतिषु तदन्तर्यामित्वेन परमेश्वरशरीरित्वेन तेजः प्रभृतीनां च परमात्मनः शरीररूपेण श्रवणादीक्षणादेः शरीरधर्मत्वस्य श्रुति–युक्तिभ्यां बाधावगमात्तेजः प्रभृत्यन्तरयामित्वेन समवस्थितस्य परमात्मन एव मुख्य

वाच्य जो अर्थ है उसका आत्मशब्द से प्रतिपादन किया है, और आत्मा शब्द चेतन परक है इससे सिद्ध होता है कि—चेतन में ही ईक्षण धर्म है नकि जड प्रधानमें। और जिसकिसी भी स्थल में अचेतन में ईक्षण का श्रवण होता है वहां भी उन वाक्यों का उपक्रमस्थ वाक्य के अनुसार ही अर्थ करना चाहिए। यथा "तेज ऐक्षत, इस वाक्य का यह अर्थ है कि–तेज है शरीर जिसका एतादृश परमात्माने ईक्षण किया तो तेजशरीरावच्छिन्न परमात्मा का ही ग्रहण होता है। न तु जडीभूत विशेषणांश में ईक्षण है अपि तु विशेष्यांश परमात्मा में ईक्षण मुख्यरूप से है। एवं आत्मा वा इदमग्रे इस वाक्य का तथा 'सदेव'

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।१।१।७।

इतश्च न प्रधानं सत्पदवाच्यम् । यतः सत्पदवाच्यात्मनिष्ठस्य विदुषः "तस्यतावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" विदेषः (छा०६।१४।२) इति ब्रह्मसम्पत्तिरूपो मोक्ष उपदिश्यते । यद्यत्र सच्छब्देन केवलं प्रधानमेवोच्येत तर्हि तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशो न स्यात् । नह्यचेतनप्रधानोपासनेन मोक्षोपलब्धिः सम्भवति ।।७।।

मोक्षणाख्यो धर्म इति व्यवस्थितत्वात् प्रकृते सदेवसौम्येत्यादि सत्पदवाक्येष्वपि सत्पदवाच्यस्य सर्वशरीरकस्य परमात्मन एव मुख्यमीक्षणम् । नतु जडात्मके प्रधाने तदीयकार्ये वा ईक्षणरूपो धर्मः सम्भवति ।

क्वचित् क्वचिदचेतनेऽपि ईक्षणव्यपदर्शनात् गौणमीक्षणं परिग्रहीतव्यं मुख्यं वेक्षणं परिग्रहीतव्यमिति भवति संशयः । ततश्च तेषामपि वाक्यानां वेदत्वेन प्रामाणिकत्वात्तदनुकूलत्वेन गौणमेवेक्षणं परिग्रहीतव्यं तेनापि प्रकृतोपयोगित्वस्य सिद्धिर्जायत एवेति पूर्वः कल्पः । तथापि "गौणः मुख्ययो र्मुख्य एव कार्य सम्प्रत्ययः" इति न्यायेन तथा परमेश्वर कारणत्वेऽनेकश्रुतिस्मृतिपुराणादि स्वरसेन च मुख्यमेवेक्षणं परिग्रहीतव्यमिति वैदिकोऽयं राजमार्गः । गौणमार्गस्तु प्रतिकूलत्वात् श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वाच्चाग्राह्यमेवेतिसंक्षेपः ॥६॥

विवरणम्—ननु, सदेव सौम्येदमग्र आसीदित्यादि कारणता प्रतिपादक वाक्यघटकसत्पदम्, स आत्मा तत्वमसि इत्यादि समानार्थकवाक्यघटकात्मशब्दप्रयोगबलात् । मुख्येक्षण कर्तृपरमात्मपरकमेव नतु प्रधान इत्यादि वाक्य का समानार्थक होनें से एक वाक्यता करने पर सत्पदवाच्य परमात्मा में हो मुख्य ईक्षण सिद्ध होता है । अतः उसी में कारणता है, प्रधानादिक अचेतन में नहीं इति संक्षेप ॥६॥

सारबोधिनी— "सदेव सौम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि छान्दोग्यलक्षणकारणताबोधक जो सत्पद है, वह "अयमात्मा तत्वमसिश्वेतकेत

परकमिति षष्ठसूत्रे प्रतिपादनेन ज्ञायते, परन्तु तन्नयुक्तं यतोह्येकमेवात्मप-
दमात्मनस्तथात्म सम्बन्धिनः प्रधानस्यापि बोधकं स्यात्। यथा आत्मनि
आत्मशब्दप्र योगस्तथा आत्म सम्बन्धिनि प्रधानेऽपि स्यात्। प्रधान-
मात्मनः सर्वार्थकरि तदुक्तम्, सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति
बुद्धिः सैव पुरुषार्थं प्रति विशिनष्टि पुनः प्रधान पुरुषान्तरंसूक्ष्म, मिति।
बुद्धिरेव पुरुषस्य सर्वोपभोग साधयति तथा सैव मोक्षमपि साधयतीति
पुरुषस्य सर्वार्थसाधके प्रधानेऽपि सम्भवेदेवात्मशब्दप्रयोगः। लोकेऽपि
उपकारि पुरुषे आत्मशब्दप्रयोगो यथा 'ममात्मा भद्रसेनः' इत्यादि
स्थले। तस्मात्केवलमात्मशब्दप्रयोगबलेनात्मीयस्य प्रधानस्य निराकरणं
न सम्भवति, इत्यादि शङ्कानिराकारायाग्रिम सूत्रस्यावतरणमाह वृत्तिकार
इतश्च प्रधानं न सत्पदवाच्यमित्यादि, अयं भावः, तन्निठस्यमोक्षो
पदेशादि ति। अत्र सत्पदवाच्य परमात्मनिष्ठोपासकस्य शिष्यस्य
मोक्षोपदेशः श्रूयते,; स च मोक्षोपदेशः प्रधानस्य कारणवाक्यघटक
सत्पदवाच्यत्वे कथमपि न सम्भवति; किन्तु यदि सत्पदवाच्यः परमा
त्मास्यात्तदैव परमात्मोपासनयोपासन कर्तु मोक्षः स्यात्। स्वर्गा-
पवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः। यदुपास्ति मसावत्र परमात्मा निरुप्यते
इन्याद्यभियुक्तोक्त स्थले परमात्मन उपासनयैव मोक्षप्राप्तेः कथनात्।

इत्यादि अग्रिम समानार्थक वाक्यके समानार्थक होने से तद्घटक आत्मपद
के अनुरोध से परमात्मपरक है, तादृशपरमात्मा सत्पदवाच्यमुख्य ईक्षणवान्
है, तथा वही परमात्मा जगत्का उपादान कारण भी है, ऐसा निश्चित किया है,
परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि— आत्मा शब्द का अर्थ जिस प्रकार आत्मा
होता है, उसी तरह आत्मा सम्बन्धी में भी होता है, तो प्रकृत में आत्मा
का सर्वथा उपकारक प्रधान भी आत्मपद बोध्य हो सकता है, जीवात्माको
जो कुछ शब्दादि पदार्थ का उपभोग होता है, उसका निदान कारण प्रधान
है, तथा वही प्रधान अति सूक्ष्म प्रधानपुरुषका भेद ज्ञान कराकर मोक्ष का भो

नत्वचेतनोपासनेन मोक्षो भवती ति कुत्रचिदपि प्रतिपादितम् । तस्मात् सत्पदवाच्यः परमात्मैव, न तु परमात्म सम्बन्धि प्रधानं प्रधानकार्यं बुद्ध्यादिकं वेति । तथाहि छान्दोग्ये, सदेव सौम्येदमग्र आसीदित्यादिना उपक्रमं कृत्वा "अनेन सौम्य शुङ्गेनापोमूलम न्विच्छ । इत्यारभ्य सन्मूला सौम्येमाः प्रजाः सर्वा सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः, इत्यत्र सत्पदवाच्य परमात्मन एव सर्वप्रजामूलत्वेन प्रजायाउत्पादकत्वप्रजाया आयतनत्वेन प्रजास्थितिकारणत्वं तथा सर्वप्रजाप्रतिष्ठात्वेन सर्वप्रजाप्रलयकारणत्वं च दर्शयित्वा पुनरपि श्रावयति "अस्य सौम्य पुरुयुस्य प्रयतो वाङ् मनसि— तेजः परस्यां देवतायां; स य एषोऽणिमा,, इत्यादिस्थले पूर्वप्रकृतं सत्पदप्रतिपाद्यं परदेवताशब्देनाणिमशब्देन च तमेव संगृह्य तदनन्तरम् "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसिश्वेतकेतो" इहापि स आत्मा एवं रूपेण पूर्वप्रक्रान्तस्य सत्पदवाच्यस्य चेतनस्य परमात्मन एव पूनरपि संग्रहः कृतः । एतत्परिदृश्यमानं सर्वं तदात्मकमित्यनेन सम्पूर्णस्य स्थावरजङ्गमात्मकसर्व जगतः सदात्मकत्वं विज्ञाप्य, तत्वमसि श्वेतकेतो, अनेन चेतनस्य श्वेतकेतोरपि सदात्मकत्वोपदेशेनसदात्मनित्यतैव प्रतिपादिता । तदनन्तर प्रयोजक बनता है । अतः कारण वाक्य घटक सत्पद प्रधान का ही बोधक है, तथा प्रधान ही जगत का कारण भी हैं ।

इसप्रकार जो पूर्वपक्ष होता है, तादृश पूर्वपक्ष का निराकरण करने के लिए सप्तम सूत्र का उत्थान करते हुए कहते है—इतश्चप्रधानमित्यादि । इन वक्ष्यमाण हेतुओं से सिद्ध होता है कि सांख्यपरिकल्पित स्वतंत्रप्रधानकारणवाक्यघटक सत्पदवाच्य नहीं हो सकता क्यों कि सत्पदवाच्य जो परमात्मा है उस परमात्मामें निष्ठा रखने वाले विद्वान् को अर्थात् — जो उपासक परमात्मा की उपासना करता है, उसको परमात्मोपासना के परिपाक होने पर मोक्ष प्राप्ति का उपदेश शास्त्र करता है । कौन

सत्परमात्मकत्वेन तथा परमात्मव्याप्यत्व रूपेण प्रत्यगात्मानुसन्धान निष्ठस्योपासकस्य शिष्यस्य 'आचार्यवान् पुरुषो वेद, इतिक्रमेण तस्यतावदेव चिरम्, इति कथनेन मोक्षोपदेश श्रूयते श्रुतौ ततश्च पूर्वक थित परमात्मविषयकतत्वज्ञानवतः पुरुषस्य, 'तत्त्वमसि' इत्याद्यु पदेशेन जायमानं परमात्मना सह स्वस्य तस्याऽहमित्याकारकाभेद लक्षणतादात्म्यज्ञानमेव मोक्षायालं, न तु उपदेष्टव्यस्याचेतन प्रधानादिना सह जायमानं तादात्म्यज्ञानं मोक्षजनकं स्यात्। प्रत्युता चेतनेन सह जायमानं तादात्म्य ज्ञानं संसारायैव भविष्यतीति महदनि-ष्टमापतेत्, तथा एतादृशमभेदज्ञानमुपदिश च्छास्त्रं गुरुरपि कथमिव प्रामाण्यं प्राप्नुयात् ?

तस्मात्कारणवाक्यघटकं सत्पदमात्मपदञ्च चेतनं लक्ष्यीकृत्य परमात्मानं बोधयति न तु कदाचिदपि आत्मनः सर्वार्थसाधकं प्रधानं तदतिरिक्तं वा बुद्ध्यादिकंमवगमयतीति सूत्रवृतेः संपिण्डतोऽर्थः सम्पद्यते शास्त्र युक्तिसिद्धः।

ऐसा शास्त्र है जो परमात्मोपासक को मोक्षप्राप्ति बतलाता है, एतादृश जिज्ञासा के उत्तर में वृत्तिकार बतलाते हैं—"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये ऽथसम्पत्स्ये" जो उपासक साधन चतुष्टय वैराग्यादि से सम्पन्न होकर भक्ति प्रपत्ति के द्वारा भगवान् साकेताधिपति की अनवरत उपासना करने में संलग्न है, उस उपासक को संसार सागर पार करने में तब तक ही विलम्ब होता है, जब तक कि प्रारब्ध कर्म से प्राप्त वर्तमान शरीर का पतन नहीं होता। प्रारब्ध कर्म फलोपभोग के बाद वर्तमान शरीर पात के अनन्तर वह उपासक सत्पदवाच्य परमात्मामें सम्पन्न हो जाता है(अर्थात् साकेतप्राप्ति लक्षणसायुज्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता हैं) उपर्युक्तवेद वाक्य ब्रह्म सम्पत्ति रूप मोक्ष का उपदेश करता है। इस स्थिति में सांख्य की श्रद्धा को अनुसरण कर यदि सत् शब्द केवल प्रधानवाचक मान लिया जाय तब तो प्रधान की उपासना संलग्न उपा-

सूत्रार्थस्त्वेवम्—तस्मिन् सत्पदवाच्ये परमात्मनि चराचरजगत् कारणे श्रीरामे निष्ठा अवस्थानं जातं यस्य अथवा तस्मिन् उपासना जाता यस्य तादृशस्योपासक पुरुषस्यैव "तत्त्वमसि" "अथ सम्पत्स्ये" इत्यादिना मोक्ष प्रतिपादनात् तत्पदवाच्यः परमात्मैव न तु परमात्म सम्बन्धि प्रधानादिकं सत्पदवाच्यमिति ।

यद्यपिवृत्तिग्रन्थोऽति रोहितार्थ इवाभाति, तथाऽप्यक्षरार्थमात्रं विवृणोमि, इतश्च वक्ष्यमाण हेतुभिरपि सदेवेत्यादि कारण वाक्य घटकं सत्पदं न सांख्य परिकल्पिताचेतनप्रधानस्य बोधकमपि तु सर्वशरीरकस्य परमात्मनो जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणस्य विज्ञापकम् । प्रधानं सत्पदवाच्यं न भवतीति प्रतिज्ञा मात्रेण कथितम्,न च केवलं प्रतिज्ञा साधिका, अपि तु व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्टहेतुरेव बोधकः । तदुक्तम् सम्भावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साध्येत हेतुनेति अतो हेतु प्रदर्शनायाह-यतः इत्यादि । यतः—यस्मात् कारणात् सदेव सौम्येदमित्यत्र सत्पदवाच्यो

सक को जो मोक्षोपदेश किया गया है, वह अनुपपन्न हो जायगा । क्योंकि अचेतन जो प्रधान है, तादृश प्रधान की उपासना से तो मोक्ष की प्राप्ति कथमपि संभवित नहीं है, अपितु चेतन सर्वसमर्थ परमात्मा की उपासना से ही मोक्ष सम्भवित हैं । प्रकृत विषय को प्रस्थान त्रयानन्द भाष्यकार जगद्गुरु श्री रामानन्दाचार्य जी ने निम्नरूपसे उपदेश किया हैं श्री वैष्णवमताब्ज भाष्कर में "एवं महान् भागवतः सुसंस्कृतो रामस्य भक्तिं परमां प्रकुर्यात् । महेन्द्रनीलाश्मरुचेः कृपानिधेः श्रीजानकीलक्ष्मणसंयुतस्य वै ॥ उपाधिनिर्मुक्तमनेकभेदका भक्तिः सयुक्ता परमात्मसेवनम् । अनन्यभावेन मुहुर्मुहुः सदा महर्षिभिस्तैः खलुतत्परत्वतः । सा तैलधारासमनित्यसंस्मृतेः सन्तानरूपेशि परानुरक्तिः । भक्तिः विवेकादिकसप्तजन्या तथा यमाद्यष्टसुबोधकाङ्गा ॥इति।

इस विषय में आचार्य उदयन ने भी कहा है

"स्वर्गापवर्गयो मार्ग मामनन्ति मनीषिणः ।
यदुपास्ति मसावत्र परमात्मा निरुप्यते ॥

यः परमात्मा तद्विषयकोपासनायुक्तस्यैव विदुषो मोक्षमुपदिशति। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इत्यादि शास्त्रम् (तस्य भक्तिप्रपत्तिभ्यां परितोषित परमात्मन उपासकस्य तावत्कालमेव विलम्बो जायते, यावत्पर्यन्तं प्रारब्धकर्म समुपस्थापित देहस्य विमोक्षणं न भवति अथ शरीरपातानन्तरं तु सम्पत्स्यते साकेताधिपसायुज्यमित्यर्थः)

एवं चोपदेष्टव्यस्योपासकस्य चेतनत्वात्तस्य, आत्मस्वरूपतयो पदिश्यमानमुपसंहारमात्मपदं कथमिवाचेतनमुपदिशेत्। नहि चेतनस्यात्मभूतमचेतनं स्यात्। यदातु उपसंहारस्थकारणताबोधकमात्म पदं न बोधयत्यचेतनं कारणं तदा कैव कथा उपक्रमस्थं सत्पदमचेतनं बोधयिष्यति? उपक्रमोपसंहाराभ्यामेव श्रुत्यर्थनिर्णयस्य निर्धारणात्। तत्रश्चोपसंहारे श्रूयमाणं पदं यदा चेतनपरमेश्वरपरकं तदोपसंहारानुरोधादुपक्रमे विद्यमानं सत्पदमपि सर्वकारणभूतं परमात्मानमेव बोधयति न कथमपि क्लिष्टकल्पनयोपस्थापितमचेतनं प्रधानम्। मोक्षोपदेशा

(स्वर्ग के समान जो जीवन मोक्ष तथा परम मोक्ष का मार्ग अथवा स्वर्ग तथा मोक्ष प्राप्ति का मार्ग जिस परमात्मा की उपासना को तत्त्व वेत्ता पुरुष प्रतिपादन करते हैं तादृश परमात्मा का निरूपण इस प्रसूनाञ्जलि प्रकरण में मैं करता हूँ) इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध होता है कि- चेतन सर्व समर्थ परमात्मा की उपासना ही मोक्ष का जनक है। इसप्रकार अचेतन प्रधान की उपासना करने से मोक्ष प्राप्त होता है, ऐसा तो कहीं भी नहीं प्रतिपादन किया गया। इसलिए "सदेव सोम्येदमग्रे" इत्यादि वाक्यों में जो सत्शब्द है, वह परमात्मा का ही बोधक है आनुमानिक सांख्य परिकल्पित प्रधानका बोधक नहीं है।

"तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्" इस सूत्र का यही उपर्युक्त अर्थ होता है। संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि अचेतन की उपासना से मोक्ष होता है, इसप्रकार शास्त्र में नहीं बतलाया गया है और परमात्मा की उपासना से मोक्ष प्राप्त

हेयत्वाऽवचनाच्च १।१।८।

इतश्च प्रधानाद्भिन्नं सत्पदवाच्यम्। यदि प्रधानमेव सत्पदाभिधेयं स्यात्तर्हि मोक्षप्राप्तये तदात्मत्वेनानुसन्धानं नोपदिशेत्, अपि तु मोक्ष विरोधीत्वेन हेयत्वमेवोपदिशेत्. नह्यत्र तथोपदिश्यते ॥८॥

न्यथानुपत्या परमात्मैव सत्पदवाच्यो न कथमपि प्रधानं सत्पदवाच्य मिति वेदान्त डिण्डिम इति। एतदेव दर्शयति वृत्तिकारः "यद्यत्र सच्छब्देनेत्यादि" यदि समुपस्थापित श्रुतौ स्वतन्त्रं प्रधानमेवोपस्थापितं भवेत्तदा अचेतन प्रधानोपासकस्य मोक्षोपदेशो न सम्भवेत् न ह्यचेतनस्य प्रधानस्योपासनया मोक्षप्राप्ति भर्वतीति शास्त्रे क्वापि श्रुतमुपपद्यते नवा कदाचिद् युक्त्यावेति, प्रत्युताचेतनोपसनं संसारफलायैव भवति न तु मोक्षफलायेति संक्षेपः ॥७॥

वृत्तिविवरणम्- "एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इत्यत्र हेयत्व वचनाभावान्नसच्छब्द वाच्यं प्रधानम्। यदि तदेव स्यात्तदा तदनात्म तत्वं त्वं नासि, अतस्तदात्मकत्वेनात्मानं नानुसंधत्स्व, तदनुसंधानस्य मोक्षविरोधित्वादित्येवं माता पितृ सहस्र वत्सल होता है, इस बात को शास्त्र ने बारंबार अनेक स्थलों में प्रतिपादित किया है अतः आनुमानिक प्रधान सत्पदवाच्य नहीं है किन्तु सर्वेश्वर सर्वसमर्थ भगवान् साकेताधिपति जिनके भ्रूभंगविलास मात्र से जगत् के उत्पत्ति स्थिति विनाश होते हैं, वे ही कारण वाक्यघटक सत्पद वाच्य हैं। और वे ही केवल भक्ती से समुपासनीय हैं। इस विषय पर विशेष जिज्ञासु श्रीमदानन्द भाष्यका अवलोकन करें।

सारबोधिनी—ज्ञेयजो परमात्मा है वह तो "अणोरणीयान्" एषोऽणुरात्म "वालाग्र शतभागस्य"(अणु रूप से अभीमत जो परमाणुप्रभृतिक पदार्थ हैं उससे भी अधिक अणु अर्थात् परमसूक्ष्म हैं। यह आत्मा अणु है, वाल का जो

तरेण परमहितानुशासनपरेण वेदेनोपदिष्टं स्यात्। यथारुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थताराणां हेयत्वं स्पष्टं निर्दिशति तद्वदिहापि स्यान्न च तथा दृश्यते।

अथ परमसूक्ष्मं परमात्मतत्वंसर्वैरप्यभीप्सिततमम्। तादृशं च तत्त्वम् "अणोरणीयान्" "एषोऽणुरात्मा" वालाग्र शतभागस्यशतधा कल्पितस्य च "सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं पदम्" "यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्यमनसा सह" "तंदुर्दर्शंगूढमनुप्रविष्टम्" इत्यादि श्रुतिशतैस्तस्यातिसूक्ष्मतयावोधितं तादृशंञ्चसूक्ष्मतत्त्वमविशुद्धान्तःकरणं श्वेतकेतुं प्रथमतो ग्राहयितुं न शक्य-मिति तादृशसूक्ष्मतत्त्वसंबद्धं प्रधानं यत् परमतत्वापेक्षया किंचित्स्थूलमिव-विद्यते, तादृशप्रधानतयेवात्मरूपेण सर्वप्रथमं ग्राह्यते श्वेतकेतुर्गुरुणाप-रमकारुणिकेन। यथाऽति सूक्ष्मामरुन्धतीं तारां दर्शयितुं प्रथमोऽरुन्धत्याः समीपे स्थितां तदपेक्षया किंचित्स्थूलां तारामेवेयमरुन्धीति दर्शयति बालकं तदीयहितचिन्तक स्तथैव प्रकृते ज्ञेय यत्तत्त्वंतदतीवसूक्ष्मं प्रथमतस्तदीय-ज्ञानमशक्यमिव ज्ञात्वा परमतत्व-समीपस्थितं परमतत्त्व- संबद्धपरमतत्वा

अग्र भाग, उसका भी शतांश भाग न्यून परिमाण परिमित आत्मा हैं) इत्यादि श्रुति प्रभृतिक शास्त्र से ज्ञान होता है कि—ज्ञेयतत्त्व अतिसूक्ष्म है। तो सहसा सूक्ष्म वस्तु का प्रति पादन करने से शिष्य को यथा वत् ज्ञान नहीं होगा। अतः सूक्ष्मतत्व के समीपवर्ती तदपेक्षया किंचित्स्थूल जो प्रधान है उसी का आत्म रूपसे शास्त्र प्रतिपादन करता हैं। जैसे अतिसूक्ष्म तारा को समझाने के लिये तत्समीपवर्ती स्थूल प्राय अन्य तारा को समझाया जाता है तद्वत् प्रकृत में भी समझना चाहिये। एतादृश शंकाका निराकरण करने के लिये वृत्तिकार सूत्र का उत्थान करने के लिये कहते है इतश्च प्रधानाद्भिन्नं सत्पदवाच्यमित्यादि। इस कारण से वक्ष्यमाण जो कारण है उस से भी सिद्ध होता है कि— "सदेव सौम्येदमग्र,, इत्यादि वाक्य घटक जो सत्पद है उस का वाच्य अर्थ प्रधान सांख्य मतकल्पित आनुमानिक पदार्थ से

पेक्षया जड़त्वेन किंचित्स्थूलमिवावभासमानं सांख्यमतकल्पितमानुमानिक प्रधानमेवात्मरूपतया शास्त्रं बोधयति न तु परमसूक्ष्मंपरम तत्त्वं बोधयति शास्त्रमशक्यत्वात् । अतोऽरुन्धतीय न्यायेन प्रधानस्यै-वात्मरूपेण बोधनं भवतीतिपूर्व पक्षाभिप्रायं ज्ञात्वा तादृश शंकामपनेतुं सूत्र-काराशयप्रकटनाय सूत्रमुदाहर्तुमाह वृत्तिकारः इतश्च प्रधानाद्भिन्नं सत्पदवा-च्यमिति । इतो वक्ष्यमाणहेतुनापि प्रधानमानुमानिकं न सत्पदवाच्यम् । कुतो न सत्पद वाच्यं प्रधानं तत्र हेतुं विनिर्दिशति सूत्रकारः हेयत्वाव-चनात् । सूत्राशयं प्रकटयति वृत्तिकारः "यदि प्रधानमेव सत्पदाभिधेयं स्यादि-त्यादि, यदि कदाचित्प्रधानमेव प्रकृत सत्पदेनाभिधीयमानम-भिमतं शास्त्रस्य भवेत् तदा निरतिशय सुखात्मकमोक्षस्य प्राप्त्यर्थं तस्-यात्मरूपेण कथनं न कुर्यात् । प्रत्युतानात्मदृष्टेर्मोक्षविरोधित्वेन प्रधा-नस्य हेयतामेव ब्रूयात् । ननु प्रकृते सत्पदवाच्यस्य हेयतां प्रतिपादि-तवान् । अर्थात् यदि प्रकृतेऽनात्मतास्यात्तदा अनात्मज्ञानस्य मोक्षजनक त्वाभावात् मोक्षाय प्रवर्तमान उपदेशः पुनस्तद्व्यतिरिक्तं किमप्यात्म

भिन्न सर्वतन्त्र स्वतन्त्र स्वमहिमामात्र से चिदचिद्विशिष्ट सकल स्थूल जगत् का उपादान तथा निमित्त करण है, प्राधन नहीं यदि कदाचित् तुष्यतु दुर्जनन्याय से सत्पदवाच्य प्रधान ही होता तब तो मोक्षयितव्य जो चेतन श्वेतकेतु है उसको मोक्ष प्राप्ति के लिए उस जड़ चेतन प्रधान में आत्म रूपसे अनुसन्धान करने का उपदेष नहीं किया जाता क्योंकि तुम अचेतन प्रधान स्वरूप हो इस कथन से प्रधानोपासना में तत्पर उस शिष्य को तादृश जडोपासना से मोक्षप्राप्ति असंभव है । प्रत्युत तादृश अचेतन में चेतन को तादृश उपासन तो संसार की जनि का होगी यह समझ कर उस अचेतन में हेयता का ही कथन करना उचित होता है, परन्तु तादृश हेयत्व का कथन नहीं किया है । जैसे सूक्ष्म अरुन्धती को समझाने के लिए एकाएक प्रथमत अरुन्धतो का उपदेश न देकर पहिले

त्तत्वं विनिर्दिशेत् पूर्वस्मिन् हेयतामुपपादयेत् परन्तु नात्र प्रथमत उपदिष्टस्य हेयतामवदत्। अतः प्रधानं न सत्पदवाच्यमपि तु परमात्मैव सत्पदवाच्यः। परमात्मज्ञानस्य मोक्षजनकत्वमिति सर्वश्रुति सूत्र स्मृति पुराणानुमोदितः पन्थाः। अयं भावः यदि कदाचिनात्मभूतं प्रधानमानुमानिकमेव सत्पदमभिलप्यमनुमतं भवेत् "एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इत्यादि शास्त्रे तदेवपूर्वोदितं वस्तूपदिष्टं स्यात्। सचेतनः श्वेतकेतुस्तदुपदेशश्रवणेनानात्मज्ञतया अनात्मोपासको न भवतु इति कृत्वा मुख्यं यत सत्सूक्ष्मं चेतनात्मकं परमात्मतत्त्वं तादृश तत्त्वस्योपदेशाय पूर्वोपदिष्टस्यानात्मतत्त्वस्य परित्याज्यतां प्रदर्शयेत्। यथा अतिसूक्ष्मामरून्धतीतारामुपदिदिक्षुः प्रथमतोऽरून्धती समीपवर्तिनीममुख्यामेवतारामरून्धतीति दर्शयित्वा पुनरमुख्यामरून्धतीं प्रत्याय्य मुख्यलक्षणामरून्धतीं प्रतिपादयति तद्वत् प्रकृतेऽपिशुद्धान्तःकरणव्यक्तिभिर्ग्रहणासमर्थस्य सूक्ष्मतत्त्वस्यामुख्यतत्त्वमुपदिश्य मुख्यं तत्त्व

अरुन्धती के समीपस्थ अरुन्धतो संबद्ध अमुख्य तारा का उपदेश देकर उससे उसका निराश करके मुख्य अरुन्धतो का उपदेश किया जाता है, और अमुख्य तारा को हेयता का प्रतिपादन किया जाता है, इसी प्रकार प्रकृत में अमुख्य सत्पद–वाच्य प्रधान में हेयता का कथन करना उचित होगा परन्तु हेयता का प्रतिपादन तो नहीं किया है। इससे यह सिद्ध होत है कि कारण वाक्यमें प्रधान से भिन्न ही पदार्थ सत्पद वाच्य है, न कि प्रधन सांख्य परिकल्पित सत्पद वाच्य है। एवं सूत्र–घटक जो च शब्द है सो प्रधान के सत्पद–वाच्य मानने पर प्रतिज्ञा–विरोध लक्षण— दोष का भी कथन करता है। तथा हेयत्व वचन—रूप दोष का रहते हुए ही प्रतिज्ञा का विरोध होता है प्रधान को सत्पद वाच्य कहने में, क्यों कि–कारणके विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा की गई है आत्मादेशामप्राक्ष्यो येना श्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतं भवति इत्यादि से लेकर यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन

मेवोपदिशेत् प्रथमोपदिष्टतत्त्वं ज्ञेयत्वेन प्रत्याख्याय। न तु तथा कृतवान् शास्त्रेऽतो ज्ञायते यत् न प्रधानस्य सत्पदवाच्यतयेहोपदेशोऽभिमतोऽपि तु मुख्यस्यैवतत्त्वस्योपदेशोऽभिमतः। आत्मज्ञानं च मोक्षजनकं न तु जड़ ज्ञानं मोक्षजनकमिति सर्वेषामपि वादिनां प्रक्रिया।

अत्र सूत्रघटकश्चकारः प्रतिज्ञाविरोधात्मकं कारणमपि संगृह्णाति तथाहि उततमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतं भवत्यविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः! स आदेशो भवतीति यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वंमृन्मयं विज्ञातमित्यादि छान्दोग्ये श्रुतम्, वाक्यस्य प्रारम्भ-समये अर्थात् कारणविज्ञानेन समस्तस्य कार्यस्य विज्ञानं भवति, तद्यदि चेतनं सर्व-कारणं विज्ञानं स्यात्तदा तादृशसर्वचिदचित्कारणलक्षणपरमात्मविज्ञानेन तं चिदचिदात्मकं सर्वमपि कार्यं विज्ञातं स्यादिति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा अविघ्नितरूपेण समर्थिता भवेत्। अथ यदि प्रधानं सत्पदवाच्यं तस्य सर्वजगत् कारणत्वं च स्वीक्रियेत तदा जड़ात्मककार्य विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं भवति,इत्यन्त वाक्य के प्रारम्भ में सुना गया है। परन्तु भाग्यवर्ग का कारण प्रधान यदि हेयत्व रूप से अथवा अहेयत्वरूप से विज्ञात होने पर उस प्रधान का कार्य भोग्यवर्ग है वही केवल जाना जायगा, किन्तु भोक्ता जो जीवराशि है सो तो नहीं जाना जायगा क्योंकि—कारण में जो कार्य जाना जायगा जीवराशि वह प्रधान का कार्य तो है नहीं। इस लिये प्रधान इस प्रकरण में सत्—शब्द का वाच्य नहीं है किन्तु परमात्मा ही सत्पदवाच्य हैं। नहीं कहो कि—जिस तरह गोमय जड से चेतन वृश्चिकों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार जड प्रधान से चेतन की उत्पत्ति होगी यथा वा दुग्ध कलश में प्रक्षिप्त जल विन्दु दुग्दज्ञान होने से ज्ञातहोता है, उस तरह प्रधान तथा प्रधान का कार्य शरीरेन्द्रियादि से ःओत प्रोत जीव भी प्रधान के ज्ञान होने पर तत्सम्बद्धजीव भी ज्ञात हो जायगा, तब तो प्रतिज्ञा—विरोधरूप—दोष नहीं होगा तो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्यो कि

प्रतिज्ञा विरोधात् ।१।१।९।

छान्दोग्ये हि "येनाश्रुतं श्रुतं भवति" इत्यादि वाक्येनैकविज्ञानेन

जातस्य जगतो भोग्यात्मकस्यकारणप्रधानज्ञानेन भोग्यमेव कार्यजातं विज्ञातं स्यान्न तु भोक्तृजीववर्गज्ञानं स्यात् । यतश्चेतनजीवस्य प्रधान कारणकत्वाभावात् कारणेन हि कार्यविज्ञातं भवति, तत्त्वकारणेन विज्ञातेन विज्ञातं भवति, न वा कारणसंबद्धवस्तुविज्ञानेन कार्यं विज्ञातं भवति. नहि घट कारण मृत्पिण्डसम्बद्धजलज्ञानेनघटादिकं विदितं भवति इति। एतादृशी एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा या शास्त्रे प्रतिपादिता, सा प्रतिज्ञा, यदि सर्वजगत्कारणचेतनस्य सत्पदेन ग्रहणं क्रियते तदैव समर्थितास्यान्नत्वचेतनप्रधानस्य सत्पदवाच्यत्वे संभवति । तस्मात् प्रधानस्य हेयत्वप्रतिपादनाभावात् न प्राधानंसत्पदवाच्यमिति निष्कर्षः । परिशिष्ट वृत्ति ग्रान्थस्याक्षरार्थस्तु अतिरोहित एवेति तद्व्याख्यानाय न प्रयत्यते १,१,८

गोमयादि अचेतन भाग से जीवका जो अचेतन अंश वृश्चिक का है. वही उत्पन्न होता है नतु वृश्चिक का चेतनांश उत्पन्नहोता है। एवं जीव का जो उपकरण शरीरादिक अचेतन विभाग है, उसी को प्रधानका कार्य होने से प्रधानज्ञान होने से अचेतनांशमात्र ज्ञात होगा, न तु चेतनजीव किसी भी प्रकार से ज्ञात हो सकता है। अतः प्रतिज्ञा हानिरूप दोष का निराकरण नहीं होता है। इसलिये "यतोवा" इत्यादि कारणवाक्य–घटक–सत्पद वाच्य प्रधान नहीं है। किन्तु सम्पूर्ण जगत् के उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का निदान अभिन्नोपादान कारण परमात्मा ही सत्पदवाच्य है। इस विषय में "न विलक्षणत्वात्तथा,, दृश्यते तु" इस सूत्र के आनन्दभाष्य तथा "प्रतिज्ञा हानिरव्यतिरेकाच् शब्देभ्यः" इन सबसुत्रों के भाष्यमें विशेष विवेचना है अतः विशेषार्थी जन वहींसे अपना अधिकजिज्ञासा को शान्त करें ।८।।

सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपदिष्टा, सा च प्रधानकारणवादे विरुध्यते। चेतनं प्रति जड़ात्मकस्य प्रधानस्य कारणत्वाभावात्। अतो न सच्छब्दवाच्यं प्रधानम् ।१।१।९।

विवरणम् —आनुमानिकस्य प्रधानस्य सदेवेत्यादि वाक्यघटक सत्पदवाच्यत्वे ईक्षणाद्यनुपपत्तिप्रभृतयोऽनेके दोषा उद्भावितास्तथैवायम परः प्रतिज्ञाविरोधदोषोऽपि वक्ष्यमाण आपततीति प्रदर्शनाय तथा परमपुरुषस्य सकलजड़ाजड़वर्गकारणस्यैव कारणवाक्यस्थपदेन ग्रहणं भवतीति दर्शयितुं प्रतिज्ञाविरोधसूत्रमवतारयन्नाह—छान्दोग्ये हीत्यादि। छान्दोग्य श्रुतेः षष्ठप्रपाठके कथितं यत् "येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतं भवती" त्यादि। येन जगत्कारणपरमात्मना श्रुतेन अर्थात् कारण स्वरूप परमात्मश्रवणे जाते, अश्रुतमपि तत्कार्यं जड़ चेतनात्मकं सर्वं श्रुतमेव भवति तदर्थं पुनः प्रयत्नान्तरस्यावश्यकता नावशिष्टा भवति, एवं तत्वतो निखिल

सारबोधिनी :—आनुमानिक जो प्रधान, उसको यदि सदेवेत्यादि वाक्य घटक सत्पदवाच्य मानते हैं, तो ईक्षणाद्यनुपपत्ति रूप अनेक दोष आपतित होता है, ऐसा कहा। इसी प्रकार से एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की जो शास्त्र में प्रतिज्ञा की गई है, तादृश प्रतिज्ञा का भी विरोध होता है प्रधान को सत्पदवाच्य मानने से इत्यादि दोष के निराकरण करने की इच्छा से सूत्र का उत्थान के लिए वृत्तिकार कहते हैं कि "छान्दोग्ये हीत्यादि, छान्दोग्य श्रुति के षष्ठ प्रपाठक में आत्मादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतं भवत्यविज्ञातं विज्ञातं भवतीत्यादि। हे श्वेतकेतु क्या अपने आचार्य से तुमने उस आदेश को जाना, जिससे कि एक को सुनने पर तत्कार्यस्वरूप सकल पदार्थ जाना जाता है तथा जिसके मत होने पर सब मत होता है और जिस एक का वास्तविक विज्ञान होने से तत्कार्य सकल जड़चेतन विज्ञात हो जाते हैं। इत्यादि वाक्य द्वारा एक विज्ञान से सर्वविज्ञान उपदेश सुनने में आता है। यह प्रतिज्ञा स्वातंत्र्येण प्रधान

जगदुपादानस्य परमात्मनो ज्ञानेजाते अविज्ञातमपि सकलवस्तुज्ञातमेव भवति,न भवति च तदर्थविज्ञानाय प्रयत्नान्तरस्यावश्यकता, एतादृशी सकल विज्ञानप्रतिज्ञा कृता, तां चोपपादयितुं सर्वजगत्कारणस्य विज्ञानमेव कार्यविज्ञानायालमिति मत्वा परमात्मविज्ञानस्योपदेशः कृतः स चायमुपदेशस्तदैव सफलो भविष्यति यदि सर्वविकारजातस्य परमात्मैव कारणं भवेत्, सर्वकारणे परमात्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं स्यात् यतः सर्वकार्यजातस्य कारणीभूत परमात्मनि विज्ञाते तत्कार्यमनायासे नैव विदितं स्यात् । यदि कदाचित् प्रधानकारणवादोऽभ्युपगम्येत तदा सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा कथमप्युपपादिता न स्यात्, यतः प्रधानस्य जड़कार्य जनकत्वेन प्रधान विज्ञाने जाते तत्कार्ये जड़वस्तुनि कथं कथमपि विज्ञातेऽपि चेतनलक्षणकार्यं प्रति प्रधानस्याकारणत्वेन प्रधानविज्ञाने जातेऽपि चेतनलक्षणकार्यं नैव विज्ञातं भवेदिति न प्रधानं जगत्कारणसत्पदवाच्यमपितु परमात्मैव सत्पदवाच्य इति वृत्ति ग्रन्थस्याक्षरार्थः । भावार्थस्तु प्रकरणस्येत्थं श्रीपुरुषोत्तमाचार्यकृता

कारण पक्ष में विरुद्ध हो जाता है क्यों कि कारणविज्ञान से ही तो कार्य का विज्ञान होगा चेतन जोवसमूह का कारण अचेतन प्रधान नहीं हो सकता है अतः चेतन वर्ग लक्षण जो कार्य है तादृश चेतन कार्य के प्रति जड़ात्मक प्रधान को कारणता नहीं है इसलिए सत्पद का वाच्य प्रधान नहीं है, किन्तु सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट परमात्मा है वही "यतो वा" इत्यादि श्रुति बोधित सकल जगत् का जो कि चेतनाचेतन लक्षण है कारण है और तादृश परमात्मा ही सत्पद का वाच्य है ऐसा मानने से स्थूल जड चेतन परिदृश्यमान सकल कार्य का विज्ञान परमविज्ञान होने से हो जाता है। इस प्रकार से एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा चेतन कारण वादमें समर्थिता होती है। अचेतन कारणवाद में पूर्व प्रतिज्ञा का बाध हो जाता है अतः सत्पदवाच्य प्रधान नहीं है । १।१।९।

स्वाप्ययात् ॥१।१।१०॥

"स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति" (छा. ६।८।१) अत्र सुषुप्तस्य जीवस्य सता संपत्तिर्लयो बोध्यते स च लयः स्वकारण एव भवति। यद्युक्तकारणवाक्ये सच्छब्देन प्रधानं गृह्येत तर्हि तत्रैव जीव

श्री बोधायनवृत्तितत्सारप्रमीताक्षरादिवृत्तिसंग्राहकजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यानन्दभाष्यकारादयः प्राचीनाचार्याः विवेचयन्ति। तथा हि छान्दोग्य श्रुतौ 'उततमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतं भवतीत्यत्र सर्वकारणविज्ञानेन तदीय कार्यस्य विज्ञानं भवतीत्याकारिका सर्वविज्ञानविषयिणी या प्रतिज्ञा विद्यते, सा प्रतिज्ञा स्वातन्त्र्येण प्रधानस्य कारणत्वे स्वीक्रियमाणे समुपरुद्धा स्यात्, यतः प्रधानस्याचेतनतया चेतनाचेतनात्मककार्यजातस्य तादृशप्रधानविज्ञानेन विज्ञानं न स्यात्, कारणविज्ञानस्यैव कार्यविज्ञानजनकत्वात्, प्रधानं तु न जगतः स्थावरजङ्गमस्य कारणं तत्तु जडवर्गस्यैव कारणं न तु चेतनस्येति, चेतनसंमिलितकार्यस्य प्रधानविज्ञानेन विज्ञानाभावात्। सर्ववस्तु विषयिण्याः प्रतिज्ञाया विरोधः स्पष्ट एव भवेदिति। यदा तु सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्टस्य परमात्मनः "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि श्रुतिसमधिगतस्य जगत्कारणताऽभ्युपगम्यते तदा सत्पदवाच्यतया तस्यैव परिग्रहात् तादृश परमात्मविज्ञाने जाते स्थूल रूपेण परिदृश्यमानं सर्वमिदं जडचेतनात्मकं कार्यरूपं सर्वं जगत् विज्ञातमेव भवतीति सा प्रतिज्ञा सम्यगुपपादिता भवतीति सर्वं समञ्जसं भवतीति संक्षेपः ।१।१।९।

सारबोधिनी :—स्वप्नान्तामित्यादि वृत्तिः। हे सोम्य श्वेत केतु, मैं कहता हूँ स्वप्नान्त अर्थात् मैं सुषुप्त्यवस्था का कथन करता हूँ तुम इस विषय को सावधान होकर के समझो जिस अवस्था में यह जीव पुरुष सुषुप्त

स्यलयोऽपि स्वीकार्यः। न चैवं संभवति, न ह्यचेतने प्रधाने चेतनस्य-लयः कैरप्यङ्गीक्रियते। तस्मान्नात्र प्रधानस्य ग्रहणम् ॥१०॥

विवरणम्—किञ्च जगत्कारणं प्रक्रम्य स्वपितीत्यस्य निर्वचनं कुर्वती श्रुतिश्चेतनमेव जगत्कारणं प्रदर्शयति न त्वचेतनं जगतः कारणं समर्पयति। यदि कदाचित् स्वशब्दः आत्मपरकस्तदापि चेतनस्य पुरुषस्याचेतनप्रधानस्य स्वरूपत्वस्यानुपपत्तिः। यदि कदाचिदात्मीय वचनः स्व शब्दस्तथापि अचेतने भोगापवर्गतयात्मीयेपि चेतन जीवस्य प्रलयोऽनुपपन्न एव, नहि मृत्तिका स्वरूपोऽपि घट आत्मीयेऽपि जलादौ प्रलीयमानो भवति किन्तु स्वतादात्म्यमृत्तिकायामेव लीयमानो भवन् दृश्यते इत्याद्याशयं मनसि निधाय स्वाप्ययादिति सूत्रमवतारयितुमाह वृत्तिकारः "स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानी ही" त्यादि। (हे सोम्य श्वेतकेतो मे मम सकाशात् स्वप्नान्तं सुषुप्तिम्, अर्थात् सुषुप्तेः स्वरूपं ज्ञातुं सावधानो भव। अहं सुषुप्तिस्वरुपान्ते कथयामि, बदतो मे तत्स्व रूपं विजानीहि—अवगच्छ यत्र यस्यामवस्थायामयं पुरुषो जीवः स्वपिति इत्येवं रूपेण ख्यातो भवति। तदा तस्मिन् काले सता परमात्मना सह संपन्नो भवति। अर्थात् विहायनामरूपात्मकमुपाधिं स्वकारणरूपे परमा-

होता है, तब हे सोम्य, यह जीवात्मा सत्पदवाच्य सकल जगत् कारण जो परमात्मा, उसके साथ संपन्न हो जाता है अर्थात् जीव के निमित्त तथा उपादान कारण परमात्मा जो सर्व शक्तिमान है उसमें जीव विलीन हो जाता है जैसे आकाश से वृष्टि द्वारा समुद्र में गिरा हुआ जल समुद्रात्मक जलराशि में विलीन हो जाता है। तब यह मेघ का जल है, यह समुद्र का जल है एतादृश विभाग को छोड़कर के जलमात्र हो जाता है, इसी प्रकार जीव जाग्रदादिकालिक समस्त उपाधि को छोड़करके चेतन रूपसे भगवदाकारस्वरूप से परमात्मा में ओत प्रोत हो जाता है। स्वमपीतो भवति, स्वकीय स्वरूप को संप्राप्त हो जाता है अर्थात् परमात्मा से भिन्न

त्मनि चिदचिद्वपुषि विलीयमानो भवति। स्वमपीतो भवति अर्थात् जाग्रदाद्यवस्थासंपादितं खेदं विहाय स्वकारणीभूते सर्वात्मके परमात्मनि विलीयमानो भवति यथा नद्यादीनां जलानि नद्याद्युपाधिं विहाय समुद्रे सर्वजलकारणात्मके विलीयमानानि भवन्तीति अत्र श्रुतौ सुषुप्तस्य सुषुप्त्यवस्थां प्राप्तस्य जीवस्य धर्माधर्मपूर्ववासनादि युक्तस्य जीवराशेः सत्तां समस्तचिदचित्स्वरूपवता ब्रह्मणा अर्थात् सकल कारणे परमात्मनि प्रलयः संपत्ति लक्षणो बोध्यते प्रज्ञाप्यते श्रुत्याः स च लयः, स्वकारणे एव भवति, यथा विनाशसमये घटः स्वसमवायि कारणकपाले एव विलीयमानो भवति। न तु स्वनिमित्ते दण्डादौ तदन्यत्र वा काष्ठ कुड्यादौ, अर्थात् घटप्रध्वंसो घटसमवायिकारणे एव भवति। न तु अकारणे कारणे वा तदन्यत्र प्रध्वंसो विलीयमानो भवन्दृष्टो युक्तिसिद्धो वा। तथैव जीवोपि सुषुप्तावस्था-

जीवों की कोई स्वतन्त्र अन्य सत्ता नहीं हैं। जाग्रदादिक में जो प्रतिभास होता है उन सब को छोड़कर के वास्तविक जो अपना अणु चेतन स्वरूप है उसको प्राप्त कर जाता है। अत्र सुषुप्तस्येत्यादि इस उदाहृत श्रुति से सुषुप्ति दशापन्न जीव को परमात्मा में संपत्ति अर्थात् लय बोधित होता है। इन कार्यों का लय स्वकीय कारण में ही होता है, जैसे मृत्प्रकृतिक जो घट है वह मृत्तिका में ही लीयमान होता है न कि मृदतिरिक्त जलादिक में (नैयायिक लोग भी घटादि कार्य के विनाश को घटका जो समवायी देश कपाल है उसीमें घटके ध्वंस को मानते हैं)। अब यदि कदाचिद् उपर्युक्त कारण वाक्य में प्रधानकारणवादी के श्रद्धा का अनुरोध करके सत्पद से प्रधान का ग्रहण करें तब तो उपादान भूत प्रधान में ही जीवका विलय सुषुप्ति अवस्था में होता है, ऐसा मानना पड़ेगा। परन्तु यह तो संभवित नहीं है क्योंकि अचेतन प्रधान में चेतनजीव का लय होता है ऐसा तो कोई भी नहीं मानते हैं। यद्यपि सांख्यवादी प्रलय में प्रधान में लय को मानते

यां सर्वकारणकारणे चिदचिच्छरीरके परमात्मनि प्रलीयमानो भवति ॥
"यद्युक्त कारण वाक्ये" इत्यादि, यदि कादाचित् पूर्वोदीरित कारणवाक्ये
सत्पदेनाचेतनस्य प्रधानस्य ग्रहणं कुर्यात् तर्हि तदा तस्मिन् जड़ात्मके
प्रधाने एव चेतन जीवस्य लयोपि स्वीक्रियेत, परन्तु एवं तु न संभ-
वति यतः उत्पत्तिस्थितिप्रलयास्वसमवायि कारण एव भवन्तीति नियः-
मात् प्रधाने चेतनजीवस्य प्रलयः प्रधानकारणवादिभिरपि न स्वीकृत
स्तदा तदन्यदार्शनिकानां तु कथैव का। स्वोपादान कारणे एव कार्य
प्रलयस्य सर्वैरेव स्वीकारात्। तदेवोपादानस्योपादानत्वं यत् कार्यस्यो
त्पत्तिस्थितिप्रलयसंपादकत्वम्। न ह्यन्यस्मादन्यस्योत्पत्तिस्थिति
प्रलयाः संभवन्ति तथात्वे उपादानोपादेयव्यवस्थैव न कथमपि साध
यितुं कोऽपि शक्तः स्यादिति कार्यकारणभावान्यथानुपपत्तिलक्षणान्य
थानुपपत्तिरेव शरणं भवन्तो साधयति स्वोपादाने एव स्वकीय कार्यस्य
प्रलयम्। इदानीं प्रकरणार्थमुपसंहरन्नाह "तस्मान्नात्र प्रधानस्य
ग्रहणमिति" पूर्वोक्तनुपपत्तिभिरेतत् सिद्धं यत् कारणवाक्ये सत्प
देन प्रधानस्य ग्रहणं न भवति किन्तु चिदचिच्छरीरकस्य सर्वजगदुपा-
दानस्य परमात्मन एव ग्रहणं कर्तव्यं न तु तदन्यस्य कस्यचिदिति
संक्षेपः ॥१।१।१०॥

हैं तथापि वे लोग भी जड़भूत प्रपंच को ही प्रधान में प्रलय मानते हैं न कि
जीव के प्रलय को। और युक्ति से तथा अन्य प्रमाणों से भी चेतन का
प्रलय होता है सो बाधित है। जैसे कार्य स्वोत्पत्तिरूपस्थिति में स्वकीय
सजातीय कारण का ही मुखापेक्षी होता है, उसी प्रकार प्रत्येक कार्य पदार्थ
प्रलय के लिये उपादान का ही मुखापेक्षी बनता है। जैसे घट का जब प्रध्वंस
होता है तब कपाल में ही होता है। उसी प्रकार चेतन जीव समूह जब
लीयमान होगा तब परमात्मा में ही सायुज्यता को प्राप्त होगा, क्यों कि
परमात्मा ही चेतन जीवसमूह का उपादान कारण है यह श्रुतिस्मृति-युक्ति

गतिसामान्यात् ॥१।१।११।

उपनिषदन्तरान्तर्गतानां कारणप्रतिपादकवाक्यानाम् "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तै. ३।१) "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः

विवरणम्--ननु यथाऽन्य दार्शनिकानां मते मूलकारणविषये परस्परं भेदो दृश्यते यथा नैयायिकमते जगतो मूलकारणं चतुर्विधाः पृथिव्यादि परमाणवो जगतः समवायिकारणम् । सांख्यमते आनुमानिकमव्यक्तापरपर्यायं प्रधानं प्रकृतिरेव जगत उपादानं कारणम्। सौत्रान्तिकवैभाषिकमते खरस्निग्धोष्णेरणस्वभावाश्चतुर्विधा परमाणव एव मूलम् । योगाचारमते आन्तरं विज्ञानधातुरेव परमकारणम् । माध्यमिकमते तुच्छानुपाख्या अभाव एव कारणम् । एकमतं व्युदस्यापरे स्वमतं व्यवस्थापयन्ति, नैवं वेदान्तमते कारणविषये परस्परं विवादं विद्यते । यद्यप्यस्मिन् मतेऽपि परस्परं विवदन्ति, यथा निर्विशेषपरं ब्रह्म जगत् कारणमिति मायावादिनः, सविशेषमनन्तकल्याणगुणगणकं ब्रह्मैव सर्वोपादानमिति "तस्मादत्र सत्पद्वाच्यस्य परमात्मन एव जगत् कारणत्वम्" (आनन्दभाष्य १।१।१२) इत्युक्तदिशा आनन्दभाष्यकार-जगद्गुरु श्री रामानन्दाचार्यमतानुयायिनः । तदेव सविशेषं ब्रह्मेति केचित् अविकृत परिणामकं तत्वमेवेत्यन्ये । एवं क्रमेण वेदान्तमतेपि सगोत्र कलहः श्रूयते एव। तथापि वेदान्त मतेषु चेतनस्यात्मनो जगत् कारणतायां नास्ति विवादो यतस्ते सर्वेऽपिचेतनतत्वमेव जगतोऽभिन्न

और अनुभवसे सिद्ध-है। सूत्रार्थ का उपसंहार करते हुवे कहते हैं तस्मान्नात्र प्रधानस्य ग्रहणमिति । सुषुप्तावस्था में जीवका प्रविलय परमात्मामें ही होता है जडादिक अन्य वस्तु में नहीं इसलिये सदेवे त्यादि अनेक कारण वाक्यों में सत्पदवाच्य परमात्मा का ही ग्रहण होता है न कि प्रधान का क्योंकि प्रधान यदि सत्पदवाच्य हो तब तो जाव का प्रविलय भी प्रधान में ही कहना पडेगा, परन्तु प्रधान अचेतन में चेतन जीव का प्रविलय तो वादि प्रसिद्धि श्रुति-स्मृत्यादि से बाधित है ॥१०॥

संभूतः" (तै. २।१) "सकारणं करणाधिपाधिपः" (श्वे. ६।९) आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्स इमान् लोकानसृजत" (ऐ. १।१) इत्यादीनां जगत्कारणतया ब्रह्मण एव प्रतिपादने गतिरस्ति तत्सामान्यादत्रापि सत्पदवाच्यं ब्रह्मैवास्ति न प्रधानम् ॥११॥

निमित्तोपादानमिति संगिरन्ति। यथा सर्वेषां चक्षुः रूपप्रकाशात्मकमेव कार्यं करोति, न तु कस्यचिद्रूपं रसं वा। एवमत्र सर्वे वेदान्ताश्चेतनकारणतामेव दर्शयन्ति न तु कश्चिद्वेदान्तः आत्मानं कारणं वदति कश्चित् तदितरं कारणं कथयतीति कारणविषये सर्ववेदान्तानां मतैक्यं दर्शयितुं सूत्रमुपस्थापयन्नाह "उपनिषदन्तर्गताना" मित्यादि। छान्दोग्य श्रुति प्रतिपादितकारणप्रतिपादकवाक्यातिरिक्तवेदान्तवाक्यानाम् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति" (इमानि स्थूल चिदचिदात्मकपरिदृश्यमानानि वस्तूनि, यतो यस्मात् कारणविशे

सारबोधिनी- जिस प्रकार चक्षु प्रमाण रूपदर्शनलक्षणकार्य का संपादन करता है समान रूपसे परस्पर विभागरूपसे नहीं। इसी प्रकार सब वेदान्त वाक्य चेतन परमात्मा को ही जगत्कारणता का प्रकाशन करता है न कि कोई वेदान्त वाक्य ब्रह्म को जगत् का कारण कहता है तो कोई वेदान्त वाक्य चेतनेतर प्रधानादि को जगत् कारण रूपसे प्रतिपादन करता है। इस चेतन कारणता वाद में किसी को भी परस्पर वैमत्य नहीं है। जिस तरह तार्किकों के मतों में कोई तो भाव का जगत् का कारण कहते है, तो कोई अभाव को कारण कहते हैं। भाव कारणता वादियों के मध्यमें भी कोई चेतन को कारण कहते हैं, तो कोई अचेतन को कारण कहते हैं। अचेतन कारण वाद में भी कोई प्रधान को परमेश्वराधिष्ठित रूप से कारण कहते हैं तो कोई चेतन निरपेक्ष स्वतंत्र प्रधान को कारण कहते हैं। कोई तो पृथिव्यादि खररस्निग्धोष्णइरण स्वाभाविक परस्पर विभिन्न परमाणुओं को पृथिव्यादि जगत् का कारण कहते हैं। कोई तो जीव को उत्पत्ति मान लेते

षाच्चेतनाज्जायमानानि भवन्ति, उत्पद्य च यस्मिन् चेतनरूपे सर्वं कारणे स्थितानि भवन्ति, पुनश्च प्रतिसर्गकाले स्वकारणोन्मुखानि सर्व-समर्थचेतनात्मककारणे प्रलीयमानानि भवन्ति नामरूपविभागानर्हतां प्राप्नुवन्तीत्यर्थः तादृशं कारणं चेतनमेवेति)। "तस्माद्वा एत-स्मात्मन आकाशः संभूतः" "(सर्वकारणतया प्रसिद्धादात्मनः सका-शात् प्रथमत आकाशः संभूतः समुत्पन्नो ज्ञातस्तदनु च पवनादिकानि वनस्पतिपर्यन्तानि समभवन् इत्यर्थः)। "स कारणं करणा धिपधिपः "(स षडैश्वर्यसंपुक्त सर्वेश्वरः सर्वसमर्थश्च ब्रह्मपदवाच्यः श्रीरामः सर्वचे-तनाचेतनजगतः कारणम् तथा करणमिन्द्रियादीनां योऽधिपो ऽधि-ष्ठातृदेवतास्तेषां सर्वेषामप्यधिपः सर्वनियन्ता यः स एव सर्वजगतः कारणमिति वाक्य शेषः) "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् स इमा-ल्लोकान सृजत" (इदं परिदृश्यमानं स्थावरजंगमात्मकं जगत् अग्रे उत्पत्तेः पूर्वकाले आत्मा परमात्मा कारणतादात्म्यापन्नं सूक्ष्मरूपेण चेतने एव वीजे लीयमान अविभक्तनामरूपावस्थ वृक्षवदेवाभूत्, तदनन्तरं स परमात्मा इमान् भूरादिकान लोकान् असृजत यथा वीजे विद्यमानो-ऽनभिव्यक्तनामरूपको वृक्षः कालेन वीजात् अभिव्यक्त विभक्त

हैं तो कोई जीव को नित्यानुत्पन्न मानते हैं। इत्यादि परस्पर विवाद ग्रस्त मार्ग का निराकरण करने के अभिप्राय से तथा एक मार्ग का प्रकाशन करने के अभिप्राय से वृतिकार सूत्र का उत्थान करते हैं गतिसामान्यादिति।

छान्दोग्य उपनिषद् से भिन्न जो उपनिषत् तादृशोपनिषत् के अन्तर्गत जो ब्रह्म में जगत् कारणता का प्रतिपादक वाक्य है, जैसे "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (जिस सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् परमात्मा से ये परिदृश्यमान आकाशादि पृथिव्यन्त भूतों की उत्पत्ति स्थिति प्रलय होता है)। "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" उस सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ अनेक कल्याण गुणक परमात्मा से सर्व प्रथम भूतपदवाच्य आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश

नाम रूपकः सन् समुत्पन्न इति व्यवह्रियते तथैव परमात्मन्यव्य-क्तनामरूपकं जगत् विभक्त नामरूपकं भवन्नानाव्यवहारापन्नमांलक्ष्यते, अर्थात् सूक्ष्मचिदचिद् रूपेण परमात्मनि विद्यमानस्य लोकस्य स्थूल रूपेणव्यञ्जयदिति । इत्यादि वेदान्त वाक्यानां चेतनाचेतन जगत् कारणत्वेन ब्रह्मणः सर्वोत्पादकस्य परमकारणस्य सर्वेश्वर प्रति-पादने एवाभिप्रायो विद्यते । एवञ्च यथा प्रदर्शितानि नाना वेदान्त-वाक्यानि जगत् कारणतया आत्मानमेव बोधयन्ति । तथैव "सदेवे" त्यादि छान्दोग्य वाक्यमपि परमात्मान एव जगत् कारणता बोधय-तीति कारणप्रतिपादकवाक्ये सत्पदेन परमात्मन एव ग्रहणं भवति नत्वचेतनप्रधानादीनां परपरिकल्पितानां ग्रहणं भवतीति वृत्तेरक्षरार्थः ।

अयंभावः सांख्यपरिकल्पितप्रधानस्य जगत् कारणता नास्ति न वा कारणवाक्यघटकसत्पदबोध्यता विद्यते, एतद्रूपेण प्रवर्तमाने विचारे यादृश वाक्येषु स्पष्टरूपेणात्मनः कारणता बोधिता भवति तादृश वाक्य तुल्यत्वमेव सदादि वाक्यानामपीत्यस्मिन्नर्थेऽन्येषामपि वेदान्तवाक्यानां संमतिं दर्शयितुं प्रोक्तवान् सूत्रकारः गतिसामान्या-

से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथिवी जो कि गन्ध का आधार है। तादृश पृथिवी से औषधि, वनस्पति, समुत्पन्न हुये। स कारणं करणा-धिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः। वह सर्वशक्तिमान् परमात्मा उत्पद्यमान स्थूलसूक्ष्म स्थावर जंगम सब पदार्थों का कारण अर्थात् अभिन्नोत्पादन रूपसे उत्पादक है, तथा करण जो बाह्य चक्षुरादिक एवं आन्तर कारण जो मन, तादृश करणों का अधिप नियंता जो जीववर्ग उन वर्गों का अधिप नियन्ता है पर जिसका उत्पादक व नियन्ता कोई नहीं है "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरो यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है कि वह परमात्मा जीव का भी नियन्ता है उस परमात्मा का जनयिता उत्पादक कोई नहीं उस परमात्मा का कोई

दितिसूत्रम् । यानि यानि वेदान्त वाक्यानि सन्ति तेषु सर्वेष्वपि चेतनस्य परमात्मनः सविशेषस्यैव कारणत्वं समुच्यमानं भवति । न तु कुत्रचिदपि वाक्ये प्रधानस्य तदतिरिक्तस्य वान्यस्य कारणत्वमुच्यमानं भवति यदि कदाचिदत्र सद्विद्याप्रकरणे सत्पदवाच्यं प्रधानमेव जगत्कारणतयाऽभिमतमुच्यमानं भवेत्तदा प्रधानादिभिन्नात्मपद बोध्य ब्रह्मणो जगत्कारणता प्रतिपादकागमानामनेकेषां स्पष्टैव वैयर्थ्यम् । तथैकार्थप्रतिपादकतालक्षणमेकवाक्यत्वमपि तेषां न स्यात् । ते चात्मनः कारणता प्रतिपादका इमे वेदनिचयाः । "आत्मा वा इदमेकः" "आत्मान एवेदं सर्वम्" "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः" आत्मन एष प्राणः" इत्यादयः । एतेषां वाक्यानां गतिश्चेतनकारणता समर्पणः प्रकारः, तादृशी एव गतिश्चेतन कारणता समर्पण प्रकारः सदेव सोम्येदमित्यादि छान्दोग्यवाक्यघटकपदानामपि । न तु सांख्यादिकल्पिताचेतन प्रधान

अचिन्त्य नहीं है वह परमात्मा सबको जानता है उस परमात्मा को कोई नहीं जानता है, जो आत्मा में रहता हुआ भी उससे भिन्न तथा आत्मशरीर होते हुये भी तद्भिन्न रूप से उसको नियंत्रित करता है। आत्मा वा इदमेक अग्रे आसीत्स इमांल्लोकान् सृजत ॥" यह परिदृश्यमान संपूर्ण जगत् उत्पत्ति के पूर्वकाल में परमात्मा स्वरूप से ही अवस्थित था। उस परमात्मा ने इन भूर्भुवः स्व महः जनः इत्यादि लोकों का उत्पादन किया)। इत्यादि अनेक प्रकार के अन्यश्रुतियों का जगत् कारण रूप से परमब्रह्म परमात्मा के प्रतिपादन करने में गति हैं। उन श्रुत्यन्तरों की समानता होने से यह जो छान्दोग्य श्रुति में सदेव सोम्येदमग्र आसीत् वाक्य है तटद्घक सत्पद से वाच्य ब्रह्म परमात्मा ही है। किन्तु सांख्य परिकल्पित आनुमानिक प्रधान नहीं है क्योंकि यदि प्रधान में जगत् कारणता है, यह बात यदि श्रुति को अभिमत होता तो उत्पत्ति प्रकरण में उत्पादक रूप से अवश्यमेव चर्चा की

कारणता समर्पकत्वमन्यमतमिवेति । इदमेव वैशिष्ट्यं दर्शनान्तरेभ्यो वेदान्तस्य यत्, सर्वत्र परमात्मकारणता बोधकत्वं समानमेव, न तु बौद्धादिवत् पृथक् पृथक् रूपेण क्वचिच् चेतनस्य, क्वचिद चेतनस्य तत्रापि क्वचित्प्रधानस्य क्वचित्परमाण्वादेः क्वचिद् भावस्येत्यादि क्रमेण परस्पराहतार्थकत्वं वेदान्ते । अत्र तु कारणता बोधकत्वं समान रूपेण चेतनस्यैव तत्समर्थनं समर्थ्यमानञ्च भवतीति । यद्यपीहापि क्वचित् केचित् निर्विशेषमात्मानं कारणं कथयन्ति क्वचित्केचिच्च सविशेषमेवात्मानं प्रतिपादयन्ति, तथापि

जाती, परन्तु श्रुति में तो इस बात की कहीं भी चर्चा नहीं की गई है इसलिए प्रधान को सदेवेत्यादि, वाक्य घटक सत्पद के कारण रूप से ग्रहण करना समुचित नहीं है । यद्यपि, अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्, इत्यादि स्थल में मायी के विशेषण रूप से प्रधान का अपर पर्याय माया की चर्चा है, तथापि उससे यह नहीं सिद्ध होता है कि स्वतंत्र रूप से प्रधान में जगत् कारणता आती है । विशेष्य में रहने वाला पदार्थ कथंचित् गौणरूप से ही कारण पद से व्यवह्रियमाण होता है । तथा मायी को उद्देश्य करके जगत्कारणता का विधान किया गया है ऐसा मानने से एक देशान्वय है किन्तु पदार्थ का अन्वय पदार्थ में ही होता है । पदार्थ के एक देश में नहीं, यथा कथंचित् विशिष्ट में कारणता होने से विशेषण में भी कारणता होगी, यह कथन जघन्यवृत्ति को लेता है मुख्य वृत्ति को नहीं अर्थात् स्वातंत्र्य रूप से कारणता नहीं है किन्तु यथा कथंचित् गौण रूप से ही सिद्ध होता है और यह प्रकरण मुख्य वृत्ति से कारणता का प्रतिपादक है । परमात्मा में तो मुख्य रूप से ही जगत कारणता अनेक कारण वाक्य प्रतिपादन करता है । यदि कोई कहे कि आत्मा शब्द तो अनात्म पदार्थ में भी प्रयुज्यमान होता है "यथा ममात्मायं पुत्रः," "आत्मानं सततं रक्षेत्," "मृतात्मा इन्द्रियात्मा," यहां पुत्र शरीरभूत

श्रुतीनां सर्वासामेकवाक्यता समर्थनं तु

"अद्वैत बोधिका काश्चित्काश्चिद्द्वैतस्य बोधिकाः ।
घटकश्रुतयः काश्चिदन्तर्यामि प्रबोधिकाः ॥
अप्रामाण्यं भवेत्तासां विरोधेऽभिमते मिथः ।
विशिष्टाद्वैतिभिस्तासां क्रियतेऽतः समन्वयः ॥
अद्वैतश्रुतयो बोध्याविशिष्टब्रह्म बोधिकाः ।
नान्य श्रुतिमतानां हि तत्त्वानां प्रतिषेधिकाः ॥
परं ब्रह्म च तद्वाच्यं त्वद्वाच्यं त्वच्छरीरकम् ।
तत्त्वमसीति वाक्येन तूक्तोऽभेदस्तयोर्द्वयोः ॥
द्वैतश्रुतिसमूहस्तु त्रिद्वद्भिः सम्मतः खलु ।
चिदचिदीशतत्त्वानां पार्थक्येनावबोधकः ॥
आत्मत्वमीश्वरस्याथ चिदचितोश्च देहता ।

इन्द्रिय में जो कि ये सब पुत्रादिक अनात्मा हैं, तो इन अनात्म पदार्थ में आत्मा शब्द का प्रयोग होता है। तद्वत् प्रकृत में भी अनात्म प्रधान में आत्म शब्द का प्रयोग श्रुत्यनुमोदित है, अतः प्रधानता होगी ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उदाहृत पुत्रादिक में जो आत्म शब्द का प्रयोग है मुख्यतः ही है। अन्यथा आत्मापद को अनेकार्थकत्व लक्षण दोष हो जायगा। यदि एकार्थ का तात्पर्य निश्चयात्मक हो, तब अनेकार्थता की कल्पना जघन्य है। एवं "स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" यहाँ चेतना जो श्वेत केतु शिष्य है उसका चिदचित् शरीरक आत्मपद वाच्य कोई अचेतन पदार्थ आत्मा कथंचिदपि नहीं हो सकता है। इसलिये अनेक श्रुति युक्ति प्रमाणों से सिद्ध होता है कि आत्मपद का वाच्य चेतन ही है न कि अचेतन कोई पदार्थ। अतः सदेवेत्यादि वाक्य घटक सत्पद वाच्य परमात्मा सर्वेश्वर श्रीराम जी ही समस्त जगत् का परम मूल कारण हैं न कि प्रधान परमाणु-अभ वादिक अन्य ॥११॥

"श्रुतत्वाच्च" १।१।१२॥

अत्र सद्विद्यायायां सत्पदवाच्यस्यैवोत्तरत्रात्मत्वेन श्रवणमस्ति "स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो" (छा.६।९।३) "आत्मात एवेदं

सर्वाभिर्विनिवेद्यते घटकश्रुतिभिः किल ॥
वेदान्त तत्त्वविद्भिश्च कार्यकारणभेदतः ।
चिदचिद्भ्यां विशिष्टं हि ब्रह्म च द्विविधं मतम् ॥
स्थूलाचिच्चिद्विशिष्टं हि ब्रह्म कार्यं प्रकीर्तितम् ।
सूक्ष्माचिच्चिद्विशिष्टं तु ब्रह्म कारणमुच्यते ॥
अद्वैतश्च मतं श्रौतं ब्रह्मणोश्च विशिष्टयोः ।
विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त स्तस्माच्छ्रुत्यनुमोदितः ॥
अत एवास्मदाचार्यबोधायनादिसम्मतः ।
विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तो लोके विजयेततराम् ॥"

इत्यादिक रूपेण जगद्गुरुश्रीश्रुतानन्दाचार्य प्रसादित सर्वश्रुतिसमन्वयतः स्पष्टं व्यज्यते इति सविशेष ब्रह्मकारणता प्रतिपादकत्वमेवेति-निराबाध आनन्दभाष्यकारजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यप्र शितः पन्थाः ॥१।१।११।

विवरणम्—ननु "तदैक्षत" इति श्रुतौ यज्जगतः कारणमीक्षण श्रुतम्, परन्तु तदीक्षणं सर्वविषयकं यत्किंचिद्विषयकं वेति स्पष्टरूपेण न निर्धारितम्; किन्तु जगत्कारणसंबन्धितया तदीक्षणं सर्वविषयकमित्यर्थवशात्सं-पन्नं भवतीत्यतो न केवलं सर्वविषयकमीक्षणं जगत्कारणमर्थापत्यैवसिद्धं

सारबोधिनी—"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" इत्यादि श्रुत में जो जगत् का कारण है तदश जगत् कारण में ईक्षण श्रवण है, परन्तु वह ईक्षण सर्व विषयक है अथवा 'यत्किंचित् विषयक ईक्षण है, इस प्रकार से स्पष्ट रूप से नहीं कुछ कहा गया, किन्तु जगत्कारण

सर्वम्" (छा-७।२६।१) इत्यतोऽत्र सत्पदवाच्यः परमात्मैव जगत्कारणं न प्रधानमिति सिद्धम् ॥१२॥

॥इति श्री रघुवरीयवृत्तावीक्षत्यधिकरणम् ॥५॥

भवत्यपि तु शब्दतोपितत्सिद्धमित्येतद्दर्शयितुं वृत्तिकारः सूत्रोत्थानं करोति "अत्र सद्विद्यायाम्" इत्यादि। अत्र छान्दोग्ये सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्यारभ्य या सद्विद्या प्रवृत्ता, तादृश सद्विद्यायां यः सत्पद वाच्यः परमात्मा प्रक्रान्तः, तस्यैव सत्पद वाच्यप्रक्रान्त परमेश्वरस्योपसंहारस्थ वाक्येषु आत्मरूपेण श्रवणमस्ति, "स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो" हे श्वेतकेतो ! स एव सत्पद वाच्यः परमात्मा तवात्मा, अर्थात् त्वमपि तत्वस्वरूप तदात्मस्वरूप एवेति श्रुत्यर्थः। "आत्मत एवेदं सर्वम् "इदं परिदृश्यमानं स्थूलजंगमस्थावरसाधारणं सर्वं जगत् तादृश परमात्मनः सकाशादेव जातम्। परमात्मनः सर्वमिदं वस्तु शरीररूपत्वात्तदात्मकमेवेति श्रुत्यर्थः। यतोऽग्रे एतद्रूपेण प्रतिपादितम्। अतः सत्पद वाच्यः सर्वजगत्कारणः परमात्मैव। न तु जगतः कारणं सम्बन्धिता रूप से तादृश कारण निष्ठ ईक्षण सर्व विषयक है, इस बात को अर्थापत्ति के बल से ही होता है सो नहीं अपितु तादृश सर्व विषयक ईक्षण शब्द द्वारा भी सिद्ध होता है इस बात को बतलाने के लिए वृत्तिकार कहते हैं "अत्र सद्विद्यायामित्यादि' इस सद्विद्या के प्रकरण में जो सत्पद से वाच्य है उस सत्पद वाच्य का अग्रिम प्रकरण में आत्मा रूप से श्रवण है, "स एषोऽणिमा, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" "आत्मन आकाश, आत्मनस्तेज, आत्मन आपः, आत्मन एवेदं सर्वम्"(आत्मा से आकाश होता है, आत्मा से तेज उत्पन्न होता है और आत्मा से ही यह परिदृश्यमान सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं)। इत्यादि स्थल में सत्पद वाच्य जो परमात्मा है वही "सदेव सोम्येदम्" इस वाक्य में प्रतिपादित है तथा तादृश परमात्मा ही सत्पदवाच्य है।

कथमपि प्रधानादिकं भवतीति। यद्यप्यन्यत्र प्राय आक्षेपादेव जगत्कारणता परमात्मनि समर्थिता भवति, तथापि श्वेताश्वेतराणामुपनिषदि "सकारणं करणाधिपाधिप" इत्यत्र तथा "स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इत्याद्यनेकस्थले मुखत एव परमेश्वरस्य जगत्कारणत्वं श्राव्यते, न तु तथा मुखतः क्वचिदपि स्थले परकल्पितानुमानिक प्रधानस्य कारणता श्राव्यते। अतः सत्पद वाच्यः परमात्मैव जगतः कारणं न तु प्राधानादिकमिति वृत्तेरक्षरार्थः।

भावार्थस्तु परमात्माशब्देनैव परमात्मा सर्वज्ञः कारणमिति "स कारणं करणाधिपाधिप" इत्यादि श्रुतौ श्रूयते। एवं छान्दोग्यीयसद्विद्या प्रकरणेऽपि सर्वज्ञस्य परमात्मनः साक्षादेव सर्वजगतः कारणता श्रूयते तथाहि "सदेव सोम्येदमग्र आसीदि" ति प्रक्रम्य "तत्तेजोऽसृजत सत्मूलाःसोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" इति परामृश्य "स एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो" इत्यन्तप्रकरणै सांख्य परिकल्पित आनुमानिक जड़ प्रधान सत्पद वाच्य नहीं है, यह सिद्ध होता है। एवं स्व शब्द से ही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्व नियन्ता परमेश्वर ही स्थावर जंगम सकल जगत् का कारण है, यह बात "य कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चित् जनिता न चाधिपः" (वह परमात्मा इस स्थावर जंगम सकल जगत् का कारण है तथा परमात्मा, कारणक जो इन्द्रियग्राम और कार्यकलेवर उसका अधिप अधिष्ठाता जो जीवात्मा उसका भी अधिप नियन्ता है। ऐसे परमात्मा का उत्पादक कोई नहीं है न वा नियन्ता ही है)" एवं "न तस्यकार्यं करणं च विद्यते नतत्सम श्चाभ्यधिकश्च दृश्यते, परस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च" (उस परमेश्वर का करण कलेवर नहीं है, उस परमेश्वर का सदृश कोई नहीं है, उससे बड़ा कोई देखने में नहीं आता है, इस परमात्मा की शक्ति अति उत्कृष्ट है और स्वाभाविक ज्ञान, क्रिया, तप बल है)" इत्यादि

अथानन्दमयाधिकरणम् ॥६॥

आनन्दमयोऽभ्यासात्॥१।१।१३॥

तैत्तिरीये "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमय एतेनैषः पूर्णः" (तै, २।५।) इति श्रूयते । अत्रानन्दमयः परमात्मा जीवो वेति

रूपसहृत्य समुपदर्श्य च सत्पदवाच्यस्यात्मत्वं सद्रूपस्यात्मनो जगत्स्रष्टृत्वादिका सर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्त्वादिका अनेके हेयप्रत्यतीकाः कल्याणगुणाः स्पष्ट रूपेण प्रतिपादिताः। एवमेतस्यामेवोपनिषदि 'आत्मैवेदं सर्वम्' इति प्रक्रम्य "सत्यकामः सत्य संकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः सविजिज्ञासितव्यः"इत्यन्त प्रकरणेन स्पष्टमेव सत्पदवाच्यस्यात्मनः सत्यकामत्वसत्यसङ्कल्पादिका अनेके कल्याणगुणात्मकाधर्माः समुपस्थापिताः एतस्मात्कारणात्सत्पदवाच्यसर्वज्ञपरमात्मन एव सर्वजगत्कारणता सिद्ध्यति न तु प्रदर्शित गुण, विरहितस्य प्रधानादेर्जगत्कारणता विभूषयति प्रधानादीनां मस्तकमिति संक्षेपः ।१२।

इति जगद्गुरु श्री रामानन्दाचार्य—रामप्रपन्नाचार्य योगिन्द्रकृतस्य श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणस्येक्षत्यधिकरणम् ।५।

प्रकरण में स्व शब्द से परमेश्वर का कथन किया गया है। इसलिये "सदेव सोम्येदमग्रे" इस प्रकरण में सत्पद वाच्य परमात्मा ही है, परन्तु आनुमानिक प्रधान सत्पदवाच्य जगत् का कारण नहीं है, क्यों कि पूर्वापर सकल श्रुतियों का एक वाक्यता करने पर यह भी होता है कि सर्व शक्तिमान् सर्वज्ञ परमात्मा जो कि सब की आत्मा है वही सत्पद से वाच्य चेतन रूप से जगत् का कारण है, किन्तु अचेतन प्रधान अथवा परमाणु प्रभृति जगत् का कारण नहीं है। न वा चेतन भी जीवात्मा अज्ञ होने के कारण सकल जगत् का कारण है, अपितु परमात्मा ही सबका कारण है। इतिसारबोधिनी में ईक्षत्यधिकरण १२॥५॥

संशयः। एतद् प्रकरण पठितानामन्नमयादीनां पदार्थानां सङ्गतिर्जीव एव भवति। अतोऽत्रानन्दमय पदेन जीव एवाभिहित इति पूर्व पक्षः। अत्राभिधीयते, इहानन्दमयः परमात्मैव। "रसं ह्येवाय लब्ध्वानन्दी

विवरणम्—सर्वज्ञस्य ब्रह्मणो जिज्ञासा कर्तव्या, तादृशं ब्रह्मजिज्ञासितव्यमिति, "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इति सूत्रेण प्रतिज्ञातम्। तादृशं ब्रह्मशास्त्र प्रमाणेनैव समधिगतं भवति, शास्त्रञ्च सर्वज्ञसर्वशक्तिविशिष्टे जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणे ब्रह्मण्येव प्रमाणं नत्वचेतने प्रधानादाविति शास्त्रयुक्तिपूर्वकं प्रतिपादितम्। न चास्ति कश्चिद्वेदान्तभागो यो हि, एतद्विपरीतं बोधयेदित्यपि गतिसामान्येन प्रथमसूत्रादारभ्य श्रुतत्वाच्चेत्येतदन्तप्रकरणेन व्युत्पादितमेव। अतः परं वेदान्ते किमपरमवशिष्यते यदर्थमेतदुक्तसूत्राणामवतार इति, शंकां कृत्वा शास्त्रे द्विप्रकारकं ब्रह्म श्रूयते-एक निर्विशेषमपरं सविशेषम् तदत्र कस्य ग्रहणं कर्तव्यं कस्य ग्रहणं न कर्तव्यम्। एवं गुण धर्म भेदेन तदुपासनमपिविधीयते तत्र कस्य ग्रहणं कस्य वा कीदृशमुपासनं विधेयं तादृशोपासनस्य

सारबोधिनी "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र से लेकरके "श्रुतत्वाच्च" एतत्सूत्र पर्यन्त प्रकरण से सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्वादि गुणविशिष्ट सर्वात्मक चेतन ब्रह्म को वेदान्त प्रतिपाद्यत्व बतलाया गया, तथा अचेतन सांख्य परिकल्पित प्रधान को जगत्कारणता का भी प्रतिपादन किया गया, परन्तु एतवता निस्प्रतिपक्ष रूप से ही ब्रह्म में जगत्कारणता का निश्चय नहीं हो सकता है क्योंकि भगवान् की उपासना करने से संप्राप्त सर्वज्ञत्वादि गुण विशिष्ट चेतन जीव भी तो एतादृश गुण विशिष्ट से परिगृहीत हो सकता है, एतादृश किसी की आशंका को लेकरके उस शंका का निराकरण करने के लिए वृत्तिकार प्रक्रम करते हैं "तैत्तिरीये" इत्यादि। तैत्तिरीय उपनिषद् में "तस्माद्वाएतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयस्तेनैष पूर्णः" यह जो विज्ञान मय आत्मा है उससे भिन्न तथा विज्ञानमय की

भवति" (तै२।७।८) "एषह्येवानन्द याति" (तै २।७) "एतमानन्दमय-मात्मानमुपसंक्रामति" (तै।२।८) "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" (तै २।९) इत्याद्याग्रिमवाक्येषु आनन्दमयपदस्य परमात्मन्येवाभ्यास दर्शनात्॥१३॥

कीदृशं फलमित्यादि विविधविषयविचारणार्थमुत्तरसूत्राणामवतारः क्रियते इत्याशयं हृदि निधाय तेषु विचारणीयविषयेषु प्रथमत आनन्दमया-धिकरणमुत्थाय वृत्तिकारः प्राह "तैत्तरीय" इत्यादि। तैन्तिरीयाणा मुपनिषदि अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय पर्यन्तमनुक्रम्य तदनु "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तरः आत्मा, आनन्दमयस्तेनैषः पूर्णः" तस्मात् पूर्वोक्तादन्नमयादित आरभ्य एतस्मात् विज्ञानमय पदवाच्यादपि अन्योभिन्नस्तथा एतेभ्यो अन्तरः सूक्ष्म आनन्दमयः कश्चनात्मा तेनैषो विज्ञानमयः पूर्ण इति श्रुत्यर्थः। एवं खलु श्रूयते तैत्तरोयकप्रकरणे। तत्र मयट् प्रत्ययस्य विकारोऽर्थः प्राचुर्य्योपि, तदिह किं विकार प्रायो जीवो वा आनन्दमयपदवाच्यः, आनन्द प्रचुरः परमात्मा वा आन-

अपेक्षा से आन्तर एक आनन्दमय है, उस आनन्द से यह विज्ञानमय पूर्ण है" ऐसा सुनने में आता है। अब सन्देह होता है, कि आनन्दमय शब्द का वाच्य संसार प्राप्त कोई जीव है अथवा सकल जगदाधार भगवान् परमानन्द मय वाच्य है। "एतत्प्रकरण पठिताना"मित्यादि, इस आनन्दमय प्रकरण में परिपठित जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय है उन सबका संबन्ध जीव के साथ में है, तव उसी प्रवाह में श्रुत जो आनन्दमय है उसका भी सम्बन्ध संसारी जीव के साथ हो होना चाहिये। यदि कदाचित् अन्न-मयादिक का संबन्ध जीव में किया जाय और आनन्दमय का संबन्ध परमात्मा में किया जायतो यह "अर्धजरतीय" न्याय के समान हो जायगा। इसलिये अन्नमयत्वादिक के समान आनन्दमय का भी संबन्ध जीव के साथ ही है परमेश्वर के साथ नहीं है, अर्थात् आनन्दमय शब्द वाच्य परमात्मा नहीं है किन्तु जीव ही है। नहीं कहो कि सर्वापेक्षया आन्तर होने से परमात्मा ही

न्दमयशब्देन प्रतिपाद्यते ? एतादृश रूपेण संशयो जायये। तत-श्चैतत्प्रकरणपठितानन्दमयादिपदार्थानां संगतिर्जीवे एवस्यान्न तु परमात्मनि, तस्मादानन्दमयशब्देन जीव एवोपस्थापितो भवतीति पूर्वपक्षः अर्थादत्रानन्दमय शब्देन जीव एव परिगृहीतो भवति न तु परमा-त्मनो ग्रहणम्। आनन्दमय इति विकारे प्राचुर्ये च मयटस्तुल्यमेव मुख्यार्थत्वमिति विकारार्थकान्नमयादिपदप्राय पाठादानन्दमय पदमपि विकारार्थकमेव युक्तम्। न च प्राणमयादिषु विकारार्थत्वस्यायोगात्स्वा र्थिक एव मयट् प्रत्ययः स्यादिति वाच्यम्! प्राणाद्युपाधि परिच्छिन्नो जीवात्मा भवति प्राणविकार इत्यर्थात्। न च सत्यर्थे स्वार्थिकत्वं मयट् प्रत्ययार्थो युक्तः। चतुर्णामपि कोशानामान्तर इत्यस्मात्कारणादानन्द-मयस्य सर्वान्तरतानोचिता; यतः शारीरो जीव एव प्रियादि योगित्वा त्सर्वान्तरो न तु परमात्मा, तस्य प्रियादिस्पर्शाभावात्। न च सर्वा-

आनन्दमय है जीव नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यह श्रुति सर्वा-पेक्षया आनन्दमय का प्रतिपादन नहीं करती है किन्तु अन्नमयादि चतुष्टया-पेक्षया आन्तरता का प्रतिपादन करती है। नहीं कहा कि आगे कोई दूसरा नहीं सुना गया है इसलिये यही आनन्दमय सर्वान्तर है, यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि जिसकी अपेक्षा से जिसमें आन्तरत्व सुना जाता है तदपेक्षया ही वह आन्तर होता है न कि सर्वापेक्षया। "विद्वान् देवदत्तः" विद्वान् देवदत्त है यह कहने से स्वपरिजन अथवा इतर मनुष्यापेक्षयैव विद्वत्ता होती है न कि देवाद्यपेक्षया भी अधिक पाण्डित्य का बोध होता है, तद्वत् प्रकृत में भी समझना चाहिये। एवं प्रियादि अवयव का भी संबन्ध श्रुत है यह अवयव से सम्बन्ध-शरीर जीव को ही हो सकता है न कि शरीर रहित परमात्मा को संभवित है। न वा शरीरवत्व भी परमात्मा में हो सकता है, क्यों कि "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" "तदपाणि पादम्"इत्यादि श्रुति से निष्कल निरंजन में श्रुति शरीर करण के अभाव का प्रतिपादन करती है।

पेक्षया आन्तरत्वेन ब्रह्मैवानन्दमयं स्यान्न जीव इत्यपि न युक्तम् नेयं श्रुतिरानन्दमयस्य सर्वान्तरतां प्रतिपादयति। किन्तु अन्नमयादिकोश चतुष्टयस्यान्तरतामेवानन्दमयस्यान्तरतामानन्दमयकोश प्रतिपादयति। न चानन्दमयादन्यस्यान्तरस्य श्रवणाभावादानन्दमयकोश एवार्थात्सर्वान्तरो भवतीति कथनमपि मनोरमम्; यदपेक्षं यस्यान्तरत्वं श्रुतं भवति, तत्तस्मादेवान्तरं भवति न तु सर्वापेक्षया, नहि देवदत्तो बलवानिति कथिते सर्वसिंहादि जीवापेक्षयापि बलवानिति ज्ञायते, किन्तु समानजातीयमनुष्यान्तरानपेक्ष्य देवदत्तो बलवानित्येव ज्ञायते। एवमानन्दमयकोशोपि, अन्नमयादि कोशचतुष्टयानपेक्ष्यैवान्तरो न तु सर्वापेक्षया आन्तर इति प्रतिभाति। न च परिणामादिरहितस्य निष्कलस्यनिरंजनस्य परब्रह्मणः प्रियाद्यवयवसंबन्धः कदाचिदपि संभवति, न वा तादृशस्य निष्कलादिलक्षणलक्षितस्य परमात्मनः शरीरवैशिष्ट्यमपि संभवति, "अपाणिपादोजवनो ग्रहीता" "न तस्य

इस लिए आनन्दमय शब्दसे जीव का ही ग्रहण होता है न कि परमात्मा का। यह पूर्व पक्षियों का आशय है। इस प्रश्न के उत्तर में वृत्तिकार कहते हैं कि "अत्राभिधीयते,, इत्यादि।

इस प्रकरण में समस्त जड़चेतन- साधारण जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान परमात्मा का ही ग्रहण होता है, क्योंकि जगत्कारण परमात्मा में आनन्द शब्द का अभ्यास अनेकशःदेखने में आता है। आनन्दमय का प्रक्रम करके "रसो वै सः" इससे उस परमात्मा को रसरूपता का प्रतिपादन करके कहा है कि, "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" (रस स्वरूप परमात्मा को उपासनादी द्वारा प्राप्त करके यह उपासक आनन्दित हो जाता है) "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यादयदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" कौन व्यक्ति प्राणादि प्रक्रियाओंमें प्रवृत्त हो सकता है यदि आकाशपदवाच्य परमात्मा आनन्दस्वरूप नहीं हो "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति" (इस परमानन्द मय परमात्मा को

कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इत्याद्यनेक श्रुत्या परमात्मनः शरीरसंबन्धाभावस्य शास्त्रे प्रतिपादनात्। तस्मात् शारीरत्वादि श्रवणात् प्रियादि संबन्धश्रवणाच्च संसारी एव कश्चिदानन्दमयो न तु परमात्मा। अतः संसारधर्मविशिष्ट एव कश्चिदुपास्य त्वेन श्रुतो न तु ज्ञेय ब्रह्मेति। अपि च यदि प्राचुर्यार्थकोपि मयडिति स्वीक्रियेत तथापि कश्चित्संसारी जीव एवानन्दमयो न तु परमात्मा आनन्दमयः, तथा हि आनन्द प्रचुरतापि, आनन्दविरोधी यत्किञ्चिद्दुःखलवसंभवे एव संभवति, न तु दुःखस्यात्यन्तासंभवे, यथा "अन्नमयो यज्ञः" इत्युक्ते तस्मिन् यज्ञे अन्नस्याधिकता ज्ञायते, अन्नापेक्षयान्नभिन्नमपि वस्तु गौणरूपेण वर्तते एव, न तु अन्न व्यतिरिक्तदुग्धघृतादेरत्यन्ताभावो भवति, तद्वदिहापि आनन्दप्राचुर्ये गम्यमाने आनन्द विरोधिनो दुःखस्याल्पता तु ज्ञायते एव न तु दुःखस्यात्यंता भावः। न च परमात्मनि दुःखलवलेशोपि संभवति तस्यानन्दैकरसवत्वात्,

प्राप्त करता है) "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" परमात्मा के आनन्द स्वरूप को अनुभव करने वाला उपासक किसी से भी भीति का अनुभव नहीं करता है)। इत्यादि अनेक अग्रिम वाक्यों में आनन्दमय पद का परमात्मा में ही प्रयोग देखने में आता है। इससे यह सिद्ध होता है कि आनन्दमय वाच्य परमात्मा ही है, किन्तु जीवात्मा अथवा प्रधानादिक पदार्थ आनन्दमय पदवाच्य नहीं हैं। एवम्, "सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" वह परं ब्रह्म सत्यस्वरूप विज्ञानस्वरूप आनन्दमयस्वरूप है, इत्यादि श्रुत्यन्तर में आनन्दमय शब्द का प्रयोग देखने में अता है, इसलिये आनन्दमय पदवाच्य परमात्मा ही है संसारी जीव नहीं।

यदि कहें कि अन्नमय, प्राणमयादिक जो गौण आत्मा के प्रवाह में आगत यह आनन्दमय भी गौण ही आत्मा है मुख्यात्मा नहीं। ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि यह जो आनन्दमय है वह सर्वापेक्षया आन्तर है, जैसे कि अन्न

तस्मादत्रानन्दमय शब्देन जीव एव परिगृह्यते न तु कथंचिदपि परमात्मन आनन्दमयवाच्यत्वमिति पूर्व पक्षिणामभिप्राय इति ॥

स्वमते आनन्दमय शब्देन हेयप्रत्यनीकानन्तानेकनिरतिशय कल्याणगुणगणाकरस्य श्री साकेताधिपति श्री रामाख्यस्य परब्रह्मण एव ग्रहणं भवति, तमिमं स्व सिद्धान्ताभिमतं वस्तुविशेषमेवानन्दमय शब्देन प्रतिपादयितुं तदितरमतं प्रतिक्षेप्तुश्च वृत्तिकारः प्रक्रमते "अत्राभिधीयते" इत्यादिना। इह प्रकृत प्रस्तावे आनन्दमय शब्देन परमात्मन एव ग्रहणं कृतः, अभ्यासात् प्रायो बहुषु स्थलेषु परमात्मन एवानन्दमय शब्देन ग्रहणात्। तथाहि "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" अयं जीवोदुःखानेकप्रकारकनदी स्रोतसा प्रत्यहमुह्यमानः संसार सागरे सर्वथैव निर्विण्णो जराजन्मवृद्धाद्यनेकविधोपप्लव संसारासारतां वैराग्यादिना विज्ञाय तं परित्यक्तुं शरणमन्वेषयत् परमदयालुगुरुभिरुपदिश्यमानः श्रीरामात्मकपरमात्मन आनन्दैकरसस्य पादसेवनमेव संसारोच्छेदकं नान्यदन्यत् किंचित्संसारोच्छेदकमिति ज्ञात्वा "करोमि सीतापतिपाददासतां नमामि सीतापतिपादपङ्कजम्। पठामि सीतापति-

मयसे लेकरके विज्ञानमयान्त में एक के बाद दूसरे का कथन किया गया है, उस प्रकार से आनन्दमय के बाद पुनः किसी का कथन नहीं होने से उस में सर्वापेक्षया आन्तर होने से आनन्दमय सर्वान्तर है और सर्वान्तर होने से मुख्य आत्मा ही है किन्तु गौणात्मा नहीं। परमात्मा का शरीर नहीं है तब प्रियशिरस्त्ववादि का कथन किस प्रकार संगत होता है इसलिये जीव ही आनन्द मय है परमात्मा नहीं है, यह कथन भी ठीक नहीं है क्यों कि परमात्मा स्वभावतः यद्यपि शरीर रहित है तथापि भक्त के ऊपर अनुग्रह करने के लिये लीलाविग्रह को धारण करते है इस प्रकार से

काव्यसंहतिं जपामि सीतापतिमन्त्रभूपतिम्" इत्यादि रूपेण परमाचार्य निर्देश प्रकारेण श्रीरामस्य पादपंकजसेवार्थम्, भगवत्सामीप्यं संप्राप्यानन्दैकस्थानम्, इतः पूर्वमानन्दोपिघर्मराशिसंतप्तजीवो यथा शीतलछिव संप्राप्यानन्दी भवति तथैवायं जीवः सांसारिक दुःख संतप्त आनन्दात्म स्वरूपं परं ब्रह्म श्रीरामस्यान्तिकं समुपेत्यानन्दप्राप्त्याकृतार्थतामिवात्मानं करोतीति । "एष एवह्यानन्दयति" एष उपर्युक्तः परमात्मादुःखसन्तप्तजीवं प्रपत्याप्रतिपन्नं स्वकीयकृपालेशेनैव आनन्दयाति, आनन्दं ददाति। यथा यदा मधुरस्वभाववान् गुडः स्वकीय संबन्धाद् गोधूमादिकचूर्णमपि मधुरयति, परमात्मापि स्व संबन्धिनं प्रपन्नं जीवमप्यानन्दयतीति तदा का कथा तस्य परमात्मन आनन्दमयत्वे। यथा वा यो हि स्वधनैकदेशेनान्यानपि धनवन्तं करोति तस्य स्वकीय धनवत्वे किमपि कथनीयं नावशिष्यते, अर्थात सर्वथा धनस्वभावक एवेति। एवमेवात्र परमात्मा स्वप्रपन्नंजीवमपि यदानन्दयति तदा का कथा परमात्मन आनन्दमयत्वे इति "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति एतं पूर्व प्रक्रान्तमानन्दमयं सर्वथा आनन्दस्वभावकमात्मानं परमात्मानं स्वीकृतशरणागतिर्जीवविशेष, निदिध्यासनकरणानन्तरमुपसंक्रामति तादृशमानन्दस्वभावकं भगवन्तं श्री रामं प्राप्नोति, अर्थात् पुनरावर्तविवर्जितं साकेताख्यदिव्यस्थानं प्राप्नोति, प्राप्य च कृतार्थो भवतीति वृत्यन्तर्गतचतुर्थश्रुत्यवयवस्यार्थः। "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" परमात्मा संबन्धिविशेषानन्दविषयकज्ञानवान् जीवः, अर्थादुपासनाकृततीक्ष्णचेतसा

शास्त्र में वर्णन किया गया है। अतःप्रिय शिरस्त्वादि कल्पना करने में भी कोई आपत्ति नहीं है। अतः यह सिद्ध हुआ कि परमात्माही आनन्दमयपदवाच्य है, संसारी जीवात्मा तो कथमपि आनन्दमय पदवाच्य नहीं हो सकता है।

परमात्माविषयकानन्दविषयक परिज्ञानवान् जीवः कुतश्चिदपि कस्मादपि दुःखाद्दुःखकारणाद्वा नबिभेति. न प्राप्नोति कदाचिदपि दुःखं दुःखकारणं वा संसारम्, परमानन्दात्मकपरमात्मसान्निध्यं प्राप्य भयं तस्य संसारस्य संबन्धं परित्यज्य यथासुख भगवन्तं परिचर्यया परिचरन् सुखीभवति सर्वबन्धविनिर्मुक्तिरस्य भवतीत्यर्थः। इत्यादि विविध प्रकार कोत्तरवाक्य समुदायेषु, आनंदमयशब्दस्य नित्यनिरतिशयकल्याणगुणाकरपरमात्मन्येवाभ्यासदर्शनात् स्थितमेतद् यदानन्दमयपदवाच्यः परमात्मैव न तु अन्नमयादिवत् आनन्दमयः कश्चित् संसारी जीव इति।

यश्चायं परमात्मा स एवानन्दमयो भवितुं योग्यो यतः "अभ्यासात्" परमात्मन्येवानन्दशब्दोऽनेकवारमभ्यस्यते। अर्थात् "तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्ये" ति वाक्यस्य प्राणमयपर्यायमारभ्य कथितस्य प्राणमये तत्पूर्वस्यान्नमयस्य "एष एव शारीर आत्मा य एषः प्राणमयः,, इत्येवं रूपेणार्थवर्णनवत् तदनन्तरसर्वपर्यायेष्वपि तस्य पूर्वस्य प्राणमयस्य "एष एव शारीर आत्मा य विज्ञानमयः तस्य पूर्वस्य विज्ञानमयस्य एष एव शारीर आत्मा य एष विज्ञानमयः, तस्य पूर्वस्य विज्ञानमयस्य "एष एव एष आनन्दमय" इत्यस्यार्थस्य वर्णनेन तस्य एष एव इत्यानन्दमयपर्यायगतवाक्यप्रतिपाद्यस्य "सोऽकामयत,, इति जगत्कारणत्वकथनेन जगत्कारणविशिष्टानन्दमयत्वेन भाष्यमाण आनन्दमयः परमात्मैव नत्वन्यः कश्चित्। एवं प्रकारेणानन्दमयं प्रस्तुत्य "रसो वै सः" "इति तस्यैव परमात्मनोरसस्वरूपतां प्रतिपाद्य पुनः कथ्यते

आगे का जो भृगुवल्लीप्रकरण है उससे भी यही अर्थसिद्ध होता है, आनन्दमय वाच्य परमात्मा ही है जीव नहीं। इस तत्त्व को समझाने के लिए भृगु वल्ली प्रकरण में जगत् के सृष्टि–स्थिति–लय–कारण परमात्मा ही है इसको स्पष्ट करते हुये वरुण ने पुत्र को क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय

"रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवती" ति तस्मादानन्दमयपदवाच्यः परमात्मैव भवतीति सूत्रेरक्षरार्थः ।

आकरग्रन्थपरिशीलनप्रवणा पूर्वाचार्यास्तु प्रकृतविषये इत्थमा-दिशन्ति तथाहि अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यारभ्य श्रुतत्वाच्चेत्यन्त सूत्रनिकरैः सर्वज्ञसर्वशक्तिमच्चेतनात्मकं ब्रह्मैव जगतः कारणमित्यु-पपाद्य प्रधानस्य च स्वतंत्रस्य जगत्करणतां निरस्य ब्रह्मलक्षणञ्चाव्या-प्त्यादिदोषपरिवर्जितमिति व्यवस्थायि, तथापि विशिष्ट माहात्म्य-प्राप्तस्य चेतनजीवविशेषस्य निराकरणं तु न जातमिति भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिरिति न्यायाद् ब्रह्मलक्षणं न निर्दुष्टमिति शङ्कां व्यवच्छेत्तुमग्रिमप्रकरणमारभते, आनन्दमयोऽभ्यासादी'ति। अयं भावः तैत्तिरीयके–अन्नमय–प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय–कोशं प्रतिपाद्या नन्तरं कथयति"तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्द मय स्तेनैष पूर्णः स वा एष पुरुष विध एव, तस्य पुरुष विधतामन्वयं पुरुष विधः । तस्य प्रियमेव शिरः । मो दो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" एवं रूपेण तैत्तिरीयक श्रुतौ श्रूयते । तत्र भवति संशयः किं "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यत्र यद् ब्रह्म प्रक्रान्तं तदेव ब्रह्म इहापि प्रतिपादितं भवति अथवा सुखदुःखादि फलानामुपभोक्ताजीवः प्रतिपादितो भवतीति। तत्र यदर्थेपरिगृह्यमाणे प्रकरण प्रतिपादितार्थानां सामञ्जस्यं भवेत्स एव गृहीतव्यः । सामञ्जस्यन्तु निखिलप्राकरणिकार्थानां जोवे भवति, तस्मादत्र जोव एवानन्दमय

विज्ञानमय, आनन्दमयान्त का उपदेश दिया तब अन्त में कहा कि "आन-न्दाद्ध्येव हि इमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दमेव प्रतियान्ति" आनन्दात्मक परमात्मा से आकाशादिकभूत उत्पन्न होते हैं, एवं स्थिति काल में उसी आनन्द में अवस्थित रहते हैं और प्रलयके समय में उसी

पदेन परिगृहीतव्यो, यतः, अन्नमयादि विकारसाहचर्यात् । ,तस्यैष: शारीर आत्मा"इत्यनेन तस्य पूर्वस्य पुच्छवत्तदाधारत्वप्रतिपादनेन, तद पेक्षया पार्थक्यप्रतिपादनात्, तस्य चेतनत्वेन संकल्पपूर्वकजगतः स्रष्टृत्वमपि संभवत्येव । एवं "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"इत्यारभ्य "आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति,, एतत्पर्यन्ता श्रुतिः सुखदुःखाधारस्यैव जीवस्य ब्रह्मरूपतामानन्दस्वरूपतां निखिलस्थावरजंगमजगत्कर्तृत्वमपि च प्रतिपादयति । तस्मादत्रानन्दमयशब्देन जीव एव प्रतिपादितो भवति न तु सकलमलरहितोऽपरिणामी परमात्मानन्दमयपदग्राह्य इत्येवं पूर्वपक्षे सति आनन्दमयोऽभ्यासादिति सूत्रमुत्थापितवान्। प्रकृतप्रकरणे आनंदमय शब्देन आनन्दमयः परमात्मैव परिगृहीतव्यो न त्वल्पज्ञो जीवःकुतः एवं तत्राह अभ्यासात्। अर्थात् आनन्दमय शब्दस्य परब्रह्मणि प्रयोगोऽनेक स्थलेषु श्रूयमाणो भवति न तु जीवे कुत्रचिदपि । तथा हि" अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः" अनया श्रुत्या आनन्दमयं प्रक्रम्य तदनन्तरमग्रिमप्रकरणे "रसो वै सः" इत्यनेन वाक्येन पूर्वप्रकृतस्यैव रसस्वरूपत्वं सारतत्त्वमानन्दरूपताञ्च प्रतिपाद्य; ततः पुनर्निवेदयति 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति, कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यद्येष आनन्दो नस्यात् एष एवानन्दयति । यदाह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽ निरुक्तेऽनिलयनेऽयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति'सैषानन्दस्यमीमांसा भवति युवास्यात्साधु युवाध्यायकः। आशिष्ठो

आनन्दमय में विलीयमान हो जाते हैं। इस प्रकार से श्रुति आनन्द मय को ही ब्रह्मस्वरूपतया निश्चय कराती है। उसके बाद पुनः प्रश्न प्रतिवचन के अभाव होने से भृगु की जगत्कारण विषयक जो जिज्ञासा थी वह आनन्दमय में आकरके समाप्त हो गयी। उससे यह सिद्ध होता

द्रढ़िष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णास्यात् स एको मानुष आनन्दः' ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्य गन्धर्वाणा मानन्दः"। एवं प्रकारेण पूर्व पूर्वानन्दानां शत शत गुणाधिकेनानन्देन समानमुत्तरोत्तरेषाञ्चैक आनन्दः प्रदर्शितः। एवं प्रकारेण गन्धर्व देवगन्धर्वपित्राजानदेवकर्मदेवेन्द्रबृहस्पति–प्रजापत्यन्तानन्दान् प्रदर्श्य पुनः प्रतिपादयति "ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः, स एको ब्रह्मण आनन्दः। यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" इत्येवं रूपेण तैत्तिरीयकस्यानन्दवल्लीप्रकरणे बहुशोऽभ्यस्यमानमानन्दपदं स्वकीयशुभकर्मसमुदायैः समुपार्जितानन्तदुःखाश्रये जीवे तादृशानन्दः कथमिव समवेयात्। ततश्च तादृशानन्दविशेषो हेय प्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणाकरं परमात्मानं भगवन्तं श्री साकेताधिपतिं श्री राममेवानुसेवते तदाहुरानन्दभाष्यकाराः "अतः परमात्मैवानन्द मयः सेध्दुमर्हति न ततोऽन्यो जीव इति" (आनन्दभाष्य१।१।१३)तस्मात् सिद्धं यत् आनन्दमयः परमात्मैव न तु परमात्मव्यतिरिक्तश्चेतनोपि कश्चित् प्रकृतानन्दमयपदप्रतिपादितो भवतीति।

यमेव सेवते रामं कल्याणादिक सद्गुणाः।
आनन्दमयशब्दोऽपि तमेवाश्रयते सदा ॥१॥ इति ॥१३॥

है कि वारुणी विद्या का आनन्दमय में ही ब्रह्मत्व सर्वजगत्कारणत्व का निश्चय होता है। इसलिये आनन्दमय का वाच्यार्थ परमात्मा सर्व जगत्कारण सर्वेश्वर भगवान् श्रीराम ही हैं। किन्तु दुःख संस्पृष्ट जीवात्मा आनन्दमय पदवाच्य नहीं है ॥१३॥

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ।१।१।१४॥

ननु तथाप्यानन्दपदवाच्यत्वं ब्रह्मणः सिध्येन्नत्वानन्दमयपद वाच्यत्वम् ।"दारुमयो हस्ती""पर्णमयी जुहूः" इत्यादौ यथा विकारार्थ

विवरणम् - स्यादेतत् भवतु नाम परमात्मनः कथञ्चित् परमानन्द पदबोध्यत्वं परन्तु आनन्दमयवाच्यत्वन्तु न संभवति यथा मृन्मयो हस्ती मृन्मयो मृगः मार्दवो घटः इत्यादिस्थलेषु मृद्विकारार्थकत्वं मयट् प्रत्ययस्य विकारार्थकत्वमेव तथैव प्रकृतेऽपि आनन्दमयपद घटितमयट् प्रत्ययोऽपि विकारार्थक एव। अन्नमय इत्यत्र यथा विकारार्थको मयट् तथा चानन्दविकारत्वन्तु नित्यस्वरूपस्य परमात्मनो न सम्भवति किन्तु तदितरस्यैवेति शङ्कां व्युच्छेदाय प्रवृत्तो वृत्तिकारोऽग्रिमसूत्रमुत्थापयितुं प्रक्रमन्नाह ननु तथाप्यानन्दपदे त्यादि, पूर्वविचारितपद्धत्या यथाकथञ्चित्परमात्मन आनन्दशब्देन ग्रहणं भवतु नाम तथापि आनन्दमयपदवाच्यत्वन्तु न संभवति, यतो यथा दारुविकारकहस्तिनि दारुमयो हस्तीतिव्यवहारः, यथा वा पर्णविकारा-

सारबोधिनी–यद्यपि "सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों केबलसे परमानन्द वाच्यता ब्रह्म में घटित हैं, तथापि परमानन्दमय पद से वाच्य नहीं हो सकता है परमात्मा, क्योंकि अन्नमयादिक में जिसतरह मयट् प्रत्यय विकारार्थक है उसीतरह आनन्दमय पद में भी मयट् शब्द विकारार्थक है क्योंकि विकार प्रवाह के अन्तर्गत है। इसलिए स्वभावतःनिर्विकार :परमात्मा विकारार्थक मयट् प्रत्यय घटित आनन्दमय शब्द का वाच्य नहीं हो सकता है, किन्तु स्वभावतः सविकार जीव ही आनन्दमय शब्दका वाच्य है। इसप्रकार की शंका का निराकरण करने के लिए प्रथमतः सूत्रद्वारा समुपस्थापित पूर्वपक्षका "प्राचुर्यात्" इस सूत्रावयव से निराकरण करने के लिये वृत्तिकार प्रक्रम करते हुए कहते हैं "ननु तथाप्यानन्दपदेत्यादि वृत्तिः। "सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों से यद्यपि परमात्मा आनन्दपदवाच्य तो हो सकता

को मयडस्ति तथानन्दमयपदेऽपि स्यात् । किञ्चात्रैवान्नमय शब्दे विकारे मयड्विद्यते तत्साहचर्यादानन्दमयशब्देऽपि मयटो विकारार्थकत्वमेवेति चेन्न आनन्दमयशब्दे मयटः प्राचुर्यार्थकत्वात् ।

त्मके जुहू पदार्थे "यस्य पर्णमयी जुहू भवती"त्यादि स्थले यथा विकारार्थको मयट् प्रत्ययस्तथैव प्रकृते आनन्दमयपदेपि विकारार्थक एव मयट् अर्थादस्मिन् प्रकरणे प्रथमोपात्त अन्नमयः इति पदे यो हि मयट् प्रत्ययः स विकारार्थक एव यतोऽन्नविकारत्वस्य शरीरे प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । ततश्च 'अन्नमयः' इत्यत्र मयट् प्रत्ययो यथा विकारार्थक एव समधिगत स्तथा तत्प्रवाहपतितत्वात् आनन्दमयः शब्देऽपि विकारार्थक एव स्यात् साहचर्यात् । न च सहचरितेष्वेकत्र विकारार्थकतायाग्रहणं तदन्यत्रान्यार्थकताया ग्रहणं युक्तम्, तथा सति पंक्तिभेददोषः संपतेत् । तस्मादानन्दमयपदेऽपि विकारार्थक एव मयट् प्रत्ययो नत्वन्यार्थकः । एवं च सर्वथा विकाररहितस्य परमात्मनः कदाचिदपि ग्रहणं न संभवति कथंचिद्विकृतजड़संबंधात् विकारिणो जीवस्यैव ग्रहणमिति पुनः

है, तथापि आनन्दमय शब्द का वाच्य तो नहीं होसकता है। परमात्मा आनन्दमयपद का वाच्य क्यों नहीं हो सकते हैं ? इस जिज्ञासा के तात्कालिक उत्तर रूपमें वृत्तिकार कहते हैं दारुमयो हस्तीत्यादि । जिस तरह दारुमय हाथी है अर्थात् लकड़ी का बनाया हुआ हाथी लकड़ी का विकार है इस लौकिक प्रयोग में यथा वा पर्ण-पत्ता का बनाया हुआ जुहू यज्ञका साधन पदार्थविशेष पलाशपत्तों का विकार होता है इन प्रयोगोंमें मयट् प्रत्यय विकारार्थक है उसी तरह अन्नमयघटक विकारार्थक मयट् प्रत्यय के प्रवाह में पड़ा हुआ आनन्दमयघटक मयट् प्रत्यय भी विकारार्थक है क्योंकि विकारार्थक मयट् के साहचर्य से तब निर्विकार परमात्मा आनन्दमय पद का वाच्य नहीं हो सकता है। क्योंकि निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् । इत्यादि अनेक श्रुतियों से सिद्ध होता

"स एको मानुष आनन्दः" इत्यारभ्योक्तेभ्य आनन्देभ्यो ब्रह्मण आनन्दस्य शतगुणाधिक्याभिधानात् । अन्नमयो यज्ञः इत्यादिषु प्राचुर्य्येऽपि मयटः प्रसिद्धिरस्ति । विकारार्थकस्य मयटस्तु प्राणमय इत्यत्रैव परित्याग इति ॥१४॥

"शांति कर्मणि वेतालोदय" इति न्याय आपततीति शङ्कां समुच्छेदाय प्राह वृत्तिकार "इतिचेन्नेत्यादि । प्राचुर्यादिति सूत्रावयवः । आनन्दमय शब्दे योऽयं परिदृश्यमानो मयट् प्रत्ययः स नान्नमयादिवद्विकारार्थकः किन्तु यत्राद्यन्नप्रचुरक "अन्नमयो यज्ञ" इति स्थले यथा तस्यान्नप्राचुर्यात् मयट् प्रत्ययप्राचुयार्थकस्तथैव प्रकृतआनन्दमयपदेऽपि मयट् प्रत्ययप्राचुर्यार्थक एव न तु विकारार्थक यतो विकारार्थकताया प्रकृतेऽसंभवात् । तथाहि "स एको मानुष आनन्द" इत्यारभ्य प्रजापतेरानन्द पर्यन्तमेकस्यापेक्षया अग्रिमाग्रिमस्य शतगुणाधिक्यं प्रदर्श्य पुनः प्रजापतेरानन्दापेक्षयापि परमात्मन आनन्दस्य शतगुणाधिक्यं प्रदर्शितवान् । ततश्चैतादृशग्रन्थपर्यालोचनया समधि—

है कि परमात्मा सर्वप्रकारक विकार से रहित है तो वह परमात्मा किसी भी प्रकार से आनन्दमयपद का प्रतिपाद्य नहीं है किन्तु स्वभावतः सविकारक जो कोई उपासनाबलप्राप्त संसारी जीव है उसी जीव का बोधक प्रकृत में आनन्दमय पद है क्योंकि अविक्रिय परमात्मा में तो विकार का गन्धमात्र भी नहीं है अतः वह परमात्मा आनन्दमय पद बोध्य नहीं हैं अपितु जीव हैं। इस पूर्व पक्षका मूल हैं विकारार्थकत्व मयट् प्रत्यय उसमें ही कुठाराघात करने के लिए वृत्तिकार उत्तर रूपमें कहते है इति चेन्न इत्यादि । आनन्दमय शब्द में जो मयट् प्रत्यय हैं वह 'तत्प्रकृत वचने मयट्' इस सूत्र से प्राचुर्य अर्थ में हैं न तु विकारार्थकमें तथाहि 'स एको मानुष आनन्दः' अर्थात् सैषानन्दस्य मीमांसा भवति । युवास्यात् साधु युवाध्यापक । आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठ । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य

गतो भवति यद् ब्रह्मानन्दः सर्वापेक्षयाप्यधिको निरतिशय एवेति ततश्च तादृशो ब्रह्मानन्दविशेषः कथं वा कस्य विकार स्यात्, श्रुत्यन्तरेण तादृशानन्दस्यानित्यत्वश्रवणात्, नहि नित्यश्च स्याद्विकारी अपि स्यादिति संभवदुक्तिकम् । तस्मात्परमात्मन आनन्दोऽतिशयेनसर्वोत्कर्ष एव । नायं नियमो यत् यो हि मयट्प्रत्ययः स सर्वत्र विकारार्थक एवेति । लोकेऽपि 'अन्नमयो यज्ञः' इत्यत्र प्राचुर्यार्थके मयट्प्रत्ययस्य प्रयोग दर्शनात्, अतः प्राचुर्यार्थक एव मयट् प्रत्यय न विकारार्थकः । विकारार्थकमयट् प्रत्ययस्य 'प्राणमय' इत्यत्रैव परित्यागःकृतोऽसंभवादिदोषं पश्यत् । तस्मात्प्रकृत आनन्दमयशब्दे न विकारार्थको मयट् येन जीवस्यानन्दमयपदेन ग्रहणं स्यादितिशङ्का भवेत् । किन्तु नित्यानन्दादिप्रचुरकपरमात्मन एव ग्रहणमिति वृत्तेरक्षरार्थः ॥

पूर्णास्यात् । स एको मानुष आनन्दः । यहाँ इस प्रकार से विचार किया जाता हैं कि कोई व्यक्ति युवावस्था में हो वह भी केवल युवा ही हो यों नहीं किन्तु साधु सच्चरित्र युवान हो तथा सच्चरित्र अध्यापक हो स्वतः अध्ययनशील हो सर्वदा अनलशतयाशीघ्रकारी हो अत्यन्त दृढ़ शरीर वाला तथा अतिबलवान् हो उसको संपूर्णपृथिवी सर्वप्रकार से धनधान्यरत्नादि से परिपूर्णप्राप्त हो तो इस आनन्द को मनुष्यानन्द कहते हैं। यहाँ से लेकर के प्रजापति के आनन्द पर्यन्त शतगुणित आनन्द की अधिकता का प्रतिपादन करके पुनः प्रजापति के आनन्द की अपेक्षा से ब्रह्मानन्द को सौगुणा अधिकता का प्रतिपादन किया गया है । इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मानन्द निरतिशयानन्द है, तो एतादृश आनन्दवान् आनन्दमय परमात्म ही हो सकता है । प्राचुर्यार्थक मयट् का प्रयोग "अन्नमयो" यह यज्ञ अन्न प्रचुरक है, इत्यादि स्थलोंमें प्रचुरता अर्थ में मयट् प्रत्यय अतिप्रसिद्ध है ।

भावार्थस्त्वयं तथाहि यथान्नमय इत्यत्र विकारार्थको मयट् प्रत्ययस्तादृशमयट् साहचर्यादानन्दमय इत्यत्रापि आनन्दप्रकृतिको मयट् प्रत्ययो विकारार्थक एव भवेत्, ततश्च निर्विकारे परमात्मनि विकारस्यासंभवान्नानन्दपदवाच्यत्वं परमात्मनः । "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" । इत्याद्यनेक श्रुतिभिः परमात्मनः सर्वविकाररा हित्यस्यश्रवणात् । एवं च सर्वविकारविरहितस्य परमात्मनः कथमिवानन्दमयपदेन ग्रहणं स्यात्' किन्तु सर्वथापरमेश्वरगुणविरहितस्य दुःखार्णवे सन्निमज्य समुह्यमानस्य जीवस्यैव ग्रहणमिति चेन्न, प्राचुर्यादिति । योऽयमानन्दमयशब्दस्तद्घटकीभूतस्य मयट्प्रत्ययस्य न विकारार्थकत्व मपितु प्राचुर्यार्थवाचकत्वमेवेति यतः 'स एको मानुष आनन्दः' इत्यारभ्य 'स एको ब्रह्मण आनन्दः' एतदन्त प्रकरणेन मानुषानन्दमारभ्य प्रजापति कमलासनीयानन्दानां शतगुणाधिकप्रतिपादनात् प्रजापतेरानन्दा पेक्षयापि परमात्मन आनन्दस्य शतगुणाधिक्यस्य श्रवणेन परमात्मानन्दस्यात्यन्तत एव प्राचुर्योपपत्तेस्तस्मादेतादृशानन्दप्रचुरो सर्वेश्वरसाकेताधिपति

भावार्थ यह है कि "स एको मानव आनन्दः" यहां से आरंभ करके "स एको ब्रह्मण आनन्दः प्रकरण से मनुष्यानन्द से लेकर प्रजापति आनन्द तक शतगुणअधीकताका प्रतिपादन करके उस प्रजापति के आनन्द से भी शतगुण अधिक ब्रह्मानन्द को कहा गया है तो इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म का आनन्द प्रचुर आनन्द है । तब एतादृश प्रचुर आनन्द वाला षडैश्वर्यशाली परमात्मा हो सकते हैं परन्तु अल्पतर आनन्दवाला जीवात्मा नहीं, और ब्रह्म विषयक प्रचुरानन्द के ज्ञान से जीव को अभय अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है इस बात का भी "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" (वाणी मन के साथ ब्रह्म के तात्विक स्वरूपानभिज्ञ होकर निवृत्त हो जाती है ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को जानने वाला पुरुष किसी से भी भय को प्राप्त नहीं होता है अर्थात् मुक्त होता है) इत्यादि प्रकरण में प्रतिपादन किया गया है । तो ब्रह्म के प्रचुरानन्द ज्ञान

श्रीराम एव, नतु भाग्योपनीतः कदाचिदानन्दलेशमङ्गीकुर्वाणो जीव एतादृशानन्दवानिति। यत उपजीव्यस्य परमात्मन आनन्दस्य स्वस्वरूपस्य ज्ञानादेव जीवोऽभयं गतः कृतार्थो भवतीत्यपि श्रुतिसमुद्घोषयति 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' इत्यादिका। परमात्मन एतादृशप्रचुरानन्दज्ञानात्सांसारिको जीवोऽभयतां मोक्षमाप्नोति। यदि कदाचिदेतादृशानन्दवान् जीवः स्यात्तदा स्वकीयानन्दज्ञानान्मुक्तो भवेत् तथात्वे स्वानन्दज्ञानस्य सर्वदैव विद्यमानत्वेन कारणस्यविद्यमानत्वात् सर्वदैव जीवस्य मोक्षो भवेत् ततश्च मोक्षार्थं न कोऽपि प्रयतेत, इति गुरुशास्त्रोपदेशादिकं सर्वमेवासमंजसमापद्येत। न च जीवस्य स्वज्ञानान्मोक्षोऽपितु परमात्म ज्ञानादेव मोक्ष इति "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। (तमनन्तकल्याणगुणकं परमात्मानं विदित्वा उपासनादि परिचर्यया ज्ञात्वैवातिमृत्युं मोक्षं प्राप्तो भवति जीवः, एतद्‌तिरिक्तो मार्ग उपायोऽयनाय साकेताख्यदिव्यधामगमनाय) नेति ततश्चब्रह्मज्ञानस्यैव मोक्षजनत्वं न तदन्यस्य कस्यचिन्मोक्षजनकतेति कथं तस्मिन् जीवे तादृशानन्दप्रचुरतायाः संभव इति, तादृश प्रचुरानन्दमयः परमात्मेव न तु जीवादि संसारी कश्चिदिति।

से जब जीव अभयंगत होता है– अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर जाता है तब किस प्रकार से प्रचुरानन्दवान् जीव हो सकता है? किन्तु परमात्मा ही तादृश प्रचुरानन्दवान् है यही सत्संप्रदायीय राजमार्ग है और जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि अन्नमय में विकारार्थक मयट् प्रत्यय है तो अन्नमयादि के साहचर्य से आनन्दमय में भी विकारार्थक ही मयट् प्रत्यय है, वह ठीक नहीं है क्योंकि प्राणमयपद में विकारार्थक मयट् के असंभव होने से अन्यार्थकता स्वीकार करना पड़ता है अन्न प्राणमय में विकारार्थक मयट् नहीं है। यह "प्राणमय एव तावत्तस्य विकारार्थकस्य मयटोऽसम्भवात्तत्रैवान्यार्थस्य स्वीकर्तव्य-

अत्र प्राचुर्यस्यार्थो नाधिक्यं किन्तु निरतिशयत्वम्, अतिशयराहित्यमेव, ततश्च निरतिशयानन्दवाच्यात् परमात्मैवानन्दमयवाच्यो न तु जीवो यतो जीवानन्दानां प्रजापत्यन्तानामानन्दानां सातिशयात्। अन्यथा यदि प्राचुर्यस्याधिक्यार्थे एवाग्रहः क्रियेत तदा अन्नमयो यज्ञः इत्यत्रान्नाधिके यज्ञे, अन्नापेक्षया अन्नान्यस्य जलफलादेर्न्यूनता भवति, इति गम्यते तथा तादृशानन्दाधिक्ये परमात्मानन्दाविरोधिनो दुःखस्यापि संभवो भवेत्, ततश्च नहि वरघातायकन्योद्वाहिता भवतीति न्यायविषयताया अतिक्रमणं न करिष्यति कोऽपि वेदान्ती इति। यदप्युक्तं पूर्वपक्षिभिर्यदन्नमयपदप्रवाहान्तर्गतत्वादानन्दमयशब्दोऽपि विकारार्थक एव ततश्च सर्वथानिर्विकारस्य परमात्मैव आनन्दमयशब्देन ग्रहणस्याशक्यतया परिशेषात्सविकारकस्यैव कस्यचिज्जीवस्यैव ग्रहणं भवतीति, तदप्यसंगतमेव प्रतिभाति, यतो यद्यन्नमयादारभ्य विज्ञानमयपर्यन्तं विकारात्मकोऽर्थोऽनुवृत्तोभवेत्तदैवेयमाशङ्का प्रादुर्भूयात् नत्वेवं, प्राणमये एव तस्य निवृत्तत्वात्। तन्निवृत्तिश्चासम्भवादेव तस्मादत्र निरतिशयानन्दविशिष्टः सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञोऽनन्तगुणसागरत्वात्" (आनन्दभाष्य १।१।१४) इस श्रीसम्प्रदायाचार्य की दिव्यवाणी से स्पष्ट है। और भी देखिये—विज्ञानमयपद और आनन्दमयपद में विकारार्थकमयट् प्रत्यय नहीं हो सकता है क्योंकि व्याकरण में विकारार्थकमयट् का विधान तो लोक में ही किया गया है यहाँ तो विज्ञानमय, आनन्दमय तो लौकिकप्रयोग नहीं है अपितु वैदिकप्रयोग हैं। यदि कदाचित् कोई कहे कि "मृण्मयं गृहम्" इत्यादि प्रयोग तो वैदिक हैं और उसमें विकारार्थकमयट् को देखते हैं तो इसका उत्तर यह है कि "मृण्मयं गृहम्" यहाँ भी प्राचुर्य अर्थ में ही मयट् प्रत्यय है इसी तरह प्रकृत आनन्दमयपदमें प्राचुर्यार्थक हि मयट् है न तु विकारार्थक तब एतादृश आनन्दप्रचुर परमात्मा

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ।१।१।।१५।।

जगदुत्पत्ति स्थितिलयकर्तृत्वस्य परमात्मसाधारणस्य हेतो र्व्यपदेशात "आनन्दाध्द्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" (तै० ३।६।) इत्यादि प्राकरणिकश्रुतिभिरुपदिष्टत्वादानन्दमयोऽत्र परमात्मैव ।।१५।।

श्रीसाकेताधिपतिरेवानन्दमयशब्देन परिगृहीतो भवति न तु स्वभाव कृपणस्य जीवस्य कथमप्येतत् प्रकरणे परिग्रहो भवतीति ।।१४।।

विवरणम् — मानुषानन्दारभ्य प्रजापतिपर्यन्तानन्दस्य शतगुणाधिकतां दर्शयित्वा परमात्मन आनन्दस्य ततोपि शतगुणाधिक्यं प्रदर्शयन् परमात्मानन्दस्य प्राचुर्यं वदन् तादृशप्रचुरानन्दविशिष्टपरमात्मैव प्रकरणग्राह्यो नतु जीवः प्रकरणप्रतिपाद्य इति व्यवस्थापितम् । तत्र च प्राचुर्यता मयटः प्रतिज्ञा मात्रेण प्रतिपादितम् । न च प्रतिज्ञामात्रं नियामकं हेतुरपि प्रदर्शनीयः । तदुक्तं " संभावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साध्येन हेतुना" इति हेतुप्रदर्शनाय प्रक्रमन्नाह वृत्तिकारः–"जगदुत्पत्ति-स्थिति" इत्यादि । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति" (इमान्याकाशप्रमुखानि भूतानि यतः सर्वज्ञसर्वशक्तिविशिष्टपरमेश्वरात्समुत्पद्यन्ते, समुत्पन्नस्य च तस्मिन्नेव परमेश्वरे स्थितानि भवन्ति, पुनश्च प्रतिसर्गकालेऽस्मिन्परमेश्वरे

ही आनन्दमय पद का वाच्य होता है, किन्तु अत्यल्प आनन्दाभासवान् जीव आनन्दमयपद का वाच्य नहीं है यह सिद्ध हुआ ।।१४।।

सारबोधिनी— परमात्मा आनन्द प्रचुर है इसका कथन पूर्व सूत्र में प्रतिज्ञामात्र से किया गया वहां हेतुका कथन न होने से हेतु प्रदर्शनार्थ वृत्तिकार उपक्रम करते हैं—"जगदुत्पत्ति" इत्यादि । विविध धर्मात्मक अनन्त-जगत्का नियन्तृत्वरूप धर्म केवल परमात्मा में ही है तद्भिन्न में जगत्कर्तृत्वादिक-धर्म अघटित है, एवं "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानिजायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" (आनन्दात्मक परब्रह्मसे परि-

लीयमानानि भवन्तीत्यर्थः) अनया श्रुत्या जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्तृत्व धर्माः परमात्मनि प्रदर्शिताः। एतादृश हेतोः प्रदर्शनेन आनन्दादृध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्य-भिसंविसन्ति"। आनन्दात्मकपरमात्मनः सकाशादाकाशप्रमुखानि सर्वा-ण्येवभूतव्रातानि समुत्पद्यन्ते समुत्पद्य च स्थितिं प्राप्नुवन्ति पुनरन्ते च समुपहृता भवन्ति—एतादृक् परब्रह्म मोक्षकामैं र्विजिज्ञासितव्यः। समु-पासनीयश्चेति) इत्यादि प्राकरणिकानेकश्रुतिवाक्यैः समुपदिष्टत्वाच्च प्रकृतप्रकरणे परमात्मैव प्रति पाद्यो न जीव इति स्थितम् ।

सूत्रार्थस्तु— तस्य परमात्मनो बोधको यो हेतु र्जगदुत्पादकत्वादि रूपः तादृशस्य परमात्मनिष्ठस्य हेतोरिह प्रकरणे आनन्दादिश्रुतिभिः समुपदिश्यमानत्वात्परमात्मैवानन्दप्रचुरस्तथा तादृशानन्दप्राचुर्यात्परमा-त्मैवास्मिन् प्रकरणे परिगृहीतव्यो नतु जीवनिवहग्रह इतिसूत्रवद्धवृत्ते रक्षरार्थः। अयं भावः "आनन्दप्रचुरः परमात्मेति पूर्वं व्यवस्थापितं पर-न्तु तत्र हेतोः प्रदर्शनं न कृतवानिति हेतुप्रदर्शनार्थं हेतुमुपदिशति सूत्रम् आनन्दप्रचुरः परमात्मेत्यत्र कारणमिदं-तथाहि "एष एवानन्दयति" (एषः परमात्मा सर्वानपि जीवान् स्वकीयानन्देन सर्वानेवानन्दयति) तत्र जीवानामानन्दप्राप्तौ परमात्मैव हेतुरूपेण प्रतिपादितो भवति । लोके एवं दृश्यते यत् यः स्वव्यतिरिक्तं कमपि स्वकीयधनेन धनवन्तं करोति स परस्मै धनदाता अवश्यमेवातिधनाढ्यो भवन्नेवान्यानपि धनवन्तं करोति, एवमेव यदा परमात्मा जीवानानन्दयति, ततश्चतस्मिन्

दृष्यमान संपूर्ण आकाशादिक भूतवर्ग सृष्टिकालमें उत्पन्न होते हैं, तथैव स्थिर रहकर अन्तकालमें उसी पर ब्रह्ममें समुपहृत होते हैं) इत्यादि प्रकृतप्र-करणपठित श्रुतियोंसे उपदिष्ट होने से सिद्ध होता है कि आनन्दमय पद सर्व-जगन्नियन्ता सर्वेश्वर श्रीसीताधिनाथ श्रीरामचन्द्र जी का वाचक है अन्य का नहीं। तथा "तस्माद्वा एतस्मादाकाशः" इत्यादि श्रुतिके साथ "आनन्दाद्ध्येव

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ।१।१।१६॥

इतः पूर्वप्रकरणेऽस्मिन् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति मन्त्रेण परमात्मा प्रतिपादितः । स एव चात्र "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योन्तर आत्मानन्दमयः 'तै २।५' इत्यादिभिर्गीयते ।१६॥

प्रचुरानन्दत्वं सुतरामेव सिद्धं भवति । एवमानन्दमयस्य परमात्मत्वे हेतुव्यपदेशोपि भवति । जगत उत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्तृत्वरूपो व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्टोऽत एव अव्यभिचरितो यो हेतुस्तादृशहेतोः "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति" इत्यादि श्रुत्या व्यपदेशात् परमात्मैवानन्दमयोभवतीति दिक् ॥१५॥

विवरणम्– इदमीयपूर्वप्रकरणे "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादिरूपेण यः परमात्मा प्रतिपादितोऽभूत्, स एवेहापि "तस्माद्वा एतस्मादि" त्यादिवाक्ये आनन्दमयशब्देन प्रतिपादितो भवति नतु मन्त्रोक्त चेतनादतिरिक्तो जीवादिः । अर्थात् मन्त्रे यस्य वर्णनं कृतं तस्यैव वर्णनमानन्दमयवाक्येऽपि क्रियते न तु तदन्यस्य जीवादतिरिक्तो जीवस्य प्राप्य-

खल्विमानि" इत्यादि श्रुति की एक वाक्यता करने से यह सिद्ध होता है कि जगत्कर्तृत्व परब्रह्म में है तो उस कर्तामें ही आनन्दमयत्व भी निर्विवाद हैं ॥१५॥

सारबोधिनी–ब्रह्मज्ञानी परब्रह्म को प्राप्त कर जाता हैं, यह उपक्रम करके "सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इस मंत्र में जो ब्रह्म सत्यज्ञानादि शब्द से निर्धारित हुवा है, तथा जिस परमात्मा से आकाशादि क्रम से स्थावर जंगम सकलभूत समुदाय समुत्पन्न होते हैं । जो परमात्मा सकल भूतों को उत्पन्न करके उसमें अनुप्रविष्ट होकर गुहा में अवस्थित हैं और सर्वापेक्षया आन्तर है जिस परमात्मा के ज्ञान के लिये "अन्योन्तर आत्मा अन्यो अन्तर आत्मा" यह प्रक्रान्त हुआ है वह परमात्मा मंत्र वर्ण प्रतिपादित है तदन्य जीव नहीं हैं । इस बात को बतलाने के लिए सूत्र के उत्थान पूर्वक वृत्तिकार

तया ज्ञेयतया च यः समुपदिष्टो मन्त्रवर्णैः स एवेहापि आनन्दमयशब्देन ज्ञायते नान्य इति भावः। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यारभ्य "सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म""यो वेद निहितं गुहायाम्" "सो ऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता"इत्यादि श्रुतिनिचये यस्य प्रतिपादनं जातं तन्मान्त्रवर्णिकम्। तदेव च ब्रह्म"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्यादि वाक्येनापि आकाशादीनां कर्तृत्वेनानन्दमयरूपेण "स एको ब्रह्मण आनन्दः" इत्यानन्दाधिक्येन च गीयमानो भवतीति। यो हि परमात्मा ब्रह्मज्ञानवता जीवेन प्राप्य तथा स्थावरजङ्गमात्मकसकलप्रपञ्चोपादानतारूपेणानन्दप्रचुरतया च मन्त्रवर्णेषु श्रूयते स एव आनन्दमयपदबोध्यो भवति, न तु तदतिरिक्तः कश्चिदानन्दमयपदवाच्यो भवति, कुतः? स्वस्यैव स्व प्राप्यत्वस्यानुपपत्तेः। तस्मात् योहि जीवेन प्राप्यो मन्त्रवर्णेषु प्रतिपादितो जातः। स एवानन्दमय इत्यत्रापि प्रतिपादितो भवति।

कहते हैं कि "इतः पूर्व प्रकरणे" इस प्रकरण में हीं इससे पूर्व "सत्यं ज्ञानम नन्तं ब्रह्म" इस मंत्र में जो परमात्मा प्रतिपादित है। परमात्मा अर्थात् जिस परब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है वही परमात्मा सकल जगत् का कर्ता तथा सकल जीव का प्राप्य है, तथा सर्व वेदान्त प्रतिपाद्य है। वही परमात्मा "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादयोऽन्तर आत्मानन्दमयः" इस प्रकरण से भी प्रतिपादित होता है न कि परमात्मा से भिन्न कोई जीवात्माका प्रतिपादन प्रकृत में है। क्योंकि प्राप्य तथा प्रापक में भेद सर्वानुभवसिद्ध है, तो जीव ही जीव से प्राप्त होगा तथा जीव ही उसको प्राप्त करने वाला होगा, प्राप्ति क्रिया का कर्ता तथा कर्म एक व्यक्ति किस तरह हो सकता है। अतः प्राप्ति क्रिया का कर्ता है जीव तथा उस प्राप्ति क्रिया का कर्म होता है परमात्मा, ऐसा करने से सर्व समंजस होता है। जन्माद्यस्य यतः" इस सूत्र से लेकर प्रकृत सूत्रपर्यन्तप्रकरण से सूत्रकार ने द्विभुज साकेताधिपति परब्रह्म सर्वावतारी श्रीरामचन्द्र जीको ही ज्ञेय तथा ब्रह्मज्ञानी से प्राप्यरूप से प्रतिपादन किया है।

नेतरोऽनुपपत्तेः ।१।१।१७॥

अथानन्दमयोऽत्र जीव एव कुतो न स्यात् स एव च मुक्तिदशा-मापन्नः समुदीरितमंत्रवर्णेनापि गीयते इति चेन्नात्रानन्दमयपदेन (ब्रह्म-ण इतरो) जीवो न प्रतिपाद्यते कुतः ? इति चेत्तस्मिन् "सोऽश्नुते सर्वा-न् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता (तैः २।१) इति तत्प्रकरणपठित-श्रुत्युक्तनिरुपाधिकविपश्चित्वादि धर्मानुपपत्तेः ।।१७॥

योऽपि जीवो मुक्तो नित्यमुक्तो वा न तस्यापि जगत्सर्जकत्वं,तत्तु ब्रह्मण एवेति जगद्व्यापारवर्जमिति सूत्रे सूत्रकारः स्वयमेव प्रतिपादयिष्यति । अतो मुक्तजीवस्यापि जगत्सृष्ट्यादिनिरासाज्जगत्कर्तापरमात्मैवानन्दमय पदवाच्यो नतु जीवः कदाचिदप्यानन्दमयवाच्य इति स्थितम् ॥१६॥

विवरणम्-- ननु न भवतु संसारो जीवस्य "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे-त्याति मंत्रेण गीयमानता, योऽयं मुक्तो जीवस्तस्यनिरस्ताखिलप्रपंच वही परमात्मा सत्यज्ञानादिस्वरूप से प्रतिपादित है तथा वही परमात्मा आनन्द-मय पद वाच्य है । इससे भिन्न कोई आनन्दमय पदवाच्य नहीं है ॥१६

सारबोधिनी-- यद्यपि सांसारिक जन्म-मरण रोग दुःखादि के सम्बन्ध से सम्बद्ध जो जीवात्मा वह, "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस मन्त्र से प्रति-पादित नहीं हो सकता है । तथा आनन्द प्रचुर आनन्दमय पदवाच्यता को पूर्व प्रतिपादित युक्ति एवं श्रुत्यादि से प्राप्त नहीं कर सकता है । तथापि भगवत् श्री साकेतलाधिपति की उपासना से निर्गत हो गया निखिल बन्धन जिसका एतादृश मुक्त जो जीव है उसको मन्त्रवर्णगीयमानता तथा परमानन्दमयवा-च्यता होने में क्या क्षति है ! अर्थात् सांसारिक तापरहित निर्विशेष ज्ञानैक-मात्र शुद्धस्वरूप परिवृत्त मुक्तिदशा कालीक जीव तो आनन्दमय पदवाच्य हो सकता है । तब तादृश जीव का निराकरण करना उचित नहीं है । क्योंकि तादृश मुक्तिदशापन्न जीव हीं आनन्दमय प्रतिपाद्य है । एतादृश शंका का निराकरण करने के लिए तथा अग्रिम सुत्र का उत्थान करने के

त्वात् तादृशजीवस्यानन्दमयपदवाच्यता भवतु इत्याकारकशङ्कायाः उच्छेदाय प्रक्रमते "अथानन्दमयोऽत्रेत्यादि। अत्राथशब्दः प्रश्नोत्थापकः। प्रकृतेऽस्मिन् प्रकरणे जीव एव आनन्दमयवाच्यः कुतो न भवति। यद्यपि बद्धजीवे मन्त्रप्रतिपादिताधर्मविशेषा न सन्ति, परञ्च मुक्तिदशामापन्नस्य, अर्थात् यस्य जीवविशेषस्य भगवदुपासनया सकलोऽपि संसारसंबन्धोऽपगतःश्रीसाकेताधिपतेः सान्निध्यश्चार्चिरादिमार्गे-

लिए वृत्तिकार कहते हैं– "अथानन्दमय" इत्यादि। अत्र= इस आनन्दमय का प्रतिपादक प्रकरण में आनन्दमयपदवाच्य जीव को ही कहना चाहिए। यद्यपि जीव तो, "एतस्यानन्दस्यमात्रामुपजीवन्त्यन्यानि भूतानि" [इस परमानन्द स्वरूप परमात्मा के आनन्द का एकलव का हीं अनुभव जीव करता है।] परमानन्द के एक अंश को हीं प्राप्त करता है। इस श्रुति से तथा अनुभव से भी सिद्ध होता है कि जीव में निरतिशयानन्द नहीं है। इसलिए जीव आनन्दमय नहीं हो सकता है। तथापि सांसारिक अशेष बन्धन रहित मोक्ष प्राप्त जो जीव विशेष है वह तो निरतिशय सुखादिमान् सर्वसमर्थ हो सकता है। तो एतादृश मुक्तिदशापन्न जीव "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस मन्त्र से प्रतिपाद्य हो सकता है। तब जीव विशेष को आनन्दमय वाच्यता हो सकती है। इसके उत्तर में कहते हैं। "इति चेन्नात्र" इत्यादि। इस प्रकरण में-आनन्दमय प्रकरण में इतर ब्रह्म से भिन्न जीव चाहे वह जीव सांसारिक हो अथवा भगवान की उपासना से मुक्त हो गया हो अथवा नित्य मुक्त हो, फिर भी तादृश जीव, यहाँ आनन्दमयपद से प्रतिपादित नहीं हो सकता है। क्या यह राजाज्ञा है कि जीव आनन्दमयपदवाच्य नही हो सकता हैं! जब युक्ति से सिद्ध होता है। तब उसका वाणी मात्र से आप निराकरण किस तरह से कर रहे हैं। इस अभिप्राय से प्राश्निक कहता है कि "कुत इति चेदिति" जब युक्ति से सिद्ध होता है कि उक्त जीव भी आनन्दमय पदवाच्य हो सकता है। तब आप इसका निराकरण क्यों करते हैं।

ण संप्राप्तवान्, तादृशजीवविशेषे मंत्रोक्तधर्माणां समावेशसंभवादानन्दमयपदवाच्यता कुतो न स्यादित्याशयः पूर्वपक्षिणाम् तामिमां शङ्कां व्यावर्तयितुमाह "इति चेन्न" इत्यादि । अत्र आनन्दमयपदेन परमात्मभिन्नो जीवः प्रतिपादयितुं न शक्यः कुतः? यत एतत्प्रकरणे "सोऽश्नुते सर्वान् कामा"नित्यादि प्रकरणे परिपठिता ये निरुपाधिका विपश्चित्त्वादिका अनेकगुणास्ते तु परस्मिन् ब्रह्मण्येव वर्तन्ते न तु

इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि, "तस्मिन्नित्यादि" तस्मिन् = उस जीव में, "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इत्यादि प्रकरण में जो निरुपाधिक सर्व विषयक असंकुचित ज्ञानवत्व लक्षण जो विपश्चित्वादिक धर्म का जगत्कारण ब्रह्म में प्रतिपादन किया है। तथा सत्यकाम सत्य संकल्पादिक कल्याण गुणादिक का प्रतिपादन किया गया है। ये सब धर्म सांसारिक दुःखादिक धर्माविष्ट अथवा तदुपलक्षित जीव में असंभवित हैं। इसलिए जीव आनन्दमयपदवाच्य नहीं हो सकते हैं। यद्यपि जीव भी भगवान् का अंश है। तथा ज्ञानादि गुणगण से अलंकृत है। तथापि यादृश धर्म को संसार को उत्पत्ति में प्रयोजकता अभिमत है शास्त्रानुमोदित है। तादृश निरतिशय सर्वविषयक ज्ञानवत्व सत्य संकल्पादिक धर्मवत्त्वादिक धर्म जीव में नहीं है। यद्यपि ज्ञान सुखादिक का तारतम्य मनुष्य से लेकर प्रजापति पर्यन्त में है। तथापि निरतिशय ज्ञानादिमत्त्व जगत्कर्तृत्व तो परमात्मा में ही है। इस विषय का विशेष विवरण "जगद्व्यापारवर्जम्" इत्यादि सूत्र लिखकर सूत्रकार ने स्वयमेव प्रदर्शित किया है। तथा श्रीमदानन्दभाष्यकार ने भी तत् तत् सूत्र व्याख्यान में विशेष रूप से विचार किया है। इसलिए ब्रह्म से भिन्न जो जीव वह आनन्दमय पदवाच्य नहीं है। किन्तु सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परमात्मा श्री जानकीनाथ गरीब परवस ही हैं। इति वृत्तेरक्षरार्थः ॥

भावार्थ तो इस प्रकार है। प्रकृत में सर्वशक्तिमान् परमात्मा ब्रह्म से भिन्न या ब्रह्म के अधीन जो जीव राशि हैं अथवा मोक्षदशापन्न जो जीव

सांसारिके जीवेऽतस्तादृशधर्मसंबन्धस्यासंभवान्न जीवआ नन्दमयपद-प्रतिपादितो भवति, किन्तु सर्वथोपाधिधर्मविरहितः स्वभावतो निरुपाधिकधर्माश्रयानन्तकल्याणगुणगणनिलयपरब्रह्मैव तादृशानन्दमयशब्द वाच्यो भवतीति।

सूत्रार्थस्तु– एवं संपद्यते, अत्रानन्दमयपदेन परमात्मानिरुपाधिक एव गृहीतो भवति नतु तादृशपरमात्मव्यतिरिक्तो जीवः संभवति।

हैं वे मांत्रवर्णिक नहीं हो सकते हैं क्यों? तो अनुपपत्ति है। तथाहि मुक्त जीव को भी "सह ब्रह्मणा विपश्चिता" यह जो श्रुति है उस श्रुति में कथित जो निरुपाधिक विपश्चित्व धर्म तादृश धर्म की जीव में अनुपपत्ति है। एवं "सो अकामयत–प्रजाये" "सत्यकामः, सत्यसंकल्पः" इत्यादि अनेक प्रकारक श्रुति-स्मृति के द्वारा यह सिद्ध होता है कि परमात्मा में विपश्चित्व सत्य संकल्पवत्वादिक धर्म हैं। नित्य अनुपहित निरतिशय इतरानपेक्ष असंकुचित जो सर्व विषयक–सामान्य विषयक ज्ञान एतादृश ज्ञानवत्व यहीं विपश्चित्व का अर्थ होता है। एतादृश सर्वातिशायी विलक्ष ज्ञानवत्ता परमात्मा में ही है। नतु जीव में, अथवा विमुक्त जीव में हो सकता है। क्योंकि मोक्ष के पूर्व संसारावस्था में सोपाधिक ज्ञानवान् होने से निरुपाधिक असंकुचित ज्ञानाधिकरणता नहीं हो सकती है॥ ऐसा हुआ तब "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादि जो श्रुति है वह ब्रह्म को वाणि तथा मन से अग्राह्यता का प्रतिपादन ही करती है। क्योंकि प्रकरण के अंतर्गत जो विलक्षण ज्ञानवत्त्व जगत्कारणत्व का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियां हैं वे सब निरर्थिका हो जायगी। इसलिए "त्यजेदेकं कुलस्यार्थे" इस न्याय से एक का अन्यपरक सामञ्जस्य ही उचित है। अथवा असंकृत जो मन उससे परमात्मा ग्राह्य नहीं है। एतदर्थपरक "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इत्यादि श्रुति है। अत एव "दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया-सूक्ष्मदर्शिभिः" इत्यादि श्रुति संस्कृत मनोग्राह्यता का प्रतिपादन करती है। जब तक जीव के अन्तःकरण में पापकर्म अड्डा जमाकर बैठा रहता है। ता-

भेदव्यपदेशाच्च ।१।१।१८।

"तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः" [तै० २।५।] इत्यत्र विज्ञानमयपदवाच्याज्जीवात्परमात्मनो भेदेन व्यपदेशान्नानन्दमयोत्र प्रत्यगात्मा ।।१८।।

कथमत्र जीवो न परिगृहीतं इत्याशंक्योच्यते, अनुपपत्तेः जीवस्य परिग्रहणे अनुपपत्तिर्विद्यते. यत आनन्दमयपरमात्मानं प्रकृत्य श्रूयते यत् "सोऽ कामयत बहुस्यां प्रजायेय' 'इत्यादि. तदिदं कामनादिकं शरीरोत्पत्तेः प्राक् श्रूयमाणं जीवे कथमपि न संभवति किन्तु तत्पूर्वविद्यमाने-परमात्मन्येव संभवति । तस्मादानन्दमयः परमात्मैव ।।१७।।

विवरणम्= संसारसागरान्निर्विण्णो जीवः संसारदुःख प्रहाणाय परमात्मनं प्राप्तुमिच्छति । ततश्च गुरुपदेशादानन्दमयं परमात्मनं सम्यगुपास्य तादृशोपासनाबलेन संसार दुःखमतिक्रम्य परमानन्दमहोदधिं परमात्मानं लब्ध्वा कृतार्थो भवतीति । तत्र लब्धि क्रियायाः कर्त्ता भवति प्रत्यगात्मा जीवो भवति च लब्धिक्रियायाः कर्म परमात्मा । तत्र यदि दश मन से जीव परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता है । किन्तु जब उपासनादिक विविधक्रिया करने से मन विशुद्ध हो जाता है, तब विशुद्ध मन से आत्मा का साक्षात्कार होता है । 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः" ऐसा प्रकृत अर्थ का पोषक वाक्यान्तर भी है । सर्व विषयक ज्ञानवत्व तथा सत्य संकल्पवत्व सत्यकामवत्वादिक परमात्ममात्र वृत्ति धर्मों का जीव में अभाव होने से आनन्दमयपद का वाच्य न मुक्त जीव हैं, न वा साधारण जीव है । किन्तु परिशेषात् परमात्मा हीं तादृश पदवाच्य है ।।१७।।

सारबोधिनी–"रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" इत्यादि श्रुति में–रस स्वरूप परमात्मा को लाभ करके यह जीवात्मा आनन्दित होता है । इन श्रुतियों से यह सिद्ध होता है कि जीव आनन्द प्राप्ति में कर्ता है । और रस स्वरूप परमात्मा लाभ क्रिया का कर्म है । तो इस कर्तृ कर्मभाव का प्रतिपादन

कदाचित् योऽयं विज्ञानमयो जीव एवानन्दमयपदवाच्यो भवेत्तदा स एव कथमेक क्रियायाम् कर्त्ता कर्म च स्यात्। कर्तृकर्मभावश्च भेदे सत्येव भवति, नत्वभेदे भवति, यथा 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति, इति प्रयोगो भवति तथा देवदत्तो देवदत्तं गच्छति कुतो न भवति ? तत्र कर्तृ कर्मणोरभेदात्। एवं प्रकृते यदि जीव एवानन्दमयपदवाच्यो भवेत्तदा स एव कथं लब्धा भवेत्स एव च लब्धव्यो भवेदित्येतत्सर्वं मनसि निधाय सूत्रमवतारयितुमाह "तस्माद्वा एतस्मादित्यादि। अन्नमयादिभ्यः परो योऽयं विज्ञानमयपदवाच्यो जीवस्ततः परं तद्भिन्नस्तदनन्तर किं आनन्दमयः परमात्मा विद्यते" इत्यस्मिन् तैत्तरीयवाक्ये प्रत्यगात्मपेक्षया भेदेन परमात्माऽव्यपदिश्यमानो भवतीति ज्ञायते। तत्र यदि कदाचिदानन्दमयपदेन जीवं कश्चित्प्रतिपादयेत्तदा. कथमत्रभेदनिर्देशः सफलोभवेदितिभेदनिर्देशस्यान्यथाऽनुपपत्त्या. परमात्मैवानन्दमयपदप्रतिपादितो भवति। किञ्च "ज्ञाज्ञौद्वावजावीशानीशौ" "समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नः" [एकस्मिन् सुकृतफलभोगाधिष्ठाने शरीररूपवृक्षेविनाशिनि. निमग्नोनीशया मुह्य-

होने से जीव आनन्दमय पदवाच्य नहीं है। किन्तु परमात्मा ही आनन्दमय है। यदि कदाचित् जीव को ही आनन्दमयवाच्य मान लें तब तो वही जीव किस प्रकार से परमात्मा प्राप्ति में कर्ता तथा कर्म होगा। क्योंकि कर्तृकर्मभाव सर्वत्र भेदाधीन ही होता है। यहाँ भेद हैं व्यापक और कर्तृकर्मभाव है व्याप्य. और व्यापक का अभाव होगा तो व्याप्य का अभाव अवश्यमेव हो जाता है। अतः जीव ब्रह्म में जो यह भेद है वह अन्यथा अनुपपन्न होने से सिद्ध करता है कि जीव आनन्दमय नहीं है। किन्तु परमात्मा ही आनन्दमयपदवाच्य है। इस अभिप्राय से सूत्र का उत्थान करते हैं- "तस्माद्वा एतस्मादित्यादि।" तस्माद्वाएतस्माद्विज्ञानमयादिति" श्रुति में अन्नमयादिप्रवाह पतित जो विज्ञान जीव है उस जीव से भिन्नरूपेण परमात्मा का कथन किया है। तथा उस विज्ञानमय से इस आनन्दमय को प्राप्य कहा है। इस प्रकार

मानो दुःखात्मकफलं भुञ्जन् शोकं करोति. परन्तु यदा स्वभिन्नमुपासनया परमात्मनं विज्ञानमयो विजानाति तदा अपगतशोको भवतीत्यर्थः। "अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य" इत्यादि बहुपस्थलेषु विज्ञानात्मपरमात्मानोर्भेदोऽतिस्पष्टरूपेण श्रूयते । तथा "जगद्व्यापारवर्जम्" इत्यादि सूत्रप्रकरणे. परमात्मनि जगतः कर्तृत्वं श्रावयति विज्ञानात्मनि मुक्ते तु. तादृश कर्तृत्वाभावं श्रावयति. इति कर्तृत्वाकर्तृत्वलक्षणभेद श्रवणादपि सिद्ध्यति यदस्ति जीवात्मपरमात्मनोर्भेदः। सोऽयं भेदःसर्वथैवानुपपन्नो भवेद्. यदि आनन्दमयपदेन जीवस्य ग्रहणं स्यात् । अतः आनन्दमयपदेन जीवस्य ग्रहणन्न भवति किन्तु परमात्मन एव ग्रहणं भवति । अन्यथा जीवपरमात्मभेदप्रतिपादकश्रुतिस्मृति-सूत्र-प्रत्यक्षानुमान प्रमाणानि निर्विषयतामापद्येरन्निति ॥ तस्मात् कथमपि प्रकृतप्रकरणे जीवो नानन्दमयपदवाच्यो भवतीति वृत्त्यक्षरार्थः ॥१८॥

से जीवात्मा तथा परमात्मा में परस्पर भेद का स्पष्ट रूप से उल्लेख होने से प्रापक जो विज्ञानमय है वह प्राप्य जो परमात्मा तादृश परमात्म बोधक जो आनन्दमय पद है, तादृश पद बोध्य किस तरह से हो सकता है। अतः इस प्रकरण में आनन्दमय वाच्य परमात्मा ही है। किन्तु जोवात्मा आनन्दमयपद वाच्य नहीं है। इसी तरह, **"समान वृक्ष पुरुष"** इत्यादि श्रुत्यन्तर में भी जीवात्मा परमात्मा का भेद स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है। तथा **"जगद्व्यापार वर्जम्"** इत्यादि सूत्र में सूत्रकारने भी जीवात्मा परमात्मा के भेद का प्रतिपादन किया है। अर्थात् इस सूत्र में सूत्रकार कहते हैं कि जो जीव मुक्त हो गया है। उसमें यद्यपि परमेश्वर सम्बन्धी अनेकों गुणधर्म आ जाता है। तथापि जगत्कर्तृत्वादिक धर्म तो नहीं ही आता है जगत्कर्तृत्व तो पारमात्मा में ही रहता है। इस प्रकार जगत्कर्तृत्व तथा जगदकर्तृत्व धर्म के भेद होने से परमात्मा जीव से भिन्न है। तादृश जीवभिन्न परमात्मा ही आनन्दमय शब्द का वाच्य है। पर जीव आनन्दमयपद का वाच्य नहीं है ॥१८॥

कामाच्च नानुमानापेक्षा ।१।१॥ १९॥

अस्यानन्दमयस्य "सोऽकामयत । बहुस्यां प्रजायेयेति" "इदं सर्वमसृजत् [तै.२।१।] इति श्रुतेरपेक्षामन्तरेण स्वेच्छयैव जगदुत्पादकत्वाज्जीवस्य न तथेति नानन्दमयो जीवः ॥१९॥

विवरणम्–ननु शरीरेन्द्रियादिरहितस्य निर्विकारस्य तथेतरप्रधानादिकानुमानिकापेक्षारहितस्य परमेश्वरस्य यदि जगत्कारणत्वं मन्येत तदा वैषम्यनैर्घृण्यदोषावापतेतामित्यत आनुमानिकप्रधानादि सापेक्षस्य हस्तपादादिकापेक्षासहितस्य प्राजापत्यादि जीवविशेषस्य अथवा सविकारस्यानुमानिकप्रधानस्यैव स्वातन्त्र्येण जगत्सर्जकत्वं तथा तयोःसिध्ये तदन्यतरस्यैवानन्दमयपदवाच्यत्वमपि भवतु किमीश्वरस्य जगत्कर्तृत्व तद्द्वारेणानन्दमयपदवाच्यत्व स्वीकारेणेतीमां शङ्कां निराकर्तुं वृत्तिकारः सूत्रमुत्था-

सारबोधिनी–परमात्मा तो स्वभावतः सर्व विकार से रहित है। जैसे कि [निष्क्रियं निष्कलं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्] "परमात्मा सर्व प्रकारक क्रिया शून्य है। निष्कल है, शान्त है, सर्वपाप रहित है। अतएव निरञ्जन सर्व प्रकारक आध्यात्मिकादिदुःख से रहित है"। एवम् "अपाणि पादो जवनो गृहीता" परमात्मा हस्तपादादि कर्मेन्द्रिय से तथा चक्षुरादिक ज्ञानकरण से भी रहित हैं इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है कि जगत् प्रक्रिया में अपेक्षित साधनों से रहीत होने के कारण से जगत् का सर्जक तथा आनन्द मय पदवाच्य नहीं होते हैं। किन्तु उपर्युक्त साधनों से युक्त प्रजापति जीव ही कर्त्ता हैं, अथवा आनुमानिक सांख्य मत सिद्ध प्रधान ही जगत्कारण है । तथा इस प्रकरण में आनन्दमयपदवाच्य है। इस प्रकार की जो शंका किसी की है। उस शंका का निराकरण करने के लिए सूत्र का अवतरण करते हुये वृत्तिकार कहते हैं कि "अस्यानन्दमयस्य" इत्यादि। "सोऽकामयत" उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा ने कामना की अर्थात् संकल्प किया कि, "बहुस्याम प्रजायेय" मैं यद्यपि एक हूँ, तथापि अनेक रूप से जडचेतनात्मक हो जाऊँ। एतादृश संक-

पयितुमाह अस्यानन्दमयस्येत्यादि योऽयं वाऽनन्दमयपदवाच्य परमात्मा स एव केवलम् "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय" "इदं सर्वमसृजत" [सः परमात्मा सृष्टि पूर्वकाले अकामयतः कामनां सङ्कल्पमकरोत् । यदहमेकोपि सहायकान्तरनिरपेक्षोऽपि बहुस्याम् । अनेकाकारक सृष्टिरचनां करिष्ये' इत्याकारक संकल्पङ्कृत्वा तदनन्तरमिदं परिदृश्यमानं स्थूलञ्चराचरलक्षणं सर्वं जगदजोजनत् सर्वस्यापि स्थावरजङ्गमसाधारणस्य जगतो रचनां कृतवानिति] परमेश्वरः कस्यचिदपेक्षामन्तरेणैव केवलं स्वकीयेच्छयैव सकलं जगदुत्पादयतीति ताः श्रुतयः प्रतिपादयन्ति । जीवविशेषः प्रजापति नैतादृश शक्तिमान् येन जगद्रचनां

लप "इदं सर्वमसृजत" इन परिदृश्यमान स्थूलाकाशादि जड़-चेतन सब पदार्थों का सर्जन किया, इत्यादि श्रुतियों से यह सिद्ध होता है कि उस आनन्दमय परमात्मा ने बाह्य हस्तपादचक्षुरादि साधनों से निरपेक्ष होकर के स्वकीय अमोघ संकल्प मात्र से सकल जगत् को बनाया । इसलिए एतादृश परमात्मा ही इस प्रकरण में आनन्दमय पद का वाच्य है। ननु साधनान्तर सापेक्ष अल्प शक्तिमान् तथा सावधिक ज्ञानादिमान चेतन कोई जीव. इस आनन्दमय पद का वाच्य है। यद्यपि किसी किसी स्थल में जीव कर्तृक जगत् प्रक्रिया का प्रतिपादन किया है। तथापि स्वतंत्र रूप से वहाँ भी जीव को कारणता नहीं है किन्तु परमेश्वराधीन कर्तृत्व हो उन सब में है। जिस प्रकार राजा के गौरव से राजा का अमात्य भी गौरवान्वित होकर के शासन का कर्त्ता कहलाता है उसी प्रकार परमेश्वर प्रदत्त सामर्थ्यलव सम्बन्ध से प्रजापति भी सर्जक कहलाते हैं। जैसे कहा कि 'यथा अलांबूलतायां शतशः फलान्यनुस्यूतानि तद्वत्परमेश्वर-शक्तिलतायां सहस्रशोऽण्डान्यनुस्यूतानि' इति । इस लिए इतरानधीन होकर के परमात्मा सकल जगत् का सर्जन करते हैं। तथा वही परमेश्वर इस प्रकरण में आनन्दमय वाच्य हैं। परन्तु प्रजापत्यादिक

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ।१।१।।२०।।

यतोऽस्य प्रत्यगात्मनोऽस्मिन्नानन्दमये "रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" इति श्रुतिरानन्दयोगं शास्ति। तस्मादानन्दमयोऽत्र परमपुरुषः श्रीराम एव न जीव इति सिद्धम् ।।२०।।

इति श्री रघुवरीयवृत्तावानन्दमयाधिकरणम् ।

करिष्यति न वा प्रधानमपि विचित्रजगत्सर्जने सामयिकवदस्ति येनेदृशीं जगद्रचनां संपादयन् आनन्दमयपदवाच्यतां लभेत। अतः परिशेषात्सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञः परमात्मैव सर्वजगत् कुर्वन्नानन्दमयपदवाच्यो भवतीति सूत्राशयमाविष्करोति वृत्तिकार इति।

यद्यपि स्वातंत्र्येणानुमानिकस्य प्रधानस्य जगत्कारणत्वं नास्ति तथापि गौणतया तु जगत्कारणत्वमस्त्येव। अन्यथा "अस्मात्मायी सृजते विश्वमेतदि"ति श्रुति–कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते, इत्यादिस्मृति प्रतिपादितकारणताया निरालंबनत्वमेवस्यादिति दिक् ।।१९।।

विवरणम्–अथ ज्ञानकर्मसहकृतभक्तिद्वारा यो हि जीवो भगवतः सान्निध्यं यदा प्राप्नोति तदा तस्य जीवस्यानन्दविशेषस्य सम्बन्धो

जीव न तो जगत् के कर्ता हैं, न वा आनन्दमयपद वाच्य हो हैं। नवा आनुमानिक अचेतन प्रधान ही स्वतंत्र रूप से जगत् का कारण है, न वा आनन्दमय पदवाच्य है। क्योंकि एक तो प्रधान जड़ है। उसमें संकल्प शक्ति जो कि चेतन धर्म है, वह नहीं है। न वा स्वतंत्र रूप से उसकी कोई अलग सत्ता ही है। इसलिए एतादृश प्रधान को जगदुत्पत्त्यादिक के प्रति कारण मानना उपयुक्त नहीं है। एवं एतादृश प्रधान प्रकृत में आनन्दमय पद का वाच्य भी नहीं है। यद्यपि स्वतंत्र रूप से प्रधान में जगत् कारणता नहीं है। तथापि चेतन साधारण पदार्थमात्र परमात्मा का शरीर है। इस दृष्टि से तो कारणता कथंचित् है ही। अन्यथा "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" इत्यादि श्रुति बोधित कारणता को निरालंबनत्व प्रसंग हो जायगा। अतः यहाँ आनन्दमय पद वाच्यपरमात्मा ही है। न जीव है, न वा आनुमानिक प्रधान ही है ।।१९।।

भवतीति रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवतीत्यादि शास्त्रादवगम्यते, तस्मा-
दानन्दमयपदवाच्यः परमात्मैव नतु जीव आनन्दमयवाच्य इत्येनमर्थं
प्रकाशयितुमाह "अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्तीति । अस्मिन् हेय
प्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणविशिष्टे परमात्मनि साकेताधिपतौ, अस्य
प्रपन्नस्य जीवस्य तद्योगम् विलक्षणानन्दस्य योगं सन्धिमानन्दस्य प्राप्ति
शास्त्रं शास्ति प्रतिपादयति । यतो यस्मात्कारणादस्य प्रत्यगात्मनो जीव-
स्यास्मिन्नानन्दमयात्मके आनन्दस्य सम्बन्धं कथयति । तथाहि "रसो-
वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" [रसं रसस्वरूपं निसर्गतोरक्षण भर-
णादि स्वरूपं परमात्मानं यदा प्राप्नोति तदा परमात्मप्राप्त्यनन्तरमयं
जीव आनन्दी भवति । स्वभावतोऽनानन्दोऽपि जीवः संम्प्राप्यानन्दलक्षणं
परमात्मानमानन्दी भवति आनन्दप्राप्तिमान् भवतीत्यर्थः] अनया श्रुत्या
जीवस्यानन्दमयत्वं परमात्मा प्राप्तेरनन्तरं दर्शितं यदि जीवः स्वयमेव
आनन्दमयो भवेत्तदा आनन्दमयपरमात्मनः सम्बन्धानन्तरमानन्दप्राप्तेः
कथनं सर्वथैवाऽसङ्गतमिव भवेत् । तस्मात् कारणात् प्रकृतप्रकरणे आनन्द-

सारबोधिनी—भक्ति तथा प्रपत्ति के द्वारा जिस भक्त विशेष ने
परमात्मा श्रीसाकेताधिपति को प्राप्त कर लिया है तादृश जीव को
आनन्द-महार्णव की प्राप्ति होती है ऐसा शास्त्रों में वर्णन किया गया
है। तो उस वस्तु का प्रतिपादन करने के लिए वृत्तिकार सूत्र का उत्थान
करते हैं "अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति" उस परमानन्द सागर में इस
भगवत्प्राप्त जीव को आनन्द का योग आनन्द के सम्बन्ध को शास्त्र कहता
है। इस अर्थ को वृत्तिकार स्वयमेव स्पष्ट करने के लिए कहते हैं।
यतोऽस्येत्यादि जिस लिए इस प्रत्यगात्मा जीव को इस आनन्दमय
परमात्मा में "रसो वै सः रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वानन्दी भवति" परमात्मा श्रीरा-
मजी रस आनन्द स्वरूप हैं। तादृश रस स्वरूप परमात्मा को लाभ प्राप्त
करके यह जीव आनन्दित होता है। यह श्रुति कहती है कि जीव को आन-

॥ अथान्तराधिकरणमारभते ॥

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ।१।१।२१।

छान्दोग्ये–एषोऽन्तरादित्ये हिरणमयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः । [छा० १।१।६।] अत्रायं पुरुषः कश्चिदुपचितपुण्यविशेषः प्रत्यगात्मोत परमात्मेति संशयः शरीर श्रवणाच्चायं प्रत्यगात्मैवेति पूर्वपक्षः । अत्राभिधीयते–अत्रादित्याद्यन्तर्वृत्तिः पुरुषोत्तमः श्रीराम एव न जीवः कुतः ? तस्यैव परमेश्वरस्यापहतपाप्मत्वादिकरूपाणामसाधारणधर्माणामत्रोपदेशात् । न चैवं शरीर सम्बन्धाद्विरोध इति वाच्यम् । कर्माधीनशरीरसम्बन्धस्यैव विरोधापादकत्वात् । परमात्मनस्तु कर्मानधीनः स्वेच्छयैव शरीरसम्बन्ध इति न कश्चिद्विरोधः । विस्तरस्तत्राकरे द्रष्टव्य इत्यत्र सङ्क्षेपः ॥२१॥

मयपदवाच्यो जीवो न भवति नवा आनन्दमयवाच्यतया यस्य कस्यचिद् ग्रहणं भवति । किन्तु सकल जगत्कारणस्यानन्दसमुद्रस्य विविधकल्याणगुणाकरस्य परमपुरुषस्य साकेताधिपतेः सर्वथा निग्रहानुग्रहसमर्थस्य ग्रहणं भवति । अत आनन्दपदवाच्यः परमात्मा द्विभुजो रमानाथ श्रीराम एवेति दिक् ॥२०॥

इति जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य–रामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्रकृतस्य श्रीरघुवरीय–वृत्ति-विवरणस्य षष्ठमानन्दमयाधिकरणम् ॥६॥

विवरणम्—अथ यथोक्तक्रमेण गतप्रकरणैः कतिपयैरप्राकृतिक लोकोत्तरनिरतिशयनिरवधिककल्याणगुणगणसमलंकृतः सर्वज्ञः सर्वश-

न्द योग होता है । इसलिए यहाँ आनन्दमयपद का वाच्य भगवान् परम-पुरुष श्रीरामचन्द्रजी ही हैं । जीव परमानन्द पद का वाच्य नहीं है । क्योंकि प्राप्य प्रापक में भेद सर्वानुभव सिद्ध है । १।१॥२०॥

॥ इत्यानन्दमयाधिकरणम् ॥

सारबोधिनी–"अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" इस जिज्ञासाधिकरण से

क्तिमान् सविशेषः स्थावरजंगमात्मकनिखिलजगतोऽभिन्ननिमित्तो पादानात्मककारणरूपश्चिदचिद्विशिष्टः परमपुरुषः सर्वेश्वरो भगवान् श्रीरामचन्द्र एवेति निर्धारितः। इतः परन्तस्यैव भगवत उपासनार्थं स्वरूपान्तरमपि विचारयितुमयमुपक्रमः क्रियते। तत्र ये जीवा अल्प पुण्यास्तेषां यद्यपि निखिलजगत्प्रतिसर्जकत्वमानन्दमयादियोगत्वञ्च श्रुति–स्मृति–प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्बाधितस्तथापि विशिष्टपुण्यपुञ्ज समलङ्कृतानां लोकपालादीनां कदाचिज्जगत्कारणत्वादिकं संभवतीति शंकायां प्रकृतसूत्रमवतार्य निर्णेतुमुपक्रमन्नाह–"छान्दोग्ये" इत्यादि। "य एषोऽन्तरादित्ये" [आदित्यमण्डलस्यान्तरेविद्यमानो य एषः प्रत्यक्षेण परिदृश्यमानः पुरुषाकारो हिरण्मयः सुवर्णसदृशोऽतिशयेन दीप्तिमान् हिरण्यसुवर्णसदृशश्मश्रुवान् हिरण्यसदृशसुवर्णकेशवान्. आप्रणखात्. नखान्तरमारभ्य केशपर्यन्तसर्वोऽपि सुवर्णः सुवर्णसदृशदीप्तिमानितिश्रुत्यर्थः] अत्र छान्दोग्यवाक्ये यः पुरुष श्रूयते स किं पूर्वानेकभवोपार्जितविलक्षणपुण्यपुञ्जवान् कश्चिज्जीव एवोपास्यतया

प्रारंभ करके आनन्दमयाधिकरण पर्यन्त प्रकरण से हेय प्रत्यनीक अखिल कल्याण गुणाकर सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ सकल जगत का अभिन्न निमित्तोपादान चिदचित् शरीरक परम पुरुष परमात्मा श्रीरामजी का निरूपण किया। अब इसके बाद उपासक व्यक्तियों का अभीष्ट सिद्धि के लिए उसी परम पुरुष परमात्मा का जो स्वरूप सविशेष है उसका ही विवेचन करने के लिए प्रक्रम करते हैं। यद्यपि अल्प पुण्यवान् सकल साधारण जो जीव वह अपनी इच्छा से सकल जगत् का कर्त्ता नहीं बन सकता है। नवा साधारण जीवों में आनन्दमय पदवाच्यता भी हो सकती है। तथापि विलक्षण पुण्यशाली जीवविशेष आदित्यादिक को तो जगत् कारणत्व तथा आनन्दमयत्व का योग भी बन सकता है। एतादृश शंका का निराकरण करने के लिए तथा अग्रिम सूत्र का उत्थान करने के लिए वृत्तिकार कहते है "छान्दोग्ये"

प्रतिपाद्यते. आहोस्वित् सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् परमपुरुषो यः प्रकरण-समधिगतः स एव वा समुपास्यतया प्रतिपादितो भवतीति। तत्र किं युक्तमिति जिज्ञासायां कश्चित्संपादितपुण्यप्रचयः प्रत्यगात्मैव यतो. रूपाधारादिश्रवणात्। परमात्मा तु न रूपवान् "अशब्द-मस्पर्शमित्यादि श्रुतेः नवा परमात्मनः कश्चिदाधारः स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः इति श्रुतेः। जीवस्य आधाररूपत्वं तु संभवति तस्मात् "मर्यादाधाररूपाणि न परस्मिन् प्रकल्प्यते। तस्मादुपास्यो जीवैव विशिष्टसुकृताश्रयः"। अतोऽत्रप्रकरणे परमात्मोपास्य तया नगृहीतव्यः किन्तु संसारी एवोपास्यतया परिगृहीतव्य इति पूर्वपक्षीयः। एतादृश पूर्वपक्षनिराकरणायाह—"अत्राभिधीयते" इत्यादि योयमादित्यमण्डलमध्ये दृश्यमानोपुरुषः सर्वशक्तिमान् सर्वजगद-भिन्ननिमित्तोपादानो भगवान् श्रीराम एव नतु प्राप्तपुण्यवानपि संसारी कश्चित् विभुत्वपापराहित्यात् परमात्मैव गृह्यते। नत्वल्पज्ञो ह्यणुर्जीवो

इत्यादि। छान्दोग्योपनिषद में "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः" [जो यह आदित्य मण्डल के मध्य में पुरुषाकार देखने में आता है। जो सुवर्ण सदृश दीप्यमान श्मश्रुवाला है। सुवर्ण सदृश केशवाला है। और नख से लेकर के शिखा पर्यन्त सुवर्ण सदृश है। इत्यादिक धर्मवाला है।] ऐसा अधिदैवत रूप का प्रतिपादन किया गया है। तथा "य एषोन्तरक्षिणी पुरुषो दृश्यते" और जो नेत्र के अन्तर्गतप्रतिबिंबरूप पुरुषाकार पुरुष देखने में आता है। इस श्रुति में चक्षुरादिक तथा अन्य अवयव का भी कथन किया गया है। और वह पुरुष सर्वपाप से रहित है। इत्यादिक स्वरूप का वर्णन किया गया है। इसमें जीव धर्म शरीर सम्बन्ध का भी दिग्दर्शन है। तथा सर्व पाप रहित है। इत्यादि अनेक प्रकारक धर्म का जो कि परमात्मा में ही रहनेवाला है, तादृश धर्म का

गृह्यतेऽत्र कथञ्चनेति प्रकरणग्राह्यत्वं परमात्मा एव नतु जीवः. तत्र किं राजाज्ञा कारणमित्याशंकाया निराकरणाय प्राह युक्तिं दर्शयितुम् "कुतः तस्यैव परमेश्वरस्ये"त्यादि। तस्य परमेश्वरस्य सर्वशक्तिमतो ये असाधारणाः धर्मा अपहतपाप्मत्वादिकाः श्रुतौ समुपदिष्टास्तेषामेव धर्माणामपहतपाप्मत्वादीनामेवात्रोपदेशः श्रूयते। ते च धर्मा अल्पज्ञेऽणुपरिमाणवति जीवे न संभवेयुरतो जीवस्य नात्र-ग्रहणं, किन्तु सर्वसमर्थस्य परमेश्वरस्यैव ग्रहणं न्याय्यमिति।

ननु प्रकृतश्रुतौ शरीरसम्बन्धः श्रूयते शररोसम्बन्धस्तु न परमेश्वरधर्मः ? "अपाणिपादो जवनो गृहीता" अशब्दमस्पर्शमरूपम्" इत्यादि श्रुत्या शरीरसम्बन्धस्य परमेश्वरे निराकरणात्। तस्मात् शरीर सम्बन्धस्य जीवधर्मत्वात् प्रकृते जीवस्यैव कथं न ग्रहणमिति चेन्न, कर्माधीनशरीरसम्बन्धस्यैव विरोधापादकत्वात्, अयमर्थः प्राकृतिक शरीरग्रहणे कर्मण आवश्यकता भवति। यतो विनाकर्म तादृश शरीरोत्पत्तेरेवाभावात्। किन्तु परमेश्वरशरीरन्तु—भक्ततन्त्र स्वतन्त्राय

भी कथन किया गया है। अब यहाँ सन्देह होता है कि अधिदैवत आदित्य में तथा अध्यात्म चक्षु में जो पुरुष है, वह कोई पूर्वभव से उपचितपुण्यशाली जीव है। अथवा सर्वगुणसम्पन्न परम पुरुष परमात्मा उपास्य रूप से प्रतिपादित होते हैं। इसमें शरीरादि सम्बन्ध तो जीव का धर्म है। तो तादृश जीव धर्म का सम्बन्ध होने से आदित्यादिजीव ही यहाँ उपास्य रूप से प्रतिपादित होते हैं। परमात्मा नहीं क्योंकि परमात्मा में तो स्वभाव से ही शरीर सम्बन्ध नहीं है। "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" "अपाणिपादो जवनो गृहीता" इत्यादि श्रुतियों से परमेश्वर में शरीरादि का अभाव कहा गया है। इसलिए जीव धर्म का प्रतिपादन श्रुतिमें होने से यहाँ आदित्य मण्डल तथा अक्षि में स्थित जीव की ही उपासना है। परमात्मा का यहाँ ग्रहण नहीं हो सकता है।

भक्ताभिष्टार्थदायिने । भक्त्यामुक्तिप्रदात्रे च राघवेन्द्राय मङ्गलम्" (राघवेन्द्रमङ्गलमाला १०) इतिपरमाचार्योक्तप्रकारेण न कर्माधीनमपितु भक्तानुग्रहाय लीलाशरीरमात्रं परिगृह्णाति सर्वसमर्थो भगवान् प्रकृतिसम्बन्धरहितम् । अतः परमेश्वरस्य तादृशशरीरसम्बन्धो न दोषाय। "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्, "अपाणिपादो जवनो गृहीता" इत्यादि श्रुतयस्तु प्राकृतिकशरीरसम्बन्धमेव पराकुर्वन्ति नतु लोकोत्तरं तत् प्रतिक्षिपन्ति । कथमन्यथा "सहस्रशीर्षे" त्यादि श्रुतीनाम्. तथा "असक्तं सर्वभृच्चैवे" त्यादि स्मृतीनां च साफल्यं संभविष्यति। तस्मात्कर्मानधीनत्वेन स्वेच्छयाधृतशरीरसम्बन्धत्वान्नास्ति कश्चिद्विरोधगन्धोपीति । विस्तारस्त्वाकरे द्रष्टव्य इति वृत्तेरक्षरार्थः ।

भावार्थस्त्वयम् । तथाहि छान्दोग्यप्रकरणे "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश य आप्राणखात्सर्व एव सुवर्णः" इत्यधिदैवतरूपोपदेशः कृतः । तथा "य एषोऽन्तराक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इत्यादि । एतादृशछान्दोगवाक्येन ज्ञायते यदादित्यमण्डलेवर्तमानस्तथा चक्षुषि वर्तमानः कश्चित्

यह पूर्वपक्ष का आशय है। एतादृश पूर्व पक्ष का उत्तर करते हैं वृत्तिकार "अत्राभिधीयते" इत्यादि "अन्तस्तद्धर्मोपदेशादिति" अत्र यहाँ आदित्यमण्डल के मध्य में तथा अध्यात्म चक्षु के अभ्यन्तर में जो ये पुरुष परिदृश्यमान हो रहे हैं, वे परम पुरुष भगवान् अखिल लोक का नायक—नियामक श्रीरामचन्द्र ही हैं। क्योंकि परमात्मा का जो असाधारणधर्म है, अपहतपाप्मत्वादिक उसका श्रुति में निर्देश किया गया है । यद्यपि पुरुषपद जीव परमेश्वर उभय साधारण है । इसलिए कतिपय अन्य धर्म नियामक नहीं हो सकते हैं । तथापि कतिपय अपहतपाप्मत्वादिक असाधारण धर्मों का जो उपदेश किया गया है, वे सब तो अन्यथानुपपत्ति प्रमाणों से परमात्मारूप धर्मी का ही प्रतिपादन करते हैं । ये

पुरुष उपास्यः, इति तत्र संशयो भवति । यत् योयमुपास्य तया प्रतिपादितः स किं पूर्वभवानेकसंचितकर्मवलात्सम्प्राप्तैश्वर्यादिलक्षणः कश्चिज्जीवः संसारी वा कश्चित् । अथवा निरस्त समस्त सांसारिककर्मा परमेश्वरः इति । कुतः संशयः ? उभयलिङ्गस्यात्रदर्शनात् । दृश्यते रूपवत्त्वादिकं सर्वपाप्मराहित्यादिकञ्च । एतादृश संशयान्तरं पूर्वपक्षो भवति । यदत्र संसारी एव कश्चिद्गृहीतव्यो यतो रूपस्य श्रवणात्. आदित्यपुरुषे, "हिरण्यश्मश्रुरि" ति कथितम्, तदेव च रूप चाक्षुषेप्यतिदेशेन प्रापितम् । परमात्मनस्तु-रूपाभावाद् ग्रहणन्न संभवति "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इत्यादि शास्त्रेण परमेश्वरस्य तन्निषेधात् । एवं परमेश्वरस्य प्रतिकूलमाधारश्रवणमप्यस्ति "य एषोऽन्तरादित्ये" "य एषोऽन्तराक्षिणी" इत्यादि । नहि सर्वाधारस्य परमेश्वरस्य कश्चित्पदार्थोधिकरणं संभवति "स्वेमहिम्नि प्रतिष्ठित" इत्यादिना परमेश्वराधारस्य निराकरणात् । एवमैश्वर्यस्याप्युभयत्रमर्यादा श्रूयते । न च मर्यादा रहितस्यैश्वर्यमर्यादावत्वं भवति निरतिशयैश्वर्यत्वात् । तस्मात् सूर्यमण्डले चक्षुषि च परिदृश्य-

यह जो अपहतपाप्मत्वादिक धर्म समुदाय हैं, वे किसी भी प्रकार से जीव में सम्बद्ध नहीं हो सकते हैं । इसलिए आदित्यमण्डलान्तर्वर्त्ती परमात्मा ही है । अल्पज्ञ जीव आदित्य मण्डलस्थ पुरुष पद से तथा चक्षुरवस्थित पुरुषपद से बोध्य नहीं होता है । यद्यपि अपहतपाप्मत्वादिक धर्म रहने के कारण से परमात्मा का ही यहाँ ग्रहण होता है, जीव का नहीं । तो शरीर सम्बन्ध के उपदेश होने से तो जीव का ही ग्रहण होना चाहिए ब्रह्म का नहीं क्योंकि शरीर सम्बन्ध तो जीव का ही असाधारण धर्म है । परमात्मा में तो शरीर सम्बन्ध असंभवित है । तथा शरीर सम्बन्ध तो परमात्मत्व का बाधक है । तथापि शरीर सम्बन्ध जो बाधक है वह पुण्यापुण्यकर्म प्राप्त जो शरीर है वह, ऐसा तो परमात्मा

मानः सम्प्राप्तपुण्यप्रचयः कश्चिज्जीवविशेष एवोपास्य तया परिगृहीतव्यो नतु परमेश्वरोऽसंभवादिति पूर्वपक्षे सति सूत्रमुपस्थापयति "अन्तस्तद्धर्मोपदेशा"दिति आदित्यस्यान्तर्मध्ये चक्षुर्मध्ये वा निविशमानः पुरुषः परमात्मैव नतु जीवः । यतस्तस्यः परमेश्वरस्य ये धर्माः शास्त्रे प्रतिपादितास्तेषामेव धर्माणामिहाप्युपदेशदर्शनादिति सूत्रार्थः । अर्थात् परमेश्वर एवात्र गृहीतव्यो यतः पारमेश्वरा ये धर्माः सर्वपाप रहितत्वादयस्ते इहोपदिश्यमाना वर्तन्ते । अतः परमेश्वरस्यैवात्रग्रहणं नतु धर्मप्रधानकस्यापि जीवनिवहस्य कथञ्चित्तेषां पाप कर्मणः संभवात् । न च शरीरसम्बन्धो बाधकः समस्तचिदचिच्छरीरकस्य ब्रह्मणः शरीरसम्बन्ध भक्तानुग्रहार्थ इति वेदान्ततन्त्रासिद्धत्वात् । तथाचाहुराचार्यप्रवराः श्रीराघवानन्दाचार्याः—"चिदचिद्भ्यांविशिष्टाय शिष्टपक्षसुरक्षिणे । सच्चिदानन्दरूपाय राघवेन्द्राय मङ्गलम् ॥ ब्रह्मणे परिपूर्णाय कार्यकारणरूपिणे । शार्ङ्गिणे पूर्णकामाय राघवेन्द्राय मङ्गलम् ॥

में नहीं है । तो तादृश शरीर का सम्बन्ध जीव ही में है, अप्राकृतिक लोकोत्तर भक्तानुग्रहार्थ स्वेच्छा संपादित जो शरीर है, जिस शरीर को धारण करके श्रीसाकेताधिपति कहलाते हैं, उस शरीर को परमात्मत्व की बाधकता नहीं हैं । कर्माधीन जो शरीर है, वही परमात्मत्व का विघातक होता है । इतर शरीर विघातक नहीं है । अपितु पोषक है । इसलिए आदित्यमण्डल में एवं चक्षु के अभ्यन्तर में जो पुरुष परिदृश्यमान होता है, जिसको "सूर्यमण्डलमध्यस्थं रामं सीता समन्वितम् ,

नमामिपुण्डरीकाक्ष ममेयं गुरुतत्परम् ॥ (सर्वेश्वरी श्रीसीताजी के साथ सूर्यमण्डलमध्यस्थ वात्सल्यमूर्ति अनादि अनन्त पुण्डरीकाक्ष श्रीरामचन्द्रजी को सर्वतो भाव से मैं नमन करता हूँ सनत्कुमारसंहितास्थ श्रीरामस्तवराज ४९) इत्यादिप्रकार से शास्त्र ने उपास्य रूप से प्रतिपादन किया है, वह पुरुष भगवान् श्रीरामात्मक परमात्मा ही है । नतु प्राप्तपुण्योत्कर्षवान् जीव है ।

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ।।१।१।२२।।

अत्र परमात्मनो जीवस्य च भेदो व्यपदिश्यते । "य आदित्ये तिष्ठन्नादित्याद्यन्तरः" [बृ० ३।१।९।] "यश्चक्षुषि तिष्ठन् चक्षुषोऽन्तर [बृ० ३।७।१८।] 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः (बृ. ३।७।२२।) इत्यादि श्रौतवचनैस्तस्मादयमादित्याद्यन्तरवस्थितोऽन्यः परमात्मैव ॥२२॥

इतिश्रीरघुवरीयवृत्तावन्तरधिकरणम् ॥७॥

भक्ततन्त्रस्वतन्त्राय भक्ताभीष्टार्थदायिने । भक्त्यामुक्तिप्रदात्रे च" इत्यादिरूपेण। अथवा प्राकृतिकशरीरसम्बन्ध एव कथञ्चिद् बाधको नतु स्वेच्छामात्रगृहीतोऽप्राकृतिकदिव्यशरीरसम्बन्धस्तथेति कृतमधिकप्रपञ्चेनेति दिक् ॥ २१ ॥

विवरणम्—जीव परमात्मनोर्लक्षणभेदात्तयोः परस्परं भेदो भवति। यथा गन्धवत्त्वोष्णस्पर्शवत्त्वलक्षणयोर्भेदात् पृथिवी तेजसोर्भेदः । एवमेव नित्यज्ञानवत्त्वानित्यज्ञानाधिकरणत्वलक्षणयोर्भेदात् परमात्मजीवात्मनोरपि भेद एवेति। भेदादिसत्त्वात् परस्परौ तौ भिन्नावेवेत्याशयेन प्रकृत प्रकरणे नैव जीवग्रहणमपितु परमात्मनो ग्रहणं भवतीति तयोर्भेददर्श-

यद्यपि सूर्यादि देवों में भी अतिशयित पुण्य है । तथापि क्लेशतः उनका पुण्य पाप से आघ्रात ही रहता है । इसलिए इन लोगों का पतन भी होता है। विशेष तो भाष्य व्याख्यान से ही जानना चाहिए ॥२१॥

सारबोधिनी— आदित्य मण्डल के मध्य में परिदृश्यमान हस्तपादादि अवयव युक्त सुवर्णवत् देदीप्यमान पुरुष तथा चक्षु में अवस्थित जो पुरुष है वह जीव कोई है कि परमेश्वर है ? इस प्रकार के सन्देह के बाद पूर्वपक्ष में कहा गया कि अवयवादिक से शरीर का सम्बन्ध सूचित होता है। इसलिए पूर्व भवीय प्रकृष्ट पुण्य के बल से कोई जीव ही आदित्यमण्डल में तथा चक्षु में व्यवस्थित है । इसी जीव की उपासना करनी चाहिए । परमात्मा में तो, 'अपाणिपादो जवनो गृहीता' अशब्दमस्पर्शमरूपम-

नायोपक्रमन् सूत्रावतरणं कुर्वन्नाह "अत्र परमात्मनो जीवस्य च भेदो व्यपदिश्यते" इत्यादि। सकल जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादान-स्वरूपब्रह्मणस्तथाऽनित्यज्ञानादिमतो जीवस्य च परस्परं भेदः प्रतिपादितो भवति, तस्मादादित्यमण्डले चक्षुषि च परिदृश्यमानः पुरुषः परमात्मैव भवितुमर्हति नतु जीवः। कुतः? तयोः परस्परं भेदव्यपदेशात्। ननु भेदव्यपदेशलक्षणो हेतुः प्रदर्शितः स च हेतु स्वरूपासिद्धः, इति भेदमेव दर्शयितुं श्रुतिमुदाहरति "य आदित्येतिष्ठन्नादित्यादन्तरोयमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरोयमयत्येष ते आत्मा" "यश्चक्षुषि तिष्ठन् चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्नवेद यस्यः चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो-यमयति" "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोन्तरो यमात्मानवेदयश्यात्माशरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति। [यः परमात्मा आदित्य मण्डले तिष्ठति सर्वदैव तथा आदित्यात् सूर्यादन्तरः, यं च पुरुषं सूर्यः स्वयं न वेद विजानाति यदयंक इति। यं स्वाभ्यन्तरेवर्तमानं परमात्मानम्—आदित्यः कोयम दभ्यन्तरे तिष्ठतीत्येवं प्रकारेणनापि जानाति यस्य परमात्मन आदित्यः शरीरस्वरूपः स्वाश्रयरूपः। यश्च परमात्मा सूर्याभ्यन्तरे वसन् सूर्यं नियमयति, अर्थात् आदित्यस्यापि नियंत्रणं करोति। तेन परमात्मना

व्ययम्' इत्यादि श्रुति से शरीर सम्बन्ध का अभाव सुनने में आता है, अतः परमात्मा नहीं है। नवा परमेश्वर उपास्यता रूप से प्रतीत होते हैं। इत्यादि रूप से महा आडम्बर से जो पूर्वपक्ष किया था, उसका उत्तर करने के लिए सूत्र का उत्थान करते हुए कहते हैं, "अत्र परमात्मनो जीवस्य च" इत्यादि। इस प्रकरण में परमात्मा तथा जोवात्मा का भेद प्रतिपादन किया गया है। "य आदित्ये तिष्ठन्" इत्यादि जो आदित्य के मध्य में रहता हुआ आदित्य से भी अन्तर है। जिसको आदित्य नहीं समझ सकते हैं कि यह कौन है! जिसका आदित्य शरीर है और अन्तर्यामित

नियंत्रित एव सूर्यादि यथाकालमुदेति तपति स्व स्व व्यापारे व्यापारयति च लोकान् स्वप्रकाशादिना–भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपतिसूर्यः भयादिन्द्रश्च" इत्यादि श्रुत्यन्तरे प्रतिपादनात् । तथैवाहु भगवन्तः श्रीप्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकारा जगद्गुरवः श्रीरामानन्दाचार्याः श्रीवैष्णवमताब्जभास्करे–

"विश्वं जातं यतोऽद्धा यदवितमखिलं लीयते यत्र चान्ते
सूर्यो यत्तेजसेन्दुः सकलमविरतं भासयत्येतदेषः ।
यद्भीत्या वाति वातोऽवनिरपि सुतलं याति नैवेश्वरोज्ञः
साक्षी कूटस्थ एको बहुशुभगुणवानव्ययो विश्वभर्त्ता"

इत्याद्यनेकरुपेण प्रदर्शितो यः परमपुरुष स एव तमात्मा नियामकः परश्चेति श्रुत्यर्थः ।] इत्यादिका अनेका श्रुतयः आदित्यादिजीवेभ्यः परमात्मनो भेदं प्रदर्शयन्ति । उद्धृतश्रुतिवचनैः सिद्धो

या आदित्य को नियंत्रित करता है । यह आत्मा सर्व शक्तिमान् सर्वज्ञ चिदचिद् जगत् प्रपंच का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है । और परित्यक्त सकल कर्म जनित सांसारिक धर्म से रहित तथा अप्राकृतिक अनन्त कल्याण गुणों का पारावार–योगियों से ज्ञायमान सर्व वेदान्त वेद्य-तथा ज्ञेय एवं विजिज्ञास्य भी है । एवं "जो चक्षु में रहता हुआ चक्षु से अन्तर है, जिसको चक्षु नहीं समझ सकती है, जिनका चक्षु शरीर है, और जो चक्षु को अपने नियंत्रण में रख रहा है" । तथा जो विज्ञात्मा के अन्दर में विद्यमान है । जो जीव से अन्तर है, जिसको जीवात्मा नहीं समझ सकता है, एवं जो जीवात्मा को नियंत्रित करता है ।" इत्यादिक बृहदारण्यकीय श्रुति तथा, "भयादग्निस्तपति भयात्तपतिसूर्यः" इत्यादि अन्य श्रुति से, "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" इत्यादि स्मृति पुराणों से सिद्ध होता है कि परमात्मा जड़–चेतन समस्त पदार्थों से भिन्न होता है । तो एतादृश श्रुत्यादि सिद्ध परमात्मा हीं आदित्य मण्डल में अवस्थित है । और तादृश पर-

भवति यत् परमात्मा आदित्यादिभ्यो भिन्नः स एव सर्वेषामभ्यन्तरश्चेति ततश्च परमात्मनो भिन्नाञ्जड़चिदात्मकान् सर्वानेव पदार्थान् परमेश्वरस्य शरीरत्वेन नियाम्यत्वेन, शरीरित्वेन, तत्तज्जीवानामन्तरात्मत्वेन नियमनकर्तृत्वेन च व्यपदेशं कृत्वा जड़–चित्पदार्थयोर्नियामकतारूपेण परमात्मजीवात्मनोः परस्परं भेदमेव समुपस्थापयन्ति प्रकृत श्रुतिस्मृतयः। अस्मादेव कारणादादित्यादिजीवेभ्यः सर्वथा विलक्षणः सर्वेश्वरः परमात्मा यश्चादित्यादि मण्डलान्तः वर्तते स सर्वेभ्यो भिन्नः स एव चात्रोपास्यतया प्रतिपादितो नतु पुण्यप्रकर्षविशिष्टः कश्चिज्जीवोऽत्रोपास्यतया प्रतिपादितो भवति। यदपि पूर्वमुक्तं शरीरसम्बन्धादादित्यण्डलान्तर्गतो जीव एव परमात्मनः शरीराभावादिति तदपि न शोभनम्। कर्माधीन शरीराभावेपि स्वेच्छामात्रकल्पितशरीरसम्बन्धे बाधकाभावादित्यादिकं सर्वं यथा शास्त्रं विवेचयन्ति शास्त्रकुशला इति ॥२२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य–रामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र कृतस्य श्रीरघुवरीय वृत्तिविवरणस्य सप्तममन्तराधिकरणम् ॥७॥

मात्मा ही उपास्य है। नतु पूर्व भवीय विशिष्ट युक्त कोई जीव। न वा जीव इसमें उपास्य रूप से प्रतिपादित होता है। किन्तु परमात्मा ही उपास्य है। जो कि पूर्वपक्ष में कहा था कि यहाँ शरीर सम्बन्ध का कथन है। तो परमेश्वर का तो "अपाणिपादो जवनो गृहीता" "अशब्दमस्पर्शम रूपम्" इत्यादि श्रुति से शरीराभाव का प्रतिपादन किया है। अतः शरीरवान् कोई जीव ही है परमात्मा नहीं है। यह पूर्वपक्ष तो अविदित श्री मदानन्दभाष्याशय व्यक्ति को हीं शोभित होता है। क्योंकि सर्व शक्तिमान् सर्वशरीरक भगवान् श्रीराम में शरीर प्रतिषेधक श्रुतियों का अभिप्राय है कि कर्म संपादित शरीरवान् भगवान् नहीं हैं। किन्तु लोकोत्तर अप्राकृतिक स्वेच्छाधृत शरीर का निषेधक तो श्रुति नहीं है। अन्यथा, "सर्वकर्मा सर्वगन्धः" इत्याद्यनेक श्रुतियों का बाध हो जायगा। इस लिए प्रतिषेधक श्रुति

अथ आकाशाधिकरणम् ॥८॥

आकाशस्तल्लिङ्गात् ।१।१।२३॥

छान्दोग्योपनिषदि—'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुपद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति" (छा० ।१।९॥१॥)इति श्रूयते । अत्र किमाकाशशब्देन भूताकाशस्य ग्रहणमुत परस्यैव ब्रह्मण इति संशयः । प्रसिद्धत्वाद् भूताकाशस्यैव ग्रहण-मिति पूर्वपक्षः । अत्राभिधीयते प्रोदीरितश्रुतिवाक्य आकाशशब्देन

विवरणम्—इतः पूर्वस्मिन्ननन्तराधिकरणे परमात्मनोऽसाधारणगुणदर्शनात्त स्यैव विवक्षित गुणवत उपासनम् । न तु कथमप्यादित्यशरीराभिमानि

तथा अन्य आचार्यों का भी अभिप्राय है कि प्राकृतिक शुभाशुभ कर्मजनित शरीर से रहित तथा तादृश शरीराभाव का ही प्रतिषेध है । एवं परमात्मा का शरीर है इस वस्तु का प्रतिपादन अन्य श्रुतियाँ भी करती हैं । अतः दिव्य देहवान् अनन्त कल्याण गुणाकर परमेश्वर हैं । भिन्न रूप में प्रतिपादित है । तादृश परमात्मा का ही इस प्रकरण में ग्रहण किया जाता है नतु जीव का ग्रहण ॥२२॥

सारबोधिनी— "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीव-न्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविसन्ति" इत्यादिक जो कारण वाक्य हैं । तादृश वाक्य घटक कारण वस्तु के प्रतिपादन करनेवाले शब्द समुदाय हैं उन सबका कारण में पर्यवसान होनेसे परम पुरुष वाचकता है । इस बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रोत्थान पूर्वक वृत्तिकार कहते हैं—छान्दोग्योपनिषदित्यादि" छान्दोग्योपनिषद में "अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते । आकाशे प्रत्यस्तं यान्त्याकाशोह्ये-वैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्"[परिदृश्य स्थूल चराचर लक्षण. इन लोगों की गति, आधार अर्थात् कारण क्या है !ऐसे प्रश्न के उत्तर में कहा कि "यह

सर्वजगत्कारणस्य परमात्मन एव ग्रहणम्। सर्वभूतोत्पादकत्वं सर्वस्माज्ज्यायस्त्वं सर्वाश्रयत्वञ्चेत्यादि लिङ्गजातं परब्रह्मण्येव समन्वेति। 'एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि श्रुतिष्वाकाशस्योत्पत्तिरभिधीयते इति न तस्य सर्वभूतोत्पादकत्वमित्यत्राकाशः परमात्मा ॥२३॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावाकाशाधिकरणम् ॥८॥

नो जीवात्मन उपासनमिति निरूपितम्। इदानीन्तु तस्यैवासाधारणधर्मदर्शनेन परमात्मन एवोपास्यत्वेन ग्रहणं न तु लोकप्रसिद्धभूताकाशस्याकाशपदेन ग्रहणमित्यस्मिन् प्रकरणे निरूप्यते। तत्र 'आकाश इति होवाच' इत्यत्र किं मुख्याकाशपदानुरोधेन "अस्य लोकस्य का गति" इति 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' इति च। 'जायानिति' च परायणम् एतानि सर्वाणि कथंचिद् व्याख्यायतामथवा एतेषां पदानामनुरोधेन आकाशशब्द एव गौणिवृत्त्या परमात्मनि व्याख्यायताम्। तत्र प्रथमत्वात् प्रधानत्वादाकाशपदमेव मुख्यम्। एतदनुरोधेन ज्यायस्त्व परायणत्वादिकानि व्याख्यायतामित्येव निश्चयः। 'अस्य लोकस्य का गति रिति प्रश्नस्योत्तरे 'आकाश इति होवाच' इत्याकाशस्य गतित्वेन प्रतिपाद्यतया प्राधान्यात् 'सर्वाणि ह वा' इत्यादीनां सर्वेषां तद्विशेषणतया गौणत्वात्। बहुनामप्यप्रधानानां प्रधानानुरोधेनैव

आकाश सबका कारण हैं यह परिदृश्यमान सब भूत आकाश से समुत्पन्न होते हैं और प्रति सर्गकाल में आकाश में ही प्रलीयमान हो जाते हैं। आकाश इन भूतों से ज्यायान् बड़ा है। आकाश सबका आधार प्रतिष्ठा है।"] अब यहां सन्देह होता है कि आकाश पद से भूताकाश का ग्रहण होता है, अथवा परमात्मा का ग्रहण किया जाय। क्यों यह सन्देह होगा? तो संशय का प्रयोजक यह आकाश शब्द है भूताकाश तथा पर ब्रह्म इन दोनों में आकाश शब्द का प्रयोग होता है। भूताकाश में तो आकाश शब्द का प्रयोग लोक में अति प्रसिद्ध ही है और लोक में शास्त्र में तथा ब्रह्म में भी आकाश शब्द का प्रयोग

व्याख्यानं युक्तम् । किं च 'आकाश इति होवाच' इत्युत्तरप्रतिपादक वाक्ये प्रथमावगतमाकाशमनुपजातविरोधि ततश्च तदनन्तमागतं यत् तत्सर्वं गुणवृत्त्यागतमिति जघन्यतया उपसंजातविरोधि । अतोऽनुपसंजाताधीन आनुकूल्येनोपसंजातविरोधिनो व्यवस्थापनं कर्त्तव्यम् । न च कदाचित्चिदाकाशशब्दो गौणो वृत्त्यां परमात्मनि प्रयुक्त इति सर्वत्र तथैव प्रयोगः कर्त्तव्यः । नहि कदाचित्कारणवशाद् 'गङ्गायां घोषः'इत्यत्र गंगापदं तात्पर्यानुपपत्त्या तीरबोधकं भवतीति,गङ्गायां नौकेत्यत्रापि किं गङ्गापदं लाक्षणिकमेव भवतु । न च प्रकृते प्रथममपि आकाशपदं मुख्यो ऽनेकार्थत्वस्यान्याय्यत्वात् । गौणी वृत्त्यापि ब्रह्मणि प्रयोगस्योपपत्तेः । लोके चाकाशपदस्य रूढ़त्वदर्शनात । तत्पूर्वकत्वाच्च वैदिकार्थप्रतीतेस्तद्वैपरीत्पस्यानुपपत्तेरित्यादिकं सर्वमनसि निधायाह वृत्तिकारः 'आकाशस्तल्लिङ्गा' दिति सूत्रमुदाहर्तुं छान्दोग्योपनिषदि इत्यादि । अस्य लोकस्य का गति रित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूता

देखने में आता है । जैसे, "कोह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्द न स्यात्" [कोई भी अनन क्रिया तथा प्राणन क्रिया को नहीं कर सकता यदि आनन्दरूप यह आकाश अर्थात् परमात्मा नहीं होता] इत्यादि स्थल में आनन्द स्वरूप परमात्मा में भी आकाश शब्द से भूताकाश का ग्रहण किया जाय अथवा परमात्मा का ग्रहण किया जाय । इसमें पूर्वपक्ष होता है कि आकाश पद के भूताकाश में रूढि होने से प्रथमोपस्थित है । तथा इसी प्रकरण के वाक्य शेष में "आकाशाद्वायुः" इत्यादि में वाय्यादि क्रम से आकाश में कारणता का भी उल्लेख किया है और "आत्मन आकाशः संभूतः" यहाँ भी आत्मा शब्द का अर्थ है आकाश । क्योंकि सूक्ष्माकाश से भूताकाश उत्पन्न होता है । "एवं सदेव सोम्येदमग्रे" इत्यादि स्थल में भी सत्पदबोध्यता सूक्ष्माकाश की ही है । इसलिए प्रकृत में आकाश पद बोध्यता भूताकाश ही है अतः उसी का ग्रहण होता है । परमात्मा

न्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यान्ति। आकाशो ह्येवेभ्यो ज्या यानाकाशः परायणम्' अस्य परिदृश्यमानस्य चराचर लक्षणस्य लोकस्य गतिः आधारभूतः कः? इति प्रश्ने उत्तरितम्। योयमाकाशः स एव सर्व लोकानामाधारलक्षणः कुतः? यतः इमानि परिदृश्यमानानि सर्वाणि पृथिव्यादिभूतानि आकाशादेव समुत्पद्यमानानि भवन्त्याकाशे एव स्थितिकाले स्थितानि भवन्ति। पुनश्च प्रतिसर्गकाले आकाशे एव प्रलीनानि भवन्ति। तथा अयमाकाश एभ्यः परिदृश्यमानपदार्थेभ्यो ज्यायान तीव महान् परायणः सर्वेषामाश्रयश्च भवतीति सारार्थ एवं क्रमेण श्रुतिषु श्रूयते। अत्र किमाकाश शब्देन भूताकाशस्य ग्रहणं भवति यद्वा सर्व जगन्नियामकस्य परमात्मनः परमपुरुषस्य ग्रहणं भवति। उभयबोधकलिङ्गस्य दर्शनात्। प्रसिद्धिर्भूताकाशग्रहणे लिङ्गम् उपपत्तिस्तु परमात्मनो ग्रहणमित्युभयो लिंङ्गदर्शनाद् भवति संशय इति। तत्र प्रकृते आकाश पदेन लोकप्रसिद्धभूताकाशस्यैव ग्रहणं आकाशपदवाच्य नहीं है। यह हुआ पूर्वपक्ष। इस पूर्वपक्ष के उत्तर करने के लिए वृत्तिकार कहते हैं "अत्राभिधीयते" इत्यादि। पूर्व कथित "अस्य लोकस्य का गतिः" इस श्रुति वाक्य में आकाश शब्द से सम्पूर्ण स्थूल सूक्ष्म जड़ाजड़ साधारण जगत् का कारण जो परम पुरुष परमात्मा है उसका ही ग्रहण होता है। क्योंकि ब्रह्म का बोधक जो अव्यभिचारी लिङ्ग है सर्वजगत् कर्तृत्व सर्वापेक्षया ज्यायस्त्व परायणत्वादिक वह यहाँ उपलभ्यमान हैं। यह जो सर्व जगत्कर्तृत्वादिक धर्म है सो ब्रह्म का अव्यभिचारी है। वह ब्रह्म व्यतिरिक्त में अनुपपन्न है। इसलिए प्रकृत में आकाश पद का बोध्य ब्रह्म ही हैं भूताकाश नहीं है। क्योंकि भूताकाशमें सर्वजगत्कर्तृत्व सर्वापेक्षया ज्यायस्त्व तथा सर्वाधारता नहीं हैं। यद्यपि वायु प्रभृति को भूतों के प्रति कारणता तद पेक्षया ज्यायस्त्व परायणत्व है, तथापि सर्वपदवाच्यान्तर्गत आकाश के प्रतिजनकता आकाश का नहीं हैं। यदि कहें कि वाय्यादिकों का कारणत्व तथा महाभूताकाश के प्रतिजनकता तो सूक्ष्माकाश को है, तब आकाशजनकत्व तो

कर्त्तव्यम् । यतो लोकप्रसिद्ध्या झटिति समुपस्थितो भवति तथा प्रधानतया च । न तु परमात्मनो ग्रहणं यतः परमात्मनि गौणी वृत्त्या कुत्रचिदे वाकाशशब्दःप्रयुज्यमानो भवतीति स गौणः । मुख्यस्य गौणस्य वा ग्रहण मिति संशये मुख्यस्यैव ग्रहणं न्याय्यं न तु गौणस्य, कुत्रचित्कोपि शब्दो गौणोदृष्टः कारणबलात्प्रयुक्त इति तावता सर्वत्र तादृश शब्दस्य गौणवृत्या ग्रहणं कर्त्तव्यमिति न नियमः । किं तात्पर्यानुपपत्या गङ्गाप्रवाहे घोषस्य सम्बन्धासंभवेन तीरे प्रयुज्यमानो गंगा शब्द 'गंगायां नौका' इत्यादि सर्वस्थलेषु गंगापदं लाक्षणिकमेवेति । तद्वत्प्रकृते परब्रह्मणि कारणबलात् प्रयुज्यमानो गौणीवृत्त्या. आकाश शब्द परब्रह्मण्येव प्रयुज्य मानः स्यादिति न । तस्मात् प्रकृते श्रूयमाण आकाश शब्दो रूढ्या भूताकाशस्यैव वाचको नतु परमेश्वरस्य वाचक इति पूर्वपक्षाशयः

तमिमं पूर्वपक्षाशयं दूषयितुकाम प्राह– "अत्राभिधीयते" इत्यादि । "अस्य लोकस्य का गति रीत्याकाश इति होवाच" होता है । यह भी कहना ठीक नहीं है । क्योंकि सूक्ष्माकाश भी तो भूताकाश हीं है । तो उसके प्रति उसको जनकता नहीं होने से आकाश-पदवाच्यता भूताकाश को नहीं है । किन्तु प्रकृत में आकाश पदबोध्यता ब्रह्म को ही है । यद्यपि "सर्वाणि हि भूतानि आकाशादेव जायन्ते" यहाँ आकाश पद प्रथमोपस्थित तथा असंजात विरोधी है । क्योंकि उस समय में इसका विरोधी कोई नहीं है । और ज्यायस्त्वादिक जो है वह द्वितीयोपस्थितिक है संजात विरोधी हैं । अतः असंजात विरोधी प्रथमोपस्थित भूताकाश से संजात विरोधी द्वितीयोपस्थित ज्यायस्त्वादिक धर्म श्रवण से विरोध होने के कारण ज्यायस्त्व धर्म को लक्षण करके आपेक्षिक ज्यायस्त्व अर्थ करने से भूताकाश में भी आपेक्षिक ज्यायस्त्व को लेकर भूताकाश का भी ग्रहण हो सकता है । तथापि अन्यथानुपपत्ति प्रमाण सहकृत संजात विरोधी के अपेक्षा से आकाशपद को ही परमात्म बोधकता है । यह कोई नियम नहीं है कि प्रथमोपस्थित असंजात विरोधी द्वितीयोपात्त संजात विरोधी

इति पूर्वकथितवाक्ये आकाशशब्देन स्थावरजंगमसाधारण-सर्वजगदुत्पादकस्य सर्वज्ञसर्वशक्तिमद् विशिष्टस्य परमपुरुषस्यैव ग्रहणं भवति । कुतः ? तस्य परमात्मनो बोधकानि लिङ्गानि ज्यायस्त्वपरायणत्वादिनि तानि सर्वाणि प्रकृते विद्यन्ते, अर्थात्सर्वभूतोत्पादकत्वं भूताकाशे न विद्यते। यद्यपि पवनादारभ्य औषधिपर्यन्तस्योत्पादकता विद्यमानापि सर्वभूतान्तर्गताकाशोत्पादकता आकाशे नास्ति। नहि स्वस्मादेवस्वस्योत्पत्तिर्जायमाना दृष्टान्यत्र ततश्चाकाशादिसहितसर्वभूतोत्पादकता सामञ्जस्येन परमात्मन्येवावकल्प्यते । एवं सर्वापेक्षया ज्यायस्त्वमप्याकाशे न भवति। तत्र यत् ज्यायस्त्वं तत्तु सापेक्षं पवनादिभूतान्तरेभ्यो निरंकुशं ज्यायस्त्वन्तु परमात्मनः सर्वशरीरत्वात् । सर्वपरायणत्वमर्थात् सर्वाश्रयत्वमपि भूताकाशे नास्ति । नहि भवति भूताकाशो भूताकाशाश्रयत्वं परमात्मा तु सर्वेषां स्थूलसूक्ष्मानामाश्रयोऽत एव सर्वस्य प्रतिष्ठा। ततश्चैतेषां सर्वकारणत्वसर्वज्यायस्त्वसर्वाश्रयत्वादिधर्माणां भूता-

का बाध करे, शुक्तिकामें जो 'इदं रजतम्' यह ज्ञान होता है वह प्रथम असंजात विरोधि है। परन्तु उत्तरकाल में आगत संजात विरोधि "नेदं रजतम्" इस बाधक ज्ञान से पूर्व का बाध हो जाता है उसी तरह प्रकृत में भी समझना चाहिए। इन विषयों को लक्ष्य में लेकर के वृत्तिकार कहते हैं "सर्वभूतोत्पादकत्वमित्यादि" "सर्वाणिहवा इमानि भूतान्याकाशादेव" इत्यादि श्रुति प्रतिपादित सर्वजगत्कारणत्व निरतिशयज्यायस्त्व सर्वाश्रयत्वादि रूप जो अव्यभिचारी परब्रह्म ज्ञापक लिङ्ग समुदाय है जो कि असंकुचित कारणता ज्यायस्त्व सर्वाश्रयत्व का बोधक है। सो तो यथावत् परब्रह्म में ही घटित होता है। भूताकाशादिक में नहीं। भूताकाशादिक में जो कारणता है वह तो संकुचित अर्थात् यत् किंचित् कार्य के प्रति ही कारणता है। नतु असंकुचित सर्व पदवाच्य कार्य मात्र के प्रति कारणता है। यदि यत् किंचित् कार्य के प्रति कारणता होने से भूताकाश का ग्रहण हो तब तो यतकिंचित् कार्य के प्रति कारणताशाली तो अनेकों पदार्थ हैं। तो उन सबका ग्रहण क्यों

काशेऽसंभवात् परस्मिन् पुरुषे चैतेषां संभवादात्मैवाकाशपदबोध्यो भवति नतु भूताकाशपदवाच्योऽपि भूताकाशो भूताकाश पदेन परिगृहीतो भवति। यदि कदाचित् त्वदीयानुरोधेनाकाशपदस्य भूताकाशपरत्वं स्वीकुर्वीत तदापि गतिर्नास्तीत्यत आह "तस्माद्वा एतस्मादात्मन" इत्यादि। तस्मात् सर्व जगत्कारणात्सर्वज्ञपरमेश्वरादाकाशः संभूतः संजातः, अनया श्रुत्या आकाशस्यापि समुत्पत्तिर्दर्शिता। तस्मात् स्वयं जायमानो भूताकाशः कथं सर्वभूतानां जनकः स्यात् सर्वशब्दवाच्याकाशस्याकाशजनकत्वासंभवात्। नहि घटो घटाज्जायते। न च 'परमात्मजातोप्याकाश आकाशेतरभूतानां समुत्पादक' इत्यर्थकरणे प्रोदीरित श्रुतेः सार्थक्यं स्यादेवेति वाच्यम्। सर्वपदस्य संकोचे प्रमाणाभावादिति। तस्मादाकाशादेव समुत्पद्यन्ते इति श्रुतावाकाशपदेनासंकुचितसर्वपदघटितभूतोत्पादकत्वं सर्वजगत्कारणस्य परमात्मन एव संभवति। नतु यत्किंञ्चिदुत्पादकस्य भूताकाशस्य ग्रहणमिति वृत्त्यक्षरार्थः। विस्तारार्थस्तु सूत्रस्य भाष्याद्याक-

नहीं किया जाय? एवम् "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" [सर्व शरीरक उस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ है।"] एतादृश अनेक श्रुतियों में आकाश को उत्पत्ति होती है ऐसा प्रतिपादन किया गया है। असंकुचितसर्वपदवाच्य कार्य के प्रति कारणता आकाश में सिद्ध नहीं होता है। अतः प्रकृत में आकाश पद ब्रह्म का ही बोधक है। जो कि परमानन्द मयस्वरूप है।

और भी देखिये "सदेव सोम्येदमग्रे" "बहुस्यां प्रजायेय" आत्मा वा इदमेक अग्र आसीत्" "स इमांल्लोकानसृजत" "तस्माद्वा एतस्मात्" इत्यादि अनेक श्रुतियों में अनन्त कल्याण गुण परमात्मा में ही सर्व जगत्कारणत्व सर्वाश्रयत्व का प्रतिपादन किया है। और "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इस एक ही श्रुति में भूतोत्पादकत्व आकाश में बता-

॥अथ प्राणाधिकरणम् ॥९॥

अत एव प्राणः ।१।१।२४॥

उद्गीथविद्यायां 'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' इत्यारभ्य "कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच" [छा०१। ११।४।] इति श्रूयते। अत्र प्राणशब्देन किं भूतवायुरभिधीयते परमात्मावेतिसंशयः। भूतवायौ प्राणशब्दस्य प्रसिद्धत्वाद्वायुविकार एवेति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु पूर्वो-

---

क्तग्रन्थव्याख्यानादेव विशेष जिघृक्षुभिरवगन्तव्य इति संक्षेपः ॥२३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृत
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणस्याकाशाधिकरणम् ॥८॥

विवरणम्ः-पूर्वस्मिन्नाकाशाधिकरणे रूढ्या प्रथमोपस्थितोऽपि भूताकाशो नाकाशपदेन ग्राह्यः किन्तु सर्वभूतोत्पादकत्वसर्वभूताश्रयत्वादि परमात्मलिङ्गदर्शनेन परमाकाशस्य परमात्मन एव ग्रहणम्। परमेश्वरे एव सर्वभूतोत्पादकत्वादिधर्माणां संभवादिति कथितम्। यद्यपि "यो-

या गया है। अतः अनेक श्रुति से अनुमोदित परमात्मा में ही जगत्कारणत्व मानना उचित है। यही आनन्दभाष्यकार का मत है। ॥२३॥

इत्याकाशाधिकरणम् ॥८॥

सारबोधिनी-जिस प्रकार इससे अव्यवहित पूर्व आकाशाधिकरण में आकाश पद का प्रयोग भूताकाश में तथा परमात्मा में होता है, तो आकाश पद भूताकाश का वाचक है कि परमात्मा का वाचक है। ऐसा सन्देह होने से भूताकाश में प्रसिद्ध है आकाश पद इसलिए आकाश पद से भूताकाश का ही ग्रहण है। ऐसा पूर्वपक्ष करके सर्वाश्रयत्व सर्वजनकत्वादि परमेश्वर लिङ्ग दर्शन होने से आकाश पदबोध्य परमात्मा ही है भूताकाश नहीं है। ऐसा सिद्धान्त किया गया है। उसी तरह प्रकृत प्रकरण "प्रस्तोतर्या देवता" इस प्रकरण में भी प्राण पद से परमात्मा का ही ग्रहण होता है। किन्तु वायु

धिकरणोदितन्यायातिदेशेनात्र प्राणशब्देन परमात्मन एव ग्रहणम् । सर्वोत्पादकत्वसर्वाश्रयत्वादिलिङ्गानां न वायुविकारे क्वचिदपि सम्भवस्तस्मादत्र प्राणः परमात्मैव ॥२४॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ प्राणाधिकरणम् ॥९॥

गाद्रूढेर्बलीयस्त्व''मिति प्रथमोपस्थितत्वाद्वायुप्रभृतिकभूताद्युत्पादकत्वेन भूताकाशस्यैव ग्रहणं न्याय्यम् । तथापि अव्यभिचरितान्यानुपपत्ति सहकृतलिङ्गस्यैव प्राधान्यमिति कृत्वा संजातविरोधिनोऽपि लिङ्गस्यैव प्राधान्यमित्यादि युक्त्या परमात्मन एवाकाशपदेन ग्रहणं कर्त्तव्यमिति सिद्धान्तितम् ।

इहापि प्राणपदेन सर्वजगत्कारणस्य परमात्मन एव ग्रहणं कर्त्तव्यं प्रसिद्धिमतिक्रम्येत्यादिकं विचारयिष्यतीति ''अतएव प्राणः'' इति सूत्रेतिप्रसङ्गमुत्थापयितुं प्रक्रमते ''उद्गीथविद्यायामित्यादि । छान्दोग्योद्गीथविद्याप्रकरणे ''स्तोतर्या देवताप्रस्तावमन्वायत्ता'' इत्यारभ्य ''कतमा सा देवतेति प्राणएवेति हो वाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि'' [हे प्रस्तोतः या खलूपास्यदेवता प्रस्तावे समनुगता सा का देवता तस्याः

विकार रूप जो प्राण है उसका ग्रहण नहीं होता है, इत्यादि वस्तु का प्रतिपादन करने के लिए वृत्तिकार उपक्रम करते हैं । ''उद्गीथविद्याया।'' मित्यादि । ''प्रस्तोतर्यादेवता प्रस्तावमन्वायत्ता'' हे प्रस्तोता जो यह प्रस्ताव में अनुगत है, इत्यादि उपक्रम करके वह देवता कौन है ? ऐसा उषस्ति ने कहा । तब उसके बाद कहा कि प्रस्ताव में आगत यह देवता प्राण है । क्योंकि प्राण से ये परिदृश्यमान सब भूत पदार्थ उत्पन्न होते हैं । और प्राण में ही ये सब स्वाप काल में विलियमान हो जाते हैं । इस प्रकार छान्दोग्य के उद्गीथ विद्या के प्रकरण में सुना जाता है । अब यहाँ सन्देह होता है कि प्राण से किसका ग्रहण किया जाय, वायु विकार प्राण का, अथवा परम

स्वरूपादिकं किमिति प्रश्नमुत्थाप्य. प्रस्तावे या देवता सा प्राणरूपैवेत्युक्तवान् । तत्रोपपत्तिरपि प्रदर्शिता यानीमानि भूतानि तानि प्राणादेव निर्गतानि भवन्ति प्रातः काले स्वावासस्थितनीड़ाद्वयांसीव । पुनः स्वापकाले तस्यामेव प्राणदेवतायां प्रविशन्ति । दिनात्यये वयांसीव स्वनीडे सा एषा देवता प्रस्तावे समनुगतेति । हे प्रस्तोतो यदि तादृश देवतायाः स्वरूपप्रकारभेदादिकमजानानाः स्तुतिं करिष्यति तदा ते शिरः कबन्धात्पतिष्यतीति चाक्रायण उषस्तिः प्रोवाचेति मंत्रार्थः।] अत्र संशयो भवति यदत्र प्राण पदेन वायुविकारस्य प्राणस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमथवा सर्व कारणस्य परमेश्वरस्य । उभयोग्राहकहेतुसद्भावस्य दर्शनात् । वायु विकारात्मकप्राणग्रहणे हेतुर्लौकप्रसिद्धिशास्त्रप्रसिद्धिश्च । परब्रह्मण ग्रहणे "प्राणस्य प्राणम्" "प्राण बन्धनं हि सोम्य मनः" इत्यादि श्रुतिरित्युभयोः कारणदर्शनाद्भवति संशयः । "भूतवायौ प्राणशब्दस्य प्रसिद्ध-

पुरुष परमात्मा का ? क्योंकि प्रसिद्धि से प्राणपद वायु विकार प्राण का बोधक है । तथा "प्राण बन्धनं सौम्य मनः "प्राणस्य प्राणम्" इत्यादि श्रुति से परमात्मा का भी प्राण शब्द से ग्रहण होते हुए देखा गया है । इसलिए सन्देह होता है कि प्राण शब्द से किसका ग्रहण किया जाय ? इसमें पूर्व पक्ष होता है कि प्राण शब्द से वायु विकार को ही लिया जाय, क्योंकि लोक में प्रसिद्धि ऐसी ही है इसलिए प्रथमोपस्थित है, तथा प्राणपद की शक्ति वायुविकार प्राण में ही है । अतः प्राणपद से वायु विकार प्राणपद का ही ग्रहण है । यद्यपि प्राणपद प्रयोग परमात्मा में भी होता है । "प्राणस्य प्राणम्" इत्यादि प्रकरण में तथापि आत्मा में जो प्राणपद का प्रयोग है वह "गङ्गायां घोषः" के समान लाक्षणिक है । और लाक्षणिक प्रयोग वहाँ ही होता है जहाँ मुख्यार्थ का अन्वय बोध में कोई बाधक हो । जैसे "गङ्गायां नौका" इसमें पद लाक्षणिक नहीं है । क्योंकि

त्वाद्वायुविकार एवेति पूर्वपक्षः" इति वृत्तिः । सकल साधारणोपि लोकः प्राणपदेनवायुविकारात्मकं श्वासोच्छासलक्षणमेव विजानाति यदा एवं लोके प्रसिद्धि स्तदा वेदेप्यवग्राह्यो "लोकावगतसामर्थ्यःशब्दो वेदेऽपि बोधकः" इति न्यायात् । नहि लोके घट पदेन घटो बोध्यते तदा वेदे घट पदेन पटो गृहीतो भवति, शाब्दबोधकता सामर्थ्यस्योभयत्रापि समानत्वादिति । ततश्च प्रसिद्धिबलात्प्राणस्य वायुविकारस्यैव प्रकरणेऽस्मिन् परिग्रहः कर्त्तव्य इति पूर्वपक्षाशयः । तदेवं संशयपूर्वपक्षयोरनन्तरं सिद्धान्तं प्रदर्शयितुं सूत्रमनुसरन्नाह "सिद्धान्तस्तु" इत्यादि । आकाशाधिकरणप्रतिपादितप्रकारेणात्रापि प्रकरणे प्राणपदेन परमात्मन एव ग्रहणं न्याय्यं न तु पूर्वोपस्थापितवायुविकारभूतस्य लोकप्रसिद्धस्येति सूत्राशयं

मुख्यार्थ बोध में बाधक नहीं है । इसलिए परमात्मा में जो प्राणपद का जब प्रयोग होगा तब लक्षणावृत्ति से ही । जब कि शक्ति से निर्वाह हो सकता है तब जघन्यलक्षणा वृत्तिका आश्रय युक्त नहीं है । अतः प्राणपद वायु विकार प्राण का ही बोधक है । यथा कथंचित् तोड़ मरोड़ करके लक्षणा से अथवा अन्य प्रकार से परमात्मा का ग्रहण करना ठीक नहीं है । यदि कहों कि वेदान्त तो परमात्मा का बोधक है, चेतन ब्रह्म के कारणता का प्रतिपादक है, यह प्राचीनों का प्रवाद विनष्ट हो जायगा ? तो यह कथन भी ठीक नहीं है । क्योंकि प्राचीन प्रवाद राजाज्ञा नहीं है । यदि युक्ति तर्क से पदार्थ की सिद्धि होती है तो प्राचीन का प्रवाद बाधक नहीं हो सकता है । ऐसा अन्यत्र भी कहा है—"नहि कस्यचिद्विपरीतलेखनं युक्तिबलाद्वस्तु सिद्धौ बाधकमिति" अतः सिद्ध होता है कि प्रकृतपदवाच्य वायुविकार प्राण ही है । किन्तु प्राणपद बोध्य परमात्मा नहीं है । सर्वज्ञ के परिग्रह में लक्षणादिक दोष है ।

एतादृश पूर्व पक्ष का निराकरण करने के लिए सूत्रोपन्यासपूर्वक कहते हैं "सिद्धान्तस्तु" इत्यादि । "अत एव प्राणः" जिस तरह आकाश

मन्वानः। तथाहि अतएव आकाशाधिकरणीयाकाशवाक्यवत् प्राणवाक्येपि संकोचरहितसर्वभूतादिस्रष्टृत्व सर्वज्यायस्त्व सर्वाश्रयत्वादि विविधाव्यभिचारिब्रह्मलिङ्गानामत्रापि प्रकरणे दर्शनात्। नहि संकोचरहिता इमे स्रष्टृत्वादिकाः धर्माः परमात्मातिरिक्तं कुत्रचिदपि परिदृष्टा भवन्ति। ततश्चैतादृश धर्माणां परमात्मव्यतिरिक्ते समन्वयासंभवात्परमात्मनि च तत्समन्वयस्य संभवात्प्राणपदेन परमात्मैव गृहीतो भवति न तु वायुविकारात्मकप्राण इति। किंच "यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधिजायंते"॥ [अयं करणकलेवरोपलक्षितस्तद्विशिष्टो वा पुरुषो यदा यस्मिन् स्वपिति। अर्थात् निवृत्तबाह्य आभ्यन्तर सकलकरणग्रामो भवति तदा तस्मिन् समये तस्य वागिन्द्रियमुपलक्षक-

वाक्य में सर्व स्रष्टृत्व सर्वज्यायस्त्व सर्वपरायणत्वादिक अव्यभिचरित परमात्मक हेतु के रहने से आकाशपदवाच्य परमात्मा को माना गया है। उसी तरह प्राणादि वाक्य में सर्वभूत संवेशन उद्गमनादि परमात्मबोधक सामग्री का रहने से प्राणपद का वाच्य परमात्मा ही है। क्योंकि आकाशादि सकल स्थूल सूक्ष्म चेतन अचेतन प्रपंच का उत्पादक तथा सर्वापेक्षयाज्यायान् सर्व का आश्रय परमात्मा ही हैं। यदि वायु विकार प्राण का ग्रहण करें वह तो उपपन्न नहीं हो सकता है। क्योंकि वायु सर्वोत्पादक नहीं है। सर्वभूत पद से आकाश वायु का भी ग्रहण होता है। तो वायु कदाचित् तेजः प्रभृतिक भूत उत्पादक है भी परन्तु स्वकारण आकाश का उत्पादक नहीं है। स्व स्व का कारण नहीं होता है आत्माश्रय दोष होने से, तथा कारण का कार्य जनक नहीं होता है, अव्यवहित पूर्व क्षण वृत्तित्व लक्षण कारणत्व का अभाव होने से कार्य कारण भाव की परिभाषा ही विलुप्त हो जायगी। प्राणपद से परमात्मा का ग्रहण करते हैं तब कोई भी

मेतत् सकल कर्मेन्द्रियस्य सकलकर्मेन्द्रियं प्राणं परमात्मानमप्येति परमात्मनि विलीयमानं भवति। एवमेतस्य चक्षुरिन्द्रियं प्राणमप्येति प्राणपदबोधितपरमात्मनि विलीनं भवति श्रोत्रेन्द्रियमपि तत्रैव परमात्मनि विलीयमानं भवति। भवन्ति च विलीयमानानि परमात्मनि सर्वाणि ज्ञानकरणानि नैतदेव किन्तु ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रिययोःसंचालकमुभयसाधारणं जीवस्य सर्वार्थक्रियोपकारणमान्तरेन्द्रियं मनोऽपि प्राणपदवाच्ये परमात्मनि विलीनमिव भवति। पुनश्च निद्राजनककर्मण उपरमणानन्तरं जाग्रत्कर्मणः समुदये जागरितामवस्थामापद्यते तदा तस्मिन् काले सर्वाण्येव करणानि प्रसुप्तानि पुनः प्राणपद बोध्य परमात्मनः सकाशादाविर्भूतानि भवन्ति निशावसाने वयांसीवस्वनीड़ादित्युदाहृतश्रुतेरर्थः] इत्यादि श्रुतौ प्राणपदवाच्य परमात्मनि सर्वज्ञे सर्व जगत्कारणे एव भूतानां संवेशनोद्गम-

दोष नहीं होता है। इतना ही नहीं प्रत्युत श्रुति का सहकार भी मिलता है। "तस्माद्वा एतस्माद्वा" इत्यादि अनेक श्रुत्यन्तर में। तथा प्रकृत प्रकरणान्तर्गत श्रुति से सिद्ध होता है कि परमात्मा सर्व जगत् का उत्पत्ति स्थिति विनाश का कारण है। सब पदार्थ का आश्रय है। सबसे बृहत्परिमाणवाला है। इसलिए इतने श्रुति तथा युक्ति के अनुरोध से 'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे" इस न्याय से एक लोक प्रसिद्धि का त्याग करना ही उचित है। ऐसा मान करके परम पुरुष परमात्मा का ही यहाँ प्राणशब्द से ग्रहण होता है नतु विकारात्मक प्राण का ग्रहण होता है। यही निष्कण्टक राज-मार्ग है। और भी देखिये, "यदा वै पुरुषः स्वपति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः" [जिस समय में यह पुरुष सो जाता है उस समय में वागादिक कर्मेन्द्रिय प्राणपदवाच्य परमात्मा में लीन हो जाते हैं। प्राण में श्रोत्र, चक्षु प्रलीयमान हो जाते है। और मन भी उस प्राणपद वाच्य परमात्मा में प्रलीयमान हो जाता है। और जब वह पुरुष निद्रा को छोड़

अथ ज्योतिरधिकरणम् ॥ १०॥

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ।१।१।२५॥

छान्दोग्ये—"अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु' (छा० ३।१३।७।) इत्याम्नायते । अत्र किमादित्यादिरूपं किमपि ज्योतिरुच्यतेऽथवा तज्ज्योतिषोऽपि प्रकाशः परमात्मा ? तत्र ज्योतिः शब्दस्यादित्यादिज्योतिष्येव प्रसिद्धत्वात्तदेवोच्यत इति पूर्वःपक्षः।

मनादिकानि प्रतिपादयन्ति । तस्मात् प्राणपदबोध्योऽस्मिन्प्रकरणे परमात्मैव नतु वायुविकाररूपः प्राणः प्रस्तावगतदेवतापदेन ग्राह्यः । यद्यपि प्राणपदेनात्र परमात्मनो ग्रहणे तस्य गौणीवृत्तिराश्रिता स्यात् । सा च न युक्ता, तथापि नहि सर्वत्र पदेन मुख्यार्थमेव विवक्षितं भवतीति नियमः, तथा सति शक्त्यप्रवृत्तिस्थले पदनैष्फल्यप्रसङ्गादतः शक्तिवल्लक्षणाया अपि पदवृत्तित्वेन स्वीकारात्प्रकृतप्रकरणे प्राणपदबोध्यः परमात्मैव न तु वायुविकारः प्राण इति संक्षेपः ॥२४॥

इति जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य–रामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतस्य
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणस्य प्राणाधिकरणम् ॥९॥

करके प्रबोधावस्था में आता है तब पुनः उसी प्राणपदवाच्य परमात्मा से चक्षुरादिकरण पुनः प्रादुर्भूत हो जाते हैं । जिस तरह प्रातः कालः में पक्षिगण आवास वृक्षस्थित स्वकीय स्वकीय निड़ [घोंसलों] से निकलते हैं] । इत्यादिक श्रुति से होता है कि परमात्मा स्वरूप प्राण में ही इन्द्रियों का संवेशन तथा उद्गमन का कथन किया गया है । परन्तु वायु विकार रूप प्राण से संवेशन अथवा उद्गमन नहीं कहा गया है । इससे सिद्ध होता है कि प्रकृत में प्राणपद से सकल जगत् का कारण सर्वज्ञ परमात्मा का ही ग्रहण होता है । किन्तु वायुविकार लक्षण प्राण का ग्रहण नहीं किया जाता है । अतः प्राणपदवाच्य परमात्मा श्रीसाकेताधिपति ही हैं । यह वृत्तिका पिण्डितार्थ हुआ ॥२४॥

इति प्राणाधिकरणम् ॥९॥

अत्राभिधीयते ज्योतिरत्रपरंब्रह्मैव । कुत इति चेत् । चरणाभिधानात् । एतद्वाक्यात्पूर्ववाक्यम् "एतावानस्य महिमा ततोज्यायांश्च पुरुषः । पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति" छा०।३।१२।।६। इत्यादिरूपं वर्तते। तत्र कृत्स्नस्य जगत एकपादत्वमभिधाय नित्यविभूतिरूपस्य स्वधाम्नस्त्रिपात् पदेनाभिधानाद् ब्रह्मणस्सर्वभूतचरणत्वमभिहितम् । एवञ्च परमपुरुषो द्युसम्बन्धितयात्र प्रतिपाद्यत इति तस्यैव ज्योतिश्शब्दवाच्यत्वम् ॥२५ ॥

विवरणम्ः— इतः पूर्वाधिकरणे परमपुरुषस्य ब्रह्मणो लिङ्गदर्शनाद् वायुविकारोपि प्राणशब्दः स्वकीयवायुविकारात्मकार्थात् प्रच्याव्य परमात्मरूपेऽर्थे विनियोजितः । इह प्रकरणे तु तादृश परमपुरुषस्यलिङ्गमस्ति न वेति संशयात् यदि ब्रह्मलिङ्गमत्रोपलभेत, तदा प्रकृतेऽपि ब्रह्मण एव ग्रहणं स्यात् । यदि ब्रह्मलिङ्गो न स्यात्तदातद् ग्रहणं नस्यादिति ब्रह्मविचारणार्थमेव ज्योतिश्चरणाभिधानादिति सूत्रमुपस्थापयित्वा विचारणां करिष्यतीति वृत्तिकारस्तादृशं संशयमुपस्थापयितुं प्रक्रमते 'छान्दोग्ये' इत्यादि । छान्दोग्यश्रुतावेवं श्रूयते यत् 'यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु अनुत्तमेषूत्तमेषुलोकेषु' इत्यादि । (यदिदं

सारबोधिनी— इसके पूर्व प्राणाधिकरण में परमात्म बोधक लिङ्ग था । इसलिए प्रसिद्धि बल से प्राप्त भी वायु विकारात्मक प्राण का ग्रहण न करके परमात्मा ही प्राणपद वाच्य हैं ऐसा सिद्ध किया गया । परंतु प्रकृत प्रकरण में ब्रह्म का लिंग है अथवा नही है इस बात का निश्चय करने के लिए संदेह का उपस्थापन करने के लिए वृत्तिकार प्रक्रम करते हैं "छान्दोग्ये" इत्यादि । छान्दोग्योपनिषद में "अथ यदतः परो दिवोज्योतिर्दीप्यते" इसके आगे द्युलोक के ऊपर जो ज्योति प्रकाशित होता है । सबके ऊपर में, जो यह ज्योति सकल प्राणीवर्ग के ऊपर में तथा सर्व भूरादिलोकों के ऊपर सम्पूर्ण संसार मण्डल के ऊपर में प्रकाशित होता है वह ज्योति क्या है ? जो

विलक्षणं ज्योतिः प्रकाशः अन्तोदिवः, द्युलोकात्परमपिदोप्यते प्रकाशितं भवति। तद् विश्वतः पृष्ठेषु विश्वेषां सर्वेषामुपरिप्रकाशते। अत्र सर्वनामवाची विश्वशब्दः सन्देहरहितः सर्वमेवजगन्मण्डलं प्रकाश्यत्वेन कथयति। तदेवश्रुतिः स्वयमेवोपपादयति। "सर्वतः पृष्ठेषु सर्वेषां भास्यमानानामुपरितनदेशे भासते। उत्तमेषु उत्तममिदं ज्योतिः परिदृश्यमान सर्व ज्योतिषाऽपेक्षयाप्युत्तमम्। न केवलमुत्तममात्रमपितु सर्वोत्तमम्, अर्थात्प्रकृतज्योतिषोऽपेक्षयातिरिक्तोऽन्यः कोप्युत्तमो न भवतीति भावः। "इदं वाव तद्यदिदमस्मिन् पुरुषेऽन्तर्ज्योतिः" पूर्वोक्त विशेषण विशिष्टं तज्ज्योतिः त्वग्ग्राह्यशरीरसम्बन्धिरुष्मणा तथा श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्यपिहितकर्णपुटेन पुरुषेण घोषात्मकविलक्षणशब्देनानुमीयमानं भवति। तत्र शरीरस्योष्मणस्त्वगिन्द्रियेण दर्शनमेव दृष्टिः तथा घोषस्य च श्रवणमेव श्रुतिस्तयोश्च दृष्टश्रुतितादृशज्योतिष एव नान्यस्य। एतादृश हेतुना विलक्षणज्योतिषोऽनुमानादित्युदाहृत श्रुतेरर्थः।) एतादृशश्रुतौ

इस पुरुष के अभ्यन्तर में विद्यमान है। यह उदाहृत श्रुति का अर्थ है। इस प्रकार से इस मंत्र में कहा गया हैं। तो इस कथन में क्या सूर्य चन्द्रमा के ज्योति का कथन है। अथवा आदित्यादि ज्योति का भी प्रकाशक जो परमात्मा है तादृश परमात्मा का ज्योति शब्द से कथन है। क्योंकि ज्योति शब्द प्रकाशक अर्थपरक है, तो आदित्यादिक प्रकाशक हैं। तथा परमात्मा भी सर्व जगत् का अवभासक हैं। अतः उभय साधारण ज्योति शब्द का प्रयोग होने से यहाँ सन्देह होता हैं कि प्रकृत में किसका ज्योति शब्द से ग्रहण किया जाय? तो यहाँ पूर्वपक्ष होता हैं कि ज्योति शब्द की प्रसिद्धि तो आदित्य प्रभृतिक प्रकाशक में ही है अतः लौकिक प्रसिद्धि होने से आदित्यादि ज्योति का ही ग्रहण होना चाहिए। और परमात्मा का उपस्थापक कोई कारण नहीं है इसलिए परमात्मा का ग्रहण नहीं किया जा सकता हैं। यह पूर्वपक्ष होता है।

यत् ज्योतिः श्रूयते, तादृशं ज्योतिः भौतिकस्यादित्यादेः, किंवा "यस्य भासा सर्वमिदं विभातीत्यादि" श्रुतिबोधितपरमपुरुषस्य तज्ज्योतिरिरति संशयः । यतो ज्योतिः शब्दस्योभयत्रापि प्रयोगदर्शनात् । आदित्यादिप्रकाशकपदार्थेष्वपि ज्योतिः प्रयोगो दृश्यते । सर्वभासकपरमपुरुषे ज्योतिःशब्दस्य प्रयोगो भवतीत्यत्र वक्तव्यमेव किम् "तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाती" त्यादि श्रुतौ ज्योतिः शब्दाभिधेयत्वं परमपुरुषे समुपपन्नमेव तस्मात् छान्दोग्योदाहृतश्रुतिश्रवणे भवति संशयो यदिह ज्योति शब्देन कस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति सन्देहस्वरूपं प्रदर्शितवान वृत्तिकारः "अत्रकिमादित्यादिरूपम्" इत्यादि । अत्र प्रकृत श्रुतौ–सूर्यादिपदार्थभासकस्य कस्यचित् सूर्यादिज्योत्तिषः प्रतिपादनं भवति अथवा सूर्यादि ज्योतिषापि परमपुरूषः कथितो भवति ज्योतिः पदेनोक्तो भवतीति संशयः । तत्र लोके ज्योतिः शब्दप्रयोगे परमकाशकवह्निसूर्यादि वस्तुन एव वोधदर्शनादादित्यादिरेव ज्योतिः पदेन गृहीतव्यः। भवति हि प्रयोगो यत् नैशंतम आदित्यज्योतिषैव विनाशितं स्यान्नान्येनोपायान्तरेणेति । ततश्च ज्योतिः पदेन प्रकृते सूर्यादिप्रकाशकस्यैव ग्रहणं न तु परमात्मनो यतो ब्रह्मणो वोधकलिङ्गस्याभावात् । आकाशादि प्रकरणे यथा

यहाँ ज्योति शब्द का प्रतिपाद्य परमात्मा ननीं है यह जो पूर्वपक्ष है उसका निराकरण करने के लिए वृत्तिकार कहते हैं– "अत्राभिधीयते" इत्यादि । अब यहाँ ज्योति पद का वाच्य क्या है ? आदित्यादिक ज्योति अथवा परमात्मा, इसका समाधान यह है कि प्रकृत में ज्योति पद वाच्य परमात्मा हीं है । इसमें क्या कारण है ? इस प्रश्न का समाधान वृत्तिकार सूत्र के अवयव से करते हैं ।"चरणाभि [illegible]नात्" यहाँ इस मन्त्र से चरण पद का कथन है । अर्थात् इस वाक्यसे पूर्व का वाक्य है 'एतावानस्य महिमा ततो ज्यायाश्च पुरुषः । पादोस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इत्यादि । [इस

सर्वजगदुत्पादकत्वसर्वपरायणत्वसर्वाश्रयत्वादिकलिङ्गमासीत् तद्वत् प्रकृते परमात्मन उपस्थापकचिह्नविशेषस्याभावादिति सूर्यादि ज्योतिष्येवादित्यादिज्योतिः शब्दस्य प्रसिद्धत्वादादित्यादिकमेवग्राह्यमिति पूर्वपक्षः।

यद्यपि प्रकृते मंत्रे परमात्मन उपस्थापकं लिङ्गं स्पष्टतया नोपलभ्यते तथापि इतः पूर्वमन्त्रादाकृष्य ब्रह्मलिङ्गमिहापि ज्योतिः शब्देन परमात्मैव परिगृहीतव्योनादित्यादि इति वक्तुं कथयति, "अत्राभि धीयते" इति। पूर्वपक्षस्य निरसनाय प्रयत्नं करोमीत्यर्थः छान्दोगीय "यदतः परो दिव" इत्यादि मंत्रेऽपि ज्योतिः पदेन परं ब्रह्मैवाभिधीयमानं भवति नतु तदन्यस्यात्राभिधानम्। परमात्मव्यतिरिक्तस्यादित्यादेरभिधानं कथं न भवति! नहि भवतो वाङ् मात्रेणैव कोपिविश्वस्तः स्यादिति हेतूपन्यासेन तं बोधयितु सूत्रस्थमेव हेतुं दर्शयति "चरणाभिधानादिति।पादकथनात्। एतस्माद्वाक्यात्पूर्ववाक्ये चतुष्पादब्रह्मणः कथनं कृतम्। तथाहि–एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्चपुरुषः" अस्मिन् वाक्ये परब्रह्मणः पादचतुष्टयवत्वं प्रतिपादितं तत्रैक पादस्थानीयमिदं सर्वंभूर्लोकादिकथितम्। अवशिष्टपादत्रयस्यावस्थानन्तु विलक्षणं सर्वदोषरहितममृतत्वादिरूपेण प्रतिपादितं दिव्यसाकेतादिलोकं तदेवा-

परमात्मा का महत्व बहुत बड़ा है। जो इसका महत्व द्योतक है। उससे भी यह बहुत बड़ा है। यह जो परिदृश्यमान जगत् तथा जो भूरादि लोक हैं और जितने भूत हैं वे तो इस परम पुरुष का एक पैर के बराबर हैं। उस परमात्मा का जो तीन चरण है वह तो अमृतोपलक्षित द्युलोक में, अर्थात् अमृत लक्षणसाकेत है।] इस वाक्य में सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का एक पाद स्थानापन्न है यह कह करके नित्य विभुति रूप स्वकीय स्थान को तीन पाद से कहकर परमात्मा को सर्वभूत चरणवाला कहा गया है। इसलिए परम पुरुष भगवान् ही द्युसम्बन्धितरूप से प्रतिपादित होते हैं। इस कारण से परमात्मा ही ज्योति शब्द के वाच्य हैं यह

त्रापि द्युसम्बन्धेन ज्ञापितं भवति। अर्थात् समस्तस्य चराचरात्मकस्यास्य जगत एकपादरूपत्वं प्रतिपाद्य नित्यविभूतिरूपस्य स्वकीयस्थानस्यावशिष्टपादत्रयेणकथनात् परमात्मनः सकलजगत्कारणस्य यानि सर्वाणि भूतानि तानि सर्वाण्येकपादस्थानीयमिति कथितम्। ततश्च सर्वकारणलक्षणः परमद्युसम्बन्धितोऽत्र प्रतिपादितो भवतीति स एव परमात्मा प्रकृते ज्योतिः शब्दस्य वाच्यो भवति। नतु जन्यस्य कस्यचिज्ज्योतिषोऽत्र ग्रहणम्। न केवलमस्मिन् ज्योतिप्रकरण एव परमात्मनो ग्रहणमपितु एतदन्यत्र शाण्डिल्यादि विद्यायामपि प्रकृतस्यैव परमात्मनोऽनुवर्तनं भविष्यति। तस्मादत्र ज्योतिः शब्देन परस्यैव ब्रह्मणो ग्रहणम्। न च "ज्योतिर्दीप्यते" एतत्पदस्यादित्यादि ज्योतिषि प्रसिद्धत्वात्तादृशकार्यज्योतिष एव ग्रहणमितिवाच्यम् प्रकरणात्परमात्मन उपादानसंभवे कार्यज्योतिष एव ग्रहणमित्याग्रहस्य निर्मूलत्वात्। तस्मात्प्रकृते परं ब्रह्मण एव ज्योतिः शब्देन प्रतिपादनं नतु यत् किंचिदवभासकस्यादित्यादे ज्योतिः शब्देन ग्रहणमिति ॥२५॥

सिद्ध होता है। नतु पराधीन स्वभाववाला आदित्यादिक अनित्य ज्योति स्वभाववस्तु ज्योति शब्द का वाच्य है। "तमेवभान्तमनुभाति सर्वम्" [यह सब सूर्यचन्द्रादिक परमात्मा के प्रकाशित होने से ही प्रकाशित होते हैं।] इत्यादि अनेक श्रुतियों से यह सिद्ध होता है कि अपराधीन प्रकाश स्वरूप परमात्मा है। और तदितर पदार्थ सूर्य चन्द्रादिक परमात्माप्रकाश के अधीन प्रकाशवाले हैं। अतः मुख्य प्रकाशात्मक जो परमात्मा उसी का ग्रहण ज्योति शब्द से है। अर्थात् स्वप्रकाश परमात्मा ही ज्योति शब्द का वाच्य है। नतु पराधीन प्रकाशवान् सूर्यादिक प्रकृत में ज्योति शब्द वाच्य है ॥२५॥

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पण निगदात्तथाहि दर्शनम् ।१।१॥२६॥

ननु अग्रिमवाक्ये "गायत्री वा इदं सर्वम्" [छा. ३।१२।१।] इति गायत्रीरूपस्य च्छन्दसः प्रक्रान्तत्वात्तस्यैवात्र वाक्ये ज्योतिश्शब्देन ग्रहणमिति चेन्न तथा गायत्रीवाच्ये ब्रह्मणि चेतसोऽर्पणाया-

---

विवरणम्—इतः पूर्वसूत्रे "अथ यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते" अत्र ज्योतिः पदमादित्यादिकार्यज्योतिः प्रतिपादयति अथवा परमात्मानं बोधयतीति संशये, आदित्यादिप्रकाशस्यैव ननु ब्रह्मणस्तद्बोधकपदाभावादिति पूर्वपक्षे ब्रह्मण एव ग्रहणं कुतः ? चरणाभिधानात् इत्यादि क्रमेण समाधानावसरे कथितम्. अत्र तु ब्रह्मबोधकं पदं न दृश्यते तथापि इतः पूर्ववाक्ये "एतावानस्य महिमा ततो

सारबोधिनी—"अथ यदतः परोदिवोज्योतिरित्यादि" ज्योति प्रतिपादक मन्त्र में कार्य ज्योति का कथन है अथवा परमात्मा का कथन है । इस संशय के निराकरण के अवसर में कहा है कि इसके पूर्व "एतावानस्य महिमाततो ज्यायान्" इसमें चरण का कथन है । इसलिए ज्योतिशब्दवाच्य परमात्मा है । परन्तु यह कथन तो तब बन सकता है यदि "एतावानस्य महिमा" इसमें ब्रह्म का प्रतिपादन हो, सो तो है नहीं । किन्तु उस मन्त्र में तो "गायत्री वा इदम् सर्वम्" इत्यादि से तो सिद्ध होता है कि यहाँ तो गायत्री छन्द का कथन है । परब्रह्म का कथन तो नहीं है । एतादृश शंका का निराकरण सूत्र द्वारा करने के लिए कहते हैं "ननु अग्रिम वाक्ये" इत्यादि अग्रिम वाक्य "गायत्री वा इदं सर्वम्" [यह जो कुछ वस्तु जात भूत भविष्यत् वर्तमान है वह सब गायत्री है ।] में तो गायत्री रूप छन्द का प्रतिपादन है परम पुरुष परब्रह्म का तो प्रतिपादन

भिधानात्। उपासनार्थं ब्रह्मणो गायत्रीसादृश्येनानुसन्धानार्थमित्याशयः। अन्यथा गायत्र्या वर्णविन्यासरूपायाः सर्वात्मकत्वानुपपत्तेः। एवं ह्युपासनं एतं ह्येव बह्वृचामहत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः, [एते] इत्यादिषु दृश्यते ॥२६॥

ज्यायांश्च पुरुषः" इत्यादिपूर्वमंत्रे परमात्मनः पादाभिधानात्परमात्मन एव ग्रहणं नतु कार्यज्योतिष आदित्यादेर्ग्रहणम्। परन्तु एतत्सर्वंकदास्यात्? यद्वि पूर्ववाक्यस्य ब्रह्मार्थत्वं सिद्धं स्यात्तदा, नतु पूर्ववाक्यं ब्रह्मार्थकमपितु गायत्र्या अवबोधकम् "गायत्री वा इदं सर्वम् यद्भूतं यदिदं किञ्च" इति गायत्री प्रकृत्येदं श्रूयते, "त्रिपादस्यामृतं दिवि" ततश्च कथमुच्यते परमात्मनः पूर्वमंत्रे प्रतिपादनमितीमां शङ्कां निवर्तयितुं सूत्रमुदाहर्तुमाह—"ननु अग्रिम वाक्ये" इति। एतस्मात्पूर्ववाक्ये "गायत्री वा इदं सर्वं यद्भूतं यदिदं किञ्च" [यदिदं परिदृश्यमानं किमपि भूतादिकं तत्सर्वं गायत्री एवे-
नहीं है। तब पूर्व मन्त्र के बल से ज्योति वाक्य में परम पुरुष का ज्योति शब्द। से प्रतिपादन होता है यह किस प्रकार से कहा जाता है अपि तु ज्योति शब्द से आदित्यादिक जो ज्योति है उसी का प्रतिपादन होना श्रुति सिद्ध तथा युक्ति से भी होना उचित है। इस प्रकार से पूर्व पक्षी ने गायत्री वाक्य का अन्यार्थपरतया व्याख्यान करके आपेक्ष किया। उस आपेक्ष का निराकरण करने के लिए सूत्रावयव द्वारा समाधान करते हैं "इति चेन्न" इत्यादि। अर्थात् यह पूर्वोक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि परम पुरुष शरीरी है और जो कुछ स्थावर जंगम पदार्थ है वह भगवान् का शरीर अर्थात् एकदेश है। तो गायत्री रूप जो एकदेश तद्द्वारा गायत्री वाच्य परम ब्रह्म में चित्त का अर्पण अर्थात् मनके द्वारा उपासनापरक है। अर्थात् "उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना" इति श्रीरामतापनीय श्रुत्युक्तदिशा

त्यर्थः] अनेन प्रकारेण गायत्री लक्षणाया श्छन्दस एव प्रक्रान्तत्वं-कथन विद्यते नतु परमपुरुषस्य ततश्च "पादोस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' अत्रापि गायत्री छन्दसः एव ग्रहणं नतु परब्रह्मणः तत्कथमुच्यते ज्योतिः पदेन ब्रह्मणो ग्रहणं कार्यज्योतिषो नेति पूर्वपक्षः। उत्तरयति "चेतोर्पणनिगदा" दिति। अयमाशयः—तत्र गायत्री छन्दोद्वारेण तद्गते गायत्रीप्रतिपादिताक्षरसमुदात्मकगायत्रीवाच्ये परब्रह्मणि परम-पुरुषे चेतसोऽन्तः·करणप्रवेशनस्य निगदात् प्रतिपादनात्, गायत्री द्वारा परब्रह्मण एवोपासनायाः कथनात् उपासना लक्षणं प्रयोजन-माश्रित्य गायत्रीछन्दसः सादृश्येन एवानुसन्धानस्य वक्तव्यत्वात् यद्यत्र परम पुरुषस्यैवोपासनामिति न स्वीक्रियेत स्तदाक्षरविन्यास स्वरूपगायत्री छन्दसः कथमिव सर्वात्मकत्वप्रतिपादनं घटेत ब्रह्मपरिग्रहे तु ब्रह्मणः सर्वशरीरत्वाद् गायत्रीशरीरत्वमपीति तद्रूपेण सर्वात्मत्व प्रतिपादनं घटते एव। अनेन प्रकारेणं अन्यस्थलेऽपि ब्रह्मण उपासनं

उपासना करने के लिए ब्रह्म को गायत्री के सादृश्य से कथन है, अनु-संधान उपासना के लिए है। जिस प्रकार से मन में आदित्य में ब्रह्म को प्रतीकोपासना होती है। उसी प्रकार से गायत्रीरूप एकदेश में ब्रह्म की उपासना के लिए ये सब प्रकार हैं। उपासना कहते हैं ब्रह्म में मनका अनुसंधान को, तो इस मन का अनुसन्धान तत्तदवयव द्वारा है। इसमें गायत्री छन्द रूप अवयव द्वारा उपासनापरक वाक्य है। क्योंकि यों तो गायत्री तो तत्सवितु इत्यादि वर्ण समुदायक विलक्षण आनुपूर्वी मात्र है, तो उसमें सर्वात्मत्व का कथन तो सर्वथा ही असं-गत है। अतः गायत्री अनुगत ब्रह्म में सर्वात्मता का प्रतिपादन उपपन्न होता है। इसी तरह, "एतं ह्येव वह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते" इत्यादि स्थल में भी देखा जाता है भगवान् सर्वरूप हैं इसलिए शालग्राम शिला की पूजा करके तदनुकूल फल को पूजा करने वाले

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् १।१।२७॥

एवं गायत्रीशब्देन ब्रह्मणोऽभिधाने सति भूतपृथिवीशरीरहृदय निर्देशानन्तरं "सैषा चतुष्पदा" इति भूतादीनेव पादान् व्यपदिशति एतस्य च ब्रह्मण्येवोपपत्तेः ॥२७॥

श्रूयमाणं-समञ्जसं भवति 'एतं ह्येवबह्वृचामहत्युक्थं मीमांसन्ते एतमाध्वर्यव एतं महाव्रतं छन्दोगाः" इत्यादि प्रकरणेऽपि समुपलभ्यते समुपासनं परमपुरुषस्येति। एवं च "गायत्री वा इदं सर्वम्" अनेन कथितस्य सर्वात्मकत्वस्याक्षरलक्षणायां गायत्र्यामनुपपत्तिरेव भवेत्। ब्रह्मणस्तु सर्वान्तर्गतस्य सर्वशरीरित्वेन सर्वात्मकत्वमुपपद्यत इति तस्यैव सर्वभूतपादस्य त्रिपादमृतत्वस्य च निष्पत्तिसंभवात् पूर्वसूत्र कथितज्योतिः शब्दवाच्यत्वं भवति नतु तदन्यस्य कस्यचिज्ज्योतिर्वाच्यत्वमिति वृत्त्यक्षरार्थः ॥२६॥

विवरणम् अथात्र-प्रकृतप्रकरणे गायत्रीशब्देन वर्णविन्यासरूपाया गायत्र्या न ग्रहणमपितु गायत्रीशब्दवाच्यस्य परमपुरुषस्यैव अन्यथा भूतादिपदानां कथनं सङ्गतं न स्यात् इति बोधयितुमाह एवं गायत्रीशब्देनेत्यादि। अत्र गायत्रीशब्देन गायत्र्युपलक्षि व्यक्ति प्राप्त करते हैं। तो क्या वहाँ शालग्राम शिला फल को देती है? नहीं, किन्तु तदनुगत सर्वेश्वर श्रीसाकेतविहारी सब फल को देते हैं। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, "यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्ध-यार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्। स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्" "स यथा यथोपासते" इत्यादि स्थल में भगवान् फल देते हैं यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार प्रकृत में भी समझना चाहिए ॥२६॥

सारबोधिनी—पूर्व वाक्य में ब्रह्म का ही ग्रहण है नतु अक्षर विन्यास रूप गायत्री का कथन है। क्योंकि भूत पृथिवी शरीरादि को पाद रूप से

तस्य परमपुरुषस्य कथनं क्रियेत. तदैव भूतपृथिवीशरीरादीनां निर्देशानन्तरम् कथितं यत् 'सा एषा चतुष्पदा गायत्री'' अत्र भूतादिका एव तस्याः पादस्थानीयाः । एतादृशकथनं कदा संगच्छेत. यदा गायत्र्युपलक्षितस्य परमपुरुषस्य ग्रहणं भवेत् । यदि कदाचित् छन्दो रूपाया गायत्र्याः कथनं भवेत् तदा अक्षरसंनिवेशमात्रलक्षणायाः तस्याः भूतपृथिव्यादिकाः कथमवयवाः स्युः ? तस्मात् गायत्रीपदेन न वर्णसमुदायरूपायास्तस्याग्रहणमपितु सर्वशरीरकस्य परमात्मनः एव ग्रहणम् । अत्रायमर्थः पूर्ववाक्ये प्रकृतं ब्रह्मैवेतिस्वीकर्त्तव्यम् यतो भूतपृथिवीशरीरादिकान् पादान् श्रुतिव्यपदिशतिः । भूत-पृथिवी शरीरहृदयानि परामृश्य श्रुतिप्रतिपादयति 'सा एषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' इति । यदि प्रकृते छन्दो रूपाया गायत्र्या ग्रहणं क्रियते किन्तु तदुपलक्षितब्रह्मणो ग्रहणं न क्रियेत तदा केवल छन्दो रूपाया गायत्र्या इमे भूताः पादाः कथं भवेयुरयोग्यत्वात् । किंचात्र ब्रह्मणो ग्रहणं स्यात् तदा "एतावानस्यमहिमा पादस्य सर्वाभूतानि" इत्यादि वाक्यानां सामञ्जस्यं न स्यात् ब्रह्मणो ग्रहणे एवैतानि वाक्यानि संगतानि भवन्ति । एभिर्वाक्यैर्ब्रह्मण एव सर्वात्मता प्रतिपादिता भवति । नत्वक्षरमात्ररूपाया गायत्र्याः एवम् ''विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन

कथन किया गया है । इस बात को कहने दृढ करने के लिए" भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम्" इस सूत्रका उत्थान करके कहते हैं। एवं गायत्रो शद्वेनेत्यादि" एवं पूर्व कथित प्रकार से यदि गायत्री शद्व से गायत्रो शरीरक ब्रह्म का ग्रहण करते हैं तब ही भूत पृथिवो शरोर तथा हृदय का निर्देश करने के वाद वह, यह चारपैरवाली गायत्री है, इस प्रकार से इस श्रुति द्वारा भूत पृथिव्यादिक का पाद रूप से जो कथन किया गया है उसका सांमञ्जस्य होता है । अर्थात् चतुष्पाद का कथन तो ब्रह्म पक्ष में ही घट सकता है। क्योंकि ब्रह्म सर्व शरीरक हैं तो चार पादवत्व भी संभवित है । जिस

उपदेशभेदान्नेतिचेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्।१।१।२८।

ननु "त्रिपादस्यामृतं दिवि" इत्याधारत्वेनोक्ता द्यौर्भूयोऽथ यदतः परो दिवः, इति पञ्चम्या ज्योतिषोऽवधित्वेनाप्यभिधीयत इत्युपदेशभेदान्नात्र ज्योतिःशब्दाभिधेयम्ब्रह्मेति चेन्न, उभयनिर्देशेनापि विरो-

---

स्थितो जगत्" "यद्वैतद्ब्रह्म' इत्यादि कथनमपि संगतं भवति। तदा हुराचार्या महामहोपाध्यायजगद्गुरुश्रीरघुवराचार्या गीतार्थचन्द्रिकायां 'इदंचिदचिदात्मकस्य जगदेकांशेन स्वमहिम्नोऽयुतायुतांशेन विष्टम्भनं कृत्वाहं स्थितोऽस्मि तथाचोक्तं पुराणरत्ने 'यस्या युतायुतांशेन विश्वशक्तिरियं स्थिता' तस्मात् पूर्ववाक्येपि परमपुरुष एव प्रकृतं। नत्वक्षरविन्यासरूपया गायत्र्याः प्रकृतत्वमस्तीति संक्षेपः ॥२७॥

विवरणम्—अथ "त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति वाक्ये दिव इति पदं सप्तमी विभक्ति सहकृतं सत् अधिकरणरूपमर्थंबोधयति। "यदतः परोदिवः" इत्यत्रतु पञ्चमी विभक्ति सहकृतं सत्तदेवदिव इति

तरह आकाशादि शरीरक ब्रह्म है उसी तरह गायत्री शरीरक भी है। अतः चतुष्पाद का कथन संगत होता है। और गायत्री का पादस्थानापन्न भूत—पृथिव्यादिक किस तरह से हो सकता है इसलिए पूर्व वाक्य में भी ब्रह्म का प्रतिपादन है गायत्री का प्रतिपादन नहीं ॥२७॥

सारबोधिनी—एक जगह सप्तमी विभक्ति का निर्देश है और अन्यत्र पञ्चमी विभक्ति का निर्देश भेद होने से ज्योतिः शब्दपदवाच्य ब्रह्म नहीं हो सकता है। इस शंका का समाधान करने के लिए वृत्तिकार प्रक्रम करते हैं कि "ननु त्रिपादस्यामृतमित्यादि" "त्रिपादस्यामृतं दिवि" इसवाक्य में दिव शब्द के आगे सप्तमी विभक्ति है। इससे दिवको अधिकरण रूप से कथन किया है। और "यदतः परोदिवः" इस वाक्य में दिव शब्द में पञ्चमी विभक्ति होने से ज्योति का अवधि रूप से दिव का कथन है तो इस प्रकार से सप्तमी—पञ्चमी रूप उपदेश भेद होने से यहाँ ज्योतिशब्द का वाच्य पर

धाभावात् । एकस्मिन्नपि 'वृक्षाग्रे श्येनः' 'वृक्षात्परतः श्येनः' इत्यादि लौकिक व्यवहारो यथोपपद्यते । तद्वदिहापि नकश्चिद्विरोधः ॥२८॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ ज्योतिरधिकरणम् ।९।

पदम् अपादान बोधकं भवति । नहि सप्तमीपंचम्योरेकार्थतायां कचिदपि प्रयोगो भवति । कुतः? विभिन्नार्थप्रतिपादकत्वात् । समानार्थकतायामेव विभक्ते विकल्पः । इहतु एकत्र तदेव 'दिवि' इत्यधिकरणमर्थं बोधयति. तदेवचान्यत्रापादनमर्थं बोधयतीति कथं परम ब्रह्मणः प्रत्यभिज्ञानं संभवेदिति शङ्कां समाधातुं सूत्रमुत्थापयन् प्राह "ननु त्रिपादस्यामृतंदिवीत्यादि । त्रिपादस्यामृतंदिवीत्यादि वाक्ये दिविति पदमधिकरणार्थकम् । अथ पदतः परोदिव इति वाक्ये-दिव इति पदमपादानार्थकम् । यद्यपि दिव इति प्रकृत्योभयत्रापि श्रवणं तथापि विभक्तिभेदेनार्थभेदो भवति. इति विभक्तिभेदात्. ज्योतिः शब्दवाच्यता ब्रह्मणो न संभवति.इति चेत्सत्यम्. यद्यपि

ब्रह्म नहीं हो सकता हैं । यह पूर्व पक्ष हुआ । एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं कि दोनों प्रकार के निर्देश होने पर भी कोई विरोध नहीं है ।

लौकिक प्रयोग में भी ऐसा देखने में आता है कि विभक्ति में भेद होने पर भी प्रयोग में कोई भी विरोध नहीं । जैसे "वृक्षाग्रे श्येनः वृक्षाग्रात्परतः श्येनः" वृक्ष के अग्र भाग में पक्षी है । और वृक्ष के अग्र भाग से पर में पक्षी है । यहाँ दोनों ही प्रयोग में पक्षी आधेय है । और वृक्ष में अधिकरणता की प्रतीति होती है यथा वा पर्वतो वह्निमान् और पर्वते वह्निः, यहाँ पर्वत वह्निवाला है और पर्वत में वह्नि है यहाँ प्रथम प्रयोग में संयोगसंबन्धावच्छिन्न वह्निनिष्ठ आधेयता निरूपित अधिकरणतावान् पर्वत है और द्वितीय प्रयोग में आधेयता सम्बन्ध से पर्वत प्रकार होता है । और वह्नि विशेष्य है । क्योंकि प्रथमान्तार्थ मुख्य विशेष्यक शाब्द बोध होता है यह नियम है । इस लिए प्रथम प्रयोग में पर्वत विशेष्य है ।

विभक्तेरर्थभेदो विद्यते तथापि प्रकृत्यस्तूभयत्र समाना एवेति प्रकृत्यर्थस्य समानतामादाय भवति ब्रह्मणः प्रत्यभिज्ञानम् । न च सप्तमीपञ्चमोविभक्त्यो विकल्पस्तु न कुत्रचिदपिदृष्ट इति विभक्ति भेदाद्ब्रह्मणः प्रत्यभिज्ञानं बाधितं स्यादेवेति वाच्यम् । प्रकृत्यर्थस्य सर्वत्र प्रधानत्वेन तदकूलतथैव विभक्ते विनियोगसंभवात् । न च सप्तमी स्थाने पञ्चम्याः प्रयोगस्तु न क्वचिद् दृष्टः । नहि भवति भूतले तिष्ठति. इतिस्थाने भूतलात्तिष्ठति इति वाच्यम्. लोकेऽपि तथा प्रयोगदर्शनात्, यथा वृक्षाधिकरणतारूपमर्थमादाय वृक्षे श्येनः, वृक्षात्मके ऽधिकरणे श्येनो वर्तते इत्यर्थः वृक्षाग्रात्परतः श्येनः, अत्र वृक्षस्याग्र भागे श्येनो विद्यते इत्यर्थः । उभयत्रापि वृक्षस्याधिकरणता प्रतीयते इत्येकस्मिन्नेवार्थे उभयथा विभक्त्यो निर्देशो भवत्येव । यद्यपि वृक्षे श्येन, इत्यत्र वृक्षदेशविशेषे अवच्छेदकत्वमाभाति वृक्षाग्रात्परत इत्यत्रतु परदेशस्यावच्छेदकत्वमिति भेदस्तथापि अधिकरणन्तूभयत्रापि वृक्षस्यैव भवतीति । एवं प्रकृते 'दिवि दिवः' इत्युपदेशभेदेऽपि नास्ति कश्चिद्विरोधो लौकिकप्रयोगे उपदेशभेदेऽपि प्रकृत्यर्थस्य समानत्वेन

और संयोग सम्बन्ध से वह्नि विधेयता रूप से भासित होता है । और द्वितीय प्रयोग में आधेयता सम्बन्ध से पर्वत प्रकार है । वह्नि विशेष्यता सम्बन्ध से भासित होता है फिर भी पर्वत में तो वह्निनिष्ठ आधेयता निरूपित अधिकरणता ही है । कभी भी वह्नि अधिकरण नहीं होती है किन्तु पर्वत सर्वदा अधिकरण ही कहलाता है । इसी प्रकार से" दिवि ज्योतिः दिवः परो वः ज्योतिः" यहाँ दो प्रकार के प्रयोग होने पर भी सप्तम्यन्त पंचम्यन्त में कोई विरोध नहीं हैं । क्योंकि आखिर में अधि-करणता रूप अर्थ का भान तो दोनों जगह में दिवरूप प्रातिपदिकार्थ में ही है । व्याकरण का नियम है कि प्रकृति प्रत्ययार्थ के बीच में प्रकृत्यर्थ की ही प्रधानता होती है । इसलिए दोनों सप्तम्यन्त पंचम्यन्त प्रयोग में

प्राणानुगमाधिकरणम्

प्राणस्तथानुगमात् ।।१।१।२९।।

'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इति कौषीतकिब्राह्मणे प्रतर्दनविद्यायां श्रूयते । अत्र प्राणशब्देन जीवः परमात्मा वा ग्राह्य इति संशयः । "प्राणोऽस्मि" इतीन्द्राभिधायिशब्द-

---

ज्योतिः शब्दवाच्यं परं ब्रह्म भवत्येव नतु परब्रह्मातिरिक्तस्य ग्रहणमिति संक्षेपः ।।२८।।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य-रामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृते श्रीरघुवरीय वृत्तिविवरणे ज्योतिरधिकरणम् ।।९।।

विवरणम्-यद्यपि "आकाशस्तल्लिङ्गात्" "अत एव प्राणाः" इत्यादि प्रकरणेषु बलवत् परमात्मन उपस्थापकलिङ्गदर्शनेन आकाशप्राणादि पदानां भूताकाशादिभ्यः प्रच्याव्य आकाशादिपदानां ब्रह्मपरत्वं व्यवस्थापितम्, परन्तु प्रतर्दनप्रकरणे बहुनि लिङ्गानि सन्ति. कानिचित् मुख्यप्राणस्य कानिचित् देवतात्मकेन्द्रस्य कानिचिज्जीवस्य तथा केचिद् ब्रह्मण उपास्यतया बोधकानि । तत्र केन बलवता लिङ्गेन कस्य ग्रहणं कर्त्तव्यं केन लिङ्गेन कस्य निराकरणमिति सन्देहेऽ-

विरोध नहीं होने से ज्योति शब्द के वाच्य अर्थ पर ब्रह्म ही है । नतु कार्यरूप आदित्यादि ज्योति ।।२८ ।।

इति ज्योतिरधिकरणम् ।।९।।

सारबोधिनी- इसके पूर्व आकाशाधिकरण तथा ज्योतिरधिकरण में अव्यभिचरित ब्रह्म के लिङ्ग के विद्यमान होने के कारण से आकाश पद को भौतिकाकाश रूप स्वकीय अर्थ से तथा ज्योतिरादि शब्द को आदित्यादि रूप ज्योति पदवाच्य सूर्यादिसे व्यावृत करके परमात्मपरकत्व का निर्णय करके वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म रूप अर्थ में तात्पर्य है इस प्रकार से निर्णय किया गया है । परन्तु प्रकृत प्रकरण में तो वायु, देवता, जीव

सामानाधिकरण्यदर्शनात्प्राणशब्देन प्रत्यगात्मैव ग्राह्य इति पूर्व पक्षः । अत्राभिधीयते- प्राणशब्देनात्र परमात्मैव ग्राह्यो नेन्द्राख्यो जीवविशेषः । इत्थमत्रनिश्चयः । प्रतर्दनेन मनुष्यस्य हिततमं यत्स्यात्तन्मे ब्रूहीति पृष्टम् । इन्द्रेण च "मामायुरमृतमित्युपास्त्व" इत्युत्तरितम् । एतत्प्रश्न-प्रतिवचनयोरनुसन्धानेन ब्रह्मैवात्र प्राणपदव्यपदिष्टम्भवति । न ह्यन्य-

---

बाधित रूपेण सर्ववेदान्तानां ब्रह्मण्येवतात्पर्यावधारणं कर्तुमशक्यप्रायमिव मन्यमानामाशङ्कां विनिवर्तयितुं सूत्रमुदाहर्तुं च प्रक्रमते "सहोवाचेत्यादि" कौषीतकीयब्राह्मणोपनिषदि प्रतर्दन विद्यायामित्थं श्रूयते प्रतर्दनो हि दिवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च" इत आरभ्य "सहोवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामा-युरमृतमित्युपास्त्व" [दिवोदास नामकः कश्चिद्राजापूर्वकालेऽभूत् तस्या-पत्यंपुमान कश्चित् प्रतर्दननामको बभूव पौरुषबलादिसम्पन्नः, स प्रतर्दनः कदाचिदिन्द्रं जेतुं युद्धे बलादिसमन्वितो देवाधीशेन्द्र-सकाशं गतः । युद्धाय समागतं तं बलेन पराभवितुमशक्य इव मन्य-मानः साम्ना तेन सह वार्तालापं कुर्वन्. देवराजस्तं प्रतर्दनं प्रति

और ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाला अनेक लिङ्ग है । प्राणपद का वायु भी अर्थ है । प्राणपद का प्रकरण से इन्द्र देवता भी अर्थ होता है एवं प्राणो-पलक्षित जीव भी अर्थ होता है । एवं प्राणपद से परमात्मा का भी बोध होता है । तो अनेक का उपस्थापक अनेक लिङ्ग के दर्शन होने से ब्रह्म का ही ग्रहण किया जाय, ऐसा निर्णायक हेतु नहीं होने से ब्रह्म का ही ग्रहण होना चाहिए यह निश्चय कैसे कर सकते हैं । तब सकल वेदान्त वाक्य परमात्मा का ही बोधक है यह किस तरह से सिद्ध होता है ? एतादृश शंका का निराकरण करने के लिए वृत्तिकार प्रक्रम करते हैं सूत्र को उपस्थित करते हुए-"सहोवाच प्राणोऽस्मी" त्यादि "प्रतर्दनोहि वै देवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन पौरूषेण च" इति प्रक्रम्य, "सहोवाच प्रणोऽस्मि प्रज्ञा-

त्किमपि मनुष्यस्य हिततममृते ब्रह्मणः। अमृतत्वमपि नेन्द्रादिजीवेषूपपद्यते। अमृतादिपदसामानाधिकरण्येनानुगमादत्र प्राणपदवाच्यः परमात्मैव ॥२९॥

प्रोवाच "हे प्रतर्दन! तुभ्यमहं वरं दास्यामि. अतस्तवाभिलषितं तन्मत्तः प्रार्थय. तदनन्तरमिन्द्रं स प्रत्युवाच त्वमेव मनुष्याय हिततममिव जानासीति तदेव वरमित्याद्युदाहृतश्रुतेरर्थः] अस्मिन् प्रकरणे समागतः प्राणशब्द इन्द्रात्मकजोवमुपस्थापयति. परमात्मानं वा कुतः? उभयोरपि लिङ्गदर्शनात्, तत्रेन्द्रजीवलिङ्गन्त्वस्मत्पदम्, परमात्मलिङ्गं तु "अजरोऽमृतोऽभयममृतादि" पदम्। इत्येवं भवत्युभयोर्लिङ्ग दर्शनात् संशयः। सति संशये जीव एवेन्द्रलक्षणः परिग्राह्यः 'अहं मामिति, प्राणोस्मीतिः इन्द्र पदसामानाधिकरण्यात्। यद्यपि निरंकुशममृतत्वादिकं परमात्मन्येव संभवतीति परमात्मलिङ्गमेवात्र व्यवस्थितमिति तदनुरोधेन परमात्मन एवात्र ग्रहणं युक्तम्, तथापि अमृतादिशब्दानां स्वर्गेपि प्रयोगदर्शनात् "यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वः पदास्पदम्"।

त्मा तं मामायुरमृतमुपास्व" अथ "अथ खलु प्राण एव प्राज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति" "स एषः प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोमृतः" [दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन अपने सामर्थ्य का प्रदर्शनपूर्वक देवराज इन्द्र के स्थान पर गया। उसको इन्द्र ने कहा, "मैं ही प्रज्ञात्मा प्राण हूँ, अमृत स्वरूप आनन्द अजर-अमर हूँ, तुम एतादृश मेरी उपासना करो मैं तुमको वर देता हूँ। तब प्रतर्दनने कहा कि, "मनुष्य के लिये जो पदार्थ हिततम हो, जो कि संसार बन्धन से विमुक्त करके परम पुरुष के स्थान दिव्यधाम साकेत को प्राप्त करावे" एतादृश वर को सोच करके आप मुझे वर दो। तब इन्द्र ने कहा- प्रज्ञात्मा अजर-अमरादि गुण विशिष्ट प्राण की उपासना तुम करो] इत्यादि कौषितकेयोपनिषत्के प्रतर्दन विद्या में सुना गया है। यहाँ

इत्यादिना स्वर्गसुखस्यापि निरतिशयत्व प्रतिपादनात् । तस्मात्प्राण-पदेन देवराजेन्द्रस्यैव ग्रहणमत्र भवति न तु परमात्मनो ग्रहणं तस्य प्रकृत पदबोध्यत्वाभावादिति । एतादृश शंकामपनेतुमाह "अत्रा-भिधीयते" पूर्वपक्षवादिनोपस्थापितप्रश्नस्योत्तरं करोमीत्यर्थः । इन्द्र प्रतर्दन प्रकरणे प्राणपदेन परमात्मन एव ग्रहणम् भवति. नतु जीव वि-शेषस्य देवराजेन्द्रस्य । कुतः तत्राह सूत्रे 'अनुगमात्' अर्थात् प्रकरणस्य पूर्वापरस्यालोचने कृते सति प्राणपदं परमात्मन एवोपस्थापकं भवति. न तु कस्यचिद्देवस्य तदन्यजीवस्य मुख्यप्राणस्य वा, यतोऽत्र मनुष्यस्य यत् हिततमं वस्तु तद्विषयक एव प्रार्थनम्. मनुष्यस्य कल्याणकरं वस्तु मोक्षः स च मोक्षः परमात्मन एव भवति "तमेव विदित्वाऽति-मृत्युमेति नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाये"त्यादि श्रुति-स्मृति-पुराणादिभिः परमात्मन उपासनादेव मोक्ष प्राप्तेः संभवादिति । एतत्सर्वमभिप्रेत्याह "प्राण शब्दे नात्रपरमात्मैवेत्यादि । अत्र प्रतर्दनप्रकरणे प्राण पदेन जीवस्य ग्रहणं न भवति. किन्तु परमात्मन एव ग्रहणं भवति । प्राण पदं स्वार्थात्प्रच्याव्य यत्तस्य परमात्मबोधकत्वं प्रतिपा-द्यते. तत्र किं भवत आज्ञा राजादेशो वा प्रमाणमिति शङ्कामपनेतुं

सन्देह होता है कि उपास्य रूप से श्रूयमाण जो प्राण है वह वायु विकार रूप प्राण हैं अथवा प्राणपद से इन्द्र का ग्रहण है, अथवा प्राणोपलक्षित जीव का ग्रहण है, अथवा प्राण शरीरक सकल जगत् निमित्तोपादनकारण पर-मात्मा का ग्रहण होता है, इन चारों का लिङ्ग है ? यह संशय का कारण है । पूर्वपक्ष होता है कि प्राणोपलक्षित इन्द्रादिक जीव ही है परमात्मा नहीं क्योंकि "मैं प्राण हूँ" एतादृश इन्द्र का वाचक शब्द का सामानाधिक-रण्य देखने में आता है । और आख्यायिका पर्यालोचन करने से स्वरसतः इन्द्रादिजीव ही उपास्य रूप से सिद्ध होता है परमात्मा नहीं । इस के उत्तर में -कहते हैं, "अत्राभिधीयते" इत्यादि । इस प्रकरण में

प्राह –"इत्थमत्रनिश्चयः" इत्यादि । अत्र प्रकृत विषये परमात्मन एव ग्रहणं नतु जीवस्येति विचारे वक्ष्यमाण क्रमेण विनिर्णयो भवतीत्यक्षरार्थः । "प्रतर्दनेन" इत्यादि । तथाहि प्रतर्दनस्योपरितुष्टो देवराजो मत्तोवरं याचयेति यदा कथितवान् तदनन्तरं स प्रतर्दनो मनुष्यस्य यद् हिततमं भवेत् तद्विचार्य तमेव वरं मह्यं देहीति प्रावोचत् ततो जीवभावस्यातिशयेन तदेव हितम्, यस्मिन् ज्ञाते सर्वस्यापि सांसारिकदुःखनिवृत्तिरूपपरमानन्दावाप्तिस्तादृशविलक्षणसुखप्राप्तिलक्षणो मोक्ष एव । तादृश मोक्षस्य कारणं परम पुरुषस्योपासनमेव तद्व्यतिरिक्तस्य मोक्षजनकत्वानुपपत्ते स्तदाहु रानन्दभाष्यकाराजगद्गुरवः श्रीरामानन्दाचार्याः–"मुक्तौहेतुस्तु भक्त्यपरपर्यायं तैलधारावदविच्छिन्नभगवत्स्मृतिसन्तानमेव । उक्तञ्च साधनदीपिकायामाचार्यवर्यैर्जगद्गुरुश्रीगङ्गाधराचार्यैः 'रामस्य ब्रह्मणोऽनन्यभक्त्यैव मुक्तिराप्यते । भक्तिध्रुवास्मृति सा च विवेकादिकसप्तकात् ।इति। ऊचुश्च तथैव भगवन्तः श्रीदेवानन्दाचार्यचरणा अपि "त्वदीया स्मृतिस्तारिकामृत्युसिन्धोस्तथाविस्मृतिः पातिका तत्र चैव । परं योगिनां हार्दमालम्बनं त्वां श्रये राघवं सच्चिदानन्दरूपम्" ।।इति।।

प्राणशब्द से परमात्मा का ही ग्रहण होता है जीव का नहीं । इसमें कारण बतलाते हैं "इत्थमत्रनिश्चयः" । प्रतर्दन ने इन्द्र से पूछा को, मनुष्य अर्थात् जीवमात्र के लिए जो हिततम वस्तु है, उस वस्तु को आप कहे।" ऐसा पूछा । तब इन्द्र ने कहा कि "मुझ को आयु या अमृत–अजर–अमर रूप से जानकर मेरी उपासना करो" ऐसा उत्तर दिया । अब इस प्रश्न तथा प्रतिवचन का जब अनुसन्धान=पूर्वापर का विचार किया जाता है तो यही सिद्ध होता है कि प्राणपद का वाच्य परमात्मा ही है जीव नहीं । क्योंकि मनुष्य के लिये परमात्मा को छोड़ करके और अन्य कोई भी पदार्थ हिततम नहीं है, किन्तु एक परमात्मा ही सबका अकारण मित्र है । उसी परमात्मा को

तत्रेन्द्रः प्रोक्तवान्. मामेवामृतस्वरूपं मत्वा मदीयोपासनं कुरु । एतादृश प्रश्नप्रतिवचनयोरभिप्रायस्यानुसन्धानाद् ज्ञायते यत् प्रकृते प्राणपदवाच्यः परमात्मैव नतु प्राणपदेन जीवस्य ग्रहणम् । यतः "तमेवविदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय" [तं सर्व संसारकारणं परमात्मामं ज्ञात्वा अर्थात्तस्य परमात्मनो निदिध्यासनेन सम्यग् विज्ञाय मुक्तो भवति तदतिरिक्तो हि मार्गो मोक्षप्राप्तये नास्तीत्यर्थः] इत्यादि श्रुत्या ज्ञायते यत् परमात्मनोऽवगतिरेव मोक्ष जनिका, एतादृशस्थितौ यदि परमात्मव्यतिरिक्तस्य कस्यचिदन्यस्योपदेशो भवेत्तदातज्ज्ञानेन कथमिव मोक्षो भवेदिति मोक्षप्राप्तेरन्यथा नुपपत्या प्राणपदमस्मत् शब्दप्रतिपादितमपि परमात्मानमेव बोधयति नेन्द्रादिकं कमपि जीवं प्रतिपादयति । परमात्मनो या प्राप्तिस्तदतिरिक्तं यद्वस्तु जातं न तज्जीवस्य हिततमम्, किन्तु परमात्मैव सर्वस्य हिततमस्तत्कृपयैव लोकानां मोक्षादिसंभवात् । तथा "आनन्दोऽजरोऽमरः" इत्यादिना अमृतत्वादिका अर्थाः अपि श्रूयन्ते । नहि मुख्यममृतत्वं देवादीनामपितु परमात्मनः सर्वेश्वरस्य श्रीरामस्यैव तस्मात् प्राणपदवाच्यः परमात्मैव न तु जीवविशेषः प्राणपदग्राह्यः । यद्यपि स्वर्गादि सुखेस्वपि नित्यत्वममृतत्वं यत्र तत्र श्रुतमिव भवति. तथापि

प्राप्त करके जीव संसार बन्धन से विमुक्त हो साकेत प्राप्ति रूप मोक्ष को पाता है । तदितर सर्व पदार्थ विनश्वर तथा दुःखमय है, तो दुःखमय पदार्थ का ग्रहण दुःखात्मक संसार से वियुक्त करा सकता है ? इसलिए हिततमत्वेन उपदिश्यमान प्राण कीस तरह जीव वाचक होगा, किन्तु परमात्मा का ही वाचक है । और इन्द्र ने उपास्य में अजरामरअमृत पदादि का प्रयोग किया है इससे भी सिद्ध होता है कि प्राणपद वाच्यता परमात्मा में ही है । क्योंकि परमात्मा से भिन्न सब पदार्थ विनश्वर है । कदाचित् परमेश्वर से इतर में जो अमृतत्व का प्रयोग है भी वह आपेक्षिक अमृतत्व का बोधक है । निरंकुश निरतिशय

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमाह्यस्मिन् ॥१।१।३०॥

वक्तुरिन्द्रस्य स्वोपास्यतयोपदेशान्नह्यत्र प्राणपदेन ब्रह्मणो ग्रहणमुपपद्यत इति चेन्न, अस्मिन् प्रतर्दनप्रकरणे "तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः"

"आभूत संप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते" इत्यादिश्रवणाद्देवानामानन्दोपि आपेक्षिक एव न तु मुख्यो निरतिशयात्मकः। तस्मादमृतादिपदसामानाधिकरण्येन श्रूयमाणः प्राणशब्दः कथमिन्द्रादीनां बोधकः स्यादपितु योयं प्रकरणपठितः प्राणशब्दः स विनिवृत्तव्यापारान्तरः परमात्मानमेव बोधयति नतु जीवमिति संपिण्डितार्थो वृत्तिरिति संक्षेपः ॥२९॥

विवरणम्= इतः पूर्वसूत्रे प्राणस्य परमात्मपरत्वं व्याख्यातम्। अर्थात् "प्राणोस्मी" त्यादि वाक्यघटकं मत्प्राणपदम्, तेन परमात्मन एव ग्रहणं भवति नतु जीवविशेषस्येन्द्रादेर्ग्रहणमिति" व्यवस्थापितमिति तदयुक्तम्, यथोऽत्र 'प्राणोस्मो' तिवाक्ये वक्तुरिन्द्रस्योपदेशादिन्द्रस्यैव ग्रहणं न्याय्यं न तु परब्रह्मणः कथमपि ग्रहणमित्याशंकामपनेतुं सूत्रव्याख्यानमुखेनैवोत्थातुमाह-"वक्तुरिन्द्रस्य' इत्यादि। प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा एतद्वाक्यघटक "अस्मि' इति क्रिया बोधक-

अमृतत्व परमात्मा में ही है। इसलिए सम्पूर्ण प्रकरण का विचार करने पर परमात्मा ही प्राणपद वाच्य है यह सिद्ध होता है, नतु जीवादिक प्राणपद वाच्य है। इसका विशेष विवरण अन्यत्र देखें ॥२९॥

सारबोधिनी—मृतप्राय चूहे को जिलाने के लिए गोमय [गाय का गोबर] सूँघा करके जिन्दा करने का जो प्रयास होता है, तादृश प्रयास करता हुआ पूर्वपक्षवादी प्रकृत में प्राणपद से परमात्मा का ग्रहण होता है परमात्म धर्म का सम्बन्ध की बहुलता होने से न तु जीवका ग्रहण है।

[कौ० ३।९] इत्यादिश्रुत्यभिहितस्य परमात्मसम्बन्धस्य बाहुल्यमुपलम्भात्सम्भवत्येव प्राणपदवाच्यत्वम्ब्रह्मणः ॥३०॥

पदं वक्तारमिन्द्रमेवोपस्थापयति. नतु तदतिरिक्तमन्यंकमप्युपस्थापयति ततश्च यो हि वक्ता देवराजस्तस्यैवोपास्यतया निर्देशात् कथमत्र प्राणपदेन तदतिरिक्तपरमेश्वरस्य ग्रहणं भवतीति। यत उपक्रमे उपास्यतयेन्द्रो हि देवः श्रुतो निश्चितश्च तत उपसंहार ग्रंथस्यापि उपक्रमानुरोधेनैव नयनं युक्तम्। उपसंहारादुपक्रमस्य बलवत्वमिति नियमात्। उपक्रमे तु विग्रहवान् देवताविशेष एव स्वकीयमात्मानमुपस्थापितवान् पुरतः प्रतर्दनं प्रति "मामेव विजानीहि" "प्रज्ञात्मा अहं प्राणोस्मि' इत्यादि। तथाऽतिक्रूरवत्वमप्यात्मनः प्रख्यापयामास न चैते धर्माः सर्वधर्मविवर्जिते परमात्मनि संभवन्ति 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्, न तु मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय इत्यादि श्रुति स्मृत्युक्तेः। ततश्च कथं परमात्मनोऽत्र प्राणपदेन ग्रहणमिति पूर्वपक्षे स्थिते। समाधातुमाह—इति चेन्न। यतोऽत्रप्रकृतप्रकरणे आत्म सम्बन्ध भूमा बाहुल्यं विद्यते इन्द्रादिदेवता परकाणि तु द्वित्राण्येव वाक्यानि सन्ति. परमात्मबोधकानि तु निखिलानि प्रकरणेऽस्मिन् विद्यमानानि दृश्यन्ते। अर्थादिदमोयोपक्रमोपसंहारयोरन्तराले परमात्म बोधक वाक्यानां बाहुल्येनोपलंभः उपक्रमे यत्वं मनुष्याय हिततमं

इस प्रकार से निराकृत भी पूर्वपक्ष को पुनरूज्जीवित करने की इच्छा से पूर्वपक्षी प्रश्न करता है। तादृश पूर्वपक्ष का अनुवाद करने के लिए वृत्तिकार प्रक्रम करते हैं "वक्तुरिन्द्रस्य" इत्यादि। पूर्वसूत्र में कहा गया कि प्राण पदवाच्य परमात्मा ही है। जीव देवता विशेष इन्द्रादिक नहीं। एतादृश कथन ठीक नहीं है। क्योंकि प्रतर्दन के प्रतिवक्ता जो इन्द्रदेव है. वह अपने "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व" में प्रज्ञात्मा प्राण हूँ। एतादृश अमृत स्वरूप मुझको तुम उपासना करो। इस प्रकार से

मन्यसे' इति कथितम् । यद्यपि मनुष्यस्य हितं देवतादीनामुपासनमपि कथञ्चित्संभवति तथापि हिततममतिशयेन हितं तु परमात्मन उपासनमेव । सर्वदेवाद्यपेक्षया परमात्मोपासनस्य परमपुरुषार्थ प्रयोजकत्वात्. तदितरोपासनस्य तु सातिशयफलजनकत्वेन तदपेक्षया हीनफलकत्वात् -त्वदीया स्मृतिस्तारिका मृत्युसिन्धो स्तथा विस्मृतिः पतिका तत्र चैव । परं योगिनां हार्दमालम्बनं त्वां श्रये राघवं सच्चिदानन्दरूपम् ॥ इत्याचार्योक्तेः । तस्मादूब्रह्मबोधकाव्यभिचरितानेकलिङ्गानां प्रतर्दनप्रकरणे समुपलभ्यमानत्वात्. प्राणपदेनापाततः परिदृश्यमपि जीवलिङ्गं स्वार्थात् प्रच्याव्यानेकलिङ्गानुदर्शनेन तदनुगुण्येन प्राणपदस्य परमात्मपरत्वकल्पनमेवादुष्टं मोक्षफलकञ्चेति । एवं तद् यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एव मेवैता भूतमात्रा प्रज्ञामात्रा स्वर्पिताः' अस्मिन् मंत्रे तद् यथेति पदं दृष्टान्तप्रदर्शनाय यथा येन प्रकारेण रथस्य रथसंबन्धिचक्रस्य आरेषु तिर्यक् संलग्न काष्ठेषु नेमिश्च क्रमाद्यवस्थितसच्छिद्रगोलाकारकाष्ठस्यसंनिवेशः । एवं नेमिषुसच्छिद्रगोलाकारकाष्ठेषु अरातिर्यक् भूताः काष्ठश्रेणयो वर्तन्ते परस्परसम्बद्धा एवमेव. एतद्दृष्टान्तानुसारेणैव भूतमात्राः सर्वाणि भूतानि स्थूलसूक्ष्माणि जडाजडसर्वाण्येव पदार्थजातानि प्रज्ञामात्रा सुपरमात्मनि समर्पितानि सन्ति इत्यर्थः' एवम् 'एष एव साधुकर्म

अपना स्वरूप को उपास्य रूप से कथन किया है । तो यह कथन प्राण पद से यदि परमात्मा का ग्रहण करें तब तो संगत नहीं होता है । अतः स्वकीय स्वरूप का प्रतिपादन तथा स्वस्वरूपका उपास्यत्व कहने से इन्द्र का ही ग्रहण होना चाहिए प्राणपद से परमात्मा का प्रतिपादन करना युक्त नहीं है । एतादृश पूर्वपक्ष का उत्तर कहते हुए कहते हैं "इति चेन्न" यह तुम्हारा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि उपक्रान्त इस प्रतर्दनाधिकरण में "जिस रथ के आश

कारयति अयं लोकपालः सर्वकर्मा सर्वरसः [अथ परमेश्वरो यस्योपरिकृपां करोति. तद्द्वारा साधुकर्म कारयति. यं च जीवविशेषं साकेतुं नेतुमिच्छति. यं चाधोनेतुमिच्छति तद्द्वारा असाधु भगवद्भजनासेवनातिरिक्तं कर्म कारयति। स एव सत्य संकल्पः सर्वकर्मा च भवति नान्य एतादृशः इत्यर्थः, इत्यादि श्रुति प्रतिपादितस्यानेक प्रकारकपरमात्मधर्मसम्बन्धस्यात्र प्रकरणे समुपलभ्यमानत्वेन. प्रकृते परमात्मन एव प्राणपदेन ग्रहणमिति निश्चीयते। यद्यपि एकं पदद्वयं वा भूत्वा शीर्त्वा कथंचित् संकुचित वृत्त्या जीवस्य सङ्ग्राहकं भवतु नाम तथापि परः शतानि वाक्यान्यसंकुचितवृत्त्या परमात्मपरकाण्येवात्र प्रकरणे समुपलभ्यन्ते तानि च सर्वाण्यपि परमात्मन एव बोधकानि भवन्ति उपक्रमादिलिङ्गैः समर्थ्यमानानि। तस्मादुपक्रमे श्रुतोपेन्द्रो जीवोदूरत एव परित्याजितो भवति. समाद्रियते च परमात्मा मोक्षफलैः समुल्लसन्। अतोऽत्र प्राण पदेन परमात्मन एव ग्रहणं भवति, न तु देवस्य जीवस्य वायोर्वेति सूत्रार्थसंक्षेप ॥३०॥

में नेमिरथचक्र के अन्तर्गत स्थूल काठ विशेष समर्पित आधारित है। एवं रथ नाभि में आरा समर्पित आधारित है। इसी प्रकार प्रज्ञात्मा परमात्मा में सब पदार्थ समावेशित हैं" इस श्रुति में तथा अन्य श्रुतियों में जो सत्य कामत्व, सत्य संकल्पत्वादिक धर्म कहा गया है। उन सबका समन्वय तो स्वभावतः परमात्मा में ही हो सकता है नतु जीव में। तो तादृश धर्म सम्बन्धानुपपत्तिकी अन्यथानुपपत्ति के बल से सिद्ध होता है कि प्रतर्दन प्रकरण में प्राण पद वाच्य परमात्मा ही हो सकता है। जीव प्राणपद वाच्य नहीं है। अर्थात् यद्यपि कोई कोई विशेषण ऐसे हैं। जो जीव बोधक हैं, तथापि सत्यसंकल्पादिक ब्रह्म बोधक अनेक धर्म का दर्शन होता है तदन्यथानुपपत्ति से ब्रह्म का ही ग्रहण प्राण पद से किया जाता है, जीव का नहीं ॥ ३० ॥

शास्त्रदृष्टया तूपदेशो वामदेववत् ।१।१।३१।

अथैवं तर्हि 'मामुपास्व' इत्यादिनेन्द्रकृतस्वात्मोपासनोपदेशः कथं सङ्गच्छत इत्याह—शास्त्रेति । शास्त्र दृष्टिः शरीरात्मभावेन दर्शनम्—"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरः [बृ० ५।७।१२।]इत्यादिशास्त्रेण-शरीरवाचकानांशब्दानां शरीरिणिपर्य्यवसानमिति निर्गलितव्युत्पत्त्या जीव

विवरणम्=इतः पूर्वसूत्रे कथितं यत् प्रतर्दनाधिकरणीयवाक्येषु परमात्मोपस्थापकानेकलिङ्गदर्शनेन जीवोपस्थापकलिङ्गस्य लघीयस्त्वात् "प्राणोस्मि प्रज्ञात्मानं मामायुरमृतमुपास्व" एतद्वाक्यघटकप्राणपदं परमपुरुषं परमात्मानमेवोपस्थापयति नतु सत्यपि जीव—परमात्मनो ज्ञानवत्त्वादिना समानत्वे तमुपस्थापयतीति । तत्रैवं वाच्यम्. यत् परमात्मनो लिङ्गबाहुल्यदर्शनेन परमात्मोपस्थापकं प्राणपदं तदा "प्राणोस्मि मामुपास्व" इत्यादिश्रुतिवाक्यानां का गतिः ? न चा नर्थक्यमेवैतेषां वचनानाम्. एवं सति श्रुतीनामनपेक्ष—प्रामाण्यविलोप-प्रसङ्गात् "नहि तत्र वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितव्यं किं पुनरियता पद प्रबन्धेने" ति महाभाष्योक्तेः । इमां शङ्कामपनेतुं सूत्रमुपस्थापयितु

सारबोधिनी=इसके पूर्वसूत्र "न वक्तुरात्मोपदेशात्" इसमें कहा गया है कि, "प्राणोस्मि "प्रज्ञात्मा" इत्यादि वाक्य घटक जो प्राण शब्द है उसका वाच्य परमात्मा है इन्द्र देवता नहीं । क्योंकि "अमृतम्, अजरोऽमरोऽभयम्" इत्यादि अनेक परमात्मा के उपस्थापक लिङ्ग हैं इस लिए सकल जगत् के निमित्त तथा उपादन कारण सर्वज्ञ सर्वशक्ति समन्वित विर्वशेषी भगवान् श्रीराम ही प्राणपद से वाच्य होते हैं। परन्तु ऐसा मानने पर "मामुपास्व" मामेव विजानीहि" इत्यादि वाक्यों की क्या गति होगी । एतादृश शंका का निराकरण करने के लिए वृत्तिकार प्रक्रम करते हैं "अथैवं तर्हि" इत्यादि । यदि प्रतर्दन प्रकरण में परमात्मा बोधक लिङ्ग के आधिक्य होने से प्राणपद

शरीरकपरमात्मानमवधार्य्य 'मामेव विजानीहि' 'मामुपास्व' इत्येवं रूप इन्द्रस्योपदेशोऽस्ति । यथा वामदेवः स्वात्मशरीरकं परमात्मानं पश्यन् तत्सामानाधिकरण्येन स्वस्य मनुसूर्य्यादिभवनमुपदिशति । 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' [बृ० ३।४।१०] एवमेवात्र इन्द्रोपदेशः ॥३१॥

आह "अथैवं तर्हि" "मामुपास्व" इत्यादि एवं तर्हि अर्थात् यदि परमात्मबोधकाव्यभिचरितानेकलिङ्गदर्शनेन प्राणपदेन परमात्मन एव ग्रहणं क्रियेत तदा वक्तुरिन्द्रस्योपस्थापकं "मामुपास्व, मामेव-जानीहि" अत्र एवकारघटितेन्द्रबोधकास्मत् पदप्रयोगस्य का गतिः, अर्थात् देवराजो हि स्वात्मानमेवोपास्यतया प्रतिपादयती-त्येतादृशवचनस्य केन प्रकारेण संगतिः स्यात्, इत्याशङ्कायाम् "मामुपास्व" इत्यादि वचनानां सार्थक्यमुपपादयितुं सूत्र घटकप्रथमपदमेव प्रथममुदाहरति शास्त्रेति । तत्र शास्त्रदृष्टि रित्य स्य शरीरात्मभावेन दर्शनमित्यर्थः । तदेवोपपादयति श्रुतिमुखेन "य आत्मनीत्यादि" "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः" यः सर्वशरीरी परमात्मा श्रीरामो यस्य सर्वेऽपि पदार्थाः शरीरलक्षणाः स आत्मनि सर्व

द्वारा परमात्मा का ग्रहण किया जाय. तब तो, 'मामुपास्व" "मामेव विजानीहि" इत्यादि वाक्य जो इन्द्रदेव में उपास्यत्व का प्रतिपादन करता है एवं "मामेव" यहाँ जो एवकार घटित. अस्मत् पद है वह तो इतर व्यावृत्ति पूर्वक इन्द्र में विज्ञेयत्व का समर्थन करता है । इसकी क्या गति होगी ? अर्थात् इन्द्र का उपास्यत्व तथा विज्ञेयत्व का उपदेश किया गया है तादृश उपदेश किस प्रकार से संगत होगा ? इस प्रकार की जो शंका होती है उसको निरा-करण करने के लिए सूत्र घटक पद का कथन करते हुए कहते हैं "शास्त्रेति" अर्थात् "मामुपास्व" इत्याकारक जो उपदेश है वह शास्त्र दृष्टि को लेकर के वामदेव के उपदेश के समान है । शास्त्र

जीवात्मनि तिष्ठन्नन्तर्यामितया "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठती" ति स्मृतेः। आन्तरो जीवस्य आन्तरो जीव मध्ये व्यवस्थितो जीवं नियमयति एतादृशं सर्वनियन्तारं सर्वेश्वर श्रीरामं नावगच्छति जीवात्मा. "केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथानियुक्तोस्मि तथाकरोमीत्युक्तः। इत्यादिश्रुतिस्मृत्यात्मकशास्त्रानुगुण्येन यानि शरीरवाचकानि पदानि सर्वाण्यपि शरीरिणी पर्यवसितानि भवन्ति" इति नियमात्। तदाहु र्भाष्यकाराः "ब्रह्मशब्दश्च महापुरुषादिपदवेदनीयनिरस्ताखिलदोषमनवधिकातिशयासंख्येयकल्याण-गुणगणं भगवन्तं श्रीराममेवाह। सामान्यवाचकानां पदानां विशेषार्थे पर्यवसानात्। तदाह वृत्तिकारः—विशेषार्थेन सामान्यार्थोऽवसीयत इति (बो०बृ०)" (आनन्दभाष्यम् १।१।१)।

शरीर—विशिष्ट-जीवात्मकशरीरवन्तं परमात्मानमिन्द्रो ज्ञात्वा उपदेशं करोति प्रतर्दनाय "मामेवविजानीहि, मामुपास्व" अर्थादहमस्मि तच्छरीरैकदेशभूतो यस्य सर्वशरीरिणः परमात्मनस्तादृशं मामीश्वरबुद्ध्या त्व-

दृष्टि शब्द का स्पष्टीकरण करने के लिए कहते हैं "शास्त्र दृष्टिः शरीरात्मभावेन दर्शनम्" इति [शरीरात्मभाव से दर्शन—स्वशेषशेषीभाव ज्ञान] इसका स्पष्ट रूप से प्रदर्शन के लिए श्रुतिका प्रदर्श करते हैं "य आत्मनितिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः" जो आत्मा में रहता हुआ भी उससे भिन्न है जिसको यह जीवात्मा नहीं जानता है यह जीवात्मा जिसका शरीर है जो आत्मा में रहकर के जीव का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा सर्वान्तर्यामी अमृत स्वरूप है। इत्यादि शास्त्र से यह सिद्ध होता है कि शरीर का वाचक जो शब्द है उसका पर्यवसान शरीरी में होता है। अर्थात जीवात्मा है शरीर और भगवान् है सबके शरीरी तो जीव वाचक शब्द शरीरी भगवान् का उपस्थापक होता है, अवयव से अवयवी बोधित होता है। जैसे घट प्रत्यक्ष स्थल में घटावयव के अर्थात् घटैक देश के साथ

मुपासनं कुरु, अर्थादिन्द्रः स्वकीयमात्मानं सर्व-शरीरिणः परमात्मनोऽभिन्नं पश्यति जगद्व्यापारातिरिक्तकर्मसु तथैव परमात्मनश्च स्वशरीररूपप्रतर्दनस्याभेदः, इति तं कथयति-'अहं परमात्मनः शरीररूपोऽस्मि. इति परमात्माभिन्नत्वेनमदीयोपासनं त्वमपि कुरु इत्याशयेनेन्द्रस्योपदेशः प्रतर्दनं प्रति । एवञ्च मामिति पदस्यासामंजस्यं न भवतीति । एतस्मिन्नर्थे दृष्टान्तं दर्शयति "वामदेव वदिति, तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च" वामदेवोहि ऋषिरेतत्पश्यन् अर्थात् स्वात्मशरीरकं सर्वशेषिणं परमात्मानं पश्यन् साक्षात्कुर्वन् स्वस्य वामदेवस्य मनुसूर्यादि भवनमनुवदतीति, अर्थात् वामदेवोहि स्वस्मात् स्वशरीरिणं परमात्मानं तथा परमात्मनः सर्वशरीरकस्य सूर्यादितोऽभेदं ज्ञात्वा "तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्व"मिति नियमः । अत्र प्रथम तत्पदेन वामदेवस्य ग्रहणं तेन वामदेवेन भिन्नः सर्वशरीरी परमात्मा. तेन परमात्माना अभिन्नः परजीवोऽपि. इति सूर्यादिदेवेन

चक्षु का संयोग होने पर घठात्मक अवयवो का बोध होता है अवयव से अवयवी बोधित होता है । क्योंकि घटादि प्रत्यक्ष स्थल में चक्षु का संयोग घटैक देश में ही रहता है, सम्पूर्ण घट के साथ-घट के मध्यावच्छेदेन तथा पृष्ठावच्छेदेन संयोग का प्रायः सर्वत्र बाध ही रहता है । अतएव वैभासिक बौद्धों का कथन है कि एकदेश से अवयवी अनुमेय है प्रत्यक्ष नहीं इसी प्रकार प्रकृत में जीवरूप एकदेश वाचक जो शब्द है वह सर्वशेषी परमात्मा में पर्यवसित होता है । अर्थात् शेष वाचक शब्द से सर्वशेषी का बोध होता है । एतादृश नियम के बल से जीवलक्षण शरीरवाला जो सर्वशेषी परमात्मा उसका शेष मुझको तुम जानो, तथा उसी रूप से मेरी उपासना करो । इस प्रकार से इन्द्र का उपदेश है । अर्थात् यहाँ इन्द्रोपास्यत्व नहीं है । किन्तु इन्द्र है शरीर जिसका एतादृश परमात्मा का-इन्द्रावच्छिन्न परमात्मा का उपदेश है । अवच्छेद-

सह स्वस्याभेदं ज्ञात्वा वामदेवः कथयति यदहं सूर्योमनुश्च । एव मेवात्र प्रकृते इन्द्रः प्रकारत्वेन परमेश्वरैकदेश स्वं परमात्मनाऽभेदं पश्यति. परमात्मना च स्ववत् प्रतर्दनमपि परमात्मैकदेशभूतमभेदेन पश्यति । ततश्च स्वस्य विशेषणत्वेन परमात्मरूपतां ज्ञात्वा स्वात्मानमुपास्यत्वेन, ब्रवीत्यर्थात् सत्यपि भिन्नत्वे परमात्मनोऽभिन्नतारूपेण स्वात्मानमुपपादयन् प्रतिपादयति चोपास्यत्वेन स्वशरीरकं परमात्मानमिति तदाहु जगद्गुरवः-तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमितिन्यायेन मनुसूर्यादिसर्वजगदभिन्नं ब्रह्म तदभिन्नस्य स्वस्य मनुसूर्याद्यभिन्नत्वम्पश्यन् मनुसूर्यादिसर्वरूपो भूत्वाह वामदेवः "अहं मनुरभवं सूर्यश्च" एवञ्चतदात्मकत्वानुसन्धानेनैव "देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्" (बृ.१।४।१०) इत्यादयोऽपि प्रतीयत उपपद्यन्त" इत्यादिना (आनन्दभाष्यम् (१।१।३१)

सूत्रार्थस्त्वेवम्. यथा वामदेव सर्वशरीरकं परमात्मानं पश्यन्. अहमेव सूर्योमनुश्चास्मि, इति ज्ञातवान् तद्वत्, इन्द्रोऽपि स्वात्मानं सर्वशरीरकपरमात्मभ्योऽभेदं जानन्. प्रतर्दनाय स्वस्योपास्यत्वमुदाजहारेति । भावार्थस्त्वेवं तथाहि नेन्द्रः स्वात्मानमुपास्यत्वेन कथितवान् कता सम्बन्ध से इन्द्र उपासना का विषय है किन्तु मुख्य रूप से नहीं मुख्य रूप से उपासना का विषय तो सर्वशरीरी परमात्मा ही है । जिस तरह "आत्मनि सुखम्" यहां समवाय सम्बन्ध से सुखाधिकरणता आत्मा में प्रतीत होता है । सुखाद्यधिकरणतावच्छेदक शरीर में अवच्छेदकता सम्बन्ध से प्रतीत होता है । क्योंकि शरीरावच्छिन्न आत्मा में सुख है । सुख का अधिकरण शरीरावच्छिन्न आत्मा है । इसी प्रकार प्रकृत में वस्तुतः इन्द्र में उपास्यता नहीं है, उपास्यता तो परमात्मा में है, इन्द्र तो केवल अधिकरणता का अवच्छेदक है । इसलिए इन्द्र का उपदेश इस प्रकार से हुआ है । इस विषय में अनुरूप दृष्टान्त

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रीतत्वादिह तद्योगात् ।१।१।३२।

ननु नवाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्'' [कौ. ३।८] इति जीवलिङ्गात् 'प्राण एव प्रज्ञात्मा' [कौ. ३।१।] इति प्राणलिङ्गाच्च नेदं प्रकरणं ब्रह्मपरमिति चेन्न, एकस्यैव ब्रह्मणः स्वरूपेण चिच्छरीरकत्वेनाचिच्छरी-

---

प्रतर्दनाय किन्तु स्वशरीरकस्य परमात्मन एवोपासनमुवाच. "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्याद्यनेकशास्त्रेण सुभाशुभकर्मफलभोक्तुर्जीवस्य परमात्मस्थितिप्रवृत्तिकत्वं तथा परमात्मनश्च जीवशरीरकत्वञ्च सम्यगवगम्य तथा परमात्माधीनस्वरूपस्थितिमत्वं तस्याभिन्नसत्ताकत्वं परमात्मना स्वस्याभिन्नत्वं चावगम्य जीववाचकाहंममादि पदानां परमात्मनि जीवशरीरिणि पर्यवसानं मत्वा, तथा परमात्मनोऽहं ममादिपदवाच्यत्वं च ज्ञात्वा "मामेवोपास्व" "मामेव विजानीहि" इत्यादिना स्वशरीरिणं परमात्मानमेवोपास्यत्वेनोपदिष्टवान् नतु स्वात्मानमुपदिदेशेतिसांप्रदायिकाः ॥३१॥

विवरणम्=ननु शास्त्रदृष्टिमाश्रित्य "मामेवविजानीहि" "मामुपास्व" इत्याद्युपदेशो ब्रह्मपरको नतु देवतादिजीवबोधको यतः प्रकरणेऽध्यात्मसम्बन्धस्य बाहुल्यदर्शनादित्यादिक्रमेणतद् ब्रह्मपरकत्वमेवेति व्यवस्था बतलाते हैं "यथावामदेव" इत्यादि "यथावं वामदेव ऋषि र्वामदेव शरीरकं परमात्मानं जानन् तदभिन्नत्वं स्वस्यानुसंधाय, अहमेव मनुरभवमहमेव सूर्योऽभवमित्येवं रूपेणोपदिदेश" अर्थात् जसे वामदेवनामक ऋषि स्वात्मशरीरक सर्वेश्वर श्रीरामजी को देखकर अनुभव करते हुए भगवत्सामानाधिकरण्य से अपने मनुसूर्यादि होने का उपदेश करते हैं प्रकृत इन्द्र–प्रतर्दन प्रकरण में भी वैसा ही समझना चाहिये । अतः सम्पूर्ण प्रकृत प्रसंग शास्त्रानुकूल ही है प्रतिकूल नहीं ॥३१॥

रकत्वेन चेति त्रैविध्येनावस्थितस्यानुसन्धानमुपासनार्थम्। एवमनुसंहिते ह्युपासनाया अपि तत्तद्रूपेण त्रैविध्यं फलति। प्रज्ञामात्राः प्राणे अर्पिताः[कौ. ३।९।] इति श्रुतेरस्यैव परमात्मनः सर्वाधारत्वमितरेषां प्राणादीनामत्राश्रितत्वात्। अत एवेह प्रकरणे 'प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोमृतः [कौ. ३।९] इत्यादिषु तस्य परमात्मनो येऽसाधारणधर्म्मा अमृतत्वादयस्तेषां योगा-

पितम्, परन्तु तन्न समीचीनम्. यतोनेदं ब्रह्मवाक्यं किन्तु प्रकृत प्रकरणे जीवबोधकं तथा मुख्यप्राणबोधक च वाक्यं भवति. जीवस्य बोधकं वाक्यमति स्पष्टरूपेणात्र समुपलभ्यते "न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्" अत्र वागादिकरणविशिष्टस्य शरीरेन्द्रियाध्यक्षस्य कर्तुजीवस्यैव विज्ञेयत्वं ज्ञायते। एवं मुख्यप्राणबोधकलिङ्गमपि स्पष्टरूपेण विद्यते अथ खलु प्राण एव प्राज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति" अत्र वाक्ये शरीरधारणलक्षणं कार्यं मुख्यप्राणस्य धर्मो दृश्यते। ततश्च जीवलिङ्गदर्शनान्मुख्यप्राणलिङ्गदर्शनाच्च न पूर्ववाक्यं परमात्मबोधकमपितु वाक्यादिकरणाधिष्ठितस्य जीवस्य तथा मुख्यप्राणस्य लिङ्गमित्याशङ्कां निराकर्तुं पूर्वपक्षं प्रस्तौति "ननु 'नवाचं विजिज्ञासी-

सारबोधिनी– अध्यात्म सम्बन्ध की अधिकता होने के कारण प्रकृत प्रकरण में प्राणशब्द से परमात्मा का ही ग्रहण होता है मुख्य प्राण अथवा इन्द्रादि जीवों का ग्रहण नहीं होता है ऐसा पूर्व पूर्वतर सूत्रों में कहा गया है। परन्तु वह ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ तो जीव तथा मुख्य प्राण का ग्राहक वाक्य अनेक विद्यमान हैं इसलिए प्राण शब्द से जीव तथा मुख्य प्राण का ही ग्रहण होना चाहिए, परमात्मा का ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस प्रकार का जो प्रश्न है उसका निराकरण करने के लिए वृत्तिकार उपक्रम करते हुए कहते हैं--ननु "न वाचं विजिज्ञासीत" इत्यादि। वाणी की जिज्ञासा मत करो किन्तु वाणी का प्रेरक जो जीवात्मा है उस जीव को जानने का प्रयास करो' इत्यादि जो वाक्य हैं वे जीव के लिङ्ग हैं।

द्वाच्यत्वेन सम्बन्धात् परमात्मैवात्रप्राणशद्ववाच्य इति सिद्धः ॥३२॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यान्वय प्रतिष्ठित श्रीमदनुभवानन्दाचा
र्यद्वारकेणजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्योपाधिविभूषित ब्रह्म
वित्स्वामि श्रीरघुवराचार्य वेदान्त केसरिणा
वरचितायां रघुवरीयवृत्तौ(ब्रह्मसूत्रीयवृत्तौ)
प्रथमाध्यायस्य प्रथमःपादः ।
श्रीमतेरामानन्दाचार्याय नमः ।

त" इत्यादि । वाचं वागिन्द्रियं न विजिज्ञासीत स्वभावतो जड़स्य वागि-न्द्रियस्यात्र विज्ञेयत्वं विजिज्ञासितत्वं निषेधति. किन्तु वक्तारं वागिन्द्रियस्य कर्तारं प्रेरकं जीवमेव विजिज्ञासीत. अर्थात् वागिन्द्रिय प्रेरकस्य चेतनस्य सतो जोस्यैव विजिज्ञासा कर्त्तव्येत्यर्थ । इतीह लिङ्गं जीवस्यैव बोधकम् । एवमेव "प्राण एव प्रज्ञात्मा इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति" प्राण एव शरीरं परिगृह्योत्थापयतीति प्राणलिङ्ग मेवैतम्. शरीरोत्थानशरीरधारणादिकं सर्वं मुख्य प्राणस्यैव कार्यं भवति । इति शरीरधारणादिकार्यदर्शनेन मुख्यप्राणस्येदं लिङ्गं भवति तस्मात्

एवं "प्राण एव प्रज्ञात्मा" प्राण ही प्रज्ञात्मा–स्वरूप है । जो प्राण इस शरीर को पकड़ा है और इसको धारण किया है । इत्यादिक मुख्य प्राण का लिङ्ग है । इससे यह सिद्ध होता है कि इस प्रकरण में प्राणपदवाच्य जीव है, अथवा मुख्य प्राण है किन्तु परमात्मा नहीं है । यह हुआ पूर्व पक्ष । एतादृश पूर्व पक्ष के समाधान में कहते हैं ' एकस्यैव ब्रह्मणः" इत्यादि । एक ही जो ब्रह्म है वह सत्यज्ञानादि स्वरूप से चेतन शरीरकत्व रूप से तथा अचेतन जड़ वर्गादि शरीरकत्व रूप से विशिष्टतया सर्वत्रावस्थित है तो तादृश परमात्मा अनुसंधान तथा उपासना का प्रयोजक है । तादृश परमात्मा की उपासना भी तीन प्रकार की है यह अर्थतः फलित होता है । अर्थात् इस प्रकरण में परमेश्वर श्रीराम की उपासना कहीं तो सच्चिदानन्दादि स्वकीय रूप से, कहीं जीवशरीरकत्वरूप से, कहीं तो प्राणादि जड़ शरीरकत्व रूप से बतलाई

करणनायकस्य जीवस्य शरीरोत्थापनादिकार्यसंपादकस्य मुख्य प्राणस्य लिङ्गं भवति। न च मुख्यप्राणस्य जड़त्वेनोत्थानाद्यनुकूल कृतेरभावात् कथं तादृशकार्यानुकूलकृतिमत्त्वं स्यादिति वाच्यम्. श्रुतिषु वागादीनां करणानां कलहदर्शनेन तत्संभवात्। तस्मादत्र जीवलिङ्गं मुख्यप्राणलिङ्गमेव दृश्यते. ततश्च तयोरेवात्रग्रहणं संभवति नतु परमात्मनो ग्रहणं भवत्यप्रक्रान्तत्वात्तादृशपरमात्मबोधकलिङ्गादर्शनाच्चेति पूर्वपक्षः। ब्रह्मण एवैकस्य प्रकारभेदेन त्रिप्रकारकमुपासनां दर्शयितुमंशत इष्टापत्त्या पूर्वपक्षोक्तदोषं परिहर्तुमाह "एकस्यैव ब्रह्मणः" एकस्य ब्रह्मणः इत्यादि।

परमात्मनः अर्थात् यद्यपि परमात्मा एकरूपस्तथापि अनेक प्रकारेण उपासनाविषयो भवति "स एकधा भवति" इत्यादि श्रुत्यन्तरात् क्वचित् स्वरूपतःसत्यज्ञानानन्दाजरामरणादिरूपेणोपासितो भवति. क्वचित् चेतन ब्रह्मेन्द्रप्रजापतिजीवशरीरकतया तद्रूपेणोपासितो भवति. क्वचिज्जड़प्राणादिरूपेण समुपासितो भवतीति रूपभेदेन समुपासितो भवदुपासकस्योपासनामपि त्रिविधां करोति। एतदेव कथितं 'स्वरूपेण चित्-शरीरकत्वेनाचिच्छरीरकत्वेनेति' अर्थात् अत्र त्रिप्रकारा उपासना भवन्ति परमात्मनः सर्वकारणकारणश्रीरामस्य क्वचित् स्वकीयासाधारण सच्चिदानन्दादिरूपेण "उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणोरूपकल्पना"

गई है अतः सर्वत्र उपास्य परमात्मा ही है। पर कहीं स्वरूप प्राधान्य से है, कहीं जीव शरीरकत्व रूप से, तो कहीं अचित शरीरकत्व रूप से है, अतः प्रकार मात्र में भेद है प्रकारी अंश में भेद नहीं है। इसलिए प्राणादि पद से सर्वत्र परमात्मा का ही बोध होता है नतु प्रणादि पद से प्रकारात्मक जीवमुख्य प्राण का ग्रहण। एवम् 'प्रज्ञा मात्राः प्राणेमर्पिताः' प्रज्ञामात्रा प्राणपद बोध्य परमात्मा में अर्पित है—आधारित है, इस श्रुति से यह सिद्ध होता है कि परमात्मा सकल जड़ चेतन पदार्थों का आधार है-और सकल जड़चेतन उस

"सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतेः । क्वचिदचेतनप्राणादि शरीरकत्वेन क्वचिच्चेतनब्रह्मप्रजापत्यादिशरीरकतयोपासनं तस्यैव परमात्मनो भवति । यद्यपि परमात्मा एकप्रकारक एव तथापि भक्तानुग्रहायानेकसविशेषरूपमादधानो विविधाकार इत्याकार भेदादुपासनाया अपि अनेकाकारता भवति । अत्र प्रकरणे श्रौतार्थ संग्रहस्थं 'स च सर्वेश्वरो भगवान् श्रीरामः परव्यूहविभवान्तर्याम्य-र्चावताररूपेण पञ्चधास्थितः—तथा चागमः—ममप्रकाराः पञ्चेति प्राहुर्वे-दान्तपारगाः । परोव्यूहश्चविभवोनियन्ता सर्वदेहिनाम् ॥ अर्चावतार श्च तथा दयालुः पुरुषाकृतिः । इत्येवं पञ्चधाप्राहुर्मां रहस्यविदोजनाः" इत्यादिरूपेण श्रीअनुभवानन्दाचार्यौपवर्णितप्रकरणं योजनीयम् । "प्रज्ञा-मात्रा प्राणे अर्पिताः" इत्यादि श्रुतिः सर्वेषां पदार्थानामाधरता परमा-त्मनि दर्शयति. दर्शयति चेतरेषां जड़चेतनवर्गाणां परमात्मनि आश्रि-तत्वम् । अतएव अस्मिन्नेव प्रकरणे "प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमरोऽमृतः" इत्यादिपरमात्मनोऽसाधारणा ये गुणास्तेऽमृतत्वादयस्तेषां परमात्म धर्माणां सम्बन्धात् सर्वजगदुपादानश्रुतः—परमात्माश्रीसाकेताधि-पतिरेव प्राणादिशब्दवाच्यो भवति. नतु जीवविशेश इन्द्रः प्राण-पदवाच्यः सकलजड़चेतनानां परमात्मविशेषगत्वेनैकदेशरूपत्वात्, एकपदार्थे पदार्थान्तरस्य सम्बन्धो भवति नतु पदार्थैकदेशे पदार्थान्तरस्य बोधो भवति । तस्मादत्र प्रकरणे परमात्मैव प्राणपदवा-

परमात्मा में आश्रित है । जिस तरह मृत्तिका में घट आधेय रूप से है और मृत्तिका आधार रूप है । "शेषी चाथ निमित्तं चोपादानं जगतोऽस्य हि । महाविष्णु र्निराधारो रामो ब्रह्माखिलेश्वरः" इत्यादि प्रकार से ज०गु०श्रीश्रिया-नन्दाचार्यजी ने सर्वेश्वर श्री रामचन्द्र जी को जगतका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण रूप से प्रतिपादन किया है तो सब पदार्थ परमेश्वर में आश्रित हैं । अत एव उस सर्व साधारण परमात्मा का जो असाधारण अमृतत्वादिक धर्म

च्यो भवति। यद्यपि क्वचित् प्राणपदेन प्राणोपलक्षितजीवस्यापि परिग्रहो भवति, भवति च कुत्रचित् प्राणपदेन परिग्रहो मुख्यप्राणस्यापि तथापि वेदान्तीयपरमात्मप्रवाहेतु प्राणादिपदेन परमात्मैवोद्यमानो भवति। नतु कदाचिदपि मुख्यः प्राणो जीवोवेति संक्षेपः ॥३२॥

इतिप्राणानुगमाधिकरणम् ॥१०॥

इतिश्रीमद्रामानन्दाचार्यान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दाचार्यद्वारकजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्योपाधिविभूषितब्रह्मवित्स्वामिश्रीरघुवराचार्यवेदान्तकेसरिप्रधानसच्छिष्यप्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकारजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यप्रधानपीठशङ्कुधारास्थानन्दभाष्यकारजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यपीठाधिपतिजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य–रामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतौश्री रघुवरीयवृत्तिविवरणेप्रथमाध्यायस्यप्रथमः पादः।

प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकाराय नमो नमः

हैं, उन धर्मों का योग सम्बन्ध से अर्थात् तद्वाच्यत्वेन सम्बन्ध होने से परमात्मा सर्वावतारी श्रीराम ही प्राणपद वाच्य हैं यह सिद्ध होता है ॥३२॥

इति स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्यविरचितायां सारबोधिन्यां प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः।

श्रीसीतारामार्पणमस्तु

परैर्वेदान्तार्थे कलुषितपथम्प्रापयति यो
विशिष्टाद्वैताख्यं प्रथितमतमेतत्प्रकटयन्।
परपत्यग्भेदं श्रुतिशिरसि सिद्धं विशदयन्
यती रामानन्दः स हि सुगुणसिन्धुर्विजयते ॥

(जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरघुवराचार्याः)

॥ श्री रामचन्द्राय नमः ॥

॥ अथ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम्

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥१।२।१॥

छान्दोग्ये "सर्वं खल्विदं ब्रह्म अज्जलानिति शान्त उपासीत' इत्युपक्रम्य 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्पः [छा०

विवरणम्=इदमीयप्रथमपादे "जन्माद्यस्य यतः" इत्यधिकरणे स्थावरजंगमात्मकस्य समस्तस्यापि जगतश्चिदचिच्छरीरकः परमेश्वरसाकेताधिपतिरेव परमकारणमिति मतान्तरखण्डन पूर्वकं प्रतिपादितम् । तस्य निखिलभूतभौनिकजगत्कारणस्य परमपुरुषस्य सर्वव्यापकत्वनित्यत्व हेयप्रत्यनीकाप्राकृतिकानन्तकल्याणगुणाः अपि प्रतिपादिता एव । जीवमुख्यप्राणादिषु प्रसिद्धानां शब्दानां परमात्मपरकत्वं प्रतिपादयन् स्पष्टपरमात्मलि-

सारबोधिनी—जोअधिकारी स्वाध्यायाध्ययन प्रतिपादित नियम के अनुसार वेद का अध्ययन करने के बाद, कर्मकाण्ड का श्रवण कर कर्म का यथावत् ज्ञान संपादन करके, केवल कर्म का जो स्वर्गादि फल है, वह अनित्य है। आवागमनादि दोष रहित नहीं है। तथा वेदान्त श्रवण नित्य निरतिशय मोक्षात्मक फल का जनक है। ऐसा समझ करके जिसको ब्रह्म विषयक जिज्ञासा होने से मोक्ष के लिए प्रवृत्त मुमुक्षु निवृत्त एषणात्रय व्यक्ति को स्वाभिलषित मोक्षात्मक फल की सिद्धि के लिए शास्त्र प्रमाणक निखिल जगत् का जन्मादि कारण हेय प्रत्यनीक अनन्त कल्याणगुणक परब्रह्म में सर्व श्रुति का समन्वय है ऐसा प्रथमपाद में समर्थन किया गया है और कोइ कोई वाक्य जो कि अर्थान्तर में प्रसिद्ध है वह भी परमात्मा का ही बोधक है यह भी प्रथमपाद में समर्थन किया है। इसके बाद जो अस्पष्ट जीव लिङ्गक है अथवा जो स्पष्ट जीवलिङ्गक वाक्य हैं वे भी ब्रह्म बोधक ही

३।१४।२।] इति श्रूयते । अत्र मनोमयत्वादिधर्मविशिष्टो जीव उपास्यतयाभिधीयत आहोस्विद् ब्रह्मेति संशयः । तत्र प्राणादेरुपकरणदर्शनात्तद्वतो जीवस्यैवोपास्यत्वश्रुतिरिति पूर्वः पक्षः । अत्राभिधीयते

—सवत्रेति । कृत्स्नाम्नायान्तवाक्येषु परमात्मधर्म्माणां मनोमयत्वादीनां प्रसिद्धानामेवोपदेशात् "मनोमयः प्राणशरीरनेता" [मु० २।२।७।] "प्राणस्य प्राणः' [के. १।२।] इत्यनेकश्रुतिषु मनोमयत्वादिधर्माणां परमात्मन्येव प्रसिद्धतयोपदिष्टत्वात् ॥१॥

ज्ञानां सन्दिह्यमानवाक्यानामपि परमात्मपरकत्वं निर्णीतवान् । यानि पुनरस्पष्टपरमात्मबोधकवाक्यानि तानि परमात्मप्रतिपादकानि तदन्यपराणि वेति सन्देहे तेषामपि परमात्मबोधकत्वमेवेति निर्णेतुं द्वितीयतृतीयपादयोरारंभः– "सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशा" दिति

छान्दोग्ये छान्दोग्यश्रुतौ, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" इदं परिदृश्यमानं भूतभौतिकं जगत् सर्वमेव ब्रह्म

हैं इस बात का निर्णय करने के लिए अब द्वितीय तथा तृतीय पाद का आरंभ करने के लिए सूत्र का अवतरण करते हुए वृत्तिकार कहते हैं "छान्दोग्ये" इत्यादि । छान्दोग्य श्रुति में "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानितिशान्त उपासीत [सब यह परिदृश्यमान जड़ चेतनात्मक पदार्थ ब्रह्म समानाधिकरण है । क्योंकि यह सब पदार्थ ब्रह्म से ही सर्गादि काल में समुत्पन्न होता है और स्थिति काल में उसी ब्रह्ममें स्थिर रहता है । तथा प्रतिसर्ग काल में उसी परमात्मा में प्रलीयमान हो जाता है अतः शमदम उपरतितितीक्षादि उपासक गुणों से युक्त होकर के निखिल जगत् का अभिन्न निमित्तोपादन कारण परमात्मा का सर्वभाव से उपासन करना चाहिए ।]इस प्रकार से उपक्रम करके तदनन्तर उसी छान्दोग्य प्रकरण में कहा है कि "मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्य संकल्पः"[जो उपास्य रूप से उपदिश्यमान परमात्मा है वह मनोमय हैं । तथा प्राण शरीर है प्राण जो पंचवृत्त्यात्मक मुख्य प्राण है

अर्थात् तत्तादात्म्यापन्नमेव यतस्तज्जलान् यस्मादिदं जगत् ततः परमात्मनः सकाशादेव सर्गसमये जायते समुत्पद्यते तथा स्थिति समये तस्मिन् परमात्मन्येव स्थितं सत् अनेति प्राणापानादिचेष्टा संपादयन्नवतिष्ठते, ततः परं प्रतिसर्गसमये पुनस्तत्रैव परमात्म नि लीयमानमपि भवति यथा पार्थिवः पदार्थः पृथिवीत एव जायते पृथिव्यामेव वावस्थितः तत्रैवोपसंह्रियमाणा भवति । अतो यतः सर्वोऽपि परमात्मनो जायते तत्रैवावस्थीयते विलीयमानोऽपि तत्रैव भवतीत्येतावता यत् किमपि तत्सर्वं परमात्मस्वरूपमेव. न ततोऽतिरिक्तं स्वतन्त्रसत्ताकम्, अतोदेहगेहदावास्थां विहाय निवृत्तैषणत्रय उपासको भगवन्तमेवोपासितुं शमादियुक्तो भवेत्. संप्राप्य च शमादिकं तमेव परमात्मानं सर्वभावेन भजेदित्यर्थः । तदाहुराचार्याः "यस्मात्सर्वमिदं ब्रह्मात्मकमेव तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदनत्वाच्चेति प्रसिद्धोपदेश उपलभ्यते । यतो वेत्यादिश्रुतय उपदिशन्ति परस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम्" (आनन्दभाष्यम् १।२।१) "तस्माद्ब्रह्मणः

वही जिसका शरीर रूप है । तथा वह भारूप है । अर्थात् अति विलक्ष प्रकाश स्वरूप है । जिसके प्रकाश से सर्व प्रकाशक सूर्य चन्द्रमा प्रभृतिक तेजो धातु भी प्रकाशित होते हैं । और वह समुपास्य देव सत्य संकल्प है । सत्य है अर्थात् निराबाधित कालत्रयापरिच्छिन्न संकल्प है जिसका एतादृश सत्य संकल्प वाला है । इस प्रकार से छान्दोग्य श्रुति में एक वाक्य सुनने में आता है । अब यहाँ सन्देह होता है कि जो यह मनोमयत्व भारूपत्व सत्यसंकल्पादि धर्मविशिष्ट धर्मी श्रूयमाण है वह जीव है अथव परमात्मा है क्योंकि दोनों का प्रतिपादक लिङ्ग है मन तथा प्राणादिक का जो संचार होता है वह जीव व्यापार जनित है। और परमात्मा तो सर्व शरीरक होने से सबका निदान हैं । उभय का प्रतिपादक लिङ्ग को देखने से स्वभावत एव सन्देह उपस्थित होता है । जिस तरह उच्चैस्तरत्व ऊचापना धर्म स्थाणु तथा पुरुष

सकाशाज्जगज्जायते सृष्टिकाले इति तज्जम् पुनश्च प्रलयकाले सृष्टिव्यतिक्रमेण तस्मिनेव ब्रह्मणि सर्वं जगल्लीयत इति तल्लम्। स्थितिकाले तस्मिन्नेव ब्रह्मणि अनिति अनप्राणने चेष्टते जीवतीति तदनं तज्ज ञ्चतल्लञ्चतदनञ्चेति तज्जलान्" (छा० आनन्दभाष्यम् ३।१४।१) इत्यादि रूपेण। इत्युपक्रम्येत्येवंरूपेण उपक्रमं कृत्वा "मनोमयः प्राणशरीरोभारूपः सत्यसंकल्पः" [मनोमयत्वधर्मविशिष्टः प्राणशरीरः प्राणः पंचवृत्यात्मको मुख्यप्राणः शरीरं यस्य शरीरस्थित नियामकं स प्राणशरीरः तथा सत्योऽवाधितः संकल्पो विद्यते यस्य स सत्यसंकल्पः इति=एवं रूपेण छान्दोग्योपनिषदः प्रकरणे श्रुतं भवति। अत्रास्मिन् मंत्रे श्रूयमाणमनोमयत्वादि धर्मविशिष्टः क इति संशयो जायते किमत्र मनोमयादिपदेन जीवात्मनो ग्रहणं भवति. अथवा सर्वशरीरकस्य परमात्मनो ग्रहणं यतः समानधर्मदर्शनेनेह संशयो जायते. यथोच्चैस्तरत्वं स्थाणुपुरुषोभयसाधारणं पश्यन् संदिग्धे किमयं स्थाणुः पुरुषोवेति तथैव प्रकृते जीवपरेशोभयसाधारणमनोमयत्वादिकं धर्मं दृष्ट्वा भवति संशयो यदत्र जीवस्य ग्रहणमुपास्यतया. चिदचिच्छरीरकस्य

उभय साधारण होने से ऊच्चैस्तरत्व धर्मको देख करके यह स्थाणु है अथवा पुरुष। इस प्रकार का संदेह स्वभावत एव लोगों को होता है। इसी प्रकार प्रकृत में मनोमयात्वादि धर्म को देख करके संदेह होता है कि जीव का ग्रहण उपास्य रूप से हैं अथवा परमात्मा उपासनीय है। तो इस स्थिति में जव दोनों का उपस्थापक लिङ्ग है तब किसका ग्रहण करना युक्त है इसमें पूर्व पक्षावादि कहता है कि जीव का ही मनोमयात्वादि धर्मविशिष्ट रूप से उपासना करनी चाहिए। क्योंकि प्राणमन ये सब जीवात्मा का उपकरण है। जब जीव सुखादि का उपभोग करता है उस समय में शरीर,मन, प्राण ये सब जीव के सहायक होते हैं। अर्थात् प्राणादिक उपकरण का साहाय्य लेकर के ही जीव तत्तद्योनियों में सुखादिक का उपभोग करता है। अन्यथा तादृश

सर्वप्रशासकस्य परमात्मनोवेति । "तत्र प्राणादेरुपकरणदर्शना त्तद्वतो जीवस्योपास्यत्व मिति वृत्तिः । मनः प्राणौ च समादाय जीवोऽस्मिन् देहे सर्वकार्यं करोति. तथा ताभ्यां समन्वित एवैहिकपारलौकिक शरीरयात्रां निर्वाहयति–इति मनः प्राणौ जीव-स्यैव सहायकौ ततस्तादृश सहायक–संवलितस्य जीवस्यैव मनो मयत्वादि पदेनोपास्यतया ग्रहणं कर्त्तव्यम् । यद्यपि मादृश जीवेषूपास्यता नास्ति प्रत्ययादिवाधात्–लोकव्यवहारादर्शनाच्च, नहि देवदत्तो यज्ञदत्तं विशिष्टफलप्राप्तीच्छयोपास्ते, तत्कथमत्र जीवस्य शङ्कापि संभवेत्. तथापि मादृशजीवापेक्षया विलक्षणप्रामाणिमादिविशि-ष्टस्य जीवविशेषस्य देवतापदवाच्यस्य लोके उपास्यता दृश्यते एव । तस्माज्जीव एवात्रोपास्यतयोपदिश्यते नतु परमात्मा भव-न्नपि गुणकर्मभ्यां सर्वातिशायी, कुतः ? प्रकृते कथितगुणयो-गस्य परात्मन्यसंभवात् । नहि मनः प्राणादि सहायमपेक्ष्य भग-वान् किमपि करोति "अस्थूल मनणु अह्रस्वमदीर्घम्" "अप्राणोह्य-मनाशुभ्रः" इत्यादि श्रुतिद्वारा मनोमयत्वादीनां धर्माणां परात्मनि प्रतिषेधदर्शनात् । युक्तिरपि श्रुतिं सहकरोति, नहि समस्त

उपभोग, नहीं कर सकता है । इसलिए प्राणादि उपकरणवान् जीव ही उपा स्य है । किन्तु परमात्मा मनोमयत्वादि धर्मविशिष्ट होकर के भी उपासनीय नहीं है । क्योंकि परमात्मा में तो यह सब मनोमयत्वादिक धर्म नहीं रहता है श्रुति स्वयं कहती है, अप्राणोऽह्यमना शुभ्रः" अवाङ् मनसगोचरम्" अस्थू-लमनणु"अवागमनाः" वह परमात्मा प्राणरहित है । तथा मन से रहित है । वा णी मन का विषय नहीं होता है । स्थूलादि तथा अणुत्वादि धर्मरहित वाणी मन से रहित हैं । तथा अन्यत्र श्रुति में कहा है "अपाणि पादौ जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः सश्रृणोत्यकर्णः" वह कर्मेन्द्रियादिकोंसे हीन है । तथा उसमें ज्ञान करण, चक्षुरादिक नहीं है । एवं"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते

चराचराधिपतिः केवलमयोध्याधिपतिरेव भवति. आयोध्याया अपि चराचरात्मन्येवान्तर्भावात्. नहि वृक्षाग्ररूढोऽलङ्करोति शाद्वलम् । अतोऽत्र मनोमयत्वादिधर्मविशिष्टतया जीव एवोपासनार्थं परिगृहीतव्यो नतु सर्वकारणं भवन्नपि परमात्मेति पूर्वपक्षाशयः। एतादृशपूर्वपक्षमपनेतुं सूत्रपदमनुसरन् वृत्तिकारः प्राह 'अत्राभिधीयते सर्वत्रेतीति' । सर्वत्र सम्पूर्णवेदान्तवाक्येषु परमात्मनः समस्तजगत्कारणस्यैव प्रसिद्धतारूपेणोपदेशदर्शनादत्रापि तादृश परमात्मन एवोपदेशो नतु संकुचितज्ञानवतो मनो प्राणाभ्यां स्वकीयवृत्तिं परिदधानस्य जीवस्योपास्यतयोपदेश इति मुकुलितसूत्रार्थः। प्रस्फुटितसूत्रार्थमनुवदन् वृत्तिकारः पूर्वपक्षं निराकरोति समर्थयति च स्वसिद्धान्तम्. "कृत्स्नस्ये" त्यादि । कृत्स्नः सम्पूर्ण आम्नायो वेदस्तदन्तर्गतवाक्येषु तत्वमसि—सत्यज्ञानादिषु परमात्मधर्माणामेवं विधमनोमयत्वादीनां प्रसिद्धतरप्राणानाञ्च समु-

इत्यादि अनेक श्रुतियों से सिद्ध है कि परमेश्वर में शरीरेन्द्रियादि का अभाव है और यह युक्त भी है। क्योंकि परमेश्वर में भी यदि शरीरकरण प्राण मनादि हो तब जीव से क्या विशेषता होगी परमेश्वर में इसलिए प्राण मनका अभाव होने से मनोमयत्वादि धर्मवत्त्व रूप से परमेश्वर में उपास्यता नहीं है। किन्तु प्राणादी उपकरणवान् जीवात्मा ही उपास्य है। यद्यपि अस्मदादि जीवों में उपास्यता प्रत्यक्षबाधित है। तथापि विशिष्टज्ञानक्रियादि शक्तिमान् हिरण्यगर्भादिक में तो उपास्याता प्रसिद्ध है। अथवा अभी भी बहुत महात्मा लोग साधारण मनुष्य से पूजित होते हैं स्वकीयविशिष्ट बुद्धिबल समन्वित होकर के इसलिए यह प्रकरण जीव को उपास्यतापरक है परमात्मा परक नहीं। यह पूर्व पक्षियों का अभिप्राय है।

इस पूर्व पक्षका निराकण करने के लिए कहते हैं—"अत्राभिधीयते—सर्वत्र "एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं कि इस प्रकरण

पदेशदर्शनात् । कानि तानि व्याक्यानि यानि परमात्मधर्म प्रतिपादकानीति जिज्ञासायां तान्येव वाक्यानि समुदाहरति "मनोमयः प्राण शरीर नेता" इत्यादि । यः परमात्मा मनोमयत्व गुणविशिष्टः प्राणशरीरयो र्नेता नायकः—अर्थात् प्राणशरीरादिसकलजगतां संचालकः तथा "प्राणस्य प्राणः" शरीरादिनां संचालको नायकश्च प्रसिद्धस्तादृश प्रभावकस्य प्राणस्यापि परमात्मा प्राणः संचालकः समुपेत्य क्रिया शक्तिं परमखिलकार्यजातं संचालयति "यः करणं करणाधिपाधिपः" इत्यादि श्रुतेः—जगद्धेतुः परब्रह्म श्रीराम सकलेश्वरः । दिव्यदेहगुणः पूर्णः....॥ रामाज्जातः स्वयंभूश्च सर्जको जगतस्तथा । शङ्करोऽखिलसंहर्ता विष्णुश्च विश्वपालकः ॥ ब्रह्माद्यन्तः स्थितो भूत्वा सृष्टिं करोति राघवः । संहरते शिवादिस्थो विष्णुरूपेण रक्षति अचेतनमिदं सर्वशरीरं चेतनस्य हि । शरीरं नेङ्गते किञ्चित्कदापिचेतनं विना । अणुजीवं प्रविश्येशः सर्वतनुप्रवर्त्तकः" इत्यादिरू-

में मनोमयत्वादि गुणवान् परमेश्वर का ही ग्रहण होता है । क्योंकि सर्वत्र प्रसिद्धोपदेश होने से अर्थात् सर्व वेदान्त वाक्यों में तादृश परमेश्वर के जगत् कारणता में प्रसिद्धमनोमयत्वादिक धर्मों का कथन किया गया है । "मनोमयः प्राणशरीर नेता न चक्षुषा गृह्यते" "मनसातु विशुद्धेन" इत्यादि अनेक श्रुतियों में मनोमयत्वादि धर्मों के द्वारा प्रसिद्ध उस परमात्मा का ही उपदेश किया है । परमात्मा में मनोमयत्व है इसका अर्थ है कि वह परमात्मा विशुद्ध मनसे ग्राह्य है । अशुद्धान्तः करण से गृहीत नहीं होता है । एवं प्राण शरीर का नेता है परमात्मा इसका अर्थ यह है कि परमात्मा प्राण शरीर है अर्थात् प्राण का आधार है । प्राणादि करण का नियमन करनेवाला है बृहदारण्यक के अन्तर्यामी प्रकरण में कहा है कि समस्त चिदचित् शरीरक परमात्मा हैं। इसलिए मनोमयत्वादि गुणविशिष्ट परमात्मा ही प्रकरण प्रतिपाद्य है जीव नहीं इसी का अनुवाद करते हैं "कृत्स्नाम्नायेत्यादि" समस्त वेदान्त वाक्यों

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ।१।२।२।

परमात्मनोऽसाधारणधर्मतया विवक्षितानां गुणानां तस्मिन्नेवोपपत्तेरत्र परमात्मैव मनोमयत्वादिधर्मकः ॥२॥

पेणश्रौतप्रमेयचन्द्रिकायां जगद्गुरुश्रीश्रियानन्दाचार्योक्तेश्च । इत्यादि विविधश्रुतिप्रबन्धेषु मनोमयत्वादिधर्माणां निखिलजगत्कारणे परमात्मन्येवेति प्रसिद्धतया समुपदेशो दृश्यते । तस्मात् परमात्मैव प्रकृतश्रुतावुपास्यतया परिगृह्यते. नतु संकुचितज्ञानादिमान् जीवः । यदप्युक्तं देवादिजीवविशेषेसमुपास्यत्व दर्शनाज्जीवस्यैव ग्रहणमिति तदपि परमात्मन एव प्राप्यतां दर्शयति यतः परमेश्वरकृपयैव तेषामल्पबुद्धिभिरुपास्यतेति यस्तु सर्वव्यापकस्तस्यैकदेशवृत्तित्वं तु कैमुतिकन्यायेनैव प्रसिद्धमितिदिक् ॥१॥

विवरणम्—पूर्वसूत्रे मनोमयत्वादिका ये गुणाः "मनोमयः प्राण शरोरोभारूपः" इत्यादिका गुणा विवृता स्तेषां परमात्मनि समन्वयस्तत्प्रतिरूपे जीवेवा समन्वय इत्येवं रूपेण संशय्य प्रक्रान्तमनोमयत्वादिगुणानां महाशक्तिविशिष्टे परमात्मन्येव समन्वयो न जीवेऽपीति समाहितं कुतः? तादृशगुणानां परमेश्वरासाधारण्येन प्रसिद्धवदुपदेशात् । नतु एतावन्मात्रं किन्तु तत्सहचरितानां सत्यसंकल्पादिकानामपि परमेश्वरासाधारण्येन विवक्षितानां समुपादानमपि तदैव भविष्यतीति समवधार्य विवक्षितगुणान्तरान् परमात्मन्येव समन्वीयमानान् दर्शयितुं सूत्रोपन्यासमुखेन प्राह 'परमात्मनोऽसाधा

में प्रसिद्ध मनोमयत्वादिक परमात्म गुण रूप से प्रतिपादित है "मनोमयः प्राणः" इत्यादि अनेक श्रुतियों में मनोमयत्वादि धर्म का परमेश्वर में प्रसिद्ध रूप से उपदेश किया गया हैं अतः परमेश्वर प्रकरण प्रतिपाद्य है जीव नहीं १।२।१

सारबोधिनी—पूर्व सूत्र में कहा गया कि प्रसिद्धवत्. मनोमयत्वादिक धर्मों का परमात्मा में उपदेश सुनने में आता है इसलिए मनोमयत्वादि गुणवाला

रणधर्मतये" त्यादि । परमात्मनः परमपुरुषस्य साकेताधिपतेर-साधारणतया तदितरावृत्तितया ये विवक्षिताः प्रतिपादिता गुणाः सत्य सङ्कल्पादिकाः सर्वाधारकत्वादिका-एतेषामनेकेषां गुणानां तस्मिन् परमात्मनि परमपुरुषे एवोपपत्तेः एतादृशपरमात्मैव मनोमयत्वादि गुणकोऽत्र प्रतीपत्तव्यो नतु जीवो यतः परमेश्वरसाधारणगुणानां जावे समावेशासंभवादिति वृत्तेरक्षरार्थः । सूत्रार्थस्तु विवक्षिताः परमात्म धर्मतयाः प्रतिपादिता येऽसाधारणाः सत्यसङ्कल्पसर्वधारकास्तेषामु-पपत्तिः परमात्मनि गृह्यमाणे एव भवति नान्यथेति । अयंभावः "मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्य सङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्व रसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः" इति छान्दोग्ये दृश्यते । तथाहि परमात्मा मनोमयः, अर्थात् भगवदुपासनया निर्मलीकृतमनसा गृहीतुं योग्यः एषोऽणुरात्मा चेतसावेदितव्यः "दृश्यतेत्वग्रयाबुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" इत्यादि श्रुतेः । परमात्म-नो मनोऽग्राह्यताप्रतिपादकश्रुतिस्तु असंस्कृत- मनो विषया नतु संप्राप्तभग-वदाराधनाजनिततत्प्रसादप्राप्तमनोविषया तथा सप्राणशरीरः सर्वप्राणानां धारकः "यस्य प्राणः शरीरम्" इत्यन्तर्यामि श्रुतेः । तथा भारूपः विलक्षण लोकोत्तरप्रकाशयुक्तः । "तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिद-मिति" "येन तेज सेद्धः" इत्यादिश्रुतेश्च । सत्यसङ्कल्प अप्रतिहत

परमात्मा ही है "मनोमयः प्राणशरीर" इत्यादिश्रुति में, तो एतावत् कथन मात्र से परमात्मा में मनोमयत्वादिक गुणों की सिद्धि होती है ऐसा नहीं किन्तु परमात्मा में विवक्षित गुणों की उपपत्ति तब ही हो सकती है जबकि परमात्मा को मनोमय मान लेवे । इस बात को बतलाने के लिए सूत्रोपन्यास पूर्वक प्रकम करते हैं-"परमात्मनः" इत्यादि । परम पुरुष श्रीसाकेताधिपति का असाधारण धर्मरूप से विवक्षित शास्त्र में प्रतिपादित जो सत्य संकल्पादिक गुण समुदाय हैं उन गुण समुदायों की उपपत्ति अर्थात्

सङ्कल्पः, यदेव यदा सङ्कल्पयति तदेव तदा भवति नतु तत्र व्यति क्रमो जायते । आकाशात्मा यतोऽयमाकाशात्मा तत् आकाशादप्यति सूक्ष्मः । आकाशस्य सूक्ष्मत्वं लोके प्रसिद्धमयंतु ततोऽपि सूक्ष्मतरः "अणोरणीयानिति श्रुतेः । सर्व कर्मा" सर्वं जड़चेतनात्मकं जगत् कर्म कार्यं यस्य तादृशः, एतावता जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादान लक्षणः "प्रकृतिश्चे" त्यादिसूत्रानुमोदनात् मृत्तिकावदुपादानं कुलालवत् कर्त्तापि ततश्चसर्वजगत्कर्तृत्वं परमेश्वरे फलतीति । सर्व कामः, काम्यमाना भवन्ति ते कामाः भोग्यभोगोपकरणदेहेन्द्रियादिका बाह्या अभ्यन्तराश्च. ते सन्ति लोकविलक्षणा यस्य स सर्व कामः । 'सर्वगन्धो' लोकोत्तरदिव्यगंधानुवासितः । 'सर्वरसः' सर्वरसानां साररूपः । अथवा लोकोत्तररसवान् ननु यदि भगवान् पूर्वप्रदर्शितरसादियुक्तस्तत्स्वरूपोवा भवेत् तदा "अशब्दमस्पर्शमरूपम्" "अस्थूलमनणु" इत्यादिरूपरसादिनिषेधकश्रुतीनां का गतिरिति चेन्न । तासां लौकिकरसादीनां निषेधमात्रे तात्पर्यात्. नतु विलक्षणाप्राकृतिकरसादीनां निषेधे तात्पर्यम् । अन्यथा रसादिप्रतिपादकश्रुतीनां सर्वथैवनिरालम्बताप्रसंगात् । "सर्वमिदमभ्यात्तः" रसादिपर्यन्तं यत्प्रतिपादितमलौकिकगुणजातं तत्सर्वमपि स्वीकृतवानित्यर्थः, अवाकी वाक् उक्तिः

समन्वय परमात्मा परम पुरुष में हो हो सकता है, इसलिए "मनोमयः प्राण शरीरः" इत्यादि प्रकरण में मनोमय पद से परमात्मा का ही ग्रहण होता है नतु जीव का । यद्यपि प्राण तथा मन ये सब संसार यात्रा निर्वाह करने के लिए जीव का उपकरण है । तब तो तादृशोपकरणवान् जीव का ही ग्रहण होना चाहिए नतु परमात्मा का । और श्रुति भी परमात्मा में प्राण मन आदि का निराकरण करती है—"अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः" इत्यादिक स्थल में तथापि सत्य संङ्कल्पत्व भारूपत्व सर्वाधारत्वादिक असाधारण धर्मों का सम्बन्ध तो जीव में हो नहीं सकता है, अतः सत्य संकल्पादि असाधारण धर्मों के

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ।१।२।३।

मनोमयत्वप्राणशरीरत्वसत्यसङ्कल्पत्वादिगुणानां प्रत्यगात्मन्यसम्भ-वादत्र वाक्ये शारीरस्य ग्रहणं नोपपद्यते ॥३॥

सोऽस्य नास्तीत्यवाकी । अनादरः सर्वत्रादररहितः संप्राप्तसकलैश्वर्य-वत्वेन प्राप्तव्याभावात् सर्वत्रानादरयुक्तः, इत्यर्थः । तदेवं प्रतिपादिताः पूर्वोक्ताः सर्वेपि गुणाः परमात्मन्येवसन्ति नतु तदन्यत्र वा संभविष्यन्ति । तथा चैतादृशविवक्षितगुणानां परमात्मन्येव संभवान्मनोमयत्वादि-गुणयुक्तः परमात्मैव नतु जीवो यतस्तादृशगुणानां जीवेऽसंभवादिति सूत्रसमुदितार्थः ॥२॥

विवरणम्—ननु यथा सत्यसङ्कल्पत्वसर्वाधारत्वादिकागुणाः परमात्मप्रकरणे प्रतिपादितास्ते पूर्वोक्ता गुणाः परमात्मनि समुपप-द्यन्ते तथैव ते सर्वेऽपि गुणाः शारीरे जीवेऽपि समुपपत्स्यन्ते यत-"स्तत्वमसि" इत्याद्यनेकश्रुत्या शारीरस्य ब्रह्मणाऽभेदप्रविपादनात्. शेष शेषिणोरभेदस्य सर्वसंमतत्वात्. कथमन्यथा घटमृत्तिकयोः कार्यकारण भावः स्यात्. नहि सर्वथा भिन्नयोर्घटपटयोः कार्यकारणभावः शेषशे-षीभावो वा भवति. ततश्च जीवब्रह्मणोः शेषशेषीभावेन व्यवस्थितयोः ब्रह्मगुणानां जीवेऽपि संभवः स्यात्, यथा जीवगुणामनोमयत्वादयः

अनुकूलता के कारण मनोमय शब्द से परमात्मा का ही प्रतिपादन होता है इस प्रकरण में नतु प्राणादि उपकरणवान् जीव का ॥२॥

सारबोधिनी—जिस प्रकार सत्य संकल्पादिक विलक्षणत्व परमात्मा में उपपन्न होता है उसी तरह से शारीरक जीव में भी समुपपन्न हो सकता है क्योंकि परमात्मा सर्वशेषी है और जीव शेष है तो इन दोनो में लोक प्रसिद्धि तथा श्रुतियों से अभेद है ऐसा सिद्ध होता है। अतः परमात्मगत परमात्मगुण, परमात्मक जीव में भी समुपपन्न हो सकता है । जैसे स्व-भावतः मनोमयत्व शारीरक का गुण है तो वह परमात्मा में जाता है । तब

परमात्मनि भवन्तीति, इमां शंकामपनुदन्. आह सूत्रकारः "अनुपपत्तेस्तु नशारीरः" इति सूत्रव्याख्यां करोति मनोमयत्वादित्यादि। मनोमयत्वादिकासत्य संकल्पत्वादिसहचरिता उपासना—प्रकरणपरिपठिता ये गुणाः परमात्मन्येवासाधारण—रूपेण व्यवस्थितास्तेषां शारीरे जीवे सम्भवो न, कुतः ? अनुपपत्तेः सम्बन्धस्य तादृशासाधारणगुणस्य संकुचित ज्ञानाधिकरणे, प्रत्यक्षानुमानशब्दप्रमाणै बाधितत्वात्। नहि एको-जीवो जीवान्तरं परमात्मदृष्टचोपास्ते वैलक्षण्याभावात्। तस्मादत्र वाक्ये शारीरस्य ग्रहणं न भवति किन्तु परमात्मन इति श्रुतेरक्षरार्थः। अयंभावः-अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वस्तुनो निर्णयोभवतीति नियमात्सूत्रेण परमात्मनि समन्वयं प्रतिपादितवान् विवक्षितगुणानां सत्य सङ्कल्पत्वादीनाम्-अनेन तु सूत्रेण तादृशसत्यसङ्कल्पत्वादीनां गुणानां व्यतिरेकं दर्शयितुमनुपपत्तिं शारीरे प्रतिपादयति, सूत्रघटकः "तु" शब्दस्ततश्च पूर्वपक्षं व्यावर्तयति। सकलजगदुपादाननिमित्तका-

तो विवक्षित गुण समुदायों का सम्बन्ध जीव में भी घटित होता है। तो आप जीव का उपास्यरूप से ग्रहण क्यों नहीं करते हैं ! एतादृश शंका का निराकरण करने के लिए सूत्र का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि "मनोमयत्व प्राणशरीरत्वेत्यादि मनोमयत्व प्राण शरीरत्व सत्य संकल्पत्व सर्वाधारत्वादिक जो परमात्मा का स्वाभाविक दिव्य गुण समुदाय है उसका समन्वय शारीर अर्थात् जीव में असंभवित है इसलिए उपासना प्रतिपादक प्रकृत श्रुति वाक्य में शारीर जो जीव तादृश जीव का ग्रहण नहीं हो सकता है। यद्यपि शेषशेषी में अभेद होता है। तथापि वह अभेद आत्यन्तिक अभेद नहीं है। किन्तु भेद सहिष्णु अभेद होता है। आत्यंतिक अभेद में तो कार्यकारणभाव की व्यवस्था ही उड़ जायगी। क्या तन्तु पट में यदि आत्यंतिक अभेद मानेंगे तो कार्यकारणभाव हो सकता है ? किन्तु तन्तुत्व का पटत्वधर्म से भेद रहता है और द्रव्यत्वेन अभेद है। तब ही कार्यकारण

रणलक्षणः परमात्मैव मनोमयत्वादिगुणविशिष्टो भवति नतु संकुचितज्ञानस्वभावकः शारीरोजीवो, यतः सत्यसङ्कल्पः, आकाशात्मा, अवाकी, अनादरः, इत्यादि परमात्मबोधक-वाक्य-समुदायानां स्वभावतः परमात्मन्येव-समन्वयात् । नहि प्रदर्शिता ये गुणाः स्वभावतोजीवे वृत्तिमासादयन्ति । यद्यपि "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" इति स्मृत्या परमेश्वरस्यापि शरीरेऽवस्थानं श्रूयते तथापि सर्वशरीरे भवति परमेश्वरो नतु शरीरमात्रे, भवन्नपि तदन्यत्रव्यापकत्वात्सर्वत्रैव भवति, शारीरस्तु शरीरमात्रे यतः शरीरस्य जीवानां भोगाधिष्ठानात्. शरीरं परित्यज्यान्यत्र जीवस्यावस्थानासंभवात्, यतोहि शरीरमात्रेऽवस्थानात्. शारीर इति कथ्यते । परमात्मातु नैवं तस्य जड़चेतनशरीरकत्वेनावस्थानात् । अतस्तत्कथं परमात्मनोऽसाधारणधर्मा जीवे समवेता भवेयुः ? तस्मादत्र प्रकरणे मनोमयत्वादिसर्वाधारकत्व-सत्यसङ्कल्पकत्वादिदिव्यगुणगणकः परपुरुषः परमात्मैवोपास्य-

भाव होता है । इसी प्रकार यहाँ चेतनत्वेन जीव ब्रह्म में अभेद है । क्योंकि जगद्गुरु श्रीअनुभवानन्दाचार्य जीने—तत्र चित्पदवाच्यो जीवः सचाणु चेतनः, ईश्वरस्तु विभुचेतनः, इत्यादि रूपसे चेतनत्वेन दोनों का समान बताया तथा अणुत्वेनविभुत्वेनभिन्न बताया है और अनित्य—गुणवत्व हेय प्रत्यनीक लोकोत्तर कल्याण गुणकत्व रूप भेद से भेद है । इसलिए परमात्मा से यतिकञ्चिद्रुपेण अभिन्न होने पर भी जीव में परमात्मा का असाधारण गुण सत्य संकल्पत्वादिक समवेत नहीं हो सकता है । अतएव "जगद्व्यापार वर्जम्" इस सूत्र में सूत्रकार तथा भाष्यकार ने भी कहा है यद्यपि बहुत हदतक जीव परमेश्वर में समानाता आजाती ही है तथापि जगदुत्पत्ति कर्तृत्वादिक जो परमेश्वर का असाधारण गुण है वह जीव में नहीं आता है अत एव प्रकृत सूत्र व्याख्यानमें जगद्गुरु श्रीपुरुषोत्तमाचार्य जी बोधायनने "जगद्व्यापारवर्जं सामानो ज्योतिसा "बो०वृ."ऐसा लिखा है । अतः इस प्रकरण में परमात्मा

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ।१।२।४।

पूर्वसूत्रा 'न्न शारीर' इत्यनुषज्यते । तथा च 'एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मि' [छा० ३।१४।४।] इत्येतच्छ्रौतवाक्येनोपास्यत्वेन परमात्मानमेतमिति कर्मतयोपासकत्वेन जीवमभिसम्भवितास्मीति कर्तृतया व्यपदेशादत्र मनोमयत्वादिधर्मकः परमात्मैव ।४।।

तयोपासनीयो नतु चेतनावत्वेन समानतां भजतोऽपि जीवोऽत्र प्रकरणे उपास्यतया परिगृहीतव्यो विवक्षित गुणानां सम्बन्धानुपपत्तेरित्यधिक प्रपञ्चेनालम् ।।३।।

विवरणम्- पूर्वपूर्वतरसूत्रेण परमेश्वरे ये ये विवक्षिताः सत्यसङ्कल्पत्वादिका गुणाः शास्त्रे प्रतिपादितास्तेषामुपपत्तिः स्वभावतः परमेश्वरे एव भवति. शारीरेतु तेषामनुपपत्तिरिति तस्मान्मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैव संभवति नतु शारीरो जीवः अन्यगुणानामन्यत्रसमवायाभावात् । इदानींतु तादृशपारमेश्वरगुणानां जीवे समावेशो न भवतीति तत्र कारणान्तरमपि दर्शयितुं सूत्रमनुसरन्नाह "पूर्वसूत्रादित्यादि शारीरो हि जीवः यश्च शरीरसंपादितसुकृतकर्मफलयो

का जो असाधारण गुण है उन गुणों का सम्बन्ध जीव में नहीं होने से उपास्यता रूपसे जीव का ग्रहण नहीं है । तद्रूपसे परम पुरुष परमात्मा का ही ग्रहण होता है १।२।३

सारबोधिनी— पूर्व सूत्रों में "मनोमयः प्राणशरीरोभारूपः" इत्यादि श्रुति वाक्य से मनोमयत्वादिक परमात्माही हैं । इस बात का उपपत्ति तथा अनुपपत्यादि युक्ति द्वारा परमात्मा का ही ग्रहण होता है किन्तु जीव का नहीं इस बात का निश्चय कर दिया गया है उसी विषय को स्थूणानिखनन न्याय से स्थिर करने के लिए तथा कर्तृ कर्मत्व हेतु से भी प्रतिष्ठित करने के लिए सूत्र का उत्थान करतेहुए कहते हैं "कर्म कर्तृ व्यपदेशाच्च" कर्म कर्तृका व्यपदेश होने से, इस हेतु से साध्यकी सिद्धि की जाती

भोक्ता स 'मनोमयः प्राणशरीरोभारूपः" इत्यादि वाक्येन ग्रहीतुं न शक्यः कुतः ? कर्मकर्तृव्यपदेशात् । एतदेव स्पष्टयितुं श्रुति मुदाहरति–तथा च "एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि" [एतं मनोमयत्वादिविशिष्टगुणकं परमात्मानम् इतः संसारात् प्रेत्य मृत्वा अभिसंभवितास्मि परमात्मानं प्राप्तास्मि, अर्थादुपासको जीव एवं मनसि चिन्तयति य दहं संसारसागरात् मृत्वा स्वकर्मवशात् संप्राप्तोपासकशरीरं परित्यज्य झटिति एव चिरविचारितं स्वोपास्यं परमात्मानं श्रीरामं प्राप्स्यामीत्यर्थः] अस्मिन् श्रौतवाक्ये उपासनायाः कर्मरूपेण प्राप्तिक्रियायाश्च कर्मरूपेण परमात्मैवावगतो भवति. तथा योयं जीवः संसारी निवृत्तैषणः स उपासनप्राप्तिक्रिययोः कर्तृतयाऽवभासमानो भवति. तथा चैकक्रियायामेक एव पुरुषः कर्तापि भवेत् कर्मापीत्येतद्वयं न सम्भवति. नहि भवति देवदत्तो देवदत्तं गच्छतीति कुतः ? परसमवेत क्रियाजन्यफलशाला हि कर्म भवति, यस्तादृशक्रियायां स्वतन्त्रः स कर्ता

है। परन्तु इस हेतु का अधिकरण कौन है ? जिसमें कि हेतु रहकर स्वकीय साध्य को सिद्ध करेगा । इस जिज्ञासा में कहते हैं, "पूर्व सूत्रादित्यादि" पूर्व सूत्र से अर्थात् "अनुपपत्तेस्तु न शारीरः"इस सूत्र से नशारीरः" इसका अनुवर्तन करना चाहिए। अनुवर्तन करने के बाद इस सूत्र का यह अर्थ होता है कि शारीर जीव विवक्षित सत्य संकल्पत्वादि गुण का अधिकरण नहीं हो सकता है क्योंकि कर्म कर्तृभाव का निर्देश होने से अर्थात् कर्तृ कर्मभाव भेदाधीन है। जिस क्रिया का जो कर्ता होता है वही पदार्थ उस क्रिया का कर्म नहीं होताहै। जैसे गमन क्रिया का कर्ता देवदत्त उस क्रिया का कर्म नहीं होता है। क्योंकि परसमवेत जो क्रिया तादृश क्रियाजन्य जो ग्रामादि समवेत फल उसका अधिकरण ग्राम ही होता है। यद्यपि ग्राम संयोग द्विष्ठ है तो जिस तरह अनुयोगिता सम्बन्ध से वह संयोग ग्राम में है। तथा प्रतियोगिता सम्बन्ध से देवदत्त में भी है। तथापि ग्राम में

भवति, इतरकारकाप्रयोज्यत्वे सति सकलकारकप्रयोजको यः स एव कर्त्तेति नियमात्। नहि य यस्यां क्रियायां कर्त्ता स एव तादृश क्रियायां कर्मत्वमन्यत्रादर्शनात्, तत्कस्य हेतोः ! कर्मकर्तृभावभेदस्य नियतत्वात्। यद्यपि "सर्पः स्वात्मना स्वात्मानं वेष्टयति" इत्यत्र वेष्टन क्रियायाः सर्प एव कर्त्ता कर्म करणञ्चापि भवन् दृश्यते. तथापि यद् वच्छिन्नस्य कर्तृत्वं न तदवच्छिन्नस्यैव करणत्वं कर्मत्वञ्चाऽपितु. अवच्छेदकभेदात्कर्मत्वं करणत्वं कर्तृत्वंचेत्यवच्छेदकभेदेन तत्र तथा व्यवहारो भवति. नतु सर्वत्र तथा व्यवहारो दृश्यते। तथाच कर्तृकर्मभावस्य भेदमूलकतया नैकस्यां क्रियायामेक एव कर्त्ता कर्म च सम्भवेदतः प्रकृते जीवोहि प्राप्ति क्रियायाः कर्त्ता प्रापकः प्राप्यश्च तादृशक्रियायाः परमेश्वरः कर्म इत्येवं शास्त्रार्थेऽवगते कथं जीवः कर्मस्यात् तस्मादत्रमनोमयत्वसत्यसङ्कल्पत्वादिगुणकतया परमात्मन एव ग्रहणं नतु शारीरस्य सन्सारिणो जीवस्य। किञ्च "एतमित प्रेत्य" इतिश्रुतौ

संयोगाश्रयत्व है वह परसमवेत क्रियाजन्य संयोगाश्रयी है। देवदत्त में परसमवेत क्रियाजन्य फलाश्रयता नहीं है। यह तथा किस क्रिया का कर्तृत्व कर्मत्व एक में नहीं होता है इस विषय को बतलाने के लिए वृत्तिकार प्रक्रम करते हैं श्रुति का उद्धरण देते हुए "एतमितः" इत्यादि। इस शरीर से जो कि शुभाशुभ कर्मफल का भोगाधिष्ठान है। उस शरीर से प्रेत्य—मरकरके—अर्थात् स्व शरीर भाव का मोह को छोड़ने के बाद जगदाधार जगज्जनक सर्वगुणालङ्कृत भगवान को मैं प्राप्त करनेवाला हूँ, यह जो श्रुति वाक्य है। उसमें उपास्यत्वेन अभिमत परमात्मा का कर्म रूप से प्रतिपादन है। और उपस्थित क्रिया का कर्त्ता तथा प्राप्ति क्रिया का कर्त्ता रूप से जीव का प्रतिपादन किया गया है। तो इन दोनों को परस्पर भेद है। वह जीव परमात्मा को प्राप्त करता है तो प्राप्य और प्रापक का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन होने के कारण से सिद्ध होता है कि "मनोमयः प्राण शरीरो भारूपः" इस श्रुति

शब्दविशेषात् ।१।२।५॥

अस्मिन्नेव प्रकरणे 'एष म आत्मान्तर्हृदये' [छा० ३।१४।३।] इति वाक्ये षष्ठ्या शारीर आत्मेति प्रथमया च परमात्मा प्रतिपाद्यते। एवञ्चोभयाभिधाने भिन्न शब्दस्य ग्रहणादत्र परमात्मन एव ग्रहणम् ॥५॥

एतमिति द्वितियान्तपदेनोपास्य–प्राप्यस्य च परमेश्वरस्य कथनं, "अभि सम्भवितास्मि" इति क्रियया उपासको जीवः कर्तृतया प्रतिपादितो भवतीति कर्तृकर्मभावस्य भेदमूलकत्वात् मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैव नतु शारीरो जीवः। शारीरपदश्च पूर्व सूत्रादनुवृत्तमिति संक्षेपः ॥४॥

विवरणत्–"मनोमयः प्राणशरीरोभारूपः" इत्यादि श्रुतौ योयं-मनोमयः स परमात्मैव न शारीरो जीवः कुतः ? "एतमितः प्रेत्या-भिसंभवितास्मि" इति श्रुतौ. मनोमयस्य प्राप्तिक्रियायाः कर्मत्वं शारीरस्य च कर्तृत्वमिति कर्मत्वकर्तृत्वयोरेकत्राविरोधेन समावेशा-संभवात्. शारीरभिन्नः परमात्मैवोपास्यो नतु शारीर इतिप्रतिपादितम्। एवमेव शब्दविशेषादपि ज्ञायते यत् मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैव भवति. नतु शारीरमिति दर्शयितुं हेतुप्रदर्शनाय प्रक्रमते– "अस्मिन्नेव प्रकरणे "इत्यादि। अस्मिन् शारीर–मनोमययोर्भेद–

वाक्य का प्रतिपाद्य जीव नहीं है किन्तु सत्य संकल्पत्वादिक गुण विशिष्ट परमात्मा का ही श्रुति से प्रतिपादन होता है। तथा परमात्मा का ग्रहण होना समुचित भी है क्योंकि वेदान्त मात्र परमात्मा का ही साक्षात्परंपरया वा बोधक है उसके सर्वशरीरक होने से ॥४॥

सारबोधिनी–इसके पूर्व सूत्र में मनोमयत्वादिक धर्म विशिष्ट परमात्मा शरीर जीव से भिन्न है। क्योंकि "एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि 'इस श्रुति में जीव को प्रापक कहा है और परमात्मा को प्राप्य बतलाया है। अर्थात् परमात्मा प्राप्ति क्रिया का कर्म है और जीव प्राप्ति क्रिया का कर्ता है। एक क्रिया के प्रति एक ही व्यक्ति कर्ता हो और कर्म भी हो ऐसा लोक-

प्रतिपादक—प्रकरणे एव "एष मे आत्माऽन्तर्हृदये" [मे मम एषः प्रकृत आत्मा सर्वजगन्नियामकः परमात्मा हृदयस्याभ्यन्तरेतिष्ठतीत्यर्थः] "प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्त' मितिश्रुत्यन्तरात् । इत्यादि स्थले षष्ठी विभक्तिसमभिव्याहृतोऽस्मत् शब्दः शारीरस्य वाचकः तथा प्रथमा विभक्तिसमभिव्याहृत आत्म शब्दः परमात्मनो वाचक इति वाचक विभक्तिद्वयस्य भिन्नत्वेन वाच्ययोरपि तथात्वस्यावश्यकतया, पृथक् रूपेण शारीरः प्रतिपाद्यते ततश्च प्रतिपादितो भवति भिन्न रूपेण परमात्मा । नहि षष्ठीप्रथमाविभक्त्योः समानार्थकता देवदत्तो गृह-मिति, देवदत्तस्य गृहमिति प्रयोगो हि दृष्टचरः, ततश्च वाचकयो र्भेदात् तद्वाच्ययोरपि परस्परं भेद एव समर्थितो भवति । तस्मात् "मनोमयः प्राण शरीरो भारूपः" इत्यत्र मनोमय पदेन परमात्मनः सर्वकारणस्यैव ग्रहणं भवति. नतु कदाचिदपि शारीरस्य ग्रहणमिति वृत्तेरक्षरार्थः । अयं भावः—योयं शारीरो जीवस्तस्मात्. मनोमयत्वा द्यनन्तकल्याणगुण-विशिष्ट—सर्वजगतः कारणभूतात्छीगमात् 'सदा दोषविहीनश्च स्वत एव हि राघवः । स्वत सोऽथ मतोनित्यं

प्रयोग नहीं होता है तथा तादृश प्रयोग अनुपपन्न है । कर्तृ कर्मभाव भेद सापेक्ष है । कर्त्ता कर्म दोनों भिन्न होता हैं । इसलिए जीव तथा परमात्मा स्वभाव तथा गुण से भिन्न हैं । अतः "मनोमयः प्राण शरीरआरूप" इस श्रुति प्रकरण में परमात्मा का ही उपास्य रूप से ग्रहण करना चाहिए नतु जीव का इस बात को 'कर्तृकर्मव्यपदेशाच्च' इस सूत्र में कथन किया है । अब यहाँ कहते है कि केवल कर्तृकर्म के भेद व्यपदेश से ही जीवात्मा परमात्मा का भेद है तावत् मात्र ही नहीं किन्तु परमात्मा का वाचक जो शब्द है तथा जीव का वाचक जो शब्द है वह भी परस्पर भिन्न हैं इससे भी जीवात्मा परमात्मा का भेद है इस विषय को बतलाने के लिए शब्द भेद को बत लाते हुए प्रक्रम करते हैं "अस्मिन्नेव प्रकरणे" इत्यादि इसी प्रकरण में

कल्याणगुणसागरः।" रामेऽपहतपाप्मेति हेया गुणा हि वर्जिताः। श्रुता स्तु 'सत्यकामश्चेत्ये' वं दिव्यगुणाः खलु ॥ 'एते चान्ये च भगवन्नित्याः यत्र महागुणाः। इत्येवं रामचन्द्रस्य गुणानां नित्यतामता ॥ 'स्वाभाविकी' तिवेदोक्तेः स्वाभाविका हरेर्गुणाः।" इत्यादिप्रकारेण श्रीरामानन्द-वेदान्तसारे जगद्गुरुश्रीटीलाचार्योक्तेर्भिन्न एव कुतः शब्द विशेषात् एवं "मे आत्माऽन्तर्हृदये" इति श्रुतौ षष्ठीविभक्त्या शारीर जीवस्य निर्देशो जायते. तथा प्रथमाविभक्तिसमभिव्याहृतात्मपदेन परमात्मा बोधितो भवति. एवं च विभिन्नविभक्तिनिर्देशेन जीव-परमात्मनो भेदः स्पष्टरूपेण प्रतिपादितो भवति। एवमेवान्यत्रापि समानप्रकरणे जीवपरमात्मनो वाचको विरुद्धविभक्तिसमभि-व्याहृत एव शब्दः श्रूतो भवति। यथा "व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलोवा एवमयमन्तरात्म पुरुषो हिरण्मयो यथा ज्यो-

छान्दोग्य में एक श्रुति "एषमे आत्माऽन्त हृदये [मेरो यह आत्मा हृदय के अन्त-मध्य में है।] में षष्ठयन्त जो अस्मत् शब्द है उससे शारीर आत्मा का बोध होता है। तथा प्रथमान्त जो आत्मशब्द एवं एतत् शब्द है उससे जगदभिन्ननिमित्तोपादान परमात्मा का बोध होता है। तो दोनों प्रकार के अभिधान में भिन्न भिन्न विभक्त्यन्त शब्दों का ग्रहण होने से यहाँ परमात्मा का ही ग्रहण होता है एक नियम है कि शब्द ज्ञान कार्यकारण इत्यादि के भेद से पदार्थ भिन्न भिन्न होता है जैसे घट और पट—ये दोनों शब्द भिन्न हैं तो एतादृश शब्द प्रतिपादित घटपट पदार्थ भी भिन्न है। एवं घट यह ज्ञान तथा पटः यह ज्ञान भिन्न है पदार्थ घटपट भिन्न ही होते हैं। तथा घट का कार्य है जलाहरण, और पट का कार्य है प्रावरण करना तो कार्य के भेद होने से घट पट भिन्न हैं। एवं घट का कारण है दण्ड कपालदिक और पट का कारण है तन्तु कुविन्दादिक— तो कारण जो कपालकुलाल एवं तन्तु कुविन्द—उन दोनों का भेद

तिरधूमम्" व्रीहिर्धान्यविशेषः, यवोदीर्घशूकविशिष्टोऽन्नविशेषः श्यामाकोभाद्रवीयान्नविशेषः 'सामा' इतिलोकप्रसिद्धःश्यामाक तण्डुलस्ततोऽपि सूक्ष्मोऽन्नविशेषः 'काउनी'तिलोकप्रसिद्धोऽति सूक्ष्मः तथैवायमात्मा असंस्कृतान्तः करणैरप्राप्यत्वात् सूक्ष्मः, यथा ज्योतिर्धूमविवर्जितम्. तद्वत् प्रकाशशीलो हिरण्यवत् पुरुष इत्यर्थः। अत्र अन्तरात्मन्–अन्तरात्मनि सप्तमीविभक्त्या शारीरः प्रतिपादितो भवति 'पुरुषो हिरण्मयः' इत्यत्रतु प्रथमान्तपदेन परमात्मा प्रतिपादितो भवति । अत उभयोर्भेदप्रतिपादक–शब्द–बोध्यतया परस्परं भेदः अतः प्रकृतप्रकरणे मनोमयत्वादिधर्मविशिष्टः परमात्मैवोपास्यतया बोधितो भवति नतु जीवः सतु सर्वथा–सर्वदोपासकः श्रीरामशेषभूतश्च तदुक्तं श्रीबोधायनमहर्षिणा–"रामदीनोऽनु

होने से घट तथा पट भिन्न होते हैं । इसी प्रकार परमात्मा वाचक शब्द तथा शारीर का वाचक शब्द परस्पर विभिन्न प्रत्ययसमभिव्याहृत होने से परस्पर भिन्न हैं। तो परस्पर विभिन्न शब्द परमात्मा तथा शारीर का वाचक है इससे सिद्ध होता है। अतः वाचक का भेद होने से वाच्य में भी भेद होता है यह सुतारां सिद्ध है तथा समान प्रकारण श्रुत्यन्त में भी जीव परमात्मा का भेदक शब्द विशेष का श्रवण होता है "व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामक तण्डुलोवा एवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयो यथा ज्योतिरधूमम्' जिस तरह व्रीहि धान्य विशेष दीर्घ शूक विशिष्ट अन्नविशेषः श्यामाक सामा, श्यामाक तण्डुल कौनी इन सब से भी सूक्ष्म, अकृत भगवद् भजनशील व्यक्तियों से अप्राप्य धूम रहित अग्नि के समान देदीप्यमान सुवर्णच्छवि पुरुष परमात्मा हैं। यहाँ अन्तरात्मन् यह जो सप्तम्यन्त पद है उससे शारीर प्रतिपादित होता है और हिरण्मयः इस प्रथमान्त पद से परमात्मा वाच्य होता है । इसीलिए मनोमत्वादि गुणविशिष्ट उपास्य परमात्मा उपासक जीव से भिन्न हैं यह सिद्ध होता है ॥५॥

स्मृतेश्च ।१।२।६।

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति' [गी० १८।६१।] इत्यादिस्मृतयोऽपि जीवाद्भिन्नं परमात्मानमभिदधते ॥६॥

कूलेऽहं विश्वस्तोऽप्राति कूल्यवान् । त्वयि न्यस्यामि चात्मानं पाहि मां पुरुषोत्तम !॥ इति ॥५॥

विवरणम्– न केवलं विवक्षितगुणोपपत्त्यनुपपत्तिभ्यां कर्मकर्तृ व्यपदेशशब्दविशेषादिभिरेव शारीरपरात्मनोः परस्परं भेदः समर्थितो भवति, अपितु सर्वज्ञसर्वज्ञकल्पप्रणीतस्वतः प्रमाणत्वेनाबालगोपालप्रसिद्धस्मृत्यादूयनेकप्रमाणप्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणैरपि जीवपरात्मनोर्भेदः प्रसाधितो भवतीति तत्र स्मृतेः प्रक्रमं कुर्वन् प्राह–ईश्वरः" इत्यादि । संप्राप्तमहाभारतसंग्रामे कारणवशात् विषण्णमनसानाहं संग्रामं करिष्यामीति निश्चितमतिमर्जुनं बोधयितुं जीवस्य स्वतंत्र कर्तृत्वनिराकरणपूर्वकं परमेश्वरकृपयैव सर्वं भवतीति प्रतिपादनाय. जीवपरात्मनो र्भेदप्रदर्शयन्नाह भगवान्. हे अर्जुन ! योऽयमीश्वरः सर्वंकर्तुमकर्तुं समर्थः परित्यक्तसर्वसंसारबन्धनः सर्वव्यापकत्वात्प्राणि-

सारबोधिनी–विवक्षित गुण की उपपत्ति तथा विवक्षित गुणानुपपत्ति कर्म कर्तृत्वभावका विरोध एवं शब्द विशेषादि मात्र से ही शारीर तथा परमेश्वर में भेद की सिद्धि होती है इस विषय का स्पष्टीकरण "विवक्षित गुणोपपत्तेश्च इत्यादि सूत्र से लेकर "शब्द विशेषाच्च" इस सूत्रपर्यन्तसे किया परन्तु एतावान् ही भेद में कारण है यों नहीं किन्तु "ईश्वरसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इत्यादि अनेक स्मृतियों से भी जीव परमात्मा में परस्पर भेद सिद्ध होता है। इस बात को बतलाने के लिए तथा "स्मृतेश्च" इस सूत्र का व्याख्यान करने के लिए उपक्रम करते हैं "ईश्वर सर्वभूताना मित्यादि हे अर्जुन ! यह समस्त स्थावर जंगमजगत् का निदान कारण सर्वशेषी सर्वाध र ईश्वर प्रत्येक प्राणि के हृदय में निवास करते हैं। और वह सर्व हृदयाप-

मात्रस्यहृदयेवसन् सर्वभूतानि स्वकीय मायया भ्रामयति । अतस्त्वं प्रवृत्ति वा निवृत्तिं वा स्वातंत्र्येण कर्तुमसमर्थोऽसीति । अत्र स्पष्टरूपेण परमेश्वराद्भेदो जीवस्यास्तीति भगवता प्रतिपादितः । तथा, "तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत । तत्प्रसादात्परांशान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।" "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणस्यति" "मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव" "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च" इत्याद्यनेक स्मृतिभिर्जीवपरमात्मनो भेदः सर्वथैव प्रतिपादितः ॥

ननु यथा जीवपरात्मनोर्भेदप्रदर्शनाय आचार्यः स्मृतेरुदाहरणं कृतवान्. तथैव स्वतः प्रमाण भूतायाः श्रुतेरुदाहरणं कथं न कृतवान्. अनुदाहरन् न्यूनतादोषन्नातिक्रामतीति मन्वानं प्रत्याह सूत्रे चकारम्. चकारात् शारीरपरमात्मनो भेदप्रतिपादकश्रुतीनामपि संग्रहः कर्त्तव्य एव तास्च–"ज्ञाज्ञौद्वावजावीशानीशौ" "प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः"

स्थित होकर के प्रत्येक प्राणि को शुभाशुभ कार्य में प्रवृति कराते हुए प्रयोजक होते हैं । इसलिऐ तुम ऐसा मत समझो कि मैं संग्राम से उपरतहो जाने में समर्थ हूँ । इस स्मृति वाक्य से सिद्ध होता है कि शारीर तथा परमात्मा में परस्पर भेद अनादि तथा नित्य है । क्योंकि जिसमें जो रहता है वह उससे भिन्न होता है । जैसे गृह में रहनेवाला देवदत्त गृह से भिन्न होता है । यह आधाराधेयभाव भेद नियत होता है । अभेद में आधाराधेय भाव सर्व प्रामाण से तथा लोक प्रसिद्धि से बाधित है । कभी भी देवदत्त में देवदत्त रहता है ऐसा अनुभव ननीं होता है । अपितु घर में देवदत्त है–ऐसा ही अनुभव तथा व्यहाहार होता है । तो एतादृश जो आधाराधेय भाव है उसकी अनुपपत्ति से सिद्ध होता है कि जीव के हृदयावस्थित परमात्मा जीव से सर्वथा भिन्न है । इस प्रकार से आधाराधेय भाव की अनुपपति से अर्थतः जीव परमात्मा भेद का समर्थन उदाहृत स्मृति करती है

"नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" इत्याद्यनेकश्रुतयोपि जीवपरमात्मनो भेदव्यवस्थापयन्त्येव । अथवा "विवक्षित गुणोपपत्तेश्च" एतत्सूत्रादारभ्य "शब्द विशेषा"–दिति सूत्र-पर्यन्तसूत्रराशिना प्रतिपादिता एव तास्ताः श्रुतय इति न पुनः पार्थक्येन भेदप्रतिपादकानां श्रुतीनां चर्चा सूत्रकारेण कृता । अवशिष्टां स्मृतिमेव समुपदर्शितवानिति न भवति न्यूनतादोषस्य पदार्पणमिति । न चैवं स्मृतेश्चेति सूत्रान्तर्गतश्चकारो निरर्थकतानोहास्यतीति, न चेष्टापत्तिः ? तत्र वर्णेनापि निरर्थकेन न भवितव्यमिति नियमादिति वाच्यम्. स्मृत्यन्तरस्य जीव–परभेद–प्रतिपादकस्य संग्रहकरणे तस्य तात्पर्यात् । दर्शयिष्यति चानेकां मन्वादिस्मृतिमुः ॥ एवं च सूत्रश्रुतिस्मृतिशतेभ्यः शारीरपरात्मनोर्यौभेदः स सर्वथैव समीचीन इति पक्षपात रहितैः प्रज्ञामानिभिः स्वीकर्त्तव्य एवेति । यद्यपि जीवपरात्मनोरभेदसाधनाय बहवः प्रयासाः कृता विद्वद्भिस्तथापि ते

एवम्"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत । मयि सर्वमिदंप्रोतं सूत्रे मणि गणा इव' 'सर्वस्य चाहं हृदिसन्नि विष्टो मत्तः स्मृति र्ज्ञानमपोहनञ्च वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्त कृद्वेदविदेवचाहम् । ततः स्वयंभू भगवान् सिसृक्षुर्विविधा प्रजाः । अप एव समर्जादौ तासु वीजमवासृजत्" इत्यादि अनेक स्मृतियों से सिद्ध होता है कि जीव तथा परमात्मा में परस्पर भेद है । केवल स्मृति पुराणादि से ही जीव परमात्मा का भेद सिद्ध होता है ऐसा नहीं किन्तु प्रमाण शेखर वेद भी इन दोनों में भेद का साधक है । इस बात का सूत्र घटक च शब्द से सूत्र कार ने सूचन किया है । ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशो जो सब पदार्थ को जाने उसको ज्ञ कहते हैं यथा परमात्मा । जो सबको न जाने उसको अज्ञ कहते हैं । अज्ञ अर्थात् जीव । ये दोनों ही अज अर्थात् अजन्मा हैं । ऐसा कौन है ईश तथा अनीश–सर्वेश परमात्मा तथा अल्पज्ञ जीव । इस श्रुति में द्विवचन प्रयोग जीव परमेश्वर के भेद का साधक है

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न, निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ।१।२।७।

ननु 'एष म आत्मान्तर्हृदये' [छा० ३।१४।३] इति वाक्यार्थपर्यालोचनयाऽणीयस्त्वन्तर्हृदयेऽवस्थानादल्पपरिमाणको जीव एवात्रोपास्यो न परमात्मा । एवं सति' 'अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा'' [छा०

भासाभासमात्रजनका स्तदाहुराचार्याः "तस्माच्छाश्वतिकं सार्वत्रिकञ्च परमात्मनः सकाशाज्जीवस्य भिन्नत्वमेवेति वेदवित्समयः" (आनन्दभाष्यम् १।१।२ इतितत्रैव विस्तरः । भेदाभेदयो र्विचारमन्यत्र करिष्यामि. प्रकृते तु वृत्त्यक्षरार्थ विवरणे एव प्रयास इति संक्षेपः ॥६॥

विवरणम्-- ननु "मनोमयः प्राणशरीरोभारूपः" इति प्रकरणे सत्यपि जीवलिङ्गे अनेककारणद्वाराजीवस्योपास्यत्वं निराकृत्य परमेश्वरस्यैव समुपास्यत्वं व्यवस्थापितवान् । परन्तु''एष मे आत्मान्तर्हृदये'' इत्यादि वाक्ये तु स्वल्पायतनेऽवस्थानात्. स्वल्प परिमाणवान् जीव एवोपास्यतयानिर्दिश्यते. नतु तत्र परमात्मनो निर्देशस्संभवति यतः पर-

इस प्रकार से अनेक श्रुतियों में जीव परमेश्वर के भेद का समर्थन किया गाया है । यद्यपि जीव परमात्मा में अभेद प्रतिपादक श्रुति स्मृति भी हैं । तथापि वे चेतनत्व रूप से समानता का प्रतिपादक हैं । इस बात को श्री सम्प्रदायाचार्यजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य जी ने जन्माद्यस्य यतः १।१।२ सूत्र के आनन्द भाष्य में विशेष रूप से विवेचन किया है । मैने भी इस विषय में वहीं स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया है अतः विशेषार्थिजनों को वही देखना चाहिये ॥६॥

सारबोधिनीः— विवक्षित गुण की उपपत्ति परमेश्वर परिग्रह में ही संभवित है तथा यदि जीव का उपास्य रूप से ग्रहण करते हैं तो अनेक प्रकार की अनुपपत्ति होती है । तथा कर्म कर्तृभाव का विरोध शब्द विशेष और स्मृत्यादिक प्रमाणों से निश्चय किया गया "मनोमयः प्राण शरीरो-

३।१४।३] इति व्यदेशोऽपि जीवे सङ्गच्छत इति चेन्न परमात्मैवा-त्रोपासनार्थमल्पपरिमाणकान्तर्हृदयस्थितोऽभिधीयते । तस्यापि "अरा-ग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" इत्यादिष्वल्पीयस्त्वश्रवणात् । यथा मह-त्परिमाणकस्यापि व्योम्नोऽल्पौकस्त्वं घटाकाशादावुपदिश्यते एवमत्रापि बोध्यम् ॥७॥

मेश्वरस्य "ज्यायान् पृथिव्याः" इत्यादिश्रुत्या व्यापकपरिमाणवत्वश्र-वणात् । इत्याशङ्कामपनेतुं न जीवस्योपास्यत्वमपितु परमेश्वरस्यैव तत्वमितिदर्शयितुं प्राह- "ननु एषमे आत्मा" इत्यादि । अर्भक-मत्यल्पम् ओकः स्थानं यस्य स अर्भकौकस्तस्यभावोऽर्भकौकस्त्वं तस्मात् अर्भकौकस्त्वात्, अत्यल्पपरिमाणकस्थाननिवासात् स्वल्प परिमाण विशि-ष्टस्थाने यो विद्यते सोपि तथैव स्याद्. ननु बृहत्परिमाणकः बृह-त्परिमाणकस्याल्पपरिमाणकस्थाने समावेशस्यासंभवात्, तस्मादल्प-रिमाणवान् जीव एवोपास्यतया परिगृहीतो भवति. तथा तद्व्यपदेशात्. तादृशाल्पपरिमाणकस्य जीवस्य व्यपदेशःकथनमपिमुखत एव "अणोरणो-यान् व्रीहेर्वा यवाद्वा" इत्यादि श्रुतौ जीवस्याणीयस्त्वं व्यवस्थापितम्. तस्माज्जीव एवोपास्यतयानिर्धारितो भवति. ननु कथंचित् परमात्मोपास्यत्वेन तत्र सम्भवति यतः परमात्मनः

भारूपः" इत्यादि प्रकरण में उपास्य रूपसे परमात्मा की ही उपासन अभिमत है। जीव की उपासना संभवित नहीं है । परन्तु, "एष में आत्माऽन्तर्हृदये" "अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा" इत्यादि श्रुति से तो स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया जाता है कि अणीयस्त्वादि गुण विशिष्ट जीव ही उपास्य है । यहाँ परमात्मा का उपास्य रूप से ग्रहण नहीं हो सकता है । क्योंकि परमेश्वर में तो कणुत्वविरोधी व्यापक परिमाण का "ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्" इत्यादि श्रुतियों में कहा गया है । अतः जीव का ही उपास्य रूप से ग्रहण होता है । परमात्मा का तो उपास्यतया

सर्वेभ्योऽज्यायस्त्वं श्रूयते व्यापकत्वात् । इमामेव शंकामुपपादयति "ननु एष मे आत्माऽन्तर्हृदये" इत्यादि. [एषः सर्वानुभवसिद्ध आत्मा अन्तर्हृदयेऽतिसूक्ष्मपरिणामके हृदयेऽवस्थित इत्यर्थः] एवं रूपेण प्रकृतवाक्यार्थपर्यालोचन अणीयस्त्वस्यातिपरिच्छिन्नस्था नेऽवस्थानश्रवणात् जीव एवात्र समुपास्यो नतु परमात्मोपास्यतया परिगृहीतो भवति."ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्"इत्यादि श्रुत्या परमात्मनः सर्वव्यापकत्वश्रवणात् नहि परमव्यापकस्य स्वल्पपरिमाणकेऽन्तः करणे कथमपि प्रवेशः संभवत्यनुभवविरोदात् । एवं "अणीयान् व्रीहेर्वायवाद्वा" इत्यादि स्थले स्वरूपेणापि जीवस्यैव व्यपदेशो भवति सचायं व्यपदेशो मुख्यतया जीवे एव संभवति नतु सर्वव्यापके, तस्मादत्र जीवस्यैव समुपास्यतयाग्रहणं भवति नतु पर मात्मनो ग्रहणमिति पूर्वपक्षः । उत्तरयति निचाय्यत्वात् –यद्यपि पर मात्मा स्वरूपतः सर्वव्यापक स्तथापि उपासनार्थमत्यल्पपरिमाणकेऽपिस्थानेऽवस्थितो भवति. अयमेवार्थः "एष मेऽन्तर्हृदये" इतस्य. यथा सर्वव्यापकस्य भगवतः प्रतिमादाववस्थानं भवति. तथैव अत्यल्पपरि माणके हृद्देशेऽपि परमात्मनोऽवस्थानमुपासनाया अनेकस्वरूपत्वात्, ततश्चातिस्वल्पपरिमाणकहृदयप्रदेशे भगवत एवोपस्थानमिति । तदेत दाहुराचार्यसार्वभौमाः प्रकृतसूत्र व्याख्याने– "यथा चाखिललोकाधिपतेरयोध्याधिपतित्वेन व्यपदेशश्चक्रवर्तिकुलेऽवतीर्णस्य भगवतः श्री

ग्रहण नहीं हो सकता है। इस आशंका का निराकरण करने के लिए सूत्र का अवतरण करते हुए कहते हैं "ननु एष मे आत्मान्तर्हृदये" इत्यादि । एष मे आत्माऽन्तर्हृदये" [यह हमारी आत्मा हृदय के मध्य में अवस्थित है] इस श्रुति वाक्य के अर्थ का विचार करने पर यह होता है कि यह आत्मा अणु है और अत्यल्प परिमाणवाला हृदय में इसका अवस्थान है। इससे यह सिद्ध होता है कि अणु परिमाण-

रामस्योपपद्यते, एवम परिच्छिन्नस्यापिपरस्योपासनार्थमल्पत्वव्यपदेशः। न चैतावतात्पप्रमाणापत्तिः "ज्यायान्पृथिव्या ज्यायान्नन्तरिक्षा" दित्यादिना ब्रह्मणोमहत्वाभिधानात्। एतदुक्तं भवति सर्वगतोऽपीश्वरो हृदय पुण्डरीके परिच्छिन्नरूपो ध्यानयोगादुपास्यमानः प्रसीदतीति (आनन्द भाष्यम् १।२।७) इहापि परमात्मैव समुपास्यो भवति. ननु जीवः कथमपि समुपास्यतया परिगृहीतव्यः। परमात्मनोऽप्यणीयस्त्वं क्वचित् श्रूयते. "आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपिदृष्टः" इत्यादौ सर्वजगत्कारणे परमेश्वरेपि तत् श्रवणात् सर्वशरीरकत्वात् परमात्मनः। सर्वव्यापकोपि सूक्ष्मरूपेण व्यपदेशभाग्भवति तत्र दृष्टांत दर्शयति "व्योमव दिति। यथाहि. सर्वव्यापकोप्याकाशोघटाद्युपाधिभेदात् परिच्छन्नतया व्यपदिश्यमानो भवति. घटाकाशः मठाकाशस्तथा सर्वव्यापकः सर्वगतोऽपि परमात्मा. सर्वशरीरकत्वात्परिछिन्न प्रदेशक उपासनायै भविष्यति, भवति चेत्यत्रकिमाश्चर्यमिवाभाति भवताम्। य एवाल्पपरिमाणको घटः स एव दीर्घपरिमाणवान् भवति स्वभावविशेषात। परमात्मातु विलक्षण शक्तिमान् सर्वशरीरकः स्वभावविशेषमतिक्रम्यापि भक्तहिताय सर्वं सर्वदाकरोतोति तदाहुः भगवत्तत्त्वविदः श्रीहरिदासमहाभागाः—

चिन्मयस्य द्वितीयस्यनिष्कलस्याशरोरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना"

वाला जीव हो यहाँ उपास्य है। परमात्मा नहीं है क्योंकि "ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्" इत्यादि श्रुति से तो परमात्मा में व्यापक परिमाण का श्रवण है। तो व्यापक परिमाणवान् स्वल्प प्रदेश में कैसे रह सकेगा। और "अणीयान् व्रोहेर्वा यवाद्वा" [वह व्रीहि धान्य विशेष और जौ से भी छोटा है।] यह व्यवहार भी जीव का परिग्रह पक्ष का ही पोषक है। वह भी संगत होता है। इस बात को सूत्रकार कहते हैं। "अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च" अर्भक अर्थात छोटा है ओकस स्थान जिसका

इति श्रुतिव्याख्याने अत्रयच्चिदात्मकं परंब्रह्म रामपदेनाभिधीयते तस्यरामपदाभिहितस्य चिन्मयस्य य ब्रह्मणो रूपकल्पनेत्यन्वयोज्ञातव्यः। प्रकृतिजीवव्यावर्तकस्य परमित्यस्य विशेषणस्य स्थाने उत्तरवाक्येऽद्वितीयस्येत्यादि ब्रह्मपदविशेषणोपादानादत्र परशब्दाविशेषितस्याप्यद्वितीयब्रह्मशब्दस्य परतत्व पर्यवसायित्वेन परब्रह्म अद्वितीय ब्रह्मणोऽपिरामशब्दाभिहितत्वनिष्पत्ते रामपदाभिहितस्यचिन्मयस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणोरूपकल्पनेत्यन्वयोपपत्ते श्चिन्मयस्य चिद्रूपस्येतितद्विग्रहस्यापि चिद्रूपत्वमुक्तं भवति व्याख्यान निरतश्चिन्मयो ब्रह्मानन्दैकविग्रहो यः सच्चिदानन्दात्मेत्युत्तरत्र तद्विग्रहस्यापि चिन्मयत्व श्रवणात्। सत्यंचिदानन्दमयस्वरूपं, तथा 'सत्यानन्दचिदात्मकं,तथा श्रीसारङ्गधारिणं रामं चिन्मयानंदविग्रहम्। त्रिररामहातेजाः सच्चिदानन्दविग्रहः। इति तत्वतो स्वरूपतो विग्रहतश्च सच्चिदानन्दमयत्व स्मरणाच्च। अन्यथा जीवानामपि स्वरूपतश्चिद्रूपतया तत्राति प्रसङ्गेन चिन्मयत्वोक्तेर्वैयर्थ्यंस्यात् न चात्र शरीरिण इति श्रुतेरविग्रहस्यैव चिन्मयत्वोक्ति रिति वाच्यम्, 'धृत्वाव्याख्याननिरतश्चिन्मयः परमेश्वरः' इत्युत्तरत्र मुखाद्यवयवतश्चिन्मयत्व श्रवणात्। अर्धमात्रात्मकोरामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः, इति स्य दिव्यविग्रहत्व श्रवणेनाशरीरिण इति पदस्य हेयशरीरविषयत्वेन नेतव्यत्वाच्च। अद्वितीयस्य कार्यानि

तथाअणीयान् यवाद वा व्रीहेर्वा" इत्यादि श्रुति में स्पष्टरूप से जीव का प्रतिपादन होने से जीव ही यहाँ उपास्य रूप से निर्दिष्ट हैं। किन्तु उपास्य रूप से परमात्मा का ग्रहण नहीं होता है। क्योंकि अणुत्व लिङ्ग तो जीव का है। परमेश्वर का नहीं है। यदि कदाचित् जीव शरीरक परमेश्वर में भी जीव का धर्म अणुत्व होगा ऐसा कहो तो सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि अन्य का धर्म अन्य में नहीं जा सकता है। क्या जल का धर्म शैत्य, उष्णत्वाश्रय वह्नि में कभी भी समवेत होता है? तथा

र्माणेसहायांतररहितस्य घटादिनिर्माणे कुलालादेर्दण्डचक्रादि सहाय कत्वे तस्य तदा सहायकं नास्तीत्यर्थः ।

अथवा द्वितीयस्यसमाभ्यधिकरहितस्य न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते इतिश्रुत्यंतरात् 'नैतद्यशोरघुपतेः सुरयाञ्चयात्तलीलातनोर्ह्यधिकसाम्यविमुक्तधाम्न' इतितथैव स्मरणाच्च निष्कलस्य निर्गताकलाः प्राकृतावयवा यस्मात् , यद्वा निर्गतानिः सृताकलामूर्तयोयस्मात् स तथा तस्य सर्वावतार निदानस्येत्यर्थः । कलावतीर्णौ वभौभूः पक्कशस्याढ्याकलाभ्यांनितरांहरेः इत्यत्र कलाशब्दस्य मूर्त्यर्थकत्वावगमात् । अथवा निष्कलस्य मायासंश्लेषरहितस्यातएव अशरीरिण इति कर्मनिमित्तहेयशरीरं निषिध्यते। न च श्रुति विरुद्धं कथमुच्यते. इतिवाच्यम् । यस्य पृथिवी शरीरं यस्य आत्माशरीरं जगत्सर्वं शरीरंते'इत्यादिश्रुतिस्मृतिषु तस्य पृथिव्यादिशरीरवत्व श्रुत्या कैमुत्यन्यायतोदिव्यशरीरत्वोपपत्तेः। न ह्युपत्तिमात्रेण तस्यदिव्यशरीरत्व मुपपद्यते किंतु अर्द्धमात्रात्मकोरामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः,तथापूर्णानन्दैकविग्रहमित्ये वमादि श्रुतिभिश्च नाप्युभयविधश्रुतीनां परस्परंविसंवादित्वेनाप्रामाण्यम्? न हिं स्यात् सर्वा भूतानि'अग्निषोमीयं पशुमालभेतेत्यत्रैव न हिं स्यात् सर्वभूतानित्यस्याः श्रुतेरेकदेशसंकोचेनाग्निषोमीयपशुव्यतिरिक्तहिंसानि-

अणुत्व का विरोधी व्यापक परिमाण परमेश्वर में है। तब अणुत्व तो उस परमेश्वर में नहीं जा सकता है। कदाचित् जीव उपासना को स्वीकार करो तो, वेदान्तमात्र ब्रह्म समन्वयपरक है। इस प्रतिज्ञा का बाध हो जायगा। इस प्रश्न के उत्तर में वृत्तिकार कहते हैं कि "परमात्मैवात्रोपासनार्थम्" "एष मे आत्मान्तर्हृदये" इत्यादि स्थल में उपासना के लिए वह अल्प परिमाणक अन्तर्हृदय में अवस्थित है। ऐसा कहा जाता है। और परमेश्वर में अल्प परिमाणत्व का श्रवण है। "आराग्रमात्रोह्यवरोपि दृष्टः" [आरा लकड़ी काटने का जो अस्त्र विशेष उसका जो दाँत उसके अग्रभाग के समान अवर छोटा परमेश्वर हैं] इस श्रुति में परमेश्वर को भी अल्प

षेध परश्रुतिनां दिव्यशरीरव्यतिरिक्त तुच्छरीरनिषेधपरत्वोपपत्तेः। प्रकृतेतु रघुकुलावतीर्णतयामनुष्यांतरतत्कर्मनिमित्तदेहप्राप्तिं श्रीरामस्य वारयति श्रुतिः अशरीरिण इत्यवधेयम्। किं च कल्पितस्य शरीरस्येतिवक्ष्यमाणव चनमप्यस्य निराकारत्वं नसहते, यथा तथा स्फुटीकरिष्यामि तद्वचनस्य व्याख्यावसरे किंच निराकारं ब्रह्मोपाधिवशात् पञ्चधामातीतीमं पक्षं पञ्चधा कल्पनापृथक्कृतं कल्पितस्यशरीरस्येतीदं वाक्यं न सहते। किञ्च—सर्वे नित्याशाश्वताश्चदेहास्तस्य परामात्मनः। हानोपादानरहिताः नैवप्रकृतिजाः क्वचित्। श्रीरामानन्दसंदोहाः ज्ञानमात्रश्चसर्वतः। सर्वे सर्वगुणैः पूर्णाः सर्व दोषविवर्जिताःइति वाराहपुराणवचणमपि तस्य प्राकृतशरीरसंबंधं न सहते। अपरश्च निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यंनिरञ्जनम्। आदित्यवर्णंतमसःपरस्तादित्यादिश्रुतिविरोधाच्चाविद्याप्रत्यनीकब्रह्मणः कथमपि प्राकृतशरीर संबन्धकल्पनं नोपपद्यते सच परस्य ब्रह्मणःविग्रहोद्विभुजादिमानेव गम्यते "द्विभुजःकुंडलीरत्नमाली धीरोधनुर्धरः,, इत्युत्तरतनश्रुतेः 'ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद्बाहूराजन्यः कृतः" इति कारणवादिनि श्रुत्यंतरेऽपि वाहू इति द्विभुजत्वश्रवणात्। एवमुक्तविशेषस्य ब्रह्मणः ब्रह्मशब्दाभिहितत्वेनबृहद्गुणयोगिनःरमंते योगिन. इत्यस्याम् पूर्वश्रुतौ रामशब्दाभिहितस्य रूपकल्पना चतुर्भुजादिरूपाविष्करणमुपासकानां कार्यार्थं भुक्तिमुक्ति प्रदानार्थमित्यन्वयः। रमंते योगिन इत्यस्यापूर्वस्यामृचि परब्रह्मणो रामप-

परिमाणक कहा गया है। "व्योम वदिति" जिस तरह परम महत्परिमाणवाला आकाश है, परन्तु उस आकाश में भी अल्प परिमाणकत्व घटाकाशादिक देखने में आता है। एवम् प्रकृत में भी हो सकता है। अर्थात् जसे आकाश सर्व व्यापक है। तथापि घटात्मक उपाधि के बल से घटाकाश मठाकाशादि शब्द से अल्प परिमाण रूपसे व्यवहृत होता है। इसी तरह सर्व शरीरक परमात्मा स्वरूप से सर्व व्यापक है। और जीवादि अवच्छेदक के बल से स्वल्प परिमाणवान् भी कहलाते हैं। यह गौणी

दाभिधेयत्व श्रुतेरेव यत्सच्चिदानन्दात्मकं परं ब्रह्म रामपदेनाभिधीयते तस्य रामपदाभिहितत्वेन रामरूयस्य चिन्मयस्य ब्रह्मणोरूपकल्पनोपासकानां कार्यार्थमित्येव द्रष्टव्यः । इत्यादिरूपेण ।

अतएव यदाऽन्तःकरणशरीकस्तदा स्वल्पपरिमाणको भवत्याकाशादिशरीरकतया महत्परममहत्परिमाणकोऽपि भवति । श्रुतिरपि "ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षादित्यादिसमर्थयति परमात्मनो व्यापकपरिमाणाश्रयताम् । अर्थात् स्वभावतः सर्वशरीरकः परमात्मा सर्वेश्वरो हृदयपुण्डरीके परिछिन्नपरिमाणसन् ध्यानयोगादुपास्यमानोऽति प्रसन्नोऽनुकंपयति भक्तान् । सर्वगतोऽपि परिछिन्नतया व्यपदिश्यते । यथा समस्तभुवनाधिपतिरपि साकेताधिपतिरयोध्यापतिरिति च गीयते श्रीरामः । तस्मादुपपन्नं यदत्र परमात्मैवोपास्यो नतु संकुचितज्ञानाधिकरणो जीव इति । तदयमत्र संक्षेपः— अणीयस्त्वादिस्थानविशेषसम्बन्धादणुपरिमाणकजीव एव प्रकृते समुपस्थापितो भवति. नतु स्वभावतो व्यापकः परमात्मेतिपूर्वपक्षाशयः उपासनार्थं सर्वव्यापकोऽपि परमात्मा समुपस्थाप्यते भक्तानामनुग्रहाय. यथा सर्वगतोप्याकाशो लौकिकव्यवहारोपपादनायोपदिश्यते तद्वदिहापि ज्ञातव्यमिति ॥७॥

कल्पना परमेश्वर की उपास्यत्व के अनुरोध से की जाती है । क्योंकि परमेश्वरोपासना की ही मोक्ष–साधकता है । जीवोपासना मोक्षफलक नहीं है । "निचाय्यतं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" इत्यादि स्थल में परमेश्वरोपासना को ही मृत्युमुख विमोक्षण-लक्षण मोक्ष फलजनकत्व बतलाया गया है । एवं "स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः" इत्यादि से भी मोक्ष जनकता का कारणत्व परमेश्वरोपासना में ही निश्चित किया गया है ॥ विशेष विवरण भाष्य विवरण में देखिये ॥७॥

सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ।१।२।८।

नन्वेवं परमात्मनो हृदयाद्यवस्थाने जीववत्सुखदुःखसम्भोगप्राप्तिरपि दुर्निवारेति चेन्न, परमात्मनो जीवतो वैशेष्यात् । जीवस्य कर्मपारतन्त्र्यमीश्वरस्य तन्नेति वैशेष्यात् । स्वार्थे ष्यञ् । 'तयोरन्यः पिप्प-

---

विवरणम्—अथ अल्पपरिमाणकहृदयेऽवस्थानाव तथाऽणुपदेन व्यपदेशाज्जीव एवात्रोपास्यतया परिगृहीतव्यो नतु परमात्मा तस्य सर्वव्यापकतयाऽल्पपरिमाणके निवेशासंभवात्तथाऽणुविरोधिपरिमाणत्व श्रवणादिति पूर्वपक्षं कृत्वा सर्वगतोप्याकाशो यथा अल्पपरिमाणके घटादावस्थितो भवतीति दृष्टान्तेन सर्वगतस्यापि परमात्मन उपासनार्थं हृदयादिसूक्ष्मपरिमाणकेऽप्यवस्थानं संभवतीत्युत्तरं कृत्वा परमात्मन एवोपास्यता प्रतिपादिता निराकृता च जीवस्योपास्यता । तत्र यथा जीवस्य हृदयेऽवस्थानं तथैव यदि परमेश्वरस्याप्यवस्थानमनुमन्येत तदा यथा शरीरेवसन् जीवः शरीरगतसुखदुःखाभ्यां क्लेशितो भवति तथैव

सारबोधिनी—यदि मनोमयः प्राणशरीरोभारूप इत्यादि श्रुतिवाक्य प्रतिपादित मनोमयत्वादि धर्म विशिष्टत्वेन परमात्मा का प्रतिपादन होता है और तदनुरोधात् परमात्मा का शरीर में अवस्थान है । ऐसा मान लिया जाय तब तो शरीरादि जनित सुख दुखादि के उपभोगवान् शारीर होता हैं । उसी तरहड् से शरीरस्थित परमात्मा को भी सुखदुखादि की प्राप्ति होगी क्योंकि जीव को भी तो सुखदुखादि का संभोग सम्बन्ध जनित ही है । तो तादृश शरीर सम्बन्ध शरीरावस्थान तो परमात्मा का भी है । तो परमात्मा भी सुखदुखादिमान् होंगे । इष्टापत्ति तो कह नहीं सकते हैं । क्योंकि तब तो परमेश्वर में सब प्रकार के दुःखादिराहित्य प्रतिपादक श्रुतिस्मृतियों का बाध हो जायगा । एतादृश शंका का निराकरण करने के लिए प्रक्रम करते हैं "नन्वेवं" यदि उपासनार्थक सर्व व्यापक परमात्मा को जीव की तरह हृदयादिक स्वल्प परिमाणवान् देश

लं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'। "तत्र यः परमात्मासौ स नित्यो निर्गुणः स्मृतः । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा" इत्यादि श्रुतिस्मृतयो जीवपरयो वैशेष्यं स्पष्टमाहुः ॥८॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ सर्वत्रप्रसिध्द्यधिकरणम् ।

परमात्मापि विषयज—सुखदुःखाभ्या मवश्यमेव संस्पृष्टः स्यात् । न च न केवलं सुखदुःखयो रुपभोगे केवलमात्मैव कारणं किन्तु तदन्यदपि प्रयोजकं भवति. तत्र सुखादिभोगे आत्मा समवायीकारणमात्ममनसो संयोगोऽसमवायिकारणं तथादृष्टं कालादिश्चनिमित्तकारणम् । तत्र निमित्तकारणान्तर्गतस्य शुभाशुभकर्मणः परमेश्वरेऽभावान्न सुखदुःखादि संभोगभाक् परमेश्वरस्यादिति वाच्यम्, भावानवबोधात् । अयं भावः— जीवे शुभाशुभं कर्म भवति परमेश्वरे न भवति तत्र को हेतुः ? यदि शरीरे जीवस्यावस्थानं हेतुः शरीरमधिष्ठाय वागादिना शुभाशुभं कर्म में अवस्थान है, ऐसा मान ले तब तो शरीरावस्थित शारीर आत्मा को जिस तरह सुखदुःखादि की प्राप्ति होती है । उसी तरह सर्वदुखादि की प्राप्ति परमेश्वर को भी होगी । क्योंकि दुख प्राप्तिकारण जो शरी में अवस्थान है वह तो जीव के सदृश परमेश्वर का भी समान ही है । जीव को तो एक शरीर मात्र सम्बन्ध से दुख होता है । किन्तु परमात्मा तो सर्व शरीरक है । तब तो सारी दुनिया के सब दुःख की प्राप्ति परमेश्वर को होने से परमेश्वर महान् दुखी हो जायगा तब एतादृश परमेश्वर के प्राप्ति के लिए जो तदीय उपासना करने के लिए शास्त्र आदेश देता है । उन शास्त्रों में किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होने से सर्व प्रकार की व्यवस्था अस्त व्यस्त हो जायगी । कौन सचेतन पुरुष एक शरीर कृत सुखादि से वंचित होने के लिए एतादृश परमात्मा की उपासना करने के लिए प्रयत्न करेगा एतादृश प्रश्न को निराकृत करने के लिऐ कहते हैं—"परमात्मन जीवतो वैशेष्यात्" परमात्मा को जीव से विशेषता है । क्योंकि "जीवस्य कर्म

संपाद्य सुखादयुपभोगं करोति। तदा शुभकर्मसम्बन्धशरीरावस्थानमेव हेतुः भक्तस्य तदभावान्न तत्, एवं चेत्तदा शरीरेवसन् परमात्मापि सुखदुःखयोरनुभवं कुर्यादेव यतः सुखदुःखानुभवकारणस्य शरीरावस्था-नस्य जीववत् परमात्मनो ऽपिसत्वादित्याकारक शङ्कामपनेतुं सूत्रस्थ वैशेष्यादित्यादिना समाधातुमुपक्रमते "नन्वेवं परमात्मनो हृदया-द्यवस्थाने" इत्यादि। ननु यदि श्रुति स्मृति सूत्रकारीयवचनेषु श्रद्धामास्थाय परमात्मनः परमपुरुषस्य श्रीसाकेताधिपते र्विरूपानेक जीवीयहृदयप्रदेशेऽ वस्थानप्रतिकूलेऽपि समवस्थानमनुमन्येत तदा यथा जीवानां हृदयप्रदेशेऽवस्थानात् सुखदुःखाद्युपभोगो जायते तथैव हृदयावस्थितस्य परमेश्वरस्यापि दुःखाद्यनुभवो दुर्निवार एव स्यात्। ततश्च जोवेश्वरयोः समानतैवस्यात्। न केवलं समानता मात्रं परमेश्व-रस्यापितु जीवापेक्षयात्यधिकदुःखवान्स्यात्परमेश्वरः। यतो जीव एक-पारतन्त्र्यम् जीव तो कर्म पराधोन है। और परमेश्वर में कर्म पराधीनता नहीं है। यह विशेषता है। अभिप्राय कहने का यह है कि सुखदुःखादि के उप भोग रूप कार्य के प्रति समवायी कारण जीव है। असमवायी कारण जीव तथा मन का संयोग है। और निमित्त कारण शुभाशुभ कर्म स्वरूप अदृष्ट तथा कालादिक है। एतादृश सामग्री रहने पर कार्य सुखादि संभोग लक्षण कार्य होता है जीव में ये सब कारण समुदाय रहने पर सुखदुखाद्युपभोग रूप कार्य होता है। परमात्मा में तो विलक्षण मन प्रतियोगिक जोवानुयो गिक संयोग लक्षण असमवायो कारण तथा अदृष्ट रूप निमित कारण तो नहीं है। इसलिऐ परमात्मा में सुखादि रूप कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है केवल एक कारण से ही कार्य नहीं होता है। किन्तु कारण समुदाय से कार्यहोता है। यद्यपि परमात्मा सर्व व्यापक सर्वाधार है तो जीव का अदृष्ट परमात्मा में भी हो सकता है। तथापि अदृष्ट तथा कार्य को समानाधिकरण होने पर ही कार्य होता है। अस-

शरीरगतमेव दुःखं भुनक्ति परमेश्वरस्तु सर्वजीवशरीरे वसन् सर्वजीवीय दुःखैः परामृश्यमाणोऽतिकष्टावस्थां प्राप्नुयादिति पूर्वपक्षः। उत्तरयति सूत्रकृत् प्रदर्शितहेतुना "परमात्मनो जीवतो वैशेष्यादित्यादि। जीवापेक्षया परमात्मनो विशेषात्। वैशेष्यादित्यत्र विशेषपदात् स्वार्थीयः ष्यञ् प्रत्ययः। प्रत्ययार्थनाधिकः किन्तु प्रकृत्यर्थे एव प्रत्ययार्थोऽपिनिहित इति। एवं च जीवापेक्षया परमात्मनो विशेषात् पूर्वपक्ष दोषो न संभवति। कोऽसौ जीवपरयोर्विशेषोविद्यमानेऽपि चेतनत्व धर्मसमानत्वे! तत्राह "जीवस्य कर्मपारतन्त्र्य" मित्यादि। जीवः संकुचितज्ञानवत्वेनानीशत्वेन च स्वकृतकर्मपराधीनः परमेश्वरस्तु सर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्वादिभिर्गुणैरपराधीनः। "आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः" इति श्रुत्युक्तेः। यद्यपि जीवेशयोः शरीरेऽवस्थानं समानं तथापि तत्रा

मानाधिकरण में कार्यकारण भाव नहीं होता है। ऐसा न्याय का सिद्धान्त है इसलिए परमेश्वर में जीवापेक्षया विशेषता होने से जीव की तरह परमेश्वर में सुखादि संभोग की आपत्ति नहीं होती है। यहाँ वैशेष्यात् इस जगह में स्वार्थिक ष्यञ् प्रत्यय है अर्थात् विशेष शब्द से ष्यञ् प्रत्यय करके वैशेष्य पद की सिद्धि हुइ है परन्तु विशेष और वैशेष्य के अर्थ में भेद नहीं होता हैं। क्योंकि स्वार्थिक स्थल में प्रकृत्यर्थ में ही प्रत्ययार्थ का समावेश होता है। एवं शरीर में रहने पर भी परमात्मा में सुखादि का भोग नहीं होता है। इसमें श्रुति का भी संवाद बतलाते हैं तयोरन्य"इत्यादि। दो सुपर्ण परस्पर मित्र भाव को प्राप्त करके विनाशी स्वाभावक एक शरीर रूप वृक्ष पर बैठे हैं। उन दोनों में से ऐक जो जीव है वह तो स्वकृत कर्म फल का उपभोग करता है। और तदन्य जो परमात्मा हैं वह कर्मफल का उपभोग नहीं करता हैं। केवल सर्वसाक्षी रूप से अवस्थित रहता है। इसी तरह इस विषय में स्मृति भी प्रमाण है। तत्र

वस्थितयोरपि तयोर्जीव एव कर्मफलभोक्ता न तु परमेश्वरकर्मजन्य फलभोक्ता भवति तत्र श्रुतिमाह "तयोरन्य" इत्यादि । एकस्मिन् देहरूपे वृक्षे विद्यमानावपि जीवेशौ जीव एव कर्मजनितफलस्य सुख-दुःखादेर्भोक्ता भवति परमात्मा तु तत्र वसन्नपि कर्मफलाऽभोक्तृत्वे नानश्नन्नपि प्रकाशमानो भवति अथवा जीवः कर्मफलं पिबति पर-मेश्वरस्तु पिबन्तं जीवं पाययति सर्वकर्मप्रेरकत्वात्तस्य । उभयोः शरीरे-ऽवस्थानाविशेषे गगनवत् सर्वत्र विद्यमानोऽपि फलभाग् न भवतीति । "तत्र यः परमात्मासावित्यादि । तत्र परमात्मा परमपुरुषः सर्वेश्वरश्री रामः सो नित्यः सर्वदा एकरूपः उपाधिभेदेऽपि कदाचिदपि उत्पाद विनाशादि विकार रहितः तथा निर्गुणः हेयलौकिक गुणरहितः "नि-र्गता निकृष्टाः सत्त्वादयः प्राकृता गुणा यस्मात्तन्निर्गुणमित्याचार्योक्तेः "निकृष्टगुणराहित्यमेव निर्गुणत्वम्" (आनन्दभाष्यम् १।१।२।) ।अर्थात् पदार्थानामुत्पादविनाशौ क्वचित् स्वरूपेण भवतः क्वचिद् गुणोत्पत्त्या, यः परमात्मा सौ" इत्यादि । उसमें जो परमात्मा है वह तो नित्य सर्वथा उत्पाद विनाश धर्म रहित हैं तथा निर्गुण है । अर्थात् प्राकृतिक जो दोष उन सबों से सर्वथा विनिर्मुक्त है । वह कमजन्य जो फल हैं सुख दुखादिक उनसे वैसे हि लिप्त नहीं होता है । जिस तरह सर्वदा जल में रहता हुआ भी कमल पत्र जल से आश्लिष्ट नहीं होता है । इस तरह यह परमा त्मा शरीर में सर्वदा सर्वत्र अवस्थित है, तथापि तदीय सुखदुख से सर्वथा वंचित ही रहता हैं यथा वा सूर्य का प्रकाश मेध्य अमेध्य सब पदार्थों में व्याप्त रहने पर भी मेध्यामेध्य स्पर्श जनित फल से रहित ही रहता है । इत्यादि श्रुति स्मृति जीव तथा परमात्मा में विशेषता को स्पष्ट रूप से बतलाती हैं । एवं "न मां कर्माणि लिंपन्ति न मे कर्म फले स्पृहा । न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय"मुझ में कर्म लिप्त नहीं होते हैं । न वा मुझको कर्मफलों की स्पृहा है । वे कर्म हममें निबद्ध नहीं होते है । इत्यादि

॥ अथात्ताधिकरणम् ॥

अत्ता चराचरग्रहणात् ।१।२।९।

काठके–'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः । [का० १।२।२५।] इत्याम्नायते । अत्रौदनोप सेचनपदार्थाभ्यां तत्सम्बन्धी कश्चिदत्ता प्रतीयते । स किं जीव आहो

यथा घटस्य दण्डादिकारणेन स्वरूपत उत्पत्तिर्जायते । । तथा मुद्गरादि-पातेन गुणस्योपचयापचयाभ्यां । तत्रोभयप्रकारक उत्पादविनाशयोर-भावं द्योतयितुं 'नित्यो' 'निर्गुण' इति विशेषणद्वयमत्रप्रदर्शितवान् । एतादृशः परमात्मा शुभाशुभकर्मजनितैः सुखदुखात्मफलैः कथमपि लिप्तो न भवति । यथा पद्मपलाशोंऽभसा कदाचिदपि लिप्तो न भवति तद्व-देवेति । इत्यादि श्रुतिस्मृतयो जीवात्मपरमात्मनोर्विशेषतां प्रतिपाद-यन्तीति दिक् ॥८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य–रामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्रकृतस्य
श्रीरघुवरीय–वृत्तिविवरणस्य सर्वत्र प्रसिद्ध्यधिकरणं प्रथमम् ।१।

स्मृतिशत परमात्मा में कर्म जनित फल सम्बन्ध का निवारण करनेवाली है । इसलिए परमात्मा में कर्मफल का सबन्ध नहीं होता है । किन्तु जीव में ही कर्मफल का सम्बन्ध होता है । इससे यह सिद्ध होता हैं कि "मनो मय प्राणशरीरभारूप"इत्यादि श्रुतियों में मनोमयत्वादि गुणविशिष्ट परमात्मा ही उपदिश्यमान होते हैं । परन्तु जीवात्मा उपास्यता रूप से उपदिश्यमान नहीं है । विशेष विचार श्रीमदानन्दभाष्यादि आकर ग्रन्थोंमें देखें ॥८॥

उपास्यः सर्वथारामो नोपास्यो जीव इत्ययम् ।
प्रसाधितो हि यत्नेन श्रुतिस्मृतिसमाश्रयात् ॥१॥

इति सारबोधिन्यां सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम् ॥

सारबोधिनी–जिस तरह "मनोमयः प्राणशरीरोभारूपः" इत्यादि श्रुति समधिगत मनोगुण विशिष्ट रूप से परमात्मा का प्रतिपादन होने से

स्वित्परमात्मेति संशयः । तत्र भोक्तृत्वं हि कर्मायत्तं तच्च जीवस्यैव सम्भवतीति स एवात्रात्तेति पूर्व पक्षः, अत्राभिधीयते –अत्ता ह्यत्र परमात्मैव । चराचरं जगददनस्थानीयतया तस्यैव सम्भवति । स्वयमद्यमानत्वे सत्यन्यादनहेतुरूपोपसेचनस्थानीयो मृत्युरन्यस्य नोपपद्यते । एतादृश सामर्थ्यं परमात्मन एवेति स एवात्रात्तेति ॥९॥

विवरणम्–इतः पूर्वाधिकरणे "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादिश्रुति वाक्यानां परमपुरुषे श्रीरामे एव समन्वयो भवतीति विज्ञाप्य तस्य परमात्मनो हृदयादिदेशेऽवस्थाने परमात्माऽपि जीववत् सुखदुःखात्मक फलोपभोगः प्राप्नुयादित्यस्य प्रश्नस्यापि निराकरणं कृतवान् । अतः परं "यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचन"मित्यादि श्रुतीनामपिपरमकारणे परब्रह्मणि सर्वेश्वरे श्रीराम एव समन्वयप्रदर्शनाय प्रक्रमतेः–"काठके" इत्यादि काठके कठवल्ली श्रुतौ श्रूयते "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च. उभे भव ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः" [यस्य महात्मनो ब्राह्मणः, क्षत्रियश्च अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रियोपलक्षितं निखिलमेव चराचरात्मकं जगत् ओदनः भक्तस्थानीयं भवति.

यथोक्त श्रुतिका समन्वय परमात्मा में है । अथवा "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि श्रुतियों का समन्वय परमात्मा में ही हैं । उसी तरह "यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च" इत्यादि श्रुतियों का भी समन्वय परमात्मा में ही है । न तु तदतिरिक्त किसी अन्य में इस बात को बतलाने के लिए तथा सूत्र· व्याख्यान करने के लिए प्रक्रम करते हैं–"काठके" इत्यादि जिसका ब्राह्मण क्षत्रिय अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रियोपलक्षित सम्पूर्ण जगत् ओदन स्थानापन्न है । और सर्व मारकतया प्रसिद्ध यमराज भी शाकसूप [दालशाक] स्थानापन्न हैं । अर्थात् जिस तरह लोक दाल साग चटनी के सहायता से भात रोटी को खाता है उसी तरह मृत्यु को सहायक मानकर के समस्त जगत् को जो खाने· वाला है । एतादृश विलक्षण शक्तिमान् को कौन जान सकता है । यहाँ ओदन

तथा मृत्यु स्वातिरिक्तसर्गस्तस्य जगतो मारको यमराज उपसेचनं शाकसूपस्थानोयं भवति। एतादृशविलक्षणसामर्थ्ययुक्तं परमात्मानं को वेद. को ज्ञातुं शक्नुयात्। अर्थात् विलक्षणशक्तिसंपन्नस्यपरमेश्वरस्य ज्ञानं कस्य स्यात्। दुर्लक्ष्यत्वात् को वा तं जानियात्।] ज्ञातुं शक्नुयादित्यभि प्रायः तत्रौदनोपसेचनपदद्वये नेत्थं ज्ञातं भवति यदस्ति सर्वस्य जगतो भक्षकः कश्चित् पुरुषः । तत्र संशयो भवति. यत् अत्र. अत्ताजीवो भवति परमात्मा वा । कुतः संशयः ! यतोऽत्र विशेषहेतोरदर्शनात्। अस्मिन् प्रकरणे जीवस्य परमात्मनश्चोभयो रपि समावेश. संभवात्। एतस्मिन् भवति पूर्वपक्षो यज्जीवस्यैव ग्रहणम्। यतः कर्मवसेन भोक्तृत्वं जीवस्यैव । यतो जीवः कर्मवलात् सर्वभोक्तृत्वं जीवस्यैव । यतो जीवः कर्मबलात् सर्वभोग्यजातमत्तीति प्रसिद्धम्। नतु परमेश्वरस्य प्रकृते ग्रहणं तस्य कर्माभावेन कर्मबलप्राप्तातृत्वस्य तस्मिन्नसंभवात् प्रत्युत "अनश्नन्नन्योऽभिचाकसीति" इत्यादि परमेश्वरे भोक्तृत्व प्रतिषेधनात्। तस्माज्जीव एव सर्वस्यात्तेति पूर्वपक्षः। पक्षस्यास्य निराकरणायाह वृत्तिकारः अत्राभियीयते अत्ताचराचर ग्रहणात्। अत्र प्रकरणे अत्ता सर्वभक्षकः परमात्मैव भवति. नतु परमेश्वरातिरिक्तः कश्चित्। कथम्? चराचर-उपसेचन पदार्थ के होने से तत्सम्बन्धी कोई अत्ता है। ऐसा सूचित होता है। तो वह कौन है ? क्या कोई जीव विशेष सबका अत्ता है। अथवा सर्व वेदान्त वेद्य परमात्मा अत्ता है । क्योंकि एक किसी का नियामक कोई हेतु विशेष नहीं है । तो यहाँ पूर्व पक्ष होता है कि भोक्तृत्व तो कर्माधीन है। वह कर्म तो जीव में ही समवाय सम्बन्ध से रहता है अतः अत्ता जीव ही है परमात्मा नहीं क्योंकि परमात्मा में तो शुभाशुभ कर्म नहीं हैं वे तो सर्व पापरहित हैं। एवं परमेश्वर के विषय में तो मुण्डक में "अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" ऐसा कहा है। इसलिए अत्ता कोई जीव है।

इस प्रश्न का उत्तर करने के लिए सूत्र पद का उत्थान करते हुए कहते हैं—"अत्ता चराचरग्रहणात्" यहाँ अत्तापद से परमात्मा

ग्रहणात् । यतोऽत्रभक्ष्यत्वेन ब्राह्मण क्षत्रियोपलक्षितं चराचरं स्थावरजंगमात्मकजड़ाजड़ंसर्वमेवजगत् अद्यमानतया श्रुतम्. नहि सर्वस्य पदार्थजातस्य सर्वसंहारक यमसहितस्य संहारकत्वं जीवस्य सम्भवति जीवस्यापि सर्वान्तर्गतत्वात् । किन्तु एतेभ्योऽतिरिक्तः कश्चिदत्तात्र । स च परमात्मैव । तस्य सर्वजगत् संहारकारकत्वश्रवणात्. "यत्प्रयन्त्यभि संविशन्तीति" श्रुतेः । एतदेव स्पष्टयति "स्वयमद्यमानत्वे सत्यन्यस्ये" त्यादि । यमराजो हि सर्वमारकतया प्रसिद्धोऽपि अत्र स्वयमद्यमानतयैव परिगृहीतः शाकस्थानीयतया । तस्मात्सर्वसंहर्तृत्वं यमातिरिक्तस्यैव संभवति स च परः परमात्मैव सम्भवति नान्यः कश्चित् । अयं तु परमात्मा प्रलयकाले ब्राह्मणक्षत्रियोपलक्षितं सर्वं जगत्स्वात्मन्युपसंहरन् सर्वस्य भक्षकत्व रूपमत्तृत्वं भवति । यास्तु श्रुतयः परमेश्वरस्य भोक्तृत्वनिषेधप्रतिपादिकाः न ताः परमेश्वरस्य सर्वभक्षकत्वं निवारयन्ति किन्तु कर्मबलागतस्य भोग्यस्य भोजकत्वं निवारयन्ति । यतः "न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा" इति भगवदुक्तेः । "जीवानां पुण्यपापमूलकानि

का ही ग्रहण करना चाहिए । क्यों कि अद्यमान रूप से चराचर–समस्त जगत् का कथन किया गया है । यह सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत् परमेश्वर का ही अदनीय होना चाहिए तदन्य का नहीं । क्यों कि स्वयम् अद्यमान होकर के अन्य के अदन कारण उपसेचन स्थानापन्न मृत्यु अन्य सबका अत्ता नहीं हो सकता है । अर्थात् मृत्यु स्वयमेव अद्य मान है । तब वह अन्य का अत्ता कैसे होगा ? अतः सर्व का अत्ता परमेश्वर ही यहाँ अत्ता शब्द से परिगृहीत होते हैं । भगवान् तो प्रलयकाल में सबका उपसंहरण करनेवाले हैं । उनमें सर्व सामर्थ्य है । "कालोस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः" इत्यादि स्मृति से प्रसिद्ध ही है । "यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" इत्यादि श्रुतियों से सर्व संहारकर्तृत्व भगवान् में ही होने से तादृश परमात्मा ही यहाँ अत्ता

प्रकरणाच्च ।१।२।१०।

'महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' [का० १।२।२२।]
इति परस्यैवेदं प्रकरणम् । तस्मादत्तात्र परमपुरुष एव ॥१०।

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ–अत्ताधिकरणं द्वितीयम् ॥२॥

कर्माणि तेषामेव बन्धविधायकतामुपयान्ति न तु मम सर्वेश्वरस्येति यावत्'' (गीतानन्दभाष्यम् ४१४) इति व्याख्यानाच्च परमेश्वरे शुभाशुभकर्मणोऽसद्भावात् । सर्ववेदान्तेषु परमपुरुषस्यैव संहारकत्वं सर्वजगतः ''यतो वे'' त्यादौ प्रतिपादितम् । तस्मादत्र सर्वस्यात्ता परमात्मैव भवति नतु तदतिरिक्तोऽग्निर्वा जीवो वेति सिद्धान्तः पक्ष इति दिक् ॥९॥

विवरणम्–न केवलमत्र चराचरभक्षणमूलकतयव अत्तेतिपदेन परमात्मनो ग्रहणमपितु प्रकरणमपीदं परमात्मन एव । ततश्च प्रकरणबलादपि परमात्मैव सर्वभक्षकतया प्रकृते समुपस्थापितो भवतीति द्योतयितुं प्रकरणमुदाहरति=''महान्तं विभुमित्यादि । अयं भावः''अन्यत्रधर्मादन्यत्रा धर्मादन्यत्रा स्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्चभव्याच्चयत्तत्पश्यसि तद्वद''

पद से गृहीत होते हैं तदन्य नहीं । परमेश्वर में भोक्तृत्व का जो श्रुति निषेध करती है वह कर्माधीन भोग का निषेधक है इसलिए किसी भी प्रकार विरोध नहीं हैं ॥९॥

सारबोधिनी– इस से पूर्वसूत्र में कहा है कि ''यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः'' [जिसका ब्राह्मण–क्षत्रियोपलक्षित समस्त स्थावर जंगमात्मक जगत् ओदन है । तथा सर्वसंहारक यमराज जिसका दालसाग है । एतादृश विलक्षण महिमाशाली सर्वशक्तिमान् परमात्मा किस जगह में रहता हैं । इस बात को कौन जान सकता है ?] इस श्रुति में ओदनादि से संबन्धित कोई ओदनादि का भक्षण करनेवाला है । ऐसा कौन है जीव है ? कि परमात्मा हैं ! एतादृश संशय के बाद सिद्धान्त किया गया कि

योहि पदार्थो धर्मात् धर्मसम्बन्धरहितादधर्मात् । अधर्मवद् धर्माच्च भिन्नः, यश्चकृताज्जायमानात्, अजायमानाच्च भिन्नोभूतभव्यवार्तमानिकपदार्थजातेभ्यो भिन्नस्तादृशं यं पदार्थं त्वं धर्माचरणेनाराधितपरमेश्वरेण पश्यसि तमेव परमात्मानं ब्रह्मतत्त्वं मत्कृते प्रतिपादय इत्येवं नचिकेतसा पृष्टो यमस्तादृशं परमात्मानं बोधयितुम् "महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति" "कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति" इत्यादिना भगवतः स्वरूपमुपदर्शयन्निदं प्रकरणमुत्थापितवानिति प्रकृतप्रकरणस्य परमात्मप्रकरणात्. तत्प्रकरणे प्रतिपाद्यमानः कथमिव जीवः स्यात् ?। तस्मादत्र प्रकरणे सर्वात्तृतयासमुपदिश्यमानः परमात्मैव भवति नतु तदन्यो जीवो वा अग्निर्वेति प्रकरणार्थः ॥१०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य—रामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतस्य श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणस्यात्ताधिकरणं द्वितीयम् ॥२॥

अद्यत्व रूप से चराचर का ग्रहण होने से सर्व सामर्थ्यवान् परमात्मा ही अत्ता है । जीव अत्ता नहीं है । परन्तु एतावत् मात्र से ही अत्ता परमात्मा है सो नहीं किंतु यह प्रकरण परमात्मा का है । इससे भी यह सिद्ध होता है कि अत्ता परमात्मा ही है । इस बात को बतलाने के लिए प्रक्रम करते हैं "महान्तम्" इत्यादि । आकाशादि के अपेक्षा से भी अति महान् "महतो महियान्" इति श्रुतेः। विभु सर्व व्यापक उस परमात्मा को जानकर तपस्यादि के द्वारा पवित्र अन्तःकरण से उस परमात्मा का साक्षात्कार करके आत्मज्ञानी भक्त शोक पदवाच्य संसार को पार कर जाता है । अर्थात् साकेत निवास लक्षण मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । तथा "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" "कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति" "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यस्मात् कृताकृतात्" इत्यादि परमात्मा का ही प्रकरण है । तो इस प्रकरण से भी सिद्ध होता है कि प्रकृत में अत्ता पद से परम पुरुष भगवान् श्रीरामजी का ग्रहण करना उचित है, तथा ग्रहण किया जाता है । जीव का ग्रहण अत्ता पद से

अथ गुहाप्रविष्टाधिकरणम्

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।१।२।११।

काठके—ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे, [का०।१।३।१।] इति श्रूयते । किमत्र बुद्धिजीवावाहोस्विज्जीवेश्वराविति संशयः, तत्रेश्वरस्य विभुत्वादपरिच्छिन्नत्वात्कर्मफलभोक्तृत्वासम्भवाच्च हृदयगुहाप्रवेशासम्भवाद्बुद्धिजीवावेवेति पूर्वः पक्षः । अत्राभिधीयते—

विवरणम्=इतः पूर्वाधिकरणे सर्वस्य संसारस्य संहारकाले भगवान् सर्वमुपसंहृत्य स्वात्मनि संस्थापयन् सर्वस्यात्ता भवति. "शेतेऽनन्तासने सर्वमात्मसात्कृत्य चाखिल" मिति पुराणवाक्यात् । तत्र सर्वस्यात्ता भगवानेव भवति नतु जीवेति प्रतिपादितम् । ततः परम् "ऋतं पिबन्तौ" वित्यादि काठक श्रुतौ गुहायां प्रविष्टौ इति ज्ञायते. तत्र जीवेश्वरौ प्रतिपादितौ भवतो बुद्धिजीवाविति संशयनिराकरणाय प्रकरणमिदमारभमाणो वृत्तिकारः प्राह—"काठके" इत्यादि । तत्र काठकश्रुतौ ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके इत्यादि वाक्यं श्रुतं भवति ।[तत्र ऋतं कर्मफलं नहीं है । क्योंकि जीव का यह प्रकरण नहीं है । परमात्मा में जो अत्तृत्व का निषेधपरक श्रुति है उसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा जीव के समान शुभाशुभ कर्मजनित सुखदुःखादि का उपभोक्ता नहीं है ॥१०॥

इत्यत्ताधिकरणं समाप्तम् ॥

सारबोधिनी—कठोपनिषद् में आया है कि "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके" स्व से संपादित जो शुभाशुभ कर्म है उसके अर्थात् सत्य शुभाशुभ कर्म फल का पान करनेवाला तथा बुद्धि रूप गुहा में—हृदयाकाश में अवस्थित रहनेवाले छायातप के समान परस्पर विलक्षण स्वभाववाले इस शरीर में हैं । अब यहाँ सन्देह होता है कि पिबन्तौ में जो द्विवचन है उससे बुद्धि तथा जीवात्मा इन दोनों का ग्रहण किया जाता है, अथवा जीव परमात्मा इन दानों का ग्रहण किया जाता है क्योंकि कोई नियामक विशेष

जीवेश्वरावेवात्र गुहाप्रविष्टाविति निश्चीयते । अस्मिन् काठके प्रकरणे "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति । ईशानो भूतभव्यस्य, [का० २।४।१२।]'तं दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं गुहाहितम्, [का० १।२।१२।] "या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयि । गुहा प्रविश्य तिष्ठन्ती' [का० २।१।७।] इत्यादिवाक्येषु परप्रतिपादनमेव दृश्यते ॥११॥

पिबतौ भुंजानौ स्वकृतस्य कर्मणः लोके तत्र लोक्यते भुज्यते कर्मफलं यस्मिन् स लोको देहस्तस्मिन्नवस्थितौ तौ द्वौ जीवेशाविति पुनः गुहां गुहायां हार्दाकाशे वर्तमानौ तौ च द्वौ छायातपवत् परस्परं विलक्षणा-विति ब्रह्मविदो ब्रह्मज्ञानिनः कथयन्ति, तथा ये पञ्चाग्नयो गृहस्थाः तथैव ये त्रिवारं नाचिकेताग्नेर्चयनं कृतवन्तस्ते इत्थं प्रतिपादयन्ति] इति । तत्र किमत्र बुद्धिजीवयोर्ग्रहणं भवति अथवा जीव परमात्मनो-र्ग्रहणम् ! अत्रैकपक्षस्य नियामकहेतोरभावाद् भवति संशयः । ततश्च ऐसा नहीं है कि जिसके द्वारा सिद्ध किया जाय कि बुद्धि जीव हो द्विवचन पद से ग्राह्य हो अथवा जीव परमात्मा को हो द्विवचन से ग्रहण किया जाय। अतः नियामक विशेष हेतु के अभाव होने से सन्देह होता है। तो इसमें पूर्वपक्ष होता है, बुद्धि जीव पक्ष ही ठीक है। जीव परमात्मा पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि परमात्मा तो सर्वव्यापक है। तथा "महतो महीयान्" इत्यादि महत परिमाणवान् होने से सर्व परिच्छेद रहित है। और परमात्मा में तो कर्मफल भोक्तृत्व भी असंभवित है। कर्मफल का भोक्ता तो जीव होता है। इसलिए अति सूक्ष्म हृदयादि रूप गुहा में प्रवेश नहीं होने से जीव परमेश्वर पक्ष ठीक नहीं है किन्तु बुद्धि जीव पक्ष ही ठीक है क्योंकि बुद्धि परिच्छिन्न है असर्वगत है। जीव भी अणु है, व्याप्य है तो इन दोनों का परिच्छिन्न गुहा में प्रवेश संभवित है। और जीवकर्मफल का भोक्ता भी बनता है। उनमे बुद्धि जीव का गुहा में अवस्थान है यह पक्ष ही ठीक है। जीव परमेश्वर पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि परमेश्वर सर्वव्यापक है। तो परमेश्वर का परि-

परमेश्वरस्य सर्वव्यापकत्वात् तथाऽपरिच्छिन्नत्वात् तथा कर्मफल-भोगस्य परमेश्वरेऽसंभवात् हृदयात्मकगुहाया परिच्छिन्नत्वेन तादृश-गुहायां प्रवेशासम्भवान्न जीवेशपक्षसमुचितोऽपितु परिच्छिन्नत्वाद् बुद्धिजीवपक्षस्यैव सम्भवः, यत उभयोरपि बुद्धिजीवयोः परिच्छि-न्नत्वात्तत्र प्रवेशसम्भवात्, जीवस्य स्वकृतकर्मफलसुखदुःखयोर्भोक्तृत्व-संभावाच्च । तस्माद् बुद्धिजीवयोरेव ग्रहणं कर्त्तव्यं नतु जीवपरेशपक्षो ग्राह्य इति पूर्वपक्षः । तदत्र पूर्वपक्षे प्राह 'अत्राभिधीयते' इति । गुहां प्रविष्टावित्यादि । अत्र जीवेशावेव गुहां प्रविष्टाविति निश्चीयते । कुतः ? तस्यैव परमेश्वरस्य सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यत्वात् । एवमस्मिन्येव काठकप्रकरणे "अंगुष्ठमात्रः पुरुषः" इत्यादि [अंगुष्ठप्रमाणकः आत्मन शरीरस्य मध्ये हृदयप्रदेशे तिष्ठति वर्तते स च परमात्मा भूतस्यातीत-स्य भव्यस्यानागतस्य वर्तमानकालावच्छिन्नतस्य सर्वस्य पदार्थजातस्य ईशा नो नियमनकर्त्ता परमपुरुषऽवतिष्ठते इत्यर्थः।] श्रुत्या सर्वहृदये वर्तमानः परमात्मेति गम्यते । एवम् "तं दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवम्मत्वाधीरो हर्षशोकौ जहाति "यो

च्छिन्न गुहा प्रदेश में प्रवेश बाधित है। एतादृश पूर्वपक्ष का निराकरण करने के लिए कहते हैं–"अत्राभिधीयते" बुद्धि जीव पक्ष ठीक नहीं है । किन्तु जीब परमेश्वर ही यहाँ गुहा प्रविष्ट हैं ऐसा निश्चय किया जाता है । क्योंकि दोनों जीव परमेश्वर चेतन हैं । तब पूर्वपक्षी कहता है कि परमेश्वर तो व्यापक है । उनका परिच्छिन्न गुहा प्रदेश में प्रवेश तो बाधित है । इसके उत्तर में वृत्तिकार कहते हैं–"अस्मिन् काठके" इत्यादि । इसी कठोपनिषत् के प्रकरण में कहा है कि "अङ्गुष्ठ मात्रः" शरीर के मध्य हृदय प्रदेश अर्थात् हार्दाकाश में अंगुष्ठपरिमाण परिमित परमात्मा विद्यमान रहते हैं । जो कि भूत भविष्य वर्तमानकालिक पदार्थमात्र का ईशान हैं। इस सर्व नियामकत्व रूप धर्म के कथन से सिद्ध होता है कि वह परमात्मा है । क्योंकि सर्व निया-

वेद निहितं गुहायाम्" इत्यादिभिः सर्वगतस्यापि परमात्मनो हृदय-लक्षणगुहायां नित्यमवस्थानं श्रूयते। तथा "या प्राणेन सम्भवत्यदिति-र्देवतामयी गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिः" इत्याद्यनेक वाक्येषु यद् हृदयप्रदेशे परमात्मनोऽवस्थानं दृश्यते एव। तस्मादत्र जीवपरमा-त्मानौ गुहायां प्रविष्टाविति निश्चीयते। यद्यपि ऋतपानकर्तृत्वं परमेश्वरे स्वभावतो न विद्यते किन्तु कर्मजनितफलभोक्तृत्वं जीवस्यैवेति बुद्धि—जीवयोरेवात्र ग्रहणं कर्त्तव्यं नतु जीव परमात्मनो ग्रहणं न्याय्य-मिति। तथापि परमात्मा कर्मफलमभुञ्जानोऽपि समुपभुञ्जन्तं जीव-मुपभोजयति'शत्रूनगमयत्स्वर्गं'मितिवदुपपद्यते। तदाहुर्भाष्यकाराः"अथवा जीवःपिबति परमात्मा पाययति एवमपि पिबतीत्येवमुच्यते। पाचयि-तर्यपि पक्तृत्व प्रसिद्धिदर्शनात्। अनन्यशरणं भक्तार्पितकर्मफलस्याग्र-भोक्तायं परमात्मेति प्रसिद्धश्च। तस्मात्स्पष्टजीवपरमात्मलिङ्गाज्जीव परमात्मानावेव गुहाप्रविष्टाविति" (आनन्दभाष्यम् १।२।११) तस्मादत्र मकत्व गुण अनन्य साधारण परमात्मा का ही है। "एवं मत्तं दुर्दर्शं गूढ़-मनु प्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन नित्यं ज्ञात्वा देवं हर्षशोकौ जहाति"। "या प्राणेन संभवति" इत्यादि अनेक वाक्यों में परमात्मा का ही प्रतिपादन देखने में आता है। इसलिए अपरिच्छिन्न परि-माणक परमेश्वर का अवस्थान परिच्छिन्न हृदय में नहीं हो सकता है यह कह करके जो जोवेश्वर पक्ष का निराकरण करने का साहस किया गया था वह परास्त हो गया। क्योंकि अनेक श्रुति प्रमाण से बतलाया गया कि हृदय में परमेश्वर का अवस्थान है। और "ईशानो भूतभव्यस्य" इत्यादि फल भोक्तृत्व चेतन जीव में नहीं है। बुद्धि जड़ है। उसमें कर्मफल भोक्तृत्व तथा सर्व नियामकत्व की संभावना भी नहीं होती है इसलिए बुद्धि जीव पक्ष तो सर्वथा बाधित होने से अनुपपन्न ही है। जीव परमेश्वर पक्ष श्रुति युक्ति अनुभवात्मक प्रमाणानुमोदित होने से सर्व सामंजस्य

विशेषणाच्च ।१।२।१२।

"ब्रह्मजज्ञं देवमीडयम्" [का० १।१।११।] इत्यादिषु परजीवयोरेवोपास्योपासकत्वेन विशिष्टतया प्रतिपादनात् तावेवात्रोच्येते ॥१२॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ गुहाप्रविष्टाधिकरणम् ॥३॥

परमात्मन एव ग्रहणं न्याय्यं नान्यस्येति दिक् ॥११॥

विवरणम्— न केवलं पूर्वोदाहृतश्रुतिरेव गुहाप्रविष्टौ जीवपरमेश्वरावेवेतिब्रूते किन्तु प्रकरणेऽस्मिन् तावन्ति बहूनि विशेषणानि सन्ति यैरकामेनापि जीवपरयोरेव ग्रहणं भवतीति प्रकाशयितुमाह "ब्रह्मजज्ञ" मित्यादि । "ब्रह्मजज्ञं देवमीडयं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति" तत्र ब्रह्मणा परमेश्वरेण जातो ब्रह्मजो जीवः स चासौज्ञश्च ज्ञानाधिकरणत्वात् ज्ञः, अथवा विषयजातं जानातीति

होता है । अतः जीवेश्वर पक्ष ही समुचित हैं ॥११॥

सारबोधिनी— "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके" इत्यादि श्रुति में कर्मफल का पानकर्त्ता कोई अवगत होता है । तो उसमें पान कर्तृत्व बुद्धि जीव में है । अथवा जीव और परमात्मा में है । एतादृश संशय के बाद परमेश्वर तो आप्तकाम है । इसलिए जीव-परमेश्वर पक्ष ठीक नहीं है । किन्तु जीव बुद्धि पक्ष ही ठीक है ऐसा पूर्वपक्ष करके उत्तर किया गया कि इस प्रसङ्ग में जीव परमेश्वर पक्ष ही ठीक है । ऐसा पूर्वसूत्र में विचार किया गया है । परन्तु इतना ही मात्र कथन पर्याप्त है सो नहीं पर इस प्रकरण में बहुत ऐसे विशेषण हैं, जैसे 'उपास्य' उपासकभाव, तथा 'गन्तृ गन्तव्यादिक' का प्रतिपादन किया गया है । परमात्मा गन्तव्य है, जीव गन्ता है । जीव उपासक है और परमेश्वर उपास्य है । परमात्मा की उपासना से जीव को श्रीरामपद की प्राप्ति होती है ऐसा कहा गया है । तो ये सब बात तब ही बन सकती है जबकी इस प्रसंग से जीव-परमात्मा का ग्रहण किया जाय । इस बात को बतलाने के लिए प्रक्रम करते हैं "ब्रह्म जज्ञम्" इत्यादि । [ब्रह्म परमात्मा

अथान्तराधिकरणम्

अन्तर उपपत्तेः ।१।२।१३।

"य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच, [छा०

ज्ञः–ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञोजीवः, तं देवमीड्यं जीवं विदित्वा अर्थाज्जीवात्मानमुपासकं ब्रह्मरूपतया चेतनत्व धर्मपुरस्कारेणावगम्येत्यर्थः । तञ्च ज्ञात्वात्यन्तशान्ति मोक्षं प्राप्नोति । एवं "सोध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" [सो भक्तिद्वारेण समुपासित उपासको जीवो विष्णोः परमपुरुषस्य श्रीरामस्य पदं साकेताख्यं स्थानं मोक्षं प्राप्नोति नियमत इत्यर्थः] इत्यादि बहुशः स्थलेषु प्राप्यत्व प्रापकत्व उपास्यत्वोपासकत्वादि विशेषणानां दर्शनाज्जीवपरमात्मानावेव प्रकृतस्थले परिगृहीतौ भवतो नतु बुद्धिजीवाविति दिक् ॥१२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र कृतस्य श्रीरघुवरीय वृत्तिविवरणस्य गुहाप्रविष्टाधिकरणं तृतीयम् ॥३॥

से उत्पन्न ज्ञानवान् जीव को देवमीड्य जान करके अर्थात् एतादृश जीवात्मा उपासक ब्रह्म को स्वरूपतया जान करके अति शांति स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है ।] इस श्रुति में जीव को उपासक तथा परमात्मा को उपास्य रूप से कथन किया गया है । एवं "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु" इत्यादि प्रकरण में रथी रथादि की कल्पना करके संसार से मोक्ष मार्ग में जानेवाला गन्ता जीव है ऐसा निश्चय करके "सोध्वनः परमाप्नोति" इसमें परमात्मा को गन्तव्य बतलाया गया है । ये सब बातें तब ही बन सकती जब कि जीव परमात्मा पक्ष का ग्रहण किया जाय । इस प्रकार बुद्धिजीवपरिग्रहण पक्ष ठीक नहीं है। किन्तु जीव परमात्मा पक्ष ही उचित तथा आवश्यक है ॥१२॥

॥ इति गुहाप्रविष्टाधिकरणम् ॥

४।१५।१।] इत्युपकोशलविद्यायामाम्नायते । किमत्र चक्षुरिन्द्रियाधिष्ठाता कश्चिज्जीवविशेषोऽभिधीयते परमात्मावेति संशयः । श्रुतौ "दृश्यते" इति प्रत्यक्षवन्निर्देशाच्चक्षुषः स्थानविशेषस्य निर्देशाच्च जीवविशेष एवात्रोपदिश्यत इति पूर्वपक्षः । अत्राभिधीयते परमात्मैवात्रोपदिश्यते । 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म" इत्युपदिष्टगुणानां तत्रैवोपपत्तेः । नहि जीवात्मनोऽमृतत्वादिगुणकत्वं सम्भवति ॥१३॥

विवरणम्—छान्दोग्योपनिषद उपमोशलविधायाम् "य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच । एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म" इत्येवं श्रूयते । [अक्षिणि चक्षुषो मध्यभागे य एषः प्रत्यक्षरूपेण दृश्यमानः पुरुषः पुरुषाकारो दृश्यते सर्वैरेवानुभूयमानो भवति, अयमेव आत्मा स च परिदृश्यमानोऽमृतम्. अमृतस्वरूपस्तथा अभयात्मको ब्रह्म स्वरूपश्चेत्यर्थः ।] अत्रात्मपदस्य श्रवणात् स जीवात्मा परमात्मा वा ? यत् आत्मपदस्य जीवे परमात्मनि चोभयत्र प्रयोगदर्शनात् । तत्र नियामकस्यैकस्य हेतु विशेषस्याभावात् स्वभावत एव संशयकारणस्य साधारणधर्मदर्शनस्य सत्त्वाद् भवति संशयः । यथा स्थाणुपुरुषसाधारणस्योच्चैस्तरत्वस्य दर्शनेन

सारबोधिनी— "य एषोऽक्षिणीत्यादि" जो यह अक्षि अर्थात् नेत्र में पुरुष देखने में आता है यही आत्मा है । ऐसा कहा इस प्रकार से छान्दोग्योपनिषद् के उपकोशल विद्याप्रकरण में देखा गया है । अब यहाँ सन्देह होता है कि चक्षुरिन्द्रिय के अधिष्ठाता कोई जीव विशेष है । अथवा परमात्मा है । क्योंकि आत्मपद उभय साधारण है । लोकप्रसिद्धि तथा शास्त्र से भी आत्मपद वाच्यत्व जीव को है । और स्थल विशेष में आत्मपद वाच्यता परमेश्वर को भी है । तो उभय साधारण शब्द का दर्शन होने से यहाँ स्वभावतः संदेह उपस्थित होता है । जैसे स्थाणुपुरुष उभय साधारण उच्चैस्तरत्व धर्म को देखने से यह स्थाणु है कि पुरुष है, ऐसा संदेह हो जाता है । तद्वत्

स्थाणु र्वा पुरुषोवेति संशयो जायते, तद्वदिहापि जीवपरमेश्वरो भयसाधारणस्यात्मपदस्य सत्त्वाद् भवति संशयो यदिह जीवात्मा परिगृहीतव्य उपासनाय अथवा परमात्मा वेति संशये भवति पूर्वपक्षो यदत्र जीवस्यैव ग्रहणं कर्त्तव्यम्. कुत? समुदाहृतश्रुतौ "दृश्यते" इति प्रत्यक्षरूपेण निर्देशदर्शनात्. दृश्यते घटः पटश्चेत्यादिवत्। तथा चक्षुरूपेन्द्रियस्थानस्यापि निर्देशः कथनं भवति। जीवो हि शरीरेन्द्रियाणामधिष्ठाता चाक्षुषप्रत्यक्षकाले चक्षुषन्निहितो भवति। परमात्मा तु सर्वव्यापकः परममहांश्च स कथमिवाल्पपरिमाणकचक्षुषि सन्नियतो भविष्यति नहि सर्वत्रावस्थितस्य प्रदेशविशेषेऽवस्थानं स्वाभाविकं स्यात्। जीवस्य तु शरीरादिकमुपभोगस्थानमिति तत्र तस्य समावेशः स्वाभाविक एव अन्यथा तदिन्द्रियद्वारकोपभोगस्यैवासंभवप्रसंगात्। तस्माज्जीव एव चक्षुषि समाविष्टो नतु परमात्मेति पूर्वपक्षस्याशय इति॥

तमिमं पूर्वपक्षं निराकर्तुमाह सूत्रोपन्यासमुखेन "अत्राभिधीयते" इत्यादि। नात्र जीवस्य ग्रहणं किन्तु परपुरुषस्यैवात्मपदेन ग्रहणं कर्त्तव्यमिति सिद्धान्तप्रज्ञापकं विशेषहेतुमाह "एतदमृतमभयमित्यादि। अत्र अन्तरः परमात्मैव नतु जीवः। कुतः? उपपत्तेः। उपकोशलविद्याप्रकरणे समुपदिष्टा ये गुणास्तेषामुपपत्तिः समन्वयः परमात्मन्येव संभवति, नतु परमात्मभिन्ने संभवति त-

प्रकृत में संदेह होता है कि यहाँ जीवात्मा का ग्रहण होना चाहिए अथवा परमात्मा का इस स्थिति में पूर्वपक्ष होता है कि श्रुति में "दृश्यते" इस प्रकार प्रत्यक्ष के समान निर्देश होने से और चक्षु रूप स्थान विशेष का निर्देश होने से कोई जीव विशेष ही निर्दिश्यमान होता है। क्योंकि प्रत्यक्ष काल में जीव चक्षु में सन्निहित रहता है। परमात्मा तो आधारवान् जीव की तरह नहीं हैं सर्वव्यापक है। तो उनका स्थान विशेष से कथन तो

स्मात्परमात्मैवात्र ग्राह्यः। के ते गुणास्तत्र समुपदिष्टा येषां परमात्मव्यतिरिक्ते समन्वयो न संभवति इति तान् परमात्मनोऽसाधारणान् धर्मानेवोपदर्शयति "एतदमृतमभयमित्यादि। एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति श्रुति प्रतिपादितायेऽनन्यसाधारणा धर्मास्तेषां परमात्मव्यतिरिक्ते समन्वयासंभवात् नहि तद् व्यतिरिक्ते स्वभावत एते धर्मा समवेताः संभवन्ति तस्मिन तु निराबाधिता एव भवन्ति। नहि निरुपाधिकममृतत्वं भयराहित्यं च जीवे किन्तु परमात्मप्रसादादेव कदाचिदाविर्भवति तस्मिन्नपि। निरूपाधिरूपेण तु समुपदिष्टा एते गुणा परमात्मन्येव। तस्मादेतेषां धर्माणामन्यत्र समन्वयासंभवात् परमात्मैवात्र संभवति नतु जीवः। एवं समदमत्वादिका धर्मा ये "एतेसंयद्वाम" इत्याचक्षते एतेहि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति एष उ एव वामनिः एष एव हि सर्वाणि वामानि नयति" इति श्रुतिवाक्य प्रतिपादिता ये धर्मास्तेषामपि समन्वयः परमात्मन्येव संभवति। नतु तद्तिरिक्ते समन्वयः कथमपि नेतुं शक्य इति परमात्मैवात्र ग्राह्य इति सिद्धान्तः॥ अत्रभाष्यकारस्तु किमयं प्रतिबिम्बात्माह्यक्षाधारतया निर्दिश्यते, अथवा चक्षुषोऽधिष्ठाता देवताविशेषः कश्चित् प्रतिपादितो युक्त नहीं है। अतः यहाँ जीव का ही ग्रहण होना चाहिए, परमात्मा का नहीं। इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं "अत्राभीधियते" यहाँ परमात्मा का ही ग्रहण होता है जीव का नहीं। क्योंकि इस प्रकरण में जिन धर्मों का प्रतिपादन किया गया है "एतद मृतम्" इस श्रुति से अमृतत्व अभयादिकत्व रूप से उनका समन्वय तो केवल स्वभावतः परमात्मा में ही हो सकता है। तादृश सम्बन्ध तो जीव में नहीं हो सकता है। क्योंकि अमृतत्वादिक गुणों का सम्बन्ध तो जीव में बाधित है। एवं जीव में संयद्वामत्वादिक गुणों का भी समन्वय नहीं हो सकता है और परमेश्वर में ही तादृश गुणों का स्वभाव से संबन्ध होता है। इसलिए यहाँ परमात्मा का ही ग्रहण किया जाता

स्थानादिव्यपदेशाच्च ।१।२।१४।

'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' इत्यादिवाक्यैस्तस्य सर्वगतस्यापि ब्रह्मणः स्थानादिप्रतिपादनात्परमात्मैवाक्ष्यन्तरः ॥१४॥

भवति, अथवा शरीरेन्द्रियाणां संचालको जीवोऽभिमतः अथवा सर्वकारणः परमात्मात्र प्रतिपादितो भवतीति संशय्य प्रतिबिम्बस्य अधिष्ठातृदेवविशेषस्य जीवस्यैव ग्रहणं नतु परमात्मनो ग्रहणमित्येवं पूर्वपक्षं कृत्वा 'उपपत्ते' रिति हेतुना परमात्मन एव ग्रहणं भवति नतु प्रतिबिम्बस्याधिष्ठातुर्वाजीवस्य वेति ग्रहणमिति निर्णयं कृतवान् ॥१३॥

विवरणम्-"य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इति श्रुतावक्ष्यादि स्थानविशेषस्य निर्दिश्यमानत्वेन परमात्माऽक्षिगतपुरुषरूपेण ग्रहितुं शक्यते यतः परमेश्वरस्य निरुपाधिकस्थानाभावात्, परमात्मा है। नतु छायात्मा का अथवा अधिष्ठाता देव का न वा जीव का ही ग्रहण होता है अमृतत्वादिक गुणों का संबन्धापपत्ति होने से ॥१३॥

सारबोधिनी-"य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते" जो पुरुष इस अक्षि में देखने में आता है वह जीवात्मा है अथवा परमात्मा है, एतादृश सन्देह होता है। तब पूर्वपक्ष हुआ कि यहाँ चक्षुरूप स्थान का कथन किया गया है इसलिए जीव का ही ग्रहण करना चाहिए। परमात्मा का ग्रहण नहीं क्यों कि परमात्मा तो सर्वव्यापक तथा परम महान् है। तो परमात्मा का स्वल्प परीमाणक चक्षुमें अवस्थान नहीं हो सकता है। इस प्रश्न का उत्तर करने के लिए सूत्र का अवतरण करते हैं "यश्चक्षुषि तिष्ठन्" इत्यादि। [जो चक्षुके मध्यमें रहता है। जिसको चक्षु नहीं समझ सकता है। जिसका शरीर चक्षु है जो चक्षु का नियंत्रण करनेवाले हैं।] इत्यादि अन्तर्याम्यधिकरण वाक्य से सर्वगत सर्वव्यापक परमात्मा परमब्रह्म का भी स्थान का कथन किया गया है। इसलिए नेत्र के अन्तर्भाग में अवस्थित परमात्मा ही है। अर्थात् प्रकृत स्थल में नेत्र के अभ्यन्तर में परमात्मा ही है। क्योंकि परमात्मा

अक्षिगततया न ग्रहितुं शक्यते. स्थानाभावादित्याद्यनुमानेन परमेश्वरपक्षं निराकृत्य जीवस्यैव व्यवस्थापितम् । तत्र स्थानाभावहेतुं निराकर्तुं सूत्रमुपस्थापयन प्राह "यश्चक्षुषि तिष्ठन्" इत्यादि, यः परमात्मा चक्षुषि तिष्ठति चक्षुषोऽन्तरः तथायं परमात्मानं चक्षुर्नविजानाति यस्य परात्मनश्चक्षुः शरीरम् तथा यः परमात्मा चक्षुरन्तर्यमयति इत्यादि अन्तर्याम्यधिकरणकश्रुतिवाक्यैस्तदन्यवाक्यैश्च. स्वभावतः सर्वव्यापकस्यापि परब्रह्मणः स्थानविशेषप्रतिपादनात् स्थानविशेषे चक्षुषि परमात्मा विद्यते एवेति न परमेश्वरस्य स्थानाभावो येन "य एषोक्षिणि" एतद्वाक्ये न परिगृहीतः स्यादपितु परमात्मैव परिगृहीतो भवतीति । अर्थात् चक्षुषोऽन्तरे परमात्मैव कुतः ? स्थानव्यपदेशः परमात्मनोऽपि दृश्यत एव । "यश्चक्षुषि तिष्ठन्" इत्याद्यन्तर्याम्यधिकरणेन सर्वगतस्यापि सर्वकारणस्य परमे-

का जो स्थान है उसका कथन किया गाया है । तथाहि अन्तर्यामी अधिकरण में "यश्चक्षुषि तिष्ठन् इत्यादि जो चक्षु में रहता हुआ चक्षु के अभ्यन्तर है। जिसको चक्षु नहीं जानता है । जिसका चक्षु शरीर है । जो चक्षु को नियंत्रित करता है। यह परमात्मा अन्तर्यामी अमृत स्वरूप है इत्यादि वेदान्त प्रकरण में सबका अन्तरात्म स्वरूप सर्वकारण परमात्मा परम पुरुष का, चक्षुस्थान का, चक्षुरन्तत्व चक्षुशरीरत्व चक्षु नियन्तृत्वादिका कथन किया गया है। इसलिए "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इत्यादि स्थल में तादृश परमात्मा ही प्रतीयमान होते हैं। जिस तरह सर्वत्र विद्यमान भी वह्नि काष्ठादिक स्थान विशेष में उपलब्ध होता हैं। इसी तरह सवत्र भगवान् व्याप्त है। तथापि चक्षुरादिक संकुचित स्थान में भी उपासक के लिए आविर्भूत होते हैं। यथा वा आकाश सर्वव्यापक है तथापि घटादिक प्रदेश में भी उपलब्ध होता हुआ यह घटाकाश है यह मठाकाश है। इत्यादि व्यपदेश योग्य होता है। इसी तरह परमात्मा भी चक्षुरादि अल्पपरिमाणक

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ।१।२।१५।

परमात्मन एव निरतिशयसुखवत्तया 'कं ब्रह्म खं ब्रह्मे'ति वाक्येऽभिहितत्वात्स एवात्रोपास्यतया निर्दिश्यते ॥१५॥

श्वरस्य सर्वान्तरात्मनश्चक्षुःस्थानत्व चक्षुरभ्यन्तरावस्थितत्व, चक्षुः शरीरत्वादीनां प्रतिपादनात्. "य एषोऽक्षिणि दृश्यते" इत्यत्र स एव परमात्मा प्रतीयते । स कृपालुर्भगवान् भक्तानुग्रहाय स्थानविशेषमपि सौकर्याय स्वीकरोतीत्यतः परमात्मैव गृहीतो भवति नतु जोव इति संक्षेपः ॥१४॥

विवरणम्—एवं हि छान्दोग्योपकोशलविद्यायां श्रूयते. उपकोशलो हि सत्यकामो ब्रह्मचर्यमुवास । स्वकीयाग्नीन् द्वादशवर्षाणि यावत् परिचचार । स चान्योऽन्यान् वेदमध्याप्य समावर्तनमप्यकरोत्. परन्तु तमेवैकमुपकोशलं न समावर्तयतिस्म । ततोतिखिन्नमनातमग्निपरिचरणे

स्थानमें उपलब्ध होने से चक्षुरधिकरणक कहलाते है इसलिए, "य एषोऽक्षिणि पुरूषो दृश्यते" इस जगह में पुरुष पद से परमात्मा का ही ग्रहण होता है । किन्तु जोवात्मा अथवा छायात्मा अधिष्ठाता देवों का ग्रहण नहीं होता है ॥१४॥

सारबोधिनी—य एषोऽक्षिणि पुरूषो दृश्यते"इस वाक्य से अवगत अक्षि में रहनेवाला पुरुष परमात्मा है अथवा जीव है । इत्याकारक संशय होता है । तदनन्तर स्वल्परिमाणक स्थान में अवस्थान होने के कारणसे जीव को ही होना चाहिए परमात्मा नहीं इस पूर्वपक्ष का निराकरण उपपत्ति स्थानादि व्यपदेश हेतु द्वारा सिद्ध किया गया कि अक्षि स्थान में अवस्थित परमात्मा ही है । इस बात का निश्चय पूर्व कथित सूत्र द्वय से ही सिद्ध होता है सो नहि किन्तु नित्य निरतिशयात्मक विलक्षण सुख विशिष्ट परमात्मा का कथन होने से भी अक्षि स्थान वृत्तित्व परमात्मा का ही है जीवादिका ग्रहण नहीं होता है । इस बात का प्रतिपादन करने के

कृतप्रयत्नमुपकोशलमग्नय एत्योपेत्य परमभक्ताय तस्मै ब्रह्मविद्यामुक्तवन्तः "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति। तत उपकोशल उवाच जानाम्यहं प्राणो ब्रह्मेति स च सूत्रात्मा विभूतिमत्तया ब्रह्मस्वरूपाविर्भावात् ब्रह्मेति। परंतु 'कं च खं च ब्रह्म' इति तु न जानामि. नहि लौकिकं सुखं ब्रह्म भवितुमर्हति. नवा लोकप्रसिद्धं खं भूताकाशमचेतनं ब्रह्म भवितुमर्हति। तदनन्तरं तस्मै प्रत्युचुरग्नयः "यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेवकम्" इति। एवं संभूय कथयित्वा प्रत्येके स्वविषयां विद्यामूचुः "पृथिव्यग्निरन्तमादित्य" इत्यादिना। पुनस्तेऽग्नय एतमुपकोशलं संभूयोचुः "एषा सोम्यतेऽस्मद्विद्या. प्रत्येकं कथितस्वविषया. आत्मविद्या च याऽस्माभिः संभूय पूर्वं कथितः "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति" आचार्यस्तुतेगतिं वक्ता ब्रह्मविद्येयमस्माभिरुक्ता गतिमात्रं त्ववशिष्टं नोक्तं तत्तु विद्याफलफलप्राप्त्यर्थं तवाचार्यो जाबालो वक्ष्यतीति कथयित्वा. उपरता अभवन्नग्नय इति। तदेवं व्यवस्थिते "यद्वावकं तदेव खं यदेव खं तदेवकम्" एतदंशस्य

लिए सूत्र का अवतरण करते हुए कहते हैं "परमात्मा एव नित्य निरतिशयेत्यादि। 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इस वाक्य में नित्यनिरतिशय विलक्षण सुख के अधिकरण रूप से सर्व जगत् कारण परम पुरूष का ही प्रतिपादन होने से "य एषोऽक्षिणि" इस स्थल में भी उपास्यत्व रूप से परमात्मा का ही ग्रहण होता है। किन्तु सामय विषय संपर्क जनित लौकिक सुखवान् जीव का ग्रहण नहीं होता है। क्योंकि जीव स्वकृत शुभाशुभ कर्म पराधीन होने से नित्य सुखवान् नहीं हैं। अपितु सर्व तंत्र स्वतंत्र सर्वशक्तिमान् हेयप्रत्यनीक अनेक कल्याण गुणाधिकरण भगवान् श्रीरामजी साकेताधिपती ही एतादृश सुख का आगार होने से उस परमात्मा का ही अक्षि वृत्तित्वेन उपास्यतया ग्रहण होता है। यद्यपि 'अथैनंगार्हपत्योऽनुशास' इत्यादि प्रकरण से मध्य में तो अग्निविद्या का उपदेश हुआ है। तब अक्षिस्थान में रहने वाला परमात्मा

व्याख्यानं कर्तुं प्रवर्तते "परमात्मनः" इत्यादि । परमात्मनः परमपुरुषस्य भगवतः श्रीरामस्यैव निरतिशयापरिमितानवच्छिन्ननित्यसुखवत्तया "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इत्युपकोसलीयवाक्येऽभिहितत्वात्स एव सर्वकारणरूपः परमात्मा प्रकृतेऽक्षिस्थानवृत्तित्वेनोपासनाविषयो भवति. नतु जीवोऽत्र समुपास्यतया परिगृहीतो भवति, तस्य निरतिशयसुखवत्तयाऽप्रतीतेर्न कदाचिदपि स नित्यसुखादिमानिति । नवा छायात्मा अधिष्ठातृदेवोवा प्रकृते ग्राह्यो निरतिशयसुखवत्त्वाभावादपितु निरतिशयसुखादिमान् परमात्मैव परिगृहीतो भवति नित्यनिरतिशयसुखविशिष्टाभिधानादिति ॥

श्रीमदानन्दभाष्यकारास्तु स्वाभिप्रायमित्थमत्र विवेचयन्ति. तथाहि वक्ष्यमाण हेतुना नेत्राधारः पुरुषः पुरुषो न जीवादिरपितु सर्वजगत्कारणोनित्यनिरतिशयसुखादिमान् स्वेच्छया सर्वं कर्तुमकर्तुं समर्थः सर्वशक्तिसंपन्न एवाक्षिस्थाने वर्तते । यतः "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं

है यह किस प्रकार से कहा जाता है ? तथापि "तस्मै होचु प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति" "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते स एव आत्मेति होवाचैतदमृतमभयममृतमेतद् ब्रह्मेति" [इसके बाद उन अग्नियों ने उपकोसल को कहा कि हे उपकोसल प्राण ही ब्रह्म है । सुख स्वरूप ब्रह्म है । खं आकाश के समान व्यापक ब्रह्म है ।" जो यह अक्षि स्थान में पुरुष देखने में आता है । यही आत्मा है । यह अमृत स्वरूप है । यह भय रहित है और यही रूप है ।"] इस प्रकार से उपक्रम तथा उपसंहार में श्रूयमाण ब्रह्म शब्द के होने से मध्य में उपदिश्यमाण जो यह अग्निविद्या है यह ब्रह्म विद्या का ही अङ्ग है । इस प्रकार से अङ्गागीभाव से कथन होने पर फल कथन अर्थवाद मात्र हैं । एवं "सर्वमायुरेति" सब प्रकार के आयु को प्राप्त करता है, अर्थात् शतायु होता है इत्यादि श्रुत्यधिगत फल भी मोक्ष कामनावान् को अनुकूल ही है । यहाँ मोक्ष विरोधी किसी भी गुण को कथन

अत एव च तद्ब्रह्म ।१।२।१६।

अत एव परस्वरूपपरिज्ञानाय पृच्छन्तमुपकोशलं "यद्वाव कं तदेव खम्" [छा० ४।१०।५] इति परस्परवैशिष्ट्यप्रतिपादनेन निरतिशय-सुखविशिष्टं तद्ब्रह्मैवाग्निभिरुपदिष्टम् ॥१६॥

ब्रह्म" इत्यादि उपकोसलविद्याप्रकरणे नित्यनिरतिशयानन्यसाधारण सुखविशिष्टस्य प्रकृतस्य परमात्मनो ब्रह्मणोऽक्षन्तर्वर्तित्वेन संयद्वाम-त्वादिगुणाद्यधिकरणतया समुपास्यमानत्वेन प्रतिपादनात् । तस्मादक्ष्याधारः पुरुषः समस्तजगत्कारणः परमात्मैव प्रतिपादितो भवति नतु जीवादिरिति संक्षेपः ॥१५॥

विवरणम्—अथ "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म" अस्मिन् वाक्ये श्रूयमाणः 'क' शब्दः 'ख' शब्दश्च कथं निरतिशयसुखात्मकं परमात्मानं बोधयिष्यति. यतः क शब्दो यद्यपि सुखवाचकस्तथापि लोकसि द्धसुखबोधनेनैव तच्छक्तेः परिसमाप्तत्वात् । तथा ख शब्दोऽपि लोकप्रसिद्धभूताकाशस्यैव बोधकः आकाशगतव्या-पकत्व धर्मपुरस्कारेण यदि परमात्मानं बोधयेत्तदा लक्षणावृत्तेराश्रय-णीयतया गौरवप्रसङ्गात् सत्यां शक्तौ लक्षणाया जघन्यत्वात् । तस्मात्

नहीं है। तस्मात् यह सिद्ध होता है कि अक्षिस्थानगत परमात्मा ही उपास्य है ॥१५॥

सारबोधिनी—पूर्वसूत्रके प्रसंग में कहा गया कि "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इस श्रुति के बल से अक्षिस्थान गत परमात्मा ही उपास्य है जीव नहीं किन्तु यह कथन तो ठीक नहीं है। क्योंकि "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इस वाक्य के अन्तर्गत जो क तथा ख शब्द हैं वे तो क्रमशः क शब्द सुखवा-चक है। सुख तो वैषयिक सुख का भी तो सुख ही विषय संपर्क जनित सुख को व्यक्ति समझता है तथा ख शब्द भूताकाश में प्रसिद्ध होने से भूताकाश का ही बोधक है। नतु नित्यनिरतिशय सुखवान् परमात्मा का अपितु इस

श्रुत्यन्तर्गतौ क-ख शब्दौ न क्रमशः परमात्मबोधकौ किन्तु क शब्दः सामयसुखवाचकःख शब्दश्च भूताकाशस्य वाचकौ न तु तौ निरतिशयसुख विशिष्टपरमात्मवाचकाविति कथमुक्तं यत् "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति" श्रुतिबलादक्षिस्थानगतः परमात्मैवोपासनीयो न तु जीवः। प्रकृते तद्विपरीतमेवापतीत "शान्तिकर्मणि वेतालोदयः" इति लौकिक न्यायविषयतां नातिक्रामतीति शंकामपाकर्तुम् "अत एव च तद्ब्रह्मेति" सूत्रमुदाहर्तुं वृत्तिकृत्प्राह "अत एव परस्वरूपेत्यादि। इतः पूर्वं ब्रह्म ज्ञानार्थं जिज्ञासमानाय विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म परन्तु कं खं तु नाविजानामीत्येवं रूपेण प्रश्नं कुर्वते उपकोसलाय "यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेवकम्" इत्थं क ख शब्दयोः परस्परवैशिष्ट्यप्रतिपादनेन बोधयतोऽग्नेरयमाशयः प्रतीयते-यत् क शब्दः सामान्येन सुखवाचकः ख शब्दश्चाकाशवाचकः परन्तु परस्परं विशेषणविशेष्यतया प्रतीयमानौ क ख शब्दौ आकाशवत् अपरिच्छिन्नसुखमेव बोधयतः। ततश्चापरिच्छिन्नसुखाद्यधिकरणतया परमात्मैवार्थतो बोधितो भवतीति। ततश्चाकाशवदपरिच्छिन्नसुखस्य क-ख शब्दोक्तस्य कथनंमग्निभिः कृतमिति निरवच्छिन्नसुखविशिष्टं परब्रह्मवाक्षिस्थानतयाऽवगतं तदेवेहोपास्यतयाऽभिमतमिति। नत्वेतद्भिन्नं सुखमत्रविवक्षितं यतो वैषयिकसुखस्य परिच्छिन्नत्वेन ख शब्दबोधितपरमव्या-

श्रुतिवाक्य से तो जीव अक्षि स्थानगत रूप से उपस्थित होता है इस आशंका का निराकरण करने के लिए सूत्र का उत्थान करते हुए वृत्तिकार कहते हैं "अत एव पर स्वरूप परिज्ञानायेत्यादि जिसलिए "प्राणो ब्रह्म" इस श्रुति में निरतिशय सुख विशिष्ट प्रकृत परमात्मा का अक्षिस्थानता रूप से कथन है। तथा संयद्वामत्वादि गुण विशिष्टत्वेन उपास्यत्व का कथन किया गया है। इसी लिए परमपुरुष के ज्ञानेच्छा दि पूछते से उपकोसल को "यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेवकम्" इस श्रुति से परस्पर क ख में वैशिष्ट्य का प्रतिपादन

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ।१।२।१७।

परप्रतिपादेकामुपनिषद्विद्यामधीतवतामर्चिरादिगतिर्भवतीत्याम्नायिकः समयः सैव गतिरत्र "तेऽर्चिषमेवाभिसम्भवन्ति" [छा० ४।१५।५।] इत्यादि श्रुतिभिरुपदिष्टेत्यक्षिस्थानः परमात्मैव ॥१७॥

पक्षे समन्वयासंभवादिति । अतः परमात्मैवाक्षिस्थानगतत्वेनोपास्यो नतु जीव इति स्थितम् ॥१६॥

विवरणम्—न केवलं परमेश्वरोपयुक्तस्थानस्य विलक्षणसुखविशिष्टस्य शास्त्रे कथनादेव प्रकृते नेत्राभ्यन्तरवर्ती परमात्मैव नतु जीवविशेषोऽक्षिणि वर्तते । किन्तु यः पुरुषोपनितपरमात्मविज्ञानवान्. तादृश पुरुषस्य ब्रह्मलोकप्राप्तये यो हि देवयानमार्गः श्रुतिप्रसिद्ध स्तादृशदेवयान मार्गस्यात्रापि प्रतिपादनात् ज्ञायते यत् प्रकृतस्थले नेत्राभ्यन्तरे परमात्मैव वर्तते नतु तद् व्यतिरिक्तः कश्चिदितरो जीवः । इत्याशयेन तादृशदेवयानमार्गप्रतिपादनाय प्रक्रमते "परप्रतिपादिकाम्" इत्यादि ।

करते हुए नित्यनिरतिशय सुख विशिष्ट जो परमात्मा वही यहाँ उपदिश्यमान हो रहे हैं । अतः तादृश परमात्मा ही अक्षि स्थानगत हैं जीव नहीं इतिसंक्षेप ॥१६॥

सारबोधिनी—केवल नित्यनिरतिशय सुख विशिष्ट का कथन है इसलिये "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इस स्थल में अक्षिस्थानगत परमात्मा ही है जीव नहीं है इस बात को सिद्धि होती है ऐसा नहीं किन्तु जिसने परमात्म विद्या का अनुशीलन किया है उसको जिस मार्ग के द्वारा पुनरावृत्ति रहित ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है तादृश मार्ग विशेष देवयान का प्रतिपादन इस प्रकरण में उपलब्ध होता है । इसलिए देवयान मार्ग प्राप्ति ब्रह्मज्ञानी को हो होता है । अतः इस प्रकरण में अक्षिस्थान वृत्तितया परमात्मा का ही ग्रहण होता है । जीवादिकों का नहीं इस आशय से व्याख्यान करने के लिए प्रक्रम करते हैं परप्रतिपादिकामित्यादि परतत्त्व परमात्मा का प्रतिपाद

उपनिषत्सु प्रतिपाद्यमानः पुरुषः उपनिषत्कः श्रुतस्तादृश उपनिषत्कः परमात्मा येन स श्रुतोपनिषत्कः श्रुतोपनिषत्कस्य परमात्मविषयकविज्ञानवतः पुरुषस्य ब्रह्मलोकगमनाय या गतिः यो हि मार्गो देवयानादिकः पन्थाः तादृशगतेर्देवयानमार्गस्यात्र प्रकृते प्रतिपादनादत्राक्षिस्थानगतः परमात्मैवनान्यो जीवादिरिति सूत्रार्थः ।

परप्रतिपादिकाम्=परमतत्त्वप्रतिपादिका या उपनिषद्विद्या. तादृशपरमात्मविद्यामवगतस्य प्राप्तस्य पुरुषस्य साकेताभिधब्रह्मलोकस्य पुनरावृत्तिरहितस्य प्राप्तये. या गतिर्यो हि देवयानलक्षणो मार्गः प्रतिपादितः स एव मार्ग इहापि प्रदर्शितस्तस्मादक्षिस्थानगतः परमात्मैवेह परिगृह्यते । तत्र "तेर्चिषमेवाभिसंभवन्ति" इत्यादि श्रुतयस्तादृशगतिप्रतिपादिकाः सन्ति । ततोऽक्षिस्थानगतः परमात्मैव भवतीति ।

अयं भावः । अस्मादपि कारणात् परमात्मैवाक्षिस्थानगतो भवति. यतः श्रुतोपनिषत्कस्य श्रुतिरहस्य विज्ञानतो ब्रह्मज्ञानिनो ब्रह्मलोक प्राप्तये या गतिर्देवयानाख्यो मार्गः श्रुतिषु प्रतिपादितः "अथोत्तरेण तपसा

करनेवाली जो उपनिषद्विद्या तादृश परमात्म ज्ञानवान् उपासक को अर्चिरादि मार्ग से गमन होता है ऐसा वेदार्थ ज्ञान पुरूष का सिद्धान्त है। वही अर्चिरादिक गति देवयान मार्ग से लोग अर्चिष में आते हैं इत्यादि श्रुति में देवयान पथ का उपदेश किया गया है इसलिए अक्षिस्थान में परमात्मा ही है यह निश्चित होता है । अर्थात् जिन्होंने परम पुरूष विज्ञान को प्राप्त करलिया हैं उनलोगों के लिए पुनरावृत्ति रहितदेवयान मार्ग प्रसिद्ध है श्रुतियों में, "अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण" यहाँ से लेकर के "एतस्मान्न पुनरावर्तन्ते" [इस सर्व दुःख रहित स्थान से पुनः इस मानव आवर्त में नहीं आता है ।] एवम् 'तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति' यहाँ लेकर के 'तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्म पथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तनावर्त्तन्ते' इत्यादि स्थल में परमात्म विज्ञानवान् पुरुषों के

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ।१।२।१८।

चक्षुरिन्द्रियाधिष्ठातृजीवविशेषस्य नियमेन चक्षुष्यनवस्थितेर मृतसंयद्वामत्वादिगुणानाञ्च तत्रासम्भवान्नजीवोऽक्षिस्थानः किन्तु परमात्मैव ॥१८॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावन्तराधिकरणम् ॥४॥

ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजायन्ते. एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्नपुनरावर्तन्ते" एतदुपक्रम्य आदित्याच्चन्द्रमसं गच्छति ततो वैद्युतं स्थानं गच्छति. तत्र कश्चिदमानवः पुरुषः स एनान् ब्रह्म गमयति. स एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" एष मार्गः श्रुतौ प्रतिपादितः । तस्मात् परमात्मज्ञानिनः परमपुरुषार्थदर्शनेन ज्ञायते यत् प्रकृतेऽक्षिस्थानगत परमात्मैव भवति नतु जीव इति ॥१७॥

विवरणम्—"य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इत्यत्राक्षिस्थाने विद्यमानः पुरुषः किं छायात्माकश्चिदधिष्ठातृदेवो विज्ञानात्मा परमात्मा वेति संशयः । तदनन्तरं श्रुतौपनिषत्कगत्यभिधानाच्च. लिए अनन्य साधारण देवयान मार्ग का कथन किया गया है । इस लिए यह सिद्ध होता है कि "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इस प्रकरण में पुरुष पद से अक्षिस्थानगत सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ परम पुरुष का ही ग्रहण होता है । क्योंकि अक्षिगत पुरुष का उपासक व्यक्तियों के लिए देवयान मार्ग का कथन है । अतः अक्षिस्थान गतपुरुष परमात्मा ही है । प्राप्त्यैश्वर्य भी कोई जीव नहीं ॥१७॥

सारबोधिनी—"य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते" "एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयम्" इस छान्दोग्य श्रुति में अक्षिस्थानगत पुरुष जाना जाता है । वह परमात्मा है । अथवा तदन्य कोई छाया है, या देव विशेष जीव है । एतादृश संशय के बाद परमात्मा सर्वव्यापक सर्वगत है । तो तादृश

इत्यादिभिः परमात्मन एवावस्थानमिति व्यवस्थापितम्. परन्तु छायात्मादीनामनवस्थानं यद्यप्यर्थतः सिद्धमेव जातम् । तथापि प्रतिपदोक्तरूपेण तेषामनवस्थानं प्रतिपादयितुं सूत्रान्तरमुपस्थापयति- अनवस्थितेरित्यादि । अत्र प्रकरणे पुरुषशब्देन इतरस्य परमात्म व्यतिरिक्तस्य छायात्मनो देवतात्मनो जीवस्य वा ग्रहणं न संभवति कुतः अनवस्थितेः । यदा कश्चित् पुरुषः स्वसमीपमागच्छति तदैव चक्षुषि प्रतिबिम्बो दृश्यते. अपगते च पुरुषे चक्षुषि छाया न पतति, इत्येवं रूपेण नियमतः प्रतिबिम्बस्यावस्थानं न भवति । एवं मृतपुरुषस्य चक्षुषि छाया न भवति. ततश्च छायात्मनो निराकरणम् । एवं चक्षुषि पुरुषेऽमृतत्वादयो गुणाः कथितास्ते परमात्मन्येव नतु छायात्मनि "अस्यैषनाशमन्वेति" इत्यादिना विनाशित्व प्रतिपादनात् । एवं देवोऽपि न चक्षुषि अवस्थितः यतो सूर्यादिषु आत्मत्वस्या

परमात्मा का स्वल्पदेशावस्थान असंभवित है । अतः छायादिक ही कोई है ऐसा पूर्वपक्ष करके उपपत्ति स्थान व्यपदेश सुख विशिष्टाभिधानादि हेतु के द्वारा परमात्मा का ही चक्षु में अवस्थान है, इस बात का भाष्याभिमत सिद्धान्त किया गया । इसके बाद उसी वस्तु को अनवस्थिति तथा असंभवात्मक हेतु द्वय से परमात्म पक्ष का दृढ़ीकरण तथा तदितर का निराकरण करने के लिए जो सूत्रकार का प्रयास है उसको बतलाने के लिए वृत्तिकार प्रक्रम करते हैं । यद्यपि परमात्म पक्ष का व्यवस्थित हो जाने से तदितर पक्ष का प्रतिषेध होता है । तव तदर्थं पुनः प्रयास अयुक्त है । ऐसा मालूम होता है तथापि प्रतिपदोक्तरूप से खण्डन करने के लिए कहते हैं— यहाँ अक्षिस्थानगत प्रतिबिम्ब नहीं है । क्योंकि वह तो अनवस्थित है । अर्थात् जब अपने आगे में कोई व्यक्त्यन्तर आता है तब ही आँख में छाया पड़ती है अन्यथा छाया नहीं पड़ती है । एवं मृत में शरीर छाया नहीं देखने में आती है । इसलिए चक्षु में छाया उपास्य रूप से परिगृहित

संभवात् तेषां पराग् रूपत्वात्-अञ्चति हि परार्थं यत् तत्परागुच्यते बुधैः"इत्यादिरूपेण जगद्गुरु श्रीश्रियानन्दाचार्योक्तेः। अमरत्वमपि सापेक्षमेव नतु नित्यममरत्वम् प्रलयादौ विनाशश्रवणाद्देवादीनाम्। न वा चक्षुषि जीवस्याप्यवस्थानं वक्तुं शक्यम्. अमृताभयत्वादिगुणानां जीवेऽसंभवात। तस्मात् चक्षुषि अवस्थितो न छायात्मा नवा देवो नवा जीवः किन्तु परिशेषादमृतत्वादिविविधकल्याणगुणकः परमात्मैवेति दर्शयितुमाह वृत्तिकारः-"चक्षुरिन्द्रियाधिष्ठातृ जीवेत्यादि । चक्षुरिन्द्रियस्य. अधिष्ठाता यो जीवविशेषः सूर्यादिः तादृश सूर्यादेर्नियमतःचक्षुषोऽभ्यन्तरे अवस्थानस्यादर्शनात्, तथा अमृतत्व संयद् वामत्वादि गुणानां च देवादौ असंभवान्न जीवोऽक्षिस्थानगतः किन्तु परमात्मा श्रीसाकेताधिपतिरेव। अर्थात् चक्षुः स्थानगतपुरुषमभिलक्ष्य अमृतत्वाभयत्वादिका अनेके गुणाः प्रतिपादिताः परश्च तेषां स्वभावतः परमात्मन्येव संभवः। नतु छायायां

नहीं होती है। एवं जीव विशेष देव का भी ग्रहण नहीं हो सकता है । क्योंकि अक्षिगत पुरुष को अधिकृत करके अनन्य साधारण परमात्म गुण-अमृतत्वाभयादिक का वर्णन किया गया है तो तादृश गुणों का जीव में होना असंभव है । देवता विशेष में यद्यपि आंशिक-सापेक्ष अमृतत्वादिक है तथापि स्वातंत्र्येण अमृतत्वादिक नहीं है। क्योंकि प्रलय में इनका भी विनाश होता है । एवं "भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपतिसूर्यः" इत्यादि श्रुतियों से भयवत्ता भी श्रुत है। जीव तो मरण धर्मा है। यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है।

इसलिए अक्षिस्थानगत पुरुष पदवाच्य सर्व तन्त्र स्वतन्त्र परमात्मा ही है किन्तु छायादिक नहीं है-इन बातों का अनुवादित करते हुए कहते हैं कि "चक्षु रिन्द्रियाधि" इत्यादि। वृत्तिके अक्षर का यह अर्थ होता है-चक्षु इन्द्रिय के अधिष्ठाता जो सूर्यादि जीव विशेष हैं उनका नियमतः चक्षु में अवस्थान-स्थिति नहीं होने से तथा चक्षु में अवस्थितपुरुष में अमृतत्वादिक एवं संयद्वामत्वादिक शास्त्र प्रतिपादित गुणों का असंभव

अथान्तर्याम्यधिकरणम् ॥५॥

अन्तर्याम्यधिदैवादिषुतद्धर्मव्यपदेशात् ।१।२।१९।

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्, यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः "[बृ० ३।७।३।] इत्याद्यन्तर्यामिपदविशिष्टेषूपदिष्टः कश्चिज्जीवविशेषः परमात्मा वेति संशयः। तत्रानन्तरवाक्ये 'द्रष्टा श्रोता मन्तेति' दर्शना-

---

यतश्छायाया जडत्वाज्जीवस्य चेतनत्वेऽपि परात्माधीनत्वा न्न तत्रापि स्वातंत्र्येण ते सम्भवन्ति। परन्तु सर्वसमर्थे परमात्मन्येव सम्भवात् परमात्मैवाक्षिस्थानगतो भवतीति न तादृशगुणवत्वेन जीवस्यावस्थान- मितिदिक् ॥१८॥

इति जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य-रामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतस्य श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणस्यान्तराधिकरणम् ॥४॥

विवरणम्=ननु "य इमञ्चलोकं परञ्च लोकं सर्वाणि च भूतानि- योऽन्तरोयमयति" इत्यारभ्य श्रुतयो "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथि- व्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो- यमयति" अत्र कश्चित्सर्वेषां नियमनकर्त्ता भाति स किं प्राप्तैश्वर्यादि

होने से अक्षिस्थानगत पुरुष जीव नहीं हैं। किन्तु चक्षु स्थान में उपर्युक्त गुणवान् परमात्मा ही है अमृतत्व संयद् वामत्वादिक गुण समुदायतो परमात्मा में ही स्वभाव से रहते हैं, जीव में नहीं, इसलिए जीव का ग्रहण नहीं होता है। किन्तु भगवान् सर्वेश्वर श्री साकेताधिपति पुरुष का ही ग्रहण होता है। ऐसा सम्पूर्ण अधिकरण का तात्पर्य है। विशेष विवरण आनन्द भाष्य के मत्कृत विवरण में देखें ॥१८॥

॥ इत्यन्तराधिकरणम् ॥४॥

सारबोधिनी–प्रत्येक वेदान्त का पर ब्रह्म में ही समन्वय होता है ऐसा नियम है। इसलिए "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इत्यादि

दिकर्तृत्वदर्शनाज्जीव एव भवितुं युक्त इति पूर्व पक्षः। अत्राभिधीयते—अधिदैवाधिलोकादिवाक्येष्वभिहितोऽन्तर्यामी परमात्मैव। यतस्तस्य परमात्मनः सर्वान्तस्थत्वसर्वशरीरत्वामृतत्वादीनामसाधारणधर्माणामत्र व्यपदेशात्। इमे च सर्वनियन्तृत्वादयो धर्माः परमपुरुषे भगवति श्रीराम एव सम्भवन्ति नान्यस्मिन्निति स एवात्रोपदिश्यते ॥१९॥

गुणवान् कश्चिद् जीवो भवति अथवा सर्व नियामकः परमात्मा वेति संशये शरीरादिकथनाद् द्रष्टेत्यादिधर्मस्य च श्रवणाज्जीव एव कश्चित्सम्भवति नतु परमात्मा "अपाणिपादोजवनः" तथा "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" इत्यादि शास्त्रेण परमात्मनः शरीरेन्द्रियादीनामभावश्रवणात्। लोके च स्वकर्मोपार्जितशरीरेन्द्रियादिद्वारेणैव तक्षादिर्वास्यादि व्यापारयन् नियमनकर्त्ता भविष्यति। तस्माज्जीव एवेह परिगृह्यते नतु परमात्मेति पूर्वपक्षं कृत्वा. "यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानमन्तर" इत्यादिना जीवस्यापि नियमन कर्त्ता स। तथा अमृतत्वाभयत्वादिपरमेश्वर साधारणगुणानां च दर्शनात् सर्वनियन्तृत्वसर्वशरीरत्वाद्यनेक

वेदान्त वाक्य का परम पुरुष परमात्मा में समन्वय का प्रतिपादन करके अन्तर्यामी श्रुति का भी परम पुरुष परमात्मा श्रीराम में समन्वय प्रतिपादन करने के लिए प्रक्रम करते हैं "पृथिव्या तिष्ठन्" इत्यादि। "य इमञ्च लोकं परञ्च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्तरो यमयति"[जो पुरुष इस लोक को तथा परलोक को सब भूतों का नियमन करता है।] इस प्रकार से उपक्रम करके "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष मे आत्मान्तर्याम्यमृतः" [बृ० ३।७।३।] [जो पृथिवी के मध्य में अन्तः में वर्तमान है। पृथिवी से भिन्न है। जिसको पृथिवी नहीं समझ पाती है। जिसका पृथिवी शरीरस्थानापन्न है। जो पृथिवी को अन्दर ही अन्दर नियंत्रित करता है। यह अन्तर्यामी अमृत अभयादि

परमात्मोपस्थापकगुणानां सद्भावदर्शनात्परमात्मैवान्तर्यामी शब्दवाच्यो भवति नतु स्वयं नियमनक्रियाया कर्मरूपो जीवोऽन्तर्यामी शब्द प्रतिपादितो भवतीति सिद्धान्तं दर्शयितुं प्रक्रमते "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यादि। यः परमात्मा पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यां स्थितः पृथिव्यन्तर्गत इत्यर्थः। पृथिव्या अन्तरो–मध्येबहिरपि विद्यते व्यापकत्वात्। पृथिव्या अन्तरे विद्यमानोऽपि. यं परमात्मानं पृथिव्यभिमानिदेवः स्वरूपतो न विजानाति. यस्य परमात्मनः पृथिवी शरीरम्, अर्थात् यस्यैकदेशभूता पृथिवी। तथा यः पृथिवीमन्तरो यमयति. प्रवृत्तिनिवृत्तिकार्ये पृथिव्या नियमनं करोति। एतादृश गुणयुक्तः तदाधारभूतः स एवान्तर्यामी अमृतो निरतिशयामृत युक्तः परमात्मेति बृहदारण्यकीयान्तर्यामि ब्राह्मणे तादृशवाक्यगतपदैः कश्चिदन्तर्यामीति समुपदिश्यमानो भवति तत्रान्तर्यामीति पदेन कस्य ग्रहणं कर्त्तव्यम्। किं प्राप्ताणिमादिविषयकैश्वर्यसंपन्नो जीवविशेषो गृह्यते ?

स्वरूप है। एवं जो विज्ञानोपलक्षित जीवात्मा में रहता है। जिसको जीव नहीं समझता है। जिसका यह जीव शरीर है। जो जीव को नियंत्रित करता है।] इत्यादि रूप से अन्तर्यामी पद विशिष्ट वाक्यों में श्रूयमाण जो अन्तर्यामी है वह क्या कोई अणिमादि ऐश्वर्य को प्राप्त किया हुआ विशिष्ट जीव है ? अथवा सर्व प्रशासक परमात्मा पुरुषोत्तम है, ऐसा सन्देह होता है। क्योंकि अन्तः यमयतीति अन्तर्यामी–इस व्युत्पत्ति से अन्तर्यामी पद साधारण है। जीव भी शरीरादिक जड़ पदार्थों का नियंत्रण करता है। और भगवान् भी नियंत्रण करनेवाले हैं। इसलिए यह अन्त शब्द योगार्थ केवल से उभय साधारण है। तो जैसे स्थाणु पुरुषोभय साधारण उच्चैस्तरत्व धर्म स्थाणु–पुरुष का संशायक होता है विशेष दर्शन से पूर्वकाल तक। उसी प्रकार से प्रकृत में अन्तर्यामी शब्द जीव–परमेश्वर का

अथवा सर्वशक्तिमान् पदार्थमात्रस्य नियमनकर्त्ता सर्वेश्वर इति संशयः । अन्तर्यामीति पदस्य जीवपरमेश्वरोभयसाधारणत्वात् । भवति हि कार्यकरणादिमान् तक्षादिर्नियमनकर्त्ता, परमेश्वरस्तु सर्वस्यापि नियन्तेति साधारणधर्मदर्शनात्, साधारणधर्मदर्शनञ्च संशयकारणमिति सर्वतंत्र संमतमिति यथोच्चैस्तरत्वं स्थाणुपुरुषोभयसाधारणतयाज्ञायमानं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयं जनयति । तद्वदिहापि साधारण विशेषणयो र्विद्यमानत्वाद्भवति संशयः किं जीवो ग्राह्यः परमात्मा वेति ॥

तत्रास्मिन्नेव प्रकरणे जीवस्य विशेषतो बोधकान्यनेकानि वाक्यानि सन्ति "द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता" तत्र दृश् धातु श्चक्षुर्जनितज्ञानविशेषे शक्तं यथा चक्षुषा परिदृश्यमाने एव घटे घटं पश्यतीति प्रयोगो भवति । तथा द्रष्टेत्यत्र कर्त्रर्थे तृच् प्रत्ययः । तथा च दर्शन क्रियावान् द्रष्टेति पदेन विवक्षितः, क्रिया च करणाधीना, करणं च शरीरनिष्ठमित्येवं क्रमेण शरीरेन्द्रियमान् द्रष्टेति तत्पदेनोक्तो भवति । संशायक होता है ।

तो इस स्थिति में किसका ग्रहण करना चाहिए । इसमें पूर्वपक्षी कहते हैं कि प्रकृत में अन्तर्यामी शब्द से जीव विशेष का ही ग्रहण करना चाहिए । क्योंकि अन्तर्यामी प्रकरण के उपसंहार में "एष द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता" यह अन्तर्यामी चक्षुरिन्द्रिय जनित ज्ञानवान् द्रष्टा है । श्रोत्रेन्द्रिय जनित श्रोता है । मन रूप इन्द्रिय जनित ज्ञानवान् मंता कहलाता है । इससे यह सिद्ध होता है कि यह अन्तर्यामी इन्द्रिय कलेवरादिमान् है । और करण कलेवर तो जीव का ही होता है । "अपाणि पादोजवनो ग्रहीता" न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते" इत्यादि श्रुतियाँ परमेश्वर में शरीरेन्द्रियादिक के अभाव को बतलाती है । यद्यपि इस प्रकरण के उपसंहार में "अमृतमभयम्" ऐसा कहा है । इससे तो सिद्ध होता है कि अन्तर्यामी परमात्मा

एवं श्रोता मन्ता इत्यत्रापि ज्ञेयम् । एवञ्च दर्शनश्रुतिमननविज्ञान क्रियावान कश्चिज्जीव एवानन्तरप्रकरणे दृष्टो भवति । तस्मादत्र जीवस्यैव ग्रहणं न परमात्मनस्तस्य देहेन्द्रियादीनामभावात् । "न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" इत्यादि श्रुत्या परमेश्वरस्य करणकलेवरयोरभावः प्रतिपादितो भवति । उपपद्यते चापि परमेश्वरस्य तयोरभावः । करणकलेवरयोरुपादानं स्वकृतकर्मबलादागतं, कर्मरहितस्य तदुपादानासंभवान्मुक्तजीववन्नहि विद्यते परमेश्वरस्य शुभाशुभं कर्म, तदभावे च तज्जन्यकरणकलेवरयोऽप्यभावः सुतरामेव सिद्धो भवति । अत्र च द्रष्टा श्रोतादि पदेन तयोः शरीरेन्द्रिययोः सद्भावः प्रतिपाद्यते । तस्मादत्र न परमात्मनो ग्रहणं किन्तु शरीरेन्द्रियादिविशिष्टस्य विलक्षणशक्तिमतो जीवविशेषस्यैव ग्रहणमिति पूर्वपक्षः ॥

है । तथापि "अपामसोमममृता अभूम" "अमृतादिवौकसः" इत्यादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि जोव विशेष में अमृतत्व भी है । इसलिए प्रकृत में अन्तर्यामी पदवाच्य जीव है असंभव होने से परमात्मा नहीं ।

एतादृश पूर्वपक्ष का निराकरण करने के लिए कहते तें हैं "अत्राभिधीयते" इत्यादि । अधिलोक तथा अधिदेवादि वाक्यों में प्रतिपादित जो पुरुष विशेष है वह भगवत्परम पुरुष ही है । पर सर्वथा पराधीन अल्पज्ञ चेतन जीव नहीं हैं । क्योंकि अन्तर्यामी के प्रकरण में तद्धर्म का व्यपदेश है । अर्थात् परमात्मा का अनन्य साधारण अनेकों धर्म का प्रतिपादन किया गया है । जैसे सर्वान्तस्थत्व सर्वाधारता सर्वशरीरित्व सर्वनियामकत्व सर्वान्तर्यामित्व अमृतत्व भयरहितत्वादि कहा गया है ये सब धर्म तो स्वभावतः परम पुरुष में ही उपपन्न हो सकते हैं । वह एक ही परमात्मा सर्वभूत सर्वदेव प्रभृति का नियमन

तमिमं पूर्वपक्षं निराकर्तुं सूत्रपदव्याख्यानायाह "अत्राभिधीयते" इति। तावदेवायं पूर्वपक्षः संप्राप्तसत्ताको भवति यावन्नावतरति सूत्रपदम्। तथाहि अधिदैव–सूर्यादिप्रकरणे तथा अधिलोक-पृथिव्यादिप्रकरणे श्रूयमाणवाक्येषु समुपदिश्यमानमन्तर्यामीति पद परमात्मनमेवान्तर्यामितया बोधयति कुतः ? तद्धर्मोपदेशात् तस्य परमात्मनोऽनन्यसाधारणामृतत्वाभयवत्व-सर्वान्तरस्थत्वादयो धर्माः "एतदमृतमभयम्" इत्यादि श्रुतास्तेषां धर्माणां सामाञ्जस्येन समन्वयो निखिलजगत्कारणे सर्वशक्तिमति परमात्मन्येव संभवति। नतु कर्मपराधीने जीवे तत्संभवति। तस्मादिमे सर्वनियन्तृत्वादिका धर्माः परमपुरुषे परमात्मनि भगवति श्रीरामे एव संभवन्ति स्वभावतो नतु तद्व्यतिरिक्ते साधारणे विशिष्टे वा जीवादौ। तस्मादत्रान्तर्यामितया

"रामो ब्रह्मपरात्परं श्रुतिमतं भक्त्यैव निश्रेयसं
शेषा येन च शेषिणो रघुपतेः जीवा इति स्वीकृतम्" इति जगद्गुरु श्रीसदानन्दाचार्योक्तदिशा परमपुरुषसर्वेश्वर श्रीराम एव व्यपदिश्यत इति वृत्त्यक्षरार्थौ वर्णितो यथा तथेति

करता है। और देखिए "य इमञ्च लोकं परञ्च लोकम्" इस प्रकार से उपक्रम करके उद्दालक ऋषि ने कहा कि हमको एतादृश अन्तर्यामी के स्वरूप का कथन करो। तब आचार्य ने उत्तर के प्रवाह में कहा कि "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यादि प्रकरण से अन्तर्यामी का प्रतिपादन किया। इसलिए यह सर्वभूत सर्वदेवादिकों का नियमन और सर्वज्ञ सर्वशरीर तया सर्वात्मत्व सर्व शक्तिमत्वादिक पुरुषोत्तम से अन्य किसी में भी नहीं हो सकता है। यद्यपि परमेश्वर से अन्य जो जीव है वह भी शरीर इन्द्रियरथादिक कतिपय जड़ पदार्थों का नियमन करता हुआ देखने में आता है तथापि जीव में जो नियमन कर्तृत्व है वह दारुयंत्र की तरह अन्यदीय [ईश्वरीय] प्रेरणा से होता है। "ईश्वरः सर्व भूतानां

अयंभावः यद्यपि आपात दृष्ट्यासमवलोकितेऽस्मिन् प्रकरणे. अन्तर्याममिपदेन जीवो वा, अधिष्ठातृदेवः परमात्मा वा तदन्यो वा कश्चित्परिग्राह्यत्वेन प्रतिभाति. तत्रापातदृष्ट्यैव पूर्वपक्षमपि कुर्वन्ति, यच्छास्त्रे शरीरादिनामभावः श्रवणान्नात्र परमात्मा ग्राह्योऽपितु शरीरेन्द्रियादिमत्वात्कश्चित्परमेश्वरादन्य एवेति। तथापि साम्प्रदायिक विचार-परिशुद्ध मानसास्तु सर्वशरीरिणां शरीरीभूतं निरङ्कुशप्रशमन-कर्तृत्वसर्वनियन्तृत्वादि अनन्यगतासाधारणधर्माणामुपक्रमोपसंहारादौ दर्शनात्. तेषां समन्वयोऽन्यथानुपपत्त्या परमात्मानमेवान्तर्यामितया-निश्चिन्वन्ति। कथमिव ते निश्चयं कुर्वन्ति ? तत्र "अत्रान्तर्यामि वाक्येषु सर्वेषु परस्य ब्रह्मणः सर्वान्तःस्थत्वसर्वशरीरित्व सर्वनियामकत्व सर्वान्तर्यामित्वश्रवणात्सर्वस्य चिदचिदात्मकप्रपञ्चस्य परमात्माधेयत्व शरिरत्वनियम्यत्वस्यार्थतः सिद्धे जीवाधीनस्वशरीरस्थितिप्रवृत्तिवत् सर्वस्य चराचरस्य जगतः परमात्माधीनः स्वरूपस्थिति प्रवृत्त्युपपत्तेः

हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया"। इत्यादि श्रुति स्मृतियों से सिद्ध होता है स्वातंत्र्येण जीव में किसी भी वस्तु के प्रति नियमन कर्तृत्व नहीं है। परम पुरुष परमात्मा तो संसार के आदिकाल में समस्त शुद्ध चेतन वर्ग को तथा मूल प्रकृति को प्रेरित करते हैं, स्वकीय स्वकीय कार्य के उत्पादन करने के लिए। इसलिए निरूपाधिक स्वेच्छा मात्र से प्रेरणा तथा अन्तर्यामित्वादिक धर्म परमेश्वर का अनन्य साधारण है। इन धर्मों का समन्वय जीव में नहीं हो सकता है। अतः सर्वेश्वर भगवान् परम पुरुष श्रीराम ही सर्वान्तर्यामी हैं—जीव नहीं। वृत्यक्षर का यह अर्थ है कि अधिदैवादि वाक्य में प्रति-पादित परमात्मा ही है। क्योंकि उस परमात्मा जो सर्वान्तरस्थत्व सर्वशरीरत्व अमृतत्व प्रभृतिक अनेक अनन्य साधारण धर्म जात हैं उसका उपदेश किया गया है। अन्तर्यामी प्रकरण में ये जो सर्वनियन्तृत्वादिक

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ।१।२।२०।

साङ्ख्यस्मृतिसिद्धं प्रधानं ह्यत्र न प्रतिपाद्यम् । प्रकरणेऽस्मिन् जडात्मकप्रधानधर्मभिन्नधर्माणां स्वतन्त्रचेतनधर्माणामभिधानात् ॥२०॥

श्रीरामाख्यस्यपरब्रह्मणः सर्वनियन्तृतया सर्वस्वामित्वेन सर्वशेषित्वं तद्भिन्नस्य सर्वस्य तच्छेषत्वमुपपन्नतरम्" (आनन्दभाष्यम् १।२।१९) इत्यादिरूपेण प्राचीनाकरग्रंथेभ्य एवानुसन्धेयमितिदिक् ॥१९॥

विवरणम्—अथ अन्तर्यामी पदेन जीवस्य परमात्मनो वा ग्रहणं कर्त्तव्यमिति संशय्य जीवात्मन एव ग्रहणं कर्तव्यम्. कुतः ? अत्र प्रकरणे-जीवसूचकद्रष्टृत्वादिगुणानां दर्शनात् । परमात्मनस्तु ग्रहणे न संभवति. यतस्तस्य शरीरेन्द्रियाणामभावेन नियन्तृत्वासंभवादिति पूर्वपक्षं कृत्वा. तस्य ये अनन्यसाधारणधर्मास्तेऽदृश्यत्वसर्वनियन्तृत्वादिकास्तेषामत्र बाहुल्य दर्शनात्परमात्मन एव ग्रहणं भवतीति पूर्वसूत्रे व्यवस्थापितम् । परन्तु येऽदृश्यत्वादिकाधर्माः कथितास्ते तु साङ्ख्य धर्म हैं वे तो परम पुरुष भगवान् श्रीराम में ही हो सकते हैं तदन्य जीवादिक में नहीं । इसलिए प्रकरण में भगवान् श्रीराम का ही उपदेश है तदन्य का नहीं ॥१९॥

सारबोधिनी—अन्तर्यामी के प्रकरण में अन्तर्यामी रूप से श्रूयमाण जो पुरुष वह परमात्मा है किन्तु शरीरेन्द्रियादि का नियमन करने पर भी जीव नहीं है । क्योंकि तादृश पुरुष में जो सर्वान्तर्यामित्व सर्वशरीरित्वामृतत्वादिक धर्म का कथ न है, वे सब धर्म जीव में नहीं हैं परमात्मा में ही हैं । इस प्रकार से परमेश्वर के अनन्य साधारण धर्म के दर्शन होने से परमेश्वर ही अन्तर्यामी पदवाच्य है किन्तु जीव नहीं । इस प्रकार से अव्यवहित पूर्व सूत्र में व्यवस्थित किया गया है । परन्तु यहाँ तो "बकरी को भगाने गये तो ऊँट घुस गया" यह लौकिक न्याय चरितार्थसा दीख पड़ता है । अन्तर्यामी पद से चेतन जीव का तो निराकरण करते हैं पर यह दूसरा बिल्कुल

परिकल्पित-गुण-त्रयात्मकप्रधानेऽपि संभवन्ति । तथाहि तदीयं प्रधानमपि रूपादिहीनतया तस्यादृश्यत्वादिकं संभवति "अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः" इति । तथा स्व विकारापेक्षं नियन्तृत्वमप्यस्ति प्रधाने. अदृश्यत्वादिका गुणास्तु सन्त्येव प्रधाने, यतस्तस्य रूपादि रहितत्वात् । तस्मादन्तर्यामि पदवाच्यं संभवत्येव । "ईक्षतेर्नाशब्दम्" शब्दप्रतिपादितं प्रधानं जगत्कारणतया परिगृहितुं न शक्यं यतो जगत्कारणे "तदैक्षत" इत्यादिना. ईक्षितृत्वस्य श्रवणात् । अचेतने च प्रधाने चेतन धर्मस्येक्षितृत्वस्याभावादित्यादिना प्रकरणेन यद्यपि प्रधानस्य निराकरणं कृतमेव तथापि निराकृतमपि तत्पुनरपीहादृश्यत्वादि व्यपदेशसंभवेन पुनस्तदर्थं शंका जायते । एवं च नियन्तृत्वादृश्यत्वादिधर्माणां प्रधाने संभवात्. अन्तर्यामि शब्देन सांख्यपरिकल्पितप्रधानस्यैव ग्रहणं संभवति नतु परमात्मनोऽन्तर्यामिपदेन ग्रहणं संभवतीत्याशङ्क्य तन्निराकरणाय सूत्रमुत्थापयन् प्राह "सांख्य स्मृतिसिद्ध प्रधान' मित्यादि ।

अचेतन प्रधान जो सांख्य स्मृति परिकल्पित है, वह आ जाता है । क्योंकि प्रधान भी रूपादि गुण रहित होने के कारण अदृश्य है । तथा उसमें प्रक ण प्रतिपादित अदृश्यत्व गुणवत्ता है । तथा स्व विकारापेक्षया नियंतृत्व भी है । महत्तत्व से लेकर के महाभूत पर्यन्त स्वकीय विकार का नियमन करने का सामर्थ्य उसमें है । जैसे घट का नियमन करने का सामर्थ्य मृत्तिका में, उसी प्रकार से महत्तत्वादि विकारों की नियामिका प्रकृति भी है । जिन गुण विशेष के बल से जीव का निराकरण किया गया उन विशेषणों के बल से तो प्रकृति का संग्रह होता है तब प्रकृत में प्रधान ही अन्तर्यामी पदवाच्य है, पर परमात्मा अन्तर्यामी पद प्रतिपाद्य नहीं हैं ।

एतादृश शंका का निराकरण करने के लिए सूत्र का उपन्यासपूर्वक वृत्तिकार कहते हैं "सांख्य स्मृति प्रसिद्ध प्रधानमित्यदि" । स्मृति अर्थात्

स्मार्तसांख्यस्मृति प्रसिद्धमचेतनं प्रधानमन्तर्यामि पदेन गृहीतुं न शक्यते। यतोऽतद्धर्माभिलापात्। तस्य प्रधानस्य धर्मस्तद्धर्मः न तद्धर्मोऽतद्धर्मश्चेतनत्वादिकस्तस्य द्रष्टृत्वसर्वनियन्तृत्वामृतत्वादीनां धर्माणामत्र प्रकरणेऽभिलापात् प्रतिपादनात्। यथा जीवावृत्तिगुणानामथ च परमेश्वरे स्वभावतो विद्यमानानां गुणानामिह श्रवणं विद्यते तद्वत् प्रधानेऽसंभाव्यमानानां परमात्मन्येव केवलं संभवादहश्यत्वामृतत्वादीनां बहूनां गुणानामत्र दर्शनान्न प्रधानस्य ग्रहणं किन्तु स्वभावत एवेमे प्रदर्शिता धर्माः परमेश्वरे सन्ति तस्मादन्तर्यामि शब्देन परमात्मन एव ग्रहणं भवतीति।

सांख्यस्मृतिसिद्धं कपिलतन्त्राभिमतं प्रधानं सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थारूपं रूपरसादिविहीनं प्रधानमव्यक्तादिपदबोध्यमत्रान्तर्यामि प्रकरणेऽन्तर्यामि पदेन न प्रतिपाद्यं कुतः? यतोऽस्मिन् प्रकरणे जड़ात्मक प्रधाने ये धर्माः सन्ति तद्भिन्नाः द्रष्टृत्वामृतत्वादिका

सांख्य स्मृति प्रतिपादित सत्त्व रजस्तमोगुण की साम्यावस्था लक्षण अव्यक्त प्रकृत्यादि परपर्याय जो प्रधान वह यहाँ अन्तर्यामी पद से प्रतिपादित नहीं है। क्योंकि अतद्धर्म का इस प्रकरण में प्रतिपादन है। अर्थात् जो धर्म कभी भी प्रधान में अन्वीयमान नहीं हो सके जैसे अमृतत्व द्रष्टृत्व सर्वशरीरित्वादिक उन धर्मों का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए प्रकृत प्रकरण प्रतिपाद्य प्रधान नहीं हो सकता है। क्योंकि जड प्रधान में चैतन्य क्रिया द्रष्टृत्व नहीं है। यद्यपि अदृश्यत्व धर्म हैं तथापि द्रष्टृत्वादिक धर्म नहीं है। यों आपात दृष्टि से देखने पर प्रधान की उपस्थिति होती है तो भी साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रकरण के पर्यालोचन करने पर प्रधान का परिग्रह निरस्त हो जाता है। यद्यपि आध्यात्मिक विचार के प्रवाह में, "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इस सूत्र के प्रकरण में जगत्कारणता का निराकरण करते हुए प्रधान का निराकरण तो कर दिया गया था। तथापि अदृष्टत्वादि धर्म की संभावना

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ।१।२।२१।

उपरिष्टान्नेत्यनुवर्तते । शारीरो जीवः सोऽपि नात्र वाक्येषु प्रतिपाद्यते । यतः काण्वमाध्यन्दिनाश्चोभयेऽप्येनं शारीरं परमात्मनो भिन्नत्वेनाभिधीयते । तत्र काण्वाः 'यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरः' [बृ० ३।७।२२।] इत्यभिधीयते । माध्यन्दिनाश्च 'य आत्मनि

प्रतिपादिताः सन्तिः, तेषाञ्चामृतत्वादीनां नास्ति प्रधाने संभवः परन्तु परमपुरुषे भवति समन्वयः। तस्मान्नात्र प्रधानस्य ग्रहणमपितु पूर्वप्रकरणप्रतिपादितदिशा सर्वेश्वरश्रीरामस्यैव ग्रहणं भवतीति संक्षेपः ॥२०॥

विवरणम्—सांख्यस्मृतिपरिकल्पितं प्रधानमन्तर्यामिपदवाच्यं न संभवति कुतः तादृशप्रधाने अन्तर्यामिणो ये धर्माः द्रष्टृत्वामृतत्वादिरूपा जडे प्रधानेऽसंभवादित्यादिरूपेणामृतत्वादिधर्माणामसंभवात्प्रधानस्य निराकरणमनन्तरपूर्वसूत्रेकृतम् । यदि आत्मत्व-द्रष्टृ-से पुनः उस पक्ष को उज्जीवित करके सूत्रकार ने "अतद्धर्माभिलाप" हेतु के द्वार पुनः उस प्रधानवाद का निराकरण किया हैं । इसलिए पुनरुक्ति दोष की शंका नहीं अरनी चाहिए । इससे यह सिद्ध हुआ कि अन्तर्यामि पद से सर्व-शक्तिमान परम पुरुष का ही ग्रहण होता हैं नतु जड प्रधान का नवा चेतन जोव का भी ॥२०॥

सारबोधिनी—अन्तर्यामी अधिकरण के प्रथम सूत्र में "य इयञ्च लोकं परञ्च लोकम्" ऐसा उपक्रम करके "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" "आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादि वाक्य सुनने में आता है । तो इन वाक्यों से प्रतिपाद्य अणिमादिक ऐश्वर्यवाला कोई जीव विशेष है या परमेश्वर है । तब पूर्वपक्ष हुआ कि प्रकरण के उपसंहार में "द्रष्टा श्रोता" इत्यादि वाक्यों से इन्द्रि-यादिमान् जीव विशेष है । उत्तर किया कि निरंकुश सर्वनियन्तृत्व परमात्मा में ही है, इसलिए परमात्मा ही अन्तर्यामी पद प्रतिपाद्य है । द्वितीय सूत्र

तिष्ठन्' [बृ. ३।७।२२] इत्यादिप्रकारेण । एवमत्रान्तर्यामिब्राह्मण वाक्येषु सर्वान्तर्यामितयाऽवस्थितः पुरुषोत्तमः श्रीराम एव न जीवः ॥२१॥ इति श्रीरघुवरीयवृत्तावन्तर्याम्यधिकरणम् ॥५॥

त्वाद्यसंभवेन प्रधानस्यान्तर्यामिता न स्वीक्रीयते तदा न भवतु तस्य तथात्वम्. किन्तु योऽयं शारीरोजीवः स एवान्तर्यामी भवतु, यतः शारीरो हि चेतनस्तस्माद् द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता तथात्मपद वाच्योऽपि भवति प्रत्यक्त्वात् । अमृतस्वरूपोऽपि शारीरः संभवत्येव धर्माधर्म—कर्मफल-भोगस्य शारीरे समुपपत्तेः । अदृष्टत्वादिका अपि धर्माः शारीरे भवन्त्येव, यतो दर्शनादिक्रियायाः कर्तरि प्रवृत्ति विरोधात् "नहि दृष्टेर्द्रष्टारं पश्य" इत्यादि श्रुतिभ्यः । तस्य शरीरेन्द्रियादिसंघातमन्तर्यमयितुं शीलमपि भोक्तृत्वात्तस्मात् शारीरो जीव एवान्तर्यामी नतु परमात्मनोऽन्तर्यामीत्वम् । तस्मिन् शरीरेन्द्रियादीनामसंभवेनान्तर्यामीपदवाच्यताया अनुपपत्तेरित्याशंङ्कां निवर्तयितुं सूत्रं व्याख्याति—"शारीरः" इत्यादि । "न च स्मार्तमतद्धर्मा"दितिपूर्वसूत्रादत्र नेति पदमनुवर्तनीयम्, ततश्चायम

में प्रधान जड़ में नियन्तृत्व का प्रतिषेध करके परमात्मा पक्ष को ही व्यवस्थित किया । अब शारीर अन्तर्यामी पद वाच्य है परमात्मा नहीं इस बात की चर्चा करने के लिए कहते हैं कि भले ही अचेतन प्रधान अन्तर्यामी पद वाच्य हो तो भी शारीर को अन्तर्यामी माना जाय । क्योंकि शारीर चेतन होने से द्रष्टा है और भी जो सब प्रकरण प्रतिपाद्य है वह सब यथा कथंचित् शारीर में संभावित होता है । इसलिए शारीर को ही अन्तर्यामी पदवाच्य मानना चाहिए परमात्मा को नहीं । एतादृश पूर्वपक्ष का निराकरण करने के लिए सूत्र पद का व्याख्यान करते हुए कहते हैं—"उपरिष्टान्नेत्यनुवर्त्तते" इत्यादि । "न च स्मार्तम्" इत्यादि जो पूर्व सूत्र है उससे, "न" इस पद का इस सूत्र में अनुवर्तन किया जाता है । नञ् पद का

र्थः सूत्रस्य योऽयं शारीरः स्वकृतकर्मफलोपभोगाय कर्मफल भोगाधिकरणे शरीरे प्रविष्टः प्रत्यगात्मा स अन्तर्यामी पदवाच्यो भवितुं न शक्नोति कुतः ? सर्वद्रष्टृत्व-सर्वनियन्तृत्वादि परमेश्वर धर्माणां शारीरेऽसंभवात् । नहि परिमितशक्तिविशिष्टे शारीरे स्वभावतः सर्वनियन्तृत्वादीनां समन्वयः कथमपि संभवति । यथा पृथिव्यादयो नियाम्या स्तथा शारीरोऽपि नियम्य एवेति काण्वमाध्यन्दिनशाखिनां मतम् । तथाहि उभयेऽप्येनं शारीरमन्तर्यामिपरमात्मनः सर्वशक्तिमतो नियाम्यत्वेन वागादिभिरचेतनैः समं नियाम्यत्वे भेदेन कथयन्ति काण्वाः "यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरः" इत्यादि। "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः" इति च उभयत्रापि जीवात्मपरमात्मनो नियम्यनियामकत्वं शरीरशरीरित्वादिभेदेन कथनात्. अधिदैवाधिप्रकरणे श्रूयमाणोऽन्तर्यामी सर्वशक्तिमान सर्वशरीरी परमात्मैव संभवति न शारीरः कथमपि अन्तर्यामि पदवाच्यः। "यो विज्ञाने तिष्ठ"न्निति श्रुतौ विज्ञानपदेन शारीरस्य ग्रहणं, तथा "य आत्मनि तिष्ठन्" इति श्रुतौ चात्मपदेन शारीरस्यैव ग्रहणं भवतीति॥

अनुवर्तन करने पर प्रकृत सूत्र का यह अर्थ होता है—कर्मफल के उपभोग करने के लिए शरीर में रहनेवाला जो शारीर जीव है वह इन वाक्यों में अन्तर्यामी पद से प्रतिपादित नहीं होता है। क्योंकि काण्व तथा माध्यंदिन शाखावाले दोनो ने ही इस शारीर जीव को परमात्मा से भिन्न रूपेण प्रतिपादन किया है। उनमें काण्वशाखावालों ने कहा है—"यो विज्ञाने तिष्ठन विज्ञानादन्तर" इत्यादि ।[जो विज्ञान में रहता हुआ विज्ञान से अन्तर है। जिसको विज्ञान नही जानता है, विज्ञान जिसका शरीर है। जो विज्ञान को नियंत्रित करता है। वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत स्वरूप है।] यहाँ विज्ञान शब्द का अर्थ है—विज्ञानोपलक्षित जीवात्मा। एवं माध्यंदिन

एतत्सर्वमभिप्रेत्य प्राह "उपरिष्टान्नेत्यनुवर्तते" इत्यादि । शारीर श्चेत्यादि सूत्रे, उपरिष्टात् पूर्वसूत्रात्. नेति पदमनुवर्त्यते योऽयं शारीरो जीवः स्वकृत-कर्मफलोपभोगाय शरीरे वर्तते. स अन्तर्याम्यादिवाक्यै र्न प्रतिपाद्यते यतः काण्वशाखा माध्यंदिनशाखिन उभयेऽपि. एनं-प्रकृतशारीरं परमपुरुषपरमेश्वराद् भिन्नतया प्रतिपादयन्ति । तत्र काण्वशाखाध्यायिनः "यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तर यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरम्" [यः परमात्मा विज्ञानरूपेऽधिकरणे तिष्ठति. यस्य परमात्मनः पृथिव्यादिवद्-विज्ञानमपि शरीरं यश्च परमात्मानं स्वात्मनि वसन्तं विज्ञानं न विजानाति. स च विज्ञानादन्तर इत्यर्थः ।] माध्यंदिनशाखाध्यायिनस्तु "य आत्मानि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न विजानाति यस्यात्मा शरीरम्" इत्यादिक्रमेण प्रतिपादयन्ति । इत्थश्चोभयत्रापि शारीरस्य परमेश्वराद् भेदेन प्रतिपादनदर्शनात्. प्रकृतान्तर्यामिब्राह्मण-वाक्येषु न शारीरस्य ग्रहणं किन्तु तद्व्यतिरिक्तः पुरुषोत्तमो विविध कल्याणगुणाकरः श्रीराम एव प्रतिपादितो भवतीति परमसिद्धान्त इतिदिक् ॥२१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य-रामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृते
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेऽन्तर्याम्यधिकरणम् ॥५॥

शाखा में कहा है-"य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादि । [यहाँ आत्मशब्द का अर्थ है-जीवात्मा-जो आत्मा जीव में रहता है, जीव से अन्तर है, जीस को जीव नहीं जानता है। जीव जिसका शरीर है। जीव को जो नियंत्रित करता है।] इन दोनों जगहों में विज्ञान को अन्तर्यामी पदवाच्य परमात्मा से भिन्न कहा है। तो यदि जीव ही अन्तर्यामी पदवाच्य हो तो स्व का नियामक स्व कैसे होगा। इसलिए जीव को नियम्य होने से इस अन्तर्यामी ब्राह्मण वाक्य में सबके अन्तर्यामी रूप से अवस्थित भगवान् मर्यादा पुरुषोत्तम

अदृश्यत्वादिगुणाधिकरणम् ॥६॥

अदृश्यत्वादिगुणकोधर्मोक्तेः १।२।२२

"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते । यत्तदद्रेश्यमग्राह्य मगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रम्" [मु० १।१।५।] इत्याथर्वणिक आम्नायते । अत्राहृश्यत्वादिगुणकः किं प्रधानं जोवः परमात्मा वेति संशयः ।

विवरणम्—इतः पूर्वाधिकरणे अन्तर्यामिपदेन परमेश्वरस्यैव ग्रहणं भवतीति विचारितमनन्तरमप्यदृश्यत्वादिगुणवतः परमात्मनः एव ग्रहणं भवति. नतु निखिलजड़जगत् कारणभूतजड़प्रधानस्य चेतनस्यापि वा जीवस्येति दर्शयितुं प्रकृतमदृश्यत्वाधिकरणमारभमाणः प्राह "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" वेत्ति विजानाति अनयेति विद्या, श्री राम ही हैं नतु जीव विशेष, नवा प्रधानादिक । इसका विशेष रूप से स्पष्टीकरण भाष्यविवरण में देखें ॥२१॥

सारबोधिनी—अतीत प्रकरण में अन्तर्यामी पदवाच्यता परमेश्वर व्यतिरिक्त जीवादिक में नहीं हो सकता है । किन्तु सर्वान्तस्थत्व सर्वशरीरत्व अमृतत्वादि अनन्य साधरण गुण का कथन होने से तादृश विलक्षण धर्मवान् परमपुरुष भगवान् श्रीराम ही अन्तर्यामी पदके वाच्य हैं, अन्तर्यामी रूप से परम पुरुष की ही उपासना करनो चाहिए । इस बात का प्रतिपादन करके इसके बाद अक्षर पद वाच्यत्व भी परम पुरुष में ही है इस बात का विचार करने के लिए अदृश्यत्वाधिकरण का आरंभ होता है । "अथ परा-ययातक्षरमधिगम्यते" इत्यादि विद्या दो प्रकार की होती है । अपरा तथा परा । उसमें ऋग् वेदादि लक्षण जो विद्या है वह अपरा है । जिससे ऐहिक आमुष्मिक फलजात का संपादन किया जाता है ।

और परा विद्या उसको कहते हैं जिसके द्वारा अक्षरात्मक परतत्व

भूतयोनित्वादिगुणानां प्रधाने जीवेऽपि च स्वतः सम्भवात्तावेवेह ग्राह्याविति पूर्वः पक्षः। अत्राभिधीयते–"यः सर्वज्ञः सर्ववित्" [मु० १।९।] इत्याद्यभिहितधर्माणां परमपुरुष एव सम्भवात्स एवात्र प्रतिपाद्यते न प्रधानजीवौ । निरुपाधिकसर्वज्ञत्वादिगुणानां तयोरसम्भवात् ॥२२॥

सा द्विविधा परा अपरा च. तत्र ऋग्वेदादिलक्षणा अपरा परातु सा यया खलु तदक्षरं परमेश्वररूपमधिगतं भवति । तत्र किं तदक्षरं यद्बोधिका विद्या परेति कथ्यते. तदेवाक्षरस्वरूपं दर्शयितुं प्रवर्तते श्रुतिर्यत् तदित्यादि, यद्वस्तु अद्रेश्यं चक्षुषा द्रष्टुमयोग्यम् । अत्र चक्षुः पदेन बुद्धीन्द्रियमात्रस्य ग्रहणं भवति, तेन ज्ञानेन्द्रियजातं ग्राह्यम् । अग्राह्यं कर्मेन्द्रियेण ग्रहणायोग्यम् । अगोत्रं गोत्रमन्वयः कारणं तेन रहितम् । अवर्णं ब्राह्मणत्वादिजातिविहीनम् । न केवलं ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियाणामविषयोऽपितु इन्द्रियाण्यप्यस्य न सन्ति, तत्रा-

ज्ञात होता है । तो यहाँ अक्षर तत्व का स्वरूप प्रदर्शन कराने के लिए कहते हैं "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" एवम् "अक्षरात्परतः परः" जो तत्व अद्रेश्य है । अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय का विषय नहीं है । यहाँ चक्षु पद ज्ञानेन्द्रिय का उपलक्षक है । अर्थात् बुद्धिन्द्रिय जनित ज्ञान का विषय नहीं है । रूपादि के अभाव होने से चक्षुरादियों से अगम्य है । जो तत्त्व अग्राह्य है । कर्मेन्दिय ज्ञान का विषय नहीं है । गोत्र रहित है । गोत्र का अर्थ है कारण; तो कारण से रहित है । अवर्ण ब्राह्मत्वादि जाति से हीन है । केवल इन्द्रिय का अविषय है । एतावान् मात्र ही नहीं किन्तु इसका इन्द्रिय भी नहीं है । इसलिए कहते हैं । "अचक्षुः श्रोत्रम्" चक्षुश्रोत्रादि बुद्धिन्द्रिय से रहित है । अपाणि पाद है । कर्मेन्द्रिय से भी रहित है । नित्य है । विभु सर्व समर्थ है ।

ह अचक्षुः श्रोत्र चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियरहितं प्रकृतमक्षरम् । न केवलं ज्ञानेन्द्रियमात्ररहित्यमेतस्य किन्तु कर्मेन्द्रियाण्यप्यस्य न सन्ति, तत्राह तदपाणिपादम् । कर्मेन्द्रियरहितमपि तद् । तदक्षरं न घटादिवदुत्पादविनाशयोगि किन्तु सत्यं प्रागभावप्रध्वंसाप्रतियोगि । विभुं एकोऽहं बहुस्यामेति श्रुत्यनुगुण्येन देवतिर्यगाद्यनेकरूपेण प्रभवतीति । सर्वगतमाकाशादिवत् सर्वगतत्वात्सर्वव्यापकम् । सु सूक्ष्ममसंस्कृतान्तःकरणैर्दुरधिगतत्वादतिशयेन सूक्ष्ममणोरणीयानित्यादिश्रुतेः । तद व्ययं षड्विधभाव-विकारपरिवर्जितम् । भूतयोनिं निखिलस्थावर जंगमभूतानां योनिमभिन्ननिमित्तोपादानकारणम् । एतादृशं भूतयोनिमक्षरपदवाच्यं धीराः परमपुरुषसर्वेश्वरश्रीरामोपासका भक्तिप्रपत्तिभ्यां परिपश्यन्ति विशेषरूपेण स्वशरीरिणं सदैव साक्षात्कुर्वन्ति । नतु तदन्येऽकृतोपासना स्तं कदाचिदपि साक्षात्कुर्वन्ति 'यमेवैस वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुतेः ।

अथवा देवमनुष्यतिर्यगादि भाव से अनेक रूप होने वाला है । सर्वगत व्यापक है । सुसूक्ष्म है । अकृत तपः प्रभृतिक तथा अनाराधित भगवत् पादपद्म पुरुष से दुष्प्राप हैं । अव्यय सर्वविकार रहित है । एतादृश समस्त भूतों का योनि कारण है । जिसको अहर्निश भगवत्सेवा परायण पुरुष भगवान् की कृपा से ही साक्षात्कार करते हैं ।

इस प्रकार से मुण्डकोपनिषत् में एक वाक्य प्राप्त होता है । अब यहाँ संदेह होता है कि जो यह अदृश्यत्वादिक समुदाय है उसका अधिकरण सांख्य परिकल्पित प्रधान हैं, अथवा जोवात्मा अदृश्यत्वादि गुणक है । अथवा सर्वजगत्कारण परमात्मा एतादृश गुणवाले हैं । उसमें पूर्वपक्ष होता है कि अदृश्यत्वादिक गुणवाले तो प्रधान तथा जीव हैं । क्योंकि वे प्रधान में तथा जीव में संभवित हैं । प्रधान में भूतयोनित्व स्वभावतः अचेतन रूप जो प्रपंच तादृश प्रपंच के उत्पादन द्वारा सिद्ध होता है ।

एतादृशी श्रुतिराथर्वणिकानां मुण्डकोपनिषदि श्रूयते. ततश्च ज्ञातव्यतया अक्षरपदवाच्यो निर्दिष्टनामकश्चिद्बोधितो भवति स कः ? किं प्रधानं सांख्यपरिकल्पितं, जीवो नन्यसाधारण-कल्याण-गुणकः परमात्मावेति भवति संशयः । तत्रादृश्यत्वं नाम चक्षुरिन्द्रियज्ञानाविषयत्वरूपमेव, तादृशज्ञानाविषयत्वं रूपादिरहिते प्रधानेऽस्ति । जीवोऽपि न चाक्षुष इति तत्राप्यस्ति तत् । परमेश्वरस्य तु कथैव केति तादृशपरमेश्वरेप्यस्ति तत्त्वमिति चाक्षुषज्ञानाविषयत्वधर्मस्य त्रितयवृत्तित्वाद् भवति संशयः । एवं भूतयोनित्वविशेषणमपि आकाशादिशकलभूतजनकत्वात् प्रधाने तिष्ठति । कर्मक्रीतत्वाज्जीवेऽपि तत्त्वम् । परमेश्वरस्यतु सकलसूक्ष्मोपादनत्वात् संशयो जायते. यदत्र कस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति । यावत्नायाति कश्चिदपि विशेषो हेतुस्तावन्न यास्यति संशयो विशेष–दर्शन–प्रतिवध्यत्वात् तस्येति । तदेवंविधसंशये पूर्वपक्षमतमनुवदितुं कथयति. "भूतयोनित्वादी" तथा जीव भी स्वकृत शुभाशुभ-अदृष्ट द्वारा अनेक प्रकारक देव मनुष्यादि के शरीर का धारण करने से भूतों का योनि है । इसलिए प्रधान तथा जीव ही अक्षरपदवाच्य हैं "यथोर्णनाभिः सृजते" "यथा पृथिव्यामोषधयः संभन्ति" इस दृष्टान्त से सिद्ध होता है कि प्रधान अचेतन भूतयोनि है । क्योंकि दृष्टांत भी तो अचेतन है । इसी बात का प्रकाशन करते हैं वृत्तिकार "भूतयोनित्वादि गुणानामीत्यादि ।" भूतयोनित्वादिक जो गुण है उसका प्रधान में तथा जीव में स्वत एव संभव है । इसलिए प्रधान तथा जीव का ही इस प्रकरण में संग्रह होता है । परमेश्वर का संग्रह नहीं क्योंकि दृष्टांत तो अचेतन है । उस अचेतन दृष्टांत से चेतन का संग्रह किस प्रकार से होगा । दृष्टांतदार्ष्टान्तिक को समान होना चाहिए । यहाँ तो वैरुप्य है ॥ इसलिए इस प्रकरण से प्रतिपादित प - मात्मा नहीं है किन्तु प्रधान तथा जीव ही हैं ।

त्यादि । भूतयोनित्वादृश्यत्वादिगुणानां सांख्यमतकल्पितप्रधाने जीवे शारीरेऽपि संभवात्तयोरेवात्रग्रहणं कर्त्तव्यम् । अर्थात् प्रधाने भूतयोनित्वंतु "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते" अथवा "यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति" यथा येन प्रकारेण ऊर्णनाभिर्लूताकीटविशेषस्तन्तून् सृजते समुत्पादयति, तथा पुनः संहरते स्वस्मिन्नेवस्थापयति तथा प्रधानमपि सकलमहत्तत्वादिकानाकाशप्रपञ्चानुत्पादयति सर्गकाले पुनः प्रतिसर्गे समुत्पादितान् तान् सार्वानेव स्वस्मिन्नेव संस्थापयति । एवं यथा पृथिव्या व्रीहियवादीनामुत्पत्तिर्भवति विलीयमानतापि तत्रैव जायते तथैव प्रधानेऽपि सर्वेषामुत्पादविनाशौ भवतः । इत्यादि दृष्टान्तेनाचेतनानामेवोत्पादकत्वेन प्रतिपादनात् सकलस्थूल प्रपंचस्य कारणता प्रधाने एव ज्ञायते । एवं जीवस्यापि स्वसंपादितशुभाशुभकर्मभिरनेकप्रकारकहीनमध्यमोत्तमदेहधारणाद् भूतयोनित्वं सिद्धमेवेति । तस्मादत्राक्षरपदेन तयोरेव ग्रहणं कर्त्तव्यं तदन्यतरस्य वा यतो भूतयोनित्वस्यैकमात्रनिष्ठत्वात्, अत्रत्वेकमेव कारणं ज्ञायते नतु कारणे कारणानिवेति पूर्वपक्षकर्तॄणामाशय इति ।

इस प्रकार का जो पूर्वपक्ष है उसके उत्तर में कहते हैं "अदृश्यत्वादि गुणको धर्मोक्तेः" अदृश्यत्वादि गुण वाला भूतयोनि अक्षर परमात्मा ही है । क्योंकि अनन्य साधारण जो परमात्मा का गुण है सर्वज्ञत्वादिक उसका यहाँ "यः सर्वज्ञः ससर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः" [जो सर्व विषयक सामान्य रूप से ज्ञानवान् है। जिनका तप ज्ञानमय है। उस परमात्मा से कार्य ब्रह्म नामरूप और अन्नादिक उत्पन्न होता है।] इन श्रुतियों से प्रतिपादन किया गया है । तो एतादृश जो विलक्षण गुण हैं जो कि केवल परमात्मा में ही इन गुणों का समावेश है अचेतन सांख्य परिकल्पित प्रधान में कैसे होगा । यद्यपि जीव चेतन है। उसमें ज्ञानादिक हैं, तथापि जीव अल्पज्ञ होने से सकल स्थूल

आपातायातप्रधानकारणतां जीवकारणताञ्च निराकृत्याक्षरपदेन परमपुरुषस्यैव ग्रहणं भवति नतु तदन्यस्येति दर्शयितुं सूत्रव्याख्यामुखे नाह "अत्राभिधीयते" इत्यादि। अदृश्यत्वादिगुणयुक्तो भूतयोनिः परमपुरुषः परमात्मैव भवति. नतु प्रधानं जीवो वा कुतः ? धर्मोक्तेः । परमेश्वर–धर्माणामनन्य–साधारणानामत्रप्रतिपादनात् । तादृशास्ते गुणा इह प्रतिपादिताः सन्ति ये सर्वथाऽचेतने प्रधानेऽल्पज्ञे वा जीवे नसंभवेयुरिति । केतेऽनन्यसाधारणा गुणाः ये परमेश्वरव्यतिरिक्ते समन्विता न भवेयुरिति तान् दर्शयितुमाह 'यः सर्वज्ञः" इत्यादि । "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तप स्तस्मादेतद्ब्रह्मनाममन्नं च जायते" [यः सर्वविषयकसामान्यतो ज्ञानवान् सर्वविषयक विशेष रूपेणापरोक्षज्ञानवान् यस्य परेशस्य तपः ज्ञानमयं ज्ञानात्मकमेव । एतस्मादेव परेशात् कार्यहिरण्यगर्भके नाम ब्रह्म समुत्पद्यते नामरूपात्मकानि सर्ववस्तुनि समुत्पद्यमानानि भवन्तीति] एतादृशपरमात्ममात्र समवेतानां सर्वज्ञत्वादिगुणानामत्रोपदेशात् तादृशागुणा अचेतने प्रधाने न वा अल्पज्ञे कार्यकुक्षिपतिते जीवे संभवन्ति, तस्माददृश्यत्वा-

सूक्ष्म पदार्थ विषयक ज्ञानवत्व रूप सर्वज्ञत्व गुण नहीं रह सकता है । इसलिए इस प्रकरण से प्रतिपादित प्रधान अथवा जीव नहीं है । किन्तु अनन्त कल्याण गुणक परमात्मा जो कि सर्वशक्त्याद्युपपन्न है, वहीं इस प्रकरण में अक्षर पद प्रतिपाद्य हैं। इस अभिप्राय को लेकर के वृत्तिकार 'अति संक्षिप्त रूप में बतलाते हैं "अत्राभिधीयते" "यः सर्वज्ञः" इत्यादि "यः सर्वज्ञः" इत्यादि अनेक श्रुतियों से प्रतिपादित जो धर्मनिकर हैं उन धर्मों की संभावना परम पुरुष सर्वज्ञ सर्वेश्वर भगवान् राम में ही होने से तादृश परम पुरुष हो इस प्रकरण से प्रतिपादित होते हैं किन्तु प्रधान अथवा अल्पज्ञ जीव नहीं क्योंकि निरुपाधि सर्वज्ञत्वादि गुण का परम पुरुष से भिन्न प्रधान अथवा जीव

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याञ्च नेतरौ ।१ ।२।२३

'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः (मु० १।१।२) इत्यादिवाक्यप्रतिपादिताद्विशेषणव्यपदेशात् "अक्षरात्परतः परः" (मु०२।१।२) इत्यक्षरपदवाच्यात्प्रधानात्परतो जीवादपि पर इति भेदव्यपदेशाच्चायं भूतयोनिः परमात्मैव न प्रधानजीवौ ॥२३॥

दिक्–सर्वभूतयोचित्वादिका धर्माः परमपुरुषे एव संभवन्तो विविध कल्याणगुणकं परमात्मानमेवोपस्थापयन्ति एतदेव वृत्तिकारोऽति संक्षिप्य दर्शयति–इत्यादृयभिहितधर्माणामित्यादि । सर्वज्ञादिकधर्माणामनन्यसाधारणानां परमपुरुषे भगवति श्रीराम एव संभवात् स एवाऽत्रप्रकरणे प्रतिपादितो भवति । नतु तदन्यौ स्वभावजड़प्रधानाल्पज्ञजीवाविति । प्रधाने ज्ञानवत्वमेव नास्ति, जोवे ज्ञानवत्वसंभवेऽपि निरुपाधिकनिरपेक्षसर्वज्ञत्वाभावः । यद्यपि क्वचित् सर्वज्ञतायाः प्रतिभासनमिव तदपि तारतम्येनैव वर्तमानं, जडपण्डितवदित्यन्यत्र-विस्तरः ॥२२॥

विवरणम्–"अथ परायया तदक्षरमधिगम्यते" इत्यत्राक्षरपदवाच्यः परमात्मा प्रधानं जोवो वेति संशये नात्राक्षरपदवाच्यः परमात्मा में संभावना नहीं है । प्रधान में तो अचेतन होने के कारण से सर्वज्ञत्व की संभावना नहीं है और जीवमें यद्यपि चेतनता है। तथापि सर्व विषयक ज्ञानवत्वरूप सर्वज्ञत्व नहीं है । इस पर विशेष विवरण श्रीसम्प्रदायाचार्य कृत आनन्द भाष्य विवरण में देखना चाहिए । यहाँ तो केवल अक्षरार्थ का ही विश्लेषण किया गया है । अन्यथा ग्रन्थगौरव हो जायगा ॥२२॥

सारबोधिनी–परमेश्वर का जो अनन्य साधारण सर्वज्ञत्वादिक धर्म है तादृश धर्मों का प्रतिपादन "यत्तदद्रेश्यम्" इत्यादि श्रुति में किया गया है।

किन्तु जीवप्रधानावेवेति पूर्वपक्षे परमात्मैवाक्षरपदवाच्यो नतु प्रधान जीवौ यतोऽनन्यसाधारणपरमात्मधर्माणां सर्वज्ञत्वादिनां तत्प्रकरणे प्रतिपादनात् तादृशसर्वज्ञत्वादिधर्मस्य परमात्मन्येवस्वभावतः समन्वय-संभवात्परमात्मैवाक्षरपदबोधितो भवति नतु तदितराविति निर्ण याञ्चकार न केवलमेतावतैव परमेश्वरग्रहणं व्यावृत्तिश्चेतरयोः किन्तु वक्ष्यमाणविशेषणभेदव्यपदेशाभ्यामपि तयो र्व्यावृत्ति र्भव-तीति सूत्रमुत्थापयितुमाह "दिव्योह्यमूर्त्तः"इत्यादि। परमेश्वरव्यतिरि-क्तौ प्रधानजीवात्मानौ नाक्षरपदप्रतिपाद्यौ विशेषणभेदव्यपदे शाभ्याम्। "यत्तदद्रेश्य" मितिश्रुति श्रुतौ अक्षरपदप्रतिपाद्यस्य सर्वग-तमित्याकारकं हि विशेषणं दृश्यते। न चैतद्विशेषणं परमपुरुषव्यति-

एतावन्मात्र हेतु से ही अदृश्यत्वाधिकरणीय वाक्य से परमात्मा का प्रति-पादन होता है। और सांख्य परिकल्पित प्रधान तथा जीव का प्रतिपादन नहीं होता हैं, इतना ही नहीं किन्तु इस अधिकरण के पूर्व उत्तर वाक्यों में एतादृश बहुत विशेषण हैं जिन के बल से सिद्ध होता है कि अक्षरपदप्रति-पाद्य परम पुरुष ही है प्रधान तथा जीव नहीं हैं। तथा परमात्मा से प्रधान तथा जीवात्मा का भेद भी प्रतिपादन किया गया है। "अक्षरात् परतः" यहाँ अक्षर पद प्रतिपाद्य प्रधान से परत्व जीव में प्रतिपादन किया गया तथा जीव से परत्व भूतयोनि परम पुरुष में प्रतिपादित होता है तो एता-दृश भेद का प्रतिपादन होने से भूतयोनि अक्षर पद प्रतिपाद्य परमात्मा ही है प्रधान अथवा जीव नहीं।

इन सब वस्तुओं को बतलाने के लिए तथा सूत्र का व्याख्यान करने के लिए वृत्तिकार प्रक्रम करते है "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः" इत्यादि। [व परमात्मा दिव्य है। अर्थात् प्रकाशवान् है। प्रकाशवान् होने के कारण से दिव्य पदवाच्य है। अथवा द्यु का भी अधिष्ठाता होने से दिव्य है। अमूर्त्त मूर्त्त भिन्न हैं। पुरी तति नाड़ी में निवास करने से पुरुष है। अथवा

रिक्ते संभवति, सर्वगतत्वस्य परमात्मन्येव स्वभावतः संभवात् । प्रधानजीवयोस्तु सर्वगतत्वं नास्ति । एवम् अक्षरात्परतः परः इत्यनेन प्रथमाक्षरवाच्यं प्रधानं ततः परोजीवः तस्मादपि परः परमात्मेति कथनेन प्रधानजीवाभ्यां स्पष्टत एव परमात्मनो भेदः प्रदर्शित इति न भूतयोन्यक्षरपदेन जीवात्मनः प्रधानस्य वा ग्रहणं भवति किन्त्वेताभ्यां भिन्नस्यैव तयोर्नियामकपरमपुरूषपरमात्मन एवेति सूत्रार्थः । "दिव्योऽह्यमूर्त "इत्यादि द्योतनात् प्रकाशमानत्वाद्दिव्यः । अथवा दिवि आकाशादौ व्यापकतयाऽभिमतो नियामकतयाऽवस्थित इति दिव्यः । अमूर्तः प्राकृतगुणक्रियादिरहितः । पुरिसुषुम्नानाडौ शयनात् निवासकरणात्पुरुषः । व्यापकत्वात्सर्वस्य बाह्याऽभ्यन्तरे च विद्यमानः, न जायते उत्पत्यादिकभावविकाररहितः । अप्राणः प्राणव्यतिरिक्तः । अमनाः मनो रहितः । शुभ्रोऽतिशयेन शुक्लः रजस्तमकलुषयावृत्त्याऽनभीभूतः । अक्षरात् प्रधानात्परोजीव स्तादृशजीवादपि

शिरः पाण्यादिमान् होने से पुरुष पद वाच्य है । परम व्यापक होने से सबके बाहर भीतर रहते हैं । अजायमान होने से अज है । प्राणाभिन्न प्राण रहित होने से अप्राण है । मनोभिन्न मनोरहित होने से अमना कहे जाते हैं सर्व कर्म लेपरहित होने से शुभ्र कहे जाते हैं । अक्षर पदवाच्य सूक्ष्म प्रधान से परत जीव है । और जीव से भी यह पर है ।] इस वाक्य में प्रतिपादित जो प्राण मनो राहित्यात्मक विशेषण एवं सर्वज्ञत्व सर्वेश्वरत्व सर्वनियन्तृत्वादि विशेषण समुदाय हैं उन से सिद्ध होता है कि भूतयोनि अक्षर पदवाच्य परमात्मा ही है किन्तु प्रधान या जीव नहीं । क्योंकि प्रधान में तथा जीव में सर्वगतत्व द्रष्टृत्व प्राणमनोराहित्यत्व विशेषण का अभाव है । ये समुदित विशेष विशेषण परमात्मा में ही है । एवं "अक्षरात्परतः परः" इस वाक्य से प्रधान तथा जीवात्मा से परमेश्वर भेद भी सिद्ध होता है । अक्षर पद का अर्थ है—प्रधान । उस प्रधान से भोक्ता होने के कारण जीवा-

रूपोपन्यासाच्च ।१।२।२४।

"अग्निर्मूर्धा" इत्यादिरूपोपन्यासात् । तथा 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' [मु० २।१।४।] इति श्रौतवचनात् सर्वचराचरभूतानामन्तरात्मत्वाच्चायं परमात्मैव ।।२४।।

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम् ।।६।।

परः यतो जीवस्यायं नियामकः परमात्मेति श्रुत्यर्थः । अत्र श्रुतौ प्रतिपादिता प्राणत्वामनस्त्वादि विशेषणैः प्रधानजीवयोर्व्यवच्छेद प्रतिपादितः । तथा "अक्षरात्परतः पर "इत्यनेन प्रधान जीवाभ्यां परमेश्वरस्य भेदस्पष्टत एव प्रतिपाद्यते । तत भूतयोन्यक्षरेणपरमपुरुष परमात्मैव प्रतिपादितो भवति नतु प्रधानजीवौ प्रतिपादितौ भवत इति वृत्त्यक्षरार्थ इति दिक्।।२३ ।।

विवरणम्—न केवलं विशेषणभेदव्यपदेशाभ्य मेव भूतयोनिर्न प्रधानजीवौ, किन्तु रूपस्योपन्यासादपि न भूतयोनिपदवाच्यौ प्रधानजीवावपितु सकलजगत्कारणः परमात्मैव । यतः "अक्षरात्परतः परः एतद्वाक्यसमनन्तरमेव "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेत्मा पर है । और तादृश जीव से सर्वनियन्ता होने से परमात्मा पर हैं । इस प्रकार से विशेषण तथा भेद व्यपदेश होने से इतर अर्थात् परमेश्वर भिन्न प्रधान तथा जीव भूतयोनि अक्षर पद प्रतिपाद्य नहीं हैं । किन्तु सर्व नियन्ता भगवान् साकेताधिपति ही भूतयोनि अक्षर—पद— प्रतिपाद्य है । विशेषण तथा भेद का व्यपदेश प्रतिपादन होने से जीव तथा प्रधान अक्षर पद प्रतिपाद्य नहीं हैं ।।२३।।

सारबोधिनी—अनन्य साधारण सर्वज्ञत्वादि लक्षण पारमेश्वर धर्म तथा विशेषण भेद व्यपदेश लक्षण विविध हेतु प्रदर्शन द्वारा भूतयोनि अक्षरपदवाच्य परम पुरुष परमात्मा ही है परन्तु कतिपय लिङ्ग से युक्त सांख्य मत सिद्ध प्रधान तथा शारीर जीव भूतों की योनि अक्षर पद वाच्य नहीं है इन बातों

न्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीविश्वस्य धारिणी" इत्येवं प्रकरणेन प्राणादारभ्य सकलपदार्थधारकपृथिवीपर्यन्त पदार्थाना- मुत्पत्तिं श्रावयित्वा प्रकृतसर्वभूतयोनेरक्षरस्य परमात्मनः सर्वविका- रात्मकं रूपमुपन्यस्तं दृश्यते । "अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" [अस्य परमात्मनः मूर्धा मस्तकस्थानीयो ऽग्निरेव चन्द्रसूर्यौ नेत्रस्थानापन्नौ श्रोत्रस्थानीया इमाः पूर्वादिकादिश एव वाचः स्थानापन्नाविकसिता इमे ऋगादिवेदा एव अयं सर्वभूत जीवरूपो वायुरेव यस्य परमात्मनः प्राणस्थानीयः, इदं विश्वमेव यस्य हृदयम्. पृथिवी यस्य पादस्थानीया. एषा एव भूतयोनिः परमात्मा सर्वभूतानामात्मा भवतीति ।] एवं श्रुत्या प्रदर्शितं रूपं सकलजगत्कारणस्यैव संभवति यतः स सकल स्थावरजङ्गम भूतानामुपादानरूपः । किन्तु संकुचित महिमावतो जीवस्य शारीर

का पूर्वसूत्र से निश्चित करके अब पारमेश्वर स्वरूप के उपन्यास द्वारा भी भूतयोनि अक्षर पदवाच्यता परमात्मा को ही हो सकती है, किन्तु प्रधान अथवा शारीर को नहो हो सकती है । इस बात को बतलाने के लिये सूत्र का कनथ से पूर्व सूत्रावतरण करते हुए वृत्तिकार करते हैं—"अग्निर्मूर्धा" इत्यादि । भूतयोनि अक्षर पदवाच्य परमात्मा परम पुरुष ही है । किन्तु इतर परमेश्वर से अतिरिक्त जो प्रधान अथवा शारीर जीव वे भूतयोनि अक्षर पदवाच्य नहीं है । क्योंकि इस प्रकरण के उत्तर भाग में परमेश्वर का उप- स्थापक रूपों का उपन्यास किया गया है । उन रूपों का समन्वय मात्र परमात्मा ही में हो सकता है । किन्तु परमात्म व्यतिरिक्त प्रधान तथा शा- रीर में नहीं । इसलिए परमेश्वर रूप का समन्वयान्यथानुपपत्ति से सिद्ध होता है कि भूतयोनि अक्षर पद वाच्य परमात्मा ही है । किन्तु प्रधान अथवा शारीर भूतयोनि अक्षर पद वाच्य नहीं हो सकते हैं ॥ कौन ऐसा रूप है

पदाभिलप्यस्य न संभवति । नवा एतादृश रूपोपन्यासो जड़प्रधानस्या-ऽपि । यतस्तस्य सर्वभूतानामन्तरात्मत्वाऽसंभवात् । तस्मात् सर्वजगत् कारणो भूतयोनिरक्षरपदवाच्यो भवति परब्रह्म नतु प्रधानः शारीरोवेति गम्यते । एतादृशमभिप्रायमाकलय्य परमात्मनो रूपमुपन्यसितुमुपक्र-मन्नाह "अग्निर्मूर्धा" इत्यादि अग्निरेव यस्य मूर्धा सूर्याचन्द्रमसौ नेत्रस्थानीयौ इत्यादि सर्वभूतान्तरात्मा सर्वेषां कमलासनादारभ्य कीट–पतङ्ग–पर्यन्त–भूतानि कारणमयमन्तरात्मा परमेश्वर इत्यादि श्रौतवचनै र्भूतयोनिरक्षर पदवाच्यः परमात्मैव तस्यै वेदं सर्वं रूपम् । तस्मात्सर्वभूतानामन्तरात्मत्वात् स एव परमपुरुषोऽत्रभूतयोनि पदेन गृहीतुं युक्तो नत्वल्पज्ञः शारीरो जडरूपं वा प्रधानं सर्वजगत् कारणमिति । परमात्मनो येऽसाधारणा धर्मास्तेषां सर्वज्ञत्वादीनां तथा विशेषण–भेद–व्यपदेशाभ्यां रूपोपन्यासाच्च परमात्मैव भूतयो-

जिसकी अन्यथानुपपत्ति को परमेश्वर के साधक मानते हैं । इस जिज्ञासा के शान्त्यर्थ वृत्तिकार कहते हैं, "अग्नि मूर्धा" इत्यादि । "अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः वायु प्राण हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" [जिसका मस्तक अग्निदेव है । सूर्य और चन्द्रमा ही जिसके नेत्र हैं । पूर्वादि दिशायें ही जिसके कान है । विकसित ऋग्वेद यजुर्वेदादिक ही जिसकी वाणी है । ये महावायु सर्वभूतों का जीवन सदा ईरण स्वभावक ही जिसका प्राण है । इसका हृदय स्थानापन्न समस्त विश्व ही है और जिसका पादस्थानापन्न सर्वभूत को धारन करनेवाली पृथिवी है । अर्थात् जिसका आधार यह पृथ्विवी है । एतादृश जो महापुरुष वह सब भूतों का अन्तरात्मा है ।] इस श्रुति से प्रतिपादित जो विलक्षण रूप है उसका समन्वय तो परमेश्वर से अन्य में होना असंभवित है । क्योंकि सब चेतनअ चेतनात्मक प्रपञ्च रूपतरीके से उपन्यस्यमान हुआ है । तो सर्वविकार का अभिन्ननिमित्तोपादानात्मक कारण परमेश्वर ही हो सकता है किन्तु अत्यल्प

अथ वैश्वानराधिकरणम् ॥७॥

वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात् १।२।२५।

छान्दोग्ये–यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते [छा०५।१८।१। इति श्रूयते। किमत्र वैश्वानरशब्देनाग्निस्तद्देवता जीवः परमात्मा वोच्यत इति संशयः। तत्र 'अयमग्निर्वैश्वानरः [बृ०७।९।१।] इत्यादिवचनात्प्रसिद्धिप्राचुर्याच्चात्र वैश्वानरशब्देनाग्निस्त

निरिति व्यवस्थापितम्। नतु प्रधानस्य शारीरस्यवाग्रहमिति प्रकरण निष्कर्षः संपिण्डितोर्थश्चेति संक्षेपः ॥२४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणस्याहश्यत्वादिगुणकाधिकरणम् ॥६॥

विवरणम्–ननु छान्दोग्योपनिषदि "कोनु आत्मा किं ब्रह्मे"ति "आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि तमेव नोब्रूहि" इत्यारभ्य "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" इत्येवं रूपेण वैश्वानरस्योपासनं श्रूयते। तत्र वैश्वानरो हि उपास्यतया श्रूयते। वैश्वानर शब्दश्चानेकेषु प्रयुज्यमानो भवति. तत्र कस्य ग्रहणं कर्त्तव्यं कस्य च नेति संशये निश्चायकाभावादनुपास्यतैवस्यात्तत्तु न युक्तमिति निश्चयाय प्रकरणमिदमारभते वैश्वानरः साधारणेत्यादिसूत्रम्। सूत्रार्थ प्रतिपा-

महिमाशाली शारीर में एतादृश रूप का उपन्यास नहीं हो सकता है यह प्रत्यक्ष बाध है। नवा प्रधान में भी यह रूपोपन्यास घट सकता है। क्योंकि शारीर तथा प्रधान में सर्वभूतान्तरात्मत्व नहीं है। इसलिए परमपुरुष परमात्मा ही भूतयोनि अक्षरपदवाच्य है। इतर जीव वा प्रधान नहीं है ॥१।२।२४॥

सारबोधनी–जिस प्रकार से अन्तर्यामी "अद्रेश्यम्" इत्यादि पदों से परमात्मा का ही ग्रहण किया गया है। पूर्व पूर्वतर प्रकरणों में। उसी तरह से वैश्वानर पद भी परमात्मा का ही वाचक है। इस बात को व्यवस्थित करने के लिए तथा वैश्वानराधिकरण की चिन्ता करने के लिए प्रक्रम करते

देवता जीवो वा ग्राह्य इति पूर्वः पक्षः । अत्राभिधीयते वैश्वानरो ह्यत्र परमात्मैव साधारणशब्दविशेषाद्ग्राह्यः । को नु आत्मा किम्ब्रह्मेति ब्रह्मजिज्ञासायामौपमन्यवादिमहर्षिप्रदर्शितायां 'आत्मानं वैश्वानरम्' इति ब्रह्मणि वैश्वानरशब्दप्रयोगात् । 'एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' इत्यादिपरमात्मा साधारणैः शब्दैर्विशेष्यमाणत्वाच्चेह वैश्वानरः परमात्मा नाग्निप्रभृतयः ॥२५॥

दनाय प्रक्रमते "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमित्यादि । एतमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते इतिश्रुतावुपास्यतया श्रूयमाणो वैश्वानरः स किं जाठरोऽग्निरुपदिश्यते, अथवा अग्नेरभिमानीदेवविशेषो, जाठराग्न्युपलक्षितो जीवो वा सर्वत्र परमेश्वरस्यैवोपास्यमानतया ग्रहणदर्शनेनेहापि तस्यैव श्रूयते । यत एकपक्षस्य निश्चायकप्रमाणाभावेन संशयो जायते । तत्र किं युक्तमिति विमर्शे भवति पूर्वपक्षो यदत्र अग्नेरेवग्रहणं कर्त्तव्यम्, यतः "अयमग्निर्वैश्वानरः" इत्यादिस्थले इदं शब्देन प्रत्यक्षविषयत्वेन वैश्वानरस्योपस्थापितत्वेन प्रत्यक्षाग्निपरत्वात् यथा साधारणाग्नौ लोकानां प्रसिद्धिबाहुल्यादथवा ऐश्वर्यादियोगश्रवणात्तदभिमानी देवो वा अथवा अग्निनोपलक्षितो जीवः अन्तः प्रतिष्ठितत्वश्रवणात् । परन्तु परमात्मनस्तु ग्रहणं नैव कर्त्त-

हैं "छान्दोग्ये" इत्यादि । छान्दोग्योपनिषद में "जो इस प्रादेशमात्र परिमित आत्मा वैश्वानरका उपासन करता है" इत्यादि सुनने में आता है । तो क्या यहाँ वैश्वानर शब्द से जाठर अग्नि में उपास्यत्व बतलाया जाता है, अथवा अग्निदेवता का उपासन है । या जठराग्नि से उपलक्षित जीवात्मा को उपास्यत्व कहा जाता है । अथवा सर्व शरीरक सर्वनियन्ता परमात्मा को उपास्य तया बतलाया जाता है । एतादृश सन्देह होता है । क्योंकि किसी का निश्चायक कारण नहीं है । वैश्वानर शब्द तो साधारण है । इस पद का अग्निदेव जीव परमात्मा में सर्वत्र प्रयोग होता है । उसमें ... न

ध्यं यतः सर्वव्यापकस्य परमात्मनः शरीराभ्यन्तरे प्रतिष्ठितत्वा संभवादिति पूर्वपक्षिते

उत्तरयति, अत्राभिधीयते इत्यादि। वैश्वानरो ह्यत्रपरमात्मैवेत्यादि अत्र प्रकरणे वैश्वानरशब्देन परमात्मन एव ग्रहणं भवति कुतः साधारणशब्दविशेषात्। कुतः? विशेष्यते इति विशेष इतरापेक्षया व्यावर्तको धर्मविशेषः सच धर्मविशेष इह प्रतीयते येन साधारणस्यापि वैश्वानरशब्दस्य परमात्मपरत्वमेव निश्चायति जाठरभूताग्निदेवता जीवपरमात्मसु साधारणरूपेण व्यवस्थितस्यापि वैश्वानरशब्दस्य परमात्मनो ये असाधारणा धर्माः तैर्विशेषितत्वात् परमात्मपरकत्वमेव व्यवस्थापितं भवति। विशेषश्च "एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजा" इत्यादिक एवात्र। एवं "को न आत्मा किं ब्रह्म" इत्यादि प्रकरणेन सर्वभूतात्मलक्षणपरमात्मनो जिज्ञासायां केकयाश्वपतेरुत्तरेण वैश्वानरशब्दस्य परमात्मपरत्वमेव निश्चितं भवति एवं किं ब्रह्मेति प्रक्रान्तस्य परमात्मनः सर्वत्र वैश्वानरशब्देन कथना

वैश्वानर है" इत्यादि शास्त्र वचन से और वैश्वानर शब्द का लोक में प्रसिद्धि की प्रचुरता होने से यहाँ वैश्वानर शब्द से अग्नि अथवा तदभिमानी देव यद्वा तदुपलक्षित जीवात्मा का ही ग्रहण होना चाहिए। किन्तु परमात्मा का ग्रहण करना ठीक नहीं है। क्योंकि परमात्मा तो सर्वव्यापक है। तो उसको अन्तः प्रतिष्ठितत्व सर्वथा असंभवित है। यह हुआ पूर्वपक्ष ॥

तब इस पूर्वपक्ष के उत्तर मे "अत्राभिधीयते" इत्यादि। इस प्रकरण में वैश्वानर पदवाच्य परमात्मा है। "कौन आत्मा है। कौन ब्रह्म है।" इस प्रकार से ब्रह्म की जिज्ञासा होने पर औपमन्यवप्रभृति महर्षियों से प्रदर्शित "आत्मावैश्वानर को जानो" इस प्रकार से ब्रह्म परमात्मा में वैश्वानर शब्द का प्रयोग किया गया है। एवम् "यह जो वैश्वानर आत्मा है उनका सुतेजस्त्वगुणविशिष्ट द्युलोक ही मूर्धा है" इत्यादि परमात्मा का

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति।१।२।२६।

मुण्डकादिश्रुतिषु परमात्मन एव 'अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ इत्ये तद्विश्वशरीरकं रूपमुपवर्णितम् । तदेवरूमत्र छान्दोग्येऽपि स्मर्यमाणं प्रत्यभिज्ञायमानं सद् ब्रह्मस्वरूपस्यानुमापकं भवतीति ॥२६॥

दपि वैश्वानरशब्देन तस्यैव ग्रहणं भवति। एवं वैश्वानरात्मविज्ञान फलमपि सर्वापापकत्वमुक्तं तदपि तदैव संगच्छते यदावैश्वानर पदेन परमात्मनो ग्रहणं भवेत् । उपासनार्थमन्तः प्रतिष्ठितत्वमपि परमात्मनः संभवत्येव । अतो वैश्वानरपदेनात्र प्रकरणे परमतमन एव ग्रहणं भवति. नतु साधारणाग्निदेवजीवादीनां तेषु सत्वेत्मत्वा संकुचितवृत्त्या सर्वान्तः प्रतिष्ठितत्वद्युमूर्धाद्यवयवत्वसर्वपाप प्रदाहकत्वादिगुणानां त्रिकालेष्यसंभवात् । परमात्मनस्तु सर्वशरीरी तया सर्वमपि सर्वदासंभवत्येवेति संक्षेपः ॥२५॥

विवरणम्—इतः पूर्वसूत्रे 'वैश्वानर' शब्दस्य ब्रह्मवाचकत्वं व्यवस्थाप्य वक्ष्यमाणहेतुनापि वैश्वानरशब्दब्रह्मपरत्वमेवेति दर्शयितुमुपक्रमते "मुण्डकादिश्रुतिषु" इत्यादि। आथर्वणिकानां मुण्डकोपनिषदि "अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसुर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवीह्येषसर्वभूतान्तरात्मा"(मु.२।१।४)[अस्य सर्वसर्जकस्य ब्रह्मणो मूर्धा उत्तमाङ्गस्थानापन्नोऽग्निरेवावयवेषुश्रेष्ठत्वात् तथा अनन्य सधारण शब्दों से विशेष्यमान होने के कारण से वैश्वानर पदवाच्य परमात्मा ही है । किन्तु अग्नि देवता जीव प्रभृतिक नहीं । क्योंकि इनमें स्वर्गाद्यवयवत्व सर्वपापप्रदाहकत्वादि गुणों की संभावना नहीं हो सकती है । किन्तु ये सब विशेषण परमात्मा में ही हैं ॥२५॥

सारबोधिनी—साधारण शब्द विशेषादि कथन द्वारा वैश्वानर पदवाच्य परमात्मा है, यह स्थिर किया तथा वैश्वानर वाच्यता जीवजाठर अभिमानी देव में नहीं है, इसका कथन प्रथम सुत्र में करके स्मर्यमाणादि हेतु से भी वैश्वानर

चन्द्रसूर्यौ सर्वलोकप्रकाशकौ चक्षुषी नेत्रस्थानापन्नौ, याश्चेमाः दिशः काष्ठास्ता एव तस्य श्रोत्रस्थानापन्नाः शब्दग्राहकाः विवृताः प्रकाशिता वेदा एव वाक् व्यवहारसाधकाः योयं सर्वदेरणः स्वभावो वायुः स एवास्य प्राणः, विश्वं यदिदंविश्वजातं तदेवास्य परात्मनो हृदयस्थानापन्नम् । तथेयं सर्वेषां स्थावरजंगमानामाधारभूता पृथिवी एव पादस्थानीया आधाररूपा एष एतादृशः परमात्मासर्वभूतानामन्तरात्मा अर्थात् त्रैलोक्यशरीरकः परमात्मेति] एतस्यां मुण्डकश्रूतौ यदिदं त्रैलोक्यशरीरकं रूपं परमात्मनः समुपपादितं तदेव त्रैलोक्यशरीरकत्वं छान्दोग्योपनिषद्यपि स्मर्यमाणं भवत्परात्मनः स्वरूपस्यानुमापकं लिङ्गं भवति अर्थात् यदन्यत्र रूपमन्यत्र कथितमिति तदत्र परमात्मानमेव बोधयति नतु जीवं जाठरमग्निमग्निदेवं वोपस्थापयति । एवम् "यस्याग्निरास्यं द्यौ मूर्धा खं नाभिश्चरणौक्षितिः । सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मनेनमः [यस्यलोक शरीरकस्य परमेश्वरस्याग्निरेव मुखम्, द्युलोक एव मूर्धा मस्तकम्, खमाकाशमेव नाभिः क्षितिः सर्वाधारापृथिवी चरणौ चर-

पदवाच्यता परमात्मा में ही है। किन्तु जीवादिक में नहीं है। इस बात को बतलाने के लिए सूत्रान्तर का अवतरण करते हुए कहते हैं—"मुण्डकादि श्रुतिषु" इत्यादि। आथर्वणिकों की मुण्डक श्रुति में कहा है कि "अग्निमूर्धा चक्षुषो चन्द्र सूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाक् विवृताश्च वेदाः। वायु प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" जिस परमात्मा का मस्तक अग्नि है। सूर्यचन्द्रमा चक्षु हैं, तथा पूर्वादिक दिशा में ही शब्द ग्राहक श्रोत्र है, तथा विस्पष्ट वेद ऋगादिक ही वाणी है। वायु जिसका प्राण, तथा सम्पूर्ण विश्व ही हृदय है। और पृथिवी पैर प्रतिष्ठा स्थिति स्थान है। यह सर्वभूतों का अन्तरात्मा है। इसी प्रकार से महाभारतादिक अनेक स्थानों में जो परमात्मा के स्वरूपों का वर्णन किया है। वही स्वरूप यहाँ छान्दोग्य श्रुति में कहा गया है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि वैश्वानर

शब्दादिभ्योन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ।१।२।२७।

ननु 'स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते' [प्र० १।७।] इत्यग्निशब्दसामानाधिकरण्यात् 'स यो हैतमेवाग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' इत्यन्तः प्रतिष्ठानाच्च न वैश्वानरपदवाच्योऽत्र

णवत् प्रतिष्ठाः सूर्यचन्द्रमसावेव चक्षुरूपप्रकाशकत्वाच्चक्षुरिव चक्षुर्दिशः पूर्वादिकाः श्रोत्रं शब्दग्राहकमुपकरणमिव कल्पितम्, इत्थं भूताय सर्वलोकप्रसिद्धाय लोकात्मने लोका एवात्मानः शरीररूपाः यस्य तादृशे जगत् शरीरिणे परमात्मनेऽधिलोकात्मनेऽयोध्याधिपतये श्री रामाय नमः नमस्कारो मे भवतु। एतावता भगवति सर्वशरीरित्वं लोकानाञ्च भगवदेकदेशत्वं स्तुतिव्याजेनव्यक्तीकृतम्

एतदेव सर्वलोकात्मकं रूपं भगवत इह छान्दोग्येपि श्रूयमाणं रूपं वश्वनरस्य परमपुरुषरूपतां निश्चिनोति । अर्थात् वैश्वानरपदवाच्य छान्दोग्यप्रकरणे परमात्मैव भवति. नतुजाठरो जीवो वाऽधिष्ठातृदेवो वा, यतःपरमात्मव्यतिरिक्तेषु स्मर्यमाणयथोक्तरूपसमन्वयस्यातितरामेवासंभवादिति ॥२६॥

पद से प्रतिपादित परमात्मा ही है। और वेही परमात्मा उपास्य रूप से प्रतिपादित होते हैं। किन्तु जाठर अग्नि अथवा तादृश अग्नि से उपलक्षित जीवात्मा अथवा अग्नि का अभिमानी देव यहाँ विवक्षित नहीं है । क्योंकि त्रैलोक्य शरीरकत्व तो जीवादि को कोई नहीं मानते हैं। नवा जीवादिकों में एतादृश त्रैलोक्य रूपवत्ता संभवित है। इसलिए अन्य अनेक श्रुतिबल से प्रत्युपस्थापित जो रूप है उसका परमात्मा में ही संभवित होने से परमपुरुषही वैश्वानर प्रतिपाद्य है। किन्तु परमेश्वर से अतिरिक्त वैश्वानर शब्द प्रतिपाद्य नहीं है असंभव होने से । विशेष विवरण अन्यत्र देखें ॥२६॥

परमात्मा स्यादितिचेन्न, परमपुरुषस्य तथाग्निशरीरतयोपासनार्थमुपदेशात्। न हि द्युमूर्धादिधर्माः केवलाग्नौ सम्भवन्ति। परमात्मनस्त्वग्निशरीरकत्वेनोपपद्यन्त एवैते धर्माः। अत एव "अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः" इति वाक्यं सङ्गच्छते। प्रकृतवाक्येऽपि विश्वरूपोऽग्निरिति शब्दस्वारस्यात्परमात्मैव वैश्वानरशब्दवाच्यः। न

विवरणम्– पूर्वसूत्रद्वयेन परमपुरुषस्य परमात्मन एव "अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोते वाग् विवृताश्चवेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" तथा "यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौक्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशश्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः" इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः परमात्मनः परमपुरुषस्यैव वैश्वानरपदवाच्यत्वं भवति, नतु जाठराग्नेर्देवताया जीवस्य वा वैश्वानरपदवाच्यत्वमिति प्रसाध्यापि, स्थूणानिखननन्यायेन पुनरपि विविधप्रकारेण शङ्कां कृत्वा पुनः समाधानाय सूत्रकारः प्राह "शब्दादिभ्यः" इत्यादि। नात्र परमात्मा वैश्वानरशब्देन प्रतिपादयितुं शक्यते

सारबोधिनी–पूर्वोक्त सूत्रद्वय से वैश्वानर पदवाच्यता परम पुरुष में प्रसाधित कर दिया। तथापि पुनः उसी बात को स्थूणानिखनन न्याय से पूर्वपक्ष पूर्वक समाधान करने के लिए सूत्र व्याख्यानपूर्वक प्रक्रम करते हैं "ननु स एष वैश्वानर" इत्यादि। आपने जो पूर्वसूत्र में प्रतिपादन किया कि वैश्वानर प्रतिपाद्य परमात्मा हैं किन्तु जाठर अग्नि वैश्वानर पद प्रतिपादित नहीं है यह कहना ठीक नहीं है। यहाँ तो वैश्वानर शब्द का अग्नि शब्द के साथ समानाधिकरण शब्द द्वारा श्रुत है। जैसे "स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते" [यह विश्वरूप वैश्वानर अग्निरूपप्राण उदित होता है।] इस वाक्य में अग्नि का तादात्म्य वैश्वानर में देखने में आता है। जब "नीलो घटः" यहाँ नील पद का सामानाधिकरण्य है। तो वहाँ नील का अभेद घट में ही होता है नतु मृत्तिका द्रव्यादिक में नीलाभेद ज्ञात

ह्यग्नेः केवलस्य विश्वरूपता सम्भवति। एवं वाजसनेयिनः "स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः" इत्यादिश्रौतवाक्येषु वैश्वानरं पुरुषमप्यधीयते। पुरुषशब्दश्च 'यत्परमपुरुषः' [रामोत्तरता ४२] "वन्दे महापुरुषते चरणारविन्दम्' [भा० स्क० ११] इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः भगवन्तंश्रीराममेवाभिधत्ते। तस्मादत्र वैश्वानरः परमात्मा श्रीराम एव ॥२७॥

यतः जाठराग्नेरेव वैश्वानरशब्देन प्रतिपादनात्। तथा "पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितम्" इत्यादि वाक्येन अन्तः प्रतिष्ठितत्वस्य प्रतिपादनान्नहि वैश्वानरवाच्यता परमेश्वरस्य नवा, उदरान्तर्वर्तित्वं परमात्मनः संभवति सर्वव्यापकस्योदरमध्येऽवस्थानासम्भवात्। यो यस्मिन् तिष्ठति स ततोऽल्पीयान् भवतीति नियमादतो नात्र वैश्वानरपदेन परमात्मनो ग्रहणं किन्तु तत्पदवाच्यत्वं जाठराग्नेरेवेति पूर्वपक्षं कृत्वा कथयति. यदत्र वैश्वानरपदेन वैश्वानर शरीरकस्य परमात्मन एवोपास्यतया ग्रहणं भवति. नतु जाठराग्नेः कुतः ? असंभवात्। नहि केवलस्याग्नेः सूर्यादिनेत्रत्वादिकं सम्भवत्यतिपरिछिन्नत्वात्। तथा पुरुषपदवाच्यतापि परमात्मन एव "स एषोग्नि वैश्वानरो यत्पुरुषः" इत्यादौ परमात्मन एव पुरुषपदवाच्यत्वस्य श्रवणात्। तस्मादत्र होता है उसी तरह प्रकृत में अग्नि का सामानाधिकरण्य वैश्वानर में शब्द द्वारा श्रूयमाण है। तब वैश्वानर शब्द जाठर अग्नि का ही बोधक है। नकि परमात्मा का। क्योंकि परमात्मा में अग्नि का तादात्म्य प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित है। अतः वैश्वानर पदवाच्य जाठर अग्नि ही है, परमात्मा नहीं। तथा जाठरानल ही उपास्य है, परमात्मा नहीं। एवम् "स यो हैतमेवाग्निं वैश्वानर-पुरुषं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद" जो उपासक इसी पुरुषाकार तथा पुरुष के अभ्यन्तर में प्रतिष्ठित वैश्वानर अग्नि की उपासना करता है। यहाँ पुरुष के अभ्यन्तर में प्रतिष्ठितत्व को बतलाया गया है। तो इन सब कारण से ज्ञात होता है कि जठरानल ही उपास्य है। क्योंकि परिच्छिन्न होने के कारण से पुरुष के जठर में अग्नि का अवस्थान संभवित

परमात्मैव वैश्वानरपदवाच्यो न जाठरादिरसम्भवादिदोषग्रस्तत्वादित्येवं रूपेण सूत्राशयं प्रतिपादयितुं प्रक्रमते "ननु स एष वैश्वानरो विश्वरूप" इत्यादि। स एवाऽयं प्रत्यक्षनिर्दिष्टोयश्चायं वैश्वानरो विश्वरूपो विश्वेषां प्राणिनां सम्बन्धादनेकरूपः प्राणपदवाच्यः अग्निः। स उद्यते सर्वत्रोदयं याति। अत्राग्नि पदस्य वैश्वानरपदेन सामानाधिकरण्यादग्निवैश्वानरयो र्नीलोत्पलवत् तादात्म्यदर्शनादवगम्यते यदयं वैश्वानरो जाठराग्नेरभिन्न इति। तदत्र जठरानलस्य वैश्वानरेण तादात्म्यदर्शनात्, वैश्वानरपदवाच्यो जाठरानल एव नैवं परमात्मवैश्वानरयोस्तादात्म्यं क्वचिदपि श्रूयते तस्माद् वैश्वानरवाच्यो जाठराग्निरेवेति। एवम् "स यो हैतम्" इत्यादि। स यः कश्चिदुपासको वैश्वानरमुपासीतं वेद कीदृशं वैश्वानरम्? अग्निम्, अत्राप्यग्नि-वैश्वानरयोः समानविभक्त्यन्तपदोपस्थापितत्वात्तादात्म्यमेव प्रतीतं, "नीलोघटः" वदिति। पुनः "पुरुषविधं पुरुष कारं शिरः पाण्यादिवदिवभासनं नैतद् विशेषणं परमात्मनोऽनुकूलम् "अपाणिपादः" "अस्थूलमनणुः" इत्यादि श्रुतेः। तथा "पुरुषेऽन्तः है। परमात्मा तो सर्वव्यापक है, तब वे परमात्मा क्षुद्र अत्यल्पोदर में किस तरह अवस्थित हो सकते हैं। अतः शब्द से तथा 'अन्तः' अवस्थान होने के कारण से प्रकृत प्रकरण में जाठर अग्नि का ही ग्रहण होता है पर परमात्मा का नहीं। तथा पूर्वोक्त हेतु से सिद्ध होता है कि प्रकृत प्रकरण में उपास्य जठरानल ही है, परमात्मा का उपासन प्रकरण नहीं। यह हुआ प्रश्न।

इस प्रश्न का समाधान सूत्रावयव से कररते हैं—"तथा दृष्ट्युपदेशात्"। जाठरादिक में परमात्म दृष्टि करनी चाहिए। तद्रूप से--जाठर विशिष्ट रूप से परमात्मा की उपासना करनी चाहिए। यह प्रकृत प्रकरण का अभिप्राय है। "यस्याग्निः शरीरम्" इस अन्तर्यामी प्रकरण से ज्ञात

प्रतिष्ठितं पुरुषस्य मनुष्यादेरभ्यन्तरे वर्तमानम् नैतद्विशेषणमपि परमात्मपक्षे संभवति सर्वव्यापकत्वात् । सर्वञ्चेदं विशेषणं यथा कथचिञ्जाठरस्याग्नेः तदभिमानिदेवस्य जीवस्यैव वा पक्षं पोषयति । तस्मादत्र परमात्मा न वैश्वानरपदवाच्योऽपितु जाठराग्निर्देवो वा जीवो वात्र तत्पदवाच्यो भवतीति पूर्वपक्षः ।

तमिमं पूर्वपक्षं सूत्रावयवैः खण्डयितुमाह "इति चेन्न" अत्र प्रकरणे वैश्वानरपदेन परमपुरुषस्यैव ग्रहणं भवति न तदन्यस्यकस्यचित् कुतस्तथादृष्ट्युपदेशात् । अयमाशयः 'विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते" इत्यत्र तथा "पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद" इत्यादौ परमात्मन एवाग्निशरीरतया उपासनाभिमतत्वात् । नहि केवलस्याग्नेरुपासनमत्राभिमतं किन्तु वह्निशरीररूपरमात्मन एवात्रोपासनमिष्टम् । केवलवह्नेर्द्युमूर्धवत्वस्यानुपपत्तेः, नहि केवलस्य वह्नेर्द्युलोको मूर्धा भवति नवा चन्द्रसूर्यौ चक्षुषी भवतः । परमात्मपक्षेतु नैस दोषः संभवति । यतः परमात्मनः सर्वशरीरकतया वह्निशरीरकत्वस्यापि संभवे वह्निशरीरकतयोपासनसंभवात् प्रतीकोपासना-

होता है कि अग्नि परमात्मा का शरीर है । तो अग्नि शरीरक परमात्मा का ही यहाँ उपास्यतया ग्रहण है । केवल अचेतन जाठरानल यहाँ अभिमत नहीं अपितु जाठराग्नि रूप परमात्मा ही उपास्य है क्योंकि केवल अग्नि में द्यु मूर्धात्वादिक धर्मों का समावेश असंभवित है । और परमात्मा तो सर्व शरीरक होने से उसमें द्यु मूर्धात्वादिक धर्म संभवित हैं । इसलिए सर्व शरीरक परमात्मा का ही अग्नि–शरीर–विशिष्ट–रूप से यहाँ उपासन अभिमत है । पर केवल अग्नि का नहीं अतएव 'मैं ही वैश्वानर रूप होकर के प्राणियों के अभ्यन्तर में अवस्थित रह कर प्राणापान से युक्त होकर के प्राणियों से भुक्त चारों प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ ।" यह जो गीतामें भगवदुक्ति है वह भी सार्थक होती है इसलिए प्रकृत वाक्य में भी विश्वरूप अग्निशब्द का

वत् । अतएव "अहं सर्वेश्वरो हि वैश्वानराग्निरूपमादाय प्राणिमात्रस्य देहाभ्यन्तरे स्थितश्चतुर्विधमन्नंपाचयामीति भगवतो वासुदेव वचनमपि परमात्मपक्षं समर्थयत्सार्थकं भवति । तदाहुर्वृत्तिकारा गीतार्थचन्द्रिकायाम्—"अहमपरिमितसामर्थ्यशाली सर्वेश्वरो वैश्वानरो जाठराग्निर्भूत्वा सर्वेषां प्राणिनां देहमाश्रितस्तैरशितं चतुर्विधं भक्ष्य-भोज्यलेह्यचोष्यात्मकं सर्वमन्नं प्राणापानसमायुक्तः सन् पचामि । मदीयशक्त्याऽयं वैश्वानरोऽग्निरन्नपाचक इति तात्पर्यम्" इति । अतश्च न ह्येतद्भगवद्वचनं परमेश्वरपक्षातिरिक्तपक्षं समर्थयति । "स एष वैश्वानर" इत्यादि प्रकृतवाक्योऽपि विश्वरूपोग्नि' रित्याकारकशब्दस्वारस्यादित्थं ज्ञायते यत् परमात्मैव समुपस्थापितो भवति सर्वशरीरकतया सर्वरूपत्वात् । केवल वह्नेः स्वरूपतया सर्वरूपता न संभवति । नहि एकः परिणामः परिणामान्तरस्य तादात्म्यं प्राप्तुं शक्ष्यति, परमात्मनस्तु तथात्वं सर्वकारणतया घटत एव । एवं वाजसनेयिनः श्रुत्यन्तरे "स एषोग्नि वैश्वानरो यत् पुरुषः" इत्यादि वाक्येषु प्रकृतं वैश्वानरं पुरुषपदेन कथयति । पुरुष

स्वरसता से परमात्मा ही वैश्वानर पदवाच्य है केवल अग्नि में विश्वरूपता संभवित नहीं इस तरह "एषोग्नि वैश्वानरो यत्पुरुषः" इत्यादि वाक्य में भी केवल जाठरानल में पुरुषत्व नहीं है । किन्तु "सहस्त्र शीर्षा पुरुषः" इत्यादि वाक्य से परमात्मा श्रीराम में ही मुख्य पुरुष शब्द वाच्यता है ।

इसि वात को कहते हैं—"एवं वाजसनेयिनः" इत्यादि । इसी प्रकार वाजसनेयी शाखावालों को "स एषोग्नि वैश्वानरोयत्पुरुषः" [वही ये अग्नि वैश्वानर हैं । जो पुरुष है ।] इत्यादि श्रुति वाक्य में वैश्वानर को पुरुष रूप से प्रतिपादन किया है । एवम् 'पुरुष शब्दश्च, 'यत्परमपुरुषः' । [श्रीरामजी ही पुरुष पदवाच्य हैं] इत्यादि रामतापनीयोपनिषत् में पुरुषपदप्रतिपाद्य श्रीदशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ही हैं, ऐसा कहा गया है । तथा "वन्दे

अतएव न देवता भूतञ्च १।२।२८।

अत एव परमात्मनोऽसाधारणलिङ्गैः पुरुषपदवाच्यतया चायं वैश्वानरो नाग्न्याधिष्ठातृदेवता न वा भूततृतीयोऽग्निः किन्तु परमात्मैव ।।२८।।

पदञ्च परमात्मनि गीयमानमवलोक्यते "यत्परम पुरुषः" इत्यादिरामतापनीयादिश्रुतिषु पुरुषपदस्य परमात्मनि श्रीरामे प्रयोगदर्शनात् । एवम् "वन्दे महापुरुषः ते चरणारविन्दम्" इत्यादि भागवतीयपद्येऽपि परमात्मनि सर्वेश्वरे पुरुषशब्दस्य प्रयोगो दृश्यते । अतः श्रुतिस्मृतयो भगवन्तं सर्वशेषिणं श्रीराममेव पुरुषपदेन प्रतिपादयन्ति ।

तस्मादत्र प्रकरणे वैश्वानरपदेन परमपुरुषस्यैव ग्रहणं भवति. नतु जाठरदेवता जीवानां यतः प्रकरणप्रतिपादितानां द्यु-मूर्धत्वादि विशेषणानां स्वभावतो जाठरादिष्वसंभवात् । संभवन्ति च तानि सर्वशरीरकतया परमेश्वर एव । जाठरादेः परिकीर्तनं तु जाठराग्निशरीरकतया परमात्मन उपासनार्थमेव नतु स्वरूपतस्तस्य कथनपरकमपीति बोध्यम् । एवम् "सहस्रशीर्षापुरुषः" इत्यादिश्रुतिवाक्येनापि परमात्मन एव स्वभावतः निरुपाधिकं पुरुषत्वप्रतिपादितमिति संक्षेपः ।।२७।।

महापुरुष ते चरणारविन्दम्" [हे महापुरुष ? आपके पद पंकजों की मैं वन्दना करता हूँ ।"] इत्यादि भागवत वचन से भी परमात्मा में पुरुष पदवाच्यत्व सिद्ध होता है तथा "क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" इत्यादि श्रुतिस्मृत्यादिक प्रमाणों से पुरुष पदवाच्यता भगवान् अयोध्याधिपति में ही सिद्ध होता है । इसलिए इस प्रकरण में वैश्वानर पदवाच्य परम पुरुष भगवान् श्रीराम ही हैं, तथा वेही अग्नि शरीर रूप से उपास्य हैं । केवल जाठरानल नहीं । क्योंकि केवल अग्नि में पूर्वोक्त विशेषणादि असंभवित हैं ।।२७।।

विवरणम्—"अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्चवेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" [यस्य परमात्मनोऽग्निरेवमूर्धाशिरः स्थानीयः सूर्याचन्द्रमसौ नेत्रे दिशः पूर्वादिका एव श्रोत्रे भवतः विवृताः प्रकाशिताः ऋगादिका वेदा एव वाणी भवति सर्वदा ईरणस्वभावो वायुरेव प्राणो भवति विश्वं स्थावरजंगमात्मकं विश्वमेव हृदयं भवति पद्भ्यां पृथिवी. आधाररूपापृथिवी एतादृशः सर्वेषां भूतानामात्म रूपः कश्चिदस्तीति] इत्याद्यनेक मंत्रेषु द्यु-मूर्धात्वादिगुणविशिष्टतृतीयोभूताग्निरपि संभवति. अथवाग्निशरीराभिमानी देवो वा. ऐश्वर्यादिगुण विशिष्टत्वात् संभवतीत्याशंक्य तयोर्निराकरणायाह—अतएव न देव न देवता नवा तृतीयं भूतमपि. कुतः ? यत उक्तेभ्यः श्रुतिस्मृत्यावगतद्युमूर्धत्वादिसंबन्धः सर्वलोकाश्रयफलभागित्वसर्वपापप्रदाहकृत्वात्मक ब्रह्मपदोपक्रमसर्वेश्वरत्वादिहेतुभ्यः पूर्वं कथितेभ्यो न देवताया ग्रहणं नवाकाशापेक्षया तृतीयभूताग्नेर्वाग्रहणं भवति. किन्तु सर्वशरीरकस्य सर्वान्तर्यामिणः सर्वनियामकस्य

सारबोधिनी—"अग्निमूर्धाचक्षुषी चन्द्रसूर्यौ" इत्यादि मंत्र प्रतिपादित जो वैश्वानर है वह भूताग्निपरक है। अथावा वह्नि शरीराभिमानी देवतापरक है। क्योंकि देवता में देवत्व है। और देवगण ऐश्वर्यशाली होते हैं। तो ऐश्वर्य योग से तादृश देवता ही वैश्वानर पदवाच्य है। परन्तु परमात्मा वैश्वानर पदवाच्य नहीं। क्योंकि इस प्रकरण में बहुत से ऐसे विशेषण हैं जिससे कि परमात्मा का वैश्वानर पद से ग्रहण नहीं हो सकता है। एतादृश पूर्वपक्ष का निराकरण करने के लिए वृत्तिकार कहते हैं कि—अतएवेत्यादि "अग्निमूर्धा" इत्यादि प्रकरण में द्युमूर्धत्व सर्वपापदाहकत्व सर्वात्मत्व सर्वेश्वरत्वादिक अनेक अनन्य साधारण परमात्मा का ज्ञापक लिङ्ग विद्यमान है, और "सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः" "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः"

परमात्मन एव ग्रहणं भवतीति प्रदर्शयितुमाह "अत एव परमात्मनः" इत्यादि । अतएव यतः प्रकरणे द्युमूर्धात्वादिका सर्वनियन्तृत्व सर्व पापदाहकत्वादिमाः सर्व नियन्तृत्व–सर्वेश्वरत्वादि परमात्मनोऽनन्यसाधारणा गुणाः प्रतिपादिताः स्तैः "स एषोऽग्नि वैश्वानरो यत्पुरुषः" "यत्परमपुरुषः" "सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्" "वन्देमहापुरुषते चरणारविन्दम्" इत्यादिश्रुतिस्मृति पुराणादिवाक्यैः पुरुषपदतया प्रतिपादनाच्च वैश्वानरपदेन परमात्मैव परिगृहीतो भवति. नतु वह्नि साधारणो नवा वह्नि–शरीराभिमानी देवता । यतो भूताग्नौ द्युमूर्धात्वादिका गुणा न संभवन्ति । देवतायां यद्यप्यैश्वर्ययोगात् कदाचित् शक्येतापि. तथापि निरङ्कुशैश्वर्यस्य तत्रापिवाधादेवेति । किञ्च देवाग्नेरप्यन्तर्यामितया परमात्माश्रूयतेऽन्तर्याम्यधिकरणे. इति कथं तस्मिन्नैश्वर्यं स्वातन्त्र्यञ्च संभवेत् । अतः परमात्मैव सर्वशरीरको वैश्वानरशब्दवाच्यो नान्ये तदितरे । यथोक्तव्याख्यानेनैव वृत्तेरक्षरार्थोऽपि व्याख्यात एवाभवदतः तद्व्याख्यानं न कृतमितिदिक् ॥२८॥

इत्यादि अनेक श्रुतिस्मृति इतिहासपुराण वाक्यों में परमात्मा को पुरुष पदवाच्य बतलाया गया है । इसलिए सिद्ध होता है कि परमात्मा ही वैश्वानर पद का वाच्य है । तथा परमात्मा ही इस प्रकरण में उपास्यतया प्रतिपादित होते हैं । किन्तु भूताग्नि अथवा ऐश्वर्यादि युक्तदेव जो कि वह्नि शरीराभिमानि हैं, उन सबों का वैश्वानर पद से प्रतिपादन नहीं होता है नवा उनमें उपास्यता का भी प्रतिपादन होता है । क्योंकि भूताग्नि में अथवा तदभिमानी देवता में पूर्वोक्त गुणों का समावेश की संभावना नहीं है । इस सूत्र के पूर्व पूर्वतरवर्ती सूत्रों में प्रतिपादित युक्तितर्कादिक से भी सिद्ध होता है कि वैश्वानर पदवाच्य भूताग्नि वा देवता नहीं हैं । किन्तु सर्वशरीरक परमात्मा ही वैश्वानर पदवाच्य हैं । ॥२८॥

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः १।२।२९।

अग्निशब्दस्य वैश्वानरशब्दसामानाधिकरण्येनाग्निशरीरकपरमात्मपरत्वमस्तीत्युक्तम् । परन्तु परमात्माभिधायिवैश्वानरशब्दसामानाधिकरण्यमनपेक्ष्याप्यग्रनयनादियोगेन वैश्वानरशब्दवदग्निशब्दोऽपि साक्षादेव परमात्मन्यविरुद्ध इति जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥२९॥

विवरणम्—इतः पूर्वप्रकरणे अग्निशब्दवैश्वानरशब्दयोश्चसामानाधिकरण्यं प्रदर्श्य सामान्यशब्दविशेषाद्यनेककारणप्रतिपादनद्वारा वैश्वानरशब्दः परमात्मन एव बोधको भवतीति शक्तिलक्षणवृत्तिद्वारेणेति प्रतिपादितम् । इतः परं याचकादिपदवत् योगार्थमाश्रित्यापि वैश्वानरशब्दपरमात्मानमेव बोधयतीति प्रदर्शयितुं तदर्थमाचार्यान्तरस्य संमतिं प्रदर्शयितुमग्रिमसूत्रमवतारयति 'अग्निशब्दस्येत्यादि । अग्निशब्दं समवाप्य वैश्वानरशब्देन सह सामानाधिकरण्यम् ततश्चाग्निशरीरकस्य परमात्मनो वाचक इति वह्निशरीरकः परमात्मैवात्रोपास्यतया गृह्यते नतु भूताग्निरिति समर्थितवान् । परन्तु अग्निशब्दो यदि परमात्मवाचकस्तदा वैश्वानरशब्दस्य सामानाधिकरण्यंनापेक्षते—तदापि

सारबोधिनी—इसके पहिले सामान्य विशेष शब्दादि हेतुओं के द्वारा वैश्वानर शब्द परम पुरुष परमात्मा का ही वाचक है नतु जाठराग्नि अथवा तेजोभिमानी देवता का वाचक है । इस बात का समर्थन श्रुति स्मृति युक्ति द्वारा किया गया है । इसके बाद जिस तरह पाचकादि पद योगार्थ द्वारा वाचक होता है । उसी तरह यह वैश्वानर पद भी पदार्थ शक्ति को लेकरके साक्षादेव परमात्मा का हो वाचक है । नतु परम्परया परमात्मा का वाचक । जिस तरह सर्वेश्वरादि पद परमात्मा का वाचक होता है, इस बात को बतलाने के लिए अन्य आचार्य की संमति पूर्वक विवेचन करते हुये यह उपक्रम करते है—"अग्नि शब्दस्य" इत्यादि वृत्तिः । अग्नि शब्द वैश्वानराग्नि शब्द का सामानाधिकरण्य के बल से अग्नि है शरीर जिसका—एतादृश

अग्रे नयति इत्यग्निरित्याकारकयोगार्थवलेन यथा वैश्वानरशब्दः साक्षादेव परमात्मानं बोधयति तथैवायमग्निशब्दोपि साक्षादेव तत्त्वं बोधयत्येव तत्र कोऽपि विरोधो न भवतोति जैमिन्याचार्यस्य मतमिति ।

तदयमत्राभिप्रायः । यथा विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरः सर्वात्मकः । अथवा विशेषां सर्वेषां प्राणिनां नरो नेता इति विश्वानरः । अथवा विश्वेसर्वेनरः प्राणिनः नियम्या यस्य विश्वानरः सर्वेषां जीवानां नियमन कर्त्ता यो भवति स विश्वानरः । अत्र संज्ञार्थावबोधकनरशब्देपरे पूर्वपदस्य दीर्घो भवतीत्यर्थकेन "नरे संज्ञायाम्" इति पाणिनीय सूत्रेण दीर्घो भवति. ततश्च विश्वानरः शब्दसिद्धिः अनन्तरं विश्वानर एव वैश्वानरः स्वार्थिकस्तद्धितोऽण् प्रत्ययः । अर्थात् अत्र प्रकृत्यर्थो भिन्नः प्रत्ययार्थश्चभिन्न इति न किन्तु यश्चार्थः प्रकृतेर्न ततोधिकोऽर्थः प्रत्ययस्य. यथा 'वय एव वायसः, "यथा वा देव एव देवता" इत्यादौ समानार्थक एव प्रत्ययः प्रकृतिश्च तथैव वैश्वानरेपीति । एवञ्च वैश्वानरशब्दो यथा योगार्थमादाय साक्षादेव परमात्मनो भवति वाचकस्तथैव, अग्निशब्दोऽपि योगार्थमादाय परमात्मनः

परमात्मा का बोधक है। ऐसा पूर्व सूत्रों में प्रतिपादन किया गया है । [जैसे नील पद घट के साथ समनाधिकरण हो करके, "नीलोघटः" यहाँ नीलाभिन्न घट का बोधक होता है। नतु पीत पटादिक का बोधक। इसी तरह प्रकृत में वैश्वानर का सामानाधिकरण्य को प्राप्त करके अग्नि शब्द भी अग्नि शरीरक परमात्मा को समझाता है "नीलमुत्पलम्" के समान] परन्तु परमात्मा का वाचक जो वैश्वानर शब्द है तादृश शब्द का सामानाधिकरण्य के अपेक्षा सहकार के बिना भी "अग्रे नयति इत्यग्निः" इत्यवयव के बल से, जिस तरह वैश्वानर पद इतरानपेक्ष हो करके साक्षादेव परमात्मा का वाचक है। उसी तरह से अग्नि शब्द भी इतरानपेक्ष होता हुआ साक्षादेव बोधक होकर अविरुद्ध है। इस तरह से जैमिनि नामक आचार्यविशेष की मान्यता

साक्षादेव वाचको भवति । तथाहि हृदयपुण्डरीके समुपास्यता रूपेण अङ्गति गच्छति आविर्भवति यः सः अग्निः परमात्मा परमात्मन एव हृदयपुण्डरीके उपास्यत्वस्य छांदोग्यादावति प्रसिद्धत्वात् । अथवा अङ्गयति प्रापयति स्थावरजङ्गमसाधारणस्य, उत्पत्तिस्थितिविलयं यः सोऽग्निः परमात्मा "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति" इत्यादिश्रुत्या परमात्मनः परमपुरुषस्यैव सर्वजगत्प्रति समुत्पत्यादिनियामकत्वस्य प्रतिपादनात् । इत्याद्यवयवार्थमादायाग्निशब्दः स्वरसतः परमात्मानमेव बोधयति विनैवाग्निशरीरकत्वकल्पनामिति मुखत एवाग्निशब्दः परमात्मवाचकतामङ्गीकरोति । अथवा सर्वस्य विकारजातस्य अग्रे नयतीति–अग्निः "सपर्यगात् शुक्रमकायमव्रणम्" इत्यादिना परमात्मनः सर्वव्यापकत्वात्सर्वेभ्यः पूर्ववर्ती यः स एवाग्निरिति । इत्थं चाग्निशब्दः परमात्मानमेव साक्षाद् बोधयतीति जौमिनि मुनोनामभिप्रायः । ततश्च "अथाग्नि वैश्वानरः" इत्यनुरोधेन न जाठरस्य तदभिमानिदेवस्य-

है । जो कि प्रकृतार्थ का उपोद्बलक है अर्थात् जिस तरह वैश्वानर शब्द विश्व समस्त नर स्वरूप वैश्वानर हैं । सर्वात्मक परमात्मा अथवा समस्त प्राणियों का नर अर्थात् नेता को विश्वानर कहते हैं । अथवा सर्व प्राणी नियम्य है जिसका उसको विश्वानर कहते हैं, सर्व नियन्ता परमात्मा । विश्वानर को ही वैश्वानर कहते हैं । यहाँ स्वार्थिक अण् प्रत्यय करके तथा, "नरे संज्ञायाम" इस सूत्र से दीर्घ करके वैश्वानर पद बनता है । जो परमात्मा बोधक है । इसी तरह अग्नि शब्द का योगार्थ होता है । उपासक के हृदयस्थल में आविर्भूत जो हो उसको अग्नि कहते हैं । एतादृश अग्नि पदवाच्य परमात्मा है । वेही शालिग्राम में विष्णु के समान उपासक के अन्तःकरण में आविर्भूत होते हैं । इसलिए अग्नि पदवाच्य परमात्मा हैं । अथवा प्राणी मात्र के उत्पत्ति स्थिति विनाशक जो हो उसका नाम है अग्नि । सर्वनियामक

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ।१।२।३०।

अपरिच्छिन्नस्यापि परमात्मनो 'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते, [छ० ५।१८।१।] इति प्रादेशमात्रव्यपदेशस्तूपासनासिद्ध्यर्थमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥३०॥

वोपस्थापकमिदं प्रकरणमपितु सर्वजगन्निदानं सर्व व्यापकं सर्वनेतारं सर्वतः पूर्ववर्तिनं पूर्व पूर्वतरस्यापि नियामकमिति संक्षेपः ॥२९॥

विवरणम्= यदि परमेश्वरः "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमनलोहितम्" इत्यादि श्रुतिभिर्लोकप्रसिद्ध्याच सर्वथैव परिच्छेदरहितः तदा कथम् "यस्त्वेतमेवमभिविमानं प्रादेशमात्रं वैश्वानरमुपास्ते" इत्यादिस्थले द्युमूर्धत्वादिपरिच्छेदवत्तयोपासनं कथितं तत्कथं संगच्छते, यतः परिच्छेदरहिते परिच्छेदवत्वज्ञानं न प्रमारूपम्, तदभाववति तत्प्रकारकज्ञानरूपत्वात्. रज्जौ सर्पबुद्धिवत्, ततश्च तादृशाप्रमा ज्ञानविषयीभूतपरमात्मोपासनया किमपि फलं नस्यादित्याद्या शङ्कायां परिच्छेदशून्योऽपि परमात्मा भक्तानामुपासनार्थं परिच्छिन्नवत्तामपि स्वरूपं स्वीकृत्य तद्रूपेण भक्तैरुपास्यमानो भक्तान् अनु-

सर्वोत्पादक सर्वव्यापक परमात्मा । इस प्रकार से साक्षात् अग्नि पदवाच्यता परमात्मा में है, यह जैमिनि कहते हैं ॥२९॥

सारबोधिनी– "अस्थूलमनणु" इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है कि भगवान् परमपुरुष अतिमात्र हैं । अर्थात् मात्रा परिच्छेदरहित हैं । तब देहावयवादि मात्रावत्व रूप से उन की कल्पना किस तरह से हो सकती है ?. तब तदुपासन कैसे हो सकता है । और उपासना के अभाव में सब जगत् में जो व्यवस्था है उस व्यवस्था का विप्लव हो जायगा । इस शंका के उत्तर में आश्मरथ्य आचार्य करते हैं कि यद्यपि भगवान् अतिमात्र हैं तथापि भक्तों के कल्याण के लिए तत्तत् स्थल में तत्तद्रूप से अभिव्यक्त होकर के अभिलषित फल का दायक होते है । जैसे प्रल्हाद के लिए काष्ठ में भी अभिव्यक्त हो

अनुस्मृतेर्बादरिः ।१।२।३१।

द्युप्रभृतीनां मूर्धाद्यवयवत्वेन कल्पनमनुस्मरणार्थमेवेति बादरिराचार्यो मन्यते ॥३१॥

गृह्णातीति न कापिक्षतिरित्याश्मरथ्याचार्यमतं दर्शयितुमाह– "अपरिच्छिन्नस्यापि" इत्यादि । यद्यपि परमपुरुषोऽयोध्याधिपतिः सर्वथैव परिच्छेदरहितः तथापि "यस्त्वेतमेतम्" "वैश्वानरमुपास्ते" इत्यादि स्थलेप्रादेशमात्रतया कथनं. तत्–उपासकानामुपासनासिद्ध्यर्थमेवेति. आश्मरथ्याचार्यमतमिति । अतद्रूपोऽपि पदार्थोभावनया भावितस्तद्रूपतां-लभते तत्फलमपि भवति, श्रूयते खलु गुञ्जापुञ्जामग्निभावनया संभाव्य शिशिरतरमदजटिलकायकाण्डस्य बालकादेः शीतापनोदनम् । भवति च काष्ठेऽपि नृसिंहस्याविर्भावः । तस्मादनन्यगतिकभक्तस्यानुग्रहाय.अमात्रस्यापि परमात्मनः परिच्छेदवत्तयोपासनं फलवदिति कस्यचिदाचार्यस्योद्गारः ॥३०॥

विवरणम्–यथा "अचक्षुः स चक्षुरिवाकर्णः स कर्ण इव मये । भगवान् न तो अमात्र है नवा समात्र किन्तु भक्त पराधीन हैं, सर्वतंत्र होने पर भी । अतः भक्तों के अभिलषित सिध्द्यर्थ अभिव्यक्त होते हैं । ऐसा आचार्य आश्मरथ्य का मत है । उसका अनुवाद करते हैं वृत्तिकार "अपरिच्छिन्नस्यापीत्यादि" । परिच्छेद रहित भी परमात्मा के, "अभिविमान सर्व प्रकार से मात्रा रहित प्रादेशमात्र परिमाणक इस वैश्वानर आत्मा का उपासन करता है ।" इस प्रकार से जो प्रादेशमात्र का कथन है वह अनन्य शरण उपासक के उपासन की सिद्धि के लिए है । इस प्रकार से आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं । और इन आचार्य का कथन युक्त भी है, तो वाणी मन के अगोचर भगवान् तत्तत् उचितानुचित शरीर मानवी अमानवी स्वरूप का धारण क्यों करते ! अतः उपासना की सिद्धि के लिए अमात्र भी समात्र होते हैं । इस विषय का विशेष रूप से विचार अन्यत्र देखें ॥३०॥

भवति" इत्यादिश्रवणात् स्वभावतश्चक्षुरादिकरणविहीनोऽपि चक्षुरादिकरणवान् सर्वप्रियो भगवान् भवति. यथावाऽतिव्यापकोप्याकाशो घटाद्युपाधिवलात् घटाकाश इति कथ्यते. यथावा प्रस्थपरिमितास्तुण्डादिव्रीहिविशेषाः प्रस्था इति व्यपदेशभाजो भवन्ति । तद्वत् स्वभावतो मात्रारहितो ऽपीश्वरः प्रादेशपरिमितमनसा अनुस्मर्यमाणः प्रादेश इति व्यवहारभाग्भवतीति बादरेराचार्यस्यमतं तन्मतेन स्वमतं परिपुष्णाति वृत्तिकारः "द्युप्रभृतीनाम्" इत्यादि । "द्यौमूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ" इत्यादि स्थले यत्. द्युप्रभृतीनां भगवतो मूर्धाद्यवयवत्वेन परिकल्पनं कृतम्. तत्तु "अनुस्मृतेः" अनुस्मरणार्थमेव । प्रादेशपरिमाणपरिमितहृदयपुण्डरीकस्थितमनसा अनुस्मर्यमाणतया ईश्वरप्रादेशमात्रकथितो भवति । यथा प्रस्थपरिमाणपरिमितास्तण्डुलादिकाः प्रस्था इत्येवं व्यपदिष्टा-

सारबोधिनी—सर्वथा परिच्छेद रहित जो परमात्मा तादृश परमात्माके द्यु प्रभृतिक पृथिवी पर्यन्त प्रदेश सम्बन्ध से वैश्वानर परमात्मा का उपासन हो सकता है । इसके उत्तर में आश्मरथ्य आचार्य के अभिप्राय का प्रदर्शन करके, जिस तरह अति व्यापक अकाश का, जो कि घटादि से अवच्छिन्न होने से घटाकाश है, ऐसा कथन किया जाता है । उसी तरह प्रादेश मात्र मन से अनुस्मर्यमाण वैश्वानर परमात्मा का प्रादेश मात्र का कथन किया जाता है । ऐसा बादरि आचार्य का मत को बतलाने के लिए वृत्तिकार प्रक्रम करते है—"द्यु प्रभृतीनामित्यादि" । स्वर्ग लोकादि प्रभृति से मूर्धादि अवयव का जो परिकल्पन किया जाता है वह अनुस्मरण के लिए । अर्थात्—

यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खंनाभिश्चरणौक्षितिः ।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः ॥

जिस वैश्वानर परमात्मा का मुख अग्नि है । द्यु लोक स्वर्ग—मस्तक है, आकाश नाभिः है; पृथिवी ही चरण हैं, सूर्यचन्द्रमा नेत्र हैं, और दिशायें

सम्पत्तेरितिजैमिनिस्तथाहि दर्शयति ।१।२।३२।

वैश्वानरोपासकैरनुदिनमनुष्ठीयमानायाः प्राणाहुतेरग्निहोत्रत्वसम्पादनाय 'उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यः [छा० ५।१८।२।] इत्यादिश्रुतिभिर्वेदित्वादिकल्पनोपदेश इति जैमिनिराचार्यो मन्यते ।

भवन्ति. तद्वत् परमात्मापि मनोपाधिकत्वात् प्रादेशमात्रः कथितो भवति. नतु स्वरूपतस्तथा । यथावा घटावच्छिन्नाकाशे घटाकाश इति । एवञ्चानुस्मरणार्थमेव विगतपरिमाणस्यापि परमात्मनः प्रादेशमात्र कथनमिति बादरेराचार्यस्य मतमिति दिक् । विशेषस्तु भाष्यानुसरणमेव रमणम् ॥३१॥

विवरणम्-पूर्वपूर्वतरसूत्रसमुदायैर्भूरादिलोकशरीरविशिष्टस्य परमपुरुषस्य भगवतो वैश्वानरपदवाच्यत्वं प्रतिपादितवान् । तथा द्युप्रभृतिचिबुकमात्रे वैश्वानरस्योपास्यत्वप्रतिपादनेन परमेश्वरस्य प्रादेशमात्रत्वमपि संपन्नमिति प्रादेशमात्रसंपत्तेः प्रादेशमात्रप्रतिपादक श्रोत्र है, एतादृश लोकात्मक परमात्मा को नमस्कार है ।

इत्याद्यनेक स्थल में जो द्यु मूर्धादि अवयव विशिष्टतया परमात्मा का कथन है, वह परमात्मा सावयव है, इस अभिप्राय से नहीं किन्तु सर्व व्यापक भी परमात्मा प्रादेशमात्र परिमित मन से स्मरण का विषय होते हैं, इसलिए उन परमेश्वर में प्रादेशमात्रता का कथन किया गया है । ऐसा बादरि आचार्य की मान्यता है यथा आकाश व्यापक है, तथापि घटावच्छिन्न होने से घटाकाश पद से व्यवह्रियमाण होता है । उसी तरह ईश्वर प्रादेश परिमित मन से स्मरण का विषय होने से प्रादेश परिमाण रूप से ही अनुस्मरणीय होते हैं ॥३१॥

सारबोधिनी-इसके पूर्वसूत्र में कहा गया है कि प्रादेशमात्र प्रमाणवाला जो हृदय प्रदेश तादृश प्रादेशमात्र प्रतिष्ठत मन के द्वारा स्मृयमाण यह वैश्वानर परमात्मा भी प्रादेश मात्र कहलाता है । जिस प्रकार से सेर परिमित

एवमनुष्ठानेन परमपुरुषाराधनफलमग्निहोत्रसम्पत्तिश्च दर्शयति । 'अथ य एतदेव विद्वानग्निहोत्रं जुहोति' [छा० ५।२४।२।] इति श्रुतिः ॥३२॥

श्रुतिरपि सफला तत उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिरित्यादि किमर्थं कल्पनमिति तदर्थं जैमिनेर्मतं दर्शयितुं प्रक्रमते "वैश्वानरोपासकैः" इत्यादि । यः खलु वैश्वानरस्य पुरुषस्योपासकास्तैः क्रियमाणायाः प्राणाहुतेः प्रत्यहिकाग्निहोत्रवत. अग्निहोत्रत्वस्य संपादनम्' अस्य वैश्वानरोपासकस्योरुवक्षः स्थलमेव वेदिः, यथा नैयमिकाग्निहोत्रे आहुत्यर्थवेदि भवति बाह्य स्थण्डिलादिकं तदस्योपासकस्य स्वयं वक्षः स्थलमेव वेदिः, तत्र नैयमिकाग्निहोत्रं वेदिकोपरि-आस्तरणाय बाह्याः कुशा भवन्ति तदत्रोपासकस्य वक्षसि स्थितानि लोमानि क्षुद्राः केशा एवास्तरणीयकुशस्थानीयाः । एवं नैयमिकाग्निहोत्रे आहुत्य-

जो तण्डुल उसको सेर प्रमाणक है ऐसा कहा जाता है । परन्तु जैमिनि आचार्य कहते हैं कि संपत्ति निमित्तक यह प्रादेशमात्र श्रुति है । इस विषय को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं—"वैश्वानरोपासकैः" इत्यादि । वैश्वानर परमात्मा का जो उपासक है, तादृश उपासक के द्वारा अनुष्ठीयमान जो प्राणाहुति तादृश प्राणाहुति को अग्निहोत्रता का संपादन करने के लिए कहा है कि, "उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यः" [उर वक्षः स्थल में ईश्वरोपासक का जो उरसूवक्षः स्थल है वही वेदी है । उरस में रहनेवाला रोमही बर्हिदर्भ है और वही गार्हपत्य नामक अग्नि है ।] इत्यादि श्रुति में दर्भादि कल्पना का उपदेश है ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं । इस प्रकार से अनुष्ठान करने पर वैश्वानर परमात्मा की आराधना की गई । तादृश संपत्ति का भी प्रतिपादन किया जाता है इस प्रकार से श्रुति बतलाती है । "अथ य एतदेव विद्वान्" [अथ—जो विद्वान् ज्ञानपूर्वक इस अग्निहोत्र का संपादन करता है ।] इस प्रकार से वृत्ति का अक्षरार्थ होता है । इसके भावार्थ रूप में

धिकरणमग्निर्भवति तदत्रोपासकस्य स्वकीयं हृदयमेवगार्हपत्याग्निस्थानापन्नं भवति, अथाह वैश्वानरोपासकः स्वकीयशरीरावयवेष्वेवाग्निहोत्रं संपादयेत् । एवमादिश्रुतिभिर्वैदित्वादिकल्पनाया उपदेशः कृत इत्येवं रूपेण जैमिनिनामक आचार्यो मन्यते । एतादृशानुष्ठान करणेनाराधितो भवति भगवान् परमपुरुषस्तथोपासकस्य स्वकीय शरीरावयवेषु प्रसिद्धनैयमिकाग्निहोत्रस्यापि संपत्तिर्जायते । अथ यः खलुपासकः, एतादृशमग्निहोत्रं स्वशरीरावयवेषु परिकल्पितमग्निहोत्रं जुहोति तादृशाग्निहोत्रमनुतिष्ठति तस्य तथा फलं भवतीति श्रुतिरपि समर्थयति ।

यद्यप्यत्रानेके आचार्याः स्वस्वाभिमतमर्थमनेकधा कुर्वन्ति परन्तु भगवन्तः श्रीमदानन्दभाष्यकारास्तु इत्थमादिशन्ति । तथाहि वैश्वानरोपासकैः संपाद्यमानाया वैश्वानरविद्याया अङ्गभूतायाः "तद्यद् भक्तमागच्छेत्तद्धोमीयम्" इति श्रुत्युक्तप्राणाहुतेरग्निहोत्रत्वसंपादनाय तेषामुरः प्रभृतीनां वेद्यादिपरिकल्पनमिति जैमिनिराचार्यो मन्यते । तदित्थम्. वैश्वानरपरमात्मनः समुपासकोऽधिकारी मदीयशिर एव भगवतो वैश्वानरस्य मूर्धा भवति मम नेत्रे एव वैश्वानरस्य चक्षुषी

श्रीसम्प्रदायाचार्य आनन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य जी ने तो ऐसा वर्णन किया है कि:-वैश्वानर परमात्मा का उपासक जो साधक हैं वे लोग वैश्वानर विद्या का अङ्ग लक्षण जो प्राणाहुति शास्त्र प्रदर्शित है उसमें अग्निहोत्र यज्ञत्व संपादन करने के लिए वेदिप्रभृति की कल्पना करते हैं। यथा वैश्वानर परमात्मा का उपासक चिन्तन करता है मेरा जो मस्तक है वह वैश्वानर का मस्तक है। मेरी आँख ही वैश्वानर की आँख है। मेरा उरःस्थल वैश्वानर का उरः स्थल वेदी है। मेरा मन ही अन्वाहार्य पचन है। मेरा मुख ही वैश्वानर आहवनीय आस्य हैं। प्राण की आहुति ही अग्निहोत्र है। इस प्रकार से अपने शरीर के अङ्गों में वैश्वानरीय अङ्गों की संपत्ति से

आमनन्ति चैनमस्मिन् ।१।२।३३।

अस्मिन् वैश्वानरोपासकशरीरे प्राणाग्निहोत्रानुष्ठानेनोपासनार्थमेनं परमात्मानमामनन्तिच्छन्दोगाः । "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः" [छा० ५।१८।२।] इति । प्राणाग्निहोत्रानुष्ठान

वक्षःस्थलम् वैश्वानरस्य वक्षोवेदिरग्निहोत्रस्य. मन एवान्वाहार्यपचनोग्निर्मदीयं मुखमेव वैश्वानरस्याहवनीयं मुखम्. तथा प्राणादीनामाहुतिरेवाग्नि होत्रम्. एवं प्रकारेण स्वावयवेषु वैश्वानरावयवानां संपादनं कृत्वैव स्वकीयान्यङ्गान्येव वैश्वानरस्यावयवा इतिमत्वा प्रतिदिनं प्राणाहुतिभिः स्वकीयहृदयकमलासनस्थं परमात्मं वैश्वानरं समुपासित । तदत्र प्राणोपासनस्य फलं प्राणाग्निहोत्रसंपत्तिश्चापि श्रुतिर्दर्शयति, "अथ य एतदेव विद्वानग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादि । "सर्वेपाप्मानः प्रदूयन्ते" वह्निनिक्षिप्ततूलवदित्यादि ॥३२॥

विवरणम्= वैश्वानरपदेन जाठराग्ने र्जीवस्याग्निशरीरकदेवस्य परमात्मनो वा ग्रहणं कर्त्तव्यं कस्य वा नेति विचारे. परमात्मन एव ग्रहणं कर्त्तव्यं नान्यस्य तद्व्यतिरिक्तस्येति पूर्वं पूर्वतरानेकैः सूत्रैर्निर्धारणं कृत्वा सम्प्रति प्रकरणोपसंहारार्थमन्तिमसूत्रमुदाहर्त्तुमाह वृत्तिकारः "अस्मिन् वैश्वानरोपासकशरीर" इत्यादि । यः खलूपासको भगवतो वैश्वानरपरमात्मन उपासनां करोति तादृशोपासकस्य स्वकीय अङ्गों को वैश्वानर का अङ्ग समझ करके प्रतिदिन स्वमनः स्थित वैश्वानरपरमात्मा का उपासन करे । इस प्राणाग्निहोत्र उपासन का फल भी "एवंहास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इत्यादि कहा हैं । इसलिए अति व्यापक परमात्मा के लिए भी प्रादेशमात्रकथन अयुक्त नहीं है । ॥३२॥

सारबोधिनी—"स एष वैश्वानरः प्राणोऽग्निरुद्यते" [यह वैश्वानर प्राण रूप अग्नि उदित होता है ।] इत्यादि स्थल में वैश्वानर उपास्य है ऐसा प्रतीत होता है । तो इसमें वैश्वानर पदवाच्य भूताग्नि है, अथवा अधिष्ठाता

समये समुपासकेन स्वकीयमूर्धाद्यवयवानामिव द्युप्रभृतीनाम्परमपुरुषस्य मूर्धाद्यवयवत्वेनानुसन्धेयत्वमिति तात्पर्यम् ॥३३॥

इति वैश्वानराधिकरणम् ॥७॥

इति श्रीभगवद्रामानन्दाचार्यान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दाचार्यद्वारकेणब्रह्मविज्जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य–रघुवराचार्यविरचितायां श्रीरघुवरीयवृत्तौ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

शरीरे तस्य वैश्वानरस्य प्राणाग्निहोत्रद्वारा उपासनायै. एनं प्रकृतं परमात्मानमामनन्ति प्रतिपादयन्ति छन्दोगशाखाध्यायिनः । "तस्य-हवा एतस्ये" त्यादि । एतस्य वैश्वानरस्य परमात्मनस्तेजस्त्वादि गुणविशिष्टो द्युलोक एव मूर्धा. मस्तकस्थानीयः सूर्याचन्द्रमसौ नेत्रस्थानीयौ इत्यादिरूपेण संपूर्णस्यापिमन्त्रस्यार्थः कर्त्तव्यः । एवम् स एषोग्नि वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैनं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद" इत्यादि वाजसनेयिशाखाध्येतारः आमनन्ति प्रति-पादयन्ति । एनं प्रकृतं द्युमूर्धत्वादि विशिष्टं परमात्मानम् । तथा वैश्वानरशरीरावयवानां संपत्ति समुपासकशरीरे दर्शयन्ति. तादृशो-पासनस्य फलं सर्वपापप्रणाशादिकमपि दर्शयन्ति । एभिर्हेतुभिर्नि-श्चितं भवति यत् परमात्माश्रीसाकेताधिपतिसर्वेश्वरोऽनन्तकल्याणगु-

देव है, अथवा जीवात्मा है, अथवा परमात्मा है । ऐसा सन्देह उपस्थित होने पर वैश्वानर पदवाच्य परमात्मा नहीं है । क्योंकि तदनुकूल कोई निश्चित हेतु नहीं मिलता है । इस प्रकार से पूर्वपक्ष होने के बाद परमात्मा ही वैश्वा-नर पदवाच्य है तदितर नहीं । ऐसा पूर्व सूत्रों से निर्धारित करके उसी परमात्म पक्ष को निश्चित करने के लिए आचार्य ने "आमनन्ति चैनमस्मिन्" इस सूत्र को बना दिया । अब इस सूत्र को व्याख्या करने के लिए वृत्तिकार उपक्रम करते हुए कहते हैं—"अस्मिन् वैश्वानरोपासक शरीरे" इत्यादि । परमात्मा वैश्वानर के उपासन करनेवाले जो यह उपासक व्यक्ति हैं । तादृश उपासक के शरीरावयवों में प्राणाग्निहोत्र का अनुष्ठान द्वारा उपासन करने के लिए

णकः श्रीराम एव वैश्वानरपदेन समुपासनीयो भवति । नतु परमात्मव्यतिरिक्तः स्वातन्त्र्येण भूताग्निनर्वा तदभिमानिदेवो वा जीवो वा प्रकृत प्रकरणे समुपासनीयतयागृहितो भवति । यद्यपि पूर्वपक्षयुक्तिनामपि बाहुल्यं दृश्यते तथापि सम्पूर्णप्रकरणस्य पर्यालोचने कृते सति परमात्मापक्ष एव निश्चितो भवति । उत्तरपक्षयुक्त्यादीनां विचाराः "वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषादित्यारभ्यं "आमनन्ति चैनमस्मिनित्यन्तसूत्रप्रकरण एव प्रदर्शिता इति । तस्मात् परमात्मा श्रीराम एव वैश्वानरपदेन परिगृहीतव्यः समुपासनीयश्चेति सिद्धम् ॥३३॥ इति वैश्वानराधिकरणम् ।७।

इत्यानन्दभाष्यकारजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यपीठाधीश जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य-रामप्रपन्नाचार्ययोगिन्द्रविरचिते श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

इस सर्वेश्वर परमात्मा का प्रतिपादन करते हैं छन्दोगशाखाध्यायी लोग । उस छान्दोग्य वाक्य का उल्लेख करते हैं "तस्यहवा" इत्यादि । वह जो यह परमात्मा वैश्वानर है उनका सुतेजा द्यु लोक ही मस्तक है । विश्वरूप सूर्य चक्षु है । वायु प्राण है । पृथक् है वर्त्म जिसका एतादृश वायु आत्मा स्वरूप है । संदेह अर्थात् देह का मध्य भाग आकाश बहुल है क्योंकि सर्वगत होने से । वस्ति ही रयि है । पृथिवी पैर है, प्रतिष्ठास्थान है । इस प्रकार से वैश्वानर के अवयवों में द्यु, वायु, आकाश, जल, पृथिवी में मूर्धा चक्षुरादिक का कल्पनोपदेश है ॥

एवं प्राणाग्निहोत्र के अनुष्ठानावसर में स्वकीय मूर्धादि अवयवों के समान द्यु प्रभृति को परम पुरुष के मूर्धा चक्षुरादि अवयव रूप से परमात्मा को उपास्य रूप से अनेक श्रुतियों में प्रतिपादन किया गया है इसलिए प्रकृत प्रकरण में वैश्वानर पद उपास्य रूप तथा परमात्मा का ही प्रतिपादन होता है किन्तु परमात्म व्यतिरिक्त जीव अथवा जाठरानल अथवा अग्नि के अधिष्ठापक देवों का न तो इस प्रकरण में प्रतिपादन होता है । नवा परमात्म

अथ प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः

अथ द्युभ्वाद्यधिकरणम् ।१।

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ।१।३।१।

आथर्वणिके श्रूयते "यस्मिन् द्यौ पृथिवीचान्तरीक्षमोतं मनस्सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथात्मानम्" [मु० २।२।५।] अत्र द्युभ्वादीनामायतनं किं जीव आहोस्वित्परमात्मेति संशयः। मनः प्राणादीनामुपकरणानां जीवस्यैवसम्भवाज्जीव एवेति पूर्वः पक्षः।

विवरणम्–प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे प्रायः रूढ़िपदघटित वाक्यानां ज्ञेयपरमात्मनि यथा समन्वयो भवतीति प्रतिपादितम्। अतः परं यौगिकपदघटितवाक्यानामपि तादृशब्रह्मणि समन्वयं प्रदर्शयितुं प्रवर्तमानस्यास्य तृतीयपादस्यारंभो भवति। तत्रापि सर्वप्रथमं सूत्रमधिकृत्य वार्तां प्रवर्तयन्नाह वृत्तिकारः "आथर्वणिके श्रूयते" इत्यादि। तत्राथर्वणिके मुण्डकोपनिषदि "यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षम्" [यस्मिन् वस्तुनि द्यौर्द्युलोकः चतुर्विधभूतग्रामानामाधारभूतेयं पृथिवी. तथा सर्वैर्वागादिप्राणैरिन्द्रियैः सह मनश्च.

भिन्न जठरानलादिक में उपास्यत्व का ही प्रतिपादन है। अपितु सर्वत्र भगवान् साकेताधिपति श्री रामजी ही वैश्वानर पदवाच्य हैं और समुपासनीय हैं तदितर नहीं ॥३३॥

स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य विरचित श्री रघुवरीयवृत्ति सारबोधिनी में प्रथमाध्याय का द्वितीय पाद समाप्त हुआ।

श्रीराम शरणं मम

सारबोधिनी–प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद में प्रायः रूढ़ पद घटित वाक्यों का परब्रह्म में समन्वय प्रकार को बतला करके प्रकृत पाद में यौगिक पद घटित वाक्यों का परब्रह्म में समन्वय प्रतिपादन करने के लिए प्रक्रम करते हैं– "आथर्वणिके" इत्यादि। आथर्वणिक मुण्डकोपनिषत् में "यस्मिन् द्यौः पृथिवी

अत्राभिधीयते–प्रकृतश्रुत्यन्तर्गतयोः "तमेवैकं जानथात्मानम्" "अमृतस्यैष सेतुः" इत्येतद्वाक्ययोरात्मशब्दस्य श्रूयमाणत्वादमृतप्रापकत्वाभिधानाच्च द्युप्रभृतीनामायतनत्वेन श्रूयमाणोऽत्र परमात्मैवेत्यवगम्यते ॥१॥

ओतमाश्रितम्. एतादृशमेकं केवलमात्मानं सर्वजगत्कारणं परमात्मानं हे शिष्या यूयं जानथ. अवधारय तदतिरिक्तां वाचं मुंचथ परित्यजत. तथा. यतो यमात्मा अमृतस्य सेतुरिव सेतुः। अर्थात् केवल परमात्म विषयकचर्चा कुरुत, तादृशपरमात्मविचारव्यतिरिक्तं विचारं त्यजत। यतो "नानुध्याया बहून् शब्दान् वाचोविग्लापनं हि तदित्युक्तेरि" त्यर्थः।] तत्र द्यौश्चभूश्चेति द्युभुवौ. द्युभुवौ आदी-येषां ते द्युभुवादयः। एतेषामाधारभूतः कश्चिद् ज्ञायते स किं सर्वाधारभूतः परमात्मा प्रकृते विद्यते अथवा सांख्यमतकल्पितं प्रधानम्, तस्यापि सर्वविकारकारणत्वादायतनत्वं संभवति। अथवा जीवोद्युभ्वाद्यायतनं, जीवस्यापि वागादिकरणानामधिष्ठानत्वादिति संशयः। यत एकपक्षनियामकस्य कस्यचिदभावात्। तत्र द्युभ्वाद्यायतनरूपेण शारीरकजीवस्यैव ग्रहणं युक्तम्, यतोऽत्रप्राणमनसो संकीर्तनात्, प्राणमनसो संबन्धस्तु जीवस्यैव। जीवो हि भोगमिच्छत्

चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैस्तमेवैकं ज्ञानथात्मानममृतस्य सेतुम्" [जिसमें द्यु स्वर्गलोक तथा सब प्राणियों का आधारभूत पृथिवी और वागादिक प्राणों के साथ मन ओत है, अधिष्ठित है। उस एक आत्मा को जानो जो अमृत का सेतु है।] ऐसा सुनने में आता है कि एक ऐसा कोई व्यक्ति है जो कि द्यु पृथिव्यादिक सकल पदार्थों का आयतन आधार है। तो क्या यहाँ द्यु पृथिव्यादि का आयतनाधार जीवात्मा है, अथवा परमात्मा इन सबका आधार है? ऐसा सन्देद होता है। क्योंकि जीवात्मा भोक्ता है तो वह भी भोग्य वस्तुओं का आधार हो सकता है। और परमात्मा तो "यतो वा

स्थूलशरीरमधिष्ठाय प्राणमनसोः साहाय्येन भोगमनुभवति, करणरहितस्यकर्तुः कार्यानुत्पादात् । नहि तण्डुलादिसाहाय्यरहितः पाचकः पाकक्रियां कर्तुं शक्नोति । तद्वदिह मनः साहाय्यमपेक्षमाणो जीव एवायतनं यथा कथञ्चित्सर्वेषां भविष्यति । यद्यपि सर्वसमर्थं परमात्मा तथापि तस्येह ग्रहणं न संभवति, तस्य मनः प्राणयोः सम्बन्धासंभवात् । "अप्राणोह्यमनाः शुभ्रः" अपाणि पादः, "न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते" इत्यादिना प्राणमनसोः संबन्धाभावप्रतिपादनात् यदि कदाचिद् परमपुरुषस्यापि प्राणमनसोः सम्बन्धमिच्छेत्तदा सर्वस्वातंत्र्यं भगवतो विलुप्येत । अपि च "अमृतस्यैष सेतु" एवमत्र श्रूयते, पारवान् हि देशः सेतुरिति कथ्यते नहि परमात्मनः पारवत्वं संभवति. "अनन्तमपारमिति" श्रुतेः । किञ्च "अरा इव रथ नाभौ" इत्यादि उत्तरवाक्यमपि जीवपक्षमेव समर्थयति । जीवश्च भोक्ता स च भोग्यान् द्युप्रभृतिकान् पदार्थान् प्रतिभोक्तृत्वेनायतनं संभविष्यति तस्माज्जीवपक्ष एव श्रेयान् नतु परमात्मपक्षोऽसंभवादिति पूर्वपक्षः ।

तमिमं पूर्वपक्षं निराकृत्य परमात्मपक्षं व्यवस्थापयितुं वृत्तिकारः "अत्राभिधीयते" इति वदन् सूत्रमुदाहरति, "द्युभ्वाद्यायतनं स्व-

इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि अनेक श्रुतियों से सिद्ध होता है कि समस्त जगत् का आधार है । नियामक निर्णीत हेतु के अभाव होने से सन्देह होता है कि यहाँ द्युभ्वाद्यायतन से किसका ग्रहण करना चाहिए । एतादृश सन्देह के बाद पूर्वपक्ष कहते हैं कि जीव का ही द्युभ्वाद्यायतनरूप में ग्रहण करना चाहिए । क्योंकि इस प्रकरण में मन प्राण प्रभृतिक उपकरण का कथन है । तो तादृश मन प्रभृतिक उपकरणवाला तो जीव ही है । परमात्मा तो प्राणादि उपकरणवान् नहीं है । क्योंकि "अप्राणोह्यमनाः शुभ्रः" "न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते" [वह परम पुरुष वागादिक प्राण रहित है । तथा

शब्दात्'' इति द्युपृथिव्यादि सकलपदार्थानामायतनं परमात्मैव भवति नतु जीवः, कस्मात् तत्र हेतुं पठतिः ''स्वशब्दात्'' स्वस्य परमपुरुषस्य वाचकोऽनन्यसाधारणः शब्दः प्रकृतप्रकरणे श्रूयते । ''तमेवैकं जानथात्मानम् ''तथा ''अमृतस्य सेतुः'' नेदं वाक्यं परमात्मव्यतिरिक्तस्य ग्रहणे समञ्जसं भवति, ज्ञेयत्वं सर्वत्रवेदान्ते परब्रह्मण एव श्रुतम्, जीवस्तु न ज्ञेयोऽपितु ज्ञातैव तथा अमृतसेतुत्वमपि परमात्मन एव नतु तदन्यस्य ''एष एव आनन्दयती''ति श्रवणात् । परमात्मैवानन्दमहोदधि र्न जीवः। ''एतस्यैवानन्दस्य मात्रामुपजीवन्त्यन्यानि भूतानी''त्यादि वाक्येन जीवस्य परिच्छिन्नानन्दवत्वप्रतिपादनात्। तस्मात् परमात्मैव द्युभ्वादीनामायतनं नतु तदन्यः कश्चित् । यतोऽत्रपरमात्मबोधकवाक्यानामेव बाहुल्येन दर्शनात् । एवं ''सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः'' । इत्यादि छान्दोग्य वाक्ये परमात्मवाचकपदेनैव परमात्मनो ग्रहणं दृश्यते । तथा पूर्वापरवाक्येषु ''पुरुष एवेदं सर्वम्'' ''ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्'' इति सर्वायतन रूपेण ब्रह्मण एव सङ्कीर्तनं दृश्यते तस्मादपि

मनरूपकरण से भी रहीत है। उस परमेश्वर का कार्य अर्थात् शरीर नहीं है। एवं करण जो चक्षुरादि हैं वे भी नहीं है ।] इत्यादि श्रुतियों से शरीरादिक का निषेध किया गया है । इसलिए द्युभ्वाद्यायतन से परमात्मा का ग्रहण नहीं होता है। किन्तु प्राणमन विशिष्ट जीव का ही ग्रहण होता है। अथवा सांख्य मत कल्पित प्रधान का ग्रहण होता है। क्योंकि प्रधान भी महत्तत्वादि सकल विकार का कारण होने से द्यु पृथिव्यादि पदार्थों का आयतन आधार हो सकता है।

एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं–''अत्राभीधीयते'' इत्यादि ''द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्'' द्यु पृथिव्यादि सकल पदार्थों का आयतन परमात्मा ही है। क्योंकि 'स्व' परमात्मा का बोधक विशेष पद का कथन है।

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ।१।३।२।

इतश्च द्युभ्वाद्यायतनभूतः परमात्मा । यतोऽत्र प्रकरणे मुक्तोपसृप्यत्वस्य व्यपदेशो दृश्यते । "तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" [मु० ३।१।३।] "तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" [मु० ३।२।८।] इत्येतस्मान्मुक्तप्राप्यत्वाभिधानादयं परमपुरुष एव ॥२॥

सिद्धं भवति. यदत्र द्युपृथिव्यादीनामायतनरूपेण यत् श्रूयते तत् परं ब्रह्मैव नतु तदतिरिक्तं किञ्चित् । प्रधानपक्षस्तु ज्ञानवत्वाद्यभावादेवपराकृतो भवति । जीवोऽपि तनुमाहात्म्यवत्वादल्पज्ञत्वदुःखवत्वादुपहतप्रतिहत एव भवतीति । यदप्युक्ते पूर्वपक्षे प्राणमनसो सम्बन्धाज्जीव एव समुपस्थितो भवति परमात्मा तु नोपस्थितः "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः" इत्यादिवाक्येन परमात्मनो निषेधादिति तदपि न युक्तम्. "अप्राणो ह्यमनाः" इत्यादिवाक्यं प्राणमनोधीन प्रवृत्तिराहित्यमेव परमात्मनो भवतीत्येतावन्मात्र प्रतिषेधकम्. नतु मन सम्बन्धराहित्यस्यापि परमात्मनः सर्वशरीरकत्वात् । "मनोमयः प्राणशरीर नेता" इत्यादौ तस्य प्राणमनसो सम्बन्धप्रतिपादनादिति संक्षेपः ॥१॥

विवरणम्—इतः पूर्वसूत्रे आत्मपदस्य तथा अमृतप्रापकत्वस्य च हेतोः परमपुरुषबोधकस्य विद्यमानत्वेन द्यावापृथिव्यादीनामा-

"तमेवैकं जानथात्मानम्" "अमृतस्यैष सेतुः [उस एक आत्मा को जानो। यह परमात्मा अमृत का सेतु है।] एतद्वाक्य घटक आत्मा शब्द का श्रवण है। तथा अमृत प्रापकत्व भी तो परमात्मा में ही है । इसलिए ये सब विशेषणों के श्रूयमाण होने से परमात्मा ही द्युभ्वादि का आयतन है। जीव अथवा प्रधान नहीं। क्योंकि इन में आत्मत्व तथा अमृत प्रापकत्व नहीं है। अतः परमात्मा पक्ष ही उचित है ॥१।३।१॥

धारभूतः परमात्मैव, न तदन्यो जीवः प्रधानं वेति प्रतिपाद्य• यश्चाविद्याकामशोकमोहादिरहित उपासकस्तादृशमुक्तपुरुषेण प्राप्यः परमात्मैव भवतीति शास्त्रे प्रतिपादनात् परमात्मैव द्युपृथिव्यादीनामायतनभूत इति दर्शयितुं सूत्रार्थाविष्करणायोपक्रमते "इतश्च द्युभ्वाद्यायतनभूतः परमात्मा" इत्यादि यतो वक्ष्यमाण मुक्तोपसृप्यत्वव्यपदेशादपि परमात्मैव द्युपृथिव्यादीनामायतनभूत इति गम्यते मुक्तैर्विधूतसंसारमलैः पुरुषैरुपसृप्यः प्राप्यः पर-परमात्मा भवति. इति क्रमेण शास्त्रे व्यपदेशः कृतस्तेन ज्ञायते यदत्र परमात्मैव द्यावापृथिव्यादीनामाधारभूत इति । कुत्र कथं वा शास्त्रे व्यपदेशस्तद्दर्शयितुमाह 'यतोऽत्र प्रकरणे" इत्यादि ।

यतोस्मिन् प्रतिपाद्याधिकरणे जीवात्मा सकलपापरहितः परमात्मानं प्राप्नोति, प्राप्तिक्रियायाः कर्त्ता जीवो भवति । तादृश क्रियायाः कर्म च भवति परमपुरुषः नहि एक एवैकस्याः क्रियायाः कर्म च

सारबोधिनी—द्युभ्वादियों का आयतन परमात्मा है जीवादिक नहीं। क्योंकि "तमेवैकं जानथात्मानम्" "अमृतस्य सेतुः" इत्यादि स्थल में परमात्मा का वाचक आत्मपद है। तथा अमृतस्य यह पद है—इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा ही द्युभ्वायतन है इस बात को प्रथम सूत्र से सिद्ध करके अब वक्ष्यमाण मुक्तोपसृप्यत्व हेतु से भी पृथिव्यादि का आयतन परमात्मा ही है इसको सिद्ध करने के लिए उपक्रम करते हैं—"इतश्च द्युभ्वायतन" इत्यादि। इस वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि द्युभ्वादि सकल पदार्थों का आधार परमात्मा ही है। इसलिए इस प्रकरण में मुक्तोपसृप्यत्व का प्रतिपादन किया गया है। तादृश प्रतिपादक वाक्य का उद्धरण करते हैं "तदाविद्वानित्यादि" [जबकि यह विद्वान् उपासक जीव उपासनादि शास्त्र प्रतिपादित प्रकार से भगवान् का आराधन करके विशुद्धान्तःकरणवाला हो जाता है तब संसार प्रयोजक

कर्त्ता चेत्युभयं संभवति, विरोधादतोविनाशितशोकादिमता मुक्तेनोपसृप्यत्वात् पृथिवीप्रभृतीनामाधारः परमात्मैव ।

मुक्तोपसृप्यताप्रतिपादकश्रुतिमुदाहरति–"तदा विद्वानित्यादि"। यदा निवृत्तैषण उपासको भगवन्तमाराध्य विमलान्तः करणो भवति. तदा विशेषतः पुण्यपापाख्ये कर्मणी निराकृत्य सर्वदुःखरहितः सन् आराध्यस्य परमसमतामेति । तथा "तथाविद्वान् नामरूपेत्यादि" भगवदाराधनया नामरूपाभ्यां सांसारिकशोकमोहाभ्यां विमुक्तः सर्वथा संबन्धरहित आराधकः परात् कार्यब्रह्मणोऽपि परं परम पुरुषपरमात्मानं श्रीरामं दिव्यमनन्तकल्याणगुणैकनिलयमुपैत्यचिरेणैव प्राप्नोति । इत्यादि स्थले परमपुरुषस्य मुक्तेन प्राप्यत्वदर्शनाज् ज्ञायते यत्परमपुरुषः परमात्मैव द्युभ्वादीनामाधारः श्रुतो भवति. नतु तदतिरिक्तः । तत्र न मुक्तोजीवोजीवमेव प्राप्नुयात् । नवा चेतनो-

शुभाशुभ कर्म समुदाय को विनष्ट करके सर्व प्रकारक अनन्तक्लेश का निराकरण करके स्वाराध्य परम पुरुष भगवान् श्रीराम की परम समता को प्राप्त कर जाता है । एवम् "तथा विद्वान् नाम रूपादित्यादि । इसी प्रकार से वाक्यान्तर भी कहता है "विद्वान् आराधक पुरुष नामरूप से सांसारिक पदार्थजात से विमुक्त होकर परात्परः पर जो हिरण्यगर्भरूप ब्रह्म. उससे भी पर जो कि दिव्य है अर्थात् लोकोत्तर अनन्त कल्याण गुणों का राशि है तादृश महापुरुष वेदान्तवेद्य श्रीराम को प्राप्त कर जाता है।" इस प्रकार से अनेक वाक्यों में मुक्त जीवों से भगवान् को प्राप्य बतलाया गया है। तो मुक्तोपसृप्य भगवान् परमपुरुष हो "यस्मिन् द्यौः पृथिवी" इत्यादि वाक्य से अवगत जो द्युभ्वादिका आयतनरूप से श्रुयमाण है वह परम पुरुष ही है । नतु जीव या प्रधान क्योंकि जोव तो बद्ध है, और प्रधान जड़ है । तो उसमें चेतन मुक्त की उपसृप्यता बाधित है । इसमें विशेष विवरण भाष्य ग्रन्थ विवरण में देखें । यहाँ तो संक्षेप से कथन किया गया है ॥२॥

नानुमानमतच्छब्दात् ।१।३।३।

आनुमानं प्रधानमत्र द्युभ्वाद्यायतनत्वेन न प्रतिपाद्यम् । कुत इति चेत्तत्प्रतिपादकशब्दस्यास्मिन् प्रकरणेऽश्रवणात् ॥३॥

जीवोऽचेतनं प्राप्नुयात्, तादृशप्राप्तेस्तयोरसंभवात् तस्मात् परम पुरुषे एवतत्संभवात् स एव तथेति संक्षेपः ॥२॥

विवरणम्–सर्वजगत्कारणतया द्युभ्वाद्यायतनतया च परब्रह्मणो यथा ग्रहणं भवति तथा सांख्यमतकल्पितं प्रधानमपि सर्वजगतः कारणं भवत्येवेतितत्कथं न तस्य द्युभ्वाद्यायतनतया ग्रहणं स्यात्, इत्याशंक्य यथा परमात्मनः प्रतिपादको हेतुविशेषः स्वशब्दस्तथा मुक्तोपसृप्यत्वादिको विशेषहेतुः प्रतिपादितं शास्त्रे, न तथान्यस्य कृते तस्मात् सांख्यस्मृतिपरिकल्पितमानुमानिकं प्रधानमत्र द्युभ्वाद्यायतनं न ज्ञातव्यम् यतः तस्य प्रतिपादकशब्दस्याभावात् । न चेहाचेतनस्य प्रतिपादकः शब्दोविद्यते । परमात्मनस्तु "यः सर्वज्ञः ससर्ववित्" "तमेवैकं जानथात्मानम्" इत्यादि शब्दो विद्यते । तस्मात्

सारबोधिनी–जैसे परमात्मा सकल जगत् का कारण है अत द्यु पृथिव्यादि के आयतन रूप से परमात्मा का ग्रहण किया जाता है। वैसे सर्व जगत् का कारण तो सांख्य स्मृति परिकल्पित प्रधान भी है, तो वह भी आकाशादि सकल जगत् का उपादान कारण है । तब तो प्रधान का ही द्युभ्वायतन रूप से ग्रहण होना चाहिए । इस शंका के उत्तर में कहते हैं सूत्र का उपन्यास करने के लिए "आनुमानं प्रधानम्" इत्यादि । अनुमान अर्थात् मात्र अनुमान प्रमाण सिद्ध जो सांख्य परिकल्पित प्रधान है जिसको प्रधान कारणवादी सकल आकाशादि को विकार रूप से कथन करते हैं, तादृश प्रधान यहाँ द्युभ्वायतन रूप से गृहीत नहीं होता है । क्योंकि "अतच्छ-ब्दात्" उस प्रधान का द्यु पृथिव्यादि का आयतन होने का प्रपिपादक कोई शब्द अर्थात् आगम प्रमाण नहीं है । यह तो केवल अनुमान प्रमाणगम्य है ।

परमेश्वरस्यैव द्युभ्वाद्यायतनतया ग्रहणं भवति नतु स्मृतिपरिकल्पित प्रधानस्येत्याशयेनाह—"आनुमानं प्रधानमत्रे"त्यादि ।' अत्रास्मिन् प्रकरणे आनुमानम्=अर्थात् अनुमानप्रमाणसिद्धं प्रधानं द्युपृथिव्यादीनामायतनरूपेण न प्रतिपादितं तस्य प्रतिपादनं कथं न भवतीतिचेत्. तत्प्रतिपादकप्रधानप्रतिपादकशब्दस्यास्मिन् प्रकरणेऽश्रवणात् । यथा "तमेवैकं विजानथात्मानम्" "यः सर्वज्ञः ससर्ववित्" इत्यादिकः परमात्मप्रतिपादकः शब्दराशिर्विद्यते न तथा प्रधान-प्रतिपादकः शब्दोऽस्मिन् प्रकरणे दृश्यते । अनुमीयते इत्यनुमानमनुमितेर्विषयः तस्य न द्युभ्वाद्यायतनतया परिगृहीतव्यं कुतः अतच्छब्दात्=तस्य प्रधानस्य वाचकः शब्दोनास्ति । तस्मात् द्युभ्वाद्यायतनरूपेण प्रधानस्य ग्रहणं न भवति. किन्तु सर्वजगत्कारणस्य सर्वज्ञस्यानन्तकल्याणगुणाकरस्य भगवतो रामस्यैव द्यु पृथिव्यादीनामायतनरूपेण ग्रहणं भवतीति सिद्धान्तः । तदत्र

तथा जीव और जीव का विशेष गुण न होने से मानस प्रत्यक्ष का विषय नहीं है । प्रधान जगत् का कारण है, एतादृश कोई वेद भी प्रमाण नहीं है । अर्थापत्ति अनुपलब्धि की तो संभावना भी नहीं है । तब केवल कार्य लिङ्ग का तर्कानुगृहीत अनुमान प्रमाण द्वारा ही अनुमेय होता है। परन्तु केवल आगमगम्य अर्थ में शुष्क तर्क को अवसर प्राप्त नहीं होता है । जिस तरह स्वर्ग अपूर्वादि के विषयों में तर्क सह कृत मान व्यवस्थापक नहीं है । ऐसा सब वादियोंने स्वीकार किया है । अतः एतादृश जगत् कारणता के विषय में केवल शब्द ही है वह शब्द प्रमाण प्रधान की कारणता प्रतिपादक नहीं है । अतः केवल आनुमानिक प्रधान द्युपृथिव्यादि कार्य जगत् का आयतन नहीं है । किन्तु "तमेवैकमात्मानं जानथ" "अमृतस्य सेतुः" "यःसर्वज्ञः स सर्ववित्" इत्याद्यनेक श्रुतिस्मृति समर्थित सर्वज्ञ परमात्मा ही द्युभ्वादिकादिकार्य समुदाय का आयतन हैं । एवम् "सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सत्प्रतिष्ठाः"

प्राणभृच्च ।१।३।४।

उपरितनसूत्रात्पदद्वयमनुवर्तते । तथा चायमर्थः । प्राणभृज्जीवोऽपि तदभिधेयशब्दाभावान्नास्मिन् प्रकरणेऽभिधीयते । अणुर्जीवस्य द्युभ्वाद्याश्रयत्वासम्भवाच्च ॥४॥

श्रीआनन्दभाष्यकाराः—"यद्यप्यात्मशब्दो जीवरपमात्मोभयसाधारणः प्रधानेऽपि च यया कथञ्चिद्योजयितुं शक्यस्तथापि "तमेवैकं जानथ आत्मानमन्यवाचोविमुञ्चथ" (मु.२।२।५) इति वाग्विमोकपूर्वकमात्मनो विज्ञेयत्वश्रवणात् परमात्मन एवात्मपदग्राह्यत्वम् । तदतिरिक्तविज्ञेयत्वस्यानधिकप्रयोजनकत्वात् । एवञ्चैतत् समानार्थाभिधायिन्या "स्तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्" । (बृ.४।४।२१) इत्यस्याः श्रुतेरपि सङ्गतिः । परमात्मन एव याथात्म्यावगमोत्तरकालिकध्रुवानुस्मृतिपदवाच्यप्रज्ञाविषयत्वं न जीवस्येति । तस्माद्युभ्वाद्यायतनं परमात्मैव" । इति ॥३॥

इत्यादि प्रकरणस्थ आगम साक्षादेव सदात्मक ब्रह्म को जगत् का उत्पादक तथा जगत् का आयतनादि का प्रतिपादन करता है । इसलिए भगवान् सर्वेश्वर श्री राम ही द्युभ्वादि पदार्थों का आयतन हैं नतु केवल आनुमानिक प्रधान द्युभू प्रभृतिक जगत् का आयतन इसी बात का स्पष्टीकरण करते हैं "आनुमानमित्यादि" प्रकरण से । आनुमान अर्थात् अनुमान प्रमाण सिद्ध जो प्रधान वह यहाँ द्युभ्वादिकों का आयतन रूप से प्रतिपाद्य नहीं है । क्योंकि प्रधान को द्युभ्वादि के आयतनता का प्रतिपादन करनेवाला कोई शब्दागम नहीं है इस प्रकरण में । इसलिए परमात्मा ही द्युभ्वाद्यायतन है प्रधान नहीं ।१।३।३।

सारबोधिनी—इसके पूर्व तृतीय सूत्र में कहा गया है कि सांख्यमत कल्पित प्रधान सर्व विकार का कारण होने पर भी द्युभ्वादिका आयतन नहीं हो सकता है । पर द्युभ्वादिका आयतन परमात्मा ही है क्योंकि द्युभ्वादि

विवरणम्-पूर्वसूत्रत्रयेण परमात्मन एव द्युभ्वाद्यायतनत्वं व्यवस्थापितं निराकृत श्च जगदायतनतया प्रधानम् । तावता कथं परमात्मन एव कारणत्वम् । आभ्यामतिरिक्तस्य जीवस्यापि तदायतनतया परिग्रहसंभवात् । अचेतनं हि प्रधानमित्यचेतनस्य जगदायतन प्रतिपादकशब्दाभावात् तस्य ग्रहणं नसंभवेत किन्तु जीवस्तु चेतनः चेतनस्य कारणता तु शब्देन प्रतिपादितैव. अतो जीवस्यापि द्युभ्वाद्यायतनताया निराकरणाय चतुर्थसूत्रमवतारयितुमाह "उपरितन सूत्रादि त्यादि" । यथा प्रधानस्य वाचकः शब्दोऽत्र प्रकरणे न विद्यते तद्वत् प्राणभृतो जीवस्यापि द्युभ्वाद्यायतनता प्रतिपादकः शब्दोनास्ति. तस्मात् यथा प्रधानस्य तथा जीवस्यापि ग्रहणं न संभवति । कुतः ?

का आयतन प्रधान है, इस प्रकार से कोई प्रतिपादक शब्द नहीं है। किन्तु "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" अमृतस्य सेतुः" इत्यादि शब्द चेतन को आयतन रूप से कथन करता है । अचेतन का प्रतिपादन नहीं करता है। एतावता अचेतन का निराकरण होने पर भी चेतन जो जीव है उसका द्युभ्वाद्यायतन रूप से ग्रहण तो हो सकता है एतादृश शंका का निराकरण करने के लिए कहते हैं "प्राणभृच्च" जिस तरह प्रधान द्युभ्वादिका आयतन नहीं है क्योंकि तत्प्रतिपादक शब्द का अभाव होने से । उसी प्रकार से प्राणभृत् जीव भी द्युभ्वादि का आयतन नहीं है । क्योंकि जीव का भी प्रतिपादक कोई शब्द नहीं इस बात को बतलाने के लिए सूत्र का अर्थ करते हुये कहते हैं -"उपरितन सूत्रात्" इत्यादि । पूर्व सूत्र जो नानुमानमतच्छब्दात्, इस सूत्र से दो पदों का अनुवर्तन इस सूत्र में किया जाता है । अर्थात् साध्य वाचक न पद तथा हेतुवाचक अतच्छब्दात् यह पद । इन दोनों पदों का अनुवर्तन पूर्वसूत्र से किया जाता है । पूर्वसूत्र से अनुवर्तन करने से क्या हुआ ? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं "तथाचायमर्थः" इत्यादि । । जब इस सूत्र में पूर्व सूत्र से पदद्वय का

अशब्दादेवेति। यद्यपि प्रधानमचेतनमिति तस्य प्रतिपादकः शब्दो न भवति किन्तु जीवस्तु चेतनः तस्य कारणता प्रतिपादकशब्दास्तु बहवः सन्ति. तथापि स्वशब्देन जीवकारणताया प्रतिपादकशब्दाना-मभाव एवेति ॥प्राणभृच्चेति सूत्रे नेतिपदमतच्छब्दादिति च पदद्वयमनु वर्तते। अर्थात् साध्यहेतुवाचाकपदयोरनुवर्तनमुपरितनसूत्रादत्र भवति। प्राणान् बिभर्ति धारयति यः स प्राणभृज् जीवः सोऽपि पृथिव्यादीनामायातनरूपो न संभवति तत्प्रतिपादकशब्दाभावात् इति जीवप्रतिपादकशब्दाभावादत्र प्रकरणे द्युभ्वाद्यायतनरूपेण जीवस्य ग्रहणं न भवति। अपि च "स चाणु चेतनः" इतिश्रौतार्थसङ्ग्रहोक्ते जीवस्याणुपरिमाणात् व्यापकतया अभिमतानामाकाशादीनां महताञ्च पृथिव्यादीनां प्रति तस्यायतनता नैव संभवतीति संक्षेपः ॥४॥

अनुवर्तन करते हैं तब इस सूत्र का यह अर्थ होता है कि यह जो प्राणभृत् प्राणादि उपकरण वाला है वह भी द्युभ्वादि का आयतन नहीं है। क्योंकि जीव का अभिधायक वाचक पद का अभाव है। यदि जीव वाचक कोई भी पद होता तब तो द्युभ्वादि का आयतन रूप से परिगृहीत होता। यहां तो कोई भी शब्द जीव वाचक नहीं है। इस प्रकरण में जीववाचक पदा-भाव होने से जीव द्युभ्वाद्यायतन रूप से अभिधीयमान नहीं होता है। और जीव तो स्वयं अणु है इसलिए भी अणुजीव द्युभ्वादिक महत् परम व्यापक पदार्थों का आयतन नहीं बन सकता है। कदाचित् जीव को मध्यम अथवा व्यापक परिमाण मान लें तो उत्क्रान्ति गत्यागति नहीं हो सकेगी। जीव के परिमाण के विषय में सूत्रकार द्वितीयाध्याय के तृतीयपाद में स्वयमेव कहेंगे। इसलिए चेतन होता हुआ भी जीव द्युभ्वादि पदार्थों का आय-तन रूप से परिगृहीत नहीं होता है नवा प्रधानादिक द्युलोकादि का आयतन है। किन्तु परम पुरुष ही द्युभ्वादिक पदार्थों का आयतन है यह सिद्ध होता है ॥४॥

भेदव्यपदेशात् ॥१।३।५॥

'तमेवैकं जानथात्मानम्' [मु०२।२।५।] इति जीवपरयोर्भेदव्यपदेशादयं द्युभ्वाद्यायतनभूतः पर एव ॥५॥

विवरणम्—अथ "यथाग्नेः क्षुद्राविस्फुलिङ्गाव्युच्चरन्ति" एवमेवास्मादात्मनो जीवाव्युच्चरन्तीति श्रुत्या परस्माज्जायमानपराधार भूतस्य प्राणभृतो जीवस्य परस्मादभिन्नत्वेन परमात्मवत् प्राणभृतोऽपि द्युभ्वाद्यायतनत्वं कुतो नस्यादित्याशङ्क्य. भवेदेवं यदि जीवपरयोरेकान्ततोऽभेदो भवेन्नत्वेवं किन्तु तयोर्भेद एवेति तद्दर्शनाय "भेदव्यपदेशादिति" सूत्रमवतारयितुमाह "तमेवैकम्" इत्यादि। अयंभावः "तमेवैकं जानथात्मानम्" "अन्या वाचो विमुञ्चथ" [हे जीवाः तमेव सर्वेशं सर्वनियन्तारं परमात्मानं जानथ, इत्यत्र जीवस्य

सारबोधिनी—सांख्यमत परिकल्पित प्रधान तो अचेतन है अचेतन में द्युभू प्रभृति के आयतनाभाव है। प्रधानमें आयतनता का कथन करनेवाला कोई शब्द नहीं है। इसलिए प्रधान का निराकरण किया गया। परन्तु "एतस्माज्जयते जीवो मनः प्राणेन्द्रियाणिच" तथा "यथानेकैः क्षुद्राविस्फुलिङ्गाव्युच्चरन्ति" इत्यादि श्रुति से जीव पर में आधाराधेय भाव प्रदर्शन होता है और उस में परस्पर घटमृत्तिकावत् अभेद होता है। तो परमात्मा से अभिन्न जो जीव वह भी द्यु पृथिवी प्रभृति का आयतन क्यों नहीं होगा। इस आशङ्का का निराकरण करते हुए जीव तथा परमात्मा में भेद प्रदर्शन करने के लिए कहते हैं कि "तमेवैकं जानथात्मानमित्यादि" उसी एक परमात्मा को जानो, इत्यादि स्थल में जीव तथा परमात्मा में परस्पर भेद का प्रदर्शन होने से द्युभ्वादि का आयतनभूत परमात्मा ही है। भाव कहने का यह है कि श्रुति से यह सिद्ध होता है कि जीव ज्ञाता है और परमेश्वर ज्ञेय है। तो यह ज्ञाता ज्ञेय भावभेद प्रयुज्य है। तो जब जीव परमात्मा से भिन्न है तब परमात्मनिष्ठ ज्ञेयत्व धर्म जिस

ज्ञातृत्वं दर्शयति. तथा ज्ञेयत्वञ्च परमात्मनो दर्शयति, एतादृशो हि ज्ञातृज्ञेयभावो जीवपरयोरेकान्ताभेदे न घटते, अपितु तयो र्भेद सत्वे एव स्यात्, नहि ज्ञानात्मकक्रियायाः स एव कर्ता स एव च कर्मापि स्यात् कर्तृत्वकर्मत्वयोरेकत्रविरोधात्। नहि भवति देवदत्तो देवदत्तं गच्छति। ततश्च जीवपरयोर्भेदान्न स द्युपृथिव्यादीन् प्रति आयतनत्वं किन्तु जीवाद्भिन्नो ज्ञेयः परमात्मैव द्युपृथिवीप्रभृतीनां सर्वेषामायनमिति। किञ्च "समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान" इत्यपि तत्रोक्तम्। एवञ्च तथा पूर्वमंत्रे ज्ञातृज्ञेयभावेन परमेश्वरजीवयोर्भेदः प्रतिपादितस्तथा प्रकृतमन्त्रे सेव्यसेवकभावेन भेदः स्पष्टरूपेण प्रदर्शितो भवति। ततश्च जीवपरमेश्वरयो र्भेद-व्यपदेशात् परमात्मैव द्युपृथिव्यादीनामायतनं भवति नतु जीवस्य तादृशायतनत्वमिति भावः ॥५॥

तरह जीव में नहीं उसी तरह परमात्मा में रहनेवाला जो द्यु पृथिव्याद्यायत-नत्व धर्म है, वह भी जीव में नहीं है। अतः परमात्मा ही द्युभ्वादि का आयतन है। जीव अथवा प्रधान द्युभ्वादि का आयतन नहीं।

और भी देखिए, "समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नोऽनीशयाशोचतिमुह्यमान" "जुष्टं यदापश्यत्यन्यमीशमस्य महीमानमितिवीत शोकः" [पुण्यपाप के फल भोग का आयतन लक्षण शरीर रूप वृक्ष पर अधिष्ठित यह जीव अनीशता के कारण मुग्ध होकर के कर्त्तव्य विवेक रहित होकर सर्वदा शोक को प्राप्त करता है। परन्तु जब जन्मान्तरीय प्रबल पुण्योदय के बल से स्वभिन्न परमात्मा का सेवन करता हुआ भगवान् को जानता है, तब वह सेवक सर्व शोक से निवृत्त हो जाता है"] इत्यादि श्रुतियों से जीव परमात्मा में सेव्य सेवक भाव सिद्ध होता है, और यह सम्बन्ध भेद सापेक्ष है। अतः भेद व्यपदेश होने से जीवात्मा द्यु पृथिवी प्रभृति का आयतन नहीं है पर सर्वेश श्रीराम ही तदायतन हैं ॥५॥

प्रकरणात् ।१।३।६।

"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम्" [मु० १।१।३।] इति प्रकृत्य 'अथ परा यया' इत्यादि परप्रतिपादकं प्रकरणमारभ्यते। अतः परमात्मैवात्र द्युपृथिव्यादीनामायतनम् ॥६॥

विवरणम्—ननु न केवलं भेदव्यपदेशादिहेतुभिरेव प्रकृते द्युभ्वादीनामायतनरूपेण भगवान् श्रीरामः प्रतिपादितो भवति. किन्तु प्रकरणप्रमाणेनापि पृथिव्यादीनामाश्रयतया परमात्मन एव ग्रहणं भवति. नतु जीवविशेषस्य हिरण्यगर्भादेरचेतनस्य वा ग्रहणं भवतीति प्रतिपादयितुं तदेव प्रकरणं दर्शयितुमुपक्रमते "कस्मिन्नु भगव" इत्यादि हे भगवन् कस्मिन्नेकस्मिन् पदार्थे विज्ञाते. श्रवण, मनन, सहकृत सहकारेण विशेषतया विज्ञानविषयीकृते सति, इदं परिदृश्यमानं स्थावरजंगमात्मकं सर्वपदार्थजातं विशेषरूपेणविज्ञायमानं भवतीति. समुपक्रम्य, तादृश पदार्थस्य निर्वचनं कर्तुम्, अपर विद्या प्रतिपादि-

सारबोधिनी—अतत् शब्द तथा भेद व्यपदेशादि कारण के द्वारा भ्वादि का आयतन परमात्मा ही है। पर सर्व विकार का कारण सांख्यमत कल्पित प्रधान नहीं। तथा जीव विशेष भी द्युभ्वादि का आयतन नहीं है। इस बात को एतत्प्रकरणीय विचार से सिद्ध करके, जिस तरह इन पूर्वोक्त कारणों से परमात्मा में ही स्वर्ग लोकादि के आयतनत्व सिद्ध होता है, उसी तरह से प्रकरण प्रमाण से भी परमात्मा में ही द्युभ्वादि के प्रति परमात्मा ही आयतन हैं, इसबात को सिद्ध करने के लिए प्रकरण का उत्थान करते हुए कहते हैं "कस्मिन्नुभगव" इत्यादि। [हे भगवन्! कौन एतादृश पदार्थ है जिस एक का ज्ञान होने से सकल यह परिदृश्यमान स्थावर जंगम पदार्थ हस्तामलकवत् विदित हो जाता है।] इस प्रकार से उपक्रम करके, एतादृश पदार्थ का कथन करने के लिए "अथ परायया तदक्षरमधिगम्यते" { वह पराविद्या है, जिसके द्वारा अक्षर परम पुरुष विशेष रूप से जाना जाता

तान् ऋग्वेदादिकान् दर्शयित्वा "अथ सा पराविद्या" यया विद्यया त दक्षरपदवाच्यमधिगतं भवतीति प्रतिपादनं कृतम् प्रतिपाद्य च परम पुरुषस्य स्वरूपं तादृशमेकस्य पुरुषस्य विज्ञानात् तत्स्वरूपभूतसूक्ष्म-स्थूलचिदचिदात्मकस्य सर्वस्य जगतो विज्ञानं जायते यथैकस्य कारणरूपस्य सुवर्णस्य विज्ञानात् सुवर्णसंभूताः सर्वेऽपि कटककुण्ड-लादिका विकारा विज्ञाता एव भवन्ति। तद्वदिहापि सजातीयद्वितीय रहितस्यैकस्य परमपुरुषस्य विज्ञानेनेदं सर्वं विदितं भवतीति निश्चयम-करोत्। ततश्चैतस्मात् प्रकरणाज्ज्ञायते यत् द्युपृथिव्यादिसर्व पदार्थानामायतनरूपः परमात्मैव, नतु सत्यपि विशिष्टैश्वर्यसंपन्नहिरण्य गर्भादिजीवःप्रधानादयो वा द्युपृथिव्यादीनामायतनरूपेण परि-ग्राह्याः। नहि जीवादीनां सम्यग् रूपेण ज्ञाने जातेऽपि सर्वं विदितं भवतिप रमात्मनि सर्वकारणे विज्ञाते सर्वमिदं तत्कार्यं विज्ञातं भव-तीत्यस्य प्रकरणस्य परमात्मप्रकरणत्वात्, प्रकरणादपि द्युभ्वादीना-मायतनत्वं परमात्मन एव भवति नान्यस्येति ॥६॥

है। उस एक परमपुरुष का विशेष रूप से विज्ञान होने से उस परम पुरुषा श्रित यह परिदृश्यमान सर्व पदार्थ विदित हो जाता है।] इस प्रकार से पर-मात्मा का प्रतिपादक प्रकरण का आरंभ किया गया है। अतः इस प्रकरण से एतत्प्रकरण प्रतिपाद्य परमात्मा ही द्युभ्वादि का आयतन हैं। किन्तु प्रधान अथवा जीव तादृश आयतन नहीं है। हो सकता था प्रधान तथा जीव का भी ग्रहण यदि यह प्रकरण प्रधान अथवा जीव का ग्राहक होता। सो ता हैं नहीं, किन्तु यह तो परमात्मा का प्रकरण है। इसीलिए इस प्रक-रण से परमात्मा का ही प्रतिपादन होता है, तदितर का नहीं, लोक में भी देखने में आता है कि जिसका जो प्रकरण है उस प्रकरण से उसी का बोध होता है। अन्य का बोध नहीं। इसलिए द्युभ्वादि का आयतन परमात्मा ही है नकि यहाँ द्युभ्वादि का आयतन प्रधान या जीव ॥६॥

स्थित्यदनाभ्याञ्च ।१।३।७।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" [मु० ३।१।१ ।] इत्यत्र कर्मफलमनश्नतः परमात्मनः स्वरूपेण जीवधारकतयास्थितेर्जिवस्य च कर्मफलात्तृतया निर्देशान्नह्यत्र कर्मवशगो जीवः प्रतिपाद्यते किन्तु पर एव ॥७॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ द्युभ्वाद्यधिकरणम् ॥१॥

विवरणम्– प्रकरणात्मकहेतुद्वारा द्युभ्वादीनामायतनं परमात्मैव नतु जीवो द्युभ्वादीनामायतनमिति प्रतिपादितः परं स्थित्यदनाभ्यामपि हेतुभ्यां तादृशपरमात्मन एव द्यु पृथिव्यादिकं प्रत्यायतनभाव इति दर्शयितुं प्रकरणमिदमारभमाणः प्राह "द्वा सुपर्णा स युजा" इत्यादि द्वौ द्वित्वसंख्यावन्तौ सुपर्णौ सुपर्णवत् पक्षिणौ सयुजौ परस्परं संबद्धौ सखायौ एकत्र शरीरवृक्षे निवास करणात् मित्रभावमापन्नौ समा

सारबोधिनी–प्रकरण शब्द विशेष तथा भेदव्यपदेशादि हेतुओं के द्वारा जीव द्युभ्वादि जगत् का आयतन तथा कारण नहीं है । किन्तु सकल जगदभिन्नो पादान कारण भगवान् श्री रामजी ही द्युभ्वादि समस्त स्थूल सूक्ष्मोभय साधारण चराचर जगत् का आयतन प्रतिष्ठा हैं । इस बात को "प्रकरणात्" एतत्पर्यन्त प्रकरण से सिद्ध करके अवस्थिति तथा अदन हेतु से भी परमात्मा ही द्युभ्वादि का परमायतन है । परन्तु ऐश्वर्यादिशाली भी जीव–जगत् का आयतन नहीं है । इस बात को व्यवस्थित करते हुए सूत्र कथन द्वारा वृत्तिकार कहते हैं–"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इत्यत्रेत्यादि । [दो पक्षी समान स्वभाववाले मित्रभाव को प्राप्त करके एक कर्मफल का भोगाधिष्ठान शरीर में संस्थित हैं । उन दोनों में से एक जो पक्षी [जीव] है वह तो कर्म संपादित आधार रूप वृक्ष का जो सुखदुःखात्मक फल है उसको बड़े प्रेमपूर्वक उपभोग करता है । और दूसरा जो पक्षी है वह उस वृक्ष का जो फल है उसको खाता नहीं है ।

नमेकं शरीरलक्षणवृक्षं तत्रावस्थितो तयोर्द्वयोर्मध्ये एकः पिप्पलं कर्मस्वादु फलं यथा स्यात्तथा अत्ति भुनक्ति तदन्यस्तु अनश्ननभुञ्जान एव प्रकाशितो भवति एकोहि कर्मफलस्यात्ताऽपरस्तु फलदाता प्रकाशस्व रूपोऽस्मिन् शरीरवृक्षेऽवस्थित इत्यर्थ अत्र- अस्मिन् प्राणभृतो जीवस्य स्वकृतकर्मफलभोक्तृत्वं दर्शयति तथा सर्वस्वतंत्रस्य परमात्मनः कर्मफलमनश्नतः स्वप्रकाशरूपेणावस्थानं दर्शयति । ततश्च कर्मपराधीनस्य जीवस्य नित्यबद्धस्यामृतप्रापकत्त्वाभावात् । येतु मुक्तजीवास्तेषामपि एतादृशत्वाभावात् । परमात्मातु न कर्मपराधीनोऽमृतं प्रापकश्चेतितस्मात् परमात्मैव द्युभ्वादीनामायतनं भवति नतु जीवः । द्वा सुपर्णा सयुजा इति मंत्रे कर्मफलमभुञ्जानस्य परमेश्वरस्य स्वस्वरूपेण जीवधारकतया प्रतिपादनात् । प्राणभृतो जीवस्य च स्वकृतकर्म फलभोक्तृत्वेन प्रतिपादनादत्र प्रकरणे द्युभ्वादीनामायतनरूपेण जीवस्य प्रतिपादनं न किन्तु सर्वथा स्वतन्त्रस्य कर्मफलदायकस्य पर

किन्तु प्रकाशमान हो रहा है । अर्थात् स्व प्रकाश सर्व द्रष्टासाक्षी प्रेरक परमात्मा उस वृक्ष पर जीव को कर्मफल भोग करने में प्रेरक मात्र है । और जीव परमेश्वर से प्रेरित होकरके भोक्ता तथा कर्म पराधीन है ।"] इस मन्त्र में कर्मफल को नहीं भोगने वाले परमात्मा को स्व स्वरूप से जीव का धारक मात्र से अवस्थान बतलाया जाता है और जीव कर्मफल का भोक्ता है, ऐसा निर्देश किया है । इसलिए यद्यपि जीव चेतन है जीव विशेष ऐश्वर्यवान् भी है । तथापि इस प्रकरण में द्यु भू प्रभृतिक जगत् का आयतन रूप से प्रतिपादित नहीं होता है । किन्तु सर्व जगत् का निदान स्व प्रकाश स्वरूप सर्व प्रेरक परमात्मा श्री जानकीनाथ ही द्यु भू प्रभृति जगत् का आयतन है ऐसा सिद्ध होता है । परमात्मा का वाचक शब्द विशेष है । जीव-परमेश्वर में भेद प्राप्य प्रापकभाव जीव-पर में है । प्रकरण तथा स्थिति अदनादिकारण कूट से सिद्ध होता है कि परमात्मा ही

अथ भूमाधिकरणम् ॥२॥

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ।१।३।८।

'यो वै भूमा तत्सुखम्' [छा०।७।२३।१।] इति छान्दोग्ये श्रूयते। अत्र भूमगुणयुक्तः कश्चिज्जीवः परमात्मा वेति संशयः। प्राणो वा आशाया भूयान् इति पूर्वत्र प्राणस्योपादानात्प्राणपदेन चात्र प्राण-

---

मात्मन एव द्युभ्वादीनामायतनरूपेण ग्रहणं भवतीति भावः ॥७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य-रामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र कृते
श्रीरघुवरीयवृत्ति विवरणे द्युभ्वाद्यधिकरणम् ॥१॥

विवरणम्- छान्दोग्यीय सप्तमाध्याये श्रूयते यो वै भूमातत्सुखंनाल्पेसुखमस्ति इत्यादि । तत्र भूमा पदेन कस्य ग्रहणं जीवस्य परमात्मनोवेति संशये प्राणपदलक्षितजीव एव कश्चिदाश्रियते तस्यैव सुखादिमत्वादिति पूर्वपक्षे सम्पूर्णप्रकरणपर्यालोचने भूमपदेन व्यापकस्य सर्वजगत्कारणपरमेश्वरस्यैव ग्रहणमिति निश्चयायोपक्रमते यो वै भूमा तत्सुखम् इत्यादि । तत्र बहुशब्दादिमनिच् प्रत्यये "बहोर्लोपो भू च

द्यु भू प्रभृति जगत् का आयतन है परन्तु जीव इन पदार्थों का आयतन नहीं ॥७॥ इति द्युभ्वाद्यधिकरणम् ॥१।३।७॥

सारबोधिनी-"योवैभूमातत्सुखम्" इस छान्दोग्य श्रुति से ज्ञात होता है कि जो भूमादि गुण विशिष्ट है वह सुखात्मक है । इस श्रुति को देखने से संशय होता है कि भूम पदवाच्य कौन है ? क्या जीव है ! अथवा परमात्मा है ? क्योंकि सुख रूपता का विधान इन दोनों चेतन में ही हो सकता है । अचेतन में तो सुख का विधान बाधित है । इस पर नामादि से लेकर प्राण पर्यन्त हो प्रति वचन का प्रवाह देखने में आता है । इसलिए प्राणोपलक्षित जीव ही भूमा है । "अप्राणो ह्यमनाशुभ्रः" इत्यादि श्रुत्यनुसारात् प्राण रहित परमात्मा भूमपद वाच्य नहीं है ऐसा पूर्वपक्ष होता है । सिद्धान्त करेंगे कि परमात्मा ही भूमपदवाच्य है क्योंकि भूमाका अर्थ होता

विशिष्टः प्रत्यगात्मैवोच्यते । तस्मात्सएवात्रोपादेय इति पूर्वः पक्षः । आत्राभिधीयते– सम्प्रसादस्य प्रत्यगात्मन उपदेशानन्तरमपि सत्यप दार्थस्योपदेशात् सत्यस्यैव सुखत्वेनोपदेशात् सुखस्य च भूमपदवाच्य-तया परमात्मैवात्र भूमा ॥८॥

बहोः "इति सूत्रेण बहुशब्दस्य लोपे तथा भू आदेशे भूमेति पद सिद्धिः तदर्थस्तुव्यापकत्वम् । व्यापकता च गुणादिना । ततस्च व्यापकार्थकपदेन कस्यात्र ग्रहणं कर्त्तव्यम् । तत्र "प्राणो वै आशाया भूयान् " आशाया अपेक्षया प्राणस्याधिक्यकथनात्. प्राणपदस्य च प्राणोपलक्षितजीवबोधकत्वेन तथा जीवस्य सुखाद्यधिकरणतया प्रसिद्ध-त्वात् भूमापदेन प्राणोपलक्षितजीस्यैव ग्रहणं नतु परमात्मनो यतः प्रकृत प्रकरणे नामत आरभ्य प्राणपर्यन्तं पूर्वापेक्षया तदुत्तरस्य भूयस्त्वं प्रतिपादयन् प्रश्नप्रतिवचनप्रवाहो विद्यते तत्र प्राणात् परं न पुनः प्रश्नः कृतोनारदेन नवा तस्योत्तरमेव प्रदत्तवान् भगवान् सनत्कुमारः । तस्मात् प्राणान्तस्यैव प्रश्नादेर्दर्शनात् प्राणपदस्य प्राणोप लक्षित जीवबोधकत्वाज्जीव एव भूमापदेन गृह्यते तस्यैवोपासनमपि प्रकृतम् न च प्राणोपलक्षितजीवस्य भूमपदवाच्यत्वे स्वीकृते यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति इत्यादिभूमोपलक्षणप

है व्यापक । और व्यापकता गुण द्वारा अपेक्षित है । तो गुण द्वारा व्यापक तो श्रीजानकीनाथ में ही है तदन्य में नहीं । और नामादिक का प्रवाह प्राण से ही सीमित नहीं है । क्योंकि "यः सत्येनाति वदति स अतिवादी" इत्यादि श्रुति से प्राणापलक्षित जीव से भी आगे सत्य पदार्थ का उपदेश सुनने में आता है तो सत्य पद वाच्य सुख स्वरूप परमात्मा है, तथा गुण से व्यापक है । इसलिए भूमा पदवाच्य परमात्मा ही है जीव नहीं एतादृश प्रकरण का जो आशय उसको लेकर के वृत्तिकार सूत्र का व्याख्यान करने के लिए उपक्रम करते हैं–"यो वै भूमातत्सुखम्" "इति छान्दोग्ये"

रकवाक्यस्य जीवे समन्वयः कथंस्यादिति वाच्यम् तस्यापि समन्वयसं भवात् । तथाहि सुषुप्ति समये प्राणगृहीतचक्षुरादिकरणेषु दर्शनस्पर्शनव्या पारादेर्निवृत्तिदर्शनात् प्राणस्याप्येतत्, यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादिसंभव त्येवलक्षणम् । तथा च श्रुत्यन्तरम्, न शृणोति न पश्यतीत्यादि प्रकरणेन सर्वकरणरहितसुषुप्तिं दर्शयित्वा प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरेजाग्रति इति सुषुप्त्यवस्थामेव दर्शयति । यदपि भूम्नः सुखत्वं दर्शितम्, योवैभूमातत्सुखम् तदपि संभवति प्राणोपलक्षितजीवे 'अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यति यदेतस्मिन् शरीरे सुखं भवति' इति सुषुप्तौ सुखश्रवणात । 'प्राणो वा अमृतम्' इति श्रुतेरमृतरूपतापि संभवति । 'तरति शोकम्' इत्यस्यापि समन्वयो जायत एव'प्राणो माता प्राणः पिता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा' इत्यादि श्रुत्या प्राणोपलक्षितजीवस्य सर्वा त्मतायाः श्रवणात् । तस्मात्प्राणोपलक्षितजीव एव भूमपद वाच्यः इति प्रश्नः । अथ योवै भूमातत्सुखमिति छान्दोग्य प्रकरणे श्रवणा द्भूमात्मकगुणविशिष्टः प्रतितो भवति स किं जीवः परमात्मा वा भवेदिति संशये जीव एव कुतः प्राणो वा आशायाः भूया- निति पूर्वप्रकरणे श्रवणात् प्राणविशिष्टस्यैवोपादानं कर्त्तव्यं नतु परमात्मनः "अप्राणोह्यमनाः" इत्यादि श्रुतेरिति । अस्य पूर्वपक्षस्यो

इत्यादि । जो भूमा व्यापक है वह सुखरूप है अल्प व्याप्य में अल्पता गुणविशिष्ट में सुख नहीं है । किन्तु भूमा ही सुख है । भूमा की ही जिज्ञासा करनी चहिए जिस समय में अन्य वस्तु को नहीं देखता है। नहीं श्रवण करता है—इत्यादि गुण विशिष्ट भूमा है । और जहाँ अन्य को देखता है श्रवण करता है, वह अल्प है । अल्प में सुख नहीं है वह भूमा नहीं है । इत्यादि वाक्य छान्दोग्य में सुनने में आता है । तो यहाँ भूमगुणयुक्त कोई जीव है अथवा परमात्मा है, ऐसा संशय होता है । क्योंकि सुख रूपता की संभावना चेतन में ही है । जड़ में नहीं और चेतन

त्तरं सूत्रमुखेन वृत्तिकारो ब्रूते प्रकृते भूमपदेन परमात्मनः सर्वगुण विशिष्टस्यैवोपादानं कर्त्तव्यम् कुतः ? संप्रसादादध्युपदेशात् तत्र संप्रसादो जीवो जीवादन्तरमपि उपदेशात् प्रश्नप्रतिवचनयोर्दर्शनात् न हि प्राणपर्यन्तमेव प्रश्नप्रतिवचनं किन्तु तदनन्तरमपि प्रश्नप्रतिवचनयोः सत्वात् । तदेव दर्शयति संप्रसादस्य प्रत्यगात्मनः इत्यादि । संप्रसादपदवाच्यो हि प्रत्यगात्मा जीव स्तादृशजीवस्योपदेशानन्तरमपि कस्यचित्सत्यादिपदार्थस्योपदेशः श्रूयते इति । तादृश सत्यस्यैवसुखस्वरूपतयोपदेशदर्शनात् सुखस्य च भूमरूपत्वाद् भवति परमात्मैव भूमपदवाच्यः । अयं भावः सम्यक् प्रसादो यस्येति बहुव्रीहिणासम्प्रसादशब्दस्यार्थो जीव एव, यश्च प्राणोपलक्षितः एष संप्रसादोऽस्मात्शरीरात्समुत्थाय परंज्योति " रित्यादि श्रुतौ संप्रसादशब्देन जीवस्यैव ग्रहणदर्शनात् । ततश्च प्राणोपलक्षितजीवादनन्तरमपि सत्यपदवाच्यस्योपदेशः श्रूयते 'यः सत्येनाति' इत्यादि सत्यपदवाच्यश्च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति' श्रुत्यापरमात्मैवेति प्रकृते परमात्मैव सर्वान्तेनिरूच्यमानो भवतीत्यतो भूमपदेन परमात्मन एव ग्रहणं भवति । यथा नामादीनामुपर्युपरि अन्यस्यान्यस्योपदेश

तत्त्व तो जीवेशान्यतर ही है, इसलिए सन्देह होता है ।

उसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि —"प्राणोवा" इत्यादि । प्राण आशा से बड़ा है । इस तरह से पूर्व प्रकरण में प्राण का कथन किया गया है। और प्राणपद से प्राणोपलक्षित यद्वा प्राणादि विशिष्ट प्रत्यगात्मा 'जीव' ही कहलाता है । परमेश्वर का तो प्राण नहीं है "अप्राणोह्यमनाः" इत्यादि श्रुतियों से प्राण चक्षुरादि इन्द्रिय शरीरादिक का निराकरण किया है । इसलिए प्राण विशिष्ट जीव का ही भूमा पद से ग्रहण होना चाहिए । एतादृश पूर्वपक्ष का सामाधान करने के लिए कहते हैं "अत्राभिधीयते" इत्यादि । संप्रसाद शब्दवाच्य जो प्रत्यगात्मा है तादृश जीव के उपदेश

धर्मोपपत्तेश्च ।१।३।९।

भूम्नो ये धर्माः अमृतप्रापकत्वस्वमहिमप्रतिष्ठितत्वादयोऽत्र श्रुतास्तेषां समेषां परमात्मन्येवोपपत्तिरस्त्यतः परमपुरुष एव भूमा ॥९॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौभूमाधिकरणम् ॥२॥

श्रवणात् नामादि आशान्तोपदेशस्य विद्यमानत्वेन नामाद्याशान्तस्य भूमपदवाच्यत्वं न भवति तथैव प्राणो पलक्षित जीवादनन्तरमपि सत्यस्योपदेशदर्शनात् प्राणोपलक्षितस्यापि नामादिवन्न भूमपदवाच्यत्वम् सत्यपदवाच्ये परमात्मनि भूमादि सकलगुणानाममृतत्वादिधर्माणा श्च स्वभावत एव समन्वयात् परमात्मज्ञानस्य च शोकसन्तरण कारणत्वस्याप्यवधारणात् सर्वसमञ्जसं भवति। नैवं सांमञ्जस्यं नामादि प्राणपर्यन्तस्य भूमत्वे संभवति। तस्मात् "यो वै भूमा तत्सुखम्' इत्यादि प्रकणे श्रूयमाणो भूमाशब्दः सर्वोपादानजानकीनाथस्यैव संग्राहको नतु तत्पादसेविनः स्वभावतस्तदीयदासकर्मणि विनियुज्यमास्य भगवच्छरीरभूतप्राणाद्युपलक्षितजीवस्येति संक्षेपः। विस्तरस्तु भाष्यादिमहोधिकल्पग्रंन्थेभ्यः सांप्रदायिकेभ्यश्चावगन्तव्यम् ॥८॥

विवरणम्= ननु न केवलं प्राणोपलक्षितजीवाधिकः प्रश्नप्रवाहो विद्यते तावतैव भूमपदवाच्यः परमात्मा अपितु न जीवो भूमके बाद में भी सत्य पदार्थ का उपदेश किया गया है। और सत्य को हो सुख रूप से उपदेश है, और सुख भूमा पद का वाच्य है। अतः परमात्मा श्री राम ही यहाँ भूमापद के वाच्य हैं। परमात्मा भिन्न जीव भूमा पदवाच्य नहीं विस्तारार्थ तो भाष्य विवरण में देखिये ॥८॥

सारबोधिनी–पूर्वसूत्र में "प्राणोवा आशाया भूयान्" इत्यादि स्थल में नामवाक् से लेकर के एक के वाद तदन्य में उत्तरोत्तर अधिकता को बतलाते हुए सर्वापेक्षया आशा को अधिक कहा। तब नारदजी ने पुनः

पदवाच्यः कथम् ? भूम्नि ये धर्माः प्रतिपादिताः सन्ति तेषां सर्वेषां धर्माणां परमात्मनि परमपुरुषे एव स्वभावतः समन्वयो भवति। इत्येतद्दर्शयितुमाह– "भूम्नो ये धर्माः" इत्यादि धर्मोपपत्तेश्चेत्यत्राप्यर्थकश्चकारः, धर्मोपपत्तिरपि हेतुर्भूम्नः परमात्मनश्चैकतां दर्शयति नतु जीवेन सह भूम्न एकताम्। "यत्रनान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोतिनान्यद्विजानाति स भूमा" इत्यादि श्रुतौ यो दर्शनादिव्यवहाराभावो भूम्निदर्शितः स परमात्मन्यपि दर्शित एव। सुखरूपत्वं भूमनिदर्शितम्. तत्परमात्मन्यपि दर्शितमेव "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इत्यादिना एवमेवामृतप्रापकत्वादिका ये धर्मा भूमनि प्रदर्शितास्ते सर्वेऽपि धर्माः प्रायः परमात्मनि प्रदर्शिता एवेति धर्मप्रतिपादनद्वारेणापि भूमपरमात्मनोरेकरूपतामेव प्रतिपादयतीत्यतो भूमपद-

पूछा कि भगवन् आशा से भी कोई अधिक है ! उसके उत्तर में आजान सिद्ध योगी सनत कुमार ने कहा कि आशा से बड़ा प्राण है। ततः पर में प्रश्न प्रतिवचन के प्रवाह को निवृत्ति देखकर प्राणोपलक्षित जीव ही प्रकरण प्रतिपाद्य है उपास्य भी है। इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहा गया कि प्राण के बाद भी सत्य पदार्थ का कथन प्रकरण में है। तथा भूमा को सुखरूपतादिकता का प्रतिपादन किया गया है, इसलिए "यो वै भूमातत्सुखम्" इस श्रुति में जो भूमा है, वह जीव नहीं है, किन्तु परमात्मा ही है। क्योंकि सत्य शब्द से तो परमात्मा का ही सर्वत्र ग्रहण किया गया है। इत्यादि प्रकार से प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद अब यह कहते हैं कि मात्र सत्यादि पद के सामानाधिकरण्य से ही भूमपद वाच्यता परमात्मा को है, इतनाही नहीं, किन्तु भूमा में सत्य रूपता, सुख रूपता अमृतप्रापकत्वादिक जो धर्म प्रकरण में प्रतिपादित हुए हैं, वे सब धर्म समुदाय परमात्मा में ही घटित होते हैं। पर जीव में घटित नहीं होते। इसलिए धर्मोपपत्ति हेतु से भी भूमपदवाच्यता परमात्मा को ही हो सकती है। परमात्मा भिन्न में सब

वाच्यः परमात्मा श्री जानकीनाथ एव नतु प्राणविशिष्टो जीवो भूमव्यवहारभागिति विदुषां संमतः पक्षः। एतत्सर्वं संक्षिप्य वृत्तिकारो दर्शयति "भूम्नो ये धर्मा" इत्यादि। भूम्नो ये धर्माः "यो वै भूमा तत्सुखम्" इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितो यो भूमा तादृशस्य भूम्नो ये गुणाः अमृतपापकत्व "स्वेमहिम्नि प्रतिष्ठितः" इत्यादिश्रुति प्रतिपादितंस्वमहिम्नि प्रतिष्ठितत्वं, सुखरूपत्वात्मकः "एतस्यैवानन्दस्य मात्रामुपजीवन्त्यन्यानि भूतानि" इत्यादि श्रुतिभिः प्रतिपादितः। यद्यपि सुखादिकं जीवस्यापि गुणस्तथापि निरंकुशनित्यनिरतिशयसुखंतु परमात्मन्येवान्यत्रतु सापेक्षं न निरपेक्षमिति पूर्वेउक्ता ये गुणास्तेषामुपपत्तिः समन्वयः परमात्मन्येव भवति. तस्मात् प्रकृते भूमपदवाच्यः परमपुरुषसर्वेश्वरश्रीराम एव नान्य इति। यद्यप्यापातदृष्ट्याऽन्यत्रापि जीवादौ यथा कथञ्चित् तादृशधर्मवत्व घटित नहीं होता है। तस्मात् भूमापदवाच्य परमात्मा ही है। इस बात को बतलाने और सूत्रोक्त हेतुओं का उत्थान करने के लिए कहते हैं "भूम्नो ये धर्माः" इत्यादि। "जो यह भूमा है वह सुख स्वरूप है" इस श्रुति में जो भूमा सुनने में आया है। और उस भूमा का जो धर्म अमृत प्रापकत्व "एतस्यैवानन्दस्यमात्रामुपजीवन्त्यन्यानि भूतानि" "एष एव ह्यानन्द याति" [इसी के आनन्द का एकदेश का अन्यभूत अनुभव करते हैं। तथा, यही परमात्मा सबको आनन्दित करता है] इत्यादि श्रुति सिद्ध जो आनन्द प्रापकत्व धर्म हैं। एवम् "स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितः" एतत् श्रुति प्रसिद्ध जो स्वमहिमा प्रतिष्ठितत्व प्रभृतिक धर्म समुदाय इस भूमा के प्रकरण में श्रूयमाण धर्म समुदाय हैं इन धर्मों का परमपुरुष परमात्मा में ही उपपत्ति समन्वय हो सकता है। पर स्वमहिमा प्रतिष्ठितत्वादि कथित धर्मों का परमात्मभिन्न में किसी प्रकार से उपपत्ति—समन्वय नहीं होता है। इसलिए परमपुरुष सर्वेश्वर श्रीराम ही भूमापद के वाच्य हैं। क्योंकि प्राण पर्यन्त

अथाक्षराधिकरणम् ॥३॥

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ।१।३।१०

बृहदारण्यके 'सहोवाचैतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वम्' [बृ० ५।८।८।] इति श्रूयते । अत्राक्षरशब्देन किम्प्रधानं प्रत्यगात्मोत परमात्मा वाभिधीयते । अक्षरात्परतः परः' अमृ-

---

मायातीव तथापि पूर्वापरप्रकरणपर्यालोचने भूमपदवाच्यता परमात्मन एव घटते, ननु प्राणस्य प्राणविशिष्टस्येति । ततो भूमपदपरमात्मपदयोर्द्रव्यत्वविशिष्टसत्तावदेवसमनियतत्वमिति संक्षेपः ॥९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे भूमाधिकरणम् ॥२॥

विवरणम्—ननु बृहदारण्यकोपनिषदि श्रूयते "कस्मिन्नुखल्वाकाश ओतश्चप्रोतश्चेति. सहोवाच एतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितम्" [गार्गी याज्ञवल्क्यं पृच्छति हे-याज्ञवल्क्य यो यमाकाशपृथिव्यादिपवनान्तभूतानामाधारतया लोके श्रुतौ च समधिगतः स आकाशः कस्मिन्नाधारे प्रतिष्ठितः । अर्थात् आकाशस्याधिकरणं किमिति प्रश्नः गार्ग्याः प्रश्नं श्रुत्वा याज्ञवल्क्यः प्रोवाच "सहोवाचैतद्वैतदक्षरं गार्गि" ब्राह्मणा अभिवदन्ति इत्यादि ।] गार्गि सर्वाधारतया प्रसिद्धस्याकाशस्याधारः तत् अक्षरम्

ही आपात दृष्टि से प्रश्न प्रतिवचन प्रवाह का विराम हो जाने से भूमापद का वाच्य प्राण अथवा तादृश प्राण विशिष्ट प्रत्यगात्मा जीव नहीं है ॥९॥

सारबोधिनी—बृहदारण्यकोपषित् के गार्गी ब्राह्मण में आया है कि "किसमें आकाश ओतप्रोत है" अर्थात् इस आकाश का आधार क्या है ? इसके उत्तर में मुनि ने "सहोवाच" इत्यादि प्रकरण से उत्तर दिया कि अक्षरपदवाच्य में आकाश आधारित है । तब वहाँ सन्देह हुआ कि जो विनष्ट न हो उसको अक्षर कहते हैं । तो अविनाशी तो सांख्यमत

ताक्षरं हरः' 'यया तदक्षरमधिगम्यते' इत्यादिश्रुतिभिरक्षरशब्दस्य त्रिष्वप्यर्थेषु प्रयोगात्संशयः । तत्र प्रधानं जीवोवाक्षरं भवेत् आकाशधारकत्वमुभयोरपि सम्भवतीति पूर्वः पक्षः । अत्राभिधीयते- अम्बरान्तस्याव्याकृतस्य धारणादत्राक्षरपदवाच्यः परमात्मैव । गार्ग्याः प्रश्नस्य स्वारस्येनाखिलजगदाधाररूपं जगत्कारणमत्रपृष्टं न वायुमदाका-

---

अर्थात् यदक्षरपदवाच्यं तदेवाकाशस्याधार इत्युत्तरम् । तस्यैवाधार भूतस्याक्षरस्य विशेषणान्यस्थूलादीनि । तदक्षरं स्थूलत्वह्रस्वत्वदीर्घत्व परिमाणरहितम् । तथा लोहितादिधर्मविवर्जितम् । एतादृशमक्षर- पदवाच्यं यत् तदेवाकाशस्याधिकरणं तस्मिन्नधिकणे आकाशः सर्वथा सर्वदा ओतश्चप्रोतश्चेति याज्ञवल्क्यस्योत्तरम् । अत्राक्षरशब्दस्य प्रधानजीवपरमात्मसाधारणतया अक्षरपदेन प्रधानस्य ग्रहणं जीवस्य वा सर्वाधारस्य परमात्मनोवेति संशयो भवति. नियामकस्य कस्यचिदप्यदर्शनात् । तत्र प्रधानस्य जीवस्य वाग्रहणमिति पूर्वपक्षः । सर्वाधारः परमात्मेत्युत्तरपक्षः कुतः अम्बरान्तस्याव्याकृतस्यापि विधार- कत्वादिश्रवणात् परमात्मैवेति । तमिमं विषयं संक्षेपेण दर्शयितुं सूत्र- व्याख्यानायाहाचार्यः—"वृहदारण्यके" इत्यादि । प्रथमं गार्गी पृच्छति कल्पित प्रधान भी हैं ।, "न जायते" इत्यादि श्रुति से सिद्ध जीव भी अविनाशी है । और परमात्मा तो सर्व संमत अविनाशी हैं ही । तब पूर्वपक्ष हुआ कि परमात्मा तो निरवयव तथा सर्व विकार रहित होने से किसी का आधार हो नहीं सकते हैं । किन्तु परिशेषात् प्रधान अथवा जीव ही अक्षरपदवाच्य आकाशादिका आधार है । इस प्रश्न के उत्तर में कहा कि श्रुति से सर्वाधारता परमात्मा में ही संभवित हे । इसलिए परमात्मा ही सर्वाधार अक्षर पदवाच्य हैं । इन विषयों को बतलाने के लिए इस "अक्ष- राधिकरण" का उत्थान करते हैं "वृहदारण्यके" इत्यादिग्रन्थ से । वृहदारण्यकोपनिषद् में गार्गी पूछती है कि पृथिव्यादि विकार का आधार

शस्याधारमात्रमिति निश्चीयते । तत्प्रतिवचनं सहोवाचेत्यादिकमुक्तम् । एवञ्च प्रश्नगतमाकाशपदं सर्वविकारकारणं भूतसूक्ष्ममव्याकृतमभिधत्ते न केवलं विकारान्तर्वर्तिनमाकाशम् । तदाधारतया चाक्षरस्य निर्देशादिहाक्षरपदार्थः परमात्मा । सर्वविकाराणामाधारस्याव्याकृतस्याप्याधारः स एव न प्रधानादिकम् ॥१०॥

हे याज्ञवल्क्य पृथिव्यादि भूतानामाधारभूतोयोयमाकाशः स कः ? ततो याज्ञवल्क्यः हे गार्गि अस्थूलमनणवह्रस्वादिधर्मकं यदक्षरं तदेवाकाशस्याधारभूतमिति । तत्र संशयो भवति "अक्षरात्परतः परः" इत्यादि श्रुत्या अक्षरवाच्यत्वं प्रधानस्य सांख्यपरिकल्पितस्य । "अमृताक्षरं हरः" इत्यादि श्रुतावक्षरपदवाच्यता जीवस्य श्रूयते । "अथ पराययातदक्षरमधिगम्यते" इत्यादिश्रुतौ परमात्मन एवाक्षरपदवाच्यत्वं, ततश्च संशयो भवतीत्यक्षरपदेन कस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति । संशयानन्तरं भवति पूर्वपक्षः अत्राक्षरपदेन प्रधानस्यैव ग्रहणं कर्त्तव्यं यतः प्रधानस्य सर्वविकारकारणत्वात् । अथवा "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धिमेपराम् । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् । तदत्रार्थचन्द्रिकाकारा जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरघुवराचार्याः 'यथाऽनया इदंपरिदृश्यमानं नामरूपविभागार्हं सर्वं जगदन्तरवस्थाय 'अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्या-

यह आकाश किसमें ओतप्रोत है ? तब कहते है "सहोवाच" इत्यादि याज्ञवल्क्यजी । हे गार्गि ? आकाश का आधार अस्थूल अनणु अह्रस्व अनील अक्षर आधार है। ऐसा सुनते में आता हैं । अब यहाँ संशय होता हे कि यहाँ अक्षर शब्द से क्या प्रधान का ग्रहण होता है । किंवा प्रत्यगात्मा का । अथवा परमात्मा का अक्षर पद से ग्रहण होता है । तो "अक्षर से भी परतः परः" "अमृत अक्षर स्वरूप है ।" वह पराविद्या है । जिससे अक्षर जाना जाता हैं ।" इत्यादि श्रुतियों से अक्षर शब्द का इन

करवाणी" इत्यादि श्रुत्युक्तरीत्या धार्यते (गी. ७।५) इत्यादि स्थले जीवस्यापि समस्तजगत अधारत्वकथनात् प्रत्यगात्मैव सर्वस्याधार इति तस्यैव ग्रहणमक्षरपदेन । नतु परमात्मनो ग्रहणं भवति तस्य सर्वपरिमाणरहितस्य निरवयवस्य निष्क्रियस्याधारत्वासम्भवादिति पूर्वपक्षः ।

एतादृशपूर्वपक्षस्य निरासाय सर्वतसर्वजगदुत्पादकस्य परमात्मन एवाक्षर पदवाच्यतेति दर्शयितुं सूत्रमवतारयितुं चाह "अत्राभिधीयते" इत्यादि । अत्र अक्षरपदेन परमात्मन एव ग्रहणम् । कुतः अम्बरान्तस्य अव्याकृताकाशान्तविकारजातस्यधारकत्वस्यव्यपदेशात् । यद्यपि पृथिव्यादिपवनान्तविकारस्य धारकत्वं भूताकाशस्य संभवति तथापि सर्वभूताकारणत्वं तस्य, अव्यावृतसूक्ष्माकाशस्तदन्तस्य च धारकतातु नान्यस्य । "तध्देदंतर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते" इत्यादिश्रुत्या प्रथममव्याकृतमासीत्पश्चात्तत्सर्वनामरूपाभ्यां व्याकृतम्. इत्यव्याकृताकाशस्यापिधारकत्वस्येह श्रवणात्. परमात्मैवाक्षरपदवाच्यो भवति. नत्वन्यः कश्चित्तस्मिन् तदसंभवात् । तदेव दर्शयति "अंबरांतस्याव्या-

तीनों अर्थ में प्रयोग देखने में आता है । अक्षरपदवाच्यता प्रधान अथवा जीव में है । क्योंकि आकाश के प्रति आधारता इन दोनों में संभवित है । ऐसा पूर्वपक्ष होता है । इसके उत्तर में कहते हैं "अत्राभिधीयते" यहाँ परमात्मा ही अक्षरपदवाच्य हैं । अंबरान्त अव्याकृत सूक्ष्माकाशादिक के धारण का प्रतिपादन किया गया है । गार्गी के प्रश्न का स्वारस्य से होता है कि समस्त जगत् का आधार स्वरूप स्थूल सूक्ष्म साधारण जगत् का जो कारण है तद्विषयक यह प्रश्न है । नतु वायु का उपादान आकाश मात्र विषयक ऐसा निश्चित होता है । और इसके अनुरूप प्रतिवचन दिया है । "सहोवाच" इत्यादि प्रकरण से । ऐसा हुआ तब गार्गी के प्रश्न में

सा च प्रशासनात् ।१।३।११

"एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" [बृ० ३।८।९।] इति परमात्मन एव निरङ्कुशाज्ञाया वशवर्तित्वं

कृतस्य" इत्यादि । अव्याकृतस्य नामरूपनिर्देशानर्हस्यांबरांतस्य विकारजातस्य धारकत्वश्रवणात् । प्रकृतेऽक्षरपदवाच्यः सर्वविकार कारणात्मनः परमात्मन एव ग्रहणं न्याय्यमिति । अपिच योऽयं गार्ग्याः प्रश्नः तद्दर्शनेनेत्थं ज्ञायते यत् न केवलमाकाशस्याधारविषयिणीपृच्छा अपितु समस्तविकारात्मक जगदाधारकविषयिणीति सर्वविकारकारणताधारकता च "यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि" इत्याद्यनेकश्रुत्या परमात्मन एव तत् संभवति नान्यस्यैतादृशप्रश्नस्य प्रतिवचनं मुनिना दत्तम् "सहोवाच, याज्ञवल्क्य" इत्यादिप्रकरणेन । एवं च गार्गी प्रश्नस्थमाकाशपदम् न भूताकाशमात्रं कथयति. किंतु सर्वविकारस्य कारणं यत् सूक्ष्मभूतव्याकृतपदवाच्यं तत्प्रतिपादयति । तथा तादृशभूतसूक्ष्मविषयकप्रश्नस्य प्रतिवचनं साधयति भूतसूक्ष्मस्याधारस्याक्षरस्य निर्देशः परमात्मानं सर्वजगदाधारभूतमेव बोधयति नतु विकारैकदेशस्याधारस्य प्रतिपादनं करोति । तस्मात् सूक्ष्मस्थूलसाधारणसर्वविकारस्याधारभूतः परमात्मैवाक्षरपदवाच्यो भवति । नतु प्रधानादिकमितिदिक् ॥ १० ॥

जो आकाश पद है वह सब विकार का कारण जो भूत सूक्ष्म अव्याकृत है उसका कथन करता है । नतु केवल विकार मध्य पतित भूताकाश का प्रतिपादक है । तादृश अव्याकृत भूत सूक्ष्म के आधार रूप से अक्षर पद वाच्य परमात्मा श्रीसाकेताधिपति ही हैं । सब विकारों का आधार जो भूत सूक्ष्म उसका भी आधार भगवान् ही है परन्तु जीव नहीं, नवा सांख्यमत कल्पित प्रधान । इस प्रकरण में वर्णात्मक अक्षर का चिन्तन किया है । वह चिन्तनीय है ॥१।३।१०॥

प्रभाकरनिशाकरादीनामस्तीति प्रशासनादम्बरान्तधृतिरक्षरपदाभिधेयस्य परमात्मन एव ॥११॥

विवरणम्—अथाचेतनत्वात्प्रधानस्याम्बरान्तपदार्थजातं प्रतिविधारकत्वं माभवतु परन्तु जीवस्तु चेतनस्तस्य "यस्याऽव्यक्तं शरीरम्" क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः" "ययेदं धार्यते जगत्" इत्यादि श्रुति स्मृत्यादिभिर्जगदाधारकत्वसंभवात्. तथाऽस्थूलादिधर्मकत्वमपिकथञ्चिद्व्यपेक्षया संभवात्। अक्षरशब्दस्य यौगिकार्थमादाय परमेश्वरवत् कर्मवतो जीवस्यापि यथा कथञ्चिज्जगदाधारत्वसंभवादित्याशङ्कां सूत्रोपन्यासेन निराकरिष्यन् प्राह. "एतस्य वा अक्षरस्य" इत्यादि । सूत्रे "साच" इत्यत्र तत् पदेनांबरान्तधृतेः परामर्शः । तथा च अंबरान्त पर्यन्तस्य सत्यात्मकं कार्यं परमेश्वरस्य भगवतो जानकीनाथस्यैव. कुतः ? शासनात्. न केवलं शासनमात्रं किन्तु प्रकर्षेण शासनात् । शासने प्रकृष्टत्वं च अव्याहताज्ञात्वादिरूपमेव । तादृशं च शासनं पराधीनस्य जीवस्य न भवति तस्मात्सर्वसमर्थस्य परस्यैवेति

सारबोधिनी—पूर्वसूत्र में श्रुति प्रतिपादित अंबरान्त पदार्थ जात के विधारकत्वात्मक कर्म लक्षण हेतु से अक्षर पद वाच्यत्व परमात्मा में ही हैं इसका निश्चय किया। परन्तु "ययेदं धार्य्यते जगत्" इत्यादि प्रमाण से जगत् धारकत्व यौगिक अक्षर पदवाच्यता जीव में भी हो सकता है। इस शंका का निराकरण प्रशासनात्मक हेतु से करने के लिए वृत्तिकार उपक्रम करते हैं "एतस्य वा अक्षरस्य" इत्यादि। वह जो अम्बरान्त पदार्थों की धृति धारणादि कर्तृत्व है वह परमेश्वर का ही कार्य है। क्योंकि प्रशासन का श्रवण है। "धृतिः परमेश्वरकार्यं प्रशासनात्" [अम्बरान्त पदार्थों की धृति परमेश्वर का कार्य है। क्योंकि प्रशासन होने से।] इस अनुमान से कार्यमात्र का धारकत्व परमात्मा जो कि अक्षरपद वाच्य हैं में बतलाया गया। तो इस अनुमान में कोई हेत्वसिद्धका उद्भावन न करे इसलिए प्रशासन का

निश्चीयते । एतदेव सर्वमुपपादयति । हे गार्गि एतस्य सर्व-शरीरकस्य परमेश्वरस्य प्रशासनवलादेव सूर्याचन्द्रमसौ दिवाकर निशाकरौ विधारितौ सन्तौ स्वस्वकार्ये तन्द्रारहितौ विद्यते । इत्यादि स्थले परमात्मनः सर्वप्रशासकस्य सर्वनियामकस्यैव । एतादृशानन्यसाधारणाज्ञा वशवर्त्तित्वं दिवाकरादिलोकपालानामपि विद्यते । इत्येवं रूपेण प्रशासनस्य श्रूयमाणत्वात् सूक्ष्माक्रान्त पदार्थजातस्यविधारकत्वमक्षरपदबोध्यस्य परमेश्वरस्यैव विद्यते संभवति च । नतु तनुमहिम्नो जोवस्य तस्मात् प्रकृते सर्वावि-धारयिता परमेश्वर एव न जीवो नवाजडप्रधानमिति । तदाहु भाष्यकाराः-"अस्य स्वाधीन शासनस्य चिदचित्सर्ववस्तुविधारणस्य प्रत्यगात्मन्यसम्भवात् । प्रधानस्य त्वचेतनस्यासम्भव पराहतत्वात्प्रशा-सनस्येति परिशेषात्तस्य परमात्मधर्मत्वमेवेति तदेवाक्षरपदवाच्यम्" इति । (आनन्दभाष्यम् १।३।११) ॥११॥

उपपादन करने के लिए कहते हैं "एतस्य वा अक्षरस्य' इत्यादि । हे गार्गि ! इस अक्षरपदवाच्य परमात्मा के प्रशासन में सूर्यचन्द्रमा धारित हो करके अपने-अपने कार्य में नियमित रूप से सन्नियन्त्रित हैं । इत्यादि स्थल में परमात्मा को निरंकुश आज्ञा के वश वर्तित्व प्रभाकर सूर्य निशाकर चन्द्रमा । प्रभाकर पद उपलक्षण है । इसलिए इन्द्र, पवन यमादिक का भी संग्रह होता है । "भीषाऽस्माद्वातःपवते" इत्यादि श्रुत्यन्तर में सबको परमेश्वराज्ञावशवर्त्तित्व का प्रतिपादन किया गया है । इस प्रकार से प्रशासन का श्रवण होने से अम्बरान्त पदार्थजातों का धारण अक्षरपदवाच्य परमात्मा का ही कार्य है । किन्तु पराधीन अल्प सामर्थ्यवान् जीव का यह धृति रूपकार्य नहीं है । विशेषतः भाष्य विवरण में देखें ॥११॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ।१।३।१२।

अस्याक्षरपदवाच्यस्य परमात्मनोऽन्यत्वं "तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं दृष्ट्रश्रुतं श्रोतृ" [बृ० ।५।८।१२।] इत्यादि वाक्यसेषेण व्यावृत्यते। अतोऽक्षरपदवाच्यः परमात्मैव ॥१२॥

इति रघुवरीयवृत्तावक्षराधिकरणम् ॥३॥

विवरणम् अम्बरांतपदार्थानां धारणात् प्रशासनहेतुनाच. अक्षरपदवाच्यत्वं परब्रह्मण एव भवतीति पूर्वसूत्राभ्यां प्रतिपाद्य. अन्यभावव्यावृत्त्यात्मकहेतुनापि प्रधानस्य तथा जोवस्य व्यावृत्तिं परमेश्वरस्यैवाक्षरपदवाच्यत्वमिति च व्यवस्थापयितुं प्रकृतसूत्रस्यार्थं प्रकाशयति । अन्यस्य प्रकृतपरमेश्वराद् भिन्नस्य सांख्यमतपरिकल्पितप्रधानस्य तथा चेतनस्यापि जीवस्ययो भावोधर्मस्तस्य व्यावृत्तिरिह दृश्यते । अर्थात् एतस्य प्रकरणस्यान्तिमप्रकरणे तादृशा धर्माः प्रतिपादिताः येषां समन्वयो न प्रधाने संभवति नवा जीवे परिशेषात्ते धर्माः परमेश्वरमात्रे समन्वीयमाना भवन्तः परमात्मानमेव केवलं बोधयन्ति निराकुर्वन्ति च प्रधानं जीवं चेति । एतदेव बोधयितुं

सारबोधिनी—जिस प्रकार अम्बरान्त जगत् का धारक होने के कारण से और पदार्थ मात्र का शासन करने के कारण से अक्षर वाच्य परमात्मा है इस विषय को पूर्वोक्त सूत्र द्वय से सिद्ध किया गया है । उसी प्रकार अन्यभाव व्यावृत्ति रूप हेतु से भी अक्षर पदवाच्यत्व परमात्मा सर्वेश्वर में ही सिद्ध होता है, नतु प्रधान में नवा अल्प महिमाशील जीव में हो सकता है। क्योंकि अन्य जोव प्रधान उसका जो भाव धर्म तादृश धर्म की व्यावृत्ति अर्थात् तादृश अभाव प्रकृत वाक्य शेष में देखने में अर्थात् परमेश्वर का जो असाधारण धर्म है, उसका वाक्य शेष में प्रतिपादन देखने में आता है। उससे सिद्ध होता है कि अक्षर पदवाच्य परमात्मा ही है । प्रधान अथवा जीव नहीं हैं । इस बात को बतलाने के लिए तृतीय हेतु जो अन्यभाव व्यावृत्ति है

प्रक्रमते "अस्याक्षरपदवाच्यस्य" इत्यादि । अस्य सर्व संसारकारण स्याक्षरपदवाच्यस्य ये असाधारणा धर्माः सन्ति तेषां व्यावृत्तिरभाव इह प्रतिपादितो भवति । जोवस्य तथा प्रधानस्य व्यावर्तकायेऽनन्य-साधारणा धर्मास्तानेव दर्शयति "तद्वा एतदक्षरम्" इत्यादि । हे गार्गि ! यदेतदक्षरपदवाच्यं ब्रह्म तत् अदृष्टम् दर्शनक्रियारहितं सदपि द्रष्टृः सर्वस्य दर्शनकर्तृ भवति । अश्रुतंसदपि सर्वस्य श्रोतृ भवति, अविज्ञातं सदपि सर्वस्य विज्ञातृ भवति । इतः परब्रह्मा-तिरिक्तमन्यत् द्रष्टृनास्ति तथा एतस्मादन्यत् किञ्चित् श्रोतृ न भवति-नान्यन्मन्तृ नान्यद् विज्ञातृ भवति । एतादृशपरब्रह्मण्येवायमाकाश ओतं च प्रोतं चेति । अत्र द्रष्टृत्वादि चेतनमात्रगतधर्मैरचेतनस्य स्वभावतो जड़स्य प्रधानस्य व्यावृत्तिः समर्थिता भवति तथा सर्वा-दृष्टत्वसर्वद्रष्टृत्वादिपरमेश्वरमात्रगतधर्मैर्जीवस्यापि व्यावृत्तिः क्रियते परिशेषात् प्रधानजोवादतिरिक्तः कश्चित् परमात्मैवात्राक्षरपदवाच्यो भवतीति । एतदेव दर्शयति "इत्यादिवाक्यशेषेणे" त्यादि ।

उसका उपपादन करने के लिए प्रक्रम करते हैं—"अस्य अक्षर पद वाच्यस्य" इत्यादि । यह जो अक्षर पद वाच्य परमात्मा है उस परमात्मा से अन्य जो प्रधान तथा जीव उसका जो भाव—धर्म तादृश धर्म की व्यावृत्ति वाक्य शेष से व्यावृत्त किया जाता है । कौन वह वाक्य शेष है जिससे अन्यभाव की व्यावृत्ति होती है ? तादृश श्रुति का उद्धरण देते हैं "तद्वा एतदक्षर" मित्यादि । हे गार्गि ? वह अक्षर ब्रह्म अदृष्ट होकर के द्रष्टृ हैं । अश्रुत होते हुए श्रोतृ है । अविज्ञात विज्ञातृ है । इससे अन्य कोई द्रष्टृ श्रोतृ विमन्तृ विज्ञातृ नहीं है । इस वाक्य शेष में द्रष्टृत्व विशेषण से प्रधान का निराकरण होता है क्योंकि प्रधान अचेतन है और अदृष्टत्व सर्वद्रष्टृत्व लक्षण परमात्मा का अनन्य साधारण धर्म समुदाय से जीव की व्यावृत्ति होती है । तो प्रकृत में परमात्मा का धर्म परमात्मेतर जीवादि का निराकरण करता है । जिस

अथेक्षतिकर्माधिकरणम् ॥४॥

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ।१।३।१३।

आर्थवणिके "स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते (प्र० ५।५।] इति श्रूयते । किमत्र पुरुषो हिरण्यगर्भाख्यो जीव उत परमपुरुषः श्रीराम इति संशयः । तत्र त्रिमात्रप्रणवोपासकस्य "यः पुनरेतत्त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसिसूर्ये सम्प-

---

अदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतंश्रोतृ अविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ श्रोतृ विज्ञातृ" इत्यादिवाक्यशेषेणाक्षरपदवाच्यत्वं सर्वनियामकस्य परब्रह्मण एव भवति नतु प्रधानस्य जीवस्यवेति ॥१२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र कृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेऽक्षराधिकरणं तृतीयम् ॥३॥

विवरणम्– अथ त्रिमात्रस्योङ्कारस्यालंबनेन परमपुरुषस्यध्यानं करोति स उपासकः सामद्वारा ब्रह्मलोकमवाप्य तत्र पुरिशयं पुरुषं साक्षात् करोति । एवं प्रश्नोपनिषदि श्रुतं भवति तत्र भवति संशयो यत् ध्यानेक्षणयोः कर्मभूतं कमलासनंब्रह्म भगवान् श्रीरामोवेति । ततश्च ब्रह्मलोकात्मकप्राप्तिरूपफलस्य श्रूयमाणत्वेन तयोः कर्मकार्यब्रह्मैवेति तरह घट धर्म घटत्व घटेतर का व्यावर्तक होता है । इससे यह सिद्ध होता है कि अक्षर पदवाच्य परमात्मा है । प्रधान वा जीव नहीं ॥१२॥

सारबोधिनी– "यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेन परम पुरुषम्" इत्यादि । जो उपासक मात्रात्रितय युक्त ओंकार के द्वारा पर पुरुष का ध्यान करता है । वह ब्रह्मलोक में जाकर के पुरिशय परम पुरुष का साक्षात्कार करता है । "इसश्रुति में ध्यान तथा ईक्षण के कर्मभुत जो पुरूष है, वह परमात्मा है । अथवा लोक निवासी चतुर्मुख है । इस सन्देह में पूर्व पक्षवादी ने कहा कि "यहाँ चतुर्मुख ही ध्येय हैं क्योंकि त्रिमात्र ओंकारोपासना द्वारा प्राप्त ब्रह्मलोक कहा गया है । इसलिए ध्यान तथा ईक्षण का

न्नः [प्र० ५।५। इति श्रुत्याब्रह्मलोकप्राप्तिरुक्ता । तत्र ध्यानेक्षणविषयस्तल्लोकाधिपतिश्चतुर्मुख एव स्यादिति पूर्वः पक्षः । अत्राभिधीयते प्रकृतश्रुतौ 'जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते इतीक्षतेः कर्मतया व्यपदिष्टः परमात्मैव कर्माधीनदेहवत्वाज्जीवघनशब्देन चतुर्मुखस्यापि ग्रहणम् । 'हिरण्यगर्भं जनयामासपूर्वम्' इत्यादिश्रुतिभिश्चतुर्मुखाख्य-

---

प्रथमः पक्षः । अजरामरत्वादिवाक्यशेषगतधर्मदर्शनादकामेनापि परब्रह्मण एव ग्रहणं कर्त्तव्यमिपि सिद्धान्तं प्रकटयन् सूत्रव्याख्यानं कुर्वाणो वृत्तिकारः प्रक्रमते, आथर्वणिके इत्यादि । स एतस्मादित्यादिः त्रिमात्रोङ्कारेणोपासनं कुर्वन् उपासकः जीवात् परतरं सुषुम्नानाड्यां शयानं पुरुषमनुपश्यतीति श्रुत्यर्थः तदाहुराचार्यसार्वभौमा जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्याःश्रीआनन्दभाष्यकाराः "स ब्रह्मलोकंप्राप्त उपासकः तत्र ब्रह्मलोके एतस्माद्दृश्यमानाज्जीवघनात् । मूर्त्तौघनशब्दस्यानुशासितत्वात् मूर्त्तिघनः स च जीवसम्बन्धितया जीवघनः क्षरः पुरुषः तस्माज्जीवघनात् क्षरपुरुषादपि परात् श्रेष्ठभूताज्जीवादक्षरात् परं श्रेष्ठतमं पुरिशयं पूः शरीरं प्राणिमात्रस्य तत्र पुरि शेत इति

विषय चतुर्मुख हैं । प्रकृत मत्र में परात्परम् ऐसा विशेषण पद है । उससे सिद्ध होता हैं कि परमात्मा ही ध्येय तथा ईक्षणीय है । ऐसा सिद्धान्त किया गया है । इस विषय को बतलाने के लिए उपक्रम करते है "आथर्वणिके" इत्यादि । "स एतस्मादित्यादि" । त्रिमात्रा युक्त प्रणवोपासन द्वारा उपासक साम द्वारा सूर्यमें सम्पन्न होता हुआ ब्रह्मलोक में जाता है । और वहाँ परात्पर पुरुष को देखता है इस प्रकार से आथर्वणिक श्रुति में सुनने में आया है अब यहां सन्देह होता है कि इस श्रुति में जो पुरुषरूप से श्रुत है वह ब्रह्मलोकनिवासी चतुर्मुख ब्रह्माजी है । अथवा परम पुरुष भगवान् श्रीरामजी हैं ।

इसमें पूर्वपक्ष होता है कि मात्रात्रय युक्त ओंकार का उपासक त्रिमात्रा युक्त ओमित्याकारक अक्षरोपासना द्वारा परम पुरुष का ध्यान करता है । वह

जीवविशेषस्योत्पत्तिरभिधीयते । अतस्तस्योपासककोटावन्तर्भावो नतूपा स्यकोटाविति ध्यानेक्षणादिकर्मभूतोत्र परमात्मैवेति ॥१३॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावीक्षतिकर्माधिकरणम् ॥४॥

पुरिशयस्तं सर्वप्राणिहृदयगुहायामन्तर्यामितयाविद्यमानं पुरुषं मुख्यतया पुरुषशब्दाभिधेयं पुरुषसूक्तादिप्रसिद्धं भगवन्तं पुरुषोत्तमं श्रीरामचन्द्र मिक्षते पश्यति द्वाविमौपुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो क्षरउच्यते । उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः । इति भगवद्गीतामिदोपबृंहणं ज्ञेयम् (प्रश्नोपनिषदानन्दयाष्यम् ५।५) तत्रेक्षणकर्मीभूतः किं कार्यब्रह्मा परपर्यायोहिरण्यगर्भ एव पुरुषपदवाच्यः सर्वनियन्ता भगवान् श्रीरामो वेति संशयः उभयोरप्युपस्थापककारणस्य प्रकृतेसद्भावात् जायते संशयः । तत्र किं युक्तम् ? समष्टिपुरुषश्चतुर्मुखोब्रह्मैवग्राह्यः कुतः तत्र ध्यानस्य तथेक्षणस्य कर्मीभूतस्तल्लोकवासी चतुर्मुखः एव स्यात् । यतः सातिशयफलस्यैव श्रूयमाणत्वात् नतु परमात्मा यतः परमात्मनो ध्यानस्य तदीयेक्षणस्य च नित्यफलत्वात् । तस्मान्नात्र परमात्मा ग्राह्योऽ

उपासक साम द्वारा सूर्य में अभिसंपन्न होता है । और सूर्यलोक से ब्रह्म-लोक को प्राप्त करता है । इस श्रुति में ब्रह्मलोक प्राप्ति रूप फल का श्रवण हैं । उस ब्रह्मलोक में परम पुरुष का ध्यान तथा ईक्षण करता है । तो वहाँ ब्रह्मलोक में ध्यान तथा ईक्षण का विषय तो चतुर्मुख ब्रह्मा ही हो सकते हैं । परमात्मा तो ध्यानादि का कर्म नहीं हो सकते हैं । क्योंकि प्रकरण तो चतुर्मुख का है ।

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं "अत्राभिधीयते इत्यादि । प्रकृत विषय में उत्तर करते है । "जीवघन,, परात्पर पुरिशय पुरुष को ब्रह्मलोक में त्रिमात्र प्रणवोपासक देखता है । इस श्रुति में ईक्षण [दर्शन] के कर्म रूप से प्रतिपाद्यमान जो पुरुष विशेष हैं वह परमात्मा ही है । चतुर्मुख

पितु चतुर्मुख एवेति पूर्वपक्षस्याशयः। अस्य समाधानायाह अत्राभिधीयते इत्यादि। अत्रश्रुतौ जीवघनात् चतुर्मुखात् परात्परमतिशयेनोत्कृष्टं पुरिशयं पुरुषं पश्यति ईक्षते, इत्यर्थः। अत्रेक्षणविषयतयोपदिश्यमानः परमपुरुषः परमात्मैव संभवति। यतोऽस्मदादिवत् कर्माधीनदेहवाने वचतुर्मुखः तस्यैव जीवघनशब्देन ग्रहणं भवति. तस्यास्मदादिवदेव-जन्मः, "हिरण्यगर्भं जनयामासपूर्वम्" स परमात्मा पूर्वं जगदुत्पत्तेः प्राक्काले सर्वस्य कार्यजातस्य समुत्पादककर्मवशात्संप्राप्तकमलासनं चतुर्मुखं परमपुरुषो रामोजनयामास. समुत्पादितवान् समुत्पाद्य च तं. तस्मैवेदं प्रजासृष्टिकार्यं च ग्राहयामास। तदाहस्वयमेव ब्रह्मा-"संक्षिप्यहि पुरा लोकान् मायया स्वयमेव हि। महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः॥" (श्रीरामायण ७।१०४।४) इति। 'सृष्ट्यादौ च सिसृक्षुः श्रीरामो विधिं विधाय हि। सृष्टये प्रेषयामास वेदं ज्ञानमहानिधिम्॥" (वशिष्ठसंहिता) इति च। इत्याद्यनेक श्रुतिभिश्च-तुर्मुखनामकजीवविशेषस्य कर्मवशात्संप्राप्तैश्वर्यविशेषस्योत्पत्तिः प्रति-

नहीं क्योंकि यहाँ जीवघन शब्द का अर्थ है चतुर्मुख। वह चतुर्मुख अस्म दादिवत् प्रारब्ध कर्मोपात्तशरीर विशिष्ट है। इसलिए उसका ग्रहण नहीं होता है। वह जन्य है। उस परमात्मा ने आकाशादि सृष्टि के पूर्वकाल में सर्व सर्जक हिरण्यगर्भ को बनाया इस श्रुति में चतुर्मुख की उत्पत्ति सुनने में आति है और "ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते कृता त्मानः प्रविशन्ति परं पदम् [हिरण्यगर्भ का शतवर्ष आयु के समाप्ति के अनन्तर जब प्रलय होता है। तब तल्लोक निवासी महापुरुषों के साथ वे ब्रह्मा परमपद को प्राप्तकर जाते है।] इत्यादि स्थल में चतुर्मुख का अवसान भी बतलाया गया है ईसलिए वह चतुर्मुख अस्मदादि के सर्जक होने पर भी अस्मदादी के समान उपासक कोटी में ही समाविष्ट है उपास्य को टी में उनका समावेश नहीं होता है। अतः इस प्रकरण में ध्यान तथा

दहराधिकरणम् ॥५॥

दहर उत्तरेभ्यः ।१।३।१४।

छान्दोग्ये "अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' [छां० ८।१।१।] इति श्रूयते । अत्र दहराकाशः किमयं भूताकाश आहोस्वित्परमात्मेति संशयः । तत्राकाशशब्दस्य भूताकाशे प्रसिद्धत्वात्स एवात्रोपदिश्यत इति पूर्वः पक्षः । अत्राभिधीयते—उत्तरेभ्य वाक्य-

---

पाद्यते । तथा 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परंपदम्'' इत्यादिना तस्यचतुर्मुखस्य प्रलयोपि जीवान्तरवत् प्रतिपादितो भवति । तस्मात्तस्य चतुर्मुखस्य ब्रह्मलोकवासिन उपासककोटावेवान्तर्भावोनतूपास्यकोटौ, उपास्यकोटिकस्तु परमात्मा एवेति स एव परमात्माध्यानेक्षणक्रिययोः कर्म अर्थात् ध्यातव्यो दर्शनीयश्च नतु सम्प्राप्तैश्वर्यविशेषोऽपि जीव विशेषो ब्रह्मलोकनिवासी । तस्मात्परमात्मैव ध्यानेक्षणयोः कर्मभवत् स एव गृहीतव्योनतु तदितरं कार्यब्रह्मेति सिद्धान्तः ॥१३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र कृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे ईक्षतिकर्माधिकरणम् ॥४॥

ईक्षण के कर्मरूप से उपदिश्यमान जो पुरुष वह सर्वशक्तिमान् सर्वसर्जक भगवान् श्रीजानकीनाथ ही हैं । तदितर कोई जीव विशेष नहीं है । भले ही कोई जीव विशेष भगवान् की उपासना के बल से दीर्घदीर्घतर आयु विशिष्ट तथा ऐश्वर्य को प्राप्त कर भी लेवें तथापि उपासक जीव ही है । वह उपास्य कोटी निविष्ट नहीं हो सकता है । और यहाँ तो सर्वोपास्य पुरुष को ध्यानादिक का कर्मरूप से कथन किया गया है । अतः प्रकृत प्रसङ्ग ग्राह्य पर पुरुष श्रीराम चन्द्र जी हैं इतर नहीं ॥१३॥

इतिसारबोधिनीमें ईक्षतिकर्माधिकरणम् ॥४।

गतेभ्य हेतुभ्यो दहराकाशो ह्यत्रपरमात्मैव । ते च हेतवो निर्दिश्यन्ते । "स ब्रूयाद्यावान्वाऽयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः" [छा०८।१।३।] इत्यत्रोदीर्यमाणोपमानोपमेयभावो दहराकाशभूताकाशयोरेकत्वे न सम्भवतीत्यतोऽयं दहराकाशस्ततो भिन्नः परमात्मा । एवं "एष आत्मापहतपात्मा" इत्यारभ्य 'सत्यसङ्कल्पः' इत्यन्ता

विवरणम्–"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्मदहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाविजिज्ञासितव्यम्" अस्मिन प्रत्यक्षविषयतया परिदृश्यमाने ब्रह्मणः पुरमिवपुरं तस्मिन नवद्वारपरिवृत्ते शरीरे पुण्डरीकं कमलकुड्मलोपमितं वेश्मस्थानम्. तत्र दहरोऽतिसूक्ष्म आकाश एतदन्तः तन्मध्ये यद्विद्यते तदन्वेष्टव्यम्. प्रथममाचार्यागमोपदेशाभ्यां श्रवणम्, तदविरोधिना तर्केण मननम्, ततोध्यानपरिपाकवशेन जायमानंसाक्षात्कारो विज्ञानम्, एतच्च ज्ञानं पूर्वापेक्षया विशिष्टं सत् विज्ञानमिति तदिच्छाविजिज्ञासा

सारबोधिनी–"अथ यदिदंमस्मिन् ब्रह्मपुरे" इत्यादि छान्दोग्य श्रुति में दहर पद है, उसका वाच्य भूताकाश है अथवा परमात्मा है । ऐसा सन्देह होने से लोक में अति प्रसिद्ध भूताकाश है अतः वही दहरपद वाच्य है परमात्मा नहीं । इसका उत्तर करते हुए कहा कि–प्रकरणगत वाक्य शेष से परमात्मा ही दहर पद वाच्य है । ऐसा सिद्धान्त किया गया "दहर उत्तरेभ्यः" इस सूत्र में । इस बात को आक्षेप समाधान पूर्वक विचार करने के लिए प्रक्रम करते हैं "छान्दोग्ये अथयदिदम्" इत्यादि । छान्दोग्य श्रुति में "इस शरीर रूप ब्रह्मपुर में जो एक दहर छोटा पुण्डरीक कमल सदृश वेश्म स्थान है । उसमें सुक्ष्म एक अन्तर में रहनेवाला आकाश है । वह अन्वेषण करने योग्य है । तथा श्रवण मनन निदिध्यासन करने के बाद दर्शन समानाकारक विशेष विज्ञान का विषय करने के योग्य है" ऐसा सुनने में आता है । उसमें जो दहराकाश है वह यह भूताकाश है अथवा

श्रुतिर्निरूपाधिकापहतपाप्मत्वादिगुणान् दहराकाशेऽभिदधती दहराकाशः परमात्मेत्यवगमयति। विषयवाक्ये 'तदन्वेष्टव्यं' इत्यत्र तच्छब्देन दहराकाशं तदन्तर्वर्तिगुणांश्च परामृश्य तदुभयमन्वेष्टव्यमित्युपदिश्यते। विस्तरस्त्वत्राकरे द्रष्टव्यः ॥१४॥

तद्विषयः कर्त्तव्यः। एवं छान्दोग्यश्रुतौ श्रूयते। तत्र हृदयपुण्डरीक मध्ये योऽयं सूक्ष्माकाशः स किं भूताकाश आहोस्वित् प्रत्यगात्मा जीवः सर्वसमर्थः सर्वत्र सर्वोपास्य परमात्मावेति संशयो जायते। यत आकाश शब्दः स्वभावत एव भूताकाशस्य समुपस्थापकः। भोगाधिष्ठानशरीरान्तरे विद्यमानत्वात् शरीरस्वामिनो जीवस्योपस्थितिर्जायते. प्रकरणपर्यालोचनया च परमात्मा समुपस्थितो भवति. इति सर्वेषां पूर्वोक्तानामुपस्थापकसद्भावाद्भवति संशयः। स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यत्रोच्चैस्तरत्ववदिति। तत्राकाशपदस्य भूताकाशेऽतिप्रसिद्धत्वात् प्राप्त एव भवति भूताकाशः। अथवा देहात्मकगृहस्वामित्वा-

परमात्मा है। ऐसा संशय होता है। क्योंकि इन दोनों का उपस्थापक वाक्य है। इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि इसमें आकाश शब्द भूताकाश में अत्यन्त प्रसिद्ध—रूढ़ है। इसलिए भूताकाश का ही इस प्रकरण में उपदेश किया गया है। आकाश पद का उच्चारण करने से अति शीघ्रतया भूताकाश ही प्रतीत होता है। इसलिए भूताकाश का ही ग्रहण होता है परमात्मा का नहीं। क्योंकि परमात्मा तो सर्व व्यापक है उसमें सुक्ष्मता किस तरह से हो सकती है। इसलिए प्रकृत में भूताकाश का ही ग्रहण है परमात्मा का नहीं।

इसके उत्तर में कहते हैं "अत्राभिधीयते" इत्यादि इस प्रकरण में दहर पदवाच्य परमात्मा ही है किन्तु भूताकाश अथवा जीव नहीं है। क्योंकि वाक्यशेषगत उत्तर हेतुओं से "अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे" इत्यादि वाक्य के पर्यवसान में जो अजरत्वामरत्व अपहत पाप्मत्वादिक गुण बतलाया गया

त्प्रत्यगात्मैवात्राकाशपदवाच्यो भवति। नतु परमात्मा यतस्तस्य "ज्यायान् दिवोज्यायानाकाशादित्यादिना व्यापकत्वश्रवणेन सूक्ष्मत्वाभावात्, तस्मात्परमात्मनोनात्र ग्रहणं किन्तु भूताकाशस्य जीवस्यैव वा ग्रहणमिति पूर्वपक्षः। अत्राहाचार्यः–"अत्राभिधीयते' इत्यादि सूत्रावयवं विस्फोटयन्नेवोत्तरयति. "उक्त वाक्यगतेभ्यो हेतुभ्यः" इत्यादि [उत्तरेभ्यो वाक्यशेषगतकारणेभ्यो दहरशब्देन परमात्मैव गृहीतो भवति नतु स्वभावप्राप्तोपि भूताकाशो जीवोवेति] येभ्यो हेतुभ्यः परमात्मैव परिगृह्यते नो इतरस्तानेव हेतुन् दर्शयितुमाह "ते च हेतवः" इत्यादि "स ब्रूयाद् यावान्वायमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदयाकाशः" इयं च श्रुतिर्बाह्याकाशान्तराकाशयोरुपमानोपमेय भावं

है। तथा सत्यसङ्कल्पादिक सत्यकामादिक गुण का कथन किया है। इन गुणों का अचेतन अथवा अल्पज्ञ पराधीन जीवों में तो समावेश नहीं हो सकता है। अतः तादृश गुणवत्वान्यथानुपपत्ति से सिद्ध होता है कि दहर पद वाच्य परमात्मा ही है, भूताकाशादिक नहीं। और उत्तर प्रकरण में यह भी कहा है कि "जितना बड़ा यह आकाश है। उतना बड़ा ही अन्तर हृदयाकाश भी है।" इस प्रकार से उपमानोपमेय भाव का भी प्रदर्शन किया है। यह उपमानोपमेय तो एक में हो नहीं सकता है। क्योंकि सादृश्य भेद घटित होता है। यथा "हरिस्तथाहरिः" इस तरह से सादृश्य नहीं होता है। यद्यपि "गगनंगगनाकारं सागरः सागरोपमः। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव॥" इत्यादि स्थल में तो एक में भी सादृश्य-व्यवहार घटित होता है। तथापि यह साहित्यिकों का अनन्यगतिक विषय है। इसलिए आलङ्कारिक लोग एतादृश स्थल में उपमालंकार नहीं मानकरके अनन्वयालंकार मानते हैं। प्रकृत में जब संभावना हैं तब एक में सादृश्य नहीं हो सकेगा इसलिए परमात्मा हो दहर पदवाच्य है। इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं "ते च हेतवो निर्दिश्यन्ते" इति।

दर्शयति. अर्थात् यावत्परिमाणकः प्रसिद्धाकाशस्तावत्परिमाणको हृदय-मध्यगताकाशोऽपि. उपमानोपमेयभावश्च सति भेदे संभवति. एकत्वे-तदभावात्। तथाचोपमानोपमेयभावेन भूताकाशस्यावसरोनिवार्यते। अतएव जीवस्यापिनावसरस्तस्याणुत्वश्रवणेन व्यापकत्वधर्मेणोपमानो-पमेयभावस्यासंभवादिति परिशेषात् परमात्मैव दहराकाशरूपेण परिगृह्यते। अमुमेवार्थं दर्शयति "इत्यत्रोदीर्यमाण" इत्यादि वाक्येन। न केवलमुपमेयभावेनैवभूताकाशजीवयोर्व्यावृत्तिः संग्रहश्च परमात्मनः किन्तु सत्यसंकल्पवत्वादिका अपहतपाप्मत्वादिका ये धर्माः परमात्मनोऽनन्यसाधारणाः प्रकरणे प्रतिपादितास्तेषां समन्वयोऽपि, परमात्म व्यतिरिक्तेऽन्यथानुपपद्यमाना अर्थतोदहरपदवाच्यतां परमात्मान मेवावगमयन्ति। तानेव धर्मान् दर्शयितुमाह "एवं" "एष आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादि। अयं च परमात्मा पापपुण्यादिदोषरहितः

जिन हेतुओं के द्वारा सिद्ध होता है कि परमात्मा ही दहर पदवाच्य हैं। उन हेतुओं का कथन किया जाता है। "स ब्रूयादित्यादि" "वह कहे कि जितना बड़ा यह लोक सिद्ध आकाश है उतना ही बड़ा अन्तर हृदयाकाश भी है।" इत्यादि स्थल में कथित जो उपमानोपमेय भाव है वह दहराकाश तथा भूताकाश की एकता में संभवित नहीं हो सकता है। इसलिए यह दहराकाश भूताकाश से भिन्न है। और वह दहराकाश परमात्मा है। भूताकाश उपमान है, नतु भूताकाश ही परमात्मा है। 'मुखंमुखम्' इस तरह उपमानोपमेय भाव नहीं होता है। किन्तु चन्द्रमुख में भेदहरने पर "चन्द्रवन्मुखम्" इस रूप से उपमानोपमेय भावलोक सिद्ध है। जब तक कोई विशेष न हो तब तक सादृश्य अभेद में होना अनुभव विरूद्ध है।

दहराकाश परमात्मा ही है। इसमें वृत्तिकार युक्त्यन्तर भी बतलाते हैं "एवं स एव आत्मा" इत्यादि। यह आत्मा अपहतपाप्मा है, यहाँ

इत्यारभ्य "सत्य सङ्कल्पः सत्यकामः" इत्यन्ताश्रुतिर्निरूपाधिकान् स्व स्वभावतः प्राप्तान् नतु स्फटिकारोपितकुसुमगुणानिवान्यारोपितान् गुणराशीन् प्रतिपादयन्ती परमात्मैवात्र दहर पदवाच्योनान्य इति कथयति । नहि भूताकाशे चेतनत्वेप्यत्यल्पसामर्थ्यशालिनी जीवेवा समुदाहृतगुणानां कदाचिदपि समावेशसंभावनेति । "विषयवाक्ये" इत्यादि । विषयवाक्ये "अथ यदिदमस्मिन्" इत्यादि । मूलवाक्ये यत् "तदन्वेष्टव्यन्" इति विद्यते. तद्घटकतत् शब्देन दहराकाशस्य परमात्मनः तथा तादृशपरमात्मनिष्ठगुणानां सत्यसङ्कल्प सत्यकामादिक अपहतपाप्मत्वादिकानामनन्यसाधारणानां परामर्शं कृत्वा परमात्मनः परमात्मगुणानां चान्वेषणं कर्त्तव्यमित्यर्थो ज्ञातव्य इति । अत्र प्रकरणे यद्विशेषवक्तव्यं तत्. भाष्यादिसाम्प्रदायिकग्रंथेभ्य एवावलोकनीयमिति स्वयमेववृत्तिकारो विनिर्दिशति "विस्तरस्तु" इत्यादि ।

से लेकर "सत्य संकल्पः सत्यकामः" यह सत्य संङ्कल्पवाला है, सत्यकाम हैं । एतत्पर्यन्त श्रुति निरुपाधिक अर्थात् अनन्य साधारण अप्राकृतिक लोकोत्तर अपहतपाप्मत्व सत्यसङ्कल्प सत्य कामादिक अनेक कल्याण गुण दहराकाश में हैं इस बात का कथन करती है। तो एतादृश श्रुति का कथन तभी उपपन्न हो सकता है जबकि दहरपदवाच्य परमात्मा को मान लिया जाय। अन्यथा श्रुति स्वार्थ से प्रच्युत होकर निरालंबन होती हुई अप्रामाणिक हो जायगी। श्रुतियों का अप्रामाण्य किसी को भी इष्ट नहीं है। अतः विषय वाक्य में आगत जो दहर पद है, वह प्रकरण पर्यालचनसे परमात्मपरक है यह निश्चित होता है। ऐसा हुआ तब "अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे" इत्यादि विषय वाक्य में "तदन्वेष्टव्यम् यह वाक्य । है उसमें तत् शब्द से आकाश को तथा तादृश आकाश के अन्तरवर्ती जो अनन्त कल्याण गुण हैं, उसका परामर्श करके हृदयान्तवर्ती आकाश तथा तन्निष्ठ जो गुण हैं इन दोनों का अन्वेषण तथा उन दोनों की विशेष

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गञ्च ।१।३।१५।

'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढ़ाः' [छा०८।३।२।] इति श्रुतिनिर्दिष्टयाऽहर्दिवं गच्छन्तीनाम्प्रजानां गत्या ब्रह्मलोकशब्देन च दहराकाशपदवाच्यः परमात्मेत्यवगम्यते । तथा हि दृष्टं श्रुत्यन्तरे सुषुप्तिसमये प्रजानामहर्दिवं

आकरजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यकृतश्रीसम्प्रदायसर्वस्वभूतं ब्रह्मसूत्रानन्दभाष्यम् । एतत्प्रकरणीयरहस्यंतत्रावलोकनीयमित्यर्थः ॥१४।

विवरणम्—इतः पूर्वसूत्रे दहरपदवाच्यः परमात्मा कुतः उत्तरेभ्यो हेतुभ्यः. इति कथितम् । तानेवोत्तरहेतून विशेषतो दर्शयितुं प्रकृत सूत्रस्य प्रवृत्तिरिति दर्शयति "इमाः सर्वाः प्रजा" इत्यादि । अमुमेव दहराकाशं परमात्मानं प्रकृत्य श्रुतिः कथयति । तत्र प्रात्यहिकगत्या शब्देन च दहराकाशस्य परमात्मस्वरूपतामेव द्रढ़यति । तथाहि "अस्यै ते सत्याः कामा अनृतापिधातास्तद् यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं नविन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढ़ाः [छा०८।३।२।] [अस्य दहराकाशस्यैते सत्याः कामा सत्यसंकल्पा-

रूपसे जिज्ञासा भी करनी चाहिए यह फलित होता है । इसलिए दहराकाश पद का वाच्य सर्वोपास्य परमात्मा ही है । नतु आपातप्राप्त भूताकाश अथवा जीव यह सिद्ध हुआ । इस विषय पर विशेष विचार आनन्दभाष्य विवरण में देखें ॥१४॥

सारबोधिनी—"दहर उत्तरेभ्यः" इस सूत्र में कहा गया कि दहर पदवाच्य परमात्मा है । क्योंकि वाक्यशेषगत प्रतिपादित हेतु से उन्हीं उत्तर हेतुओं को बतलाने के लिए उसी सूत्र का विस्तार रूप से प्रतिपादन करने के लिये तथा शब्दादी का प्रदर्शन और सुत्र व्याख्यानहेतु उपक्रम करते हैं "ईमाः सर्वा प्रजा ईत्यादि । [ये परिदृश्यमान सर्व प्रजा मनुष्यादि वर्ग

गमनं परमात्मनि भवति । 'एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य नविदुः सति सम्पद्यामह इति" [छा० ६।७।२।] इति । ब्रह्मलोकशब्दोऽपि च तथा परमात्मनि प्रयुक्तो दृष्टः 'ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच' [बृ०४।३।३३।] इति । इदमेव च दहराकाशस्य परमात्मत्वे लिङ्गम् ॥१५॥

दिका. अनृतेन तिरोहितगुणेनाच्छन्नासन्तो नैनं प्राप्ता भवन्ति अकृततपोभिः प्रतिदिनमिमाः प्रजाः सुषुप्तिसमये दहराकाशात्मक परमात्मानं प्राप्यापिनैव जानन्ति यदहं ब्रह्मलोकसंप्राप्तवानस्मीति तदाहुरानन्दभाष्यकाराः-"यतोऽनृततिरोहितापहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टात्मस्वरूपा अत एव ताः प्रजास्तत्समीपं गत्वाऽपि तं न पश्यन्ति" (आनन्दभाष्य १।३।१५) इति ।

कुतः यतस्ते गन्तारः कर्मपराधीनाः कर्मात्मकावरणेनावृतबुद्धयो न जानन्ति दहराख्यं परमात्मान मिति । इयं श्रुतिः प्रतिदिनं प्रजानां दहराकाशात्मकपरमात्मलोके गमनं दर्शयति । ततश्चैतादृश गत्या तथा ब्रह्मलोकशब्देन च दहराकाशस्य परमात्मत्वं प्रसिद्ध्यति । एतामेव श्रुतिमभिलक्ष्य सूत्रकारोऽकथयत् "गतिशब्दाभ्यामिति । "अहरहर्गच्छ-

सुषुप्ति के समय में प्रतिदिन जाकर के परमात्मा को प्राप्त करके भी उस परमात्मा को नहीं समझ पाती कि हम ब्रह्म संपन्न अर्थात्प्राप्त कर गये हैं । क्योंकि यह सब प्रकर्म लक्षणमन से आवृत अन्तः करणवाली है । तो कर्मात्मक प्रतिबन्धक होने से तादृश ज्ञान नहीं होता है।] इस श्रुति में कथित जो प्रात्यहिक गति है तथा 'ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' यह जो ब्रह्मलोक शब्द है उससे सिद्ध होता है कि दहर पद वाच्य परमात्मा है । 'इमाः सर्वा प्रजाः' इत्यादि श्रुतियों से प्रदर्शित जो प्रतिदिन जाती हुई प्रजाओं की गति हैं उससे तथा ब्रह्मलोक शब्द से यह सिद्ध होता है कि दहराकाश पद का वाच्य अर्थ परमात्मा परम पुरूष ही हैं नतु भूताकाशादिक ऐसा अन्य

न्त्यः, इति गत्या तथा "ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति" इत्यादि शब्देन च परमात्मनः परमपुरुषस्यैव दहराकाशपदवाच्यत्वं प्रतिपादयति पूर्वप्रकरणे दहराकाशस्यैव प्रक्रान्तत्वात् । तस्माद्दहराकाशपदवाच्यः परमात्मैव भवति. न भूताकाशस्तस्मिन् गतिशब्दयोरदर्शनादिति । परमात्मनि प्रजानां गमनं भवतीति श्रुत्यन्तरेऽपि प्रतिपादितम् तदेव दर्शयति "तथाहि दृष्टं लिङ्गञ्चे"ति श्रुत्यन्तरे सुषुप्तिकाले प्रजानां गमनं परमात्मनि भवतीति प्रमाणमाह "एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामाहे इति" । [एवमेवं पूर्वोक्तरूपेणैवेहापि हे सोम्य श्वेतकेतो ! इमाः परिदृश्यमानाः जाग्रत् कालिकाः सर्वाः प्रजाः मनुष्याः सुषुप्तौ सति परमात्मनि संपद्य तदेकतां प्राप्यापि नैवं जानन्तियद्वयं सत्यात्मनि संपन्ना इति ।] अनेन प्रकारेणान्यत्रापि सत्संपत्तिं प्रजानामनुशास्ति । तथा ब्रह्मशब्दस्य परमात्मनि प्रयोगो भवतीति जनकयाज्ञवल्क्यसंवादे "ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच" इति प्रकरणे दृश्यते एतच्च प्रकरणं दहराकाशस्य ब्रह्मत्वं परमात्मरूपतायां च लिङ्गं भवति । अनेन क्रमेण गति शब्दाभ्यां सिद्धं भवति. यत् दहराकाशपदवाच्यः परमात्मा भवति. नतु भूताकाशः यतः प्रदर्शितोपपत्तीनां भूताकाशेऽसंभवात्. संभवाच्च परमात्मनीति दिक् ॥१५॥

श्रुति में भी कहा है कि सुषुप्ति के समय में प्रतिदिन प्रजाओं का गमन परमात्मा में होता है । "एवमेव खलु सोम्येमाः" इत्यादि हे सोम्य इसी तरह यह सब प्रजा प्रतिदिन सुषुप्ति काल में सत्परमात्मा में संपन्न होकर के भी नही समझती है कि मै सत में संपन्न हुवाहूँ इत्यादि स्थल में कहा गया है। एवं ब्रह्मलोक शब्द दहराकाशात्मक परमात्मा में भी प्रयुज्यमान होता है हे सम्राट् यह ब्रह्मलोक हैं । ऐसा याज्ञवल्क्य ने जनक को कहा इस बृहदारण्यकीय जनकयाज्ञवल्क्य संवाद से सिद्ध हैं । तो यही सर्वलिङ्ग होता है दहरा

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ।१।३।१६।

श्रुत्यन्तरेऽभिहितस्य 'एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय' [बृ०४।४।२२।] इति धृतिरूपस्यास्य परमात्मनो महिम्नोऽस्मिन्दहराकाशे "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः" [छा० ८।४।१।] इत्युपलब्धेरयं दहराकाशः परमात्मा ॥१६॥

विवरणम्=इतोऽव्यवहितसूत्रेगतिशब्दाभ्यां दहराकाशस्य परमात्म बोधकत्वमेव नतु भूताकाशादिवाचकत्वमिति प्रतिपाद्यातः परंधृत्याख्य कारणेनापि दहराकाशपदवाच्यत्वं परमात्मनः परमपुरुषस्यैवेति दर्शयितुमाह "श्रुत्यन्तरेऽभिहितस्य" 'एषसेतुरित्यादि । 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय" [बृ० ४।४।२२।] [एषः परमात्मा सर्वेश्वरः सर्वेषां मनुष्यादिसर्व देवान्तस्वशरीरैकदेशभूतानामीश्वरः शासको नियमनकर्त्ता न केवलं प्रशाशक एव किन्तु भूताधिपतिः सर्वभूतानामधिपतिरपि तथा एष एव परमात्मा भूतानां सर्वेषां पालको भवति. अयमेव परमात्मा सेतुर्विधारकश्च. एतेषां लोकानां विधारकः असंभेदाय असाङ्कर्यायेति] इत्येवमन्यत्र बृहदारण्यके श्रुतस्यास्य परमात्मनोधृत्याख्यस्य महिम्नोऽस्मिन् दहराकाशे समुपलब्धिर्दृश्यते । अयं च सर्वधारकत्वलक्षणो धर्मो दहराकाशस्य "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानाम

काश को परमात्मारूप होने में अतः सिद्ध होता है कि दहराकाशपदवाच्य परमात्मा हैं ॥१५॥

सारबोधिनी—सुषुप्ति समय में प्रजा ब्रह्मलोक में जाती है इत्याकारक गति तथा 'ब्रह्मलोकं विन्दन्ति' इत्याकारक शब्द द्वारा इससे पूर्वसूत्र में सिद्ध किया गया है कि यहाँ दहर पदवाच्य परमात्मा है किन्तु भूताकाश नहीं। इसके बाद धृत्याद्य हेतु से भी दहर पद परमात्मा वाचक है इस विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए सूत्र का उत्थान करते हुए प्रक्रम

संभेदाय" इत्येवमिहापि दहरप्रकरणे दहराकाशे धृतिलक्षणस्य महिम्नः समुपलब्धिदर्शनात् दहराकाशपदवाच्यः परमात्मैव भवति। अत्र यः आत्मा स एव सेतुः सेतुवत्संसारसागरात्पारकर्ता। अयमेव परमात्मा स्वकीयभक्तानां कृते संसारसागरसंतरणस्योपायरूपः कारणरूपोपि भवति तथा स्वयमेव दहरपदवाच्यः परमात्मा प्राप्तव्योपि भवति। तदाहुराचार्यपादाः प्रकृतश्रुतिव्याख्यानावसरे—

"अथ आत्माऽपहतपाप्मत्वादिगुणकः स सेतुरिव सेतुर्विधृतिर्विधारकः। कथमयमात्मा सेतुर्विधृतिस्तत्राह—एषांलोकानामित्यादि। एषां भूरादिलोकानामसंभेदायासङ्कराय सम्भेदः साङ्कर्यम्। तदत्रायमाशयः—यद्ययं सर्वनियामकः परमात्मा स्वकीयशासनेन भूरादिकं जगन्नधारयेत्तदा सर्वधर्माणां साङ्कर्यमेव भवेत्। ततश्च घटधर्मो घटत्वं पटादिष्वपि समवेयात्। पटधर्मश्च पटत्वं घटादि। एवं वह्निधर्म मौष्ण्यं जलेजलधर्मश्च शैत्यमग्नौ गच्छेत्। ततश्च सर्वापि व्यवस्थोच्छिन्ना स्यादिति व्यवहाराभावः प्रसज्जेत परमात्मनानियन्त्रिता खु सर्वे धर्माः स्वाधिष्ठानं विहायान्यत्रागच्छन्तः सम्पादयन्ति, असंकलतया स्व स्व व्यवहारम्, स्वस्मिन् चिदचिद्वस्तुजातमसंकीर्णं सिनोति वध्नातीति सेतुरिति सेतुपदव्युत्पत्तेः" (आनन्दभाष्यम् ८।४।१) तथैव जगद्गुरु श्रीश्रुतानन्दाचार्या अपि उपेयोपायदर्पणे—"परात्परं पुरुषमुपैतिदिव्य'मिति श्रुतौ। दिव्यो मुक्तजनोपेयो रामो ब्रह्म परात्परम्॥ स्यन्दमाना यथा नद्यो नामरूपे विहाय च। गच्छन्त्यस्तं समुद्रे वै तथा नाम्नश्च रूपतः॥ गङ्गेति व्यपदेशो न गङ्गायाश्च तदा भवेत्। कर्मणा-

करते हैं श्रुत्यन्तर में प्रतिपादित जो धृतिरूप धर्म है। एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेषभूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानाम् संभेदाया [यह परमात्मा सर्वेश्वर सर्व नियन्ता हैं यह परमात्मा भूतों के अधिपति स्वामी हैं। यह परमात्मा प्रत्येक प्राणियों को पालन करने वाले है। तथा यह

पुरुषो मुक्त उपैति पुरुषं परम् ॥" तथा–उपायो भक्तिरेवास्ति रामप्राप्तौ विनिश्चिता । तत्त्वज्ञानं तदङ्गं चोपार्ज्यं सार्धं स्वकर्मणा ॥ धर्मेण चेतसः शुद्धौ भक्तिप्रितिश्च राघवे । रामध्यानं पराभक्तिः प्रत्यक्षसदृशं हि तत् ॥" "त्वमेवोपायभूतो मे" इत्यादयश्च । तथैवाहुः श्री बोधायनापरनामकश्रीपुरुषोत्तमाचार्यवर्याः–"रामदीनोऽनुकूलोऽहं विश्वस्तोऽप्रातिकुल्यवान् । त्वयिन्यस्यामिचात्मानं पाहि मां पुरुषोत्तम ! ॥ मामनाथं स्वशेषं च न्यासितं स्वार्थमेव हि । निर्भरं स्वभरत्वेन पाहि मां पुरुषोत्तम ! ॥" (श्रीपुरुषोत्तमप्रपत्तिषट्के) "रामप्राप्तावुपायश्च राम एवेति" वदन्तः श्रौतप्रमेयचन्द्रिकाकाराजगद्गुरुश्रीश्रियानन्दाचार्या अपि स्मरणीया अस्मिन् प्रसङ्गे ।

सेतुशब्दस्य लौकिकोप्यर्थः संगति भवति । तदुक्तं गीतायामपि "अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते । तेषामहंसमुद्धर्ता-मृत्युसंसारसागरात्" इत्यादि प्रकरणेन स्वस्यैवभक्तैरूपेयत्वमुपायत्वं च प्रदर्शितम् । तदुक्तं श्रीवशिष्ठसंहितायाम्–

"श्रुतावुक्तं 'यमेवैष वृणुते' इति रूपतः ।
तव प्राप्तावुपायस्तद्राम ! त्वं चासिनेतरः ॥
उपायस्तव सम्प्राप्तौ त्वामेव वदति श्रुतिः ।
उपायो भवतात् त्वं मे राम ! वेदनिवेदित ! ॥
त्वद्भिन्नोपायशून्यस्योपायस्त्वं राम ! मे भव ।
नित्यानित्यविभूतीशो मुक्तोपेयश्च मुक्तिकृत् ।
आवृत्तिर्नच यत्प्राप्तौ तथ्योपायो मतोहि सः ।
उपेयश्च तथा भूतो राम ! त्वं भवतान्मम ॥

परमात्मा सेतु है। सबको धारणकरनेवाले हैं ।]इस प्रकार से परमात्मा का धृतिरूप जो महत्त्व है इस दहराकाश में अथ य आत्मासेतुविधृतिः यह जो परमात्मा है वह सेतु है विधारक है इस प्रकार से धृत्यात्मक महत्त्व की उपलब्धि

प्रसिद्धेश्च ।१।३।१७।

'को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो नस्यात्' [तै० २।७।] 'सर्वाणि हवा इमाणि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' [छा०

इत्यादिरूपेण सर्वेश्वर श्रीरामस्तुतिप्रसङ्गे महर्षिवशिष्टविश्वामित्राभ्याम् । तस्माद्धृत्युपलब्धेरत्र दहराकाशपदवाच्यः परमात्मैव भवति, नतु तदन्योभूताकाशादिरिति । अमुमेवार्थं पिण्डीकृत्य वृत्तिकारेण प्रतिपादितम् "श्रुत्यन्तरे" इत्यादिना । तत्र श्रुत्यन्तरे बृहदारण्यकेऽभिहितस्य प्रतिपादितस्य "एष सेतुर्विधरण एषां लोकानां संभेदाय" इत्यादिप्रकरणेन धृतिरुपस्य धारणकर्त्तृत्वाख्यधर्मस्य परमात्मसंबन्धिमहत्वस्य, अस्मिन्दहराकाशे "अथ य आत्मा स विधृतिः" इत्यादावुपलब्धिदर्शनाद् भवति दहराकाशपदवाच्यः परमात्मेति ।

न च यदि दहराकाशपदेन परमात्मनो ग्रहणे दहरत्वमल्पत्वं कथं स्यात् यतो दहरपरिमाणविरुद्धस्य परममहत्परिमाणस्याकाशादिवद्देवपरमात्मनि "ज्यायान अन्तरिक्षादित्यादौ श्रुतत्वादिति वाच्यम्, सर्व समर्थस्य परमात्मनः सर्वप्रकारकपरिमाणवत्वस्याविरोधात् । अथवोपासनार्थं तनुपरिमाणवत्वस्यापि परमात्मनि संभवात् । उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणोरूपकल्पना' इत्यादि श्रुतेरितिदिक् ॥१६॥

विवरणम्=धृत्याख्यपरमात्मनोऽनन्यसाधारणधर्मद्वारा दहराकाशपदवाच्यत्वं परमात्मनि पूर्वसूत्रेण प्रतिपाद्य, सर्वभूतोत्पादकत्वसर्व संस्थापकत्वसर्वभूतलयकर्त्तृत्व अपहतपाप्मत्वादिकानन्यसाधारणधर्म-

होती है । इसलिए दहराकाशपदवाच्य परमात्मा ही है । तदन्य नहीं तथान्यत्र उपेयोपायदर्पण पुरुषोत्तम प्रपत्ति षट्क आदि पूर्वाचार्यों के अनेक प्रबन्धों में भी परमात्मा को भक्त से प्राप्यतथा प्रापकत्व उपाय उपेय का प्रतिपादन किया गया हैं । इस से भी सिद्ध होता है कि दहराकाशपदवाच्य परमात्मा है १६॥

१।९।१।] इत्यादिष्वाकाशपदं परमात्मनि प्रसिद्धम् । प्रकृतेऽपिचा-पहतपाप्मत्वादिपरमात्मासाधारणगुणविशिष्टोऽयं दहराकाशः परमात्मैव ॥१७॥

वैशिष्ट्याद‌पि दहराकाशपदवाच्यत्वं परमात्मन एव संभवति नतु भूताकाशे तत्संभवतीतिप्रदर्शयितुमाचार्य उपक्रमते. परमात्मा साधारणधर्मप्रतिपादकश्रुतिं संगृह्णन् सूत्रव्याख्यानाय 'कोह्येवान्यादित्यादि [को हि प्राणी अनन जीवनक्रियां संपादयेत् को वा प्राणनक्रियां कर्तुं समर्थः स्यात्. यदि कदाचित् एष आकाशः परमात्मा आनन्दस्वरूपो न भवेत्. अर्थात् आकाशपदवाच्यपरमात्मसत्तयैव सर्वेषां भूतानां प्राणादिक्रियासंपादिता भवतीत्यत्राकाशपदवाच्यता परमात्मन्येव प्रसिद्धा । तथा "सर्वाणि हवा इमानि

सारबोधिनी=पूर्वसूत्र में धृतिरूप कारण से परमात्मा ही दहरपदवाच्य है ऐसा बतलाया गया है। प्रसिद्धि रूप हेतु से भी दहरपदवाच्य परमात्मा ही सिद्ध होता हैं । क्योंकि आकाश शब्द परमात्मा में प्रसिद्ध है । "आकाशोवैनामरूपयोर्निर्वहिता" इत्यादि स्थल में परमेश्वर में आकाश शब्द का प्रयोग देखने में आता है। जीव में तो आकाश शब्द का प्रयोग कहीं भी देखने में नहीं आता है । यद्यपि भूताकाश में आकाश शब्द की प्रसिद्धि है, तथापि स्व में स्व का उपमानोपमेय भाव नहीं हो सकता है। इसलिए भूताकाश भी दहरपदवाच्य नहीं है किन्तु परमात्मा ही दहरपदवाच्य है। इस प्रकार से प्रसिद्धि द्वारा भी दहराकाश परमात्मा ही है इस बात को बतलाने के लिए आचार्य प्रक्रम करते हैं "को ह्येवान्यात" इत्यादि । "कौन प्राणी अनन जीवन क्रिया का संपादन कर सकता ? तथा कौन प्राणि प्राणनक्रिया का सम्पादन कर सकता यदि यह आकाश आनन्द स्वरूप नहीं होता" । एवं "सब यह परिदृश्यमान आकाशादिक भूतों आकाश से ही उत्पन्न होते हैं आकाश

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् ।१।३।१८।

प्रकरणेऽस्मिन् 'अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' [छा० ८।३।४।] इति वाक्यशेषे इतरस्य सम्प्रसादशब्दाभिहितस्य जीवस्य परामर्शात्स जीव

भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" यानिमान्याकाशप्रमुखानि भूतानि जड़चेतनात्मकानि तानि सर्वाणि आकाशादेव समुत्पद्यमानानि भवन्ति । इत्याद्यनेकस्थलेषु श्रुतिस्मृत्यादिषु आकाशपदस्य परमात्मनि प्रसिद्धिर्दृश्यते । इहापि प्रकरणे अपहतपाप्मत्वादिगुणो दहराकाशे प्रतिपादितो भवति । ते हि गुणाः परमात्मन एवानन्यसाधारणा इति. अनन्य साधारणपरमात्मगुणानां दहराकाशे प्रतिपादनात् अर्थतः सिद्ध्यति यत् दहराकाशपदवाच्यः परमात्मैव नतु भूताकाशादिस्तस्मिन्नेतेषां परमात्मगुणानां समन्वयस्यासंभवात् । तस्मात्परमात्मैव दहराकाशपदवाच्य इति ॥१७॥

विवरणम्—वाक्यशेषबलेन दहरपदवाच्यत्वं परमेश्वरस्यैव भवति नतु भूताकाशादेरिति पूर्वसन्दर्भेविचारितं, तत्रोच्यते. यदिवाक्यशेषबलेन परमात्मानमुपस्थापयसि तदा तादृशवाक्यशेषबलं तु जीवस्यापि विद्यते एव. तदा दहरपदेन जीवस्यैवोपस्थितिः स एवोपास्यो

में ही समुत्पन्न होकर के अवस्थित रहते हैं, तथा प्रतिसर्ग काल में आकाश में ही प्रलीयमान हो जाते हैं ।" इत्यादि स्थल में आकाशपद परमात्मा में अति प्रसिद्ध है । क्योंकि आकाशादिक भूतों की उत्पत्तिस्थिति तो परमात्मभिन्न से असंभवित है । प्रकृत में भी अपहत पाप्मत्व सर्वधारकत्व अजरत्व अमरत्वादिक अनन्य साधारणानेक कल्याणगुण का वैशिष्ट्य इस दहराकाश में श्रूयमाण है इसलिए दहराकाशपदवाच्य परमात्मा ही हैं जीव अथवा भूताकाश नहीं । अर्थात दहराकाश की परमात्मा में प्रसिद्धि होने से तद्वाच्यपरमात्मा ही है अन्य नहीं ॥१७॥

एव दहराकाशः स्यादिति चेन्न, एतत्प्रकरणगतानां निरूपाधिकापहतपाप्मत्वादिगुणानां प्रत्यगात्मन्यसम्भवान्नायं दहराकाशः ॥१८॥

भवतु । एतादृशी शंकामपनेतुमसंभवाख्य दोषमनुवदितुं चायार्यः सूत्रमुपस्थापयन् प्रक्रमते "प्रकरणेस्मिन्" इत्यादि । अत्र प्रकरणे तादृशी श्रुतिरुपलभ्यते यथा जीव एवोपस्थापितो भवति दहरपदेन नतु परमेश्वर इति । या श्रुतिवाक् जीवस्योपस्थापिका तामेव श्रुतिमक्षरतः पठति "अथ य एषः संप्रसाद" इत्यादि । 'य एष' अत्र एतत्पदेन दहराकाशविषयकज्ञानवानुपासको गृह्यते । स एव सुषुप्ति काले निखिलपापकर्मसम्बन्धस्याभावात् संप्रसन्नो जीव एव संप्रसीदति सुषुप्तिकाले. इति स एव संप्रसादशब्देन विवक्षितो भवति । तादृशो जीवो दहराकाशस्य परमात्मन उपासनया प्रसन्नस्य ब्रह्मणः परमपुरुषस्य प्रसादेन विगतकर्मबन्धनः संप्रसादपदवाच्यो भवति । स एव संप्रसादो जीवविशेषोऽस्मात् पांचभौतिककरणकलेवरात्समुत्थाय पुरीतन्नाड्यातादृशकलेवराद्बहिर्निर्गत्यार्चिरादिपथा ब्रह्मलोकमवाप्य. तत्र परं ज्योतिरुपसंपद्यब्रह्मणः परमपुरुषस्य सामीप्यं

सारबोधिनी—यदि वाक्य शेष बल से दहर इस पद से परमेश्वर का ग्रहण किया जाय तब तो वाक्य शेष बल से संप्रसाद शब्द-वाच्य जीव का भी ग्रहण होना चाहिए दहर पद से । इस शंका का निराकरण करते हुए कहते है कि इस प्रकरण में द्यु पृथिव्यादि सकल जगत् कर्तृत्व सर्व जगदाधारत्वापहतपाप्मत्वादि गुण का कथन किया गया है जो कि स्वभावतः परमेश्वर मात्र में ही रहनेवाले हैं । तो उन अनन्य साधारण गुणों का समन्वय की संभावना तो जीव में नहीं हो सकती है । अतः दहर पद वाच्य परमात्मा ही है जीव नहीं । इस विषय को बतलाने के लिए प्रकरण का उत्थान करते हैं "प्रकरणेस्मिन्नि" त्यादि । इस प्रकरण में "जो यह संप्रसाद

संप्राप्य परमात्मप्रसादेन स्वेन रूपेण. स्वाभाविकापहतपाप्मत्वादि गुणविशिष्टसच्चिदानन्दस्वरूपेणाभिनिष्पद्यते । अभितः सर्व प्रकारेण निष्पन्नो भवतीति ॥ एतादृशोदीरितश्रुतिवाक्यस्य शेषे इतरस्य परमात्मभिन्नस्य जीवस्य संप्रसादशब्दप्रतिपादितस्य परामर्शात् संग्रहसंभवेन तादृशजीव एव दहरपदवाच्यो भवति । परमात्मनः संग्राहको यथावाक्यशेषस्तथैव जीवस्यापि । अतः वाक्यशेषो जीवमेव दहरपदेन ज्ञापयति तत्कथमुच्यते वाक्यशेषात्परमात्मैव ग्राह्यो भवतीति पूर्वपक्षाशयः ।

तमिममाक्षेपं परिहर्तुमाह "एतत्प्रकरणगताना" मित्यादि । अस्मिन् प्रकरणे श्रूयमाणानां स्वाभाविकानामपहतपाप्मत्व द्युप्रभृतिकसर्वजगदाधारत्वादि अनन्यसाधारणपारमेश्वरधर्माणां कर्ममलावृते प्रत्यगात्मन्यसंभवान्नायं जीवो दहरपदवाच्योऽपितुपरमात्मैव । अयं भावः यद्यपि जीवश्चेतनस्तथापि समुपास्य परमात्मगतान्यविलक्षणानां धर्माणां प्रकरणप्रतिपादितानां समुपासके जीवे सर्वथैव समन्वयाभावात परमात्मनि च स्वभावत एव समन्वयसंभवात्परमात्मैव दहरवाच्यो

जीव. इस शरीर से पाञ्च भौतिककरणकलेवर समुदाय से उठकर निकलकर परमज्योति ब्रह्मलोक को प्राप्त करके परमेश्वर की कृपा से स्वकीय रूप सच्चिदानन्दादि अभिनिष्पन्न होता है" । इस वाक्यशेष में परमात्मा से भिन्न संप्रसाद शब्द प्रतिपादित जीव का कथन होने से वह जीव ही दहर पदवाच्य है । उत्तर—इस प्रकरण में कथित जो निरुपाधिक स्वाभाविक. परमेश्वर मात्रवृत्ति अनन्य साधारण सर्वाधारत्व सर्वसर्जकत्व अपहत पाप्मत्वादि गुण प्रतिपादित हैं उन गुणों की संभावना कर्ममलावृत जीव में सर्वथैव असंभवित हैं । अतः तादृश गुणों के असंभव होने से दहर पदवाच्य जीव नहीं किन्तु परमात्मा ही है यह सिद्ध होता है । विशेष भाष्य विवरण में देखें ॥१।३।१८॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ।१।३।१९।

अत्राशङ्क्य समाधत्ते "य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकः" प्रजापतेरित्याद्युत्तरवाक्यादपहतपाप्मत्वादिधर्मकत्वं प्रत्यगात्मनोऽपि सम्भवान्नासम्भव इति चेन्न मोक्षावस्थस्याविर्भूतस्वरूपस्य प्रत्यगात्मनोऽत्र प्रतिपादितत्वात् । अयमाशयः । अनाद्यविद्यातिरोहि-

---

भवति नतु जीवः कुत्र चिद्वाक्यशेषबलप्राप्तोऽपि दहरपदवाच्यो भवतीति निष्कर्षः तदाहुराचार्याः "अतोऽपि सर्वजगद्धारको दहराकाशः परमात्मैव" (आनन्दभाष्यम् १।३।१८) ॥१८॥

विवरणम्="एष संप्रसादोऽस्मात् शरीरात् समुत्थाय" इत्यादि । प्रकरणेन जीवस्य परामर्शदर्शनेन. तस्यैव अपहतपाप्मत्वादिगुण संभवात् दहराकाशपदेन ग्रहणं स्यादित्याशङ्क्य असंभवादिति हेतुना जीवस्य निराकरणं पूर्वसूत्रे कृतम् । परन्तु पुनराशङ्क्यते यत् उत्तर प्रजापतिवाक्ये तु परमेश्वरधर्माणां जीवेऽपि कथनदर्शनात्

सारबोधिनी–"य एषः संप्रसदा" इत्यादि वाक्य शेष में जीव का परामर्श होने से जीव ही दहराकाश पदवाच्य है इस आशंका को असंभव हेतु से निराकरण किया गया इसके पूर्वसूत्र में । परन्तु वह ठीक नहीं है क्योंकि "य आत्माऽपहतपाप्माविजर" इत्यादि प्रजापति के वाक्य शेष में जीव का प्रतिपादन होने से अपहतपाप्मत्वादि धर्म की संभावना तो जीव में भी हो सकती है । एतादृश शंकाके निराकरण करने के लिए सूत्रोत्थान करते हुए प्रक्रम करते हैं "आत्राशङ्क्य समाधत्ते" इत्यादि । य आत्मा [जो आत्मा अपहत पापवाला है जरा रहित है तथा सर्वशोक रहित है इत्यादि प्रजापति का उत्तर वाक्य है तादृश वाक्य से अपहतपाप्मकत्वादि धर्मवत्ता तो प्रत्यगात्मा जीव में भी संभवति है । तब अपहतपाप्मत्वादि धर्म जीव में असंभव है यह किस तरह से कह रहें हैं । अतः जीव भी दहराकाश पदवाच्य हो सकता है यह अर्थ सूत्र घटक "उत्तराच्चेत्" पद का

तस्वरूपस्य संसारावस्थस्य जीवस्य परमपुरुषानुध्यानेनोच्छिन्नाविद्यस्य तस्यैव स्वस्वरूपाविर्भावो भवति। एवञ्चायं जीवः प्राक्तिरोहितापहतपाप्मादिरेव मुक्त्यवस्थायामतिरोहितापहतपाप्मत्वादिरूप-

---

जीवेपि ते धर्माः संभवन्तीति दहराकाशपदेन जीवस्य ग्रहणं संभवति तदा कथं तस्यनिराकरणमिति पुनः शङ्कां कृत्वा यो यं पारमेश्वर धर्मों जीवे श्रूयते सतुमुक्ते नतु सर्वसाधारणकर्ममलावृतजीवे। अतो दहराकाशपदेन सर्वसाधरणजीवानां ग्रहणं न संभवतीति-सिद्धान्तं मनसि कृत्वा कथयति "अत्राशङ्क्य समाधत्ते" इत्यादि। एतदेवोपपादयति "य आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादि। [यः खलु आत्मा सर्वपापरहितो जराविरहितो मृत्युधर्मरहितः सर्वशोकरहितश्च] इत्यादि उत्तर प्रजापतिवाक्येनापहतपाप्मकत्वादिपारमेश्वर धर्मवत्वं प्रत्यगात्मनो जीवस्यापि संभवात् कथमसंभवादिति हेतुना दहराकाशपदवाच्यत्वाभाव उच्यते इति चेत्। तत्रोत्तरम्–"आविर्भूत स्वरूपस्तु" अत्र सूत्रे तु शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति। यदत्र होता है। अर्थात् एतादृश पूर्वपक्ष हुआ। इसके उत्तर में सूत्रकार कहते है "आविर्भूत स्वरूपस्तु"तु शब्द पूर्वपक्ष का निराकरण परक है। अर्थात् प्रजापति का उत्तर वाक्य मोक्षावस्थ जीवस्वरूप का प्रतिपादनपरक है। जब जीव का स्वकीय स्वरूप आविर्भूत होता हैं मोक्षा वस्था में तब वह जीव अपहत पाप्मा होता है संसारावस्था में नहीं। इसी विषय का स्पष्टीकरण करते हैं प्रजापति के उत्तर वाक्य में जो जीव का कथन है। उसका मतलब यह है कि आविर्भूत है स्वरुप जिसका एतादृश मोक्षावस्थ] जो जीव उसी का यहाँ प्रजापति के उत्तर वाक्य में प्रतिपादन हैं। किन्तु कर्ममलावृत सांसारिक जीव का नहीं इसलिए सांसारिक जीव को लक्षित करके असंभव दोष से दहराकाशपदवाच्य का निराकरण किया गया है। जीव संसार काल में अपहत पाप्मत्व नहीं है और मोक्ष में आविर्भूत स्व स्वरूप होता

भाग्भवति । इति निरुपाधिकसार्वदिकापहतपाप्मत्वादिधर्मसम्बन्धो नास्य घटते । दहराकाशस्य तु तादृशधर्मसम्बन्धोऽभिधीयत इति न दहराकाशो जीवः ॥१९॥

जीवेऽ पहतपाप्मत्वादिपारमेश्वरधर्माणां कथनं न तत् सामान्यतो जीवमपेक्ष्य किन्तु परमेश्वरोपासनया विमुक्तसांसारिकबन्धनमुक्त जीवमपेक्ष्य प्रतिपादनम् । कर्मबन्धनबद्धजीवेतु तादृशधर्माणां सर्वथा अभाव एव । एतदाशयेनैवाचार्यः पूर्वसूत्रेऽसंभवदोषमवोचत् । मुक्त-जीवेऽपि सर्वे पारमेश्वरधर्मा न संभवन्ति । यतो जगद्-व्यायापारवर्जनादिति सूत्रे तथा दर्शयिष्यति । अतः प्रजापति वाक्यस्य प्रकारान्तरेणापि समन्वयसंभवात्, दहराकाशपदवाच्यत्वं स्वभावतो न साधारणजोवस्य किन्तु मुक्तजीवमभिलक्ष्यैव प्रजापति वचनमिति सैद्धान्तिकी स्थितिः। एतदेवविस्पष्टरूपेण वृत्तिकारः प्रदर्शयति "मोक्षावस्थस्येत्यादि । प्रजापतिवाक्ये यज्जीवप्रतिपादनं न तत्सर्वसाधारणजोवाभिप्रायेणापितु परमेश्वरोपासनयाऽविर्भूतस्व हैं अतः तदभिप्रायक प्रजापति का वाक्य है इसबिषय का स्पष्टीकरण करते हुए वेदान्त रहस्य को बतलाने के लिए कहते हैं अयमाशयः प्रजापति के उत्तरवाक्य प्रकरण का यह आशय है । इत्यादि । तथाहि अनादि जो अविद्या अर्थात् पूर्वपूर्वतराशुभ कर्मजाल तादृश कर्मजाल से आवृत है स्वकीय स्वरूप जिसका यहाँ अविद्या शब्द का अर्थ है अनादि कालिक कर्म समुदाय । नतु अनादि अनिर्वचनीय ज्ञाननिरस्य भावात्मक अज्ञान विशेष परमत सिद्ध वस्तु विशेष क्योंकि एतादृश अज्ञान विशेष अविद्या में कोई ऐसा प्रमाण भो नहीं कि जिस से वह सिद्ध हो सके तथा पूर्व पूर्वतर श्रीसंप्रदाय के आचार्यों को अभिमत भी नहीं है । एतादृश संसारावस्थ जीव को परम पुरुष भगवान् श्रीराम जी के आराधना करने से अविद्या नष्ट हो गई हो तादृश भाग्यशाली जीव को ही स्वस्वरूप का आविर्भाव

स्वरूपस्य मुक्तावस्थस्य जीवविशेषस्यैव तत्र प्रतिपादनात् । अत्र समस्त प्रकरणस्याभिप्रायं साररूपेण दर्शयितुमाहाचार्यः "अयमाशयः" इति वृत्तिः । अनादिकालिकी. पूर्वपूर्वतराद्यनेकभवोपार्जितकर्म संबन्धेन तिरस्कृतस्वकीयासाधारणधर्मकस्य हीनामध्यमोत्तमसंसारासक्तस्य जीवस्य प्रत्यगात्मनः प्राक्तनशुभकर्मोदयादाराधितपरमपुरुष प्रसादेन विनाशितदुरितकर्मजालस्य तथाविधजीवस्य परमपुरुष प्रसादेनैव स्वकीयवास्तविकस्वरूपस्याविर्भावो जायते निष्पीडनेन-तिलेषुतैलवदिति । ततश्च स जीवः पूर्वं यद्यपि तिरोहितापहतपाप्मा, तथापि मोक्षावस्थायामतिरोहितोपहतपाप्मस्वरूपं निघृष्टादर्शे निर्मलप्रतिबिंबवत् प्राप्नोति । कारणवशात् तिरोहितस्वरूपोऽपि परमेश्वराराधनेन पुनः स्वस्वरूपं प्राप्नोति । अतो जीवस्य निरूपाधिकापहतपाप्मत्वादिधर्मैः संबन्धो न भवति । एतस्मादेव कारणात सर्व साधारणतया जीवो दहरपदवाच्यो न भवति किन्तु स्वभावतोविगत

होता है तब पहले यद्यपि तिरोहित अपहत पाप्मादि गुणवाला था तथापि मोक्षावस्था में अतिरोहित अपहत पाप्मत्वादि स्वरूपता हो जाता है। इसलिए निरुपाधिक सार्वकालिक जो अपहतपाप्मत्वादिक गुण तादृश निरु-पाधिक धर्म का संबन्ध जोव को घटित नहीं होता है और दहरकाश में तो निरुपाधिक तादृश अपहत पाप्मत्वादिक धर्म का कथन किया गया है। इसलिए दहराकाशपदवाच्य जीव नहीं है। किन्तु दहराकाशपदवाच्य परमात्मा ही है। यह वृत्त्यक्षर का अनुवाद है। यहाँ का अभिप्राय यह है कि यद्यपि जीव में अवस्था विशेष में तो अपहत पाप्मत्वादि गुण विधेय रूप से है परन्तु जोवत्वावच्छेदेन नहीं है। संसारावस्था में जोवत्व है। तादृश धर्म नहीं है और बाधक कोई नहीं हो तो उद्देश्यतावच्छेदक व्यापकता विधेय में होता है ऐसा नियम है। अन्यथा जब लक्षण द्वारा लक्ष्य का इतर भेदानुमान करेंगे तो उस अनुमान में भागासिद्ध हो जाता

अन्यार्थश्च परामर्शः ।१।३।२०।

दहरविद्यायां "अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय" [छा० ८।३।४।] इत्यादिना जीवपरामर्शस्तु दहराकाशपदवाच्यपर-

---

मलोऽति स्वच्छः परमात्मैव दहराकाशपदवाच्यो भवति। मुक्तजीवेऽपि सर्वे परमेश्वरगुणानागच्छन्ति, किन्तु संभावितानामल्पीयसामेव गुणानां मुक्तौ प्रादुर्भावस्य शास्त्रे प्रतिपादनात्। जगद्व्यापारवर्जमिति सूत्रे तद्वृत्तिभाष्यादौ तथैव दर्शनाच्च तथा च श्रीबोधायनवृत्तिकाराः श्रीपुरुषोत्तमाचार्याः "जगद्व्यापरवर्जं समानो ज्योतिषा" (बो.वृत्तिः) इति ॥१९॥

विवरणम्== ननु यदि प्रकृत प्रकरणे परमात्मन एव ग्रहणं भवति. तदा दहरवाक्यसेषे "अथ य एष संप्रसादः" इत्यादिना यो जीवस्य परामर्शः कृतः तथा प्रजापति वाक्ये 'एष सम्प्रसादः' इत्यादिना च यो जीवस्य परामर्शः कृतः सर्वथा निरर्थक एवस्यादित्याशङ्क्य. अन्यार्थो यं जीवपरामर्शो नतु जीवस्य परामर्शकः किंतु परमात्मनः स्वरूपस्यैव बोधकः। यतः संप्रसादशब्दप्रतिपादितो जीवात्मा जागरिताद्यवस्थायां करणकलेवरादीनामध्यक्षो भूत्वा जाग्रत्कालिक वा-

है। तो यहां जीवत्व सामानाधिकरण्य को लेकर के यत् किंचित् मुक्तावस्थ में तादृशवत्ता को लेकर के पूर्वपक्षी का पूर्वपक्ष हुआ था। उत्तरवादी ने उद्देश्यतावच्छेदैक व्यापकता तो विधेय में होता है। इस नियम को ध्यान में रख करके उतर दिया कि जीवत्व धर्म तो सांसारिक जीव में है उसमें तादृश धर्म नहीं है। इस विषय पर विशेष विचार अन्यत्र होगा ॥१९॥

सारबोधिनी—यदि आप दहरपद वाच्यता परमेश्वर में ही मानते हैं तब वह दहराकाश वाक्य में जो "अथ य एष संप्रसादः" जो यह कर्मफल भोक्ता संप्रसाद जीव जाग्रत कालिक शरीर से समुत्थित होकर के परमज्योति परमात्मा को प्राप्त करके स्वरूप से अभिसंपन्न होता है।

मात्मन उपासनेन तदुपसम्पत्त्या परमात्मनोऽपहतपाप्मत्वादिकल्याण-गुणवन्मुक्तात्मनोऽपि 'अपहतपाप्मत्वादिगुणवत्तयास्वरूपाविर्भावो भव-तीत्येतदुपदेशार्थैवेति ॥२०॥

सना निर्मितान् पदार्थान् स्वप्नतोऽनुभवं कुर्वन्. अत्यर्थं श्रान्तः सन् श्रमापनुत्तये शरणमन्विष्यमाण उपरुपाच्छरीराभिमानात्समुत्थाय सुषुप्तिसमये परमज्योतिः शब्दशब्दितं परमात्मानमुपसंपद्य जाग्रत्कालिकं सर्वाभिमानं परित्यज्य स्वकीयेन पारमार्थिकस्वरूपेण निष्पन्नो भवति । ततश्च यत् परमज्योतिरस्य जीवस्योपसंपत्तव्यं येन च स्वरूपेणायं जीवोभिनिष्पद्यमानो भवति. स एव परमात्मा अपहतपाप्मत्वादिविविधकल्याणगुणको जीवेन समुपासनीयः । एतदर्थमेव दहरवाक्यशेषे प्रजापत्तिवाक्ये च जीवस्य परामर्शः कृतोऽतो न तस्य वैयर्थ्यं शङ्कनीयमिति कथयन्ति परमेश्वरवादिनः । एतत्सर्वं मनसि कृत्वा प्राह "दहरविद्यायामित्यादि" दह-

एतादृशार्थक वाक्य में जीव का परामर्श है । वह तथा प्रजापति वाक्य में जो जीव का प्रस्ताव है वह और मोक्षावस्था में जो आविर्भूत स्वरूप का उपदेश किया गया है ये सब तो निरर्थक होता हुआ श्रुति में भी अविश्वास का उत्पादक हो जाता है, तो इनकी क्या गति होगी ? यदि दहराकाश से परमात्मा का ग्रहण करते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा कि यह जीव का उपदेश जीव परामर्शपरक नहीं है, किन्तु जिसके उपासना करने से जीव एतादृश गुण विशिष्ट होकर परमात्मा को प्राप्त करता है । तादृश अनन्त कल्याण गुण विशिष्ट परमात्मा का बोधक है । जिस परमात्मा की कृपा से हीनदीन जीव भी एतादृश गुणक होता है, एतादृश अभिप्राय को लेकर प्रकरणार्थ का उपपादन करने के लिए सूत्र का उत्थान करते हुए कहते हैं "दहरविद्यायामि" त्यादि । दहर विद्या के प्रकरण में "अथ य एष

रविद्या प्रकरणे "अथ य एष संप्रसादः" [य एष शुभाशुभकर्म-फलभोक्तासंप्रसादो जीवः परिदृश्यमान शरीरात्कलेवरान् समुत्थाय शरीरात् गताभिमानः सुषुप्त्युन्मुखः सुषुप्तिकाले उपसंपद्य परमात्मानमुपसंध स्वकीयपारमार्थिकरूपेण सम्पन्नो भवतीति ।] इति वाक्ये शरीरसंबन्धेन जीवः सूचितो भवति तथा प्रजापति वाक्ये-ऽपि "एष संप्रसादः" इत्यादिना स एव जीवः समुपस्थापितो भवतीत्यादि वाक्यानां गतिः का परमेश्वरपरिग्रहे । तदत्र योऽयं जीवस्य परामर्शः स न जीवाभिप्रायेण किंतु दहराकाशपदवाच्यपरमात्मनः समुपासनेन परमेश्वरस्वरूपसंप्राप्त्या यथा परमात्मनि कल्याणगुणाः अपहतपाप्मत्वादिकाः सन्ति तद्वदेव परमेश्वरमुपसम्पन्नस्य मुक्तजीवस्या-ऽपितेऽलौकिकागुणा भवन्ति, इति तादृश गुणवत्त्वेन तस्याऽपि स्व स्वरूपाविर्भावो भवतीत्येतदुपदेशपरत्वेनैव जीवस्योभयत्र परामर्शः संप्रसादः" जो यह संप्रसाद जीव इस शरीर से समुत्थित होकर के परम ज्योति को प्राप्त करता है । इत्यादि वाक्य में तथा प्रजापति वाक्य में जो जीव का कथन किया गया है, वह दहराकाशपद से वाच्य जो परमात्मा जिस परमात्मा के उपासना करने से परमात्मा को प्राप्ति हो जाने से, परमात्मा में जिस तरह अपहत पाप्मत्वादि अनन्त कल्याण गुण हैं, उसी तरह से निर्गत है जन्मजरादिक जिसमें एतादृश मुक्तिदशापन्न जीवात्मा को भी अपहत पाप्मकत्वादि धर्माधिकरणता रूप से स्वरूप का आविर्भाव हो जाता है । इस बात का उपदेश करने के लिए दहरवाक्य तथा प्रजापति वाक्य में जीव का कथन सार्थक होता है । वे सब वाक्य अप्रामाणिक नहीं होते हैं । यद्यपि जीवमात्र "ममैवांशोजीवलोके" इत्यादि स्मृति तथा, अंशोनानाव्यपदेशादित्यादि सूत्र से भगवान् का अंश है । भगवान् अंशी है । तथापि जीव कर्ममल से आवृत रहता है । इलिए जीव में विलक्षण इन गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ।१।३।२१।

नन्वेवमप्यल्पश्रुतिर्दहरविद्यायां "दहरोऽस्मिन" इत्यादिनोक्ताणुपरिमाणके जीव एव सङ्गच्छत इति चेन्न । अत्र विषये "अर्भकौकस्त्वा" [ब्र० सू० १।२।७।] दिति सूत्रे परमात्मनोऽप्युपासनार्थमल्पपरिमाणकत्वं सम्भवतीत्युक्त समाधानमिहापि परिज्ञेयम् ॥२१॥

कुत इति तदाहुराचार्याः "तदेवं दहरप्रजापतिवाक्ययोः कृतानां जीवपरामर्श स्वरूपोपदेशतद्व्यवहारोपदेशानामन्यार्थत्वेनापक्षीणत्वे न दहराकाशस्वरूपसमर्पकत्वमिति दहराकाशः परमात्मैव" (आनन्दभाष्यम् १।३।२०) इति ॥२०॥

विवरणम्— ननु प्रकृते दहराकाशपदेन यदि परमात्मन एव ग्रहणं भवति. तदा "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश" इत्यादि श्रुत्याल्प परिमाणवत्वं श्राव्यते । न चाल्पपरिमाणवत्वं परमात्मनि सम्भवति "ज्यायान् पृथिव्या" इत्यादिना परमात्मनो व्यापकश्रवणात् है और जब वही जीव भक्ति प्रपत्ति द्वारा संसार प्रयोजक कर्ममल को सर्वतः परित्याग करके मुक्त होकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी का दिव्य श्रीसाकेत धाम को प्राप्त कर जाता है तब उसमें निर्दिष्ट कल्याण गुण उपास्य के अनुकंपा से प्राप्त हो जाते हैं । एतदभिप्रायक प्रजापति वाक्य है । ॥२०॥

सारबोधिनी—दहराकाश पद से परमेश्वर का ही ग्रहण होता है जीव का नहीं । ऐसा "अन्यार्थश्चपरामर्शः" एतत्सूत्र पर्यन्त सूत्रों से विचार किया गया है । क्योंकि परमेश्वर के अनुकूल हो प्रकरण तथा वाक्य हैं । परन्तु, "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश" इत्यादि श्रुति से तो अल्प परिमाण तथा हृदयान्तर्गतत्व का उपदेश किया है । तो अल्प परिमाणवत्ता तथा हृदयादि परिच्छेदतो सर्वव्यापक सर्वानवच्छिन्न परमेश्वर में तो घट नहीं सकता है किन्तु स्वभावतः अणु परिमाणक जीव में ही संभवित है । इसलिए अल्प परिमाण से

इह च श्रूयमाणमल्पपरिमणवत्वं स्वभावतोऽणुपरिमाणकस्य जीवस्यैव संभवतीति परिशेषाज्जीव एव दहराकाशपदवाच्यो भवति नतु परमात्मेति चेन्न. उपासनार्थं परमात्मनोप्यल्पपरिमाणवत्वस्वीकारेऽप्यदोषात् "उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप कल्पना" इति श्रुत्युक्तेः। इहापि स्वल्पपरिमाणवत्वेन परमात्मन एव ग्रहणं नतु जीवस्येति दर्शयितुमाहाचार्यः 'नन्वेवमप्यल्पश्रुति" रित्यादि । अन्यार्थश्च परामर्श इतत्पर्यन्तप्रकरणेन परमात्मन एव दहरपदवाच्यत्वस्य निश्चयेऽपि "दहरोस्मिन्नन्तराकाशः" इत्यत्राल्पपरिमाणवत्वं हृदयपरिछिन्नत्वं च ज्ञायते तत्तु स्वल्पपरिमाणके जीवे एव संभवति नतु परमेश्वरे

जीवकाही ग्रहण करना चाहिए परमेश्वर का नहीं। इस शङ्का का समाधान करने के लिए आचार्य प्रक्रम करते हैं "नन्वेमपि"त्यादि दहर विद्या में "दहरोस्मिन्नन्तराकाशः" इस हृदय के मध्य में अल्प परिमाणवाला आकाश है एतादृश है तो उससे दहराकाश में स्वल्पपरिमाणवत्व तथा हृदयादि प्रदेश परिच्छिनत्व का प्रतिपादन किया गया है। यह अल्प परिमाणवत्व तो परमात्मा में कथमपि संभव नहीं है। परमात्मा तो सर्वथा व्यापक तथा सर्वपरिच्छेद रहित हैं। एतादृश विशेषण द्वय से तो जीव की ही उपस्थिति होती है। क्योंकि जीवतो "एषोणुरात्माचेतसावेदितव्यः" बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः" इत्यादि श्रुति से अल्प परिमाण-वाला है और युक्ति से भी सिद्ध होता है कि जीव अणुपरिमाणवाला ही है। अतः इस प्रकरण में जीव का ही ग्रहण होता है परमात्मा का नहीं। इसके उत्तर में वृत्तिकार कहते हैं "अत्र विषये" इत्यादि। इस विशय में "अर्भकौकस्त्वात्" इत्यादि सूत्र में जो समाधान किया गया है उसी समाधान का अनुसंधान यहाँ भी करना चाहिए। अर्थात् भगवान् स्वभावतः परम-व्यापक हैं परन्तु भक्त के उपर अनुग्रह करने के लिए हृदयादि प्रदेश में भी

अनुकृतेस्तस्य च ।१।३।२२।

अनुकृतिरनुकरणं तत्साम्यमितियावत्तस्य दहराकाशपदवाच्यस्य परमात्मनोऽस्मिन् जीव उपदिश्यते । इत्यनुकार्यस्य परमात्मनोऽनुकर्त्ता जीवोऽभिन्न एवेति निश्चीयते । आविर्भूतगुणाष्टकस्यास्य

संभवतीति चेन्न परमेश्वरेऽपि स्वल्पपरिमाणवत्वसंभवात् । 'अर्भकौकस्त्वा'' दिति सूत्रे. उपासनार्थं परमेश्वरस्यापितत्त्वं सम्भवतीति प्रतिपादनादिति वृत्तेर्मुकुलितोर्थः । अयंभावः सर्वतंत्र स्वतन्त्रे भगवति परमेश्वरेऽचिन्त्यरचनाशक्तिमति तस्मिन् सर्वमपि सम्भवति तदा कथैवका स्वल्पपरिमाणवत्वस्येति । 'अणोरणीयान् महतोमहियान्'' इत्यादि श्रुत्युक्तेः ॥२१॥

विवरणम्—अनुकृतिशब्दस्यार्थो भवति अनुकरणम् । यथा शिक्षिकानर्तकी नृत्ये यादृशं गात्रे विक्षेपादिकं करोति तत्समानजातीयं गात्रविक्षेपादिकं कुर्वाणाशिक्ष्यमाणा नर्त्तकीगात्रविक्षेपादिकं कुर्वन्ती तामनुकरोतीत्यनुकार्यानुकर्त्रोर्भेदः सुस्पष्ट एव । एवं च प्रकृते मुक्तोजीव आविर्भूतगुणाकष्टः स्वेच्छाविहरणादिना

अभिव्यक्त होते हैं । जैसे शालीग्रामादि शिला में । अतः उपासना के लिए अल्पपरिमाणवत्व तथा देशपरिच्छेदवत्व भी परमेश्वर में संभवित है श्रुति भी कहती है "अणोरणोयानूमहतो महियान्'' इत्यादि "दैवी ह्येषा गुणमयी मम मायादुरत्यया'' इत्यादि स्मृत्यादि से भी सिद्ध होता है कि माया पर्याय स्व अनन्या शक्ति से भगवान् सब प्रकार के हो जाते हैं । अतः अल्प परिमाणवत्व परमेश्वर में संभवित होने से प्रकृत स्थल में दहराकाश पदवाच्य परमात्मा ही है ॥२१॥

सारबोधिनी— दहराकाश पदवाच्य परमात्मा हैं भूताकाश अथवा जीव दहराकाश पदवाच्य नहीं । इस बात को "दहरोत्तरेभ्यः'' इस सूत्र से लेकर के "अल्पश्रुतेरिति'' इत्यादि सूत्र पर्यन्त प्रकरण से निश्चित किया गया

मुक्तजीवस्य स्वच्छन्दविहरणादिकं परमात्मनोऽनुकरणं श्रूयते । तच्च ब्रह्मसाम्यं बोधयद्दहराकाशाद्ब्रह्मणोऽस्य भिन्नत्वमुपस्थापयति ॥२२॥

परमेश्वरानुकरणं कुर्वन् यथेच्छं विहरतीति परमेश्वरजीवयोः परस्परं भेदः सिद्ध इत्यनुकार्यानुकरणभावात् परमेश्वर एव दहराकाशपदवाच्यो नतु जीव इति दर्शयितुं प्रक्रमते "अनुकृतिरनुकरण" मित्यादि अनुकरोतित्यनुकरणं साम्यं सादृश्यमिति यावत् । अत्र दहराकाशप्रकरणे दहराकाशपदज्ञाप्यस्य परमपुरुषस्य सादृश्यं जीवे उपदिश्यते 'स यथा कामचारोभवती' त्यादिश्रुतिभिः । तत्र साम्यं सादृश्यं संबन्धस्तस्यैकः प्रतियोगो विशेषणम्. एकश्चानुयोगी विशेष्यम् । यथा चन्द्रवन्मुखमित्यत्र सादृश्यप्रतियोगी चन्द्रमा अनुयोगी च मुखं भवति । ततश्च चन्द्रप्रतियोगिकसादृश्यानुयोगिमुखमिति प्रतीतिर्जायते. तद्वत्

है । इसके बाद अनुकरणरूप हेतु से भी जीव तथा दहराकाश पदवाच्य परमात्मा में भेद को सिद्ध करने के लिए जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी प्रक्रम करते हैं "अनुकृतिरनुकरण" मित्यादि । अनुकृति शब्द का अर्थ होता है अनुकरण तत्समता अर्थात् शादृश जीवात्मा तथा दहरपदवाच्य परमात्मा का सादृश्य कहा गया है । जिस तरह परमात्मा स्वेच्छयाविहरणादिक कार्य करते हैं उसी प्रकार से मुक्तावस्थ जीव में भी स्वेच्छा विहरणादिक होता है । इस प्रकार से जो सादृश्य कहा गया है वह तो दहरपदवाच्य परमात्मा से जीव को भिन्न मानें तब ही हो सकता है यथा चन्द्रवन्मुखं में सादृश्य प्रतियोगी चन्द्रमा तथा सादृश्यानुयोगी मुख को परस्पर भेद रहने पर ही होता है । इसलिए अनुकार्य अर्थात् सादृश्य प्रतियोगी जो दहरपदवाच्य परमात्मा तथा अनुकर्त्ता अनुकरण करने वाला अर्थात् सादृश्य के अनुयोगी जीव में परस्पर भेद है यह निश्चित होता है । और अनुकार्य अनुकर्तृभाव का उपदेश शास्त्र में श्रूयमाण है, इस बात को श्रीवेदान्तजी बतलाते हैं "आविर्भूत गुणाष्टकस्य " इत्यादि

परमात्मनः सदृशमिहापि जीवे कथ्यते इति परमात्मप्रतियोगिक-साद्दश्यानुयोगीजीव इत्याकारको बोधः। साद्दश्यस्य भिन्ने एव वस्तुनि प्रक्रमदर्शनान्मुखचन्द्रवत् । तथा प्रकृतेऽपि परमात्मभेदे जीवे सत्येव परमात्मानुकरणं जीवे समुपदिश्यमानमुपपद्येत नान्यथा तदुपपत्ति-रिति साद्दश्यप्रतियोगिपरमात्मनो भिन्नः साद्दश्यानुयोगिजीवः एतदेव दर्शयति "इत्यनुकार्यस्य" इत्यादि साद्दश्यप्रति-योगिनः परमपुरुषस्य अनुकर्ताऽनुकरणकर्त्ता साद्दश्यानुयोगिजीवो भिन्न एवेति निर्णीयते । यदि दहराकाशपदेन जीवस्य ग्रहणं कुर्यात्तदाऽनुकार्यानुकरणकर्त्रोर्भेदाभावात् साद्दश्य प्रदर्शनं सर्वथैवासंगतं स्यात् चन्द्रश्चन्द्रवदिति । इह च प्रकरणे यस्य जोवविशेषस्यापहतपाप्मत्वादिका अष्टौगुणाः परमपुरुषोपासनेनाविर्भू-तास्तादृशं मुक्तावस्थपरमात्मनानुकरणं श्रूयते । एतच्च ब्रह्मपरमात्म प्रकरण से । श्रीसाकेताधिपति के अनन्य रूप से उपासना करनेवाले जीव को अपहतपाप्मत्वादिक आठ जो कल्याण गुण हैं वे आठगुण मोक्षा-वस्था में जीव में अविर्भूत होते हैं तब वह जीव स्वेच्छया विहरणादिक कार्य करता है "स यदि पितृलोककामो भवति तदा सङ्कल्पादेवपितरः समु-त्तिष्ठन्ते" [यदि वह मुक्त जीवपितृलोक कामनावान् होता है तो सङ्कल्प-मात्र से पितर पितामहादिक वहाँ उपस्थित हो जाते हैं ।] इत्यादि श्रुति-यों में स्वेच्छा विहरणादिक परमात्मा का अनुकरण करता है ऐसा शास्त्र से ज्ञात होता है । तो एतादृश ब्रह्म की समता साद्दश्य को बतलाता हुआ शास्त्र दहराकाशात्मक परमात्मा ब्रह्म से इस जीव के भेद को उपस्थित करता है । अर्थात् साद्दश्य सर्वत्र भेद घटित ही होता है । जैसे "यथा-गौस्तथा गवयः" जैसे गाय होती है उसी तरह गवय भी होता है, यहाँ गो—गवय संस्थान की समानता लेकर के गोप्रतियोगिक साद्दश्यानु-योगित्व गवय में रहता है. तो गाय और गवय में भेद स्पष्ट है ।

अपि च स्मर्यते ।१।३।२३।

मुक्तात्मनोऽपहतपाप्मत्वादिधर्मकत्वं परमात्मनः साधर्म्यमात्र स्मृतिरपि बोधयति । 'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः" [गी० १४।२।] इति तस्माद्दहराकाशः परमात्मैव न जीव इति सिद्धम् ॥२३॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ दहराधिकरणम् ॥५॥

साम्यं सादृश्यं तदेव सङ्गतं स्यादुभयोर्भेदे सत्येव । ततश्चैतदेव साम्यं दहराकाशवाच्यपरमात्मनः सकाशाद् जीवस्य भेदं व्यवस्थापयति । तस्माद्दहराकाशपदवाच्यः परमात्मैव नतु जीवः कदाचिदपिदहराकाशवाच्यो भवत्यनुपपत्तेः । इत्यनुकृतिरपि हेतुर्दहराकाशस्य जीवभिन्नपरमात्मतामेव बोधयतीति संक्षेपः ॥२२॥

विवरणम्- न केवलं पूर्वोक्तहेतुभिरेव दहराकाशपदवाच्यत्वं परमेश्वरस्य तादृशपरमेश्वरानुकरणं च जीवस्य । अपितु गीतादिष्वपि परमेश्वरानुकरणमवलोक्यते जीवस्येति तादृशपरमेश्वरसाधर्म्यं जीवे दृश्यते । अमुमेवार्थं सुस्पष्टतयाबोधयितुं प्रक्रमते "मुक्तात्मनः" इत्यादि

इसी प्रकार प्रकृत में परमात्मा का स्वेच्छाविहरणादि सदृश स्वेच्छा विहरण जीव में कहा गया है तो यह सादृश्य तब ही घट सकता है जबकि दहर पदवाच्य परमात्मा से जीव भिन्न हो अन्यथा नहीं । अतः अनुकरण श्रवण अन्यथा अनुपपन्न होकर के परमात्मा जो सादृश्य के प्रतियोगी है तथा सादृश्य के अनुयोगीजीव में परस्पर भेद को सिद्ध करता है । तस्मात् दहराकाशपदवाच्य परमात्मा ही है जिनका अनुकरण मोक्षावस्था में आविर्भूत गुणाष्टक जीव करता है ।२२।

सारबोधिनी- केवल पूर्वोक्त प्रकार से ही दहरपदवाच्यतापरमात्मा में तथा तदनुकरणत्व जीव में सिद्ध होता है. इतना ही नहीं गीतादि स्मृति प्रतिपादित साधर्म्य से भी सिद्ध होता है कि दहरपदाच्यता

मुक्तात्मनो मोक्षावस्थजीवस्य परमात्मनोयेऽनन्यसाधारणा अपहतपाप्मत्वादिकागुणाः सन्ति तादृशगुणानां साधर्म्यं मुक्तजीवस्य विद्यते इति गीतादिस्मृतिरपिदर्शयति । स्मृतिवाक्यंपठति "इदं ज्ञान" मित्यादि भगवदुपासनया परमात्मज्ञानं संप्राप्य भगवतः समानधर्मतामासाद्य अनेके जीवात्मानः सर्गे सृष्टौ समुपजायमाना न भवन्ति नवा प्रलयकाले व्यथामेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । तथैवाहुर्जगद्विजयिनो महामहोपाध्यायजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरघुवराचार्यवेदान्तिनः–"इदं वक्ष्यमाणं ज्ञानमुपाश्रित्य साधनसहितमनुष्ठाय मम साधर्म्यमागताः । 'सोऽश्नुवे सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' (तै. आ. १।२) 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इत्यादि श्रुत्यनुरोधेन भेदघटितं साधर्म्यं साम्यलक्षणमेवात्र विवक्षितम् । तथा च मत्साम्यमुपागता इत्यर्थः । तथा विधसाधनसम्पन्ना स्तेसर्गे जगज्जीवसर्गे नोपजायन्ते नैवोत्पद्यन्ते प्रलयेऽपि च नव्यथन्ति मरणादिव्यथां न प्राप्नुवन्ति जन्ममृत्युदुःखं न प्राप्नुवन्ति

ननु जगत्सृष्टिकालिकोत्पत्तिराहित्येनैव प्रलयेक्लेशाभावः सिद्ध एव पुनः प्रलये नव्यथन्ति चेति वचनं किमर्थमितिचेन्न सर्गानन्तरमनुष्ठितेऽस्मिन् ज्ञानसाधने पुनर्विलयसमयेऽपि दुखाभावस्यानेन बोधितत्वात् । यद्वा सर्गप्रलयशब्दौ जन्ममरणपरौ 'रजसि प्रलयं गत्वा' इत्यादिषु तथा दर्शनात् । प्रलयोऽत्र मरणं तत्समभिव्याहृतसर्गशब्दो जन्माभिधायकस्तथा चोक्तार्थ एव तात्पर्यम् " इति तस्माज्जी-

परमात्मा में ही है । इस बात को बतलाने के लिए प्रक्रम करते हैं "मुक्तात्मन" इत्यादि । परमात्म ज्ञानपूर्वक भक्ति प्रपत्ति द्वारा मोक्षावस्थापन्न जीव को अपहतपाप्मत्वादि धर्मवत्वात्मक भगवान् का साधर्म्य प्राप्त होता है, इस बात को स्मृति भी कहती है । तथाहि इस परमात्म ज्ञान को आश्रयलेके उपासना द्वारा परमात्मा के अपहतपाप्मत्वादिक को प्राप्त

प्रमिताधिकरणम् ॥६॥

शब्दादेव प्रमितः ।१।३।२४।

काठके "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति । ईशानो भूत भव्यस्य न ततो विजुगुप्सते एतद्वैतत् [का० २।४।१२।] इत्याम्नाय ते । अत्र किमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो जीव उत परमात्मेति संशयः । तत्रा

वस्यसाधर्म्यदर्शनात्. दहराकाशपदवाच्यपरमात्मैव भवति नतु जीव स्तथासाधर्म्यकथनमनुपपन्नमेवस्यादिति संक्षेपः ॥२३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे दहराधिकरणम् ॥५॥

विवरणम् अथ "अस्थूलमनणु" इत्यादि शास्त्रे परमात्मनि परिमाणस्य निषेधात् तथा जीवे च स्वभावतः सर्वभूतादिकं प्रति प्रशाशनस्याभावात् "अङ्गुष्ठमात्र पुरूषः" इत्यादि काठकश्रुतौ उपास्यतया जीवः प्रतिपादितो भवति परमात्मा वेति । यदि ईशानो भूतभव्यस्य इत्यस्य विशेषणत्वेनपरमात्मोपस्थितः स्यात् 'अङ्गुष्ठमात्रः' इत्यस्य च मुख्यत्वेन जीवस्यैवोपस्थितिरिति संशयः तत्र परमात्मा स्वभावतो मानवर्जितस्तथा परमात्मग्रहणे "निश्चकर्ष बलाद्यमः" इत्यादि वाक्यस्यालग्नकतापत्तेर्नात्रपरमात्मोपास्यः किन्तु स्वभावतोल्पपरिमाणवतो हृदयादिस्थानकथनाच्च जीव एव परिगृहीतव्यः । यद्यपि जीव परिग्रहे ईशानश्रुतिनिरर्थिका इवस्यात् तथापि शरीरादि यत् किं करके उत्पत्ति प्रलय में जीव व्यथीत नहीं होते हैं । इसलिए दहराकाशपदवाच्य परमात्मा है। क्योंकि साधर्म्य भेद घटित होता है इसका स्पष्टीकरण पूर्व सूत्र में किया है ॥२३॥

॥ इति दहराधिकहणं ॥५॥

सारबोधिनी—"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्ये आत्मनि" इत्यादि स्थल में सर्वथा प्रमाण रहीत परमात्म परिमाण विशेष की कल्पना नहीं की जा सकती

ङ्गुष्ठमात्र इत्यल्पपरिमाणकथनाज्जीव एवेति पूर्वः पक्षः। अत्राभिधीयते ईशानो भूतभव्यस्येति स्वरवेणोक्तशब्दादेवात्राङ्गुष्ठमात्र पुरुषः परमात्मा न जीवस्तस्य भूतभव्यस्येशानत्वं न सम्भवति ॥२४॥

चिद्वस्तुप्रतिजीवस्यापीशानत्वसंभवाज्जीवपक्ष एव ज्यायानिति पूर्वपक्षः । स्वभावतः सर्वं प्रतीशीतृत्वस्योपासनार्थं स्वल्पपरिमाणवत्त्रस्य परमात्मन्यपि संभवात् परमात्मपक्ष एव ज्यायान्। तथा 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादिना जीवं विहाय परमात्मन एवोपस्थानात् परमात्मैवोपास्य इति सिद्धान्तः। एतादृशमाशयमादाय प्राह "काठके" इत्यादि काठके यमनचिकेता संवादपरक श्रुतौ अङ्गुष्ठमात्र इत्यादि अङ्गुष्ठ मात्रःअङ्गुष्ठमात्रं प्रमाणां परिमाणं विद्यते यस्य स अङ्गुष्ठमात्र स्तावत्परिमाणवान्। पुरुषः पुरि शरीरे शयनात् पुरुषः। अथवा शरीराद्युपाधिक हस्तपादादिशरीरावयवैरुपलक्षितः। मध्ये आत्मनि आत्मनो हृदय प्रदेशस्य मध्ये वर्तमानः विद्यते। तथा भूतस्यातीतकालिकस्य भव्यस्यानागतकालिकस्य वर्तमानकालिकस्य आद्यन्तावस्थाभ्यां मध्यावस्थाया अपि संग्रहात्। एतादृशपदार्थमात्रस्य. ईशानो नियमनकर्त्ता आत्मा विद्यते। एतादृशात्मज्ञानवान् सर्वपदार्थजातं परमेश्वरैकदेशभूतं जानन् कस्मैच्चिदपि शुभाशुभाद्वा घृणां न करोति तदाहुराचार्याः

है और जीव में सर्व नियामकघटितत्व घटित नहीं होता है । तो क्या अङ्गुष्ठ श्रुति के अनुग्रह से जीवोपासनापरक इस वाक्य को माना जाय और तदनुरोधात् 'ईशान' श्रुति को गौणी मानें। अथवा ईशान श्रुत्यनुरोधात् परब्रह्मपरक इस वाक्य को मानें और अङ्गुष्ठ श्रुति को गौणी माने। अन्यतर को अन्यतरानुरोध का संशय होने से प्रथम का अनुरोध ही ठीक है। अतः अङ्गुष्ठ श्रुति के अनुरोध से ईशान श्रुति का समन्वय करना चाहिए इसलिए जीवोपासनापरक यह वाक्य है परमेश्वरोपासनापरक नहीं है। एतादृश विचार को प्रस्तुत करने के लिए आचार्य प्रक्रम करते हैं "काठके"

वात्सल्येनेतरेऽपि जना मलिनमपि स्वपुत्रादि स्वगेहादि वा नत्यजन्ति तत्र तेषां जुगुत्साया अभावात् (आनन्दभाष्यम् ।२।१।१२) एतादृश गुण विशिष्टं यद्वस्तुतदेवतत्, नचिकेतसा पृष्टं ब्रह्म एतदेवेति

अत्र संशयो भवति यत् उपर्युक्तगुणविशिष्टो यः स जीवः परमात्मा वा यतो जीवोपस्थापकस्य अङ्गुष्ठमात्र इति विशेषणस्य दर्शनात् तथा परमात्मोपस्थापकस्य ईशानेति विशेषणस्य दर्शनात्। तथा चोभयलिङ्गदर्शनात् जीवस्योपास्यतया ग्रहणं परमात्मनो निरङ्कुशशासनकर्तुः परमपुरूषस्यवोपास्यतयाग्रहणमिति । एवमाह वृत्तिकारः अत्र किमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो जीव उत परमात्मेति संशय इति ।

एतादृश संशये किमत्र युकक्तम् ? जीव परिग्रहहणमेव यतः स्वभावतो जीवस्यैव तादृश परिमाणवत्वात्। ततः सत्यवतः कायात् पाशवद्धवशंगतम्। अङ्गुष्ठामात्र पुरुषं निश्चकर्षयमोवलात् इत्यादौ श्रूयमाणं यमस्य बलपूर्वकमाकर्षणं जीवपक्षमेवानुमोदते । नहि सर्वनियामकस्य सर्वशरीरिणः परमात्मनो यमेन तदन्येन वा आकर्षणं संभवति तथा 'अस्थूलमनणु' इत्यादिसर्वमानपरिमाणरहितस्य विभोरङ्गुष्ठमात्र इत्यादि। यम नचिकेता के संवादपरक कठोपनिपद में एक मन्त्र आया, 'अङ्गुठमात्रः'' इत्यादि हृदय के मध्य में अंगूठा प्रमाणक पुरुष है जो कि अतीतानागन सकल प्राणियों का नियन्त्रण करनेवाला है उसका ज्ञान होने से नोचोत्तम विषयक घृणा का अभाव हो जाता है वही ब्रह्म हैं । अब यहाँ सन्देह होता है कि अंगुष्ठ मात्र पुरुष जीव है अथवा परमात्मा इसमें पूर्वपक्ष होता है कि अंगुष्ठ पद से अत्यल्प परिमाण का कथन होने से अणु परिमाण जीव का ही ग्रहण होता है अतः यह जीवोपामनापरक वाक्य है। परमात्मा तो परिमाण रहित है इसलिए परमात्मापरक यह वाक्य नहीं है। यहाँ परमात्मा के उपासन का कथन ही है इस के सम्वन्ध में कहते हैं "अत्राभिधीयते" इत्यादि यह वाक्य परमात्मा का ही बोधक है ।

परिमाणवत्वमपि पोषयत्यसंभवताम् मध्ये आत्मनि तिष्ठतीति विशेषणकथनमपि न परमात्मनोऽनुकूलम् सर्वव्यापके परमात्मनि तद संभवात्। तस्मादिहोपास्यतया जीवस्यैव ग्रहणं नतु कथमपि परमात्मनो ग्रहणं युक्तमिति। न च जीवपरिग्रहे "ईशान" इतिविशेषणमनुपयुक्तमिव स्यादिति वाच्यम् यत् किञ्चित्कार्यं प्रतिजीवस्यापि नियन्तृत्व संभवात्। जीवपक्षे एकस्यैव विशेषणस्य प्रकारान्तरेण नयनं भवति परमेश्वरपक्षेत्वनेकानि विशेषणानि स्वार्थात्परिच्याव्यमानानि भवन्ति अतोऽनेकत्र लक्षणापेक्षयैकत्र लक्षणैवन्याय्येति पूर्वपक्षः। एतादृशं पूर्व पक्षं निरसितुमाह "अत्राभिधीयते" इत्यादि] अत्र प्रकरणे ईशानो भूतभव्यस्येति स्वकण्ठेन समुच्चारितशब्दबलादेव अङ्गुष्ठमात्र पुरुषो निरंकुशसर्वेशिता परमपुरुषभगवान् साकेताधिपतिरेव गृह्यते उपासनार्थम् नतु तनुमहिम्नो जीवस्योपास्यतया ग्रहणम्। तस्मिन् जीवकालत्रयवर्तिसकलवस्तुन ईशानत्वस्यासंभवात्। यद्यपि यत्र कुत्रचित् ईशित्वंजीवस्यापि दृश्यते तथापि निरंकुशमीशित्वं श्रूयमाणमञ्जसा तस्मिन् जीवे नास्ति परमेश्वरेतु तत् तथा विद्यते। अङ्गुष्ठमात्रपरिमाणवत्वमपि कयाचिद् व्यपेक्षया परमेश्वरे संभवत्येव। सर्वस्येशितृत्वंत्वञ्जसा परमेश्वर एव तिष्ठति। तस्मादंगुष्ठमात्रपुरुषपदेनोपास्यतया

क्योंकि "ईशानो भूतभव्यस्य" एतादृश विशेषण है। इसलिए यहाँ अंगुष्ठमात्र पुरुष परमात्मा ही है जीव नहीं। क्योंकि भूतभव्य अतीत नागत वर्तमान सब प्राणियों का ईशान नियमन रूप कार्य जीव में संभवित नहीं है। जीव तो स्वयं परमेश्वर के अधीन है और परमात्मा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है इसलिए परमात्मा में "भूतभव्यस्य" यह विशेषण सर्वथा अनुकूल है। अतः 'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप कल्पना इत्यादि श्रुति को ध्यान में रखते हुये अंगुष्ठ श्रुति की उपासनापरक गौणी वृत्ति को स्वीकार करके श्रुत्यर्थ का समन्वय करना ही उचित है। तस्मात् "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः"

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ।१।३।२५।

अपरिच्छिन्नस्यापि परमात्मनः सर्वगतत्वेनोपासकहृदयेऽवस्थितत्वादङ्गुष्ठमात्रत्वमपि युज्यते । यत उपासकानां मनुष्याणां हृदयं हि तत्तदुपासकाङ्गुष्ठप्रमितं वर्तत इति तत्रोपास्यतयावस्थितस्य परमा-

---

परमात्मन एव ग्रहणं भवति नतु जीवस्योपास्यतया ग्रहणम् । अङ्गुष्ठमात्र श्रवणं तूपास्यतया परमात्मनमेवावबोधयतीति संक्षेपः ॥२४॥

विवरणम्– अथ "अङ्गुष्ठमात्रः" श्रुतिः "सर्वेशानः" श्रुत्यनुरोधेन परमेश्वरपरत्वेन व्याख्याता परन्तु सर्वव्यापकस्यापरिच्छिन्नस्य परमेश्वरस्यतत्कथं स्यादित्याशङ्क्य सर्वव्यापकोऽपि परमेश्वर उपासकानामनुग्रहाय तदीयहृदये वर्तमानस्तादृशाल्पपरिमाणवानपि भवतीति अङ्गुष्ठमात्रप्रतिपादकश्रुतेः प्रामाण्यं निर्वहति । तथा च परमेश्वर एवात्रोपास्यतया परिगृहीतो भवतीति दर्शयितुं प्रक्रमते "अपरिच्छिन्नस्यापी" त्यादि सर्वप्रकारकपरिच्छेदरहितस्यापि परमात्मनः सर्वान्तर्यामिता रूपेणगगनवत् सर्वत्र विद्यमानस्यापि परमात्मनः परमपुरुषसाकेतनिवासिनः भक्तिप्रपत्तिभ्यां समन्वितोपासक इत्यादि श्रुति प्रतिपादित परमात्मा की उपासना है वही यहाँ अभिमत है नतु जीवोपासना अभिमत ॥२४॥

सारबोधिनी–परम पुरुष श्रीराम तो सर्वव्यापक हैं तब उनका अंगुष्ठमात्र पमिाणवत्व रूप से परिच्छिन्नत्व व्यवहार किस प्रकार हो सकता है तब आप किस प्रकार कहते हैं कि इस प्रकरण में परमात्मा ही उपास्य रूप से परिगृहीत होते हैं । जीव तो स्वभावतः अल्प परिमाणवाला है तो उसमें अङ्गुण्ठमात्र कथन संभवित हो सकता है एतादृश आशंका का निराकरण करने के लिए करते हैं "अपरिच्छिन्नस्यापि परमात्मनः" इत्यादि । यद्यपि श्रीराम परमव्यापक हैं तथापि कारणवश उनमें परिच्छिन्नत्व संभवित हो सकता है इस बात को बतलाते हैं । अपरिच्छिन्न भी परमात्मा श्री

त्मनोऽपि तथङ्गुष्ठमात्रत्वमुपासकहृदयापेक्षम् । विधिनिषेधशास्त्राणां मनुष्यमधिकृत्य प्रवृत्तत्वात्तस्यैव चोपासकत्वसम्भवात्तत्तदङ्गुष्ठप्रमितत्वमेवात्र ग्राह्यमिति तत्त्वम् ॥२५॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ प्रमिताधिकरणम् ॥६॥

शरीरस्थ हृदयप्रदेशेऽवस्थानेन तदीयपरिमाणो न तद्वदेव भवति। यथा घटाद्यवच्छिन्नं नभः। हृदयश्चाल्पपरिमाणसत्त्वेन. तादृशपरिमाणवान् भवत्. अङ्गुष्ठमात्रमानवान् भवति परमात्मा। हृदयपरिमाणन्तूपासकस्याङ्गुष्ठपरिमितमेव, उपासकता च मनुष्यस्यैव तेषांमेवोपासनायामधिकार इति। तस्मात् परमेश्वरस्यापि यथा कथञ्चित् अङ्गुष्ठमात्रप्रमाणकत्वं नोपरुद्धं भवति। विधिनिषेधादिशास्त्राणां "स्वर्गकामोयजेत" 'न कलञ्जं भक्षयेदि'त्यादिकानां मनुष्यमधिकृत्यैव प्रवृत्तिदर्शनात्। नहि मनुष्येतरमभिलक्ष्य शास्त्रं प्रवर्त्तते, तत्रापि द्विजातीनेवाधिकृत्यशास्त्रप्रवृत्तेः। ततश्च मनुष्यस्यैवोपासकत्वान्मनुष्यहृदयस्य तदीयाङ्गुष्ठपरिमितत्वात्तादृशपरिमाणपरिमितत्वं परमेश्वरस्य संभवतीति व्यापकोऽपि परमात्मा "अङ्गुष्ठ" श्रुत्योपासनार्थंपरिगृह्यते। यद्यपि जीवपरिग्रहे सर्वेशानश्रुति गौणीक्रियते परसोताधिपति है। तो भी अन्तर्यामो होने से सर्वगत हैं। अतः उपासक जो भक्त लोग हैं उनके हृदय में भो अवस्थित होने से भगवान् में अंगुष्ठ परिमाणवत्व हो सकता है। क्योंकि उपासक जो मनुष्य वर्ग हैं उन मनुष्योंका हृदय अन्तःकरण उन उपासकों के अंगूठा के बराबर होता है। अतः तादृशोपासक के हृदय में उपास्यता रूप से विद्यमान जो परमपुरुष हैं वे भी भक्तों के अंगुष्ठमात्र रूप ही हैं। श्रुति भी कहती है "समः प्लुषिणा समोमशकेन सम एभिस्त्रिलोकैः" इत्यादि। अदिक्षुद्र जन्तु के समान हैं, मशक के समान है, इन तोनों लोक के समान हैं। अर्थात् यादृश स्थल में अवस्थित रहते हैं तादृश परिमाणवान ही भगवान्भासित होते हैं।

देवताधिकरणम् ॥७॥

तदुपर्य्यपि बादरायणः सम्भवात् ।१।३।२६।

अथात्र प्रकृतविषये प्रासङ्गिकं किञ्चिच्चिन्त्यते । पूर्वत्र मनुष्यमधिकृत्यैव ब्रह्मोपासनशास्त्रप्रवृत्तिरित्यभिहितम् । तत्प्रसङ्गाद्देवादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति नवेति संशयः समुदेति । तत्रोपासनोपयोगिकरणकलेवरविधुराणां देवादीनां सामर्थ्यार्थित्वयोरभावान्न ब्रह्मविद्याया-

---

मात्मपरिग्रहे च अङ्गुष्ठमात्रश्रुतिर्गौणीक्रियत इति गौणवृत्तेराश्रयणमुभयत्रापि समानमिति नियामकाभावात्कस्यात्रोपास्यतेति निश्चयो न भवति । तथापि परमेश्वरोपासनायाः साकेतादिमोक्षफलप्रापकत्वेन जीबोपासनायाः क्वचिदप्यदर्शनात्. परमेश्वरपक्ष एव ज्यायान् सति कल्पनासमत्वेपीति सम्प्रदाय विदः । अमुमेवाशयम् "इति तत्वम्" इति पदप्रयुञ्जानो वृत्तिकारः प्रदर्शितवानिति संक्षेपः ॥२५॥

इति जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे प्रमिताधिकरणम् ॥६॥

विवरणम् –अथ मनुष्यानधिकृत्य शास्त्रं प्रवर्तते इति कथितं ततश्च मनुष्या ब्रह्मोपासनायां प्रवर्तन्ते मनुष्याणां हृदयं च स्वकीयाङ्गुष्ठ परिमितं ततस्तदवस्थितस्य परमेश्वरस्यापि तत्संभवतीत्यादिना पूर्वं "स्वर्गकामो यजेत" [स्वर्ग कामनावान् पुरुष पौर्णमास याग करें ।] "नकलञ्जंभक्षयेत्" इत्यादि विधिनिषेध शास्त्र मनुष्य को अधिकृत करके ही प्रवृत्त होता है और वह मनुष्य ही उपासक होता है । इसलिए मनुष्य का जा अंगूठा है । उसके परिमाण से ही परिमितत्व को यहाँ ग्रहण करना चाहिए । इस प्रकार इस प्रकरण का तत्त्व है ॥२५॥

इति सारबोधिनीमें प्रमिताधिकरणम् ॥६॥

सारबोधिनी– अब यहाँ प्रकृत ब्रह्मोपासन विषय में प्रसंग संगति प्राप्त वस्त्वन्तर का भी कुछ विचार किया जाता है । पूर्व प्रकरण में

मधिकार इति पूर्वः पक्षः । अत्राभिधीयते—'वज्रहस्तः पुरन्दरः' "तेनेन्द्रो वज्रमुदयच्छत्, "तौ हासंविदानावेव समीत्पाणी प्रजापति सकाशमाजग्मतुः" [छा०८।७.२।] इत्यादि वैदिकप्रमाणैर्विग्रहादिमत्तया सामर्थ्यस्य सुतरां सम्भवात् । स्वर्गस्यापि सातिशयफलाधा-

---

वर्णितमिति स्वभावत एवात्र जिज्ञासा जायते यद् ब्रह्मोपासने मनुष्यस्यैवाधिकारोऽन्येषामपिवेति प्रकृतविषये एकाधिकारचिन्तनमपि सम्प्राप्तमिति तदेव दर्शयितुमाचार्यः प्रक्रमते "अथात्रेत्यादि अथात्र प्रकृत ब्रह्मोपासनाप्रकरणे प्रासंगिकं प्रसङ्गसङ्गत्या प्राप्तं वस्तु । प्रसंगस्तु स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वलक्षण एव । ततश्च तद्वस्तुविषये किञ्चिद्विचार्यमाणं भवतीति । किमत्र वस्त्वन्तरं विचारणीयं संप्राप्तं तत्राह। "पूर्वत्र इत्यादि । पूर्वत्र इतः पूर्व प्रकरणस्य चरगभागे मनुष्यमधिकृत्यैव नतु तदितरमधिकृत्य ब्रह्मोपासनाप्रतिपादकशास्त्रस्य प्रवृत्तिरस्तीति । विशेषतो मनुष्यस्यैवाधिकार कथनात् तदतिरिक्तदेवानां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति नवेत्याकारकः संशयो जायते संभवति तेषामपि कदाचिन्मोक्षविषयिणीच्छेति ।

मनुष्य को अधिकृत करके ही ब्रह्म की जो उपासना तत्प्रतिपादक शास्त्रों की प्रवृत्ति है ऐसा कहा है । उस प्रसंग में देवताओं को ब्रह्म विद्या में अधिकार है अथवा तादृश अधिकार नहीं है ऐसा संशय होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि उपासना शारीरक तथा मानस व्यापार रूप है तो उपासना का कारण जो शरीरादिक है वह तो देवों का नहीं है ।तब प्रयोजक शरीर के अभाव में प्रयोज्य जो उपासना वह किस तरह से हो सकेगी । तथा शरीरादि के अभाव होने से अर्थित्व सामर्थ्य रूप जो अधिकार का कारण है वह भी देवताओं को नहीं है इसलिये देवों को ब्रह्म विद्या में अधिकार नहीं है । एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में मनुष्य से ऊपर के रहनेवाले देवों को ब्रह्म विद्या में अधिकार है ऐसा श्रीरामानन्द

यितया सुखदुःखयोस्तेषामनुभवात्सम्प्राप्त दुःखापनुत्तये निरतिशय सुखोपलब्धयेऽर्थित्वस्यापि सम्भवात्प्राग् जन्मन्यभ्यस्तविद्यायाश्चाविस्मरणाद्देवादीनामपि तद्ब्रह्मोपासनं सम्भवतीति बादरायण आचार्यो मन्यते ॥२६॥

ततश्च संशयानन्तरं भवति पूर्वः पक्षः उपासनायां कारणं करणकलेवरादिकम् न च करणकलेवरादिकं देवानामस्तीति प्रसिद्धं तदभावे चाधिकारे साक्षात्कारणं यत् अर्थित्वं सामर्थ्यञ्च तदपि देवादेर्नास्ति शरीराभावात्। तस्मात्कलेवररहितस्य देवादेर्नास्ति ब्रह्मविद्यायामाधिकारः किन्तु मनुष्यणामेव तत्रापि संस्कारवतामेवेति ॥

एतादृशपूर्वपक्षनिरासाय प्राह "अत्राभिधीयते" इत्यादि। अत्र प्रकृताधिकारविषये समाधानं करोमीत्यर्थः। देवादीनां शरीराभावान्न ब्रह्मोपासनेऽधिकारः कथितः। तत्रानधिकारमेवान्यथयति "वज्रहस्त" इत्यादि प्रमाणैः। पुरन्दरो बलाभिमानी देवो वज्रहस्तः सोयमिन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत् वृत्रोपरिवज्रप्रहारं कृतवान। तौ इन्द्रविरोचनौ प्रजापतेः सकाशं गतौ ब्रह्मपरिज्ञानाय समिद्भारहस्तौ उषतुश्च वहुवर्षाणि ब्रह्मचर्य धारणपूर्वकौ इत्यादिप्रकरणे यत् प्रतिपादितं तेन ज्ञायते देवादीनामपि शरीरं भवत्येव। अन्यथा तदभावे शरीरसाध्यकर्मणामभावात् कथमिव प्रकरणं सगतं स्यात्। तस्माद्विद्यते एव देवादीनां शरीरादिकम् तत

सम्प्रदाय के सातवें आचार्य ब्रह्म सूत्रकार भगवान् बादरायणजी ने कहा है। उसी विषय को स्पष्ट करने के लिए वृत्तिकार कहते हैं "वज्रहस्तः पुरन्दरः" इत्यादि। [वज्रहस्त पुरन्दर है" इन्द्र ने वृत्रासुर को वज्र मारा" वे इन्द्र तथा विरोचन समित् पाणी होकरके प्रजापति के पास में आये"।] इत्यादि वैदिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि देवताओं का भी शरीर होता है। और जब विग्रहवत्ता है तब सामर्थ्य भी अर्थतः सिद्ध हो जाता है। स्वर्ग को भी सातिशय फलवान् होने से

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ।१।३।२७।

ननु देवादीनां करणकलेवरादिसत्त्वे युगपदनुष्ठीयमानेष्वनेककर्मसु सान्निध्यासम्भवात्कर्माङ्गभावे विरोधः प्रसज्येतेति चेन्न, सम्प्राप्त-यौगिकसामर्थ्यानां सौभरिप्रभृतीनां युगपदनेकशरीरप्रतिपत्तेर्दर्शनान्न कश्चिद्विरोधः ॥२७॥

श्च शरीरादीनामभावो हेतु स्वरूपासिद्धः । शरीरसद्भावे सामर्थ्यस्यापि संभवः सुतरामेव संभवति । ततश्चाधिकारकारणयोः शरीरसामार्थ्ययोः सद्भवाद्देवादीनामपि ब्रह्म विद्यायामधिकारोऽस्त्येव नतु शूद्रादिवदन-धिकारित्वमिति सिद्धम् । किञ्च स्वर्गोंपि ननित्यः किन्तु सातिशय सुखादिजनक एव ततश्च कर्मवैगुण्यादिसंपादितदुरदृष्टजनितदुःख प्रक्षयाय नित्यसुखप्राप्तये चार्थित्वमपि तेषां संभवति । देवा अपि स्व र्गस्यानित्य फलतां ज्ञात्वा ततोविरक्ता नित्यसुखोपलब्धये ब्रह्मोपास-नाया लग्नमनसो भवन्तीति । ततश्च मनुष्यादुपरिवर्तमानानां देवानामपि अधिकारोऽस्त्येवेति बादरायण आचार्योऽनुमन्यते । यतोऽधिकारकार-णयोरर्थित्वसामर्थ्ययो र्देवेष्वपि सम्भवादिति सक्षेपः ॥२६॥

विवरणम्—अथ शास्त्रं मनुष्यानेवाधिकृत्य प्रवर्तते. ततश्च देवादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति नवेति संशये मनुष्यादुपरिवर्तमानानामपि सुख तथा दुःख का अनुभव भी हेता है । तब समय समय प्राप्त जो दुरित कर्म प्रयुक्त दुःख तादृश दुःख के विनाश करने के लिए तथा नित्य सुख प्राप्ति के लिए देवों में अर्थित्व भी हो सकता है तथा पूर्व जन्मा-भ्यस्त विद्या का अविस्मरण होने से देवताओं को भी दुःख विगम नित्य सुख प्राप्ति के लिए ब्रह्मोपासन संभवित है । ऐसा बादरायण आचार्य मानते हैं ॥२६॥

सारबोधिनी— शास्त्रीय कर्म में मनुष्य को अधिकार है । क्योंकि शास्त्र मनुष्य को अधिकृत करके ही प्रवृत्त होता है । तब शरीर रहित

देवानां विग्रहवत्वेनार्थित्वसामर्थ्ययोरधिकारकारणस्य विद्यमानत्वान्मनुष्यवद्देवा अपि ब्रह्मविद्यायामधिकृता भवन्तीति पूर्वसूत्रे कथितम् ततश्च विग्रहवतामिन्द्रादिदेवानामेककालेऽनेकत्रयागेऽवस्थानस्यासंभवाद्विरोधो भवति । नहि विग्रहवान् एकस्मिन्कालेऽनेकत्रस्थलेऽवस्थितो भवन्दृश्यते इति चेत्. यथायोगप्रभावात्सौभरिप्रभृतीनामनेकशरीरधारणं भवति तथैव सम्प्राप्तयोगमाहात्म्यानां देवानामप्येकस्मिन्नेव समयेऽनेकत्रावस्थानसंभवान्नास्ति कर्मणि कश्चिदपि विरोधः । इत्याशयं प्रकटयितुमाह "ननु देवादीनाम्" इत्यादि । देवानां पुरन्दरवरुणादीनांयागाङ्गत्वेन शास्त्रप्रतिपादितानाम्. करण कलेवरादिसत्त्वं शरीरेन्द्रियवताम्. युगपत् एक कालमनुष्ठीयमानेषु

देवों को ब्रह्म विद्या में अधिकार है अथवा नहीं है इस संशय में शरीराभाव के कारण देवों को अधिकार नहीं है यह पूर्वपक्ष करके बादरायण आचार्य ने कहा शास्त्र में प्रमाण है । देवता का भी विग्रह होता है और विग्रहवान् होने से अर्थित्व सामर्थ्य रूप से अधिकार कारण होने से देवताओं को ब्रह्म विद्या में अधिकार है । ऐसा व्यवस्थित किया गया । परन्तु जब देवता को विग्रहवान् मानते हैं तब विग्रहवान् इन्द्रादिक देव एक काल में अनेक यज्ञों में अङ्ग रूप से अवस्थित हो सकेंगे? एतादृश विरोध कर्म में होता है । तब उत्तर करते हैं । जैसे योग प्रभाव से सौभरि प्रभृति को अनेक शरीर धारण शक्ति थी उसी प्रकार से प्रकृत में भी कोई विरोध नहीं है । इस आशय को लेकरके आचार्यजी कहते हैं "ननु देवादीनाम्" इत्यादि । यदि इन्द्र वरुण देवों को कलेवर करण— शरीरेन्द्रिय का सद्भाव माना जाय तब तो एक काल में अनुष्ठीयमाम अनेक याग में अवस्थान असंभवित है । क्योंकि एक विग्रहवान् पुरुष एक ही काल में अनेक स्थल में संपद्य

संपाद्यमानानेकयजमानककर्मसु सोमदर्शादियागेष्ववस्थानं सान्निध्यं कथंस्यात् । नहि एककालेऽनेकै भोजनंकुर्वाणोऽनेकत्र ब्राह्मणो भवति । तत्कथम् ? विग्रहवतामनेकत्रैककालेऽवस्थानस्यासंभवात्तद्वदेव. एको विग्रहवान्देवोऽनेकत्र कर्मणि समवस्थितः स्यादिति तेषां देवानामङ्गभावे विरोधः प्राप्नोतीति चेन्न. अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् । अयमाशयः संप्राप्तयौगिकसामर्थ्यानां परिपक्वयोगानां सौभरिप्रभृतिक ब्राह्मणानां यथैकदैवानेककरणकलेवरप्राप्तिस्तथा आजानदेवानामिन्द्रादीनामप्यनेकशरीरवत्वेन एककालमेवानेकत्रानेकशरीरेणावस्थानसंभवान्नात्रकर्मणि कोपि विरोधः । अथवा विग्रहवानपि विशिष्ट

मान कर्म में अङ्गभाव को प्राप्त नहीं कर सकता । यथा एक पण्डित एक ही काल में विद्यालयद्वय में अध्यापन नहीं करता है । इसी तरह विग्रहवान् पुरन्दरादिक देव एक काल में अनेक याग में उपस्थित किस तरह से हो सकते हैं । तो इस प्रकार से देवता को विग्रहवान् मानने पर कर्माङ्ग का विरोध होता है इसके उत्तर में कहते हैं "अनेक प्रतिपत्तेदर्शनात्" अर्थात् एक अनेकता को प्राप्त करता है, ऐसा देखने में आता है । इसी का स्पष्टीकरण करते हैं "सम्प्राप्त यौगिक" इत्यादि । योगानुष्ठान द्वारा सम्प्राप्त है यौगिक सामर्थ्य जिनको एतादृश जो सौभरि प्रभृति ऋषि गण उन लोगों को एक काल [युगपत्] अनेक शरीर की प्राप्ति हुई है, ऐसा शास्त्र में सुनने में आता है । [योग प्रभाव से ऋषि लोग अनेक शरीर को बना करके किसी शरीर द्वारा पृथ्वी में संचरण करते हैं, तथा तत्तदभिलषित विषयादि को एकसाथ प्राप्त करते हैं और भोगते हैं ऐसा पुराणों में प्रसिद्ध है ।] तो जिस प्रकार योगी को ऐच्छिक अनेक शरीर धारण क्षमता होती है उसी प्रकार देवता लोग भी अनेक शरीर द्वारा कर्माङ्ग भाव को प्राप्त कर सकते हैं, तो देवता को विग्रहवान् होने पर भी कर्माङ्गभाव में कोई विरोध नहीं है ।

शब्द इति चेन्नातःप्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।१।३।२८।

नन्वेवमपि वैदिके शब्दे विरोधस्त्वस्त्येव। देवादीनां विग्रहविशिष्टानां सावयववत्वेन जनिमृतिसत्त्वात् । उत्पत्तेः प्रागर्वाक् च मृतेरर्थवैधुर्येऽनित्यत्वं भवेदितिचेन्न, अतो विनष्टार्थकाद्वैदिकाद्देवादिशब्दात्पुनर्देवाद्यर्थस्य प्रभवात् । इन्द्रादिशब्दानां संस्थानरूपाकृत्यभिधायित्वं न

माहात्म्योधीतवेदादिगुणवान् ब्राह्मणोऽनेकरंकसमये नमस्क्रियमाणो भवति. न तत्र शरीरवत्वंबाधकम्. तथैव यागोद्देश्यताऽनेकस्थले. एकस्यापि देवस्य संभवान्नास्ति कश्चिद्विरोधः कर्मणि देवानां विग्रहवत्वेऽपीतिदिक् ॥२७॥

विवरणम्—ननु देवादीनां विग्रहवत्वेपि विशिष्टशक्तियोगात् सौभर्यादिवदनेकशरीरबलेनानेकत्रयागे. समानकालेऽपि शङ्काव संभवात् कर्मणि विरोधो यथाकथंचित् परिहृतः परन्तु वैदिकवस्वादि शब्देतु सदुरात्मा विरोधः समापतत्येवेति "भक्षितेऽपिलशुनेनशान्तोव्याधिरि"तिन्याय विषयताया अतिक्रमणं नभवतीति वैदिकशब्देऽपि विरोधपरिहारायोपक्र-

अथवा जिस तरह ब्राह्मण एक समय में अनेक स्थल में भोजन तो नहीं कर सकता है। किन्तु एकत्र अवस्थित वही ब्राह्मण अनेक छात्र भक्तों से नमस्क्रीयमाण होता है। इसी तरह एक भी देव अनेक याग में एक काल में त्यागोद्देश्यतारूप अनेक देवत्व की प्राप्ति कर सकते हैं । अतः विग्रहवान् होने पर भो कर्माङ्ग भाव में कोई विरोध नहीं होता है। इसलिये विग्रहवान् देव ब्रह्मविद्या में अधिकारी हैं ॥२७॥

सारबोधिनी—देवता को विग्रहवान् मानने पर भी अनेक शरीर योग ऐश्वर्य से हो जाता है ऐसा मानकर कर्म यागादिक में किसी प्रकार का विरोध नहीं होता है। ऐसा पूर्वसूत्र में कहा गया। परन्तु देवादिवाचक जो शब्द हैं उसमें तो विरोध है। क्योंकि देवादिक रूप जो अर्थ उसको अनित्य होने से नित्य शब्द के साथ संबन्ध किस तरह से होगा

पुनर्व्यक्तिबाधकत्वम् । तथा च प्रजापतिर्भगवानिन्द्रादिरूपव्यक्ते-स्सर्गादावभावेऽपि तच्छब्दाभिहिताकृतिं मनसिकृत्य भूयोऽप्यन्यामिन्द्रादिरूपां व्यक्तिमुत्पादयति । एतच्च "सभूरिति व्याहरत्सभूमिमसृजत्" [तै० ब्रा० २।२।४।२२।] "वेदेन नामरूपे व्याकरोत्सतासती प्रजापतिः"। 'सर्वेषान्तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।

मन्नाह "नन्वेवमपि वैदिके शब्दे" इत्यादि । अत्र 'ननु' इति शब्देन पूर्वपक्षं दर्शयति । यद्यपि देवादीनां विग्रहवत्त्वेऽपि विशिष्टशक्तियोगात् अनेकप्रपिपत्तिसंभवेन कर्मणि विरोधपरिहारो भवतुनाम. तथापि वस्वादि वाचकवैदिकशब्देतु विरोधोऽस्त्येवेति. अंशतो विरोधसमानेपि विरोधोऽस्त्येवेति । यतो विग्रहवतां देवानामुत्पादविनाशयोरावश्यकतयानित्यत्वस्यानिराकरणीयत्वात् । देवरूपोऽर्थोऽनित्य उत्पादविनाशत्वात् घटादिवत् । देवरूपोऽर्थ उत्पादविनाशवान् सावयवत्वात् पूर्ववदेव । ततश्चोत्पादविनाशवत्वेनानित्यत्वमेव । उत्पत्तेः प्राक्काले तत्प्रागभावसमये विनाशादनन्तरं चार्थस्याविद्यमानत्वेन वस्तुनोऽसत्वरूपमनित्यत्वमवश्यमेवस्यादिति पूर्वः पक्षः—एतादृशशङ्कायामुत्तरं प्रतिपादयति. "अतः प्रभवा" दिति । तदर्थमेव परिष्फोरयति "अतो विनष्टार्थका" दित्या-

यदि दोनों सम्बन्धी नित्य होंगे तब हो सबन्ध भी नित्य हो सकता है। यहाँ पुरन्दरादिक जो अर्थ है वह तो उत्पाद विनाशशाली होने से अनित्य है तो अनित्य के साथ नित्य वैदिक शब्द का नित्य सबन्ध असंभवित हैं। अतः वैदिक शब्द में तो विरोध होता है। देवादिक को विग्रहवान माना जाय, क्योंकि विग्रह का उत्पाद विनाश प्रत्यक्ष सिद्ध है । इस आशका का निराकरण करने के लिए पूर्वोत्तर पक्षोपन्यास पूर्वक सूत्र का व्याख्यानार्थ उपक्रम करते है "नन्वेवमपि वैदिक शद्बे विरोधः" इत्यादि । एवमपि विशिष्ट ऐश्वर्य योग से अनेक शरीर प्रतिपत्ति को देखने से यद्यपि कर्म यागादिक में विरोध का परिहार होने पर भी नित्य जो वसु पुरन्दरादि वैदिक शब्द हैं

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे" [मनु० १।२१।] "नामरूपं च भूतानां कृत्यानाञ्च प्रवर्तनम् । वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनाञ्चकार सः" [वि० पु० १।५।६३।] इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यामवगम्यते । एवञ्च शब्दपूर्वायाः सृष्टेः सत्वान्नशब्देऽपि विरोधः ॥२८॥

दि । अतोऽस्माद्विनष्टार्थको योहि वैदिकः पुरन्दरादिशब्दः तादृश वैदिक शब्दादेव पुनः सर्गादिकालेविग्रहादिविशिष्टपुरन्दराद्यर्थस्य तादृशशब्दस्य शक्यस्य पदार्थस्य प्रभवात्. समुत्पत्तेराविर्भावाद्वा । इन्द्रादिशब्दानाम्. य इमे पुरन्दरादिकाः शब्दास्ते न व्यक्तिं बोधयन्ति किन्तु संस्थानमेव । व्यक्तिबोधने आनन्त्यदोषप्रसङ्गात् । किन्तु तस्य नित्यत्वादेकत्वमेव बोधयन्तो वाचका भवन्ति ।

तथा च सर्गादिकाले प्रजापतिर्भगवान् यद्यपि पुरन्दरादिव्यक्तेर्नामरूपाभ्यां व्याक्रियमाणस्यासत्वेऽपि पुरन्दरादिशब्दप्रतिपाद्यां कारणेऽवस्थितां मनसालोच्य पुनरपि पुरन्दरादिव्यक्तिं

उसमें तो विग्रहवती देवता को मानने पर विरोध है हो। विरोध प्रकार को बतलाने के लिए ही कहते हैं "देवादिनामित्यादि" विग्रह विशिष्ट देवों को सावयव होने से उत्पाद विनाशशालित्व रूप अनित्यत्व तो अनिवार्य है [न्यायमत से प्रतिक्षण में अवयवों को उपचय अपचय होने से अनित्यता है] तब उत्पत्ति के पूर्वकाल तथा विनाशोत्तर काल में अवयवी का अभाव होने से अनित्यत्व अशक्य परिहार्य है। एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में सूत्रावयव का व्याख्या करते हुए वृत्तिकार कहते हैं "अतोविनष्टार्थकेत्यादि यह जो विनष्टार्थक वैदिक शब्द इन्द्रकुवेरादिक वैदिकदेवता वाचक शब्द हैं उन शब्दों से पुनः वाच्य देवादिक जो पुरन्दरादिक अर्थ विषय है उसकी उत्पति होती है। इन्द्रादिक जो वैदिक शब्द हैं वे संस्थानरूपाकृति जाति का वाचक हैं। नतु अर्थ रूप व्यक्ति का वाचक क्योंकि यदि व्यक्ति वाचकता शब्द को

समुत्पादयति. नामरूपाभ्यामाविर्भावयति । एतदेव वक्ष्यमाणश्रुत्यादिभ्योऽवगम्यते । तथाहि "सभूरि"त्यादि स प्रजापतिः सर्गादिकाले पदार्थानाविर्भावयितुं व्यवस्थितः भूरित्याकारकं शब्दं व्याहरोदुच्चारयामास तदुच्चारणानन्तरमेव भूमिं सर्वप्राण्यधिष्ठानलक्षणमसृजत् समुत्पादयामास । शब्दादनन्तरं जायमानत्वात् भूमेःशब्दप्रभवत्वम् । यद्यप्यर्थस्यसमवायिकारणं न्यायमतेन परमाणुरेव. मतान्तरेऽव्यक्तं मायावेति नार्थोपादानत्वं शब्दस्य तथापि घटादिककार्येदण्डादिवन्निमित्तत्वन्तु शब्दस्याबाधितमेव "यदव्यवहितक्षणोत्तरं यज्जायते तस्य तन्मूलकत्वमिति" दण्डकपालाद्यनन्तरजायमानघटादिवदिति । "वेदेन नाम रूपे" इत्यादि प्रजापति ब्रह्मा सर्गादौ सतासतीसत्वा-

कहे तब तो व्यक्ति के अनन्त होने से आनन्त्य तथा व्यभिचार होता है और जातिवाचक होते हैं तो जाति तो एक है। इसलिए आनन्त्यादिक दोष नहीं है। अतः पद शक्यत्व जाती में है। लाघव होने से व्यक्ति का मान तो तुल्यवित्ति वेद्यत्व रूप से लक्षणा से बोध होता है। शक्यतावच्छेदकतया जाती का भान मानें तदपेक्षया शक्यतया जातिभान पक्ष ही श्रेयस्कर है। नैयायिक तो जाति विशिष्ट व्यक्ति में ही शक्ति मानते है। वह कहते है कि केवल गोत्वादि जाति में पद की शक्ति मानेगे तो गोपद का शक्यता वच्छेदक गोत्वत्व होगा और गोत्वत्व गवेराावृत्तित्वे सति सकल गो समवेतत्व रूप है। तो शक्यतावच्छेदक कोटी में व्यक्ति का प्रवेश होने से गौरव हो जाता है इत्यादि विचार को अन्यत्र देखना चाहिए। प्रकृत में मीमांसक मत के अनुकूल वृत्तिकार ने बतलाया कि शब्द जाति वाचक है, व्यक्ति का नहीं

जब शब्द का व्यक्ति वाचकत्व नहीं किन्तु संस्थान रूप आकृति वाचकता है तब प्रजापति भगवान् इन्द्रवरुणादि रूप जो व्यक्ति. तादृश व्यक्ति का सर्गके प्राक्काल में अभाव होने पर भी इन्द्रादि पदवाच्य जो आकृति

सत्वधर्मयुक्तनामरूपे व्याकरोत्. विस्पष्टे अकरोत् कृतवान् । केन कारणेन कृतवान् तत्राह "वेदेन" अर्थात् वेदशब्दंबोधकमुच्चारयन् नामरूपयोरुत्पत्तिं कृतवानित्यर्थः। "सर्वेषां तु" इत्यादि । स प्रजापतिः सर्वेषां सृज्यमानवस्तूनां नामानि पुरन्दरादीनि कर्माणि स्वरूपं च. पृथक्–पृथक् पार्थक्येन. नतु संमिलितरूपेण. आदौ सृष्टेः प्रवर्तन समये वेदशब्दद्वारा अर्थात् वैदिकशब्दात्मकनिमित्तमासाद्य पृथगवयवाकृतिविशिष्टतया निर्ममे निर्मापयाञ्चकारेत्यर्थः । "नाम-रूपं च भूतानामित्यादि । भूतानामित्यत्र भूतपदमशेषस्य जगत उपल-क्षकं नतु भूतमात्रम् । सः प्रजापतिरादौसर्गसमये. सर्वस्यापि सृज्य-मानपदार्थस्य नाम देवदत्तेत्यादिनाम, तथा तदीयं स्वरूपम्, तथा कृत्यानां कर्त्तव्यवस्तूनां प्रवर्तनं वैविध्येन प्रदर्शनम्, एतत्सर्वं देवादिशब्दप्रतिपाद्यानां वेदशब्देभ्य एव चकार कृतवान्. वेदशब्दं

तादृश आकृति को मन में संकलित करके तादृश जाति के आश्रय इन्द्र पुरन्दरादि व्यक्त्यन्तर को उत्पन्न करते है नतु पूर्व सर्ग स्थित व्यक्ति का उत्पादन करते हैं । "सोयमिन्द्रः" यह जो प्रत्यभिज्ञा होती है वह आ कृति विषयकहै । व्यक्ति विषयक नहीं है "सैवेयं दीपकलिका" इसके समान "यथा वा त एवामी केशाः सैवेयं गुर्जरीतिवत्" यह विषय कपोल कल्पित नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष तथा अनुमानगम्य है यहाँ प्रत्यक्ष शब्द श्रुति बोधक तथा सूत्र घटक अनुमान शब्द स्मृति बोधक है । यहाँ "श्रुतिस्मृति भ्याम्" ऐसा सूत्रकार ने नहीं कहा । किन्तु "प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" ऐसा कहा । इसका तात्पर्ययह है कि लोक में जिस तरह प्रत्यक्ष प्रमाण स्वप्रामाण्य में इतरानपेक्ष है और अनुमान प्रत्यक्ष सापेक्ष है । इसी तरह प्रकृत में प्रत्यक्षवत् श्रुति के प्रमाण्य में इतरानपेक्षत्व तथा स्मृति में वेद प्रमाण्यापेक्ष प्रामाण्य को बतलाने के लिए ऐसा कहा है ॥

कौन श्रुति स्मृति इसमें प्रमाण है इसबात को बतलानें के लिए कहते

निमित्तीकृत्य सर्वसृज्यमानवस्तूनामुत्पादनं कृतवानिति विष्णुपुराण-वाक्यसारार्थः ॥

एवं च प्रदर्शितश्रुतिस्मृतिशतेभ्यः शब्दपूर्विकायाः सृष्टेर्दर्शनात् वैदिकशब्दे देवादीनां विग्रहवत्वेऽपि कश्चिद्विरोधोनोपलक्षिता भवति । एवम् "अनादि निधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा । आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः" । इत्यादि स्मृत्या वेदोऽपौरुषेयः संप्रदायाविच्छेदे सति स्मर्यमाण कर्त्तृकत्वादित्याद्यनुमाने च वैदिकशब्दानां नित्यत्वावगमात् । न च "छन्दांसि जज्ञिरे" इत्यादि श्रुत्या "प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्याविधीयते" इत्यादि स्मृत्या च वेदशब्दस्यानित्यमेवायातीति वाच्यम्. एतेषां प्रमाणानां संप्रदायप्रवर्तकत्वमात्रे तात्पर्यात् । तदाहुराचार्याः–"अतो वैदिक-

हैं "एवंच सभूमिरितीत्यादि । उस प्रजापति ने सृष्टि के प्रारंभमें पहले भू एतादृश शब्द का उच्चारण किया । तब पृथिवी को भूर्लोक को बनाया उस प्रजापति ने वेद शब्द द्वारा नामरूप को बनाया । उस प्रजापतिने सृष्टि के आरंभ में सभी पदार्थों का पृथक् रूप से नाम तथा कर्मों का निर्माण वेद शब्द के द्वारा ही किया [मनु.–१।२१]उस प्रजापति ने सर्ग के आदिकाल में भूतों का जड़ चेतन पदार्थों का नाम रूप तथा कर्त्तव्य वस्तुओं देवादि लोकों का प्रवर्तन वेदशब्द के द्वारा ही किया । [वि० पु० १।५।६३।] इत्यादि श्रुति स्मृति से जाना जाता है कि पदार्थ व्यक्ति रूप का जो निर्माण किया गया है वह वैदिक शब्द के द्वारा ही किया गय है । इस प्रकार से शब्द पूर्वक सर्ग को शास्त्र प्रतिपादित होने से वैदिक शब्द में कोई विरोध नहीं है । अर्थात् विग्रहवान् देवको होने पर भी विशिष्ट ऐश्वर्य के सम्बन्ध से जिस तरह कर्म यागादिक में किसी तरह कोई विरोध नहीं है । उसी प्रकार से नित्य वैदिक शब्द में भी किसी प्रकार का विरोध नहीं है । क्योंकि नित्य वैदिक शब्दों से जिनका वाच्य अर्थ विनश्वर भी है उन शब्दों से देवादि

अत एव च नित्यत्वम् ।१।३।२९।

वैदिकशब्देभ्यो नित्याकृतिं हृदि निधाय वेधास्तत्तदर्थांश्च संस्मरन् सृजतेऽत एव वेदस्य नित्यत्वमुपपद्यते । अत एव "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः" "वाचा विरूप

शब्देभ्य एव देवादिसृष्टिकरणाद्देवादिसृष्टिहेतुत्वेन तेषां सार्थक्याद्देवादीनां विग्रहवत्वेऽपि नवेदस्यानित्यत्वप्रयोजकः कश्चिच्छब्देऽपि विरोधः" (आनन्दभाष्यम् १।३।२८) अन्यथा नित्यता प्रतिपादकानेकश्रुतिस्मृति, अनुमानादि प्रमाणानामानर्थक्यमेव समुपपादितं स्यादिति दिक् ॥२८॥

विवरणम्—यस्मात् कारणात् वैदिकपुरन्दरवरुणादिशब्दद्वारा प्रजापतिरिन्द्रवरुणाकृतिं मनसि विचार्याकृतियुक्तां विग्रहादिविशिष्टानर्थान् सर्जयति सर्गादौ तस्मादेव कारणात् सर्जकस्य वेदस्यापि नित्यत्वमर्थत एव सिद्धं भवतीति दर्शयितुमाह "वैदिक शब्देभ्यः" इत्यादि । वैदिक शब्देभ्यो वैदिकपुरन्दरादिशब्दद्वारा वैदिकपुरन्दराद्याकृतिं तदनुगतारूप व्यक्ति का उत्पादन होता है इस बात को श्रुतिस्मृति प्रमाणो से सिद्ध किया गया है । वैदिक अर्थ में वैदिक शब्दो का ही प्रामाण्य है । तदितर प्रमाण अथवा तर्क उसमें प्रयोजक नहीं ॥२८॥

सारबोधिनी—जिससे वैदिक पुरन्दरादिक द्वारा पुरन्दर वरुणादि आकृति को प्रजापति ब्रह्मा मन में स्थिर करके और पुरन्दरादि व्यक्तियों का स्मरण करके इस सृष्टि को नवीन प्राय बनाते हैं उसी कारण से इन्द्रादि वाचक जो वैदिक शब्द हैं उनमें नित्यत्व सिद्ध होता है । अर्थात् ब्रह्मा जी सृष्टि के आदि में सम्प्रदाय के प्रवर्तक जो बादरायण व्यास बोधायन दधीची प्रभृति मन्त्रार्थ के द्रष्टा हैं उनकी आकृतियों का निश्चय करके तादृश शक्ति युक्त तदाकृति विशिष्ट तत्तत् ऋषि को उत्पन्न करके उनको तत्तत् कार्य में प्रवृत्त कराते हैं । वे ऋषि लोग भी स्वकीय कार्यानुकूल शक्ति को

नित्यया" [तै० सं० २।६।११।] इत्यादिश्रुतयः सङ्गच्छन्ते । एतदनुरोधेन "त्रयो वेदा अजायन्त" इत्यादिवाक्यानां प्रादुर्भावमात्रे तात्पर्यमित्यवगन्तव्यम् ॥२९॥

नर्थांश्च हृदि मनसिनिधाय संप्रधार्य्य मनसाविचार्येत्यर्थः । वेधाः प्रजापति ब्रह्मा सर्वानर्थान् पदार्थान् सृजते समुत्पादयति । अत एव तस्मादेव कारणात् वाच्यस्य नित्यत्वे वाचकस्यापि वेदस्यापि नित्यत्वमेव संसिद्धं भवतीति । यत एवं वेदस्य नित्यत्वम्. अतएव वक्ष्यमाणश्रुतिरप्यनुगृहीता भवति. 'अस्य महतो भूतस्ये'त्यादि ।' अस्य प्रत्यक्ष परिदृष्टस्य महतो भूतस्य सर्वशक्तिमतः परमेश्वरस्य निश्वासितम्. निःश्वास स्थानीयमेव ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः शिक्षाकल्पश्छन्दो व्याकरणादि । एवम् "वाचा विरूपनित्यया वृष्णे सुष्ठुस्तुतिं चोदस्व" हे विरूप ! नित्यया अनादि निधनयावेदात्मिकयावाण्या सुष्ठु समीचीन रूपास्तुतिमाराध्य देवतायाः कुरुत इत्यर्थः । "अनादि

प्राप्त करके पूर्ववद् वेद को पढ़कर यथोचित कार्य को करते हैं । इसलिए वेद में नित्यत्व उपपन्न होता है । इस विषय को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "वैदिक शब्देभ्यः" इत्यादि । वैदिक जो इन्द्र वरुणादिक शब्द हैं उनके द्वारा नित्य इन्द्रत्वादिक आवृत्ति को मन में थिर करके वेधा कमलासन ब्रह्माजी तादृश–तादृश शब्द प्रतिपाद्य अर्थ का अर्थात् व्यक्ति का जो कि पूर्वकल्प में रहनेवाला–उन सबको नवीनतम के समान समुत्पन्न करते हैं । इसलिए वेद में नित्यत्व की उपपत्ति होती है । वेद नित्य है, अतएव, "यह जो महान् भूत परमात्मा है उनके निःश्वास के समान ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, शिक्षाकल्प, निरुक्त प्रभृतिक हैं । एवं" हे विरुप विलक्षण रूपवान्, नित्यवाणी वेदात्मक नित्य वचन से समीचीन रूप से मेरी स्तुति करो । इत्यादि श्रुतिस्मृति भी संगत होते हैं । अर्थात् यदि वेद नित्य हो तभी ""नित्यया वाचा" यह कथन संगत हो सकता है । अन्यता

निधनानित्यावागुत्सृष्टास्वयंभुवा । आदौवेदमयीनित्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ।" इत्याद्यनेकाः श्रुतिस्मृतयो वैदिक शब्दानां नित्यत्वं प्रतिपादयन्त्यः समनुगृहीता भवन्ति । अन्यथा वेदस्यानित्यत्वस्वीकारे इमाः सर्वा अपि नावकाशा भवेयुरिति । निरवकाशश्च विधिर्बलीयान्भवतीतिशाब्दिकानां मर्यादा । न चैवं वेदस्य नित्यत्वे "त्रयोवेदा अजायन्त सामवेद आदित्याद् ऋग्वेदोऽग्नेर्यजुर्वेदोवायोः" इत्यादि वाक्यानां तथा "तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।" इत्यादीनां च का गतिः । उभयोर्वेदत्वे एकस्य गौणत्वमितरस्य च मुख्यत्वकल्पनमपि सर्वथैवायोग्यम्. उभयोरेव स्वप्रामाण्यं प्रतिनिरपेक्षत्वमिति वाच्यम्, प्रमाणै र्वेदस्य नित्यत्वेस्थिरीकृते सति यानीमानि जन्यताप्रतिपादकवाक्यानि तानि कल्पादौ संप्रदायप्रवर्तकानीति गृहाण । यानि तु अनुमानादीनि प्रमाणानि जन्यता प्रतिपादकानि वेदस्य तानि प्रदर्शितश्रुत्यादिबाधितत्वात्कालात्ययापदि-

पक्ष में ये सब वचन बाधित हो जायेंगे । एवम् "अनादिनिधनानित्यावागुत्सृष्टा स्वयंभुवा । आदौ वेदमयोनित्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः" अनादि निधना नित्य वाणोका उत्सर्जन सृष्टि के आदि में स्वयंभू ने किया । जिसने वाणियों के द्वारा सकल पदार्थों को उत्पत्ति हुई । इत्याद्यनेक स्मृतियों से भी वेद में नित्यत्व की सिद्धि होती है "त्रयो वेदा अजायन्त" इत्यादि । "प्रति मन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्याविधोयते" तीनो वेद उत्पन्न हुए । प्रत्येक मन्वन्तर में श्रुति अन्य-अन्य रूपा होती है । इत्यादि वचनों से तो वेदों में अनित्यता की ही सिद्धि होती है । तथा "वेदोऽनित्यः वाक्यत्वात् कालिदास वाक्यवत्" इत्यादि अनुमान से भी वेदों में अनित्य सिद्ध होता है । तथा प्रत्येक उच्चारण में शब्दभेद का प्रतिभास होने से वर्ण अनित्य तो तादृश शब्द राशि रूप से वेद भो तो अनित्य ही सिद्ध होता है । ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि अनेक श्रुति स्मृतियों से जब वेद में नित्यत्व

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ।१।३।३०।

प्राकृतप्रलयेऽपि वेदनित्यताविषये न विरोधः । सृज्यपदार्थानां पूर्वसर्गसमाननामरूपत्वात् । अयम्भावः । सर्वज्ञः सर्वशक्तिः परमपुरुषः प्राकृतप्रलयानन्तरं [सर्गादौ] जागतिकवस्तुजातं पूर्वनामाकृ-

---

ष्टानि । एतदेव दर्शयति स्ववचसा वृत्तिकारः "एतदनुरोधेनेत्यादि" वेदस्य नित्यताप्रतिपादकवाक्यानुरोधेन "त्रयो वेदा" इत्यादि वाक्यानि कल्पादौ सम्प्रदायप्रतिपादकप्रादुर्भावपरकाणि नतु जन्यताप्रतिपादकानीति सर्वं समञ्जसमिति संक्षेपः ॥२९॥

विवरणम् :- ननु "एष नैमित्तिको राजन् प्रलयो यत्र विश्वसृक् । शेतेऽनन्तासने नित्यमात्मसात्कृत्यचाखिलम्" इति पुराणलक्षितवर्तमानप्रजापतेर्दिवसाननिमित्तकजन्यपदार्थविनाशमूलकप्रलयकालान्तर तदीयप्रातःकालिकद्वितीयादिनादिकाले सुप्तोत्थितः प्रजापतिः पूर्वदिनानुभूतसकलपदार्थजातं वेदं च संस्मृत्य वेदशब्दोच्चारणपूर्वकसर्वपदार्थं तदाकृतिस्मरणपूर्वकं संसृजन वेदादि वस्तूनां प्रवाह सिद्ध होता है तब "त्रयोवेदा" इत्यादि वाक्य वेद के आविर्भाव मात्रपरक है ऐसा मानो । और श्रुति बाधित होने से अनुमान तो आभासमात्र है । इसका विशेष विवरण आनन्दभाष्यविवरण में देखें । इसी विषय को वृत्तिकार ने "एतदनुरोधेन" इस प्रकार से बतलाया है ॥२९॥

सारबोधिनी—चार हजार युग का ब्रह्माजी का एक दिन होता है इसी तरह रात्रि काल भी चार हजार युग परिमित ही होता है, तो ब्रह्माजी का दिवसावसान मूलक जो नैमित्तिक प्रलय होता है । तदनन्तर पुनः ब्रह्माजी के दिन का प्रारम्भरूप नवीन सर्ग पूर्वदिनानुभूत सब पदार्थों को स्मरण करके प्रजापति पुनः सृष्टि करते हैं यह कहलाता है नैमित्तिक प्रलय । "एष नैमित्तिको राजन् प्रलयो यत्र विश्वसृक् । शेतेऽनन्तासने

तिवदेव समुत्पादयति । स्वान्तर्निहितान् गतकल्पीयस्वरवर्णानुपूर्वीमतो वेदानपि पूर्ववदेव चतुर्मुखमुत्पाद्य तमध्यापयति । तद्द्वारामनायसम्प्रदायमविच्छिन्नमेव प्रवर्तयति । एतच्च 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च महिणोति तस्मै, 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" ऋषीणां नामधेयानि यथा वेदश्रुतानि वै । तथा नियोगयोग्यानि

नित्यत्वं तु सिद्ध्यतु नाम । परन्तु "द्विपरार्धेत्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । तदा प्रकृतयः सप्त कल्प्यन्ते प्रलयाय हि" इति पुराणलक्षण लक्षितप्रजापतेरायुः समाप्त्यनन्तरं सूक्ष्मपंचतन्मात्राहंकारमहत्तत्वान्त प्रकृतीनां विनाशे परमेष्ठिनोऽपि प्रारब्धकर्म समाप्त्या विनाशात् उत्पादकस्योत्पाद्यस्य चाभावात् कथं कः कं संस्मृत्य समुत्पादयन् वैदिकशब्दानां नित्यत्वमवगमयिष्यति । ततश्च कथमुच्यते नित्येभ्यो वैदिकशब्देभ्यो व्यक्तिनामुत्पादात् वैदिकशब्दानां नित्यत्वं समुत्पादकस्य कर्तुरुपादानस्य च सूक्ष्मतन्मात्रादि महत्तत्वान्तकारणस्यापगमात् प्राकृतप्रलये । इत्याशङ्कांनिरसितुं सूत्रं व्याख्यातुञ्च प्रक्रमते "प्राकृतप्रलयेपि" इत्यादि "यद्यपि नैमित्तिकप्रलये वेदस्य नित्यता प्रतिपादिता "अत एव च नित्यत्व" मिति सूत्रेण तथापि प्राकृतप्रलये समुत्पादकस्य प्रजायतेस्तत्सहकारिणो महत्तत्वादेरुपादानस्य चाभावेन नित्य मात्मसात्कृत्य चाखिलम्" एतादृश नैमित्तिक प्रलय में प्रजापति वेद शब्द द्वारा इन्द्रादि रूप अर्थ का निर्माण करते हैं । तो इस प्रकार से वेद में नित्यत्व की सिद्धि हो, परन्तु प्राकृत प्रलय में तो ब्रह्मा का भी प्रलय होता है तथा पांच तन्मात्रा अहंकार बुद्धि तत्व इन सबका विनाश हो जाता है और स्रष्टा का भी अभाव हो जाता है । तब किस तरह पुनः सर्ग होगा ? तथा किस तरह से वेद में नित्यत्व सिद्ध होता है । इस शङ्का का निराकरण करने के लिए कहते हैं "प्राकृत प्रलयेऽपीत्यादि" । प्राकृत प्रलय में भी वेद की नित्यता के विषय में कोई विरोध

ह्यन्येषामपि सोऽकरोत्" [वि० पु० १।५।६४।] इत्यादि श्रुतिस्मृति-भ्यश्चावगम्यते । तस्मादस्त्येव देवादोनामपि ब्रह्मविद्यायामधिकार इति सिद्धम् ॥३०॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ देवताधिकरणम् ॥७॥

कथं वेदस्य नित्यतेति शङ्कां मा कुरु । कुतः ? तत्राह प्राकृत प्रलयेऽपि वेदनित्यता विषये विवादो न करणीयः प्राकृतप्रलयेऽपि वेदनित्यतायां विरोधो नास्तीत्यर्थः । तत्र हेतुमग्रे वक्ष्यति । अयमेवार्थः "प्राकृत प्रलयेऽपि" इत्यत्रापि शब्देनाभिव्यञ्जितः । तत्र "समानरूपत्वाच्च" इत्याकारकहेतु दर्शनायाहाचार्यः "सृज्यपदार्थानाम्"इत्यादि। सृज्यपदार्थानां वेदानां देवादीनां च प्रारीप्सितसर्गापेक्षया पूर्वसर्गे यादृशं नामयादृशञ्च रूपमासीत् तादृशमेवनाम रूपादिकमिदानीमपि दृश्यते । नहि यस्य पदार्थस्य यादृशं नामरूपादिकमस्मिन् सर्गे ततो विलक्षणं भिन्नमेव नाम रूपञ्चासोत् पूर्वसर्गे ।

अमुमेवार्थं स्पष्टयितुमाह "अयं भावः" इति । अभिप्रायमेव विशदयितुमग्रिमग्रन्थमवतारयति "सर्वज्ञः" इत्यादि । सत्यं प्राकृत प्रलयानन्तरं नास्ति कश्चिदुत्पादकः परन्तु सर्वथा सर्वविषयकज्ञानवान् सर्वशक्तिमान् परमपुरुषः श्रीसाकेताधिपतिः स्वयमेव प्राकृतप्रलयस्य

नहीं है । क्योंकि सृज्यमान जो उत्तर कालिक पदार्थ समुदाय हैं उनका पूर्व कालिक सर्गके समान ही नाम रूप होता है ।

इस "समान नाम रूपत्वात्" का स्पष्टीकरण करने के लिए वृत्तिकार कहते हैं "अयंभावः" इत्यादि । यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि सर्वज्ञ सर्व विषय का सामान्य रूप से तथा विशेष रूप से ज्ञानवान् तथा सर्वशक्तिमान् परम पुरुष श्रीसाकेताधिपति प्राकृत प्रलय के अनन्तर पुनः होनेवाला जो सर्ग है उसके प्रारम्भकाल में जागतिक संसारस्थित सकल पदार्थ का पूर्वकालिन नाम तथा आकृति विशिष्ट का पुनः उत्पादन करते

समाप्तेरनन्तरं नवीनसर्गस्यादिकाले सृज्यमानप्राणि शुभाशुभकर्म सहकृतो जगतीतलस्थित सकलपदार्थसमुदायं पूर्वसर्गकालिक नामाकृतिविशिष्टमेव समुत्पादयति तदुक्तमाचार्यशिरोमणिजगद्गुरु श्रीश्रुतानन्दाचार्येण श्रौतसिद्धांतविन्दौ "विकारश्चरामोदयाब्धिस्तथात्वे दयाशून्यतां पक्षपातश्च नैति। प्रकारे विकारस्तथा चित्रसृष्टौ च हेतुर्यतः प्राणिनां प्राच्यकर्म इति। न केवलमुपभोग्यवस्तुजातमेवोत्पादयति किंतु स्वान्तर्निहितान् स्वप्रकृतित्वेन स्वस्मिन् अव्यवस्थितान् अतिक्रान्तकल्पस्थितान् स्वरवर्णानुपूर्वीमतो ऋगादिवेदान् शब्दराशीनपि समुत्पादयति। तथा पूर्वकल्पवत् नवीनकल्पे चतुर्मुखनामकं प्रजापतिमपि नवीनमेवोत्पा-

है। भगवान् के अभ्यन्तर में अवस्थित पूर्वकल्पस्थित स्वरवर्ण तथा आनुपूर्वी विशिष्ट ऋगादि वेदों को भी पूर्व के समान हीं चतुर्मुख प्रजापति को उत्पन्न करके उस प्रजापति को तादृश वेदों का अध्ययन कराते हैं। तथा प्रजापति के द्वारा अविच्छिन्न वेद संप्रदाय को भी चलाते हैं ये सब विषय "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्" साकेताधिपति ने पहले तो ब्रह्माजी को बनाया उसके बाद ब्रह्म—प्रजापति को वेद प्रदान किया। धाता प्रजापतिजी ने यथापूर्व जिस प्रकार से अनेक कल्पों में पदार्थों की उत्पत्ति हुई थी, उसी रूप से सब पदार्थों को —तत्तत् आकृति विशिष्टों को बनाया"। "जिन ऋषियों का जैसा रूप अर्थात् आकृति—वेद में सुना गया है। उसी तरह नियोग योग्य नामरूप को बनाया, एवं अन्यवस्तु देवता वेद मनुष्य तिर्यगादिकों का नामरूप वेद प्रतिपादित रूप से बनाया" इत्यादि श्रुति स्मृतियों से जाना जाता है कि प्राकृत प्रलय के बाद में भी पुनः भगवान् प्रजापत्यन्तर का निर्माण करके संसार प्रवाह को अविच्छिन्न रूप से व्यवस्थित रखते हैं। प्रजापति तो केवल सर्ग कार्य तथा प्रलय में द्वार मात्र हैं। मुख्य कारण तो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्री सीतानाथ ही हैं। वाल्मीकिय रामायण में भी कहा है कि—

दयति जगद्व्यवहारव्यवस्थापकम् । समुत्पाद्य च तादृशप्रजापतिं करुणाकुपारस्तं वेदमविकलमध्यापयति । "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इत्यादि श्रुत्युक्तेः । अध्याप्य च वेदं प्रजापतिद्वारा अविच्छिन्नं शब्दराशिरूपं वेदसम्प्रदायमपि प्रवर्तयति येनाद्यावध्यविकलो वेदसंप्रदायोऽनुवर्तते अनुगतो भविष्यति चातः परमपि । तदयं सूत्रार्थः आवृत्तौ प्राकृतप्रलयानन्तरमपि वेदनित्यता विषये विरोधो नास्ति कुतः ? समाननामत्वात् सृज्यमानपदार्थानां सृष्टैः पदार्थैः । तत्र हेतुः दर्शनात् स्मृतेश्च । तत्र दर्शनं श्रुतिः । यथा प्रत्यक्षं स्वप्रामाण्ये स्वेतरानपेक्षम् तथव श्रुतिरति स्वप्रामाण्ये स्वेतरानपेक्षत्वात् दर्शनवदेव भवति दर्शनपदबोध्यतां लभते । तथा स्मृतेरपि श्रुत्यनुकूलस्मृतिबलेनाऽपि समाननामरूपवत्वं सृज्यानां संसाधितं भवतीति । श्रुतिस्मृत्यादिप्रमाणसञ्चयं कर्तुं प्राह "एतच्चेत्यादि" एतत्सर्वं समाननामवत्वादिकं सृज्यानां श्रुति-

"संक्षिप्य हि पुरा लोकान् मायया स्वयमेव हि ।
महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः ॥१॥"
पद्मे दिव्यार्कसंकाशे नाभ्यामुत्पाद्यमामपि ।
प्राजपत्यं त्वया कर्म मयि सर्वं निवेशितम् ॥२॥"

हे सर्वनियामक जगद्गुरो ? पूर्वकाल में आपने स्वकीय विलक्षण माया के द्वारा सर्व पदार्थ को जो कि आपका शेषरूप है उनको सूक्ष्मावस्था का आपादन करके अपने अन्दर में संक्षिप्त विलीन करके दिनात्यय में नीड़ में पक्षी के समान, स्वयं महा समुद्र में शयन करनेवाले आपने पूर्व में प्राकृत प्रलयानन्तर जायमान सर्ग के आदिकाल में मुझको उत्पन्न किया । एतावता पदार्थ मात्र के प्रति भगवान् को शेषित्व का अभिव्यंजन होता है ॥१॥ तथादिव्य सूर्य के प्रकाश के समान प्रकाश विशिष्ट नाभि कमल में मुझको उत्पन्न करके आपने मुझको प्रजापत्य का भार भी सौंप दिया ।

स्मृतिभ्योऽवगतं भवति तत्र प्रथमं श्रुतिमुदाहरति "यो ब्रह्माणमित्यादि." यः सर्वशक्ति समन्वितः श्रीसाकेताधिपतिः प्राकृतप्रलयानन्तरं जगद्व्यवहारसंचालकं ब्रह्माणं प्रजापतिं विदधाति समुत्पादयति । तदनन्तरं व्यवहारप्रयोजकं सर्वानेव वेदान्समुत्पादयति ततो वेदमुत्पाद्योत्पन्नं प्रजापतिं ग्राहयत्यध्यापयति च । तदन्याध्यापकस्य तत्राभावात् । यथा पूर्वकल्पे पदार्थाः, आसन् तथैव कल्पान्तरेऽपि धाता सर्वसर्जकः परमपुरुषः श्रीसाकेताधिपतिरकल्पयत् समुत्पादितवान् । इत्यादि श्रुत्याऽवगतं भवतीति । स्मृतिमुदाहरति "ऋषीणा" मित्यादि । स परमपुरुषः ऋषीणां तदन्येषां सर्वेषामपि सृज्यमान वस्तूनां विभागपूर्वकं यथा कार्यं च समुत्पादयामासेत्यर्थः । एभिः श्रुतिस्मृतिशतैः प्राकृतप्रलयानन्तरमपि सर्वशक्तिमता परमेश्वरेण सर्वं समाननामरूपकमेव समुत्पादितं भवतीति नैमित्तिकप्रलये प्राकृत प्रलयेऽपि वेदस्य नित्यता विहता न भवति । सेयं नित्यता प्रवाह नित्यतेति गीयते । एवं च यथा मनुष्याणामधीतवेदानां ब्रह्मविद्यायामधिकारो भवतीति सिद्धस्तथैव देवानां ऋषीणामपि ब्रह्म-

मैं आप से प्राजापत्य भार को लेकर के आपकी सेवा कर रहा हूँ आप कृपया मेरी रक्षा करें । हे भगवन् ! रक्षार्थ कार्य को करने के कारण से ही आपको विष्णु सर्व रक्षक कहा जाता है। इत्यादि अनेक प्रमाण से सिद्ध होता है कि प्राकृत प्रलय के बाद पुनः श्री साकेताधिपति सर्ग ब्रह्माण्डों को बनाते हैं । और उसमें सर्व प्रथम प्रजापति को उत्पन्न कर उसको वेद पढाकर के उन प्रजापति के द्वारा जागतिक सकल व्यवहार का संपादन करते हुए जगत प्रवाह को अविकल रूप से संचालन करते रहते हैं इस प्रकार वेद के नित्यत्व होने से तद्द्वारा सकल पदार्थों का समान–नामरूपवत्व होता है और प्रकृत प्रलय में भी वेद नित्यता

मध्वधिकरणम् ॥८॥

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ।१।३।३१।

सामान्येन देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारस्य निर्णीतत्वात्तत्र विशिष्टं विचार्यते । यत्रैकस्या एव देवताया उपास्योपासकत्वं "असौ वा आदित्यो देवमधु" [छा०३।१।१।] इत्यादिषु श्रुतं तत्र

विद्यायामधिकारो भवत्येव । यतोऽधिकारकारणस्यार्थित्वसामर्थ्यस्य चोभयत्र सद्भावादिति कृतंपल्लवितेनेतिदिक् । ॥३०॥

इति श्रीजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे देवताधिकरणम् ॥७॥

विवरणम्—पूर्वप्रकरणे यथा मनुष्याणामधिकारस्तथा देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामस्त्येवाधिकारोऽर्थित्वसामर्थ्ययोरधिकारकारणस्य देवादेरपि संभवादित्यादि विचारितवान् । परन्तु यत्रोपासनायां देव विशेष एवोपास्यतया निर्दिष्टस्तादृशोपासनायां तस्य देवस्याधिका-

का विरोध नहीं होता है । इस प्रकार प्रामाणिक अर्थित्व सामर्थ्य होने से देवताको भी ब्रह्मविद्या में अधिकार है यह सिद्ध होता है ॥३०॥

इति देवताधिकरणम् ॥७॥

सारबोधिनी—तदुपर्यपि बदरायणः इस सूत्र में निर्णय किया कि जिस तरह अधिकार का कारण अर्थित्व सामर्थ्य मनुष्य में है उसी तरह अधिकार का कारण देवादिक में भी है अतः मनुष्य के समान देवता को ब्रह्म विद्या में अधिकार है । तो अब यहां पूर्वपक्ष होता है कि ब्रह्म विद्या में देवताओं का अधिकार है तब इतर विद्या भी तो विद्या ही है यथा मधुविद्यादिक तो उसमें भी देवताओ का अधिकार होना चाहिए अगर इष्टापत्ति माने तो, वह असंभवित है । जैसे "आदित्यो देवमधु" इस मधुविद्या में आदित्यादिक देव उपास्य तया श्रुत है । तो वही उसका उपासक किस तरह हो सकते है एक क्रिया के प्रति जो कर्त्ता होता है वही उस क्रिया के प्रति

तासां देवतानामधिकारोऽस्ति न वेति संशयः । वस्वाद्युपासकानामेव मधुविद्यास्वुपास्यत्वादुपेयत्वाच्चैकस्या एव कर्मकर्तृत्त्वे विरोधादुपास्यत्वासम्भवात् । स्वतः सिद्धस्य वसुत्वादेरेवोपेयत्वेन तस्याप्यसम्भवात्तासु विद्यास्वनधिकारं जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥३१॥

रोऽस्ति न वेति संशयं कृत्वा तादृशोपासने तद्देवस्य नास्त्यधिकार इति जैमिनेराचार्यस्य मतमसंभवादिति द्योतयितुमाह, "सामान्येन देवादीना" मित्यादि । पूर्वप्रकरणे सामान्यरूपेण मनुष्यवत् इन्द्रादि देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायाम्. अर्थित्वसामर्थ्ययोरधिकारकारणसत्वादधिकारोऽस्तीति निर्णयं कृतवान्। तत्रैव वस्तुनि किमपि वैशिष्टयम् पुनर्विचार्यते । तत्र यत्रोपास्योपासकयोर्भेदस्तत्र यथा तथा सर्वं भवतु परन्तु यत्र य एवोपास्यः स एवोपासकश्च यथा मधुविद्यासु । तत्र स एव आदित्य उपास्यतया निर्दिश्यते उपासक रूपेणापि । यथा "असौ वा आदित्यो देवमधु" इत्यादि स्थले श्रूयते । एतादृशस्थले

कर्म नहीं होता है । क्योकि कर्म कर्तृभाव भेदमूलक होता है जैसे देवदत्त गाम में जाता है प्रयोग होता है देवदत्त देवदत्त में जाता है ऐसा प्रयोग नहीं होता है। उपदर्शित विरोध होने से । मधु विद्यादिक अवान्तर विद्याओं में असंभव दोष होने से देवताओं का अधिकार नहीं है ऐसी जैमिनि आचार्य की मान्यता है। इन सब विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए तथा अग्रिम सूत्रों के आशयों को बतलाने के लिए कहते हैं "सामान्येन देवादीनामपीत्यादि" । इन्द्रादिक देवताओं को भी ब्रह्म विद्या में अधिकार है। क्योंकि अधिकार का कारण अर्थित्व तथा सामर्थ्य देवों में भी है इस प्रकार से सामान्य रूप से पहले निर्णय किया गया है। उसी विषय में कुछ विशेष विषय का विचार किया जाता है। जिस स्थलविशेष में एक ही देवता में उपास्यत्व तथा उपासकत्व प्रतीयमान होता है जैसे मधुविद्या में "असौ वा आदित्यो देव मधु"[यह जो सवितृ मण्डलस्थ आदित्य हैं वे देवता

तस्यैव देवस्याधिकारो भवति न वेति संशयो जायते। तत्रोपास्योपासकयोरेकत्वेनाऽसंभवान्नास्त्यधिकार इति जैमिनिमतम्। एतदेव स्पष्टयति "वस्वाद्युपासकानामेवेत्यादि" मधुविद्यासु वस्वादिकादेवा एव उपास्यतया श्रुताः प्राप्यतया च श्रुता उपासका अपि त एव। अर्थात् उपासनक्रियायास्ते एव कर्त्तारः कर्म च। तदेतत् न संभवति कर्तृकर्मभावस्य भेदघटितत्वात्। नहि भवति देवदत्तो देवदत्तं गच्छति। तद्वत् प्रकृतेप्येकस्योपास्यत्वं तस्यैव चोपासकत्वमपि। एवं स्वतः सिद्धस्य वसुत्वादेरेवोपेयत्वेन उपायोपेयभावस्य भेद घटितत्वेन तस्याप्यसंभवात्। अत एतादृशीसु विद्यासु देवादीनामधिकारो नास्तीति महामुनि जैमिनिराचार्यौमन्यत इति। यत्र यत्र उपास्योपासकयोर्भेदः प्रमाणसिद्धस्तादृशविद्यास्वेव देवादीनामधिकारो भवति। यत्र तु तयोरुपास्योपासकयोरभेदस्तत्रासंभवान्नास्ति तेषामधिकार इति संक्षेपः ॥३१॥

के मधु हैं।] इत्यादि स्थल में सुना गया है। उस विद्या में उन देवताओं को अधिकार अर्थात् उपासना करने का अधिकार हैं। अथवा उस देवता का तादृश विद्या में अधिकार नहीं है। ऐसा संशय होता है। एतादृश संशय के बाद उत्तर कहते हैं वसु प्रभृतिक जो देव हैं उन्हीं को मधुविद्या में उपास्य अर्थात् उपासना कर्मत्व तथा उपेय अर्थात् उपासना के द्वारा प्राप्य होने से एक को एक क्रिया के प्रति कर्तृकर्मभाव का विरोध होने से उपास्यता असंभवित हैं। और स्वतः सिद्ध है वसुत्व जिसमें वह वसु ही उपेय प्राप्य किस तरह से हो सकता है, यह बात भी असंभवित है। क्योंकि कर्तृ कर्मभाव भेद घटित होता है। एक व्यक्तिप्राप्ति का कर्त्ता हो तथा वही व्यक्ति प्राप्तिक्रिया का कर्म हो ऐसा तो लोक विरुद्ध है। इसलिए एतादृशावान्तर विद्याओं में अर्थात मधु विद्यादिक विद्या में मनुष्य को ही केवल अधिकार है। किन्तु तत्तत् देवताओं का अधिकार नहीं है इस बात को जैमिनि

ज्योतिषि भावाच्च ।१।३।३२।

'तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' [बृ० ६।४।१४।] इति ज्योतिषां ज्योतिः परमात्मा तस्मिन्देवानामुपासकभावोऽपि देवतान्तरोपेयभूतासु मध्वादिविद्यासु वस्वादीनामनधिकारः ॥३२॥

विवरणम्—ननु यदि मधुविद्यादिषु देवानामधिकारस्तदाकश्चिद् देवमपि परिकल्प्येत. यत् उपासनामात्रे देवानामनधिकार. इतीमां शङ्कां परिहर्तुम्. पुनरपि विचारयति यत्. यत्र विद्यायां सर्वज्ञः सर्वशक्ति संपन्नः परमपुरुष श्रीसाकेताधिपतिरुपास्यतया श्रूयते तादृश विद्याया भवतुनाम देवादीनामप्यधिकारः परन्तु यत्र विद्यायामुपास्यतया परमात्मा श्रूयमाणो न भवति किन्तु देव एवोपास्यतया श्रूयमाणस्तादृशविद्यायां देवादीनामसंभवादनधिकार इति जैमिनिमुनेर्मान्यतां स्पष्टयन्नाह "तं देवा" इत्यादि। तं सर्वलोकवेदप्रसिद्धं ज्योतिषामादित्यादीनामपि ज्योतिर्भूतं प्रकाशकम्, "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" "चक्षुषीचन्द्रसूर्यौ" इत्यादि आचार्य मानते हैं। अर्थात् ब्रह्मोपासना में तो अधिकार है। परन्तु देवतोपासना में देवता का अधिकार नहीं है। यह जैमिनि का मत है ॥३१

सारबोधिनी—यदि मधु विद्या में देवता का अधिकार नहीं है तब तो कदाचित् कोई व्यसनी पुरुष ऐसा भी कल्पना कर सकता है कि देवता को विद्यामात्र में अधिकार नहीं है देवता विद्या में अधिकारी नहीं है, क्योंकि देवता होने से मधुविद्या के समान, इस शंका का निराकरण करने के लिए कहते हैं "तं देव" इत्यादि। [सूर्यस्याऽपि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः(श्रीरामायण) उस लोक वेद प्रसिद्ध ज्योतिः स्वरूप जो सूर्यादिक उसका भी ज्योति प्रकाशक परमात्मा को देवतासूर्यादिक भी यह आयुरूप है, अमृत हैं, ऐसा जान करके उपासना करते हैं।] इत्यादि स्थल में प्रकाश स्वरूप सूर्यादिक देवों का भी प्रकाशक परमात्मा उपास्यतया श्रूयमाण

भावन्तु बादरायणोऽस्ति हि ।१।३।३३।

तुना पक्षो व्यावृत्यते । आदित्यादिदेवानामप्यधिकृतेर्भावं भगवान् बादरायणः प्राहः । यत आदित्यादिदेवानामुपासनयाऽदित्यादिप्राप्त्यनन्तरमप्यपरिच्छिन्नसुखावाप्तये ब्रह्मप्राप्तीच्छात्वस्त्येव ॥३३॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौमध्वधिकरणम् ॥८॥

श्रुतिप्रकाश्यं परमात्मानमायुरमृतमिति कृत्वा देवा अपि उपासनां कुर्वन्ति । इत्यादिस्थले ज्योतिषामपि ज्योतिः स्वरूपतया परमात्मा परिगृहीतो भवति । तत्र स्थले देवादीनामप्युपासकत्वं घटते एव । किन्तु यत्र देवतैवोपास्यतयोपासकतया च ज्ञायते तादृग्विद्यायामनधिकार देवानां जैमिनीर्वदतीति ॥३२॥

विवरणम्—मध्वादिविद्यासु यासु देवतैवोपास्या तादृशविद्यायां शक्रादिदेवानामधिकारो नास्तीति प्रतिपादितम् । कुतः ? असंभवात् । एकस्यां क्रियायां यः कर्त्ता स एव कर्म न संभवेदित्यस्य विरोधादित्याकारकाशङ्कासमाधानाय प्राह भगवान् बादरायणः । यत् देवस्य देवोपासना न संभवतीति सत्यम् परन्तु. आदित्यादि पदं

हो रहे हैं इस स्थल में तो देवता को उपासकत्व संभवित हैं । तो एतादृश जो परमात्म विद्या है उसमें सर्व साधारण रूप से देव मनुष्यादिक सबको अधिकार अबाधित रूप से है । परन्तु जिस विद्या में देवता ही उपास्य तथा उपासक है उस विद्या में उपासकरूप से देवताओं को अधिकार नहीं है। ऐसी मान्यता जैमिनि मुनि की है ॥३२॥

सारबोधिनी—मधुविद्यादिक में देवताओं को अधिकार नहीं है क्योंकि तादृश विद्या में उपास्य तत्तत् देवता है । तो वही उपासक नहीं हो सकते है । उपास्योपासक भाव भेदघटित है । ऐसा जो जैमिनी का मत है उसका प्रतिवाद करते हुए बादरायण भगवान् कहते है' कि देवता को भी तादृश विद्या में अधिकार है । इसी बात को

प्राप्तोप्यादित्यादिदेवो निरवच्छिन्नसुखप्राप्तये सर्वशरीरक परमात्मन उपासनं करोत्येव । सर्वोपासनायां परमपुरुषस्यैवोपास्यत्वात् एतादृशमाशयं प्रकटयितुमाह "तुना पक्षो व्यावृत्यते" इत्यादि "भावन्तु" इत्यादि सूत्र घटकस्तु इति शब्दो जैमिनिमतं प्रतिक्षिपति भगवान् बादरायणः आदित्यादिदेवानामपि अधिकारमात्रमनुमोदयति । हि यस्मात् कारणात् आदित्यादिदेवेनोपासनेन प्राप्त आदित्यादि-पदम् ततस्तत् प्राप्त्यनन्तरमपि निरवधिकनित्यापरिमितमोक्षसुख प्राप्त्यर्थं देवादिनामपीच्छा वर्तते. एवेति पुनः सर्वशरीरकपरमपुरुषस्यो-पासनायां प्रवर्तमाना भवन्ति देवा अपि "सोऽहं संन्यस्तभारो हि त्वामुपासे जगद्गुरुम्' रक्षां विधत्स्व भूतेषु मम तेजस्करो भवान् ॥" (श्रीरामायण ७।१०४।८) इत्यादि रूपेणपरममहर्षिणाप्रतिपादनात् । अतो देवानामपि अवान्तरविद्यासु अधिकारो भवत्येवेति संक्षेपः ॥३३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौश्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे मध्वधिकरणम् ॥८॥

स्पष्टीकरण करने के लिए प्रक्रम करते हैं "तुना पक्षो व्यावृत्यते" इत्यादि । "भावेतु" इत्यादि सूत्र घटक जो 'तु' पद है वह जैमिनी प्रदर्शित मत का निराकरण करता है । अर्थात् आदित्यादि देवों का भी अधिकार अवान्तर विद्या में है ऐसा भगवान् बादरा-यण आचार्य मानते हैं । इसमें युक्ति बतलाने के लिए कहते हैं "यत्" इत्यादि । आदित्यवसुप्रभृति देवों को उपासना से देवादि भाव के प्राप्ति हो जाने के बाद में भी अपरिच्छिन्न निरवधिक नित्य निरतिशय सुख प्राप्ति के लिए उन लोगों की भी ब्रह्म प्राप्ति करने की इच्छा रहती है । क्योंकि ब्रह्म प्राप्ति के बिना नित्यसुख प्राप्ति असंभव है । इसलिए देवता को भी उपासना में अधिकार है ऐसा श्रीबादरायण आचार्य मानते हैं ॥ ३३ ॥ इति मध्वधिकरणम्

॥ अथापशूद्राधिकरणम् ॥ ९ ॥

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ।१।३।३४

मनुष्याणां ब्रह्मविद्यायामधिकारत्वेऽयं संशयः समुदेति यच्छूद्रस्यापि तत्राधिकारोऽस्ति न वेति । शूद्रस्याप्यर्थित्वसामर्थ्ययोः सत्वादस्तीति पूर्वपक्षः । अत्राभिधीयते–शूद्रस्य ब्रह्मविद्यायां

विवरणम्–मनुष्याणां तथा ब्रह्मविद्यायामधिकारस्तद्वत् देवादीनामप्यधिकारः प्रदर्शितः प्रक्रान्तप्रकरणेन । तत्र यथा मनुष्यत्वमपोह्य देवादीनामधिकारो वर्णितस्तथा मनुष्यगतद्विजातित्वादिविशेषधर्ममपोह्य मनुष्यत्वात्मकसामान्यधर्मं पुरस्कृत्य जातिशूद्राणामप्यधिकारो भवतु । न च शूद्रस्य वेदाध्ययनाभावान्नास्त्यधिकार इति वाच्यम् "तस्माच्छूद्रोयज्ञेऽनवक्लृप्त" इतिवत् शूद्रो ब्रह्मविद्यायामनधिकृत इत्याकारकनिषेधवाक्यस्याभावात् । ततश्चाधिकार कारणार्थित्वसामर्थ्यस्य च सत्वात्. निषादवत् वचनप्रामाण्यात्.

सारबोधिनी–इसके पूर्व प्रकरण में कहा गगा है कि ब्रह्मविद्या में तथा मधु प्रभृतिक विद्या में देवताओं का भी अधिकार है । अब यहाँ जो जाति शूद्र है, वह भी तो मनुष्य है, शूद्र को भी ब्रह्मविद्या में अधिकार होना चाहिए । क्योंकि देवादिवत् अर्थित्व सामर्थ्य शूद्र में है । नहीं कहो कि शूद्र को वेदाध्ययनाधिकार नहीं होने से अधिकार नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि, "तस्मात शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः" इत्यादि शास्त्र से जिस तरह यज्ञ में अधिकाराभाव कहा गया है । उस प्रकार से ब्रह्म विद्या में शूद्र का निराकरण परक कोई भी वाक्य नहीं है । अतः देवादिवत् जाती से जो शूद्र है उस को भी ब्रह्मविद्या में अधिकार है । केवल ब्राह्मण को ही है, ऐसा कोई नियम नहीं है । एतादृश आशङ्का का निराकरण करने के लिए प्रक्रम करते हैं "मनुष्याणां ब्रह्मविद्यायामित्यादि" । मनुष्य को जब ब्रह्म विद्या में अधिकार है तब यह संशय उत्पन्न

नाधिकारः । यतश्चोपासनस्य मनोनिर्वर्त्यत्वेऽप्यनुपनीतत्वेन वेदान्तवाक्यविचारैकसाध्यायां विद्यायामसामर्थ्यात् । 'नावेदविन्मनुते तम्बृहन्तम्' 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' [बृ० ३।९।२६।] इत्यादि श्रुतिभिः स्वाध्यायाध्ययनोपजातज्ञानमेवोपासनोपाय इत्याम्नाय समयः। असामर्थ्येचार्थित्वमपि निरर्थकम् । समर्थस्यैवार्थित्वं सफलं

शूद्रस्याप्यस्त्येवाधिकारः । को हि चेतनः संसारविगमं विलक्षण सुखात्मकं मोक्षं नार्थयेत्. को वा परमदयालोः पादपद्म सेवां नाभिलषेत् । तस्मादत्र ब्रह्मविद्यायां देवादिवदेव शूद्रस्याप्यधिकारोस्तीति शङ्कां परिहर्तुं प्रकृतमिदं प्रकरणमारभमाणो वृत्तिकारोयवनिकापातं करोति "मनुष्याणां ब्रह्मविद्याधिकारत्वे" इत्यादि "मनुष्याणां सामान्यरूपेण मनुष्यत्वधर्मवतामर्थित्वसामर्थ्यवतां ब्रह्मविद्यायामधिकारो यदि अर्थित्वसामर्थ्यधर्मवत्वधर्मपुरःस्कारेण देवस्यापि तत्राधिकार स्तदा मनुष्यत्वधर्मवतां शूद्राणामपि तत्र विद्यायामधिकारो होता है कि शूद्र जो चतुर्थ जाति है उसको ब्रह्मविद्या में अधिकार है । अथवा जात्या शूद्र को ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है । एतादृश संशय होता है नियामक कोई विशेष कारण के न होने से ।

अधिकार का कारण है अर्थित्व और सामर्थ्य वह तो शूद्र में भी है । क्योंकि कौन व्यक्ति होगा कि जिस को निरतिशय सुख प्राप्ति लक्षण मोक्ष के लिए अभिलाषा न हो । तथा तदनुकूल सामर्थ्य भी है । और जिस तरह यज्ञ में शूद्र के लिए निषेधक वाक्य है । उस तरह से ब्रह्म विद्या में वेद प्रवेश का निषेधक वाक्य नहीं है तस्मात् शूद्र को भी ब्रह्म विद्या में अधिकार है । एतादृश पूर्वपक्ष होता है । इस पूर्वपक्ष का निराकरण के लिए कहते हैं कि "अत्राभीधियने" इत्यादि । जो जन्म शूद्र है उसको ब्रह्म विद्या में अधिकार नहीं है । क्योंकि उपासना यद्यपि मन मात्र से संपादन करने के योग्य वस्तु है, तथापि जिसको उपनयनादि

भवति । वेदोपबृंहणरूपेतिहासादिभ्योऽपि नाऽस्य तथाविधज्ञानोपलब्धिः सम्भवति । "श्रावयेच्चतुरो वर्णानित्यादिवाक्यजातन्तु तस्य निष्कल्मषत्वाय प्रवर्तकम् । विदुरधर्मव्याधादीनां तु जन्मान्तरीयबोधोदयाधीनब्रह्मनिष्ठत्वमिति बोध्यम् । राज्ञो जानश्रुतेः "आजहारेमाः शूद्र" [छा० ४।२।५।] इति सम्बोधनं न जातिशूद्रयोगेन

भवतु । यतो जाति शूद्रस्याप्यधिकारो भवतु । यतोऽर्थित्वसामर्थ्ययोस्तस्यापि संभवात् । को हि सचेता अपरिच्छिन्नसुखं नाभिलषेत् । इत्येवं संशयो जायते । तत्रार्थित्वसामर्थ्ययोः शूदेऽपि सत्त्वात्तस्याप्यधिकारोऽस्ति । न च तस्य वेदाध्ययनाभावान्नास्त्यधिकार इति वाच्यम्. वेदाध्ययनस्य यज्ञविषयकत्वात् । यथा "शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्त" इति वत् । "शूद्रो विद्यायामनवक्लृप्त" इति पर्युदासस्यादर्शनात् । विदुरधर्मव्याधादीनाञ्चाधिकारदर्शनादिति पूर्वपक्षः ।

तमिममाक्षेपं निराकर्तुमाह "अत्राभिधीयते" इत्यादि । जातिशूद्रस्यार्थित्वसामर्थ्ययोरधिकारकारणस्य विद्यमानत्वेऽपि देवादिवदधिकारो ब्रह्मविद्यायां नास्ति । कुतः ? वेदाध्ययनस्यासंभवात् ।
संस्कार नहीं हुआ है, तादृश व्यक्ति को वेदान्त वाक्य का जो विचार है तावन्मात्र साध्य विद्या में सामर्थ्य नहीं हो सकता है । "जो अवेद वित है अर्थात्सविधिक—जिसने वेद को नहीं पढ़ा है, वह व्यक्ति परम महान् उस परमात्मा को नहीं जान सकता है" तथा "तन्तु" [उपनिषद् में प्रतिपादित जो परम पुरुष परमात्मा है उसको मैं आप से पूछता हूँ] इत्यादि श्रुति वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि वेदाध्ययन के द्वारा जायमान जो ज्ञान है तादृश ज्ञान ही उपासना में कारण है । ऐसी वैदिक मर्यादा है । तो शूद्रों को उपनयन नहीं होने से वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है । और वेदाध्ययन नहीं होने से वेद जनित ज्ञान नहीं है और ज्ञानाभाव होने से उपासना नहीं हो सकती है । इसलिए शूद्र को सामर्थ्य

किन्तु ब्रह्मानुभवाभावेनास्य हृदये शुगुत्पन्नेति । इमं हार्दिकभावमभिदधानो मुनिः स्वस्मिन् सर्वज्ञत्वं ख्यापयन् शूद्रेति सम्बोधितवान् । शुक् चास्य हंसोक्तानादरवाक्यश्रवणात् तदैव रैक्वम्प्रत्याद्रवणात्सूच्यत इत्यतः शूद्रेत्यामन्त्रणं न जन्मसम्बन्धादतः जातिशूद्रस्य नास्ति ब्रह्मविद्यायामधिकारः । ३४ ॥

यद्यप्युपासनं मनसा निर्वर्त्यमानं भवति तथापि वेदांतवाक्यैकविचार प्रयोज्यायां ब्रह्मविद्यायां वेदाध्ययनरहितानां शूद्राणामनधिकारः । वेदज्ञानरहितः पुरुषः सर्वशक्तिमन्तं व्यापकं परमात्मानं न मनुते नो विचारयतीत्यर्थः "तं सर्वज्ञं सर्वशक्तिमन्तं पुरुषं य उपनिषत्स्वेवाधिगतस्तादृशं परमात्मानं पृच्छामि" इत्यादि श्रुतिसमूहैः वेदाध्ययनोत्तर जायमानं ज्ञानमेवोपासनायां कारणं भवति. नत्वेतदतिरिक्तज्ञानमुपासनोपयोगि भवति । यथा धर्मो वेदैकसमधिगम्यः तथैवात्मापि वैदेकसमधिगम्य एव । आत्मनोऽपि धर्मादिवत वेदातिरिक्त प्रमाणागम्यत्वस्य श्रुतत्वादिति । वेदाध्ययनरूपसामर्थ्यस्याभावे केवलमर्थित्वं निरर्थकप्रायमेव । यो हि समर्थः स एव यद्यर्थी भवति तदैव

का अभाव है, और जब सामर्थ्य नहीं है तो अर्थित्व होने पर भी वह अर्थित्व निरर्थक ही है । क्योंकि जो समर्थ है उसी का अर्थित्व सफल होता है । सामर्थ्याभाव में विद्यमान भी अर्थित्व नहीं के समान ही हैं । इसलिए सामर्थ्य का अभाव होने से जात्या शूद्र को ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है यह सिद्ध हुआ । नहीं कहो कि "पठन्द्विजोवागृषभत्वमोयात् स्यात्क्षत्रियो भूमिपतित्वमोयात् । वणिग्जनः पुण्यफलत्वमोयाज्जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात्" इत्यादि शास्त्र से तो शूद्र को इतिहासाध्ययन में अनुमति है । और इतिहासादिक वेदार्थ का उपोद्वलक है । तब वेदाधिकार भी सिद्ध होता है । तो इसके उत्तर में कहते हैं, "श्रावयेच्चतुरोवर्णानित्यादि । 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्" इत्यादिक जो वचन हैं वे पाप राहित्य के लिए प्रवर्तक

कार्यं भवत्यन्यथा तु तदभाव एवेति । ननु भवतु नाम जातिशूद्रस्य वेदाध्ययनेऽनधिकार उपवीताद्यभावात् किंतु. तेषामितिहासाध्ययने तु नास्ति किमपि बाधकम् । प्रत्युत "पठन्द्विजोवागृषभत्वमीयात् स्यात्क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात् । वणिग्जनः पुण्यफलत्वमीयाज्जनश्च शूद्रोऽपि महत्वमीया" दित्यादि श्रीरामायणोयमहर्षिवचनं तु साधकमेव । इतिहासादिकं तु "वेदस्योपबृङ्हणकमिति भवत्येव शूद्रस्याधिकार इत्यत आह "वेदोपबृङ्हणरूपे" त्यादि ।' वेदोपबृङ्हणरूपेतिहासादिग्रन्थेभ्योऽपिजातिशूद्रस्य तथाविधज्ञानावाप्तिः संभवति शूद्रत्वादेव । यान्यपि "श्रावयेच्चतुरोवर्णमित्यादिकं पुराणादिपठन परकाणि तान्यपि तेषां पापापनोदनाय प्रवर्तकमात्राण्येव न तु तानि विधायकानीति । ननु देवादीनामुपनयनाभावेऽपि वेदपूर्वकोपासनं भवति विदुरादीनामपि श्रूयते ब्रह्मज्ञत्वमिति कथमत्राधिकाराभावः प्रतिपाद्यते तत्राह, "विदुरधर्मव्याधादीनामित्यादि' । विदुरादीनां न तत् ऐहिक कर्मणो बलेन किंतु प्राग् भवीयसुकृतकर्मणो बलादेव । ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः" इत्यत्र ज्ञानोदये दुष्कृतकर्मणो-

वचन मात्र हैं विधायक नहीं है । विदुर धर्मव्याध प्रभृतिक जो शूद्र विशेष हैं उनको तो पूर्व जन्म में संपादित जो ज्ञान तादृश ज्ञान के उदयाधीन ब्रह्मनिष्ठत्व हुआ है । नतु ऐहिक वेदाध्ययन जनित ऐसा समझना चाहिए । राजा जान श्रुति को, "हे शूद्र इन सववस्तुओं को वापस ले जाओ" इत्यादि क्रम से जो शूद्र पद से सम्बोधन किया है ऋषि रैक्व ने वह जाति शूद्राभिप्रायक सम्बोधन नहीं है । किन्तु राजा को ब्रह्म के अनुभव का अभाव होने के करण से इस राजा को शोच हुआ है, इस कारण से कहा है । हंस के अनादर वाक्य से राजा के मन में शोक हुआ है । इस बात को राजा स्वयं जानते थे, अन्य व्यक्ति को यह बात ज्ञात नहीं थी तो शोक होने के बाद ही जान श्रुति के पास गया है । अतः राजा के हृदय गत बात

ऽभावस्य प्रयोजकतायाः प्रतिपादनात् । न तत्र कथितं यदैहिकमेव पुण्य-कर्मपापस्य विनाशकम् । प्राक् भवीयकृतकर्मणा पापस्य विनाशस्ततश्च-ज्ञानोदयो भवतीति विदुरादीनां जन्मान्तरकृतसुकृतकर्मबलेन ज्ञानोदयो जातोऽत इदानीं वेदाध्ययनाभावेऽपि न क्षतिरिति ।

राज्ञोजानश्रुतेर्यन्मुनिना शूद्रेति संबोधनं कृतं तन्न जातिशूद्राभि-प्रायेण किंतु शोककरणात् शूद्र इति यौगिकार्थाभिप्रायेण कृतवान् । तादृशराज्ञो ब्रह्मानुभवस्याभावमूलको मनसि शोको जातस्तादृश शोकापनोदनाय रैक्वशकाशं गतवान् इत्यतो मुनिः स्वस्मिन् सर्वज्ञकल्पतां विख्यापयितुं तथा सम्बोधनं कृतवानित्यादिकं सर्वं दर्शयति "राज्ञो जान श्रुतेरिन्यादि ग्रन्थेन । "आजहारेमाः शूद्र? हे शूद्र ! इमा आजहार स्वसमीपे एव स्थापयेत्यर्थः । इत्यादिना यत्सम्बोधनं कृतवान राज्ञो जानश्रुतेः; न तत् जात्या शूद्ररूपेण किंतु ब्रह्मणोऽनुभवाभावेन यस्य शुक् उत्पन्ना तेन कारणेन । एवं रूपेण राज्ञो हृदयस्थमभिप्रायं प्रख्यापयन्मुनिः स्वस्मिन् सर्वज्ञकल्पतां निष्कुर्वन् तथा संबोधनं कृतवानिति । शोकश्चास्य हृदये हंसस्यानादरेण जाता । तत एव रैक्वं प्रति जगाम । तस्मात् शूद्रेति को मुनि ने शूद्र पद से सम्बोधन करके अपने में सर्वज्ञत्व का ख्यापन किया । इसलिए हेशूद्र ! इस प्रकार से सम्बोधन किया है । शोक करने के कारण शूद्र है । इस अभिप्राय से शूद्र इत्याकारक सम्बोधन हैं नतुजन्म-संबन्ध से शूद्र यह सम्बोधन है ॥ इसलिए जात्या जो शूद्र है उसको ब्रह्म विद्या में अधिकार नहीं है । क्योंकि अधिकार का कारण सामर्थ्य तथा अर्थित्व है । उसमें वेदाध्ययन नहीं होने के कारण से जाति शूद्र में सामर्थ्य का अभाव है । इसका कथन पहले कर दिया गया है । गीतादिक शास्त्र ब्रह्मविद्या होने से अधिकार वर्जित जाति शूद्र के प्रति उसका उपदेश भी परिवर्जित हो है । एतावता अनाराधितसद्गुरु असत्पथप्रतिपन्न ब्रह्मसूत्र-वेदा-न्तरहस्यानभिज्ञ का उन्मत्तप्रलाप दूरोत्सारित होता है निखिलवेदधर्मशास्त्र

क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ।१।३।३५।

"जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस" [छा०४।१।१।] "स ह सञ्जिहान एव क्षत्तारमुवाच" इति संवर्गविद्यायां जानश्रुतेराख्यायिकाया आरम्भे तस्य श्रद्धया बहुदायित्वबहुपक्वान्नदायित्वक्षत्तृप्रेरकत्वगोनिष्करथकन्यादिप्रदातृत्वैश्च क्षत्रियत्वमवगम्यते एवमुत्तरभागे चास्यामेवाख्यायिकायां "अथ ह शौनकं

संबोधनं न जात्याशूद्राभिप्रायेणातो जातिशूद्रस्य नास्ति ब्रह्मविद्यायामधिकार इति स्थितम् ॥३४॥

विवरणम् :– पौत्रायणो जानश्रुती राजा न जातिशूद्रः किन्तु क्षत्रियः, तस्मिन् शूद्रशब्दप्रयोगस्तु योगार्थमादाय मुनिनाकृत इति पूर्वसूत्रे प्रसाधितम् । अत्रतु प्रक्रमादि हेतुना तस्य क्षत्रियत्वं साधयितुं प्रक्रमते "जानश्रुतिर्ह पौत्रायण" इत्यादि । जानश्रुति नामको राजा पौत्रायणः वंशनामैतत् । श्रद्धादेयः श्रद्धापूर्वकं ब्राह्मणेभ्यो ददाति यस्तादृशः । न केवलं श्रद्धयाल्पं ददाति किन्तु बहुदायी संख्ययाऽधिकप्रमाणेन चाधिकमर्थिभ्यो दातुं शीलं यस्य तादृशः । तथा बहुपाक्यः

पूर्वाचार्यदिव्य प्रबन्ध विरुद्ध होने से । इस विषय पर अधिक विचार भाष्य विवरण में तथा अधिकार मीमांसा निबन्ध में देखिये ॥३४॥

सारबोधिनी—पूर्वसूत्रोपदर्शित युक्तियों से जानश्रुति राजा शूद्र नहीं है किन्तु क्षत्रिय है ऐसा निश्चय हुआ । अब वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध करने के लिये कि जानश्रुति जाती शूद्र नहीं है । इस बात को बतलाने के लिए प्रक्रम करते है । "जानश्रुतिर्ह पौत्रायण" इत्यादि । इस से भी सिद्ध होता है कि राजा ज्ञान श्रुति जाति शूद्र नहीं है । क्योंकि उपक्रम वाक्य से ही सिद्ध होता कि यह जान श्रुति क्षत्रिय है । कौन उपक्रम वाक्य है इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते है "जानश्रुतिरित्यादि प्रसिद्ध जान श्रुति नामक राजा पौत्रायण [यह वंश

च कापेयमभिप्रतारिणश्च" [छा०४।३।५।] इत्युक्तम् । तत्राभिप्रतारि-सञ्ज्ञकस्य चैत्ररथत्वं क्षत्रियत्वञ्च कापेयसाहचर्य्यरूपलिङ्गादवगम्यते। यतोऽन्यत्र "एतेन चैत्ररथं कापेया अयाजयन्" [ताण्ड्य ब्रा० १२।५।] इत्यादौ कापेयसहचारिणश्चैत्ररथत्वं क्षत्रियत्वञ्च दृष्टम् । एवमस्यां विद्यायां ब्राह्मणक्षत्रिययोरेव प्राधान्येन सम्बन्धोऽभिधी-यते। अतश्चायं जानश्रुतिर्न जातिशूद्रः ॥३५॥

ओदनद्विदलपायसापूपादिविविधवस्तूनां पाकं कारयित्वा दानशीलकः कश्चिद्राजा आस बभूवेत्यर्थः । "स राजा सञ्जिहानः कदाचित् प्रात उत्थित एव क्षत्तारं प्रेष्य क्षत्रियमुवाच समुक्तवानिति संवर्गविद्या प्रकरणस्य आख्यायिकाया आरंभे उपक्रमे एव तादृश राज्ञोजानश्रुतेः श्रद्धापूर्वकविविधवस्तुनः प्रदानादि दर्शनेन जानश्रुतिः क्षत्रिय एवासीदिति निर्णीयते । यत् एतादृश दानादिशक्तिमत्वं क्षत्रियस्यैव स्वभाव इति दृश्यते । एवमेतस्या एवाख्यायिकाया उत्तर भागे उपसंहारे "अथ शौनकंकापेयम्" कपिगोत्रोद्भवं शौनकं तथा अभिप्रतारिनामकं राजानं क्षत्रियं च भिक्षितवान् कश्चिद् ब्रह्मचारी । तत्राभिप्रतारिनामकस्य पुरुषस्य चैत्ररथस्य क्षत्रियत्वमवगम्यते

का नाम है ।] श्रद्धापूर्वक देनेवाला । एतावता "अश्रद्धया हुत दत्तम्"इत्यादि स्मृति प्रसिद्ध तामसदानका निराकरण किया है । तथा बहुदायी था । अर्थात् अनेक वस्तु अधिक परिमाण से देने वाला था, न तु अल्पदायी था, बहुपाक्य अनेक प्रकारक अपूप पायस ओदन द्विदलका वितरण करनेवाला था । एता-दृश गुण विशिष्ट जान श्रुति राजा हुआ । "वह कदाचित् प्रातःकाल में ही उठ करके क्षत्रा प्रेष्य क्षत्रिय को कहा ।" इस प्रकार से संवर्ग विद्या के जान श्रुति आख्यायिका के प्रारंभ में ही जानश्रुति के विषय में बहुदायित्व बहुपक्व अन्न वितरकत्व क्षत्तृ प्रेरकत्व सुवर्णरथ कन्यादि विविधोपहार समर्पकत्वादि हेतुओ से उस राजा में क्षत्रियत्व अवगत होता है । एवम् इसी आख्यायिका

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ।१।३।३६।

'उपत्वानेष्ये' 'न सत्यादगाः' इति तमुपनीय, [छा०४।४।५।] इति ब्रह्मविद्योपदेशे ह्युपनयनसंकारस्य परामर्शाच्छूद्रस्य च 'न शूद्रे

कापेय याजकब्राह्मणस्य साहचर्यात् । यतः समानानामेव प्रायः समानेन साहचर्य्यं भवतीति । तस्मात् कापेय सम्बन्धात् चैत्ररथस्य क्षत्रियत्वं दृष्टमितीहापि तस्य क्षत्रियत्वं स्पष्टत एव प्रतिभाति । यतोऽन्यस्थलेऽपि "एतेन चैत्ररथं कापेया अयाजयन" इत्यादौ कापेय ब्राह्मणसहचारात् चैत्ररथस्य क्षत्रियत्वं दृष्टमेव। समानगोत्र ब्राह्मणः समानगोत्रस्य क्षत्रियस्य याजको भवति । इत्थमेवेह संवर्गविद्यायां ब्राह्मणक्षत्रिययोरेव प्राधान्यं दृश्यते तस्मात् जानश्रुतिर्जन्मना क्षत्रिय एव नतु जन्मना शूद्रः शोकोपाधिमाश्रित्य तस्य शूद्रशब्देन सम्बोधनं कृतवान् मुनिरिति न जाति शूद्रो राजेति निश्चीयते । अतो न जात्या शूद्राणां ब्रह्मविद्यादावधिकार इति निर्गलितोऽर्थः ॥३५॥

के उत्तर भाग में "कपिगोत्रोत्पन्न शौनक को तथा अभिप्रतारी नामक क्षत्रियको" ऐसा कहा गया है। वहाँ अभिप्रतारी नामक व्यक्ति में चैत्ररथत्व तथा क्षत्रियत्व कापेय साहचार्यरूपलिङ्ग से अवगत होता है। जैसे अन्य स्थल में भी, "कपिगोत्रोत्पन्न ब्राह्मणो ने चैत्ररथ को यज्ञ कराया" इत्यादि स्थल में कापेय सहचारी राजा में चैत्ररथत्व तथा क्षत्रियत्व देखा गया है। उसी प्रकार इस संवर्ग विद्या में भी प्रधान रूप से ब्राह्मण क्षत्रियका ही संबन्ध हो गया है तो इससे यह सिद्ध होता है कि राजा जानश्रुति क्षत्रिय हैं। न तु जाति शूद्र । जाति शूद्र का निराकरणपरक अनेक श्रुति तथा युक्ति है। मुनि ने जो शूद्र पद से सम्बोधन किया वह केवल योगार्थ विषयता को लेकर के किया ॥३५॥

सारबोधिनी—जाति शूद्र का सामर्थ्याभाव के कारण से ब्रह्म विद्या में

पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति" [मनु० १०।१२६।] इत्यादिभिः संस्कारस्याभावाभिधानान्न तस्य ब्रह्मविद्यायामधिकारः ॥३६॥

विवरणम्—इतः पूर्वसूत्रद्वयाभ्यां ब्रह्मविद्यायां जातिशूद्रस्य नाधिकार इति श्रुतियुक्त्यादिभिः स्थिरीकृतम् । इतो ब्रह्मविद्यायामङ्गभूतमुपनयस्य शूद्रेऽभावादपितस्य ब्रह्मवि॒ायां नास्त्यधिकार इति दर्शयितुं सूत्रमवतारयन्नाह "उपत्वानेष्ये" इत्यादि । अयमर्थः जबाला पुत्रो हि सत्यकामो विद्यामध्येतुं गुरुसकाशं गतवान् । गुरुणा पृष्टः किं गोत्रोऽसि ? तदनन्तरं मात्रा कथितं सर्वं यथा भूतं गुरवे निवेदितवान् । गुरुश्च सत्यादनपगतं ज्ञात्वा ब्राह्मण एवायमिति निश्चित्योपनयनं कृत्वा तस्मै विद्यामुपदिदेश । तस्माद्गम्यते यत् उपनयनं विद्याङ्गभूतं शूद्रे तादृशसंस्कारस्याभावान्नास्ति तस्य विद्याधिकारः । एतत्सर्वं पिण्डोकृत्य वृत्तिकारः प्रदर्शयति "उपत्वानेष्ये" इत्यादि हे सत्यकाम ! त्वामहंनेष्ये यतस्त्वं सत्यान्नागा इति

अधिकार नहीं है ऐसा पूर्वसूत्रद्वय में प्रतिपादन किया गया है युक्ति श्रुति के द्वारा । इसके बाद ब्रह्मविद्या के अङ्ग भूत जो उपवीत संस्कार है तादृश उपनयन के अभाव होने से ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है इस बात को बतलाने के लिए सुत्रावयव का उपाख्यान करते हुए उपक्रम करते हैं "उपत्वानेष्ये" इत्यादि । जबाला के पुत्र सत्यकाम विद्याध्ययन करने के लिए गुरु के यहाँ गये । तब गुरु महाराज ने पूछा कि तुम्हारा गोत्र क्या है ? तदनन्तर सत्य काम ने कहा कि हे गुरो अपनी माता को मैने गोत्र के विषय में जब पूछा तब उन्होने कहा कि मुझको गोत्र माळूम नहीं है । ऋषि को कहना कि मै जबाला का पुत्र हूँ । इस बात को सुन करके गुरु ने कहा कि "हे सत्यकाम ! तुमने सत्य को नहो छोड़ा, तुम सत्यवादो हो, अतः अवश्य तुम ब्राह्मण हो । समिधादिक लाओ मैं तुम्हारा उपवीत संस्कार करूँगा ।

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ।१।३।३७।

"नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति" [छा०४।४।५।] इति शूद्रत्वाभावनिर्धारण एव ब्रह्मविद्यायां प्रवृत्तेर्न तत्र शूद्रस्याधिकारः ॥३७॥

तस्योपनयनं कृतवान । एवं प्रकारेक विद्योपदेशप्रकरणे ह्युपनयनसंस्कारस्यात्यावश्यकता प्रदर्शिता । शूद्रस्य तु मन्वादिस्मृतिभिः संस्काराभावस्य प्रतिपादनात् शूद्रे किमपि पातकं नास्ति नवा स संस्कारार्हः । अतः संस्काराभावेन तस्य शूद्रस्य ब्रह्मविद्यायामधिकाराभाव इति समुदितार्थः ॥३६॥

विवरणम्—अपि चैतादृशवचनं सत्यात्मकं ब्राह्मणभिन्नो न कोऽपि वक्तुं शक्नोति । सत्यवचनादेवज्ञातं मया यत्त्वं ब्राह्मणः । एवं क्रमेणमुनेर्यदा शूद्रत्वाभावस्य निश्चयोजातस्तदनन्तरमेवाज्ञापि- और सत्यकाम का उपनयन संस्कार करके विद्या का अध्ययन कराया । विद्या के उपदेश में उपनयन संस्कार की आवश्यकता है और जातिशूद्र को तो, "न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कार मर्हति" [शूद्र में किसी प्रकार का पातक नहीं है । तथा शूद्र किसी भी संस्कार उपवीतादिक को प्राप्त करने के योग्य नहीं है । "] इत्यादि स्मृतियों से संस्कारभाव का प्रतिपादन होने के कारण से जन्म शूद्र को ब्रह्म विद्या में तथा किसी भी विद्या में अधिकार नहीं है । यद्यपि कोई—कोई नवीन संस्कार से आधुनिक वातावरण के प्रभाव से शूद्र को भी अधिकार है यह कहकर के शूद्र को भी वेदादिक शास्त्र पढ़ने का अनुमोदन करते हैं तथा पढ़ाते भी है । वह केवल उनकी अज्ञानता का ही परिचय देता है । वे लोग शास्त्र मर्यादा का उल्लङ्घन करते हैं । ॥३६॥

सारबोधिनी—विद्या ग्रहण करने में उपवीतादि संस्कार को भी कारणता है उपनयाधिकार शूद्र को नहीं होता । तब संस्कार रहित शूद्र को विद्यामें अधिकार नहीं है यह स्वत सिद्ध है । तथा सामर्थ्याभाव से भी

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ।१।३।३८।

"अथ हास्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्" [गौतमस्मृ० ३।१२।३।] 'शूद्र समीपे नाध्येतव्यद्' 'न शूद्रायमतिं दद्यात्'

तवान् समिधादिकमानय ? त्वामुपनीय विद्यामध्यापयिष्यामीति शूद्रत्वाभावनिश्चयानन्तरमेवोपनोयाध्यापितवानिति, शूद्रत्वजात्यवच्छिन्नविषयकनिश्चयवतः कथमधिकारो विद्याध्ययने इति ब्रह्मविद्यायां नाधिकारं भजते शूद्र इत्येवमर्थं प्रतिपादयितुं प्राह, "नैतद ब्राह्मणः" इत्यादि । एतादृशं सत्यवचनं ब्राह्मणादन्यो वक्तुं न शक्ष्यत इत्येवं रूपेण शूद्रत्वस्याभावज्ञानानन्तरमेवाध्यापने मुनेः प्रवृत्तिदर्शनात् शूद्रत्वजात्यवच्छिन्नस्य नेव विद्यायां ब्रह्मविद्यायां वाधकार इति सूत्रप्रकरणस्याऽर्थः ॥३७॥

विवरणम्--न केवलं तदभावसंस्कारसामर्थ्यहेतुभिरेवब्रह्मविद्यायां शूद्रस्याधिकारो नास्ति किन्तु वक्ष्यमाणहेतुनापि जातिशूद्रस्य विद्या ग्रहणे नास्त्यधिकार इति दर्शयितुं सूत्रोपन्यास पूर्वकमुपक्रमते "अथ-

ब्रह्मविद्या में शूद्र को अधिकार नहीं है । इस बात को पूर्व सूत्र त्रय से बतला करके, विरोधी निश्चय भी कार्य में बाधक होता है इस बात को ध्यान में रख करके विरोधी निश्चय का प्रदर्शन कराते हुए कहते है "नैतदब्राह्मण" इत्यादि । ब्राह्मण भिन्न शूद्र एतादृश सत्य वचन को नहीं बोल सकता है । इत्यादि रूप से जब ऋषि को सत्यकाम शिष्य में शूद्रत्वाभाव का निश्चय हो गया, तदनन्तर ही सत्यकामके विद्या ध्यापन में प्रवृत्ति हुई । इस से शूद्रत्वज्ञान प्रतिबन्धक है ऐसा निश्चय है तादृश शूद्र को उपनयाभाव होने से किस तरह विद्या में अधिकार होगा अतः जो जन्म से शूद्र है उसको ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है ऐसा सूत्र का भावार्थ है वृत्ति का अक्षरार्थ तो अतिरोहित है इसलिए पार्थक्येन उसका व्याख्यान नहीं किया गया है ॥३७॥

[मनु० ४।८०।] इत्यादि स्मृतेश्च शूद्रस्य वेदश्रवणादीनां प्रतिषेधादतो न शूद्रस्य ब्रह्मविद्यायामधिकार इति सिद्धम् ॥३८॥
इति श्रीरघुवरीयवृत्तावपशूद्राधिकरणम् ॥९॥

हास्य वेदम्" इत्यादि। नास्ति शूद्रस्याधिकारस्तत्र प्रमाणं दर्शयति, "अथ हास्येत्यादि" यदि कदाचिद् जातिशूद्रोमहाशूद्रो वा वेदस्याध्ययनं कुर्यात् तत्रायं श्रवणप्रतिषेधः तदा वेदमुपशृण्वतः शूद्रस्य त्रपुजतुभ्यां संतप्ताभ्यां श्रोत्रस्य पूरण कुर्यात्। अर्थात् यदि हठाग्रहात् वेदस्य श्रवणं कुर्यात् तदा जतु संतप्य तस्य श्रोत्रं प्रपूरणीयम्। अथ यदि वेद शब्दमुच्चारयेत्तदा तदीय जीह्वाया उच्छेदः करणीयः। अथ यदि शरीरे वेदं धारयेत्तदाङ्गस्य उच्छेदनं कुर्यात्। इत्येवं क्रमेण गौतमादि स्मृतौ प्रतिपादनात् एवं शूद्रस्य समीपे वेदस्याध्ययनं न कर्त्तव्यम् एवं "न शूद्राय मति दद्यात्" न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् इत्यादि मानवीय स्मृतावपि शूद्रस्यवेदाध्ययनादि विषये निषेधो दृश्यते। तस्माज्जातिशूद्रस्य ब्रह्मविद्यादीनामध्ययनेऽधिकारो नास्त्येवेति सिद्धमिति संक्षेपः ॥३८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेऽपशूद्राधिकरणम् ॥९॥

सारबोधिनी– शूद्रत्वाभाव का संस्कार सामर्थ्यादि कारण मात्रसे ही शूद्र को ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है ऐसा नहीं किन्तु वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि जाति शूद्र को ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है इस बात को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं। "अथ हास्य" इत्यादि। यदि शूद्र वेद का श्रवण करे तो उसके कान शीललाह को गरम कर भर देवे। अगर बोले तो जीभ काट देना। "शूद्र के समीप में अध्ययन न करना" शूद्र को धर्म व्रतादि विषयक उपदेश नहीं करना। इत्यादि स्मृतियों से शूद्र को वेद श्रवण तदर्थानुष्ठानादि का प्रतिषेध किया गया है। इसलिए जो जाति से शूद्र है उसको ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है यह सिद्ध हुआ ॥३८॥ इति अपशूद्राधिकरणं समाप्तम् ॥

अथ कम्पनाधिकरणम् ।।१०।।

कम्पनात् ।१।३।३९।

प्रासङ्गिकं विचिन्त्य प्रकृतमनुसरति । "यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् । महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" [का० २।३।२।] इत्यत्र प्राणशब्दो मुख्यप्राणमभिधत्ते-

---

विवरणम्—गतापशूद्राधिकरणेन कस्य ब्रह्मविद्यायामधिकारः कस्याधिकारोनास्तीत्यादि क्रमेण प्रसङ्गप्राप्तस्याधिकारस्य विचारः कृतः । अतः परं पुनस्तमेव ब्रह्मविचारं प्रस्तौति, "प्रासङ्गीकं विचिन्त्य प्रकृतमनुसरतीति" । प्रसङ्गप्राप्तस्याधिकारस्य विचारं कृत्वा तदनन्तरं पुनः प्रकृत ब्रह्मण एव विचारं करोति तथाहि "यदिदं किंचेत्यादि" यत् किञ्चिदिदं परिदृश्यमानं जगत् तत्सर्वमेव जगत् निःसृतं प्राणादुत्पद्यमानं प्राणे एवाभिन्ननिमित्तोपादानभूते परब्रह्मणि साकेताधिपतौ एजति कंपते चलति प्राणपदबोध्य परं ब्रह्मणः सकाशादेव विनिर्गतं सत् तत्रैव ब्रह्मण्यवस्थितस्तं स्वकीय चलनादि सर्वव्या-

सारबोधिनो— ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है, इत्यादि क्रम से प्रसङ्ग प्राप्त अधिकार विषयक विचार को समाप्त करके पुनः प्रकांत जो ब्रह्म विचार उसीका अग्रिम विचार के लिए उपक्रम करते हैं । "प्रासङ्गिकमित्यादि ।" प्रासङ्गिक प्रसङ्ग प्राप्त अधिकारक विचार करके प्रकृत जो ब्रह्म विचार है उसीका अनुसरण करते हैं "यदिदं किंच" इत्यादि । [परिदृश्यमान जो कुछ यह जगत है वह प्राण से उत्पद्यमान होता हुआ, प्राण में प्राणपदवाच्य ब्रह्म से ही निर्गत समुत्पन्न होकरके उसी में अवस्थित होकरके स्वकीय स्वकीय व्यापार करता है । वह उद्यत वज्र के समान अति भयप्रद है जो उपासक इसको जानते हैं वे अमृत स्वरूप हो जाते हैं ।] इस प्रकार से कठवल्ली में सुनने में आता है । एतदन्तर्गत जो प्राण शब्द है उससे मुख्य प्राण का बोध होता है या सर्वजगत् का

ऽथवा जगत्कारणं ब्रह्मेति संशयः। प्राणपदस्य मुख्यप्राणे प्रसिद्धत्वात्कम्पनधर्मकत्वाच्च प्राणवायुरेवात्राभिधीयत इति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तुसर्वचेष्टाहेतुत्व, सर्वोत्पादकत्व वाय्वादिभयकारित्वमुक्तिदत्वादि-

---

पारं कुरुते। एतस्य जड्चेतनसूक्ष्मस्थूलरूपस्य जगत उत्पत्ति स्थितिलयकारणं तद् ब्रह्म, महद्भयम्. बिभेति जगदस्मादितिभय मर्थाद् भयजनकम्। तत्र कारणमाह वज्रमुद्यतम्। उद्यतं प्रहर्तुं सज्जीकृतं वज्रमिव, यथा कश्चित् प्रहर्तुकामः स्वकरे वज्रमुद्यतं कुरुते तत् उद्यतं वज्र यथा महद् भयजनकं तथा प्राणपदबोध्यं ब्रह्मापि महतो भयस्य जनकं भवति। ततस्तदिच्छानुवर्तिनो भूत्वा वायुप्रभृतिकाः सर्वे नियमेन स्व स्वव्यापारे प्रयतमाना भवन्तीति। ये उपासका तत् प्राणशब्दबोध्यं परमात्मानं य प्रमादेन स्वस्वव्यापारे प्रवर्तनाय जगतो भयजनकं ब्रह्म विदुर्जानन्ति तेऽमृता भवन्ति संसारान्मुच्यन्ते।' अस्यां श्रुतौ श्रूयमाणः प्राणशब्दः किं मुख्यस्य बोधकः सम्पूर्ण जगत्कारणस्य परमात्मनो वा बोधक इति विशेषहेत्वाभावात्संशयो जायते। ततश्च प्राण शब्दस्य वायौ लोके च प्रसिद्धेः सर्वकारणी भूत जो ब्रह्म हैं, तादृश ब्रह्म का बोधक यह प्राण है, ऐसा संदेह होता है। क्योंकि अन्यतर पक्ष का कोई निर्णायक नहीं है।

इसमें पूर्वापवादी कहते हैं कि प्रकृतस्थल में जो प्राणपद है वह वायुविकार मुख्य प्राण का ही बोधक है। क्योंकि प्राणपद की प्रसिद्धि वायुविकार में ही है। और सिद्धि का परित्याग करना उचित नहीं है। और कम्प अर्थात् चलन ईरण लक्षण धर्म भी वायु में है। इसलिए भी प्राणपद से वायु का ही ग्रहण होता है परमात्मा का नहीं। क्योंकि परमात्मा तो सर्व प्रकारक क्रिया रहित है, "निष्कलं निष्क्रियं शांतंनिरवद्यं निरञ्जनम्" इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है कि परमात्मा सर्वप्रकारक क्रिया रहित है। इसलिए प्राणपद वायुविकार प्राण का ही बोधक

परमात्मधर्माणां श्रुतत्वात्परमात्मैवात्र प्राणशब्देनोच्यते । "प्राणस्य-प्राणम्" [बृ० ३।७।१५।] 'न प्राणेन नाप्राणेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ" [का० २।४।५।] इत्यादि

पेक्षयावलवत्त्वेन वायुविकार भूतो मुख्य प्राण एव परिगृहीतव्यः । इतरप्राणापेक्षयामुख्यप्राणस्यास्मिन् शरीरे सर्व प्रथमं वृत्तिलाभादा-शरीरमवस्थानाच्च कयाचिदपेक्षयाऽमृतत्वादि धर्मवत्वस्यापि कथञ्चित्सं-भवात् । वायुविकाररूपो मुख्य प्राण एव परिगृहीतव्यः कंपनादि क्रियावत्वाच्चेति पूर्वपक्षः । एतादृश पूर्वपक्षनिराकरणाय प्राह "सिद्धा-न्तस्तु" इत्यादि । अत्र प्राणशब्देन न मुख्य प्राणस्य ग्रहणं किन्तु परमात्मनः सर्वजगत्कारणस्यैव ग्रहणम्, कुतः कंपनात् । अर्थात् पर-मात्मनो येऽसाधारणा धर्माः कंपनादिकाः सर्वप्रेरकत्वादयः सन्ति त एवेह प्रकरणे पूर्वस्मिन् परस्मिन्नपि समुपलभ्यन्ते । केऽसाधारणाः परमात्मधर्मा इति जिज्ञासायां तानेव विशिष्य प्रदर्शयति "सर्वचेष्टा

होता है परमात्मा का नहीं । यह पूर्वपक्ष का आशय है । इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वृत्तिकार कहते हैं "सिद्धांतस्तु" इत्यादि । इस प्रकरण में परमात्मा का जो असाधारण धर्म है, जैसे सर्व चेष्टाकारणत्व सकल जगदुत्पादकत्व वायु प्रमुखसर्वदेवादि भयजनकत्व" इत्यादि अनन्य साधारण धर्म हैं ये तो परमात्मा भिन्न में कदापि समन्वीयमान नहीं हो सकते हैं तो परिशेषात् सिद्ध होता है कि एतादृश धर्म का अधिकरण प्राण-पद बोध्य परमात्मा ही है । वायुविकार रूप प्राण नहीं । एवं "प्राण-स्य प्राणम्" प्राण का भी प्राण है, तथा, "न प्राणेन नाप्राणेन" यह जीव प्राण से अपानादि से जीवित नहीं है । किंतु एतदभिन्न किसी की सत्ता से जीवित है जिसमें यह प्राण तथा अपनादि आश्रित हैं, इत्यादिस्थल में प्राण पद का प्रयोग परमात्मा में देखने में आता है । "प्राणस्य प्राणम्" यहाँ षष्ठी निर्दिष्ट प्राणवायु विकार परक है, प्रथमांत-

श्रुतिषु प्राणपदं परमात्मनि दृष्टम् । तस्मात्परमात्मैवात्र प्राणः ॥३९॥
इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ कम्पनाधिकरणम् ॥१०॥

हेतुत्वा''दित्यादि सर्वचेष्टाहेतुत्वं, सर्वप्राणिनां या स्वकीया चेष्टा तादृश चेष्टोत्पादकत्वम् । तथा स्थावरजङ्गमात्मकसर्वजगतः समुत्पादकत्वम्. वायु प्रभृतिक देवानामपि भयोत्पादकत्वं तथा प्रणतभक्तजनानां मोक्ष प्रापकत्वम् । इत्याद्यनेकानन्यसाधारणपरमात्मगुणानां प्रकरणे दर्शनात् ज्ञायते यत् परमात्मैवात्र प्राणशब्देन बोध्यते नतु मुख्यो वायु विकारात्मकः प्राण इति । अपि च, "प्राणस्य प्राणम्" प्राणस्य वागादि मुख्यान्तस्यापि प्राणं प्राणनक्रियोत्पादकसामर्थ्यलक्षणम् । "प्राणेन तथा अपानेन वायुविकारेण मर्त्य जीवो न जीवति किन्तु प्राणापानाभ्यां व्यतिरिक्तेन केनचित्. अर्थात् प्राणादि व्यतिरिक्तकस्यचित् सामर्थ्येन मर्त्यो जीवति । यस्मिन् सर्वकारणे एतौ प्राणापानौ समुपाश्रितौ । इत्यादि श्रुतिषु प्राणपदस्य परमात्मपरकत्वं दृश्यते तस्मादत्र प्राणपदेन परमात्मन एव ग्रहणं नान्यस्य । अपि चेतः पूर्ववाक्ये 'तदेवशुक्रं' मित्यादौ तथोत्तरवाक्ये "भयादस्याग्निस्तपती' त्यादौ निरवधिकामृतत्ववत्व, अग्न्यादि सर्व देवभयोत्पादकत्वस्य श्रूयमाणत्वेन तादृश धर्मवत्वं च वायौ वायुविकारेऽसंभवात्संभवाच्च तादृश धर्माणां परमात्मनि । तस्मात् परमात्मैव प्राणशब्देन बोध्यते । यद्यपि प्राणशब्दस्य प्रसिद्धिरस्ति वायुविकारे एव तथापि पूर्वापर ग्रंथ पर्यालोचने न प्रसिद्धावपि प्रसिद्धिर्निवार्य्यते किन्तु परमात्मा साधारण

प्राणपद परमात्मा का बोधक । द्वितीय मन्त्र ''यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ'' में यत् पद प्रतिपादित परमात्मा है । जिसमें प्राणापानाधिकारणता हैं तो यद्यपि प्रसिद्धि के बलसे वायुविकाररूपप्राण उपस्थित होता है तथापि प्रकरण के प्रर्यालोचन करने से जो सर्वोपादानत्वादिक धर्मप्राप्त होता है इसके बल से प्राणपद की बोध्यता परमात्मा में ही है । यद्यपि प्राणपद

अथ ज्योतिर्दर्शनाधिकरणम् ।।११।।

ज्योतिर्दर्शनात् ।१।३।४०।

"एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः" [छा० ८।१२।३।] इति छा-

---

प्रमाणवलेन परमात्मैवोपस्थाप्यते । किंच मोक्ष जनकत्वं प्राणस्य विद्यते ? न कोपि मोक्षवादी स्वीकरोति तत्, किन्तु भक्त्यातोषितः परमपुरुष एव मोक्षदाता तदुक्तं श्रीबोधायनपञ्चके जगद्गुरुश्रीसदानन्दाचार्येण—

"रामो ब्रह्म परात्परं श्रुतिमतं भक्त्यैव निः श्रेयसं,
शेषायेन च शेषिणोरघुपतेर्जीवा इति स्वीकृतम् ।
श्रौतं युक्तियुतं मतं खलुविशिष्टाद्वैतकं यस्य स,
श्रीबोधायनवृत्तिकृद्विजयतां बोधायनः शाश्वतम् ।।४।। इति

तस्मादत्र प्राणपदेन मोक्षप्रदस्य भगवतो श्रीजानकीनाथस्यैव ग्रहणं न प्राणस्य जीवस्य नित्यमुक्तस्यापीति संक्षेपः।।३९।।

इति जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे कम्पनाधिकरणम् ।।१०।।

विवरणम्— कम्पनाधिकरणं विचार्य्य ज्योतिर्दर्शनाधिकरणं विचारयितुं प्रक्रमते, "एष सम्प्रसादः" इत्यादि । छांदोग्य श्रुतौ प्रजापतिविद्यायां श्रूयते यत्, अयं सम्प्रसादो जीवः अस्मात् परिदृश्यमानकलेवरात् समुत्थायनिष्क्रम्य परं ज्योतिः स्वरूपं परमात्मानं सम्प्राप्य स्वकीय

शक्यता परमात्मा में नहीं है । तथापि प्राणपद बोध्यतावृत्त्यन्तर को लेकर के निश्चित हैं । इसलिए, "यदिदंकिञ्च" इस स्थल में प्राणपदग्राह्यत्व परमात्मा में ही है वायुविकार में नहीं ।।३९।। इति कम्पनााधिकरणम् ।।

सारबोधिनी—कम्पनाधिकरण पर विचार करने के बाद ज्योतिदर्शनाधिकरण पर विचार करने के लिए उपक्रम करते हैं "एष सम्प्रसाद "इत्यादि

न्दोग्ये श्रूयते । अत्र ज्योतिः शब्देन सूर्यादितेजोऽभिधीयतेऽथवा ब्रह्मेति संशयः । तत्र ज्योतिःशब्दस्य तेजसि प्रसिद्धेः सूर्यादितेज एवात्रग्राह्य इति पूर्वपक्षः। सिद्धांतस्तु- "एष आत्माऽपहतपाप्मा" इति परं ब्रह्मोपक्रम्य प्रकृतवाक्ये "परं ज्योतिः" इति ज्योतिषः परत्वम्प्रतिपाद्यान्ते "उत्तमः पुरुषः" इति पुरुषोत्तमत्वाभिधानादत्र ज्योतिः शब्देन परमात्मैवोच्यते ॥४०॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ ज्योतिर्दर्शनाधिकरणम् ॥११॥

रूपेणाभि निष्पद्यमानो भवति स एव चोत्तमपुरुषः परमात्मा. इत्यर्थिकाश्रुतिरूपलभ्यते । अत्रैतस्यां श्रुतौ ज्योतिः शब्देन प्रतिपाद्यमानः सूर्यादिर्वा परमात्मावेत्याकारकः संशयो भवति । यत एतस्य पक्षस्य निर्णायकाभावादिति । तत्र पूर्वपक्षवादो कथयति यत् ज्योतिः' शब्दस्य सूर्यादि तेजसि लोके प्रसिद्धि दर्शनात् सूर्यादीनामेव ग्रहणं कर्त्तव्यम् । "यदतः परो दिवोज्योतिः" इत्यादौ यथा परमात्मन उपस्थापकं लिङ्गं वर्तते तद्वदिह परमात्मन उपस्थापकाभावात् परिशेषात्प्रसिद्धिवलेन सूर्यादीनामेव ग्रहणं नतु परमात्मन इति पूर्वपक्षाशयः । तमियं पूर्वपक्षं निराकर्तुमाहाचार्यः-"सिद्धान्तस्तु" इत्यादि । यद्यपि प्रसिद्धिवलेन कार्यज्योतिष आपातदृष्ट्या ग्रहणं संभवतीव प्रतिभाति तथापि उपक्रमवाक्य "एष आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादिरूपेण ब्रह्मणः प्रति-

यह सम्प्रसाद जीव इस परिदृश्यमान शरीर से उत्क्रान्त होकर के परम ज्योति को प्राप्त करके स्वरुप में अभिनिष्पन्न हो जाता है छान्दोग्य श्रुति में ऐसा सुना गया है । यहाँ सन्देह होता है कि ज्योति शब्द से सूर्यादि ज्योतियों का ग्रहण करना चाहिए अथवा परमात्मा का ग्रहण करना एक बोधक हेतु नहीं है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि सूर्यादि ज्योति का ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि ज्योति शब्द लोक प्रसिद्ध से सूर्यादि ज्योति का वाचक है परमात्मा का वाचक कोई हेतु नहीं है। एतादृश पूर्वपक्ष का निराकरण करते

॥ अथार्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणम् ॥१२॥

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।१।३।४१।

"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म" [छा० ८।१०।१।] इतिच्छान्दोग्ये श्रूयते । अत्राकाशशब्देन भूताकाशो मुक्तात्मा वोत परमात्मा वा ग्राह्य इति संशयः । रूढ्या भूताकाशः प्रकरणेन

पादनं दृश्यते यतः परमात्मव्यतिरिक्ते अपहतपाप्मत्वादि धर्मस्यासंभवात् । एवं प्रकृतवाक्येऽपि ज्योतिषः परमत्वं प्रतिपादितम् । पुरुषे चोत्तमत्वं प्रतिपादितम् । तदेतद् द्वयमपि सूर्यादावत्यन्ताप्रसिद्धं सत् परमात्मन्येव स्वभावतः समन्वयं लभते । तस्मादत्र ज्योतिः शब्देन परमात्मन एव ग्रहणं भवति नतु कार्यज्योतिषः सूर्यादेर्ग्रहणमिति । अपि च अग्रे, "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् नेमाविद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः । तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्यभासा जगदिदं विभाति" । एवं "न शशाङ्को न पावकः" इत्यादिश्रुतौ स्मृतौ च सूर्यादि तेजसामपि प्रकाशक परमात्मैव अतोऽत्रज्योतिः शब्देन परमात्मन एव ग्रहणं भवति नतु सूर्यादेरिति । तदाहुराचार्याः—"तस्मादत्र ज्योतिः पदेनाभिधेयम्ब्रह्मैवेतिसिद्धम्" (आनन्दभाष्यम् १।३।४०) ॥४०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे ज्योतिर्दर्शनाधिकरणम् ॥११॥

हैं "सिद्धान्तस्तु" इत्यादि से यहाँ ज्योतिशब्द से परमात्मा का ही बोध होता है । क्योंकि "यह आत्मा अपहत पाप वाला है" इसमें ब्रह्म का उपक्रम करके प्रकृत वाक्य में, "परंज्योति" इससे ज्योति में परत्व का प्रतिपादन करके अन्त में पुरुषोत्तमत्वका प्रतिपादन किया है । इससे सिद्ध होता है कि ज्योतिः शब्द बोध्य परमात्मा है सूर्यादिक नहीं ॥४०॥

सारबोधिनी—जिस तरह संदिग्ध ज्योतिः पदको ब्रह्मपरत्वेन पूर्वाधिकरण में निश्चित किया कि ज्योतिः पद ब्रह्म परक है उसी तरह आकाश पद भी

च मुक्तात्मैव वा ग्राह्यो न परमात्मेति पूर्वपक्षः । अत्राभिधीयते—नामरूपयोर्निर्वाहकत्वेन "तद्ब्रह्म" इति स्पष्टाभिधानेन चात्राकाशपदवाच्यो भूताकाशमुक्तात्माभ्यामर्थान्तरभूतः परमात्मैव । भूताकाशस्य मुक्तात्मनश्च नामरूपान्तर्गतत्वेन तयोर्निर्वाहकत्वासम्भवात् ॥४१॥

विवरणम्—यथा, "एष संप्रसाद" इत्यादि श्रुतौ श्रूयमाणस्तेजः शब्दो न सूर्यादि तेजसो वाचकः किन्तु सर्वकारणस्य परमात्मनः परमपुरुषस्यैव वाचकस्तेजसि परत्वविशेषणबलात्तथा पुरुषे उत्तमत्वविशेषणबलात्तथैव, "आकाशो ह वै" इत्यादि श्रुतौ श्रूयमाण आकाशशब्दोनामरूपयोर्निर्वाहकत्वादमृतं ब्रह्म' इत्यादि विशेषणबलात्परमात्मन एव वाचको नतु भूताकाश मुक्तात्मनोर्वाचक इति दर्शयितुं प्रक्रमते, "आकाशो ह वै नामरूपयोः" इत्यादि । नामरूपवाचकस्य सकलप्रपञ्चस्य निर्वाहक उत्पादक आकाशो विद्यते. ते नामरूपे यत्र विद्येते तदेवब्रह्म तदेवामृतरूपमपि विद्यते । एवं प्रकारेण छान्दोग्यश्रुतौ श्रूयते । अत्र किमाकाशशब्देन भूताकाशस्य ग्रहणं भवति. अथवा मुक्तात्मनः कस्यचिद् ग्रहणं भवति. अथवा सकलस्थूल सूक्ष्म स्थावर जङ्गम परमात्मापारक है । भूताकाशमुक्तात्मपरक नहीं। इस बात को बतलाने के लिए वृत्तिकार उपक्रम करते हैं "आकाशो हवै" इत्यादि । "नाम रूप का अर्थात् इस सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक आकाश है, यह नामरूप जिसके अन्तः समाहित है, वह ब्रह्म है, अमृत स्वरूप है ।" इस प्रकार से छान्दोग्य श्रुति में सुना गया है । यहाँ आकाश पद से भूताकाश का ग्रहण होता हैं अथवा मुक्तात्मा का ग्रहण होता है अथवा सर्व जगत का कारण परमात्मा का ग्रहण होता है । इत्याकारक संशय होता है क्योकि एक पक्ष का कोई निर्णय हेतु नहीं है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि लोक प्रसिद्ध तथा संपूर्ण जगत् का अवकाश प्रद होने से भूताकाश का हो ग्रहण होता है । अथवा प्रकरण होने से तथा मुक्तात्मा सर्वसामर्थ्यवान् है इस

जगत् कारणस्य ब्रह्मणो वा ग्रहणं भवतीति संशयो जायते । ततः पूर्वपक्षवादी प्रत्यवतिष्ठते अत्राकाशपदेन लोकप्रसिद्ध्या सर्वेषामवकाश प्रदत्वेन निर्वाहकत्वाद् भूताकाश एव परिगृहीतव्यः । अथवा मुक्तात्मनो ग्रहणम् । यतः, "अश्वइवरोमाणिविधूय" इत्यादि श्रुतिबलेन जीवप्रकरणात् । नतु परमात्मा आकाशपदवाच्यो भवति यतः परमात्मन उपस्थापकस्य कस्यचिदप्यदर्शनादिति पूर्वपक्षः ।

अमुं प्रश्नं निराकर्तुं वृत्तिकृदाचार्यः प्राह, "अत्राभिधीयते" इत्यादि । अत्राकाशपदेन परमात्मन एव ग्रहणं नतु भूताकाशादेः । यतो नामरूप भिन्नस्य वस्तुनो नामरूपनिर्वाहकत्वकथनात् । अर्थात् यत् नामरूपात्मकं वस्तु न तन्नामरूपयो र्निर्वाहकं संभवति किन्तु नामरूपाभ्यां भिन्न एव पदार्थस्तयोर्निर्वाहकः स्यात् । तस्मात् यो हि नामरूपयोर्जनकः स एवात्राकाशपदेन ग्राह्यः स च परमात्मैव, परमात्मनो नामरूपानन्तर्गतत्वात् । तथा ब्रह्मपदममृतपदमपि भूताकाशे मुक्तात्मनि वा समञ्जसं भवति । तस्मादत्राकाशपदेन भूताकाशमुक्तात्माभ्यां विभिन्न एव कश्चित्परिगृहीतव्यो भवति । नतु तौ भूताकाशमुक्ता-

कारण से भी मुक्तात्मा का ग्रहण होना चाहिए । किन्तु परमात्मोपस्थापक का नहीं होने से परमात्मा का ग्रहण नहीं हो सकता है । ऐसा पूर्व पक्षाभिप्राय है । इसके उत्तर में कहते हैं, "अत्राभिधीयते" इत्यादि । यहाँ भुताकाश तथा मुक्तात्मा से भिन्न पदार्थ का कथन होने से परमात्मा का ही ग्रहण होता है । क्योंकि इसमें साक्षादेवपरमात्मवाचक ब्रह्मपद विद्यमान है । तथा अनन्य साधारण अमृतत्व का भी उपदेश है । इसलिए भुताकाश तथा मुक्तात्मा से अर्थान्तर भूत परमात्मा ही आकाश पद वाच्य है । और भूताकाश तथा मुक्तात्मा ये दोनो नामरूप के अन्तर्गत हैं तो ये दोनों नामरूप का निर्वाहक कैसे हो सकते हैं ; क्योंकि स्व का उत्पादक स्व नहीं हो सकता है "यतो वा इमानि" इत्यादि श्रुति से ब्रह्म में तो सर्वजगत् उत्पादक

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ।१।३।४२।

अथ "तत्त्वमसि" इति सामानाधिकरण्यान्न जीवादर्थान्तरभूतः पर इत्याशङ्कामपाकरोति । पूर्वसूत्राद्व्यपदेशादित्यनुवर्तते । "प्राज्ञेना-

त्मानौ । यद्यपि प्रसिद्धिवलेनावकाशदायकत्वेन भूताकाशस्य प्रकरण वलेन च मुक्तात्मनश्चोपस्थितिर्जायते । तथापि "अमृतं ब्रह्म" इत्यादि पदाभ्यां तयो र्निवारणं भवति । भूताकाशो जड़त्वान्निराक्रियते । मुक्तात्मा तु जगद्व्यापारवर्जमिति सूत्रान्निरस्तो भवति । अपि च भूताकाशमुक्तात्मनोर्नामरूपान्तर्गतत्वेन तन्निर्वाहकत्वासंभवात् । नहि स्वः स्वं जनयतीति नियमात् । "परमेव्योमन्" इत्यादौ परमात्मन्यप्या-काशपदश्रवणात् सर्वं समञ्जसमिति । एतदेवदर्शितमाचार्येण "भूताका-शस्यमुक्तात्मनश्चे" त्यादिचरमप्रकरणेन । तस्मादिहाकाशपदेन भूताका-शमुक्तात्मभ्यामर्थान्तरभूतः परमात्मैव परिगृहीतो भवति नतु ताविति संक्षेपः ॥४१॥

विवरणम्—अथ "अहं ब्रह्मास्मि" "तत्त्वमसि" इत्यादिश्रुति-र्जीवपरात्मनोरेकत्वं प्रतिपादयति तथा "नेह नानास्ति किञ्चन" मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" "अतोऽन्यदार्तम्" इत्यादि श्रुतिभिर्नानात्वष्य निषेधात्. कथंजीवपरात्मनोर्भेदं स्वीकृत्याकाशप-

त्व प्रसिद्ध है । मुक्तात्मा भी जगत् उत्पादक नहीं है । इस बात को, "जगद्व्यापार वर्जम्" इस सूत्र में बतलायेंगे इसलिए भूताकाश तथा मुक्तात्मा से भिन्न परमात्मा ही नामरूप का निर्वाहक होने से प्रकृत में आकाश पद वाच्य सर्वेश्वर श्रीराम ही हैं । नतु भूताकाश अथवा मुक्तात्मा प्रकृत में आकाश पद वाच्य हैं । ॥४१॥

सारबोधिनी— इससे पूर्व सूत्र में कहा है कि जीव से अर्थान्तर पर-मात्मा है जो आकाश पद का वाच्य है । किन्तु भूताकाश अथवा जीवब्रह्म पदवाच्य नहीं है । परन्तु "तत्वमसि" "अहं ब्रह्मासि" इत्यादि श्रुति से तो

त्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्य किञ्चन वेद नान्तरम्" [बृ०४।३।२१।] इति सुषुप्तौ "प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ़मुत्सर्जन्याति (बृ.४।३।३५) इत्युत्क्रान्तौ च जीवस्य भेदेन व्यपदेशादर्थान्तर एव परमात्मा ॥४२॥

दवाच्यत्वं परमात्मनो व्यवस्थापितमिति शङ्कां निराकर्तुं सूत्रमुत्थापयन्नाह "अथ तत्वमसि" इत्यादि । तत्त्वमसीति सामानाधिकरण्यादर्थात् हे श्वेतकेतो त्वं सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टपरमात्मरूप एवासि न ततो व्यतिरिक्तोऽसि. इत्यादिना जीवपरयोरेकत्वश्रवणात्. जीवभिन्नः परमात्मानास्तीति कथमुच्यते जीवादर्थान्तरभूतः परमात्मा सच प्रकृते आकाशपदवाच्यः इति । इत्यादिशङ्कां निराकरणाय सूत्रकारः पठति "सुषुप्तीत्यादि" सूत्रम् । अत्र पूर्वसूत्राद् व्यपदेशादिति पदमनुवर्तनीयम् । ततश्च सुषुप्तौ उत्क्रान्तौ चोभयो र्जीवपरयोर्भेदेन व्यपदेशप्रतिपादनादस्ति जीवभिन्नः पर इति । एवं च जीवपरयोर्भेदाज्जीवादर्थान्तर्भूतः परोऽस्ति. इति जीवभिन्नस्य परात्मनः आकाशपदवाच्यतेति । नानात्वनिषेधकश्रुतयस्तु संसाराद्वैराग्यमात्रं प्रतिपादयन्ति नतु तदभावं बोधयन्ति । तत्त्वमस्यादि

जीव ब्रह्म एकत्व का प्रतिपादन होने से जोव से भिन्न परमात्मा नहीं है। तथा, "नेहनानास्ति किञ्चन" इत्यादि श्रुतियों से द्वैत का निषेध होने से जीव से अर्थान्तर भूत तो परमात्मा नहीं है। एतादृश शंका का निराकरण करने के लिए कहते हैं "अथतत्वमसि" इत्यादि। तत्वमसि इस महावाक्य में जीव तथा परमेश्वर का सामानाधिकरण्य. अर्थात् एकत्व का प्रतिपादन करने से जीव से अर्थान्तरभूत अर्थात् भिन्न तो परमात्मा नहीं है। तब किस तरह कहते हैं कि जीव से भिन्न परमात्मा आकाश पदवाच्य है। एतादृश आशंका का निराकरण करते हैं। सूत्र द्वारा "सुषुप्त्युत्क्रांत्योर्भेदेन" यहाँ पूर्व सूत्र से व्यपदेशात् इसका अनुवर्तन किया जाता है। अर्थात् सुषुप्ति में तथा उत्क्रांति में जीव से भिन्न रूप से परमात्मा का

वाक्यंतु. अभेदोपासनापरकम् नतु द्वयोः सर्वथैक्यप्रतिपादकमिति । उभयोर्जीवपरयोर्भेदबोधिकां श्रुतिं पठति "प्राज्ञेनात्मनेत्यादि" सुषुप्ति समये प्राज्ञेनात्मना परमात्मना संपरिष्वक्तोभिमिलितोजोवोबाह्यमाभ्यन्तरं वस्तु न विजानाति प्रियया संपरिष्वक्तप्राकृतपुरुषवत् । इयं श्रुतिः सुषुप्तिसमये जोवपरमात्मनोः स्पष्टरूपेण भेदमेव प्रतिपादयति । एवं शरोरादुत्क्रमणसमयेऽपि जोवपरयोर्भेदमुपस्थापयति "प्राज्ञेनात्मना" इत्यादि । प्राज्ञेनात्मना परमात्मनाऽन्वारूढोजीवः शरीरं परित्यजन् परलोकं याति । तत्कथमुभयोरभेदे परलोकगमनं व्यपदिश्यते । तस्माद् जीवाद्भिन्नः परमात्मा सर्वजगतां निर्वाहको विद्यते- स एवाकाशपदवाच्यो भवति । नतु भूताकाशमुक्तात्मानाविति । अभेदप्रतिपादिकाश्रुतयस्तु शरीरशरोरिभावमात्रप्रकाशनेनोपक्षीणाः । निषेधिकास्तुवैराग्योपबोधनेनेति नता विधायिका तदाहुर्जगद्गुरु श्रीश्रियानन्दाचार्याः–

"ब्रह्माहमिति कस्यापि प्रत्यक्षं जायते नहि ।
ब्रह्मणश्चाथ जोवस्य नैक्यं प्रत्यक्षतस्ततः ।
तत्वमस्यादिवाक्यस्य श्रवणानन्तरं ननु ।
जायतेऽनुभवश्चोक्त इति चेन्मैवमुच्यताम् ।
प्रकारीब्रह्मणोरैक्यं तद्वाक्यार्थो यतस्ततः ।
नस्यादनुभवस्तादृग्वाक्यस्य श्रवणादनु ।

कथन किया गया है । इसलिए जीव भिन्न परमात्मा "आकाशो हवै नाम रूपयोः" इत्यादि श्रुति में आकाश पद प्रतिपादित होते हैं । सुषुप्ति में भेद व्यपदेशपरक श्रुति को बतलाते हैं । "प्राज्ञेन" इत्यादि [सुषुप्ति काल में प्राज्ञ से परमात्मा से संपरिष्वक्त जीव न कुछ वाह्य वस्तु को जानता है न वा आन्तर वस्तु को जानता है । प्रिया परिष्वक्त प्राकृत पुरुषवत् इस श्रुति में स्पष्ट भेद का निर्देश है । एवम् उत्क्रांति के समय में,

ब्रह्मणोदेहरूपत्वाच्चिदचितोः प्रकारता ।
चिदचिदात्मनश्चाथ ब्रह्मणो हि प्रकारिता ।”
(श्रौतप्रमेयचन्द्रिका ५।३०-३४)

तथैव जगद्गुरुश्रीराघवानन्दाचार्याः श्रीराघवप्राप्तिबोधे-
“शरीरादिन्द्रियेभ्योऽथ प्राणेभ्यो बुद्धितस्तथा ।
भिन्नो जीवश्च नित्योऽणुः कर्त्ता भोक्ताऽथ चेतनः ।
जगद्धेतोश्चरामस्य शेषो देहस्तथैव च ।
श्रीरामपरतन्त्रः स न स्वतन्त्रः कदापि हि ।”

तथा च जगद्गुरुश्रीटीलाचार्याः-
“यथेष्टविनियोगार्हः शेषो रामस्य शेषिणः ।
धार्यत्वाच्चनियाम्यत्वादात्मा देह परात्मनः ।
भिन्नो जीवो विभोः स्वस्य चात्मनः परमात्मनः ।
तत्त्वं पदोक्तयोरैक्यं परान्तर्यामिणोः खलु ।
तत्त्वमसीतिवाक्ये हि नैक्यं जीवेशयोर्मतम् ।
प्रभावतः प्रभातुल्यो विशिष्टस्य विशेषवत् ।
ये जना हि विशिष्टस्य विशिष्टत्वनिरासकाः ।
खण्डयन्ति स्वयं ते च स्वस्य बुद्धिविशिष्टताम् ।”
(श्रीरामानन्दवेदान्तसारे ४२-४४।८७) इत्यादि रूपेणाऽतो यथोक्तमेवयुक्तमितिदिक् ॥४२॥

“एवमेवायं शारीर” इसी तरह यह शारीर जीव परमात्मा से अन्वारूढ़ होकर शरीर को छोड़ते हुए जाता है । इसमें भी दोनों का भेद स्पष्ट है । इसलिए सिद्ध होता है कि जीव से भिन्न परमात्मा है । यदि भेद न मानें तो बन्धमोक्ष व्यवस्था नहीं होगी । अभेद प्रतिपादक श्रुति उपासनापरक है। अतः जीव से भिन्न परमात्मा है । यह सिद्ध होता है ॥४२॥

पत्यादिशब्देभ्यः ।१।३।४३।

उत्तरत्र "सर्वत्र वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः" "एष भूताधिपतिरेष भूतपालः" [बृ०४।४।२२।] इति सर्वस्याधिपतित्वभूतपाल-

---

विवरणम्—"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता" इत्यादिश्रुति घटिताकाशपदम्. जड़भूताकाशकर्मपराधीनसाधारणजीवातिक्रान्त-कर्ममर्यादो मुक्तजीवो वा आकाशपदवाच्यो न भवतीति, "आकाशोऽर्थान्तरत्वादि सुषुप्त्यादि सूत्रद्वयाभ्यां प्रतिपाद्य. प्रकरणीयोत्तरवाक्य प्रतिपादितसर्वाधिपतित्वादिकं परमात्मा साधारणगुणानां तेषु समन्वयो न भवत्यपितु परमात्मन्येव संभवतीति श्रुतिसूत्रयोरभिप्राय-मालक्ष्य सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते "उत्तरत्र सर्वस्यवशी"त्यादि। इतो-वक्ष्यमाणहेतुभ्योपि मुक्तजीवादप्यर्थान्तरभूतः परमात्मैवाकाशपदवाच्यो भवति न ते आकाशपदवाच्या भवन्तीति पत्यादिशब्देभ्यः पत्यादिकान् धर्मानेवदर्शयितुमाह. उत्तरेत्यादि । इदमीयोत्तरवाक्ये.

सारबोधिनी—पूर्व सूत्र द्वय से आकाशपदवाच्य भूताकाश तथा बद्धमुक्त साधारण जीव से अतिरिक्त परमात्मा है इस वस्तु को सिद्ध करके उत्तरवाक्य प्रतिपादित पत्यादिक शब्द में भी भूताकाशादि से अर्थान्तर परमात्मा की ही सिद्धि होती है इस बात को बतलाने के लिए सूत्र व्याख्यान पूर्वक उपक्रम करते हैं "उत्तरत्र" इत्यादि । इसी प्रकरण के उत्तर वाक्य में, "सर्वस्य वशी" संपूर्ण जगत् जिसके अधिकार में हैं सबके उपर नियंत्रण करनेवाले, सबका अधिपति हैं। येही भगवान् सकल भूत समुदायों का अधिपति हैं । तथा ये ही भगवान् सब भूतों का रक्षण करनेवाले हैं । इस प्रकार सर्व का अधिपतित्व सर्वभूतपालत्वादिक परमेश्वर का असाधारण गुण समुदाय का कथन किया गया है । तो यह सब जो धर्म हैं, वे तो अङ्गभूताकाश में नहीं रह सकता है । क्योंकि भूताकाश जड़ है। उसमें कृतिमत्व कर्तृत्व बाधित है। बद्धजीव में भी नहीं रह

त्वादिधर्माणां मुक्तजीवेऽप्यसम्भवादत्र ततोऽर्थान्तरभूतः परमात्मैवाभिधीयत इति ॥४३॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावर्थान्तरत्वाद्यधिकरणम् ॥१२॥

इति श्रीभगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दाचार्यस्वामिद्वारकेण ब्रह्मविरस्वामि श्रीजगद्गुरुरामानन्दाचार्यरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीरघुवरीयवृत्तौ (ब्रह्मसूत्रीयवेदान्तवृत्तौ) प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

खलु. एवं श्रूयते. 'सर्वस्यवशी' इत्यादि । अस्ति कश्चिन्महापुरुषो यस्यवशे इदं सर्वं वर्त्तते. सर्वस्य प्रपञ्चजालस्य जड़ाजड़साधारणस्येशानो नियमनकर्त्ता सर्वस्याधिपतिरक्षकः । यः खलु पुण्यपापाभ्यां न वर्द्धते नवा कनीयानेत्र भवतीत्यर्थः श्रुतेः । तत्र श्रुतौ य इमे सर्वस्याधिपतित्वसर्वभूतपालत्व रक्षणकर्तृत्वादिकाः परमात्मनोऽधारणाः धर्माः कथितास्तेषां जड़े भूताकाशे समन्वयो न भवति । भूताकाशस्य जड़त्वेन तत्र कृतिमत्वरूपकर्तृत्वस्यासंभवात् । नवा कर्मपरवशेजीवेकर्मपराधीनत्वात् । नवा मुक्ते तत्रापि तदसंभवादिति । परिशेषात् आकाशादिभ्योऽर्थान्तरे परमात्मनि सर्वरक्षके एव समन्वयं संभवतीति जड़चेतनादिभ्यो विभिन्नः परमात्मैव सर्वस्याधिपतित्वादिधर्मवान् समुदाहृतश्रुतिघटकाकाशपदवाच्यो भवति । ननु तदतिरिक्तो जड़ोऽजड़ोवेति प्रकरणार्थः पर्यवसित स्तदाहुराचार्यसार्वभौमाः–"नहि सर्वाधिपतित्वादयः परमात्मा साधारणधर्मामुक्तावस्थेऽपि प्रत्यगात्मनि

सकता है । क्योंकि साधारण जीव कर्म पराधीन है । मुक्त जो जीव है वह यद्यपि साधारण तथा कर्म मर्यादा का अतिक्रमण कर लिया है । तथापि परमेश्वराधीन तो है ही । अतः यहाँ इन सब जड़ाजड़ से अर्थान्तर भूत परमात्मा ही सर्वाधिपतित्व सर्वरक्षकत्वादि धर्मों का आधार असंकुचित रूप से होते हैं । इसलिए जीवादिक से अर्थान्तर भूत परमात्मा ही "आकाशो ह वै नाम रूपयोर्निर्वहिता" इत्यादि श्रुति में आकाश

सम्भवन्ति । अतो मुक्तात्मनोऽप्यर्थान्तरभूतः परमात्माकाश इति सिद्धम्" (आनन्दभाष्यम् १।३।४३) इति ।।४३।।

इत्यानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठाचार्य जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेऽर्थान्तरत्वाधिकरणं द्वादशम् ।। समाप्तश्च प्रथमाध्यायस्य तृतीय पादः ।।

पद वाच्य है । किन्तु भूताकाश अथवा बद्धजीव वा मुक्त जीव तादृश आकाश पद वाच्य नहीं है यह सिद्ध हुआ । ।।४३।।

इति सारबोधिनो में अर्थान्तरत्वाधिकरणम् ।। १२ ।।

इति श्रीरघुवरीय ब्रह्मसूत्रवृत्ति के सारबोधिनी नामक विवरण में प्रथमाध्याय का तृतीयपाद

।। श्रीरामचन्द्रार्पणमस्तु ।।

।। श्रीरामचन्द्राय नमः ।।

अथ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपाद आरभ्यते

अथानुमानिकाधिकरणम् ।।१।।

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ।१।४।१।

गतेन ग्रन्थेन स्वरूपतश्चिदचिद्विलक्षणं ब्रह्मैव जगत्कारणमित्यवधारितम् । इदानीं ब्रह्माश्रितप्रकृत्यतिरिक्तस्य कपिलाभिमताव्यक्तादेर-

---

विवरणम्—"जन्माद्यस्ययतः" इत्याद्यारभ्यत्रिपादान्तप्रकरणेन चिदचिद्भ्यां विलक्षणमखिलहेयप्रत्यनीकगुणकं रामाख्यं ब्रह्मैव जगतो

सारबोधिनी—"जन्माद्यस्य यतः" इत्यादि प्रकरण से लेकर पादत्रयान्त प्रकरण से ब्रह्म ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादन कारण

ण्यभिधायिन्यः श्रुतयः सन्तीत्यादिरूपाशङ्काया निवारणार्थमारम्भः। काठके–"इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परंमनः। मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः। [का० १।३।११] इत्याम्नायते। अत्राव्यक्तशब्दप्रतिपाद्यं कापिलं प्रधानमुतनेति संशयः। महत

निदानकारणं तदेवमोक्षाभिलाषुकैः प्राप्यं तज्ज्ञानमेव मोक्षजनकमुपास्यमपि तदेवेति निर्धारितम्। कासुचित् शाखासु सांख्यपरिकल्पितप्रधानमाप्यं ततो जगत्कारणतया प्रतिभातीव भवति, इति तदीयं मतं निराकृत्य सर्ववेदान्तानां ब्रह्मण्येव समन्वयं बोधयितुमयमपरः पादः प्रवर्तते। तत्रानुमानिकस्य सांख्यीयप्रधानस्य शब्दप्रतिपाद्यत्वं नास्तीति प्रथमाधिकरणेन प्रतिपादनाय वृत्तिकार उपक्रमते "गतेन ग्रन्थेनेत्यादि "जन्माद्यस्य यतः"इत्यारभ्य त्रिपादान्तग्रन्थप्रकरणेन स्थूलसूक्ष्माभ्यांचिदचिद्भ्यां स्वरूपतो विलक्षणं सर्वथैव रामाख्यं ब्रह्मैव स्थावरजङ्गमाहै इस बात को बतलाकर के सांख्यमत परिकल्पित प्रधान जगत् का उपादान कारण नहीं है। इस बात का प्रतिपादन करने के लिए इस चतुर्थ पाद का आरम्भ किया जाता है। उस बात को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "गतेन ग्रन्थेन" इत्यादि। गतग्रन्थ से अर्थात् "जन्माद्यस्य यतः" यहाँ से लेकर त्रिपादान्त ग्रन्थ से स्वरूपतः चित् चेतन अचित् जड़ वर्ग से अति विलक्षण भगवान् श्री रामाख्य ब्रह्म ही इस परिदृश्य स्थूल सूक्ष्म साधारण जगत् का कारण है इस बात का निश्चय किया गया। इसके बाद भगवान् रामाख्य ब्रह्म के आश्रित जो प्रकृति तत्व है उससे अतिरिक्त कपिलमत सिद्ध अव्यक्तापर पर्याय अव्यक्त को कहने वाली श्रुति है। इस प्रकार की जो शंका, उस शंका का निवारण करने के लिए, यह आरम्भ किया जाता है। 'काठक' कठवल्ली में, "इन्द्रिय चक्षुरादिक की अपेक्षा से अर्थ शब्दादिक उत्कृष्ट है। अर्थापेक्षया

परमव्यक्तमित्यादिकपिलतन्त्रसिद्धतत्वप्रक्रियोपन्यासात्सांख्योक्तं प्रधानमेव तदेव च जगत्कारणमिति पूर्वःपक्षः । अत्राभिधीयते—नसाङ्ख्योक्तं प्रधानमिहाभिधीयते । आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च" [का० ।१।३।३।] इत्यादिभिः प्रागुपासनोपयोगीन्द्रियवशीकारायात्मशरीरबुद्धिमनइन्द्रियविषया रथिरथसारथिप्रग्रहहयगोचरत्वेन रूपिताः । तत्रेन्द्रि-

---

त्मक निखिलप्रपञ्चस्य जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानभूतमिति निर्णीतम् । इदानीं ब्रह्माश्रिताया प्रकृतिरिव प्रकृतेः कपिलमतसिद्धा जगत्कारणमस्तीति कासुचिच्छ्रुति समुपलभ्यमानमिवेति तां शङ्कां निवर्तयितु ब्रह्मकारणतावादं च निश्चेतुमयमारंभो भवतीति । तत्र काठकश्रुतौ "इन्द्रियेभ्यश्चक्षुरादिभ्यः परा उत्कृष्टाः शब्दादयोऽर्थाः सन्ति विषयाणामति ग्रहत्वेन प्रतिपादनात् । अर्थेभ्यः शब्दादिभ्य उत्कृष्टं मनः । मनोपेक्षयोत्कृष्टा बुद्धिस्तदपेक्षया परो महान् । तदपेक्षया परमव्यक्तमव्यक्तापेक्षया-परोमहापुरुषः स एव परागति रूपकः" इत्यर्थप्रतिपादिका श्रुतिः श्रूयते तत्र संशयो जायते यदिदमव्यक्तशब्दप्रतिपाद्यमव्यक्तं श्रूयते तत सां-

आन्तर इन्द्रियमन उत्कृष्ट है । मन से सर्वार्थ ग्राहिका बुद्धि पर है । बुद्धि से उत्कृष्ट महत् तत्त्व है । महतत्व से पर उत्कृष्ट अव्यक्त है । और अव्यक्त पदवाच्य से उत्कृष्ट पुरुष है, वह पराकाष्ठा है, परागति है, उस पुरुष से उत्कृष्ट दूसरा कोई नहीं है" यह कहा गया है। अब यहाँ अव्यक्त शब्द प्रतिपाद्य सांख्याभिमत प्रधान है अथवा प्रधान भिन्न कोई है, ऐसा सन्देह होता है । तब पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि, "महत्तत्त्व के पर अव्यक्त है" इत्यादि से कपिलमत सिद्ध प्रक्रिया का कथन होने से सांख्यमत परिकल्पित जो प्रधान वही अव्यक्त शब्द वाच्य है । तथा तादृश प्रधान ही संपूर्ण जगत् का कारण है । क्योंकि प्रधान परिणामी है । परमेश्वर तो निष्क्रिय होने से जगत् का कारण नहीं हो सकता है, यह हुआ पूर्वपक्ष ।

येभ्यः पराह्यर्था इत्यादिभिर्वशीकार्यत्वे परत्वमेकैकशोऽभिहितम् । तत्र रथत्वेन रूपितं शरीरमेवाऽव्यक्तकार्यतयाऽव्यक्तशब्देन गृहीतम् । "अव्यक्तात्पुरुषः परः" इति चोपेयः परमात्मा न तु सांख्योक्तः पञ्चविंशकः पुरुषः । दर्शयति चेममर्थं श्रुतिः "यच्छेद् वाङ्मनसि" इति ॥१॥

ख्यपरिकल्पितं प्रधानमथवा तदन्यत् किमपीति । तत्र पूर्वपक्षवादिनः कथयन्ति यत् महतः परमव्यक्तमिति सांख्यमतसिद्धप्रक्रियायाः कथनात् सांख्यमतकल्पितं प्रधानमेव समस्तस्य जगतो निदानं नतु तदतिरिक्तं ब्रह्म तस्यनिष्क्रियत्वेन कारणत्वासंभवात् । प्रधानस्यतु परिणामित्वे न सर्वसंभवादिति पूर्वपक्षाशयः ।

तमिमं पूर्वपक्षं सूत्रद्वारा निराकरणार्थमाह "अत्राभिधीयते" इत्यादि । आनुमानिकमानप्राप्तं प्रधानमेव जगतः करणमित्येकेषां मतम् । तत्रात्रशरीररूपकस्य विन्यासस्य कथनात्. तथाश्रुतिर्दर्शयत्यपि । एतदेवोपपादयति. "न सांख्योक्तं प्रधानमिति । तदेवोपपादयति "न सांख्यो-

इस पूर्वपक्ष का निराकरण करने के लिए वृत्तिकार कहते हैं-"अत्राभिधीयते" इत्यादि । आनुमानिक प्रधान जगत् का कारण नहीं है । यहाँ तो केवल शरीररूप का कथन है । और श्रुति भी बतलाती है । इसी विषय को अग्रिम प्रकरण से उपपादन करते हैं । सांख्य मत प्रतिपादित प्रधान यहाँ प्रतिपादित नहीं होता है । क्योंकि, "आत्मा को रथी समझो और शरीर को रथ समझो" इत्यादि प्रकरण से प्रथमतः उपासना में उपयोगी इन्द्रियों को वशीकृत करने के लिए आत्मा शरीर बुद्धिमन इन्द्रिय चक्षुरादि और विषय शब्दादिक रथी रथ सारथि लगाम घोड़ा और चलने के लिए योग्य स्थान रूप से उपमानोपमेयभाव का कथन किया गया है । उसमें इन्द्रिय से उत्कृष्ट अर्थ विषय है" इत्यादि से इन्द्रियों को स्वाधीन करने में एक की अपेक्षया दूसरों में उत्कृष्टत्वमात्र का कथन किया गया है । उसमें रथ रूप से उपमित जो शरीर

सूक्ष्मन्तु तदर्हत्वात् ।१।४।२।

तुनाऽतिव्यक्तस्य शरीरस्य कथमव्यक्तशब्देन ग्रहणमिति शङ्कापाक्रियते । अव्यक्तशब्दः स्थूलदेहस्य कारणभूतमव्याकृताख्यं

क्त" मिति । अयंभावः सांख्योक्तप्रधानस्य जगत्कारणत्वप्रतिपादकं नेदं प्रकरणमपितु ब्रह्मणः प्रतिपादकमेव. यच्चेदमव्यक्तपदं न तत् प्रधानबोधकमपितु शरीरबोधकमेव । "आत्मानं जीवं रथिनं रथस्वामिनं जानीहि तत् शरीरं रथरूपं जानीहि"इत्यादि. प्रकरणेन प्रथममुपासनायां सहायकतया. चक्षुरादीन्द्रियाणां वशीकरणाय. आत्मशरीरबुद्धिमन इन्द्रियशब्दादिविषया यथाक्रमम् रथिरथसारथिरथास्वविषयत्वेनोपमिताः तत्रेन्द्रियेभ्य उत्कृष्टाः शब्दादिका अर्थाः वशीकार्यत्वेपरत्वमेकापेक्षया तदपरस्य कथितम् । तत्र रथरूपतयोपमितं शरीरमव्यक्तस्य कार्यमिममव्यक्तकार्यत्वेनाव्यक्तशब्देन परिगृहीतं भवति । नतु सांख्यीयं प्रधानमव्यक्तशब्दप्रतिपादितं भवति । एवम्, "अव्यक्तात्पुरुषःपरः' इत्यत्र च पुरुषपदेन कर्मपराधीनजीवस्य ग्रहणं न भवति किन्तु सर्वतन्त्र स्वतन्त्रस्य मोक्षकामैः प्राप्यस्य सकलजगन्निदानस्य परमपुरुषस्यैव ग्रहणं भवति । नवा सांख्यीयपञ्चविंशतितत्वान्यतमरूपस्येति । "यच्छेद्वाङ् मनसि" इत्यादि श्रुतिभिरिममेवार्थं दर्शयतीति प्रकरणस्य मुकुलितोर्थः ॥१॥

है वह अव्यक्त का कार्य है । इसलिए अव्यक्त शब्द से शरीर का ग्रहण किया गया है । नतु अव्यक्त शब्द से प्रधान को कहने में कोई तात्पर्य है । और, "अव्यक्त से पर पुरुष है" यहाँ पुरुष पद से सांख्यीय पुरुष का ग्रहण नहीं है किन्तु उपेयभूत परमात्मा का ग्रहण होता है । इसी विषय को "यच्छेद्वाङ्मनसि" यह श्रुति भी कहती है ॥१॥

सारबोधिनी—स्थूल शरीर तो प्रत्यक्षादि प्रमाणगम्य होने से अतिव्यक्त है । तब अव्यक्त शब्द से शरीर का ग्रहण किस तरह से हो सकता

शरीरावस्थं भूतसूक्ष्ममभिधत्ते । भूतसूक्ष्मापेक्षया स्थूलदेहस्यैव कार्यार्हत्वादव्यक्तपदेन ग्रहणम् ॥२॥

विवरणम्—अथ यत् प्रमाणादिना व्यञ्ज्यमानं न भवति तदव्यक्त पदेन गृहीतं भवति. इदं परिदृश्यमानं स्थूलं शरीरं यथा तथा प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन परिगृहीतमेव भवति तदा कथमस्य सर्वप्रत्यक्षस्य स्थूलशरीरस्याव्यक्तपदेन ग्रहणंस्यादितिशङ्कामपनेतुमग्रिमसूत्रमवतारयितुमाह "तुनाऽतिव्यक्तस्येत्यादि" सूत्रघटकतु शब्देन, अतिव्यक्त स्यापामरसाधारणप्रत्यक्षविषयस्य परिदृश्यमानपाञ्चभौतिककलेवरस्य भोगाधिष्ठानस्य. अव्यक्तपदेन ग्रहणं कथंस्यान्नैव भवितुमर्हतीत्याकारिका, या शङ्का. तस्या अपनोदनं निराकरणं क्रियते । श्रुतिघटकीभूतोऽव्यक्तशब्दः स्थूलदेहकारणीभूतस्याव्याकृताख्यशरीरावस्थस्य सूक्ष्म भूतस्याभिधानं करोति । नहि भूतसूक्ष्मं कार्यायालं भवति किन्तु

है । जो अभिव्यक्त नहीं हो उसको अव्यक्त कहते हैं यह तो व्यक्त है । इस प्रकार की शंका का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं—"तुनाऽतिव्यक्तस्य शरीरस्य" इत्यादि । "तुना" सूत्र घटक 'तु' शब्द से पूर्वपक्ष का निराकरण किया जाता है । शंका का उपपादन करने के लिए कहते हैं, "कथमव्यक्त शब्देन" इत्यादि । प्रत्यक्षादि प्रमाणगम्य अतएव अतिशयेन व्यज्यमान जो है, यह स्थूल है, उसका अव्यक्त शब्द से ग्रहण किस तरह से हो सकता है । इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं, "अव्यक्तशब्दः" इत्यादि श्रुति घटक जो अव्यक्त शब्द है वह इस स्थूल देह का कारण रूप जो अव्याकृतदशापन्न शरीर में रहनेवाला सूक्ष्मभूततन्मात्र पद प्रतिपाद्य है उस सूक्ष्म का वाचक है । क्योंकि भूत सूक्ष्म की अपेक्षा से स्थूल देह ही भोग साधनतारूप कार्ययोग्य होता है । इसलिए कारण कार्योभय साधारण दोनों का अव्यक्त पद से ग्रहण होता है । इसलिए कोई क्षति नहीं होती है ॥२॥

तदधीनत्वादर्थवत् ।१।४।३।

"यस्य पृथिवी शरीरम्' "यस्याव्यक्तं शरीरम्" [सुबाल ७ख] इत्यादि श्रुतिभिरव्यक्तादेः सर्वस्यापि परमात्माधीनत्वेन तन्नियम्यत्वनिश्चयात्। परमपुरुषायत्ताव्यक्तादेरर्थवत्त्वम्। पुरुषः सर्वान्तर्यामी प्राप्यभूत एव पराकाष्ठा परागतिरित्युच्यते ॥३॥

स्थूलमेव शरीरं कार्यप्रयोजकं भवति । ततश्चैक एवाव्यक्तशब्दः कार्यकारणयोः स्थूलसूक्ष्मोभययोरपि वाचकोभवतीति संक्षेपः ॥२॥

विवरणम्–सांख्यानुयायिनस्त्वव्यक्तस्यैव प्रधानत्वमङ्गीकुर्वन्ति तथा तादृशाव्यक्तस्यैव जगत्कारणत्वमिति कथं तत्सङ्गतिरितिचेन्न परमपुरुषाधीनतयैवास्य जगत्कारणत्वात्. नतु स्वतन्त्रतः तत्कारणमिति स्वीकारेणैव तस्याप्यर्थवत्वं भवतीति प्रतिपादयितुमाह "यस्य पृथिवी शरीरमि"त्यादि। यस्य परमपुरुषस्य पृथिवी शरीरं भवति तथा यस्य भगवतोऽव्यक्तं शरीरं भवतीत्यादि श्रुतिभिर्ज्ञायते यत्.

सारबोधिनी–सांख्य लोग प्रधान को ही अव्यक्त शब्द वाच्य मानते हैं। तथा उसी प्रधान को जगत् कारण भी मानते हैं। तो इस बात की उपपत्ति किस तरह से होगी इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि अव्यक्तादिक में कारणता है परन्तु स्वातन्त्र्येण कारणता नहीं है किन्तु "यस्याव्यक्तं शरीरम्" इत्यादि श्रुतियों से भगवान् का शरीर रूप है। भगवान् से नियम्य है। इस रूप से भगवदधीन रूप से प्रधानादिक में कारणता है इस बात को बतलाने के लिए सूत्र का व्याख्यान करते हुए वृत्तिकार कहते है, "यस्य पृथिवी शरीरम्" इत्यादि। जिस परम पुरुष का पृथिवी जलादिक शरीर रूप है।" जिस परमपुरुष का अव्यक्त शरीर है" इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है कि सब अव्यक्तादिक पदार्थ परमात्मा परमपुरुष के अधीन है। तथा परमात्मा से ये सब नियाम्य हैं। अतः स्वतन्त्र प्रवृत्ति स्थितिकतया अव्यक्त

ज्ञेयत्वावचनाच्च ।१।४।४।

प्रकरणेऽस्मिन्नव्यक्तस्य ज्ञेयत्वावचनान्न साङ्ख्योक्तं प्रधानमत्राव्यक्तम् ॥४॥

अव्यक्तादिकं सर्ववस्तु भगवतः परमपुरुषस्य शरीररूपं तथा भगवता तत्सर्वनियन्त्रितम्, इति तदङ्गतया अव्यक्तादेर्जगत्कारणता भवति नतु सांख्यवत् स्वातंत्र्येण तस्य जगत्कारणतेत्येवं परमात्माधीनत्वादेव अव्यक्तादीनामर्थवत्वं भवति। "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेत"दित्यादि श्रुतिरप्यनुगृहीता भवति। पुरुषस्तु सर्वेषामन्तर्यामी सर्वनियन्ता च स एव सर्वेषां प्राप्यभूतः पराकाष्ठापरागतिश्चेति संक्षेपः ॥३॥

विवरणम्—एतत्प्रकरणस्थ पूर्वसूत्रत्रयेण सांख्यमतपरिकल्पितप्रधानस्याव्यक्तशब्देन ग्रहणं न भवति किन्तु शरीरस्यैवाव्यक्तपदेन ग्रहणं भवतीति प्रतिपाद्य वक्ष्यमाणहेतुनाऽपि नानुमानिकं प्रधानमव्यक्त शब्देन प्रतिपादितं भवति किन्तु शरीरस्यैव व्यक्तशब्देन ग्रहणं भवतीति दर्शयितुमाह, "प्रकरणेऽस्मिन्नित्यादि। व्यक्तानां पृथिव्यादीनाम व्यक्तस्य प्रधानस्य तथा पुरुषाणां विज्ञानात्पुरुषस्य कैवल्यं भवतीति

में कारणता नहीं है किन्तु भगवदधीन प्रवृत्ति निमित्तिकतयैव कारणता है। इसलिए सार्थकत्व भी है। पुरुष तो सर्वान्तर्यामी प्राप्य रूप ही है। इसलिए परा का परागति कहा जाता है ॥३॥

सारबोधिनी—एतत्प्रकरणस्थ पूर्व सुत्र त्रय से सांख्याभिमत प्रधान अव्यक्त, "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः" इत्यादि श्रुति प्रतिपाद्य नहीं है किन्तु भूत सूक्ष्म से जायमान शरीर ही रथि-रथ कल्पना में उपमानोपमेयविधया उपयोगी है ऐसा कहा गया। अब वक्ष्यमाण हेतु से भी कपिलाभिमत प्रधान अव्यक्त पदवाच्य नहीं है। इस बात का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि "प्रकरणेस्मिन्नित्यादि। इस प्रकरण में अर्थात्, "इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था" इत्यादि से

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ।१।४।५।

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इत्यारभ्य "निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते [का० १।३।१५।]इत्येवमव्यक्तस्यापि ज्ञेयत्वं श्रुतिर्वदतीति चेन्न

सांख्यमतम् । तत्र कैवल्यं प्रकृतिपुरुषयो रन्यतरज्ञानमूलकमिति प्रधानस्यापि ज्ञेयत्वं प्राप्तमेव भवतीति प्रश्नस्य सूत्रद्वारेणैवोत्तरं ददाति "ज्ञेयत्वावचनादिति । तदेवस्पष्टयति प्रकरणेऽस्मिन्निति । अस्मिन् प्रकरणे सांख्यमतकल्पितस्य प्रधानस्याव्यक्तपदेन ज्ञेयत्वं न प्रतिपादयति. किन्तु अव्यक्तपदवाच्यमव्यक्तसूक्ष्मतन्मात्रजन्यं शरीरमेवाव्यक्तपद प्रतिपाद्यम् । यतः सांख्याभिमतस्य प्रधानस्य ज्ञेयत्वावचनात् ज्ञेयत्वेनाप्रतिपादनादिति संक्षेपः ॥४॥

विवरणम्–इतः पूर्वसूत्रे प्रधानस्य ज्ञेयत्वावचनादिति हेतुना सांख्याभिमतप्रधानस्य निराकरणं कृतम् । परन्तु तन्नयुक्तम् यतः "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इत्यादि प्रकरणेन तु महतः परविद्यमानस्याव्यक्त लेकर, "पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परागतिरित्यन्त प्रकरण में सांख्याभिमत अव्यक्त प्रधान में ज्ञेयत्व का प्रतिपादन है ऐसा ज्ञात नहीं होता है किन्तु अव्यक्त भूत सूक्ष्म से जायमान शरीर का ही अव्यक्त से बोध होता है । इसलिए इस प्रकरण में सांख्यमत कल्पित प्रधान का यहाँ अव्यक्त पद से ग्रहण नहीं होता है । क्योंकि इस प्रकरण में तो केवल अव्यक्त शब्द का पाठ हैं । वह सांख्यमत कल्पित प्रधान है, ऐसा निश्चित नियामक कोई विशेष हेतु तो है नहीं । तब अव्यक्त शब्द से शरीर को लेकर के उपमानोपमेय भाव उपपन्न हो जाता है । इसलिए अव्यक्त शब्द शरीरादिका ही बोधक है । किन्तु तांत्रिक प्रधान अव्यक्त शब्द वाच्य नहीं है ॥४॥

सारबोधिनी–इसके पूर्वसूत्र में कहा गया है कि, "इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः" इस प्रकरण में ज्ञेयत्व रूप से सांख्य कल्पित प्रधान का

प्राज्ञः परमात्मैवात्र "अशब्दमस्पर्श" मित्यनयोच्यते । यतः "सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् [का०।१।३।९।] इति प्राज्ञस्यैव प्रकृतत्वात् ॥५॥

पदप्रतिपादितप्रधानस्यैव कथनात् । ज्ञेयत्वावचनमिति हेतुः शब्दोगुण श्चाक्षुषत्वादितिवत् स्वरूपासिद्धं भवतीति शङ्कांकृत्वा प्रकरणात् अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादित्यादि रूपात् परमात्मन एव ग्रहणं नतु प्रधानस्य ग्रहण मिति ज्ञेयत्वावचनहेतुर्न स्वरुपासिद्ध इत्येतत्सर्वं दर्शयितुमग्रिमसूत्र-मवतार्य्यतद्व्याख्यानायाह "अशब्दमस्पर्शमित्यादि। अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्चयत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते"[यत् रूपस्पर्शाभ्यां रहितम्. अव्ययं विकाररहितम् तथा रसरहितम् तथानित्यं गन्धरहितम् आद्यन्ताभ्यामुत्पादविनाशाभ्यां विकलम् महतो महत्तत्वादपि परोविद्यमानम् स्थिरं नतु घटादिवदस्थिरम् इत्थं भूतवस्तूपास्य मृत्युमुखादुपासकप्रमुक्तो भवतीत्यर्थः ।

अव्यक्त शब्द से प्रतिपादन नहीं होता है यह ठीक नहीं है । क्योंकि, "अशब्दस्पर्शम्" इत्यादि श्रुति में तो प्रधान को भी ज्ञेय रूप से प्रतिपादन किया जाता है । तब तो "ज्ञेयत्वावचनात्" यह हेतु स्वरूपा सिद्ध है । इस शङ्का का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं "अशब्दमस्पर्शमित्यादि । अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसंनित्यमगन्धवच्चयत् । अनाद्यनन्नं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते" [जो शब्द स्पर्शरहित है । रूप रहित है, व्यय रहित है तथा रस रहित है और नियमतः गन्ध रहित है। आद्यन्त अर्थात् उत्पादविनाश रहित है । यह तत्त्व से परे रहनेवाला है । एतादृश प्रधान की उपासन करनेवाला मृत्युमुख से प्रमुक्त हो जाता है ।] इस श्रुति में तो प्रधान को भी ज्ञेयत्व का प्रतिपादन हो रहा है । तब किस तरह करते हैं कि ज्ञेयत्व नहीं है । इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं "इति चेन्न प्राज्ञः" इत्यादि । इस

अत्र यादृशं प्रधानं सांख्याभिमतं तादृशस्यैव ज्ञेयत्वं प्रतिपाद्यते श्रुत्या तत्कथमुच्यतेऽव्यक्तस्य ज्ञेयत्वं नास्तीति स्पष्ट एव ज्ञेयत्वावचनहेतुः स्वरूपासिद्ध इति चेन्न। अत्रास्पर्शमित्यादिना नाव्यक्तस्य ग्रहणं किन्तु "यत्तदद्रेश्यम्" इत्यादि श्रुत्या प्राज्ञस्य परमात्मनोपि शब्दस्य स्पर्शादिरहितत्वस्य प्रतिपादनात्, अशब्दमस्पर्शमित्यादिनापि प्राज्ञपदबोध्यपरमात्मन एव ग्रहणं भवति नतु सांख्यमतसिद्धप्रधानस्य। यतः सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" इत्यत्र परमात्मन एव मुखतः प्रतिपादनात्। तथा "अन्यत्रधर्मा न्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताऽकृतात्। अन्यत्रभूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ?" एवम् यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः" इत्यादि प्रकरणे प्राज्ञपदबोध्यपरमात्मन एव प्रतिपादनं दृश्यते नतु सांख्यमतकल्पितस्य प्रधानस्य। तस्मात् ज्ञेयत्वावचनादिति पूर्वोक्तो हेतुर्न स्वरूपासिद्धोऽपितु गमक एव। अत एतत्प्रकरणप्रतिपाद्यं

प्रकरण में प्राज्ञ परमात्मा परमपुरुष हो निचाय्य उपास्य रूप से प्रतिपादित होते हैं। प्रधान नहीं, क्योंकि "अन्यत्र धर्मात् अन्यत्राधर्मात्" इत्यादि श्रुतियों में धर्माधर्मादि से भिन्न वस्तु का प्रश्न करके परमात्मपरक तया समाधान किया गया है। वह प्रकरण परमात्मा का उपस्थापक है। किन्तु सांख्य परिकल्पित प्रधान का उपस्थापक नहीं। "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" तथा, "सोऽध्वनः पारमाप्नोति" यहाँ प्रथम श्रुति से परमात्मा का ही कथन है। उसमें कारण रूप से "सोऽध्वनः पारमाप्नोति" इस वचन का प्रयोग है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह प्रकरण परमात्मा प्राज्ञ का ही उपस्थापक है यद्यपि "अशब्दमस्पर्शम्" यह वाक्य उभयसाधारण है। तथापि "अदृष्टंद्रष्टः" इत्यादि प्रकरण से स्पष्ट होता है कि अदृश्यत्व दृष्टत्व प्राज्ञ का धर्म है। नतु प्रधान का धर्म है। इसलिए जो भी श्रुति प्रधान कारणपरतया प्रतिभासित होती है

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ।१।४।६।

अत्रोपेयोपासनोपासकानां त्रयाणामेव 'येऽयं प्रेते' इत्यारभ्यासमाप्तेरुपन्यासः प्रश्नश्च वर्तते न सांख्योक्तप्रधानादेरतो न तस्य ज्ञेयत्वम् ॥६॥

न प्रधानं किन्तु परमात्मैव प्रकरणप्रतिपाद्यं विशेषतः प्रतिपादनमुत्तरसूत्रे करिष्यतीत्यत्रसंक्षेपः पिण्डीकृत्यकृत इति ॥५॥

विवरणम्—इतः पूर्वप्रकरणे ज्ञेयत्वेन प्रधानत्वेन न प्रधानस्य ग्रहणं किन्तु परमात्मन एव, नवा "अशब्दमस्पर्शम्" इत्यादिना प्रधानस्य संग्रहोऽपितु प्रकरणात् प्राज्ञस्यैव ग्रहणमिति व्यवस्थाप्य वक्ष्यमाणहेतुनापि प्रधानस्यात्र प्रकरणे संग्राहोनेति दर्शयितुं सूत्रान्तरमुपस्थापयितुमाह, "अत्रोपेयोपासनेत्यादि।' अत्र सूत्रे एवं शब्दः पंचम्यर्थकः यस्मात्कारणात् प्रकरणे त्रयाणां पितुः सौमन्यत्वमोक्षमोक्षकारणानामेवोपन्यासः प्रतिवचनश्च दृश्यते । नतु सांख्यमतकल्पित प्रधानस्य प्रश्नो वा प्रतिवचनं वा दृश्यते । तस्मात् कारणात् प्रकृत प्रकरणेऽव्यक्तशब्देन प्रधानस्य ग्रहणं न भवति किन्तु भूतसूक्ष्मस्यै वेति ।

वह भी वस्तुत प्रकरणादि बल से प्रधान का उपस्थापक नहीं है किन्तु प्राज्ञ का ही उपस्थापक है ॥१।४।५॥

सारबोधिनी—इस प्रकरण में अव्यक्त शब्द से सांख्याभिमत प्रधान का ग्रहण नहीं होता है इस बात को पूर्वोक्त हेतु से प्रतिपादन किया गया है । इसके बाद वक्ष्यमाण हेतु से भी उसी विषय को प्रतिपादन करने के लिए प्रक्रम करते हैं "अत्रेत्यादि" सूत्र घटक एवं शब्द "अत्र" अर्थपरक है । इसी प्रकरण में उपेय ज्ञेय उपासना तथा उपासक इन तीन पदार्थ का ही, "येयं प्रेते भवतिविचिकित्सा" यहाँ से लेकर के इस प्रकरण के समाप्ति पर्यन्त प्रकरण में उपन्यास अर्थात् कथन किया

महद्वच्च ।१।४।७।

"बुद्धेरात्मा महान्परः" इत्यत्रात्मशब्दसामानाधिकरण्यान्नसाङ्ख्यीयं महत्तत्वं गृह्यतेऽपित्वात्मैव । तथाऽव्यक्तशब्देनापि न प्रधानं किन्तु शरीरमेव ॥७॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावानुमानिकाधिकरणम् ॥१॥

अत्रेत्यादिवृत्तिः । अत्र प्रकृतप्रकरणे उपेयः प्राप्यः श्रीराम उपायोऽग्निविद्यादिसाधनम् उपासनम् परमेश्वरोपासनम्. तथा उपासकः इत्येतेषां त्रयाणामेव "येयं प्रेते भवति विचिकित्साऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके" इत्युपक्रम्य प्रकरणसमाप्तिपर्यन्तमुपन्यासोऽवलोक्यते तथा प्रतिवचनमपि । नतु तदतिरिक्तस्य कस्यचिदप्युपन्यासः प्रश्नो वा विद्यते । तस्मान्नात्रसांख्यमतप्रतिपादितप्रधानस्य अव्यक्त पदेन ग्रहणं किन्तु सूक्ष्मशरीरस्य तत्पदेन ग्रहणं भवति ज्ञेयत्वञ्च परमात्मन एव । तस्यैव मोक्षहेतुत्वादितिदिक् ॥६॥

विवरणम्—पूर्वोक्तयुक्तिभिरव्यक्तपदं न सांख्यमतपरिकल्पित प्रधानपरकमपितु सूक्ष्मशरीरबोधकमेवेतिसंसाध्य महत्पदस्यात्मपदसामानाधिकरण्यादपि न साङ्ख्यीयं प्रधानमित्येतदर्शयितुमुपक्रमते, है । तथा इन तीन पदार्थ विषयक ही प्रश्न भी हैं । किन्तु सांख्यमत कल्पित प्रधान विषयक नहीं । न वा तद्विषयक उत्तर का ही कथन है । इसलिए सांख्य मत सिद्ध प्रधान में ज्ञेयत्व नहीं है । किन्तु अव्यक्त शब्द से भूत सूक्ष्म का ही ग्रहण होता है । ।६॥

सारबोधिनी—इस प्रकरण में सांख्यमत सिद्ध जो बुद्धि तत्त्व है उससे पृथक् करके, उससे भी आत्मा में परत्व का प्रतिपादन किया है "बुद्धेरात्मा महान् परः" इत्यादि श्रुति से तो यहाँ श्रूयमाण जो महत् शब्द है उसको आत्मपद के साथ सामानाधिकरण्य श्रूयमाण होने से आत्मपरकत्व जिस तरह से सिद्ध होता है, उसी तरह से अव्यक्त शब्द से सांख्यमत सिद्ध

"बुद्धेरात्मा" इत्यादि । अत्र महच्छब्दात्मपदयोर्नीलोत्पलवत् सामानाधिकरण्यं श्रूयते । तच्च सामानाधिकरण्यं न भेदे संभवति. घटपट पदयोः सामानाधिकरण्यादर्शनात् । किन्तु अभिन्ने सामानाधिकरण्यं भवति नीलघटयोरिव । एवं चात्मपदमहत्पदयोस्तदैव सामानाधिकरण्यं स्यात् । यदीमावुभावप्यभिन्नौस्याताम् । ततश्चात्मपदमहत्पदयोः सामानाधिकरण्यात् । महत्पदं यथा न बुद्धिपरकमपितु. आत्मपरकं तथैवाव्यक्तपदमपि न प्रधानपरकमपितु सूक्ष्मशरीरपरकमेवेतिभावः ॥७॥

इतिजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र कृतौ श्रीरघुवरीयवृत्ति विवरणेआनुमानिकाधिकरणम् ॥१॥

प्रधान सिद्ध नहीं होता है । किन्तु शरीरपरक है । इसलिए अनुमान प्रमाण सिद्ध सांख्योय प्रधान जगत् का कारण नहीं है । अपितु संपूर्ण स्थावर जङ्गमात्मक सकल जगत् का निदान कारण भगवान् श्रीजानकीनाथ ही हैं । इस बात को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "बुद्धेरात्मा महान् पर" इत्यादि "बुद्धितत्व से पर महान् आत्मा है" । इस श्रुति में महत् पद को आत्मपद के साथ सामानाधिकरण्य होने से साख्यमत सिद्ध जो महत्त्व है उसका ग्रहण नहीं होता है प्रकृत में । किन्तु आत्मपद सामानाधिकरण महत् पद से आत्मा का ही ग्रहण होता है । इसी प्रकार से अव्यक्त शब्द से सांख्यमतसिद्ध प्रधान का भी ग्रहण नहीं होता है । किन्तु अव्यक्त शब्द से शरीर का ही ग्रहण होता है । अतः संपूर्ण स्थावर जङ्गमात्मक जगत् के प्रति सर्वेश्वर परम पुरुष श्रीजानकीनाथ ही अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं । सांख्यमत सिद्ध प्रधान स्वातन्त्र्येण जगत् का उपादान कारण नहीं है यह सिद्ध है ॥७॥

इति सारबोधिनी में आनुमानिकाधिकरणम् ॥१॥

चमसाधिकरणम् ॥२॥

चमसवदविशेषात् १।४।८।

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः" [श्वे०४।५।] इति श्वेताश्वतरीयाः पठन्ति । अत्र किमजाशब्देन साङ्ख्योक्तप्रकृतिरुच्यत उत ब्रह्माश्रितेति संशयः । अजेति कथाना-

---

विवरणम्-गतप्रकरणेन यथा अव्यक्तशब्दो न सांख्योक्त प्रधानस्य बोधकोपितु सूक्ष्मशरीरस्य बोधकः । एवं सांख्योक्त प्रधानं न स्वातंत्र्येण जगतः कारणं किन्तु परमपुरुष एव जगतः कारणमिति व्यवस्थापितम् । तथैवाजादि शब्दोपि न स्वातंत्र्येण सांख्योक्त प्रधानस्य जगत्कारणतावाचकोऽपितु परमपुरुषस्तथाब्रह्माश्रितशक्तिरेव कारणं भवति न सांख्योक्तं प्रधानं स्वातन्त्र्येण जगतः कारणमिति व्यवस्थापयितुं प्रक्रमन्नाह "अजामेका" मित्यादि ।' अजाम् न जायतेनोत्पद्यते न वा विनश्यति या सा अजा उत्पादविनाशरहितामित्यर्थः ।

सारबोधिनी—पूर्व प्रकरण से यह सिद्ध किया गया कि अव्यक्त शब्दवाच्य प्रधान नहीं है किन्तु सूक्ष्म शरीर है । तथा जगत का कारण प्रधान नहीं है किन्तु परमपुरुष है । इसी तरह अजाशब्दवाच्य सांख्योक्त स्वतन्त्र प्रकृति नहीं है किन्तु योगार्थ तथा प्रकरणादि बल से अजापद वाच्य परम पुरुषाश्रित माया ही है इस बात को बतलाने के लिए वृत्तिकार उपक्रम करते हैं "अजामेकाम्" इत्यादि । [जो "अजा" उत्पाद विनाश रहित है, एक अर्थात् सजातीय द्वितोय रहित है, सत्त्व गुण रजो गुण तमो गुण युक्त है, समान अनेक प्रकारक प्रजा महत्वादि के प्रतिकारण है ।] इस प्रकार से श्वेताश्वेतर नामक उपनिषद में मंत्र पढ़ा गया है । अब यहाँ संशय होता है कि अजाशब्द से सांख्यमत सिद्ध प्रकृतिका ग्रहण होता है अथवा मायापदवाच्य परम पुरुषाश्रित शक्ति विशेष रूप प्रकृति का ग्रहण होता है ? किसी एक पक्षका निर्णायक एक विशेष हेतु के अभाव

द्कार्यत्वात्स्वातन्त्र्येण बहुप्रजानां कारणत्वश्रुतेश्च साङ्ख्याभिमता प्रकृतिरेवेति पूर्वःपक्षः । अत्राभिधीयते—नह्यत्र सांख्योक्ता प्रकृतिरुच्यते । न चायमजाशब्दस्तत्प्रतिपादकः । यथा "अर्वाग्बिलश्चमसः" [बृ० ४।२।६।] इत्यत्र चमनसाधनत्वयोगेन प्रवृत्तस्य चमसशब्दस्य, "यथेदं तच्छिर" इत्यादिवाक्यशेषाच्छिरोरूपार्थे निर्णयस्तथा प्रकृते

एकाम् सजातीयद्वितीयरहितामित्यर्थः । "लोहितशुक्लकृष्णामिति" सत्वरजस्तमोगुणयुक्ताम् लोहितपदेन रजसः शुक्लपदेन सत्वस्य कृष्णपदेन तमोगुणस्य संग्रहादिति । एतेनोत्पत्तिस्थितिलयजनकत्वस्य प्रतिपादनं कृतमिति । बह्वीरनेकाः सरूपाः सजातीयाः प्रजा महत्तत्वादि प्रमुखाः सृजमानां समुत्पादयन्तीम् प्रकृतिमिति । एकः संसारान्तर्गतोऽजः पुरुषः अनुवर्तमानां तां प्रकृतिमनुशेते तस्या अनुवर्तनं करोति । अन्यस्तद्भिन्नोजः पुरुषोभुक्तभोगां तामेनां प्रकृतिं जहाति परित्यजति प्रकृति बन्धनं विहाय भगवल्लोकं प्राप्नोतीत्यर्थः । एवं रूपेण श्वेताश्वतर

होने से स्थाणु पुरुषवत् संदेह होता है। पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि यहाँ सांख्याभिमत प्रधान का ही ग्रहण होता है, क्योंकि अजाम्—इस कथन से नित्यत्व होने से वह अन्य किसी का कार्य नहीं हो सकता है। और अनेक प्रकारक सरूप प्रजा का उत्पादकत्व कथन होने से सांख्यमत सिद्ध प्रकृति का ही ग्रहण होता है। एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं, "अत्राभिधीयते" इत्यादि। यहाँ प्रधान जो कि सांख्याभिमत प्रकृति है उसका ग्रहण नहीं है। क्योंकि यहाँ अजाशब्द प्रधान का प्रतिपादक नहीं है। जिस तरह, "अर्वाग्विलश्चमसः" इस स्थल में केवल योगार्थ को लेकर के प्रवृत्त जो चमस शब्द है वह, "यथेदंतच्छिर" इत्यादि वाक्य शेष से शिरोरूप अर्थ विशेष का ग्रहण होता है। उस तरह प्रकृत में किसी अर्थ विशेष के नियामक कारण विशेष नहीं है। जिससे कि सांख्यमत सिद्ध स्वतन्त्र प्रकृति का अजा शब्द से ग्रहण किया जाय। इसलिए

किमप्यर्थनियामकं नास्ति येन साङ्ख्यसिद्धाजाया ग्रहणं भवेत् अतो नात्र साङ्ख्योक्तप्रधानस्य प्रकरणम् ॥८॥

शाखिनः पठन्ति कथयन्ति । अत्रास्मिन्मंत्रे अजाशब्देन सांख्यसिद्धान्त सिद्धप्रकृतेर्ग्रहणं भवति अथवा ब्रह्माश्रितायाः प्रकृतेर्ग्रहणं भवति । अर्थात् स्वातंत्र्येण प्रकृतेः कारणता अथवा ब्रह्माङ्गतया वा प्रकृतेः कारणतेति संशयः । तत्र स्वातंत्र्येणेति सांख्यमतम्, अङ्गतया कारणत्वमिति वेदान्तमतम् । तत्र निश्चायककारणाभावात् संशयो जायते स्थाणुपुरुषादिवदिति ।

तत्र "अजेति कथनेनोत्पादविनाशराहित्यात्मकाकार्यत्व प्रतिपादनात् तथा विविधप्रकारकप्रजांप्रति स्वातंत्र्येणोत्पादकत्वस्य च श्रुतौ प्रतिपादनात् सांख्योक्तप्रधानस्यैव स्वातंत्र्येण प्रतिपादनं भवति, नतु तदन्यस्यकस्यचिदिति पूर्वः पक्षः ॥

एतादृशपूर्वपक्षं निराकर्तुमाह, "अत्राभिधीयते" इत्यादि । अत्र प्रकरणे सांख्याभिमता प्रकृतिः स्वातन्त्र्येण प्रतिपादिता न भवति कुतः ? प्रातिस्विकरूपेण सांख्योक्तप्रकृतेः प्रतिपादकपदाभावात् । नचायमजाशब्दस्तत्प्रतिपादकः अजाशब्दस्य योगार्थमादाय निश्चायका भावात् । तत्र दृष्टान्तं दर्शयति सूत्रपदेन चमसवदिति । तदेव स्पष्टयति "यथेत्यादि" "अर्वाग्बिल ऊर्ध्वबुध्नश्चमस" अत्र चमनसाधनत्वयोगेन सांख्यमताभिमत प्रकृति का अजा शब्द से ग्रहण नहीं होता है । अर्थात् "न जायते इति अजा" इस प्रकार यौगिकार्थ को लेकर के सामान्यतः प्रवृत्त अजा शब्द सांख्याभिमत प्रधान को कहता है, अथवा परमपुरुषाधीन प्रकृति को कहता है, ऐसा निश्चय नहीं होता है । किन्तु "तदेवात्मशक्तिस्वगुणैर्निगूढाम्" तथा, "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" इत्यादि वाक्य शेष से अजाशब्द परम पुरुष की शक्तिरूपा प्रकृति का वाचक है । यह सब प्रकरणादि द्वारा जाना जाता है, इसलिए, "अजामेकां लोहित

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ।१।४।९।

तु रवधारणे । प्रत्युत ब्रह्माश्रितप्रकृतेरेवात्र ग्रहणे प्रकरणसामञ्जस्यम् । "तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः" [बृ०।६।४।२।] इति ज्योतिः पदवाच्यं ब्रह्मैवोपक्रमः कारणं यस्या, सेयमिह ब्रह्मशक्तिरजा प्रतिपाद्यते । उपक्रमे 'किं कारणं ब्रह्म [श्वे०।१।१] "देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढ़ाम् श्वे० १।३।) इति ब्रह्मोपक्रमाद्यजा स्वकीयगुणत्रयैः समन्विता दृश्यते ।

प्रवृत्तश्चमसशब्दः ' यथेदंतच्छिर" इत्यादि वाक्यशेषबलेन शिरोरूपार्थस्य वाचको भवतीति निश्चयः क्रियते. नतु कस्यचिदपि. अर्थविशेषस्य वाचको भवति। तथैव प्रकृतेऽप्ययमजाशब्दो न कस्यचिदप्यर्थविशेषस्य निर्णायकः । यद्ययमजाशब्दोनिर्णायको भवेत्तदैव सांख्याभिमतप्रकृतेर्ग्रहणं स्यात् नत्वेवं विद्यते. तस्मान्नायमजाशब्दः स्वातंत्र्येणोत्पादकप्रधानस्य वाचकः, "देवात्मशक्तिम्' 'अस्मान्मायी-सृजते" इत्यादि श्रुतिभिः प्रकरणेन वाक्यशेषादपि प्रकृतेऽजाशब्देन ब्रह्मणः शक्तिरूपा प्रकृतिरेव गृहीताभवति, नतु सांख्योक्तायाः प्रकृतेर्ग्रहणमिति संक्षेपः ॥८॥

विवरणम्–सांख्यमतानुमोदितप्रकृतेरजाशब्देन ग्रहणं न भवति, इति पूर्वसूत्रेण प्रतिपाद्य संप्रति अजामेकामिति मंत्रे परमात्मैकदेशरूपा-शुक्लकृष्णाम्" इस मन्त्र में कथित जो अजा शब्द है वह सांख्यमत सिद्ध प्रधान का वाचक नहीं है यह सिद्ध हुआ । अतः ब्रह्माश्रित माया का ही अजा शब्द से प्रतिपादन किया जाता है ॥८॥

सारबोधिनी–अजा शब्द से सांख्याभिमत प्रधान का नहीं किन्तु परमात्मा का शरीर लक्षणगुणत्रय विशिष्ट प्रकृति का ग्रहण होता है इस बात को अन्य हेतु से भी दृढ़ करने के लिए उपक्रम करते हैं "तुरवधारणे" इत्यादि । सूत्रघटकतु शब्द अवधारण अर्थ में है । ज्योति शब्द वाच्य जो ब्रह्मतदाश्रित तदात्मभूत जो प्रकृति वही अजा शब्द वाच्य

एवमुपसंहारे "आस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः" (श्वे०४।९।) इति ब्रह्मात्मिकामजामेव "अजामेका" मिति मन्त्रोदिताजावद्वर्णयति। एके हि शाखिनश्छन्दोगाः अजामेकामिति मन्त्रोदिताजारूपवद्ब्रह्मकारणिकायाः प्रकृतेः स्वरूपमधीयते। तदैक्षत बहुस्यांप्रजायेय, इत्युपक्रम्य "यदग्ने रोहितं रूपम्" (छा०।६।४।१।) इत्यादिभिः। तस्मान्न सांख्यतन्त्रीयप्रधानस्यात्र ग्रहणम् ॥९॥

या मायापदवाच्यायाः प्रकृतेरेव ग्रहणं भवतीति प्रकारान्तरेण दर्शयितुं सूत्रं व्याख्यातुश्चाह "तुरवधारणे" इत्यादि। सूत्र घटकस्तु शब्दोऽवधारणार्थक एव। न केवलं ब्रह्माश्रितप्रकृतेर्ग्रहणमजामेकामिति मन्त्रघटकाजा शब्देन भवति, प्रत्युत ब्रह्माश्रितप्रकृतेरजाशब्देन ग्रहणे कृते सति प्रकरणमपीदं समञ्जसं पूर्वापरानुकूलं भवति। तदेव प्रकरणमुपस्थापयति "तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः"इत्यादि मन्त्रे यत् प्रथमं ज्योतिरिति है। इस बात को छान्दोगशाखाध्यायी कहते हैं। अर्थात् सांख्याभिमत प्रधान का अजाशब्द से ग्रहण करने में प्रकरण का सांमजस्य नहीं होता है। प्रत्युत ब्रह्माश्रित ब्रह्म शरीर मूल प्रकृति का आजा शब्द से ग्रहण करने से ही प्रकरण का सांमजस्य होता है। कौन वह प्रकरण है जिसका सांमजस्य होता है इस जिज्ञासा में कहते हैं "तं देवा" इत्यादि। ज्योति प्रकाश का भी जो प्रकाश उसकी उपासना देवता लोग करते हैं। इस प्रकरण में ज्योतिपदवाच्य जो परम पुरुष वह ब्रह्म है। उपक्रम—अर्थात् कारण, जिसके एतादृश ब्रह्मशक्ति रूपा प्रकृति उसीका यहाँ अजा पद से कथन होता है। "किं कारणं ब्रह्म" किस साधन से विशिष्ट ब्रह्म जगत् का कारण है। एतादृश विचारावसर में, "देवात्म शक्तिम्" इस श्रुति में ब्रह्माश्रित ब्रह्मात्मभूत सत्वादि गुणत्रय विशिष्ट शक्तिरूपा प्रकृति अजाशब्द से प्रतिपादित होती है। इसी तरह उपसंहार प्रकरण की समाप्ति में, सत्वादि गुणत्रय विशिष्ट शक्ति सह कृत मायावी परमेश्वर

पदं तद्वाच्यं परं ब्रह्मैव. तादृशपरमपुरुष एव कारणरूपं यस्याः प्रकृते स्तादृशी प्रकृतिरेवात्राजाशब्देन प्रतिपादिता भवति नतु सांख्यमत-सिद्धस्वतन्त्रता प्रकृतिरिति "किं कारणं ब्रह्म" तथा, "देवात्मशक्तिस्व-गुणैर्निगूढाम्" इत्याद्युपक्रमे ब्रह्मकारणिका आजास्वकीयगुणत्रयविशे-षणयुता दृश्यते। एवमेवोपसंहारप्रकरणेऽपि "माययाविशिष्टः परमे-श्वरो विश्वं सकलमेव जगत्सृजते समुत्पादयति तथा तस्मिन्समुत्पादके मायया प्रलयकाले समाविष्टो भवति जीवादिकसर्वोंपि पदार्थः" इत्यादिषु ब्रह्मस्वरूपभूता. या अजामाया तामेव, "अजामेकामित्यादिमंत्र प्रतीता जाया वर्णनं दृश्यते। तथा "ह्यधीयते एके इति। एके शाखिनश्छन्दोगाः "आजामेका"मित्यादि मन्त्रे कथिताया ब्रह्मकारणिकायाः मायापदाऽभि-धेयरूपायाः प्रकृतेः स्वरूपस्यैवाभिधानं दृश्यते। एवं, "तदैक्षत" इत्याद्युप क्रम्य" यदग्रेरोहितं रूपम् इत्यादि प्रकरणेनापि ब्रह्माश्रितायाः प्रकृते रेववर्णनं दृश्यते। तस्मात् ब्रह्माश्रितप्रकृतेरेवात्र ग्रहणं भवति नतु सांख्यमतसिद्धस्वतंत्रायाः प्रकृतेर्ग्रहणमितिदिक् ॥९॥

समस्त जगत् को बनाते हैं। उस परमेश्वर में माया द्वारा जीवादिक अन्य सब पदार्थ संनिविष्ट है"। इस श्रुति में ब्रह्म शरीर लक्षण जो अजा प्रकृति उसी को. "अजामेकां लोहित" इत्यादि श्रुति में वर्णन किया गया है। एक शाखा वाले अर्थात् छान्दोग्य में भी, "अजामेकाम्" इत्यादि मन्त्र प्रतिपादित अजा को ही ब्रह्माश्रित ब्रह्म शरीर भूत प्रकृति स्वरूप का कथन किया गया है। तथा "तदैक्षत" यह उपक्रम करके, "यद-ग्रेरोहितं रूपम्" इत्यादि श्रुति से भी इसी का कथन किया गया है। अतः यहाँ ब्रह्माश्रितब्रह्म शरीर लक्षण प्रकृति का ही अजा शब्द से ग्रहण होता है। किन्तु सांख्यमत सिद्धान्तक प्रधान का ग्रहण नहीं यह सिद्ध होता है ॥९॥

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ।१।४।१०।

ननु ब्रह्मकारणिकायास्तस्याः कथमजात्वमित्याह—कल्पनोपदेशादिति । च शब्दः शङ्कां समुच्छिनत्ति । कल्पनायाः सृष्टेः "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" [श्वे० ४।९।] इत्यादिभिरुपदेशादस्याः सृष्टौ नामरूपे दधानाया ज्योतिरुपक्रमत्वं प्रलये च नामरूपे परिहाय

विवरणम्—अथाजायाः प्रकृते ज्योतिरुपक्रमत्वे ब्रह्म नन्यत्वात् नित्यतालक्षणमजात्वं हन्येत. इत्याशङ्क्य कारणात्मनाऽजात्वस्यकार्यात्मना जायमानत्वेऽपि. मध्वादिवन्नास्तिकश्चिद्विरोध इति दर्शयितुं सूत्रांतरमवतारयन्नाह "ननु ब्रह्मकारणिकायाः" इत्यादि । यदीयं प्रकृतिर्ब्रह्मकारणिका तदातस्याजन्यत्वेनाजात्वं कथंस्यादित्याह कल्पनोपदेशादिति । कल्पनायाः सृष्टेः शास्त्रे समुपदेशान्नास्तिकश्चिद्विरोधोमध्वादिवदिति सूत्रार्थः । सूत्रघटकश्चशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्तिपरकः । यद्यपि कल्पनापदमर्थान्तरे प्रसिद्धमिति न प्रकृतोपयोगित्वं तथापि

सारबोधिनी—यदि प्रकृतमें अजाशब्द से ब्रह्माश्रित प्रकृति का ग्रहण करते हैं तब "नजायते" इति 'अजा' इस प्रकार से नित्यत्व तो उसमें अनुपपन्न हो जाता है । क्योंकि ब्रह्म जन्य होने से अजन्यत्व रूप अजात्व का विरोध होता है । एनादृश शंका का अनुवाद करके उत्तर करने के लिए उपक्रम करते हैं "ननु ब्रह्म कारणिकाया" इत्यादि । ब्रह्म अर्थात् परमपुरुष भगवान् श्री राम हैं कारण जनक जिसका एतादृश जो प्रकृति. उसमें अजात्व जायमानत्वाभाव किस तरह से हो सकता है । इस शंका का निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं "कल्पनोपदेशादित्यादि" । यहाँ च शब्द पूर्वपक्ष का निराकरणपरक है । कल्पना अर्थात् सृष्टि का "धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इत्यादि स्थल में कल्पना शब्द का प्रयोग सर्गरूप अर्थ में भी देखा गया है । एवं "अस्मान्मायी" इत्यादि श्रुति से सृष्टि के समय में नाम रूप को धारणकरनेवाली जो प्रकृति है उसमें ज्योतिरूपक्रमत्व है अर्थात् ब्रह्म जन्यत्व

सूक्ष्मतां दधानाया ब्रह्मशरीरतयाऽवस्थितत्वादजात्वम् । इत्युभयस्याविरोधः यथा "अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेता" [छा० ३।११।१।] इत्यादौ श्रूयमाणस्यादित्यादेः सूक्ष्मतया कारणरूपेणावस्थितस्यैव "असौ वा आदित्यो देवमधु" [छा० ३।१।१।] इति कार्यावस्थायां मधुत्वं तद्वत् ॥१०॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ चमसाधिकरणम् ॥२॥

तदुपयोगित्वं दर्शयितुमाह—कल्पनायाः सृष्टेरिति । प्रकृतेकल्पनापदं सर्गबोधकम् । तत्रापि सर्गस्य प्रतिपादनात् । "अस्मान्मायी" इत्यादि श्रुतौ विश्वान्तर्गतप्रकृतेरपि समुत्पत्तिदर्शनात् । अयंभावः ब्रह्माश्रित प्रकृतेरपिघटादिवत्कार्यकारणावस्थाद्वयं भवति । तत्र स्वाविभक्तनामरूपादस्माद्व्याकृतात्कारणावस्थात्कारणान्मायावी परमेश्वरो जगदुत्पादयति. तदनन्तरं सैव यदा अव्यक्तावस्थायां तदा नित्या. यदा च कार्यावस्थायां तदा अजेतिकार्यत्वाकार्यत्वयोरुभयोरपि समावेशो भवति । यथा पृथिवीत्वजातिरपेक्षया परापि अपरापि तथैव प्रकृतेऽपि । एतदेव दर्शयति "इत्यादिभिरित्यादि । सृष्टि समये सेयं प्रकृतिर्ब्रह्माधीनतया कार्यरूपा. प्रलयसमये सूक्ष्मा सा ब्रह्म शरीररूपेणावस्थितत्वात्नित्यत्वमिति भवत्युभयोरप्यविरोधः । एतस्मिन्नर्थे दृष्टान्तं दर्शयति

है । तथा प्रलय के समय में नामरूप को छोड़ करके अति सूक्ष्मावस्था को प्राप्त करती हुई ब्रह्म शरीर रूप से अवस्थित होने से उसमें अजात्व का व्यवहार होता है । इसप्रकार से ब्रह्माश्रित प्रकृति में जायमानत्व तथा अजात्व उभय का अविरोध है । जैसे एक ही स्त्री में अपेक्षाभेदकृत पत्नीत्व मातृत्व उभय का अविरोध है तद्वत । इस विषय में दृष्टान्त को बतलाने के लिए कहते है "मध्वादिवत्" इति । दृष्टान्त का उपादान करते हैं तथा "अथ" इत्यादि । [यह सूर्य उदित होकर के पुनः उदित होंगे नवा अस्तमय प्राप्त करेंगे"।] इत्यादि स्थल में श्रूयमाण जो आदित्य है जो कि सूक्ष्म रूप से

अथ संख्योपसङ्ग्रहाधिकरणम् ॥३॥

न सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च १।४।११

"यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य आत्मानाम्" [बृ०४।४।१७।] इति बृहदारण्यके श्रूयते । अत्र सांख्य-

---

मध्वादिवदिति । यथा यदा खलु सूर्यः कारणावस्थो न तदोपभोगानर्हत्वात्वस्वादीनां मधु न भवति. यदातुकार्यावस्थस्तदा भवति देवानां मधु। तथैवाव्यक्तावस्था प्रकृतिरजासैव व्यक्तावस्थापन्नाज्योतिरूपकमा भवतीति । तस्मात्कारणात् प्रकृतमन्त्रे ब्रह्मकारणिकाजैव प्रतिपादिता भवति । नतु सांख्यसिद्धाया ग्रहणमिति संक्षेपः ॥१०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे. चमसाधिकरणम् ॥२॥

विवरणम्–बृहदारण्यकश्रुतौ, "यस्मिन् पञ्चपञ्चजनाः" इत्येवं श्रूयते. तत्र "पञ्च पञ्चजनाः" इति शब्देन सांख्याभिमतपञ्चविंशतितत्त्वानां

कारण रूप से अवस्थित होने पर भी कार्यावस्था में आदित्य देव मधु है । इस प्रकार से मधुत्व व्यवहार होता है । यथावा कारणावस्थ पट से प्रावरणादि कार्य न होने पर भी कार्यावस्थ पट से प्रावरण कार्य होता है । तब प्रावरणाकर्तृत्व प्रावरण कर्तृत्वरूप उभय धर्म का समावेश होने से कोई विरोध नहीं होता है । इसीतरह कारणावस्थ प्रकृति में नित्यत्व तथा कार्यावस्थ में ब्रह्माधीनत्व ब्रह्मजन्यत्व होने में कोइ भी विरोध नहीं होता है । इसलिए "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" इस मन्त्र में जो अजा है वह ब्रह्म कारणिका ही अजा प्रकृति है नतु सांख्यमत सिद्ध स्वतन्त्राव्यक्त प्रधानापरपर्याय प्रकृति ॥१०॥

इतिसारबोधिनी में चमसाधिकरणम् ॥२॥

सारबोधिनी–देवता लोग प्रकाश का भी प्रकाश रूप उस परमात्मा को आयु अमृत स्वरूप समझ करके उपासनाकरते हैं । इसके बाद में, "जिस पर-

तत्वानि ग्राह्याणि नवेति संशयः । पञ्चशब्दविशेषितपञ्चजनशब्दवृत्तिसंख्यया पञ्चविंशतितत्वप्रतिपत्तौ कापिलतन्त्रोक्ततत्वान्येव ग्राह्याणीति पूर्वःपक्षः । अत्राभिधीयते–सङ्ख्यानुसारिपञ्चविंशतिसङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि न कापिलतत्वानीह गृहीतुं शक्यते । कापिलतन्त्रीयतत्वेभ्य

ग्रहणमथवा वेदान्ताभिमतानां प्राणादीनां ग्रहणमिति संशयः । पञ्चशब्दस्य पञ्चजनेनान्वयात्सांख्याभिमतानामेव ग्रहणमिति पूर्वपक्षः । पञ्चपञ्चजनशब्देन संख्याविशेषस्य ग्रहणेऽपि कपिलोक्तपञ्चविंशतितत्वानां न ग्रहणं किन्तु वेदान्ताभिमतानां प्राणादीनामेव । कुतो नानाभावादतिरेकाच्च । तथा सांख्यमते पञ्चविंशतितत्त्वानां न ब्रह्माधारत्वमिहतु ब्रह्माधारता प्रतिपाद्यते तस्मादिह पञ्चपञ्चजना इति शब्देन प्राणादीनामेव ग्रहणमित्येतद्दर्शयितुमाह, "यस्मिन् पञ्च पञ्चजना" इत्यादि । यस्मिन् परमपुरुषे पञ्चजनाः प्राणादिकाः पञ्च मात्मा में पांचपंचजन प्राणादिक तथा सर्वाधार आकाशादिक प्रतिष्ठित है उसी आत्मा को विद्वान् अमृत रूप समझ करके उपासना करते हैं इस प्रकार से बृहदारण्यक के चतुर्थ अध्याय चतुर्थ ब्राह्मण सत्रहवें मंत्र में कहा गया है । इस मंत्र में पञ्च पञ्चजन शब्द से मूल प्रकृति सात प्रकृति विकृति सोलह विकार और पुरुष ये पचीस जो सांख्याभिमत तत्त्व हैं उनपञ्च विंशति तत्त्वों का ग्रहण होता है । अथवा प्राणादिक जो वेदान्ताभिमत तत्त्व हैं उनका ग्रहण होता है । ऐसा संशय होता है । उसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि पञ्च शब्द से संयुक्त जो पञ्चजनशब्द तद्वन्ति पञ्चविंशतिसंख्या से पचीस तत्त्व जाना जाता है । तो कपिल तंत्र में प्रतिपादित मूलप्रकृति महत्तत्व अहंकार पञ्चतन्मात्रा पञ्चमहाभूत, एकादश इन्द्रिय और पुरुष, ये जो पचीस तत्त्व हैं उसी का ग्रहण पञ्च पञ्चजना इसपद से होता है । एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं । अत्राभिधीयते "न संख्योपसंग्रहादपिनानाभावादतिरेकाच्च । यहां "पञ्च पञ्चजना" इस शब्द से सांख्यमत के अनुसार संख्या

एषां पृथक् भावात् । "यस्मिन्" इत्याधारतया ब्रह्मण आकाशस्य च पार्थक्येनोपादानात् । एवं चात्र न समाहारः किन्तु "दिक्सङ्ख्ये" [पा०सू०२।१।१०।] इति संज्ञासमासः । सप्तर्षयः सप्तेतिवत् पञ्च-जनाः पञ्चेत्युच्यते । तस्मान्नात्र सांख्यतत्वप्रतिपादनम् ॥११॥

आकाशश्च प्रतिष्ठितः स्थितः । अर्थादेतेषामुत्पत्तिस्थितिप्रलयाः यस्मिन् भवन्ति तद् ब्रह्मोपास्यमिति श्रुत्यर्थः । तत्र पञ्चपञ्चजना इति शब्देन सांख्याभिमत पञ्चविंशतितत्वानां ग्रहणमथवा वेदान्ता-भिमतानां प्राणादीनां ग्रहणं भवतीति । तत्र प्रथम पञ्चपद विशेषित पञ्चजनगतपञ्चविंशति संख्या ज्ञायते पञ्चपदेन कथितसंख्यया पुनः पञ्चसंख्याया गुणने पञ्चविंशतेरेव बोधात् । तस्मात् मूलप्रकृ-तिरविकृतिरित्यादिना परिगणित पञ्चविंशतितत्वानां प्रधानादिपुरुषा-न्तानामेवग्रहणं नतु वेदान्ताभिमत प्राणादीनामिति शङ्कितुरभिप्रायः । उत्तरयति वृत्तिकारः "अत्राभिधीयते" इत्यादि । न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च । अत्रपञ्चपञ्चजना इति शब्देन सांख्यमतानु-सारेण पञ्चविंशति संख्यायाः सङ्ग्रहेऽपि सांख्यमताभिमतानि प्रकृ-त्यादि तत्वानि प्रतीयमानि न भवन्ति किन्तु प्राणादिका एव प्रतीता

का संग्रह होने पर भी सांख्याभिमत प्रकृत्यादिकपञ्चविंशति तत्व प्रतीयमान नहीं होता है । किन्तु वेदान्ताभिमत प्राणादिक का ही ग्रहण होता है । क्योंकि कपिलशास्त्राभिमत पञ्चविंशति तत्वापेक्षया इन पञ्चविशेषित पञ्चजनों का पृथक् भाव पार्थक्य है । क्योंकि "यस्मिन् पञ्चपञ्चजना" यहां सर्वाधारतया ब्रह्म का तथा आकाश का पृथक् पृथक् रूप से ग्रहण किया गया है । अर्थात् सांख्य-मत में पुरुष तथा आकाश पञ्चविंशति तत्व के अन्तर्गत रूप से बतलाया गया है । और, "यस्मिन् पञ्चजना" यहाँ तादृश पंचविंशतितत्वातिरिक्त रूप से सप्तम्यन्त यत् पद से परम पुरुष का ग्रहण होता है । तथा इन तत्वों से अतिरिक्त रूप से आकाश का भी पार्थक्येन कथन किया गया है । अतः यहाँ

प्रणादयो वाक्यशेषात् ।१।४।१२।

पञ्चजनसंज्ञिताः पञ्च के सन्तीत्याह—प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्च क्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमुतान्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः" [बृ०४।४।१८] इतिवाक्येशेषात् प्राणादय एव पञ्च पञ्च जनशब्देन गृह्यन्ते ॥१२॥

भवन्ति । कुतः ? नानाभावात् । अर्थात् सांख्याभिमत तत्त्वापेक्षयैतेषां पञ्चविशेषित पञ्चजनानां पार्थक्यात् । तस्मात् सांख्याभिमतानां पञ्चविंशतितत्त्वानां न ग्रहणं किन्तु प्राणादीनामेव ग्रहणमिति । एवं "यस्मिन्" इत्यत्र परब्रह्मण आधाररूपेण ग्रहणं विद्यते । एवं च पञ्च पञ्चजना इत्यत्र न समाहार समासः किन्तु "दिक् संख्ये संज्ञायाम्" इत्यनेन संज्ञायां समासः । सप्तर्षयः सप्तेतिवत् पञ्चजनाः पञ्चेति कथ्यते । अतोऽत्र न साङ्ख्याभिमतानां पञ्चविंशतितत्त्वानां ग्रहणमपि तु वेदान्ताभिमतानां प्राणादीनामेवेति संक्षेपः ॥११॥

विवरणम्—ननु पञ्चपञ्चजनशब्देन न पञ्चविंशतितत्त्वानां ग्रहणम्, यत स्तेषां ग्रहणे समाहार समासे लिङ्गव्यत्ययादि दोषग्रासात् । तदा पञ्च सांख्योक्त पञ्चविंशति तत्व का ग्रहण नहीं होता है । किन्तु वेदान्ताभिमत प्राणादिक पञ्चजन का, अथवा गन्धर्वादि रूप पञ्चजनका ही ग्रहण होता है ।

"एवञ्चात्रेत्यादि ऐसा हुआ तब प्रकृत में "पञ्चपञ्चजना यहाँ समाहार नहीं है किन्तु "दिक् सङ्ख्येसंज्ञायाम्" इस सूत्र से संज्ञा विषयक समास है। जैसे सप्तर्षयः सप्त यहाँ संज्ञा में समास है उसी तरह पञ्चजनाः पञ्च में संज्ञा अर्थ में समास है । इसलिए यहाँ सांख्यशास्त्राभिमत पञ्चविंशति तत्वों का पञ्चजन शब्द से ग्रहण नहीं होता है । किन्तु वेदान्ताभिमत प्राणादि तत्वों का ग्रहण होता है । ॥११॥

सारबोधिनी—यदि "पञ्च पञ्चजना" इस स्थल में समाहार विषयक समास नहीं हो सकता है, क्योंकि लिङ्गव्यत्यासादिकदोष होने से तब पञ्चपञ्चजन शब्द से किसका ग्रहण होता है । इस जिज्ञासा की निवृत्ति

पञ्चजनशब्देन केषां ग्रहणमित्याशंकाया निरासाय सूत्रमुत्थापयितुमाह "पञ्चपञ्चजनसंज्ञिताः" इति। यदि सांख्योक्त पञ्चविंशति तत्त्वानां पञ्च पञ्चजनशब्देन न ग्रहणं तदा केषां ग्रहणमिति जिज्ञासां पूरयति प्राणादय एव पञ्चजनशब्दिताः पञ्चपञ्चजनशब्देन गृहीता भवन्ति। कुतः ? वाक्यशेषात्। तथाहि वाक्यशेषः, "यः प्राणस्य प्राणरूपः चक्षुरिन्द्रियस्य चक्षुरूपः श्रोत्रस्यापि श्रोत्रात्मकः अन्नस्य रसनस्यान्नात्मको रसनारूपोमनसोमनः इत्यादि वाक्यशेषे ब्रह्माधारतया श्रूयमाणाः प्रणादय एव पञ्च पञ्चजन शब्देन संगृहीता भवन्ति। यतः संदिग्धार्थ निश्चयस्य वाक्यशेषाधीनत्वात्। अतः सांख्योक्त पञ्चविंशतितत्त्वानां ग्रहणं नेतिदिक् ॥१२॥

करने के लिए सूत्रोत्थानपूर्वक समाधान का उपक्रम करते हैं "पञ्चपञ्चजनसंज्ञिता" इत्यादि। यदि पञ्चपञ्चजन शब्द से पञ्चविंशतितत्व का ग्रहण नहीं होता है तब किसका ग्रहण होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—"प्राणाद्य" इत्यादि। प्राणादिक जो पाँच हैं उन्हीं का सङ्ग्रह पञ्चपञ्चजन शब्द से होता है यह वाक्य शेष से अवगत होता है। उसी वाक्य शेष को वृत्तिकार बतलाते हैं "प्राणस्य प्राणम्" इत्यादि। जो प्राण का प्राण है। चक्षु का चक्षु है। श्रोत्र का श्रोत्र है। अन्न का अन्न है। मन का मन है। इस वाक्य शेष में ब्रह्माधारतया तथा नियम्यत्वेन श्रूयमाण जो प्राणादिक पांच उसीका पञ्चजन शब्द से संग्रह होता है। किन्तु सांख्यमतोक्त जो पञ्चविंशतितत्व हैं उनका पञ्चजन शब्द से ग्रहण नहीं होता है। क्योंकि संदिह्यमान अर्थ का वाक्य शेष से ही निर्णय होता है। प्रकृत में प्राणादि विषयक ही वाक्य शेष है। पञ्चविंशति सांख्योक्ततत्व विषयक वाक्य शेष नहीं है। इसलिए प्राणादि मनोन्त जो पांच है वे ही पञ्चपञ्चजन शब्द से संग्रहीत होते हैं। किन्तु प्रधानादिक पुरुषान्त पचीस तत्व का ग्रहण नहीं होता है ॥१।४।१२।

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ।१।४।१३।

तत्र काण्वशाखिनामन्नेऽसति "तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः [बृ० ।४।४।१७।]इति माध्यन्दिनीयोपक्रमवाक्यस्थेन ज्योतिः शब्दार्थेन पञ्चसङ्ख्या सम्पादनोया । ब्रह्मात्मकानि पञ्चेन्द्रियाणीत्यर्थः । तत्र तन्त्रेणान्नशब्देन रसनघ्राणयो ग्रहणम् । अतः प्रकृतश्रुतौ पञ्चेन्द्रियाणि भूतानि स परस्मिन्नेव ब्रह्मणि प्रतिष्ठितानीति नात्र साङ्ख्यतत्वसङ्ग्रह इति ॥१३॥ इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ सङ्ख्योपसंग्रहाधिकरणम् ॥३॥

विवरणम्—यद्यपि काण्वमाध्यंदिनयोः शाखायां "यस्मिन् पञ्चपञ्च-जना इत्यादि मन्त्रः समानः श्रुतः तथापि काण्वानां वाक्यशेषाऽन्तस्य पाठाश्रवणात्कथं तेषां पक्षे चत्वार एव प्राणादय इति पञ्चजनशब्देन प्रा-णादीनां ग्रहणमिति शङ्कायां सूत्रान्तरेणोत्तरयति, "ज्योतिषा"इत्यादि । एकेषां काण्वानां वाक्यशेषे यद्यप्यन्नशब्दो न श्रूयते तथापि तत्र वाक्योपक्र-मगत,तद्देवाज्योतिषांज्योतिरितिज्योतिषां पञ्चत्वसंख्या पूरणीया भवति । एतदेव दर्शयति—तत्रकाण्वशाखिनामित्यादि काण्वशाखिना शाखासु अन्नपदस्याभावेपि, तद्देवा इति माध्यन्दिनीयोपक्रमवाक्यगतज्योतिः श-ब्दार्थेन पञ्चत्वसंख्यापूरिता भवति अर्थाद्यानीन्द्रियाणीतानि सर्वाण्यपि

सारबोधिनी—यद्यपि काण्वशाखा के वाक्य शेष में अन्न शब्द का पाठ नहीं है तब प्राणादिक जो चार हैं उनका पञ्चजन शब्द से ग्रहण कैसे होगा ? तथापि वहाँ अन्न शब्द का अभाव होने पर भी, "तद्दे-वाज्योतिषां ज्योतिः" इत्यादि उपक्रमगत ज्योतिः शब्द से इन्द्रिय का सङ्ग्रह करके ब्रह्मात्मक पञ्चेन्द्रिय का पञ्चजन शब्द से ग्रहण होने में कोई बाधक नहीं है । इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं "तत्र काण्वे" त्यादि ।' काण्वशाखा में अन्नवाचक पद के अभाव होने पर भी, "तद्देवा" इत्यादि माध्यंदिनीय उपक्रम वाक्यस्थ ज्योतिः शब्दार्थ से पञ्च सांख्याका संपादन किया जाता है । अर्थात् ब्रह्मात्मक पञ्चेन्द्रिय है । उसमें आवृत्ति

अथ कारणत्वाधिकरणम् ॥४॥

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तेः ।१।४।१४।

जगत्कारणबोधकवेदान्तैः कारणत्वेन साङ्ख्योक्तं प्रधानं प्रतिपाद्यत उत ब्रह्मेति संशयः । तत्र "असद्वा इदमग्र आसीत्" [तै० २।७।] "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" [छा०६।२।३।] "एतस्मादात्मन

ब्रह्मात्मकान्येवेति । तत्रान्नशब्देनावृत्या रसनघ्राणयो ग्रहणं भवति । तस्मात् "पञ्चपञ्चजनाः" इत्यादि श्रुतौ पञ्चेन्द्रियाणि परस्मिन्पुरूषे प्रतिष्ठितानीत्यर्थः । एतस्मादेवकारणात् पञ्चपञ्चजनपदेन प्राणादीन्द्रियाणामेव ग्रहणं भवति नतु सांख्योयपञ्चविंशतितत्त्वानामिति ।१३॥

इति जगद्गुरुरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे संख्योपसङ्ग्रहाधिकरणम् ॥३॥

विवरणम्-ब्रह्मजगतः कारणं प्रधानंवेति संशये ब्रह्मणः कारणत्वे. तादृशानेकवाक्यानां परस्परं विरोधात्. प्रधानकारणत्वे नास्तिविरोध इति प्रधानमेव कारणं नतु ब्रह्मेति चेन्न, "तस्माद्वा एतस्मादि" त्यादिना ब्रह्मणः कारणत्वे निश्चिते नास्ति कोपि विरोध इति सर्वं पिण्डीकृत्य दर्शयितुं प्रक्रमते, "जगत्कारणबोधकवेदान्तैरि" त्यादि ।

करके अन्नशब्द से रसनेन्द्रिय तथा घ्राणेन्द्रिय का संग्रह होता है । इसलिए, "यस्मिन् पञ्चपञ्चजना" इत्यादि प्रकृत श्रुति में पञ्चेन्द्रिय भूत है वह परब्रह्म में प्रतिष्ठित है । अतः पञ्चजनशब्द से प्राणादिक पञ्चेन्द्रिय का ही ग्रहण होता है । किन्तु सांख्याभिमत पञ्चविंशतितत्व का ग्रहण नहीं होता है ॥१३॥

सारबोधिनी-स्थूल सूक्ष्मस्थावर जङ्गम साधारण जगत् के प्रतिकारण बोधक "यतोवा इमानि भूतानि" इत्यादि विविध वाक्य द्वारा कारण रूप से सांख्यमताभिमत प्रधान अव्यक्त पदवाच्य प्रतिपादित होता है, अथवा सकल जगत् कारणतया परमपुरुष प्रतिपादित होते हैं । ऐसा सन्देह

आकाशः सम्भूतः" [तै० २।१।] 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" [बृ० १।-४।११।] "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" [बृ० १।४।७।] इत्यादिषु कारणवाक्येषु क्वचिदसतः क्वचित्सतः क्वचिदात्मनः क्वचिद्ब्रह्मणः क्वचिच्चाव्याकृतपदवाच्यस्य प्रधानस्येति विभिन्नेषु श्रूयमाणेषु करणेष्वपि प्रधानस्यैव बाहुल्येन निर्देशात् तदेव प्रतिपाद्यत इति पूर्वः

चराचरस्य जगतः कारणता प्रतिपादकवेदान्तवाक्यैः कारणरूपेण सांख्यमतकल्पितं प्रधानं प्रतिपादितं भवति. अथवा चेतनं ब्रह्मेति संशय एकतरानिश्चायककारणाभावात् । "तत्र" इदं परिदृश्यमानं जगदुत्पत्तेः प्राक् असदेवासीत्" "इदं जगदुत्पत्तेः पूर्वं सदेवासीत्" "इदं जगदुत्पत्तेः पूर्वं ब्रह्मैवासीत्" "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" इत्याद्यनेक कारणता बोधकवाक्येषु क्वचिदसतः कारणत्वं प्रतिपाद्यते, क्वचिद् ब्रह्मणः क्वचिदात्मनः क्वचित्प्रधानस्येतिविभिन्नेषु श्रूयमाणेषु कारणेष्वपि सांख्योक्तप्रधानस्याव्याकृतादिपदप्रतिपाद्यस्य प्रचुरतया-निर्देशदर्शनात्प्रधानमेव वेदान्तवाक्येन प्रतिपादितं भवतीति पूर्व पक्षः ॥
होता है । क्योंकि यहां एक पक्ष का नियामक कोई विशेष कारण नहीं है । एतादृश संशयोत्तर काल में पूर्व पक्षवादी कहते हैं कि, "असद्वा" [उत्पत्ति के पूर्वकाल में परिदृश्यमान अनेक प्रकारक यह जगत् असत् रूप था ।] "सदेवेत्यादि" [हे सोम्य ! उत्पति के पूर्व काल में यह जगत् सदात्मक कारण रूप ही था ।] "एतस्मादात्मनः" उस आत्मा से यह आकाशादिक भूत समुदाय समुत्पन्न हुआ ।] "ब्रह्मवेत्यादि" [यह जगत् उत्पत्ति के पूर्व में ब्रह्म तादात्म्यापन्न था ।] "तद्धेदमित्यादि" यह संपूर्णजगत् उत्पत्ति के पूर्व में अव्याकृत अभिभक्त नामरूपवाला ही था । इत्यादि कारण बोधक वाक्यों में कहीं तो असत् को कारणता प्रतिपादन किया गया है । कहीं सत् को कारण कहा गया, कहीं आत्मा को कारण कहा गया है, कहीं तो ब्रह्म को कारण कहा

पक्षः। अत्राभिधीयते—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" [तै०२।७।] इत्याकाशादिषु सर्वशक्तेः परमात्मनः कारणत्वेन निश्चयात् समस्तेषु सृष्टिवाक्येषु यथाव्यपदिष्टस्यैव कारणत्वेनोक्ते ब्रह्मैव जगत्कारणवादिवाक्यैः प्रतिपाद्यते। असदव्याकृतपदानि तु कारणवस्थायामविभक्तनामरूपसम्बन्धितया तदवस्थंब्रह्मैवाभिदधत इति तत्त्वम् ॥१४॥

एतादृशपूर्वपक्षस्य निराकरणायाह, "आत्रभिधीयते" इत्यादि। "तस्माद्वा" इत्यादि, '[तस्मादेतस्मात्परमात्मनः सकाशात् आकाशः संभूतः समुत्पन्नः] एवं प्रकारेणाकाशादिकजायमानसर्वपदार्थेषु सर्वशक्तिमतः परमपुरुषस्य परात्मनः कारणरूपेण निश्चयात्. यानियानि कारणता प्रतिपादकवाक्यानि तेषु सर्वेषु सृष्टिप्रतिपादकवाक्येष्वपि यथा व्यपदिष्टस्य यथा प्रतिपादितस्यैव कारणत्वेन कथिते सति ब्रह्मैव जगत्कारणवादिवाक्यैः प्रतिपादितं भवतीति। यत्रापि असतोऽव्याकृतस्य प्रतिपादकं तदपि कारणावस्थमविभक्तनामरूपसम्बन्धित तयातदवस्थं ब्रह्मैवाभिधीयमानं भवति तदाहुराचार्याः—"सर्वेषां कारणवाक्यानामेकवाक्यतासत्वात्कारणवाक्यगतकारणवाचकशब्दानां सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेनैकस्मिन्परमकारणे पर्यवसानत्वस्योचितत्वात्सर्वेऽपि कारण

गया है, और किसी स्थल में अव्याकृत पदवाच्य प्रधान को कहा गया है। इस प्रकार से विभिन्न रूप से श्रूयमाण कारण में भी बहुलतया प्रधान में ही कारणता का निर्देश होने से प्रधान का ही कारण रूप से प्रतिपादन होता है।

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं, "अत्राभिधीयते" इत्यादि। "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" आकाशादिक कार्य में सर्वशक्तिमान् परमात्मा को ही कारण रूप से निश्चय होने से समस्त सृष्टि प्रतिपादक वाक्यों में पूर्व कथित परमेश्वर को ही कारणता रूप से कथन

समाकर्षात् ।१।४।१५।

"असद्वा इदमग्र आसीत्" [तै०२।७।] इत्यादौ तु "सोऽकामयत बहुस्याम्प्रजायेय" [तै०२।६] इति सङ्कल्पपूर्विकां सृष्टिं कुर्वतः सर्वशक्तेः सर्वज्ञस्य ब्रह्मणः समाकर्षान्नानुपपत्तिः । एवमन्यत्रापि समाकर्षो बोध्यः ॥१५॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ कारणत्वाधिकरणम् ॥४॥

वाक्यगताः सदात्माकाशप्राणादिशब्दा एकस्मिन्नादिकारणे ब्रह्मणि सङ्गत्य तस्यैव समस्तचिदचिज्जगत्कारणत्वमभिदधते । तथा च समेषां सदात्माकाशप्राणादि शब्दानां परस्मिन् ब्रह्मण्येव समन्वयस्य सत्वादादि कारणत्वमेकस्यैव ब्रह्मण इति निर्णयः" (आनन्दभाष्यम् १।४।१४) इतिदिक् ॥१४॥

विवरणम्—अथाभावप्रतिपादकासदादिपदानां कथं सदात्मक ब्रह्म-बोधकत्वम्. नहि भावाभावयोरैक्यं संभवति तमः प्रकाशवदित्या-शङ्क्य तादृशशङ्कानिवृत्तये प्रक्रमते "असद्वेत्यादि ।" असद्वा है । अतः जगत्कारणबादी वाक्यों से ब्रह्म ही प्रतिपादित होते हैं । जो कहीं कहीं असत् अव्याकृत का प्रतिपादक वाक्य हैं वे भी कारणावस्था में अविभक्त नामरूपतया कारणावस्थब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं । इस में विशेष विषय स्पष्टीकरण के लिए "तत्तुसमन्वयात् गति सामान्यात्" इत्यादि सूत्रों तथा प्रकृत सूत्र के भाष्य विवरण का अनुसन्धान करें ॥१४॥

सारबोधिनी—यदि सृष्टि प्रतिपादक वाक्यों से ब्रह्ममें जगत्कारणता का निश्चय होता है तब, "असद्वा" इत्यादि वाक्य घटक असत् शब्द को ब्रह्म पद के साथ सामानाधिकरण्य किस तरह से हो सकता है । इस आशङ्का के उत्तर में कहते हैं "समाकर्षात्" । "असद्वा" इत्यादि वाक्य के पूर्वापर प्रकरण को देखकर के सिद्ध होता है कि प्रकृत वाक्य में भी ब्रह्मपद का आकर्षण किया जाता है । अर्थात्, "असन्नेव संभ-

इदमग्रे असीदित्यादिस्थले, "सोऽकामयत" इति सङ्कल्पपूर्वक सर्ग संपादनं कुर्वतः सर्वशक्तिसमन्वितस्य सर्वेश्वरसर्वविषयकज्ञानवतः समाकर्षों भवति. अतः प्रकृते न कोपि दोषो भवतीति । यथा प्रकृते समाकर्षस्तथाऽन्यत्रापि सर्वशक्तिमतः समाकर्षो भवतीति ज्ञातव्य इति ॥१५॥

इति जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे कारणत्वाधिकरणम् ॥४॥

वति" इत्यादि प्रकरण से असद्वाद का निराकरण करके "अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद" इत्यादि प्रकरण से कहा गया है कि सद् ब्रह्म से ही सृष्टि होती है । "असद्वा" यहाँ भी सत्पदवाच्य सृष्टि का कर्त्ता ब्रह्म का ही समाकर्ष होता है । इन सब वस्तुओं को मन में रखकर के वृत्तिकार कहते हैं, "असद्वा" इत्यादि । "यह परिदृश्यमान समस्त जगत् सृष्टि के पूर्व में असत् था ।" इत्यादि स्थल में भी, "उस परमेश्वर ने विचार किया कि एक ही मैं अनेक रूपमें हो जाऊँ" इस श्रुति से संकल्पपूर्वक स्थावर जंगमात्मक सर्ग को करनेवाले सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परब्रह्म का ही समाकर्ष करने से किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होती है ! इसी तरह, "तद्धेदंतर्हि" इत्यादि स्थल में भी परब्रह्म, ब्रह्म का समाकर्ष किया जाता है । ऐसा जानना चाहिए । यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि प्रति सर्गकाल में सर्वेश्वर परम पुरुष में प्रलीयमान अव्यक्त प्रभृतिक पदार्थों का नाम रूपात्मक विभाग के अभाव होने से तादृश अव्यक्त सम्बन्धि-तया अस्तित्व का विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्ट का अभाव होने से ब्रह्म में भी कथञ्चित् असत् पद का प्रयोग हो सकता है। इसलिए असत् शब्द प्रतिपाद्य ब्रह्म में ही कारणत्व होता है। ननु अभाव में कारणता है इसलिए "कथमसतः सञ्जायते" आक्षेपपूर्वक असत् का निराकरण किया गया है ॥१५॥

इति कारणत्वाधिकरणम् ॥

अथ जगद्वाचित्वाधिकरणम् ॥५॥

जगद्वाचित्वात् ।१।४।१६।

"यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य वै तत्कर्म स वै वेदितव्यः" [कौषी०ब्रा०४।१८।] इति कौषीतकि ब्राह्मणे श्रूयते । अत्र वेदितव्यः साङ्ख्यपुरुष आहोस्वित्परमात्मेति संशयः । पुण्यापुण्यरूपस्य कर्मण कर्तृतया विशुद्धः पुरुष एवात्र वेदितव्य इति

विवरणम्—"यो व बालाक" इत्यादि कौषीतकि ब्राह्मणमंत्रे वेदितव्यतया श्रूयमाणपुरुषः सांख्याभिमतः परमात्मावेति संशयः पुण्यपापसंबद्धः स एव न परमात्मेति यतः परमात्मनस्तद्रहितत्वादिति प्रश्नः "यस्यवं तत्कर्म" इत्यत्र कर्म पदस्य जगद्बोधकतया तत्कर्तृकत्वे सर्वेश्वरः परमपुरुष एव पुरुषपदवाच्यो न साङ्ख्यीयः पुरुषस्तस्य तैः कर्तृत्वानभ्युपगमादित्युत्तरम् । एतत्सर्वं पिण्डीकृत्य दर्शयितुं प्रक्रमते, "यो वै बालाक" इत्यादि । "हे बालाक ! यः पुरुषविशेष एतेषां पुरुषाणां कर्त्ताजनक. यस्य चैतत्सर्वं परिदृष्यमानं सूक्ष्मस्थूलचिदचिदात्मकं जगत् कर्म कार्यम्. स पुरुषविशेषोवेदितव्योज्ञानविषयः कर्त्तव्यः समुपास्य इत्यर्थः । इत्यर्थको मंत्रः कौषीतकि ब्राह्मणे श्रूयते । तत्र संशयो भवति यत् अत्र वेदितव्यतया श्रूयमाणः पुरुषः किं सांख्यमतसिद्धोजीवोऽथवा सर्वेषां

सारबोधिनी—हे बालाक ! जो इन पुरुषों का कर्त्ता है, जिसका संपूर्ण जगत् कार्य है वह समुपासनीय है" इस प्रकार से कौषीतकि ब्राह्मण में सुना जाता है । यहाँ वेदितव्यतया श्रूयमाण जो पुरुष है वह सांख्यमत सिद्ध पुरुष है अथवा परमातमा है । ऐसा सन्देह होता है । क्योंकि पुरुष पद बोध्य सांख्यमत सिद्ध पुरुष है तथा परमातमा भी है ।

अब यहाँ पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि पुण्यपाप लक्षण जो कर्म उसका कर्त्ता होने से पुरुष पदवाच्य सांख्यमत सिद्ध पुरुष ही है परमात्मा नहीं

पूर्वः पक्षः । अत्राभिधीयते—प्रकृते कर्मपदस्य जगद्वाचित्वात् "यस्य वैतत्कर्म, इति वेदितव्यस्य जगत्कर्तृत्वेन परमात्मैवात्र वेदितव्यः । पुरुषस्य सांख्यमते कर्तृत्वानभ्युपगमान्नात्र वेदितव्यत्वेनोपदिष्टः पुरुषः ॥१६॥

नियामको जनकश्च परमात्मेति । तत्र पुण्यापुण्य लक्षणशुभाशुभ कर्मसम्बन्धीतंत्राभिमतः पुरुष एव. यतस्तस्यैव पुण्यपापसंबन्धात् न परमात्मा परमात्मनोह्यपहतपाप्मत्वेन पुण्यादि सम्बन्धाभावादिति पूर्वपक्षः । तदेतन् निरासायाह. "अत्राभिधीयते" इत्यादि. "यो वै बालाक" इत्यादि मन्त्रे कर्म न केवलं पुण्यापुण्ययोरेव बोधकमपितु तत्र कर्म जगद् वाचकम् । तथा च जगद्वाचककर्मपदसंबन्धात् सर्वजगज्जनकस्य परमात्मन एव वेदितव्यतयोपदेशात् पुरुषपदेन सर्वनियामकः परमात्मैवात्र गृहीतो भवतीति । किं च सांख्यमते सर्व विकाररहितस्य पुरुषस्य तैः कर्तृत्वानभ्युपगमान्नात्रतन्मतसिद्धः पुरुषो वेदितव्यतया गृहीतो भवति किन्तु सर्वजगदुत्पादकः परमात्मैव वेदितव्यतयोक्तः । तथा चाचार्यप्रवराः–"तस्य 'यः कर्त्ता स वेदितव्य' इति पुल्लिङ्गत्वेन निर्दिष्टयोर्यत्तच्छब्दयो वाच्यत्वोपपत्तेश्च परमात्मैवात्र वेदितव्यत्वेनोक्तो नान्यः" (आनन्दभाष्यम् १।४।१६) इति ॥१६॥

क्योंकि परमात्मा में शुभाशुभ कर्म का लेप नहीं है । इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं, "अत्राभिधीयते" इत्यादि । प्रकृत में कर्मपद केवल पुण्य पाप का ही बोधक नहीं है किन्तु जगद् वाचक है तो तादृश संपूर्ण जगत् जिसका कार्य है तादृश पुरुष का वेदितव्यतया उपदेश होने से परमात्मा ही यहाँ वेदितव्य रूप से उपदिश्यमान होते हैं सांख्य पुरुष नहीं । किंच सांख्यवादी पुरुष को कर्त्ता नहीं मानते हैं । तब तादृश पुरुष का ग्रहण करने में सिद्धान्त भङ्ग दोष होगा । अतः यहाँ वेदितव्यतया समुद्दिश्यमान परमात्मा ही है अन्य नहीं ॥१६॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेतिचेत्तद्व्याख्यातम् ।१।४।१७।

ननु "एवमेवैष प्राज्ञ आत्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते" [कौ० ४।२०।] "अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति" [कौ० ४।१९।] इति जीवस्य मुख्यप्राणस्य च लिङ्गान्नात्र परमात्मोच्यत इति चेन्न एतत्प्रतर्दनाधिकरणे "उपासात्रैविध्या, दित्यादिना व्याख्यातम् । पूर्वापरसन्दर्भविचारे जीवमुख्यप्राणलिङ्गानामुपासनार्थं परमात्मनि समन्वय इति व्याख्यातमित्यर्थः ॥१७॥

विवरणम्-अथ "एवमेष प्राज्ञः" तथा "प्राण एव" इत्यादि स्थले जीवस्य प्राणस्य च संकीर्तनं दृश्यते तत्कथमत्राऽस्मात्परमात्मनो ग्रहणंस्यादपि तु जीवस्य प्राणस्यैव ग्रहणमिष्टमिति प्रश्ने "उपासात्रैविध्यादि"त्यत्र उपासनार्थमेवतथोपदेश इति, सत्यपि जीवादिलिङ्गे तेषां ब्रह्मपरत्वेन परमात्मोपासनस्य संभवात्परमात्मोपासनमेव, अतः परमात्मैव प्रकृते वेदितव्यतयोपदिश्यते न जीवोनापिप्राण इत्येतद्दर्शयितुमाह "ननु "एवमेवैष प्राज्ञ" इत्यादि । "एवमेवैषप्राज्ञ आत्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते" अथयस्मिन् प्राणे एवैकधा भवति इत्यादि स्थले कर्मफलभोक्तुर्जीवस्य तथा मुख्यप्राणस्यैव लिङ्गं दृश्यते नतु परमात्मलिङ्गम् । परमात्मनि कर्मफलादिभोक्तृत्वाभावादितिचेन्न. पूर्वं प्रतर्दनाधिकरणे उपासात्रैविध्यादिना व्याख्यातत्वात् अर्थादेतत्प्रश्नस्योत्तरं तत्रैव कृतमितिनात्रपुनस्तदेवावर्त्यते । अर्थात् उपासनार्थं जीव लिङ्ग प्राणलिङ्गादिकं च सर्वमपि परमात्मोपासने एव समन्वितं भवतीति अयंभावः यत्र स्थलविशेषे उपक्रमादि तात्पर्यनिर्णायकलिङ्गद्वारा

सारबोधिनी-यहाँ, "एवमेवैष प्राज्ञः" इस श्रुति में भोक्तृत्व जीव का परिचायक लिङ्ग है । तथा "अथास्मिन् प्राणएवैकधा भवति" इस श्रुति मुख्य प्राण का बोधक लिङ्ग है तो इससे सिद्ध होता है "स वैवेदितव्य" इस श्रुति में वेदितव्यतया श्रूयमाण जीव तथा प्राण ही है ।

अन्यार्थन्तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ।१।४।१८।

प्रकरणेऽस्मिन्ननुपलभ्यमानानां जीवलिङ्गानां कथं परमात्माभिधायित्वमिति शङ्कां तु शब्दो व्यवच्छिनत्ति । "क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत् कुत एतदागात्" [कौ० ४।१८।] इति प्रश्नस्तद्व्याख्यानं "तं होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतद्बालाके पुरुषोऽश-

---

वाक्यं ब्रह्मपरकमिति निश्चयोजातस्तत्रान्यवस्तुबोधकान्यपि लिङ्गानि ब्रह्मपरकाण्येवेति निर्णयः कर्त्तव्यः । प्रकृते "ब्रह्म ते ब्रवाणीति" ब्रह्मण उपक्रमात् मध्येऽपि तदभ्यासात् अन्ते चोपसंहारात् प्रकृत वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वस्य निश्चयात् । इहापि तथैव प्राणादिवाचकानां जीववाचकानामपि ब्रह्मपरत्वमेव ब्रह्मणोऽनेकप्रकारेणोपासनायाः समर्थनात् । तस्मादत्र प्राणशरीरकब्रह्मण उपासनार्थं प्राणादिपदेन ब्रह्मणोनिर्देशे न कापिक्षतिरिति ।।१७।।

विवरणम्—जीवस्य यत्लिङ्गं प्राणस्य परिचायकं च तदपि परमात्मन एव प्रतिपादकमिति पूर्वसूत्रे प्रतिपादितम् । तत्कथं सङ्गच्छते । नहि अन्यधर्मोऽन्यं बोधयितुं समर्थ इत्याकारक शङ्काया व्यवच्छेदाय सूत्रान्तरमुत्थापयितु माह "प्रकरणेऽस्मिन्निन" त्यादि । किन्तु परमात्मा नहीं है । क्योंकि परमात्मा का बोधक कोई लिङ्ग नहीं है । प्रत्युनतद्विरोधो भोक्तृत्वादिक लिङ्ग है । इसके उत्तर में कहते हैं "इति चेन्न" इत्यादि । इस प्रश्न का उत्तर प्रतर्दनाधिकरण में, उपासात्रैविध्यात्" इत्यादि प्रकरण से किया गया है । अर्थात् पूर्वापर प्रकरण के विचार करने पर जीव तथा मुख्य प्राण के लिङ्ग को भी उपासना के लिए ब्रह्म में ही समन्वय होता है ॥१७॥

सारबोधिनी—आत्मावेदितव्य है इस प्रकरण में उपलभमान जो जीव लिङ्ग है वह परमात्मा का वाचक किस प्रकार से होता है इत्याकारक

यिष्टेत्यारभ्य "यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति" [कौ० ४।१८] इत्यादिकमुक्तम् । आभ्यामचिद्रूपदेहाद्भिन्नश्चिद्रूपो जीवस्तद्भिन्नस्तदाधारस्वरूपः परमात्मा च प्रतिपादितः । अत्र च जीवपरामर्शस्तदाधारभूतब्रह्मस्वरूपबोधनार्थमेवेति

"स वै वेदितव्यः" इत्यस्मिन् प्रकरणे समुपलभ्यमानानि यानि जीवस्य प्रतिपादकानि लिङ्गानि तानि कथं ब्रह्मणः प्रतिपादकानि भवन्तीतीमां शङ्कां निरस्यति सूत्र घटकस्तु शब्दः । जीवस्य प्रतिपादकं य लिङ्गमभिमतं न तत् जीवस्य प्रतिपादकमपितु जीवभिन्नस्य जीवाधारस्य ब्रह्मण एव प्रतिपादकम् कुतः प्रश्न व्याख्यानाभ्यां प्रश्नोत्तराभ्यामिति जैमिनिराचार्यो मन्यते । तथाहि "हे बालाके एष पुरुषः क्व कस्मिन्नधिकरणे शयनमकरोत्. कस्मिन्नधिकरणे व्यवस्थितोऽभूत्. कस्माच्चाधिकरणविशेषादागतः । इति कौषीतकि ब्राह्मणे प्रश्नः । एतादृश प्रश्नोत्तरं नायं विजानातीति ज्ञात्वा स्वयमेव राज्ञा प्रतिवचनमकारि, "तमविदितवृत्तं बालाकिमजातशत्रुः" हे बालाके! यस्मिन्नधिकरणे पुरुषः शयनमकरोदित्यारभ्य "यदायस्मिन् सुप्तः सन् कमपि स्वप्नं न पश्यति प्राणे एवैकधा भवति" इत्यादिकमुत्तरमुवाच । आभ्यां श्रुतिवाक्याभ्याम् चित शरी-

जो शंका है उसके व्यवच्छेद करने के लिए प्रकृत सुत्र में 'तु' शब्द है । इसमें जो जीव का लिङ्ग है वह परमात्मबोधक है ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं । क्योंकि प्रश्न प्रतिवचन से यह सिद्ध होता है । उसी प्रश्नोत्तर को बतलाते हैं "क्वैष" इत्यादि । हे बालाके ! यह पुरुष किसमें सोया था, किसमें व्यवस्थित था और कहाँ से पुनः आया है ? इस प्रश्न के उत्तर में "उस बालाकि से राजा ने कहा—यहा कहाँ सोया था ! यहाँ से लेकर के "किसी समय में किसी भी स्वप्न को नहीं देखता है" इत्यादिक प्रतिवचन दिया । इन प्रश्न प्रतिवचनों से

जैमिनिराचार्यो मन्यते । एके वाजसनेयिनोऽपि, एवमेव जीवाद्भिन्नं तदाधारभूतं ब्रह्म पठन्ति । "य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्" [बृ० २।१।१६।] "य एषोन्तर्हृदयाकाशस्तस्मिन् शेते । [बृ० २।१।१७।] इति ॥१८॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ जगद्वाचित्वाधिकरणम् ।५।

रेन्द्रियादिभ्यो भिन्नः स्वयंज्ञानस्वरूपो जीवस्तथाजीवस्याधिकरण रूपः परमात्मा च प्रतिपादितो भवति। अत्राधेयरूपस्य जीवस्य परामर्शः सतुजीवाधारभूत परमेश्वरस्वरूपस्यावबोधक इति जैमिनिराचार्यों मन्यते इति । किञ्च एके वाजसनेयिशाखाध्यायिनश्चेत्थमेव-मन्यते । अर्थात् जीवाद्भिन्नं जीवस्याधारभूतं परमात्मानमेव कथयन्ति य एष विज्ञानमयः पुरुषः स तदातस्मिन् काले क्व कस्मिन्नधिकरणेऽभूदिति कथनानन्तरम्, "य एषोन्तर्हृदयाकाशः" इत्यादिना प्रतिवचन-मुवाच । अत्राकाशपदस्य "दहरोस्मिन्नन्तराकाशः" इत्यादिदहर-विद्याप्रकरणे सर्वेश्वरपरमात्मपरत्वेन निर्णितत्वादत्राकाशपदेन वेदि-तव्यतया परमात्मैव परिगृह्यते । अत्र जीवस्य विज्ञानमयादि पदेन कथनन्तु प्राणपदप्रतिपादितपरमात्माभिन्नत्वज्ञापनायेति । अतोऽत्र-सांख्योक्तपुरुषस्य प्रतिपादनं न भवति. किन्तु जगत् कारणस्य

सिद्ध होता है कि अचित् शरीरेन्द्रियादि से भिन्न जो चित् ज्ञान स्वरूप जीव तथा जीव से भिन्न जीव या आधारभूत परमात्मा का प्रतिपादन होता है । इस प्रश्न प्रतिवचन में जो जीव का कथन है वह जीव का आधारभूत परमात्मा का स्वरूप को समझाने के लिए है । ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं । इससे अतिरिक्त वाजसनेयी शाखावाले भी इसी प्रकार से बालाकि अजातशत्रु संवाद में विज्ञानमय जीव से भिन्न तथा जीव का आधारभूत परमात्मा का कथन करते हैं । "जो यह विज्ञानमय पुरुष है वह उस समय में कहाँ था" इस प्रश्न के उत्तर में "जो

अथ वाक्यान्वयाधिकरणम् ॥६॥

वाक्यान्वयात् ।१।४।१९।

"आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः [बृ० २।४५।] इति वाजसनेयिनोऽधीयते। अत्र द्रष्टव्यत्वेनोपदिष्टो जीवः परमात्मा वेति संशयः। तत्र पतिजायापुत्रवित्तादिजीवभोग्यानां पदार्थानामत्राभिधानात्परमात्मपदाश्रवणाच्च साङ्ख्योक्तपुरुषपदाभिलप्यो जीवएवद्रष्टव्यत्वेनोपदिष्ट इति पूर्वः पक्षः। अत्राभिधीयते-"अमृत-

---

परमात्मन एव प्रतिपादनं तथा तस्यैव वेदितव्यतयोपदेशश्चेति संक्षेपः ॥१८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्ति विवरणे जगद्वाचित्वाधिकरणम् ॥५॥

विवरणम्-बृहदारण्यके "आत्मावारेद्रष्टव्यः" इत्यादिश्रुतौ द्रष्टव्यतया आत्मा उपदिश्यमानो भवति सच जीवात्माद्रष्टव्यः परमात्मावेतिसंशयः। जीवात्मेति पूर्वपक्षः यतः प्रकरणेवित्तादिजीवभोग्यवस्तूनां प्रतिपादनात् लोके आत्मशब्दस्यजीवे प्रसिद्धेश्चेतिचेन्न. आत्मविज्ञानस्य मोक्षसाधन तयोपदेशात्। नहि परिच्छिन्नजीवात्मज्ञानं मोक्षसाधनमपितु सर्वजग-

यह हृदय के अन्तरवर्ती आकाश है, उसमें सोता है" कहा अतः यहाँ आकाश परमात्मपरक है इसका निश्चय किया गया है दहर विद्या में। इसलिए यहाँ परमात्मा वेदितव्य हैं नतु सांख्यपुरुष वेदितव्य ॥१८॥

इति जगद्वाचित्वाधिकरणम्

सारबोधिनी-"आत्मावारे द्रष्टव्यः" इत्यादि श्रुति में श्रूयमाण जो आत्मा शब्द है वह जीवात्मा का बोधक है अथवा परमात्मा का बोधक, इस बात को निश्चय करने के लिए प्रक्रम करते हैं "आत्मावारे द्रष्टव्यः इत्यादि। "हे मैत्रेयि! यह जो आत्मा है वह दर्शन योग्य है, वेदान्त वाक्य से श्रवण योग्य है, उपपत्ति द्वारा स्थिर करने के योग्य है। और

स्य तु नाशास्ति वित्तेन"[बृ० ।२।४।२।) "आत्मनो वारे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्" [बृ०]२।४।५।येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्" [बृ०]२।४।१२।)इत्यादिसमस्तप्राकरणिकवाक्यानां परमात्मन्येवान्वयादत्र द्रष्टव्यत्वेनोपदिष्ट आत्मपदाभिधेयः परमात्मैव ॥१९॥

त्कारणपरमात्मज्ञानमेव मोक्षसाधनमतः प्रकृते आत्मपदं परमात्मपरकं तत्परश्च द्रष्टव्यतयोपदिश्यते। इति सर्वं दर्शयितुं प्राह, "आत्मावारे द्रष्टव्यः" इत्यादि। "अरे मैत्रेयि, अयमात्मापरमेश्वरो दर्शनयोग्यः वेदान्तवाक्यद्वाराश्रोतव्यः युक्त्यातर्कगोचपत्तिविषयः करणीयस्तथाध्यानेनध्यातव्यश्चेति बृहदारण्यके दर्शयति। अत्र द्रष्टव्यतयोपदिश्यमानोजीवः परमेश्वरोवेति संशयः। तत्र पतिप्रियाधनादिजीवोपभोग्य वस्तूनां प्रतिपादनात् जीवस्तादृशो नतु परमात्मा तद्बोधकपदाभावात् तस्यभोक्तृत्वाभादिति पूर्वपक्षस्यसमाधानायाह, "अत्राभिधीयते" इत्यादि। अमृतस्यमोक्षस्याविचादिना आशा न कर्त्तव्या, परमात्मदर्शनेन तत्कार्यभूतं सर्वं विदितं भवतीति प्रकरणे प्रतिपादनात्। नहि परिच्छिन्नजीवात्म

ध्यान द्वारा धातव्य है" इस वृहदारण्यक श्रुति में द्रष्टव्यतया समुपदिश्यमान जो आत्मा है वह जीवात्मा है अथवा परमात्मा है ऐसा सन्देह होता है। इसमें, "नवारे पत्युः कामाय पतिः प्रियोभवति, नवारे वित्तस्य कामाय वित्त भवति" इत्यादि प्रकरण से पतिपत्नी पुत्रादिक जो जीव के उपभोग योग्य वस्तु हैं उनका कथन है और परमात्मा का प्रतिपादक वचनान्तर के अभाव होने से एतत्प्रकरणस्थात्मपद परमात्म बोधक नहीं है किन्तु सांख्यमत प्रतिपादित जीव परक है और तादृश जो जीव वही द्रष्टव्य रूप से उपदिश्यमान होता है। इस पूर्व पक्ष का समाधान करनेके लिए कहते हैं "अत्राभिधीयते"इत्यादि। हे "मैत्रेयी! अमृतपद प्रतिपाद्य जो मोक्ष उसकी आशा वित्त से अशामोदक प्राय है, मोक्ष का कारण क्या वित्तादिक है? इस प्रकार

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ।१।४।२०।

जीवाभिधायिनाऽत्मशब्देनात्र परमात्मन एव ग्रहणमित्यर्थं आचार्यान्तरमतमभिधत्ते। आत्मनोवारे दर्शनेनेत्यारभ्य "इदं सर्वं विदितम्" [बृ०

विज्ञानं मोक्षसाधनं नवा जीवविज्ञानेन सर्वविज्ञानसिद्धिर्भवति। किन्तु सर्वजगत्कारणपरमात्मविज्ञानेनैव सर्वविदितं भवति मोक्षश्च संसिद्धोभवत्यतः आत्मावारे द्रष्टव्यः इत्यादि श्रुतौ द्रष्टव्यतया समुपदिश्यमान आत्मा परमात्मैव। यद्यपि परमात्मवाचकः शब्दोनास्ति तथापि आत्मपदमोक्षोपदेशान्यथानुपपत्त्यापरमात्मबोधकं भवतीति। तस्मात् उपक्रमोपसंहारादितात्पर्यनिर्णायकलिङ्गेनात्मपदं परमात्मानमेव द्रष्टव्यतया संगृह्णाति नतु जीवात्मनोऽत्रप्रकरणे समुपदेश इति संक्षेपः ॥१९॥

विवरणम्—ननु द्रष्टव्यतया परमात्मनो ग्रहणे, "नवारेवित्तस्य कामाय" विज्ञानघनः— तान्येवानु विनश्यति" इत्यादिजीवप्रतिपादक लिङ्गानां का गतिरित्या शङ्कामपनेतुं सूत्रमुदाहरति "प्रतिज्ञासिद्धेरित्या-

से पूछने पर याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को उत्तर दिया है। तथा "आत्मा अर्थात् परमात्मा साक्षात्कारी ज्ञान से श्रवण मनन निदिध्यासन करने से यह सब पदार्थ विदित होता है। इस प्रकार से परमात्म दर्शन समानाकारक ज्ञान से मोक्ष होता है। ऐसा याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को कहा है। एवम् जिसके द्वारा यह सब पदार्थ जाना जाता है उस परमात्मा को किससे जाना जा सकता है।" इत्यादि मैत्रयी ब्राह्मणस्थ समस्त प्रकरण के पूर्वापर वाक्य का विचार करने से ज्ञात होता है कि इन सब वाक्यों का समन्वय परमात्मा में ही है जीव में नहीं। अतः "आत्मावारे द्रष्टव्यः" इत्यादि वाक्य से उपदेष्टव्य तथा प्रतिपाद्य मान जो आत्मा वह परमात्मा ही है। किन्तु सांख्यमत प्रतिपादित जीव नहीं है। क्योंकि जीव के ग्रहण में वाक्यों का तात्पर्य प्रतीत नहीं होता है। इस विषय पर विशेष विचार मैत्रेयी ब्राह्मणगत मंत्र प्रतिपादक आनन्दभाष्य विवरण में देखें ॥१९॥

।१।४।५।] इत्यन्तया श्रुत्यैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासिद्धेरिदं लिङ्गं यत्परमात्मनो जीववाचकात्मशब्देनाभिधानम् । जीवस्य ब्रह्मकार्यत्वेन तदनन्यत्वादेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपद्यते इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥२०॥

दि । जीवप्रतिपादकलिङ्गमपि परमात्मबोधकमेव कुतः प्रतिज्ञाया, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानरूपायास्तदैवसिद्धेरित्याश्मरथ्य इति सूत्रार्थः । सूत्रं व्याख्यातुमाह, "जीवाभिधायिने" त्यादि द्रष्टव्यतयोपदिश्यमानप्रकरणे जीववाचकेनात्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणं नतु जीवस्य ग्रहणमिति दर्शयितुमाचार्यान्तरस्याश्मरथ्यस्य मतमभिदधाति प्रतिज्ञेत्यादि "आत्मनोदर्शनश्रवणमननादिनेत्यारभ्य परमात्मविज्ञानेनेदं सर्वं परमात्म जनितं चिदचिदात्मकं सर्वजगद् विज्ञातमेव भवतीति श्रुतिसमुदायेरेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य कस्मिन्नुभगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीत्यादिना कृतायाः सिद्धिस्तदैवस्यात् यदिजीवबोधकतयाभिमतमपि पदंगमयेत्परमात्मानम् । इतीदमेव कारणं यत् जीवलिङ्गं परमात्मानं बोधयतीति । किञ्च जीवस्य सिद्धान्ते ब्रह्मकार्यत्वाभ्युपगमेन परमात्म शरीरतया च. शरीरवाचकपदेन शरीरिणो ग्रहणं भवति । तस्माज्जीव वाचकेन शब्देन परमात्मनो ग्रहणं भवतीत्याश्मरथ्याचार्यस्यमतमिति। अयं-

सारबोधिनी—स्वभाव तथा प्रसिद्धि से जीव बोधक जो विज्ञान घन तथा आत्मा पद है । तादृश पदों से परमात्मा का ही ग्रहण होता है इस वस्तु को बतलाने के लिए आचार्यान्तर के मत को बतलाते हैं "प्रतिज्ञासिद्धेरित्यादि एकविज्ञान से सर्वविज्ञान प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए जीवबोधक लिङ्ग भी परमात्मा का बोधक है ऐसा आश्मरथ्याचार्य का मत है । "आत्मा का दर्शन श्रवणमननादि यहाँ से लेकर के "आत्मा का विज्ञान होने से तत्कार्य भूत ये सब विज्ञात हो जाता है एतत्पर्यन्त श्रुति से एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की सिद्धि होती है । यही कारण है कि जीव वाचक शब्द से परमात्मा

उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः ।१।४।२१।

'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" [छा० ८।३।४।] इति जीवस्य शरीरादुत्क्रमिष्यतः परमात्मभावाज्जीवशब्देन प्रकृते परमात्माभिधीयत इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते ॥२१॥

भावः जीव ब्रह्मणो कार्यकारणतया शरीरवाचकं पदं शरीरिणमपिबोधकम न्यथा एक विज्ञानेन सर्व विज्ञानप्रतिज्ञायाः सिद्धिर्नस्यादिति तादृशप्रतिज्ञा सिद्धयेऽकामेनापि जीववाचकपदं परमात्मानमवबोधयतु इति स्वीकर्तव्यमिति संक्षेपः। अत्राविज्ञातवेदान्ततत्वस्योत्तरं विज्ञातवेदान्ततत्वानां श्रीबोधायनपुरुषोत्तमाचार्यमतानुसारिणामिति ज्ञेयम् ॥२०॥

विवरणम्- उत्क्रमिष्यज्जीवः 'स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादिना जीवस्य ब्रह्मभावः प्रतिपाद्यते सचापहतपाप्मत्वादिरूप एव ततश्च मुक्तो जीवोऽपहतपाप्मत्वादिधर्मवान् मोक्षे भवतीति द्योतयितुमिह जीवलिङ्गप्रदर्शनमित्यौडुलोम्याचार्यस्याभिप्रायं दर्शयितुमाह, का ग्रहण होता है। और जीव को ब्रह्म का कार्य होने से जीव ब्रह्म में अनन्यता है अतः एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की जो प्रतिज्ञा शास्त्र में है उसकी उपपत्ति होती है ऐसा आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं। इस विषय में भाष्य विवरण को देखना आवश्यक है विशेष जिज्ञासा शान्ति के लिये ॥२०॥

सारबोधिनी– "आत्मा का मरण नहीं होता है" इस प्रकार से मोक्ष प्राप्त जीव को संसार रहितत्व का उपदेश किया गया है। एवं "नामरूपाद्विमुक्तः" इत्यादि श्रुति से मुक्त पुरुष को नाम रूपाभाव का भी उपदेश सुना जाता है। और मोक्ष का साधन श्रवणादिपूर्वक भक्ति ध्यानादि का उपदेश भी शास्त्र से प्रतिपादित है। तथैव "परंज्योतिरुपसंपद्य" इस श्रुति से उत्क्रमणवान् जीव को ब्रह्मभावापत्ति होती है। वह परमात्मा में उपसंपन्न होकर के आविर्भावगुणाष्टक स्वरूप होता हुआ ब्रह्मभाव को प्राप्त कर जाता है। इसलिए प्रकृत प्रकरण में

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ।१।४।२२।

"य आत्मनि तिष्ठन्" [बृ० ३।७।३२।] इत्यादि श्रुतिभिर्जीवात्मतया परमात्मनः शरीरात्मभावेनावस्थितेरत्र जीवात्मशब्देन परमात्माभिधीयत इति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते । काशकृत्स्नमतमेव सूत्रकाराभिमतम् । पूर्वोदितयोर्मतयोर्दोषावहत्वात् ॥२२॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ वाक्यान्वयाधिकरणम् ॥६॥

"परंज्योतिरित्यादि । अयं जीवः परंज्योतिः परमात्मस्वरूपमुपसंपद्य संप्राप्य स्वकीयेन रूपेण संगतो भवतीति । शरीरादुत्क्रमिष्यतोजीवस्य परमात्मधर्मप्राप्त्या जीवप्रतिपादकलिङ्गेन परमात्मा प्रतिपादितो भवतीत्यौडुलोमेराचार्यस्य मतमितिभावः ।२१॥

विवरणम्– "य आत्मनितिष्ठन्" इत्यादि श्रुतिभि र्जीवे परमात्मनोऽवस्थानं श्रुतं भवति तत्र जीवात्मा परमात्मनः शरीरमङ्गमिति यावत् । परमात्मा च शरीरी अङ्गी तथा जीवेऽवस्थितः परमात्मा तं नियन्त्रयति. इत्यङ्गाङ्गिनोस्तादात्म्यात्, जोववाचकशब्देनाङ्गिनः परमात्मनोबोधस्यावस्यकत्वेन जीवबोधकपदात् परमात्मा बोधितो भवतीति जीवलिङ्ग सार्थकमिति काशकृत्स्नाचार्यस्य मतं दर्शयितुमुपक्रमते "य आत्मनितिष्ठन्नि" त्यादि । यः आत्मापदेशः आत्मनि जीवे तिष्ठन् यस्य परजीव लिङ्ग का कथन है । ऐसा औडुलोमि आचार्य का अभिप्राय है । इस बात को बतलाने के लिए वृत्तिकार प्रक्रम करते हैं "परंज्योतिरुपसंपद्य" इत्यादि । कथित व्याख्यान से ही वृत्ति की व्याख्या गतार्थ हो जाती है । इसलिए प्रपंच नहीं करता हूँ ॥२१॥

सारबोधिनी– "य आत्मनितिष्ठन्" इत्यादि श्रुतियों से विदित होता है कि परमात्मा जीवात्मा के साथ शरीरात्मभाव से रहता है अतः प्रकृत प्रसङ्ग में जीवात्म पद से परमात्मा का ही बोध होता है यह श्रीकाशकृत्स्नाचार्य का मत है । पूर्वोक्त मतद्वय के अपेक्षा

अथ प्रकृत्यधिकरणम् ॥७॥

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात् ।१।४।२३।

किमस्य जगतो हिरण्यगर्भाद्यभिमतमीश्वराधिष्ठितं प्रधानमुपादानकारणमुत ब्रह्मैवेति संशयः । लोके तावत्कुलालमृत्तिकयोर्निमित्तोपादानयोर्भेदो दृश्यते । शास्त्रेऽपि "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" [श्वे०४।९।१०] "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्" (गी०

मात्मन आत्मा जीवः शरीरम् यः परमात्मा. आत्मानं जीवमन्तरोयमयति नियन्त्रणं करोति" इत्यादि श्रुतिषु जीवस्यात्मनः परमात्मभावेनावस्थानस्य प्रतिपादनात् शरीरलक्षणजीववाचकशब्दानां शरीरिणि परमात्मनि पर्यवसानात् जीवात्मशब्देन परमात्मैव प्रतिपादितोभवतीति काशकृत्स्नीयंमतमिति एतदेवकाशकृत्स्नमतं सूत्रकारसंमतम् । यतः शरीरशरीरिभावस्यैव श्रुतौ प्रतिपादनात् । पूर्वोक्तमतद्वयं तु दोषाघ्रातत्वान्न सूत्रकारसंमतमिति निश्चिनुमः ॥२२॥

इति जगद्गुरुश्रीरामनन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे वाक्यान्वयाधिकरणम् ॥६॥

विवरणम्– "जन्माद्यस्य यतः" इति सूत्रेण ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं प्रतिपादितम् । तत् निमित्तरूपमुपादानलक्षणमुभयविधं वा । तत्र नोपादानत्वं ब्रह्मणः संभवति. उपादानगुणस्योपादेये सङ्क्रमणदर्श-

अधिक श्रुति के अनुकूल होने से यही मत सूत्रकार श्रीबादरायण सम्मत हैं इस विषय में विशेष चर्चा भाष्य विवरण में देखें ॥२२॥

सारबोधिनी– "जन्माद्यस्य यतः" इस सूत्र से ब्रह्म जगत् का कारण है ऐसा कहा गया है । परन्तु परब्रह्म में जो जगत् कारणता है वह निमित्त कारण रूप है अथवा उपादान कारणता रूप है, ऐसा संशय होता है । उसमें ब्रह्म चेतन है इसलिए वह निमित्त

९।१०) इत्यादिभिर्भेदाभिधानान्निमित्तकारणेश्वराधिष्ठितं प्रधान-मेवोपादानं न ब्रह्मेति पूर्वः पक्षः। अत्राभिधीयते--प्रकृतिश्चेति-चोऽप्यर्थः-उपादानकारणमपि ब्रह्मैव न पराभिमता प्रकृतिः। एतच्च-प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधाज्ज्ञायते। तत्र "येनाश्रुतं श्रुतमित्येकस्य विज्ञा-नेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा हि वेदान्तेषु श्रूयते। इयञ्च ब्रह्मण उपादा-

---

नेन तदसंभवात्। नाप्युभयविधम्। एकस्योभयविधकारणत्वस्या दर्शनात्. कुलालमृत्तिकयोः परस्परं भेददर्शनात्। तस्मात् प्रथमपक्षः परिशिष्यते तदपि निमित्तत्वं कर्त्तृरूपमेवेति प्रश्ने प्राह सूत्रकारः, "प्रकृ-तिश्च" इत्यादि। चकारोऽप्यर्थकः। ब्रह्मजगतोनिमित्तं प्रकृति रुपा-दानमपि प्रतिज्ञा दृष्टान्तयोस्तदैव समन्वयसंभवादित्येतद्दर्शयितुं प्राह "किमस्यजगतः" इत्यादि। अस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य प्रपंच जातस्य परमेश्वराधिष्ठितं प्रधानमुपादानकारणं भवति अथवा ब्रह्मो-पादानकारणं भवति। यतो जन्मादि सूत्रेण तन्निश्चयादर्शनादिति संशयः। तत्र घटादिकार्ये उपादाननिमित्तयोर्मृत्तिकाकुलालयो-र्भेददर्शनात् न ब्रह्मोपादानं किन्तु कर्त्तृरूपंनिमितमेव. सजातीयत-कारण है घटादि कार्य में कुलालादि के समान। ब्रह्म ईक्षण सङ्कल्प मात्र से जगत् का स्रष्टा हो सकते हैं परन्तु उपादान कारण नहीं। क्योंकि एक ही पदार्थ एक पदार्थ के प्रति उपादान तथा निमित्त बने ऐसा लोक में देखने में नहीं आता है। इस पूर्वपक्ष के समाधान में सूत्रकार कहते हैं "प्रकृतिश्चेत्यादि"। ब्रह्म जिस तरह से निमित्त कारण है उसी तरह उपादान कारण भी है। यद्यपि लोक में देखने में आता है कि एक पदार्थ उपादान तथा निमित्त दोनों कारण नहीं होता है। तथापि प्रतिज्ञादि के अनुरोध से, श्रुतिबल से ब्रह्म में उभयविध कारणता मानते हैं लूताकीट की तरह। इन सब वस्तुओं को समझाने के लिए वृत्ति-कार उपक्रम करते हैं "किमस्य जगतः" इत्यादि। नाम रूपद्वारा विभ-

नमन्तरेण नोपपद्यते । नहि निमित्तभूतस्य कुलालस्य ज्ञानेन मृत्स्वरूपं ज्ञातं भवति । एवं ब्रह्मणोऽनुपादानत्वे "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयम्" [छा०६।१।४।] इत्यादि दृष्टान्तोपपादनमप्यसङ्गतं स्यात् तस्मात्प्रतिज्ञाया दृष्टान्तस्यचानुपरोधाद्धेतोर्ब्रह्मैव केवलं जगतो निमित्तमुपादानञ्च ॥२३॥

या प्रधानमेव जड़प्रपंचस्योपादानकारणम् । एवम्, "अस्मान्मायो सृजते विश्वमेतत्" "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः" इत्यादि श्रुतिस्मृतिषु निमित्तोपादानयोर्भेदप्रतिपादनात् निमित्तकारणं परमेश्वरस्तेनाधिष्ठितं प्रधानमेव जगतः स्थूलसूक्ष्मस्योपादानंकारणं नतु परमेश्वर उपादानमिति प्रश्नकर्त्तुराशयः । एतस्य प्रश्नस्योत्तरे प्राह सूत्रकारः "प्रकृतिश्चेत्यादि ।" सूत्रघटकश्चकारोऽप्यर्थकस्तथा च परमेश्वरो निमित्तकारणं तु जगतो भवतीति सर्वसंमतमेव. किन्तु प्रकृतेरुपादान कारणमपिभवत्येव. प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधादिति । एतदेवोपपादयति वृत्तिकार. उपादनकारणमपि ब्रह्मैव भवति. निमित्तकारणंतु भवत्येवेतिभावः ।

त्कावयव स्थूल सूक्ष्म साधारण चराचर जगत् के प्रति हिरण्यगर्भाभिमत परमेश्वराधिष्ठित प्रकृति इस जगत् का उपादान कारण है । अथवा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर इस जगत् का उपादान कारण है । इस प्रकार का सन्देह होता है । क्योंकि "जन्माद्यस्ययतः" इस कारणता बोधक सूत्र में स्पष्ट नहीं किया गया कि ब्रह्म उपादन है अथवा निमित्त है । विशेष निर्णायक के अभाव होने से सन्देह होता है । इसमें पूर्वपक्ष होता है कि लोक में ऐसा देखने में आता है कि घटादि कार्य के प्रति चेतन कुलाल रूप निमित्त कारण तथा मृत्तिका रूप उपादान कारण परस्पर भिन्न होता है । एवं शास्त्र में भी "अस्मान्मायी" इत्यादि । तथा, "मयाध्यक्षेणप्रकृति" इत्यादि श्रुति–स्मृति से निमित्त तथा उपादान में भेद

नचोपादाननिमित्तत्वं नैकत्रदृष्टमितिवाच्यं लूताकीटविशेषे तथा दर्शनादिति। कथमेतच्चेत्तत्राह "एतच्च" इत्यादि। एतत् उभयविध-कारणत्वं ब्रह्मणि प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधादेव। "येनाश्रुतं श्रुतं भवति" इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा श्रूयते. साच प्रतिज्ञा तदैवोपप-द्यते यदि ब्रह्म जगत उपादानं भवेत्। यदि निमित्तमेव ब्रह्म-भवेत्तदा ब्रह्मणा निमित्तभूतेन विज्ञातेन कार्यभूतं जगत् न ज्ञायेत। न हि ज्ञातेपि दण्डे घटादिकं कार्यं विज्ञातं भवति। तस्माद्ब्रह्मै-वोपादानम्। एवं ब्रह्म यदि उपादानं न स्यात्तदा, "यथा सोम्यैकेन का कथन किया गया है। अतः परमेश्वर निमित्त कारण हैं और परमेश्वराधिष्ठित प्रधान ही जगत् का उपादान कारण है किन्तु ब्रह्म इस जगत् का उपादान कारण नहीं हैं। इस प्रश्न का समाधान करने के लिए वृत्तिकार कहते है, "अत्राभिधीयते प्रकृतिश्च" इत्यादि।

सूत्र घटक च शब्द अप्यर्थक है। अर्थात् ब्रह्म जगत के प्रति प्रकृति उपादान कारण भी है अर्थात् निमित्त कारण तथा उपादान कारण भी ब्रह्म ही है। किन्तु सांख्याद्यभिमत प्रकृति प्रधान उपादान कारण नहीं है। प्रतिज्ञा तथा दृष्टान्त के अनुपरोध से इसका निश्चय किया जाता है। उसमें, "येनाश्रुतंश्रुतं भवति" [जिस परमतत्व का ज्ञान होने पर अश्रुत पदार्थ भी श्रुत हो जाता है। अमत पदार्थ भी मत हो जाता है और अविज्ञात भी विज्ञात हो जाता है"] इस प्रकार एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा वेदान्त में श्रुय-माण है। यह प्रतिज्ञा ब्रह्म में उपादान कारणता के विना अनुप-पन्न है। क्योंकि निमित्त कारण रूप जो कुलाल तादृश कुलाल विषयक ज्ञान होने पर मृत्स्वरूप जो घटादि कार्य वह विज्ञात नहीं होता है। एवम् जगत् के प्रति ब्रह्म को उपादान कारण न मानें तो, "हे सोम्य! जैसे एक मृत् पिण्ड के ज्ञान होने पर मृन्मय

अभिध्योपदेशाच्च ।१।४।२४।

"सोऽकामयत बहुस्याम्प्रजायेय" [तै०२।६।] इति ब्रह्मण एव बहुभवनसङ्कल्पोपदेशाच्च निमित्तोपादानञ्च ब्रह्मैव ॥२४॥

विज्ञातेन" इत्यादि दृष्टान्तोपि न सङ्गच्छेत. तस्माद्ब्रह्मैव जगत उपादानं निमित्तञ्चेति संक्षेपः ॥२३॥

विवरणम्- "सोऽकामयत" इत्यादि श्रुत्या पारमेश्वरीयसङ्कल्पस्य प्रतिपादनाद् ब्रह्म जगतः कर्तृरूपं निमित्तकारणत्वं भवति. तथा "बहुस्यां प्रजायेय" इत्यादि श्रुत्या बहुभवनस्य प्रतिपादनादुपादानत्वञ्च ब्रह्मण इति ब्रह्मजगत्प्रत्युपादानत्वं निमित्तत्वं च भवतीत्येतद्दर्शयितु माह "सोऽकामयतः" इत्यादि एक रूपोप्यनेकरूपः स्यामित्यादि विचारंकृतवानित्यर्थकश्रुत्या ब्रह्मणो बहुभवनसङ्कल्पस्य समुपदेशाद्

सब पदार्थ विज्ञात हो जाता है"] इत्यादि जो दृष्टान्त का कथन है, वह भी असंगत हो जाता है। इसलिए प्रतिज्ञा तथा दृष्टान्त का अनुपरोधात्मक कारण से सिद्ध होता है कि केवल ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण तथा निमित्त कारण भी है। जो सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट कारणावस्थ परम ब्रह्म श्रीराम हैं। वे ही सर्ग समय में स्थूल चिदाचिद्विशिष्ट होते हैं। इसलिए ब्रह्म में जगदुपादानत्व सिद्ध होता है। यद्यपि प्रकृति जीव में भी जगदुपादान कारणता है तथापि वैशेष्याद् ब्रह्म में ही माना जाता है यह विषय अन्यत्र प्रपञ्चित है ॥२३॥

सारबोधिनी- ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है तथा निमित्त कारण भी है। इस बात को श्रुत्यन्तर से भी सिद्ध करने के लिए वृत्तिकार प्रक्रम करते हैं, "सोऽकामयत" इत्यादि। उस परमेश्वर ने सङ्कल्प किया कि अनेक रूप से मै विभक्त हो जाऊँ" इत्यादि शास्त्र से ब्रह्म को बहुभवन तथा सङ्कल्पोपदेश से सिद्ध होता है कि केवल ब्रह्म ही जगत्

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ।१।४।२५।

"ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्" ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्" [अष्टक०२।८।७।८।] इति साक्षादुपादनं निमित्तञ्चाम्नानादुभयकारणं ब्रह्मैव ॥२५॥

ब्रह्मजगतो निमित्तकारणमुपादानकारणं चापि भवतीति । ततश्चाभिन्ननिमित्तोपादानत्वं ब्रह्मणः सिद्ध्यति । नतु केवलं ब्रह्म-निमित्तमुपादानञ्च प्रकृतिरिति भावः ॥२४॥

विवरणम्– "तदैक्षत" इत्यादि श्रुत्या ब्रह्मणो निमित्तकारणत्वं तथा प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधेन ब्रह्मणः प्रकृतित्वं पूर्वसूत्राभ्यां प्रदर्श्य श्रुतिद्वारा उभयविधमपि कारणत्वं ब्रह्मणसाक्षादेव दर्शयितुं सूत्रान्तरमुपस्थापयितुं प्राह, "ब्रह्मवनम्" इत्यादि । इयं च श्रुतिः साक्षादेव ब्रह्मण उभयविधकारणतां दर्शयति, तस्माद् ब्रह्मजगत उपादानकारणं निमित्तकारणमपि भवतीति । वृत्तेरक्षरार्थस्त्वतिरोहित एव ॥२५॥

के प्रतिउपादान कारण और निमित्त कारण भी है नतु मात्र निमित्त कारण परमेश्वर और उपादान कारण ईश्वराधिष्ठित प्रकृति हैं ॥२४॥

सारबोधिनी– पूर्वसूत्र द्वय से ब्रह्म में उपादन कारणता तथा निमित्त कारणता का प्रतिपादन करके साक्षादेव ब्रह्म में उभयविध कारणता को बतलाने के लिए प्रक्रम करते हैं "ब्रह्मवनं ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्' ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयत्" यह श्रुति साक्षत् मुखत एव ब्रह्म में जगत की उपादान कारणता तथा निमित्त कारणता का प्रतिपादन कर रही है कि इस स्थूल सूक्ष्म चराचर जगत् का ब्रह्म उपादानकार तथा निमित्त कारण भी है । इसलिए उभयविध कारणता की सिद्धि होती है ॥२५॥

आत्मकृतेः ।१।४।२६।

"तदात्मानं स्वयमकुरुत" [तै०२।७।] इति स्रष्टुरेव जगद्रूपेण कृतेरुपदेशादुभयं ब्रह्म ॥२६॥

विवरणम्–"तद्ब्रह्मसूक्ष्मचिदचिच्छरीरकं तत् स्थूलचिदचिच्छरीरकमात्मानं स्वयमुत्पादितवदित्यर्थकश्रुत्या जोवानां भोगमोक्षप्रसिद्ध्यर्थं स्वयमेव स्वात्मानमकरोदिति तदेव निमित्तमुपादानञ्चेति स्पष्टमेवोक्तम् इदमर्थं बोधयितुं प्रक्रमते "तदात्मानमित्यादि। वृत्तेरक्षरार्थस्त्वतिरोहित एव। यद्यपि मतान्तरानुयायिना विशुद्धस्य ब्रह्मणः कारणतां प्रतिपादयन्ति तथापि तन्मतं सूत्रश्रुतिविरुद्धत्वादविचारणीयमिति कृत्वा तन्मतोपपादनाय तन्निरासाय वा नात्र प्रयत्नं कृतवन्तो वृत्तिकाराः। भाष्यकारास्तु–"येतु विशुद्धं ब्रह्मैवात्मानं स्वयमकुरुत सुखदुःखादिभागभवदित्याहुस्तन्नोपपद्यते ब्रह्मणि विकारित्वाद्यनेकदोषापत्तेस्तदपाकरणार्थं मायाशबलितस्यैव जगद्रूपत्वमङ्गीकरिष्यते चेदुपादानताभङ्गप्रसङ्गः। नच कल्पितत्वं जगत इत्युक्तावपिनिस्तारः केनकिमर्थं कल्पितमिति प्रश्नस्योत्तरानुपपत्तेस्तस्मात्सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकस्य कारणा

सारबोधिनी–प्रति सर्गावस्था में सूक्ष्म चिदचित् शरीरक रूप से अवस्थित स्वात्मा को प्रलयान्त सर्गावस्था में जीवराशि के भोग मोक्ष प्रसिद्ध्यर्थ स्थूल चिदचित् शरीरक स्वात्मा को स्वयं बनाया, इस प्रकार से एक ही ब्रह्म उपादान कारण तथा निमित्त कारण भी है यह "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इत्यादि श्रुति ने स्पष्ट रूप से कहा है। इस बात क बतलाने के लिए कहते है, "तदात्मानम्" इत्यादि। वृत्ति का अक्षरार्थ अ ने स्पष्ट है। यद्यपि इस विषय में मातान्तर हैं। तथापि वह श्रुति सूत्र विरुद्ध होने से उपेक्षणीय और मताभास मात्र होने से उपेक्षा की गई है। तथा उन उन मताभासों का यत्रतत्र सप्रमाण निराकरण भी किया जा चुका है अतः लेखनी व्यापार से विरत होते हैं ॥२६॥

परिणामात् ।१।४।२७।

"सोऽकामयत बहुस्याम्प्रजायेय"[तै०२६।] इतिकारणवस्थस्याविभक्तनामरूपात्मकसूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणो निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च

वस्थस्यैव ब्रह्मण: कर्तृत्वादिव्यपदेशादुपादाननिमित्तत्वमुभयमपिसङ्गतम् (आनन्द भाष्यम्) इत्याहु: ॥२६॥

विवरणम्—विभागरहितनामरूपात्मकसूक्ष्मचिदचिच्छरीरकं कारणावस्थं ब्रह्म विभक्तनामरूपस्थूलचिदचित्पदार्थरूपेणपरिणमत इति ब्रह्म समस्तस्य जगत उपादानं निमित्तञ्च भवतीति दर्शयितुं प्राह,"सोऽकामयत"इत्यादि।"सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय"इत्यादिना कारणावस्थं सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म,"सत्यमभवत्" इत्यादिना स्थूलचिदचिच्छरीरकतया परिणामभाग्भवतीति कथनात्तदेव ब्रह्म उपादानं निमित्तञ्चजगत इति बोधयति। तस्माद्ब्रह्मैव जगत उपादानकारणं निमित्तञ्चेति। इत्येवं परिणामादिति हेतुनोभयविधकारणत्वमेकस्यैव ब्रह्मणो नतु प्रकृत्यादेस्तथात्वमिति। मायि मतेऽस्य सूत्रस्यासङ्गतत्वं दुष्परिहरम् यतस्तै: शुद्धस्य ब्रह्मण एव परिणामोऽभ्युपेयस्तथा च विकारित्वेन

सारबोधिनी—"निरुक्तं चानिरुक्तं च" इत्यादि से लेकर "यदिदं किञ्चतत्सत्यमित्याचक्षते" एतदन्त श्रुति समुदाय से अविभक्त नामरूपक अति सूक्ष्म जड़चेतन पदार्थ शरीरक कारण रूप से अवस्थित जो परम पुरुष परमात्मा वही विभक्तनाम रूपक स्थूल जड़चेतन शरीर रूपत्वेन परिणत होने से संपूर्ण जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण ब्रह्म ही है यह सिद्ध होता है। सूक्ष्म दशापन्न समस्त जड़ चेतन ब्रह्म का शरीर है इसमें बृहदारण्यकीय अन्तर्यामी प्रकरण प्रमाण है। इस प्रकार "परिणामात्" इस हेतु से जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण ब्रह्म है किन्तु प्रधान उपादान कारण नहीं है। इस विषय को बतलाने के लिए प्रक्रम करते हैं "सोऽकामयत" वह कारणावस्थ जो ब्रह्म वह ईक्षण किया कि

निलयनञ्चानिलयनञ्च विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्चासत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत् यदिदं किञ्च" [तै०२।६।] इति विभक्तनामरूपात्मकस्थूलचिदचिच्छरीरतया परिणामादुभयकारणं ब्रह्मैव ॥२७॥

निर्विकारश्रुतिव्याकोपोऽनिवार्यः । यच्चात्र व्याख्यातं परिणामो विवर्त इति तदपि न विचारसहम् ; दुग्धस्य दध्याकारेण परिणामवद्रज्जोः सर्पाकारेण परिणामत्वासम्भवात् । तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणामोऽतात्त्विकोऽन्यथाभावस्तु विवर्त इति परिणामविवर्त्तयोर्विभिन्नार्थकत्वान्न विवर्त्तवादस्यात्र प्रसरः ।

एवमवच्छेदप्रतिबिम्बादिवादानामपि प्रकृतार्थविघातकत्वम् । अस्मन्मते तु "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविसत्" "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इत्येवमादिभिः श्रुतिभिः परिणामोविशेषणांश उपपद्यतेतराम् विशेष्यांशे

एक ही मैं अनेक रूप में परिणत हो जाऊँ" इससे अविभक्तनाम रूपक कारणावस्थ सूक्ष्म चिदचित् विशिष्ट ब्रह्म का, "निरुक्तं चानिरुक्तंच" इससे विभक्त नाम रूप स्थूल चिदचित् शरीर रूप से परिणत होने से इस जगत् के प्रति उपादान कारण तथा निमित्त अर्थात् कर्त्ता कारणरूप ब्रह्म ही है किन्तु मात्र कर्त्ता कारण परमात्मा है तथा उपादन कारण स्वातंत्र्येण प्रकृति है ऐसा नहीं ।

मायावादी के मत में यह सूत्र संगत नहीं होता है । क्योंकि वे लोग विशुद्ध ब्रह्म को कारण मानते हैं तो शुद्ध ब्रह्म का परिणाम जगत् को कहेंगे तब तो परिणामितया सविकारता रूप दोष होगा । यदि इष्टापति मानें तब ब्रह्म को निर्विकारता प्रतिपादक श्रुति विरोध होगा । यदि परिणाम का अर्थ विवर्त मानें तो भी संगत नहीं दूध का दध्याकार से परिणाम के तरह रज्जू का सर्पाकार से परिणाम असम्भव है क्योंकि तात्त्विक अन्यथा भावको परिणाम तथा अतात्विक अन्यथा भावको विवर्त कहते हैं अतः दोनोभिन्नार्थ हुये ।

योनिश्च हि गीयते ।१।४।२८।

"तद्भूतयोनिम्" [मु०।१।१।६।] इति भूतयोनिशब्देन ब्रह्मैव गीयते तस्माज्जगदुपादानं निमित्तञ्च ब्रह्मैव ॥२८॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ प्रकृत्यधिकरणम् ॥७॥

निर्विकारत्वमप्यक्षतम् । उभयोरपि ब्रह्मस्वरूपत्वमेवेत्येकस्यैवोपादानतापि सम्पन्नेति । वस्तुतस्तु—अव्याकृतनामरूपयोर्व्याकरणमात्रमेव सृष्टिः सैव च परिणामशब्देनोच्यत इति सर्वसमंजसम्" (आनन्दभाष्यम्) इत्याचार्य शिरोमणे र्वागत्र हृदिनिधातव्या । यदत्र वक्तव्यं तदध्यासध्वंसलेशता-त्पर्यचन्द्रिकायां प्रपञ्चितमितिदिक् ॥२७॥

विवरणम्— "धीराः परमात्मदर्शननिष्ठा महात्मानः भूतानामा-काशादीनां योनिं निदानकारणं परमात्मानं पश्यन्ति साक्षात्कारि-ज्ञानविषयीकुर्वन्ति. इत्यादिश्रुत्या परमात्मन एव योनिशब्देन ग्रहणं भवतीति ब्रह्मैवोभयविधं कारणमिति दर्शयितुमाह "तद्भूतयोनिमि-

इसलिये इस प्रसङ्ग में विवर्तवाद का अवसर ही नहीं है। श्री बोधायनमतानु यायियों के मत में कोई दोष नहीं क्योंकि "तत्सृष्ट्वा" आदि श्रुति के अनुकूल ब्रह्म के विशेषणांशमें परिणाम होगा अतः विशेष्यांशमें निर्विकारत्व अक्षुण्ण है। वस्तुत अव्याकृत—अविभक्तनाम रूप को व्याकरण विभक्तनामरूपमात्र को सृष्टि कहते हैं उसी को परिणाम शब्द से कहा जाता है अतः कोई दोष हमारे मत में नहीं है ॥२७॥

सारबोधिनी— "तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" "कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्" इत्यादि श्रुति घटक भूतयोनि शब्द से ब्रह्म का ही प्रति-पादन होने से इस सम्पूर्ण जगत् के प्रति ब्रह्म ही उपादान कारण तथा निमित्त कारण है यह सिद्ध होता है। इस बात को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "तद्भूतयोनि'मित्यादि' । वृत्ति का अक्षरार्थ अत्यन्त स्पष्ट है ॥२८॥

अथ सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ॥८॥

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ।१।४।२९।

एतेन "जन्माद्यस्य यतः" [ब्र०सू० १।१।२।] इत्यारभ्य "योनिश्च हि गीयते" [ब्र० १।४।२८।] इत्यन्तेन श्रुत्यर्थचिन्तनीयन्यायकलापेन, सर्वे वेदान्ता व्याख्याता वेदितव्याः । "सर्वे वेदा

त्यादि । "तद्भूतयोनिम्" इत्यादिश्रुत्या भूतयोनिशब्देन परमात्मन एव ग्रहणात् ब्रह्म एवोपादानकारणत्वं निमित्तकारणत्वञ्च श्रुत्या प्रतिपादितं भवतीति ॥२८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे प्रकृत्यधिकरणम् ॥७॥

विवरणम्- "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि वाक्येन सर्वेश्वर सर्वशक्तिमतः परमेश्वरस्योपक्रमात्. "तद्भूतयोनिम्" इत्यादि वाक्येन सर्वजगत्कारणतया परमपुरुषस्योपसंहारदर्शनेन सर्वाण्यपि वेदान्तवाक्यानि तात्पर्येण पर ब्रह्मणि श्रीराम एव समनुगतानि इति सिद्ध्यति । एवं "जन्माद्यस्य यतः" इत्यारभ्याध्यायान्तसूत्रजातेन सर्वाणि वेदान्तवाक्यप्रतिपादकसूत्राणि ब्रह्मणः कारणपरत्वेन व्याख्यातव्यानीति भावविशेषं बोधयितुमाह वृत्तिकारः "एतेन जन्माद्यस्येत्यादि । [अस्य नामरूपात्मना व्याक्रियमाणस्याकाशादि प्रपञ्चजातस्य यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तिसमन्वितात् सर्वेश्वरात् श्रीरामाज्जन्मादि जन्मस्थितिप्रलया भवन्ति ।] इत्यारभ्य "योनिश्च हि गीयते" योनिः सर्व कारणं ब्रह्मैव गीयते । एतत्पर्यन्तप्रकरणस्थ श्रुत्यर्थविचारणीयन्यायसमुदायेन सर्वे वेदान्ताः "यतो वा इमानि

श्रीसीतारामार्पणमस्तु

सारबोधिनी- "जन्माद्यस्य यतः" इत्यादि ब्रह्मसूत्र से लेकर "योनिश्च हि गीयये" एतावत्पर्यन्त श्रुत्यर्थ विचारपरक न्याय समुदाय से जितना कोई वेदान्त "यतो वा इमानि" इत्यादि वाक्य है उन सबका व्या-

यत्पदमामनन्ति" [का० १।२।१५।] इत्यादि श्रुतेः सर्वेषां वेदान्तानां परब्रह्मणि श्रीराम एव समन्वय इति भावः । द्विरुक्तिरध्यायसमाप्त्यर्था ॥२९॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ॥८॥

इति श्री मद्भगवद्जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यान्वयप्रतिष्ठितजगद्गुरु श्रीमदनुभवानन्दाचार्यद्वारकेण ब्रह्मविज्जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरघुवराचार्येण महामहोपाध्यायाद्यनेकपदविकेन विरचितायां श्रीरघुवरीयवृत्तौ (ब्रह्मसूत्रीयवेदान्तवृत्तौ) प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

भूतानि जायन्ते" इत्यादिका व्याख्याता एव भवन्ति । एवं सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यत् चरन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्तेपदं संग्रहेण ब्रवीमि" इत्यादि श्रुतेः सर्वेषामेव वेदान्तानां साकेताधिपतौ श्रीरामे परमात्मन्येव समन्वयो भवतीति भावः ॥ "व्याख्याता व्याख्याता" इत्यत्रद्विरुक्तिः, अध्याय समाप्तिं द्योतयति ॥२९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्रकृतौ श्रीरघुवरीय वृत्तिविवरणे सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ॥८॥

परिसमाप्तश्च प्रथमाध्यायः

-ख्यान हो जाता है । तथा, "सर्वे वेदान्तार्थं" इत्यादि श्रुति से सब वेदान्तों का समन्वय भगवान् साकेताधिपति परब्रह्म श्रीराम में ही तात्पर्य है यह सिद्ध होता है । "व्याख्याता" इस पद का जो द्विर्वचन है वह अध्याय की समाप्ति का द्योतक है ॥२९॥

इति सारबोधिनी में सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ।

प्रथमाध्याय समाप्त
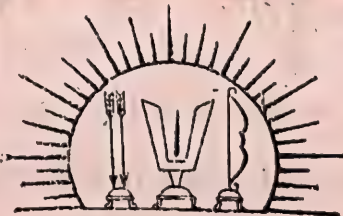
श्री हनुमते नमः

अथ श्रीरघुवरीयवृत्तौ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः

अथ स्मृत्यधिकरणम् ॥२॥

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ।२।१।१।

प्रथमाध्यायेन चिदचिच्छरीरकं परब्रह्मैवाखिलजगदेककारणमित्यभ्यधायि । अधुनानेनाविरोधाख्येन द्वितीयाध्यायेनान्यस्मृतिविरोधः परिह्रियते । तत्रानेन प्रथमपादीयादिमाधिकरणेन कपिलस्मृतिविरोधो

विवरणम्– वेदांतानां जगत्कारणता प्रतिपादकानां ब्रह्मणि श्रीरामे समन्वय इति समन्वयनामकप्रथमाध्यायेन निर्णयः कृतः । परन्तुसनोपपन्नो यतः प्रधानस्यैव जगत्कारणतेति तस्य जत्कारणत्वबोधकस्मृतीनामनवकाशतयातासामेव प्रामाण्यबाधत्वमन्यथा ता निरवकाशाभवेयुरित्यनवकाशतया तदनुरोधस्यावश्यकत्वेन तद्विरोधाद्वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि समन्वयो न सिद्ध्यतीति तथा सति श्रुत्यनुसारिणीनां मन्वादि स्मृतीनामपि तथात्वे निरवकाशतासमानैवेति । तस्माद्वेदसहकृतानां मन्वादिस्मृतीनां सार्थकतोपपादनाय वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मण्येव समन्वयो नतु प्रधानादाविति प्रकाशयितुमुपक्रमते वृत्तिकारः, "प्रथमाध्यायेन" इत्यादि । प्रथमाध्यायेन अस्य अभ्यधायीति क्रिययाऽन्वयः । इदमी-

सारबोधिनी– प्रथम अध्याय में सब वेदान्त का परमपुरुष श्रीरामजी में समन्वय है यह कह करके कपिलाभिमत प्रधान के स्वातन्त्र्येण कारणता अवैदिक है ऐसा कह करके अप्रामाणिकत्व का कथन किया । इस द्वितीयाध्याय में स्मृति विरोध की शङ्का करके उसका समाधान करने के लिए वृत्तिकार उपक्रम करते हैं "प्रथमाध्यायेन" इत्यादि । प्रकान्त शास्त्र के प्रथम अध्याय से जड़चेतन शरीरक परब्रह्म साकेताधिपति ही स्थूल सूक्ष्म जड़चेतन साधारण सकल जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है

वार्यते । अत्र सांख्यस्मृत्यनुसारेण वेदान्तसमन्वयोऽस्ति नवेति संशयः । पूर्वपक्षस्तु–स्मृत्युपबृंहणमन्तरेण वेदार्थस्यानिर्णयात् तदर्थं सांख्यस्मृतेः परतत्वमधिकृत्यैव प्रवृत्तत्वात्तदनुसारेणैव वेदान्तानां समन्वयः सम्पाद्यः। अन्यथा सांख्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः स्यादिति । अत्राभिधीयते सि-

---

यादिमाध्यायेन. स्थूलसूक्ष्मसाधारणाचिदचिच्छरीरक भगवच्छ्रीसाकेताधिपतिश्रीरामैव परं ब्रह्म जड़चेतनसाधारणस्य जगतोनिदानकारणञ्चेति प्रतिपदितम् । संप्रति एतदीयाविरोधनामकपरेणाध्यायेनान्य स्मृतेः कपिलादिस्मृतेर्यौविरोधः स संप्रत्याख्यायते । तत्रापिद्वितीयपादीयप्रथमाधिकरणेन सांख्यस्मृतेर्यौविरोधः स एव प्रथमतोनिवारितो भवतीति । तत्र योयं वेदान्तसमन्वयः ससांख्यस्मृत्यनुसारेण संभवति यद्वानेति संशयः । एकतरनिर्णायकतर्कस्याभावादिति । तत्र स्मृतेः सहकारमन्तरेण वेदार्थस्यानिश्चेतुमशक्यत्वेन सहकारितया सांख्यस्मृतेः सहकारस्यावश्यकतया सांख्यस्मृत्यनुरोधेनैव वेदान्तानां समन्वयः संपादनीयो नतु तद्विरोधतयेति पूर्वपक्षः ॥

एतादृशपूर्वपक्षे समुत्तरं नेति सूत्रघटकपदेन करोति । अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात् । यदि सांख्यस्मृतेरनवकाशदोषप्रसङ्गेन बाध

इसका प्रतिपादन किया गया । अब अविरोधनामक इस द्वितीयाध्याय से स्मृति के विरोध का परिहार किया जाता है । इसमें भी इस प्रथम पाद के प्रथम अधिकरण से खास करके कपिल स्मृति के विरोध का परिहार किया जाता है । यहाँ सांख्य स्मृति के अनुसार से वेदान्त वाक्यों का समन्वय हो सकता है अथवा नहीं हो सकता है । ऐसा संशय होता है । क्योंकि यहाँ एक पक्ष का निर्णायक हेतु नहीं है । एतादृश संशय के बाद पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि स्मृतियों के सहकार के बिना वेद प्रतिपादित अर्थों का निश्चय नहीं हो सकता है । क्योंकि, "इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" इतिहास स्मृति पुराणादि के सहकार से

द्धान्तः। नेति—वेदान्तसमानार्थाभिधायिनीभिः परमाप्तमन्वादिप्रणीतस्मृतिभिरेवोपबृङ्हणस्यौचित्यात्। अन्यथा बहूनां मन्वादिस्मृतीनामनवकाशदोषप्रसङ्गोऽनिवार्यः स्यात्। न च धर्माभिधाने तासां चारितार्थ्यमिति वाच्यम्। परमात्मोपासनात्मक एव धर्मस्तस्य चोक्तार्थ एव सामञ्जस्यम् ॥१॥

उच्यते तदा तदन्यमन्वादिस्मृतीनां वेदान्तार्थानुयायिनीनामनवकाशदोषप्रसङ्गः स्यादेव। यमर्थं वेदांताः प्रतिपादयन्ति तमेवार्थप्रतिपादिकाभिः स्मृतिभिरेवोपबृङ्हणस्यौचितत्वात्। तत्समानार्थकपदैर्वाक्यैर्वेतितदर्थप्रकाशनमेवोपबृङ्हणम्। ततश्च, "अस्मान्मायीसृजते" "मायान्तु प्रकृति विद्यात्" इत्यादिश्रुतिमूलकमनुप्रभृतिकस्मृतीनां स्पष्टमेवानवकाश स्यात्। तथा संख्यातीतानामनेकाशां नैरर्थक्यमेव स्यात्। नच धर्मादिरूपपदार्थप्रतिपादने मन्वादिस्मृतीनां सार्थक्यं भवति। सांख्यस्मृति स्तु मोक्षमात्रप्रतिपदनायैव प्रवृत्तेति तत्रापिबाधे-सर्वथैव निरवकाशेति वाच्यम् भगवदाराधनोपयोगिकत्वेन कर्मणामपि परमपुरुषार्थसानत्वस्य सिद्धान्ते प्रतिपादनात्। यद्यपि, "ऋषि ही वेदार्थ का निश्चय करना। ऐसा शास्त्र का कथन है। अतः वेदार्थ के निर्णय करने के लिए, सांख्य स्मृति परतत्व मोक्ष को लेकर के प्रवृत्त होने से सांख्य स्मृति के अनुसार से ही वेदान्त के समन्वय का संपादन करना युक्त है। अन्यथा मोक्ष मात्र के प्रतिपादन करने के लिए प्रवृत्त सांख्य स्मृति का अनवकाश रूप दोष होगा। एतादृश पूर्वपक्ष का उत्तर करने के लिए सिद्धांत का कथन करते हैं, "अत्राभिधीयते" "नेति" इत्यादि। सांख्यस्मृति के अपेक्षया वेदान्त के समानार्थ प्रतिपादक परम आप्त जो मनु प्रभृतिक हैं उनके द्वारा प्रणीत जो मन्वादि ऋषियों की स्मृति हैं उसके द्वारा वेद का उपबृहण सहकार उचित है। अन्यथा अनेक मन्वादि स्मृतियों का अनवकाश रूपदोष प्रसङ्ग अपरिहार्य हो

इतरेषाञ्चानुपलब्धेः ।२।१।२।

इतरेषां वेदतत्वविदां "यद्वै मनुरवदत्तद्भेषज" (तै०सं०२।२।१०।२) मिति श्रुत्युपगीतमहिम्नां मन्वादिनां प्रधानकाणवादित्वानुपलब्धेः कपिलस्मृत्यनुसारेण न वेदान्तसमन्वयः ॥२॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ स्मृत्यधिकरणम् ॥१॥

प्रसूतम्" (श्वे०।६।२।) इत्यादि श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं दर्शयति सापि न सांख्यप्रणेतुः कपिलस्य प्रतिपादनं करोति किन्तु तदितरकपिलस्यैव । अन्यथा यद्ययं कपिलः श्रुतिप्रतिपादितोभवेत्तदा सकथं श्रुतिविरुद्धार्थं प्रतिपादयेदिति कपिलस्मृत्यनवकाशदोषसङ्गेन वेदान्त समन्वयस्य बाधनं नयुक्तमिति दिक् ॥१॥

विवरणम्—अथ यमर्थविशेषं कपिलः प्रतिपादयति तमेवार्थविशेषं मनुरप्यनुवदतीति कथं मनुप्रणीत स्मृतेर्वेदानुसारित्वं कपिलस्य च न तथात्वमित्याशङ्क्य इतरेषां वेदयाथात्म्यविदां मनोरनुवचनं भेषजवद्धित कारकमित्यर्थकश्रुत्या तादृशप्रवचनकर्तॄणां मनुप्रभृतिमहाधियां प्रधान कारणवादित्वस्यानुपलम्भात् तथा मन्वादिस्मृतिविरुद्धत्वादपि कपिलादिस्मृतेर्भ्रममूलकत्वमिति तासामप्रामाण्यात् नताभिर्वेदान्तसमन्वय-

जायगा। मन्वादि स्मृति तो धर्मादिक पदार्थ के प्रतिपादन करके सावकाश हैं ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि परमात्मा का उपासन रूप क्रिया ही धर्म है। उसका सामंजस्य तो उक्त अर्थ में ही हैं। इसलिए सांख्यस्मृत्यनवकाश दोष अकिञ्चित्कर है ॥१॥

सारबोधिनी—योगादि द्वारा जिन्होंने तत्त्व स्वरूप को जान लिया है एतादृश कपिल द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन किया गया है उसी अर्थ का प्रतिपादन तो मनु प्रभृतिकों ने भी किया है। तब मनुस्मृति को ही किस तरह वेदानुसारी कहते हैं। इतर स्मृति को वेदानुसारी क्यो नहीं कहते हैं इस शङ्का का उपपादन करके उसका उत्तर करने के लिए उपक्रम करते हैं,

योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् ॥२॥

एतेन योगः प्रत्युक्तः ।२।१।३।

किं योगशास्त्रानुसारेण वेदान्तानां समन्वयोऽस्ति नवेति संशयः योगस्येश्वराङ्गीकर्तृहिरण्यगर्भादिवेदाचार्यप्रणीतत्वात् दनुसारेणैव वेदान्त समन्वय इति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु—हिरण्यगर्भादेरपिजीवत्वेन भ्रान्ति

स्य बाधः, इममर्थं बोधयितुमनुवदति "इतरेषाम्" इत्यादि। इतरेषां कपिलादिभिन्नमन्वादिऋषीणां वेदतत्त्वविदाम्, "यद्वैमनुरवदत्तद्भेषजम्" [मनोः प्रवचनं भेषजवत् जगतो हि जायते] इत्यर्थकश्रुतिख्यापितमाहात्म्यानां प्रधानकारणवादिताया अनुपलम्भात् न कपिलस्मृत्यनुसारेण वेदान्त समन्वयस्य बाधः कदाचिदपि शङ्कनीयः तस्माद्वेदान्तानां समन्वयो ब्रह्मण्येवेति भावः ॥२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतौ श्रीरघुवरीय-वृत्तिविवरणे स्मृत्यधिकरणम् ॥१॥

विवरणम्—केवलप्रधानकारणता बोधककपिलतन्त्रानुसारेण वेदान्तानां समन्वयो न भवतु परन्तुयोगस्मृतेः सेश्वरवेदाचार्यकृतत्वेन तदनु-

"इतरेषां वेदतत्त्व विदाम्" इत्यादि। कपिलादि भिन्न वेदतत्त्व को जानने-वाले, "जो मनुने कहा है वह दवा के सामान जगत् के हितकारक है" इत्यादि श्रुति से प्रख्यापित है माहात्म्य जिनका एतादश मनु प्रभृतिक ऋषियों में प्रधानकारणवादित्व का अनुपलंभ होने से कपिल स्मृति के अनुसार से वेदान्त समन्वय नहीं होता है अर्थात् कपिलादि स्मृति वेदविरुद्ध तथा वेदानुसारी मन्वादि स्मृति विरुद्ध होने से वेदान्त समन्वय का बाधक नहीं हैं ॥२।१।२॥

इति सारबोधिनी में स्मृत्यधिकारण ।

सारबोधिनी—सांख्यस्मृति के अनुसार वेदान्त समन्वय का निराकरण करके योगस्मृति के अनुसार भी वेदान्तसमन्वय का निराकरण करने के लिए

सम्भवात् वेद विरुद्धार्थप्रतिपादकत्वाच्च न तदनुसारेणापि वेदान्तसमन्वयः । अत एतेन साङ्ख्यस्मृतिनिराकरणेन योगोऽपि प्रत्युक्तो वेदितव्यः ॥३॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् ॥२॥

सारेण वेदान्तानां समन्वये का क्षतिरिति तदनुसारेणैव तथास्तु इतिपूर्वपक्षस्य हिरण्यगर्भादिकाचार्यस्यापिजीवत्वेन भ्रमप्रमादादि संभवेन तथाक्वचिद्वेदविरुद्धार्थप्रतिपाकत्वेन न प्रामाण्यमिति योगस्मृत्यनुसारेण वेदन्तानां समन्वयोनेत्येतद्दर्शयि तुं प्रक्रमते "किंयोगशास्त्रानुसारेणेत्यादि । प्रधानमेव-जगत उपादानमिति प्रतिपादकेन योगेन "यतोवेत्यादि वेदान्तानां समन्वयःसंभवति नवेति संशये योगस्य प्रामाणिकयोगाचार्यप्रणीतत्वेन प्रामाण्यात्तदनुसारेणैव समन्वयो वेदान्तानामिति पूर्वपक्षे जीवमात्रस्यैव भ्रमप्रमादादि संभवाद् हिरण्यगर्भादेरपि तथात्वेनाप्रामाणिकत्वात् तत्प्रणीतयोगशास्त्रानुसारेण समन्वयोनेति भावः । अतः एतेन कपिलप्रणीतसांख्यशास्त्र निराकरणेन हिरण्यगर्भादिप्रणीतयोगशास्त्रस्यापि निराकरणमर्थत एव

प्रक्रम करते हैं, "किं योगशास्त्रानुसारेण" इत्यादि । क्या योगशास्त्र के अनुसार वेदान्त समन्वय हो सकता है अथवा नहीं हो सकता है एतादृश संदेह है । योगशास्त्र ईश्वर को माननेवाले योगाचार्यहिरण्यगर्भादिक से प्रणीत होने से प्रामाणीक है । इसलिए योगशास्त्रानुसार से वेदान्त का समन्वय होना चाहिए । एतादृश पूर्वपक्ष होता है । सिद्धान्तवादी कहते है कि हिरण्यगर्भादिक जो योगाचार्य हैं वे भी तो जीव कोटि के अन्तर्गत हैं तो उनको भी तो भ्रमप्रमादादिक संभवित है । तथा वेद विरुद्ध केवल प्रधान कारण है इत्यादि का प्रतिपादन करने से वे अप्रामाणिक हैं । इसलिए योग स्मृति के अनुसार वेदान्त का समन्वय उचित नहीं हैं । यद्यपि योग स्मृति में प्रकृति पुरुष और परमेश्वर का, "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट ईश्वर" इत्यादि सूत्रो से स्वीकार किया गया है जो कि वेदान्त के अनुकूल है ।

विलक्षणत्वाधिकरणम् ॥३॥

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वञ्च शब्दात् ।२।१।४।

किं वेदान्तैर्जगतः प्रधानकार्यता प्रतिपाद्यत आहोस्विद् ब्रह्मकार्यतेति संशयः तत्राज्ञत्वेन विकारास्पदत्वेन चिदचिदात्मकस्यास्य जगतो निरतिशयानन्दस्वरूपाद्ब्रह्मणो विलक्षणत्वात्तत्कार्यत्वं न सम्भवति ।

सिद्धं भवति । हैरण्यगर्भास्तु स्वातन्त्र्यस्य प्रधानस्यैवोपादानकारणत्व मीश्वरस्य केवलं निमित्तकारणमेव मन्यन्ते । अतो न तदनुसारेण वेदान्तानां समन्वयः सांख्यस्मृतिवदिति ॥३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् ॥२॥

विवरणम्-ब्रह्मैव जगत उपादानं निमितञ्चेतिव्यवस्थापितम् । तत्र यः स्मृतिमूलकोविरोध उद्भावितः सतु निराकृतः पूर्वप्रकरणेन । इदानीं पुनस्तर्कमूलकोविरोधः समुद्भाव्यते । यदुक्तं ब्रह्मजगत उपादा

तथापि योगवादी परमेश्वर को नैयायिकादि के समान केवल कुलालवत् निमित्त कारण ही मानते हैं, उपादान कारणतो केवल प्रकृति को ही मानते हैं अर्थात् अभिन्ननिमित्तोपादानकारण नहीं मानते हैं । इसलिए वेद विरुद्धार्थ प्रतिपादक होने से तदनुसारेण वेदान्त समन्वय उचित नहीं है । अतः इस कपिलाभिमत सांख्यस्मृति के निराकरण से तत्सदृशयोग स्मृति का निराकरण भी हो जाता है ऐसा समझना चाहिए क्योंकि सांख्य तथा योग स्मृति ये दोनो समान तंत्र हैं तो समानतंत्र होने से जब एक का निराकरण हुआ तब दूसरे का निराकरण होना अर्थसिद्ध हो जाता है ॥३॥

सारबोधिनी- संपूर्ण जगत्ब्रह्मजन्य है । इसका निश्चय पूर्व में किया गया है । उसमें सांख्यादि स्मृति से ब्रह्म कारणता में जो आक्षेप किया गया उसका भी पूर्व प्रकरण से निराकरण किया गया । अब पुनः तर्कमूलक जगत्कारणता का आक्षेप करते हैं, "न विलक्षण" इस सूत्र से ।

तथा वैलक्षण्यं न केवलं प्रत्यक्षतोऽवगम्यतेऽपितु "विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च" [तै०३।६।३।] "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" [श्वे०] इति शब्दाद वगम्यते ॥४॥

नकारणं तन्नयुक्तम्। तथाहि उपादानौ यत्तदादेयभावः सजातीये वस्तुनि भवति यथा मृद्घटयोर्नतु विजातीये नहि विजातीयो घटो विजातीयानां तन्तूनामुपादेयो भवन् दृष्टः। एवं प्रकृते ब्रह्मचेतनसुखात्मकं जगत्तु जड़ासुखात्मकं तत्कथमुभयोरुपादानोपादेयभावः। यदि कदाचित्परमात्मा जगत उपादानं भवेत् तदा चेतनात्परब्रह्मणो जायमानं जगदपि चेतनं स्यात्। उपादाननिष्ठगुणानामुपादेये सजातीयगुणान्तरारंभकत्वस्यदृष्टत्वात्। ततश्चोपादाननिष्ठचेतनाया उपादेये जगत्यसमवेतत्वात् न ब्रह्मकार्यं जगदपितु सजातीयप्रधानजनितमेव तदिति न वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वय इत्याकारकपूर्वपक्षमादर्शयितुं सूत्रव्याख्याञ्च कर्तुमुपक्रमते "किं वेदान्तै र्जगतः"इत्यादि। "यतो वा इमानि भूतानिजायन्ते"

यह जड़ चेतनात्मक जगत् ब्रह्म कार्य नहीं है क्योंकि कार्य कारण में साजात्य आवश्यक है। विजातीय में कार्य कारण भाव नहीं होता है गवाश्ववत। यह जगत् ब्रह्म से विलक्षण है इसलिए ब्रह्मजन्य नहीं है किन्तु प्रधान का कार्य है। प्रधान तथा जगत् में सजातीयता है। एतादृश पूर्वपक्ष को बतलाते के लिए वृत्तिकार उपक्रम करते हैं, "किं वेदान्तैर्जगतः" इत्यादि। यह जड़ात्मक जगत् प्रधान का कार्य है ऐसा वेदान्त कहता है। तर्कमूलक एतादृश संशय होता है। उसमें अज्ञ अर्थात् जड़-चेतनारहित तथा विकारास्पद होने से चिदचिदात्मक जो यह समस्त जगत् वह नित्यनिरतिशय आनन्दस्वरूप निखिल कल्याण गुणालय परब्रह्म से अत्यन्त सर्वथा विलक्षण विजातीय है। इसलिए अत्यन्त विजातीय ब्रह्म का कार्य यह जगत् नहीं हो सकता है। क्योंकि उपादानोपादेयभाव समानजातीयक में ही होता है। मृत्तिका तथा घट के समान। किन्तु

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।२।१।५।

नन्तु "तं पृथिव्यब्रवीत्" [प्रश्न-२] इति पृथिव्यादेरपि ज्ञानकार्यं

इत्यादि वेदान्त वाक्येन स्थावरजङ्गमात्मकनिखिलजगतः प्रधान-कार्यत्वं प्रतितं भवति अथवा ब्रह्मकार्यता प्रतिपादिता भवति। अर्थात् परिदृश्यमानमिदं जडाजड़ात्मकं जगद् ब्रह्मजन्यं प्रधानजन्यं वेति संशयः तत्रेदंजगदज्ञत्वेनार्थात् जड़त्वात् विकारत्वात् नित्यनिरतिशयानन्द स्वरूपब्रह्मापेक्षयाऽतीव विलक्षणं भिन्नमिति चिदचिदात्मकस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वं न संभवति। अर्थादुपादानोपादेयभावः समानजातीये एव भवति नतु विजातीये भवति ब्रह्मजगतो परस्परं विजातीयत्वान्नो-पादानोपादेयभावः। न ब्रह्मापेक्षया जगतो वैलक्षण्यं केवलं प्रत्यक्षादेव सिद्ध्यति किन्तु,"विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च""ज्ञाज्ञौद्वावजावीशानीशौ" इत्यादि शब्देन शास्त्रादपिद्वयो वैलक्षण्यं भवति। अत इदं जगत् न ब्रह्मप्रकृतिकमपितु सजातीयप्रधानजनितमेवेति प्रधानजगत एवोपादानोपा-देयभावो भवति। तस्मान्न वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयः ॥४॥

विजातीय में उपादानोपादेय भाव नहीं होता है यथा गवाश्व में। इसी प्रकार ब्रह्म तथा जगत् में अत्यन्त वैजात्य होने से कार्यकारणभाव नहीं हो सकता है। यदि कदाचित् ब्रह्म का कार्य जगत् को मानें तो, "कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते" इस न्याय से ब्रह्मगत चेतना गुण कार्य जगत् में भी संक्रान्त होगा तब तो जगत् को भी चेतनायुक्त होना चाहिए। परन्तु यह तो लोक तथा प्रत्यक्ष विरुद्ध है। तथा ब्रह्म जगत् में लक्षण केवल प्रत्यक्ष से ही अवगत होता है ऐसा नहीं अपितु, "विज्ञान अविज्ञान" "ज्ञ अज्ञ ईश अनीश" इत्यादि शब्द द्वारा भी ब्रह्म तथा जगत् में वैलक्षण्य सिद्ध होता है। अतः ब्रह्म का कार्य जगत नहीं है किन्तु प्रधान जो त्रिगुणात्मक हैं उसीका कार्य यह संपूर्ण जगत् है। ऐसा पूर्वपक्ष होता है ॥४॥

दृश्यत इति चेन्न, तुना शङ्कापनोद्यते "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता" [छा० ६।३।१।] इति पृथिव्यादेर्देवताशब्देन विशेषितत्वात् तम्पृथिव्यब्रवीदित्यादौ तदभिमानिदेवतानां व्यपदेशः। "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्" [ऐ० २।४।] इत्यादिषु श्रूयमाणानुगतेश्च ॥५॥

विवरणम्- ननु ब्रह्मचेतनं जगदचेतनमिति द्वयोर्विलक्षणत्वात् कार्यकारणभावश्च सजातीये एव दर्शनेन ब्रह्मापेक्षयाजगतोऽतिविलक्षणत्वान्नोपादानं ब्रह्मजगत इति यदाशङ्कित तदसिद्धं यतो भूरादिकार्येष्वविज्ञानादिकारणगतानां धर्माणां कार्ये दर्शनान्न कार्यकारणयोर्वैलक्षण्यं किन्तु साजात्यमेवेति शङ्कयित्वा आवान्तरोत्तरं करोति न पृथिव्यादिनां चैतन्यं येन जगद् ब्रह्मणोर्वैलक्षण्यमुद्भिद्येत किन्तु पृथिव्यन्तर्गताभिमानि देवता विषयकोयं चेतनादिव्यवहारः। अतः कार्यकारणत्वेनाभिमतयोर्वैलक्षण्यं विद्यत एवेति दर्शयितुं प्रक्रमते "ननु तमि"त्यादि। तं पृथिवी अब्रवीदित्यादि श्रुतौ स्वभावतो जड़ानां पृथिवीसागरादीनामपि ज्ञानं ज्ञानकार्यश्चावगम्यते तत्कथमुच्यते कार्यकारणयोर्वैलक्षण्यमिति प्रश्नः। सूत्रेणोत्तरं ददाति "अभिमानीत्यादि।

सारबोधिनी- ब्रह्म चेतन है जगत् अचेतन है। तब दोनों में परस्पर विलक्षण होने से उपादानोपादेय भाव नहीं हो सकता है। एतादृश शङ्का के उत्तर में कहते हैं "पृथिवी अब्रवीत्" इत्यादि शास्त्र से जड़ पृथिवी में भी ज्ञानादि कार्य उपलब्ध होता है। तब वैलक्षण्य का प्रतिपादन जो पूर्वसूत्र से किया गया है वह असङ्गत है। इसका उत्तर किया जाता है कि जड़ पृथिवी में ज्ञानादि का व्पदेश नहिं है। किन्तु तदभिमानी देवता में ज्ञानादिक का व्यपदेश है अतः कार्य कारण में साजात्य नहीं है। तब ब्रह्म प्रकृतिक जगत् में नहीं है इस बात को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं। "ननु तम्" "उसको पृथिवी ने कहा" इत्यादि श्रुति से स्वभाव तो जड़ पृथिव्यादिक में ज्ञान कार्य

दृश्यते तु ।२।१।६।

एवं सूत्रद्वयेन पूर्वपक्षमुत्थाप्य समाधत्ते । तु शब्दः पक्षपरिवर्तने । गोमयमाक्षिकादिभ्यो विलक्षण जन्तूनामुत्पत्तेर्ब्रह्म विलक्षणस्याप्यस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वं युज्यत एव ॥६॥

यदिदं पृथिव्यादौ ज्ञानकार्यं न तत् जड़पृथिव्यादेः किन्तु तदभिमानि सचेतनदेवतादेरेव । यतो 'विशेषानुगतिभ्याम्, "हन्ताहमिमाः" इत्यादौ पृथिव्या देवताशब्देन परामृश्याधिष्ठातृदेवस्यैव ज्ञानादिधर्माणां कथनम् । "अग्निर्वाग्भूत्वामुखे प्राविशत्" इत्यादिशास्त्रेण देवजायाश्चेतनायाः ज्ञानादिकम्, नतु जड़पृथिवी सागरादेः अतोब्रह्मजगतोर्वैलक्षण्यात् कथं कार्यकारणभाव इति शङ्कापूर्वदेवमुस्थिता । तस्माद्वैलक्षण्यान्न ब्रह्म जगतोः कार्यकारणभावोऽपितु त्रिगुणात्मक जड़प्रधानस्यैव जडात्मकं जगत्कार्यमिति ॥५॥

विवरणम्– चेतनात्परमपुरुषादचेतनस्य परिदृश्यमानस्याकाशादेर्जगतः कथमुत्पत्तिर्यतः कार्यकारणयोर्मृद्घटादौ साजात्यदर्शनात् । नहि भवति तन्तुभिर्घटोऽपितु कपालादेवघटो जायते तथा तन्तुभि-

देखने में आता है, तब कार्यकारण में वैलक्षण्य कहां है यह पूर्वपक्ष हुआ । उत्तर देते हैं, "इति चेन्न" इत्यादि । सूत्र घटक 'तु' शब्द से पूर्वपक्ष का निराकरण किया जाता है । "हन्ताहमिमाः" इत्यादि श्रुति में पृथिव्यादिक को देवता शब्द से निर्देशित किया गया है । "तं पृथिवी अब्रवीत्" इत्यादि स्थल में अभिमानी देवता का कथन किया गया है । तथा "अग्निर्वाग्भूत्वा" इत्यादि स्थल में भी देवता का ही परामर्श है । इसलिए जड़ पृथिवी तथा चेतन ब्रह्म में वैलक्षण्य होने से ब्रह्म प्रकृतिक जगत् नहीं किन्तु प्रधान प्रकृतिक है ॥५॥

सारबोधिनी– कार्यकारण भाव सजातीय में ही होता है । किन्तु विजातीय में नहीं होता है । कपाल से ही घट होता है नतु तन्तु समु-

रेव पटः। तस्माच्चेतनाद्ब्रह्मणोऽचेतनस्योत्पत्तिर्नस्यादित्याक्षेपं परिहरति सिद्धान्तवादी. नायं नियमोयत् कार्यकारणयोः साजात्यमेवेति यतो विजातीयादेव पुरुषाद्विलक्षणस्य केशनखादेरुत्पत्तिदर्शनात्। तथा अचेतनात् शालीमूलगोमयादिभिश्चेतनानां वृश्चिकादीनां समुत्पत्ति दर्शनात्। न च न पुरुषात्केवलान्नखकेशादीनामुत्पत्तिः किन्तु शरीरादेव नखादीनामुत्पत्तिरिति वाच्यम् मृतशरीरान्नखकेशादीनामुत्पत्तेर दर्शनात्। तस्मात्कार्यकारणयोः साजात्यमेवेति न नियमः किन्तु विजातीययोरपि तथा भवत्येव। एवं च चेतनपरमात्मनः सकाशादचेतनस्याप्युत्पत्तौ न कोपि बाधकः। प्रत्युत "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिश्रुतिरप्यनुगृहीता भवति। एतत्सर्वं मनसि कृत्याह "एवं सूत्र द्वतेने" त्यादि। एवं पूर्वोपदर्शितप्रकारेण सूत्रद्वयाभ्यां 'न विलक्षणत्वात' 'अभिमानिव्यपदेशाभ्यां' पूर्वपक्षं प्रदर्श्य प्रकृत 'दृश्यतेतु' सूत्रेण समादधाति सिद्धांती। तत्र सूत्रघटकस्तु शब्दः

दाय से अतः चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है इत्याकारक जो सूत्र द्वय से प्रदर्शित पूर्वपक्ष है उसका निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं "एवं सूत्रद्वयेन" इत्यादि। एवं यथोक्त क्रम से "न विलक्षणत्वात्' तथा "अभिमानी व्यपदेशात्" इत्यादि सूत्र द्वय से पूर्वपक्ष का उत्थान करके सूत्रकार समाधान करते हैं। सूत्रघटक 'तु' शब्द पूर्वपक्ष का निराकरण परक है। जिस तरह गोमय तथा पक्षिकादिक कीट पतंग से विलक्षण वृश्चिकादिक चेतन जीवों की उत्पत्ति होती है। यथावा चेतन जो पुरुष उससे अचेतन जो केशनखादिक उसकी उत्पत्ति होती है। इसी तरह ब्रह्म से विलक्षण अचेतन भी जो जड़जगत् है उसकी उत्पत्ति ब्रह्म से हो सकती है, इसमें कोई बाधक नहीं है। कार्यकारण में साजात्य होना चाहिए—यह जो नियम है वह आरम्भवादाभिप्रायक है। यह नियम एकांततः परिणामवादी का अभिमत नहीं

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ।२।१।७।

नन्वस्य जगतः कारणभूताद्ब्रह्मणो वैलक्षण्यमेव चेत्तदास्य द्रव्यान्तरत्वेन ब्रह्मण्यसत्वादसदुत्पत्तिवादप्रसङ्ग इति चेन्नोदीरितसूत्रे कार्यकारण

पूर्वपक्षं निराकरोति। विजातीयाद्गोमयाद्विजातीयानां वृश्चिकादीनां तथा विजातीयात्पुरुषाद्विजातीयानां केशनखादीनां समुत्पत्तिदर्शनात् सजातीययोरेवकार्यकारणयोर्जनकतेति नियमस्य परित्यागादितितात्पर्यम्। एवमेव चेतनमपि ब्रह्म अचेतनस्य जगतोजनकं भवत्येव। आरंभवादिभिः कृतनियमस्य श्रुतिबलात्परिणामवादिभिः परित्यागादिति संक्षेपः ॥६॥

विवरणम्—ननु पुरुषोत्पन्नकेशनखादयः पुरुषविक्षणा विजातीया यथावा गोमयादुत्पद्यमानोवृश्चिकादिर्गोमयादिष्ववर्तमाना ततो विलक्षणाः एवं कारणाद् ब्रह्मणो जायमानं जगद् यदि अत्यन्तं विलक्षणं तदोत्पत्तेः पूर्वं केशादिवत् जगतो ब्रह्मण्यसत्त्वात्तादृशस्य तस्योत्पत्तिस्वीकारे कार्यस्यापि जगतोऽसत्वमित्यसद्वादप्रसङ्ग इति चेन्न भावानवबोधात्। अर्थात् यदत्र ब्रह्मजगतो वैलक्षण्यप्रर्शनं तत् व्याप्यधर्मेण नतु व्यापकहै। विलक्षण ब्रह्मरूप कारण से विलक्षण कार्य जगत की उत्पत्ति होती है इसमें श्रुति ही प्रमाण है। एवं भगवान् सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् हैं अतः प्राकृतिक नियम का तिरस्कार करके स्वेच्छया सर्वजगत् का उपादान तथा निमित्त कारण होते हैं। इसमें दृष्टि विरोध अकिंचित्कर है। वह लोकाभिप्रायक है ईश्वराभिप्रायक नहीं ॥६॥

सारबोधिनी— पुरुष चेतन से उत्पद्यमान जो केशनखादिक, वह कारणापेक्षया विलक्षण है। यथावा गोमय से जायमान वृश्चिकादिक जोव जनकापेक्षया विलक्षण होता है। उसी तरह कारणीभूत परमात्मा से जायमान यह जगदात्मक कार्य विलक्षण है। तब कार्य कारण में विलक्षणता होने से कारणोभूत ब्रह्म में उसकी सत्ता नहीं रहने से

योरसालक्षण्यमेव भवतीति नियमस्य प्रतिषेधमात्रत्वात् सालक्षण्याभावेऽपि मृदूघटयोरिव कार्यकारणयोरन्यत्वन्तु विद्यत एव। तथा च नासद्वादप्रङ्ग इति भावः ॥७॥

धर्मेण तथा चोभययोर्व्याप्यधर्मेण वैलक्षण्येपि व्यापकधर्मेण साजात्यस्याक्षतेः नहि मृदूघटयोरप्यत्यन्तं साजात्यम् मृत्तिकात्वघटत्वादिना साजात्याभावात् किन्तु कपालत्वघटत्वाभ्यां वैलक्षण्येऽपि द्रव्यत्वादिव्यापकधर्मेण साजात्यसत्वेन कार्यकारणभावस्य दर्शनात् तद्वत् प्रकृते व्याप्यधर्मेणब्रह्मजगतोर्वैलक्षण्ये सत्तारूपेणसाजात्यसत्वात् सजातीययोर्द्वयोर्निर्वहत्येव कार्यकारणभवोऽत एवासद्वादप्रसंगोपि नापततीति। एतत्सर्वं हृदिनिधाय प्राह वृत्तिकारः,"नन्वस्य जगत"इत्यादि। अस्यनामरूपाभ्यां व्याकृतस्य जड़चेतनस्थूलसूक्ष्मसाधारणस्यसमुत्पद्यमानस्य जगतोकारणरूपब्रह्मपेक्षयाऽतिवैलक्षण्यमतिशयेनवैजात्यमेव भवेत्, तदा कारणापेक्षया द्रव्यान्तरस्य जगतःकारणे परमेश्वरो विद्यमानत्वेन ततश्च तस्यतत् उत्पत्ति

असद्वाद प्रसङ्ग होगा इत्यादि शङ्का का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं "नन्वश्य जगतः" इत्यादि नाम रूप द्वारा व्याक्रियमाण जो परिदृश्यमान स्थावर जङ्गमात्मक जगत् यदि कारण रूप जो ब्रह्म सर्वशक्ति मान है तदपेक्षया वैलक्षण्य हो तब तो जायमान जगत् कारणापेक्षया द्रव्यान्तर होने से कारण में वह नहीं है तब असत् कार्य की उत्पत्ति प्रसङ्ग रूप दोष होता है इसके उत्तर में कहते हैं, "इति चेन्न "न विलक्षणत्वात्" तथा "अभिमानो व्यपदेशस्तु" इत्यादि सूत्र द्वय में कार्य तथा कारण में सलक्षणता सजातीयता होतो है। इस नियम के निराकरण करने मात्र में तात्पर्य है। सालक्षण्य न होने पर भी मृत्तिका तथा घट के समान कार्यकारण में भेद तो हैही। अर्थात् कार्यकारण में साजात्य मात्र विवक्षित है। किन्तु अन्यत्र साजात्य विवक्षित नहीं है। अन्यथा मृत्तिकात्व घटत्व रूप से सर्वथा साजात्य का अभाव

अपीतौतद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ।२।१।८।

भूयश्शङ्क्यते । ननु यदि ब्रह्मैव जगदाकारेण परिणतश्चेत्तदाप्यपीतावुत्पत्तौ जगद्धर्मणामज्ञत्वविकारित्वादिनां ब्रह्मणि प्रसङ्गात् 'अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः, यः सर्वज्ञः सर्ववि [मु०।१।१।९] इति ब्रह्मणो निर्विकारित्वाद्यभिधायि वेदान्तशास्त्रमसमञ्जसं स्यात् ॥८॥

स्वीकारे बौद्धादिवद् असत्कारणवाद एव प्रसज्येतेतिपूर्वपक्षः । उत्तरयति इति चेन्न इत्यादि । पूर्वपक्षीयसूत्रद्वये कार्यकारणयोरति सजात्यं भवतीति नियमस्य प्रतिषेधमात्रपरत्वं दर्शयति, अत्यन्तसाजात्याभावेपि कपाल घटवत् बाध्यधर्मेण घटत्वादिना भेदस्तुविद्यत एव । यथाकपालाद्भिन्नोपि कपालाज्जायमानो नासद्वादं दोषमावहति । तथा प्रकृतेपि नासद्वादप्रसङ्ग इति संक्षेपः ॥७॥

विवरणम्—ननु सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितं ब्रह्मैव स्वापेक्षया विलक्षणजगदाकारेण परिणतं भवति तथा तदेव ब्रह्मजगत उपादानमपि इत्येवं रूपेण यत्पूर्वं व्यवस्थापितं तन्नयुक्तम्, यतो जगतो ब्रह्मणि प्रलये तथोत्पत्तौ जगद्गताज्ञत्वकर्मपराधीनत्वादि संसारधर्माणां परमात्मनि प्रसङ्गेन निर्विकारिता प्रदर्शकवेदान्तशास्त्रस्यासामञ्जस्यमित्याशयेनाह

होने से कार्यकारण भाव का विलोप हो जायगा । मृद्घट में सुवर्णकुण्डलादिक कार्यकारण में लक्षण्य मात्र देखने में आता है । ऐसा होने से असत्कार्यवाद रूप दोष नहीं होता है । इस विषय में विशेष विचार भाष्य विवरण में देखें ॥७॥

सारबोधिनी—पुनः पूर्वपक्ष होता है कि यदि ब्रह्मस्वविलक्षण जगत् रूपसे परिणभित होता है तथा एतादृश जगत् का उपादान कारण है तब तो प्रलयकाल में ब्रह्म में सधर्मक जगत् प्रलीयमान होता है । तब जगत् का धर्म असर्वज्ञत्व सावयवत्वविकारित्वादि धर्मयोग से ब्रह्म भी अज्ञ असर्वज्ञ विकारी आदि होंगे । तब ब्रह्ममें निर्विकारिता का प्रतिपादक वेदान्त शास्त्र में असाम-

न तु दृष्टान्तभावात् ।२।१।९।

तुना शङ्का निवार्यते । न वेदान्तस्यासामञ्जस्यम् । यत एकस्य ब्रह्मणोऽवस्थाद्वययोगेऽपि गुणदोषव्यवस्थितौ, "यथा सर्वगतः सौक्ष्म्या दाकाशो नोपलिप्यते । शरीरस्थोऽपि कौन्तेय तथात्मा नोपलिप्यते"

"भूयः शङ्क्यते" इत्यादि वैलक्षण्यादिमूलकशङ्कायाः कथञ्चिदुत्तरेपिपुनस्तद्विपर्यय एव शङ्कां करोतीत्यर्थः । सर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्वनिर्विकारत्व धर्माद्युपेतं ब्रह्मैव यदि जगदाकारेण परिणतं भवति तदा प्रलये सर्वं जगद् ब्रह्मणि लीनं सत् परमात्मानं स्वकीयविकारित्वादिधर्मेण समन्वितं कुर्यात्, ततश्च ब्रह्मणोऽप्यज्ञत्वविकारित्वादिधर्मवत्वं स्यात् । न चेष्टापत्तिः । तथा सति अपहतपाप्मत्वप्रतिपादकश्रुतीनां निरालंबनत्वेन सर्वोऽपि वेदान्तो व्याकुलः स्यादित्यसामञ्जस्यमेवेति पूर्वपक्षः ॥८॥

ञ्जस्य दोष होता है। इस प्रकार के पूर्वपक्ष का सूत्र द्वारा उत्थान करते हैं "भूयः शङ्क्यते इत्यादि । न विलक्षत्वादित्यादि सूत्रद्वय से पूर्वपक्ष करके पुनः उस विषय में प्रश्नकरते हैं । उसपूर्वपक्ष का स्पष्टीकरण करते हैं "ननुयदि" इत्यादि । सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परम ब्रह्म ही जगदाकार से परिणाम को प्राप्त करते हैं । तथा एतादृश अज्ञत्वअसर्वज्ञत्व धर्मविशिष्ट जगत् का उपादान कारण होते हैं तब तो अपीति अर्थात् प्रलयकाल में तथा उत्पत्ति के समय में कार्य कारण अनन्य होने से कार्य जो जगत् उसका धर्म जो असर्वज्ञत्वविकारित्व उसका ब्रह्म में प्राप्ति होने से ब्रह्म भी अल्पज्ञ तथा विकारादिमान् होजायेंगे । अगर इष्टापत्ति कहे तब तो, "यह ब्रह्म अपहत पाप्मत्वजरामृत्युराहित्य, का तथा परमात्मा सर्वज्ञ सर्ववित् है इत्यादि जो ब्रह्म के निर्विकारित्वादि प्रतिपादक वेदान्त शास्त्र है सब असमञ्जस हो जायगा । इसलिए ब्रह्म जगदाकारेण परिणत होता है तथा उपादान भी है यह कहना ठीक नहीं है । ऐसा पूर्वपक्षोपस्थापित होने पर अगले सूत्र से उत्तर देते हैं ॥८॥

[गी०] इत्यादिदृष्टान्तस्य सद्भावात् । तदाहुराचार्याः प्रकृतश्लोकानन्दभाष्ये "यथाकाशं सर्वगतं सर्वैस्थूलदीर्घवक्रत्वादिधर्मकैः पदार्थैः सम्युक्तमपि स्वकीयसौक्ष्म्यान्निरवयवत्वादिस्वाभाव्यान्नोपलिप्यते तदीयधर्मै र्व्यपदिष्टं न भवति तथात्मापि सर्वेषु देहेष्ववस्थितोऽपि तत्तद्देहधर्मै र्नोपलिप्यते असंस्पृष्ट एव तिष्ठति देहगतगुणदोषै र्न सम्ब-

---

विवरणम्–पूर्वसूत्रोपस्थापितशङ्काया निराकरणं सूत्रव्याख्यान मुखेन कर्तुमाह तुना प्रकृतसूत्रघटक तु शब्देन प्रदर्शितशङ्कानिवार्यते निवारिता भवतीत्यर्थः । वेदान्तस्य सर्वज्ञत्वादि ब्रह्मनिष्ठधर्मविशेष प्रतिपादकवाक्यानामपहतपाप्मात्वादिनाश्चासामञ्जस्यं न भवति । यतो यस्मात् कारणात् एकस्यापि ब्रह्मणोऽवस्थाद्वययोगो गुणदोषयो र्व्यवस्थितत्वात् । अत्राहुर्भाष्यकाराः. "अयमभिप्रायः यथा सर्वगतः सौक्ष्म्यादाकाशोनोपलिप्यते । शरीरस्थोपि कौन्तेय तथात्मानोपलिप्यते" इति स्मृते । यथा वालत्वयुवत्वस्थविरादयः शरीरस्यावस्थाविशेषास्त च्छरीरिण्यात्मनि (जीवे) न संबद्ध्यन्ते । ज्ञानसुखादयश्चात्मधर्मा न

सारबोधिनी–यदि ब्रह्म ही जगदाकारेण परिणत होता है तथा जगत् का उपादान कारण ब्रह्म है ऐसा मानें तब तो प्रलयकाल में कारणरूप ब्रह्म में प्रविष्ट होता हुआ कार्य वर्ग स्वकीय स्वकीय अज्ञत्व कर्मपराधीनत्वादि सांसारिक धर्मों से ब्रह्म को अज्ञ कर्म पराधीन तथा विकारी बना देगा अर्थात् सर्व कारण सर्वशक्तिमान् परमात्मा कर्म पराधीन अज्ञ तथा विकारी हो जायेंगे । इष्टापत्ति मानें तब निर्विकार ब्रह्म हैं ऐसा कहनेवाला वेदांन्त असमंजसता प्राप्त कर जायगा यह जो पूर्वसूत्र में प्रश्न किया था उसका समाधान करते हैं "नतु दृष्टान्त भावात्" पूर्वोक्त विषय में दृष्टान्त होने से वेदान्त में असामञ्जस्य दोष नहीं होता हैं । कार्य तथा कारण रूप से अवस्थित ब्रह्म में कोई भी दोष नहीं है क्योंकि ऐसा दृष्टान्त है । इन सब विषय को बतलाने के लिए कहते हैं "तुना शङ्कानिवार्यते" इत्यादि

-श्यते" यथा बालत्वादयो धर्माः शरीरेऽन्विता न जीवे, ज्ञानसुखादयश्च जीवधार्मा जीव एव न शरीरे तथा चिदचिच्छरिरकस्य ब्रह्मणः कर्मवश्याज्ञत्वादयो धर्मास्तद्विशेषणीभूतचिदचिद्वस्तुन्यन्विता न ब्रह्मणि। चिदचिद्वस्तुशरीरकत्वन्तु ब्रह्मणो "यस्य पृथिवी शरीरं (बृ० ३।७।३।) इत्यादिश्रुतिशतैर्निश्चितम् ॥९॥

शरीरे (जीवावयवभूते शरीरे) तथा ब्रह्मशरीरभूतचिदचिद्वस्तुगताः कर्मवश्यत्वाज्ञत्वादयो धर्माश्चिदचिच्छरीरिणि कार्यकारणोभयावस्थान्वयिनि परस्मिन् ब्रह्मणि न संबद्ध्यन्ते ब्रह्मगताश्चापहतपाप्मात्वादयोज्ञानशक्तिवलैश्वर्यवीर्यतेजस्त्वादयोधर्मा न तच्छरीरभूतचिदचिद्वस्तुनोतिसुगमः पन्थाः" (आनन्दभाष्यम् २।१।९) अनेन प्रकारेणगुणदोषयोर्विभज्य प्रदर्शनात् न धर्माणां साङ्कर्यं भवतीति। यथा सर्वगतोप्याकाशोऽतिसूक्ष्मत्वात्पार्थिवादिदोषैरुपलिप्यमानो न भवति एवमेव शरीरे विद्यमानोप्यात्मा शरीरदोषेणोपलिप्तो न भवतीति

सूत्र घटक जो 'तु' शब्द है वह पूर्वपक्ष का निराकरणपरक है। ब्रह्म में निर्विकारता प्रतिपादक जो वेदान्त है उसमें असामञ्जस्य रूपदोष नहीं होता है एक ही कार्य का कारणावस्थ ब्रह्म के अवस्थाद्वय के सम्बन्ध होने पर भी क्योंकि इस विषयमें अनेक दृष्टान्त हैं "जिस तरह सर्वगत सर्व व्यापक भी आकाश अति सूक्ष्म होने के कारण से पार्थिवादिगुणदोष से संबद्ध नहीं होता है। इसी तरह हे अर्जुन ! इस अनेक दुर्गुण युक्त शरीर में वर्तमान भी आत्मा शरीर के दोष गुण से उपलिप्यमान नहीं होता है" इत्यादि अनेक दृष्टान्त हैं। इसको स्पष्ट रूप से बतलाने के लिए कहते हैं "यथा बालत्वादय" इत्यादि।

जिस तरह बालत्व युवत्त्वस्थाविरादि सुखाधधिकरणतावच्छेदकोभूत धर्म शरीर में ही व्यवस्थित रहता है नतु शरीरी जीवात्मा में रहसकता है यथावा जीवात्मा का जो ज्ञानसुखादिक धर्म समुदाय हैं वह शरीरावच्छेदेन उपलभ

इत्यादिदृष्टान्तस्यासामञ्जस्य दर्शनात् । यथा बालत्वादयो देहसमवेता धर्मा देहावच्छिन्ने जीवे न सङ्क्रामन्ति यथावा ज्ञानसुखादयोगुणा जीव समवेता न जीवावयवभूते शरीरे समवेता भवन्ति । एवमेव चिदचिच्छरीरकस्य परमात्मनःपरमात्मविशेषणोभूतचिदचिद्गताः कर्मपराधीनत्वाज्ञत्वादिका निखिलगुणविशेष्टे परमेश्वरे नगच्छन्ति, नवा परमात्म गुणास्तदङ्गभूते जीवशरीरादावागच्छन्तीति न कथमपि वेदान्तानामसामञ्जस्यदोषाः प्रादुर्भवन्तीति । चिदचित्पदार्थाः परमात्मनः शरीरभूताः परमात्मा च शरीरीति"य पृथिव्यां तिष्ठन् यस्य पृथिवी शरीरम्"इत्यादिका अनेकाः श्रुतय एव प्रमाणम् । तस्मादवयवगता गुणा नावयविनि सङ्क्रामन्ति नवा अवयविनि परमात्मनि विद्यमाना गुणाः अवयवे चिदचिति समवेता भवन्ति । अतोवेदान्तेऽसामञ्जस्य प्रसङ्गरूपदोषो न भवतीति संक्षेपः ॥९॥

मान होने पर भी शरीर में सङ्क्रमित नहीं होता है । इसी तरह चिदचित् शरीरवाला जो ब्रह्म हैं उसमें चिदचिद्गत जो कर्म पराधीनत्व अज्ञत्व तथा विकारित्वादिक धर्म हैं वे ब्रह्म विशेषणोभूत चिदचित् में ही समन्वित होते हैं किन्तु तच्छरीरक ब्रह्म में समन्वित नहीं होते हैं परमात्मा चिदचित् शरीरक है । इसमें, "यस्य पृथिवी शरीम्" इत्यादि अनेक श्रुति प्रमाण हैं । अर्थात्, "यः पृथिव्याम् तिष्ठन्" जो परमात्मा पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी से अन्तर है जिस परमात्मा को पृथिवी नहीं जान सकती है जिस परमात्मा का पृथिवी शरीर है जो पृथिवी को नियन्त्रित करता है, जो विज्ञान में रहता है । जिसका विज्ञान शरीर है । जो आत्मा में रहता है, जिस का यह जीवात्मा शरीर है" इत्यादिक अन्तर्यामी ब्राह्मण में कहा गया है । और, "जगत्सर्वं शरीरंते" हे भगवन् श्रीसीतापते यह परिदृश्यमान स्थूल सूक्ष्म स्थावर जङ्गमजगत् आपका शरीर है,, इस प्रकार से सभी चिदचिन्मय जगत् श्री रामाख्य परमेश्वर का विशेषण है इसलिए विशेषणगत गुणदोष विशेष्य में सङ्क्रान्त नहीं होने से वेदान्त में असामञ्जस्य रूप दोष की शंका नहीं होती है ॥९॥

स्वपक्षदोषाच्च २।१।१०।

प्रधानस्य निस्सङ्गपुरुषसङ्गात्प्रवृत्तिरिति स्वीकारे दोषबाहुल्यात्तत्पक्षोऽऽनुपादेयः। दोषराहित्याच्च वेदान्तपक्ष एव समाश्रयणीयः॥१०॥

विवरणम्—प्रधानकारणवादिभिर्ब्रह्मकारणवादे ये दोषा उद्भाविताास्तेदोषाः प्रायः सर्वेपि प्रधानकारणवादेऽपि समाघटिताभवन्ति, ततश्च "यस्योभयः समोदोषः परिहारोऽपि तादृशः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे" इतिन्यायात् किञ्च प्रधानकारणवादस्य सदोषत्वात् परिहर्त्तव्यः। ब्रह्मकारणवादस्य च दोषरहितत्वादागमानुमोदितत्वाच्च स एवादर्तव्य इत्येतद्बोधयितुमुपक्रमते, "प्रधानस्य निः सङ्गपुरुषेत्यादि। प्रधानस्य सत्त्वरजस्तमसां सामावस्थारूपसाङ्ख्यानुमोदितस्य असङ्गपुरुषसंपर्कात् कार्यकरणाय प्रवृत्तिः ततश्च पुरुषस्य भोगाप

सारबोधिनी—प्रधानकारणवादियोंने ब्रह्मकारणवाद में दोषबतलाया था उसका समाधान, "नतु दृष्टान्त भावात्"इस सूत्र से तथा अनेक श्रुतियों से कर दिया गया, इसलिए वेदान्त मत के स्वीकार करने में कोई भी क्षति नहीं है। परन्तु वेदान्त मतमें जो दोष दिया था प्रधान कारणवादियों ने वह दोष तो प्रधानकारणबाद में भी होता है,तो उसका समाधान उनसे अशक्य है। इसलिए प्रधानकारणवाद आदर्तव्य नहीं है। स्वभावतः जड़जो प्रधान है वह जड़ चेतन मिश्रित जगत् का उत्पादक नहीं हो सकता है। पुरुष सम्बन्ध से प्रधानजनक होगा यह कथन भी ठीक नहीं, क्योकि पुरुषतो पुष्करपलाशवन्निर्लेप होने से उसका सम्बन्ध अशक्य है। यदि कहोकि पुरुष के उपराग से प्रधान प्रवृत्त होता है तो यह भी ठीक नहीं है। क्योकि निष्क्रिय का उपराग असंभवित है। यदि कहोकि प्रकृति पुरुष का संयोग को अनादिमानो तब तो पुरुष को मोक्ष कभी भी नहीं होगा एवं सर्ग का कारण प्रधान पुरुष संयोग का सर्वदा सद्भाव रहने से सर्वदा सर्ग ही होता रहेगा, प्रलय सुषुप्ति प्रभृतिक कभो भी नहीं होंगे।

तर्काप्रतिष्ठानादपि ।२।१।११।

प्रधानकारणवादिकपिलमतस्य तर्कैकसाध्यतयाऽप्यनुपादेयत्वम् यतस्तर्काणां प्रबलेन तर्कान्तरेणाप्रतिष्ठितत्वदर्शनात् ॥११॥

वर्गार्थसृष्टयादिप्रक्रियेति प्रधानकारणवादस्वीकारे दोषबाहुल्यात् अर्थात् अचेतनायाः प्रकृतेर्जडायाः प्रवृत्यादेरसंभवादिदोषाणां सद्भावात् न प्रधानकारणवाद उपादेयः। ब्रह्मकारणवादस्य च दोषरहितत्वादागमानुमोदितत्वात्तत्पक्ष एव समादर्तव्य इति संक्षेपः ।१०।।

विवरणम्—वक्ष्यमाण कारणेनापि ब्रह्मकारणवाद एव व्यवस्थितो भवति नतु प्रधानकारणवाद यतः सांख्यादिमतस्य तर्कमूलकत्वेन तर्कस्य चाप्रतिष्ठितत्वात् । तदुक्तम् "यत्नेनानुमितोप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः । अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते" । एकोहि तर्ककर्त्तास्वमनीषोद्भवतर्केण यादृशमर्थविशेषं परकीयतर्ककरणेन स्वकीयतर्काविष्कारेण व्यवस्थापयति तमेवार्थं ततोन्यस्तर्ककर्ता प्रबलतर्कान्तरेण तमर्थमन्यथा कुर्वन्नि

इसलिए प्रधान कारणवाद ठीक नहीं है किन्तु ब्रह्म कारणवाद ही ठीक है । अतः ब्रह्म जगत् का कारण है । इस आभिप्राय के लेकर वृत्तिकार कहते है, "प्रधानस्येत्यादि" असंग पुरुष के सम्बन्ध होने पर प्रधान को प्रवृत्ति होती है, ऐसा यदि स्वीकार करे तो अनेक दोष होने से प्रधान कारणवाद अनुपादेय है और दोषरहित होने से वेदान्त पक्ष ही उपादेय है अत ब्रह्म काररणक जगत् है यह सिद्ध होता है ॥१०॥

सारबोधिनी—तर्क का अप्रष्ठित होने से प्रधान कारणवाद व्यवस्थित नहीं है किन्तु ब्रह्मकारणवाद हीं ठीक है क्योंकि तर्क व्याप्तिमूलक होता है व्याप्ति में व्यभिचार शङ्का होती है तब पुनः तर्कान्तर से व्यभिचार शंका का निराकरण किया जायगा, तर्कान्तर भी व्याप्तिमूलक होगा इस प्रकार तर्क में तर्कान्तर की संभावना होने से अनवस्था होती है । तो तर्काभाव से व्याप्त्यभाव तथा व्याप्ति नहीं होने से मूलक्षति होती है इसप्रकार

राकरोति । अतस्तर्काणामप्रतिष्ठितत्वात् तादृशतर्कमूलकसांख्यमत स्याप्यप्रतिष्ठितत्वमिति न प्रधानकारणवादः श्रेयान् किन्तु वेदप्रमाणानुमोदितो ब्रह्मकारणवाद एव समीचीनः श्रेयार्थिभिरादर्तव्य इत्येतद्दर्शयितुमुपक्रमते "प्रधानकारणवादि" इत्यादि प्रकृत्यपरपर्यायप्रधानमेव जगत उपानकारणं न ततोऽन्य इत्यादि यत्कपिलमतं तादृश सांख्यमतस्य वेदानपेक्षशुष्कतर्कसाध्यतया न कथमप्युपादेयत्वम् । यत एकस्य शुष्कतर्कस्य प्रबलतरतर्कान्तरेण बाधदर्शनात् । तस्मान्न तर्कमात्र सिद्धपरार्थस्य प्रतिष्ठितत्वमिति । यद्यपि ब्रह्मकारणवादोपि तर्कमूलकस्तथापि तस्यागमानुमोदिततर्कसिद्धत्वात्प्रतिष्ठतत्वेन तस्यैवादर्तव्यतेति । तदाहुराचार्याः "श्रुत्यनुकूलस्यतर्कस्य तु श्रुत्यर्थनिश्चायकत्वादुपादेयत्वमेवेतिहृदयम् तथा च 'प्रत्यक्षमनुमानञ्चशास्त्रञ्चविविधागमम् । त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता । आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्र विरोधिना । यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥मनु० १२ १०५।१०६॥ इत्यादिवचनैर्वेदाविरोधितर्कस्यैवतत्त्वनिर्णयसहकारित्वमुक्तम् । प्रकृते तु केवलं तर्कवादमाश्रित्य प्रधानकारणतायां नाप्रतिष्ठितत्वरूपदोषान्मोक्ष इति शुष्कतर्कनिरासः । अतएव "अचिन्त्याखलु ये भावा न तां

तर्क को अप्रतिष्ठित होने से तावन्मात्र बलको लेकर चलनेवाला सांख्यमत ठीक नहीं है । किन्तु सर्वदोषरहित होने से ब्रह्मकारणवाद ही ठीक है । इस बात को समझाने के लिए उपक्रम करते हैं, "प्रधानकारणवादी त्यादि प्रकृति है अपरपर्याय जिसका एतादृश जो प्रधान वही आकाशादि सकल प्रपञ्च का उपादान कारण है। ऐसा माननेवाले जो कपिल मत है वह आगम निरपेक्ष तर्कमात्र साध्य है इसलिए यह सांख्यमत उपादेय नहीं हैं क्योंकि एक व्यक्ति से प्रतिष्ठापित जो तर्क है वह अपर प्रबल तर्कान्तर से खण्डित हो जाता है एवं द्वितीय तर्क प्रबलतर्कान्तर से खण्डित हो जाता है । इसलिए तर्क को अप्रतिष्ठित होने से तर्कमात्र

अन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ।२।१।१२।

ननु प्रबलतर्कैरप्रतिहतिर्यथा भवेत्तथा प्रतिष्ठिततर्कानवलम्ब्य प्रधानस्य कारणत्वं व्यवस्थापयिष्यत इति चेदेवमपि तर्काप्रतिष्ठितत्वदोषादविमोक्षप्रसङ्गस्तत्त्वस्यम्भावो । ततोऽप्यधिकोत्कृष्टतर्काणामपि सम्भवात् ॥१२॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ विलक्षणत्वाधिकरणम् ॥३॥

तर्केणयोजयेत्" इत्येवं श्रौतार्थनिर्णये शुष्कतर्काणां पौराणिकनिषेधोऽपि दृश्यते तस्माच्छ्रौतमार्गमवलम्ब्यब्रह्मण एव जगत्कारणत्वमास्थेयम् (आनन्दयाष्यम्) इति ॥११॥

विवरणम्—अथ प्रकारान्तरेणानुमिनोमि यावता तर्के अप्रतिष्ठितत्व रूपदोषो न स्यात् । अयं तर्कः प्रतिष्ठितोऽयं तर्कः प्रतिष्ठित इत्यपि निश्चयस्तर्काधीन इति प्रतिष्ठातर्कस्य प्रतिष्ठितत्वात्तर्काप्रतिष्ठानादिति हेतुरसिद्धः । अन्यथा यदितः कः सर्वथाप्रतिष्ठितोभवेत्तदा वह्निधूमयोरपि व्याप्यव्यापकभावोलौकिकाव्याहन्येत तस्मात्सत्तर्काणां प्रतिष्ठित त्वमन्येषामप्रतिष्ठितत्वमिति विवेकः । ततस्च तर्कबलेन सर्वं स्यादिति चेन्न, एवमप्यविमोक्षप्रसङ्गात् अर्थादनुमानस्य प्रत्यक्षसापेक्षत्वेन प्रत्यक्षप-सिद्ध सांख्यमत अनुपादेय है । इस प्रकार से कपिलमत उपादेय नहीं है॥११॥

सारबोधिनी—यदि कोई भी तर्क प्रतिष्ठित नहीं हो तब तो वह्नि धूम के व्याप्तिग्राहक तर्क के अप्रष्ठित होने से व्याप्ति भङ्ग रूप दोष होगा तस्मात् इस तर्क को तो प्रतिष्ठित मानना होगा । तब "तर्काप्रतिष्ठानात्" यह हेतु असिद्ध है । इस प्रश्न का उत्तर करने के लिए उपक्रम करते हैं, "ननु प्रबलतर्कैरित्यादि प्रबल तर्क से प्रतिघात न हो इस प्रकार से तादृश प्रतिष्ठित तर्क का अवलोकन करके तादृश प्रतिष्ठित तर्क द्वारा प्रधान में कारणता का व्यवस्थापित किया जायगा, अर्थात् प्रकारान्तर से अनुमान करके प्रधान में कारणता का निश्चय किया जायगा । ऐसा होने पर भी

अथ शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ।।४।।

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः।२।१।१३।

एतेन कापिलस्मृत्यपाकरणेन परिशिष्टाः अत्र संशयस्तु परमाण्वादिजगत्कारणं सम्भवति नवेति। परमाणुकारणवादस्य सत्तर्कमूलत्वा

रिगृहीतव्याप्तिमता धूमेन वह्नेरनुमानं भवति। प्रकृते ब्रह्मतदनुमापकलिङ्गयोरप्रत्यक्षत्वेन व्याप्तेरसंभवाद् ब्रह्मणस्तर्कगम्यत्वं नास्तीत्याशयेन प्रक्रमते "ननु प्रबलतर्कैरित्यादि। अन्यथानुपपत्तिलक्षणतर्कद्वाराप्रतिघातो न भवेत्तथा तादृशतर्कान् प्रतिष्ठितान सहकारितया समादाय सांख्यमतसिद्धप्रधानस्य कारणतां व्यवस्थापयिष्यामि ततश्च न कश्चिदपि दोषः स्यादिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गात्। अर्थात् तर्काप्रतिष्ठितत्व दोषस्योद्धारो न स्यात्। यतो यादृशतर्कद्वारा कारणतायाव्यवस्थानं भवति ततोऽप्युत्कृष्टप्रबलतर्कात्तत्प्राचीनतर्काणामप्रतिष्ठितत्वस्यानिवार्यत्वादिति दिक् ।।१२।।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतौ श्री रघुवरीयवृत्तिविवरणे विलक्षत्वाधिकरणम् ।।३।।

विवरणम्—तर्कवलोपस्थितस्य प्रधानकारणवादस्याप्रतिष्ठितत्वेन तर्कस्य निराकरणाद् यथा कारणाभावप्रयुक्तसांख्यस्मृतेर्निराकरणं जातम् तथैव पतञ्जलिगोतमादिस्मृतीनामपिनिराकरणं भवति, यतोवेद विरुद्धार्थप्रतिपादकानां सर्वतर्काणां वेदबाधितत्वेनाप्रमाणत्वात्।

विमोक्ष नहीं होता है। अर्थात् तर्काप्रतिष्ठितत्वरूपदोष का उद्धार नहीं होता है। क्योंकि पूर्वतर्कापेक्षया उत्कृष्ट तर्कान्तर की भी संभावना हो सकती है ।। पुरुषमति की अनेक रूपता संभवित है। कोई नियम नहीं है कि तर्क करने में सबसे उत्कृष्ट कपिल ही है। इसलिए तर्काप्रतिष्ठान होने से तर्क द्वारा किसी पदार्थ की सिद्धि वा निराकरण उचित नहीं है ।।१२।।

इति सारबोधिनी में विलक्षणत्वाधिकरणम् ।।३।।

ज्जगत्कारणत्वं सम्भवतीति पूर्वः पक्षः सिद्धान्तस्तु—वैदिकाऽपरिग्रहाः कणादगोतमादिस्मृतयोऽप्यपाकृता व्याख्याताः। प्रबलतर्कैरप्रतिष्ठितत्वं तत्रापि समानम् ॥१३॥

इतिश्रीरघुवरीयवृत्तौ शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ॥४॥

अप्रमाणिकतर्केणस्थापित गोतमादिस्मृतीनामपि निराकरणं सञ्जातमेवेत्याशयेनाह "एतेन कापिल्लेत्यादि" एतेन अर्थात् कपिलस्मृते र्निराकरणेन वेदविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वेन तत्समानतदन्यस्मृतिनामपि निराकरणं भवत्येवेति। अत्र प्रकृते सन्देहो जायते गौतमकणादकल्पितः परमाणु र्जगतः पृथिव्यादिकार्याणामुपादानकारणं भवती न वेति। तत्र परमाणोर्जन्यं प्रतिसमवायिकारणत्वं कणादादिभिः सत्तर्कबलेनोपस्थापितमिति तेन जगत उपादानकारणं भवत्येव तत्र जायमानपृथिव्यादीनां समवायिकाररणं परमाणवोऽसमवायिकारणं तयोस्तेषां संयोगोनिमित्तकारणमीश्वरोऽदृष्टादिश्च। एवं द्व्यणुकादीत आरभ्यमहाऽवयवीपर्यन्तद्रव्याणामुत्पत्तिर्जायते। द्व्यणुकादिकार्यगत सजातीयगुणाः कारणगतसजातीयगुणेन समुत्पन्ना भवन्ति। असमवायिकारणनाशात्कार्याणां विनाशस्ततश्च प्रलयो भवतीति तेषां पक्षः सिद्धान्तस्तु या इमा वैदिकापरिग्रहाः वेदविरुद्धार्थप्रतिपादिकाः गौत-

सारबोधिनी—सांख्य मत का निराकरण करके वेद विरुद्धार्थ प्रतिपादक तर्क तथा तादृश तर्क व्यवस्थापित तदन्यस्मृतियों का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं "एतेन कपिल" इत्यादि कपिल स्मृति के निराकरण करने से तदितर शिष्टापरिगृहीत गौतमादि स्मृतियों का भी निराकरण हो जाता है। परमाणु कारणवाद समीचीन तर्कमूलक है इस लिए परमाणु ही जगत का उपादान कारण है यह हो सकता है अथवा नहीं, यह सन्देह होता है। सत्तर्क मूलक है परमाणु उपादान है यह पूर्वपक्ष होता है। वेदार्थज्ञाता से अपरिगृहीत होने से गौतमादि स्मृतिका भी निराकरण

अथ भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ॥५॥

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ।२।१।१४।

परमात्मनः स्वशरीररूपजीवाद्विभागोऽस्ति न वेति संशयः। सर्व शरीरस्य परमात्मनो न तच्छरीरभूताज्जीवाद्विभागः सम्भवति। जीववच्छरीरित्वाविशेषादिति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु—स्यादेव विभागो

मादिस्मृतयस्ताः सर्वाः सांख्यस्मृतिनिराकरणप्रकारेण परास्ता भवन्ति। यतो गौतमादितर्काणामपि अप्रतिष्ठितत्वं प्रबलतर्कान्तरेण भवतीत्युत्तरस्य समानत्वात्। एकेन व्यवस्थापिततर्कस्यापरेणान्यथाभावसंभवादिति सर्वतर्काणां वेदविरूद्धार्थप्रतिपादकानां निराकरणादिति ॥१३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्री रघुवरीयवृत्तिविवरणे शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ॥४॥

विवरणम्—अथ सूक्ष्मचिदचिद्देहविशिष्टं कारणावस्थं ब्रह्म सकल जगत उपादानकारणं भवति. तदेव च परं ब्रह्मस्थूलचिदचिच्छरीरकं भवत् कार्यात्मकमुपादेयं भवतीति तदेव कारणं कार्यञ्चेति पूर्वं प्रतिपादितम्। परन्तु तन्न संभवति. यतो यदि शरीरवान स्यात् तदा यथा शरीरवत्तया अवच्छेदकता संबन्धेन जायमानशरीरगतसुखादीनां भोक्ता भवति तथैव परमेश्वरोपि शरीरवत्वात्सुखादिमान् स्यात्।

हो जाता है यह उत्तर है। क्योंकि प्रबल तर्क से इसमें भी अप्रतिष्ठितत्व रूप दोष समान है ॥१३॥ इति शिष्टापरिग्रहाधिकरणम्।

सारबोधिनी—सूक्ष्म चिदचित् शरीरक कारणावस्थ परमेश्वर उपादान कारण हैं और वेही स्थूल चिदचित्शरीरक होकर के उपादेय कहलाते हैं। यह जो पूर्व में कहा है वह ठीक नहीं है। क्योंकि यदि परमात्मा को सशरीर माने तब तो जिस तरह जीव का शरीर संबन्ध होने से सुखादिका उपभोक्ता होता है, उसी तरह परमेश्वर में भी उपभोक्तृत्वापत्ति हो जायगी। तब तो जीव के साथ ब्रह्म का विभाग नहीं होने

लोकवत् । जीवस्य कर्मवश्यतया शरीरयोग इति सुखदुःखादिभोक्तृत्वं सम्भवत्येव परस्यत्वकर्मवश्यतया शरीरयोगेऽपि न तत्सम्भवः । कर्मवश्यत्वप्रयुक्तं सुखदुःखादिभोक्तृत्वं न शरीरप्रयुक्तमितितत्त्वम् ॥१४॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ भोक्त्रापत्यधिकरणम् ॥५॥

तदा जीवेन सह परमेश्वरस्य विभागाभावो विशेषणविशेष्ययोस्तादात्म्यस्यान्यत्रप्रतिपादनेन परमेश्वरस्य जीवभावः स्यात् । तथा च सर्वेश्वरस्यापि शरीरवत्वात् जीवात्मवदेवसुखदुखभोक्तृत्वं स्यात् । न चेष्टापत्ति र्लौकिकवेदविरुद्धत्वात् अवाप्तसकलेप्सितस्य बाधाच्च । इति जीवेश्वरयोर्विभागाभावः प्रसज्येतेतीमांशङ्कामपाकर्तुं सूत्रव्याख्यातुकामश्चोपक्रमते "परमात्मनः स्वशरीरे" त्यादि । योयं सर्व जगदुपादानः परमात्मा तस्य परमात्मशरीररूपजीववर्गात् विभागोऽस्ति नवा तयो र्विभाग इत्येकं मतमविभागश्चेत्यपरं मतम् । ततश्च परस्परं विप्रतिपत्तेः संशयो जायते यत परजीवयोर्विभागोऽविभागोवेति । तत्र तयो र्विभागाभाव इति मतमाश्रित्य यदावस्तुमात्रं भगवतः शरोरम् तदा परमात्मशरीररूपाज्जीवान्न विभागः संभवति । यथा से परमेश्वर को भी जीवभाव अनिवार्य हो जायगा । एतादृश शंका का समाधान करने के लिए वृतिकार सूत्र व्याख्यान द्वारा उपक्रम करते हैं, "परमात्मनः स्वशरीर रूपेत्यादि" सकल जगत् के उपादान कारण जो परमात्मा है एतादृश परमात्मा का स्वकीय शरीर रूप जो चेतन वर्ग, उस चेतन जीव से विभाग है अथवा नहीं है । [अवयवावयवो में विभाग मानते हैं न्यायमतानुयायी और कार्यकारण में अविभाग तादात्म्य मानने हैं सत्कार्यवादी लोग अतः यहाँ निर्णायक विशेष दर्शनाभाव होने से संशय होता है ।] इसमें पूर्वपक्ष होता है कि सर्व शरीरक जो परमात्मा है उनका परमात्मा का शरीर रूप जो जीवराशि है उनके साथ विभाग नहीं है । मृत्तिका घट के समान । जब जीव परमेश्वर में विभाग नहीं है तब

जीवावयवभूतं शरीरं न जीवाद्विभक्तम् । तथैव परमेश्वरोपि स्वशरीर रूपजीवादविभक्तो जीववदेव शरीरगतसुखदुःखादीनां भोक्ता स्यात् । यथा जीवः स्वशरीरसंबन्धात् सुखादीनां भोक्ता तथा परमेश्वरोपिस्यादेवेति पूर्वपक्षः । स्याल्लोकवदिति सिद्धान्तः । सिद्धान्तस्वरूपमेव विषदयति 'जीवस्य कर्मवश्यतये' त्यादि । अयमाशयः सुखादीनामुत्पत्तौ जीवात्मा समवायिकारणम्. जीवात्ममनसोर्योगोऽसमवायिकारणम् । धर्मादिकं शरीरंतु अवच्छेदकतया कारणं यतः शरीरावच्छिन्ने जीवे एव सुखाद्युत्पादात् ततश्च कारणसमुदायात्मकसामग्र्या कार्यं भवति नतु कारणसद्भावमात्रे । ततश्च परमात्मनि सुखासमवायिकारणमनः संयोगस्य तथा निमित्तकारणरूपस्यादृष्टस्याभावान्न भवति सुखाद्युत्पत्तिः परमेश्वरे सत्यपि शरीरसम्बन्धे । सत्यपि शरीरसंबन्धे, "द्वासुपर्णा सयुजा" इत्यादिमन्त्रे परमेश्वरे ऋतपानस्य प्रतिषेधात् समर्थनाच्च जीवे एवेति । अधिकंतु स्थलान्तरेद्रष्टव्यमितिदिक् । जीवोहि स्वकृत शुभाशुभकर्मणा प्रतिबद्धः शरीरमुपादत्ते शरीरयोगात् कर्मबलेन सुखादीनां भोक्ता भवति । परमात्मातु न कर्मपराधीनः, तस्मात्तस्य शरीरसंबन्धेपि न सुखाद्युपभोगाय । ननु परमात्मा सुखादिमान् शरीर

जिस तरह शरीरवान् जीव को शरीर सम्बन्धी सुख दुःख का भोग होता है । उसी तरह परमात्मा को भी सुखादी का भोक्तृत्व होगा क्योकि जीव शरीरी होने से सुखादिमान् है तद्वत् परमेश्वर को भी जीवादिलक्षण शरीरवान् होने से सुखादि का भोक्ता होना चाहिए इस प्रकार से पूर्वपक्ष होता है ।

इस पूर्वपक्ष के उतर में सिद्धान्तवादी कहते हे,""सिद्धान्तस्तु स्यादेव विभागो लोकवदिति । कार्य कारण में विभाग लोकवत् हो सकता है । अर्थात् यह जीवात्मा कर्म पराधीन है । शुभाशुभ कर्म द्वारा इसका शरीरके

सम्बन्धाज्जीववदित्यनुमानेन परेशस्यापि सुखाद्युपभोगः स्यादिति चेन्न प्रकृतानुमानेकर्मवष्यत्वस्योपाधेः सद्भावात् । यत्र यत्र सुखादिमत्वं तत्र तत्र कर्मवश्यत्वं यथा जोवे इति साध्यव्यापकता, यत्र च शरोरसंबन्धः परमेश्वरे नित्यमुक्तेवा तत्र न कर्मवश्यतेति साधना व्यापकतया सोपाधिकत्वेन शरीरसंबन्धादिति हेतोर्व्याप्यत्वासिद्धत्वेन साधकत्वाभावात् । एतत्सर्वमनसिकृत्य वृत्तिकारः प्राह, "कर्मवश्यत्वप्रयुक्तमि" त्यादि । जीवे यत् सुखादिभोक्तृत्वं तत् कर्माधीनम्, नतु शरीरसंबन्धाधीनं शरीरसंबन्धस्य व्यभिचरितत्वात्, सत्यपि शरीरसंबन्धे साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वस्यैव व्यभिचार रूपत्वात् । यथावा लोके मृत्पिण्डघटयोः सत्यपितादात्म्ये न घटकार्य जलाहरणादिजनकत्वं मृत्पिण्डस्य । नहि पटकार्यं प्रावरणकर्तृत्वं तन्तूनाम् । तथा परमेश्वरविशेषणजीवकार्यं सुखादिकं न परमेश्वरे समवैति । एवं, "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति. अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" "न

साथ सम्बन्ध होता है । इसलिए सुखदुःखादिका उपभोक्ता जीव होता है सुखदुःखादिका समवायि कारण शरीरावच्छिन्न जीव है । असमवायि कारण जीवमनः संयोग होता है अदृष्ट पुण्यापुण्य ईश्वरेच्छादिक तथा अवच्छेदकता सम्बन्ध से शरीरादिक निमित्त कारण होता है । तो कर्माधीन शरीरावच्छिन्न होने से जीव में सुखादिक का भोग होता है परन्तु परमात्मा तो कर्म पराधीन नहीं है । प्रत्युत कर्म का भी नियन्त्रण करनेवाले है अतः परमेश्वर को केवल शरीर योग होने पर भी भोक्तृत्व को आपत्ति नहीं होती है सुखदुःखादिक के भोक्तृत्व में कर्मवश्यता प्रयोजक है केवल शरीर सम्बन्ध ही प्रयोजक नहीं है । स्वावच्छिन्न भोग्यत्व सम्बन्ध से शरीरयोग भोग का प्रयोजक होता है केवल शरीरसम्बन्ध भोगकाप्रयोजक नही है ॥१४ ।

॥ अथारम्भणाधिकरणम् ॥६॥

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।२।१।१५।

किं ब्रह्मणस्तत्कार्यभूतं जगदन्यदुतानन्यदिति संशयः । तत्र कार्यकारणयोर्बुद्धेर्भेदान्मृद्द्रव्यं कारणं घटः कार्यमितिशब्दभेदाच्चान्यदेव ब्रह्मणो जगदिति पूर्वः पक्षः । अत्राभिधीयते—"वाचारम्भणं

लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" इत्यादि श्रुतयः परमेश्वरस्य सुखादिभोगं वारयन्ति । तस्मात्सन्त्यपि जीवपरयोस्तादात्म्ये परमेश्वरस्य सुखादि भोगो न जायते शुभाशुभकर्माभावात् । विशेषतस्तु भाष्ये द्रष्टव्यः । ॥१४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्री रघुवरीयवृत्तिविवरणे भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ॥५॥

विवरणम्—कारणात् कार्यंभिद्यत इत्येकं मतं यथा कारणात् कपालतत्संयोगदण्डादिभ्यो जायमानघटात्मककार्यस्य भेददर्शनात् । कारणात्कार्यं नभिद्यतेऽपित्वभिन्नमेव यथा सुवर्णाज्जायमानकटककुण्डलादेरभेददर्शनात् । अत एव सौवर्णो घट इति सामानाधिकरण्यव्यपदेशोलोकसिद्धः । तदिह ब्रह्मणः कारणात् जायमानमिदं जड़जङ्गमात्मकं

सारबोधिनी— सर्व जगत् का कारणरूप जो ब्रह्म है, उस परमेश्वर से जायमान जड़ात्मक कार्य उससे भिन्न है, अथवा अभिन्न क्योंकि नैयायिक कार्यकारण में भेद मनाते हैं और सांख्यवादी कार्यकाण में अभेद मानते हैं । तो प्रकृत में वादियों को विप्रतिपत्ति से संशय होता है कि कार्यकारण जगत् परमेश्वर में भेद है, अथवा अभेद । उसमें कारण रूप ब्रह्म से कार्य रूप जगत् भिन्न है । क्योंकि ज्ञान शक्ति वलवीर्य समवचित आनन्दमय ब्रह्म का अज्ञत्वानीशत्व कर्मपराधीनत्वादि गुणविशिष्ट जगत् से भेद प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध है । यह पूर्व पक्ष है । इसके उत्तर में कहते हैं कि कार्य कारण में अभेद है क्योंकि, "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्यादि श्रुतिवाक्यों से परब्रह्म रूप कारण तथा

विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" [छा० ६।२।१] "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" [छा० ६।८।७।] "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति" [छा० ३।१४।१।] इत्यादि श्रुतिशब्देभ्यः कारणाद्

जगत्कारणेन ब्रह्मणाभिन्नमभिन्नंवेति संशयः दण्डघटयोर्भेददर्शनात्परमेश्वराज्जायमानं जगदभिन्नमेवेति प्रथम पक्षः। मृद्घट इति सामानाधिकरण्यव्यपदेशात् 'ऐतदात्म्यमिति' श्रुतेश्च ब्रह्मजगतोर्भेद एवेति सिद्धान्तपक्षं दर्शयितुमारंभणाधिकरणमुपक्रमन्नाह. "किं ब्रह्मणस्तत्कार्यभूत" मित्यादि। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि श्रुतिसिद्धकारणीभूतब्रह्मणः कार्यभूतजडचेतनात्मकं जगत्कारणात्परमेश्वराद्भिन्नमभिन्नं वा उभयथापि दर्शनात्। क्वचित्तु कारणात् पृथग्भूतमिवकार्यं क्वचित्त्वपृथग्भूतमिति। ततश्चनिर्णायकस्याभावात्संशयोजायते इति। तत्र शब्दबुद्धिकार्यादीनां वस्तुभेदसाधकत्त्वं भवति। यथा घट इति ज्ञानशब्दौ घटमन्येभ्योव्यावर्तयतः। एवं

कार्य जगत् में अनन्यत्व सिद्ध होता है। इत्यादि आशय को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं, "किं ब्रह्मणस्तत्कार्यभूत" मित्यादि। ब्रह्मणः कार्यभूतं परमात्मा सर्वेश्वर का कार्य स्वरूप जो स्थावर जङ्गम जगत् है वह अशेष शरीरी परमात्मा से अन्य भिन्न है अर्थात कारणापेक्षया भिन्न है अथवा परमात्मा से अनन्य अभिन्न। कार्य जगत् तथा कारण परमेश्वर में अभेद है, एतादृश संशय होता है। क्योंकि अनेकोंवादी कार्यकारण में भेद मानते हैं तथा कोई-कोई कार्यकारण में अभेद मानते हैं। तो प्रकृत में संदेह होता है कि उपादानोपादेय में भेद है अथवा अभेद है? उसमें ज्ञान शब्द का भेद वस्तु भेद का नियामक होता है। जैसे घट इत्याकारक ज्ञान तथा शब्द घट का इतर से भेद का संपादक होता है। इसी तरह प्रकृत में कारण ब्रह्म तद्विषयक ज्ञान तथा तद्विषयक शब्द के भिन्न होने से कारण तथा कार्य को भिन्न करता

ब्रह्मणः कार्यभूतस्य जगतोऽनन्यत्वम् । बुद्धिशब्दान्तरादीनान्तु कारण-स्यैवावस्थान्तरापत्या सुतरामुपपत्तिः । अतः कारणाद् ब्रह्मणो जगद-नन्यदिति ॥१५॥

घटस्य जलाहरणं कार्यं मृदश्चततोभिन्नं कार्यमितिकार्यभेदान्मृद्घटयो र्भेदः । एवं ज्ञानशक्तिबलवीर्यादिसमन्वितपरमेश्वररूपकारणात् अज्ञत्व-जडत्वकर्मवश्यत्वादिधर्मवतोजगतो भेंदावगमात्. कारणरूपपरमेश्वरा-द्भिन्नमेव जगत्कार्यम्. द्वयोरेकरूपत्वे कार्यकारणभावएवव्याहन्येतेतिपूर्व-पक्षः । अत्राभिधीयते--तयोः कार्यकारणयो र्जगत्परमेश्वरयोरनन्यत्वं तादात्म्यमेव, कुतः ? आरंभणशब्दादिभ्योहेतुभ्यः । तथाहि "विकारः कार्यं वाचारंभणं वागालंबनं सत्यंपारमार्थिकंतु मृत्तिकैव अर्थात् कारणं सत् कार्यं तु न ततो भिन्नमपित्वभिन्नमेव कार्यावस्थायामपि कारणस्यान्वयदर्शनात्" "इदं परिदृश्यमानं सर्वं कार्यजातम् परमा-त्मतादात्म्यात्सत्यमेव" सर्वं परिदृश्यमानं जगत ब्रह्म तत्तादा है । अतः कारण भूत द्रव्य तथा कार्य घट एतादृश ज्ञान कार्य के भेद होने से कारण रूप ब्रह्म से कार्यरूप जगत् भिन्न है ऐसा पूर्वपक्ष होता है । उत्तर में कहते हैं, "अत्राभिधीयते" यह विकार नाम रूप विभागापन्न घटादिक कार्य केवल वागालम्बन मात्र है । सत्य तो केवल मृत्तिकादिरूप कारण द्रव्य है, "एवम्" परमात्म स्वरूप ये सब कार्य है वह परमात्मा सत्य है" ये सब पदार्थ ब्रह्म रूप हैं, ब्रह्म से उत्पन्न होता है, ब्रह्म में अवस्थित है, और प्रलयकाल में ब्रह्म में लीन हो जाता है ।" इत्यादि श्रुति से कारण ब्रह्म से कार्यभूत जो जगत् है वह अनन्य अभिन्न है यह सिद्ध होता है । ज्ञान शब्दादिक का जो भेद है उससे अवस्थान्तर को प्राप्त किया हुआ कारण मात्र विषयक होने से सर्वथा समुपपन्न है । अर्थात कारण द्रव्य ही अस्थान्तर को प्राप्त करके कार्य पद से वाच्य होता

त्म्यापन्नमेव. तेन जायमानत्वात् तस्मिन् स्थितत्वात् प्रतिसर्गे तत्रैव-लीयमानत्वाच्च" इत्यादिश्रुतिभ्यः कारणरूपपरमेश्वरात् कार्यभूतं जगत् अनन्यमेव। अन्यथा गवाश्ववत् कार्यकारणयोः सामानाधिकरण्यं न स्यात्। बुद्धिशब्दादयोपि नैकान्तिकं कार्यकारणयोर्भेदमापादयन्ति। एकस्यैवावस्थाभेदेनानेकत्वव्यवहारसंभवात्। यथा एक एव देवदत्तोऽवस्थादिभेदेनबालोयुवावृद्धवदान्यपण्डित इत्यादिव्यवहारभाग्भवति, तथैकमेव कारणमिहाप्यवस्थादिभेदेनानेकव्यवहारभाग्भवतीति सिद्धं-कार्यकारणयोरनन्यत्वमिति। अत्राहुर्भगवद्भाष्यकाराः "अत्रेदंतत्वम् चिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारंब्रह्मैव सर्वदासर्वशब्दाभिधेयम्। तत्कदा-चित्स्वस्मात्स्वशरीरतयापिपृथग्व्यपदेशानर्हसूक्ष्मदशापन्नचिदचिद्वस्तुश-रीरंतत्कारणावस्थंब्रह्म। कदाचिच्चविभक्तनामरूपव्यवहारार्हस्थूलदशा-पन्नचिदचिद्वस्तु शरीरम्। तच्चकार्यावस्थमितिकारणात्परस्माद्ब्रह्मणः कार्यरूपं जगदनन्यच्छरीरभूतचिदचिद्वस्तुनः शरीरिणो ब्रह्मणश्च कारणावस्थायां कार्यावस्थायाञ्च श्रुतिशतसिद्धया स्वभावव्यवस्थया च

है। व्याप्य धर्म से कथञ्चित् भेद का प्रतिभास होने पर अन्वयोकारण-गत सामान्य धर्म द्वारा तो सर्वथा अभेद ही है। घटत्वादिक धर्म से भेद होने पर भी द्रव्यत्वेन सजातीयत्व है ही। एतादृश साजात्य हीं कार्यकारण भावोपयोगी होता है। सर्वथा साजात्य तो कार्यकारण भाव का विरोधी है। अतः कारणभूत ब्रह्म से अनन्य कार्यभूत जगत् है। नाम रूप विभागानर्ह सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट कारणावस्थ परमात्मा जगत् का कारण कहलाते हैं। तथा वही परमात्मा विभागार्ह नामरूपोपाधिविशिष्ट स्थूल चिदचित् शरीरक कार्य होते हैं। इसलिए कारण तथा कार्यपदवाच्य ब्रह्म ही है। विशेषणांश में भेद होने पर भी विशेष्यांश में तो सर्वदा सर्वथा अभेद है। अतः कारण तथा कार्य में अनन्यत्व व्यवहार है। क्योंकि विशेषणांश को लेकर के कार्यकारण भाव होता है ॥१५॥

भावे चोपलब्धेः ।२।१।१६।

कटकादिकार्यभावेऽपि "तदेवेदं सुवर्णम्" इति व्यवहारात्तदव-स्थायामपि कारणस्योपलब्धेश्चानन्यत्वं कारणभूताद्ब्रह्मणः कार्यस्य जगतः ॥१६॥

गुणदोषव्यवस्था "नतु दृष्टान्तभावा" दितिसूत्रोक्ताबोध्येति सर्वम-वदातम्" इति ॥१५॥

विवरणम्— नामरूपतयाविभागार्हे कार्यावस्थायामपि कारणाभिम-तसुवर्णादिद्रव्यस्य सद्भावदर्शनात्कारणादनन्यत्वं कार्यस्य सुस्थिरं भव-ति । यदि कारणादत्यन्तभिन्नं भवेत्कार्यं तदाकार्यावस्थायां कारण द्रव्यं नोपलभ्येत. परन्तु कटककुण्डलात्मककार्यसद्भावकालेऽपि तदेवेदं सुवर्णमिति प्रत्यभिज्ञानदर्शनेन कार्यकारणयोरनन्यत्वं सिद्धं भवतीति दर्शयितुमुपक्रमते कटकादित्यादि । सुवर्णजनितकटककुण्डलादि सद्भा-वदशायामपि कारणद्रव्यस्य सुवर्णस्य "तदेवेदं सुवर्णम्" इति प्रत्यभिज्ञानदर्शनात् कारणादभेदः कार्यस्य सिद्ध्यति । यदि कार्य तदुपादानयोर्भेदः स्यात् तदाभेदस्य विद्यमानत्वेनाभेदप्रतिपादकप्रत्य-भिज्ञा न स्यात् । तस्मात् कार्यकालेऽपि कारणस्योपलभ्यमान-त्वात्तदुभययोरभेद एव सिद्धो भवति नतु तयोः कार्यकारणयोर्भेदः ।

सारबोधिनी— कार्य के सद्भाव काल में भी कारण की उपलब्धि होती है, इसलिये स्वकाल में स्वकारणोपलब्धि रूप हेतु से भी सिद्ध होता है कि कारण से अनन्य कार्य है । इस बात को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं, "कटकादि कार्यभावेपी" त्यादि" सुवर्ण रूप कारण से जायमान जो कटककुण्डलादिक कार्य है तादृश कार्य के स्थिति काल में भी, "वही यह सुवर्ण है" एतादृश व्यवहार होने से तदवस्था में अर्थात् कार्य के स्थिति काल में भी कारणीभूत सुवर्ण द्रव्य की उपलब्धि होती है । इसलिए सुवर्णादि कारण तथा कटक

सत्वाच्चावरस्य ।२।१।१७।

अवरस्य कटकादेस्तदुत्पत्तेः प्रागपि सुवर्णादौ सत्वादनन्यत्वं तद्वदेव कार्यस्य जगतोऽपि कारणभूताद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वमेव ॥१७॥

इत्येवमेव कारणात्परमात्मनः कार्यस्य जगतोऽनन्यत्वं भवति नतु कथमपि भेदः । कार्यस्य खलु एष स्वभावो यत् उत्पत्तेः पूर्वं स्थिति समये प्रलयकाले च स्वोपादानसापेक्षं भवति, यथा घटः स्वोत्पत्तेः पूर्वं कपालमपेक्षते स्वस्थिति कालेऽपि कपालापेक्षोभवति. प्रलये च कपाल-मपेक्षते एव । तथैव, "यता वा इमानि भूतानि" इत्यादिश्रुत्या जगत् त्रिकालेपि परमात्मनोऽपेक्षां कुर्वत् परमात्मनाऽनन्यत्वमात्मनः स्थिरीकरोतीति भवत्येव कार्यकारणयोरनन्यत्वमिति संक्षेपः ॥१६॥

विवरणम्— प्रागभावप्रतियोगिनो घटादेः कारणादुत्तरकालिकस्य घटाद्युत्पत्तेः प्रागपिसत्वात्. यदिस्वोत्पत्तेः पूर्वं मृत्तिकादौ घटादिर्न-भवेत्तदासिकतास्ववर्तमानं तैलं यथा सिकतासुनोत्पद्यते तथास्वोत्पत्तेः पूर्वं यदिघटो नभवेन्मृत्तिकादौ तदा मृत्तिकातो घटोनजायेत, दृश्यते च कुण्डलादि कार्य में अनन्यत्व अभेद सिद्ध होता है । इसी तरह कारण जो परमात्मा उसकी उपलब्धि जगत् के स्थिति काल में भी हो रही है । इसलिए कारण परमात्मा के साथ कार्य जगत का अनन्यत्व सिद्ध होता है श्रुति भी कहती है, "हे सोम्य ! ये सब प्रजा अर्थात् जायमान सब चिदचिदात्मक कार्यवर्ग सन्मूलक परमात्म कारणक है । सदायतन तथा सत्प्रतिष्ठ है । अर्थात् सब कार्य का उत्पतिस्थिति प्रलय परमात्मा में ही होता है । अतः कारणरूप परमात्मा के साथ कार्य जगत् का अनन्यत्व सिद्ध होता है ॥१६॥

सारबोधिनी— इस वक्ष्यमाण हेतु से भी सिद्ध होता है कि कार्य जगत् तथा कारण रूप परमात्मा से अनन्य अभिन्न है । इस वस्तु को व्यवस्थित करने के लिए सूत्र का व्याख्यान करते हुए उपक्रम करते हैं,

मृत्तिकातोघटोत्पत्तिरत उत्पत्तेः पूर्वमपिघटः स्वकारणे विद्यते एव । न च तदाकारणव्यापरोनिरर्थकः, तिलेविद्यमानस्य तैलस्यपीड़नेनाविर्भाववत् कुलालचक्रादिव्यापारेण घटादिकार्यस्याविर्भावात् । नचाविर्भावस्यपूर्वसत्वे कारणव्यापारो निरर्थक इति वाच्यम्, उत्पत्तिपक्षेऽपि तादृशानवस्थादोषस्य समानत्वात् । तस्मात् स्वोत्पत्तेः पूर्वमपि कार्यस्य कारणे वर्त्तमानत्वात्कारणानन्यत्वं कार्यस्य सिद्ध्यतीत्याशयेनाह "अवरस्येत्यादि" अवरस्योपादानादुत्तरकालिकस्य प्रागभावप्रतियोगिनः कटककुण्डलादेः स्वोत्पत्तेरनन्तरं यथा सुवर्णादिकारणेसद्भावस्तथैवस्वोत्पत्तेः प्रागपि सुवर्णमृत्तिकादिकारणद्रव्ये सत्वात् विद्यमानत्वे नानन्यत्वं तथैव स्थावरजङ्गमादि सकलकार्यवर्गस्य जगतोऽपि कारणभूताद्ब्रह्मणः परमेश्वरादनन्यत्वमेव भवतीति । यत्र कारणकार्ययोर्गुरुत्वान्तरस्यपार्थक्यं न भवेत् । किन्तु समानपरिमाणवत्वं भवेत्तदा तयोरभेद एव भवति । यथा सुवर्णे, यावानेव परिमाणस्तावानेव तज्जनितकटकादेरपि भवति ततोद्वयोरेकत्वं तथैव प्रकृते कार्यजगत् परमात्मनोरनन्यत्वमेवेति संक्षेपः ॥१७॥

"अवरस्यकटकादे"रित्यादि ।' कारणीभूत सुवर्णादि द्रव्यापेक्षया उत्तरकालिक प्रागभाव प्रतियोगी जो कटक कुण्डलादिक है, उसका कटक कुण्डलादिक के उत्पत्ति के पूर्वकाल में भी स्वकारणीभूत सुवर्णादिक द्रव्य में सत्ता विद्यमानता होने से जिस तरह सुवर्ण तथा कटकादि कार्य में अनन्यता है उसी तरह कार्य स्थूल जड़चेतन साधारण जगत् भी कारण रूप जो परब्रह्म परमात्मा उससे अनन्यत्व ही है । कार्य कारण में अभेद है । क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व में भी कार्यकारण में रहता है । जो जिसमें रहता है उससे ही उसका पादुर्भाव होता है जैसे तिल में वर्तमान तेल । जो जिसमें नहीं रहता है उससे उसका प्रादुर्भाव नहीं होता है, जैसे सिकता—रेती से तेल । ब्रह्म से जगत् प्रादुर्भूत होता है इसलिए ब्रह्मसे अनन्य जगत् है ॥१७॥

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ।२।१।१८।

यदुक्तं कारणे कार्यस्य प्रागपि सत्त्वमस्ति । तदयुक्तम् । "असदेवेदमग्र आसीत्" [छा०६।२।१।] इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत् [यजुः] इत्यादिश्रुतिभिः कार्यस्यासत्त्वव्यपदेशादिति चेन्न, तदानीं

विवरणम्– ननुकारणे कार्यं स्वोत्पत्तेः प्रागपि विद्यते एवेति पूर्वसूत्रे यत् कथितं तन्नयुक्तं युक्तिश्रुतिविरोधात्। युक्तिस्तावत्. यदि कार्योत्पत्तेः प्रागपि कार्यस्य सत्त्वं तदा घटार्थिनोघटार्थकारणव्यापारो निरर्थक एवस्यात्. नहि घटस्य सत्त्वे तदर्थं कारणव्यापारः फलवानिवस्यात् । नहि कृतस्य करणं भवति । श्रुतिरपि प्रतिपादयति, "असदेवेदमग्रे आसीदित्यादिका । घटोत्पत्तेः पूर्वं घटस्य सत्त्वं निवार्यतस्यासत्त्वमेन प्रतिपादयतीतोमांशङ्कां निराकृत्य सद्वादव्यवस्थापनाय प्रक्रमते, "यदुक्तं कारणेकार्यस्येत्यादि" पूर्वसूत्रेण कारणे कार्योत्पत्तेः

सारबोधिनी– "सत्वाच्चावरस्य" इत्यादि सूत्र से बतलाया गया कि उत्पत्ति के पूर्व में भी कारण में कार्य का सद्भाव है अर्थात् सत् कार्य हैं । परन्तु यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि, "असदेवेदमग्रे" इत्यादि श्रुति में बतलाया है कि जायमान निखिल कार्य उत्पत्ति के पूर्व में असत था और श्रुति ही तो अतीन्द्रियार्थ में प्रमाण है । तथा युक्ति भी है कि यदि उत्पत्ति के पूर्व में पदार्थ था ही तब कारण व्यापार की क्या आवश्यकता है । और जिस तरह अभी चक्षुरादि इन्द्रिय वेद्य होता है, उसी तरह पूर्व में भी इन्द्रियादि वेद्य होना चाहिए परन्तु होता नहीं हैं, इसलिए यह सिद्ध होता है कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व में असत् था । अतः "सत्वाच्चावरस्य" एतत् सूत्र प्रदर्शित हेतु असिद्ध है । इस शङ्का का उपपादन पूर्वक निराकरण करने के लिए उपक्रम करते है, "यदुक्तंकारणे कार्यस्य प्रागपी" त्यादि ।' पूर्व सूत्र में

कार्यस्य सूक्ष्मावस्थारूपधर्मान्तरेण युक्तत्वादसदितिव्यपदेशः । नत्व-त्यन्तासत्व एव कार्यस्य तथा व्यपदेशः । एतच्च वाक्यशेषाद-वगम्यते । "तस्मादसतः सज्जायते" [छा०६।२।१।] "ततो वै सदजायत तदात्मानं स्वयमकुरुत [तै०२७] इति समानप्रकरणे वाक्य-

---

प्रागपि समुत्पद्यमानकार्यस्य सत्ताविद्यते इति यत् प्रतिपादितं तन्न-समीचीनम् । "इदं परिदृश्यमानंजगत्कार्यजातम्. अग्रे समुत्पत्तेः पूर्व-मसदेवासीत्"तथा अग्रे उत्पत्तेः पूर्वम् इदं परिदृश्यमानं किमपि-नासीत्" इत्यादिश्रुत्या. तथा, "यद्युत्पत्तेः पूर्वमपिकार्यं सदेव भवेत् तदा कारणव्यापारोनिरर्थक एवापततीत्यादियुक्त्याच कार्यस्यासत्त्वकथ-नात् पूर्वमपि कार्यं सदिति नशोभनमिति प्रश्नः । उत्तरयति, "इति चेन्न धर्मान्तरेण" इत्यादि । "असदेवेदमग्रे" इत्यादि श्रुतेर्नाय-मर्थोयत् उत्पत्तेः पूर्वं कार्यं नैवासीदिति किन्तु यथा थितिकाले कार्यं घटादिकं विभक्तनामरूपापन्नं व्यवहारविषयतां स्वीकरोति न तथा व्यवहारविषय उत्पत्तेः पूर्वमासीत्, अन्यथा कथमभावेन सह

जो कहा है कि घटादि के उत्पत्ति के पूर्व में भी कारण मृत्तिका-दिक में घटादि कार्य की सत्ता रहती है यह ठीक नहीं है, क्योंकि "यह परिदृश्यमान स्थावर जङ्गमात्मक स्थूल नाम रूपव्याकृत तत्तदर्थ क्रिया कार्य में समर्थ जगत् है वह स्वोत्पत्ति के पूर्वकाल में कारण काल में कारण लक्षण देश में असत् रूप में था ।" इत्यादि श्रुतियों में उत्पत्ति के पूर्व में कार्य के असत्व का प्रतिपादन किया गया है । इसके उत्तर में वृत्तिकार कहते हैं, "इति चेन्न" उत्तर पक्ष का उपपादन करते हैं "तदानीमीत्यादि" धर्मान्तर से उत्पत्ति के पूर्व में कार्य के असत् का व्यवहार होता है । अर्थात कार्य की दो प्रकार की अवस्था है—एक तो कार्यावस्था तथा कारणावस्था । उसमें नामरूपव्याकृतविभागार्ह जो अवस्था उसको कार्यावस्था कहते है ।

शेषान्नात्यन्तासत्वं कार्यस्याभिधीयते । नहि तादृशाऽसतः सृष्टि सम्भवति । तस्मादत्रासत्पदेनाऽव्याकृतनामरूपतयाऽव्यपदेश्या सूक्ष्मावस्था प्रोच्यते ॥१८॥

आसीदिति क्रियाया अन्वयः स्यात् । नहि असतोः सदसतोर्वा भवति सम्बन्धः किन्तु सतासतः संबन्धो भवति । तस्मादुत्पत्तेः पूर्वं सर्वथैव कार्यस्यासत्त्वमिति न किन्तु असत् पदेनाव्यक्तावस्था कार्यस्य प्रतिपादिता भवति श्रुत्या । अन्यथा अग्रे असतः सकाशात् सतः श्रूयमाणा सृष्टिः कथं घटेत ? नहि अभावादभावस्योत्पत्ति र्दृष्टाश्रुता समुपपद्यते वा । तस्मात् वाक्यशेषात्, "ततो वै सदजायत" इत्यादि समानप्रकरणस्थवाक्यशेषबलेन निश्चीयते. यत् न भवति. असतोऽभावादुत्पत्तिरसतः किन्तु सति विद्यमानमेव सूक्ष्मावस्थं कार्यकारण व्यापारात्पूर्वं कारणेऽवस्थितं कारणव्यापारेणाभिव्यक्तं भवति नत्वसत उत्पतिरुत्पादकं वा असत् । सृष्टेपूर्वमिदं कार्यजातं सूक्ष्मावस्थमासी

और नाम रूप से अव्याकृत विभागानर्ह अवस्था को कारणावस्था कहते हैं, अर्थात् सूक्ष्मावस्था । इस समय में स्वस्वरूप से कार्य दृष्टिगोचर नहीं होता है । तो उस समय उत्पत्यवस्था से पूर्व में सूक्ष्मावस्था रूपधर्म द्वारा कार्य का असत् शब्द से व्यवहार होता है और उत्पत्ति के बाद स्थूलावस्था रूप धर्म द्वारा सत्त्व व्यवहार का योग्य होता है । श्रुति में असत् शब्द से जो कार्य का कथन हैं वह सूक्ष्मावस्था के अभिप्राय से हैं । ननु वन्ध्यापुत्रवत् असत्वाभिप्राय से कारण में कार्य का असत्व व्यवहार है । क्योंकि वाक्य शेष से यह जाना जाता है । इसलिए "असत् से सत् होता है" तदनन्तर असत् से सत् उत्पन्न हुआ "उसने अपने आत्मा को स्वयं बनाया" इत्यादि समान प्रकरण में वाक्य शेष से कार्य का असत्त्व नहीं कहा गया है । एतादृश असत् से सर्ग होना असंभवित है । इसलिए यहाँ असत्पद से अव्याकृत नामरूपक व्यव-

युक्तेः शब्दान्तराच्च ।२।१।१९।

असतः सदुत्पत्तौ कारणसामग्र्यभावेऽपि कार्योत्पत्तिर्जायतामसत्वाविशेषान्नत्वेवं दृश्यते । तस्मादसच्छब्दः सूक्ष्मावस्थापर एव । सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" [छा०६।२।१।] इति शब्दान्तराच्च कारणे कार्यस्य सूक्ष्मतयावस्थानमित्यवगम्यते ॥१९॥

त्तदेव तदा असत्पदेन व्यपदिश्यमानं भवति । नतु वन्ध्यापुत्रवदुत्पन्नमसदासीदिति पूर्वापरप्रकरणपर्यालोचनेन ज्ञायते इतिदिक् ॥१८॥

विवरणम्—"असदेवेदमग्रे आसीत्" इत्यत्रासत् शब्दोनाभावपरकोऽपितु कार्यस्य सूक्ष्मावस्थापरक एव. तत्र युक्तेः सद्भावात् । युक्तिस्तावत्. अभावात् कार्योत्पत्तिस्वीकारे अभावस्य सर्वत्रसुभत्वात् सर्वकार्यं सर्वत्र भवेत् ततो घटात्पटो गोधूमादपिचणकः स्यात् । नत्वेवं दृश्यते तस्मात् नासतः सज्जायतेऽपितु सत एव जायते सदिति । तथा, "सदेव सोम्येदमग्रे" इति शब्दान्तरादपि कार्यस्य सूक्ष्मतयाऽवस्थानं साधयतीति दर्शयितुमुपक्रमते, "असतः सदुत्पत्तौ" इत्यादि।

हारानर्ह सूक्ष्मावस्था ही कही जाती है । इस अभिप्राय से श्रुति में असत्पद का प्रयोग है । नतु अत्यन्तासत्वाभिप्राय से असत् पद का प्रयोग है ॥१८॥

सारबोधिनी—"असदेवेदमग्रे" इत्यादि श्रुति से असत् का प्रतिपादन होने से बौद्धाभिमत असत्कार्यवाद सूत्रकारादि संमत है ऐसा जो कहते हैं, उसका निराकरण करने के लिए कहते हैं "युक्तेः शब्दान्तरादित्यादि ।' असदात्मक कारण से सत्पदार्थ की उत्पत्ति होती है । इसका अर्थ होता है कि अभाव रूप कारण से घटपटादि भावात्मक कार्य की उत्पत्ति, ऐसा मानेंगे तब तो अभावात्मक जो कारण वह तो सर्वत्र समान है। तब सब कार्य की उत्पत्ति सर्वत्र होगी, तब घटार्थी नियमतः कपालादि कारण का अन्वेषण करता है वह निरर्थक हो जायगा । तथा अभाव

पटवच्च ।२।१।२०।

यथा तन्तव एव विलक्षणसंयोगवन्तः पट इति कार्यावस्थां दधते । एवं सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकं ब्रह्मापि जगद्रूपकार्यत्वं धत्ते ॥२०॥

असतः शकाशात् सदुत्पत्तिस्वीकारे अर्थात् अभावात्सदुत्पत्तिः स्यात्तदा अभावरूपकारणस्य सर्वत्र सुलभत्वात् सर्वत्र सदासर्वकार्योत्पादः स्यात्, तथा च कृषिकार्यायाप्रयतमानोपि कृषीवलः कृषिफलं प्राप्नुयात् । स्वर्गकामश्च यागादिकरणमन्तरेणापि स्वर्गफलं प्राप्नुयात् । परन्तु नैवं लोके दृश्यते सर्वोपि तत्तत्कार्यतत्तत्कारणफलमन्वेषयति । तस्मात् श्रुतिघटकमसत्पदं नाभावबोधकमपितु कार्यस्य सूक्ष्मावस्थामेव बोधयति नेतरम् । एवं. "सदेवसोम्येत्यादि" श्रुत्यन्तरमपि कारणीभूतमृत्पिण्डादौ भविष्यत्कार्यस्य सूक्ष्मतयाऽवस्थानमेव गमयति । नत्वसतः सकाशात्सदुत्पत्तिं वर्णयति । ततश्च युक्तेः शब्दान्तरादपि सत्कार्यवाद एव व्यवस्थापितो भवति. नत्वसत्कार्यवाद इति । एवम्, असतोः सदसतोश्च क्रियायामन्वयाभावान्नासद्वाद इति ॥१९॥

का सर्वत्र सुलभ होने से सर्व कार्य सर्वत्र होगा । परन्तु ऐसा तो देखने में नहीं आता है, नवा उपपन्न होता है । इसलिए असत् शब्द कार्य के सूक्ष्मावस्था का बोधक है । अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व में कार्य असत् था, इसका अर्थ यह हैं कि नामरूप विभागानर्ह सूक्ष्मावस्थापन्न कार्य था नतु असदात्मक था । इस प्रकार युक्ति से यह सिद्ध होता है कि कारण में उत्पत्ति के पूर्व में सूक्ष्मावस्थापन्न होकर के कार्य रहता है । नतु कार्य का अत्यन्तासत्त्व है एवं, "सदेव सोम्येदम्" इस शब्दान्तर से भी सिद्ध होता है कि कारण मृत्कपालादिक में सूक्ष्म रूप से कार्य का अवस्थान है । इसलिए सत्कार्यवाद ही श्रुति सूत्राभिमत है असत्कार्यवाद नहीं ॥१९॥

विवरणम्–यथा सुवर्णद्रव्यं विलक्षणावस्थान्तरमापद्यमानं कटक कुण्डलादिसंज्ञांलभते न तत्र द्रव्ये कश्चिदपिभेदो भवति. यथावा तन्तव आतानवितानवन्तो विलक्षणसंयोगसहकृताः सन्तः पट इति व्यवहारं लभन्ते तथैव सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकं परब्रह्मैव स्थूलचिदचिच्छरीरकं सत् जगदित्याख्यां लभते। तत्रावस्थाविशेषे एव भेदो जायते नतु तादृशावस्थावति भेद इत्याशयेनाह– 'पटवदि'त्यादि। यथेति दृष्टान्तप्रदर्शनपरकम्। येन प्रकारेण तन्तवः पटोपादानभूता आतमन वितानवन्तो विलक्षणसंयोगसहकृताः सन्तस्त एव तन्तवः पट इति कार्यावस्थामनुभवन्तीति दृश्यते, तत्र तन्तुव्यतिरिक्तान्यत् किमपिवस्त्वन्तरं न भवति। एवं सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकं परब्रह्मैव स्थूलाद्यवस्थाविशेषान्तरमापद्यमानं जगदिति व्यवहारभाग्भवति परञ्च न तत्र ब्रह्मव्यतिरिक्तं किमपिवस्त्वन्तरमिति समुदितार्थः ॥२०॥

सारबोधिनी–जिस प्रकार से सुवर्ण द्रव्य विशेष कटक कुण्डकादि विशेषावस्था को प्राप्त करके कटक कुण्डल कहलाता है। यथावा मृत्तिका विलक्षणावस्थान्तर को प्राप्त करके घट इत्यादि व्यवहारास्पद होता है उसी तरह सूक्ष्म चिदचिच्छरीरक परब्रह्म विशेषवदवस्थान्तर स्थूलचिदचिच्छरीरक होता हुआ जगत् इत्याकारक व्यवहारास्पद होता है। अतः वह ब्रह्म व्यक्तिरिक्त नहीं इस बात को बतलाने के लिए सूत्र व्याख्यान मुख से उपक्रम करते हैं, "यथावा तन्तवः" इत्यादि। जिस तरह तन्तुओं का समुदाय ही विलक्षण तन्तु प्रतियोगिक अपर तन्तु अनुयोगिक संयोग सहकृत होकर पट रूप कार्यावस्था को प्राप्त करता है। किन्तु तन्तु से भिन्न पट कुछ भी वस्तु नहीं है। इसी प्रकार सूक्ष्म चिदचित् शरीरक परब्रह्म ही स्थूल चिदचिच्छरीरक जगत् रूप कार्यावस्था को प्राप्त करता है। ब्रह्म व्यक्तिरिक्त कोई भी वस्तु नहीं है। ॥२०॥

यथा च प्राणादिः ।२।१।२१

यथा चैक एव वायुः प्राणापानादिनामरूपकार्यवान् भवति तथा ब्रह्मापि । तस्माद्ब्रह्मानन्यत्वं जगतस्सिद्धम् ॥२१॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावारम्भणाधिकरणम् ॥६॥

विवरणम्—यथा शरीराभ्यन्तरसंचारी एकएव वायुर्मुखनासिनादिभ्यां सञ्चरन् तत्तत्स्थानभेदात्तत्तत्कार्यभेदात्प्राणापानसमानव्यानोदान संज्ञां लभते वस्तुतस्त्वेक एव नतु वायौ मूलतो भेदस्तथैव सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकं ब्रह्मापि स्थूलचिदचिच्छरीरं धारयत् स्थावरजङ्गमात्मकजगदित्याख्यां लभते. इति कार्यकारणयोर्जगद्ब्रह्मणोरनन्यत्वं सिद्धं भवति । नतु कार्यकारणयोरत्र भेद इति दर्शयितुं सूत्रव्याख्यानायोप्रक्रमते, "यथा चैक एव वायु"रित्यादि येन प्रकारेण शरीराभ्यन्तर्गतोवायुः स्थानभेदात्कार्यभेदाद्वा प्राणापानसमानव्यानोदानात्मकसंज्ञां धारयति. तथैकमेव ब्रह्मसूक्ष्मचिदचिच्छरीरकं स्थूलचिदचिच्छरीरकं प्राप्नुवत् स्थावरजङ्गमात्मकजगदित्याख्यावद् भवतीति ब्रह्मजगतोरनन्यत्वं सिद्धं भवतीति संक्षेपः ॥२१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतौ श्रीरघुवरीय वृत्तिविवरण आरम्भणाधिकरणम् ॥६॥

सारबोधिनी—जिस तरह शरीराभ्यन्तर स्थित वायु तत्तत्स्थान तथा कार्य के भेद से प्राणापानादिसंज्ञा को प्राप्त करता है । उसी तरह ब्रह्म अमुक कार्य विशिष्ट होकर के कारण पदवाच्य होता है और अमुक कार्य से विशिष्ट होकरके जगत रूप से व्यवह्रियमाण होता है । इस बात को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं, "यथा चैक एववायुरि"त्यादि । जिस प्रकार से एक ही वायु प्राणापाणादिक होता है प्रयोजन तथा स्थान के भेद से, उसी तरह सूक्ष्मचिदचिच्छरीरक जो ब्रह्म है वह स्थूल जड़ जङ्गमात्मक शरीरवाला होकरके जगत्

॥ अथेतरव्यपदेशाधिकरणम् ।।७।। ॥

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ।२।१।२२।

जगद् ब्रह्मणोरनन्यत्वेऽपि जगत्कारणता ब्रह्मण्यक्षतैवेति विचार्यते । तत्र जगत्कारणत्वं ब्रह्मणः सम्भवति न वेति संशयः । "तत्त्वमसि" इत्यादिश्रुतिभिर्जीवब्रह्मणोः सामानाधिकरण्यदर्शनाज्जगत्सृष्टेर्ब्रह्माभिन्नजीवक्लेशदायितया स्वाहिताकरणादिरूपदोषप्रसङ्गात्सर्वज्ञस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं न सम्भवतीति पूर्वपक्षः ।।२२।।

विवरणम्—ननु "तत्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'प्रज्ञानं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतिभिर्जीवब्रह्मणोरभेदप्रतिपादनेन जीवाभिन्नस्य च ब्रह्मणोः "यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिश्रुतयो जगत्कारणत्वं प्रतिपादयन्ति. परन्तु एतन्न संभवति, यतो ब्रह्माभिन्नजीवस्य सर्वथा हितं न करोति प्रत्युतस्तयाहितमपिकरोतीति ब्रह्मणि हिताकरणादिदोषप्रसक्तेन ब्रह्मणो जगत्कारणेति मनसि निधाय तमेव पूर्वपक्षं दृढीकर्तुं सूत्रव्याख्यानाय प्राह "जगद्ब्रह्मणोरनन्यत्वेपि"इत्यादि प्रज्ञानं ब्रह्मतत्त्वमसीत्यादिश्रुतिभिर्जीवब्रह्मणोस्तादात्म्यस्य प्रतिपादनेऽपि ब्रह्मणि, "यतो वा इमानि भूतानि" इत्यादिश्रुति इस नाम को प्राप्त करता है । इस प्रकार से जगत् में ब्रह्म की अनन्यता सिद्ध होती है ।।२१।।

इत्यारंभणाधिकरणम् ॥६॥

सारबोधिनी— पूर्व प्रदर्शित युक्ति से यह स्थिर किया गया कि जगत् ब्रह्म में कार्यकारण भाव होने से अनन्य है तब कार्यकारण भाव किस तरह से होगा ! घट घट में परस्पर कार्य कारण भाव नहीं होता है । इस अभिप्राय को लेकर के कहते हैं कि जगत् जायमान प्रपञ्च तथा ब्रह्म में अनन्य अभेद होने पर भी जगत् निष्ठ कार्यता निरूपित कारणता का बाध नहीं होता है इस बात

अधिकन्तु भेदनिर्देशात् ।२।१।२३।

अत्राभीधीयते सिद्धान्तः । सूत्रे तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः । अधिकमर्थान्तरमेव जीवाद्ब्रह्मेति श्रुतिसम्मतम् । "सकारणं करणाधि-

---

प्रतिपादितजगत्कारणतानिराबाधैवेति प्रकरणेऽस्मिन् विचारिता भवतीति । तत्र विचारणीयविषये ब्रह्मजगतः कारणं संभवति नवेति संशयो जायते यतः "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिश्रुतिर्जगत्कारणतां परमेश्वरे प्रतिपादयति, तथा कार्यकारणयोरभेदे कार्यकारणभावं न संभतीति युक्त्या कारणताया अभावः प्रतिपादितो भवतीति श्रुतियुक्त्योविप्रतिपत्त्या संशयस्यावकाशो जायते। एतादृशसंशये पूर्वपक्षो भवति. "तत्त्वमसि' 'प्रज्ञानं ब्रह्म" इत्यादि श्रुत्याजीवब्रह्मणोरभेददर्शनात् जीवादभिन्नं ब्रह्म कथं सृज्यजीवस्याहितं करिष्यति । करोति चाहितादिकमिति हिताकरणादिदोषप्रसक्त्या न ब्रह्म जगतः कारणमिति पूर्वपक्षः ॥२२॥

विवरणम्—गतसूत्रप्रदर्शितपूर्वपक्षस्य निराकरणं कर्तुमुत्तरसूत्रमवतारयति । सूत्रे तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्तिपरकः । जीवापेक्षया ब्रह्म का यहाँ अव विचार किया जाता है उस विचार में संदेह की कारणता होने से विचारांग संशय को बतलाने के लिए कहते हैं, "तत्र जगत् कारणत्वमि" त्यादि । वहाँ विचारणीय विषय में संशय होता है कि ब्रह्म जगत् का कारण हो सकता है अथवा जगत् के प्रति ब्रह्म कारण नहीं है, "तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि श्रुतियों से जीव तथा ब्रह्म में अभेद का प्रतिपादन किया है । तो यह जगत् की जो सृष्टि है वह ब्रह्म से अभिन्न जो जीव तादृश जीव के जरामणादि अनेक प्रकारक दुःखप्रद होने से स्वकीय अहित करणादि दोष प्रसङ्ग होने से सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर में जगत् की कारणता नहीं हो सकती है यह पूर्वपक्ष होता है ॥२२॥

पाधिपः" [श्वे०६।९।] "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ [श्वे०१।९।] "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" [मु०३।१।१] "प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" (श्वे०६।१६) "पृथगात्मानं प्रेरिताश्च मत्वा" [श्वे०१–६।] इत्यादि श्रुतिभिस्तयोर्भेदनिर्देशात् ॥२३॥

अधिकमर्थाद्भिन्नम् कुतः ? भेदस्य निर्देशात् शास्त्रे तथैव प्रतिपादनाच्च "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" इत्यादिश्रुतिभिः सर्वज्ञत्वसर्वेशत्वजीवपतित्वजीवादिसर्जकत्वादि. धर्मैर्युक्तस्य परेशस्याज्ञत्वादिधर्मविशिष्टजीवेन सह भेदस्य निर्देशात् । एवमल्पदेशवर्तिजीवेभ्यो व्यापकस्य परेशस्याधिक्यदर्शनात् । तत्त्वमस्यादिश्रुतिस्तु परमेश्वराद पृथक् सिद्धजीवस्य परमेश्वराभिन्नसत्ताकत्वेनानन्यत्वं बोधयति, तदत्राहु जगद्गुरुश्रीश्रियानन्दाचार्याः "ब्रह्माहमिति कस्यापि प्रत्यक्षं जायते नहि । ब्रह्मणश्चाथ जीवस्य नैक्यं प्रत्यक्षतस्ततः । तत्वमस्यादिवाक्यस्य श्रवणानन्तरं ननु । जायतेऽनुभवश्चोक्त इति चेन्मैवमुच्यताम् । प्रकारिब्रह्मणोरैक्यं तद्वाक्यार्थौ यतस्ततः । नस्यादनुभवस्तादृग् वाक्यस्य श्रवणादनु । ब्रह्मणो देहरूपत्वाच्चिदचिताः प्रकारता । चिदचिदात्मन श्चाथ ब्रह्मणोहि प्रकारिता । प्रमाणाभावतश्चापि न चैक्यं ब्रह्मजीवयोः" (श्रौतप्रमेयचन्द्रिका ३०।३४) तथैवानन्दभाष्यकारा अपि "तथा च तत्त्वमस्यादिश्रुतयो जीवस्य ब्रह्मव्याप्यत्वेन तदपृथक्सिद्धेस्तदभिन्नसत्ताकत्वादनन्यत्वं ज्ञापयन्ति इति "ज्ञाज्ञौ" इत्यादिस्तु जीवेशयोः स्वरूपभेदं दर्शयत्यतो न भवति

सारबोधिनी– 'तत्वमस्यादि' श्रुति जीव से ब्रह्म में अभेद होने से परमेश्वर जगत का कारण है तो परेश में हिताकरणादिक दोष के उद्धार करने के लिए कहते है "अधिकन्तुभेदनिर्देशात्" जीवापेक्षया परमात्मा भिन्न है । क्योंकि जीव ईश का भेद प्रतिपादन श्रुति में किया गया है । इस विषय का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं––"अत्राभिधीयते"

परेशे हिताकरणादिदोषप्रसक्तिरित्येतत्सर्वमनद्याधायोत्तरसूत्रं व्याख्यातुमाह, "अत्राभिधीयते सिद्धान्त" इत्यादि । एतस्मिन्पूर्वपक्षे सिद्धान्तं दर्शयति सूत्रकारः, "अधिकन्तु भेदनिर्देशात्" कर्म परवशजीवेभ्योऽधिकं विभिन्नमेव परं ब्रह्म कुतः भेदनिर्देशात्, शास्त्रे जीवेश्वरयोः पार्थक्येन प्रतिपादनात् । अर्थात् जीवापेक्षया ब्रह्मभिन्नम् भेदस्यशास्त्रे कथनात् । कुत्रतयोर्भेदः प्रतिपादितः, "तत्वमस्यादिवाक्येष्वभेदस्यैव प्रतिपादनात् तत्राह "सकारणमित्यादि" स परमात्मा सर्वस्य कार्यजातस्य कारणं समुत्पादकः तथा करणानां चक्षुरादीन्द्रियाणां बाह्यान्तराणां यः, अधिपः स्वामी तस्याधिपः परमात्मा तथा ज्ञत्व अज्ञत्व धर्मविशिष्टौ द्वौ अजौ जनिधर्मविरहितौ ईशश्चानीशश्चेति । तयो द्वयोर्मध्ये एकोजीवः कर्मफलस्य भोक्ता भवति. अपरश्चानश्नन्नेव प्रकाशवान् भवति । जीवः स्वभिन्नं परमात्मानं स्वस्यप्रेरितारं ज्ञात्वा समुपास्य संसारविमुक्तो भवतीत्यादि श्रुतिभिर्जीवपरेशयोर्भेदस्य शास्त्रे प्रतिपादनात् नहिताकरणादिदोषाः प्रादुर्भवन्ति जीवब्रह्मणोर्भेदवास्तविकत्वात् । तथा च भाष्यकाराः "तस्माद्वैदिकप्रमाणवद्भिः सर्वेषां वेदान्तानां सार्थक्यनिष्पत्तयेऽवश्यं ब्रह्मणोभिन्नस्य जीवस्वस्वरूपस्य वास्तवत्वमङ्गीकर्तव्यम्" (आ.भा. २।१।२२।) इतिदिक् ॥२३॥

इत्यादि । उक्त पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं । सूत्र में 'तु' शब्द पूर्वपक्ष का निराकरणपरक है । जीव से ब्रह्म भिन्न है । यही श्रुति संमत है । "वह परमात्मा सब का कारण है तथा करण का जो अधिप स्वामी उसका भी स्वामी ।" ज्ञ, अज्ञ—ये दोनों अज है ईश तथा अनीश, जीव पर के मध्य में जीव कर्मफलभोक्ता है परमेश्वर नहीं । जीव भिन्न प्रेरित परमात्मा का उपासन करके । इत्यादि श्रुतियों से जीव परमेश्वर में भेद का निर्देश है । अतः अभेद मूलक हिताकरणादिक दोष नहीं है ॥२३॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ।२।१।२४।

यथाश्मादेर्जडवस्तुनो ब्रह्मणा सह स्वरूपेणैक्यं नोपपद्यते तथा जीवस्यापि कर्मपरवशतयाऽज्ञत्वनियाम्यत्वादिधर्मभृतोऽपहतपाप्मत्व सर्वेश्वरादिनित्यधर्मवता परमात्मना सह स्वरूपेणैक्यं नोपपद्यते । "तत्त्वमसि" इत्यादौ सामानाधिकरण्यन्त्वात्मशरीरभावेनेति मन्तव्यम् तथैवाहुरा-

---

विवरणम्– ननु यथा पृथिवीविकाराणां प्रस्तराणां मणिवज्रादीनां सर्वेषां पार्थिवत्वाविशेषेऽपि तत्तद्विशेषधर्मेणैक्यं न भवति. यथात्रा काष्ठविशेषाणां तृणादीनामचित्वेन रूपेणैक्यं भवति किन्तु परमात्मना सह स्वरूपेणैक्यं न भवति. तथैव चेतनस्य जीवराशेश्चेतनत्वात्मक सामान्यधर्मेणैकत्वेपि कर्मपराधीनत्वाज्ञत्वानीशत्वादिधर्मविशिष्टस्य जीवस्य अपहतपाप्मत्वसर्वज्ञत्वसर्वनियामकत्वधर्मविशिष्टब्रह्मणा स्वरूपत एकत्वमनुपपन्नमेव । जीवब्रह्मणोश्चेतनत्वे नैकत्वेऽपि विशेषधर्ममा-

सारबोधिनी– जिस तरह पार्थिव तैजस पदार्थों में द्रव्यत्व रूप व्यापक धर्म पुरस्कार करके एकत्व प्रतीति होने पर भी पृथिवीत्व तैजसत्व विरुद्ध धर्म से पार्थक्य का व्यवहार होता है नकि एकत्व का उसी तरह चेतनत्वेन रूपेण जीव परेश में सामानाधिकरण्य होने पर भी कर्मवश्यत्व सर्वनियामकत्वादि धर्म से जीव ब्रह्म में एकत्व अनुपपन्न है इस विषय को बतलाने के लिए सूत्रव्याख्यानरूपेण उपक्रम करते हैं "यथाश्मादेरित्यादि" जिस तरह स्वभातः जड़ अर्थात् अचेतत जो पार्थिव वज्रवैदुर्यादिक का चेतत सर्वेश्वर के साथ स्वरूपत एकता नहीं होती है । इसी तरह चेतनत्वेन समानता जीवेश में रहते हुए भी, कर्मपराधीनत्व अज्ञत्व नियाम्यत्वादि धर्मवान् जीव को अपहतपाप्मत्व सत्यसङ्कल्पवत्व सर्वेश्वरत्वादि नित्यधर्मवान् परमेश्वर के साथ स्वरूपतः एकत्व उत्पन्न नहीं होता है । अर्थात् सामान्य धर्म से समानता होने पर भी विशेष धर्म को लेकर के ईश्वर जीव में एकता नहीं होती है । यद्यपि "तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मा-

चार्यः-"अयमात्माब्रह्म" "तत्त्वमसि" इत्यादि सामानाधिकरण्य निर्देशस्तु "यस्यात्माशरीरम्" इत्यादिश्रुतिभिर्जीवस्य ब्रह्मशरीरत्वेन ब्रह्मप्रकारत्वावगमार्थ इति सर्वं समञ्जसम्" (आनन्दभाष्यम्) इति ॥२४॥

श्रीरघुवरीयवृत्तावितरव्यपदेशाधिकरणम् ॥७॥

दायैकत्वमनुपपन्नमेव । अश्मादिवदित्येवं क्रमेणजीवब्रह्मणोर्भेदसत्वान्नहिताकरणादिर्दोषो भवतीति दर्शयितुमुत्तरसूत्रमवतारयितुञ्चोपक्रमते "यथाऽश्मादेर्जड़वस्तुन" इत्यादि । यथा येन प्रकारेणाश्मादेः स्वभावतो जड़स्याचित्पदार्थस्य चेतनसर्वनियामकब्रह्मणा परमात्मना सह स्वरूपेणैकत्वं न भवति जडत्वचेतनत्वादिना परस्परं विभेदात्, तथैव चेतनत्वसामान्यधर्मेण जीवब्रह्मणोः कथञ्चिदेकत्वेऽपि कर्मपराधीनत्वानीशत्वनियम्यत्वादिधर्मवतोजीवस्य सर्वेश्वरत्वापहतपाप्मकत्वनित्यानन्तगुणादिमता परमेश्वरेण सह स्वरूपत एकत्वं कथमपि सङ्गतं न भवति । यथा घटपटयोः पार्थिवयोः पृथिवीत्वेन समानत्वेऽपि घटत्वपटत्वादिविरुद्धधर्मवतोः स्वरूपतो नैकत्वं तथैव जीवपरेशयोरपि अंशतः समानत्वेऽपि विशेषधर्माभ्यां परस्परं भेदान्न स्वरूपेणैकत्वमिति । ननु यदि

स्मि" इत्यादि श्रुति से जीव ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया गया है । तो भेद का समर्थन करने पर उदाहृत श्रुति बाधिता होगी । तथापि "तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म" इत्यादि स्थल में जो सामानाधिकरण्य का प्रतिपादन किया गया है वह आत्यन्तिक अभेदाभिप्राय से नहीं है किन्तु "यस्यात्माशरीरम्" इत्यादि श्रुति से जीव ब्रह्म का शरीर है और शरीर-शरीरीभाव में कथञ्चित् अभेद होता है इस अभिप्राय से सामानाधिकरण्य का कथञ्चित् प्रतिपादन किया गया है । अन्यथा यदि जीव परमात्मा में ऐकान्तिक अभेद हो तब तो जीव परमेश्वर में भेद प्रतिपादक "द्वासुपर्णा" "ज्ञाज्ञौ" प्रेरितारञ्चमत्वा" इत्यादि अनेक श्रुति बाधिता होकर निरर्थक हो जायगी । इसलिए जीवेश में स्वरूपतः भेद

अथोपसंहारदर्शनाधिकरणम् ॥८॥

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ।२।१।२५।

प्रकारान्तरेणाशङ्क्य समाधत्ते । तत्रायं संशयः, ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वं सम्भवति न वा ? कार्योत्पादनदक्षस्याप्यनेकसाधनसाहाय्यमा-

---

जीवपरमेश्वरयोर्नाभेदस्तदा "तत्वमसि' 'प्रज्ञानं ब्रह्म" इत्याद्यभेद प्रतिपादकवचनानां प्रामाण्यं कथं नबाधितं स्यादित्यत आह, "तत्त्वमसीत्यादावि" त्यादि । तत्वमसीत्यादि श्रुतौयदुभयोः सामानाधिकरण्य दर्शनमभेद इति कल्प्यते तत्शरीरात्मभावेनेति- मन्तव्यम् । अर्थात्, "अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसीत्यादिश्रुतौ सामानाधिकरण्यप्रदर्शनन्तु "यस्यात्माशरीरं "यस्य पृथिवीशरीरम्" इति जीवस्य परमेश्वरशरीरतया परमात्मप्रकारत्वावगमार्थमेवेति संक्षेपः ॥२४॥

इति जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे इतरव्यपदेशाधिकरणम् ॥७॥

विवरणम्— यथा लोके घटादीनां कर्त्ताकुलालादिर्घटोपादानव्यतिरिक्तं दण्डादिकारणान्तरसाहाय्यमादायैव घटादीनां जनको भवति. नतु सहायकान्तरनिरपेक्षः कार्यं करोतीति नियमः । नैवमीश्वरस्य सर्व समर्थस्यापि जड़चेतनात्मकजगदुत्पादने सहायकान्तरं किञ्चिद्दृश्यते ।

है और शरीर शरीरी रूप से कथञ्चित् अभेद है । अतः हिताकरणादि दोष की आपत्ति नहीं होती है । भेदाभेद प्रतिपादक श्रुतियों का समन्वय प्रकार सर्वश्रुतिसमन्वयादि दिव्य प्रबन्धों के व्याख्यान में अन्यत्र देखें ॥२४॥

इतीतरव्यपदेशाधिकरणम् ॥७॥

सारबोधिनी— कार्य घटादि का निर्माण करनेवाला कुलालादिक कर्त्ता दण्डचक्रादि सहायक को लेकर के ही कार्य करता है । सहायकान्तर निरपेक्ष होकरके कार्य करने में समर्थ नहीं होता है अर्थात् सहकारी

वश्यकम्भवति । विभिन्नसंस्थानकस्यास्य जगतः समुत्पादनेऽसहायस्य ब्रह्मणः कर्तृत्वं न सम्भवतीति पूर्वः पक्षः । अत्राभिधीयते—दधि-जननशक्तेः क्षीरस्य यथाऽसहायस्यैव दध्युत्पादकत्वं तथा ब्रह्मणोऽपीति न कश्चिद्दोषः ॥२५॥

यदि कदाचित्परमेश्वरः कमपि सहायकमपेक्षेत तदा तस्य सर्वश-क्तिमत्त्वविघातः स्यात् । ततश्च सहायकान्तरनिरपेक्षपरमेश्वरस्य जगत्कर्तृत्वं नास्तीति पूर्वपक्षः । यथाक्षीरं बाह्यसहायकान्तरनिरपेक्षं सदेव दध्यादिकार्यं जनयति. यथावा पद्मिनी वाह्यसाहाय्यमनपेक्ष्यैव सरान्तरात्सरान्तरं प्रतिगच्छति. न तादृशगमनेऽन्यस्यकस्यचित्साहा-य्यमपेक्षते तथैव सर्वशक्तिमान् चिदचिच्छरीरकं ब्रह्म वाह्यसाधन मनपेक्ष्यैव जगत्सर्गं कोतीत्याशयमनुरुन्ध्याह "प्रकारान्तरेणाशङ्क्य समाधत्ते" इत्यादि ।

परब्रह्मणो जडचेतनात्मकजगत्प्रतिनिमित्तत्वमुपादानत्वञ्च संभ-वति नवेत्यादिरूपेण पूर्वमाशङ्कितं तत्समाधानमपि कृतवान् । इदा-कारण सापेक्ष होता है । प्रकृत में तो परब्रह्म सहायकान्तर सापेक्ष नहीं है तब यह परमेश्वर जगत् रचना के प्रति कर्त्ता नहीं हो सकता है । एतादृश प्रकारान्तर की शङ्का का निराकरण करते हुए कहते हैं कि यद्यपि कुलालादिक को सहायकान्तर सापेक्ष होकरके कार्यजनकत्व है तथापि जिस तरह दूध का सहायक के बिना भी दधी रूप कार्य का संपादक होता है । उसी तरह परमात्मा सर्व शक्तिमान् होने से कनेक प्रकार जगत् रचना में समर्थ होते हैं । एतादृश अभिप्राय को लेकर के प्रकारन्तर से पूर्वपक्ष तथा उत्तर करने के लिए उपक्रम करते हैं, "प्रकारान्तरेणाशङ्क्य" इत्यादि ।

प्रकारान्तर से शङ्का करके समाधान करते हैं सूत्रकार—कार्य मात्र के प्रति जो कोइ कर्त्ता होता है वह सहायक सापेक्ष होता

नीन्तु असाहयस्य ब्रह्मणो जगत्कार्यंप्रति कारणत्वं स्यान्नवेत्यादि क्रमेणः पुनः प्रकारान्तरेणाशङ्कां तत्समाधानञ्च कर्तुं प्रक्रमते, "प्रकारान्तरेणे"त्यादि ।' तत्र प्रकारान्तरीयपूर्वपक्षोपोद्बलकं प्रथमतः संशयं दर्शयितुमाह, "तत्रायं संशयः" इत्यादि । तत्र प्रकारान्तरीय-पूर्वपक्षात् प्राक् संशयो भवति, "ब्रह्मणः सर्वशक्तिमतः सर्वेश्वरस्य जड़चेतनात्मकजगत्कार्यं प्रति कर्तृरूपं निमित्तकारणत्वं संभवति नवेति । यथा, पाकादि कार्यकरणे सर्वथा समर्थोऽपि पाचकस्ततत्त-ण्डुलजलाद्यनेकसाधनानां साहाय्यमपेक्षते. यथावा कुलालो घटकार्यकरणे कपालदण्डचक्रादीनामनेकेषां कारणानां साहय्यमादायैव घटादिकार्यं करोति । यदा खलु एकजातीयककार्योत्पादनेऽनेक साधनस्य साहाय्यमपेक्षितं भवति तदा विभिन्नसंस्थानकस्यास्य जगतः सर्जने सर्वथा सहायरहितस्य परेशस्य कर्तृत्वं कथं स्यात् ? अर्थात् इतरकर्तृवत् सहायरहितस्य परेशस्य कर्तृत्वं नैव स्यात्, इत्येवं भवति पूर्वपक्षः । अत्रोत्तरमाह, "अत्राभिधीयते" इत्यादि । यथा-दध्यात्मककार्योत्पादसामर्थ्यविशिष्टस्य दुग्धस्य सहायकान्तरनिरपेक्षस्य

है । ब्रह्म तो असहाय हैं तब जगत् का कर्त्ता नहीं हो सकते हैं । इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं क्षीरवत् अर्थात् दूध दही रूप कार्य करने में सहायकान्तर सापेक्ष नहीं होता है इसी तरह सहा-यकान्तर निरपेक्ष होकर ब्रह्म भी जगत् का कारण होते हैं ।

जिस तरह क्षीर अथवा जल सहकारी निरपेक्ष होकर के दधि हिमादि कार्याकार से परिणमित होता है । किन्तु उसमें वाह्य साधन की आवश्यकता नहीं होती है उसी प्रकार से ब्रह्म जगत् सर्गात्मक कार्य के उत्पादन करने में निरपेक्ष होकरके ही समस्त जगत् की रचना करता है। यद्यपि क्षीरादिक दध्यादि कार्य के प्रति उपादान कारण है । इसलिए क्षीरादिक दध्याकार से परिणत होता है, उसमें सहायकान्तर

दधिकार्यजनकत्वं भवति यथा वा नलिनी बाह्य सहाय्यमनपेक्ष्यैव सरान्त-रात्सरान्तरं गच्छति, तथा परब्रह्मापि सहायकान्तरनिरपेक्षं सदेव सर्वकार्यं करोतीति सिद्धान्तः । श्रुतिरपि परेशस्यान्यसाहाय्यं निरा-करोति, "अपाणिपादोजवनोगृहीता" "सकारणं करणाधिपाधिप" इत्यादि । तस्मात्सहायकान्तरनिरपेक्षः परमात्मा जगत्सर्गं करोतीति । यद्वा "तत्रायं संशयः" इत्यादिकमेवं योजनीयम् सहायरहितस्य ब्रह्मणो जड़चेतनात्मकजगत्प्रपञ्चं प्रति कर्तृकारणत्वं संभवति न वा । कुला-लादौ कर्तृत्वस्येतरसाहाय्यापेक्षणात् परमेश्वरे सहायकसापेक्षकर्तृत्व-स्यादर्शनात्संभवति संशय इति । तत्र कार्योत्पादने सर्वथा सामर्थ्य युक्तस्यापि त्रिविधसाधनयुक्तस्यैवकार्यजनकत्वं भवति । इदं तु जगत् परस्परविरुद्धानेकाकारप्रकारकं दृश्यते तत्र सर्वथा सहायरहितस्य कथमिव कर्तृत्वं स्यान्नैव तत् संभवतीति पूर्वपक्षाशयः ।

अत्राभिधीयते—क्षीरवदिति । यथा हि क्षीरं जलं वा सहायनिरपेक्षं सदेव दधिहिमाद्याकारेण परिणमते न तत्र बाह्य सहायकस्यापेक्षा भवति, तथैव निरपेक्षं सदेव ब्रह्म सर्गात्मकनिखिलजगद्रचनां सम्पा-दयतीति । यद्यपि क्षीरादिकं दध्यादिकार्यं प्रत्युपादानं ततश्च दध्याकारेण परिणमते ब्रह्म तु जगत्प्रतिकर्तृकारणमिति दृष्टान्तक्षीरा-

की आवश्यकता नहीं होती है । ब्रह्म तो निमित्तोपादान कारण है, तो उसमें दृष्टान्त क्षीरादिकी अपेक्षा से विलक्षणता है तथापि सहायकान्तर निरपेक्षता मात्र में दृष्टान्तता है । अथवा सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म स्थूल-चिदचिद्विशिष्ट जगदाकारसे परिणमित होते हैं तो सर्वांश में दृष्टान्तता है अथवा जिस तरह पद्मिनी एक जलाशय से दूसरे जलाशय में जाती है । उसमें बाह्य सहायकान्तर की आवश्यकता नहीं होती है । उसी तरह ब्रह्म में भी समझना ॥२५॥

देवादिवदपि लोके ।२।१।२६।

यथा सङ्कल्पमात्रेणैव देवादयः स्वलोके स्वापेक्षितमैश्वर्यमुत्पादयन्ति तथा देवदेवस्य ब्रह्मणोऽप्यनन्तविचित्रशक्तिकस्य जगत्कर्तृत्वे नोपसंहारप्रयोजनम् ॥२६॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावुपसंहारदर्शनाधिकरणम् ॥८॥

पेक्षया वैलक्षण्यम्, तथापि सहायकान्तरनिरपेक्षतायामेव दृष्टान्तता। अथवा सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म स्थूलचिदचिद्विशिष्टजगदाकारेण परिणमते इति सर्वात्मना साधर्म्यं घटते एव। यथा वा पद्मिनी सरान्तरात् सरान्तरं गच्छति न भवति तत्र बाह्य साधनान्तरस्यावश्यकता तद्वत् प्रकृतेऽपि ॥२५॥

विवरणम्- यथा आजानसिद्धादेवादयः स्वाभिलषितान् मनोज्ञान् पदार्थान् स्वकीयसङ्कल्पमात्रेणोत्पाद्यभोगं कुर्वन्ति, तथाऽनभिलषितान् विद्यमानानपि हेयान् परित्यजन्ति न तत्रोपादाने हाने वा सहाकान्तरमपेक्षन्ते. यदा खलु परमेश्वरप्रसादादवाप्तसामर्थ्यस्य देवादेरीदृशीगतिस्तदा का कथा सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य भगवतो देवाधिदेवस्येति । तस्मात्सहायान्तरनिरपेक्ष एव भगवान्सर्वं करोति न तस्योपसंहारापेक्षा-

सारबोधिनी- जिस तरह आजान सिद्ध देवगण स्वकीय लोक में स्वापेक्षित पदार्थ का निर्माण स्वकीय सङ्कल्प मात्र से करते हैं । उसमें उनको सहायकान्तर की अपेक्षा नहीं होती है। इसी तरह भगवान् सर्व समर्थ श्रीसीताधिपति जगतसर्जन कार्य में किसी भी सहायान्तर की अपेक्षा के बिना ही सब कार्य का संपादन करते हैं। इस विषय को विस्तार पूर्वक निरुपण करने के लिए वृत्तिकार उपक्रम करते हैं, "यथा संकल्पमात्रेणेत्यादि ।' स्वकीय सङ्कल्पेतर पदार्थ से अनपेक्ष देवतालोक सङ्कल्प से स्वलोक में स्वाभिलषित उपभोग योग्य वस्तु का उत्पादन कर लेते हैं। उसमें बाह्य सहायक की कुछ भी अपेक्षा नहीं होती है। इसी तरह सर्व-

अथ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् ॥९॥

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ।२।१।२७।

ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानता सम्भवति नवेति संशयः । तत्र निरवयवस्य ब्रह्मणो जगद्रूपत्वे कृत्स्नस्यैव कार्यत्वेनावस्थितिप्रसङ्गः ।

विद्यते. इत्याशयमाकलय्योपक्रमते "यथा सङ्कल्पमात्रेणे" त्यादि । यथा खलु सङ्कल्पेतरानपेक्षामात्र सङ्कल्पापेक्षा आजानदेवादयः स्वलोकेऽन्यलोके वा स्वापेक्षितं स्वानुकूलं च भोगोपकारणभूतं पदार्थमुत्पादयन्ति. तथैव सर्वथा सर्वदा सर्वसमर्थो भगवान् साकेताधिपति र्विचित्रविविधशक्तिकत्वात् जगतः करणे नोपसंहारमपेक्षते । तस्यैवोपसंहारापेक्षा भवति यस्तदभावे स्वाभिलषितमर्थं संपादयितुं समर्थो न भवति । अयं सर्वथा समर्थः सहायकानामपि साहाय्यबलमाददानः सर्वं करोतीति किमत्र वक्तव्यमिति दिक् ॥२६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे उपसंहारदर्शनाधिकरणम् ॥८॥

शक्तिमान् देवाधिदेव भगवान् श्रीसीतानाथ स्वकीय प्रभाव मात्र से जगत् का निर्माण करते हैं । तादृश जगत्सर्जन में उनको उपसंहार अर्थात् सहायकान्तर की अपेक्षा नहीं होती है । जिसकी अनुकंपा से महर्षि तथा देवतागण भी विलक्षण लोकोत्तर कार्य करने में समर्थ कहलाते हैं तादृश भगवान् को स्वयं जगत्सर्जनादि कार्य में सहायता प्राप्त करने के लिए किसकी अपेक्षा होगी ? यद्यपि जीवादृष्ट सहकृत :परमेश्वर जगत् का सर्जक होते हैं, अतएव हीन मध्यमोत्तम सर्ग का निर्माण करने पर भी वैषम्यादि दोष नहीं होता है । तथापि जीवादि जङ्गम स्थावर शरीरक परमात्मा हैं तो जीवादृष्ट शरीरक परमात्मा के होने से तदतिरिक्त सहायक की आवश्यकता नहीं होती है । इससे सिद्ध हुआ कि निरपेक्ष परमेश्वर जगत् का कर्त्ता है । इत्युपसंहारदर्शनाधिकरणम् ॥२६॥

कार्यदशायामपि स्वांशान्तरेणावस्थाने तु 'निष्कल' मित्यादिशब्दानां विरोधोऽतो न जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानता ब्रह्मणि सम्भवतीति पूर्वपक्षः ॥२७॥

विवरणम्—ननु "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधा" दित्यादि प्रकरणेन सकलसूक्ष्मस्थूलसाधारणजड़ाजड़प्रपञ्चं प्रति ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानता व्यवस्थापिता परन्तु तन्न संभवति. यतः अवयवेन ब्रह्म परिणमते सर्वात्मना वा ? सर्वात्मना ब्रह्मणो जगदाकारेण परिणामे कार्यकाले ब्रह्मणोऽसत्त्वप्रसङ्गः । यथा दुग्धं सर्वात्मनादधिरूपेण परिणमद् दधिकाले स्वकीयसत्तां जहाति तथा ब्रह्मापि स्वसत्तां व्यभिचरिष्यति । एकदेशेन ब्रह्मणः कारणत्वे सावयवत्वापत्तिः । न चेष्टापत्तिः तथा सति ब्रह्मणो निरयवत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधादित्याशयेन प्रश्नयति "ब्रह्मणोऽभिन्ने"त्यादि ।

"प्रकृतिश्च" इत्यादि प्रकरणेन ब्रह्मणि या अभिन्ननिमित्तोपादनता व्यवस्थिता सा संभवति न वेति संशयः निर्णायककारणाभावात् । तत्र निरवयवं सत् यदि स्थावरजङ्गमजगद्रूपत्वं तदाकार्य-

सारबोधिनी—"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्" इस सूत्र से जो ब्रह्म में अभिन्न निमित्तोपादानता का कथन किया गया है वह ठीक नहीं है । क्योंकि ब्रह्म सावयव है, अथवा निरवयव ? इसमें दोनों पक्ष दोष दुष्ट हैं । इसलिए ब्रह्मजगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण नहीं हो सकता है । इस अभिप्राय से वृत्तिकार कहते हैं, "ब्रह्मणोऽभिन्नेत्यादि । स्थूल सूक्ष्म साधारण जगत्रूप कार्य के प्रति ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादानत्व हो सकता है, अथवा तादृश कारणत्व नहीं होता है एतादृश संशय होता है । एतादृश संशय के बाद पूर्वपक्ष होता है कि निरवयव जो ब्रह्म उसका जगत् रूप से परिणाम होगा तब तो संपूर्ण ब्रह्म का कार्यरूप से अवस्थान होगा । जैसे दूध संपूर्ण रूप

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ।२।१।२८।

एवं स्थिते सिद्धान्तः । तु शब्देन पूर्वपक्षो व्यावृत्यते । श्रुतिप्रामाण्यान्नोक्तदोषः सम्भवति । ब्रह्मणः सकलेतरविलक्षणत्वेन विचित्रशक्तिवैशिष्ट्यं सम्भवत्येव । तथा च कार्यकारणत्वोभयावस्थायां कात्स्न्येनावस्थितेः सम्भवात् ॥२८॥

काले समस्तमेवब्रह्मकार्यरूपेणैवावस्थानं स्यात् । यदि कदाचित्परिणामकालेऽपि किञ्चिद्रूपेण परिणमते न सर्वांशेनेति तदा ब्रह्मणः सावयवत्वं स्यात् । सावयवत्वस्य स्वीकारे च "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्" इत्यादि ब्रह्मणो निरवयवता प्रतिपादकश्रुतिविरोधः स्पष्ट एवापततीति । तस्माद् ब्रह्मजगतो न अभिन्ननिमित्तोपादानमिति पूर्वपक्षिणामाशयः ॥२७॥

विवरणम्—ननु ब्रह्मणः सर्वशक्तेरपि स्थावरजङ्गमात्मकजगतः कारणता न संभवति यतो ब्रह्मणः सावयवत्वे दुग्धस्य सर्वात्मना दध्याकारेण परिणामवत् परमेश्वरस्यापि सर्वात्मना जगदाकारेण परिणामप्रसक्तेरित्यादिना पूर्वसूत्रेण यो दोष उत्प्रेक्षितस्तस्य निराकरणायाह, 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वा'दिति । नैवकृत्स्नप्रसक्तिरस्ति
से दध्याकार से परिणत होता है । तब अतिरिक्त रूप से दूध का अवस्थान नहीं रहता है । यदि कार्यकाल में स्वकीय अंशान्तर से ब्रह्म का अवस्थान मानें तब तो ब्रह्म के निरवयवता प्रतिपादक श्रुति का विरोध होगा । इसलिए ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान नहीं हो सकते हैं । ऐसा पूर्व पक्ष सूत्र का अभिप्राय होता है उत्तर अग्रिम सूत्र से होगा ॥२७॥

सारबोधनी—सावयव निरवयवादि दोष से ब्रह्म में जगत्कारणत्वादिक नहीं हो सकता है । इत्यादि पूर्व सूत्र से जो पूर्वपक्ष किया गया था, उस पूर्वपक्ष का निराकरण करने के लिए उत्तर सूत्र का अवतरण करते हुए उपक्रम करते हैं "एवं स्थिते" इत्यादि । एतादृश स्थिति में

परमेश्वरस्य कुतः श्रुतेः । अर्थात् श्रुतेः "पादोऽस्यसर्वाभूतानी"त्यादि कारिकायाः संपूर्णजगतः पादमात्रे समावेशस्य तद्व्यतिरिक्तपादत्र-यवत्वस्य प्रतिपादनादतो न पूर्वपक्षोक्तदोषः संभवतीत्याशयेनाह, "एवं स्थिते सिद्धान्तः" इत्यादि । एवं स्थिते—एतादृशपूर्वपक्षे कृते सति सिद्धान्तो भवति । तत्र सूत्रघटक तु शब्देन पूर्वपक्षस्य निराकरणं भवति । एतादृशविषये श्रुतिरेव प्रमाणं भवति । प्रतिपादयति च श्रुतिः "पादोस्य विश्वाभूतानी"त्यादिका सम्पूर्णस्यापि जगतः परमे-श्वरस्यैव पादैकरूपत्वम् । तथा ब्रह्मणो जगदतिरिक्तपादवत्वेनाधि-कतामधिदर्शयति । न चात्रदुग्धादिन्यायोऽवतरतीति दर्शयितुमाह शब्दमूलत्वादिति । अर्थात्, "नैषा तर्केण मतिरापनेया" इत्यादि श्रुत्या तथा, "तर्काप्रतिष्ठानादि"त्यादिन्यायेन "तं त्वौपनिषदम्" इत्यादिना ब्रह्मण उपनिषन्मात्रगम्यत्वस्यैव प्रतिपादनाच्च न दुग्धादि न्यायः प्रकृते प्रवर्तते । ब्रह्मणः सर्वशक्तिमतः परमेश्वरस्य स्वेतरसकल-

सिद्धान्त कहते हैं "श्रुतेस्तुशब्दमूलत्वात्" इस सूत्र में जो 'तु' शब्द है वह पूर्वसूत्र प्रदर्शित पूर्वपक्ष का निराकरण बोधक है । श्रुति प्रमाण से सावयवत्व निरवयवत्व विकल्पपूर्वक ब्रह्म में जो कारणता का प्रतिषेध किया गया था वह दोष नहीं होता है । क्योंकि, "एतावानस्य महिमा" "पादोऽस्यविश्वानिभूतानि" "सभूमिं सर्वतः स्पृत्वा" इत्यादि श्रुति कहती है कि यह संपूर्ण स्थावर जङ्गम लक्षण सूक्ष्मस्थूल साधारण जगत् परमेश्वर का एक पादमात्रस्थानापन्न है । एतद्व्यतिरिक्त पादत्रय परमेश्वर का है जो कि अधिक है । एवम्, "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेनस्थितो जगत्" इत्यादि स्मृतियों से भी सिद्ध होता है कि यह संपूर्ण जगत् भगवान् का एक देश मात्र है । नहीं कहो कि जैसे दूधका परिणाम दधि है तो सर्वांश से परिणाम देखा जाता है । उसी प्रकार प्रकृत में भी होगा अर्थात् दुग्ध-दधिन्याय से श्रुति का बाध होगा तो इस शङ्का के निराकरणार्थ कहते

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ।२।१।२९।

यथा चाचिद्धर्मविरोधिधर्मास्तद्विलक्षणजीवे विलणशक्तियोगादवगम्यन्ते । अग्न्यादिषु च परस्परं तत्तदसाधारणधर्मभेदो विलक्षण-

---

विलक्षणत्वेन विचित्रानेकशक्तिमत्त्वं संभवति, तथा तादृशविलक्षणशक्तिमत्वेन सर्वसंभवादिति । एतदेव दर्शयति "तथा च कार्येत्यादि" ।

एवञ्चोभयप्रकारकागमवचनवलात् परमेश्वरस्य कर्तृरूपनिमित्तकारणत्वमुपादानकारणत्वञ्चापि भवत्येव । तथा च सावयवनिरवयवत्वादि प्रतिपादकवचनैरपि नास्ति विरोधः । सावयववत्ववचनात्सर्वशक्तिमतः सावयवत्वम्, तथा "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" इत्यादिश्रुतिबलान्निरवयववत्वमपीति संक्षेपः ॥२८॥

विवरणम्– यथा वह्निजलाद्येकदेशस्य दाहकत्वाद्यनेक कार्यकरणोपयोगिविलक्षणशक्तियोगो दृश्यते. एवमेव सर्वविलक्षणपरमात्मनि विलक्षणसर्गकारणीभूता विलक्षणाः शक्तयः सन्तीति ज्ञाता भवन्ति हैं "शब्दमूलत्वात्" यह कथन शब्दमूलक है । अर्थात् "नैषातर्केणमतिरापनेया" इत्यादि श्रुति से तथा, "तर्काप्रतिष्ठानात्" एवम् "नावेदविन्मनुते तं महान्तम्" इत्यादि शब्दों से सिद्ध होता है कि यह विषय वेदैकसमधिगम्य है । इसलिए सावयव निरवयवादिक उभय प्रकारक शब्दों के होने से ब्रह्म में जगत् कारणता अवाधित है । लौकिक न्याय तथा तर्क का यह विषय नहीं हैं । स्वेतर सकल विलक्षण होने से परमेश्वर में विचित्र शक्ति वैशिष्ट्य अवाधित है । ऐसा होने से कार्यावस्था तथा कारणावस्था में संपूर्ण रूप से अवस्थान हो सकता है ॥२८॥

सारबोधनी–जिस तरह अग्नि में अनेक प्रकारक कार्य करने की अनेक प्रकारक शक्ति है, यथा वा जलादिक पदार्थों में अनेक प्रकारक कार्योत्पादक अनेक विलक्षण शक्ति है। उसी तरह परब्रह्म में भी विचित्र

शक्तियोगादेव दृश्यते । तद्वदेव चिदचिद्वस्तुवैलक्षण्याद्ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगो न विरुध्यतेऽतः सर्वं संभवति ॥२९॥

तथोक्तम् "शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः । यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः । भवन्ति तपतां श्रेष्ठपावकस्य यथोष्णता ।" (विष्णुपुराण अ. १अ.३–२–३) इत्यादि विबधवचनबलादवगम्यते । एवंच सूक्ष्मचिदचिद्देहविशिष्टस्य सर्वशक्तिमतो भगवतः परमेश्वरस्यापि विचित्रप्रकारक सर्गरचना कर्तृत्वं समस्त जगदुपादानकारणत्वञ्च भवतीति मनस्याशयमवलंब्याह, "यथाचाचिद्धर्मविरोधिधर्मा" इत्यादि । यथा येन प्रकारेण अचित्पदार्थाः घटपटादिकास्तद्विरोधिनोधर्माज्ञानसुखादयो घटादिविलक्षणे जीवे विलक्षणकार्योत्पादकशक्तिविशिष्टे प्रत्यक्षादिप्रमाणेनावगता भवन्ति । यथा वा अग्नौ जलादौ च परस्परं तत्तदसाधारणधर्माणां दाहकत्वक्ले-

अनेक प्रकारक रचना के जनक अनेक शक्ति है । इसलिए तादृश शक्ति के बल से परमेश्वर अनेक प्रकारक जगत् रचना के प्रति निमित्तकारण तथा उपादान कारण होते हैं । अतः एक में निमित्तत्व उपादानत्व असंभवित है एतादृश पूर्वपक्ष करना ठीक नहीं है । इन सब बातों को बतलाने के लिए प्रक्रम करते हैं, "यथाचाचिद्धर्मविरोधिधर्मा" इत्यादि । जिस तरह अचित् घटादि पदार्थगत जो धर्म विशेष तादृश धर्मों का विरोधी जो ज्ञानादिक धर्म सो अचित्पदार्थघटादि से विलक्षण पृथक् भूत जो जीवराशि हैं । उन जीवों में जड़ विरोधी चित्वादिक धर्म, वह विलक्षण शक्ति के संबन्ध अवगत होता है । यथा वा अचित् वह्नि जलादिक पदार्थों में परस्पर विरुद्ध-तत् तत् असाधारण पाचकत्व प्लावकत्वादिक विलक्षण धर्मभेद विलक्षण तत्तत् शक्तियोग से ज्ञात होता है । अर्थात् अग्नि में दाहकत्वादि धर्म है । जल में शैत्यादिक धर्म है । वह विलक्षण शक्ति के बल से ज्ञात होता है । इसी प्रकार चित् जीव अचित् पृथिव्यादि वस्तुओं से अत्यन्त विलक्षण

स्वपक्षदोषाच्च ।२।१।३०।

एते कृत्स्नप्रसक्त्या दोषादयो ह्यचित्सलक्षणे प्रधान एव सम्भवन्ति। न विचित्रशक्तिशालिनि परस्मिन् पुरुषे ॥३०॥

दनकर्तृत्वादीनां परस्परं भेदः पार्थक्यं वह्न्यादीनां विलक्षणशक्तियोगादेव ज्ञाता भवन्ति। अर्थात् जले शैत्यं वह्नौ दाहकत्वं घटे जलाहरणकर्तृत्वं पटे च प्रावरणकर्तृत्वं तत्तद् विलक्षणशक्तिसंबन्धेन ज्ञायमाना भवन्ति। तद्वदेव—एवमचित्पदार्थजीवान्, अचित् पदार्थ घटादिपदार्थेभ्यो भिन्नस्य पृथग्भूतस्य परब्रह्मणोऽपि विलक्षणाशक्तिर्विद्यते तादृशशक्तिबलेन परमेश्वरो विविधप्रपञ्चरचनां संपादयति। अर्थात् करुणासागरः परमेश्वरः स्वाभाविकापरिमितविलक्षण शक्तिबलेन समस्तस्यापिजगतो निमित्तकारणमुपादानकारणञ्चापि भवतीति नास्ति काचिदनुपपत्तिः। अतः कृत्स्नप्रसक्त्यादयो दोषानावतरन्तीति संक्षेपः ॥२९॥

होने के कारण से ब्रह्म में भी विलक्षण शक्ति का संबन्ध होने में कोई विरोध नहीं होता है। इसलिए सब उपपन्न होता है। अर्थात् विलक्षण अनेक प्रकारक शक्ति से विशिष्ट परमेश्वर जगत् में निमित्तकारण होता है। तथा उपादान कारण भी। यद्यपि अन्यत्र जो जिसमें कर्त्ता होता है वही उस कार्य के प्रति उपादान कारण होता है ऐसा देखने में नही आता है। अथवा कार्य के आकार में परिणत जो उपादान कारण उसका पार्थक्य रूप से अवस्थान दुग्ध क्षीरादिक में नहीं देखने को आता है। तथापि सब पदार्थों की समानस्थिति नहीं होती है। अतः परमेश्वर विचित्र शक्ति के योग से विचित्र जगत् रचना को करते हैं। तथा उस जगत् लक्षण कार्य का उपादान कारण होते हैं। तथा निमित्त कर्त्ता कारण भी बनते हैं। यह क्षीरदधिन्याय तथा तदितर युक्त्यन्तर परमेश्वर के अचिन्त्य रचना संपादक शक्ति का विघातक नहीं है। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परमेश्वर स्वेच्छामात्र से सब कार्य का संपादन करते हैं ॥२९॥

विवरणम्—यश्चायं ब्रह्म कारणवादे दोष उद्भावितः सदोषः प्रधानादिकारणवादे एव भवति। तादृशदोषाणामुद्धारस्तेषां न भवति। तथा हि शब्दस्पर्शादिरहितं प्रधानं शब्दस्पर्शादिमतो जगतः कारणमिति सांख्यमतम्। ततश्च शब्दादिरहितात्प्रधानात् शब्दादिमतो जगत उत्पत्तिर्न संभवति। यदि कदाचित् प्रधानं मूलकारणं सावयवमिष्यते तदा निरवयवप्रधानमिति प्रवादोऽव्याकुप्येत। इत्यादि दोषमाकलय्य सूत्रोत्थानं कर्तुमाह, "एते कृत्स्ने"त्यादि।' एते पूर्वं कथिताः सांख्यादिभिः कृत्स्नप्रसक्त्यादयो दोषाः, ये खलु ब्रह्मकारणवादे प्रक्षिप्तास्ते दोषाः अचित्सलक्षणे पृथिवी जड़सदृशे प्रधाने सांख्य परिकल्पितमूलकारणे एव संभवन्ति—आपतन्तीत्यर्थः। अर्थात् प्रधानं निरवयवं सावयवं वा। आद्येनिरवयवस्य परिणामाभावेन महदादिसर्गविलोपप्रसङ्ग नहि निरवयवं वस्तु क्वचिदपि परिणाममानं दृष्टं श्रुतं वा,

सारबोधिनी—प्रधानकारणवादीयों ने जो ब्रह्म कारणवाद में कृत्स्नप्रसक्त्यादि रूप दोष दिया था। वह दोष तो प्रधानकारणवाद में भी समान ही है। तथाहि निरवयव अपरिच्छिन्न शब्दादि रहित प्रधान को सावयव परिच्छिन्न शब्दादिमान जगत् रूप कार्य के प्रति कारण मानते हैं तो प्रधान को निरवयव होने से संपूर्ण रूप से परिणाम होगा क्षीरादिवत। यदि कदाचित् प्रधान को सावयव माने तब तो प्रधान निरवयव है, ऐसा जो सांख्य सिद्धान्त है उसका व्याकोप होता है। इसी तरह परमाणु कारणवाद में भी एक परमाणु द्वितीय परमाणु से संयुक्त होगा तो निरवयव होने से, यदि संपूर्ण रूप से संयुक्त होगा तो बढ़ेगा नहीं, अणु का अणु ही रहेगा। यदि परमाणु का एकदेश मानें तब तो निरवयवत्व का व्याघात होगा। इत्यादि दोष स्वपक्ष में भी होगा। इसलिए प्रधानादि कारणवाद ठीक नहीं है। ब्रह्म कारणवाद में तो भगवान् में अनन्त तथा विचित्र प्रकारक शक्ति होने से सब प्रकारक कार्य की उपपत्ति

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ।२।१।३१।

सर्वशक्ति सम्पन्नश्च परमात्मा "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रुयते" [श्वे० ३।८।] इत्यादि श्रुतिभिः स्पष्टमभिधीयते ॥३१॥

नवा तदुपपद्यते । सावयवत्व पक्षे मूलकारणं निरवयवमिति सांख्य प्रवादो भज्येत । नवा उभय पक्ष विलक्षणमिति पक्षः तथात्वस्यादृष्टचरत्वात् । तस्मात् प्रधानकारणवादेऽचेतते एवैते दोषा संभवन्ति । नतु विलक्षणशक्तिविशिष्टे भगवति परमेश्वरे एते प्रसरन्ति । अतः सर्वदोषरहितत्वात् परमेश्वरकारणवाद एव श्रेयान् नतु प्रधानादि कारणवाद इति संक्षेपः । ॥३०॥

विवरणम्—एकमपि परं ब्रह्म विलक्षण शक्ति योगाज्जगत्सृष्टि संपाद्यतीति पूर्वमुक्तम्. तत्कथमिति चेत्. सा ब्रह्मरूपा परादेवता सर्वशक्ति सम्पन्ना कुतः ? तद्दर्शनात् तथा च श्रुतिः, "सर्वकर्मा,

हो जाती है । इस अभिप्राय को लेकर के सूत्र का व्याख्यान करने के लिए उपक्रम करते हैं, "एते कृत्स्नप्रसक्त्यादयः" इत्यादि । ये जो कृत्स्न प्रसक्त्यादिक दोषजाल है वह अचित् जो पृथिव्यादिक पदार्थ है उसका जड़त्व रूप से सजातीय प्रधान तथा परमाणु प्रभृतिक कारणवाद में ही होता है । किन्तु विलक्षण शक्ति संपन्न परमपुरुष कारणवाद में इन सब दोषों का संभव नहीं होता है । क्योंकि भगवान् विचित्र तथा अनन्त शक्ति सम्पन्न हैं ॥३०॥

सारबोधिनी—पर ब्रह्म रूपा परा देवता सर्वशक्ति युक्त है । ऐसा पूर्वमें कहा गया है प्रतिज्ञा मात्र से परन्तु क्यों वह सर्वशक्ति युक्त है, इसमें हेतु का कथन नहीं किया । केवल प्रतिज्ञा करनेसे ही साध्य की सिद्धि नहीं होती है "संभावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साध्येत हेतुना" प्रतिज्ञा में संभावित जो पक्ष वह हेतु के द्वारा सिद्ध किया जाता है। अर्थात्

सत्य सङ्कल्पाः'' ''परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते'' इत्यादि श्रुतिषु तथा दर्शनात् सर्वशक्तित्वेन ब्रह्मणः प्रतिपादनात् सर्वशक्तिसंपन्नेन-ब्रह्मणा जगत्सृष्टौ नास्ति किञ्चिदपि बाधकमित्याशयेन सूत्रव्याख्यानायो-पक्रमते ''सर्वशक्तिसंपन्नश्चे''त्यादि । अयं परमात्मा सर्व प्रकारक शक्ति संपन्नस्तथात्वेन श्रुतिस्तं दर्शयति, ''सर्वकर्मा, सर्वकामः'' 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्'' ''परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'' इत्यादि एवञ्च श्रुतिभिः सर्वशक्तिमत्वेन प्रतिपादनात् सर्वशक्ति संपन्नः परमात्मा जगत उपादाननिमित्तकारणञ्च भवति । नतु प्रधानादीनां जगतः कारणतेति दिक् ॥३१॥

''यह पर्वत वह्निवाला है'' एसी प्रतिज्ञा मात्र से पर्वत में वह्निमत्व की सिद्धि नहीं होती है । किन्तु पर्वत रूप पक्ष में गृहीत व्याप्तिक तथा पक्ष धर्मता विशिष्ट धूम से ही वह्नि की सिद्धि होती है अतः परा देवता में सर्वशक्तिमत्व रूप साध्य की सिद्धि के लिए इस सूत्र से 'तद्दर्शनात्' इस हेतु का कथन किया गया है । वह परा देवता सर्वशक्ति युक्त है क्योंकि ''वह सर्वकर्मा है, सर्वगन्ध सर्वरस है, सत्य सङ्कल्प सर्वकाम है'' तथा, ''परास्य शक्तिः'' अति उत्कृष्ट विचित्र अनेक प्रकार शक्ति इस परा देवता में है'' । इस प्रकार अनेक शक्तियोग का परा देवता में श्रुति समुदाय प्रतिपादन करती है इस बात का स्पष्टीकरण करने के लिए वृत्तिकार कहते हैं ''सर्वशक्ति संपन्नश्च'' इत्यादि । यह परमात्मा सर्व शक्ति सम्पन्न है क्योंकि ''इस परमातमा के अति उत्कृष्ट विलक्षण अनेक शक्तियाँ हैं तथा स्वभाव सिद्ध इस परमात्मा में ज्ञानबलादिक हैं । इत्यादि अनेक श्रुति स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करती है कि परमात्मा में अनेक प्रकारक शक्तियाँ हैं । एतादृश अनेक प्रकारक शक्तियों से संपन्न परमात्मा इस सम्पूर्ण जगत् के प्रति उपादान तथा निमित्त कारण होते हैं ॥३१॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ।२।१।३२।

"न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते" [श्वे० ६।१६।] इत्यादिषु परमात्मनः करणराहित्यात्कुतस्तत्सम्भव इति चेदेतस्योत्तरं श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादिति सूत्रेणोक्तमेव ॥३२॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् ॥९॥

विवरणम्—ननु यथा कुलालो बाह्यकरण सापेक्ष एव घटादिकं सर्जयति. यथा वा देवा बाह्यकरण निरपेक्षा आन्तरकरण सापेक्षा एव सृष्टि कुर्वन्ति परमात्मा तु बाह्याभ्यन्तरकरण रहितः कथं सृष्टिं करोति। न च परमेश्वरोपि करण सापेक्षः "अचक्षुष्कम श्रोत्रमवागमनः" इत्यादिना परमेश्वरस्य करणराहित्य प्रतिपादनादिति चेत्. यथा बाह्यकरण निरपेक्षो देवादिरन्तरेन्द्रिय सापेक्षः सृष्टिं करोति तथैव सर्वकरणनिरपेक्षः परमेश्वरः स्वकीय सामर्थ्येन सकल सृष्टिं करोतीत्याशयेनोपक्रमते "न तस्यकार्यं करणञ्च विद्यते" इत्यादि, तस्य

सारबोधिनी—सर्वथा शरीरेन्द्रिय रहित परमात्मा किस प्रकार से सृष्टि करते है। क्योंकि घटादि कार्य में शरीरेन्द्रिय युक्त ही कुलाल घटादि कार्य को करता है। परमात्मा तो कार्य करण रहित है। इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं यह परमेश्वर रूपतत्व केवल आगम गम्य है, तर्क गम्य नहीं। इस बात को "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इस प्रकरण में कहा गया है। इस अभिप्राय को लेकर के सूत्र का व्याख्यान करने के लिए कहते हैं "न तस्य कार्यम्" इत्यादि। उस त्रिलोकीनाथ को कार्य अर्थात् शरीर नहीं है। अस्मदादि के समान भगवान् का शरीर प्राकृत नहीं है। और उस परमात्मा का करण बाह्येन्द्रिय चक्षुवागादिक तथा आन्तरकरण मन अहंकार बुद्धि नहीं है। उस परमेश्वर के सदृश कोई दूसरा नहीं है। और उस से अधिक तो कोई है ही नहीं। इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है कि परमेश्वर को शरीरेन्द्रियादिक के

परमेश्वरस्य कार्यं भोगाधिष्ठानं शरीरे नास्ति तथा करणं बाह्याभ्यन्तरमिन्द्रियमपि नास्ति तथा परमेश्वर सदृशः परमेश्वरादधिकश्चन कोपि विद्यते, इत्याद्यागमेषु परमेश्वरस्य करणादि राहित्यस्य प्रतिपादनात् करणादि विरहितः परमात्मा कथं सृष्टिं विदधाति नहि करण रहितः कुलालः समर्थो देवो वा सृष्टिं कुर्वन् दृष्टः कारणभावे कार्याभावस्य नियतत्वादिति पूर्वपक्षः । तदुक्तमिति । एतस्य प्रश्नस्योत्तरम् 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादि'त्यादि स्थले एवोक्तमिति । अर्थात् नेदं तर्कमात्र साध्यमपितु श्रुतिमात्रैकगम्यम् । नह्येकस्य यः स्वभावः सर्वस्यापि समान इति नियमः । लोके कुलालो देवो वा भवतु करणापेक्षः परन्तु सर्व सामर्थ्य युक्तः परमेश्वरः करण रहितोपि कार्यं करोत्येव। श्रुतिरेवैवं प्रतिपादयति, "अपाणि पादो जवनोगृहीतापश्यत्यचक्षुः स श्रुणोत्यकर्णः । न तस्य वेद्यं नहि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महा-

के अभाव का प्रतिपादन किया गया है । तब कार्यकारण रहित परमेश्वर जगत् रचना का निदान किस तरह से हो सकते हैं । इस प्रकार का जो प्रश्न उसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं "तदुक्तमिति" इस प्रश्न का उत्तर "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इस सूत्र में दे दिया हूँ । अर्थात् कुलालादिक बाह्य साधन सापेक्ष हो करके ही कार्य को करता है । परन्तु देवादिक बाह्य साधन निरपेक्ष होकर के मात्र आन्तर करणादि साधन सापेक्ष होकर के कार्य करते हैं । क्योंकि देवलोक मनुष्यापेक्षया अधिक महिमावान् है। इसी तरह सर्वशक्तिमान् सर्वैश्वर्य संपन्न परमेश्वर शरीरेन्द्रियादि के सहकार के बिना भी परमैश्वर्यबल से विचित्र अनेक प्रकारक हीन मध्यम, और उत्तमोत्तम जगत् का निर्माण करते हैं । जब परमेश्वर की कृपा लेशमात्र से ऋषि तथा देवतागण लौकिक साधनानपेक्ष होकर के भी विचित्र कार्य निर्माण करने में समर्थ होते हैं । तो तादृश परमेश्वर विचित्र रचना करते हैं, इसमें तो आश्चर्य ही क्या

अथ प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् ॥१०॥

न प्रयोजनवत्त्वात् ।२।१।३३।

ब्रह्मणो जगद्रचनाव्यापारस्सम्भवति न वेति संशयः । तत्र सृष्टयादिव्यापारस्य प्रयोजनवत्तैक सम्पाद्यत्वादीश्वरस्य चावाप्त समस्त-कामत्वेन प्रयोजनानपेक्षतया जगद्रचनाव्यापारो न सम्भवतीति पूर्वपक्षः ॥ ३३ ॥

न्त" मिति । इत्यादि शास्त्रं करण रहितस्यापि ब्रह्मणः सर्वं सामर्थ्य संबन्धमवगमयतीति ॥ ३२ ॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्रीरघुवरीय वृत्तिविवरणे कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् ॥९॥

विवरणम्—ननु प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः प्रयोजन प्रयोज्या, "नहि प्रयोज-नमभिसंधायमन्दोपि प्रवर्तते" इति नियमात् । परमेश्वरश्चजगद्रच-नायां प्रवर्तते इति पूर्व प्रकरणेन ज्ञापितम् । सेयं भगवतः प्रवृत्तिः स्वार्थमपेक्ष्य जायते करुणया वा जायते । तत्र नाद्यः तथात्वे अवाप्त कामत्वस्य व्याधातात् । न वा करुणया प्रवर्तते यतः परदुःख प्रहाणे-च्छैव करुणा सा च सर्गोत्तर काले दुखिनं जन्तुमवलोक्य तदुद्धाराय स्यात् । सा च सर्गोत्तर काले सर्गश्च करुणोत्तरे स्यात् इत्येवमन्योन्या-

है । इसका विशेष विवरण अन्यत्र देखें ॥३२॥

सारबोधिनी—परमेश्वर जगत् रचना का कारण नहीं हो सकते हैं । क्योंकि प्रवृत्ति मात्र के प्रति प्रयोजन आवश्यक है और परमेश्वर तो आप्तकाम हैं । उनको तो किसी भी कार्य में स्वार्थ नहीं है इस अभिप्राय से पूर्वपक्ष सूत्र का उत्थान करने के लिए वृत्तिकार उपक्रम करते हैं "ब्रह्म-णो जगदि" त्यादि । परमेश्वर को स्थावर जङ्गम साधारण जगत् का निर्माणार्थ व्यापार हो सकता है, अथवा तादृश व्यापार नहीं हो सकता है । एतादृश सन्देह होता है । क्योंकि विशेष धर्म का निश्चय संशय

भयात् न करुणाया सृष्टिरिति प्रवृत्ति व्यापकयोः स्वार्थ करुणयोर भावात् तद् व्याप्तस्य रचना व्यापारस्याप्यभाव इति नेश्वर कारणकं जगदिति पूर्वपक्षे, यथा महर्द्धि संयुक्तो राजादि राज्यादि प्रयोजनानपेक्ष एव क्रीडादौ प्रवर्तमानो भवति तथा प्रकृतेऽपि। न च तथात्वे हीनोत्तमादि जगत् सर्जने परमेश्वरे वैषम्यनैर्घृण्ययोरापत्तिरिति वाच्यम्, कर्मापेक्षत्वात् । नच प्रलयान्तर सृष्टौ तदभाव इति वाच्यम् कर्मणामनादित्वादित्यशयेन प्रकरणान्तर भारभमाणो वृत्तिकार उपक्रमते, "ब्रह्मणो जगद्रचनाव्यापारः" इत्यादि । ब्रह्मणो जगन्निदान कारणस्य परमेश्वरस्य जगदुत्पादनविषयको व्यापारः संभवति, अथवा नेत्याकारकः संशयो जायते । एकतरपक्ष नियामकस्य विशेषहेतोरभावात् । तत्र सृष्ट्यादि व्यापारस्ये" त्यादि । अर्थात् येयं चेतनानां प्रवृत्तिः सा प्रयोजनकरुणाभ्यां भवति । तत्र सृष्टौ परमेश्वरस्य किमपि

का प्रतिबन्धक है, तो प्रतिबन्धक के नहीं होने से सन्देह होता है ।

उसमें सर्ग विषयक जो व्यापार है वह प्रयोजनवान् पुरुष से संपादित होता है । और परमेश्वर तो आप्तकाम हैं । इसलिए प्रयोजनानपेक्ष होने से जगत् रचना का व्यापार नहीं हो सकता है। अर्थात् प्रेक्षावान् की जो प्रवृत्ति होती है वह स्वार्थ तथा करुणा से व्याप्त है । जहाँ प्रवृत्ति होगी वहाँ स्वार्थ अथवा करुणा अवश्यमेव रहेगी । प्रकृतमें यदि जगत् रचना करने में परमेश्वर का यदि कोई स्वार्थ है ऐसा माने तो अस्मदादिवत् स्वार्थग्रस्त होने से ईश्वर में भी अनीश्वरत्वापत्ति होगी, आप्तकामत्व का व्याघात होगा। यदि करुणा से ईश्वर जगत सर्ग होते हैं, ऐसा माने तब तो इस पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष होता है । तथाहि "परदुःख प्रहाणेच्छाकानाम करुणा" तो जब सृष्टि हो जायगी और उस सर्ग में दुःखी जीव को देखकर परमेश्वर को तदुद्धारार्थ इच्छा होगी, तो जब सर्ग होगा तदनन्तर करुणा होगी और जब करुणा हो

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।१।२।३४।

लीलैव केवला प्रयोजनमवाप्तसमस्तकामस्यापि परमात्मनो जगत्सर्गे सम्भवति। यथा लोके राजादीनां कन्दुकादि व्यापारे दृश्यते ॥३४॥

प्रयोजनं नास्ति प्रयोजनवत्व स्वीकारे अवाप्त कामत्व व्याघातात्। करुणापक्षे चान्योन्याश्रय दोष प्रसङ्गात्। तस्मादाप्त कामत्वेन प्रयोजन रहितः परमेश्वरः कथमिव जगद्रचनां कुर्यात् ? नैव करिष्यति। ततश्च परमेश्वरात्सृष्टिरिति न सम्यगिति पूर्वपक्षः ॥३३॥

विवरणम्-ननु सम्प्राप्त समस्तकामस्य भगवतः प्रयोजनाभावात् सर्गरचना व्यापारो न संभवति यतो हि प्रवृत्तिमात्रं प्रति प्रयोजनस्य कारणत्वात्। परमेश्वरस्यावाप्त समस्तकामतया प्रयोजनाभावात्, अन्यथा अवाप्तकामत्वव्याघातादिति प्रश्ने सिद्धान्तं दर्शयितुं सूत्रव्याख्यानव्याजेनाह 'लोकवदि'त्यादि। प्रकृत सूत्रे तु शब्दः पूर्व-

जायगी तब सर्ग होगा। इस प्रकार से अन्योन्याश्रय होता है। इस प्रकार से प्रवृत्ति प्रयोजक प्रवृत्ति व्यापक के अभाव होने से स्वार्थ करुणा का व्याप्य प्रवृत्ति का अभाव होने से परमेश्वर जगत् रचना का कारण नहीं बन सकते हैं। इसलिए परमेश्वर जगत् का कारण नहीं है ऐसा पूर्वपक्षवादी का अभिप्राय हैं ॥३३॥

सारबोधिनी—प्रवृत्ति के प्रति प्रयोजन को कारणता है। और परमात्मा तो अवाप्त सर्वकाम है। तब जगत् रचना में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है यदि कदाचित् परमेश्वर का भी प्रयोजन की कल्पना करें तब तो परमेश्वर में अनीश्वरत्व अस्मदादिवत् हो जायगा और अवाप्त सर्वकामत्व प्रतिपादक श्रुति का विरोध तथा तादृश श्रुति का अप्रामाण्य भी हो जायगा। इसलिए परमेश्वर जगत् रचना में कारण नहीं है। इस स्थिति में, "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि अनेक श्रुतियों का

पक्ष निराकरणपरकः । येयं जगत्सर्जने परमेश्वरस्य प्रवृत्तिस्तत्र लीला मात्रमेव प्रयोजनं न तदतिरिक्तं प्रयोजनमाप्तकामत्वाल्लोकवत् । यथा लोके संप्राप्तसर्वलौकिक कामः कश्चित् सम्राड् वा कश्चिन्महर्द्धिः सम्राडमात्योवाऽनभिसंधायैव लौकिकं प्रयोजनं कन्दुकक्रीडादौ प्रवर्तमानो भवति तथैव परमेश्वरोऽपि प्रयोजनान्तरमनपेक्षमाणो लीलामात्रं स्वभावमेव वा समधिगम्य जगत्सर्जनव्यापारे प्रवर्तते । यद्यपि प्रवृत्तिमात्रस्य स्वार्थपरोपकाराभ्यां व्याप्यत्वं दृश्यते तथापि लौकिक प्रवृत्तेरेवायं व्याप्यता नियमो नतु पारमेश्वरप्रवृत्तेरलौकिकत्वात्तस्याः । नहि लोकेप्ययं नियमःस्वांशादौ संभवन्त्या अपि लौकिक प्रवृत्तेः प्रयोजनाभावात् । परमात्मा तु संप्राप्त समस्तकामः सर्वैश्वर्ययुक्तः सर्वशक्ति-

तथा, "जन्माद्यस्य यतः" इत्यादि अनेक सूत्रों का बाध हो जाता है। इस प्रकार का जो पूर्वपक्ष, उसका निराकरण करने के लिए तथा सूत्र व्याख्यानार्थ उपक्रम करते हैं "लीलैव केवले"त्यादि । भगवान् अवाप्त सकल काम हैं तो किसी भी कार्य में जो लोगों की प्रवृत्ति होती है वह प्रयोजनमूलक ही होती है । क्योंकि निष्प्रयोजनक कार्य में प्रवृति "न कुर्यान्निष्फलंकर्मनात्यायामसुखोद्यम्" इत्यादि स्मृतियों से निषिद्ध है। और परमेश्वर तो अवाप्त सकलकाम हैं । इनको प्राप्तव्याप्राप्तव्य कोई वस्तु नहीं है । तब जगत् सर्ग बनाने में प्रयोजन नहीं होने से भगवान् की प्रवृत्ति नहीं होगी तब वे जगत् का कारण किस प्रकार हो सकते हैं ? इस प्रकार की जो शङ्का उसका निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं।" लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" यद्यपि भगवान् अवाप्त सर्वकाम हैं । तथापि लीलामात्र प्रयोजन से स्वभावतः जगत्सर्ग में उनकी प्रवृत्ति होती है । लौकिक राजाओं का जिस तरह लौकिक कन्दुकादि क्रीड़ा में । प्राप्त लौकिक सर्वकाम राजादिकों की जैसे क्रीड़ादि में प्रवृत्ति होती है उसी तरह लीलामात्र प्रयोजनक भगवतत्प्रवृत्ति होती है । इसी आशय

मान् कं प्रयोजन विशेषमपेक्षेत: ? तस्मात्स्वभावादेव जगद्रचनायां लीलामात्रादेव प्रवर्तते इति यदुक्तं सूत्रकारादिभिस्तत्सर्वं समीचीन मेवेति सूत्रवृत्तेः संपिण्डितोऽभिप्रायः। वृत्यक्षरार्थों न व्याख्यातोऽतिरोहितार्थत्वात्। अथवा 'लीलेव केवले'त्यस्य–लीलामात्रम् प्रयोजनम् भगवतः" अर्थात् लीलामात्र प्रयोजनमादाय भगवान् जगत्सर्गे प्रवर्तते. एतदतिरिक्तं प्रयोजनमवाप्तसर्वकामस्य भगवतो नास्ति। यथा लोके राजादिश्वाप्त सर्वलौकिक कामोपि क्रीड़ामात्रं प्रयोजनमनुलक्ष्य कन्दुकक्रीड़ादौ प्रवर्तमानो भवति। यथा वा प्रयोजनान्तरमनादायापि लोकानांश्वाशादौ प्रवृत्तिः स्वभावादेव जायते, तथैव स्वभावादेव जगत्सर्जन व्यापारे भगवतः प्रवृत्तिरिति। अथवा प्रयोजनमनादाय प्रवृत्तिर्न भवतीति लौकिको न्यायः, नहि लौकिको न्यायो भगवन्तं वाधितुमुत्सहते तस्य लोकातीतत्वात्। तस्मात्स्वभावादेव प्रयोजनानपेक्षोपि भगवान् जगत्सर्गे प्रवर्तते इति भगवत् प्रपन्नानां निष्कण्टकः पन्था इति ॥३४॥

को अभिव्यक्त करने के लिए कहते हैं "लीलैवकैवल्येत्यादि।' इस स्थावर जङ्गम साधारण जगत् सर्ग में अवाप्त सकलकाम भगवान् श्री साकेताधिपतिको जो प्रवृत्ति होती है उसमें लीलामात्र ही प्रयोजन है, नतु तदतिरिक्त कुछ प्रयोजन जैसे लोक में भी देखने में आता है कि महामहिमशाली राजाओं की प्रवृति कन्दुकादि व्यापार में होता है। वहाँ लीलेतर कोई भी भी अन्य प्रयोजन नहीं रहता है। यद्यपि प्रवृति मात्र में साक्षात्परंपरया स्वार्थ रहता है तथापि परमेश्वर में स्वार्थ की कल्पना नहीं हो सकती है, क्योंकि ऐसा हो तो ईश्वर में अवाप्तकामत्व प्रतिपादक श्रुतियों का बाध हो जायगा, क्योंकि श्रुति सूक्ष्मार्थ विषय में प्रमाण है। "तस्मात् लीलामात्र प्रयोजन को लेकर के परमेश्वर की प्रवृत्ति जगत् सर्ग में होती है। प्रतिमात्र साध्य वस्तु में तर्क अकिञ्चित्कर है। इति ॥३४॥

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ।२।१।३५।

नन्वेवं परमात्मनो देवादिजगदुत्पादने वैषम्यं स्यात् । दुःखोपहतजगत्सर्गे नैर्घृण्यञ्च स्यादिति चेन्न, परमात्मा क्षेत्रज्ञानां पूर्व-

---

विवरणम्–लीलामात्रेण भगवान् स्थावर जङ्गम जगतः सर्जनं करोतीति पूर्वं कथितम् । परन्तु नैतत्सम्भवति कुतः परमात्मादेवं ऽतिसुखिनं करोति,तिर्यगादिकं चाति दुःखिनं करोति मनुष्यञ्च मिश्रोपाधिमन्तमित्येवं जगत्सर्जने विषमता समापतति । तथा प्रलय काले सर्वान् संहरतीति नैर्घृण्यञ्चापद्यत इति चेत्सत्यम्, जीवकृत पूर्वकर्मसहकृतो भगवान् सृष्टिं करोति न स्वतन्त्रस्तथा सृष्टि करणे येन वैषम्यनैर्घृण्यदोषौ स्याताम् । श्रुतिश्चैवं दर्शयति, "पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन कर्मणा" इति । न च तर्हि जीवकृतशुभाशुभ कर्मैव सृष्टौकारणं भवतु किमीश्वरेणेति वाच्यम्. यथांऽकुरं प्रतिबीजस्य कारणत्वेऽपि जलादिकमन्तरेण तदुत्पत्तिर्न भवति तथैव सत्यपि कर्माणि चेतनसहकारमन्तरेण जगदुत्पत्तेरसंभवादित्याशयेनाह, "नन्वेवं परमात्मनः" इत्यादि नतु यदि परमात्मा लीलामात्रेण देवादिजगदुत्पाद्यति. देवमनुष्यनारकसृष्टिं करोति तदा वैषम्यं भगवत्यापतति तथा दुःखोपहत जगत्सर्गेवैषम्यं च स्यात् । अर्थात् प्रलयकाले सर्वस्यापिप्राणिसमुदायस्यविनाशतं नैर्घृण्यम्. एकमपि जीवं मारयन् लोकेऽतीव-

सारबोधिनी–लीलामात्र प्रयोजन से भगवान् जगत्सृष्टि करते हैं ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि देवमनुष्य तिर्यगादि विषय सृष्टि का उत्पादन करने से भगवान् में वैषम्य दोष प्राप्त होता है । तथा प्रलयकाल में सबका संहरण करने से नैर्घृण्य दोष भी होता है । इस शङ्का का समाधान करने के लिए कहते हैं "नन्वेवंपरमात्मनः" इत्यादि । यदि भगवान् देवमनुष्यादि विचित्रानेक प्रकारक जगत् का निर्माण करते हैं तो भगवान् में वैषम्य दोष होता है । क्योंकि एक को तो अति सुखी बनाते

पूर्वकर्मापेक्ष्य तदनुगुणं जगद्रचयतीति न वैषम्यं न वा नैर्घृण्यम् । तथा हि दर्शयति श्रुतिः "पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" [बृ० ४।४।५।] इति
"विकारश्चरामोदयाभिश्वस्तथात्वे । दयाशून्यतां पक्षपातञ्च नैति । प्रकारे विकारस्तथा चित्रसृष्टौ च हेतुर्यतः प्राणिनां प्राच्यकर्म" (श्रौतसिद्धान्तविन्दुः) इत्याचार्योक्तिश्च ॥३५॥

हीन दृष्ट्यामारक इति लोकैः कथ्यतेऽयं तु परमात्मा सर्वानेव विनाशयन्नतीव निर्घृणः स्यादितिचेन्न, कर्म सापेक्षत्वात् । क्षेत्रज्ञ जीवैरूपार्जितं यच्छुभाशुभंकर्म तदपेक्ष्य तादृश कर्मानुकूल्येन परमात्मा जगत्सर्जनं करोति. तत्र यस्यातीव शुभकर्म तस्य देवादेः सुखमय्यां सृष्टौ निक्षिपति भगवान । यस्यतु दुःखप्रयोजकमशुभकर्मतं नरकादौ पातयति । यस्य मरण प्रयोजकं कर्म कार्योन्मुखं तं प्रलये विनाशयति. इति यादृशं यस्य कर्म तस्मै तादृशमेवफलं ददाति परमेश्वर इति नावसरो भवति वैषम्य नैघृण्यदोषस्येति । "तथाहि दर्शयति श्रुतिः" नेदं पूर्वोक्तवचनं कपोलकल्पितं किन्तु श्रुति प्रतिपादितमेव. तथा च श्रुतिः "पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन कर्मणा" इति पुण्य कर्म सहकृतो जीवः पुण्यकर्मबलेनप्रशस्तां योनिं प्राप्नोति तथा पापेन कर्मणा सहकृतो जीवः पापः पापयोनिमाप्नोतीति । तथा च सृष्टौ यद्वैषम्यं तत् नेश्वरकृतं किन्तु तदीय शुभाशुभकर्मकर्मकृतमेवेति भावः तदाहुर्जगद्गुरवः । श्रीश्रियानन्दाचार्या श्रौतसिद्धान्तविन्दुनामक

है दूसरे को अति दुःखी बना देते है। एवं दुःख से उपहत जगत्सर्ग में नैर्घृण्य भी होता है । अर्थात् प्रलय काल में भगवान् सकल प्रजा का संहार कर देते हैं; इससे नैर्घृण्य दोष भी होता है। उत्तर "सापेक्षत्वात्" इति । परमेश्वर जीव का जो पूर्वपूर्वतर भवोपार्जित शुभाशुभ कर्म है उसकी अपेक्षा करके तादृश कर्म के अनुकूल जगत् को बनाते हैं । अर्थात्

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ।२।१।३६।

सृष्टेः प्राक् क्षेत्रज्ञविभागाभावस्य "सदेव सोम्येदमग्रआसीत् [छा० ६।२।१।] इत्यादि श्रुतेरवगमान्न तदानीं क्षेत्रज्ञानत्रातत्कर्माणीति

प्रबन्धे "विकारश्चरामोदयाब्धिस्तथात्वे दयाशून्यता पक्षपातञ्च नैति। प्रकारेविकारस्तथाचित्रसृष्टौ च हेतु र्यत प्राणिनां प्राच्यकर्म ।। इति ।। न च यदि देवादि विषम सृष्टौ कर्मै वकारणं तदा परमेश्वरकल्पनमनर्थकमेव कर्मणैवसर्वसम्भवादितिवाच्यम् बीजपर्जन्यवत्तत्सम्भवात् । अर्थात् यथाङ्कुरोत्पत्तौ तत्तद्बीजसत्त्वेप्यङ्कुरोत्पत्तिर्मेघसहकारमन्तरेण न जायते तथैव कर्मणो विद्यमानत्वेऽपि परमेश्वरं विनासृष्टेरसम्भवात् । अचेतनं कर्म चेतन सहकारमन्तरेणकार्यंकर्त्तुंनोत्सहते । यथावा शाल्यादि विलक्षणकार्येतत्तद्बीजानां जनकता साधारणं तु जलादिकं तद्विना तदनुपपत्तेस्तथैव परमेश्वरश्चेतनः साधारणकारणं सृष्टौ असाधारणकारणं तु जीवैः पूर्वभवपरंपरयोपार्जिततदीयं कर्मैव ।तस्मात्परमेश्वरेवैषम्यनैर्घृण्य दोषस्य सम्भावनानावतरतीति पूर्वोक्तन्यायात्सिद्धम् ॥३५॥

विवरणम्—स्यादेतत् सृष्टेः पूर्वकाले नासत् क्षेत्रज्ञा नवा तेषां कर्माण्यासन् "सदेव सोम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुत्या सर्ववस्तूनामविभागश्रवणात् । तत्कथं कर्मप्रयोज्योवैषम्यनैर्घृण्यभावः शुभ कर्म के सहकार से सुखी को तथा अशुभ कर्म के सहकार से दुःखी को बनाते हैं। सुखदुःख में तत्तत् कर्म को कारणता है। इसलिए भगवान् में वैषम्य नैर्घृण्य दोष नहीं होता है। ऐसा हो श्रुति कहतो है "पुण्य कर्म से पुण्य योनि को प्राप्त होता है और पापकर्म के बल से पाप योनि को प्राप्त करता है ॥३५॥

सारबोधिनी— "सदेवसोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" "हे सोम्य यह परिदृश्यमान जगत उत्पत्ति के पूर्वकाल में एक अद्वितीय सत्स्वरूप

कुतस्तत्सापेक्षा विषमा सृष्टिरिति चेन्न, अनादित्वा ज्ज्ञतदुपार्जितकर्मणाम् । सृष्टेः प्रागपि क्षेत्रज्ञकर्मप्रवाहस्य विद्यमानत्वा् । अविभागश्रुतिस्तु, "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" इति श्रुतेर्नामरूपविभागाभावादुपपद्यते । "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" इति श्रुतेः क्षेत्रज्ञानादित्वमुपलभ्यते च ॥३६॥

प्रतिपाद्यते इति विभागकारणस्य कस्यचिदपि नियामकस्याभावात्संभवेतामेवतौ दोषाविति चेन्न. कर्मणां तदुत्पादक जीवानां चानादित्वात् । ततश्च पूर्वपूर्वभव संपादित कर्मबलेनोत्तरोत्तर जगत्सृष्टिस्वीकारेण कर्मप्रयोज्यदोषाभावस्यापपत्ति संभवादित्याशयेनाह सृष्टेः प्रागि"त्यादि । "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" [हे सोम्य श्वेतकेतो । इदं परिदृश्यमानं नामरूपाभ्यां विभज्यमानमिदं स्थावर जङ्गमात्मकं स्थूलं जगदग्रेकारण व्यापारात् प्राक् समये एकमेवाद्वितीयमासीत्, अर्थात् सर्वं जगत् ब्रह्मणाऽविभक्तमासीन्नासीत्. तेषांथा ।" इत्यादि श्रुति से सृष्टि के पूर्वकाल में कर्म का भी अविभाग था, तो सृष्टि के पूर्व में तो कर्म नहीं था, तब कर्मापेक्षविषम सृष्टि होती है यह कहना ठीक नहीं है । एतादृश शंका का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते है । "सृष्टेः प्राक् क्षेत्रज्ञे" त्यादि । जगत् सर्ग के पूर्वकाल में जीव तथा कर्म का जो विभाग, तादृश विभाग का अभाव "हे सोम्य ! परिदृश्यमान समस्त जगत उत्पत्ति के पूर्व में सत्स्वरूप था इत्यादि श्रुति से अवगत [ज्ञात] हो रहा है, इसलिए सर्ग के पूर्वकाल में न क्षेत्रज्ञ—जीव था, नवा जीव संबद्ध शुभाशुभ कर्म ही थे । तब कर्ममूलक देवादि विषम सर्ग होता है, यह कहना ठीक नहीं है । इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—"अनादित्वा" दित्यादि । क्षेत्रज्ञजीव तथा जीव से उपार्जित जो शुभाशुभ कर्म हैं वे अनादि हैं । सर्ग के पूर्वकाल में भी क्षेत्रज्ञ जीव तथा तदीय कर्म का प्रवाह अनादि होने से विद्यमान ही है । जिस

परस्परं विभाग इति ततश्च जीव जीव कर्मणा विभागाभावात्कथं कर्ममूलप्रयोज्य विषमासृष्टिरपितु समैवसर्वासृष्टिः स्यान्न तु तथा दृश्यते किन्तु देवादि विभागपूर्विकासृष्टिर्दृश्यते इति वैषम्यनैघृण्यदोषोनोधृतो भवतीति पूर्वपक्षाशयः । उत्तरयति सूत्रावयवेन, "अनादित्वादिति । अर्थात् क्षेत्रज्ञा जीवास्तेषां कर्माणि सर्वाण्येतानि. अनादीन्येव। अर्थात् क्षेत्रज्ञ तदुपार्जित कर्मणामनादितैवप्रवाहरूपेण विद्यते । सृष्टि पूर्वस-मयेऽपिसूक्ष्मरूपेणसर्वाणि सन्त्येवनत्वविद्यमानान्यासन् । ततश्च जीवकर्म प्रयोज्या विषमासृष्टिर्भवतीति न वैषम्यनैर्घृण्यदोषौ संभवत इति । ननु यदि सृष्टेः पूर्वं सर्वमप्यासीदेव तदा "सदेव सोम्येदमग्र आसीदि" त्यादि श्रुति प्रतिपादिताविभाग श्रवणं कथमुपपद्यते तत्राह "अविभाग श्रुतिस्तु" इत्यादि । "तद्धेदम्" तदिदं परिदृश्यमानं जगत तर्हि सृष्टे पूर्वकाले अव्याकृतम्, नामरूपविभागरहितमासीत् ।] अत्र श्रुतौ जगतो-नामरूपविभागाभाव प्रतिपाद्यते । ततश्च सर्ववस्तूनामविभागश्रवणं-

प्रकार से इदानींकाल में जीव तथा जीव का कर्म है उसी तरह सर्ग पूर्व काल में भी पूर्व पूर्वतर भवोपार्जित कर्म का प्रवाह रहता ही है । पूर्व पूर्व कर्म से उत्तरोत्तर सर्गप्रवाह चलता रहता है । इसलिए कर्म मूलक विषम सृष्टि के होने में किसी प्रकार की क्षति नहीं होती है । यदि सर्ग के पूर्व में भी जीव तथा तदीय कर्म विद्यमान है तब "सदेव सोम्येदमग्रे" इत्यादि श्रुति की क्या गति होगी ? इस शङ्का के निराकरण करने के लिए कहते हैं "अविभाग श्रुतिस्तु" इत्यादि । सर्ग के पूर्वकाल में सभी पदाथ के अविभाग बोधक जो "सदेवेत्यादि" श्रुति हैं वे "तद्धेदम्" वह यह नाम रूप से व्याक्रियमाण जगत् तर्हि तदा सर्ग पूर्वकाल में अविभक्त नाम रूपवाला था । इस प्रकार नाम रूप के विभागाभाव से उपपन्ना होती है पूर्व श्रुति । अर्थात पूर्वकाल में जगत नहीं था इसका यह अर्थ नहीं है कि जगत का अत्यन्ताभाव

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ।२।१।३७।

प्रधानकारणवादे येषां धर्माणामनुपपत्तिरिस्ति तेषां धर्माणां साम-

---

नामरूपविभागाभावादुपपद्यते एव। सृष्टेः पूर्वं न जीवानामत्यन्ताभावः किन्तु नामरूपादिविशिष्ट वस्तुनामेवाभावः। तदाहुराचार्याः–"इदं प्रत्यक्षादिप्रमाणेन परिदृश्यमानं जगद्विभक्तनामरूपं बहुत्वावस्थं सृष्टेः पूर्वनिमित्तान्तर रहितमविभक्त नामरूपतया एकं सच्छब्द शब्दितं ब्रह्मलक्षणमेवाभवत्" (आनन्दभाष्यम् ६।२।१) इति। तत्र विशेषण-योर्नामरूपयोरभावात् विशिष्टस्याप्यभावो लक्ष्यते. दण्डाभावेदण्डीपुरुषा-भाववत्। विशेषणाभावस्यविशिष्टाभावप्रयोजकत्वात्] एवम्, "ज्ञ अज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" इत्यादि श्रुत्या क्षेत्रज्ञादीनामनादिता प्रतिपा-दिता भवति। "धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इत्याद्यनेक श्रुतिभिः संसारस्य जड़चेतनसाधारणस्यानादितोपलभ्यते। तस्मात्कर्मप्रयोज्या-विषमा सृष्टिरितिनेश्वरेवैषम्यादि दोषतेति संक्षेपः ॥३६॥

विवरणम्–स्थावर जङ्गमसाधारण जगतो यत् कारणं तत्सर्वज्ञं सर्वशक्ति समन्वितं चेतनं चेति कारणस्य धर्माः शास्त्रे प्रदर्शिताः। तत्र

था, किन्तु यथा सर्ग समय में विभक्त नाम रूप से परिदृश्यमान होता है। उस रूप से सर्ग पूर्व में नहीं था। किन्तु बीज में वृक्ष के समान कारण परमेश्वर में निहित था। एवम् "ज्ञाज्ञौ" इत्यादि श्रुति से भी क्षेत्रज्ञ तथा तदीय कर्म का अनादित्व सिद्ध [illegible] है। तथा "धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इत्यादि अनेक श्रुतियों से सिद्ध होता है कि यह जगत् प्रवाह अनादि है। विशेषता इतनी ही है कि सर्गकाल में जगत् विभक्त नाम रूप से परिदृश्यमान होता है और प्रलय काल में नामरूप विभाग को छोड़ करके सूक्ष्म रूप से कारण में व्यवस्थित रहता है। जैसे बीज में वृक्ष निहित रहता है उसी तरह प्रकृत में भी समझना चाहिए। ॥३६॥

स्त्येनात्र ब्रह्मकारणवादे समुपपत्तेश्च ब्रह्मैव जगत्कारणमिति सिद्धम् ॥३७॥

इति श्रीरघुवरीय वृत्तौ प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम ॥१०॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठित श्रीमदनुभवानन्दस्वामिद्वारकेण जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्येत्युपाधिविभूषितेन ब्रह्मवित्स्वामि श्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीरघुवरीयवृत्तौब्रह्मसूत्रीय वेदान्तवृत्तौ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

प्रधानादेः कारणतायां शब्दस्पर्शादिराहित्यात्मककारण धर्मस्य संभवेपि सर्वज्ञत्व चेतनत्व सर्वद्रष्टृत्वादि धर्माणां समन्वयो न संभवति, तेषां चेतनत्व निखिलकल्याण गुणवत्वादीनां ब्रह्मकारणवादे समन्वय संभवाद् ब्रह्मकारणवाद एवोपपन्नो भवति नतु प्रधानादिकारणवाद इत्याशयेनाह "प्रधानकारणवादे" इत्यादि । प्रधानकारणवादे=सत्वरजस्तमसः साम्यावस्थैवाव्यक्तंमूल प्रकृति प्रधानम् । तदेव त्रिगुणात्मकस्य जगत उपादान कारणमिति येषां मतं तन्मते. सर्वज्ञत्व चेतनत्व निखिलकल्याण गुणाधारत्वादीनां, कारणत्वाभिमते प्रधानेऽचेतने समुपपत्तिर्न भवति । तेषां सर्वज्ञत्वादि सर्वधर्माणां साकल्येनात्र प्रकृत ब्रह्म कारण-

सारबोधिनी—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि श्रुतियों से जो जगत् का कारण रूप से कथित है उन रूपसे जगत् कारण कथित अदृश्यत्व सर्वद्रष्ट्रत्व सर्वज्ञत्व चेतनत्वादिक धर्मों का होना प्रधानकारणवाद में असंभवित है । तथा उन सब चेतनत्वादिक धर्मों का ब्रह्मकारणवाद में समन्वय हो जाता है । इस अभिप्राय से वृत्तिकार अग्रिम सूत्र का उपक्रम करते हैं "प्रधानकारणवादे" इत्यादि । प्रधानकारणवाद में अर्थात् सुखःदुःखमोह समन्वित जगत् का त्रिगुणात्मक प्रधान ही उपादान कारण है ऐसा जो मानते हैं, उनके मतमें कारण में अभिमत जिन जिन चेतनत्वादि धर्मों का समन्वय नहीं होता है, उन सभी कल्याणगुणाकरत्व चेतनत्व सर्वज्ञत्वादि सकल गुणों का समन्वय ब्रह्म श्रीराम में सम्पूर्ण रूप से होता है । इसलिए साकेताधिपति भगवान श्रीरामचन्द्र ही इस स्थावर जङ्गम

॥ श्रीरामचन्द्राय नमः ॥
प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकाराय नमः
अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ।२।२।१।

एतावता ग्रन्थेन साङ्ख्यादिमतान्यनौपनिषदान्यभिधाय परस्मिन्-ब्रह्मण्येव वेदान्तानां समन्वयः प्रसाधितः । अथानेन पादेनाऽवैदिक मतान्यपाकृत्य स्वमतं व्यवस्थापयिष्यन्नादौ प्रधान कारणवादं विचार-

---

वादे समन्वयस्य संभवात् ब्रह्मकारणवाद एव श्रेयान् । एतादृशं चाखिल गुणालयं चेतनं ब्रह्मैव जगतः कारणं नतु सर्वथा ज्ञानादि धर्मरहितं जड़ं प्रधानादिकमिति संक्षेपः ॥३७॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् ॥१०॥
इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यान्वयपीठप्रतिष्ठित जगद्गुरुश्रीअनुभवानन्दाचार्यद्वारक जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरघुवराचार्यपट्टसच्छिष्य जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेद्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

विवरणम्—"जन्माद्यस्य यतः" इत्यारभ्य द्वितीयाध्यायप्रथमपादान्तप्रकरणेन वेदान्तवाक्यानां परब्रह्मणिसमन्वयः प्रतिपादितस्तथा-

साधारण सकल जगत् का कारण हैं । किन्तु प्रधानादिक जगत् का कारण नहीं, यह सिद्ध हुआ ॥३७॥

इति प्रयोजनवत्वाधिकरणम् ॥१०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र कृपापात्रपश्चिमाम्नाय श्रीरामानन्द पीठाधिष्ठित स्वामिरामेश्वरानन्दाचार्य कृतिषु श्रीरघुवरीयवृत्ति सारबोधिन्यां द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।
सर्वेश्वर श्रीसीतारामः प्रीयताम्

सारबोधिनी—"जन्माद्यस्य यतः" यहाँ से लेकर के द्वितीयाध्याय के प्रथम पादान्त प्रकरण से सर्वज्ञ सर्वशक्ति समन्वित पुरुषोत्तम श्रीराम इस

यति। तत्र प्रधानकारणवादः सयुक्तिको न वेति संशयः। गुणत्रय-कार्याणां सुखदुःखमोहादीनां जगति सततमुपलम्भात् त्रिगुणात्मकं जगत्प्रधानकारणकमेवस्यादिति पूर्वपक्षः। अत्राभिधीयते—अनुमान-

---

पुरुषोत्तमः श्रीराम एवास्य जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानमित्यपि व्यवस्थापितम्। तच्च स्वमतम्। परन्तु तावत्पर्यन्तं स्वमतदार्ढ्यं न भवति यावत्परकीयमतस्य निराकरणं न क्रियेत इति वाक्य निरपेक्ष युक्ति-बलेनपरमत निराकरणाय द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः प्रारभ्यते। यद्यपि परपक्ष निराकरणेन परद्वेषो भवति स चानिष्टो मुमुक्षुणाम्, तथापि यावत्परपक्षो न निराक्रियते तावत्स्वपक्षस्थापनं सम्यग् न भवतीति कृत्वा परपक्ष निराकरणं युक्त्या कर्तुमयमारंभः प्रवर्तते। तत्र सांख्या-द्यभिमतानि प्रधानादीनि जगतः कारणं न भवति किन्तु परब्रह्मैवा भिन्ननिमित्तकारणं भवतीति प्रथमतः सांख्यमतमेव विचारयितुं वृत्तिकार उपक्रमते, "एतावता ग्रन्थेने"त्यादि।' एतावताग्रन्थेन समतीति प्रकरणेन सांख्यादीनां यानि मतानि तानि नौपनिषदानि इति प्रतिपाद्य परस्मिन् पुरुषोत्तमे एव वेदान्त वाक्यानां समन्वय इति स्थिरीकृतः।

जगत का अभिन्न निमित्तोपादन कारण हैं एतादृश स्वमत का व्यवस्थापन किया गया। परन्तु स्वमत की दृढ़ता तभी हो सकती है जब पर मत का निराकरण कर दिया जाय। अतः पर मत जो वेदान्त का विरोधी हैं जैसे सांख्यादिक उन सब मत का निराकरण करने के लिए द्वितीयाध्याय द्वितीय पाद का प्रारम्भ करते हुए सांख्यादि मत का खण्डन करने का उपक्रम करते हैं, "एतावताग्रन्थेन" इत्यादि। द्वितीयाध्याय के प्रथमपादान्त ग्रन्थ प्रकरण से सांख्यादिक मत उपनिषत्प्रसिद्ध नहीं है यह कहकरके पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामात्मक ब्रह्म में ही सर्व वेदान्त का समन्वय है ऐसा सिद्ध किया गया। अब इस द्वितीय पाद से अवैदिक मतान्तर का निराकरण करके स्वकीय मत को व्यवस्थापित करने के लिए सर्वप्रथम

गम्यं प्रधानं न जगतः कारणम् । जडात्मकस्य प्रधानस्य सर्वज्ञत्वसर्वशक्त्याद्यभावेन जगद्रचनानुपपत्तेः । सूत्रे च शब्दात्सुखादीनां वस्तुधर्मता नास्तीत्युच्यते ॥१॥

ततः परमनेन द्वितीयपादेन अवैदिकमतानि सांख्यादीति युक्त्या निराकृत्य स्वमत व्यवस्थापनं कर्त्तव्यम् । यतो यावत् परमतं न निराक्रियते तावत्पर्यन्तं सम्यक् स्वमत व्यवस्थापनं भवति । यद्यपि परद्वेषजनकं परमतनिराकरणमनुचितं तथापि स्वपक्ष स्थापनाङ्ग रूपं तस्याप्यावश्यकत्वात् । अतः स्वमत व्यवस्थापनार्थं प्रथमतः प्रधानकारणवाद मेव विचारयति । इतरवादापेक्षया प्रधानकारणवादस्य वरिष्ठत्वात् । तस्मात्प्रधानमात्रनिर्वहणन्यायेनतमेव विचारयति ।

तत्र योयं प्रधानकारणवादः सुविचार्यमाणे युक्तियुक्तो भवति न वेति संशयः । तत्र सत्त्वरजस्तमो रूपगुणत्रयजन्यानां सुखदुःखमोहानां प्रत्येकस्मिन् पदार्थे नियमतः समुपलब्धि दर्शनात्. गुणत्रयविशिष्टमिदं स्थावर जङ्गमात्मकं जगत् गुणत्रयात्मक प्रधानेन जायमानमिति प्रधानकारणवादो युक्ति युक्त एव । अयमाशयः सर्वोंपि परिदृश्यमानो घटादि

प्रधान कारणवाद पर विचार करते हैं। क्योंकि परपक्ष का खण्डन किये बिना स्वमत दृढ़ नहीं हो सकता है । यद्यपि मुमुक्षु को चाहिए कि वाद कथा से ही विचार करना चाहिए । कथान्तर से तो केवल पर द्वेष ही होता है और मुमुक्षु के लिए परद्वेष उचित नहीं है तथापि जब तक परपक्ष का निराकरण नहीं किया जाय तब तक स्वपक्ष की स्थिति नहीं होगी । अतः परपक्ष खण्डन का प्रयास किया गया है । पर पक्ष का खण्डन खण्डनबुद्धि से खण्डन नहीं किया गया है । स्वपक्ष स्थापन बुद्धिमात्र से किया गया है । "तत्रप्रधानकारणवाद" इत्यादि । जो यह प्रधान कारणवाद है वह समीचीन युक्ति से समुपपन्न है अथवा नहीं ऐसा संशय होता है । प्राचीन के मत से संशय अनुमिति का पक्षता रूप से

पदार्थः कस्यचित्सुखाय भवति. कस्यचिद्दुःखाय कस्यचिन्मोहाय भवतीति सर्वानुमतम् । कार्यञ्च स्वसजातीय कारणजन्यमेव यथा कटकरूचकादि. सुवर्णात्मनाकारणेनानुगतो भवति, यथा वा घटः स्वसजातीयमृत्कारणक एव भवति तथैवं जगत गुणत्रय युक्तमनुभूय मानं गुणत्रयात्मक कारणसाध्यं प्रधानमाक्षिपतीति सोयं प्रधानकारणवादः स युक्तिकं इतिपूर्वपक्षकर्त्तुराशयः ॥ उत्तरयति–"अत्राभीधीयते" रचनानुपपत्ते र्नानुमानम्" अनुमान प्रमाणगम्यं प्रधानं न जगतः कारणं संभवति कुतः ? रचनानुपपत्तेः । प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधादित्यादि प्रकरणेन प्रकृतेऽभिन्ननिमित्तोपादानता समाधिगता ततश्च जड़े प्रधाने सर्वशक्तिमत्वसर्वज्ञत्व चेतनत्वादि धर्माणामभावात् तेन प्रधानेन जगद्रचना कर्त्तुमशक्यत्वात् । किन्तु चेतन सर्वज्ञं सर्वशक्ति समन्वितं ब्रह्मैव विचित्रान भावान्मनसाऽकल्प्यजगद्रचनां करोति । एतदेव दर्शयति "अनुमानगम्य"मित्यादि ।' अनुमानगम्यमर्थादनुमान प्रमाण सिद्धं सांख्यपरिकल्पितं त्रिगुणं प्रधानं जगतः कारणं न सम्भवति । कुतः ? जड़स्वरूपे प्रधाने सर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्व चेतनत्वादि

कारण होता है। अतः विचार के पूर्व में संशय का प्रदर्शन आवश्यक होता है । संशय के बाद पूर्वपक्ष होता है कि सत्त्वगुण रजोगुण तथा तमो गुणों का यथा संख्य सुखदुःख मोह ये कार्य हैं। ये तीनों प्रत्येक पदार्थ में सतत उपलब्ध होते हैं । इसलिए त्रिगुणात्मक इस जगत् का सजातीय त्रिगुणात्मक प्रधान को ही कारण होना चाहिए । ब्रह्म तो निर्गुण है। तब वह सगुण जगत् का कारण नहीं हो सकता है किन्तु त्रिगुणात्मक प्रधान ही जगत् का कारण है । ऐसा पूर्वपक्ष का आशय है। इसके उत्तर में कहते हैं–"अत्राभिधीयते" अनुमानगम्य प्रधान जगत् का कारण नहीं है। क्योंकि वह जड़ है। अतः उसमें सर्वज्ञत्वादि धर्म के अभाव होने से जगत् की रचना नहीं हो सकेगा । इसी का उपपादन

प्रवृत्तेश्च ।२।२।२।

अनुपपत्तेरिति च वर्तते । गुणत्रयसाम्यावस्थाप्रहाणानन्तरं गुणैरङ्गाङ्गित्वमुपेत्य कार्यमारभतइति तन्मतमप्ययुक्तम् । चेतनाधिष्ठितस्याधर्माणामभावात् । तस्मान्नानुमानगम्यं प्रधानं जगतः कारणमपितु सकल कल्याण गुणसागरः सर्वशक्त्याद्युपपन्नो जगतः कारणमिति । सूत्रेवर्तमानश्चकारः सुखादि जीवधर्माणां घटपटादि वस्तुधर्मतामपाकरोति । अयं भावः न सुखादयो वस्तुधर्मा अपितु जीवस्यैव धर्माः यतः सुखादीनामान्तरत्वात् बाह्यत्वाच्च घटादीनामनयोस्तादात्म्यानुपपत्तेः । अपि च सुखादीनां शब्दादयो निमित्तम् । अनुकूल शब्देन सुखोत्पत्ति दर्शनात् प्रतिकूलेन च तेन दुःखोत्पाददर्शनात् । नहि–जन्यजनकयोरभेदः । नहि भवति दण्डजन्यो घटो दण्डाद्यात्मक इति सुखदुःखयुक्तेनकार्येण सुखदुःखात्मक प्रधानस्य परिकल्पनमिति संक्षेपः ।।२।२।१।।

विवरणम्—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम् । तेषु यदा एकः प्रधानभावं भजते तदन्यश्च गौणतां तदा अङ्गाङ्गिभावे सति महदादिकार्ये प्रवृत्तिर्भवति । सेयं महदादि सर्गाय प्रवृत्तिर्जायमाना-करते हैं, "अनुमानगम्यमित्यादि" अनुमान प्रमाणगम्य नतु आगमप्रमाण-गम्य प्रधान जगत् का कारण नहीं है । क्योंकि जड़ात्मक जो प्रधान उसमें कारणतावच्छेदकी भूत सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्व चेतनत्वादिक धर्म के अभाव होने से जगत् की रचना अनुपपन्न है ।

सूत्र में जो "च" शब्द है वह बतलाता है कि सुखादिक घटपटादि वस्तुओं का धर्म नहीं है । ज्ञान तथा सुख दुःखों का सामानाधिकरण्य है । जिसमें ज्ञान रहता है उसी में सुखादिक भी रहता है । ज्ञान जीव का धर्म है । तब सुखादिक विषय का वह किस तरह हो सकता है । सुख आन्तर पदार्थ है । उसमें शब्दादि निमित्त कारण है । अतः सुखादि समन्वितत्व पदार्थों में असिद्ध है । विशेष विचार भाष्य विवरण में देखें ।२।२।१।

चेतनस्य लोके प्रवृत्तिदर्शनाच्चेतनानधिष्ठितस्य प्रधानस्य स्वतोऽङ्गाङ्गिभावाभावाद्गुणवैषम्याभावेन कार्यजननप्रवृत्तेश्चानुपपत्तेर्नानुमानं जगत्कारणम् ॥२॥

प्रवृत्तिरपि चेतनं कमप्यधिष्ठानं गमयति । नहि चेतनाधिष्ठानमन्तरेण महदादि पिण्डादौ प्रधाने गौणानां दण्डचक्रादीनां समवधानं भवति । तस्माद् येयं प्रधानस्य महदाकारेण द्वितीया प्रवृत्तिः सापि चेतनाधिष्ठानं विना न सम्भवतीत्यतः "शक्तितः प्रवृत्तेश्च" इत्याकार कोयः सांख्यस्य हेतुः स च सिद्ध इति दर्शयितुं सूत्रोत्थानं कर्त्तुश्चाह 'अनुपपत्तेरित्यादि' । महदाद्याकारेणया प्रधानस्य प्रवृत्तिः सा अनुपपन्ना चेतनस्याधिष्ठातुरभावादिति । पूर्वसूत्रादत्र सूत्रे अनुपपत्तेरिति पदमनुवर्तनीयं भवति । सत्त्वरजस्तमसः साम्येनावस्थानात्मिकाऽवस्थैव प्रधानम् । तादृशावस्थाया विनाशानन्तरं गुणाः सत्त्वादयः परस्परमङ्गा-

सारबोधिनी—जिस तरह अचेतन रथादिक चेतनाधिष्ठान के बिना स्वतः कार्य करने में प्रवृत्ति नहीं, इसी तरह अचेतन प्रधान का गुण प्रधान भाव से जो महदादि कार्य के लिए प्रवृत्ति होती है वह प्रवृत्ति अनुपपन्न है । क्योंकि प्रकृति का अधिष्ठाता कोई चेतन नहीं है । तो प्रधान की प्रवृत्ति रूप हेतु भी साधक नहीं है । इस बात को समझाने के लिए उपक्रम करते हैं "अनुपपत्तेरित्यादि ।' महदाद्याकार से प्रधान प्रवृत्ति के अनुपपन्न होने से प्रधान कारणवाद ठीक नहीं है "रचनानुपपत्तेश्च" इस सूत्र से प्रकृत सूत्र में अनुपपत्तेः इसका अनुवर्तन किया जाता है । तब यह अर्थ होता है कि प्रवृत्ति की अनुपपत्ति होने से सांख्यमत ठीक नहीं है । इसी का उपपादन करने के लिए अग्रिमग्रन्थ का उत्थान करते हैं ।, "गुणत्रयेत्यादि सत्त्वरजस्तमोगुण की जो साम्यावस्था, उसका प्रहाण प्रणाश के बाद में सत्त्वादिक गुण परस्पर में अङ्गाङ्गीभाव को प्राप्त करके महदादि कार्य को उत्पन्न करता है । अर्थात् जब

ङ्गिभावमासाद्य महदादिकं कार्यमारभन्ते, इति सांख्यानां मतम्। परन्तु तन्मतं न समीचीनम्। यतो लोके दृश्यते यत् चेतने कुलालादिना अधिष्ठिता एव मृत् पिण्डादयो घटादि कार्य करणाय प्रवर्तमाना भवन्ति यथा वा चेतनेनाश्वादिनाऽधिष्ठिता एव रथादयः प्रवर्तन्ते। प्रकृते च चेतनस्य कस्यचिदधिष्ठातुरभावात् चेतनानधिष्ठितस्य प्रधानस्य स्वतोऽङ्गाङ्गिभावस्याभावेन गुणानां वैषम्याभावेन कार्यस्य महदादेरुत्पादिकायाः प्रवृत्तेरभावात्. अनुमानप्रमाणगम्यमिदं प्रधानमाकाशादिजगतः कारणं कथमपि न सम्भवति। यतः प्रधानप्रवर्तकस्य चेतनस्य तेनास्वीकारादतः सर्वशक्तिसमन्वितं सर्वज्ञं चेतनं परब्रह्मैव सर्वस्यापि स्थावरजङ्गमजगत उपादानं निमित्तकारणं च भवतीति यथा रचनानुपपत्त्यापराकृतं तन्मतं तथा प्रवृत्त्यनुपपत्त्यापीति संक्षेपः ॥२॥

सत्त्वगुण प्रबल होता है और इतर गुणद्वय अभिभूत होते हैं अथवा रजोगुण अधिक हो जाता है तदितर गुणद्वय न्यून मात्रा में रहते हैं तब महदादि सर्ग के लिए प्रधान की प्रवृत्ति होती है। गुणत्रय के साम्यावस्था को प्रधान कहते हैं। और जब उसमें विषमावस्था होती है तब सर्ग होता है, ऐसा सांख्य मत है। परन्तु यह मत ठीक नहीं है। क्योंकि लोक में देखने में आता है कि चेतन कुलालादिक से अधिष्ठित ही अचेतन की कार्यार्थं प्रवृत्ति होती है। नतु चेतन से अनधिष्ठित अचेतन की प्रवृति। रथादिक में ऐसा ही देखने में आता है। तो चेतन से अनधिष्ठित जो प्रधान, उसको स्वातन्त्र्येण अङ्गाङ्गीभाव के अभाव होने से गुण में विषमता नहीं हो सकती है। तब महदादि कार्य के लिए प्रवृत्ति अनुपपन्न है। अतः अनुमान मात्र प्रमाण कल्पित प्रधान जगत् का कारण नहीं हो सकता है क्योंकि तदीय प्रवृत्ति के अनुपत्ति होने से ॥ इसलिए सर्वशक्तिमान चेतन ब्रह्म ही जगत् के कारण हैं। अचेतन प्रधानादिक नहीं ॥२॥

पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि ।२।२।३।

अथ क्षीरनीरयोः स्वयमेव दध्यङ्कुरादिरूपेण यथा प्रवृत्तिस्तथाचेतनमपि प्रधानं प्रवर्तत इति चेत्तत्राह तत्रापीति । तत्रापि, "योऽप्सु तिष्ठन्" [बृ० ३।८।४।] इत्यादि श्रुतिभिर्ब्रह्मणोऽबाद्यन्तरवस्थित्यभिधानान्न चेतनानधिष्ठितत्वम् ॥३॥

विवरणम्—यथा दुग्धं जलं वा चेतनानपेक्षं सदेव दधिहिमादि भावेन परिणमते. यथा वा तदेव क्षीरं वत्सपोषणायक्षरति जलं च प्रवाहरूपेण वहते तथैव चेतनानपेक्षमेव प्रधानं भोगापवर्गाय चेतननिरपेक्षं सदेव प्रवर्तमानं भविष्यतीत्याशङ्क्य तत्रापिजलादावपिपरमेश्वरापेक्षाया विद्यमानत्वादिति न चेतनानपेक्षाजलादीनामित्याशयेनाह"अथ क्षीरनीरयोरित्यादि"यथा खलु क्षीरं चेतनसाहाय्यमन्तरेण दधिभावेन परिणमते. यथा जलं हिमादिभावेन प्रवर्तते । तथा प्रकृतिः स्वभावतोऽचेतनापि महदाद्याकारेण परिणामभागीनी स्यादिति चेत्तत्राह सूत्रकारः, "तत्रापि"

सारबोधिनी—जिस तरह दूध तथा जल के चेतननिरपेक्ष होकर के स्वभाव से दधिहिमादि कार्याकार से परिणत होने को प्रवृत्त होता है उसमें चेतनाधिष्ठितताकी आवश्यकता नहीं होती है । उसी तरह स्वातन्त्र्येण प्रधान भी महदाकारेण प्रवृत्त होगा तो प्रधान की प्रवृत्ति अनुपपन्न नहीं है । एतादृश शंका को निवृत्त करने के लिए उपक्रम करते हैं "अथ क्षीरनीरयोरित्यादि । जिस प्रकार क्षीरदूध तथा नीर जल स्वयं चेतन सहकार के बिना भी प्रवृत्त होते हैं । उसी प्रकार से अचेतन भी प्रधान भोगापवर्ग को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त होगा इसमें क्या क्षति है ? एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं सूत्रकार "तत्रापीति" तत्र जलादिक दृष्टान्तस्थल में भी "योऽप्सुतिष्ठन्" [जो परमात्मा जल में रहकर जल का नियन्त्रण करते हैं, जिनको जल नहीं समझ पाता है, जिस परमात्मा का जल शरीर है ।] इत्यादि

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ।२।२।४।

"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इति श्रुतेऽव्याकृतनामरूपस्याशेषस्य प्रधानस्य व्याकृतनामरूपात्मकव्यक्तावस्थामापन्नत्वात्कार्यव्यतिरेकेणाऽव्यक्तरूपेण तदानीमनवस्थितेः "व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानात्" इति तदीयमतभङ्गप्रसङ्गः । पुरुषस्य जगद्रचनाचातुर्यस्वीकारस्तु कर्तुमशक्यस्तस्यानपेक्षत्वादिति न स्वातन्त्र्येण प्रधानस्य जगत्कारणत्वम् ॥४॥

अर्थात् जलस्यापि प्रवृत्तिर्न चेतनमन्तरेण किन्तु परमेश्वरसत्तयैव तस्य तथात्वात् । तथा च श्रुतिः, "योऽप्सुतिष्ठन्" यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्" इत्यादि । आभिः श्रुतिभिर्जलादावपि परमेश्वरावस्थानं गम्यते एव । परमेश्वराधिष्ठितं सदेव जलादिकं प्रवर्तते नतु चेतन निरपेक्षता तत्रापीति संक्षेपः ॥३॥

विवरणम्-परमेश्वरानपेक्षं प्रधानं स्वातन्त्र्येणजगद्रचनां करोतिइति यत्सांख्यमतं तस्यायुक्तत्वं प्रकारान्तरेण दर्शयति, "तद्धेदमित्यादि" तदिदं जगत् तर्हि उत्पत्तेः पूर्वकाले अव्याकृतमासीत्, तदनन्तरं तदेवनामरूपाभ्यां व्याक्रियमाणं नामरूपाभ्यां विभक्तं भवति । अनया श्रुत्या इत्थं ज्ञायते यत् अव्यक्तं प्रधानं संपूर्णमेवव्याकृतनामरूप श्रुति जल के मध्य में परमात्मा का अवस्थान को बतलाती है । इसलिए जलादिक जो दृष्टान्त है उसमें चेतनानधिष्ठितत्व नहीं है । किन्तु चेतनाधिष्ठितत्व ही है । अतः चेतन सहकार रहित केवल प्रधान जगत् का कारण नहीं है किन्तु सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर भगवान् श्रीराम ही जगत् के प्रति कारण हैं ॥३॥

सारबोधिनी-"तद्धेदमित्यादि" यह जगत् उत्पत्ति के पूर्वकाल में अव्याकृत अविभक्त नामरूपवाला था । तदनन्तर नामरूप के द्वारा व्याक्रियमाण हुआ । इस श्रुति के अनुसार अव्याकृत नामरूपवाला

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ।२।२।५।

धेनूपयुक्ततृणोदकादेः क्षीराकारेण परिणतिरिव प्राज्ञानधिष्ठित प्रधानस्य स्वयमेव जगद्रूपेण परिणतिः स्यादित्यपि न वक्तुं शक्यम् । बलीवर्दादौ तथा परिणतेरभावाद्विषमोऽयं दृष्टान्तः ॥५॥

कऽव्यक्तावस्थामापद्यमानं भवति, ततश्च कार्यकाले प्रधानस्य कार्य-व्यतिरेकेणावस्थानं नास्ति । ततश्च व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्ष इति मतं भक्तं भवति । पुरुषस्तूदासीनः स तु न किमपिकर्तुं शक्त इति स्वतन्त्रस्य प्रधानस्य न जगत्कारणत्वम् । परमेश्वरस्तु सर्वशक्तिमान् स्व शक्त्या सर्गं करोतीति संक्षेपः ॥४॥

विवरणम्—ननु यथा गवादि पशुभिर्भक्षितं तृणपल्लवोदकादिकं कालान्तरेण पाकवशात्स्वभावतक्षीरनवनीताकारेण परिणतं भवति, न तत्र परमेश्वरस्यावश्यकता किन्तु स्वभावत एव तथा भवति तथैव स्वभावत एव प्रधानस्यापि महदाद्याकारेण परिणामः स्यादित्याशङ्क्य तत्रापि पर-

संपूर्ण यह प्रधान व्याकृत नामरूपक व्यक्तावस्था को प्राप्त कर जाता है । तब कार्यकाल में कार्य से पृथक् रूप से अव्यक्त रूप से प्रधान का अवस्थान नहीं रहने से व्यक्त पृथिव्यादिक अव्यक्त प्रधान तथा ज्ञ पुरुष इन सबों का जो तत्त्वज्ञान उससे मोक्ष होता है इसी तरह सांख्यमत भङ्ग हो जाता है । क्योंकि कार्यकाल में तो प्रधान सर्वात्मना कार्य रूपसे अवस्थित हो गया है । तब प्रधान का स्वतन्त्र अव्यक्त रूप से सत्ता नहीं रह गई । और पुरुष जगत् रचना में समर्थ है ऐसा तो कह नहीं सकते हैं, क्योंकि पुरुष तो न कार्य है न वा किसी कार्य के प्रति कारण है किन्तु उदासीन है । इसलिए जगत् रचना में पुरुष अनपेक्षित है । अतः स्वातन्त्र्येण प्रधान जगत् का कारण नहीं हो सकता है । किन्तु सर्वशक्तिमान सर्वतन्त्र भगवान् श्रीजानकीनाथ ही सर्व जगत् का कारण हैं ॥४॥

मेश्वर कृपयैव तथा भवति, अन्यथा वृषभादिभिर्मुक्तं प्रणष्टं वा तृणादिकं क्षीरादि रूपेण परिणतं भवेन्न तु तथा दृश्यते तस्मात् दृष्टान्तो यं विषम इत्याशयेनाह "धेनूपयुक्ते" त्यादि । अत्रधेनूपभुक्तेति समीचीनः पाठः । नतु धेनूपयुक्तेति । यथा धेनूभिरुपभुज्यमानं तृणपल्लवादिकं दुग्धदध्याकारेण परिणतिमवाप्नोति नतु कस्यचिच्चेतनस्य कारणता. तथैव परमेश्वरानधिष्ठितमेव प्रधानं जगदाकारेण परिणतिं प्राप्स्यतीति यत् कापिलैरुक्तं तदपि न युक्तमिति, तत्रापि तृणोदकादीनां क्षीराद्याकारेण परिणामे सर्वसमर्थपरमेश्वरस्यैव कारणत्वात् । अन्यथा वृषभाद्युपभुक्तं प्रहीणं वा तृणादिकमपि क्षीराकारेण स्वभावतो गवादिवत् परिणतिं प्राप्नुयान्नत्वेवं भवति । तस्माद् दृष्टान्तो न समीचीनोऽपितु विषम एव । सूत्रार्थस्तु, इत्थमन्यत्रागवादि व्यतिरिक्तवृष-

सारबोधिनी—जिस तरह गवादि से भुक्त जो तृणपल्लव जलादिक स्वयमेव क्षीरदध्याद्याकार से परिणत हो जाता है । उसमें परमेश्वर साहाय्य की आवश्यकता नहीं होती है । इसी तरह परमेश्वरानपेक्ष प्रधान भी स्वभावत एव महदादि सर्गाकार से परिणत होगा । इस प्रकार की शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि गवादिस्थल में भी परमेश्वर की ही कारणता है । अन्यथा वृषभादि भक्षित तृणादि का भी दुग्धाकार से परिणाम होगा ऐसा तो नहीं होता है । इसलिए यह विषम दृष्टान्त है । इस आशय को लेकर के कहते हैं "यथा धेन्वादीत्यादि" जिस प्रकार धेनुगवादि से भक्षित तृणपल्लवजलादिक स्वयमेव इतरानपेक्ष होकर क्षीराकार से परिणाम को प्राप्त करता है । उसी तरह प्रधान भी स्वेतरानपेक्ष होकर के स्वभावतः स्वयमेव जगदाकार से परिणत होगा । इस प्रश्न का उत्तर करते हैं "इति चेन्न" गवादिभुक्त तृणपल्लव जलादिक जो क्षीराकार से परिणाम होता है उसमें परमेश्वर की ही कारणता है । अन्यथा वलीवर्द वृषभ से उपभुक्त जो तृणादिक है उसका भी

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ।२।२।६।

गुणवैषम्यात्सृष्टिरिति साङ्ख्यमतम् । तदप्ययुक्तं, गुणानामचेतनतया तत्साम्यावस्थायाः प्रच्युतेरभावादङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेः । तथा च गुणवैषम्यनिमित्ता सृष्टिर्नस्यादिति भावः ॥६॥

भादौ तैर्भुक्तस्य तृणादेः क्षीराकारेण परिणामस्यादर्शनात् न तृणादेः स्वाभाविकस्तथा परिणामोऽपितु परमेश्वरात्तथेति न प्रधानकारणवादः समीचीनोऽतो ब्रह्मकारणवाद एव श्रेयानिति संक्षेपः ॥५॥

विवरणम्—ननु सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थैव प्रकृतिः तादृशप्रकृतेर्यदि कूटस्थनित्यतामन्येत तदा तत्र वैषम्याभावात् सर्गाभावः । परिणामिनित्यतापक्षे स्वत एव साम्यावस्थायाः प्रच्युति स्वीकारे सर्वदैव सर्गप्रसंगः, अस्वीकारे सर्वदा सर्गाभाव इत्यादिकमनुसन्धायाह "गुणवैषम्यादित्यादि । यदा गुणानां साम्यं तदा प्रकृतिरिति. यदा च तेषु गुणेषु विषमता जायते. एक उत्कटो भवति न्यूनौ च द्वौ तदा सर्गों क्षीराकार से परिणाम होगा । ऐसा तो नहीं देखने में आता है । इसलिए यह दृष्टान्त विषम है । अतः यह प्रधान कारणवाद ठीक नहीं है किन्तु ब्रह्म कारणवाद ही ठीक है । ॥५॥

सारबोधिनी—सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण की साम्यावस्था ही प्रकृति है। तादृश प्रकृति कूटस्थ नित्य है । इस पक्ष में गुणों में परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं होने से सर्ग का अभाव हो जाता है। क्योंकि साम्यावस्था में सृष्टि नहीं होती है किन्तु जब विषमावस्था होती हैं तब सर्ग होता है और विषमावस्था का विरोधी कूटस्थ नित्यता है। यदि कदाचित् परिणामी नित्यता प्रकृति में मानें तब तो सर्वदा परिणाम होने से सर्वदा सर्ग ही होता रहेगा, मोक्ष की आशा नहीं रही । इत्यादि दोष का अनुसंधान करके प्रकृत मत का खण्डन करने के लिए प्रक्रम करते है कि "गुणवैषम्यात्सृष्टिरित्यादि । गुणों में विषमता होने पर सृष्टि होती है। ऐसा

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ।२।२।७।

यथा पङ्गुः पुमानन्धमपङ्गुमप्रवर्तयति यथा वाऽयस्कान्तमणिः स्वसन्निधिमात्रेणायः प्रचालयति तथा पुरुषसन्निधानमात्रेण प्रधानं सर्गे

जायते इति सांख्यसिद्धान्तः। किन्त्वेतन्मतं न युक्तम्। यतो न भवन्ति गुणाः सचेतनाः किन्त्वचेतनाः। अचेतनतया च गुणसाम्यावस्थायाः प्रहाणाभावात्। न भवत्यङ्गाङ्गिभावस्तदभावे च विषमतामूलकसर्गस्याभावस्यादिति न सांख्यमतं समीचीनमिति ॥६॥

विवरणम्—ननु दर्शनशक्तिविहीनं क्रियाशक्तिसंपन्नं प्रधानं क्रियाशक्तिरहितो ज्ञानसम्पन्नः पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयिष्यति. ततश्च सर्गव्यापारो भविष्यति। तदुक्तम् "पङ्ग्वन्धवत् संयोगस्तत्कृतः सर्गः" इति। यथा कश्चित्पंगुः पुरुषोऽन्धंकमपि स्कन्धमारुह्य तद्देशाद्देशान्तरं नयतीति चेत्तथापि दोषान्निर्मुक्तिर्नास्ति, यतः प्रकृतिपुरुषयोः संयोगस्य नित्यत्वे सर्वदैव सर्गः स्यान्नकदाचिदपि मोक्षः। तथा सिद्धान्त-

सांख्य का सिद्धान्त है। परन्तु यह सिद्धान्त युक्त नहीं है। क्योंकि ये जो गुणत्रय हैं, वे अचेतन हैं। तब गुणों की जो साम्यावस्था तादृश अवस्था का विनाश नहीं होने से परस्पर में अङ्गाङ्गीभाव नहीं होता है। और अङ्गाङ्गीभाव नहीं होने से गुण का विषमतामूलक सर्ग का अभाव हो जाता है। इसलिए सांख्यमत ठीक नहीं है किन्तु औपनिषद मत ही समीचीन हैं ॥६॥

सारबोधिनी—जिस प्रकार दृक्शक्तिरहित तथा क्रियाशक्ति सम्पन्न अन्ध व्यक्ति को दृक्शक्ति सम्पन्न क्रियाशक्ति रहित पङ्गुव्यक्ति तदीयस्कन्धारूढ़ होकर के अन्ध को चलाता है। यथा वा अयस्कान्तलोह स्वकीय सांनिध्य मात्र से लोहान्तर को चलाता है। इसी तरह ज्ञानशक्तिरहित किन्तु क्रियाशक्ति युक्त प्रधान का क्रियाशक्तिरहित ज्ञानशक्ति संपन्न पुरुष के सम्बन्ध से प्रधान की प्रवृत्ति होगी तथा सर्गमोक्ष की व्यवस्था भी

प्रवर्तेत इति नानुपपत्तिरिति चेत्तथापि तदवस्थ एव दोषः। उदासीनस्य पुरुषस्य प्रवर्तकानुपपत्तेः। पुरुषप्रवर्त्यत्वेऽपि प्रधानस्य स्वातन्त्र्यहानिरपसिद्धान्तश्च ॥७॥

हानिरपि स्वतन्त्रायाः प्रकृतेः प्रवर्तकस्य कस्यचिदनभ्युपगमादित्याशयेनाह "यथापंगुः पुमानित्यादि। यथा येन प्रकारेण कश्चित् पङ्गुः क्रियाशक्तिरहितः पुरुषः अपङ्गुः ज्ञानशक्तिरहितं क्रियाशक्तिसंपन्नं स्कन्धमारुह्य प्रवर्तयति. तत्र दग्धाश्वरथन्यायेन तदुभययोरभिलषितं सिद्धं भवति तद्वत् प्रकृतेपि दर्शनशक्तियुक्तेन पुरुषेण प्रेरिता प्रकृतिः सर्गं करिष्यति। यथा वा अयस्कान्तलोहः स्वकीयसंबन्धमात्रेण लोहं प्रचालयति तथैव पुरुषस्य सन्निधानमात्रेण प्रधानस्य स्वकीयसर्गादिक कार्ये प्रवृत्तिः स्यात्। तदुक्तम् "पङ्ग्वन्धवदुभयोः संयोगस्तत्कृतः सर्ग" इति चेत्. तथापि इत्थं स्वीकारेऽपि दोषादनिर्मुक्तेः। अर्थात् सांख्यमते पुरुष उदासीन स कथं प्रकृते प्रवर्तकाभावात्प्रधानस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः सर्गाद्यभावदोषस्य तदवस्थत्वात्। नहि प्रवर्तकमन्तरेण प्रवृत्तिः सम्भवति। किञ्चोदासीनोऽपि पुरुषः प्रकृतिं प्रवर्तयेत् तदा सिद्धान्तभङ्गः। सांख्यमते प्रकृतिः स्वतन्त्रा यदि पुरुषः प्रवर्तकः बनेगी। एतादृश शङ्का का समाधान करने के लिए उपक्रम करते है "यथा पङ्गुः पुमानित्यादि" जिस तरह एक पङ्गु—लंगड़ा पुरुष अनन्ध अपङ्गु को क्रिया में प्रवृत्त कराता है। यथावा अयस्कान्त—लोहचुंबक स्वकीय सांनिध्यमात्र से अन्य लोह को चलाता है। उसी तरह पुरुष के सन्निधान संयोगमात्र से प्रधान भी जगत् सर्ग में प्रवृत्त होगा। तब किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है ऐसा यदि कहें, तथापि सांख्य मत में दोष है ही। क्योंकि सांख्यवादी पुरुष को उदासीन मानते हैं। उदासीन में प्रवर्तकत्व अनुपपन्न है। यदि पुरुष को प्रवर्तक माने तब उसकी उदासीनता ही विहत हो जायगी। और सांख्य का सिद्धान्त

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ।२।२।८।

प्रोक्तप्रकारातिरिक्तेन केनचिदपि प्रकारेणानुमानेऽपि न साङ्ख्येष्टसिद्धिः प्रधानस्याचेतनत्वेन ज्ञातृत्वशक्तेर्वियोगात् । आद्यक्षणे

स्यात्तदा प्रधानस्वातन्त्र्यस्य क्षत्या सिद्धान्तव्याकोपः । किञ्च प्रधान पुरुषयोर्नित्यत्वात्तदीयसंयोगस्यापि नित्यत्वेन सर्वदा सर्ग एव स्यान्न कदाचिदपि मोक्षः । तस्मात्पुरुषाश्मवदिति दृष्टान्तोपन्यासो न युक्ति युक्त इति ॥७॥

विवरणम्–ननु गुणाः सत्त्वादयः सततं चलनशीला इति कार्यमालक्ष्य वैषम्यं प्राप्स्यन्ति ततश्च सर्गादेरनुपपत्तिर्न भविष्यतीत्यनुमिनोमिति चेत्. प्रधाने चेतनाशक्तेरभावेन विषमतामूलकसर्गाभावप्रसङ्गात्। किञ्च प्रधाने या विषयता सा स्वतः परतो वा । आद्ये सर्वदैव विषमतायाः संभवेन साम्यावस्थायाः विलोपः स्यात् । द्वितीये यन्निमित्तान्तरं तदपि निमित्तान्तरसापेक्षं भवेच्चेत्तदानवस्थाप्रसङ्गः स्यात् । तथा प्रकृतिपुरुषव्यतिरिक्तपदार्थाभावेन निमित्तान्तरस्य

है कि प्रधान स्वतन्त्र है । परन्तु जब पुरुष को प्रधान का प्रवर्तक मानेगे तब तो प्रधान का स्वातन्त्र्य सिद्धान्त का बाध हो जायगा । इसलिए प्रधान कारणवाद में पङ्गु तथा अयस्कान्त का दृष्टान्त उचित नहीं है । अतः प्रधान कारणवाद ठीक नहीं है ॥७॥

सारबोधिनी– "सत्वरजस्तमस" ये जो गुणत्रय हैं वे सतत चल स्वभावक हैं । तो ये कार्य को लक्षित करके वषम्य को प्राप्त करेंगे तब सर्गादिकी अनुपपत्ति नहीं होगी, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ । यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रधान में चेतनाशक्ति के अभाव होने से विषमतामूलक सर्ग का अभाव हो जायगा । इस अभिप्राय को लेकर सांख्य मत का खण्डन करने के लिए उपक्रम करते हैं "प्रोक्तप्रकारा तिरिक्तेत्यादि" पूर्व कथित प्रकार से अतिरिक्त किसी प्रकार से अनुमान

गुणवैषम्यं स्वतो न सम्भवति। सर्वदा वैषम्यप्रसङ्गात्। न परतः। परस्य कस्यापि तदानीमभावात्। पुरुषस्यौदासीन्येनाप्रयोजकत्वाच्चेति दिक् ॥८॥

परिकल्पयितुमशक्यत्वेन सांख्यसिद्धान्तो न समीचीन इत्याशयेनोपक्रमते "प्रोक्तप्रकारातिरिक्तेन" इत्यादि। प्रोक्त प्रकारेण पूर्वकथित प्रकारातिरिक्त केनचिदपि प्रकारेण सांख्यवादिनोऽनुमानं कुर्युश्चेत्तदापि तेषां स्वाभिमतवस्तुनः सिद्धिर्न जायते. कुतः ज्ञशक्तिवियोगात्। अर्थात् गुणसमुदायात्मकं यत् प्रधानं तदचेतनत्वात् ज्ञातृत्वशक्तिविरहितम्, इति सर्गादिसमये गुणानां वैषम्यं न स्यात्। तदभावे च सर्गाभावः प्रसज्येत। किञ्च यदि स्वत एव वैषम्यं भवेत् तदा सर्वदैव वैषम्यसत्त्वात् साम्यावस्थाया विलोपः स्यात्। परतो विषमतायाः स्वीकारे तादृश वैषम्य प्रयोजकपरस्याभावात् कदापि वैषम्यं न स्यात् ततश्च सर्गाभावः। न च परः पुरुषः स्यादिति वाच्यम्, पुरुषस्य सर्वदोदासीनस्य वैषम्यप्रयोजकत्वासम्भवात्। न च प्रकृतिपुरुषाभ्यामन्यः कश्चित् प्रयोजकः स्यात्। प्रधानपुरुषातिरिक्तवस्तुनोऽस्वीकारात्। वैषम्यप्रयोजकनिमित्तान्तरस्वीकारेऽ

करने से भी सांख्य का अभिमत जो प्रधान कारणवाद उसकी सिद्धि नहीं होती है क्योंकि सत्वादि गुण के साम्यावस्था रूप जो प्रधान है तादृश प्रधान को अचेतन होने से उसमें ज्ञातृत्व शक्ति का अभाव है। अर्थात् अचेतन में चेतना शक्ति नहीं होती है इसलिए सर्ग के प्रथमक्षण में स्वतएव गुणों में विषमता नहीं होगी और विषमता नहीं होगी तो विषमतामूलक सर्ग भी नहीं होगा। यदि वैषम्य को स्वतएव स्वीकार करेंगे तब तो सर्वदा ही वैषम्य रहने से सर्वदा सृष्टि ही होती रहेगी। नहीं कहो कि विषमता पर से होती है। तो प्रकृति व्यतिरिक्त पर तो कोई है नहीं। कहो कि पुरुष प्रयुक्त विषमता होती है तो यह भी कहना

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावः ।२।२।९।

प्रधानस्य कथञ्चित्प्रवृत्तिस्वीकारेऽपि प्रयोजनाभावः । यतस्तस्य जडत्वेन पुरुषस्य चासङ्गतया स्वपरप्रयोजनाभावादिति भावः ॥९॥

नवस्थादुस्तरास्यादिति प्रकारान्तरेणानुमाने कृतेऽपि न सांख्येष्ट सिद्धिर्भवतीति न प्रधान कारणवाद समीचीनः किन्तु ब्रह्मकारणवाद एव रमणीय इति ॥८॥

विवरणम्—"तुष्यतुदुर्जनः" इति न्यायेन कथञ्चित्प्रकृतेः प्रवृत्ति-स्वीकारेऽपि तत्प्रवृत्तेः प्रयोजनं किमिति वक्तव्यम्. प्रधानप्रवृत्तेः प्रयोजनं पुरुषस्य शब्दाद्युपभोगस्तस्य मोक्ष एतदुभयं वा ? । तत्रनाद्यः स्वभाव-तोऽसङ्गस्य पुरुषस्य भोगासंभवात् । तथा तस्य भोगस्वीकारे कदा-चिदपि तस्य मोक्षो न स्यात् । ततश्च "ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं ठीक नहीं है, क्योंकि पुरुष को तो वे उदासीन मानते हैं । तो वह प्रयोजक किस तरह से होगा । इसलिए सांख्य का मत समीचीन नहीं है ॥८॥

सारबोधिनी—यदि कदाचित् सांख्यवादियों के आग्रह से प्रधान की प्रवृत्ति मान लिया जाय तथापि प्रयोजनाभाव रूप दोष का उद्धार नहीं होता है । इस प्रवृत्ति का प्रयोजन भोग है, अथवा अपवर्ग है । या उभयात्मक प्रयोजन है । इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है । क्योंकि जड़ होने से प्रधान में भोग क्षमता नहीं होगी, नवा असंग होने से पुरुष का भोग कह सकते हैं । तथा अनिर्मोक्षप्रसङ्ग भी दोष होगा । क्योंकि असङ्ग पुरुष तो सर्वदा मुक्त है, तब तदर्थ प्रधान की प्रवृत्ति निरर्थिका हो जायगी । तथा शब्दादि का अनुपलब्धि प्रसंग भी दोष होगा । इसलिए उभय पक्ष भी ठीक नहीं है । इस आशय को लेकरके कहते हैं—"प्रधानस्य कथञ्चिदित्यादि" यदि कदाचित् प्रधान की प्रवृत्ति को स्वीकार किया जाय तथापि प्रधान की जो प्रवृत्ति होती है तो उसका

कैवल्यमाप्नोति" इति स्वशास्त्रीयपरिभाषा विलुप्येत। नापि द्वितीयः पक्षः, प्रधानप्रवृत्तेः पूर्वमपि मोक्षस्य सिद्धत्वात्प्रधानप्रवृत्तेरानर्थक्य-प्रसङ्गात्। तथा शब्दादीनामनुपलंभोपि स्यात्। नापि तृतीयः पक्षः संभवति. भोक्तव्यपदार्थानामनन्तत्वेनानिर्मोक्षप्रसङ्गात्। नचौत्सुक्य-निवृत्त्यर्थं क्रियासु लोकः प्रवर्तते तथैव प्रधानप्रवृत्तिरपिस्यादिति वाच्यम्। प्रधानस्याचेतनत्वेन तस्यौत्सुक्याभावात्। न वा पुरुषस्यौत्सुक्यं संभवति. असङ्गस्य तस्याप्यौत्सुक्याभावात्। तस्मान्न प्रधानकारणवादः श्रेया-नित्याशयेनाह "प्रधानस्य कथञ्चिदित्यादि" तुष्यतु पर न्यायेन कथञ्चित् प्रवृत्तिस्वीकारेऽपि तत्प्रवृत्तेः प्रयोजनं न किमपि पश्यामि। यतः प्रधानमचेतनं पुरुषश्च स्वभावतोऽसङ्ग इति स्वस्य परस्य वा प्रयोजनस्याभावात्। तत्र न प्रधानस्य भोगाऽपवर्गौ वा जड़त्वात्। नवा

प्रयोजन क्या है ? अर्थात् विचार करने पर इसका कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि प्रधान तो स्वयं जड़ पदार्थ है तो इसको कोई स्वकीय प्रयोजन तो हो नहीं सकता है, और पुरुष यद्यपि चेतन है तो इसका प्रयोजन हो सकता है। किन्तु पुरुष तो असंग है, इसलिए उसका भी कोई प्रयोजन नहीं हो सकता है। इस तरह से स्वकीय अथवा परकीय प्रयोजन के अभाव होने से प्रवृत्त्यभाव दोष बना हुआ है। अर्थात् प्रधान प्रवृत्ति का प्रयोजन भोग होगा अथवा अपवर्ग होगा ? इसमें तो प्रथमपक्ष तो ठीक नहीं है। क्योंकि पुरुष तो असङ्ग है अतः उस पुरुष के लिये भोग नहीं हो सकता है। यदि कदाचित् भोग मानें तब तो सर्वदा भोग ही होगा, अपवर्ग का अभाव होगा। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि पुरुष का मोक्ष तो प्रधान प्रवृत्ति के पूर्वकाल में भी है। तब प्रधान प्रवृत्ति की आवश्यकता ही क्या ? एवं शब्दादि विषयों की अनुपलब्धि हो जायगी। नहीं कहो कि उत्सुकतानिवृत्ति के लिए प्रवृत्ति होती है तो यह भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जड़ प्रधान का

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ।२।२।१०।

परस्परं विरुद्धत्वात्कपिलमतमसमञ्जसम् । विरोधश्चेत्थम् । प्रधानस्य पुरुषभोगार्थमेव प्रवृत्तिरिति तन्मतम् । पुरुषस्य चासङ्गत्वेन निर्विकारत्वमित्यपि तन्मतमित्युभयं परस्परं विरुद्धम् । पुरुषस्यौदा-

---

पुरुषस्यासङ्गत्वादतः प्रयोजनाभावेन प्रधानप्रवृत्तेरभावात् न सांख्यमतं सम्यगिति दिक् ॥९॥

विवरणम्—न केवलं साङ्ख्यमते रचनानुपपत्त्यादयः पूर्वोक्ता दोषा भवन्ति किन्तु स्वमते परस्परं विरोधादसामञ्जस्यमपि भवति । तथाहि स्थल विशेषे सांख्यैः सप्तेन्द्रियाणि कथितानि क्वचिदेकादशेन्द्रियाणि निरूपितानि । क्वचिदहंकारात्सर्गमादिशन्ति क्वचिन्महत्तत्वात् । क्वचित् त्रीण्यन्तःकरणानि निरूपितानि, क्वचिदेकमेवान्तःकरणमिति प्ररूपितम् । एवं परस्परं विरुद्धार्थप्रतिपादनात्सांख्यमतमसमंजसमिति दर्शयितुं प्रक्रमते "परस्परं विरुद्धत्वादित्यादि । तदिदं कपिलमतमसमञ्जसम्. न समीचीनं कुतः ? विप्रतिषेधात् परस्परं विरुद्धार्थप्रतिपादनात् । तत्रासामंजस्ये साध्ये प्रदर्शितयोरसिद्धिनिरसितुमाह "विरोधश्चेत्यादि" सांख्यमते परस्पर औत्सुक्य कह नहीं सकते हैं । क्योंकि औत्सुक्य चेतन धर्म है । और पुरुष असङ्ग है तो उसको औत्सुक्य होगा ही क्या ? इसलिए प्रधान कारणवाद ठीक नहीं है किन्तु ब्रह्मकारणवाद ही ठीक है ॥९॥

सारबोधिनी— पूर्वोक्त प्रकार से सांख्यमत को वैदिक मत विरुद्धता का प्रतिपादन करके कपिलमतमें अतिरिक्त स्वमतविरुद्ध असमञ्जसता का भी निरूपण करते हैं—परस्परम्' इत्यादि । प्रधान की प्रवृत्ति पुरुषभोगार्थ होती है ऐसा सांख्यमत है । तथा असङ्ग होने से निर्विकार भी वह पुरुष है ऐसा भी मानते हैं और पुरुष उदासीन रहता है तो भी मोक्षाधिकारिता पुरुष को है इत्याकारक परस्परविरुद्ध प्रतिपादन होनेसे

सीन्यं तस्यैव पुनर्मोक्षाधिकारित्वमित्यपि विरोधः । एतेन मायिमतस्याप्यसामञ्जस्यं निरूपितं भवति । निःसङ्गस्य निर्गुणस्य ब्रह्मणो जगत्सर्गे प्रवृत्तिरुपपद्यते प्रयोजनाभावादित्यादि दूषणजातं विज्ञेयमित्यादिविरोधादसमञ्जसमेव साङ्ख्यादिमतमिति दिक् ॥१०॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ॥१॥

विरोधः इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण, तथाहि "पुरुषस्यदर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्ग" इति तदीय नियमात् पुरुषभोगाय प्रधानप्रवृत्तिरिति तन्मतम्. "माध्यस्थं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्चेत्यादिनाऽसङ्गत्वेन पुरुषस्य सर्वविकाररहितत्व मिति च तन्मतमेव । एतदुभयमपि परस्परं विरुद्धम् । एवं सर्वथा पुरुषः उदासीनस्तथापि तादृशस्यैव पुरुषस्य मोक्षाधिकारिता मोक्षश्चेत्यपि विरुद्धमर्थादसमञ्जसमेव । तथा क्वचित्सप्तेन्द्रियाणि निरूपितानि क्वचिदेकमेवेत्यपि विरुद्धम् । एवं क्वचिदन्तःकरणं त्रिविधं प्ररुपितं क्वचिदेकमेव, एतदपि विज्ञेयमेव प्रेक्षावद्भिः । तस्मात्सांख्यमतमसमञ्जसमेवेति । सांख्यमतवत् मायिकमतमप्यसमञ्जसत्वान्निराकृतमेवेति मंतव्यम् । एतदेव दर्शयति "एतेनेत्यादि" एतेन सांख्यमतस्यासामञ्जस्य प्रतिपादेन मायावादिमतेप्यसामञ्जस्यं प्रतिपादितमेव भवतीति । तदेवोपपादयति "नहि निःसङ्गस्येत्यादि । मायावादिमतेपि असङ्गब्रह्म. आकाशवत् निर्गुणं च तत् । एतादृशस्य ब्रह्मणो जगदुत्पादने या प्रवृत्तिर्भवति सानुपपन्नैव

सांख्यमत त्याज्य है । तथैव मायिमत भी परस्पर विरुद्ध कथन होने से निरस्त है । क्योंकि निःसङ्ग तथा निर्गुण ब्रह्म की जगद्रचनामें कोई प्रवृत्ति नहीं हो सकती है वे ब्रह्म को निःसङ्गादि मानते हैं अतः सांख्यमत के समान ही बेमेल का मत होनेसे सुधीजनों से अनादरणीय है ॥१०॥

अथ महद्दीर्घाधिकरणम् ॥२॥

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ।२।२।११।

प्रधानकारणवादस्यासमीचीनत्वमुक्त्वा परमाणुकारणवादस्यासामञ्ज-स्यमभिधत्ते । अत्रायं संशयः "परमाणुकारणवादः सद्युक्तिको न वेति। तत्रावयवेभ्योऽवयव्युत्पद्यत इति नियमान्नित्यैर्निरवयवैः पृथि-

---

प्रयोजनाभावादित्यादिकं दूषणजालं बोध्यम् । यद्यप्येतन्मते न लक्ष्यं ब्रह्म जगदुपादनं किन्तु मायिकं तथापि मायायाः मिथ्यात्वेन तत्-सवलितस्यापि तथात्वासंभवात् । एतद्विषयको विचारोविशिष्या-ध्यासध्वंसलेशतात्पर्ये द्रष्टव्योविस्तारभयादत्र न प्रपञ्चितः । तथा च पर-स्परविरुद्धार्थप्रतिपादनेन विरुद्धमेव सांख्यदर्शनम् । अतः प्रधान-कारणवादो न समीचीनो हेयश्च । किन्तु सर्वदूषणरहितत्वाद् ब्रह्म-कारणवाद एव श्रेयानिति तदेव श्रेयार्थिभिरुपादेय उपास्यश्च भगवान् साकेताधिपतिरितिदिक् ॥१०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ॥१॥

विवरणम्— ननु यथा समवायिकारणशुक्लतन्त्वादिभ्यो जाय-मानः पटादिः शुक्ल एव भवति, तत्र पटात्मककार्यस्य कारणं तन्तवः पटगतशुक्लतायाः कारणं तन्तुगतशुक्लता । "कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्त" इति न्यायात् । एवमेव यदि परमेश्वरो यदि जगत उपादानं स्यात्तदा परमेश्वरगता चेतना कार्ये चेतनान्तरमवश्य-

सारबोधिनी— "रचनानुपपत्तेश्चनानुमानम्" इस सूत्र से प्रारम्भ करके, "विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम्" एतत्सूत्रपर्यन्त प्रकरण से सांख्य-शास्त्र के अभिमत प्रधान कारणवाद में असमीचीनत्व का प्रतिपादन करके परमाणु कारणवाद का भी असामञ्जस्य का प्रतिपादन करते हैं। अर्थात् विचार किया जाता है। इस विचार प्रवाह में प्रथमतः

व्यादिभूतचतुष्टयपरमाणुभिर्द्व्यणुकाद्युत्पादनक्रमेण स्थूलं जगदुत्पाद्यते-ऽतो परमाणुकारणवादः सयुक्तिक इति पूर्वः पक्षः। अत्राभिधीयते-महदिति–ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां द्व्यणुकपरमाणुभ्यां त्र्यणुकद्व्यणुकोत्पत्तिस्वीकारवदन्यच्च तदङ्गीकरणमसमञ्जसम्। सावयवद्रव्यं स्वकीयैः षड्भिः पार्श्वैस्संयुज्याधिकपरिमाणकमवयविनं द्रव्यमारभन्त इति नैस-

---

मुत्पादयेत्, नत्वेवं दृश्यते। तस्मात् परिदृश्यमानं जडात्मकं जगत् न ब्रह्मकारणकं किन्तु समानजातीयकपरमाणुभिरेवजायते द्व्यणुक-परंपरयेति न्यायमतं युक्तमिति चेन्न "कारणगता गुणाः कार्यगुणा-नारभन्ते" इत्यस्य नियमस्य प्रायिकत्वात्। कथमन्यथा. यथा कपाल परिमाणेन घटगतपरिमाणं जायते तथा परमाणु परिमाणेन द्व्यणु-कगतपरिमाणं कथं न जायते। स्वीक्रियते च नैयायिकै द्व्यणुकादिपरिमाणस्य कारणं परमाणुगतद्वित्वत्रित्वसंख्यैव नतु पर-माणुगतपरिमाणम्। तत्र यथा कारणगता गुणा नारंभका भवन्ति। तथैव मन्मते परमेश्वरगता चेतना न परं चेतनान्तरं जगदुत्पादयति।

संशय होता है कि जो यह नैयायिकाभिमत परमाणु कारणवाद है, वह सयुक्तिक है अथवा नहीं। संदेह के बाद पूर्वपक्ष होता है कि कपालादि रूप अवयव से अवयवी घटादि द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। एतादृश नियम होने से नित्य तथा निरवयव पृथिवी, जल, तेज, वायु रूपचार भूतों का जो परमाणु उससे पृथिव्यादिक का द्व्यणुक होता है। और द्व्यणुकों से त्र्यणुक उत्पन्न होता है। इस क्रम परम्परा से घटादि अन्त्यावयवी घटादि महापृथिव्यन्तकार्यजात का उत्पाद होता है। इसलिए परमाणु कारणवाद सयुक्तिक है। इस प्रकार का पूर्वपक्ष होता है।

इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं सूत्रकार, "महद्दीर्घवद्वाह्रस्वपरिमण्डला-भ्याम्" ह्रस्वपरिमण्डल अर्थात् द्व्यणुक और परमाणु से त्र्यणुक तथा द्व्यणुक

र्गिकः समयः । परं परमाणूनां कणभुङ्मते निरवयवतया पार्श्वा-भावेन संयुज्यमानतैव न सम्भवति कुतोऽधिकपरिमाणकस्य द्रव्य-स्यारम्भ इत्येतन्निदर्शनेन कृत्स्नं तन्मतमसमञ्जसम् ॥११॥

किञ्च ये कमलासनादिकहेतवस्ते सावयवाःषड्भिर्देशैः संयुक्ता एव स्वकीयं कार्यं जनयन्ति. परमाणवस्तु न तथा तस्मान्न ते जगतः कारणम् । अपिच परमाणूनामचेतनत्वात्. चेतनाधिष्ठितत्वमन्तरा जगतः कारणं न स्युरित्याशयेन प्रधानकारणवादनिराकरणवत्परमाणुका-रणवादनिराकरणाय प्रक्रमते ''प्रधान कारणवादस्य'' इत्यादि । द्वितीयाध्यायद्वितीयपादस्य प्रथमसूत्रादारभ्य दशमसूत्रपर्यन्तसूत्रैः सांख्याभिमतप्रधानकारणवादः परस्परं विरुद्धार्थप्रतिपादकत्वादसमी-चीन इति प्रतिपाद्य परमाणुकारणवादोपि न समीचीन इती-दानीमभिदधातीति भावः । यदयं परमाणुकारणवादः सयुक्तिको नवेति संशयः । तत्र युक्तित्वे युक्तिराहित्ये वा. निर्णायकैरितर-पक्षकरणस्याभावादिति । तत्र यथा कपालाद्यवयवेभ्य एव घटाद्यव-यविनः समुत्पाददर्शनात् । चरमावयवपरमाणुभिर्द्व्यणुकादिपरंपरया-महापृथीवी पर्यन्तावयविन उत्पत्ति स्तथाऽवगतगुणेभ्यः सजातीयाः प्रायोगुणान्तरमपि जायते । एवं क्रमेण द्व्यणुकादारम्यपृथिव्यन्त

की उत्पत्ति होना विरुद्ध है । उसी तरह अन्य भी जो नैयायिकाभिमत प्रमेय-परिकल्पित भी असमञ्जस है । सावयव कपालादि द्रव्य स्वकीय छः आठ-पार्श्वों से संयुक्त हो करके ही स्वापेक्षया अधिक परिमाणवान् घटादिलक्षण द्रव्यों का आरंभ करता है, ऐसा नियम–सिद्धान्त स्वाभाविक है । परमाणु तो वैशेषिक के सिद्धान्त से निरवयव अर्थात् निरंश है । तो पार्श्व अंश नहीं होने से परमाणु में संयुज्यमानता ही नहीं अर्थात् सावयव द्रव्य ही द्रव्यान्तर से संयुक्त होता है । परमाणु तो निरवयव है । तब उसका संयोग किस

जगत उत्पत्ति स्तत्र परमाणुरेव कारणं न चेतनं ब्रह्म. इत्येवं क्रमेण सयुक्तिक एव परमाणुकारणवाद इति नैयायिकाः ।

उत्तरयति= "अत्राभिधीयते" इत्यादि । "महद्दीर्घवद्वाह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्" अत्र वा शब्दः चकारार्थकः । अत्रासमञ्जस' मित्यनुवर्तते । यथा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां द्व्यणुकपरमाणुभ्यां महद्दीर्घवत स्त्र्यणुकद्वयोत्पत्तिवत् अर्थात् परिमण्डलात् ह्रस्वस्य द्व्यणुकेन महतस्त्र्यणुकस्योत्पादनमसमञ्जसम्. तथैवैतदन्यत्सर्वमप्यस्यमतमसमञ्जसमेवेति । सावयवद्रव्यं कपालादिकं स्वकीयषट्पार्श्वैः संयुक्तं सदेव तदधिकपरिमाणविशिष्टं कार्यमुत्पादयतीति नियमः । परमाणवस्तु तन्मते निरवयवा स्तेषां पार्श्वाभावेन संयोग एव न संभवति षड्देशैस्तदाकथमधिकपरिमाणविशिष्टद्रव्यान्तरस्योत्पाद इति सर्वमेवेदं मतमसमञ्जसमेवेति । किञ्चोत्पादकत्वेनाभिमतानां परमाणुनां जड़त्वाच्चेतनाधिष्ठानमन्तरेणोत्पादकत्वाभावः । नहि परमाणुभ्यः पृथिव्यादीनामुत्पत्तिः

तरह से हो सकता है । जब निरवयव परमाणु में संयुज्यमानता नहीं है, तब तादृश परमाणु से तदधिक परिमाणवाला द्रव्यान्तर की उत्पत्ति किस तरह होगी? इस दृष्टान्त से नैयायिक अभिमत सब मत असमञ्जस अवैदिक ही है ऐसा समझना चाहिए । इस प्रकार से परमाणु कारणवाद निराकृत होता है । और उत्पादक जो परमाणु वह तो अचेतन है । तब वह परमेश्वर के सहकार के बिना उत्पादक नहीं हो सकता है । क्योंकि अचेतन पदार्थ चेतनाधिष्ठित हो करके ही कार्य करने में समर्थ होगा है यद्यपि इस मत में केवल उपादान कारण परमाणु है निमित्त कारण तो परमेश्वर ही है । तब सांख्यमत के समान प्रवृत्त्यनुपपत्ति नहीं होती है क्योंकि कारणान्तर्गत परमेश्वर भी है । तथापि न्यायमत में परमेश्वर को अभिन्न निमित्तोपादान नहीं मानने से यह मत अवैदिक है । वेद तो अभिन्न निमित्तोपादानता का प्रतिपादन करता है । अतः परमाणु कारणवाद संगत नहीं है ॥११॥

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ।२।२।१२।

सर्गादावेकस्मिन् परमाणावाद्यं कर्मोपजायते ततः परमाण्वन्तरसंयोगस्ततो द्व्यणुकमित्येवं क्रमेण जगदारम्भः । तदिदमाद्यं कर्मादृष्टादिनियन्त्रितमपि न सम्भवति । विकल्पासहत्वात् । किं

"यतो वा इमानि भूतानि" इत्यादि श्रुत्या परमेश्वरादेव सर्वोत्पत्ति वर्णनात् । ततश्चावैदिकत्वान्मतमिदं निराकरणीयमेव नात्रश्रेयोऽर्थिभिरास्थाविधेयेतिदिक् ॥११॥

विवरणम्—अथ जगतः प्रारंभसमये प्रथमतः पार्थिवादिपरमाणौ क्रिया समुत्पाद्यते. ततस्तद्बलादेकः परमाणुः परमाण्वन्तरेण संयुनक्ति. ततो द्व्यणुकस्योत्पत्तिर्जायते द्व्यणुकैश्च त्रसरेणोरुत्पत्तिर्भवतीत्यनेन क्रमेणान्त्यावयविपर्यन्तजगत उत्पत्तिर्भवतीति नैयायिकानामभ्युपगमः । स च नोयुक्तः सर्गप्रयोजकपरमाणुगतप्राथमिककर्मणोऽपि जन्यतया तस्यापि किञ्चित्कारणं वक्तव्यम् । तादृशस्य हेतुर्न प्रयत्नो नाभिधानो वा । जीवगतप्रयत्नस्य शरीरमन्तरेणोत्पादायोगात् । अभिधानस्यापि शरीरसाध्यतया शरीरस्य तदानीमभावात् । न च शुभाशुभकर्मापर

सारबोधिनीः— सर्ग के पूर्वकाल में परमाणु में क्रिया होती है । क्रिया होने से सक्रिय परमाणु दूसरे परमाणु में संयुक्त होता है । तब द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है । इसी तरह द्व्यणुक के संयुक्त होने पर त्रसरेणु का उत्पादन होता है । एतादृश परम्परा से क्रमिक अन्त्यावयवी पर्यन्त जगत की उत्पत्ति होती है । ऐसी प्रक्रिया नैयायिकों की है । इसका सूत्रकार खण्डन करते हैं "उभयथापीत्यादि" परमाणु के प्राथमिक कर्म को कारण मानते हैं तथापि तादृश कर्म का कारण कोई हैं ऐसा नहीं मानते हैं तो प्राथमिक कर्म का अभाव होता है तथा कर्माभाव होने से सर्गाभाव अथवा आद्य कर्म का कारण अदृष्ट परमाणु में समवेत हैं अथवा आत्मा में उभयथापि अदृष्ट को अचेतन होने से वह चेतनानधिष्ठित अदृष्ट की प्रवृत्ति नहीं होती है । अतः

तदानीमदृष्टादिकमणुगतमुतात्मगतम् । यद्यणुगतं तदातदाश्रयाश्रयिणोस्सातत्यात्सततं कर्मोत्पत्त्या प्रलयाभावप्रसङ्गः । अथात्मनिष्ठेनादृष्टादिकेनाणौ कर्मोत्पत्तिरिति मतं तदप्यपेशलम् । तस्यापि नित्यत्वेन कादाचित्कत्वाभावः । एवमुभयथापि न कर्मोत्पत्तुमीष्टे । ततश्चाणुसंयोगाभावात्सर्गाभावः ॥१२॥

नामकमदृष्टमेव तदाद्यस्य कर्मणो निमित्तम्, तच्चात्मगतमात्मनश्च तदानीमपि वर्तमानत्वादिति वाच्यम् । अदृष्टस्याचेतनतया प्रेरकत्वानुपपत्तेरिति प्राथमिककर्मणोनिमित्ताभावेन प्राथमिककर्मणोरभावः । तदभावान्न संयोगः । संयोगात्मकासमवायिकारणाभावान्न द्व्यणुकादिजगतः समुत्पत्तिः संभवतीति संगाभावः । एवमेव प्राथमिक विभागाभावेन प्रलयस्याप्यभाव इत्येवं न्यायमते सर्गप्रलयौ न संभवत इत्याशयेन न्यायमतमपवदितुं प्रक्रमते "सर्गादावेकस्मिन्परमाणावित्यादि । सर्गादौसर्गोत्पत्तेरव्यवहितपूर्वकाले एकस्मिन् पार्थिवादि परमाणौ प्राथमिकं कर्म प्रादुर्भवति ततस्तदनन्तरं कर्मोत्पत्तेः पश्चा-

प्राथमिक कर्म नहीं होगा और प्राथमिक क्रिया नहीं होने से सर्गाभाव होता है । अथवा सर्ग का कारण संयोगोत्पत्ति के लिए प्रलय का कारण जो विभाग तादृश विभाग के उत्पत्यर्थ दोनों प्रकार का कर्म सम्भवित नहीं है । तस्मात् सृष्टि का कारण संयोग का अभाव होने से तथा प्रलय के कारण विभाग के अभाव होने से सर्ग तथा प्रलय का अभाव हो जायगा । इस आशा को लेकरके व्याख्यान करने के लिए उपक्रम करते हैं "सर्गादावेकस्मिन्नित्यादि" सर्ग के उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्व काल में पृथ्वी जलादिक के एक परमाणु में प्राथमिक कर्म अर्थात् क्रिया पैदा होती है तब क्रिया का आश्रयीभूत जो परमाणु वह दूसरे परमाणु के साथ संयुक्त होता है । तदनन्तर परमाणुरूप समवायिकारण तथा परमाणुद्वय संयोगात्मक असमवायिकारण से द्व्यणुकरूप द्रव्य उत्पन्न होता है । तदनन्तर कारण

स्काले परमाण्वन्तरसंयोगो भवति क्रियाधिकरणीभूतप्रथमपरमाणो स्तदन्यपरमाणुना संयोग उत्पद्यते. ततश्च तादृश संयोगात्मककारणबलेन समवायि कारणपरमाणुभ्यां द्व्यणुकस्योत्पत्तिः ततः संयोगात्मकासमवायिकारण सहकृतद्व्यणुकैस्त्र्यसरेणोरुत्पत्तिर्भवति । अनेन क्रमेणान्त्यावयविनो जगतो निखिलस्य द्रव्यात्मकस्य तादृश द्राव्यात्मके गुणादिजन्यानामपि समुत्पत्तिर्भवतीति सर्गः । तदिदं सर्गः प्रयोजकमाद्यं प्राथमिकं कर्मापि कार्यं तस्य जनकं यदि प्रयत्नः स तु न संभवति कुतः प्रयत्नस्य शरीरावच्छिन्नात्मजत्वेन तदानीं शरीराभावात्तदनुपपत्तेः । नाप्यभिघातः शरीराभावादेव । न चादृष्टबलात् प्राथमिकं कर्मस्यादिति वाच्यम् विकल्पासहत्वात् । तथाहि तत्काले तददृष्टं परमाणौ समवेतमात्मनि वा । न तत्र प्रथमः पक्षः यतो यदि परमाणावदृष्टं स्थितं भवेत्तदा परमाणोरदृष्टस्याश्रयाश्रयिणोरुभयोरपि सर्वदा विद्यमानत्वेन [तत्र अदृष्टाश्रयस्य परमाणो र्नित्यतया सर्वदास्थिति अदृष्टस्य प्रवाह रूपेणफलपर्यन्तं वा स्थायित्वनियमेन सर्वदास्थितिरिति] सततं सर्गप्रयोजककर्मण उत्पादात् सर्वदा सर्ग एव स्यात् इति प्रलयाभाव

गुण के अनुरूप कार्य द्रव्य द्व्यणुक में रूपादिक गुणों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार से द्व्यणुकादि से लेकर अन्त्यावयवी महा पृथिवी पर्यन्त जगत् की उत्पत्ति होती है। यह जो आद्यकर्म है वह शुभाशुभ अदृष्ट से नियन्त्रित नहीं हो सकता है। क्योंकि विकल्प का सहन नहीं होने से तथाहि सृष्टि के आदि कालिक अदृष्ट परमाणु में रहता है अथवा आत्मा में यदि परमाणु में समवेत अदृष्ट हो तब तो अदृष्ट तथा उस अदृष्ट का आश्रयी परमाणु इन दोनों के सर्वदा विद्यमान होने से सर्वदा कर्म का उत्पादन होने से सर्वदा सर्ग हो रहेगा। प्रलय काल का अभाव हो जायगा। यदि कदाचित् आत्म समवेत अदृष्ट से परमाणु में प्राथमिक जन्म की उत्पत्ति मानें तो भी युक्ति युक्त नहीं है। क्योंकि परमाणु नित्य है और अदृष्टवान्

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ।२।२।१३।

परमाणुकारणवादिभिस्तार्किकैरयुतसिद्धानां जातिगुणादिनामाधा-

प्रसङ्गात् प्रलयविरोधिनः सर्गस्य सद्भावे कथमिव प्रलयः स्यात् मोक्षाभाव प्रङ्सागच्च ।

न वा द्वितीयः पक्षः यतो यदि जीवसमवेतेन शुभाशुभकर्मणाऽदृष्टेन परमाणौ प्राथमिककर्मोत्पत्तिरिति मन्येत तदप्यपेशलम् । यत आत्मनो नित्यत्वेन सर्वदैवावस्थातात् । अदृष्ट सहितात्मसंयोगस्य परमाणौ विद्यमानत्वेन सर्वदैव सर्गः स्यात् । नतु कदाचित्सर्गः स्यात् कदाचिन्न स्यादिति नियमो भवेत् । एवमुभयथापीत्यादि । एवं यथोक्त प्रकारेणार्थात् आत्मगतमदृष्टं परमाणुगतं वेत्यादि क्रमेण सर्गप्रयोजकपरमाणुक्रियायाः समुत्पत्तिर्भवतीति नैवस्थापयितुं शक्नोति । ततश्च तादृशक्रियाया अभावेन सर्गजनकसंयोगाभावात् कारण संयोगस्याभावेन कार्यस्य सर्गस्याप्यभावो जायत एव. कारणाभावस्य कार्याभावनियतत्वादिति । यथा परमाणुसंयोगाभावान्नसर्गस्तथैव परमाणुविभागस्याप्यभावान्न प्रलयः संभवति । प्रक्रिया तूभयत्रापि समानैव तस्मात्परमाणुकारणवादो नैयायिकाभिमतो न समीचीन इति संक्षेपः ॥१२॥

आत्मा को भी नित्य होने से सर्ग सर्वदा होता रहेगा । किन्तु सर्ग तो कदाचित् होता है कदाचित् नहीं ऐसा नियम नहीं होगा । इस प्रकार से उभयथापि परमाणुगत प्राथमिक कर्म उत्पन्न नहीं हो सकता है और जब प्राथमिक कर्म परमाणु में नहीं होगा तब सर्ग जनक संयोग नहीं होगा । तब सर्ग भी नहीं होगा । इसी प्रकार विभागोत्पादक कर्म का अभाव हो जायगा । अतः नैयायिक का मत समीचीन नहीं है ॥१२॥

सारबोधिनी— सर्ग तथा प्रलय का कारण परमाणु का प्राथमिक क्रिया तथा प्रलय का कारण परमाणु विभाग का अभाव होने से सर्ग

राधेयत्वनियामकस्य समवायाभिधस्य सम्बन्धविशेषस्याभ्युपगमादसम-
ञ्जसम् । समवायस्यापि पृथक्पदार्थत्व साम्यात्कश्चित्सम्बन्धोऽपेक्षित-

विवरणम्-अथ अवयवावयविनां जातिगुणादीनामयुतसिद्धानां समवायः सम्बन्धः स्वीक्रियते । समवायत्वं च नित्यत्वे सति सम्बन्धत्वम् । विशिष्टबुद्धिनियामकस्तथा च विशिष्टबुद्धिनियामकत्वे सति सम्बन्धत्वम् । एतादृश समवायसम्बन्ध स्वीकारे परमाणुवादस्याभावो भवति साम्यादनवस्थितेः । यथा संयोग-घट-भूतलयोर्विशिष्ट-बुद्धि नियमयत् स्वयं सम्बन्धान्तरसापेक्षः प्रतियोग्यनुयोगि निवर्तते । एवं समवायोऽपि सम्बन्धान्तरमवेक्षेत ततश्च द्वितीयोऽपि सम्बन्धान्तरसापेक्ष इत्यनवस्थायामेव पर्यवसानं भवतीति समवा-

प्रलय का अभाव हो जायगा इत्यादि दोषग्रस्त परमाणु कारणवाद ठीक नहीं है इस प्रकार परमाणु कारणवाद का निराकरण न्याय पदार्थान्तर्गत समवाय का खण्डन द्वारा परमाणु कारणवाद का खण्डन करने के लिए उपक्रम करते हैं, "परमाणु कारणवादिभिरित्यादि" परमाणु कारणवादी तार्किक नयायिक लोग अयुतसिद्ध अवयव अवयवी, गुण गुणी क्रिया क्रियावान् जाति व्यक्ति और नित्य तथा विशेष का "इहतन्तुषुपट" इत्यादि प्रतीति से आधाराधेय भाव का नियामकानियामक समवाय नामक एक विलक्षण संबन्ध को मानते हैं । जिस तरह "घटवद् भूतलम्" इस प्रतीति से घट प्रतियोगिक भूतलानुयोगिक संयोग घट भूतल के साथ आधाराधेयभाव को सिद्ध करता है । इसी तरह "तन्तुषुपटः" इस प्रतीति से पट प्रतियोगिक तन्तु अनुयोगिक समवाय की सिद्धि होती है । इसमें संयोग संबन्ध से निर्वाह नहीं होता है । क्योंकि-"द्रव्ययोरेव संयोगः" इस नियम से तुल्यकालिक द्रव्य द्वय के स्थल में निर्वाह कथञ्चित कह सकते हैं परन्तु "गुणवान् घटः" इस प्रतीति का निर्वाह नहीं हो सकेगा । गुणकर्म का संयोग नहीं होता है तादात्म्य से भी निर्वाह नहीं होगा । क्योंकि तादात्म्य

स्तस्यापि समवायसम्बन्धत्वेऽनवस्थितेः । समवायस्य स्वरूपेण सम्बद्धत्वे तु जातिगुणादीनामपि तथैव स्वीकार्यत्वेन समवायकल्पनं निरर्थकम् ॥१३॥

याभ्युपगमे परमाणुकारणवादोऽपहतो भवतीत्याशयेन सूत्रव्याख्यातुं प्रक्रमते "परमाणु कारणवादीभिरित्यादि" परमाणु कारणवादिनो नैयायिका अयुतसिद्धानाम् ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यदवस्थमपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ । अयुतसिद्धः अवयवावयविनोर्जातिव्यक्त्योर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्नित्यद्रव्यविशेषयोश्च भवति. स च समवायोनित्यत्व विशिष्टो विशिष्टबुद्धिनियामकोरूपगन्धादिरित्यादि व्यवहारप्रवर्तकः । एतादृशसमवायस्यस्वीकारे परमाणुकारणवादोऽभावग्रस्तो भवति । तथाहि यथा संयोगिभ्यां घटभूतलाभ्यां

अभेद में होता है । द्रव्य गुण तो भिन्न वस्तु है । "गुणो द्रव्यम्" यह प्रतीति नहीं होती है । नवा कालिक सम्बन्ध द्रव्यगुण का हो सकता है । कदाचित् समान कालिक पदार्थों में संभव होने पर भी, "रूपवान् परमाणुः" इस प्रतीति की उत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि "नित्येषु कालिका योगात" इस नियम से महाकाल व्यतिरिक्त नित्यानुयोगिक कालिक संबन्ध नहीं होता है, तो रूपादिक प्रतियोगिक परमाणु अनुयोगिक कालिक से तो रूप तथा परमाणु की विशिष्ट बुद्धि नहीं होगी । अतः रुपवान् परमाणुः" इस प्रतीति के उपपत्यर्थं संयोगादि से अतिरिक्त नित्य संबन्धान्तरानपेक्ष एक समवाय को मानते हैं वैशेषिकानुयायी लोग ।

परन्तु ऐसा मानने से भी असामञ्जस्य का उद्धार नहीं होता है किन्तु असामञ्जस्य तो बना ही है । क्योंकि जिस तरह संयोगादिक पृथक् पदार्थ है उसी तरह समवाय भी पृथक् पदार्थ है । तो संयोगवत् यह समवाय भी स्वकीय प्रतियोगी तथा अनुयोगी के साथ सम्बद्ध होने से सम्बन्धान्तर सापेक्ष होगा तो यदि समवाय के लिए अतिरिक्त समवाय मानेंगे तब अतिरिक्त सम-

पृथक् भूतः संयोग इति ताभ्यां संबद्धं समवायसापेक्षो भवति तथैव समवायिभ्यां घटकपालाभ्यां पृथक् समवाय इति सोऽपि सम्बधान्तरमपेक्ष्यैव ताभ्यां सम्बद्धः स्यात्. ततः सोऽपि समवायः समवायान्तर सापेक्षो भवन्ननवस्थामेवस्थापयति । न च समवायः प्रतियोगिनमनुयोगिनं च सम्बद्धं कुर्वन् स्वयमपि ताभ्यां संबद्धो भवति न सम्बन्धान्तरसापेक्षो भवन् किन्तु स्वरूपसम्बन्धेनैव सम्बद्धो भवति तदा क्वानवस्थेति वाच्यम् ? एवं सति यथा समवायः स्वरूपेण समवायिभ्यां संबद्धो भवति तथा संयोगोऽपि संबन्धत्वात् संयोगिभ्यां सम्बन्धान्तरनिरपेक्ष एव स्वरूपेणैव संयुक्तः स्यात्तदाऽनवस्थासंपादक समवायसंबन्धकल्पनप्रयासस्तार्किकाणां मुधैव । न च यदि स्वरूपेण संयोगः संयुज्येत तदा घटसंयोग स्वरूपस्यैकत्वात्तयोः पर्यायता

वाय के लिए पुनः समवायान्तर की कल्पना करेंगे, तो इस प्रकार से समवायानवस्थारूप दोष होगा। नहीं कहो कि समवाय तो प्रतियोगी अनुयोगी को संबद्ध करके स्वयं तो उन दोनों के साथ स्वरूप संबन्ध से ही संबद्ध होता है, इसलिए अनवस्था नहीं होती है। यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि समवाय जिस प्रकार स्वरूप सम्बन्ध से स्वयमेव संबद्ध होता है। उसी तरह संयोग गुण जाति प्रभृतिक पदार्थ भी स्वरूपतः स्वकीय अनुयोगी के साथ संबद्ध हो जायेंगे पुनः समवाय नामक अप्रामाणिक समवाय मानने की क्या आवश्यकता है। अर्थात् समवाय की कल्पना निरर्थक है। नहीं कहो कि संयोग तो गुण है सम्बन्धान्तर सापेक्ष है समवाय तो ऐसा नहीं है यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि अपेक्षा कारण दोनों में समान है। तब एतादृश आपका उत्तर दण्ड-प्रहार के समय में हस्त समावरण के समान निष्फल है। नहीं कहो कि संयोग तो व्यक्ति भेद से भिन्न है समवाय तो एक है। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि एक मानें तब तो समवाय को एक होने से रूपवान् घटः इस प्रतीति के समान "रूपवान् वायुः" यह

नित्यमेव भावात् ।२।२।१४।

समवायसम्बन्धस्य नित्यत्वे तदनुयोगिप्रतियोगिनोरपि नित्यत्वेन परमाणुद्व्यणुकरूपकार्यकारणयोरपि नित्यमेव भावादसमञ्जसम् ॥१४॥

पत्तिरिवाच्यम् । अस्य दोषस्य समवायेऽपि तुल्यत्वात् । यदि समवायोऽतिरिक्तो न कल्प्येत तदा रूपवान् घट इति विशिष्ट बुद्धिः कथं स्यादिति वाच्यम्. तादात्म्यापरपर्यायस्यापृथक् स्वभावस्यैव तादृश प्रतीति नियामकत्वात् । इत्यादि बहुतरं दूषणजातं भाष्यदीपादि ग्रंथेभ्योऽवसेयमिति संक्षेपः ॥१३॥

विवरणम्– ननु समवायस्य नित्यत्वं यदीष्यते तदनुरोधेन तत्प्रतियोग्यनुयोगिनोर्नित्यत्वमवश्यमेष्टव्यम् । अन्यथा प्रतियोग्यनुयोगिनोरनित्यत्वे तदीयसम्बन्धस्य नित्यत्व प्रतिपादनमशक्यमेवस्यादिति समवायप्रतियोगिनो द्व्यणुकपरमाण्वोर्नित्यत्वेन परमाणुद्व्यणुकयोः प्रतीति भी प्रामाणिक हो जायगी । नहीं कहो कि रूप प्रतिकत्व विशिष्ट समवाय तो वायु में नहीं है । अतः रूपवान् वायुः प्रतीति नहीं होगी, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि रूपरसस्पर्शादि प्रतियोगी मात्र में भेद है समवाय तो एक ही, यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि विशिष्ट शंका को लेकर "विशिष्टं शुद्धादतिरिच्यते" इस न्याय से अनन्त दोष का परिहार नहीं होता है । इसलिए समवाय को मानने से असामञ्जस्य दोष होने से परमाणु कारणवाद ठीक नहीं है । विशेष विचार तो अन्यत्र देखें । यहाँ तो समवाय विषयक संक्षेप से विचार किया गया है ॥१३॥

सारबोधिनी–समवायी के नित्यता के बिना समवाय में नित्यता नहीं होगी, इसलिए समवाय को नित्य माननेवालों को समवायी नित्यता आवश्यक है । प्रकृत में समवाय का प्रतियोगी अनुयोगी है परमाणु तथा द्व्यणुक । यदि ये दोनों नित्य हैं तब दोनों में कार्यकारणभाव का असामञ्जस्य होता है । इस अभिप्राय को लेकर सूत्र व्याख्यान करने के लिए

रूपादिमत्वाच्च विपर्ययोदर्शनात् ।२।२।१५।

रूपादिमत्वात्परमाणूनां नित्यनिरवयवत्वादिविपर्ययोऽनित्यसावयवत्वादिकमपि तार्किकसमयविरुद्धमापद्यते रूपादिमत्सु घटादिषु तथा दर्शनात् ॥१५॥

कार्यकारणभावो न स्यात्, नहि नित्यस्य कदापि जन्यता संभवतीत्य सामञ्जस्य दर्शनेन परमाणुकारणवादोऽसमीचीन इत्याशयेन सूत्रं व्याख्यातुं प्रक्रमते "समवाय इत्यादि" समवायसंबन्धोलाघवादेको नित्य इति वैशेषिकैर्मन्यते तदा समवायप्रतियोग्यनुयोगिनोरपिनित्यत्वं मन्येत अप्रतियोग्यनुयोगिनोरनित्यत्वे संबन्धनित्यताया समर्थनासंभवात् । ततश्च समवाय प्रतियोग्यनुयोगिनोः परमाणुद्व्यणुकरूपकार्यकारणयोरपि नित्यमेव भावादसामञ्जस्यं भवति । द्व्यणुकजनकत्वं परमाणोर्न स्यात्, न भवति नित्यस्योत्पाद स्ततश्च कार्यकारणभाव एव कीदृशः स्यात् । तस्मात्परमाणुकारणवादो न समीचीन इति ॥१४॥

उपक्रम करते है "समवाय संबन्धस्य नित्यत्वे" इतीत्यादि । समवाय संबन्ध को नित्य होने पर समवाय का जो प्रतियोगी अनुयोगी है उसको भी नित्यत्व होना आवश्यक है । अन्यथा उसके बिना संबन्ध की नित्यता नहीं होगी । प्रकृत में प्रतियोगी अनुयोगी तो परमाणु तथा द्व्यणुक है । ये दोनों जब नित्य हुए, तब इन दोनों में कार्यकारण का नित्यमेव भाव होने से असमञ्जस होता है । अर्थात् इन दोनों में कार्यकारणभाव नहीं होता है । नित्य जन्यता नहीं होती है । अनित्य द्रव्य में अथवा एक नित्य हो, एक अनित्य हो, तब ही कार्यकारणभाव फलवान् होता है । काल आकाश में परस्पर कार्य कारणभाव नहीं होता है । इसलिए यह परमाणु कारणवाद समवाय को नित्य मानने से असमञ्जस है ॥१४॥

सारबोधिनी—न्याय सिद्धान्तवादी परमाणु को अणु तथा नित्य मानते

विवरणम्—वैशेषिक सिद्धान्ते परमाणवो रूपस्पर्शादिमन्तो नित्याः सूक्ष्माश्च वर्तन्ते परन्तु तदपि असमञ्जसमेव. तथाहि यथा घटादयो भावारूपस्पर्शादिमत्वात् स्थूला अनित्याश्च भवन्तीति दृश्यन्ते तथा परमाणवोऽपि रूपादिमत्वात् स्थूला अनित्याश्च भविष्यन्ति । तथा चानुमानम्. परमाणवोऽनित्याः स्थूलाश्च. रूपादिमत्वात् घटादिवदित्यनुमानेन नित्यत्व विरुद्धमनित्यत्वमापद्यते तथाणुत्वविरुद्धं स्थूलत्वमापद्यते । इत्याशयेन सूत्रं व्याख्यातुकामः प्रक्रमते "रूपादिमत्वात् परमाणूनामित्यादि । ये पृथिव्यादीनां चत्वारः परमाणवः सन्ति हैं और परमाणु को रूपस्पर्शादिमान् भी मानते हैं। परन्तु यह परस्पर विरुद्ध होने से असमञ्जस हैं क्योंकि जो घटपटादिक रूपस्पर्शादिमान् हैं वे सब स्थूल तथा अनित्य देखने में आते हैं, तो वह रूपादिमत्व हेतु परमाणु में है तब अणुत्व का विरोधी स्थूलत्व तथा नित्यत्व का विरोधी अनित्यत्व परमाणु में हो जाता है। इस वस्तु का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्र व्याख्यान के लिए उपक्रम करते हैं "रूपादिमत्वादित्यादि" परमाणु को रूपादिमान् होने से नित्यत्व निरवयवत्व का विरोधी अनित्यत्व सावयवत्व की आपत्ति होती है। जो कि नैयायिक सिद्धान्त से विरुद्ध है। घटादिक पदार्थ रूपस्पर्शादिमान् हैं तो उसमें सावयवत्व तथा अनित्यत्व देखने में आता है। "परमाणवोऽनित्याः स्थूलाश्च रूपादिमत्वात् यत् यत् रूपादिमत् तत्सर्वमनित्यं स्थूलं च यथा घटादिकम्" परमाणु अनित्य तथा सावयव स्थूल हैं क्योंकि रूपादिमान् हैं इसलिए जो जो रूपादिमान् होता है वह सब सावयव तथा अनित्य होता है जैसे घटादिक पदार्थ। घटादिक पदार्थ रूपादिमान् होने से सावयव तथा अनित्य हैं। उसी तरह परमाणु भी होगा। यद्यपि प्रकृत अनुमान में कारणजन्यत्व उपाधि है। क्योंकि सावयत्व तथा अनित्यत्व साध्य है घटादिक में उसमें कारण जन्यत्व है और रूपादिमत्व हेतु है परमाणु में उसमें कारण जन्यत्वोपाधि नहीं है। इस प्रकार

उभयथा च दोषात् ।२।२।१६।

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया रूपादिराहित्यमूरीक्रियते तदा कार्यगुणेषु कारणगुणपूर्वकत्वनियमभङ्गस्तन्नियमपरिरक्षयिषया रूपादिमत्त्वमङ्गीक्रियते चेत्पुनरनित्यत्वमित्युभयथा च दोषादसमञ्जसम् ॥१६॥

तेषां परमाणूनां रूपस्पर्शादिमत्वेन नित्यत्वनिरवयवत्वस्य विपर्ययोऽनित्यत्वं स्थूलत्वं चापतति । एतच्च न्यायमतविरुद्धम् । न च रूपादिमत्वं भवतु तावता अनित्यत्वं कथमिति शङ्कायामाह "दर्शनात्" अर्थात् यत्र यत्र रूपादिमत्वं तत्र तत्रानित्यत्वं च दृश्यते यथाघटादिषु घटादयो हि रूपादिमन्तः, इति ते स्थूला अनित्याश्च दृश्यन्ते ते रूपादिमत्वादि हेतवः परमाणौ विद्यमानाः तेषामपि स्थूलत्वमनित्यत्वं साधयन्ति घटादिवदेवेति । एतत्सर्वं न्यायमत विरुद्धमापद्यते । तस्मान्नपरमाणुकारणवादः समीचीन इति । तदाहुराचार्याः "तस्मान्न परमाणुकारणवादस्य सामञ्जस्यम्" इति ॥१५॥

विवरणम्— यदि परमाणूनां रूपस्पर्शमत्वं स्वीक्रियते तदाऽनेनैव हेतुना परमाणुषु सावयवत्वनित्यत्वयोः प्रसक्तिर्जायते । यदि कदाचित् से साध्य का व्यापक तथा साधन का अव्यापक होने से कारणजन्यत्व उपाधि होती है और कारणजन्यत्वरूप उपाधिमान् होने से रूपादिमत्व हेतु सोपाधिक है और सोपाधिक होने से व्याप्यत्वा सिद्ध है । तब प्रकृत स्वसाध्य का साधक नहीं हो सकता हैं । जिस तरह पूर्वपक्षक धूम साध्यक वह्नि हेतु में आर्द्रेन्धन संयोग उपाधि होने से वह वह्नि हेतु व्याप्यत्वासिद्ध कहलाता है । उसी तरह प्रकृत में भी होता है । तथापि प्रौढिवाद मात्र से तथा आगम के उपष्टंभ से वृत्तिकार ने अनुमान द्वारा परमाणु में अनित्यत्व तथा सावयवत्वादिक दोष का उद्भावन किया है । इस विषय पर विशेष विचार अन्यत्र देखें । यहां तो केवल वृत्ति का अक्षरार्थ मात्र विवृत किया गया है ॥१५॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा २।२।१७।

काणादमतस्य वैदिकैरपरिग्रहात्सद्युक्तिशून्यत्वाच्चात्यन्तमनपेक्षा ह्यत्र मोक्षार्थिभिः कार्या ॥१७॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ महद्दीर्घाधिकरणम् ॥२॥

रूपादिमत्वं न स्वीक्रियते तदा परमाणुजनित द्व्यणुकादौ रूपादिमत्वं न स्यात् कारणगुणानां कार्यगुणारंभकत्वस्य नियमेन तन्नियमभङ्गः स्यादित्युभयथापि दोष आपततीति विमृश्य तद्दर्शयितुमाह "अथैतद्दोष" इत्यादि । अथ यदि रूपादिमत्वेन हेतुना समापतितानित्यत्व सावयवत्वादिदोषाणामुद्धारेच्छया परमाणौ रूपादिकं न स्वीक्रियते तदा कारणे परमाणौ रूपादिगुणानामभावात् कार्ये त्र्यणुकादौ रूपादीनां प्रादुर्भावो न स्यात् कार्ये जायमाना गुणाः कारणपूर्वका भवन्तीति नियमव्याघातो भवेत् । यदि कदाचित्पूर्वोक्तनियमस्य रक्षणाय परमाणौ रूपादिमत्वमाद्रियते तदा रूपादिमत्वेन हेतुनाऽनित्यत्व सावयवत्वलक्षणवेताल उदेति । तत उभयथापि परमाणौ रूपादिमत्व

सारबोधिनी—यदि पार्थिवादि चतुर्विध परमाणु को रूपादिमान् मानते हैं तब तो रूपादिमत्व हेतुद्वारा परमाणुओं में अनित्यत्व सावयवत्व घटादि के समान आपतित होता है। और यदि इस दोष की उद्धारेच्छया यथोक्त गुणवत्ता नहीं मानते हैं तब "कारण गुण कार्य गुण का उत्पादक होता है" इस नियम का बाध होता है। इस प्रकार उभय प्रकार से दोष होने के कारण न्यायमत अयुक्त है। इस बात को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "अथैतद्दोषेत्यादि" परमाणु में आपतित अनित्यत्वादि दोष को उद्धार करने की इच्छा से यदि परमाणु को रूपरहित माने तब कार्य में कारण गुणपूर्वकत्व नियम का व्याघात होगा। उक्त नियम की रक्षा के लिए रूपादि मानें तब अनित्यत्वादिक दोष होता है। अतः उभयथापि दोष होने से परमाणु कारणवाद युक्ति युक्त सिद्ध नहीं होता है।। १६ ।।

अथ समुदायाधिकरणम् ॥३॥

समुदाय उभय हेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ।२।२।१८।

परमाणुकारणवादं निराकृत्य परमाणुपुञ्जकारणवादं निराकरोति। स च वादश्चतुर्विधैर्बौद्धैरङ्गीक्रियते। तत्र वैभाषिक सौत्रान्तिकैर्बा-

---

स्वीकारे तदस्वीकारे वा सर्वथैव दोषस्य जागरुकतयाऽसामञ्जस्यं नैव परिहृतं भवतीति ॥१६॥

विवरणम्—सांख्यादिमतप्राप्तपुरुषैर्मन्वादिभिः क्वचिदंशतः परिगृहीतं परन्त्विदं वैशेषिकमतं केनापि शिष्टेन कुत्रचिदपिस्थले केनाप्यंशेन नैव परिगृहीतमतः श्रेयोर्थिभिरस्मिन् परमाणुकारणवादे कदाचिदप्यास्था न-विधेयेत्याशयेनाह "काणादमतस्य" इत्यादि। काणादमतस्य परमाणु कारणवादस्य वैदिकैर्मन्वादिशिष्टपुरुषैरपरिग्रहात् कुत्रापि केनचिदप्यं-शेनापरिग्रहादस्वीकात् तथा सद्युक्ति शून्यत्वात् समीचीन तर्करहित-त्वात् अत्यन्तमनपेक्षा अतिशयेनानादरः, अत्र मोक्षार्थिभिः परमपदा-भिलाषिभिर्ह्युपासकैः कार्या कर्त्तव्याः। अयं परमाणु कारणवादोऽ-त्यन्तमेवानादरणीयः शिष्टैरपरिग्रहादिति सूत्रार्थः ॥१७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र
कृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे महद्दीर्घाधिकरणम् ॥२॥

सारबोधनी—सांख्यादि मत तो कदाचित्स्थलविशेष में अंशतो वैदिकों से परिगृहीत भी हैं। परन्तु यह न्याय मत तो शिष्टों से कहीं भी अंश से भी परिगृहीत नहीं है। इसलिए अत्यन्तानपेक्ष है इस आशय से कहते हैं "काणाद मतस्येत्यादि" काणाद का मत परमाणु कारणवाद वैदिकों से अपरिगृहीत है तथा सत्तर्क से रहित है इसलिए यह मत अत्यन्तमेव अनादर-णीय है मोक्षार्थियों से ॥१७॥ इति महद्दीर्घाधिकरणम् ॥

सारबोधिनी—अर्धवैनाशिक नैयायिक मत का खण्डन करने के बाद सर्व वैनाशिक बौद्धमत का स्मरण होता है तो उस बौद्ध मत का निराश

ह्यमाभ्यन्तरञ्चार्थजातं प्रत्यक्षानुमानगम्यं क्षणिकञ्चाभ्युपेयते । तृतीयेन योगाचारेणान्तरविज्ञानेऽखिलं पदार्थजातं कल्पितं क्षणिकञ्चाङ्गीक्रियते । तुरीयेण माध्यमिकेन सर्वशून्यमिष्यते । तत्र वैभाषिकसौत्रान्तिकबौद्धमतं सद्युक्तिमूलं न वेति संशयः । हिंसादि दोषरहितस्य सर्वार्थसाक्षात्कारिणो बुद्धस्य मतं सद्युक्तिमूलकमेवेति पूर्वपक्षः । अत्राभिधीयते-

---

विवरणम्— नैयायिकाभिमतः परमाणुकारणवादो गतप्रकरणेन निराकृतः । स च नैयायिकोऽर्द्धवैनाशिकः । अयं हि परमाणुगगनकालदिशात्ममनसां नित्यत्वमभिप्रैति तदतिरिक्तानां सर्वेषामनित्यतामिच्छतीति सोयमर्धवैनाशिक इति तन्निरूपणेन सर्ववैनाशिकः स्मृतोभवतीति प्रसङ्गत्वात्तन्मतनिरासाय प्रक्रमते "परमाणुकारणवादमित्यादि" । यद्यपि बौद्धमतप्रतिपादकः सुगत एक एव तथापि शिष्य भेदादनेकप्रकारकं तन्मतम् । तदुक्तम् "देशनालोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः । भिद्यन्ते बहुधालोके उपायैर्बहुभिः पुनः । गंभीरो-

क्रिया जाता है । ये बौद्ध मतानुयायी चार हैं । वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिका। इसमें प्रथम जो वैभाषिक है वह सब पदार्थ की सत्ता को प्रत्याक्षानुमानगम्य तथा क्षणिक मानता है। सौत्रान्तिक बाह्य आभ्यन्तर सब पदार्थ को क्षणिक तथा अनुमान मात्रगम्य मानता है। तृतीय योगाचार बाह्य आभ्यन्तर सब पदार्थ को ज्ञान में कल्पित मानता है वास्तविक नहीं सबों को स्वाप्निक पदार्थों के समान ही मानता है। चतुर्थ माध्यमिक सर्वशून्यता का अनुमोदन करता है। इन सब के मत में स्थिर ज्ञाता भोक्ता चेतन आत्मा नहीं माना जाता हैं। इनके मत में पदार्थों का निरन्वय विनाश ही होता है ऐसा कहते हैं। यद्यपि उपदेशक भगवान् एक हैं तथा उनकी देशनावाणी भी एक है। तथापि शिष्य के भेद होने से तथा ज्ञान के भेद से चार प्रकार का यह मत हुआ हैं। एतादृश सर्व वैनाशिक पक्ष का निरास करने के लिए उपक्रम करते हैं "परमाणुकारण-

चतुर्विधेषु प्रथमद्वितीयाभ्यां परमाणुजन्यपृथिव्यादिभूतसमुदायो भूत-जन्यश्च शरीरेन्द्रियविषयसमुदाय इत्येवं समुदायद्वयमास्थीयते । तदेत-त्समुदायद्वयं हेतुहेतुमद्भावेन स्थातुं न प्रभवति । यतस्ताभ्यां समस्तस्य वस्तुतः क्षणिकत्वाभ्युपगमात् । कारणत्वेनाभ्युपेतः समुदायः कार्यत्वेनाभिमतसमुदायात्प्रागेव विनष्टत्वात्तदप्राप्तिः ॥१८॥

त्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणाः। भिन्नापि देशनाऽभिन्ना शून्यताद्व-यलक्षणा" इति । परमाणुपुञ्जवादमिति । कपालादिरूपपरमा-णुपुञ्जाद् घटात्मकपरमाणुपुञ्जस्योत्पत्तिर्भवतीति बौद्धमतं निरा-कर्तुमयमारंभः । ते च बौद्धाश्चत्वारः सौत्रान्तिक–वैभाषिक–योगाचार माध्यमिकाः तत्राद्यौ सर्ववस्तुनोऽस्तितामिच्छतः, तृतीयस्तु ज्ञानमात्र-स्य न तु ेयस्य। चतुर्थस्तु सर्वस्याभावमेवेच्छति ॥

तत्र योऽयं बौद्धसिद्धान्तः समीचीनोऽसमीचीनो वेति संशयो भव-ति । तत्र समीचीन एव अशुद्धिप्रयोजकरागद्वेषरहितसर्वा-वादमित्यादि" अर्ध वैनाशिक नैयायिकाभिमत परमाणुकारणवाद का युक्ति पूर्वक निराकरण करके सर्व वैनाशिक निरन्वय विनाशवादी बौद्धाभिमत परमाणु पुञ्ज वादीयों के मत का निराकरण करते हैं । उस परमाणु पुञ्जवाद को चार प्रकारके बुद्ध के शिष्यों ने स्वीकार किया है । उसमें सर्व पदार्थ के अस्तिता को माननेवाले वैभाषित तथा सौत्रान्तिकों ने सभी पदार्थ को प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण से ज्ञेय तथा क्षणिक माना हैं । तृतीय शिष्य योगाचार तो प्रमाण में प्रमेय सकल पदार्थ आन्तर ज्ञान में कल्पित तथा क्षणिक मानता है तथा स्वाप्निक पदार्थ की तरह प्रमाणादि व्यवहार को मानते हैं । और चतुर्थ जो माध्यमिक है वह तो सर्व शून्यता का ही अङ्गीकार करता है । उन चारों में से प्रथम-द्वितीय वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक जो, प्रत्यक्षानुमान प्रमाणगम्य तथा क्षणिक सब पदार्थ को मानते

थेद्गइभगवतो बुद्धमतस्य समीचीनत्वमेव यो हि रागादिमान् तद्वचसि वि-श्वासो न भवति प्रामाण्यमपि च अयं तु भगवान् बुद्धः स्वतः प्रमाण-मिति तद्वचनमपि प्रमाणमेवातस्तन्मतं सयुक्तिकमेवेति पूर्वपक्षाशयः। एतन्मतं निराकर्तुमाह "समुदाय" इत्यादि सूत्रम् । योऽयमुभयप्रकारकः समुदायः परमाणुकारणजनितो भूतभौतिक समुदायः पञ्चस्कन्धकारणजन्यः पञ्चस्कन्धात्मकः एतदुभयहेतुकसमुदायस्य स्वीकृतावपि समुदाया-प्राप्तिः समुदायभावो न भवति. यतः समुदायिनोऽचेतनत्वात्क्षणिक-त्वाच्च । तस्मात् समुदायो न सिद्ध्यति. तदसिद्धौ च सर्वोऽप्यैहि-कपारलौकिक व्यवहारो विलुप्येतेति सूत्रार्थः । एतदेव स्पष्टयति, "चतु-र्विधेषु" इत्यादि । तत्र चतुर्विधशिष्येषु मध्ये सौत्रान्तिकवैभाषिका-भ्याम्. चतुर्विधपरमाणुजनितः पृथिव्यादिभूतसमुदायः । तथाभू-तैर्जनितः शरीरेन्द्रियादिसमुदायो मन्येते । अयं च समुदायः परस्परं कार्यकारणरूपेण व्यवस्थितो न भवति. क्षणिकत्वात्पदार्थमात्रस्य । का-रणं पूर्वकालिकं भवति । अत्र कारणत्वेनाभिमत समुदायस्य क्षणिकत्वे-

हैं । एतादृश बौद्धपक्ष सत युक्तिमूलक है अथवा नहीं ऐसा सन्देह होता है । उसमें पूर्वपक्षवादी कहते है कि भगवान् बुद्ध से प्रचलित मत सद्युक्ति मूलक है, क्योंकि भगवान् सर्व प्रकारक हसादि दोष से रहित हैं । तथा सभी पदार्थ का साक्षात्कारवान् हैं । तो एतादृश बुद्ध का मत समीचीन युक्ति से युक्त है । इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि "अत्राभिधीयते" इत्यादि इन चार सुगत के शिष्यों में से प्रथम द्वितीय अर्थात् वैभाषिक सौत्रान्तिक-इन दोनों ने दो प्रकार के समुदाय को माना हैं । परमाणु पुञ्ज से पृथिवी, जल, तेजोवायु लक्षण भूत समुदाय, तथा एतादृश भूत से जायमान शरीर इन्द्रिय विषय लक्षण समुदाय यह दोनो प्रकार का समुदाय परस्पर में कार्यकारण रूप से व्यवस्थित नहीं हो सकता है । क्योंकि बौद्धमतवादी सभी पदार्थ को क्षणिक निरन्वय विनाशी मानते हैं ।

इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न संघातभावानिमित्तत्वात् ।२।२।१९।

नन्वस्थिरेषु स्थिरत्वबुद्धिरूपयाऽविद्यया परस्परं कार्यकारणरूपसंघातस्योपपत्तिर्भविष्यतीति चेन्न । नहि विपरीतार्थग्राहिकयाऽविद्यया वास्तविकः संघातः शक्यतेऽवस्थापयितुम्, तस्याश्च संघातभावस्यानिमित्तत्वात् । शुक्तौ रजतधीर्नरजतमुत्पादयितुमीष्टे ॥१९॥

न विनष्टत्वात् कथं कार्यकारणभावः स्यात् । एवं नास्ति कश्चित् चेतन कर्त्ता यः समुदायं संघटयेत् । अतो न बौद्धमतं समीचीनमिति संक्षेपः ॥१८॥

विवरणम्—अथ सर्वपदार्थानां क्षणिकत्वेऽपि अस्थिरे पदार्थे स्थिरत्वप्रत्ययरूपा या अविद्या तया संघातयोः परस्परं कार्यकारणभाव संभवेन संघातोत्पत्ति संभवात् सर्वमुपपन्नं स्यादिति चेन्न. अविद्यायाः व्यवहारिक कार्यजनकत्वस्यासंभवात् । नहि भवति शुक्तिनिष्ठाविद्याया शुक्त्यादौ व्यावहारिक रजतोत्पत्तिस्तथात्वे तादृशरजतेनापि कटककुण्डलादीनामुत्पत्ति र्भवेन्नत्वेवं दृश्यते । तस्मान्नाविद्यया ऐहिकपारलौकिक व्यवहारोपपादकसंघातस्य संभवोऽतो न बौद्धमतं समीचीनमित्याशयेन सूत्रं व्याख्यातुमाह "नन्वस्थिरेषु" इत्यादि । ननु इति प्रश्ने

तब कारण रूप जो समुदाय है वह कार्य रूप से अभिमतसमुदायसे तो पूर्व में ही विनष्ट हो जाता है । तब कार्य रूप समुदाय की उत्पत्ति कैसे होगी क्योंकि तादृश समुदाय को बनानेवाला स्थिर समुदायी कोई नहीं है ॥१८॥

सारबोधिनी—यद्यपि बौद्ध मत में पदार्थ क्षणिक है इसलिए संघात की उपपत्ति नहीं हो सकती है । यह कह करके उसका खण्डन किया गया तथापि तदभाववत में तत्प्रकारक विपरीतार्थ प्रत्यय रूप अविद्या से अस्थिर पदार्थ में स्थिरत्व प्रकारक अविद्या के बल से संघात की उपपत्ति होगी ? इस प्रकारके वादी के आशय को लेकर सूत्र का व्याख्यान करने

अस्थिरेषु क्षणिकेषु घटादिषु इदं सर्वं स्थिरमित्यादिरूपया. अविद्ययैव संघातयोः परस्परं कार्यकारणभाव सम्भवेन पूर्वस्मात्परस्योत्पादनसम्भवेन संघातस्यैहिकपारलौकिकयात्रानिर्वाहकस्योत्पत्तिर्भविष्यतीति कथमुच्यते संघातानुपपत्त्या बौद्धमसङ्गतमिति । उत्तरयति, "इति चेन्न" येयं विपरीतार्थग्राहिका तदभाववतितत्प्रकारिका अविद्या तादृश विद्यया वास्तविकः वस्तुभूतव्यावहारिकपदार्थरूपः संघातः समुदायः स अवस्थापयितुं न शक्यते. अर्थात् अविद्यया व्यावहारिकपदार्थस्योपपादनं सर्वथैवाशक्यमिति । सेयमविद्या संघातस्योपपादने निमित्तकारणं न संभवतीत्यर्थः । किमविद्ययाशुक्तौ रजतमुत्पत्तुमर्हति ? नैव । अर्थात् यथा शुक्तिनिष्ठाविद्ययाशुक्तौ वास्तविकरजतस्य कदाचिदप्युत्पत्तिर्न जायते । तथात्वे तादृशरजतेन कटककुण्डलादिककार्यमपि भवेन्नत्वेवं दृश्यते । तथैव प्रकृतेऽविद्याबलेन संघातोपपादनासंभवात् ऐहिकपारलौकिकसंघातसाध्यव्यवहारस्य सर्वथैवविलोप इति न तन्मतं समीचीनम् ॥१९॥

के लिए उपक्रम करते हैं "नन्वस्थिरेषु" इत्यादि । अस्थिर क्षणिक वस्तुओं में स्थिरत्व प्रकारक प्रत्यय रूप जो अविद्या तादृश अविद्याके बलसे परस्पर कार्यकारण रूप संघात की उपपत्ति होगी ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि विपरीत अर्थ का जो ग्रहण ज्ञान तद्रूप अविद्या से वास्तविक लोकयात्रा निर्वाहक जो संघात, उस संघात का व्यवस्थापन किसी तरह से भी नहीं हो सकता है । क्योंकि वह अविद्या संघातभाव का निमित्त नहीं हो सकती है । देखिए शुक्तिकामें रजतज्ञान रूप अविद्या प्रतीत है क्या उससे रजत उत्पन्न होता है ? कैसे भी नहीं होता है । इसी तरह अविद्या से संघात की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । इसलिए बौद्धमत युक्त नहीं है ॥१९॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ।२।२।२०।

उत्तरस्मिन् घटादिकार्योत्पत्तिक्षणं कारणक्षणस्य विनाशान्न तस्य हेतुत्वम् । अभावस्यापि हेतुत्वे सर्वं सर्वत्र सर्वदोत्पद्येत, निर्हेतुकोत्पत्तौ चापसिद्धान्तः ॥२०॥

विवरणम्—ननु क्षणभङ्गवादिनां बौद्धानामयं सिद्धान्तः । कार्यक्षणे-समुत्पद्यमाने कारणक्षणः कपालादिक्षणोऽभावग्रस्तो भवतीति । तन्न-सम्यक् । एवं हि स्वीकारे कार्यकारणक्षणयोः कार्यकारणभाव एव न स्यात् । विनष्टस्य विनश्यमानस्य पूर्वकालस्थितस्य कारणक्षणस्याभाव ग्रस्तत्वादुत्तरक्षणस्य कारणत्वं न स्यात्, विद्यमान एव क्षण उत्तरक्षण-स्योत्पादको भवति, न तु अविद्यमानो हेतुर्भवतीति लोके दर्शनादित्याशये-नाह "उत्तरस्मिन्नित्यादि" उत्तरस्मिन् कारणापेक्षया उत्तरकालवर्त्तिनी घटादिकार्यस्योत्पादक्षणे कारणत्वाभिमतकपालादि क्षणस्य निरन्वय-नात् तस्य कपालादि क्षणस्य घटादिकं प्रतिजनकत्वमेव न स्यात् कार्या-व्यवहित पूर्ववर्त्तिन एव कारणत्वात् । नहि विनष्टं मृत्सुवर्णादिकं कार्य-स्योत्पादकं भवतीति क्वचिद्दृष्टमुपपद्यते वा युक्त्या। यदि कदाचिद-

सारबोधिनी—बौद्धोंको ऐसा मत है कि जब कार्य का उत्पाद होता है उस समयमें कारण क्षण अभावग्रस्त हो जाता है । परन्तु ऐसा यदि वह मानें तब उनके मतमें मृद् घटादिकमें कार्य कारणभाव ही उत्पन्न नहीं होगा । कारण की सत्तामें कार्य होता है कारण के अभावमें कार्यो-त्पादन नहीं होता है । इस अभिप्राय से क्षणभङ्गवाद का खण्डन करनेके लिए उपक्रम करते हैं "उत्तरस्मिन्नित्यादि" कारणापेक्षया उत्तरकालिक जो कार्य उस घटादि कार्यके समुत्पाद क्षणमें कारण कपालादि क्षणको विनष्ट होनेसे वह कपालादि कारण घटादि कार्यका कारण नहीं बन सकेगा । क्योंकि वर्तमान ही कारण उत्पादक होता है नतु अतीत अनागत कारण कार्यका उत्पादक होता है। ऐसा ही लोकमें देखनेमें आता है । यदि

असति प्रतिज्ञोपरोधे यौगपद्यमन्यथा ।२।२।२१।

कारणाभावेऽपि कार्योत्पत्तौ सर्वत्र निर्हेतुकोत्पत्तिस्स्यात् तथा सति, "अधिपतिसहकार्यादयो विज्ञानोत्पत्तौ हेतव" इत्येषा बौद्धप्रतिज्ञा हीयेत।

भावादेव अर्थात् कारणत्वाभिमत वस्तुनोऽभावेऽपि कार्योत्पत्तिर्भवतीति मन्येत. तदा अभावस्य सदा सर्वत्रविद्यमानत्वेन सर्वकार्यं सर्वत्र-सर्वदैव भवेत् तस्य सर्वत्र सुलभत्वात्। ततश्च घटार्थी नियमतः कपालादि सामग्री नैव संचिनुयात्. दध्यर्थी दुग्धादिकं नैवाहरेत्. तदन्तरेणापि दधिकार्यस्य संभवादिति । यदि कदाचित् कारणं विनैव कार्यं भवतीति स्वीक्रियात् क्षणभङ्गवादी, तदा तस्य स्वसिद्धान्तविरोधः समापतेत् । 'चतुर्विधान् हेतून्प्रतीत्यचित्तचैत्ताः समुत्पद्यन्ते' इति तेषां सिद्धान्तात् । तस्मादनुपपन्नः क्षणभङ्गवादो बौद्धा नामिति दिक् ॥२०॥

विवरणम्—कारणक्षणोऽभावग्रस्तत्वात् कार्यक्षणस्य कारणं न संभवतीति पूर्वं कथितम् । अथ यदि कदाचित् कारणाभावेपि कार्योत्पत्तिमिच्छेद् बुद्धानुयायी तदा समनन्तरादि कारणकलापेन कार्यस्योत्पत्ति र्भवतीति तदीय प्रतिज्ञा वाधिता स्यात् । अथ यदि कारणक्षणः कार्यक्षणं यावदवतिष्ठते तदा, "क्षणिकाः सर्वसंस्काराः" इतीयं प्रतिज्ञाया कदाचित् अभाव को ही कारणता माने तब सब कार्य सर्वदा सर्वत्र उत्पन्न होगा । यदि कदाचित् निर्हेतुक अर्थात् कारण के बिना ही यदि कार्यकी उत्पत्ति माने तब तो आपका स्वकीय सिद्धान्त का ही विरोध होता है। आपके सिद्धान्तमें कहा गया है कि, "चार प्रकारके कारणसे चित्त तथा चैत्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं । इसलिए क्षणभङ्गवाद ठीक नहीं है ॥२०॥

सारबोधिनी—कारण क्षण अभावग्रस्त होनेसे कार्यक्षणका कारण नहीं हो सकता है ऐसा पूर्वमें कहा गया है । अब कदाचित् कारण के अभावमें कार्य होता है अथवा निर्हेतुक कार्य होता है ऐसा मानें तब १ आलंबन

एतदर्थं कार्यक्षणं यावत्कारणक्षणावस्थितिरभ्युपेयते चेत्कार्यकारणयो- र्यौगपद्यं प्राप्नोति

उपरोधः क्षणभङ्गवादश्च दत्तजलाञ्जलिर्भवतीत्याशयेनाह "कारणभावेऽ- पीत्यादि। असति कारणसत्त्वमन्तरेणापि यदि कार्यस्य घटादेरुत्पत्ति स्वीकुर्यात्तद सर्वत्रैव हेतुमन्तरेणैव कार्यं समुत्पद्येत। न चेष्टापत्तिः, एवं सति "अधिपति सहकार्यादय विज्ञानोत्पत्तौ हेतवः" इत्याकारि- काया बौद्धस्य प्रतिज्ञा सा विहता स्यात्। अयं भावः एतन्मते कार्योत्प- त्तौ चत्वारि कारणानि भवन्ति तथा हि १ आलंबन प्रत्ययः २-अधिपति प्रत्ययः ३-सहकारी प्रत्ययः ४-समनन्तर प्रत्ययः इत्येते चत्वारो हेतवः। १-यथा घटादि ज्ञाने जननीये विषयविधया हेतुर्घट आलंबन प्रत्ययः २-चक्षुरादिकमधिपति प्रत्ययः ३-आलोकादिकं सहकारी प्रत्ययः। आलोक सहकारमादाय चक्षुषा घटज्ञानस्योत्पादनात्। पूर्वविज्ञानम् समनन्तर प्रत्ययः। तानीमानि कारणान्यासाद्यैव घटादि ज्ञानं समुत्पद्यते। सेयं बौद्धप्रतिज्ञा निर्हेतुककार्यवादे परिपीडिता भविष्यति। यदि प्रदर्शित प्रतिज्ञायाः सार्थक्याय कार्यक्षण पर्यन्तं यावत् कारणस्यावस्थानं स्वी- क्रियेत तदा कार्यकारणयोर्यौगपद्यदोषः स्यात् नहि भवति समसमय-

प्रत्यय २ अधिपति प्रत्यय ३ सहकारी प्रत्यय ३ समनन्तर प्रत्यय—इन चार कारणोंसे कार्यका उत्पत्ति होती है यह जो बौद्धोंकी प्रतिज्ञा का उपरोध हो जायगा। इत्यादि आशयको लेकर सूत्रके व्याख्यान करनेके लिए उपक्रम करते हैं "कारणाभावेऽपीत्यादि" कारण के दण्डचक्रादि रूपकारणके अभावमें भी यदि घटादि कार्यकी उत्पत्ति होती है ऐसा मानें तब तो सभी स्थलमें निर्हेतुक हेतुके बिना ही कार्यकी उत्पत्ति होगी? ऐसा ही यदि मानें तो विज्ञानकी उत्पत्तिमें, "अधिपति प्रत्यय, सहकारी प्रत्यय, आलंबन प्रत्यय और समनन्तर प्रत्यय—ये चार कारण हैं इस प्रकारकी जो बौद्धोंको प्रतिज्ञा है वह बाधित हो जायगी। इस प्रतिज्ञाका समर्थ करनेके लिए, यदि

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्।२।२।२२।

कस्यचिदपि पदार्थस्य प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्या निरोधः स्थूलसूक्ष्मविनाशस्तस्याप्राप्तस्तादृशनिरन्वयविनाशश्च न सम्भवतीत्यर्थः । उत्पत्तिविनाशधर्मवतो द्रव्यस्यान्वयित्वात् । दीपनिर्वाणेऽपि निरन्वयविनाशो न भवत्येव सत्कार्यवादिनां तत्रापि सूक्ष्मावस्थान्तरापत्तिरेव भवतीति ॥२२॥

योर्जन्य जनकभावः ! तथा क्षणादूर्ध्वं पदार्थानां सद्भावस्वीकारे, 'क्षणिकाः सर्वभावाः' इति नियमोपिबाधितः स्यादिति सोऽयमुभयतः पासारज्जुरिति ॥२१॥

विवरणम्–सुगतमतानुयायिन इत्थं कल्पयन्ति बुद्धिबोध्यं त्रयादन्य त्संस्कृतं क्षणिकं च । तच्च त्रयं प्रतिसंख्या निरोधा प्रतिसंख्यानिरोधावकाशञ्च । एतत्त्रय भवस्तु अभाव मात्रं निरूपाख्यमिति कथयन्ति । तत्र बुद्धिपूर्वको भावानां विनाशः प्रतिसंख्या निरोधः । एतद्भिन्नोऽप्रतिसंख्या निरोधः । आकाशंत्वावरणाभाव मात्रम् । तत्राकाशस्य निराकरणमग्रेकरिष्यति संप्रतिनिरोधद्वयस्य निराकरणायोपक्रमते "कस्यचिदपी"त्यादि कस्यचिदपि पदार्थस्य प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधो हि सूक्ष्मस्थूलरूपेण विनाशः बुद्धिपूर्वको विनाशः प्रतिसंख्या कार्य क्षणपर्यन्त कारणक्षणका अवस्थान मानें तब तो कार्य और कारणमें यौगपद्य एककालिकत्व हो जायगा । तथा "क्षणिकाः सर्व संस्काराः" इस नियमका बाध हो जायगा । अतः बौद्धमत हेय है ॥२१॥

सारबोधिनी–बुद्धिपूर्वक भाव विनाश को प्रतिसंख्या निरोध कहते है इससे विपरीत अर्थात् अबुद्धिपूर्वक भाव विनाशको अप्रति संख्या निरोध कहते हैं । तथा आवरणाभावमात्रको आकाश कहते हैं । यह तीनों वस्तु भूत तथा निरूपाख्य है ऐसा बौद्धमत है उसमें आवरणाभावमात्र आकाशका निराकरण तो आगे करेंगे । सम्प्रति निरोध द्वय का निराकरण

उभयथा च दोषात् ।२।२।२३।

किञ्च पदार्थजातस्य स्थूलसूक्ष्मविनाशे सत्यविद्यानास्ततो मुक्ति-रिति तन्मतमप्ययुक्तम् । अविद्यानिरोधस्य सहेतुकत्वे निर्हेतुकविनाश-सिद्धान्तहानिः । निर्हेतुकत्वेतू पायोपदेशवैयर्थ्यम् । इत्युभया दोषाद-सामञ्जस्यम् ॥२३॥

निरोधस्तद्विपरीतोऽप्रतिसंख्यानिरोधः । एतयोर्निरोधयोः प्राप्तिः प्रसङ्गो न संभवति स्थूल सूक्ष्मरूपेण विनाशो न भवति—कुतः ? अविच्छेदात् । यत उत्पादविनाशशीलपदार्थस्यान्वयित्वात् । अर्थात् कार्यरूपेण विनाशोऽपि कारणरूपेणावस्थानात् । यच्चापि प्रदीपादौ-विनाशो दृश्यते न तत्रापि निरन्वय विनाशो भवति सत्कार्यवादे त-त्रापि सूक्ष्मरूपेणावस्थान्तरापादनमेव भवति । तदुक्तम्, "उदबिन्दौ च सिन्धौ च तोय भावोनभिद्यते" । विनष्टेपि ततो बिन्दा वस्ति तस्यान्वयो दधाविति । तस्मात् कस्यापि पदार्थस्य निरन्वयो विनाशो न भवति । तत्रेदमुक्तम् "अविच्छेदात्" न कस्यापि निरन्वय विनाशः किन्तु कार्यस्यकारणेऽवस्थान मात्रमेवेति । अतो बौद्धमतं न सम्य-गिति ॥२२॥

विवरणम्——प्रतिसंख्यानिरोधमध्यपतितोऽविद्यादीनां निरोधः अविद्यादीनां निरोधे सति मोक्षो जायते इति सुगत समयः सर्वथैव करने के लिए उपक्रम करते हैं "कस्याचिदपीत्यादि" किसी भी भाव पदार्थका जो प्रति संख्या अप्रतिसंख्या निरोध को अप्राप्ति है । अर्थात् पदार्थका स्थूल सूक्ष्म रूपसे प्राप्ति नहीं हो सकती है अर्थात् पदार्थोंका निरन्वय विनाश नहीं हो सकता है क्योंकि जो उत्पादविनाशशील पदार्थ है वह स्वभावत एव अन्वयी होता है । प्रदीप निर्माण का भी निरन्वय विनाश नहीं होता है । सत्कार्यवादीके मतमें प्रदीप निर्माण स्थलमें भी सूक्ष्मावस्था प्राप्ति ही होती है । इसलिए बौद्धमत समीचीन नहीं है ॥२२॥

निर्युक्ति को यतः योयं विद्यादीनामभावः स केनचित् कारणेन भवति. अथवा नि`तु कः ? प्रथमपक्षे पदार्थमात्रस्य निर्हेतुक विनाशो भवतीति योयं भवदीयः सिद्धान्त स विलुप्तो भवति। द्वितीयपक्षे मोक्षकारणस्य सपरिकरसम्यग् ज्ञानस्योपदेशस्यवैयर्थ्यमापतीत्यसङ्गतः क्षणवादिपक्ष इत्याशयेनह, 'किञ्च पदार्थजातस्य' इत्यादि। घटपटादि सकल पदार्थस्य स्थूलसूक्ष्मविनाशानन्तरम् अर्थात् प्रतिसंख्या निरोधे जाते सति अविद्यायाः प्रतिसंख्या निरोधो भवति तदनन्तरं मोक्षो भवतीति बौद्ध संमतम्। तत्र योयमविद्यादीनां प्रतिसंख्या निरोधः स सहेतुकः केनचित् कारणेन समुत्पद्यते अथवा निर्हेतुकः अर्थात् कारणमन्तरेण जायते। यदि सहेतुको भवतीति स्वीक्रियेत तदा सर्ववस्तुनामहेतुको विनाशो भवतीति यद् बौद्धमतम् तद् भज्येतार्थात् सिद्धान्त हानिः स्यात्। द्वितीयपक्षे भवतां शास्त्रे तत्त्वज्ञानस्योपदेशः कृतस्तस्य सर्वथैव नैरर्थक्यं जायते। इति निर्हेतुकविनाशस्य

सारबोधिनी—प्रतिसंख्यानिरोध के अन्तर्गत जो यह अविद्यादिक पदार्थ का निरोध है। तत्सद्भावमें मोक्ष होता है यह जो बौद्ध मत है। उसका निराकरण करनेके लिए उपक्रम करते हैं, "किञ्च पदार्थजातस्य" इत्यादि। और भी देखिए। जो यह घटपटादि पदार्थ समुदाय हैं उनका स्थूलसूक्ष्मरूपसे प्रतिसंख्या निरोध होने पर मूल कारण अविद्या का नाश होता है तब मोक्ष होता है। यह जो बौद्ध सिद्धान्त है वह ठीक नहीं है। क्योंकि अविद्याका जो निरोध होता है वह सकारणक है अथवा अकारणक है। यदि अविद्या विनाश को सकारणक अर्थात् कारणजन्य मानें तब तो निर्हेतुक अविद्यादिका विनाश होता है। ऐसा जो बौद्धोंका सिद्धान्त है उसका विलोप हो जाता। यदि कदाचिद निर्हेतुक अविद्यादिकका विनाश मानें तब तो मोक्षके लिए सामग्री सहित जो तत्त्वज्ञानका शास्त्रमें उपदेश किया गया है वह व्यर्थ हो जायगा। इस प्रकारसे

आकाशे चाविशेषात् ।२।२।२४।

आकाशस्य तुच्छत्वं न पृथिव्यादीनामित्यपि तन्मतमयुक्तम् । 'अत्र श्येन उत्पतति'इत्यादि-प्रतीतेराकाशस्य पृथिव्यादिभ्योऽविशेषात् ॥२४॥

कारणस्वीकारेऽस्वीकारे वोभयथापि दोषः समापततीति दोषाद समञ्ज संबौद्धदर्शनमिति ॥२३॥

विवरणम्—गतसूत्रद्वयेन प्रतिसंख्यानिरोधा प्रतिसंख्या निरोधयोर-युक्तिकत्वमुपपाद्य. आवरणाभावमात्रमाकाशं रुपाख्यं न तु पृथिव्यादिवद् वस्तु भूतमित्याकारकं यत्सुगतमतं तदपि न समीचीनमित्युपपादयितुमुपक्रमते "आकाशस्य तुच्छत्वमित्यादि" आकाशमावरणाभावमात्रं निरुपाख्यं चेति तथा पृथिव्यादि पदार्थो न तुच्छः किन्तु लौकिक व्यवहारोपपादक इति बौद्धमान्यता निरालंबनैव-कुतः ? उभयत्रसद्भाव प्रतिपादक प्रतीतेरविशेषात्समानत्वात् । तथाहि "भूतले घटः" इति प्रतीत्या आधारतारूपं तत्वं पृथिव्यामिति न पृथिवी तुच्छा किन्तु लोक व्यवहारोपपादिका। तथैव आकाशे पतति उत्पततीति प्रतीतेः सद्भावेन पृथिव्या आकाशस्य च समानतैव । नत्वाकाशावरणाभावरूपत्वं निरूपाख्य—

दोनों पक्षोंमें दोष होनेसे यह बौद्धमत असमंजस है । अर्थात् बौद्धमत ठीक नहीं हैं । अतः इस मतका स्वीकार करना उचित नहीं ॥२३॥

सारबोधिनी—बुद्धिपूर्वक पदार्थका विनाश लक्षण प्रतिसंख्या निरोध तथा तद्विपरीत पदार्थ विनाश लक्षण अप्रतिसंख्यानिरोधक। पूर्वसूत्रद्वय से निराकरण करके, आवरणाभावरूप निरुप्य तथा पृथिव्यादिसे विलक्षण आकाश है । इसका खंडन करनेके लिए उपक्रम करते हैं "आकाशस्य-तुच्छत्वम्" इत्यादि । आकाश आवरणाभाव निरूपाख्य है। पृथिव्यादि सत्य पदार्थ नहीं है । यह जो बौधका मत है वह समीचीन नहीं है। क्योंकि, "अत्र श्येनः पतति" यह जो प्रतीति होती है इससे सिद्ध होता है कि पृथिवी जलाद्यपेक्षया आकाशमें कोई भी विलक्षणता नहीं है,

अनुस्मृतेश्च ।२।२।२५।

अपि च अनुभवानन्तरं स्मृतेरुदयात् क्षणिकत्वं नोपपद्यते। अनुभूतिस्मृत्योरैकाधिकरण्येनान्येनानुभूतस्यान्ये स्मर्तुमशक्यत्वात् ।।२५।।

त्रमेवेति। किञ्च यदि आवरणाभाव मात्रमाकाशमिच्छेत्सुगतमतानुयायी तदा तस्य स्वशास्त्रविरोधोऽप्यापतति तथाहि सुगतसमये, "पृथिवीभगवः किं संनिश्रया" इत्यादि प्रश्नोत्तर प्रवाहे पृथिव्यादीनामन्ते 'वायुः किं संनिश्रयः' अस्य प्रश्नस्योत्तरे कथितम् "वायुराकाशसंनिश्रयः" एतदुत्तरमाकाशस्यावस्तुत्वे सङ्गतं न भवेत्। अपि चावरणाभाव मात्रं यद्याकाशमभूत्तदा. अभावनिरूपणं प्रतियोग्यधिकरणयोर्निरूपणाधीनमिति. यावदधिकरणस्य निरूपणं न स्यात्तावदभावनिरूपणमपि न स्यात्। तस्मादावरणाभावाधिकरणमाकाशम्। अधिकरणं च सदेव भवति नासदधिकरण मित्यतोऽकामेनाप्याकाशस्यसत्त्वमभ्युपेयं न निरुपाख्यात्वमावरणाभावरूपत्वमिति संक्षेपो विस्तरस्त्वन्यत्र द्रष्टव्य इति॥२४॥

अपितु समानता ही, यतः आधाराधेयभाव दोनोंमें समान है। जो आधार होता है वह तुच्छ नहीं होता है। जिस तरह घटादिका आधार पृथिवी सत् है। उसी तरह आकाशमें भी अधिकरणता समान ही है। यद्यपि प्रत्यक्षसे आकाशकी सिद्धि नहीं होती है। शब्दादि रूप हेतु द्वारा शब्दके अधिकरण रूपसे तो सिद्धि होती ही है। और आवरणाभाव है। अभाव की सिद्धि प्रतियोगी तथा अनुयोगीके निरूपणाधीन है। अतः आवरणभावका अधिकरण वस्तु भूत आकाश सिद्ध होता है। बौद्ध के सिद्धान्तमें भी कहा है कि, "वायुः किं संनिश्रयः" वायु किस अधिकरण में रहता है। इस प्रश्नके उत्तरमें सुगतने कहा है "वायुः आकाश संनिश्रयः" इससे भी सिद्ध होता है कि आकाश वस्तु सत् है। आवरणाभावरूप नहीं है किन्तु आवरणाभावका अधिकरण है, तुच्छ नहीं है किन्तु वस्तु सत् है। अतः बौद्ध मत समीचीन नहीं है॥२४॥

विवरणम्—सर्वे भावाः क्षणिकाः सत्वात् मेघमालावत्। यत्सत् तत्क्षणिकमिति व्याप्त्या पदार्थमात्रस्य क्षणिकतां प्रतिपाद्य बौद्ध पदार्थान्तर्गत. आत्मनोऽपि क्षणिकतामेव स्वीकुर्वन्ति। तत्र घटपटादि बाह्यपदार्थस्य क्षणिकत्वं निराकृत्यान्तरस्यात्मनः क्षणिकतां निराकर्तु सूत्रव्याख्यानमुखेन प्रक्रमते "अपि चानुभवानन्तरमित्यादि"। सूत्रार्थस्त्वयम्. अनु-पश्चात् अर्थादनुभवानन्तरं स्मृतेर्दर्शनात् नात्मनः क्षणिकत्वम्। प्रथमं घटादीनामनुभवो भवति तत कालान्तरे स एवानुभवकर्त्ता तं तं पदार्थं स्मरति। अनुभवस्मरणयोः सामानाधिकरण्येनैव कार्यकारणभावो भवति। अर्थात् यस्ययद्विषयकोऽनुभवस्तस्यैव तद्विषयकं स्मरणं भवति, नतु तदन्य स्मरणं जायते कदाचिदपि ततश्चात्मापि यदि क्षणिकः स्यात् तदा क्षणिकत्वानुभवितुश्चिर विनष्टात्वात्स्मरणं न स्यात्। भवति च स्मरणं तस्मान्नात्मा क्षणिकः। इत्याशयमेवानुवदति घटादीनामनुभवानन्तरं

सारबोधिनी—बौद्धलोग बाह्य आभ्यन्तर सकल पदार्थको क्षणिक मानते हैं वे कहते हैं, "जो पदार्थ सत् है, वह क्षणिक होता है जैसे माला। इस व्याप्तिसे पदार्थ मात्रमें क्षणिकताका व्यवस्थापन करते हैं। उसमें घट पटादि बाह्य पदार्थकी क्षणिकताका निराकरण करके आन्तर आत्मा की क्षणिकताको निराकरण करनेके लिए वृत्तिका प्रक्रम करते हैं "अपि चानुभवानन्तरमित्यादि" घटादि विषयक अनुभव होनेके बाद तद्विषयक स्मरण उसी व्यक्तिको कालान्तरमें होता है। इसलिए आत्मा में क्षणिकत्व मानना ठीक नहीं है। नहीं कहो कि पूर्वक्षणमें अनुभव होता है। और तत्समानाकारक क्षणान्तरमें स्मरण होगा। यह तो क्षणिकवाद में भी घट सकता है।" इसके उत्तरमें कहते हैं "अनुभवस्मृत्योरकाधिकरण्येनेति। अनुभव तथा स्मरणमें सामानाधिकरणता नियत है। अर्थात् जिस अधिकरणमें अनुभव होता है उसी अधिकरणमें स्मरण भी होता है। इसलिए अन्य व्यक्तिसे अनुभूत पदार्थका स्मरण व्यक्त्यन्तरको

नासतोऽदृष्टत्वात् ।२।२।२६।

असतः कार्योत्पत्तेरदृष्टत्वात् क्षणिकत्वं नोपपद्यते ॥२२॥

घटादि विषयक स्मरणस्य कालान्तरे तस्यैवनुभवितुर्दर्शनादात्मनः क्षणिकत्वं न संभवति । यतोऽनुभवस्मरणयोरेकाधिकरण्येनानयोः सामानाधिकरण्यदर्शनात् । न च पूर्वक्षण समानाकारेण क्षणान्तरेण स्मरणं स्यादिति वाच्यम्. अन्यानुभूतस्य तदन्येन स्मरणासंभवात् । "नान्यं-दृष्टं । स्मरत्यन्यः" इति नियमात् । ततश्च पदार्थमात्रो निरंकुश क्षणिकत्वमिति बौद्धमतं न समीचीनमपितु आत्मा सर्वदास्थायी नित्यश्चेतिदिक् ॥२५॥

विवरणम्—स्थिरकारणस्याभावादभावादेवभावानामुत्पत्तिर्यथा विनष्टादेवबीजादङ्कुरोत्पत्ति जायते । यदि किञ्चित् स्थिरं कारणं भवेत्तदा सर्वेभ्यः सर्वस्योत्पत्तिः स्यान्नत्वेवं भवति तस्मादभावग्रस्तकारणा-

नहीं हो सकता है नवा अन्यदृष्टका स्मरण अन्यको होता है । कभी भी चैत्रसे अनुभूत पदार्थका स्मरण मैत्रको नहीं होता है । इसी प्रकार पूर्वक्षणसे अनुभूत पदार्थका स्मरण तत्समानाकारक क्षणान्तरसे नहीं होगा । "नान्य दृष्ट स्मरत्यन्यः" ऐसा नियम है । इसलिए आत्मा को क्षणिक मानना यह युक्ति सिद्ध नहीं है । अतः बौद्धमत समीचीन नहीं है । इस विषय पर विशेष विचार स्थलान्तर में देखे ॥२५॥

सारबोधिनी—जब सुगतमतानुयायी स्थिर कारणसे कार्यको उत्पत्ति नहीं मानते हैं तब तो अर्थतः सिद्ध होता है कि अभावसे भाव की उत्पत्ति होती है । और वे लोग कहते हैं कि विनष्ट बीजादिकसे ही अङ्कुरकी उत्पत्ति होती है । एवं क्षीरका विनाश हो जाने के बाद दधि की उत्पत्ति है । एतादृश जो मत है उस मतके निराकरण करनेके लिए करते है "असतः कार्योत्पत्तेरदृष्टत्वा"दित्यादि । असत् जो बन्ध्या पुत्रः उससे कार्यकी उत्पत्ति नहीं देखनेमें आती है । अर्थात् यदि अभावसे

देवकार्यं जायते इति बौद्धमतम् तदेतन्न समीचीनमिति सूत्रव्याख्यानार्थं-प्रक्रमते, "असतः कार्योत्पत्तेरित्यादि" यद्यभावादेवभावोत्पादः स्यात्त-दा सर्वं कार्यं सर्वत्र भवेदभावस्य सर्वत्र भवेदभावस्य सर्वत्र सुलभत्वात्। किन्तु असतो वन्ध्यापुत्रादितः कस्यचिदपि कार्यस्योत्पत्त्यदर्शनात् नाभावस्य कारणता। बीजाद्यभावान्न कार्योदयः किन्तु बीजावयवादे-वेति। अथवा सूत्रे दृष्टत्वादि छेदः करणीयस्ततश्च सतो मृदादित एव घटादि कार्यदर्शनात् नैत्रासतः कारणतेति भावः ॥२६॥

भावकी उत्पत्ति हो तब तो अभाव रूप कारण सर्वदा सर्वत्र विद्यमान है तो सबकी उत्पत्ति सर्वत्र होनी चाहिए। परन्तु ऐसा तो देखनेमें नहीं आता है इसलिए अभावात्मक कारणसे अथवा अभावग्रस्त कारणसे भावात्मक कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। अपितु भावात्मक मृत्पिण्ड तथा सुवर्णसे घटरूपकादि कार्यकी उत्पत्ति होती है। अतः कारण क्षणिक नहीं है। और चार प्रकार के कारण से चित्तचैत्त पदार्थोंकी उत्पत्ति है तथा परमाणुपुञ्ज पृथिवी प्रभृति भूत भौतिककी उत्पत्ति है। इस प्रकार से निरूपण करके पुनः अभाव से भाव पदार्थ की उत्पत्ति है इस तरह प्रतिपादन करनेसे व्याघात दोष भी बौद्धमत में होता है। अथवा इस सूत्रमें "नासत दृष्टत्वात्" इस तरह से छेद करना चाहिए तब सूत्रका यह अर्थ होता है कि यत्र तत्र मृत्पिण्ड सुवर्णपिण्डात्मक सत् पदार्थ से ही घट रूपकादि कार्यकी उत्पत्ति देखनेमें आती है इसलिए असत् अर्थात् अभावसे भावात्मक पदार्थोंकी उत्पत्ति नहीं होती है। जिस तरह सुवर्णसे जायमान रूपकादि कार्यकारण सुवर्णसे अन्वित रहता है। यथा वा मृत्तिका से जायमान घटादिक कार्य सर्वदा मृदान्वित होता है। क्योंकि कारणसे कार्य का तादात्म्य है। अत एव सौवर्णो घटो मार्दवोघइत्यादि व्यवहार होता है। इसी तरह अभावरूप कारणसे जब कार्य होगा तब तो कार्यावस्था में भी कारणका अनुवर्तन

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ।२।२।२७।

असतोऽभावरूपान्निरूपाख्यादपि कार्योत्पत्तावुदासीनानां कार्यप्रवृत्तिशून्यानामपि तत्तदभीष्टस्य कार्यस्य सिद्धिः स्यादिति न कोऽपि कार्यनिष्पादने प्रवर्त्तेताऽतोऽसमञ्ज समेवेदं क्षणिकवादिनोवैभाषिकसौत्रान्तिकयोर्मतम् ॥२७॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ समुदायाधिकरणम् ॥३॥

विवरणम्—यदि बोद्धोऽभावादेवभावोत्पत्तिंस्वीकुर्यान्तदासर्वकार्यदक्षादभावादेव सर्वकार्यस्य संभवेन मोक्षार्थी मोक्षसाधनाय प्रयानं न कुर्यात्, न वा स्वर्गार्थीस्वर्गे साधनयागाय प्रवर्तेत, न वा घटार्थीकुलालो घटादिकार्याय मृद्दण्डादीनाहरेत् । अभावेन सर्वत्र सुलभेन सर्वत्र-सर्वस्य सुलभत्वादितिनाभावाद्भावोत्पत्तिरित्याशयेनाग्रिमसूत्रमवतारयितुं प्रक्रमते, "असतोऽभावरूपादित्यादि"ति निरुपाख्यादभावलक्षण कारणादपि कार्याणां घटादीनामुत्पत्तिमिच्छेत्तदाये उदासीनाः कार्यप्रवृत्तिरहिता-

होने से अभावान्वित ही कार्यका होना चाहिए किन्तु ऐसा तो नहीं होता है । परन्तु मृदादि से अन्वित ही कार्य होता है । इसलिए क्षणिकता पक्ष ठीक नहीं है ॥२६॥

सारबोधिनी—यदि अभावसे भाव को उत्पत्ति होती है ऐसा मानें तब तो जैसे घटके लिए कारण सामग्री को इकठ्ठा करके प्रयत्नपूर्वक घटार्थि घटके लिये प्रयत्न करनेवाले पुरुषको घट प्राप्ति होती है । उसी तरह सर्वथा प्रयत्न रहित पुरुष को भी स्वाभिमत वस्तुओं की प्राप्ति सुलभ से होगी तब घटाद्यर्थ प्रयत्न विफल हो जायगा । इस अभिप्रायसे बौद्धमत खण्डन करने के लिए अग्रिम सूत्रका अवतरण करते हुए कहते हैं "असतोभावरूपादित्वादि" निरुपाख्य असल्लक्षण अभाव से कार्य की उत्पत्ति होती है, अगर ऐसा मानें तब तो जो व्यक्ति उदासीन है, कार्यार्थ प्रवृत्ति से सर्वथा रहित है । एतादृश व्यक्ति को भी स्वकीय अभि-

अथोपलब्ध्यधिकरणम् ॥४॥

नाभाव उपलब्धेः ।२।२।२८।

विज्ञानवादिनो योगाचारस्य मतं सद्युक्तिमूलं नवेती संशयः। तत्र बाह्यार्थसद्भावे ज्ञानमेव प्रमाणम्। आन्तरज्ञानवैचित्र्येणैव बाह्यार्थानां घटपटादीनां व्यवस्थोपपादयितुं शक्या स्वप्नावस्थायामर्थाऽभावेऽपि वै-

---

स्तेषां प्रयत्नमन्तरेणापि स्वस्वाभिलषितकार्यस्य प्राप्तिः कार्यस्यलाभसंभवेन को हि स्वस्थात्मा तत्तत्कार्यकरणाय गुरुतरप्रयत्नसाध्यकारण प्राप्तये प्रवृतिं कुर्यात्। अभावस्य सर्वत्र सुलभतया प्रयतमानपुरुषवत् प्रयत्नरहितपुरुषस्यापि सर्वसिद्धिसंभवात्। तस्मात् क्षणवादिनो वैभाषिकसौत्रान्तिकयोर्मतमसमीचीनमेवेति ज्ञेयम् ॥२७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे समुदायाधिकरणं समाप्तम् ॥३॥

विवरणम्—एतावताप्रबन्धेन बाह्यार्थवादिनो वैभाषिक सौत्रान्तिकयोर्मतं निराकृत्य बाह्यार्थं विनैव केवलविज्ञानेनैव व्यवहारं प्रवर्तयतां विज्ञा-

लषित कार्य की प्राप्ति हो जायगी। तब कार्य को संपादन करने के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं करेगा। क्योंकि अभाव से ही सर्वत्र सब कार्य हो जायगा। अतः क्षणभङ्गवादी वैभाषिक सौत्रान्तिक का मत समंजस—ठीक नहीं है ॥२७॥

॥ इति समुदायाधिकरणं समाप्तम् ॥

सारबोधिनीः—बाह्यार्थ सद्भाववादी वैभाषिक सौत्रान्तिक बौद्धमत का निराकरण करके केवल विज्ञान ही है, बाह्य अर्थ नहीं है ऐसा कहनेवाले जो विज्ञानवादी योगाचार हैं उनके मत का निराकरण करने के लिए प्रक्रम करते हैं "विज्ञानवादिनो योगाचारस्य" इत्यादि वैभाषिक सौत्रान्तिक लोग-ज्ञान तथा ज्ञेय—इन दोनों की स्वतन्त्र पृथक्—पृथक् सत्ता को मानते हैं।

ज्ञानिकैरर्थैर्यथा व्यहारस्तथा जागृदवस्थायामपि वासनावशाद्विज्ञानसन्तानो घटाद्यर्थाकारं धत्ते । अतो न विज्ञानातिरिक्तं किमपि तत्वमिति पूर्वः पक्षः ॥ अत्राभिधीयते-विज्ञानातिरिक्तस्य पदार्थस्य "घटमहं जानामि" इत्यादि प्रतीत्या घटादेरूपलब्धेर्न पदार्थाभावः शक्यते वक्तुम् ॥२८॥

नवादियोगाचाराणां मतमपाकर्तुमुपक्रमते, "विज्ञानवादिनः" इत्यादि। योऽयं विज्ञानवादी योगाचारस्तस्य मतं सयुक्तिकमुपपत्त्योपपद्यते नवेति संशयो भवति । तत्र विज्ञानवादिमतं दर्शयति "बाह्यार्थसद्भावे"इत्यादि योऽयं घटपटादि रूपो बाह्योऽर्थस्तस्यापि सद्भावो न भवति ज्ञानमन्तरेण. स्वप्नकाले बाह्योऽर्थो न भवति किन्तु ज्ञानबलेनैव तत्र व्यवहारो भवति तद्वदेव जागरितावस्थायामपि बाह्यार्थो नास्ति किन्तु ज्ञानमेवतत्तदाकारेण प्रथते । एवं यदा बाह्योऽर्थ उपलभ्यते तदा ज्ञानेन सहैवेति ज्ञानार्थयोः सहोपलंभात् , ज्ञानमेव नतु तदतिरिक्तो बाह्योऽर्थोऽस्ति । केवलं वासनाबलेन तेऽर्था प्रतीयमाना भवन्ति नतु ज्ञानातिरिक्तो बाह्योर्थोऽस्तीति विज्ञानवादिमतमित्येवं भवति पूर्वपक्षः । एतन्मतं निराक-

योगाचार कहते हैं कि जब बाह्य अर्थ उपलब्ध होता है तब ज्ञान रहता ही है और ज्ञान रहता है तब बाह्यार्थ रहता ही है यह कोई नियम नहीं है। क्योंकि स्वप्नकाल में ज्ञान रहता है परन्तु अर्थ नहीं रहता है । एतादृश मात्र विज्ञान को माननेवाले जो योगाचार हैं उनका उक्त मत है । यह युक्ति संगत है अथवा सयुक्तिक मूलक नहीं है एतादृश संदेह होता है । सन्देहोत्तर काल में पूर्वपक्ष होता है कि बाह्य अर्थ को सद्भाव में तो ज्ञान से अतिरिक्त प्रमाण नहीं है किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है तो तादृश आन्तर जो ज्ञान वह जिस जिस रूप से परिणत होता है तादृश तादृश अर्थ का सद्भाव सिद्ध होता है । आन्तर ज्ञान का वैचित्र्य से ही बाह्य अर्थ जो घटपट स्तंभादिक हैं उन सब की व्यवस्था होती है । ज्ञान के बिना बाह्यार्थ व्यवस्था अशक्य है । स्वप्नकालमें बाह्य जो घट पटादिक पदार्थ हैं उनका

ज्ञानिकैरर्थैर्यथा व्यहारस्तथा जागृदवस्थायामपि वासनावशाद्विज्ञानसन्तानो घटाद्यर्थाकारं धत्ते । अतो न विज्ञानातिरिक्तं किमपि तत्वमिति पूर्वः पक्षः ॥ अत्राभिधीयते-विज्ञानातिरिक्तस्य पदार्थस्य "घटमहं जानामि" इत्यादि प्रतीत्या घटादेरूपलब्धेर्न पदार्थाभावः शक्यते वक्तुम् ॥२८॥

नवादियोगाचाराणां मतमपाकर्तुमुपक्रमते, "विज्ञानवादिनः" इत्यादि। योऽयं विज्ञानवादी योगाचारस्तस्य मतं सयुक्तिकमुपपत्त्योपपद्यते नवेति संशयो भवति । तत्र विज्ञानवादिमतं दर्शयति "बाह्यार्थसद्भावे" इत्यादि योऽयं घटपटादि रूपो बाह्योऽर्थस्तस्यापि सद्भावो न भवति ज्ञानमन्तरेण. स्वप्नकाले बाह्योऽर्थो न भवति किन्तु ज्ञानबलेनैव तत्र व्यवहारो भवति तद्वदेव जागरितावस्थायामपि बाह्यार्थो नास्ति किन्तु ज्ञानमेवतत्तदाकारेण प्रथते। एवं यदा बाह्योऽर्थ उपलभ्यते तदा ज्ञानेन सहैवेति ज्ञानार्थयोः सहोपलंभात् , ज्ञानमेव नतु तदतिरिक्तो बाह्योऽर्थोऽस्ति । केवलं वासनाबलेन तेऽर्था प्रतीयमाना भवन्ति नतु ज्ञानातिरिक्तो बाह्योर्थोऽस्तीति विज्ञानवादिमतमित्येवं भवति पूर्वपक्षः । एतन्मतं निराक-

योगाचार कहते हैं कि जब बाह्य अर्थ उपलब्ध होता है तब ज्ञान रहता ही है और ज्ञान रहता है तब बाह्यार्थ रहता ही है यह कोई नियम नहीं है। क्योंकि स्वप्नकाल में ज्ञान रहता है परन्तु अर्थ नहीं रहता है । एतादृश मात्र विज्ञान को माननेवाले जो योगाचार हैं उनका उक्त मत है । यह युक्ति संगत है अथवा सयुक्ति मूलक नहीं है एतादृश संदेह होता है । सन्देहोत्तर काल में पूर्वपक्ष होता है कि बाह्य अर्थ को सद्भाव में तो ज्ञान से अतिरिक्त प्रमाण नहीं है किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है तो तादृश आन्तर जो ज्ञान वह जिस जिस रूप से परिणत होता है तादृश तादृश अर्थ का सद्भाव सिद्ध होता है । आन्तर ज्ञान का वैचित्र्य से ही बाह्य अर्थ जो घटपट स्तंभादिक हैं उन सब को व्यवस्था होती है । ज्ञान के बिना बाह्यार्थ व्यवस्था अशक्य है । स्वप्नकालमें बाह्य जो घट पटादिक पदार्थ हैं उनका

तुमाह "अत्राभिधीयते" इत्यादि। घटमहं जानामीति प्रतीतिर्जायते एतादृश प्रतीतिबलेन ज्ञानव्यतिरिक्तबाह्यार्थसद्भावः सिद्ध्यति यदि बाह्योऽर्थो न भवेत्. तदा कं विषयमवलंब्यज्ञानमुदीयात्। नहि-वासनया संभवति. "अयं घटः" "अयं पटः" इति विषयविशिष्टो व्यवहारः। वासनाया अपि विषयविशिष्टत्वात्। न च ज्ञानार्थयोः सहोपलंभ नियमात् ज्ञानस्वरूप एव बाह्योऽर्थः तदुक्तम् "सहोपलंभनियमाद् भेदो नीलतद्धियोः। भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्यतेन्दाविवाद्वये" इति वाच्यम्। सहोपलंभस्योपायोपेयरूपतयैवोपपादनसंभवात्। अर्थात् कार्यकारणभावेनापि तदुपपादनसंभवात्। ततश्च ज्ञानव्यतिरिक्ततया घटपटादिबाह्यार्थानामुपलंभात्. प्रतीतिबलेनैव विज्ञानव्यतिरिक्तोऽर्थ प्रसिद्ध्यति नतु बाह्यार्थाभावः। न च यथा स्वप्नावस्थायां ज्ञानं भवति

अभाव रहता है। तथापि वैज्ञानिक विज्ञान सिद्ध पदार्थ केवल पर व्यवहार होता है। अर्थात् बाह्यार्थ नहीं रहता है किन्तु ज्ञान ही ग्राह्य तथा ग्राहकाकार से परिणत होकर के व्यवहार का समर्थक होता है। उसी तरह जाग्रत कालिक पदार्थ व्यवहार भी मात्र विज्ञान से समर्थित होगा। यदि बाह्य अर्थ नहीं है तब यह घट ज्ञान है, यह पट ज्ञान है इस प्रकार से ज्ञान में विलक्षणता कैसे होगी? ऐसा नहीं कहना। क्योंकि वासना के बल से ज्ञान ही ग्राह्य घटाद्यर्थाकार से तथा ज्ञानाकार से पृथक् होता है। अर्थात् वासना के बल से ज्ञान घटादि बाह्य अर्थाकार को धारण करता है। एवं बाह्य अर्थ परमाणु स्वरूप है अथवा परमाणु समुदायरूप है। प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि तब तो परमाणु है ऐसा ज्ञान होगा किन्तु यह घट है ऐसा ज्ञान नहीं होगा। द्वितीय पक्ष में भी समुदाय परमाणु से भिन्न है कि अभिन्न है। इसका निरूपण नहीं हो सकता है। इसलिए विज्ञान से भिन्न अर्थ हैं सिद्ध नहीं होता है किन्तु विज्ञानमात्र तत्त्व है। घटादि पदार्थ कल्पना मात्रोपनीत है।

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ।२।२।२९।

स्वाप्निकज्ञानवज्जागरितज्ञानानां निर्विषयत्वं न शक्यमुपपादयि-

किन्तु बाह्योर्थो न भवति तद्वज्जागरितेऽपि स्यादिति वाच्यम्। तत्र स्वप्न-स्यापि जाग्रत्कालिकानुभूतबाह्यार्थविषयक संस्कारस्य कारणकत्वेन तथाव-भाससंभवात्। संस्कारस्यापि सत्वं तदैव संभवति यदा बाह्योर्थो भवे न्नान्यथेति संक्षेपः। ॥२८॥

इस के उत्तर में कहते हैं, "अत्राभिधीयते" बाह्य घटपटादि पदार्थों का अभाव है मात्र ज्ञान ही है ऐसा नहीं कहना, क्योंकि, "उपलब्धेः" प्रत्येक ज्ञानमें घटपटादिक अर्थज्ञानभिन्न रूपसे प्रतीत अर्थात् उपलभ्यमान होता है। यदि घटादिक बाह्य अर्थ नहीं हो, तब यह घट ज्ञान है, यह घट ज्ञान है, इस प्रकार से ज्ञान में भेद प्रत्यय कैसे होगा, क्योंकि ज्ञान तो निराकार है। तब उसमें अर्थभिन्न वस्तु कोई नहीं है जो कि ज्ञान में परस्पर भेद करावे। "अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतयाधियाम्" ज्ञान को निराकार स्वरूपत एक रूप होने से बाह्य अर्थ रूप ही विशेषता है। ज्ञान अर्थ समानकालिक होने से अभिन्न है" यह जो कहा था, वह उपाय उपेयमूलक है नतु अभेदमूलक। वासना भेद से विलक्षणता का भान होता हैं, यह भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञान के समान वासना भी सविषयक है, तो विषय बिना वासना को भी वैलक्षण्य नहीं होगा। इसलिए प्रत्येक ज्ञान में ज्ञानभिन्न विषय का भान होने से ज्ञान व्यतिरिक्त अर्थ है यह सिद्ध होता है। इन सब वस्तुओं को बतलाते हैं "विज्ञान व्यतिरिक्तस्य" इत्यादि। "घटमहं जानामि" 'घट को मै जानता हूँ' इत्याकारक प्रतीति से विज्ञान व्यतिरिक्त घटादिपदार्थ की उपलब्धि होती है। इसलिए बाह्य घटादि पदार्थ के अभाव का समर्थन नहीं किया जा सकता है। इस विषय का बृहत् विवेचन भाष्य विवरण में देखें ॥२८॥

तुम् । कारणदोषबाधकप्रत्ययरहितत्वाज्जागरितज्ञानानामिति स्वप्न-ज्ञानवैधर्म्यात् ॥२९॥

विवरणम्—यथा स्वप्नकालिकं ज्ञानं निर्विषयकं तथा जागरित ज्ञानमपि निर्विषयकमेव कुतः प्रत्ययत्वात् योयः प्रत्ययः स सर्वोऽपि निर्विषयक एव भवति स्वाप्नवदित्यनुमानेन सर्वज्ञानानां निर्विषयत्वं स्थापितं तन्न युक्तम्, कुतः ? जाग्रत् ज्ञानानां स्वप्नज्ञानादत्यन्तविलक्षणत्वात् । बाध्यते हि स्वप्नज्ञानं जागरितज्ञानेनातस्तस्य निर्विषयत्वं यथा भवतु न तु जाग्रज्ज्ञानं बाधितं भवति, प्रत्यक्षादि प्रमाणेन तस्याबाधितत्वादिति बाधाबाधप्रयुक्तोभयोर्वैलक्षण्यमिति न स्वप्नज्ञाननिदर्शनेन प्रत्ययमात्रस्य निर्विषयत्वमिति दर्शयितुं सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते "स्वाप्निकज्ञानव"-दित्यादि । यथा स्वप्नकालिकज्ञानानां विषयराहित्यमस्ति तद् दृष्टान्तेन जागरितज्ञानस्यापि न शक्यते स्थापयितुं यतः स्वप्नज्ञानस्य कारणं मनसि ग्लानादि दोषस्तथा जाग्रद् ज्ञानेन बाधश्च भवतीति तत्कारणदोष बाधकाभ्यां समन्वितत्वान्निर्विषयकं न तथा जाग्रत्ज्ञानजनकचक्षुरा-दिषु कश्चिद्दोषो विद्यते न वा ज्ञानान्तरेण तस्य बाधोऽप्यनुभूयते इति कारणदोषबाधकप्रत्ययाभ्यां रहितत्वान्न जागरितज्ञानं निर्विषयकमिति

सारबोधिनी—सभी ज्ञान निर्विषयक हैं ज्ञान होने से स्वाप्निक ज्ञानके समान इस व्याप्ति के द्वारा जो जाग्रत् ज्ञानमें निर्विषयत्व का संस्थापन किया था, उसका खण्डन करनेके लिए उपक्रम करते हैं "स्वाप्निकज्ञानवदित्यादि" स्वप्न-कालिक ज्ञानकी तरह जागरित ज्ञान में निर्विषयत्वकी व्यवस्था अशक्य है। क्योंकि स्वाप्निक ज्ञानमें तो तादृश ज्ञानका कारण जो मन उसमें ग्लानता दोष है। और स्वप्न ज्ञानका जागरित ज्ञानसे बाध हो जाता है। परन्तु जाग्रत् कालिक ज्ञानका कारण जो चक्षुरादिक उसमें कोई भी दोष नहीं है। तथा किसी तरहका बाधक कोई प्रमाण भी नहीं है। इसलिए स्वाप्न-ज्ञानका वैधर्म्य होनेसे स्वप्न दृष्टान्तसे जाग्रत् ज्ञानमें निर्विषयताकी सिद्धि

न भावाऽनुपलब्धेः ।२।२।३०।

स्वविषयविहीनस्य ज्ञानस्य विषयिणोभावस्सत्वं नोपपद्यते निर्विषयकज्ञानस्यानुपलब्धेः ॥३०॥

स्वप्नवैधर्म्यात्, ज्ञानमात्रस्य निरालंबनत्वं न भवतीति । अपि च निर्विषयकत्वे ज्ञानस्य स्वप्नो दृष्टान्ततया उपस्थापित परन्तु तत्राप्यसिद्धिर्दोषो यतोऽनेकेषां स्वप्नानां साफल्यस्यापि दर्शनात् । कानिचित्स्वप्नदर्शनानि सद्यः फलजनकानि भवन्तीति संक्षेपः ॥२९॥

विवरणम्–प्रकारान्तरेण विज्ञानवादिमतं निराकरणाय सूत्रव्याख्यानाय प्रक्रमते 'स्वविषयविहीनस्य ज्ञानस्य' इत्यादि । घटपटादीनां बाह्यार्थानामस्वीकारे केवलस्य विषयविरहितस्य ज्ञानस्य भावः सत्त्वं नोपपद्यते कथम् ? अनुपलब्धेः । ज्ञानं हि सविषयकं तच्च घटादि विषयमन्तरेणाशक्यनिरूपणकम् । तस्माद् विषयो न भवेत्तदाज्ञानस्य निरूपणमशक्यमेव । अर्थ वैशिष्ट्यस्वभावकस्य ज्ञानस्य विषयमन्तरेण नहीं हो सकतो है । और स्वप्नज्ञान सब निर्विषयक नहीं होता है । किसो किसो स्थलमें सत्यार्थबोधकत्व भी है । अतः बौद्धपक्षमें दृष्टान्तासिद्धि भी दोष है । अत बौद्धमत ठीक नहीं है ॥२९॥

सारबोधिनी–ज्ञानका विषय जो घटादिक पदार्थ तादृश घटादि विषय रहित से जो विषयी ज्ञान .तादृशज्ञान का भाव अर्थात् सत्ता नहीं हो सकती है । क्योंकि निर्विषयक ज्ञानकी उपलब्धि नहीं होती है । अर्थात् ज्ञान इच्छा प्रभृतिक प्रतियोगिक पदार्थ से सापेक्ष होते हैं । इन सबका निरूपण तब ही हो सकता है जब इनका विषयसे सम्बन्ध रहे । जब विषयसे अतिरिक्त पदार्थ को न मानें तब विषय सहचर रहित ज्ञानका निरूपण सर्वथा अशक्य है । भाष्यकारने भी कहा है "बाह्यार्थ जो घटादि, उसके अभावमें अर्थ रहित केवल ज्ञानका भाव–सत्व नहीं हो सकता है । क्योंकि केवल ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती है । अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध जो विषय

क्षणिकत्वाच्च ।२।२।३१।

विज्ञानवादिना वासनाधारतया स्वीकृतस्यालयविज्ञानस्य क्षणिकत्वाच्चाधाराधेयभावोऽपि वासनालयविज्ञानयोर्न सम्भवति ॥३१॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावुपलब्ध्यधिकरणम् ॥४॥

निरूपणस्य सर्वथैवासंभवादिति । एतदेव दर्शयति स्वविषयविहीनस्य विषयिणः बाह्यार्थसम्बन्धरहितस्य विषयिणो ज्ञानस्य भावः सत्त्वं कथमपि नोपपद्यते । यतो निर्विषयकज्ञानेच्छादीनामनुपलब्धिदर्शनात् । ज्ञानं तदैवोपलभ्यते यदा तस्य विषयसम्बन्धो भवेत् । विषयाभावे विषयसहचरितज्ञानस्योपलब्धिरेव न स्यादिति भावः ॥३०॥

विवरणम्–बौद्धमते विज्ञानं द्विविधम् । प्रवृत्ति विज्ञानमालयविज्ञानञ्चेति । तत्र घटादि बाह्यवस्तु विषयकं प्रवृत्तिविज्ञानं तथा अभ्यन्तर वस्तु विज्ञानमालयविज्ञानम् । तदेवालयविज्ञानं यदहमादिकमुल्लिखति । तदुक्तम्, "तत्स्यात्प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत् । तत्स्यादालय उस विषयके अभावमें अप्रत्यक्ष जो विषयीज्ञान उसका उपलंभ अशक्य है" । भाव यह कि निर्विषयक ज्ञानका सद्भाव नहीं होता है । विषयका वैशिष्ट्य ज्ञान स्वभाव है और स्वभाव दुरतिक्रम होता है । इसलिए विज्ञानवादी का केवल विज्ञानवाद अयुक्त है ॥३०॥

सारबोधिनी–"क्षणिकाः सर्वसंस्काराः" इस प्रकार नियम होने से विज्ञानवादी भी सब पदार्थ को क्षणिक मानते हैं । इनके मतमें विज्ञान दो प्रकार का है प्रवृत्ति विज्ञान और आलय–विज्ञान । उसमें घटादि ज्ञान को प्रवृत्ति-विज्ञान कहते हैं । और 'अहमहम्' इत्याकारक विज्ञान को आलय–विज्ञान कहते हैं । यही आलय–विज्ञान आत्मपद वाच्य है । तथा वासनादिक पदार्थों का आधार है । परन्तु इस आलय विज्ञान

विज्ञानं यद् भवेदहमास्पदमिति । आलयविज्ञानमेवात्मपदवाच्यं तदेव वासनादीनामाश्रयः । प्रकृते घटादिबाह्य विषयस्य क्षणिकत्वं तथैवालय विज्ञानस्यापि क्षणिकत्वाभ्युपगमात्, उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधादिति सूत्रोक्तानि यानि दूषणानि तानीहापि संभवन्तीति आलयविज्ञानस्य क्षणद्वयावस्थानाभावादालयविज्ञानवासनयोराधाराधेयभावस्यासंभवान्न-- विज्ञानवादि मतमपि समीचीनमित्याशयेन सूत्रव्याख्यानाय प्रक्रमते "विज्ञान वादिना" इत्यादि । योगाचारो हि वासनाद्यन्तरपदार्थानामाश्रयतया आलयविज्ञानं स्वीकृतवान् । अर्थादालयविज्ञाने वासनाऽवस्थिता भवति । परन्तु तन्मते आधारतयाऽभिमतस्यालयविज्ञानस्यापि क्षणिकत्व स्वीकारात् स्थिरत्वव्याप्याधाराधेयभावस्य क्षणिके आलयविज्ञानेऽसंभवात् यतो विनष्टे वस्तुनि आलयविज्ञाने वासनाधारत्वस्या संभवान्न संभवति वासना क्षणिकविज्ञानयोराधाराधेयभाव इति बाह्यार्थवादिमतवद्विज्ञानवादिमतं न समीचीनम्, किञ्च बाह्यार्थवादे सर्ववस्तुनां

को भी क्षणिक मानते हैं । ऐसा मानने से वासनाका आधार आलय विज्ञान नहीं होगा, क्योंकि क्षणिक है, और क्षणिक वस्तुओं में आधाराधेयभाव अनुपपन्न है । इस अभिप्राय से सूत्र का व्याख्यान करनेके लिए उपक्रम करते हैं "विज्ञानवादिना" इत्यादि । "विज्ञानैकस्कन्धवादी योगाचार" वासना का आधार विज्ञान को मानते हैं । किन्तु, "क्षणिकाः सर्वसंस्काराः" इस स्वशास्त्रीयनियमानुकूलतया आलय विज्ञान को क्षणिक मानना स्वमतानुकूल हैं । जब आधार रूपसे अभिमत आलय विज्ञान है तब वह क्षणिक विज्ञान वासनादि आन्तरपदार्थ का आधार नहीं बन सकता है । क्योंकि क्षणमात्र स्थायीपदार्थ आधार कैसे हो सकेगा ? अर्थात् नहीं हो सकता है । तो इनके मतमें वासना तथा आलय—विज्ञान में आधाराधेयभाव की उपपत्ति नहीं हो सकती है । अतः आधाराधेयभाव की अनुपपत्ति होने से इनका मत संमजस नहीं है । और क्षणिक बाह्यार्थ पक्ष में क्षणिकतामूलक जिन—

अथ सर्वथानुपपत्त्यधिकरणम्

सर्वथानुपपत्तेश्च ।२।२।३२।

माध्यमिकबौद्धस्य शून्यवादः समीचीनयुक्तिमूलो न वेति संशयः। सर्वस्यापि पदार्थस्य सत्तयाऽसत्तया वा व्यपदेशानर्हत्वेन शून्यमेवावशिष्यत इति शून्यमेव तत्वमिति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु--सर्वस्य

क्षणिकत्वेन ये ये दोषा उद्भाविनास्ते प्रकृतेऽपि संभवन्तीत्यतो न समीचीनं विज्ञानवादिनां योगाचाराणामपि मतमिति भावः ॥३१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपनाचार्ययोगीन्द्रकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणवुपलब्ध्यधिकरणम् ॥४॥

विवरणम्– वैभाषिकसौत्रान्तिकविज्ञानवादीनां मतं संक्षेपतः प्रतिपाद्य तान् निराकृत्य माध्यमिकबौद्धमतं दूषयितुमयमुपक्रमो भवति "माध्यमिक बौद्धस्य" इत्यादि। योऽयं माध्यमिकबौद्धाभिमतः शून्यवादः स च युक्तियुक्तोऽथवा नेति संशयो भवति। तदन्तरं य इमे प्रमाणप्रमेयादिकाः पदार्थास्ते सन्तोऽसन्तो वा, तत्र नाद्यः सत्तयोपपादयितुमशक्यत्वात्, "यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यंते तथा तथा। यदेतत्स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र केवलमित्युक्त्या सत्तयोपपादनाऽसंभवात्।

जिन दोषों की संभावना बतलायी गई है वे सब के सब दोष इस पक्षमें भी होते हैं। इसलिए विज्ञानवादी का मत दोषदूषित होने से सनातनीयों से अग्राह्य है ॥३१॥

सारबोधिनी–वैभाषिक सौत्रान्तिक तथा विज्ञानवादी के मतका निराकरण करके माध्यमिक बौद्ध के मतका निराकरण करनेके लिए उपक्रम करते हैं, "माध्यमिक बौद्धस्य" इत्यादि। माध्यमिक बौद्धका शून्यवाद समीचीन युक्तिमूलक है अथवा युक्तियुक्त नहीं है ऐसा संदेह होता है। इस में पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि सब पदार्थका सत्त्व अथवा असत्त्व रूप में व्यवस्थित नहीं होने से शून्यता ही रह जाती है। इसलिए सर्व शून्यता

शून्यत्वं नोपपद्यते । माध्यमिकेन यच्छून्यत्वं व्यवस्थाप्यते तत्प्रमाण सत्तामङ्गीकृत्यानङ्गीकृत्यैव वा ? अङ्गीकृत्येति चेत्सर्वशून्यत्वप्रतिज्ञा हीयते । अनङ्गीकृत्येति मते व्यवस्थापनासिद्धिः । सर्वं शून्यमिति जिह्वयालपनमपि व्याहतं विरोधादिति सर्वथानुपपत्तेश्चेदं मतमसमञ्जसम् ॥३२॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ सर्वथानुपपत्त्यधिकरणम् ॥५॥

नापि द्वितीयः बन्ध्यापुत्रवद्व्यवहारोपपतनसंभवात् । नापि सन्तोऽसन्तश्च परस्परविरोधात्. तस्मात् सर्वप्रमाणादिकं शून्यमेवेति । एतदेव सर्वस्यापीत्यारभ्य शून्यमेवतत्त्वमिति वृत्तिकारः प्रदर्शितवानिति पूर्वपक्षः ।

अत्रोत्तरम्, "सिद्धान्त" इत्यादिनोच्यते । माध्यमिकबौद्धेन सर्वशून्यता प्रतिपाद्यते. सा प्रमाणसत्तामादाय अनादाय वा । तत्र नाद्यः तथा सति प्रमाणवादीनां सत्त्वस्वीकारे सर्वशून्यमितिपक्षो व्याहतः । न वा द्वितीयपक्षः प्रमाणसत्तामन्तरेण वस्तुव्यवस्थापने सप्तमरसादेरपि सिद्धिप्रसङ्गात् । न च कदाचित् सर्वशून्यताप्रतिपादकप्रमाणस्य

ही तत्त्व है । अर्थात् पदार्थ सत है अथवा असत् है अथवा उभयरूप अथवा अनुभयरूप है । इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है । क्योंकि सर्वसत्त्व बाधित है । नवा द्वितीय-पक्षभी, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण उपलब्ध होता है । परस्पर विरोध होनेसे तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है । चतुर्थ पक्ष तो असंभवित तथा व्याहत है । इसलिए सर्वशून्यता ही तत्त्व है ।

एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं, "सिद्धान्तस्तु" इत्यादि । सब पदार्थों की शून्यता नहीं हो सकती है । माध्यमिकों ने जो सर्व शून्यत्व माना है वह प्रमाण सत्ता को मान करके माना है अथवा प्रमाण सत्ताको नहीं मान के यदि प्रथम पक्ष का स्वीकार करें तब प्रमाण का सद्भाव सिद्ध हुवा अतः सर्वशून्यत्व प्रतिज्ञा का बाध हो जायगा । यदि प्रमाण–सत्ता का

अथैकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् ॥६॥

नैकस्मिन्नसम्भवात् ।२।२।३३।

बौद्धमतं निरस्य तत्कियदंशसाम्याज्जैनमतं निरस्यति । अत्रार्हतमतं सद्युक्तिमूलं न वेति संशयः । तत्र जीवधर्माधर्मपुद्गलकालाकाशरूपषड्द्रव्यात्मके जगति समस्तवस्तूनामनैकान्तिकत्वम् । यतोऽ-

---

सत्त्वं स्वीकुर्याच्चदा, "सर्वशून्यमिति प्रतिज्ञोपरोधः स्यादिति, तथा व्याघातोऽप्यापतेत् । किञ्च सर्वानुसिद्धपदार्थस्यापलापः कथं प्रमाणमन्तरेण स्यात् । एवमेतन्मते देशनातिष्ठनादि पदानां प्रयोगोऽप्यनुचित एव । तस्मान्माध्यमिकबौद्धानां मतं सर्वथाऽनुपपन्नमिति दिक् ॥३२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेसर्वथानुपपत्यधिकरणम् ॥५॥

विवरणम्— वेदप्रामाण्यविरोधिनो वैभाषिकादिप्रभेदभिन्नानां चतुर्णामपि बौद्धानामेकैकशोमतान्यपाकृत्य तद्वदपौरुषेयवेदप्रामाण्यविरोधिनां विसिश्वयानामतमपहस्तयितुं प्रक्रमते "बौद्धमतं निरस्य" इत्यादि । सुगतमतनिरासनानन्तरं बौद्धैः सह कियदंशे वेदप्रामाण्यवि-

निषेध पक्ष को मानें तब तो पदार्थमात्रको तुच्छ होनेसे बस्तु का व्यवस्थापन नही होगा । नहीं कहो कि शून्यता व्यवस्थापक प्रमाण सत्ता को माने तब प्रतिज्ञा विरोध और व्याघात भी होगा । सर्व प्रतीति प्रसिद्ध जगत की शून्यता नहीं हो सकती है । एवं इस मत में दर्शन स्थानादिके स्थानमें देशनातिष्ठनापोषथादि प्रयोग भो अशुद्ध हैं इसलिए यह दर्शन सर्वथैव अनुपादेय है ॥३२॥ इति सर्वथानुपपत्यधिकरणम् ॥५॥

सारबोधिनी-वैभाषिकादिप्रभेदभिन्न बौद्ध मतका निराकरण करके अनेको अंशमें समान जैनमत का निराकरण करनेके लिए उपक्रम करते हैं । यहाँ आर्हत्–जैनों का जो मत है वह समीचीन युक्तिमूलक है अथवा समीचीन युक्ति मूलक नहीं है । एतादश विप्रतिपत्ति व्याक्यादि से

खिलपदार्थानां सप्तभङ्गीनयेनैव व्यवस्थोपपद्यते । स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यं, स्यादस्ति चावक्तव्यम्, स्यान्नास्ति चावक्तव्यम्, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यञ्चेति सप्तभङ्गीनयस्वरूपम् । अनेन सप्तभङ्गीनयेन वस्तुतत्वं विविच्यते । ततः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षोपायैर्वीतरागेण

रोधांशे तुल्यत्वाज्जिनदेवादिनाथप्रभृतिः प्रचालितजैनमतं निरसितुमयमुपक्रमः । तत्र प्रथमतो विप्रतिपत्तिवाक्यसमुद्भुतसंशयं दर्शयितुमाह "अत्रार्हतमतमिति" । तत्रार्हत् तीर्थङ्करविशेषऋषभदेवादिमहावीरान्तः । इदमार्यं मतमनेकान्ताभिधं समीचीनयुक्तिसिद्धं न वेत्याशिङ्क्य प्रक्रमो जैनमते प्रधानरूपेण सप्तैव पदार्थाः सन्ति तच्चेमे जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षाख्याः । पञ्चेमेऽपरे सन्ति जीवास्तोकायपुद्गलास्तिकाय आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायाः । तत्र सर्वत्र सप्तभङ्गीन्यायं प्रवर्तयति । स्यादस्ति स्या-

संशय होता है । इस संशय के बाद पूर्वपक्ष को बतलानेके लिए कहते हैं, "तत्रेत्यादि" इस विचारणीय विषय में जीव, धर्म, अधर्म, पुद्गलकाल आकाश लक्षण छ द्रव्यात्मक जगत्के समस्त पदार्थोंमें निरंकुश अनेकान्तवाद हो है । क्योंकि समस्त पदार्थों को व्यवस्था सप्तभङ्ग द्वारा ही होती है । वे सात भंग इस प्रकार से पदार्थों में घटता है "स्यादस्तिघट" अर्थात् घटत्व रूप तथा स्वदेश स्वकाल स्वभावादि की अपेक्षा से है । और वही घट परदेश काल पररूप द्रव्य स्वभाव को अपेक्षा को लेकर "स्यान्नास्ति घटः" इत्याकारक द्वितीयका विषय होता है । और क्रमिक प्रथम द्वितीय भङ्ग की अपेक्षा से तृतीय भङ्ग, "स्यादस्ति नास्ति च" स्वद्रव्याद्यपेक्षया है घट तथा परकीय देशकालापेक्षया नहीं भी है । विधि निषेध के युगपत् समावेशापेक्षया, चतुर्थ भङ्ग लगता है, "स्याद वक्तव्यः" युगपत् दोनों की अपेक्षा में घटादिक पदार्थ अवक्तव्य है । पञ्चम भङ्ग में विधि

स्वाभाविकात्मस्वरूपावाप्तिरूपो मोक्षः प्राप्यत इत्यार्हतमतं सद्युक्तिमूल-मिति पूर्वपक्षः। अत्राभिधीयते--नैकस्मिन्निति। एकस्मिन्नर्थे नित्यत्वं तद्विपरीतञ्चानित्यत्वमस्तित्वं तद्विरुद्धञ्च नास्तित्वमित्यादि धर्माणामसम्भवान्नार्हतमतं सद्युक्तिकम्। अनेकान्तवादे कस्याप्यर्थस्यानिश्चयान्न प्रमाणादि व्यवस्थापि सङ्गच्छते॥३३॥

न्नास्ति. स्यादस्ति च नास्ति च स्यादवक्तव्यः स्यादस्ति चावक्तव्यश्च स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च. स्यादस्ति च नास्तिचावक्तव्यश्चेति। तत्र स्वदेशकालद्रव्यापेक्षया अस्ति घटः। परद्रव्यकालदेशापेक्षया स एव घटो नास्ति. इत्यादि प्रत्येकवस्तुनि सप्तभङ्गीन्यायं योजयन्ति। तत्र जीवः कायाकारपरिमाणकोऽनन्तावयवकः। अजीवस्तद्भिन्नः, विषये इन्द्रियाणां प्रवृत्तिरेवाश्रवः यमादिनियमः

की प्रधानता निषेध को गौणता में, "स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च" यह पाँचवाँ भङ्ग घटता है। युगपत् पक्ष में निषेधको प्रधान करके विधि को गौण करके "स्यान्नास्ति च अवक्तव्यश्च" इत्याकारक छठा भङ्ग होता है। और युगपत्पक्ष में विधि निषेध का युगपत् समावेश करने पर "स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यश्च" इत्याकारक सप्तम भङ्ग होता है। इस भङ्ग का प्रयोजक जिज्ञासा है। और जिज्ञासा का प्रयोजक संशय है तो पदार्थमें सात प्रकार का ही संशय होता है। इसलिए सात प्रकारक जिज्ञासा होती है क्योंकि जिज्ञासा सात हैं। इसलिए भङ्ग भी सात ही है नतु छः नवा आठ, इस विषय पर विशेष विचार अन्यत्र देखें।

इस सप्तभङ्ग के द्वारा वस्तु तत्त्वका विवेचन किया जाता है। तथा पदार्थोंकी व्यवस्था की जाती है। उसके बाद "सम्यग्ज्ञानदर्शन चारित्र्याणि मोक्षमार्गः" इस उमास्वाती के सूत्रानुसारेण सम्यग्ज्ञानदर्शन चारित्र्यरूप मोक्षोपाय के द्वारा वीतराग पुरुष स्वाभाविक आत्म स्वरूप की प्राप्ति रूप मोक्षको प्राप्त करता है। अथवा सिद्ध शिलामें जाकर

संवरः निर्जनः पापक्षयकारणं तपः बन्धपर्वाच्यं कर्मानेकविधम्। सर्वकर्मविनाशानन्तरं मोक्षशिलायामवस्थानं मोक्षः। त एतेषामनेके भेदाः तदीयशास्त्रपरिकल्पिताः सन्ति। तदेतन्मतं वीतरागतीर्थङ्करैः स्थापितत्वात्समीचीनयुक्तिमूलकमेवेति पूर्वपक्षग्रन्थस्य मुकुलिताशयः। तदेतत्कल्पनामात्रोपनीतं मतं न समीचीनमिति दर्शयितुमाह "नैकस्मिन्नित्यादि" एकस्मिन् घटादिरूपे पदार्थे परस्परं विरुद्धधर्माणां नित्यत्वानित्यत्वादिनां समावेशो यः प्रतिपादितः स न संभवति, असंभवाद्विरोधादित्यर्थः। अर्थात् यदा घटेऽनित्यत्वं तदा तद्विरुद्धो नित्यत्वधर्मः कथं स्थास्यति, संस्थितौ तयोर्विरोध एव विलुप्येत। तदाऽनेकान्तवादे पदार्थमात्रस्यानिश्चितरूपवत्वे प्रमाणप्रमेयादि

के बैठ जाता है। उसी को मोक्ष कहते हैं। एतादृश वीतराग महापुरुष से प्रवर्तित मार्ग सिद्धान्त अवश्यमेव समीचीन युक्ति से युक्त है। यह पूर्वपक्ष का संक्षिप्ताभिप्राय है।

इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं, "नैकस्मिन्" इत्यादि। एक पदार्थ में विरुद्ध अनेक धर्मका एककाल में समावेश होना असंभवित है। इसी का स्पष्टीकरण करते हैं "एकस्मिन्नर्थे नित्यादीत्यादि" एक घटादिक पदार्थ में नित्यत्व धर्म तथा उसका विरोधी अनित्यत्व एवम् अस्तित्व तथा नास्तित्व प्रभृतिक विरुद्ध धर्मों का समावेश होना असंभवित है। यद्यपि घटत्व रूपसे घट में अनित्य है और द्रव्यत्व रूपसे नित्यत्व रह सकता है। एक ही वृक्ष में अवच्छेदक भेद से कार्य संयोग तदभाव के समान तथापि अवच्छेदक भेदसे वह विधीयमान पदार्थ तत्तत् अवच्छेदक में भी रहेगा संयोग तदभाव के समान नतु घटादिक में रहेगा। इसलिए अधिकरण विरुद्ध धर्मद्वय का समावेश असङ्गत ही है। अतः आर्हत मत समीचीन युक्ति से सङ्गत नहीं होता है। और अनेकान्त में किसी भी पदार्थ का निश्चय नहीं होने से प्रमाण की व्यवस्था भी सङ्गत नहीं होती है।

एवञ्चात्माऽकात्स्न्र्यम् ।२।२।३४।

यथा च जैनाभ्युपेतानेकान्तवादस्यासम्भव एवमेवात्मतः कात्स्न्र्यस्याप्यसम्भवः। आर्हतसम्मतस्य देहपरिमाणकस्यात्मनः कर्मवशाद्धस्तिशरीरान्मक्षिकादिशरीरं विशतः कृत्स्नस्य प्रवेशानुपपत्तेः। मक्षिकाशरीरस्यात्मनः करिशरीरप्रवेशानुपपत्तेश्च हेय एवायं वादः। "स्थूलदेहमपहाय सूक्ष्मदेहोपपादनकाले सकलस्यावकाशाभावात्स्वरूपशैथिल्यप्रसङ्गाद्धेय एव सर्वथाजीवमध्यमपरिमाणवादः" इतिजगद्गुरुश्रीअनुभवानन्दाचार्योक्तेः ॥३४॥

पदार्थानां कश्चिन्नियतस्वरूपोऽपि न सिद्ध्येत। किञ्च सर्वत्र निरङ्कुशमनेकान्तं स्वीकुर्वतां बन्धमोक्षव्यवस्थापि न सिद्ध्येत्। एकस्मिन् पक्षे स्यान्मोक्षः नास्ति च परपक्षे मोक्षस्तदानिश्चयाभावात् कथं मोक्षाय प्रवर्तेत। प्रमाणमपि नियमतः प्रमेयं नावगमयिष्यति, इति सर्वोऽपि लोको व्याकुली भवेत्। तस्मादनेकान्तमतं न समीचीनमिति सिद्धान्तः ॥३३॥

विवरणम्–यथा जैनमते एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धधर्माणामवस्थानाभावरूपमसामञ्जस्यं तथैवात्मनोव्यापकपरिमाणवत्वाभावोप्यसामञ्जस्यमेवापतति। एतन्मते जीवस्य मध्यमपरिणामवत्वमङ्गीक्रियते। एवं एक पक्षमें मोक्ष है एक पक्षमें मोक्ष नहीं है तो इस स्थितिमें मोक्षार्थी की प्रवृत्ति नहीं होगी। एवं चारित्र्य अंश में भी अनेकान्त का प्रवेश होगा, वह तो जिन शास्त्र से विरुद्ध है। "एकदापि सतीशील भ्रष्टा सा असती मता" इस न्याय से। अतः जैनमत असद्युक्तिक होने से त्याज्य है ॥३३॥

सारबोधिनी–जिस तरह स्वीकृत जैन सिद्धान्त अनेकान्तवाद असम्भव रूप दोषसे दूषित है। उसी तरह आत्मामें अकात्स्न्र्य–कृत्स्नता का अभावपरिच्छिन्नत्व दोष भी प्राप्त होता है जैनके सिद्धान्त में जीवात्मा को

न च पर्यायादप्यविरोधी विकारादिभ्यः ।२।२।३५।

पर्यायपदवाच्यसङ्कोचविकाशरूपावस्थान्तरापत्त्यापि न विरोधपरिहारः । सङ्कोचविकाशशालित्वे चात्मनो विकारित्वेनानित्यत्वापत्तेः ।

तत्र यो हि कर्मवशान्मनुष्यशरीरं प्राप्तवान् तादृशजीवस्य तदाकार एव देहस्य परिमाणः स पुनर्मशकादिशरीरं प्राप्नुवत्तस्मिन् देहे न व्याप्नुयात् । न वा मशकजीवहस्तिप्रभृतिशरीरमासाद्य तदाकृतिपरिमाणो भविष्यतीत्यनुपपन्नमेव तन्मतमित्याह—यथा जैनाभ्युपेतेत्यादि । येन प्रकारेण जैनाभिमतस्यानेकान्तवादस्य व्यवस्थानोपपद्यते. तथैव जीवस्य संपूर्णशरीरवृत्तितापि न संभवति । यतो जैनाभिमतदेहपरिमाणस्य जीवस्य कर्मवलात् हस्तिशरीरात् क्षुद्रजन्तुमशकादिशरीरे संपूर्णरूपेण प्रवेशो न स्यात् । न चावयवानां संकोचविकाशशालितया सर्वसंभव इति वाच्यम्. तथा सति चर्मादिवदनित्यत्वं जीवस्य स्यात् । न चेष्टापत्तिः तथात्वे मोक्षाभावः प्रसज्येत ।

किञ्च जीवानां केवल समुद्घातसमये सकललोकव्यापिता तैः स्वीक्रियते. इति देहपरिमाणवत्वे जीवस्य स्वकीयसिद्धान्तबाधोऽपि भवतीति ध्येयम् । स्वोक्तौद्धाराचार्यसम्मतिं प्रदर्शयति "स्थूलदेह" मित्यादि । तस्मान्न जैनमतं समीचीनमिति विरम्यतेऽधिकमपञ्चात् ॥३४॥

देह रूप परिमाण अर्थात् मध्यम परिमाण मानते है तो जीवकर्म बल से हाथीके शरीर से निकल करके मक्षिका के शरीर में प्रवेश करेगा तो सम्पूर्ण जीव का मक्षिका शरीर में प्रवेश अनुपपन्न हो जायगा । एवं मक्षिका शरीर परीमाणक जीवका हाथी के शरीर में प्रवेश भी उसके एक देशमें होगा । अतः विरुद्ध धर्माध्यास के समान यह अकात्स्न्र्य दोष भी जैनमत में होता है । इसलिए जैनमत समीचीन नहीं है ॥३४॥

सारबोधिनी—जीव स्वकर्मवशात् बृहत्परिणामक हाथी प्रभृतिक शरीर

तदाहुराचार्याः श्रौतार्थसङ्ग्रहे—'ननु सङ्कोचविकाशावङ्गीकृत्य स्थूलसूक्ष्म-जीवानां क्रमात्सूक्ष्मस्थूलदेहप्रवेशस्योपपन्नत्वे समीचीन एव जीवम-ध्यमपरिणामवाद इति चेन्न, तथात्वे जीवानां सावयवत्वेनानित्य-त्वापत्तेः' इति ॥३५॥

विवरणम्- ननु पर्यायेण बृहत्परिमाणकशरीरग्रहणेऽनन्तावयव-कस्य जीवस्य केचिदवयवा आगच्छन्ति स्वल्पपरिमाणकशरीरग्रहणा-वसरे केचिदवयवा अपगच्छन्तीति न कोपि दोषः स्यादित्याशङ्कायामाह "पर्यायपदवाच्य" इत्यादि। पर्यायपदवाच्यं यत् संकोशविकाशात्म-कमवस्थान्तरम् तादृशावस्थान्तरप्राप्तिस्वीकारेऽपि विरोधलक्षण दोषस्य परिहारो न भवति। यतो यदि चर्मादिवदात्मा सङ्कोच विका-

के प्राप्ति के समय में अनन्तावयवक जीव का अमुक भाग अधिक आ जाता है जिससे वह जीव बृहत् हाथी के शरीर में सर्वावयवावच्छेदेन प्रविष्ट होता है। तथा जब हाथी के शरीर को छोड़कर के कर्मबल से कीट पतं-गादि शरीर को प्राप्त करता है, तब तादृश शरीर के अनुकूल स्वकीय अवयव को लेकर के तनु शरीर में प्रविष्ट होकर के कर्माधीन भोग करता है। इस प्रकार से मानने पर अकात्स्न्यं दोष नहीं होता है। एतादृश आशङ्का के उत्तर में कहते हैं, "न च पर्यायादपीत्यादि" पर्याय से अवयवों का आवागमन से भी विरोध का परिहार नहीं होता है। क्योंकि यदि आत्मा को चर्मादिवत संकोच विकाशशाली मानेंगे तो आत्मा में विकारित्व दोष आ जायगा। इत्यादि आशय को लेकर के स्पष्टी करण करते हैं "पर्यायपदवाच्येत्यादि" पर्यायपदप्रतिपाद्य संकोच विकाश लक्षण अवस्थान्तर के प्राप्ति होने से विरोध का परिहार नहीं होता है। क्योंकि चर्मादिवत् आत्मा को संकोच विकाशशाली मानने पर आत्मा में विकारित्व होगा और विकार होने से अनित्यत्व हो जाएगा। तब संसार कालिक

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वाविशेषः ।२।२।३६।

मोक्षावस्थायामात्मनः परिमाणस्य स्वाभाविकत्वेन नित्यत्वादात्मनोऽपि च नित्यत्वादुभयोर्नित्यत्वाद्बद्धावस्थायामप्यविशेषः । देहपरिमाणकत्वे त्वकात्स्न्यादिदोषास्सन्त्येवातोऽसमञ्जसमेव जिनमतम् ॥३६॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावेकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् ॥६॥

शशालोस्यात्तदा चर्मादिवदेवात्मनि विकारित्वदोषो भवेत् । तथा विकारित्वे घटादिवदनित्यत्वमपि भवेत् । ततश्च कृतज्ञानाद्याराधनस्यापि जीवस्य मोक्षो न स्यात्, इत्येवं स्वकीयसिद्धान्तविरोध आपततीति न कथमपि समञ्जसं जैनदर्शनमिति दिक् ॥३५॥

विवरणम्—अन्त्यमोक्षावस्थाकालिकं यदात्मनः परिमाणं तन्नित्यमिति तदेव स्वभावमात्मनः परिमाणमिति तस्यैव सर्वावस्थायामवस्थितत्वादुभयावस्थायामपि तस्यैव सत्त्वं नतु कदाचिदपि भिन्नं भिन्नं परिमाणमिति व्यापकपरिमाणं वा भवत्वणुपरिमाणं वा नतु देहपरिमाणता जीवस्य संभवतीत्याशयेनाह, "मोक्षावस्थायामित्यादि । मोक्षावस्थायां सिद्धशिलांगतस्यात्मनः परिमाणस्य शाश्वतिकत्वेन नित्यत्वमायाति. तथा जीवस्यापि नित्यत्वादुभयोः परिमाणपरिमाणवतो र्नित्यत्वेनोभयो

तथा मोक्षकालिक आत्मा में भेद होने से बन्ध मोक्ष में, वैयधिकरण्य होगा । अर्थात् सम्यक् ज्ञानादिक का जो आराधक है तदपेक्षया मोक्ष कालिक आत्मा भिन्न हो गया । इसलिए जैन सिद्धान्त ठीक नहीं है ॥ ३५॥

सारबोधिनी —मोक्षावस्था में आत्मा का जो परिमाण है वह स्वभाविक होने से नित्य है तथा जीव भी नित्य है । तो वही बन्धावस्था में है तो उसका परिमाण भी स्वाभाविक परिमाण ही होना चाहिए । नतु शरीरपरिमाण होना चाहिए, इस अभिप्राय से कहते हैं "मोक्षावस्थायामित्यादि" सिद्धशिलागत मोक्ष कालिक आत्मा का जो परिमाण है, उसको स्वाभाविक शाश्वत होने से नित्य हैं, और आत्मा भी नित्य है । अन्यथा

अथ पत्यधिकरणम् ॥७॥

पत्युरसामञ्जस्यात् ।२।२।३७।

वैदिकाचारवैधुर्यसाम्यादनेन पशुपतिमतमपाक्रियते । अत्र पाशुपतादिमतस्यादरणीयत्वमस्ति न वेति संशयः । सर्वार्थप्रत्यक्षसमर्थेन पशुपतिना स्वयमूरीकृतत्वादादरणीयत्वमेवेति पूर्वपक्षः । अत्राभि-

---

नित्यत्वात्, मोक्षावस्थावत्, बद्धावस्थायामपि नास्ति कश्चिद्विशेष इति । तथा च शरीरपरिणामस्वीकारे अकात्स्न्यादिको दोषः संभवत्येव, तादृशदोषान्निर्मुक्ति र्न भवतीति जिनमतं सर्वथैवासमञ्जसमिति ॥३६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे एकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् ॥६॥

विवरणम्–इतः पूर्वाधिकरणे सर्वथा वेदाचारविरुद्धानां दिगंबरादिजैनानां मतं निराकृतम् । ततः प्रसङ्गादंशतो वेदाचारविरुद्धानां केवलमधिष्ठातृकारणं परमेश्वर इति वदतां शैवपाशुपतादीनां मतान्यपाकर्तुं प्रक्रमते वैदिकाचार "इत्यादि । वैदिकास्तु अभिन्ननिमित्तोपादानं ब्रह्मेति "तदात्मानं स्वयमकुरुत" "प्रकृतिश्च" इत्यादि

बन्ध मोक्ष में वैयधिकरण्य हो जाएगा । तो उभय परिमाण तथा परिमाणवान् को नित्य होने से मुक्तावस्थापेक्षया बद्धावस्था में भी कोई विशेषता नहीं होने से समानता होती है । इस स्थिति में यदि शरीर परिमाण जैसा आत्मा का परिमाण माना जाय तब तो अकात्स्न्यरूप दोष का निराकरण नहीं होता है । इसलिए जिनमत समञ्जस नहीं होता है। एवं बोद्धवत् देशनापौषधादि पद प्रयोग भी अयुक्त है ॥३६॥

इत्येकस्मिन्नसंभवाधिकरणम् ॥

सारबोधिनि– जैन वैदिकाचार रहित है । और यह जो माहेश्वर कापालिक प्रभृति पशुपति मत हैं यह भी वैदिकाचार रहित है । इन

धीयते—पत्युरिति । नेत्यनुवर्तते । पशुपतेर्मतस्य नैवादरणीयत्वम-वैदिकाचारप्रवर्तकत्वेन जगन्निमित्तोपादानयोर्भेदज्ञापकत्वेन चासामञ्ज-स्यात् ॥३७॥

श्रुतिसूत्रानुसारेण परमेश्वरे निमित्तोपादानकारणत्वमिति । माहे-श्वरास्तु केवलं घटादिकार्ये कुलालादिवत् समस्तप्रपञ्चात्मककार्ये परमेश्वरः केवलं निमित्तकारणमेवेति तन्मतं सूत्रकारो निषेधति । पत्युः परमेश्वरस्य न केवलं निमित्तकारणता असामञ्जस्यात् कर्मपरमेश्वरयो-रितरेतराश्रयदोषप्रसक्त्या जनकत्वासंभवादित्याशयेन सूत्रपदं विभ-जन् ब्रूते वैदिकाचारेत्यादि, कतिपय अंशे वैदिकाचाररहितत्वधर्म साम्यादनेनाधिकरणेन पशुपतिमतं निराक्रियते । तत्रापाततः कापा-लिकादीनां मतं समादरणीयं न वेति संशयः । संशयानन्तरं भवति पूर्वपक्षः स्थूलसूक्ष्मदूरविप्रकृष्टादिसकलपदार्थानां दर्शनशीलो भगवान् पशुपतिरेवास्य मतस्य प्रणेता प्रचारकश्च सोऽपि अमुमेव मतं

दोनों में वैदिकाचार राहित्यात्मक धर्म को समान होने से जन मत निराकरण करने के बाद प्रसङ्ग रूप सङ्गति को लेकर के [स्मृतवस्तु का उपेक्षानर्हतत्व को प्रसङ्ग कहते हैं ।] जैन मत के बाद इस पशुपति मत का निराकरण प्रकृत प्रकरण से किया जाता है । यहाँ संदेह होता है कि ये जो पाशुपतादिकों का मत है वह आदरणीय है अथवा अनादर-णीय । एतादृश संशय के अनन्तर पूर्वपक्ष होता है कि पाशुपत मत भी आदरणीय है । क्योंकि स्थूल सूक्ष्म साधारण अतीत अनागत सब पदार्थ का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने में समर्थ पशुपति ने स्वयं इस मत को स्वी-कार करके लोगों को इस मत का उपदेश दिया है । इसलिए पाशुपत मत अवश्यमेव आदरणीय है । इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं, "पत्यु रसामञ्जस्यात्" पूर्वाधिकरण से "न" इस पद का अनुवर्तन किया जाता है । यह जो पशुपति का मत है वह आदरणीय नहीं है क्योंकि यह

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ।२।२।३८।

पशुपतिमते जगदुत्पादने प्रकृतिपुरुषयोस्सम्बन्धोऽभ्युपेयः स च नोपपद्यते ईश्वरस्याशरीरत्वात् ॥३८॥

स्वीकरोति । सर्वज्ञप्रचालितमतस्यावश्यमेवादरणीयतेति । सूत्रेणोत्त-रयति "पत्युरसामञ्जस्यात्" । अयं भावः अत्र पूर्वादधिकरणान्न-कारोऽनुवर्तनीयः पत्युः पशुपतेर्मतं नैव स्वीकर्तव्यम् अवैदिकाचार प्रवर्तकत्वात् । तथा उपादानकारणनिमित्तकारणयोरत्रमते भेदेन प्रतिपादनादसामञ्जस्यम् । वेदो हि परमेश्वरे चेतनत्वेन निमितका-रणतां तथा "तदैक्षत" (छा.६।२।३।) "तदात्मानं स्वयमकुरुत" (तै० ३।७) इत्यादिनोपादानकारणतां च प्रतिपादयति । अयं तु केवलं निमित्तकारणतामेवेति वेदविरुद्धानेकवस्तुनः प्रतिपादनादेतन्मतं न समीचीनमिति । तदाहुभाष्यकाराः "तस्माद्वेदविरुद्धप्रक्रियाश्रवणाद-नुष्ठानाद्यभिधानाच्चासामञ्जस्यमेवकापालिकपाशुपतादीनां मतस्येति" इति (आनन्दभाष्यम् ॥३७॥

मत अवैदिक आचार का प्रवर्तक है और जगत् का उपादन कारण तथा निमित्त कारण में भेद का ज्ञापक होने से असमञ्जस है । अर्थात् इस मत में स्थावर जङ्गम सकल जगत् का उपादान कारण प्रधानादिक को मानते हैं । और परमेश्वर कुलालादि की तरह केवल निमित्त कारण है । और वेद "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" "तदात्मानं स्वयमकुरुत" सच्च त्यच्चाभवत्" इत्यादिक तो परमेश्वर को जगत का उपादान कारण मानता है । तथा परमेश्वरको निमित्त कारण भी मानता है तो इस मत को वेद विरुद्ध मत का प्रतिपादक होने से आदरणीयता नहीं है । एवम्, "तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति" इत्यादि श्रुति अभिन्न निमित्तोपादन परमेश्वर के ज्ञान को ही मुक्ति साधन बतलाते हैं । और इस मत में तो ऐसा प्रदिपादन नहीं किया गया है । अतः इस मत का आदर कभी भी नहीं करना चाहिए ॥३७॥

विवरणम्—प्रधानपुरुषयोरीशिता परमेश्वर इति पाशुपतमतम् । परन्तु प्रधानेन सह सम्बन्धे सत्येव स परमेश्वरस्तयोः प्रकृति पुरुषयोः प्रेरकः स्यात् ततश्च सर्गः । परंतूभयोः सम्बन्ध एव नोपपद्यते नहि प्रकृतिपरमेश्वरयोः संयोगो व्यापकत्वात् । नवा समवायः आधाराधेयभावाभावात् । नापि सम्बन्धान्तरमनिरूपणादिति सम्बन्धानुपपत्तिरप्येतन्मतेऽसामञ्जस्यमिति दर्शयितु प्रक्रमते "पशुपतिमते" इत्यादि । पशुपतिमते यदा प्रकृतिः प्रपञ्चं करिष्यति तदा प्रकृतेः परमेश्वरेणाधिष्ठात्रा सम्बन्ध आवश्यकोऽन्यथा प्रवर्त्यप्रवर्तकभाव एव न स्यात् । तयोः सम्बन्धोपपादनमशक्यमेव तन्मते परमेश्वरस्य शरीररहितत्वादव्यापकत्वाच्च । तस्मादुभयोः सम्बन्धानुपपत्त्याऽसमञ्जसमेवतन्मतमिति ॥३८॥

सारबोधिनी—प्रधान जगदुत्पत्ति में उपादान कारण है मृत्तिकावत् जड है तथा परमेश्वर निमित्त कारण है कुलालादिवत् चेतन होनेसे जिस प्रकार मृत्तिका कुलाल का सम्बन्ध होता है तब कुलाल मृत्तिका से घट को बनाता है उसी प्रकार जब प्रकृति परमेश्वर का सम्बन्ध होगा तभी परमेश्वर जगत का उत्पादन करेगा । परन्तु इन दोनों का सम्बन्ध नहीं बनता है । इसलिए इस दर्शन में सम्बन्धानुपपत्ति भी असामञ्जस्य है । इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं "पशुपतिमते" इत्यादि । उपादान कारण प्रकृति तथा निमित्त कारण परमेश्वर का सम्बन्ध अनुपन्न है । इसी का स्पष्टीकरण करते हैं "जगदुत्पादने" इत्यादि । पशुपति के मत में जगत् का उत्पादक उपादानकारण प्रधानादिक तथा निमित्तकारण परमेश्वर का सम्बन्ध आवश्यक है । क्योंकि घटादि कार्य की उत्पत्ति में ऐसा ही देखने में आता है । पर प्रकृति में दोनों का सम्बन्ध बन नहीं सकता है । क्योंकि परमेश्वर शरीर रहित है । तो शरीर का अभाव होने से सम्बन्ध का भी अभाव हो जायगा । घटादि दृष्टान्त में सशरीर कुलाल का ही संयोग मृदादि से होता है ।

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ।२।२।३९।

अवैदिकेश्वरकल्पनायामनुमानेनैव तत्कल्पनीयम् । अनुमानकल्प्ये च पदार्थे दृष्टमर्यादावश्यमाश्रयणीया । लोके च मृदादीनामधिष्ठानं सशरीरस्यैव कुलालादेर्दृष्टम् । तथाविधाधिष्ठानम्प्रधानस्येश्वरी न सम्भवत्यशरीरत्वादिति तदनुपपत्तिः ॥३९॥

विवरणम्–ननु कुलालादि चेतनानामधिष्ठानत्वं भवतीत्यवलम्ब्य तद् दृष्टान्तेन परमेश्वरस्याधिष्ठानानुमाने कुलालादेः सशरीरत्वदर्शनेन दार्ष्टान्तिकेऽपि तथैवस्यान्न तु तथा शैवैर्मन्यते तदीय परमेश्वरस्य शरीराभावात्तस्याधिष्ठातृत्वं न स्यादिति वैषम्यात्तन्मतमपाकर्त्तुं प्रक्रमते "अवैदिकेश्वरेत्यादि" अवैदिकपरमेश्वरस्य कल्पना न शास्त्रबलेनापितु अनुमानबलेनैव स्यात् । परन्तु अनुमानकल्पितवस्तुनि दृष्टमर्यादाऽवश्यमेवमान्या भवेत् । लोके तु निमित्तभूतकुलालस्य शरीरवत्तो यहाँ उस मत में परमेश्वर का शरीर न होने से प्रकृति संयोग असंभवित है अतः यह मत भी उपेक्षणीय है ॥३८॥

सारबोधिनी–यदि माहेश्वर मतानुयायी पशुपति को अनुमानबल से निमित्तकारण अधिष्ठाता मानते हैं तब तो दृष्टान्त आवश्यक है। और दृष्टान्त में कुलालादिक सशरीर होकर के ही अधिष्ठाता है। प्रकृत में ये लोग परमेश्वर को सशरीर नहीं मानते हैं। तब परमेश्वर प्रधानादि के अधिष्ठाता नहीं हो सकते हैं।/ इस आशय को लेकर के कहते हैं। "अवैदिकेश्वरकल्पनायामित्यादि" अवैदिक परमेश्वर की कल्पना करते हैं तो एतादृश परमेश्वर शास्त्र सिद्ध हो करके अनुमान के बल से सिद्ध होंगे। और जो पदार्थ अनुमान से सिद्ध होता है उसमें दृष्ट मर्यादा का अवश्यमेव आश्रय किया जाता है। लोक में ऐसा देखने में आता है कि मृदादि लक्षण उपादान कारण का अधिष्ठान शरीर विशिष्ट चेतना कुलाल ही होता है नतु शरीर रहित कुलाल निमित्त कारण अधिष्ठाता बनता है। एतादृश

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ।२।२।४०।

ननु करणकलेवराद्यधिष्ठानं यथा शरीरविधुरस्य जीवस्यास्ति तथैवाशरीरस्य पशुपतेरप्युपपत्स्यत इति चेन्न, पुण्यापुण्यकर्मफलभोगनिमित्तकं हि जीवस्य तत् पशुपतेरपि तत्फलभोगादिप्रसक्तेर्नाधिष्ठातृत्वसम्भवः ॥४०॥

एवाधिष्ठातृत्वमिति कथमशरीरस्य परमेश्वरस्य तथात्वं स्यादिति भवति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमिति नेश्वरस्य प्रधानाधिष्ठातृत्वमित्यप्यसमञ्जसमिति न पशुपतिमतं समीचीनमिति भावः ॥३९॥

विवरण—ननु यथा स्वभावतो जीवः शरीरेन्द्रियरहितमप्युपात्तशरीरेन्द्रियादिकमधिष्ठाता भवति तथैवशरीरादिरहितः परमेश्वरःप्रधानादीनामधिष्ठाता किं न स्यादिति चेत् सत्यम् जीवः स्वकृतकर्मफलोपभोगाय शरीरादिमधितिष्ठति परमेश्वरस्यापि तथा स्वीकारे फलभोगापत्तिरित्याशयेनाह "ननुकरणकलेवरादीत्यादि" यथा स्वभावतः शरीररहितोऽपि जीवः करणस्येन्द्रियग्रामस्य तथा कलेवरस्य शरीरस्याधिष्ठाता भवति तत्र सशरीरस्यैवाधिष्ठानतेति नियमः परित्यक्तो भवति तथैव

शरीर विशिष्ट परमेश्वर प्रधानादिक का अधिष्ठान नहीं हो सकता है। क्योंकि आपके मत से परमेश्वर शरीर रहित हैं। तब वे प्रकृति के अधिष्ठाता नहीं बन सकते हैं ॥ अतः पशुपति मत समीचीन नहीं है ॥३९॥

सारबोधिनी—जिस तरह जीवात्मा शरीरेन्द्रिय रहित होकर के भी शरीरेन्द्रियादि का अधिष्ठाता बनता है। उसी तरह पशुपति भी स्वभावतः शरीर रहित होने पर भी प्रधानादिक का अधिष्ठाता बनेंगे तो इसमें क्या क्षति है। एतादृश शङ्का का समाधान करने के लिए कहते हैं, "ननु करणकलेवरादीत्यादि" करण इन्द्रिय ग्राम कलेवर शरीर इन सब का अधिष्ठान जिस तरह स्वभावतः शरीर रहित भी जीव होता है। उसी तरह से स्वभावतः प्राकृत शरीर रहित भी पशुपति प्रधानादिक का अधिष्ठाता बन सकते

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ।२।२।४१।

पुण्यापुण्यकर्मायत्तपशुपतेःप्रकृत्यधिष्ठातृतास्वीकारे च जीववदन्त-वत्त्वमसर्वज्ञता च स्याताम् । वेतिशब्दश्चार्थकः ॥४१॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौपत्यधिकरणम् ॥७॥

शरीररहितोपि पशुपतिः प्रधानादीनामधिष्ठाता स्यादिति चेन्न जीवे या शरीरादीनामधिष्ठातृता सा तु स्वकृतशुभाशुभकर्मफलोपभोगाय भवति यदि कदाचित्पशुपतेरप्येवं स्वीक्रियेत तदाऽस्मदादिवत् पशुपतेरपि कर्मफलभोगप्रसक्तेः । तस्मान्न जीववत् शरीररहितपशुपतेः प्रधानादीनां प्रति अधिष्ठातृत्वसंभव इति न तन्मतं समीचीनमिति ॥४०॥

विवरणम्—पशुपतिः शुभाशुभकर्माधीनोभूत्वा यदि प्रकृतेरधिष्ठातेति मन्येत यथा जीवः कर्मवलान्मृदादीनामधिष्ठाता भवति तदा पशुपतिरपि जीववदेव अन्तवान् सृष्टिस्थितिसंहारास्पदोभवेत् । तथा जीववदेव पशुपतिरप्यसर्वज्ञः स्यादित्यसामञ्जस्य तद्दर्शनस्येत्याशयेनाह "पुण्यापुण्येत्यादि" तत्र पुण्यं स्वर्गादिकजनकं शुभकर्मः अपुण्यं वेदनिषिद्धकर्मणा जायमानं नरकादिप्रयोजकमशुभं कर्म तादृशकर्माधीनोभूत्वा

हैं । तो इसमें क्या क्षति हैं ? अर्थात् कोई भी क्षति नहीं है । ऐसा मत कहना, क्योंकि जीव को तो अनेक भावोपार्जित शुभाशुभकर्म के फलोपभोग करने के लिए शरीरादि का अधिष्ठाता बनता है । पशुपति को भी ऐसा माने तब तो पशुपति को भी कर्मकृत फल का उपभोग गले पतित हो जाएगा । इसलिए अवैदिक परमेश्वरवादि का मत समीचीन नहीं है ॥४०॥

सारबोधिनी—यदि शुभाशुभ कर्म से प्रेरित पशुपति प्रकृति का अधिष्ठाता बने, तब तो जीव के समान पशुपति में भी अन्तवत्व अर्थात सृष्टि संहारास्पद पशुपति भी होंगे तथा जीव के समान असर्वज्ञ भी हो जायेंगे । इत्याद्यनेक दोष होने से पशुपति मत असमञ्जस है । इस बात को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "पुण्यापुण्यकर्मायत्त" इत्यादि । पुण्य वेद

अथोत्पत्त्यसंभवाधिकरणम् ॥८॥

उत्पत्त्यसम्भवात् ।२।२।४२।

एवमस्मिन् पादे सप्तभिरधिकरणैर्वेदविरोधिमतानामसामञ्जस्यमभिधायेदानीं वेदाविरोधिपञ्चरात्रशास्त्रानुमोदितं स्वकीयं श्रीवैष्णवमतमनेन पादान्तिमेनाधिकरणेन व्यवस्थाप्यते । अत्र श्री वैष्णवमतप्रतिपादक

पशुपति यदि प्रकृतिमधितिष्ठेत तदा यथा जीवस्तादृशकर्माधीनः सोऽपितथा सन् सृष्टिसंहारभाक्स्यात्, अन्तवान्स्यादिति । तथा जीववदेवासर्वज्ञोऽपिभवेत्पशुपतिरित्यसामञ्जस्यं पशुपतिदर्शनस्य । एवमनेके वेदविरुद्धाः शवभस्मस्नानभगस्थात्मोपासनादिपदार्थास्तत्र पशुपतितंत्रे निरूपिता इत्यप्यसामञ्जस्यं तत्रेति । सूत्रे वा शब्दश्चकारस्यार्थे ततश्च पशुपतेः अन्तवत्वमसर्वज्ञता च दोषोभवतीत्यर्थोफलति ॥४१॥

इतिजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्री रघुवरीयवृत्तिविवरणे पत्यधिकरणम् ॥८॥

विवरणम्-इदमीयद्वितीयाध्यायद्वितीयपादे वेदविरुद्धमतानां निरा-

प्रतिपादित क्रिया जनित स्वर्गादि सुख का जनक शुभकर्म, अपुण्य वेद निषिद्ध क्रिया जनित नरकादि का साधन अशुभ कर्म—इन दोनों के अधीन होकर के पशुपति यदि प्रकृति का अधिष्ठाता बनते हैं ऐसा यदि मानें तब जिस प्रकार से जीवात्मा अदृष्ट बल से अन्तवान् अर्थात् सृष्टि स्थिति संहार का विषय होता है उसी तरह पशुपति भी आद्यन्तवान् होंगे । तथा जीव जिस प्रकार से असर्वज्ञ है, उसी तरह पशुपति भी असर्वज्ञ हो जायेगें । इत्यादि दोष है तथा वेद विरुद्ध अनेक प्रकारक पदार्थ का उपदेश पशुपति तंत्र में किया गया है । इसलिए यह पशुपतिमत सर्वथैव अनादरणीय है । सूत्र घटक 'वा' शब्द 'च' के अर्थ में है । तब यह अर्थ होता है कि अन्तवत्व तथा असर्वज्ञता की आपत्ति पशुपति में भी होती है अतः यह मत त्याज्य है ॥४१॥ इति पत्यधिकारणम् ।

पञ्चरात्रशास्त्रस्य जीवोत्पत्तौ तात्पर्यमस्ति न वेति संशयः । तत्र "परमकारणात्परब्रह्मभूताद्वासुदेवात्सङ्कर्षणो नाम जीवो जायते सङ्कर्षणात्प्रद्युम्नसंज्ञं मनो जायते तस्मादनिरुद्धसंज्ञोऽहंकारो जायते, [परमसंहितायाम्]इत्यादिवचनानां जीवोत्पत्तावत्स्यैव तात्पर्यमतो वेदविरुद्धस्यार्थस्याभिधानात्तत्प्रतिपाद्यवैष्णवमतस्यासामञ्जस्यमिति पूर्वः पक्षः ।

करणमेतावताप्रबन्धेनकृतम् । ततो वेदाविरोधिपञ्चरा प्रतिपादित वैष्णवमतस्यापि अप्रामाण्यमितिमन्दमतीनां संशयस्तन्निराकरणाया-यमुपक्रमः । अस्मिन् द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयपादे अधिकरणसप्तभि-र्वेदविरोधिनां पशुपत्यादिशास्त्राणामप्रामाण्यं प्रतिपाद्य वेदैः सहविरोध मभजता पञ्चरात्रशास्त्रेणानुमोदितं यद्वैष्णवमतं तादृशस्वकीयश्रीवैष्णव-मतस्यद्वितीयपादस्य चरमाधिकरणेन व्यवस्थापयति । तत्र विप्रतिपत्ति बलेन संशयो भवति यत् श्रीवैष्णवमतप्रतिपादकं पञ्चरात्रशास्त्रं तादृश शास्त्रस्य जीवोत्पत्तिविषये तात्पर्यं विद्यते नवा । तत्र विधिकोटिर्वैष्ण-वेतराणाम्, निषेधकोटिस्तुवैष्णवानाम् । जगतः परं कारणं भगवान् वासुदेवः तस्माद्वासुदेवात् संकर्षणनामकस्य जीवस्योत्पत्तिर्भवति सङ्कर्षणात् प्रद्युम्नमकस्य मनसः समुत्पत्तिर्भवतीत्यादिपञ्चरात्रशास्त्र

सारबोधिनी—इस प्रकार से द्वितीयाध्याय के द्वितीयपाद में सात अधि-करण के द्वारा वेद विरोधी सांख्यादि मतों का असामञ्जस्य का प्रतिपा-दन करके सम्प्रति वेद के अविरोधी पाञ्चरात्रशास्त्र से प्रमाणित स्वकीय श्री वैष्णव मत को इस पाद के अन्तिम अधिकरण से व्यवस्थित करते हैं । यहाँ वैष्णव मत का प्रतिपादक पाञ्चरात्रशास्त्र का जीव की उत्पत्ति में तात्पर्य है अथवा नहीं है ऐसा संशय विप्रतिपत्ति द्वारा होता है । संशय के बाद पूर्व पक्ष होता है कि परम कारण परब्रह्मरूप वासुदेव से सङ्कर्षण नामक जीव की उत्पत्ति होती है । सङ्कर्षणनामक जीव से प्रद्युम्न नामक मन की उत्पत्ति होती है । प्रद्युम्न से अहङ्कार उत्पन्न होता है जिसका नाम अनिरुद्ध है ।

अत्राभिधीयते—न तावत्पञ्चरात्रशास्त्रस्य जीवोत्पत्तौ तात्पर्यं तस्योत्पत्तेरसम्भवात् । जीवोत्पत्तिस्वीकारेत्वकृताभ्यागमकृतविप्रणाशदोषौ स्यातामतो न तदुत्पत्तिरभ्युपगन्तुं शक्या । "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" [श्वे.१।९।] "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" [का.२।१८।] इत्यादि

वाक्यानां जीवस्योत्पत्तिविषये विद्यते एव तात्पर्यम् तस्माद्वेदविरुद्धविषयस्योक्तशास्त्रेण प्रतिपादनात् तादृशशास्त्रानुमोदितवैष्णवमतमप्यसमीचीनमेवेतिपूर्वपक्षाशयः । एतत्समाधानाय वक्ति "अत्राभिधीयते" इत्यादि । पञ्चरात्रीयशास्त्राणां जीवस्योत्पत्तिविषये तात्पर्यं विद्यते. कुतः ? जीवोत्पत्तेरसंभवात् । यदि तदाचित् जीवस्योत्पत्तिः कथञ्चिन्मन्येत तदाकृतविप्रणाशाकृताभ्यागमदोषौ स्याताम् । ततो न जीवस्योत्पत्तिरिति । एवम्" ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" न जायते म्रियतेवेत्यादि श्रुतिभिर्जीवस्य नित्यत्वप्रतिपादनात् वेदविरुद्धेऽर्थे कथं तादृशशास्त्रस्य तात्पर्यमिति निश्चीयते । अतो न तस्य पञ्चरात्रशास्त्रस्याप्रामाण्यम् नवा तदनुमोदितश्रीवैष्णवमतस्याप्यप्रामाण्यमिति तदत्रास्मदाचार्याः महामहोपाध्याया जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रघुवराचार्य वेदान्त केशरिणः—"अत्रेदं विचार्यते, केचिच्चिदमधिकरणं पञ्चरात्रप्रायाण्य प्रतिषेधे योजमायासुः । तेषामयंभावो यदस्मिन् पादे सर्वेभ्योऽधिकरणेभ्यो वेदविरुद्धानां मतानामसामञ्जस्य प्रदर्शनमेवोपक्रान्तमत एव पूर्वतनेषु सप्तस्वधिकरणेषु तथा दृश्यते । एवमनेनाप्यधिकरणेन

इस प्रकार परम संहिता के वचन से यह सिद्ध होता है कि जीव उत्पत्ति में तात्पर्य है । अतः वेद विरुद्ध पदार्थ का कथन करने से तत् प्रतिपादित वैष्णव मत भी अप्रमाणित है । इस पक्ष का निराकरण करने के लिए कहते हैं कि पाञ्चरात्र शास्त्र का जीवोत्पत्ति में तात्पर्य नहीं है । क्योंकि जीव की उत्पत्ति असंभवित है । यदि कदाचित् आग्रहवशात् जीवोत्पत्ति को मानें तो अकृताभ्यागम कृत प्रणाश दोष होगा । इसलिए जीव उत्पन्न

श्रुतिषु जीवस्यानुत्पत्तेः स्पष्टमभिधानात्पञ्चरात्रशास्त्रस्य कथं वेदविरुद्ध प्रतिपादन युज्येत । अतो न तस्यांशिकमप्यप्रामाण्यमिति तत्प्रतिपाद्यस्य वैष्णवमतस्यापि नासामञ्जस्यम् ॥४२॥

पञ्चरात्र प्रामाण्यमेवनिराक्रियते । अन्यथा सूत्रोपक्रमविरोधः स्यादिति । अन्येतु शक्तिकारणवादनिराकरणमेवास्याधिकरणस्य प्रयोजनमूचुः । अपरेत्वनेन पञ्चरात्रस्यांशिकमप्रामाण्यमेव प्रसाधयामासुः । तत्सर्वं सूत्रकृदभिप्रेरतार्थविरुद्धम् । तथाहि भगवान् बादरायणोवेदार्थं निर्णिनीपुः संक्षेपेण वेदान्तसूत्राणि प्रणोयविस्तरेण च तदुपबृंहणाय भारतसंहितां व्यरोरणचत् तत्र मोक्षधर्मे पञ्चरात्रस्य प्रामाण्यं विस्तरेण प्रतिपादितवान्-

इदं शतसहस्राद्धि भारताख्यानविस्तारात् ।
आविध्य मतिमन्थानं दध्यनोघृतमिबोद्धृतम् ॥
नवनोतं यथा दध्नोद्विपदां ब्राह्मणो यथा ।
आरण्यकञ्चनवेदभ्य ओषधिभ्यो यथामृतम् ॥
इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम् ।
सांख्ययोगकृतान्तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम् ॥
इदं श्रेय इदंब्रह्म इदं हितमनुक्तकम् ।
ऋग्युजः सामभिर्जुष्टमथर्वाङ्गिरसैस्तथा ॥
भविष्यति प्रमाणं वा एतदेवानुशासनम् ।
पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्तानारायणःस्वयम् ॥

होता है ऐसा नहीं मान सकते हैं । "ईश पमेश्वर, अज्ञ जीव, ये दोनों ही अजन्मा है । ईश अनीश है" "यह जीव नहीं उत्पन्न होता है नवा मरता है" इत्यादि श्रुतियों में स्पष्ट रूप से जोवों के उत्पत्यभाव का प्रतिपादन किया है । तो पांच रात्र शास्त्र वेद विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करेगा, यह किस तरह युक्त हो सकता है । इसलिए पाञ्चरात्र शास्त्र में आंशिक भी अप्रमाणिकत्व नहीं होता है । तब पञ्चरात्रानुमोदित वैष्णव

न च कर्तुः करणम् ।२।२।४३।

सङ्कर्षणात्प्रद्युम्नसञ्ज्ञ मनो जायते" [प.सं.] इत्येतद्वाक्यस्यापि न कर्तुर्जीवात्मनः सकाशात्करणस्योत्पत्तौ तात्पर्यम् श्रुतिविरुद्धार्थे वेदानुसारिणोऽस्य शास्त्रस्य तात्पर्यं नैव सम्भवति । अत एव तदभिमत श्रीवैष्णवमतस्यापि नासामञ्जस्यम् ॥४३॥

तथा भीष्मपर्वण्यपि—

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः,
अर्चनीयश्चसेव्यश्च पूजनीयश्च माधवः ॥
सात्वतंविधिमास्थाय गीतः सङ्कर्षणेन यः ।

इत्यादि प्रबन्धेन । यथा च यः स्वनिर्मितभारते भगवदुपासनादिप्रतिपादकपाञ्चरात्रशास्त्रस्य प्रामाण्यं समर्थयति स एव कथं तस्याप्रामाण्यमन्त्राभिदध्यात् । तस्मान्नात्राधिकरणेऽप्रामाण्यं साध्यत इति । एतेनांशिकमप्रामाण्यमिति व्याख्यातॄणां मतमप्यपाकृतम् । परमदुर्मेधसोऽपि स्वोक्तिविरोधमवगच्छन्ति कथं तर्हि यदङ्घ्रिपद्मानुध्यायिनः साधारणजना अव्याप्ततया भवन्ति स एव साक्षात्परमपुरुष एकस्यामेव स्वनिर्मित्तौ व्याहृतमुपदिशेत । एवं शाक्तमतनिराकरणमपि नात्रप्रकृतं विकल्पा सहत्वात् । तथाहि—जगत्कारणत्वेन स्वीकृता सा शक्तिरजडा जडावा ? आद्ये तु पत्यधिकरणेनैव गतार्थत्वात् न पृथगधिकरणस्य प्रयोजनम् । अन्तिमेऽपि सांख्यनिरासेनैव तस्या अपि कारणत्वनिरास इति न तद्दूषणायाधिकरणान्तरस्य प्रयोजनम् । अतोऽस्मद्भाष्यकारायव्याख्यानमेवन्न्यायः । एवं "उत्पत्त्यसम्भवात्" इत्यस्य पूर्वपक्ष सूत्रत्वमप्यसङ्गतम् । यतोऽस्मिन् पादेऽधिकरणादिमसूत्रस्यैव सिद्धान्तसूत्रत्वमित्यनपोदितनिशमस्य जागरूकत्वादित्यन्यत्रविस्तरः" इति ।४२।

मत में भी अप्रामाणिकत्व नहीं है । किन्तु श्रीवैष्णवशास्त्र सर्वांश में वेदा विरोधी अर्थ का प्रतिपादक होने से सर्वथा प्रमाणित है ॥४२॥

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ।२।२।४४।

एवं तर्हि जीवाद्युत्पत्त्यभिधायिनामुदीरितपञ्चरात्रवाक्यानां क्व तात्पर्य मित्याशङ्कायामाह विज्ञानादीति—वाशब्दस्त्वर्थे कल्पितामाशङ्कां वारयति। प्रोक्तवाक्यानां जीवाद्युत्पत्तौ नास्ति तात्पर्यमपितु सङ्कर्षणादीनां पर-

---

विवरणम्—यथा वासुदेवात् सङ्कर्षणसंज्ञकजीवस्योत्पत्तौ न पाञ्च-रात्रशास्त्रवाक्यस्य तात्पर्यं तथैव सङ्कर्षणजीवानमनस उत्पत्तिर्भवतीत्य-त्रापि पाञ्चरात्रशास्त्रीयवाक्यस्य तात्पर्यम्। मन तादिनामुत्पत्तेः पर-ब्रह्मणः सकाशादेव भवति "एतस्माज्जायते प्राणीमनः सर्वेन्द्रियाणि-चेतिश्रुतेः। अतः तादृशवाक्यस्य तात्पर्यमुपपादयितुमाह "संकर्षणादि-त्यादि "सङ्कर्षणात् जीवात् प्रद्युम्ननामकं मन उत्पद्यते" इति परम संहिता वाक्यस्याधिकर्तुर्जीवात् मनोरुपान्तः करणस्यसमुत्पत्तौ तात्पर्यं नास्ति। यतः पञ्चरात्रशास्त्रं वेदाविरोधि इति कथं तत् वेदविरुद्धमर्थं प्रतिपादयेत्। अतः पाञ्चरात्रशास्त्राभिमतं श्रीवैष्णवमतं नाप्रामाणिक-मपितुसर्वथैव प्रमाणमिति ॥४३॥

सारबोधिनी—जिस तरह श्रीवासुदेव से सङ्कर्षण जीव की उत्पत्ति होती है इस अर्थ में पाञ्चरात्र वाक्य का तात्पर्य नहीं है। उसी तरह संकर्षण जीव से मन रूप अन्तःकरण उत्पन्न होता है इस पर भी संहिता वाक्य का तात्पर्य नहीं है। इस विषय का उपपादन करने के लिए प्रक्रम करते हैं। "सङ्कर्षणादित्यादि" सङ्कर्षण जीव से प्रद्युम्न नामक मनरूप अन्तःकरण की उत्पत्ति होती है।" इस प्रकार का जो परम संहिता का वाक्य है उसका तात्पर्य सङ्कर्षण से मन की उत्पत्यंश में नहीं है। क्योंकि जो वेदा-नुसारि शास्त्र है उसका तात्पर्य श्रुति विरुद्ध अर्थ में कथमपि नहीं हो सकता है अतएव पाञ्चरात्र शास्त्र के अभीमत जो श्रीवैष्णव का मत है उसमें भी असामञ्जस्य नहीं होता है। किन्तु सर्वथा श्रीष्णवमत प्रामाणिक है। विशेष भाष्य विवरण में देखें ॥४३॥

ब्रह्मभावे सति स्वेच्छयाऽवतारग्रहणे तात्पर्यम् । परमात्मैव जगतो रिरक्षयिषया वासुदेवादिरूपेण चतुर्व्यूहं विधाय प्रणतजनान् पालयति । तथा च पञ्चरात्रे सूक्ष्मव्यूहविभवभेदेनैकस्य परमात्मन एव प्रपन्नजनप्राप्तयेऽवस्थानमिति वर्णितम् । जीवादीनामधिष्ठातृतयानिर्दिष्टैर्वासु-

विवरणम्--"उत्पत्त्यसंभवात्" "न च कर्तुः करणम्" इति सूत्रद्वयेन कर्तुर्जीवस्योत्पत्तिर्न भवतीति प्रसाधितम्. तदाजीवोपत्तिप्रतिपादक परमसंहितागतवाक्यानां कथं प्रमाण्यंस्यादित्याशङ्कायां तादृशपाञ्चरात्रवाक्यानां प्रामाण्योपपादनाय प्रक्रमते "एवं तर्हिजीवादीत्यादि" यदि वासुदेवाज्जीवस्योत्पत्तिर्न भवति नवा कर्तुः सकाशात् करणस्योत्पत्तिस्तदा जीवादीनां समुत्पत्तिप्रतिपादकप्रदर्शितपाञ्चरात्रवाक्यानाम् "वासुदेवात्सङ्कर्षणोनाम जीवोजायते" इत्यादि परमसंहितास्थ वाक्यानां कस्मिन्नर्थे तात्पर्यं कथं वा तेषां प्रामाण्यमित्याशङ्कायां तादृश शङ्कां समुच्छेत्तुं प्रक्रमन् सूत्रतात्पर्यमनुवदति. विज्ञानादिभावेत्यादि । अत्र सूत्रघटको वा शब्दो नविकल्पार्थं द्योतयति. किन्तु "तु" शब्दस्यार्थं द्योतयति. सच तु शब्दः पूर्वकथितशङ्कां निवारयति । प्रोक्त वाक्यानां "वासुदेवात्संकर्षणोनामजीवो जायते" इत्यादि परमसंहिता-

सारबोधिनी–"वासुदेवात्सङ्कर्षण नाम जोवो जायते" इत्यादि परम संहिता वाक्य के तात्पर्य को उपपादन करने के लिए उपक्रम करते हैं एवं तर्हि जीवादीत्यादि" यद्येवं स्वीक्रियते तदा यदि ऐसा माने तब जीवादी के उत्पादक परमसंहिता वाक्य का किस अर्थ में तात्पर्य है । ऐसी शङ्का के होने पर तादृश शङ्का के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं "विज्ञानादीति" इस सूत्र में जो वा शब्द है वह तु शब्द के अर्थ में है जो कि कल्पित आशङ्का का निवारण करता है । परम संहिता में "वासुदेवात्सङ्कर्षणोनामजीवो जायते" जो यह वाक्य है उसका जोव की उत्पत्ति में तात्पर्य नहीं है । किन्तु सङ्कर्षण जो जीव उसका परब्रह्मभाव के प्राप्ति होने से अवतार

देवादिभिः स्वरूपैः स एव परात्परः परमात्मा "अजायमानो बहुधा विजायते" इत्यादिवचनप्रामाण्यात्स्वेच्छयावतरति। तेषामेव जीवादि शब्दैरत्राभिधानात्पञ्चरात्रप्रामाण्यस्याप्रतिषेधः ॥४४॥

स्थ वाक्यानाम् 'जीवादीनां घटादिवदुत्पत्तौ तात्पर्यं नास्ति। अर्थादे तेषां वाक्यानामुत्पत्तिविषयेनास्ति तात्पर्यम्। किन्तु जीवादीनां विज्ञान भावे परब्रह्मभावे सति स्वेच्छया अवतारग्रहणेतात्पर्यमस्ति। यथा "अजायमानो बहुधा विजायते" इत्यादि स्थले अवाप्तसकलेप्सितस्य परमपुरुषस्य स्वेच्छयाऽवतारग्रहणं कथ्यते तत्रैव श्रुतेस्तात्पर्यम्। तथैव प्रकृते जीवोत्पत्तौ न तात्पर्यं परमसंहितावाक्यस्य किन्तु भगवतः परमपुरुषस्य स्वेच्छयावतारग्रहणे तात्पर्यम्। अर्थात् भगवाननेकरूपेणावतारमादाय लोकान् पालयति। एतदेवोपपादयति "परमात्मैव रिरक्षयेत्यादि"। तत्र रिरक्षया रक्षणेच्छयेत्यर्थः। अर्थात् प्रणतवत्सलो भगवान् स्वेच्छया तत्तद्रूपाणि परिगृह्य अनेकरूपं सङ्कर्षणादिरूपाण्या-

ग्रहण में तात्पर्य उन वाक्यों का है। परमात्मा परब्रह्म श्रीरामजी स्थावर जङ्गमात्मक सकल प्रपञ्च का रक्षण करने के अभीप्राय से वासुदेव सङ्कर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध लक्षण चार व्यूह को बना करके स्वशरणागत जीवराशि का पालन करते हैं। [जैसे शरणागत प्रह्लाद का रक्षण करने के लिए भक्त-वत्सल भगवान ने नृसिंहरूप अवतार को धारण करके हिरण्यकस्यपुरूप पराभव स्थान से रक्षण किया था, ऐसा पुराणों तथा बोधायनमतादर्शादि में प्रतिपादन किया गया है।] इस प्रकार से पाञ्चरात्रशास्त्र में सूक्ष्म बिभव व्यूहादि भेद से शरणागत भक्तों के प्राप्ति के लिए परमात्मा का अवस्थान बतलाया गया है। अर्थात् एकही परमात्मा तत्तन्मूर्तिको धारण करके लोगोंका रक्षण कार्य करते है। जीवादिकों का अधिष्ठाता रूप से निर्दिश्यमान वासुदेवादि स्वरूप से वही भक्तवत्सल परमात्मा "अजायमानो बहुधाविजायते" स्वभावतः जन्मादि

विप्रतिषेधाच्च ।२।२।४५।

व्याप्तिरूपेण सम्बन्धस्तस्याश्च पुरुषस्य च । सह्यनादिरन्तश्च परमार्थेन निश्चितः । इत्यादिवचनैः पञ्चरात्रे जीवोत्पत्तेर्विप्रतिषेधाच्च नास्य तन्त्रस्य जीवोत्पत्तौ तात्पर्यम् । तस्मात्पञ्चरात्रस्य वेदानुसारितया

धाय प्रजापालयतीत्यत्रैव परमसंहिता वाक्यानां तात्पर्यमिति । पाञ्चरात्रेऽपि तथैव दर्शितमित्यनुवदति तथाच "पाञ्चरात्रे सूक्ष्मव्यूहविभवभेदेन परमात्मन एव प्रपन्नशरणागतलोकप्राप्त्यर्थमवस्थानमिति वर्णितम् । तस्मात् परमात्मनः स्वेच्छयाऽवतारप्रदर्शने एव तादृशवाक्यानां तात्पर्यमिति ॥ तथा च जीवादीनामधिष्ठाता परमात्मा स्वेच्छया सङ्कर्षणादिनानाप्रकारेणावतरति "अजायमानो बहुधा विजायते" इति वेदवाक्यप्रामाणानुसारेण । तस्मात् पाञ्चरात्रवाक्यानां न जीवादीनामुत्पत्तौ तात्पर्यं किन्तु सङ्कर्षणादिरूपेणावतारप्राप्तये एवेति प्रकरणस्याभिप्रायो न पाञ्चरात्रप्रामाण्यस्यप्रतिषेधोऽत्रेति तत्त्वम् ॥४४॥

विवरणम्—न केवलं जीवस्योत्पत्ति विषये पञ्चरात्रशास्त्रस्य तात्पर्यं किन्तु परमसंहितादौ जीवोत्पत्तेर्निषेधोपि वर्णित एवेति ततश्च यो भाव विवर्जित परमात्मा अनेक रूप को धारण करके अवतरित होते हैं। इत्यादि वचन के प्रामाण्य से स्वेच्छया अवतार ग्रहण करते हैं। उन्हीं संकर्षणादि को यहाँ जीवादि शब्द से कथन करने से पाञ्चरात्रशास्त्र के प्रामाण्य का निराकरण नहीं होता है। वेदार्थ का प्रकाशक महाभारतादि से अनुमोदित पाञ्चरात्रशास्त्र का प्रामाण्य तो कभी भी विलुप्त नहीं होता है ॥४४॥

सारबोधिनी—परम संहिता शास्त्र का जीव की उत्पत्ति में तात्पर्य नहीं है इतना ही नहीं पाञ्चरात्र में जीवोत्पत्ति का निराकरण भी किया गया है। इस अभिप्राय को बतलाने के लिए प्रक्रम करते हैं "व्याप्ति रूपेण" इत्यादि । पाञ्चरात्र तन्त्र में कहा गया है कि "अचेतना परार्था च नित्या सतत विक्रिया । त्रिगुणा कर्मिणां क्षेत्रं प्रकृते रूपमुच्यते । व्याप्तिरूपेण सम्बन्धस्तस्या-

कार्त्स्न्येन प्रामाण्यात्तदुदितस्य वैष्णवमतस्यापि वैदिकत्वेन सामञ्ज-स्यं सुतरामुपपन्नम् ॥४५॥

इति श्री रघुवरीयवृत्तावुत्त्यधिकरणम्॥८॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दाचार्य द्वारकेण ब्रह्मवित्स्वामि श्री जगद्गुरुरामानन्दाचार्य-रघुवराचार्येण विरचितायां रघुवरीयवेदान्तवृ-त्तौ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

जीवोत्पत्तेर्निराकरणं करोति स कथं जीवोत्पत्तेः समर्थक इत्याशयेन जीवोत्पत्तेर्निराकरण सूत्रद्वारा समर्थयितुमुपक्रमते 'व्याप्तिरूपेण" इत्यादि। अयमाशयः जीवोत्पत्तिर्न भवतीति विषये जीवोत्पत्तिविषये तदुत्पत्तेर्विप्रतिषेध एव दृश्यते तथाहि "अचेतनापरार्था च नित्या सतत विक्रिया। त्रिगुणाकर्मिणां क्षेत्र प्रकृतेः रूपमुच्यते। व्याप्तिरूपेण सम्ब-न्धस्तस्याश्च पुरुषस्य च। सह्यनादिरनन्तश्च परमार्थेन निश्चितः" अस्यार्थः सा प्रकृतिरचेतना चैतन्यधर्मरहिता जडेत्यर्थः। च परार्था-परस्य जीवस्य चेतनस्य भोगापवर्गरूपप्रयोजनस्य संपादिका तथा श्च पुरुषस्यच।"इत्यादि प्रकृति अचेतना जड़ है और वह प्रकृति पुरुष के भोगापवर्ग का संपादन करने का स्वभाववाली है तथा प्रवाहरूपसे नित्या है। और पुरुषके कार्य को संम्पादन करने के लिए चलन स्वभाववाली है। सत्व-रजस्तमो गुणवाली है। और क्षेत्ररूप है। ये सब प्रकृति का स्वरूप कहा जाता है। एतादृश प्रकृति का तथा पुरुष का व्याप्तिरूप अव्यभिचरितत्व लक्षण अर्थात् नियत सम्बन्ध है। वह पुरुष परमार्थ रूप से अनादि अनन्त है। इस आत्मा का न कभी उत्पाद होता है। नवा कभी इसका विनाश ही होता है। इत्यादि वचन द्वारा पाञ्चरात्र तन्त्र में जीवोत्पत्ति का प्रतिषेध किय गया है। इसलिए पञ्चरात्र तन्त्र को जीव की उत्पत्ति में तात्पर्य नहीं है। अतः पञ्चरात्र शास्त्र वेदानुसारि होने से वेद का अनुशरण करने वाला होने से

नित्या प्रवाहरूपेणानादिकालप्रवृत्ता। सततविक्रिया सततं निरन्तरं चलनादिक्रियाशीला त्रिगुणा सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण स्वरूपा तथा कर्मिणां कर्म कुर्वतां जीवानां क्षेत्रं स्थानम्। एतादृशं हि प्रकृतेः स्वाभाविकं रूपम्। तथा तस्या एतादृशलक्षणलक्षितायाः प्रकृतेस्तथा पुरुषस्य व्याप्तिरूपेण संबन्धः यावद्धिपुरुषो न विमुच्यते तावत्कालं पुरुषेण सहास्याः प्रकृते संबन्धोनियत एव भवति सहि पुरुषोऽनादिरनन्तः उत्पादविनाशरहित इति पारमार्थिको हि निश्चयः। अर्थाज्जीवस्योत्पादविनाशौ कदापि न भवतः। तथात्वे कृतप्रणाशाभ्यागमदोषप्रसङ्गादिति। इत्यादिवचनसमूहैः पञ्चरात्रे जीवोत्पत्तेः सर्वथैव निषेधस्य दर्शनात् न भवति प्रकृततन्त्रस्य जीवानामुत्पत्तौ तात्पर्यम्। ततश्च पञ्चरात्रदर्शनं सर्वथैव वैदिकसिद्धान्तमेवानुसरति तस्मात्पञ्चरात्रदर्शनस्य सम्पूर्णरूपेण प्रामाण्यं सिद्धं भवति. तादृश दर्शने प्रतिपादितश्रीवैष्णवमतमपि वैदिकमेव वैदिकत्वाच्च श्री-

सर्वांश में प्रामाणिक है। सर्वांश में प्रामाणिक पञ्चरात्र तन्त्र प्रतिपादित जो श्रीवैष्णवमत तादृश श्रीवैणवमत का भी वैदिक होने से सामञ्जस्य स्वत एव होता है। अर्थात् यह श्रीवैष्णवमत भी सर्वथा प्रामाणिक है। लेशतो भी इस मत में अप्रामाणिकत्व की संभावना नहीं है। क्योंकि स्वतः प्रमाण वेद से ही यह भी प्रतिपादित है।

यद्यपि कोई व्यक्ति आक्षेप करते हैं कि "सर्वांग सहित वेद में निष्ठा को प्राप्त न करके शाण्डिल्यमुनि ने इस पञ्चरात्र का अध्ययन करके तत्त्वज्ञान को प्राप्त किया। इस प्रकार से इस शास्त्र में वेद की निन्दा की उपलब्धि होने से यह पञ्चरात्रशास्त्र प्रामाणिक नहीं है। तथापि यह निन्दा यहाँ निन्दा रूप से नहीं है। किन्तु प्रशंसारूपक है। क्योंकि प्रकृत में वेद का अर्थ परमदुर्विज्ञेय है। इसलिए वेदार्थ सुखपूर्वक अवगत हो अतः शाण्डिल्य ने शास्त्रान्तर को छोड़ करके प्रकृत शास्त्र का ग्रहण किया।

वैष्णवमतमपि निराकुलं प्रामाण्यमासादयतीति न कोऽपि तत्र पूर्वापर-विरोधोऽपितु सर्वथैव समञ्जसतेतिदिक् ॥४५॥

इत्यानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठाचार्य-
जगद्गुरु श्री रामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र-
कृतौ श्री रघुवरीयवृत्तिविवरणे द्वितीया-
ध्यायस्य द्वितीयः पादः

सर्वेश्वरश्रीरामाय नमोनमः

और ग्रहीतव्य अर्थ में प्रेमातिशय को बतलाने के लिए प्रशंसा भी ठीक ही है। एतावता उस वाक्य को वेद निन्दा करने में तात्पर्य नहीं है। अतः प्रकृत शास्त्र अप्रमाणिक नहीं है, नवा एतत् प्रतिपादित श्रीवैष्णवमत ही अप्रमाणिक इस विषय पर विशेष विचार भाष्य विवरण में करेंगे अतः विशेषार्थि वहीं से अनुसन्धान करें ॥४५॥

इतिसारबोधिन्यां द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः
श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु
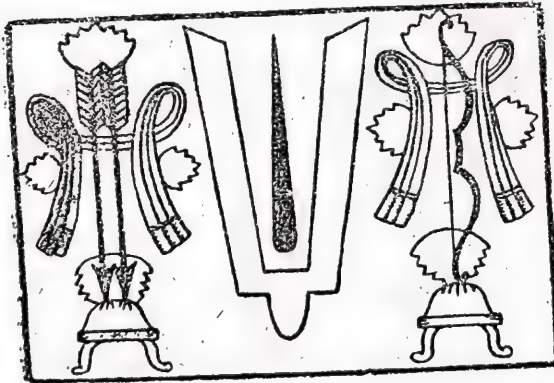
॥ श्रीमते रामचन्द्राय नमः ॥

श्री रघुवरीयवृत्तौ द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

वियदधिकरणम् ॥१॥

न वियदश्रुतेः ।२।३।१।

वेदबाह्यतन्त्राणामप्रामाण्यमभिधायाखिलश्रुतिस्मृतीनाम्प्रामाण्यस्याभिधित्सया कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वम्प्रसाधयितुमारभते । तत्र वियदुत्पद्यते नवेति संशयः उत्पत्तिवाक्येषूत्पत्तेरश्रुतेर्नोत्पद्यत इति पूर्वःपक्षः ॥१॥

विवरणम्—इदमीयद्वितीयपादे केवलयुक्त्यैव व्यवस्थापयतां मतानि विप्रतिषिद्धत्वाद्भ्रममूलकत्वाच्चाप्रमाणानीतिकृत्वा निराकृतानि । सोयं दुरात्माविप्रतिषेधः श्रुतावप्यापततीति वेदस्याप्यप्रामाण्यं स्यादिति शङ्कां समाधातुं तृतीयादिपादमवतारयितुं प्रक्रमते "वेदबाह्येत्यादि" वेदबाह्यमतानां सांख्यन्यायबौद्धजैनमाहेश्वरतन्त्राणां शास्त्राणां स्वस्वयुक्त्या समुदाहृतानामप्रामाण्यं वेदामूलकत्वात्परस्परव्याहतार्थकत्वाच्च प्रमाणरहितानीमानीति व्यवस्थाप्य, परस्परविरुद्धा-

सारबोधिनी—श्रुति विरुद्ध होने के कारण से सांख्यादि मत को भ्रममूलकत्वेन अप्रामाणिकत्व का संस्थापन करके श्रुति में भी परस्पर विरुद्धार्थ प्रतिपादकता होने से अप्रामाण्य की जो शङ्का होती है उसका निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं "वेदबाह्येत्यादि" वेदबाह्य अवैदिक जो तंत्र शास्त्र अर्थात् प्रामाण्यविरोधी वैभाषिकादि भेद भिन्न बौद्धशास्त्र तथा दिगंबर श्वेतांबर अवान्तर मत भेद भिन्न जैनादिक मत हैं उन तन्त्रो में अप्रामाणिकत्व का प्रतिपादन करके श्रुतिस्मृतियों में प्रामाण्य का प्रतिपादन करने की इच्छा से तथा सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम सूक्ष्म स्थूल आकाशादि जगत् ब्रह्म परम पुरुष भगवान् श्रीराम से जायमान हैं इस बात को सिद्ध करने के लिए द्वितीयाध्याय के तृतीय चतुर्थ पाद का आरंभ करते हैं । उन विचार–

र्थप्रतिपादकत्वेन श्रुतीनामप्यप्रामाण्यं स्यादिति शङ्कां निराकृत्याखिल-श्रुतिवाक्यानां स्वतः प्रमाणभूतेन परमात्मना प्रणीतत्वेन वेदानां प्रामाण्यमिति प्रतिपादनेच्छया तथा समस्तस्यापि स्थावरजङ्गमसाधारणस्य जगतः परब्रह्मकार्यत्वमेव नतु प्रधानपरमाणुभावेतरजन्यत्वमिति प्रसाधयितुं द्वितीयाध्यायस्य तृतीयचतुर्थपादावारभते। तत्रापि तृतीय-पादमुखे एवाकाशादिपदार्थानां परमते नित्यत्वेन व्यवस्थितानां जन्यता प्रतिपादकश्रुत्युदाहृत्य तत्रत्य विरोधं समाधास्यति। तत्रापि प्रथमत आकाशमधिकृत्य संशयं दर्शयति "तत्र वियदुत्पद्यतेनवेति संशयः" तत्र विचारणीयविषयप्रवाहे प्रथमत आकाशोत्पत्तिविषयः संशयः "आकाशः समुत्पद्यतेने' त्याकारकः। तत्रोत्पद्यते इति विधिकोटिर्वेदप्रामाण्यवादिनां निषेधकोटिस्तु नैयायिकानाम्। नैयायिकादिनां विप्रतिपत्तिजनितोऽयं संशयः। विरुद्धानेककोटिदर्शनसमानधर्मदर्शन

णीय विषयों में सर्व प्रथम आकाश के उत्पत्ति को अधिकृत करके विचार का कारण संशय का प्रदर्शन करनेके लिए उपक्रम करते हैं "तत्रवियदित्यादि" वियत अर्थात् आकाश उत्पन्न होता है अथवा नहीं होता है एतादृश संशय होता है। इसमें आकाश उत्पन्न होता है यह विधि कोटि वेदान्ती का है "नोत्पद्यते आकाशः" एतादृश निषेध कोटि नैयायिकों का है। क्योंकि वे लोग मानते हैं कि "आकाशवत्सर्वगतस्वनित्यः" यह परमात्मा आकाश के सदृश सर्वगत व्यापक है। तथा नित्य उत्पाद विनाश रहित है इस श्रुति में आकाश के उपमान से परमात्मा को उपमीत किया है। इससे सिद्ध होता है कि आकाश नित्य है। और आकाश का उत्पादक समवायि असमवायि कारण और कोई भी निमित्तकारण उपलब्ध नहीं होता है असंभवित होने से, इसलिए "नोत्पद्यते" इस निषेध कोटि को वे लोग मानते हैं एतादृश संशय के वाद पूर्वपक्ष होता है कि आकाश उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि छान्दोग्य के पदार्थों का उत्पत्ति प्रकरण में "तत्तेजोऽसृजत" "उस

अस्ति तु ।२।३।२।

अत्राभिधीयते सिद्धान्तः । तु शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । "तस्मा द्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" [तै. २।१।] इतिश्रुतेरस्त्याकाशस्योत्पत्तिः ॥२॥

विप्रतिपत्त्यादिभ्यः संशय इति तन्नियमात् । तत्रोत्पत्तिपादकश्रुतिप्रकरणे "तत्तेजोऽसृजत" इत्यादिषु गगनस्योत्पत्तेरश्रवणात् । तथा आकाशोत्पादकसमवायिकारणनिमित्तकारणानामनुपलंभान्नाकाशस्योत्पत्तिः । यथा जायमानघटादीनां कपालतत्संयोगदण्डादिकारणसंवलने समुत्पत्तिर्जायते तथाकाशस्य समवाय्यादिकारणकलापानामदर्शनात्तथा निरवयवत्वव्यापकत्वनित्यत्वादिहेतुभ्यस्तदीयकरणानां निषेधान्नभवति गगनस्योत्पत्तिरित्याकाशनित्यतावादिनैयायिकादीनां पूर्वःपक्षः ॥१॥

विवरणम्–यथा "तत्तेजोऽसृजत" इति श्रुतिवलात्तेजस उत्पत्तौ न भवति विवादस्तथैव श्रुत्यन्तरे आकाशस्याप्युत्पत्तिश्रवणाद्भवत्येवाका-पर ब्रह्म ने तेज को उत्पन्न किया" इस वाक्य में आकाश की उत्पत्ति नहीं कही गई है। अतः आकाश उत्पन्न नहीं होता है। किन्तु नित्य निरवयव सर्वव्यापक है। यदि कदाचित् आकाश की उत्पत्ति श्रुति को अभिमत होता तब तेजः प्रभृति के समान आकाश का भी कथन रहता। वहां आकाश का कथन नहीं किया गया है। इसलिए सिद्ध होता कि गगन उत्पन्न नहीं होता है, इति पूर्वपक्षः ॥१॥

सारबोधिनी—यद्यपि छान्दोग्य श्रुति में आकाश की उत्पत्ति नहीं सुनी गयी है तथापि तैत्तिरीयक श्रुति में "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इस प्रकरण में आकाश का भी श्रवण है। अतः आकाश की उत्पत्ति होती है इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं "अत्राभिधीयते" इत्यादि। इस विषय में सिद्धान्त बतलाते हैं "अस्ति तु" इस सूत्र से। इस सूत्र में जो "तु" शब्द है वह पूर्व पक्ष का निराकरण

गौण्यसम्भवात् ।२।३।३।

अत्राशङ्कते। 'तत्तेजोऽसृजत' [छा. ६।२।३।] इति छान्दोग्ये तेजस एव प्रथमोत्पत्तिश्रवणात् तदनुरोधेनाकाशोत्पत्तिश्रुतिर्गौणी। आत्मवत्सर्वगतत्वेन चाकाशस्योत्पत्तेरसम्भवादुक्तोत्पत्तिश्रुतिश्च गौण्येव ।३।

शस्यापि ब्रह्मणः सकाशादुत्पत्तिरिति दर्शयितुं प्रक्रमते "अत्राभिधीयते" इत्यादि। अत्राकाशस्योत्पत्तिविषये सिद्धान्तं दर्शयामीत्यर्थः। "अस्ति तु" अस्मिन् सूत्रे यस्तु शब्दःस सिद्धान्तं दर्शयन् पूर्वपक्षं निराकरोति। यथा तेजः प्रभृतिनामुत्पत्तिः श्रुतौ श्रूयते तथैव "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इति तैत्तिरीयश्रुतावाकाशस्य संभवश्रवणात् भवत्येवाकाशस्यापि समुत्पत्तिः। यत्र श्रुतौ गगनस्योत्पत्तिश्रवणं नास्ति तत्रापि प्रकृतश्रुतेः प्रामाण्यात् आकाशं वायुञ्च सृष्ट्वा तत प्रकृतं ब्रह्म तेजः सर्जनं कृतवानिति क्रमेण श्रुत्यर्थकरणात् सिद्ध्यत्येवाकाशस्यापि समुत्पत्तिरतोनास्ति कश्चिद्विप्रतिपत्तिराकाशोत्पत्तेः ॥२॥

विवरणम्—ननु आकाशस्य या श्रुतिरुत्पत्तिं दर्शयति सा न मुख्याऽपितु गौणी यतस्तर्कावधारितमेवार्थं श्रुतिः प्रतिवादयति। तर्कश्चेहासंभ-

करके सिद्धान्त का द्योतन करता है। तैत्तिरीय श्रुति में "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इस प्रकरण में आकाश की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया है इससे सिद्ध होता है आकाश की भी सर्ग के आदिकाल में उत्पत्ति होती है। दोनों श्रुति में प्रामाण्य बराबर है। इसलिए छान्दोग्य श्रुति में तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार आकाश को उत्पादन करने के बाद परमात्मा ने तेज को बनाया। इतना जोड़ने से सर्व समञ्जस होता है अर्थात् आकाश उत्पत्ति के विषय में कोई शङ्का नहीं रहती है ॥२॥

सारबोधिनी—छान्दोग्य में सर्वप्रथम तेज की ही सृष्टि कही गई है आकाश की उत्पत्ति श्रुति नहीं हैं। इसलिए छान्दोग्य श्रुति के अनुरोध

शब्दाच्च ।२।३।४।

'वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्' [बृ० ४।३।३।] इत्याकाशस्यामृतत्वाभिधायकश्रुतिशब्दाच्च न वियदुत्पत्तिः सम्भवति ॥४॥

वमेवप्रतिपादयति यद्याकाशः समुत्पद्येत तदाकार्यस्य पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषोभवेत् यथाघटादेरुत्पत्तेः पूर्वकाले घटकार्यं न भवति तदुत्पत्तेः परकाले जलाद्याहरणादिकार्यं संभवति प्रकृते किमाकाशोत्पत्तेः पूर्वमवकाशादि कार्यं न बभूव तदुत्पत्तेरनन्तरमवकाशादिकार्यमभूदिति केनापि वक्तुं शक्यते ? ततश्च घटाकाशोजातो घटाकाशो विनष्ट इति सत्यपि प्रयोगे स गौणः। यथा देवदत्तो जात इत्यात्मविषयकोत्पादादि प्रत्ययो गौणस्तथैवाकाशोत्पत्तिप्रतिपादिका श्रुतिर्गौण्येव भवितुमर्हत्य संभवादित्याकारिकाशङ्कामुत्थापयितुमाह "अत्राशङ्कते" इत्यादि । प्रकृतविषये पुनरपि शङ्कते इत्यर्थः । छान्दोग्यश्रुतौतेजः पदार्थस्योत्पत्तिश्रवणं विद्यते नत्वाकाशस्य श्रवणमिति छान्दोग्यश्रुत्यनुरोधेन यत्राप्याकाशस्योत्पत्तिः 'तस्माद्वा एतस्मादित्यत्र श्रूयते सा गौण्येव भवितुमर्हति. कुतः? असंभवात् तर्कप्रतिष्ठितमेवार्थं श्रुतिः प्रतिपादयन्ती

से आकाशोत्पत्ति का समर्थन करनेवाली तैत्तिरीयक तस्माद्वा एतस्मादित्यादि श्रुती गौणी है। क्योंकि आकाशोत्पत्ति असंभव दोषग्रस्त है। जिस तरह आत्मानिरवयव सर्वगत द्रव्य है तो उसकी उत्पत्ति नहीं होती है और देवदत्तोजात इत्यादि प्रत्यय गौण है ऐसी कल्पना की जाती है। उसी तरह आकाश भी निरवयव तथा सर्वगत है तो आकाशोत्पादक श्रुति तथा घटाकाशो जात इत्यादि प्रत्यय भी गौण ही है। इस प्रकार से शङ्का को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "अत्राशङ्कते" इत्यादि। अत्र प्रकृत आकाशोत्पत्ति के विषय में पुनः शङ्का करते हैं "तत्तेजोऽसृजात" उसपर ब्रह्म श्रीसीतापति ने तेज को बनाया। इस छान्दोग्य श्रुति में सर्व प्रथम तेज की ही उत्पत्ति कही गई है तो तादृश छान्दोग्य श्रुति के

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्‌ ।२।३।५।

ननु "एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः" [तै॰ ।२।१।] इत्येकस्यामेव श्रुतौ श्रुतस्य सम्भूतशब्दस्याकाशे गौणत्वं

मुख्या भवति तदभावे गौणी यथा देवदत्तो जात इति प्रत्यय आत्मनि गौणःकुतः ? आत्मनो निरवयवत्वात्सर्वगतत्वाच्च तथैवाकाशे श्रूयमाणापि तदुत्पत्तिर्गौण्येव, आकाशोनोत्पद्यते. सर्वगतत्वान्निरवयवत्वाच्चात्मवदित्यनुमानादाकाशोत्पत्तेर्गौणत्वादत आकाशस्योत्पत्तेरसंभवात्तदुत्पादकश्रुतिर्गौण्येवेति । ततश्चाकाशोनित्योनोत्पद्यत एवेति पूर्वपक्षभजतामभिप्रायः ॥३॥

विवरणम्‌—न केवलं तर्कबलादेवाकाशस्योत्पत्तिं निरोधति किन्तु श्रुतिशब्दोप्याकाशस्योत्पत्तिं प्रत्याचष्टे इत्यावेदयितुमाह "वायुश्चान्तरिक्षमित्यादि" सततप्रवहनशीलो वायुस्तथा वायोरधिकरणमन्तरिक्षं गगनम्‌ एतदुभयमपि अमृतममरणस्वभावकमिति गगनस्यामृतत्वप्रतिपादकश्रुतिवचनेनाप्याकाशस्योत्पत्तिर्निवारिताभवति । यदि कदाअनुरोध से आकाश के उत्पत्ति प्रतिपादक जो श्रुति है "तस्माद्वाएतस्मात्‌" इत्यादि वह गौणी श्रुति है। क्योंकि जिस तरह आत्मा नित्य निरवयव और सर्वगत है। तो आत्मा के उत्पाद को बतलानेवाला "देवदत्तो जातो मृतश्च" इत्यादि प्रत्यय सर्वथा गौण है। आत्मोत्पत्ति असंभव होने से आत्मा का उत्पाद विनाश मानने पर मोक्षाभाव हो जायगा। अतः सर्वगत निरवयव होने से आकाश का उत्पत्त्यादि प्रतिपादक जो श्रुति है "तस्माद्वा एतस्मादि" त्यादि वह असंभव होने से गौणी ही है ॥३॥

सारबोधिनी—केवल तर्क बल से ही आकाश का उत्पत्यभाव सिद्ध होता है ऐसा नहीं किन्तु श्रुति वचन से भी सिद्ध होता है कि आकाश को उत्पत्ति नहीं होती है इस वस्तु का प्रतिपादन करने के लिए उपक्रम करते हैं "वायुश्चेत्यादि" सतत प्रवहनशील वायु तथा

वाय्वादिषु च मुख्यत्वं कथमिति चेत् स्यादेवमपि यथैकस्य ब्रह्मशब्द-स्य "अन्नंब्रह्मेत्यत्र" गौणत्वम् "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानादि" त्यत्र प्राधान्यं तथात्रापि ॥५॥

चिदाकाशस्योत्पत्तिमेव भवेत्तदातस्मिन्नमृतत्वमिति विशेषणं सर्वथैवा-समञ्जसं स्यात् । श्रुतिश्चातीतार्थे प्रमाणम् । ततश्च स्वतः प्रमाणरूपया तयाऽकाशस्यामृतत्वप्रतिपादनादाकाशस्योत्पत्तिर्निराकृता भवतीति पूर्वपक्षिणां पुनः शङ्केति पूर्वपक्षः ॥४॥

विवरणम्– ननु यदि नभोनित्यं निरवयवत्वादिहेतुभिः स्वीक्रि-यते तदा तस्माद्वेत्यादिश्रुतौ श्रूयमाणस्य संभूत पदस्य कथमन्वयः । नच संभूतशब्दो नभसि गौणः मुख्यश्च तेजः प्रभृतिषु इति वाच्यं तथा सति सकृच्छ्रुतस्य तस्यार्थद्वयप्रतिपादकत्वे वाक्यभेदः स्यादिति चेन्न ब्रह्मशब्दवत् तत्संभवात् । यथाऽन्नादौ प्रयुज्यमानो ब्रह्मशब्दो गौण

वायु का आश्रय भूताकाशः ये दोनो अमृत हैं' इसप्रकार से आकाश के अमृतत्व प्रतिपादक वाक्यसे भी आकाश के उत्पत्यभाव समर्थित होता है। यदि कदाचित आकाश की उत्पत्ति अभिमत है ऐसा माने तो आकाश अमृतत्व इस विशेषण की अनुपपत्ति हो जायगी । उत्पाद विनाश शील पदार्थ कभी भी अमृत हो ऐसा नहीं देखा जाता है । इसलिए आकाश की उत्पत्ति नहीं होती है ॥४॥

सारबोधिनी–निरवयवत्व सर्वगतत्वादि हेतु के द्वारा यदि आकाश को नित्य माना जाय तब "आकाशः संभूतः" इस श्रुति में जो संभूत शब्द है उसका अन्वय किस तरह से होगा । नहीं कहो कि आकाश में संभूत शब्द का प्रयोग गौण है और तेज प्रभृति में मुख्य प्रयोग है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि सकृत् श्रुत जो संभूत शब्द है उसका अर्थद्वय करने से वाक्य भेद हो जायगा । इसके उत्तर में कहते हैं कि जिस तरह ब्रह्म शब्द आनन्दात्मक ब्रह्म में मुख्य है और

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकात् २।३।६।

समाधत्ते। "येनाश्रुतं श्रुतम्भवति" [छा० ६।३।] इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया अहानिः। कारणस्य ब्रह्मण आकाशादेः कार्यतयाऽन्वयादेव सम्पद्यते ॥६॥

ब्रह्मणि मुख्यस्तथैवाकाशेऽन्वीयमानः संभूतशब्दो गौणो वाय्वादावन्वीयमानो मुख्य इत्याशयेन सूत्रव्याख्यातुमाह "ननु एतस्मादित्यादि" ननु एतत्पूर्वपक्षसूचकम्। एतस्मादात्मन आकाशः संभूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः [निखिलजगदुपादानकारणात्सर्वज्ञपरमेश्वरात् आकाशः संभूत उत्पन्नोजातः। उत्पन्नादाकाशादीरणस्वभावको वायुरजायत. ततश्च तादृशवायुशरीरकपरमात्मनः सकाशादग्निः सर्वेषां दाहकः प्रकाशकश्चाभवदिति अत्रैकस्यां श्रुतौ श्रूयमाणः संभूतशब्दः कथं गौणार्थकः परत्र च वायुप्रभृतिके समन्वीयमानो मुख्यार्थकः स्यादितिचेत् एकस्य विभिन्नरूपेणान्वयदर्शनात्। यथा अयं ब्रह्मशब्दः तपोब्रह्म अन्नं ब्रह्मेत्यत्र गौणार्थको भवति तथा "आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानादिति अन्यतप आदि में गौण है। उसी तरह प्रकृत में भी होगा। इस अभिप्राय को लेकर सूत्रका व्याख्या करने के लिए उपक्रम करते हैं "ननु एतस्मादात्मनः" इत्यादि सकल जगत का कारणरूप परमात्मा से आकाश उत्पन्न होता है और आकाश शरीरक परमात्मा से वायु उत्पन्न होता हैं। तथा वायु से तेज प्रभृतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इस एक श्रुति में श्रूयमाण जो संभूत शब्द है उस संभूत शब्द का आकाश में गौण प्रयोग है और वायु तेज प्रभृतिक पदार्थों में मुख्य प्रयोग होगा, यह किस प्रकार से घट सकता हैं। ऐसा नहीं कहना क्योंकि जिस तरह एक ब्रह्म शब्द का "अन्नंब्रह्म तपोब्रह्म" अन्न ब्रह्म है तप ब्रह्म है यहाँ ब्रह्म प्राप्ति में साधन तप प्रभृति में ब्रह्म शब्द का प्रयोग गौण हैं और "आनन्दं ब्रह्मेति व्याजनात्" भृगुवारुणिने आनन्द को ब्रह्मरूप से जाना इस वाक्य

प्रकरणे प्राप्य ब्रह्मरूपेऽर्थे प्रधानतां भजते। तथैव सकृत् श्रूयमाणोपि संभूतशब्द आकाशे गौणोऽग्न्यादिषु च मुख्यःस्यात्तत्र का क्षतिः। कल्पकस्योभयत्रसमानत्वादिति ॥५॥

विवरणम्—आकाशः समुत्पद्यते नवेति विचिकित्सायां नैवोत्पद्यते इति वादिमतमपाकर्तुं सिद्धान्तञ्च दर्शयितुमग्रिमसूत्रव्याख्यानाय प्रक्रमते "समाधत्ते" इत्यादि। अयं भाव एकस्मिन्नात्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति वेदान्तप्रतिज्ञा, साच तदैव समर्थिता स्यात् यदि सर्वमाकाशादिकार्यं परस्मात्परमात्मनः समुत्पद्येत कारणविज्ञाने तदभिन्नविषयकज्ञानस्य संभावात्। यदि कदाचित् आकाशो ब्रह्मणः सकाशान्न जायेत तदाविज्ञाने जातेऽपि ब्रह्मभिन्नस्य तमसोविज्ञानं न स्यान्मृत्तिका विज्ञानेऽपि पटविज्ञानस्यादर्शनवत्। ततश्चैकस्मिन् विज्ञाने सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति प्रतिज्ञापीडिताभवेन्न तद्युक्तम्। परमात्मनः सकाशान्नभस उत्पत्तिस्वीकारे तु यथोक्त प्रतिज्ञाया उपरोधो न भवतीति नभस उत्पत्तिरवश्यमेष्टव्येति। एतस्यैव स्पष्टीकरणं येनाश्रुतमित्यादिप्रकरणम्। नवियदश्रुतेरित्यारभ्य या शङ्काक्त-

में ब्रह्म शब्द का प्रयोग मुख्य रूपसे होता है। इसी तरह एक ही संभूत शब्द का आकाश में गौण व्यवहार है और तेज प्रभृति में मुख्य व्यवहार होगा इसमें क्या क्षति है? अर्थात् कोई भी क्षति नहीं है प्रकरण भेद से दोनों हो सकता है ॥५॥

सावोधिनी—परमत से नित्यत्व रूप प्रसिद्ध जो—जो आकाश काल दिशा प्रभृतिक पदार्थ उत्पन्न नहीं होते हैं इस प्रकार की जो शङ्का उसका निराकरण करने के लिए कहते हैं—"समाधत्ते"इत्यादि अर्थात् पूर्वशंकित वस्तु का समाधान करते हैं। किस एक वस्तु का विज्ञान होने से पदार्थ मात्र विज्ञात होते है इस जिज्ञासा में कहा गया कि परमात्मा के विज्ञात हो जाने पर अज्ञात भी पदार्थ श्रुत हो जाता है। अमत भी पदार्थ मत हो

शब्देभ्यश्च ।२।३।७।

"सदेवसोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" [छा० ६। २। १।] इति सृष्टेः प्रागेकत्वमुक्त्वा ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' [छा० ६।८।७।] इत्यादिशब्देभ्यः सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वं प्रदर्शितम् । तथा चोक्तशब्देभ्यश्छान्दोग्येऽपि कारणभूतस्यब्रह्मणस्तदात्मकत्वेन तद्भिन्नकार्यजातस्याव्यतीरेकः सिद्ध्यति ॥७॥

ता तस्याः समाधानं करोति "येनाश्रुतं श्रुतं भवतीत्यादि" कस्मिन् विज्ञाने सर्वमिदं विज्ञातं भवति. इति प्रश्नस्योत्तरे कथितम्. परमात्मानि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति. "येनाश्रुतं श्रुतं भवतीत्यादि प्रकरणेन, इयं प्रतिज्ञा तदैव सङ्गच्छेत यदि सर्वविकारजातं परमात्मनः कार्यं भवेद् यतः कार्यकारणयोरभेदात् कारणविज्ञानेन कार्यस्यापि विज्ञातताभवेत् । अस्याः प्रतिज्ञाया अहानिरनुपरोधो भवति यदि आकाश परब्रह्मणः कार्यं भवेत् । अन्यथा सा प्रतिज्ञा समर्थिता न स्यात् अतः कारणस्य ब्रह्मणः सकाशात् आकाशादेः कार्यतया अन्वयमेष्टव्यमितिदिक् ॥६॥

विवरणम्- न केवलं प्रतिज्ञाया हानिदोषमाकल्प्याकाशस्योत्पत्ति स्वीकृतोऽपितु श्रुतिशब्देभ्योप्याकाशस्योत्पत्ति स्वीकुर्मः । तमेवशब्द राशि दर्शयितुं सूत्रव्याख्यानापदेशेन प्रक्रमते "सदेवेत्यादि । [हे सोम्य ! इदं परिदृश्यमानं सूक्ष्म स्थूलसाधारण चेतनाचेतनं सर्वं जगत्, जाता हैं । अविज्ञात पदार्थ भी विज्ञात हो जाता है । तो यह जो एक परमात्मा ज्ञान से सर्व विज्ञात होता है । एतादृश जो प्रतिज्ञा हैं उसका अहानि-अर्थात् समर्थन तब ही हो सकता हैं । जब कि कारण ब्रह्म के ज्ञान होने से कार्यरूप आकाशादि तथा कार्य आकाश में कार्य-कारण भाव को मान लिया जाय तब कारण ब्रह्म के ज्ञान होनेसे कार्यरूप आकाशादि सकल जगत का ज्ञान होगा अन्यथा नहीं इसलिए नित्य रूप से संभावित

यावद्विकारन्तु विभागो लोकवत् ।२।३।८।

तुश्चार्थे । 'तत्तेजोऽसृजत' [छा० ६।२।३।] इति तेजस उत्पत्तिरादौ छान्दोग्येऽभिहिता । किन्तु 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः' [६।८।७।] 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इति तत्रैव सर्वस्य ब्रह्मविकारत्व-

---

स्वोत्पत्तेरग्रे पूर्वं सत्परमात्मन्येवोतप्रोतमासीदित्यादिस्थले जगत्सृष्टेः पूर्वकाले एकतां प्रतिपाद्य "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं स आत्मा" इत्यादिप्रपाठकपर्यन्तशब्दराशिभ्यः सर्वपदार्थस्य कारणभूतेन परमात्मना व्यतिरेकोऽभेद एव प्रदर्शितो भवति । तथा चोक्तशब्देभ्य ऐतदात्म्यमिदं सर्वमित्यादिशब्देभ्यश्छान्दोग्यश्रुतावपि सर्वजगत्कारणपरमब्रह्मणः सर्वात्मकतया परमात्माभिन्नसकलकार्यजातस्याभेद एव व्यवस्थितो भवति । यद्यपि यत्तेजस उत्पत्तिर्मुखतश्छान्दोग्ये प्रदर्शिता न तथा नामग्राहमाकाशस्योत्पत्तिः परिपठिता तथापि सदेवसोम्येदमित्यारभ्य प्रपाठकसमाप्तिपर्यन्तशब्दानां पूर्वापरालोचना-

भी पदार्थ अवश्यमेव ब्रह्म से उत्पन्न होता है ऐसा मानना उचित ही हैं । ऐसा होने पर ही पूर्वोक्त प्रतिज्ञा का समर्थन होता है ॥६॥

सारबोधिनी—"एकस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" इत्यादिकजो प्रतिज्ञा उसका समर्थन करने से आकाश की उत्पत्ति को मानना आवश्यक है । एतावान् मात्र से ही आकाशोत्पत्ति का समर्थन होता है इतना ही नहीं किन्तु श्रुति शब्द के द्वारा भी आकाशोत्पत्ति को मानना चाहिए । इस आशय से सूत्र के व्याख्यान करने के लिए उपक्रम करते हैं 'सदेवेत्यादि' । हे सोम्य श्वेतकेतु यह परिदृश्य मान स्थावर जङ्गम स्थूल सूक्ष्मात्मक सकल जगत् जगदुत्पत्ति के पूर्वकाल में सत्स्वरूप एक ही था । इस प्रकार से सृष्टि के पूर्वकाल में सबको एकता का प्रतिपादन करके 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि प्रपाठक शब्द द्वारा सभी पदार्थ को ब्रह्मात्मकत्व का प्रतिपादन किया गया है । ऐतदात्म्यम् इत्यादि

कथनेनाकाशस्यापि सर्वान्तर्गततया ब्रह्मणः उत्पत्तिः सिध्यति लोके मृद्विभागवत् ॥८॥

यामाकाशस्याप्युत्पत्तिर्ज्ञायते एव । अत्राकाशस्योत्पत्तिरर्थापत्याऽवगता भवति नतु तत्प्रतिपादकप्रत्यक्षशब्दो वाचको दृश्यते । दृशधातोश्च प्रत्यक्षविषयतायामेवशक्तत्वादिति । किंच यस्य पदार्थस्योत्पत्तिर्नश्रूयते तस्यापि समुत्पत्तिः परिकल्पनीया प्रतिज्ञायाः समर्थनाय. आकाशस्योत्पत्तिस्तु न छान्दोग्ये श्रुता तैत्तिरीये तु श्रूयत एवातोऽवश्यं स्वीकर्त्तव्यं यदाकाशस्योत्पत्तिर्भवत्येवेति । अन्यथाश्रुतिविरोधप्रसङ्गः ॥७॥

विवरणम्– यो यो विकारात्मकः स स स्वकीयकारणादुत्पद्यमानो दृष्टोयथा मृत्तिकाया विकारात्मको घटो मृत्तिकाया जायमानो स्वकारणजन्यः तथैव ब्रह्म विकारात्मक आकाशो ब्रह्मविभागोऽर्थात् ब्रह्म समुत्पद्यमानो भवति । नच नभसि ब्रह्मजन्यत्वमसिद्धम् 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादावाकाशस्य ब्रह्मणा समुत्पादादर्शनादिति वाच्यम् छान्दो-

शब्द के द्वारा छान्दोग्य श्रुति में भी कारणरूप ब्रह्म को तदात्मक होने से ब्रह्मभिन्न सकल कार्य को ब्रह्म के साथ अव्यतिरेक अर्थात् अभेद सिद्ध होता है । तो जिस तरह अन्य पदार्थ ब्रह्म जन्य हैं उसी तरह नित्यत्वेन पराभिमत आकाश कालादिक में भी ब्रह्मजन्यता की सिद्धि होती हैं प्रतिज्ञा समर्थन करने के लिए अश्रुत वस्तु को भी जब मानना आवश्यक है तब अन्यत्र आकाशोत्पत्ति का वारण करना उचित नहीं है ।७॥

सारबोधिनी–जो विकारात्मक पदार्थ हैं वह स्वकीय कारण से अवश्यमेव जायमान होता है । जैसे सुवर्ण का विकार रूप जो घट रुचकादिक है सुवर्णादि प्रकृति से जायमान होता है । इसी तरह आकाश भी विकार रूप है तो वह भी ब्रह्म रूप कारण से अवश्यमेव जायमान होता है । "आकाशः समुत्पद्यते विकारत्वात् तेजोवत्" इस अनुमान से आकाश की

ग्योत्पत्तिश्रुतिवाक्ये मुखत आकाशोत्पत्त्यनभिधानेऽपि 'सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजा इत्यादौ कार्यमात्रस्य ब्रह्मजन्यत्वकथनेनार्थत आकाशोत्पादस्यापि तथा संभवादित्याशयमादाय सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते "तुश्चार्थे" इत्यादि प्रकृतसूत्रमध्ये संनिविष्टस्तुशब्दश्च शब्दस्यार्थे विद्यते। यद्यपि छान्दोग्यश्रुतौ 'तत्तेजोऽसृजत" इत्यत्र प्रथममाकाशस्योत्पत्तिर्न प्रदर्शिता तथापि 'हे सोम्य इमाः परिदृश्यमानाः सर्वाः प्रजाः सर्वाण्यपि वस्तूनि सन्मूलाः सत्परं ब्रह्मैवमूलमादिकारणं यस्यास्तादृश्यः सर्वाः इत्यर्थः। तथा "एतदात्म्यमिदं सर्वम्"इत्य-

उत्पत्ति सिद्ध होती है। यद्यपि "तत्तेजोऽसृजत" इस भूतोत्पत्ति प्रकरण में आकाश का कथन नहीं है तथापि छान्दोग्य में ही 'सन्मूलाः सर्वाः प्रजाः' इस स्थल में सर्व वस्तु का उत्पादन ब्रह्म से होता है। ऐसा कहा है तो सर्व पदार्थ निविष्ट आकाश भी है तो उसकी भी उत्पत्ति होती है। ऐसा सिद्ध होता है इस अभिप्राय को लेकर के सूत्र का व्याख्यान करने के लिए उपक्रम करते है 'तुश्चार्थे' इत्यादि। सूत्र के मध्य में निविष्ट जो तु शब्द है वह च शब्द के अर्थ का द्योतक है। जितना कोई विकार है वह अवश्यमेव उत्पन्न होता है स्व-स्व कारण से लोकवत् जिस तरह लोक में घटादि रूप विकार स्वकारणमृत्तिका तथा सुवर्णादि से जायमान होता है ऐसा देखने में आता है उसी प्रकार से, यद्यपि "तत्तेजोऽसृजत" [उस परमात्मा ने सर्व प्रथम तेज को उत्पन्न किया।] इस प्रकार से छान्दोग्य आदि में तेज का सर्ग को ही बतलाया गया है आकाश की उत्पत्ति का कथन नही किया गया है तथापि छान्दोग्य में ही "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः [हे सोम्य! श्वेतकेतु! यह परिदृश्यमान सब प्रजाएं सन्मूलक हैं अर्थात् सदात्मक परब्रह्म ही मूल कारण है। जिनके एतादृश सब प्रजा हैं तथा सत् परम ब्रह्म ही जिनका आयतन आधार है। एवं सत् ब्रह्म में ही सब प्रजास्थिति काल में स्थित रहते हैं] इस प्रकार से उसी छान्दोग्य में छठा

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ।२।३।९।

वियदुत्पत्तिव्याख्यानेन वायुरप्युत्पत्तिमानिति व्याख्यातः । पृथग्योगस्तूत्तरार्थः ॥९॥

स्मिन् प्रकरणे वस्तुमात्र ब्रह्मविकारत्वं प्रतिपादितम् । आकाशोपि सर्वान्तर्गत इति सोऽपि ब्रह्मविकार इत्यर्थत एव सिद्धो भवति । अर्थादाकाशोऽपि ब्रह्मजन्य एव नतु कदाचिदपि नित्यः । यथा लोके मृत्सुवर्णादिविकारभूतो घटरुचकादिर्मृत्तिकया सुवर्णेन वा जायमानो भवति तथैव प्रकृतेपीति ॥८॥

विवरणम्—"वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्" इत्येवं वायोरमृतत्व श्रवणात् छान्दोग्ये चोत्पत्तिप्रकरणे वायोरुत्पत्तेरश्रवणाच्च वायोरुत्पत्तिर्नभवतीति पूर्वपक्षे वायुरप्युत्पद्यते वियद्वदेव यद्यपि छान्दोग्ये तदुत्पत्तिर्नदर्शिता तथाप्यन्यत्र तदुत्पत्तेर्वियदादिवदेव श्रवणान्नभोवदेव तस्यापि समुत्पत्तिः परमकारणाद् भवेदेव । अमृतत्व श्रवणं तु तेजः प्रपाठक के अन्तिम प्रकरणपर्यन्त कथन किया गया है । इस प्रकार पदार्थ मात्र को ब्रह्म का विकार रूप से कथन किया गया तो आकाश भी सर्व शब्द के अन्तर्गत होने से ब्रह्म रूप कारण से आकाश की उत्पत्ति होती है ऐसा सिद्ध होता है । लोक में मृत्तिका विकार घट की तरह । अर्थात् घटादिक पदार्थ विकार रूप है तो वह मृत्तिका रूप कारण से उत्पन्न होता है । यथावा रूचकादिक विकार सुवर्ण से उत्पन्न होता है । इसी तरह आकाश भी विकार है तो वह आकाश भी परम कारण ब्रह्म से समुत्पन्न होता है अनुत्पन्न नित्य नहीं है ॥८॥

सारबोधिनी—वायु के उत्पत्ति प्रकरण में श्रवण नहीं है । तथा वायु में अमृतत्वादि धर्म का प्रतिपादन किया है । इसलिए वायु की उत्पत्ति नहीं होती है एतादृश शङ्का का निराकरण करने के लिए कहते हैं 'वियदुत्पत्ति' इत्यादि आकाश की उत्पत्ति होती है । इस कथन से वायु भी उत्पत्तिमान है ।

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ।२।३।१०।

तुरवधारणे । सत्पदवाच्यस्य परस्यैवोत्पत्तेरसम्भवः । कुतः ? परम-कारणस्याप्युत्पत्तेरनवस्थादिदोषापत्तेः । 'न चास्य कश्चिज्जनिता [श्वे० ६।९।] इत्यादिनिषेधात्तदुत्पत्तेरनुपपत्तेः ॥१०॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ वियदधिकरणम् ॥१॥

प्रभृतिकमहाभूताधिककालस्थायितया कथञ्चिदुपचरितमेव नतु मुख्य-ममृतत्वं विनाशित्वप्रतिपादकश्रुतियुक्तीनामनालंबनत्वप्रसङ्गादित्याशयेन-सूत्रव्याख्यानाय प्रक्रमते 'वियदुत्पत्ति' इत्यादि । एतेन पूर्वसूत्रेषु वियत आकाशस्य समुत्पत्तिप्रतिपादनेनाकाशाश्रितवायोरपि ब्रह्मणः सकाशादुत्पत्तिर्व्याख्याता प्रतिपादितैव भवति । न च वायोर्जन्यत्वे "वायुश्चान्तरिक्षंच" इत्यादिश्रुतीनां का गतिरिति वाच्यम् पृथिव्यादि-भूतापेक्षया चिरस्थेमानत्वेनामृतत्वस्य वायुनिष्ठस्यौपचारिकत्वादन्यथा विनाशित्वजन्यत्वप्रतिपादकश्रुतियुक्तीनां निरालंबनत्वप्रसङ्गात् । वियद्व-देवपरमकारणादाकाशावच्छिन्नब्रह्मणः सकाशाद्वायोरुत्पत्ति र्भवत्येवेति सिद्धान्तः ।

वह परम कारण आकाश शरीरक ब्रह्म से उत्पन्न होता है । इस प्रकार से वायु की उत्पत्ति प्रकार भी प्रतिपादित हो जाता है । कहो कि यदि वायु की भी उत्पत्ति मानें तब वायु में जो अमृतत्व धर्म का प्रतिपादन किया गया है उसकी क्या गति होगी ? ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि वायु में जो अमृतत्व कथन है वह पृथिव्यादि भूतापेक्षया वायु अधिक काल स्थायी है एतावान् मात्र से औपचारिक है । नतु परमार्थतः वायु अमृत है पारमार्थिक अमृतत्व तो केवल श्री सीतानाथ में ही है । यद्यपि आकाश का उत्पत्ति प्रकार का कथन करने से वायु का उत्पत्ति प्रकार भी कथित हो ही जाता है । तब पृथक योग विभाग अनुचित प्राय है तथापि उत्तर सूत्र में अनुवृत्त्यर्थ योग विभाग किया गया, ऐसी साम्प्रदायिकी मान्यता है ॥९॥

यदि सर्वोऽपि प्रकारो वियद्वदेवात्रापि योज्यते तदा पूर्वेणैव सूत्रेण वायुर्गतार्थको भवतीति तदर्थं पृथक् सूत्रकरणं निरर्थकमिवाभाति तथापि उत्तरसूत्रार्थं योगविभागःकृत इति साम्प्रदायिकाः कथयन्तीति भावः ॥९॥

विवरणम्—असंभवदुत्पत्तिकस्याप्याकाशस्य वायोश्चोत्पत्ति समधिगम्यं भवेत्कस्यचिन्मन्दमतेः शङ्का यत् परमकारणस्य सतोऽपि कुतश्चिदुत्पत्तिरिति भ्रमं निवर्तयितुं सतोनोत्पत्तिरसंभवात् । सतोप्युत्पत्तिमत्वे जनकपरंपरयाऽनवस्थाशून्यवादश्चापतेदित्याशयेन सूत्रं व्याख्यातुकामोप्रक्रमते "तुरवधारणे" इत्यादि । सतः परमपुरुषस्य श्रीरामाख्यस्य ब्रह्मणोरुत्पत्तिर्नसंभवति, कस्मात् अनुपपत्तेः । यदि सतोप्युत्पत्तिः स्यात् तदातज्जनकस्यापि कारणान्तरान्वेषणेऽनवस्था स्यात् । शून्यवादश्चाप्यापतेदित्यनवस्थादिदोषप्रसक्तेः । सूत्रघटकस्तु शब्दस्तु अवधारणार्थक एव । किञ्चानुपपत्त्यैव केवलं सत उत्पत्तिर्न भवतीति न

सारबोधिनी—निरवयव सर्वथा व्यापकत्वादि गुण विशिष्ट आकाश की उत्पत्ति होता है ता कदाचित् सर्व व्यापक निरवयवत्वादिगुण विशिष्ट परमात्मा जो कि सत्पदवाच्य है उनको भी उत्पत्ति होगी ! इस तरह की शङ्का किसो मन्दबुद्धि पुरुष को हो सकती हैं तो तादृश शङ्का के निराकरण सूत्र व्याख्यान द्वारा करने के लिए उपक्रम करते हैं "असंभवस्तुसतोऽनुपपत्तेः" इस सूत्र में जो 'तु' शब्द है वह अवधारणार्थक है । "सदेवसोम्येदमग्रे" इत्यादि स्थल में श्रूयमाण जो सत्पद वाच्य परम कारण परमेश्वर है उनकी भो उत्पत्ति होती है यह असंभवित है । क्योंकि सर्वजगत् का कारण जो परमात्मा उनको भो यदि कदाचित् उत्पत्ति मानें, तब ता परमेश्वर के उत्पादक की भी उत्पत्ति की शङ्का होगी । इस तरह कारण का कारण उसका भो कारणान्तर के संभावना होने से अनवस्थादि दोष की आपत्ति होगी । और शून्यवाद भो हो जायगा । यद्यपि शून्यवाद को चर्चा भाष्यादिक में नहीं किया है तथापि "अनवस्थादि दोषापत्तेः"

अथ तेजोऽधिकरणम् ॥२॥

तेजोऽतस्तथाह्याह २।३।११।

एवमखिलजगतो ब्रह्मकार्यत्वेन केन क्रमेणोत्पत्तिरिति चिन्त्यते। तत्र कार्यस्याव्यवहितपूर्ववर्तिकारणादुत्पत्तिरुत तच्छरीरकब्रह्मण इति

किन्तु तत्र श्रुतिरपि बाधिका 'नचास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' इत्यत्र परमपुरुषस्योत्पादको नास्ति नवा तस्य सत्पदवाच्यपरमपुरुषस्य अधिपो नियामकोवाऽस्ति। इयं श्रुतिर्मुखत एव परमेश्वरस्योत्पत्तिं निवारयति शून्यवादादिसमनुसन्धती। तस्मादाकाशादिवत् सत्पदवाच्य परमेश्वरस्योत्पत्तिर्नभवति सर्वजनिमतां निदानभूतस्येतिदिक् ॥१०॥

इतिजद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्री रघुवरीयवृत्तिविवरणे वियदधिकरणम् ॥१॥

इस वृत्ति ग्रंथ में जो आदि पद है उससे शून्यवाद भी ध्वनित होता है॥ और "विकारश्च रामे दयाब्धिस्तथात्वे

दयाशून्यतां पक्षपातञ्च नैति।

प्रकारे विकारस्तथा चित्रसृष्टौ

च हेतुर्यतः प्राणिनां प्राच्यकर्म' इस ज.गु.श्री श्रुतानन्दाचार्यजी के कथनानुसार उत्पत्ति में निमित्त कारण शुभा-शुभ कर्म होता है एतादश शुभाशुभ कर्म का परमेश्वर में समावेश नहो होने से परमेश्वर की उत्पत्ति की संभावना नहीं होती है। और "नचास्य कश्चिज्जनितानचाधिपः" इत्यादि श्रुति से निषेध होने से भी परमेश्वर की उत्पत्ति असंभवित है। इस लिए सत्पपदवाच्य परमेश्वर की उत्पत्ति नहीं होती है यह परम सिद्धान्त है ॥१०॥

॥ इति वियदधिकरणम् ॥

सारबोधिनी—तेज की उत्पत्ति वायु से होती है। अथवा सर्व शरीरक साक्षात् ब्रह्म से तेज की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार से यहाँ क्रम द्वारक संशय होने के बाद पूर्वपक्ष होता है कि कार्य से अव्यवहित पूर्ववृत्ति जो

संशयः। कार्यपूर्ववृत्तिकारणमात्रवस्तुन एवोत्पत्तिर्नतु व्यवहितरूपाद् ब्रह्मणस्तथा च तेजसो वायोरेवोत्पत्तिः "वायोरग्निः" [तै०२।१।] इति हि श्रुतिराह ॥११॥

विवरणम्—ननु छान्दोग्यश्रुतौ तेजस उत्पत्तिर्वायुसकाशाद् भवतीति कथितं तैत्तिरीयकश्रुतौ तु साक्षात्परमकारणाज्जायते इति कथितम्। तदत्र किं युक्तमिति संशये सूत्रकारः कथयति अतः अस्माद्वायोरेव तेजस उत्पत्तिर्नतु साक्षादेव ब्रह्मणोयतः "वायोरग्निरुत्पद्यते" इतिश्रुत्या प्रतिपादनात्। युक्तमपि तदेव यतः सजातियादेव सजातीयस्योत्पत्तिर्भवति नतु विजातीयाद्विजातीयस्येत्याशयेन सूत्र व्याख्यातुमाह "एवमखिलजगत"इत्यादि। आकाशादिसकलस्य-जगतः कार्यजातस्य ब्रह्मजन्यत्वेन केन क्रमेणात्र तैजसः उत्पत्तिर्भवति किं साक्षादेव ब्रह्मणः सकाशात् किं वा वायोः सकाशादित्यत्र चिन्त्यते। तत्र वै संशयो भवति यत् कार्यनियताव्यवहितपूर्ववर्तिकारणं होता है वही कारण कहलाता है। और जो व्यवहित पूर्ववृत्ति होता है वह तो कुलालपिता के समान प्रायः अन्यथा सिद्ध होता है। अतः तेज का उत्पादक वायु हैं ब्रह्म नहीं। इस बात को समझाने के लिए उपक्रम करते है "एवमखिल जगतः" इत्यादि। यों तो संपूर्ण जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है। परन्तु किस ब्रह्म से उत्पन्न होता है। इस पर विचार करते हैं। उसमें अव्ययहित पूर्ववृत्ति कारण से तेज रूप कार्य की उत्पत्ति होती है। अथवा वायु शमीरक जो ब्रह्म उससे तेज की उत्पत्ति होती है ऐसा क्रम विषयक संशय होता है। एतादृश संशय के वाद पूर्वपक्ष होता है कि कार्य के नियत व्यवहित पूर्ववृत्ति जो होता है वही कारण होता है यथा घटकार्य के प्रति दण्डादि सामग्री और जो व्यवहित होता है वह तो अन्यथा सिद्ध कहलाता है। जैसे घटकार्य के प्रतिकुलाल का पिता। इस तेज रूप कार्य के प्रति तदव्यवहित पूर्ववृत्ति जड़ वायु कारण है किन्तु वायु आकाश

आपः ।२।३।१२।

अतस्तथा ह्याहेति वर्तते । आपोऽपि तेजस एवोत्पद्यन्ते "अग्नेरापः" [तै०२।१।] इति हि श्रुतिराह॥१२॥

भवति तत एव कार्यस्योत्पत्तिर्दृश्यते इति । अव्यवहितपूर्ववृत्ति-वायोः सकाशात्तेजसः समुत्पत्तिरथवा व्यवहित-पूर्ववृत्तिपरमात्मनः सकाशात् तेजस उत्पत्तिर्भवति । अर्थात् वायुशरीरकपरमात्मनः सकाशात्तेजो जायते इति संशयः । किं अत्र युक्तम् ? तत्र यन्नियता व्यवहितपूर्ववृत्तिस्तदेव कारणं भवतीति नियमेन अव्यवहित पूर्व-वृत्तिवायुसकाशादेव तेजस उत्पत्तिर्जायते नतु व्यवहितपूर्ववृत्ति वायुशरीरकपरमात्मनः सकाशात्तेजस उत्पत्तिरित्येवं श्रुतिरपि प्रतिपादयति "वायोरग्निः" इति । प्रथमं पूर्वपक्षसूत्रं तेजसः समुत्पत्ति विषयकम् । अग्निर्वायुना जायते ब्रह्मणा वा । तत्र वायुनेति वायोर-ग्निरिति श्रुत्यनुमोदितः पूर्वपक्षो नतु ब्रह्मजनितस्तस्य सुदूरवर्ति तयाऽकारणत्वादिति ॥११॥

विवरणम्– अत्र "तदपोऽसृजत" इति छान्दोग्यश्रुतिवाक्यस्य द्वारा व्यवहित पूर्ववृत्ति ब्रह्म कुलाल पिता के समान अन्यथा सिद्ध होने से कारण नहीं है । तथा सजातीय कार्य का तत्सजातीय ही कारण होता है । जैसे घट के प्रति कपाल ही कारण होता है । किन्तु विजातीय तंतु कारण नहीं होता है । इसी तरह प्रकृत में तेज का सजातीय वायु ही कारण है । किन्तु तेज का विजातीय चेतन ब्रह्मकारण नहीं है । एवं यदि ब्रह्म जनित तेज को माने तबतो चेतन ब्रह्म से जायमान तेज भी चेतन हो जायगा । क्योंकि सजातीय पदार्थ ही समवायिकारण होता है । विजातीय पदार्थ समवायि कारण नहीं होता है । इसलिए तेज के प्रति ब्रह्म कारण नहीं है श्रुति भी "वायोरग्निः" वायुजन्यत्व तेज का बतलाती है । ब्रह्म जन्यत्व नहीं । इस प्रकार से यह प्रथम पूर्वपक्ष सूत्र होता है ॥११॥

पृथिवी ।२।३।१३।

अत्राप्युक्तपदानुवृत्तिः । अद्भ्यः पृथिवी समुत्पद्यते "अद्भ्यः पृथिवी" [तै०२।१।] इति हि श्रुतिराह ॥१३॥

"अग्नेराप"इतितैत्तिरीयश्रुतिवाक्येन सहविरोधो भवति नवेत्याकारकः संदेहो भवति । तत्र तेजसः सकाशादेवापोजलानि जायन्ते नतु परमात्मनः सकाशाज्जलानां प्रादुर्भावः । यतः'अग्नेरापः' श्रुतिरेवमेव प्रतिपादयति तस्मान्न ब्रह्मयोनिकं जलमपितु पावकयोनिकमित्याशयेन सूत्र व्याख्यानाय प्रक्रमते "अतस्तथेत्यादि"अस्मिन् सूत्रे पूर्वसूत्रात् "अतस्तथाह्याह"इत्यनुवर्तते । आपोजलानि तेजसः सकाशादेवसमुत्पद्यमानानि भवन्ति यतो जलं प्रति तेजसोऽव्यवहितपूर्ववृत्तित्वात् । नतु जलकारणं ब्रह्म. तस्य व्यवहितपूर्ववृत्तित्वादिकं सर्वं पूर्वसूत्रक्रमेणैवोदाहर्तव्यम् । श्रुतिरपि "अग्नेरापः"इत्याकारिका तैत्तिरीया निवेदयति नतु व्यवहितस्य चेतनस्य परमात्मनः कारणतां वक्ति । तस्मान्न ब्रह्मकारणकं जलमपितु तेजः कारणमेवेति सर्वं पूर्वसूत्रवदेवानुसमर्तव्यमितिद्वितीयं पूर्वपक्षः सूत्रम् ॥१२॥

सारबोधिनी—जिस प्रकार तेज की उत्पत्ति वायु से ही होती है। किन्तु वायु शरीरक ब्रह्म से नहीं उसी तरह जल की उत्पत्ति तदव्यवहित पूर्व वृत्ति तेज से ही होती हैं। नतु तेजः शरीरक परमात्मा से इसबात को बतलाने के लिए कहते है "अतस्तथेत्यादि" इस सूत्र में पूर्वपक्ष सूत्र से "अतस्तथाह्याह" इन पदसमूह का अनुवर्तन किया जाता है। तेज से ही जल की उत्पत्ति होती है। क्योंकि "अग्नेरापः" इस प्रकार से तैत्तिरीयक श्रुति कहती है। किन्तु छान्दोग्य के अनुकूल ब्रह्म से जल की उत्पत्ति नहीं होती है। क्योंकि जल के प्रति तेज व्यवहित पूर्ववृत्ति है। ब्रह्म तो तेज शरीरक होकर के व्यवहित पूर्ववृत्ति है । अतः ब्रह्म मूलक जल नहीं है । किन्तु तेजो मूलक ही है। इत्यादि पूर्वसूत्र के समान समझना चाहिए। यह पूर्व पक्ष विषयक

तदधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः।२।३।१४।

पूर्वसूत्रमनुवर्तते। ननु च्छान्दोग्ये "ता अन्नमसृजन्त" [छा० ६।२।३] इत्यन्नशब्देन पृथिवी कुतो गृह्यत इत्यत आह–तदधिकारेति। भूत-

---

विवरणम्– अत्रापि "अतस्तथाह्याह" इत्यादिपदसमुदायस्यानुवर्तनं कर्तव्यम्। "अद्भ्योजलेभ्य एव पृथिव्या अन्नात्मिकाया उत्पत्तिर्जायते यतः तैत्तिरीयश्रुतौ तथैव प्रतिपादनात् पृथिवीं प्रतिजलस्याव्यवहितनियतपूर्ववृत्तित्वेन कारणत्वात्। जलशरीरक ब्रह्मणो व्यवहितपूर्ववृत्तित्वेनाकारणत्वात् इत्यादिकं सर्वं पूर्वपूर्वसूत्रवदिहापि ज्ञातव्यमिति पूर्वपक्षे तृतीयं सूत्रं भवतीति जलकारणकत्वमेव पृथिव्या इति॥ १३॥

द्वितीय सूत्र होता है ॥१२॥

सारबोधिनी–जिस तरह जलकी उत्पत्ति तेज से होती है ब्रह्म से नहीं। उसी तरह पृथिवी की उत्पत्ति तदव्यवहित पूर्ववृत्ति जल से हीं होती है। इस बात को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "अत्राप्युक्तेत्यादि" इस सूत्र में भी पूर्व सूत्र से "अतस्तथाह्याह" एतादश पद समुदाय का अनुवर्तन करना चाहिए। जल से पृथिवी उत्पन्न होती है। क्योंकि पृथिवी के प्रति जल अव्यवहित पूर्व वृत्ति है। श्रुति भीं ऐसा कहती है "अद्भ्यः पृथिवी' जल से पृथिवी उत्पन्न होती है। तो तैत्तिरीयक श्रुति के अनुरोध से पृथिवी का कारण जल को मानते हैं अव्यवहित पूर्ववृत्ति होने से नतु जल शरीरक ब्रह्म कारण है। क्योंकि वह व्यवहित पूर्ववृत्ति है। तथा चेतन में अचेतन की उत्पत्ति कदाचित् मानें तो कार्य में भो चेतनत्वापत्ति होगी। इत्यादि सब पूर्व पूर्व सूत्रों के अनुसार हो जानना चाहिए। इस प्रकार पूर्व पक्ष का यह तृतोय सूत्र हुआ ॥१३॥

सारबोधिनो–छान्दोग्य श्रुति में जल से अन्न की उत्पत्ति होती है। ऐसा कहा है। तब यहाँ आप किस तरह से कहते हो कि जल से पृथिवी की

सृष्टेरधिकारात् "यत्कृष्णं तदन्नस्य"[छा०।।६।] इतिरूपकथनात्। 'अद्भ्यः पृथिवी' [तै०२।१।] इतिशब्दान्तराच्च, तदन्नं पृथिव्येव। एवमनया चतुःसूत्र्या पूर्वपक्षः समर्थितः ।।१४।।

विवरणम्—अत्र पृथिवीतिपदेन पृथिव्याग्रहणं कथम्?यतोऽन्यत्र "ता अन्नमसृजन्त" इत्यत्रान्नस्य कथनादिति जिज्ञासायामाह "तदधिकारेति सूत्रम्। तद्व्याख्यातुं प्रक्रमते "पूर्वसूत्रमित्यादि"अस्मिन् सूत्रे पृथिवीति पूर्वसूत्रस्यानुवर्तनं कर्तव्यम्। ननु छान्दोग्यश्रुतौ 'ता अन्नमसृजन्तः' ता आपोऽन्नस्योत्पादनं कृतवत्य इत्यर्थः। तत्रान्नशब्देन तु व्रीहियवादयस्यैव व्यवहारो भवति तत्परित्यज्य कस्मात्पृथिव्याः ग्रहणमित्याशङ्कायामाह सूत्रकारः 'तदधिकारेत्यादि'। इह महाभूतसृष्टेरेवाधिकारात् प्रकरणादन्नशब्देन पृथिव्या एव ग्रहणं भवत्यन्यस्य ग्रहणं न। तथा रूपेण कृष्णादिनापि पृथिव्या एव ग्रहणं 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति छान्दोग्ये महाभूतपृथिव्या एव रूपस्य प्रतिपादनात्। एवम् 'अद्भ्यः उत्पत्ति होती है। एतादृश जिज्ञासा के समाधान करने के लिए उपक्रम करते हैं "पूर्वसूत्रमनुवर्तते" इत्यादि प्रकृत सुत्र में पूर्वसूत्र जो पृथिवी है उस संपूर्ण सुत्र का यहाँ अनुवर्तन किया जाता है। प्रश्न छान्दोग्य श्रुति में "ता अन्नमसृजन्त" उन जलों ने अन्न को बनाया। तो यहाँ अन्न शब्द का अर्थ होता हैं व्रीहियवादिक तब तो जल से अन्न की सृष्टि कहीं गयी तो आप अन्न शब्द से पृथिवी का ग्रहण कैसे करते है ? इस शङ्का के उत्तर में सूत्राकार कहते हैं "तदधिकारेत्यादि" यहाँ अन्न शब्द का अर्थ है महाभूत पृथिवी न तु अन्न। क्योंकि यह भूतोत्पत्तिका अधिकार प्रकरण है। इसलिए अन्न शब्द से पृथिवी का ग्रहण किया जाता है। एवम् "यत्कृष्णतदन्नस्य" जो यह कृष्ण रूप देखने में आता है वह अन्न का अर्थात पृथिवी का रूप है। इस रूप श्रवण से भी पृथिवी का ग्रहण होता है अन्न का रूप कृष्ण ही होता हैं ऐसा नियम नहीं है। गोधूम चण-

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः।२।३।१५।

अत्राभिधीयते सिद्धान्तः। तु शब्दः पक्षव्यावर्तने परमात्मैव समस्तकार्याणामुत्पादकः। यतः-'तदैक्षत बहुस्यामप्रजायेय' [छा०६।२।२।]

पृथिवी' जलसकाशात् पृथिवी जायते. इत्यर्थकशब्दान्तरेणापि प्रतिपादनादन्नशब्देन महाभूतपृथिव्या एव ग्रहणं भवति नतु पृथिवी विकारान्नग्रहणम्। ततश्चैतादृशीपृथिवी जलादेव श्रुत्या तथैव प्रतिपादनात्। नतु जलशरीरकब्रह्मणः सकाशात्पृथिव्याः समुत्पत्तिर्ब्रह्मणस्तां प्रतिव्यवहितकारणत्वादितिक्रमेण चतुर्भिः सूत्रैः पूर्वपक्षिणां पूर्वपक्ष इति ॥१४॥

विवरणम्—तत्तेजः शरीरकेण परमात्मना जलादिभूतानां समुत्पत्ति भवति अथवा स्वतन्त्रेणाचेतनेन तेजसा जलादीनां प्रादुर्भाव इति संशये केवलमचेतनेनाबादीनामुत्पत्तिर्भवतीति सूत्रचतुष्टयेन स्थापित

कादिक में कृष्णेतर का रूप प्रत्यक्ष होता है। एवम् "अद्भ्य पृथिवी" इस तैत्तिरीयक श्रुति से भी सिद्ध होता है कि अन्न शब्द का अर्थ पृथिवी ही है। एतादृश जो पृथिवी उसकी उत्पत्ति तदव्यवहित पूर्ववृत्ति जल से ही होती है। नतु जल शरीरक ब्रह्म से पृथिवी की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार तेजः यहाँ से लेकर तदधिकार इत्यादि सूत्रपर्यन्त चार सूत्रों से वाय्वादि शरीरक ब्रह्म से तेज प्रभृतिक पृथिव्यन्त पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती है। किन्तु तदव्यवहित पूर्ववृत्ति भूतों से तदुत्तरवर्त्ती भूतों की उत्पत्ति होती है इसप्रकार पूर्वपक्ष समर्थित होता है॥ १४॥

सारबोधिनी—स्वतंत्र तेजः प्रभृति से जलादि की सृष्टि होती है। किन्तु परमात्मा से जलादि की सृष्टि नहीं क्योंकि तेज की उत्पत्ति में वायु प्रभृतिक की अव्यवहित पूर्वक्षण वृत्ति है। और परमात्मा को तो व्यवहित पूर्वकाल में वृत्ति है इस प्रकार "तेजोऽतस्तथाह्याह" इससूत्र से लेकर "तदधिकारो" रूपेत्यादि सूत्र चतुष्टय से जो पूर्वपक्ष हुआ था उसका समाधान करने के लिए

'तत्तेज ऐक्षत' ता आप ऐक्षन्त" इत्यादिश्रुतिषु कारणभूतस्य सच्छब्दाभिहितस्य परमात्मनो बहुभवनसङ्कल्परूपाल्लिङ्गात्स एव महदादेस्तत्वानां तेजःप्रभृतीनाञ्चोत्पादकः । 'तत्तेज ऐक्षत' इति नहि

पूर्वपक्षस्य खण्डनाय प्रक्रमते 'अत्राभिधीयते सिद्धान्तः' इत्यादि। एतत्सूत्रघटकस्तुशब्दः केवलभूताद्भूतान्तरोत्पत्तिर्भवतीति पूर्वपक्षस्य निराकरणपरकः । न केवलं जड़तेजः प्रभृतिना जलादीनां सृष्टिर्जायते किन्तु सर्वज्ञब्रह्मैव सर्वकार्याणामुत्पादको भवति । यतः 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' [तत् पूर्वप्रकृतं सत् परब्रह्म ऐक्षत संङ्कल्पं कृतवान्. यदहमेकोपि. अनेक रूपेणोत्पन्नो भवेयम्] इत्येवं क्रमेण सङ्कल्पं कृत्वा. तदनन्तरं तदेव सत्पदवाच्यं परंब्रह्मतेजस उत्पत्तिं कृतवान् । तदनन्तरं तत्तेजः अर्थात् तेजः शरीरकं सद्ब्रह्म पुनरपि सङ्कल्पं कृत्वा जलमसृजत । अनन्तरम् 'ता आपः ऐक्षन्त' [अर्थात् जलावच्छिन्नं सद्ब्रह्मैव सङ्कल्पं कृत्वा पृथिव्यादि भूतानामुत्पत्तिमकरोत्] इत्यादि

सूत्र व्याख्यान पूर्वक उपक्रम करते है "अत्राभिधीयते" इत्यादि पूर्व प्रदर्शित पूर्व पक्ष का निराकरण करने के लिए सिद्धान्त पक्ष का प्रतिपादन अब किया जाता हैं। तदभिध्यानादित्यादि सूत्रम् तदभिध्यान तत् अर्थात् सत्पद वाच्य सर्वशक्तिमान परमात्मा का जो अभिध्यान अर्थात् सत्य सङ्कल्प तद्रूप जो लिङ्ग ज्ञापक तदात्मक हेतु से सिद्ध होता हैं कि वह परमात्मा ही आकाशादि समस्त भूत तथा समस्त भौतिक पदार्थ का सर्जक है । सूत्र घटक जो तु शब्द है वह पूर्व पक्ष का निराकरण परक है । परमात्मा श्री सीतानाथ ही समस्त भूत भौतिक कार्य वर्ग का उत्पादक है । श्रुति भी कहती है वे हीं सब कार्य का उत्पादक हैं। इस विषय में श्रुति को बतलाते है । "यतः तदैक्षत इत्यादि तत् "सदेव सोम्य" इत्यादि वाक्य प्रतिपादित जो सत् पर ब्रह्म है उसने ईक्षण संकल्प किया "एक भी मैं अनेक रूप से उत्पन्न होजाऊ" तेजने ईक्षण संकल्प किया है । उन जलों ने ईक्षण संकल्प

जडभूतानां तेज आदीनामभिध्यानं संम्भवति । तेजश्शरीरकस्य चेतनस्य ब्रह्मणस्तु सम्भवतीति स एवोत्पादकः॥१५॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ तेजोऽधिकरणम् ॥२॥

श्रुतिषु परमकारणरूपस्य सच्छब्दवाच्यस्य पूर्वप्रकृतस्य सर्वशक्तिमतः सर्वज्ञस्य परमात्मन एव बहुभवनसंङ्कल्पस्य लिङ्गात् स एव सर्वशक्तिमान् जलादिशरीरावच्छिन्नः सन् महत्तत्वाहङ्कारादीनां तथातेजःप्रभृतिकभूतानां भौतिकानां जन्यमात्राणामुत्पादको जनयिता भवति। नतु स्वभावजडानां वस्तूनामुत्पादकत्वं भवति। 'तत्तेज ऐक्षत' इत्यत्र तेजसोऽभिध्यानं कथं स्यात्. नहि स्वभावतो जडानां पदार्थानां स्वातन्त्र्येणाभिध्यानं कुत्रचिद्दृष्टमुपपद्यते वा। तेज प्रभृतिकशरीरसहितस्य परमात्मनस्तु तादृशमभिध्यानं संभवति चेतनत्वात्सर्वशरीरकत्वाच्च। सर्वे तेजः प्रभृतिकाः पदार्थाःपरमात्मनःशरीरमिति श्रुतयः संगिरन्ते 'यःपृथिव्यां तिष्ठत्' इत्यारभ्य ''य आकाशे तिष्ठन् यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो य मयति'' इत्येवमादि सर्वान्त-
किये। इत्यादि छान्दोग्य श्रुति में परम कारण रूप सदेव सोम्येत्यादि वाक्य घटक सत् शब्द वाच्य जो परमात्मा तादृश परमात्मा का बहुभवन रूप लिङ्ग हेतु से वही परमात्मा महदहङ्कारादिक तत्त्वों का तथा तेज प्रभृतिक जो भूत भौतिक कार्य है ऊन सबका उत्पादक सर्जक है ऐसा अवगत होता हैं। केवल "तत्तेजोऐक्षत" इस श्रुति का आपात रूप से अर्थ पर ध्यान देकर के यदि कल्पना करें कि तेज जल का उत्पादक है यह ठीक नहीं होगा। क्योंकि स्वाभावतः जड़ात्मक जो तेज प्रभृतिक पदार्थ हैं उनमें चेतन कर्तव्य अभिध्यान संकल्प तो कभी हो नहीं सकता है। तस्मात् "यः पृथिव्यां निष्ठत्" यहाँ से लेकर 'य आकाशे तिष्ठन् यस्याकाशः शरीरम्' इत्यदि प्रकरणान्त श्रुतियों से सिद्ध होता है कि आकाशादि शरीरक जो परमात्मा वही आकाशादि शरीरक होकर के समस्त

अथ विपर्ययाधिकरणम् ।।३।।

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ।२।३।१६।

भौतिकप्रलयमधिकृत्य चिन्त्यते–किमयं भौतिकप्रलयो भूतोत्पत्तिक्रमेण भवत्युत तद्विपर्ययेणेति संशये भौतिकोत्पत्तिक्रमेणेति

यामिश्रुतिप्रसिद्धाकाशादिसर्वशरीरस्य सर्वशक्तिमतः सत्यसङ्कल्पस्य सर्वज्ञस्यभगवत आकाशादिपृथिव्यन्तसर्वपदार्थोत्पादकत्वमिति । ततश्चैतादृशपरमात्मैवाकाशादिशरीरः सङ्कल्पपूर्वकमाकाशादिकान् सर्वानेव पदार्थान् सृजति । नतु जडानां स्वातन्त्र्येणोत्पादकत्वमिति ।।१५।।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे तेजोधिकरणम् ।।२।।

विवरणम्–भूतानामुत्पत्तिक्रमः प्रतिपादितः । ततः परं तद्विरोधिनः प्रलयस्य स्मृतस्य क्रमः केनरूपेण भवतीत्यत्र विचार्य्यते, तत्र यथान्यायमते परमाणुद्वयसंयोगाद्द्व्यणुकादिक्रमेण महाऽवयविपर्यन्तमुत्पत्तिर्भवति । पुनः परमाणुसंयोगविनाशात् द्व्यणुकादिविनाशक्र-

कार्य वर्ग का उत्पादक है। पर जड़ आकाशादिक में संकल्प होकर उस के द्वारा कार्य वर्ग का सर्ग नही होता हैं। अपितु जड़ चेतन शरीरक ब्रह्म से कार्य वर्गों की समुत्पत्ति होती है ऐसासिद्धान्त है ॥ १५ ॥

इति तेजोधिकरणम् ।

सारबोधिनी–आकाशादि पदार्थों का उत्पत्तिक्रम को बतला करके तदनन्तर उत्पत्ति का विरोधी जो प्रलय उसका क्रम बतलाने के लिए उपक्रम करते "भौतिक प्रलयम्' इत्यादि । भौतिकों का प्रलयक्रम को अधिकृत करके विचार को प्रस्तुत करते है। क्या यह भौतिक पदार्थ का प्रलय विनाश भूतो कि उत्पत्ति क्रम से होता है। अथवा उत्पत्ति क्रम के विपर्यय अर्थात् विपरीत क्रम से होता है । एतादृश संशय होता है, संशय के बाद पूर्वपक्ष होता है कि उत्पत्ति का जो क्रम है उसी क्रम से ही प्रलय भी

पूर्वःपक्षः । सिद्धान्तस्तु–अत उत्पत्तिक्रमात्प्रलयक्रमोविपर्ययेणावगन्तव्यः । उपपद्यते च तथा प्रलयक्रमः 'पृथिव्यप्सु लीयते आपस्तेजसि' [सुबा० २ ख] इत्यादि श्रुतेः ॥१६॥

इतिश्रीरघुवरीयवृत्तौ विपर्ययाधिकरणम् ॥३॥

-मेण महावयवविपर्यन्तकार्यस्यविनाशो जायते । तद्वदिहापि प्रलयक्रमः । अथवा तद्विपरीतक्रमेणेति जिज्ञासायां तद्विपरीतक्रमेणेति दर्शयितुं सूत्रव्याख्यानमुखेनोपपादयितुं प्रक्रमते 'भौतिकप्रलय' इत्यादि । उत्पत्तिक्रमं निरूप्य तदनन्तरं भौतिकपदार्थानां प्रलयक्रममाश्रित्य विचार्यते। योयं भौतिकपदार्थानां प्रलयोविनाशः स किं भौतिकपदार्थानां येन क्रमेणोत्पत्तिर्जायते तेनैव क्रमेण न्यायमतवद्भवति । अथवा तद्विपरीतक्रमेण भवतीति संशयः । तत्रोत्पत्तिक्रमेणैव भवतीति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तवादी प्रतिपादयति न ह्युत्पत्तिक्रमेण प्रलयोऽपितु अतोऽस्मादुत्पत्तिक्रमाद्विपरीतक्रमेणविपर्ययो भवति । अर्थात्तद्विपरीत क्रमेणैव प्रलयो जायते तथा स्वीकारे एव सक्रमः संभवति, दृश्यते येन यथा गृहं प्रविष्टो नतेन क्रमेण गृहान्निःसरति । तथा श्रुतिरपि

होना चाहिए । क्योंकि प्रलय के लिए कोई निश्चित क्रम तो है नहीं, अतः न्यायमतवत् प्रकृत में भी वही क्रम होना चाहिए । इसके उत्तर में सिद्धान्त बतलाते हैं अतः अर्थात् उत्पत्ति का जो क्रमकहा है उस क्रम से विपर्यय विपरीत प्रलय के क्रम को जानना चाहिए । एतादृश विपरीत मानने से लोकवेद उपपन्न होता है क्योंकि लोक में भी आता है कि गृहादि के प्रवेश के अनुकूल निष्क्रमण नहीं होता है । किन्तु प्रवेश करने के लिए जो प्रथम स्थान होता है । वह निष्क्रमण के समय में अन्तिम स्थान कहलाता है । तो जब उत्पत्ति आकाशादिक क्रम से पृथिव्यन्त तक का होता है तब प्रलय पृथिवी से लेकर आकाशान्त का होता है । अर्थात् उत्पत्ति के समय में जो प्रथम उत्पन्न हुआ, वह विनाश

अथान्तराविज्ञानाधिकरणम् ॥४॥

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ।२।३।१७।

भौतिकावुत्पत्तिप्रलयक्रमो विचिन्त्येदानीं करणक्रमो विचार्यते। 'एतस्माज्जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च' [मु० २।१।३।]

'पृथिव्यप्सु प्रलीयते' इत्यादिविपरीतक्रममेव दर्शयति। 'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते। तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजोवायौ प्रलीयते' इत्यादिस्मृतावपि विपरीतक्रमस्यैव प्रतिपादनादिहापि सक्रमस्तथैवानु सन्धेयः ॥१६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे विपर्ययाधिकरणम् ॥३॥

विवरणम्—भूतानामाकाशादीनामुत्पत्तिक्रमं प्रलयक्रमञ्च विविच्यानन्तरमिन्द्रियाणामप्युत्पत्तिप्रलयक्रमं विवेचयितुमुपक्रमते 'भौतिकावुत्पत्तीत्यादि। भूतानामाकाशप्रमुखानामुत्पत्तिक्रमः प्रलयक्रमश्च गतप्रक-

प्रलय के समय में सबसे अन्त कहलायगा। "पृथिवी जल में प्रलीयमान होती है जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में" इस प्रकार से सुबाल श्रुति के द्वितीय खण्ड में कहा है। अन्यत्र भी कहा है, 'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सुप्रलीयते। ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते तच्च वायौ प्रलीयते" जायमान पदार्थका आधार पृथिवी जल में प्रलीयमान होती है। जल तेज में, तेज वायु में और वायुआकाश में प्रलीयमान होता है। ऐसा कहा गया है। इसलिये उत्पत्ति का जो क्रम है उससे विपरीत क्रम से पदार्थों का प्रलय सिद्ध होता है। ॥ १६ ॥

सारबोधिनी—आकाशादिप्रमुखभूत संबन्धी उत्पत्ति तथा प्रलय क्रम का विचार करके उसके बाद करण जो इन्द्रियादिक हैं तत्संबन्धी उत्पत्ति प्रलय

इत्ययं क्रमः 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' [तै०।२।१।] इति भौतिकोत्पत्तिक्रमाद्विरुध्ययेत नवेति संशये विरुध्यत इति पूर्वपक्षः। कुतः ? एतस्माज्जायते प्राणः [मु० २।१।३।] इति वाक्यलिङ्गादात्मनः प्राणेन्द्रियमनसामुत्पत्तिस्तेभ्यो भूतानोति क्रमेणोत्पत्तिरतस्साक्षादात्मन

रणेन विचारितः। तदनन्तरं करणानामपि क्रमोविचारितो भवतीति तत्र मुण्डकश्रुतौ 'एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च' आत्मनः सकाशात्प्रथमकरणानामुत्पत्तिः श्राविता तैत्तिरीयके 'आत्मन आकाशः संभूतः' अत्र च प्रथमत आकाशादि भूतानामुत्पत्तिक्रमः प्रदर्शितस्तदनयोः क्रमयो विरोधोऽस्ति नवेति संशये. अस्त्येव विरोधो यतः 'एतस्माज्जायते' इत्यादि वाक्यमेवलिङ्गं भवति। अत्रात्मनः सकाशात् प्रथमं करणानामुत्पत्ति प्रदर्श्य ततः करणैर्भूतानामुत्पत्तिरिति 'आत्मन आकाशोजात' इति क्रमस्यास्त्येव विरोध इति पूर्वपक्षः एतस्योत्तरं ददाति नास्ति विरोधः कुतः ? अविशेषात् यतः 'यस्य पृथिवी शरीरम्, आपः

क्रम के विचार को प्रस्तुत करते हैं "एतस्मादित्यादि" परमकारण परमात्मा से प्राणमन सर्व इन्द्रिय तथा आकाशादिक भूतों के उत्पत्ति का जो क्रम है "आकाश परमात्मा से साक्षादेव समुत्पन्न होता है" यद जो भूत संबंधी उत्पत्ति का क्रम है वह उत्पत्ति क्रम से प्रलय विरुद्ध होता है अथवा नहीं "अर्थात् मुण्डक में परमात्मा से प्रथमतः करणों की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया है। और करण से भूतोत्पत्ति का कथन है। उसका "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः" साक्षात्परमात्मा से भूतोत्पत्ति का प्रतिपादक वाक्य से विरोध होता है या नहीं। एतादृश संशयोत्तर काल में पूर्वपक्ष होता है कि विरोध होता है। क्योंकि "एतस्माज्जायते प्राणः" इत्यादि मुण्डक श्रुति का जो वाक्य तद्रूप लिङ्ग से यह सिद्ध होता है कि आत्मा से साक्षात् तो प्राणेन्द्रिय मन की उत्पत्ति होती है और करणों से आकाशादिक की उत्पत्ति होती है अतः तैत्तिरीयक में जो साक्षादात्मा से भूतोत्पत्ति का

आकाशाद्युत्पत्तिक्रमाद्विरुध्यत एवेति प्राप्ते सिद्धान्तः। नैव विरुध्यते—अविशेषात्-'यस्य पृथिवीशरीरम्' 'यस्यापः शरीरम्' इत्यादिश्रुतिभ्यो भूतेन्द्रियाणां परमात्मशरीरत्वावगमात्। 'शरीरवाचकानां शब्दानां शरीरिणी पर्यवसानात्तत्तच्छरीरकब्रह्मण एवोत्पत्तेरविशेषात् ॥१७॥

शरीरम्' यस्य परमात्मनः पृथिव्यादिकं शरीररूपमिति अस्तिचैको नियमः ये शरीरवाचकाः शब्दास्ते शरीरिणमपि बोधयन्ति. अवयवानामवयविबोधकत्वमिति। आकाशादिभूतशरीरकब्रह्मणः सकाशादेव करणानां साक्षादेवात्मनः सकाशात्सर्वेषां जन्यानामुत्पत्तिरिति नास्ति कुत्रचित् कोऽपि विरोधः इति तदाहुराचार्याः 'ब्रह्मणोऽन्यस्मादुत्पत्तिस्वीकारे तस्य ब्रह्मानन्यत्वानुपपत्त्या कारणात्कार्यस्य व्यतिरेकत्वनिष्पत्तेः कारणैकज्ञानेन सर्वकार्यविज्ञानप्रतिज्ञाया हानिः स्यात् तस्मादुक्त एवार्थोऽवगन्तव्यः" इति ॥१७॥

क्रम कथन हैं तो इस क्रम से तो स्पष्ट विरोध है ही। एतादृश पूर्वपक्ष के बाद सिद्धान्त किया जाता है कि इन दोनों में कोई भी विरोध नहीं है। क्योंकि अविशेषात् अर्थात् "यस्य पृथिवी शरीरम्" इत्यादि श्रुतियों से यह सिद्ध होता है कि आकाशादिक भूत तथा करणग्राम परमात्मा का शरीर विशेष है। और एक नियम है कि शरीरवाचक जो शब्द है उसका पर्यवसान शरीरीमें होता है। अर्थात् विशेष वाचक शब्द विशेष्य का बोधक होता है। इस नियम से जलादि तत्तत् शरीरावच्छिन्न जो ब्रह्म है उसी परमात्मा से कार्य मात्र की उत्पत्ति होती है। अतः यहाँ कोई श्रुति साक्षात् आत्मा से उत्पत्ति प्रलय क्रम का वाचक है और कोई परंपरया क्रम वाचक है। इस प्रकार से जो विरोध का उद्भावन किया था, वह युक्त नहीं है। पदार्थमात्र तत् शरीरक ब्रह्म से ही उत्पन्न होते हैं। विशिष्ट में जो कारणता है वह विशेष्य में भी रहती है। ॥ १७ ॥

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्त-द्भावभावित्वात् ।२।३।१८।

ननु प्रत्यर्थं शब्दप्रवृत्तेः ब्रह्मणि कथं मुख्यत्वमित्याह—चराचरेति तुश्चोद्यं व्यावर्तयति । स्थावरजङ्गमवस्तुव्यपदेशकः शब्दो ब्रह्मणि अभाक्तो मुख्य एव स्यात् । सर्वस्यापि स्थावरजङ्गमात्मकवस्तुनो ब्रह्मभावभावित्वेन ब्रह्मशरीरतया प्रकारत्वात् । प्रकारवाचकानाञ्च शब्दानां प्रकारिणि पर्यवसानात् । तथा च सर्वे शब्दाः प्राधान्येनैव

विवरणम्—सर्वोऽपि शब्दः स्वकीयमेवार्थबोधने शक्तस्तदा पृथिव्यादीनां शब्दानां ब्रह्मणि कथं मुख्ययावाचकत्वमिति शङ्कायां सूत्रमवतारयितु प्रक्रमते "ननु प्रत्यर्थं शब्दप्रवृत्तेरित्यादि । विभिन्नार्थ बोधने समर्थो भवति शब्दो यथा घटपदं मुख्यवृत्त्या कम्बुग्रीवार्थमेव बोधयति नतु पटाद्यर्थम् । एवं च जलादिभूतबोधकपदानां कथं ब्रह्मणि मुख्यत्वम् । नह्यन्यत्र प्रयुज्यमानोऽन्यार्थवाचकः शब्दः मुख्यां वृत्तिं भजतेऽपितु गौणतामेव धारयति । इत्याशङ्कायामाह सूत्रकारः "चराचरेत्यादि" सूत्रघटकस्तु इत्यारकः शब्दः पूर्वपक्षस्य व्यावृत्तिं दर्शयति । योयं चराचरस्य वाचकः शब्दः स सर्वोऽपि शब्दो

सारबोधनी—प्रत्येक अर्थ का वाचकजो शब्द है उसका स्वस्ववाच्य अर्थबोधानुकूल शक्ति तो अलग अलग होती है । जैसे घट शब्द की शक्ति पृथक् पट शब्द की शक्ति पृथक् होती है । तो जिस तरह घटपदवाच्यत्व पट में नहीं है । तथा पटपदवाच्यता घट में नहीं है । उसी तरह चराचरान्तर्गत जलादिवाचक जो शब्द हैं वे मुख्य वृत्ति से ब्रह्मका बोधक किस तरह से हो सकते हैं ! तादृश शङ्का के निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं 'चराचरेत्यादि' सूत्र घटक तु शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणपरक है स्थावर जङ्गमात्मक जगदन्तर्गत पदार्थ का वाचक जितना कोई आकाशादि महावयवो घटान्त शब्द हैं उनका प्रयोग ब्रह्म में अभा-

ब्रह्म बोधयन्ति। अनधीतवेदान्तास्त्वेकदेशेऽपि शब्दं प्रयुञ्जानाः पूर्णां व्युत्पत्तिं मन्यते। तत्वेवमस्ति। नहि प्रकारमात्रेऽर्थविश्रान्ते-स्तच्छब्दशक्तेः पूर्णता भवति। तथा च चराचरवस्तुमात्रबोधने भाक्त एव प्रयोगः। तदुक्तं श्रीमदानन्दभाष्यकारैः प्रकृतसूत्रे 'तथाचैक-स्यैव शब्दस्य मुख्यवृत्त्या ब्रह्माभिधायकत्वं गौण्या च वृत्त्या चराचरबोध-कत्वमिति ॥१८॥

इतिश्रीरघुवरीयवृत्तावन्तराविज्ञानाधिकरणम् ॥४॥

ब्रह्मणि प्रयुज्यमानस्तत्राभाक्तो मुख्य एव। यतः सर्वोऽपि पदार्थः ब्रह्म-भावभावितया ब्रह्मशरीरत्वात् प्रकाररूपः। ये च प्रकाररूपास्ते ब्रह्मणि प्रकारिणि पर्यवसिता भवन्ति। तस्मात् सर्वे शब्दाः मुख्यतया प्रकारिणं बोधयन्ति गौण्यावृत्त्या तदितरान्। ये खलु वेदान्तविज्ञानरहितास्तेतु एकदेशेऽपि शब्दप्रयोगं कुर्वाणास्तत्रैव शब्दशक्ति व्यापारयन्ति। परन्तु नास्त्ययं प्रकारः समीचीनः। यतो नहि प्रकारमात्रेऽर्थविश्रामात् शब्द-शक्तेः परिपूर्णता भवति। ततश्च चराचरपदार्थबोधनाय प्रयुक्तस्त-त्तच्छब्दस्तत्तदर्थेभाक्त एव।

क्त = मुख्य है, गौण नहीं है। सभी शब्द मुख्य रूप से ब्रह्म को ही समझते हैं। जितने कोई स्थावर जङ्गमात्मक पदार्थ हैं वे सबके सब ब्रह्म भाव से भावित हैं। अर्थात् परमात्मा का शरीर है। इसलिए सब पदार्थ प्रकार विशेषण है। तथा भगवान् प्रकारी विशेष्य हैं। और एक नियम है कि जो प्रकार विशेषण वाचक शब्द हैं उनका प्रकारी विशेष्य में पर्यवसान होता है। अर्थात् प्रकार वाचक शब्द प्रकारी को समझाते हैं। इसलिए सभीशब्द मुख्य रूप से पर ब्रह्म को समझाते हैं। जो लोग वेदान्त को नहीं जानते हैं वे लोग एकदेश एकावयव में भी शब्द का प्रयोग करते हुते पूर्ण रूप से शक्ति को मानते हैं। परन्तु ऐसा नहीं होता है। क्योंकि प्रकार मात्र में अर्थ का विश्राम हो जाने से शब्द शक्ति की पूर्णता नहीं

आत्माधिकरणम् ॥५॥

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ।२।३।१९

वियदाद्यखिलप्रपञ्चस्य परस्माद् ब्रह्मण उत्पत्तावात्मनोऽप्युत्पत्तिरस्ति

अत्राहुर्भाष्यकाराः "चराचरवस्तुव्यपाश्रयस्तद्व्यपदेशस्तद्वाचक शब्दो ब्रह्मण्यभाक्तोमुख एव स्यात् । कुतः ? तद्भावभावित्वात् । चराचराणां तदन्तर्गतानां तेजः प्रभृतीनां ब्रह्मशरीरतया ब्रह्मभावेन भावितत्वात् । ब्रह्मणश्च शरोरितयामुख्यत्वात् । चराचस्य तच्छरीरतया तदीयत्वेनगौणत्वात् । तथा च यस्य भावेन यो भावितो भवति स तस्माद्गौण एव भवति । यथा शिष्यं पुत्रत्वेन पश्यतीत्यत्र पुत्रभावेन-भावितो दृष्टः शिष्यो गौण एव पुत्रस्तु मुख्यः । एवं चराचराणां ब्रह्म-भावभावितत्वादब्रह्मणि मुख्यत्वोपपत्तेः । चराचराणां गौणत्वम् । तथा चैकस्य शब्दस्य मुख्यया वृत्त्या ब्रह्माभिधायकत्वं गौण्या च वृत्त्या चराचरबोधकत्वमिति नकश्चिद्विरोधः" इति ॥१८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
रघुवरीयवृत्ति विवरणेऽन्तराविज्ञानाधिकरणम् ॥४॥

होती है । किन्तु प्रकारी पर्यन्त अनुधावन करने से हो शब्दशक्ति पूर्ण होती है । ऐसा हुआ तब चराचर बोधक शब्द से जो चराचर का बोध होता है । उसमें उन शब्दों का भाक्त गोण प्रयोग ही है । इसी तरह इस सूत्र के भाष्य में आनन्द भाष्यकार ने कहा है "एक ही कोई शब्द मुख्यवृत्ति से ब्रह्म का वाचक होता है । और गोण वृत्ति से चराचर का बोधक होता है । अर्थात् चराचर का बोधक शब्द का प्रयोग करने से प्रकार विशिष्ट प्रकारी का बोध तो मुख्यवृत्ति से होता है, और गौण वृत्ति से केवल प्रकार का बोध होता है । इसलिए शब्द मात्र ब्रह्म का ही बोधक होता है । ॥१८॥

इत्यन्तराविज्ञानाधिकरणम्

न वेति संशये "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमिति, सृष्टेः प्रागेकत्वावधारणादेक विज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाश्च ब्रह्मातिरिक्तस्य सर्वस्याप्युत्पत्तिमत्वेनात्मनोऽप्युत्पत्तिरस्तीतिपूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु–

विवरणम्–ननु शेषिणः परमात्मनः शेषरूपं सकलस्थावरजङ्गमात्मकमिदं जगत्। तत्र ब्रह्मभिन्नं सर्वमाकाशादिकञ्चेतनं जगत् परमात्मनः सकाशादुत्पद्यते इति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः समर्थनं प्रतिपादितमित्युपश्रुत्य भगवच्छेषभूतस्य जीवस्याप्युत्पत्तिर्भवतीति मन्दमतीनां भवति जिज्ञासेति तां निराकर्तुं सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते "वियदाद्यखिलप्रपञ्चस्येत्यादि" यथा जडात्मकनिखिलप्रपञ्चस्य समुत्पत्तिर्भवति तथैव जीवात्मनोपि परमकारणपरमात्मनः सकाशादुत्पत्तिर्भवति न वेति संशयो भवति। तदनन्तरं भवति पूर्वपक्षः यत् सदेव सोम्येदमग्रे आसीदित्यादिश्रुत्या सर्वस्यापिवस्तुन एकत्वस्यावधारणात् तथैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः समर्थनाय ब्रह्मव्यति

सारबोधिनी–आकाशादि सकल प्रपञ्च ब्रह्म का कार्य है ऐसा कहा गया है। तो सकल प्रपञ्च के अन्तर्गत जीव भी है तो इस जीव की उत्पत्ति होती है कि नहीं होती है? इस विषय पर विचार करने के लिए उपक्रम करते हैं "वियदादि निखिल प्रपंचस्य" इत्यादि।

आकाश से लेकर महा अवयवी पर्यन्त सकलजगत् संपूर्ण जगत् पर ब्रह्म श्री सीतानाथ से उत्पन्न होता है। तो सकल प्रपंच के अन्र्तत जो जीव है तादृश जीवों की उत्पत्ति वियदादि प्रपंचवत् होती है। अथवा जीव नित्य है तो उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। ऐसा उभय प्रकारक श्रुति को देखने से संशय होता है।

संशय के बाद पूर्व पक्षवादी कहते हैं कि "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा द्वितीयम्" [हे सोम्य श्वेतकेतु! यह परिदृश्यमान वियदादि सकल प्रपंच सर्ग के पूर्वकाल में सत एक अद्वितीय परमात्मा स्वरूप ही

आत्मा नोत्पद्यते, अश्रुतेः। नचैकापि श्रुतिरात्मन उत्पतिमभिधत्ते। प्रत्युत 'नित्यो नित्यानाम्" "अजो नित्यः शाश्वतोऽयम्पुराणो न हन्यते" "ज्ञाज्ञौ द्वावजौ" 'न जायते म्रियते' इत्यादि श्रुतिभ्यो नित्यत्वमेवाभिधीयते। नचैवमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा हीयेतेति वाच्यम्।

रिक्तस्य वस्तुनः परमात्मनः सकाशादुत्पत्तिर्भवति. ततश्च जीवस्यापि समुत्पतिर्भवतीति। अन्यथा यदि जीवस्योत्पत्तिर्न स्वीक्रियेत तदा एकत्वावधारणम् तथा ब्रह्म विज्ञानेन जीवज्ञानं च न स्यात्। अतः वियदादिवत्. परमात्मनः सकाशाज्जीवस्यापि समुत्पत्तिर्भवत्येवेति पूर्वपक्षाशयः। समाधत्ते "नात्माऽश्रुते' रित्यादिसूत्रम्। आत्माजीवः परमात्मनोविशेषणभूतोपि नोत्पद्यते घटादिवत् कारणसामग्र्या जायमानो न भवति कुतः? अश्रुतेः पदार्थानामुत्पत्तिप्रकरणे 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्याद्युत्पत्तिप्रकरणे कयापि श्रुत्या वियदादिवत् जीवात्मन उत्पत्तिर्नश्राव्यते। तस्माज्जीवस्योत्पत्तिर्न भवति। न केवलमुत्पत्तिप्रकरणे जीवात्मनः श्रवणं नास्तीति जीवोनोत्पाद्यते प्रत्युत

था] इत्यादि श्रुति से सृष्टि के प्राक् पूर्वकाल में एकत्व का अवधारण—निश्चय किया गया है। तथा "एकस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" इत्यादि श्रुति से एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा हैं। एतादृश प्रतिज्ञा की सार्थकता करने के लिए ब्रह्म व्यतिरिक्त सब पदार्थों की उत्पत्ति सिद्ध होती है। यदि पदार्थ मात्र को ब्रह्मजन्य न मानें तब ब्रह्म का विज्ञान होने पर भी तादृश पदार्थ विज्ञात नहीं होगा अतः प्रत्येक पदार्थ ब्रह्म जन्य है। इस स्थिती में जीव को भी ब्रह्मजन्य मानना आवश्यक है। अतः जीव को भी वियदादिवत् परमात्मा से उत्पत्ति होती है ऐसा पूर्व पक्षियों का आशय है। एतादृश प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं "नात्मा" आत्मा अर्थात् जीव उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि "अश्रुतेः" उत्पत्ति प्रकरण में जीव का श्रवण नही हैं अर्थात् एक ऐसी कोई श्रुति

प्रतिज्ञानुगुणं कार्यत्वमवस्थान्तरापत्तिरूपं जीवेप्यूरीक्रियते, ज्ञानसङ्कोचविकाशरूपान्यथाभावस्यात्मनि सत्त्वेऽपि आकाशादिष्विव स्वरूपान्यथाभावो नास्तीत्युत्पत्तिर्निषिध्यते। एवं चात्मनो ब्रह्मकार्यत्वेऽपि नित्यत्वंनिर्विवादम् ॥१९॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावात्माधिकरणम् ॥५॥

श्रुतयस्तस्य नित्यतामेव दर्शयन्ति। तथाहि "नित्योनित्यानाम् चेतनश्चेतनानामिति" [नित्यानां नित्यत्वेनाभिमतानां जीवानां चेतनानां मध्येऽयं परमात्मानित्यः, अर्थात् आकाशादि जड़पदार्थापेक्षयैव केवलं नित्यः परमात्मा इति न किन्तु नित्यानां चेतनानामपेक्षयापि नित्यः।] तथा "अजोनित्यः" इत्यादि। [अयं जीवोऽजो न जायते. कारणसामग्र्यभावान्नोत्पद्यते]। नित्य उत्पादविनाशरहितः शाश्वतः सर्वदाऽवस्थितिमान्. पुराणः पुराणोपि नव एवाधुनापि तथैव। शरीरस्य स्वोपाधिभूतस्य विनाशेपि तदीय धर्मेण मरणादिना संस्पृश्यमानो न भवति। तथा "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" ज्ञः परमात्मा अज्ञो जीव परमात्मा ईशोऽनीशश्च जीवः, इत्युभावप्यजौ. समुत्पादविनाश-

नहीं हैं जो कि जीव की उत्पत्ति का प्रतिपादन करे। जिस तरह आकाशादि भूत: शरीर इन्द्रिय प्राणादिक पदार्थों का उत्पत्ति प्रकरण में प्रतिपादन किया गया है। उस तरह से उत्पत्ति प्रकरण में जीव का कथन नहीं है। प्रत्युत श्रुति तो जीव की नित्यता का ही प्रतिपादन करती है। तथाहि "नित्योनित्यानाम्" अर्थात् नित्यत्व रूप से जो अभिमत है उन सबके मध्य में यह नित्य है। "अज्ञोनित्यः शाश्वतोयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे" जीव का फल भोग का अधिष्ठान इस शरीर का विनाश होने पर भी शरीर रूप विशेषण का विशेष्य जीव वह विनष्ट नहीं होता है। जैसे प्रव्रजितावस्था में "शिखीध्वस्तः" शिखावाला मर गया। इस वाक्य से शिखामात्र का विनाश सिद्ध होता है। नतु विशेष्य रूप पुरुष का

रहिताविल्यर्थः। आभ्यः श्रुतिभ्यो जीवस्य नित्यतैव प्रतिपादिता भवति। तस्माज्जीवो नोत्पद्यते इति। नच जीवोनोत्पद्यते तदा एकस्य परमात्मनो विज्ञानेन जीवो विदितोनस्याज्जीवस्य ब्रह्मकार्यत्वा भावात्. कारणविज्ञानेन कार्यं विदितं भवति। नच ब्रह्मकार्यं जीव इत्येकविज्ञानप्रतिज्ञाकदर्थिता स्यादितिवाच्यम्। तादृशप्रतिज्ञायाः समर्थनायावस्थान्तरापत्तिरूपं कार्यत्वं जीवस्यापि भवतीति स्वीकारात्। नचाजत्वादिप्रतिपादकश्रुतिविरोध इति वाच्यम् भावानवबोधात्॥ अयंभावः ज्ञानस्य संकोचविकाशादिना जीवस्योपचारिकीजन्यता नतु घटादिवत् स्वरूपान्यथाभावोभवति ततश्च स्वरूपान्यथाभावलक्षणविनाशित्वस्य निषेधोऽजत्वादिश्रुतिभिः क्रियते। अर्थात् ज्ञानसंकोच विकाशाभ्यामनित्यतामादाय कार्यत्वमिति स्वीकृत्य एकविज्ञानेन सर्व विज्ञानप्रतिज्ञा समर्थिता भवति। तथा आत्यन्तिकविनाशाभावान्नित्यत्वप्रतिपादकश्रुतीनां समर्थनं भवति। एवं च जीवस्य परमात्मनः

विनाश सिद्ध होता है। क्योंकि व्यक्ति तो वही है। जो कि पहले था इसी तरह प्रकृतमें भी जीव का विनाश नहीं होता है। क्योंकि वह जीव अज अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत तथा पुराण है। एवं 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ" परमात्मा और जीव–ये दोनों अजन्मा हैं तथा ईशानीश हैं॥

एवम् "न जायते म्रियतेवा कदाचित्" यह जीव न कभी उत्पन्न है नवा कदाचित मरता है इत्यादि पूर्वोदाहृत श्रुतियों से जीव में नित्यत्व सिद्ध होता है अतः जीव की उत्पत्ति नहीं होती है यह सिद्ध हुआ। नहीं कहो कि यदि जीव नित्य हैं तव एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की जो प्रतिज्ञा उसको सिद्धि कैसे होगी? इसके उत्तर में कहते हैं कि उक्त प्रतिज्ञा के अनुकूल कार्यता तो मैं मानता हूँ अर्थात् आंशिक जन्यता जीव में है। ज्ञान का संकोच विकाश रूप जो अन्यथाभाव वह जीव में है वही जन्यता है। परन्तु आकाशादिक जड़ वस्तु के समान स्वरूप का अन्यथाभाव नहीं होता

अथ ज्ञाधिकरणम् ।।६।।

ज्ञोऽत एव ।२।३।२०।

जीवस्वरूपमिदानीं चिन्त्यते। तत्राऽयं संशयः । किमयं प्रत्यगात्मा ज्ञानरूप आगन्तुकज्ञानगुणोऽथवा ज्ञानाश्रय इति । "विज्ञानं यज्ञं तनुते" (तै) 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' [बृ० ३।७।२२।] इत्यादिश्रुतिभ्यो ज्ञानरूप इति प्रथमः पक्षः । सुषुप्त्यादिषु चैतन्यानुपलब्धेः "न प्रेत्य

सकाशाज्जायमानत्वेऽपि स्वरूपप्रणाशाभावान्नित्यत्वं सर्वसंमतं सिद्धं भवति। अन्यथा बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यं सिद्धान्तभङ्गश्चस्यादतोजीवोनित्य एवेति संक्षेपः ॥१९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे-आत्माधिकरणम् ॥५॥

विवरणम्-यथा वियदादिकाः पदार्थाः परमात्मनः सकाशात् समुत्पद्यन्ते तथा जीवस्योत्पत्तिर्नभवति किन्तु जीवो नित्य इति पूर्वाधिकरणे प्रसाधितम् । अधुना जीवस्य स्वरूपं निरूपयितुमुपक्रमते "जीव स्वरूपमित्यादि" तत्र न्यायमतवत् अनित्यज्ञानगुणकः अथ सांख्यमतवत् ज्ञानमात्रस्वरूपोऽथवाज्ञाता. इति वादिविप्रतिपत्तेर्भवति

हैं जीवात्मा में, इसलिए जीवात्मा के उत्पत्ति का निराकरण किया गया है। इस प्रकार से जीवात्मा को ब्रह्मजन्य होने पर भी नित्यत्व निर्विवाद सिद्ध होता है ॥१९॥

॥ इत्यात्माधिकरणम् ॥

सारबोधिनी-जिस तरह वियदादि प्रपंच की उत्पत्ति होती है । उसी तरह जीव की उत्पत्ति नहीं होती है । ऐसा गत प्रकरण में कहा गया है । अब जीव का स्वरूप क्या है ? इस विषय में विचार करते हैं । उस जीव के स्वरूप विषय में यह सन्देह होता है कि क्या यह प्रत्यगात्मा-जीव ज्ञानरूप है । अथवा आगन्तुक अर्थात् आतममनः संयोगरूप कारण से जाय--

संज्ञास्ति" [बृ० २।४।१२] इत्यादिश्रौतवचनैर्मुक्तावपि चैतन्याभावबोधनाच्च कादाचित्कचैतन्यगुणक एवेत्यपरः पक्षः। अत्राभिधीयते "न पश्यो मृत्युं पश्यति" [छा० ७।२६।२।] "जानात्येवायम्पुरुषः" "एष हि द्रष्टा" [प्र० ४।९।] 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा' [छा० ८।१२।४।] इत्यादि श्रुतिभ्यो ज्ञातेवायं जीवः ॥२०॥

संशयः। किमयं प्रत्यगात्मा कारणसामग्र्या समुपजातज्ञानगुणवान्। अथवा ज्ञानात्मक एव अथवा ज्ञानस्याश्रयो ज्ञातावेति संशयस्वरूपः। तत्र "विज्ञानं यज्ञं तनुते" [विज्ञानं जीवो यज्ञं तनुते करोतीत्यर्थः] 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' यः परमात्मा विज्ञाने जीवे तिष्ठन्नित्यर्थः। इत्यादि श्रुतिभ्यो जीवस्य ज्ञानरूपतैव सिद्ध्यतीति जीवस्वरूपविषये सांख्यादीनां प्रथमः पक्षो भवति। यदि जीवो विज्ञानमात्रकलेवरः स्यात्तदा सुषुप्तिसमयेऽपि ज्ञानस्योपलब्धिः स्यात् परन्तु सुषुप्तिमूर्छादौ ज्ञानमान जो ज्ञान लक्षण गुण विशेष तादृश गुण विशेष ज्ञान गुण का अधिकरण हैं। अथवा संकोच विकाशशील ज्ञान का आश्रय है। इस प्रकार से जीव के स्वरूप विषय में वादियों को विप्रतिपत्ति से तीन पक्ष उपस्थित होते हैं। उसमें "विज्ञानं यज्ञं तनुते" विज्ञान स्वरूप जीव यज्ञ का संपादन करता है। "यो विज्ञाने तिष्ठन्" जो विज्ञान जीव में अवस्थिति है। इत्यादि अनेक श्रुतियों से यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा विज्ञान स्वरूप हैं, यह प्रथम पक्ष है। अर्थात् सांख्य सिद्धान्त के अभिमत जीव का स्वरूप विषयक पूर्वपक्ष है। तथा सुषुप्ति मूर्छादिक अवस्था में ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती है। यदि विज्ञान लक्षण जीव हो तब तो जीव को सर्वदा अवस्थित रहने से सर्वदैव ज्ञानोपलब्धि जीव को होना चाहिए। इसलिए ज्ञान स्वरूप जीव नहीं हैं। तथा "न प्रेत्य संज्ञास्ति" इसका मरणोत्तर संज्ञा नहीं है। इत्यादि वचनों से तथा मोक्ष में चैतन्याभाव का प्रतिपादन किया गया है। [ज्ञानादि ९ नौ गुणों का जो अत्यन्तोच्छेद उसको मोक्ष कहते हैं]

स्यानुपलब्ध्या तथा 'न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' इत्यादिश्रुतिवचनबलेन च तथा नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदरूपमोक्षे चैतन्याभावस्याभावबोधनात् कदाचित्कज्ञानगुणवान् जीवः। आत्ममनः संयोगात्मककारणजनितगुणवान् जीवो नतु ज्ञानरूपः तथात्वे सर्वदैव ज्ञानोपलब्धिः स्यात् तथा ज्ञानोत्पादकचक्षुरादिकरणानां वैयर्थ्यमपि स्यादिति न ज्ञानस्वरूपो जीवः किन्तु ज्ञानगुणस्याधिकरणमिति न्यायपक्षोऽपरोभवतीति पूर्वपक्षः। एतादृशपूर्वपक्षानन्तरं सिद्धान्तप्रतिपादनायाह "अत्राभिधीयते" इत्यादि। "ज्ञोऽत एव" इतिश्रुतिभिः प्रतिपादनात् जीवोज्ञः, अर्थात् ज्ञानाश्रयो ज्ञाता नतु ज्ञानस्वरूपोऽनित्यज्ञानगुणको वा। तत्र जीवस्य ज्ञातृस्वभावत्वे श्रुतिमुदाहरति 'न पश्यो मृत्युं पश्यति' [पश्यतीति पश्योजीवः स जाते भगवत्साक्षात्कारे ततो विधूत संसारमलो मृत्युं संसारभयं न पश्यति संसारभयात्समुत्तीर्णोभवतीत्यर्थः]। तदाहुर्भगवत्पादाः 'पश्यति परमात्मानं साक्षात्करोति जडचेतननिखिलप्रपञ्चकारणतया यः स पश्यो ब्रह्मदर्शी। स मृत्युं जन्मपरम्परालक्षणं संसारं तथा रोगं ज्वरादिकं दुःखसाधनं दुःखतां संसारे प्रतिकूल वेदनीयतां न पश्यति नानुभवति" [आनन्दभाष्यम् ७-२६-२] "जानात्येवायं पुरुषः" अयं पुरुषो जीवो जानाति विषयविषयकज्ञाना-

इत्यादि श्रुतियों से आगन्तुक अर्थात् अनित्य ज्ञान का अधिकरण आत्मा है। यह पूर्वपक्ष का द्वितीय पक्ष होता है॥ इसके उत्तर में कहते हैं-"अत्राभिधीयते" इत्यादि। "न पश्यतो मृत्युं पश्यति" सांसारीक जीव श्रवणादिक साधनो द्वारा जब परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है तब वह जीव मृत्यु को नहीं देखता है। [यहाँ 'पश्य' शब्द से दर्शन क्रिया का आश्रय जीवको कहा जाता है।] "अथर्ववेद जिघ्राणीति स आत्मा" जो समझता है कि मैं आघ्राण करता हूँ वह आत्मा है; इस श्रुति से घ्राणजन्य ज्ञान क्रिया का आश्रय आत्मा समझने में आता है। इत्यादि श्रुतियो

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ।२।३।२१।

ज्ञाता सन्नपि नायं जीवो विभुः किन्त्वणुरेव । "एष आत्मा निष्क्रामति" [बृ०६।४।२।] 'चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति'[कौ०१।२।] 'तस्माल्लोकात्पुनरेति' [बृ०।६।४।२।] इत्यादि श्रुतिभ्यः ।: २१ ॥

श्रय इत्यर्थः । "एष हि द्रष्टा"एष एव प्रकृतो जीवो द्रष्टा दर्शनात्मक ज्ञानस्याश्रयः । 'अथ योवेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा' यः खलुजिघ्राणीति 'घ्राणजनितज्ञानस्याश्रयः स एवात्माजीवः' इत्यादिश्रुतिभ्यः सिद्ध्यति यदयं जोवोज्ञाता । अर्थात् ज्ञानात्मकक्रियाया आश्रयः नतु सर्वथा ज्ञानरूपो नवा कारणसमुत्थज्ञानस्याधिकरणम् । तदाहुः–चेतनो नाम ज्ञानाश्रयो जानामीति प्रतीतेः 'बोद्धा कर्त्ता' इति श्रुतेश्च इति श्रौतार्थसङ्ग्रहे जगद्गुरुश्रीअनुभवानन्दाचार्याः । यद्यपि न्यायमतान्न कश्चिद्विशेष उपलभ्यते तथापि ज्ञानमात्रस्य संकोच विकाशशीलस्य नित्यत्वानित्यत्वे एव विशेष इति श्रोत्रियैर्विभाव्यम् ।२०

विवरणम्–जीवस्य स्वरूपविषयको विचारः प्रायशोऽगात् । ततः परं किं परिमाणको जीव इति परिमाणविषयको विचारः प्रस्तूयते । तत्र से सिद्ध होता है कि जीव ज्ञाता ही है । अर्थात् सूत्र में कहा है कि यह जोव ज्ञ है । उसमें 'ज्ञ' शब्द का अर्थ होता है "जानाति" इति ज्ञः । अर्थात् ज्ञान का आश्रय नतु ज्ञान रूप है क्योंकि एक में आश्रयाश्रयिभाव विरुद्ध हैं । तथा सर्वतो बलवती श्रुति प्रमाण है । वह तर्क सहकृत होकर के जीव को ज्ञाता रूप में ही कथन करती है । इसलिए ज्ञान का आश्रय रूप ज्ञाता है । नतु ज्ञान स्वरूप है नवा अनित्य ज्ञान का अधिकरण है । नही कहो कि आत्मा को ज्ञाता मानें तब तो सुषुप्ति तथा मूर्छा में भी ज्ञातृत्व रहना चाहिए यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि सुषुप्त्यादिक समय में ज्ञान के संकुचित रहने के कारण से अनुपलब्ध रहता है । इसलिए यह दोष ठीक नहीं है इस पर विशेष विचार भाष्य विवरण में देखिये ॥२०॥

जीवपरिमाणविषये त्रयः पक्षा भवन्ति. तत्र 'आकाशवत्सर्वगतश्च-नित्यः' इत्यादिश्रुत्यनुसारेण जीवस्य व्यापकपरिमाणवत्वं कश्चि-दभिप्रैति। जैनास्तु देहपरिमाणात्मकं मध्यमपरिमाणमामनन्ति। वेदा-न्ततत्वविदस्तु जीवस्याणुपरिमाणमिच्छन्ति। तत्र व्यापके क्रिया भावात्–उत्क्रान्त्यादीनां शास्त्रप्रतिपादितानां निरालंबनत्वभयान्न व्यापकता पक्षः। नवा मध्यमपरिमाणवत्वमेव. तथात्वे देहादिवदेवो-त्पादविनाशापत्त्या मोक्षाभावः प्रसज्येत। अतः परिशेषादणुपरिमाण एव जीव इति सिद्धान्ताभिमतं प्रस्तोतुं सूत्रव्याख्यानमुखेनोपक्रमते 'ज्ञाता सन्नपी'त्यादि। श्रुत्यनुभवादिभिः प्रमाणै जींवो ज्ञाता. नतु सर्वथाज्ञानस्वरूपो ज्ञानाधिकरणः। एतादृशस्वरूपवान्नपि. न व्यापकपरिमाणः किन्तु अणुपरिमाणक एव व्यापकपरिमाणवत्वे श्रूयमाणा उत्क्रान्ति गत्यागत्यादिकानिरालंबमाना भवेयुः। 'एष आत्मानिष्क्रामति' शरीरावसानसमयेऽयं जीवात्मा शरीरात्. शरीर

सारबोधिनी–जीव स्वरूप का विचार करके जीव के परिमाण का विचार करने के लिए यह प्रक्रम किया जाता है। कोइ तो जीव को व्यापक परिमाणवा-न् मानते हैं, कोई मध्यम परिमाणवान् तथा कोई अणु परिमाणवान् मानते हैं। उन सबमें से मध्यम परिमाणवान् मानने पर जीव में अनित्यत्व प्रसंग हो जायगा। व्यापक परिमाणवान् मानने से श्रुति प्रतिपादित उत्क्रमण गत्यागति का उपपादन नहीं हो सकेगा। अतः परिशेषात् अणु परिमाणवान् जीव है इस बात को बतलाने के लिए सूत्र व्याख्यान मुखेन उपक्रम करते हैं "ज्ञाता सन्नपीत्यादि। यहाँ पूर्व सूत्र से ताभ्यः इसका अनुवर्तन किया जाता है। यह जीवात्मा व्यापक नहीं है। किन्तु अणु परिमाणवान् है क्योंकि श्रुति में उत्क्रान्ति गति आगति का श्रवण है इस बात को वृत्तिकार स्पष्टीकरण करते हैं ज्ञाता होकर के भी यह जीवात्मा सर्वगत व्यापक नहीं है। किन्तु अणु परिमाणवान् है। क्योंकि श्रुति में जीवात्मा का

प्रदेशाद्वानिष्क्रमणं करोति। न चेदं निष्क्रमणं व्यापकस्य संभवति. व्यापके क्रियाया अभावात्। 'चन्द्रमसमेवते सर्वे गच्छन्ति' शरीरं परित्यज्य चन्द्रमसमधिगच्छन्ति। इदं च चन्द्रमण्डलगमनं व्यापकस्य न संभवति कथमपि। तथा 'तस्मात् पुनरेति' तस्माच्चन्द्रमण्डलात् कृतभोगाः सुकृतिनः सुकृतस्यावसाने पुनरपि. एतस्मिन् लोके एति प्रत्यागच्छन्ति। एतानि गत्यागत्यादिकानि व्यापकस्य न संभवन्ति। श्रुतिस्तु दर्शयति तत्तस्मादणुपरिमाणक एव जीवो नतु व्यापकपरिमाणवानिति सिद्धान्तः। तदाहुर्जगद्गुरवः श्रीअनुभवानन्दाचार्याः 'एषोणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवो स विज्ञेयः सचानन्त्याय कल्पते। 'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यादणुपरिमाणोऽयं जीवात्मा स्थूलदेहमपहायसूक्ष्मदेहोपादानकाले सकलस्यावकाशाभावात्स्वरूपशैथिल्यप्रसङ्गाद्धेय एव सर्वथा जीवमध्यमपरिमाणवादः। ननु सङ्को-

उत्क्रमण तथा गमनागमन का प्रतिपादन किया गया है। जिस श्रुति में उत्क्रमणादिक का कथन किया गया है उन श्रुतियों के स्वरूप को वतलाते हैं "एष आत्मा निष्क्रामति" यह जीवात्मा शरीर से निष्क्रमण करता है। इस श्रुति से सिद्ध यह होता है कि प्रारब्ध कर्म के अवसान होने पर यह जीव इस शरीर को छोडकर चला जाता है। यह निष्क्रमण जीवको व्यापक मानने पर नहीं हो सकता है। क्योंकि व्यापक में क्रिया नहीं होती है। चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छति' कर्मकारी सब जीव चन्द्रलोक में जाते हैं। इससे जीव का गमन सिद्ध होता है। तथा "तस्माल्लोकात् पुनरेति"। उस चन्द्रमंडल में यथा काल भोग करने के बाद पुनः इस लोक में आ जाते हैं। इन सब श्रुतियों से जीव का उत्क्रमण और गमनागमन प्रतिपादित होता है। और यह गमनागमन व्यापक जीव को मानने पर सिद्ध नहीं हो सकता हैं। इसलिए जीव व्यापक नहीं है। तथा मध्यम परिमाणवान् है।

स्वात्मना चोत्तरयोः ।२।३।२२।

उत्तरयोर्गत्यागत्योः स्वात्मनैवानुष्ठेयतया नायं विभुः किन्त्वणुरेव ।२२।

चविकाशवङ्गीकृत्यस्थूलसूक्ष्मजीवानां क्रमात्सूक्ष्मस्थूलदेहप्रवेशस्योपपन्नत्वेन समीचीन एव जीवमध्यमपरिमाणवाद इति चेन्न, तथात्वे जीवानां सावयवत्वेनानित्यत्वापत्तेः । ननु शरीरव्यापिसुखदुःखाद्युपलब्धये सुदूरदेशेऽपि जीवादृष्टप्रयुक्तजीवभोग्यपदार्थोत्पत्तये जीवविभुत्वमेवाङ्गीकर्त्तव्यमिति चेन्न, तथात्वे जीवोत्क्रान्त्यादिप्रतिपादक श्रुतिव्याकोपप्रसङ्गात्' (श्रौतार्थसङ्ग्रहः)॥ २१ ॥

विवरणम्– ननु यथा चलनरहितस्यापि राज्ञोग्रामस्वामित्वनिवृत्त्या ग्रामादुत्क्रमणं भवति तथा आत्मनोव्यापकस्यापि शरीरस्वामित्वनिवृत्तिरूपोत्क्रान्तिः कदाचित्संभवति परन्तु उत्तरयोर्गत्यागत्योस्तु कथमपि व्यापकत्वे न भवति, गमधातोः कर्तृस्थक्रियारूपत्वाद्‌तो जीवोऽणुरेव अन्यथा गत्यागत्योरवबोधकश्रुत्योरसांमञ्जस्यप्रसंगादित्याशयेनाह 'उत्तरयोर्गत्यागत्यो'रित्यादि । उत्तरयोः उत्क्रान्त्यपेक्षया परस्थितयोर्गत्यागत्योर्गमनागमनयोः स्वात्मनैवानुष्ठेयतया कर्तृस्थ-

मध्यमपरिमाण मानने पर स्वकर्म फलभोगार्थ शरीरान्तर प्रवेश में सावयवत्व स्वीकारना होगा तब सावयवत्वेन अनित्यत्व अनिवार्य है। अतः श्रुति स्मृति सम्मत. अणु परिमाणवान् है ॥२१॥

सारबोधिनी–जीव व्यापक परिमाणवान् नहीं है किन्तु अणु परिमाणवान् है इसमें युक्त्यन्तर को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं " स्वात्मना चोत्तरयोः" इति । उत्क्रमण गति आगति में उत्तर जो गत्यागति गमनागमन है उसको स्वात्मा से अनुष्ठेयता है। अर्थात् उत्क्रमण तो कदाचित् देह स्वामिता निवृत्ति होने पर भी संभावित हो सकता है । परन्तु गमनागमन जो क्रिया है वह कर्त्ता से ही निष्पादित होता है । यदि कर्त्ता को व्यापक

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ।२।३।२३।

नतु "सवा एष महानज आत्मा" [बृ० ४।४।२५।] इति महत्वाम्नानादणुरितिचेन्न 'यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा' [बृ० ४।४।१३।] इति श्रुतेस्तत्रेतरस्य परमात्मनोऽधिकारात् ॥ २३ ॥

क्रियात्वेन कर्त्रैवसंपाद्यमानत्वेन अयं जीवो नविभुर्नव्यापकपरिमाणवान् नवा मध्यमपरिमाणवान् किन्तु गत्यागत्योः सार्थक्यायाणुपरिमाणवानेवजीवात्मा, नतु तदितरपरिमाणवानिति । अणुपक्षस्य दोषान् निराकरिष्यति पश्चात् ॥ २२ ॥

विवरणम्—ननु कथमुच्यते जोवस्याणुत्वं यतः 'सवा एष महानज आत्मा' एष आत्माजीवो महान् परममहत्परिमाणवानिति श्रुत्यैव जीवस्याणुत्वं निराकृत्य व्यापकपरिमाणवत्वस्य प्रतिपादनात् । ततश्चोत्क्रान्तिगतीनामसंभव एव स्यादिति चेन्न तादृशमहत्परिमाणवत्वस्य परात्मन एव तत्र प्रतिपादनात् । प्रकरणञ्च तत्परमेश्वरस्य नतु जीवस्य । कदाचित् दुराग्रहतस्तथात्वस्वीकारे गत्यागती विधायकसच्छास्त्राणां निरालंबनत्वमेव स्यादित्याशयेन सूत्रं व्याख्यातुकाम उपक्रमते 'ननु सवा एष' इत्यादि ।[सवा एष जीवो महान् परममहत् परिमाणवान्.

मानें तब गमनागमन नहीं होगा । इसलिए जीवात्मा अणु है व्यापक नहीं ॥२२॥

सारबोधिनी—"स वा एष महानजः" इत्यादि श्रुति से तो जीव में व्यापक परिमाण सिद्ध होता है । तब आप जीव अणुत्व कैसे कहते हैं ? इस शङ्का का समाधान करने के लिए उपक्रम करते हैं "ननु स वा एष इत्यादि" स वा एष महानजः" इत्यादि श्रुति से जीव में व्यापकता का प्रतिपादन किया गया हैं । तब आप जीव में अणुत्व कैसे कहते हैं । इसका समाधान करते हैं "इति चेन्न" 'यस्यानुवित्तः' इत्यादि "यस्यानुवित्तः" इत्यादि श्रुति से यह सिद्ध होता है कि "स वा एष आत्मा" इत्यादि प्रकरण

स्वशब्दोन्मानाभ्याञ्च ।२।३।२४।

"एषोऽणुरात्मा" [मु० ३।१।४।] इति स्ववाचकाणुशब्दात् "आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" [श्वे० ५।८।] इत्युन्मानाच्चाणुरेव ।। २४ ।।

अज उत्पादविनाशरहितः] इत्यादिश्रुत्या जीवस्य व्यापकपरिमाणवत्वप्रतिपादनात् कथमुच्यते जीवस्याणुत्वमितिप्रश्ने सूत्रकारो वदति-इतराधिकारात्, अर्थान्न तत् प्रकरणं जीवस्य किन्तु इतरस्य जीवव्यतिरिक्तस्य परमात्मनस्तदधिकरणमिति तादृशपरमात्मनि व्यापकपरिमाणवत्वस्य तत्र प्रतिपादनम् नतु जीवे व्यापकतायाः प्रतिपादनम् । कथं तत्र परमेश्वरस्यैव ग्रहणं न जीवस्येत्याशङ्कायां प्रकरणप्रतिपादकश्रुतिमुदाहरति 'यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा' इत्यादिश्रुतिप्रमाणैः परमात्मन एव ग्रहणं तदधिकारात् । अतोव्यापकत्वं परमात्मनि नतु जीवे । जीवेत्वणुत्वमेव 'सचाणुचेतनः' इत्याचार्योक्तेः ।। २३ ।।

विवरणम्—नकेवलं व्यसनितया अणुपरिणामं जीवस्य कलयामि, किन्तु श्रुतिरेवजीवस्याणुशब्देनाणुत्वंप्रतिपादयतीत्याशयेनापि जीवस्याणुत्वसाधनाय प्रक्रमते'एषोणुरात्मा' इत्यादि । एष जीवात्माऽणुः सच चेतसाऽन्तःकरणद्वारावेदनविषयोयस्मिन् जीवे पञ्च प्रकारेण प्राणः संनिविष्टः, अत्र श्रुतावणुत्वसूचकोयोऽणुशब्दस्तादृशाणुत्व

जीवेतर परमात्मा में व्यापकता का प्रतिपादन परक है । इसलिए व्यापक परिणाम परमात्मा में है । जीव में व्यापक परिमाण नहीं है किन्तु उत्क्रमणादिक के अनुरोध से अणु परिमाण ही है ।।२३।।

सारबोधिनी—मैं केवल दुराग्रह मात्र से जीव को अणुपरिमाणवान् नहीं मानता हूँ किन्तु श्रुति में अणुत्व परिमाण का वाचक जो अणु शब्द है उससे तथा उन्मान से जीव में अणुत्व परिमाण की सिद्धि होती है । इस आशय को लेकर के अग्रिम सूत्र का उत्थान करने के लिए उपक्रम करते है "एषोऽणुरात्मेत्यादि" यह आत्मा जीव अणु है। तथा अन्तःकरण

अविरोधश्चन्दनवत् ।२।३।२५।

जीवस्याणुत्वेऽखिलदेहव्यापिसुखाद्यनुभवविरोधः स्यादित्यन्यमतेन समाधत्ते । यथा चन्दनविन्दुर्देहैकदेशस्थोऽप्यखिलदेहव्यापिसुखजनकस्तद्वदविरोधः ॥ २५ ॥

प्रतिपादकाणुशब्दात् तथा 'उन्मानात्' सर्वेभ्यः स्थूलपरिमाणेभ्य उद्धृत्यमानमुन्मानम् अर्थात् अत्यन्तापकृष्टपरिमाणम्. तादृशोन्मानात्, एवम् 'आराग्रमात्रोह्यवरोऽपिदृष्टः' बालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च। भागोजीवः सविज्ञेयः सचानन्त्यायकल्पते (श्वे० ।५।८)" इत्यादिस्थलप्रतिपादितोन्मानाच्च जीवस्याणुपरिमाणवत्वमेव सिद्धं भवति. नतु व्यापकपरिमाणवत्वमिति संक्षेपः ॥ २४ ॥

विवरणम्—ननु जीवस्याणुत्वेदेहैकदेशे एवावस्थानं स्यान्नतुशरीरंव्याप्यावस्थितस्ततश्च सकलदेहव्यापिसुखाद्यनुभवः समानकालेजायमानो विरुद्ध्येत । दृश्यते च निदाघकाले जाह्नवीजलनिमग्नस्य सकलदेहावच्छेदेन सुखादीनामनुभवः सच जीवस्य व्यापित्वे एव संभवति नत्वणुत्वे । इत्याशङ्कां चन्दनदृष्टान्तेन निरसितुं सूत्रव्याख्यानाय प्रक्रमते

के द्वारा जानने के योग्य है । इत्यादि अणुत्व का वाचक अणु शब्द से तथा "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्यच भागोजीवः सविज्ञेयः'=तथा आराग्रमात्रोह्यवरोऽपि दृष्टः' इत्यादि उन्मान व्यपदेश से भी सिद्ध होता है कि जीव अणु परिमाणवान् है । नतु व्यापक परिमाणवान् । व्यापक परिमाण बोधक श्रुतियों का तात्पर्य है परमेश्वर के परिमाण प्रतिपादन करने में ॥२४॥

सारबोधनी—यदि जीवात्मा को अणुपरिमाणक मानते हैं तो समस्त देह व्यापी जो सुखानुभव होता है वह कैसे होगा ? तथा निदाघ समय जाह्नवी जल निमग्न पुरुष को सर्वांगीण सुखानुभव होता है। इससे सिद्ध होता है कि जीव व्यापक है नतु अणु इत्यादि शङ्का का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं "जीवस्याणुत्वे"इत्यादि । यदि जीव को अणु मानें तब सकल

अवस्थिति वैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदिहि।२।३।२६।

ननु चन्दनस्य देहैकदेशेऽवस्थितिरस्तीतिचेन्नात्मनोऽपि, 'योयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्त ज्योतिः[बृ० ६।३।७।] इति हृदयदेशेऽवस्थितेरणुत्वमेव ॥ २६ ॥

'जीवस्याणुत्वे' इत्यादि । यदि जीवोभवदाग्रहेणाणुः स्वीक्रियेत. तदा संपूर्णदेहव्यापि यः सुखाद्यनुभवः सकथमविरोधतयाव्याख्येय स्यात्. इत्याशङ्कामन्यदीयमतमादाय सूत्रकारः परिहरति अविरोधश्चन्दनवदिति । यथा हरिचन्दनविन्दुः शरीरैकदेशे मस्तकादौ विद्यमानोऽपि सकलदेहगतं सुखानुभवं जनयति. यथा वा वाटिकायामेकत्रविद्यमानः प्रसूनराशिस्तत्समीपवर्त्तिनं सुखानुभवेनोपकरोति. तथैव शरीरैकदेशे विद्यमानोजीवः समस्तमपिदेहावस्थितं सुखाद्यनुभवं जनयतीति नकोऽपिविरोध इति ॥ २५ ॥

विवरणम्—ननु स्वल्पप्रमाणकस्य हरिचन्दनविन्दोः प्रत्यक्षेण शरीरस्य यस्मिन् कस्मिंश्चिदवयवे अवस्थानमुपलभ्यते तत्र च स्थितः सन्

देहव्यापी जो सुखादि का अनुभव होता है तादृश अनुभव का विरोध होता है। इस शंका का परमत से समाधान करते हैं "अविरोधश्चन्दनवत्" चन्दन के समान अभिरोध है। अर्थात् जिस तरह हरि चन्दन विन्दु शरीर के एक देश मस्तकादि में अवस्थित रह करके सकल देहव्यापी सुखाद्यनुभव का जनक होता है। उसी तरह शरीर के एक देश में अवस्थित जीव भी सकल शरीरगत सुखाद्यनुभव का जनक होता है। इस प्रकार से अविरोध है ॥२५॥

सारबोधिनी—चन्दन का विन्दु तो शरीर के एक देश में अवस्थितहोकर के सकल देहगत गन्धोपलब्धि का संपादन करता है। तो दृष्टान्त में देहावयव में अवस्थान प्रत्यक्ष से उपलब्ध है। परन्तु जीव का अवस्थान देहावयव में है ऐसा तो प्रत्यक्षादि प्रमाण से तो उपलब्ध नहीं होता है। अत

गुणाद्वालोकवत् ।२।३।२७।

स्वामतमाह वा शब्दोऽन्यमतं व्यवच्छिनत्ति । अणुरप्यात्मास्वकीय-

---

सर्वदेहगतामुपलब्धिं करोति । अस्य तु जीवस्य कुत्राप्यवस्थानं नोपलभ्य-ते इति कथं स सर्वदेहगतसुखाद्यनुभवं संपादयिष्यतीत्याशंक्य समाधातु-मुपक्रमते 'ननु चन्दनस्य' इत्यादि हरिचन्दनस्य विन्दुः शरीरस्यैकप्रदेशे-ऽवस्थितः सर्वदेहगतगन्धानुभवं कारयति जीवस्य तु न तथा कुत्रचि-दवस्थानमस्तीति कथं स सर्वदेहव्यापि सुखाद्यनुभवं करोष्यतीति चेत् सत्यम् जीवस्य देशविशेषेऽवस्थानस्वीकारात् । श्रूयतेहि 'यो यं विज्ञा-नमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः" हृदिह्ययमात्मा तत्रैकशतंनाड़ीनां संभवति' इत्यादिशास्त्रेषु जीवस्यापि हृदयादिरूपशरीरावयवेऽवस्थानं शास्त्रा-विरुद्धम् । ततश्च शरीरस्यैकदेशेऽवस्थितो जीवश्चन्दनवदेवदेहव्यापि सुखाद्यनुभवं संपादयतोति. अणुपरिमाणक एवेति संक्षेपः ॥ २६ ॥

विवरणम्—अन्यदीयमतमास्थायजीवस्याणोरपि सकलदेहगतसुख-

दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक में विषमता है । इस शङ्का का समाधान करते हैं "अभ्यु-पगमाद्धि' इति । जिस तरह हरिचन्दन विन्दु का अवस्थान शरीरावयव में प्रत्यक्षतः उपलब्ध होता है । उसी तरह "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"इस शास्त्र प्रमाण से जीव का अवस्थान शरीरके एक अवयव हृदय में है ऐसा ही श्रुति से भी सिद्ध होता है "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः' (बृ.६।३।९) हृदिह्ययमात्मातत्रैकशतंनाड़ीनां भवति" (प्र. ३।६।) जो यह विज्ञानमय अन्तर्ज्योति स्वरूप प्राण वह हृदय में है। हृदय में यह आत्मा विद्यमान है । उस हृदय में एक सौ एक प्रधान नाड़ियाँ रहती हैं । इत्यादि श्रुति शास्त्र के द्वारा हृदय प्रदेश में जीव का अवस्थान है ऐसा सिद्ध होता है । इसलिए दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक में वैषम्य नहीं होता है । अतः हृदय प्रदेश में जीव का अवस्थान होने से जीव अणु परिमाणवाला है ऐसा सिद्ध होता है । किन्तु व्यापक परिमाणवाला नहीं ॥२६॥

ज्ञानगुणेनाखिलदेहं व्याप्य सुखादीननुभवति । प्रदीपादेरालोको यथा कृत्स्नं व्याप्यप्रकाशयति तद्वत् ॥ २७ ॥

दुःखादीनामनुभवं समर्थयित्वा स्वमतेनजीवस्याणुत्वे लोकप्रसिद्धसुखाद्यनुभवं समर्थयितुं सूत्रान्तरमवतारितुमुपक्रमते 'स्वमतमाहेत्यादि' परमतेनोत्तरं संपाद्य स्वमतेनापि समर्थयति गुणाद्वालोकवदिति। शरीरस्यैकदेशेऽणुत्वेन विद्यमानोऽपि जीवः स्वकीयव्यापिज्ञानगुणद्वारा सर्वानुभवं समर्थयति । तत्रानुरूपं दृष्टान्तं प्रदर्शयति आलोकवदिति यथा हि प्रदीपो यत्र कुत्रचिद्गृहैकदेशे विद्यमानःस्वकीयकिरणालोकेनसर्वान प्रकाशयति. तद्वज्जीवोऽणुरपि स्वकीयव्यापिज्ञानात्मकालोकस्थानीयगुणेनसकलदेहगतां सुखाद्युपलब्धिं समर्थयति । यद्यपि केचनप्रदीप प्रभायाः प्रदीपगुण इति कथयन्ति. तत्र नप्रभागुणोऽपितु प्रविरलतेजोऽवयवात्मकं द्रव्यमेव, अन्यथा घटादिद्रव्येण प्रभायाः संयोगाभावाच्चाक्षुषप्रत्यक्षानुत्पत्तेः, तथापि गौणत्वात् प्रदीपापेक्षया

सारबोधिनी—अन्यदीय मत के अनुसार जीव में अणुत्व का समर्थन करके स्वकीय मत से आलोकादि दृष्टान्त द्वारा जीव में अणुत्व का समर्थन करने के लिए उपक्रम करते हैं "स्वमतमाहेत्यादि" प्रकृत विषय में स्वकीय सिद्धान्त मत को बतलाते हैं "गुणाद्वाआलोकवदिति" एतत्सूत्रघटक जो "वा" शब्द है वह अन्यमत का व्यवच्छेदपरक हैं। जीवात्मा यद्यपि स्वयम् अणु है। तथापि सर्वतः व्याप्तप्राय ज्ञानात्मक गुण के द्वारा सकल देह को व्याप्त करके "पादेमे वेदना शिरसि सुखम्' इस प्रकार सुखादि का क्रमशः समान कालतया अनुभव करता है। इसमें अनुरूप दृष्टान्त को बतलाते हैं "इह प्रदीपादेरित्यादि' । जिस तरह प्रदीप का विशेषणीभूत जो आलोक समस्त गृह को व्याप्त करके प्रकाशित होता है। अर्थात् गृहैक कोण में अवस्थित भी प्रदीप स्वकीय प्रभा द्वारा गृह व्याप्त करके प्रकाश द्वारा उपकार करता है। उसी तरह अणु भी जीवात्मा शरीर के एक देश हृदय प्रदेश में अवस्थित

व्यतिरेकोगन्धवत्तथा च दर्शयति ।२।३।२८।

ननु ज्ञानस्वरूपस्यात्मनः कथं ज्ञानगुणत्वमभिधीयते इत्याह "व्यतिरेको गन्धवदित्यादि" पृथिव्यागुणस्य गन्धस्य यथा व्यतिरेकस्तथाऽ-

प्रभाया इतिकृत्वा गुणत्वव्यपदेशगौण एवेति। सूत्रघटकोवा शब्दोऽन्यदीयमतनिराकरणपरकः । अयंभावः=प्रदीपो यथा व्याप्यतयावर्तमानोव्यापकप्रायस्वकीयविशेषणद्वारा सर्वं प्रकाशयतीति कथ्यते तद्वत् प्रकृते जीवोऽणुरपि ज्ञानात्मकस्वगुणज्ञानेन सर्वानुभवं समर्थयतीति। यद्यपि जीवस्याणुत्वे प्रत्यक्षे महत्वस्य कारणत्वात् तदभावात् तस्य प्रत्यक्षतानस्यात्तथापिविचित्रशक्तिमतो भगवतः प्रसादैव सांसारिकीप्रक्रियेति भाष्यव्याख्यानावसरे तस्य समाधास्यमानत्वादित्यत्र-संक्षेपः ॥ २७ ॥

विवरणम्--गुणोहि गुणिनं विहाय नान्यत्र तिष्ठति. यथा घटीयरूपं घटं विहाय नान्यत्रावतिष्ठते तद्वत् जीवगुणोज्ञानमात्मभिन्ने कथं समवेयात् तथा ज्ञानस्यैवात्मरूपतया कथं ज्ञानगुणकत्वं जीवस्योच्यते. इत्याशङ्कां होकरके ज्ञानात्मक स्वगुण ज्ञान के द्वारा समान काल में अथवा विभिन्न काल में सकल देहगत सुख दुःखादि विषयक अनुभव का संपादन करता है। यद्यपि आत्मा को अणुमानने पर प्रत्यक्ष में महत्त्व को कारणता है तो आत्मा में महत्त्वाभाव रहने से आत्मा का तथा तद्गत सुखादिक गुण का प्रत्यक्ष नहीं होगा। तथापि तद्गत धर्मभूत ज्ञान द्वारा सर्व संभव है। इस सूत्र का जो श्रीआनन्द (रामानन्द) भाष्य है उस भाष्य के व्याख्यानासवर में इसका विशद उत्तर किया जाएगा। इतना बड़ा श्रीरामानन्द सिद्धान्त इतना छोटा प्रश्न दोष से दूषित नहीं होता है। नवा दोषान्तर की संभावना भी है ॥२७॥

सारबोधिनी--"विज्ञानं यज्ञं तनुते" इत्यादि श्रुति से तो यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा ज्ञान स्वरूप है। तब आप जीव को ज्ञान गुण का आश्रय लक्षण ज्ञाता किस तरह कहते हैं? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं

त्मनोज्ञातृत्वेऽपि तद्गुणस्य ज्ञानस्य व्यतिरेकोऽस्ति। तथा च दर्शयति श्रुतिः "जानात्येवायं पुरुषः" इति ज्ञातृत्वेन प्रतीतस्य 'आलोमभ्य आनखेभ्यः' इति सर्वशरीरव्याप्तिं तद्गुणभूतेन ज्ञानेन ॥ २८ ॥

समाधातुं सूत्रव्याख्यानाय प्रक्रमते 'ननुज्ञानस्वरूपस्य' इत्यादि। ननु-जीवात्मनोज्ञानस्वरूपत्वं 'विज्ञानंयज्ञंतनुते' 'सत्यंज्ञानम्' इत्यादि श्रुतयः प्रतिपादयन्ति तत्कथमत्रपूर्वसूत्रे ज्ञानगुणकत्वं कथ्यते. तथा गुणिनं जीवमपहाय तद्गुणोज्ञानमन्यत्र विद्यमानं सज्जनयति सुखाद्यनुभव-मिति जिज्ञासायामाह " व्यतिरेक इत्यादि यथा पृथिव्या गन्धात्म-कोगुणः पुष्पादि स्वकोयाधारं विहायारामस्यपरिसरदेशस्थपुरुषं प्रमो-दयति. इति तत्र गुणिदेशव्यतिरेकोगन्धस्य दृष्यते तद्वदिहापि जीवात्म-गुणोज्ञानं जीवस्यज्ञातृत्वेऽपि तदीयगुणज्ञानस्यान्यत्रापि समवस्थानं नोपरु-द्ध्यते। नच पुष्पादिकं विहायतद्गुणोगन्धोनान्यत्र गच्छति किन्तु-सूक्ष्मपुष्पावयवसंबद्धगन्धस्यान्यत्रगमनंभवतीतिवाच्यम् तत्र पुष्पावयवस्या-पिगमने पुष्पादीनां सच्छिद्रता प्रसङ्गादतः केवलगन्धस्यैवगमनं भवतीति। न च ज्ञानस्य जीवव्यतिरिक्तसत्त्वेकेवलं कपोलकल्पितमेवापितुश्रुतिसिद्ध-मेवैतदिति। तथाचामुमर्थं श्रुतिरपि दर्शयति 'जानात्येवपुरुषः' घटंजा-नाति, अर्थात् घटविषयकज्ञानवानितिप्रतीत्याज्ञानाश्रयत्वं पुरुषे दर्शयन्ती ज्ञानाश्रयत्वरूपंज्ञातृत्वंसंपाद्य ज्ञातृगुणभूतेन ज्ञानेन "आलोमभ्यः आनखेभ्यः" इत्यादौ सर्वशरीरव्याप्तिं प्रतिपादयति। अतो न ज्ञान-

"व्यतिरेकोगन्धवदिति" जिसतरह पृथ्वी का गुण गन्ध है, उसको पृथिवी के साथ व्यतिरेक होता है। अर्थात् पृथ्वी रूप धर्मी को छोड़ करके अन्यत्र अवस्थान देखने में आता है। उसी तरह जीवात्मा का ज्ञाता होने पर भी ज्ञाता का गुण जो ज्ञान है उसका भी व्यतिरेक होता है। इस प्रकार से श्रुति बतलाती है। "जानात्येवायं पुरुषः" यहाँ ज्ञाता ज्ञान का आश्रय रूप से प्रतीयमान जो जीव है उसकी "आलोमभ्य आनखेभ्यः" इससे जीव गुण

पृथगुपदेशात् ।२।३।२९।

आत्मनस्तद्गुणस्य च पार्थक्येन श्रुतावुपदेशात् "नहि विज्ञातु-र्विज्ञातेर्विपरिलोपोविद्यते" [बृ० ६।३।३०।] इति। 'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' [कौ० ३।६।] इत्यात्मनः कारणत्वेन तद्गुणज्ञानस्य च करणत्वेनेति पृथगुपदेशात् ॥ २९ ॥

स्वरूपोजीवोऽपितुज्ञातृस्वरूपः । तथा तदीयज्ञानगुणस्तद्व्यतिरेकेणापि संभवस्थितिकोभवतीति संक्षेपो विस्तरस्त्वन्यत्रेति ॥ २८ ॥

विवरणम्—नकेवलं व्यतिरेकादिकारणादेव व्यापिज्ञानगुणद्वाराजी-वात्मनः शरीरव्याप्तिरवगम्यते किन्तु जीवस्य कर्तृतया ज्ञानस्य करण-तया. पृथक् विभक्त्या समुपदेशदर्शनादपि तथात्वं सिद्ध्यतीति दर्शयि-तुमाह 'आत्मनस्तद्गुणस्यचेत्यादि' आत्मनो जीवस्य तद्गुणस्य ज्ञानस्य च पृथक् विभक्त्या प्रथमया तृतीयाविभक्त्याच निर्देशदर्शनादवगम्यते उभयोर्जीवज्ञानयोर्भेद इति । कुत्रोभयोः पृथगुपदेशो ऽस्तीति जिज्ञा-सायां तादृशीं श्रुतिमुदाहरति 'नहीत्यादि' तत्रविज्ञातुर्जीवस्य. तथाजीव-संबन्धिनस्तद्गुणज्ञानस्य चविपरिलोपोविनाशो न विद्यते. इतिजीवगुण-लक्षणज्ञानस्य विनाशाभावं दर्शयति । तत्रषष्ठीविभक्त्यातयो र्भेदस्य प्रति-पादनं भवति । यथा देवदत्तस्य कंबलो देवदत्तस्यगृहमित्यादौ षष्ठ्याभेद-प्रतिपादनं तथैव प्रकृतेऽपि । यद्यपि देवदत्तस्य गन्तुरित्यादि स्थले

ज्ञान द्वारा सर्व शरीर की व्याप्ति सिद्ध होती है ॥२८॥

सारबोधिनी—जीवात्मा तथा जीवात्मा का गुणरूप जो ज्ञान है इन दोनों का श्रुति में पृथक् पृथक् रूप से उपदेश देखने में आता है। इस लिए सकल शरीरगत सुखादि की उपलब्धि होने में कोई क्षति नहीं होती है। तथाहि 'नहिं विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपोविद्यते' विज्ञाता जो जीवात्मा तत्संबन्धी जो विज्ञान उस विज्ञान का विपरिलोप अर्थात् विनाश नहीं होता है। तथा 'प्रज्ञयासमारुह्य' प्रज्ञा ज्ञान से शरीर का आरोहण करके इत्यादि

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥२।३।३०॥

कथन्तर्हि "विज्ञानं यज्ञं तनुते" इति विज्ञानमात्रमेवात्मनः स्वरूपमिति वचः सङ्गच्छतामित्याशङ्कायामाह तद्गुणसारत्वादिति तुशब्दः शङ्कामपनुदति। विज्ञानगुणसारत्वादात्मनो विज्ञानपदेन व्यपदेशः। यथा

सामानाधिकरण्येऽपि षष्ठी दृश्यते इति वैयधिकरण्येन षष्ठी विभक्तेः परिणयो नोपपद्यते, तथापि तथात्वेऽनेकत्र भेदप्रतिपादकश्रुतिभिर्विरोधः स्यात्। तथा 'प्रज्ञयाज्ञानेनशरीरं समारुह्य. उत्सर्जन् यातीत्यादौ आत्मनोजीवस्य कारणत्वेनार्थात् कर्तृतया. तदीयगुणभूतज्ञानस्यच करणतया पार्थक्येनोपदेशदर्शनात्. व्याप्तिज्ञानगुणद्वाराजीवात्मनः शरीरव्यापिताव्याप्तित्वाऽत्रगता भवति। ततश्चाणोरपिजीवस्य सकलशरीरावच्छेदेन सुखाद्यनुभवो न विरुद्ध्यतेऽपितु सर्वसमञ्जसं भवतीति संक्षेपः ॥ २९ ॥

विवरणम्–ननु यदि पृथगुपदेशादिदर्शनाज्जीवात्मनोज्ञानगुणकत्वं समर्थ्यते तदाजीवात्मनोः ज्ञानस्वरूपता प्रतिपादकश्रुतीनां "विज्ञानं यज्ञं तनुते" इत्यादीनां कागतिरित्याशङ्कायाः समाधानाय प्रक्रमते "कथंतर्हीत्यादि." यदि पूर्वोक्तयुक्तिभिर्जीवात्मनो ज्ञानगुण-

स्थल में आत्मा जीव का कर्त्ता कारण रूप से उपदेश कथन है। तथा जीव का गुण जो ज्ञान. तादृश ज्ञान का करण रूप से पार्थक्येन उपदेश होने से व्यापी ज्ञानगुण द्वारा जीव को सकल शरीर व्यापित्व जाना जाता है। इसलिए सकल देहगत सुखादि की उपलब्धि होने में कोई क्षति नहीं होती है। ॥२९॥

सारबोधिनी–यदि जीव को विज्ञानगुणक मानते हैं तब विज्ञान स्वरूप प्रतिपादक श्रुतियों की क्या गति होगी। इस बात को मन में रख करके समाधान करने के लिए उपक्रम करते हैं "कथं तर्हीत्यादि" यदि जीवात्मा को ज्ञानगुण मानते हैं तब "विज्ञानं यज्ञं तनुते" [विज्ञान अर्थात्

"यः सर्वज्ञः सर्ववित्" [मु० १।१।९।] इति श्रुतस्य सर्वज्ञानाश्रयस्य-प्राज्ञस्य "सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म"इत्यत्रज्ञानशब्देन व्यपदेशस्तद्वज्ज्ञातुरप्यात्मनोविज्ञानपदेन व्यपदेशः ॥ ३० ॥

कत्वं समर्थ्यते तदा"विज्ञानं यज्ञं तनुते" विज्ञानम् - अर्थात् जीवात्मा यज्ञादिकं कर्म संपादयतीत्यर्थः। तथा चेयंश्रुतिर्जीवस्य विज्ञानस्वरूपतां प्रतिपादयति नतु ज्ञानगुणतामादधाति ततश्चैतासां श्रुतीनां का गतिरित्याशङ्कामपनेतुं सूत्रकारः प्राह 'तद्गुणसारत्वादि' त्यादि सूत्रम्। तस्य जीवस्य ज्ञानाख्योगुणोज्ञानमेवसारो यस्य स तद्गुण सारस्तस्माद ज्ञानगुणसारत्वात्. तस्मिन् जीवे ज्ञानगुणस्य व्यपदेशो व्यवहारो भवति. अर्थात् जीवे ज्ञानमेवप्रधानम् ज्ञानसत्त्वादेव जीव इति व्यवहारः, यद्बलेन जीवस्य व्यवहारः तेन विज्ञानपदेन जीवस्य व्यपदेशः कृतो नतु ज्ञानस्वरूपेण प्राज्ञः परमेश्वरस्तद्वदितिसूत्रार्थः। अस्मिन् सूत्रे यः तु शब्दः स च पूर्वशङ्काया निवर्तकः। विज्ञानात्मक गुणसारत्वादेव जीवस्य विज्ञानपदेनव्यवहारमात्रंभवतीति। यथा "यः सर्वज्ञः सर्ववित् यः परमात्मासामान्यरूपेण ज्ञानवान् स सर्व विषयकविशेषरूपेणज्ञानवानित्यर्थः"स्वरूपतः प्रकारतश्च सर्वविषयकज्ञानवान् भूतयोनिपदनिर्दिष्टोऽक्षराख्यः परपुरुषः" (आनन्दभाष्यम्) इत्या-

जीव यज्ञादिक कर्मों का संपादन करता है।] इत्यादि विज्ञान मात्र ही जीव का स्वरूप है। ऐसे वचनों का सामञ्जस्य कैसे होगा? इस शङ्का का समाधान करने के लिए सूत्रकार कहते हैं " तद्गुणेत्यादि" ज्ञानात्मक गुणसार होने से विज्ञान पद से जीवात्मा का व्यवहार होता है। इस सूत्र में जो 'तु' शब्द है वह पूर्वपक्ष का निराकरणपरक है। ज्ञान की प्रधानता होने से जीव को ज्ञान कहते हैं। अर्थात् जीव रूप अर्थ में विज्ञान पद लाक्षणिक है वाचक नहीं है। प्राज्ञ के समान. तथाहि जिस तरह 'यःसर्वज्ञः सर्ववित्' यहाँ सर्वज्ञानाश्रय रूप से श्रुत जो प्राज्ञ परमेश्वर है, उसको

यावदात्मभावित्वाच्च नदोषस्तद्दर्शनात् ॥२।३।३१।

आत्मनो विज्ञानगुणस्य स्वरूपनिरूपकधर्मतया विज्ञानपदेन व्यपदेशो न दोषः । लोके गोत्वादेः स्वरूपनिरूपकधर्मत्वेन गौरितिपदेन व्यपदेशो दृश्यते ॥ ३१ ॥

चार्योक्तेः । ततश्चप्रकृतश्रुत्या सर्वविषयकज्ञानस्याश्रयतयाश्रूयमाणस्य परमेश्वरस्य'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्यत्रज्ञानपदेन आनन्दपदेन च व्यपदेशो भवति तथैव विज्ञानाश्रयस्यजीवस्यापि विज्ञानोपदेशः क्रियते । अयमर्थः "यः सर्वज्ञः" इत्यत्र विज्ञानवत्वं परमेश्वरस्य संश्राव्यः सत्यंज्ञानमानन्दमित्यत्रापि विज्ञानाश्रयतैव वर्णितव्या, ततश्च विज्ञानमानन्दमित्यत्रापि विज्ञानानन्दयोराश्रयतैव परमेश्वरस्य. अर्शादित्वात्. अच् प्रत्ययबलात् । अन्यथा आनन्दपदस्यनित्यपुल्लिङ्गत्वेन आनन्द इति प्रयोगः स्यात् । आनन्दो विद्यते यस्येति विग्रहानन्तरंमच् प्रत्यये कृते तु आनन्दशब्दस्य ब्रह्म विशेषणत्वात्. ब्रह्मपदस्य नपुंसकत्वेन तद्विशेषणस्यानन्दपदस्यापि नपुंसकता भवति । तस्मात् विज्ञानपदस्यानन्द पदस्य च विज्ञानाश्रय आनन्दाश्रय एवार्थोभवति । ततश्च पूर्वोक्तं सर्वं समञ्जसं भवतीति संक्षेपः ॥ ३० ॥

विवरणम्—यदि ज्ञानं जीवगुणस्तदातद्गुणेन गुणिनो व्यपदेशः कथं स्यात् । नहि भवति घटगुणेन घटस्य व्यपदेश इत्याशङ्कायामाह 'सत्यंज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस प्रकरण में ज्ञान शब्द से और आनन्द शब्द से व्यवहार किया जाता है । उसी तरह ज्ञान गुण का आश्रय जो जीवात्मा, जो कि ज्ञाता है उसका भी विज्ञान पद से व्यवहार होता है । नतु विज्ञान स्वरूप होने के कारण से विज्ञान पद का व्यवहार किया गया है ॥३०॥

सारबोधिनी—जीवात्मा का जो विज्ञान गुण है वह जीवात्मा का स्वरूप निरूपकधर्म है । इसलिए स्वरूप निरूपक जो ज्ञान है उस ज्ञान का वाचक जो विज्ञान शब्द उस शब्द से जीवात्मा का भी व्यपदेश होने में कोई दोष

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्ति योगात् ॥२।३।३२॥

सुषुप्त्यादौज्ञानानुपलब्धेर्नयावदात्मभावित्वमितिचोद्यंनिवर्तयति। पुंस्त्वादीति बाल्येपुंस्त्वादेः सतएवयौवनेऽभिव्यक्ति र्यथातथैवसुषुप्त्यादौ-ज्ञानस्यानभिव्यक्तस्य जागरादावभिव्यक्तियोगान्नकाप्यनुपपत्तिः ॥३२॥

"आत्मनोविज्ञानस्येत्यादि" विज्ञानात्मकगुणोगुणिरूपस्यात्मनः स्वरूप-निरूपको धर्म इति स्वरूपनिरूपकधर्मद्वारा तदीयधर्मिणोजीवस्यापि व्यवहारे नास्तिकश्चिद्दोषः। यथा लोके शक्यतावच्छेदकगोत्वघटत्वादे स्वरूपनिरूपकधर्मत्वेन गौर्घट इत्यादिपदेन व्यपदेशो दृश्यते न भवति तत्रकोऽपि दोष इति ॥ ३१ ॥

विवरणम्—अथ यदि ज्ञानगुणस्य यावदात्मभावित्वं मन्यते तदात्मनि सर्वदैवज्ञानोपलब्धिः स्यात्. परन्तु नैवं दृश्यते सुषुप्तौ मूर्छादिषु ज्ञानस्यानुपलब्धिदर्शनात्. तदामुच्यतेयावदात्मभावित्वं स्वरूपानुबंधिधर्म-त्वमित्याशङ्काया निराकरणायोपक्रमते "सुषुप्त्यादावित्यादि। जाग्रद्भो-गप्रदकर्मणउपरमे. सुषुम्नानाड्या यदा मनः प्रविशति तस्मिन् समये तथा मूर्छाकालादौ च ज्ञानं न भवति। तत्रापि कदाचिज्ज्ञानं भवेत्तदा-सुषुप्तिरेवका: ? ज्ञानादीनामुपरमकालविशेषस्यैव सुषुप्तिशब्दार्थ-त्वात्। ततश्च कथमुच्यते ज्ञानं यावदात्मभावीति। एतादृशीशङ्कां दृष्टा-

नहीं होता है। जिस तरह लोक में गवादि व्यक्ति का निरूपक जो शक्यतावच्छेदक धर्मगोत्व है वह गवादि व्यक्ति का स्वरूप निरूपक है। तो भी गौः इस पद से व्यवहार होता है। उसमें कोई आपत्ति नहीं होती है। इसी तरह प्रकृत में भी समझना ॥३१॥

सारबोधिनी—जीव का जो ज्ञान है वह यावदात्मभावी है ऐसा जो कहा है वह ठीक नहीं है। क्योंकि सुषुप्तिमूर्छादिक काल में ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती है। यदि ज्ञान यावदात्मभावी हो तो सर्वदा उसकी उपलब्धि होनी चाहिए। एतादृश शङ्का का निराकरण करने के लिए कहते हैं "पुंस्त्वादिव-

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमोवान्यथा ।२।३।३३।

एवं स्वमते ज्ञातृत्वमणुत्वञ्चात्मनोऽभिधाय मतान्तरे दोषमाविष्क-रोति । अन्यथा. आत्मनोज्ञप्तिरूपत्वं सर्वगतत्वञ्चेति पक्षे स्वतः प्रकाशरूपस्य ज्ञानस्य नित्योपलब्धिरवर्जनीया । विद्यमानायाञ्चज्ञप्तावपरेण

न्तद्वारा समाधातुमाह "पुंस्त्वादिवत्वस्येत्यादि । सूत्रघटकस्तुशब्दः शंङ्कितुः शङ्कामपाकरोति । यथा बालावस्थायामभावपरश्चविद्यमानस्यैव पुंस्त्वधर्मस्य. युवावस्थायामभिव्यक्तिर्भवति. यथा वा सौरभीयेष्ववस्थितस्यैव क्षीरस्य दोहनादिव्यापारेणाभिव्यक्तिर्भवति । तथैव सुषुप्त्यादिकाले विद्यमानस्यैवात्मस्वरूपनिरूपकज्ञानस्य जाग्रदादिस्ववस्थायां-भोगप्रदशुभाशुभकर्मनिमित्तकस्याभिव्यक्तिर्जायते । सुषुप्तिकालेऽपि ज्ञानं विद्यते । अन्यथा सुषुप्तस्य परेतादविशेषप्रसङ्गः कदापिवारितो न स्यात् । तस्मात्सुषुप्तावपि जीवेज्ञानं विद्यते एव अनविभावनंतु तदाऽनभिव्यक्तत्वादतोनकाप्यनुपपत्तिरिति संक्षेपः ॥ ३२ ॥

दित्यादि" सूत्र घटक जो तु शब्द है वह पूर्व शङ्का का निराकरण परक है । जिस तरह बालावस्था में अनभिव्यक्त पुरुष में वर्तमान जो पुंस्त्व प्रतिपादक शक्ति विशेष है वह युवावस्था में अभिव्यक्त होता है । उसी तरह सुषुप्ति काल में अनभिव्यक्त ज्ञानादिक गुण वे जाग्रदवस्था में भोगप्रद कर्म के वल से अभिव्यक्त हो जाते हैं इसलिए कोई क्षति नहीं है । अर्थात् सुषुप्तिकाल में जो ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती है वह ज्ञान उस समय में नहीं है ऐसा नहीं किन्तु उस समय अभिव्यञ्जक जो इन्द्रियादिका व्यापार वह नहीं है इसलिए साक्षात् नहीं होता है । जाग्रत् काल सहकारी का समवधान होता है तब ज्ञान भी उपलब्ध होता है । अतः ज्ञान का यावदात्मभावी होने में कोई बाधक नहीं है । सहकार के अभाव से अनुपलब्धि होती है, नतु ज्ञान स्वरूप के अभाव से ॥३२॥

हेतुनानुपलब्धेरुत्पत्तुमशक्यतयाऽनुपलब्धेरपि स एव हेतुः स्यादित्यनुपलब्धिरपिनित्यैव भवेत्। एवं नित्योपलब्ध्यनुपलब्धी युगपत्स्याताम्, विरुद्धयोर्यौगपद्यायोगेत्वन्यतरस्योपलब्धेऽनुपलब्धेर्वानियमः स्यादिति न कथमपि दोषनिर्मुक्तिः। एवं हेतुजन्यज्ञानपक्षेप्यात्मनोविभुत्वेन करणैः सर्वदा संयुक्तत्वाददृष्टादेरपि सर्वसाधारणत्वादयमेव दोषस्तस्मादणुत्वमतमेवन्यायः ॥ ३३ ॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ ज्ञाधिकरणम् ॥ ६ ॥

विवरणम्—यश्चात्मानंज्ञानमात्रस्वरूपमिच्छति यश्च तं सर्वगतमिच्छति तस्मिन् मतद्वये दोषं वक्तुं प्रक्रमते "एवं स्वमते" इत्यादि। स्वमते वेदान्तविदांमते जीवात्मनोऽणुपरिमाणवत्वं ज्ञातृत्वं च पूर्वाधिकरणेन व्यस्थाप्य, मतान्तरे ज्ञानरूपत्वं सर्वगतत्वमात्मन इति मते दोषं दर्शयति "अन्यथा" योहि जीवात्मनो ज्ञनरूपत्वं तथा सर्वगतत्वं स्वीकरोति तेषां मते। ज्ञानस्यैतन्मते स्वप्रकाशरूपतयास्वीकारात्. नियमतः सर्वदा ज्ञानस्य सर्वत्रोपलब्धिरेवस्यात्। एवं ज्ञानातिरिक्तकारणस्याभावात्. ज्ञानस्य सर्वदासत्त्वेन अनुपलब्धिरपि सर्वदैवस्यात्। एवं च ज्ञानस्य नियमत उपलब्ध्यनुपलब्धीयुगपदेवभवेताम्। यदि कदाचिदेवमुच्येत यत् विरुद्धयोः पदार्थयोः कथं यौगपद्यं भवेदिति. तदोभयोर्मध्ये. एकस्य सर्वदैवोपलब्धिरनुपलब्धिर्वा भवेदिति न कथमपिदुरात्मादोषः परिह

सारबोधिनी—पूर्वोक्त क्रम से स्वकीय सिद्धान्त में जीवात्मा का अणुत्व तथा ज्ञातृत्व का कथन करके जो लोग जीवात्मा को ज्ञानस्वरूप तथा व्यापक परिमाणवान् मानते हैं उनके मत में दोष बतलाते हैं "नित्योपलब्धीत्यादि" अन्यथा अर्थात् जीवात्मा को ज्ञानरूपत्व तथा सर्वगतत्व व्यापक पक्ष में स्वतः प्रकाश रूप जो ज्ञान. तादृश ज्ञान का नियमतः सर्वदा सर्वत्र उपलंभ अवर्जित है। ज्ञानरूप आत्मा का सर्वदा विद्यमान होने से तदपर हेतु से अनुपलब्धि की उत्पत्ति को अशक्य होने से अनुपलब्धि का भी कारण ज्ञानस्वरूप आत्मा

तो भवतीति। एवं जीवस्य व्यापकपरिमाणं ये इच्छन्ति तन्मतेऽपि जीवस्य व्यापकत्वे सर्वशरीरसर्वकरणेन सह सर्वदा संयुक्तत्वरूपकारणस्य विद्यमानत्वेन सर्वेषां सर्वदा सर्वत्र सर्वविषयकं ज्ञानं ज्ञानाभावो-वा भवेन्नियमतः। न चादृष्टं यस्य जीवस्य यत्र तत्रैव तस्य तत्कार्यं स्यान्नान्यस्य नान्यत्रकार्यमितिवाच्यम्. व्यापकस्य सर्वजीवस्य सर्वत्रविद्यमानत्वेनादृष्टस्यापि सर्वसाधारणत्वात्। तस्मान्न व्यापकता पक्षः। अणुवादपक्षे जीवस्य ज्ञातृत्वपक्षेतु जीवस्य स्वकीयहृदयप्रदेशेऽवस्थानेन तत्रैवोपलब्धिर्भवति नान्यत्रोपलब्धिरिति व्यवस्था सिद्ध्यति। तदत्राहुराचार्याः" अस्माकन्तु स्वकीयहृत्पुण्डरीकेऽवस्थितत्वादात्मनस्तत्रैवोपलब्धिर्नान्यत्रेति व्यवस्था सिद्धेर्नोक्तदोषप्रसङ्गः (आनन्द भाष्यम्) तस्मादणुपक्ष एव श्रेयानितिदिक् ॥ ३३ ॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्री रघुवरीयवृत्तिविवरणे ज्ञाधिकरणम् ॥६॥

हो होगा। तब अनुपलब्धि भी नियमतः सर्वत्र सर्वदा होगी। एवम् उपलब्धि तथा अनुपलब्धि में यौगपद्य होगा। यदि कहो कि विरुद्ध जो घट तथा घटाभाव, उसके यौगपद्य की तरह उपलब्धि अनुपलब्धि भी विरुद्ध है। तो उसका यौगपद्य नहीं हो तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि तब एक का नियमत उपलंभ अथवा अनुपलंभ होगा। इस प्रकार से दोष से छुटकारा नहीं होता है। एवं कारण जन्य ज्ञान है, इस पक्ष में आत्मा तो व्यापक है। इसलिए करण जो चक्षुरादिक उसका सर्वदा सम्बन्ध रहने से सर्वदा सर्वत्र ज्ञान की उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि ही होगी। यदि कदाचित् अदृष्ट को नियामकता कहें तब भी अदृष्ट का व्यापक सर्वात्मसाधारण होने से पूर्वोक्त दोष का उद्धार नहीं होता है। इसलिए प्रकृत में जीव अणु तथा आत्मा ज्ञाता पक्ष ही निरापद है॥३३॥ इति ज्ञाधिकरणम्।

अथ कर्त्रधिकरणम् ।। ७।।

कर्त्ताशास्त्रार्थवत्वात्।। २।३।३४।।

आत्मनः कर्त्तृत्वमस्ति नवेति संशयः। "अहङ्कारविमूढात्मा-कर्त्ताहमिति मन्यते" [गीता० ३।२७] "नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्"

विवरणम्–आत्मनो ज्ञानरूपत्वं व्यापकत्वं च निराकृतं तदुपश्रुत्य कश्चित्संदिग्धे. यत् आत्मनि सर्वगतत्वादिधर्माणामवकाशो नास्ति तद्वत् कर्तृत्वस्यापि धर्मत्वात्तत्रात्मनि समावेशोऽस्ति नवेति। तत्रात्मनः कर्तृत्वे गीतादिवचन विरोधान्नास्ति कर्तृत्वमिति पूर्वपक्षः। "जुहोति, यजेत" इत्यादि शास्त्राणामर्थवत्वाय जीवस्य कर्तृत्वमस्त्येवेति सिद्धान्तं दर्श-यितुमुपक्रमते" आत्मनः कर्तृत्वमित्यादि। आत्मा हि जीवः ऐहिक पारलौकिकक्रियायाः कर्त्ता भवति नवेति संशयः। अत्र संशये विधि-कोटिः सिद्धान्तिनो निषेधकोटिस्त्वन्येषामिति। अत्र "अहंकरोमीति अहङ्कारेणापहृतबुद्धिः पुमानात्मानं कर्ताऽहमिति मन्यते. तथा यदा गुणेभ्योविभिन्नंकर्त्तारं पश्यति" इत्यादि वचनानां सार्थक्य संपादना य जीवः कर्त्ता न भवतीति पूर्वपक्षाशयः। तमिमं पूर्वपक्षं निराकर्तु

सारबोधिनी–जीवात्मा में ज्ञातृत्व तथा अणुपरिमाणवत्व का समर्थन करके शास्त्र के अर्थवत्व का समर्थन करने के लिए जीव में कर्तृत्व का भी व्यवस्थापन के लिए उपक्रम करते हैं "आत्मनः कर्तृत्वमित्यादि" ऐहिक पारलौकिक तथा मोक्ष प्रापक क्रियाओं में जीव का कर्त्तृत्व है अथवा नहीं, एतादृश संशय होने में विप्रतिपत्ति वाक्य कारण है। इसमें विधिकोटि सैद्धान्तिक है। और निषेध कोटितदतिरिक्त वेदान्ती का है। "अहंकार से विमूढ़-भ्रान्त आत्मा अपने को क्रिया सामान्य में कर्त्ता मानता है। तथा "जब यह द्रष्टा गुण विभिन्न को कर्त्ता नहीं समझता है" अर्थात गुण को ही कर्त्ता समझता है इत्यादि भगद्वचन से सिद्ध होता है कि गुण में ही कर्तृत्व है जीवात्मा में कर्त्तृत्व नहीं। एतादृश पूर्वपक्ष होता है। इस पूर्वपक्ष

इत्यादिवचनैः कर्तृत्वंनास्तीति पूर्वपक्षः। अत्राभिधीयते= "यजेत" "उपासित" इत्यादिशास्त्राणामर्थवत्वादात्माकर्तैव। नात्मभिन्नगुणानां तत्संभवति, अचेतनत्वात् ॥ ३४ ॥

मत्राभिधीयते सिद्धान्तं दर्शयति सूत्रकारः कर्त्तेति। यजनादि क्रियासु जीवात्मा कर्त्ताभवत्येव कुतः? तथा स्वीकृते एव ऐहिकपारलौकिक फलप्रापककर्मप्रतिपादकं "स्वर्गकामोयजेत" "आत्मानमुपासीत" इत्यादिशास्त्राणामर्थवत्वं स्यात्। आत्मनोऽकर्तृत्वे समुदाहृतशास्त्राणि निरालंबनानि भवेयुरिति। नच गुणानामेव कर्तृत्वं नत्वात्मनः कर्तृत्व-मित्यात्मनः कर्तृता प्रतिषेधकशास्त्राणां का गतिरितिवाच्यम्, चेतनोहि स्वकीयं हिताहितमाकलय्य तत्तत् क्रियासु प्रवर्तमानो भवति. नत्वचेतनः पदार्थस्तथा प्रवर्तते। तस्माद्गुणानां स्वातन्त्र्येण नकर्तृत्वम चेतनत्वादेव किन्तु चेतनो जीव एव प्रवर्तते। तथा च जीवस्य मोक्षादौ प्रवर्तकस्य शास्त्रस्य कर्तृत्वमन्तरेणार्थवत्वं न स्यादिति तेषामर्थवत्वाय जीवस्यावश्यमेव कर्तृत्वमवगन्तव्यमिति निराकुलः सैद्धान्ति राज

का समाधान करते हैं "अत्राभिधीयते" "कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात्" "स्वर्गकामोयजेत" स्वर्ग कामानावान् पुरुषज्योतिष्टोमादि याग का संपादन करें। "आत्मानमुपासीत" मोक्ष कामनावान् विरक्त अधिकारी परम पुरुष परमात्मा की उपासना करें। एवम् ऐहिक कामनावान् पुरुष कृषि प्रभृतिक व्यापार करें, इत्यादिक जो शास्त्र हैं वे जीव को कर्त्ता मानेंगे तभी प्रयोजनवान् होंगे। क्योंकि कर्त्ता के बिना क्रिया की निष्पत्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् क्रिया नहीं होगी तब तादृश क्रिया से साक्षात् अथवा परंपरा फल प्राप्त नहीं होगा और फल प्राप्ति नहीं होने से तत्प्रतिपादक शास्त्रनिरर्थक हो जायेगे। अतः शास्त्र के सफलता के लिए जीव को कर्त्ता मानना अत्यावश्यक है। नहीं कहो कि गुण में कर्तृत्व मानने से भी तो शास्त्रों का सार्थकत्व होजाता है तब जीव को कर्त्ता क्यों मानें? यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि गुण तो

उपादानाद्विहारोपदेशाच्च॥२।३।३५॥

"तदेतेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय" [बृ०४।१।१७] "स्वे शरीरे यथा कामं परिवर्तते"[बृ०४।१।१८।] इत्याद्युपादानत्वश्रवणाद्विहरणोपदेशाच्चात्मन एवकर्तृत्वम् ॥ ३५ ॥

मागः । तदाहुराचार्याः—"एष द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ताबोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" इतिश्रुत्या बोद्धेत्येवं रूपेण ज्ञानाश्रयत्ववत् कर्त्तेत्येवं रूपेणकर्तृत्वाश्रयत्वमपि प्रतिपादितं जीवात्मनोऽतस्तस्याकर्तृत्वापादनं श्रुतिविरुद्धमेव । अतएवोक्तं जगद्गुरुभिः श्रीचिदानन्दाचार्यैश्चिदात्मप्रबोधेः—'अकर्तोविभुर्नाथवा मध्यमानो नवाज्ञानशून्यो जडोदुःखरूपः । अणुर्ब्रह्मणोंऽशः शरीरं च शेषः परं रामचन्द्रस्य दासश्चिदात्मा, इति । तथैव श्रीबोधायनवृत्तिसारे जगद्गुरवः श्रीदेवानन्दाचार्याः—'आत्माकर्त्ता' न तु प्रकृत्तिः । 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिशास्त्राणामप्रवृत्तस्य पुरुषस्य प्रवर्त्तकबोधोत्पादन द्वारा प्रवृत्त्युत्पादनेनार्थवत्वात् अन्तःकरणस्य प्रवृत्त्यत्वस्वीकारे तु तस्याचेतनत्वेन प्रवर्त्तकबोधोत्पादनासम्भवाच्छास्त्रवैफल्यमनिवार्यमेव" (श्रौतार्थसङ्ग्रहे) इति ॥ ३४ ॥

विवरणम्—वक्ष्यमाणोपादानात्तथा विहारस्योपदेशादपि जीवस्य कर्तृत्वमेवसिद्धं भवतीति सिद्धवत्कृत्वा पुनः कर्तृत्वमेवोपपादयितुमुपक्रम-

अचेतन है । तब उसमें स्वतन्त्र रूप से क्रिया कर्त्तृत्व नहीं रह सकता है । चेतन में ही कर्तृत्व होता है । चेतन अपने हित का तथा अहित का पर्यालोचन करके तत्तत् कार्यों में प्रवृत्त होता है । अचेतन से ऐसा नहीं होता है । इसलिए गुणादिक में कर्तृत्व नहीं है किन्तु जीव ही कर्त्ता है । और जीव के कर्त्ता होने पर ही "यजेत, उपासीत" इन शास्त्रों का सार्थकत्व सिद्ध होता है ॥३४॥

सारबोधिनी—वक्ष्यमाण प्रकार से भी जीवात्मा में ही कर्तृत्व है । किन्तु

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ।२।३।३६।

"विज्ञानं यज्ञं तनुते" इति क्रियायां कर्तृत्वव्यपदेशादात्मैव कर्त्ता-विज्ञानपदेन बुद्धेर्ग्रहणेतु विज्ञानेनेतिकरणविभक्त्या भाव्यमितिनिर्देश विपर्ययः स्यात् । तस्मादात्मनः कर्तृत्वम् ॥ ३६ ॥

ते "तदेतेषामि"त्यादि । एतेषां चक्षुरादिप्राणानाम् विज्ञानेन विज्ञानमादाय तथा" एतान् चक्षुरादि प्राणानुपादाय संपरिगृह्य" अत्र जीवस्यात्मन एवोपादनत्वश्रवणात् कर्तृजीवस्यान्येनोपादनस्याश्रवणात् । तथा "स्वेशरीरे यथा कामं विपरिवर्तते" स्वकीये कार्यकरणसंघातात्मकदेहे स्वप्नावस्थायां यथाकामं स्वेच्छयाविहरणस्योपदेशस्य च श्रुतौ श्रवणादपि जीवात्मैवकर्त्ता, तदन्यस्य तदा तत्राभावादतो जीवात्मैवकर्ता भवति नान्यः कर्तेति संक्षेपः ॥ ३५ ॥

विवरणम्—वक्ष्यमाणकारणेनापि जीवस्यैव कर्तृत्वं सिद्ध्यति न तु बुद्धेः कर्तृत्वं भवतीति दर्शयितुमाह" विज्ञानमि"त्यादि ।' " विज्ञानं-यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेपि च" विज्ञानं जीवात्मा अग्निहोत्रादियागं पारलौकिकफलप्रापकं कर्म तनुते संपादयति तथा कर्माणि ऐहिकफल-

गुण में अथवा गुणजनित तत्त्वों में कर्तृत्व नहीं इस बात को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "तदेतेषामि"त्यादि "तदेतेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञान-मादाय" इत्यादि श्रुतियों में जीवात्मा में उपादान अथवा ग्रहण शक्ति का कथन किया है तथा "स्वेशरीरे" इत्यादि श्रुति में स्वेच्छया शरीर के अभ्यन्तर में विहरण का उपदेश का श्रवण होने से जीवात्मा ही कर्त्ता है किन्तु तदन्य कोई कर्त्ता नहीं है । इस कारण से भी जीव में कर्तृत्व सिद्ध होता है। ॥३५॥

सारबोधिनी—इस वक्ष्यमाण कारण से भी जीवात्मा में ही कर्तृत्व सिद्ध होता है बुद्धि में नहीं । "विज्ञानं यज्ञं तनुते" विज्ञानपदवाच्य जो जीव वही लौकिक पारलौकिक क्रिया सामान्य के प्रति कर्त्ता है । क्योंकि विज्ञानपद वाच्य जीव में कर्तृवाचक प्रथमा विभक्ति का निर्देश है । यदि विज्ञान पद से बुद्धि का

उपलब्धिवदनियमः ॥ २।३।३७ ॥

प्रकृतिरेवकर्त्री भोक्तात्वात्मेतिमते प्रकृतेः सर्वसाधारण्यात्तन्मते विभुरूपस्यात्मनः सदा संबन्धात्सर्वकर्मणां सर्वभोग्यत्वमनिवार्य्यंस्यात्तथाचोक्तोपलब्धिवदनियमोऽत्र समान एव ॥ ३७ ॥

साधनभूतं कृष्यादिलौकिकं कर्मापि संपादयति इत्यादिसर्वप्रकारक क्रियायां जीवस्यैव कर्तृत्वं सिद्ध्यति नतु बुद्ध्यादेः कर्तृत्वं भवति । न च विज्ञानपदेन बुद्धेरेव ग्रहणं भवति नतु जीवस्येति वाच्यम् । तथा सति विज्ञानपदे तृतीयाविभक्तेर्निर्देशः स्यात् विज्ञानेनेति तृतीयाविभक्तिर्भवेन्नतु विज्ञानमिति प्रथमाभवेत्, यत क्रियाया बुद्धेः करणत्वात् । परन्तु निर्देशविपर्ययो नास्ति । तस्मात् विज्ञानपदवाच्यो जीवात्मैवकर्त्ता भवति नान्य इति ॥ ३६ ॥

विवरणम्–आत्मनोऽकर्तृत्वं ज्ञानरूपत्वं व्यापकत्वं च यन्मते तन्मते दोषमुपवर्ण्य सांख्यमतेऽपि समीचीना कर्तृत्वभोक्तृत्वव्यवस्था न संभवतीति दर्शयितुमुपक्रमते'' प्रकृतिरेवकर्त्रीत्यादि । 'सांख्यमते सर्वकार्याणामैहिकपारलौकिकानां कर्तृत्वं प्रकृतौ तत्कार्ये वा. आत्मातु न कार्यकर्त्ता परन्तु क्रिया जनितफलस्य भोक्ताभवतीति मन्यते तत्रापि व्यवस्था–

ग्रहण होता है ऐसा माने तब तो बुद्धि करण है उसके कारण होने से तृतीया विभक्ति का निर्देश किया होता । तब तो निर्देश का विपर्यय होता ऐसा तो नहीं है । इसलिए लौकिक तथा वैदिक क्रिया में जीवात्मा ही कर्त्ता है यह सिद्ध होता है ॥३६॥

सारबोधिनी–आत्मा ज्ञानरूप है, तथा व्यापक है, अकर्त्ता है, एतादश जो मत तथा ऐहिक, पारलौकिक क्रिया को अवस्था का उपपादन करके जो लोग प्रधान को ही कर्त्ता तथा जीवात्मा को व्यापक मानते हैं, उनके मत में अव्यवस्था बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "प्रकृतिरेवेत्यादि" कार्यमात्र के प्रति कर्त्री प्रकृति-प्रधान है । और आत्मा केवल भोक्ता है । इस

शक्तिविपर्ययात् ।२।३।३८ ॥

यः कर्त्ता स एव भोक्तेति नियमात् प्रकृतेः कर्तृत्वे भोक्तृत्वमपि तस्या एवाभ्युपेयम् । तथा सति भोक्तृत्वशक्तेर्विपर्ययः स्यात् पुरुषाख्यतत्वाधिगमोवैयर्थ्यमावहेदत आत्मैवकर्ता ॥ ३८ ॥

नसंभवति. यतः सर्वजनकं यत्प्रधानं तस्य सर्वपुरुषं प्रति समानत्वात् । आत्मनश्च तन्मते व्यापकत्वेन सदा सर्वत्र सम्बन्धस्य विद्यमानत्वेनैकेनैकत्रयत्कार्यं संपादितं तज्जनितभोगः सर्वस्य सदाप्रसज्येतेति नास्य दोषस्य परिहारो भवेत् । यथोपलब्धावनियमः प्रदर्शितस्तथाऽत्रापि मते वर्तते एव । नच यस्यादृष्टेन यत्कार्यं प्रकृत्या संपादितं तादृशफलेन स एव संबद्ध्यते नान्यस्य तेन संबन्ध इति वाच्यम् व्यापकपुरुषाणां सर्वदा सर्वत्र विशेषादिदमदृष्टमेतस्यैव नान्यस्येति नियमितुमयोग्यत्वान्नतन्मतेऽपि व्यवस्था संभवति । तस्मादात्मनोऽणुत्वं स्वीकृत्यैव सर्वव्यवस्थाया उपपत्तिः सर्वदोषनिरासोऽपि सारल्येन संभवतीति जीवस्य कर्तृत्वमणुत्वंचैव श्रेयस्करमिति ॥ ॥ ३७ ॥

विवरणम्–शक्तिविपर्ययाख्यदोषादपि पुरुषस्यैव कर्तृत्वं सिद्धं भवतीत्याशयेनाह "यः कर्त्ता स एव"इत्यादि । भोगाय कार्यं करोतीति

मत में प्रकृति को सर्व पुरुष के प्रति समान होने से तथा आत्मा के व्यापक होने से पुरुष को सर्वदा संबन्ध रहने से सर्व कर्म का फल भोक्ता सब जीव हो जाएगा यह दोष अनिवार्य हो जाता है । तब पूर्व कथित उपलब्धि के सदृश अनियम दोष इस मत में भी समान होता है । और सांख्य मत में कर्तृत्व भोक्तृत्व का वैयधिकरण्य दोष भी अनिवार्य है तस्मात् जीवात्मा को कर्त्ता मानना उचित है ॥३७॥

सारबोधिनी–वक्ष्यमाण प्रकारान्त से भी जीवात्मा में कर्तृत्व का साधन करने के लिए उपक्रम करते हैं "यः कर्त्ता स एव" इत्यादि । बन्ध तथा मोक्ष में तथा कर्म कर्तृत्वतत्फल भोक्तृत्व में वैयधिकरण्य न हो किन्तु

समाध्यभावाच्च ॥ २।३।३९ ॥

प्रकृतेरेवकर्तृत्वेतु कैवल्यावाप्तये प्रकृतितत्कार्येभ्योभिन्नोऽस्मीत्य-नुसंधानरूपस्य समाधेरभावः स्यात्। नहि स्वयं स्वतोभिन्न इति संभवति तस्मादात्मैव कर्त्ता ॥ ३९ ॥

प्रतीतिदर्शनात् यः कर्त्ता भवति स एव भोक्ता भवतीतिनियमः। अन्यथा कर्तृत्वभोक्तृत्वयोर्वैयधिकरण्ये अन्यकृतकर्मणस्तदन्यस्यभोगेऽतिप्रसङ्गात् । ततश्च यथोक्तनियमवलात् प्रधानस्यैव कर्तृत्ववद्भोक्तृ-त्वमपिस्यात्. एवं चात्मनि या भोगशक्तिस्तस्या विपर्ययः स्यात्—आत्मनि या भोगशक्तिः सा विलुप्तास्यात्तथा तस्याः शक्तेः प्रधाने सञ्चारः स्यादेव । इष्टापत्तौ "पुरुषोऽस्तिभोक्तृभावादिति" स्वकीयसिद्धान्त-स्य विरोधः स्पष्टमेवापद्येत । एवं च पञ्चविंशतितत्वान्तर्गतपुरुष स्वीकारस्यवैयर्थ्यात् "व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञाना" दिति स्वकीयसिद्धान्त-स्यापिबाधः स्यात् । ततश्च "पञ्चविंशतितत्वज्ञो यत्र तत्राश्रमेभवेदि-त्यादि प्रवादः सर्वथैव विलुप्तः स्यात् । तस्मादात्मनोभोक्तृत्वलोभेन तस्यैवाकामेनापि कर्तृत्वं स्वीकर्तव्यमिति संक्षेपः ॥ ३८ ॥

सामानाधिकरण्य का निर्वाह करने के लिए "जो कर्त्ता होता है वही उसका फल भोक्ता है" एतादृश नियम होने से प्रकृति में हो कर्तृत्व होने से फल भोक्तृत्व भी होगा; ऐसा मानना पडेगा । ऐसा होने से आत्मा में जो भोक्तृत्व शक्ति है, उसका विपर्यय हो जायगा । तब भोक्ता द्रष्टादि रूप से जो पुरुषतत्व को मानते हैं वह व्यर्थ हो जायगा । और पुरुषोऽस्ति भोक्तृ भावात् । "तथा व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात्" यह जो स्वमत है, उसका विलोप हो जायगा । इसलिए प्रधान के जड़ होने से भोक्तृत्व नही होगा तो यथोक्त नियम के रक्षण करने के लिए आत्मा को अनिच्छया भी ऐहिक पारलौकिक क्रिया का संपादन करने के लिए कर्त्ता मानना चाहिए । तब यथोक्त नियम अविकल रूप से चरितार्थ हो सकता है अतः आत्मा कर्ता है ॥३८॥

यथा च तक्षोभयथा ॥ २।३।४० ॥

ज्ञानेच्छादिगुणवतो जीवस्येच्छायां सत्यामसत्याञ्च कर्तृत्वमकर्तृत्वञ्चेतिव्यवस्थोपपद्यते । यथा च तक्षास्वकीयेच्छामनुरुद्ध्य करोति

विवरणम्—वक्ष्यमाणसमाध्यभावदोषादपि जीवात्मन एव कर्तृत्वं नतु तदन्यस्य कस्यचित्कर्तृत्वमिति द्योतयितुमुपक्रमते "प्रकृतेरेवेत्यादि" समाधिश्चमोक्षप्राप्तौ साधनम्, तच्च प्रधानात्तत्कार्यबुद्धेश्चाहं भिन्न एवास्मीत्यनुसाधनम् । एतादृशानुरूपसमाधिकर्तृत्वं जीवस्यैव संभवति नतु प्रधानस्य तत्कार्यस्य. अचेतनत्वात्. तथा स्वभिन्नत्वस्याभावाच्च. तस्मात्समाधिसंपादनायात्मैवकर्ता । एतदेव दर्शयति प्रकृतेरेव यदि कर्तृत्वं स्वीक्रियेत तदा कैवल्यमोक्षप्राप्त्यर्थं "प्रधानतत्कार्येभ्योऽहं भिन्नोऽस्मि" इत्याकारकानुसंधानस्वरूपस्य सद्भावो न स्यात्. स्वस्मिन् स्वभेदस्यबाधितत्वात् । तस्मात् मोक्षकारणसमाधिसिद्ध्यर्थम् जीवात्मनः कर्तृत्वमवश्यमेवान्वेष्टव्यमिति सक्षेपः ॥ ३९ ॥

सारबोधिनी—वक्ष्यमाण समाध्यभावरूप हेतु से भी सिद्ध होता है कि आत्मा ही कर्त्ता है । किन्तु प्रकृति अथवा प्रकृति का कार्य जो बुद्धितत्त्व वह कर्त्ता नहीं है । क्योंकि मोक्ष के कारण रूप से समाधि का प्रतिपादन किया है । समाधि है "प्रकृति तथा प्रकृति कार्य से मैं भिन्न हूँ" इत्याकारक अनुसंन्धान । एतादृश समाधि का अभाव हो जायगा । कारण कि स्व में स्व का भेदानुसंधान नहीं हो सकता है । अतः आत्मा ही कर्त्ता है इस अभिप्राय से कहते हैं "प्रकृतेरेव कर्तृत्वेतु" इत्यादि । प्रकृति को ही कर्त्ता मानें तो मोक्ष प्राप्ति के लिए "प्रकृति तथा प्रकृति कार्य से मै भिन्न हूँ" इत्याकारक अनुसंधान रूप जा समाधि उसका अभाव हो जायगा । क्योंकि स्व में स्व का अनुसंधान असंभावित है । इसलिए प्रकृति में कर्तृत्व नहीं है । किन्तु चेतन जो आत्मा वही कर्त्ता है यह सिद्ध होता है । कारण कि प्रयत्न रूप धर्म चेतन समवेत होता है ॥३९॥

न करोति चेति । अचेतनात्मिकायाः प्रकृतेरिच्छाद्यभावान्नव्यवस्थेत्यात्मन एव कर्तृत्वम् ॥ ४० ॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ कर्त्रधिकरणम् ॥ ७ ॥

विवरणम्–यदि चेतनस्यात्मनः कर्तृत्वं स्वीक्रियते तदाकरणकलेवर संम्पन्न आत्मा स्वकीयेच्छा सत्त्वे कार्यं करोति तदभावे न करोतीति करणाकरणयोर्व्यवस्था भवति । प्रकृतेः कर्तृत्वेतु तस्या अचेतनत्वेनेच्छाद्यसंभवात् कार्यस्यकरणाकरणव्यवस्थानस्यादित्येतादृशव्यवस्थायाः सम्पादनायात्मैव कर्त्ता न प्रकृतिरित्यावेदयितुमुपक्रमते "ज्ञानेच्छादिगुणवत्" इत्यादि । ज्ञानेच्छाप्रयत्नसुखदुःखधर्माधर्मसंस्कारात्मकगुणविशिष्टो जीवः स्वकीयेच्छानुरोधेन कार्यं कुर्वन् कर्तृत्वमवाप्नोति । इच्छाया अभावे कार्यमकुर्वन् न भवति कर्त्ता । एतादृशी व्यवस्था लोकसिद्धोपपद्यते । यथातक्षा कर्मकारो वास्यादिबाह्यकरणसम्पन्नोऽपि स्वकीयेच्छामनुसृत्यकार्यं कुर्वाणो दृश्यते । इच्छाया अभावे विमुक्तवास्यादिकरणोऽकुर्वाण एव भवति, इति कार्यस्य करणाकरणव्यवस्था

सारबोधिनी–चेतन आत्मा को कर्त्ता मानते हैं तब इच्छादि गुण के सद्भाव में कार्य होता है तदभाव में कार्य नहीं होता है । एतादृश व्यवस्था करणाकरण की बनती हैं । प्रकृति में इच्छादि नहीं होने से उक्त व्यवस्था की उत्पत्ति नहीं होगी । इस अभिप्राय से कहते हैं "ज्ञानेच्छादि गुणवतः" इत्यादि । ज्ञानेच्छा प्रयत्नादि गुणवान् जो जीव उसकी जब इच्छा होती हैं तब वह कर्त्ता बनता है । और जब इच्छा नहीं होती है तब कर्त्ता नहीं बनता है । इस प्रकार से कार्य की करणाकरण व्यवस्था होती है । जैसे तक्षा "सुथार" अपनी इच्छा के अनुकूल वसूला वगैरह बाह्य साधन के सहकार से तक्षणादि कार्य को करता हुआ तादृश क्रिया के प्रतिकर्त्ता कहलाता है । और जब मजूरी करने की इच्छा नहीं रहती है तब बाह्य साधन वसूला प्रभृति को छोड करके अकर्त्ता कहलाता है । प्रकृति तो अचेतन है ।

अथ परायत्ताधिकरणम् ॥ ८ ॥

परात्तुतच्छ्रुतेः ॥ २।३।४१ ॥

एवमभिहितजीवस्य कर्तृत्वं स्वायत्तमुतपरायत्तमिति संशयः । स्वेच्छयानुष्ठितानां कर्मणां फलमपिस्वेनैवभोक्तव्यमतः स्वायत्तमेव कर्तृत्व-

---

लोकसिद्धा समुपपद्यते । परन्तु प्रकृतेः कर्तृत्वे इयं व्यवस्था नोपपद्येत । यतो जड़रूपायास्तस्या इच्छादिगुणानामभावात् । तस्मात् आत्मनः एव कर्तृत्वं न तु जड़स्य प्रधानस्य तत्त्वमितिदिक् ॥ ४० ॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्रीरघुवरायवृत्तिविवरणेकर्त्रधिकरणम् ॥७॥

विवरणम्—अथ गतप्रकरणेन जीवस्य ज्ञातृत्वं कर्तृत्वंचेति विचारितम् । अतः परं तस्य कर्तृत्वं स्वाधीनं पराधीनंवेति विचारयितुं प्रकृतप्रकरणमारभते । तत्र स्वाधीनमेव कर्तृत्वम् "शास्त्रादेशितंफलमनुष्ठातरि" तथा इतरकारकानपेक्षत्वे सति सकलकारकप्रयोजकत्वस्य स्वाधीनतायामेव संभवान्नपराधीनमितिपूर्वपक्षे पराधीनमेव तत्तस्येति सिद्धान्तः कुतः ? तच्छ्रुतेः अर्थात् परमात्माधीनकर्तृतायाः शास्त्रे श्रवणादित्याश-

तो उसमें इच्छादि गुण के अभाव होने से इच्छानुकूल कर्तृत्व नहीं हो सकता है। तस्मात् आत्मा ही कर्त्ता है यह सिद्ध होता है । जो कोई जीव को परोपाधि कर्त्ता मानते हैं वे श्रुत्यर्थ को नहीं जानते हैं ॥४०॥

इति कर्त्रधिकरणम्

सारबोधिनी—गत प्रकरण से आत्मा में ज्ञातृत्व तथा कर्तृत्व धर्म का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु जीव निष्ठ जो कर्तृत्व धर्म है वह जीव का स्वाधीन है अथवा परमात्मा के अधीन अब इस बात का विचार करने का है । उसमें स्वाधीन कर्तृत्व है अन्यथा निरपेक्ष स्वतंत्र कर्तृत्व जीव में नहीं होगा। पराधीनता मानें तब तो कर्मफल भोक्तृत्व भी परमें ही जायगा। इत्यादि विषय का विचार करके पराधीनता का सिद्धान्त सूत्र द्वारा

-मिति पूर्वः पक्षः। अत्राभिधीयते=तु शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति। तत्कर्तृत्वमात्मनः परमात्मायत्तमेव न स्वायत्तम्, "अन्तः प्रविष्टः शास्ता"[तै०-३।११।१०] "य आत्मानमन्तरोयमयति" [बृ०३।७।२२।] इत्यादि श्रुतेः॥ ४१ ॥

येन सूत्रव्याख्यानाय प्रक्रमते "एवमभिहितजीवस्येत्यादि। एवम् पूर्व प्रकरणप्रतिपादितं यज्जीवनिष्ठंकर्तृत्वं तत्र जीवस्य स्वाधीनमथवा पराधीनमिति संशयः। तत्रानेकविप्रतिपत्तिवाक्यमेव संशयकारणम्। तत्र-पूर्वपक्षवादिनस्तु प्रतिपादयन्ति. यत् "शास्त्रेदर्शितंफलमनुष्ठातुरेवभवति." अर्थात् येन यत् कर्मशुभमशुभं वा क्रियते तादृशकर्मणः फलं सुखदुःखादिकं तेनैवभुज्यते नान्येन पराधिनत्वेतु परस्यैव तादृशं फलंस्यान्नाधिष्ठातुः तस्माज्जीवस्य कर्तृत्वम् स्वाधीनमेवेतितदाशयः। उत्तरयति सिद्धान्ती सूत्रमुदाहरत् परात्तुतच्छ्रुतेरिति। अत्र सूत्रे तु शब्दः पूर्वपक्ष व्यावर्तकः। यदिदं जीवस्य कर्तृत्वं तन्नस्वाधीनं किन्तु परेशाधीनमेव। कुतः? तच्छ्रुतेः श्रुतिरेव प्रतिपादयति तथाहि "अन्तः प्रविष्टः शास्ता-

बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "एवमभिहित जीवस्य कर्तृत्वमित्यादि एवम् अर्थात् पूर्व प्रक्रान्त प्रकरण से प्रतिपादित जो जीव निष्ठ साधारण कर्तृत्व धर्म है। वह जीव का स्वाधीन है। अथवा परमात्माधीन कर्तृत्वधर्म है ऐसा सन्देह होता है। इसमें अपनी इच्छानुकूल अनुष्ठीयमान जो कर्म उसका फल "शास्त्रप्रतिपादितकर्मफल अनुष्ठाता को ही प्राप्त होता है। तथा स्वाधीनता ही में स्वतंत्र कर्तृत्व का निर्वाह होता है। क्योंकि इतर कारक से अप्रयोज्य होकर के स्वेतर सकल कारक का प्रयोजक स्वरूप स्वतंत्र कर्तृत्व तब ही घट सकता है अन्यथा नहीं। अन्यथा कर्मफल अन्य में संक्रमित हो जायगा। इसलिए स्वाधीन कर्तृत्व जीव का है। पराधीन कर्तृत्व नहीं ऐसा आशय पूर्व पक्ष का होता है।

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्ती कहते है 'परात्तुतच्छ्रुतेः' एतत्सूत्र

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः २।३।४२।

ननु परमात्मायत्तजीवकर्तृत्वे विहितप्रतिषिद्धकर्मणां वैयर्थ्यं स्यादितिचोद्यंपरिहरति–कृतेति । तुशब्दश्चोद्यनिवर्त्तकः । पूर्वं जीवः स्वेच्छयाकार्यप्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यां प्रयतते । परस्तु तं तत्र प्रयतमानमुदीक्ष्यप्र-

---

जनानाम्" य आत्मानमन्तरं यमयति" "केनापिदेवेनहृदिस्थितेन यथा-नियुक्तोस्मि तथा करोमि" "ईश्वरः सर्वभूतानाम्"एष एव साधुकर्म-कारयति"इत्यादि श्रुतिस्मृतिशतेभ्यः परमात्मनोऽधीनमेव कर्तृत्वं जीवस्य नतु स्वाधीनम् । नच तथात्वे परमेश्वरस्य कर्मफलभोगोपिस्याज्जीव-वदितिवाच्यम्, अदृष्टाभावात् ।"अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति"श्रुतेश्च । त-स्मात्परमेश्वराधीनमेवकर्तृत्वं जीवस्य नतु स्वाधीनमिति संक्षेपः ।।४१। घटक तु शब्द पूर्वपक्ष का निराकरण करता है । तत् जीवात्मा में जो कर्तृत्व है वह परमेश्वर परम कारण के अधीन है किन्तु स्वतंत्र नहीं है । क्योंकि श्रुति ऐसा कहती है । 'प्रत्येक प्राणियो के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो करके परम पुरुष शासन करता है ।' जो जीवात्मा के अन्तः प्रविष्ट होकर के उसे नियन्त्रित करता है । 'मै धर्म को जानता हूँ मै अधर्म को भी जानता हूँ परन्तु स्वतंत्र मेरी प्रवृत्ति नहीं हो रही है, किन्तु कोई एक विलक्षण देव मेरे अन्दर में प्रविष्ट हैं । वह जिस प्रकार नियुक्त करता है वैसा ही मैं करता हूँ । "परमेश्वर सभी के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो करके दारू यंत्र के समान सबको चलाते हैं । इत्यादि अनेक श्रुति पुराणादि वाक्य से सिद्ध होता है कि परमात्मा के अधीन जीव का कर्तृत्व है स्वाधीन कर्तृत्व नहीं । पराधीनकर्तृत्व होने पर परमेश्वर को फलोपभोग होगा, ऐसा नहीं कहना क्योंकि परमेश्वर में अदृष्ट नहीं है । तथा 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति, इत्यादि श्रुति से परमेश्वर में फलोपभोग का निराकरण किया गया है । अतः परमात्मा के अधीन जीव में कर्तृत्व है स्वाधीन कर्तृत्व नहीं. ॥४१॥

यत्नानुगुणमनुमतिम्प्रदाय प्रवर्तयतीति न स्वातन्त्र्येणास्य प्रवृत्तिः। एवं परमेश्वरानुमति प्रयुक्ते जोवस्य कर्तृत्वे विहितप्रतिषिद्धकर्मणां वैयर्थ्यं-न भवति । कर्तुरेवफलसम्बन्धात् । परस्तु जीवकृतप्रयत्नापेक्षोऽनु-मन्तैव ॥४२॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ परायत्ताधिकरणम् ॥८॥

विवरणम्—अथ क्रियासु यज्जीवस्य कर्तृत्वं तद्यदि परमेश्वरस्याधीनं तदा विषमफलदातुः परमेश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्यं स्यात् । तथा जीवेन यत् शुभमशुभंवा कर्मकृतं तादृशकर्मणां वैयर्थ्यमपिस्यादित्याशङ्कां निव-र्तयितुमाह" कृतप्रयत्नापेक्ष"इत्यादि । सूत्रं व्याख्यातुकामो वृत्तिकारः प्रक्रमते "ननु परमात्मायत्तजीवकर्तृत्वे" इत्यादि । यदि जीवनिष्ठ-मपि कर्तृत्वं परमेश्वराधीनमेव तदा हीनोत्तममध्यमान् कुर्वन् परमेश्वरो वैषम्यनैर्घृण्यदोषयुक्तोभवेत्, तथा जीवकृतविहितप्रतिषिद्धकर्मणां नैर-र्थक्यमप्यापतेदिति चेन्न कृतप्रयत्नापेक्षत्वात् परमेश्वरस्येति । सूत्रघ-टकस्तु शब्दः पूर्वकथितदोषनिवर्तकः। सर्वामेव क्रियां जीवः स्वेच्छ-या संपादयति, परमेश्वरस्तु तत्र तं प्रयत्नानुकुलं केवलमनुमतिं दत्वा

सारबोधिनी—ननु यदि परमात्मा परम कारण के अधीन ही जीव का कर्तृत्व हैं अर्थात् गमनादिक ऐहिक पारलौकिक को क्रिया में भी जब जीव की स्वधीनता नहीं है किन्तु तादश क्रिया भी परमेश्वराधीन है। तब तो हीनमध्यमोत्तम सुखी दुःखी प्राणी के सर्जन करने से परमेश्वर में वैषम्य नैर्धृण्य दोष होगा । तथा जीव ने जो श्रुति विहित कर्म का तथा श्रुतिनिषिद्ध हिंसादिका आचरण किया, वे सब क्रियायें निष्फल हो जायेंगी। इत्यादि जो शङ्का है—इसशङ्का का निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं 'कृतप्रयत्नापेक्ष' इत्यादि । जीव से किया गया जो प्रयत्न पुण्य पापाद्य कर्म शुभाशुभ तादृश कर्म सापेक्ष होकर के ही परमेश्वर जीव को तत्तत् क्रिया में प्रवृत्त कराते हैं। प्रवृत्त जीव ही होता हैं । तादृश

अथांशाधिकरणम् ॥ ९ ॥

अंशोनानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥ २।३।४३ ॥

भूयोपि जीवस्वरूपं चिन्त्यते। किमयं जीवः परमात्मनोभिन्नोऽभिन्नोवोत तदंश इति संशयः। तत्र" पृथगात्मानं प्रेरितारञ्चमत्वा"[श्वे० १।६।]

कर्मणि प्रेरयति, नतु स्वयं कर्म करोति। अत एव जीवकृतविहितप्रतिषिद्धकर्मणामपिनैरर्थक्यं न भवति. यतः क्रियाजनितफलेन कर्तुर्जीवस्यैव सम्बन्धात्. परमेश्वरस्तु केवलमनुमतिं प्रदाता एवातः फलभाग् नभवति कदाचिदपि, नवा जीवकृतकर्मणां वैयर्थ्यमिति ॥ ४२ ॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतौ
श्री रघुवरीयवृत्तिविवरणे परायत्ताधिकरणम्॥८॥

क्रिया का साक्षात् कर्त्ता तो जीव ही हैं। परमेश्वर तो केवल प्रवर्तक है तादृश शुभाशुभ कर्मापेक्ष होकर के। जसे व्रीह्यादिके उत्पत्ति में तो असाधारण कारण तत्तत् बीज है पर्जन्य साधारण कारण तद्वत् प्रकृत में भी समझें। अतएव कर्म का नैरर्थक्य अथवा परमेश्वर में पूर्वोक्त दोष नहीं होता है।

सूत्र घटक जो तु शब्द है वह पूर्वशङ्का का निराकरण परक है। पहिले जीव स्वेच्छा से कार्य की प्रवृत्ति अर्थात् शुभ कार्यों में प्रवृत्ति तथा शास्त्रप्रतिषिद्ध कर्मों की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करता है। तब तादृश कार्यों में प्रवर्तमान पुरुष–जीव को देख करके भगवान् जीव का जो प्रयत्न उसका अनुकूल अनुमति दे करके उस जीव को शुभाशुभ कार्य में प्रवृत्ति कराते हैं। इसलिए जीव की स्वतंत्र प्रवृत्ति नहीं है। एवम् परमेश्वर की अनुमति प्रयुक्त जीव के कर्तृत्व में विहित प्रतिसिद्ध कर्मों का वैषम्य भी नहीं होता है। क्योंकि फल के साथ तो कर्त्ता का ही सम्बन्ध होता है। परमात्मा तो जीव कृत जो प्रयत्न तादृशापेक्षा होकर के केवल

"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" [श्वे०४।६।] 'ज्ञाज्ञौद्वावजौ" [श्वे०१।६।] इत्यादि श्रुतिभ्योभेदव्यपदेशाद्भिन्न इत्येकः पक्षः। "तत्त्वमसि" [छा० ६।१०।३] "अयमात्माब्रह्म [छा०६।४।५।] इत्यादिश्रुतिभ्योभेदस्यौपाधिकत्वादभेदव्यपदेशाद् ब्रह्मणोऽभिन्न एव जीव इति द्वितीयः पक्षः।

विवरणम्—परमेश्वरानुमोदितस्यैव जीवस्य कर्तृत्वं विचिन्त्य तस्यैवावशिष्टं स्वरूपान्तरं विचारयितुमयमुपक्रमोभवति। तत्र जीवः परमात्मनोऽत्यन्तभिन्नोऽत्यन्ताभिन्नोऽथवा परमेश्वरस्यांशभूतः इति संशये भेदप्रतिपादकानेकश्रुतिदर्शनादत्यन्तभेदः। अभेदप्रतिपादकश्रुतिदर्शनाच्चाभेदइति मतद्वयमपि निरस्य परमेस्वरांशो जीव इति सिद्धान्तयितुमुपक्रमते "भूयोऽपि जीवस्वरूपमित्यादि। परमेस्वरानुमोदितमेवकर्तृत्वादिकमिति विचारानन्तरं पुनरपि तदीयमेवावशिष्टंस्वरूपं विचारयितुं प्रवर्तते चिन्तेत्यर्थः तत्र किमयं जीवः परमेस्वरादत्यन्तभिन्नोऽथवा परमेस्वरादत्यन्तमभिन्नः अथवा परमेस्वरस्यांशभूत इति वा संशयः। अनेकश्रुतिदर्शनाद्विप्रतिपत्ति-

अनुमति प्रदान ही करते हैं। प्रवृत्त तो कर्त्ता जीव ही होता है। इसलिए अनुमति प्रदाता में फल सम्बन्ध नहीं होता हैं किन्तु स्वतंत्र कर्त्ता में ही होता है ॥४२॥

इति परायत्ताधिकरणम् ॥

सारबोधिनी—परमेश्वर से अनुमोदित कर्तृत्व जीव में है किन्तु स्वतः कर्तृत्व जीव में नहीं है। इस बात का निरूपण गत प्रकरण में किया गया है। अब अवशिष्ट जीव स्वरूप के लिए पुनरपि विचार करते हैं। क्या यह जीव परमेश्वर से सर्वथा भिन्न हैं ? अर्थात् अत्यन्त भेद जीव परमेश्वर में हैं ? अथवा अत्यन्त अभेद अथवा अग्निविस्फुलिङ्ग न्याय से परमेश्वर का अंश है। इत्याकारक संशय होता है यद्यपि इस विषय में आरंभण सूत्र में विचार किया गया है। तब उसका पुनर्विचार असंगत प्राय लगता है। तथापि अनेक प्रकारक श्रुति के देखने से विप्रतिपत्ति होती है

अत्राभिधीयते सिद्धान्तः। प्रोदीरितश्रुतिषु भेदाभेदव्यपदेशादयं जीवो ब्रह्मणोंऽश एव। ब्रह्मणो जीवशरीरकत्वे सत्येव तत्वमसीत्यादौ सामानाधिकरण्यं मुख्यं भवति। अत एवैकेशाखिनः "ब्रह्मदाशा अब्रह्मदाशा ब्रह्मैवेमे कितवाः [आथर्वणश्रुतिः] इति सर्वजीवव्याप्तिमामनन्ति तथा चाहुराचार्याः "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य इति श्रूतेः अणुरात्मा मनोग्राह्यः स्वीकृतो वैदिकैर्बुधैः॥" इति ॥४३॥

बलेन पुनरपि संशयो जायते। तत्र "पृथगात्मानंप्रेरितारंचमत्वा" [जीवः स्वस्मादत्यन्तभिन्नं कमपि स्वकीया क्रियासु प्रेरयितारं परमेश्वरं मत्वा-ज्ञात्वेत्यर्थः]"तयोरन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति.अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति [एकस्मिन् शरीरवृक्षे ऽवस्थितौ पक्षिणौ. तत्रैकः स्वकृतकर्मफलमश्नाति तदन्यश्च. उपभोगं कर्मफलस्याकुर्वाण एव प्रकाशात्मना प्रकाशते इति] तथा "ज्ञाज्ञौद्वावजावीशानीशौ" [ज्ञः परमात्मा अज्ञोजीव अजौ नित्यौ एक ईशः सर्वसमर्थस्तदन्यो जीवोऽनीशोऽसमर्थः] अत्र द्वन्द्वे उभयोरेव प्राधान्यात् अत्यन्त भेद उभयोरिति। इत्यादिश्रुतिभिर्जीवेशयोर्भेददर्शनात्तयोरत्यन्तभेद एव भवतीत्येको भेदपक्षः। "तत्वमसि" "अयमा-

अतः पुनः संशय होने से विचारारंभ आवश्यक है। उसमें "पृथगात्मानं प्रेरितारम् [जीव भिन्न प्रेरयिता आत्मा को जानकर।] "तयोरन्यः' [एक शरीर रूप वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। उनमें से एक जीव तो स्वकृत शुभाशुभ कर्म फलका भोक्ता होता है। तथा द्वितीय परमेश्वर फलभोग के बिना ही उस वृक्ष पर अवस्थित हैं।]"ज्ञः अज्ञः ईश अनीशः अज" हैं ये दोनों इत्यादि अनेक श्रुति तथा स्मृतियों में आत्यंतिक भेद का कथन होने से जीव तथा परमेश्वर में अत्यन्त भेद है। ऐसा भेदवादी का पक्ष है। तथा "तत्वमसि" 'अयमात्मा ब्रह्म' 'हे श्वेतकेतु! तुम सर्वज्ञ परमात्मा से अभिन्न हो यह शरीर पंजराध्यक्ष जीव ब्रह्म है" इत्यादि श्रुति से जीव

मन्त्रवर्णात् ॥२।३।४४॥

इतश्चांशो जीवः। "पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि" [पु०सू०] इति मन्त्रवर्णात् ॥ ४४ ॥

त्मा ब्रह्म" इत्यादिभिस्तादात्म्यप्रतिपादनाद्भेदस्यौपाधिकत्वम् अभेदस्य च मुख्यत्वात् परमेस्वरादत्यन्ताभिन्न एव इति तदपरःपक्षः। ततश्चैकपक्षे परमेस्वरादत्यन्तभेद एकपक्षेचात्यन्ताभेद इति मतद्वयमपि निरसितुमाह "अत्राभिधीयते सिद्धान्त इति। बहुषु श्रुतिषु भेदः प्रतिपादनादन्यत्रचाभेदप्रतिपादनादयं जीवो ब्रह्मण अंश एवेति यदि परमात्मा जीवशरीरको भवेत् तदैवतत्वमस्यादिश्रुतिप्रतिपादितसामानाधिकरण्यं जीवेशयोर्मुख्यःस्यादन्यथा तु गौणमेव तयोः सामानाधिकरण्यं भवेदिति। अत एवाथर्वणशाखाध्यायिनः "ब्रह्मदाशा ब्रह्मदाशा ब्रह्मेवेमे कितवाः" इत्यादिना परमेश्वरस्य सर्वजीवव्यापित्वमेव प्रतिपादयन्तीति भाष्यविवरणेविस्तरमिति दिक् ॥ ४३ ॥

परमेश्वर का भेद उपाधिजनित है और मुख्यतया अभेद है। इस प्रकार ब्रह्म से अभिन्न जीव है इत्याकारक द्वितीय पक्ष है। एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्त बतलाते है 'अत्राभिधीते सिद्धान्तः।" पृथगात्मानम्' तथा 'तत्त्वमसि' इत्यादि पूर्व प्रदर्शित श्रुतियों में भेद तथा अभेद का प्रतिपादन होने से यह जीव परमेश्वर का अंश हैं, ऐसा सिद्ध होता है। यह जीव ब्रह्म का अंश है क्योंकि नानाभेद का तथा कर्तृत्व का व्यपदेश है। 'नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' इत्यादिक श्रुति में जीव परमेश्वर में नित्यत्व रूप से जीव का अविधान से शरीर शरीरित्व से नियाम्यत्वनियन्तृत्वादिरूप से भेद का कथन होता है। तथा तत्त्वमस्यादि वाक्य से एकत्वेन व्यपदेश है। तो अपहत कामत्वादिक जो परमेश्वर है उसकी अविद्या सम्बन्धकृत जीवत्व अनुपपन्न है। अतः दोनों में अंशाशीभाव ही समुचित है। अत एव आथर्वणिक शाखावालों ने दासकितवादि कह करके ब्रह्मको सर्व जीव व्यापित्व का ही कथन किया है अतः न सर्वथा

अपि च स्मर्यते ॥ २।३।४५ ॥

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" [गी० १५।७।] इति स्मृतेश्च जीवो ब्रह्मांश एव ।। ४५ ।।

विवरणम्—न केवलं श्रुतियुक्तिभ्यामेव जीवो ब्रह्मणोंऽश इति सिद्ध्यति किन्तु मन्त्रवर्णेनापि परमेस्वरांशत्वं जीवानां सिद्ध्यतीतिदर्शयितुमुपक्रमते "इतश्चांशो जीव" इत्यादि। इतो वक्ष्यमाणमन्त्राद पि परमात्मनोंशा जीवाः। "पादोस्य विश्वाभूतानीत्यादि। अस्य जगतः-परमकारणपरमेस्वरस्य सर्वभूतानि पादः अंशाः शेषावयवरूपाः अवशिष्टं च पादत्रयमस्यामृतलक्षणं तद् दिविद्योतनात्मकस्थाने। "देवानां पुरयोध्या" इत्यादिलक्षणलक्षिते साकेतापरपर्याये दिव्यधाम्नोति शेषः एवं च भूतमात्रैकपादस्थानीयतायाः प्रतिपादनात्. अंशरूपत्वं जीवानां सिद्धं भवति। एवं "ममैवांशो जीवलोके" इत्यादिवचनादप्यंशत्वं निष्पन्नतरं तस्येति "एवं भगवदंशत्वेऽपि बद्धमुक्तव्यवस्था सम्भवति" (गीतानन्दभाष्यम्) इत्याद्याचार्योक्तेः ।। ४४ ।।

विवरणम्—न केवलं मंत्रवर्णेनैवजीवानां परमेश्वरांशत्वमपितु गीतादि

भेद जीव परमेश्वर में है न वा सर्वथा अभेद। किन्तु ब्रह्म का अंश रूप जीव है, ऐसा सिद्धान्त होता हैं। इस विषय में विशेष विचार भाष्य ग्रंथ विवरण में देखना चाहिए ॥४३॥

सारबोधिनी—इस वक्ष्यमाण मन्त्रवर्ण से भी सिद्ध होता है कि जीव परब्रह्म के अंशरूप हैं। तादृश मन्त्र को बतलाते हैं "पादोस्येत्यादि" इस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का "सभी भूतगण एक पाद स्थानीय हैं। और अवशिष्ट पादत्रय द्योतनात्मक स्थान श्री साकेत में अमृत स्वरूप है। परमेश्वर के एकपाद स्थानीय कहने से परमेश्वरावयवत्व अर्थात् शरीरवत्व सूचित होता है ॥४४॥

सारबोधिनी—इस जीवलोक में अवस्थित जो जीवराशि हैं वे सब

प्रकाशादिवत्तुनैवं परः ॥ २।३।४६ ॥

नन्वंशत्वे जीवस्य तदीयदुःखानां ब्रह्मण्यपि प्रसक्तिः स्यादिति चोद्यं परिहरति–प्रकाशादिति। तुना चोद्यनिरासः । प्रकाशवतामंशु

स्मृत्यक्षरेणापि परमेश्वरस्यांशरूपत्वं सिद्ध्यतीति तदेव दर्शयितुमुपक्रमते "ममैवांश"इत्यादि। जीवलोके विद्यमानो जीवः शरीरादीनांमध्ये कर्मफलभोक्ताजीवराशिर्ममपरमेश्वरस्यांशोमदंशभूतोंशलक्षणः सोऽपि परमेश्वरवत् सनातनः सर्वथानित्य एव नत्वनित्यस्तथात्वे तत्वमसीत्यादिना सृष्टिपूर्वकाले नामरूपविभागानर्हत्वेन तयोः प्रतिपादिता भेदवान् न स्यात्। ततश्च परमेश्वरेणसह तस्य सामानाधिकरण्यदर्शनाद्दंश एव जीव इति ॥ ४५ ॥

विवरणम्–ननु यदि जीवः परमपुरुषस्यांशरूपस्तदा परमेश्वरस्यैकदेशभूतजीवनिष्ठसुखदुःखादिदोषेण परमेश्वरोऽपि सम्बद्धःसन तदीयसुखदुःखादिभाक् स्यात् । यथा शरीरैकदेशहस्तपादादिगतगुणदोषाभ्यां शरीरस्यापि संबन्धवदिति शङ्कामुच्छेत्तुमुपक्रमते "नन्वंशत्वे जीवस्य" नित्य है। तथा मेरे परमेश्वर के अंश अर्थात् अंशरूप है । इस प्रकार से गीतादि स्मृतियों में भगवान् सर्वशक्तिमान् श्री कृष्ण ने स्वयमेव बतलाया है अतएव तत्वमस्यादि प्रकरणों में जो जीव ब्रह्म का सामानाधिकरण्य प्रतिपादन किया है वह भी घटित होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवराशि ब्रह्म श्रीराम जी का अंशरूप ही है। विशेष विवरण मेरे गीताभाष्यार्थचन्द्रिका विवरण में देखें ॥४५॥

सारबोधिनी–जीव को यदि परमात्मा का अंश मानते हैं तब शरीरैक देशरूप जो जीव तद्गत जो पुण्यापुण्य संपादित सुख दुःख हैं उन सुखादि दोष से परमात्मा भी सम्बद्ध होंगे इत्याकारक जो पूर्वपक्ष है उसका निराकरकण करने के लिए सूत्रकार कहते है "प्रकाशादि वदिति। अंश गत दोष से अंशी परमेश्वर सम्बन्ध नहीं होते है। प्रकाशादि के समान

मालिप्रभृतीनां यथा प्रकाशोंशस्तथा ब्रह्मांशो जीवः। एवं ब्रह्मशरीरस्य जीवस्यांशत्वेऽपि शरीरदोषाणां यथा न शरीरिणि जीवे सम्बन्धस्तथांशभूतजीवनिष्ठानां कर्मप्रयुक्तसुखदुःखादिदोषाणां न परमात्मनि सम्बन्धः ॥ ४६ ॥

इत्यादि । यदि जीवो भगवदंशः स्यात्तदा जीवगतसुखदुःखाभ्यां परमेश्वरोऽपि सुखदुःखादिमान् स्यात्. एतादृश्याःशङ्कायाः समुच्छेदायाह—प्रकाशादीत्यादि ।सूत्रघटकस्तु शब्दः पूर्वोक्तशङ्काया निराकरणपरकः। परः परमेश्वरोनैवम्, अर्थात् जीवसुखादिनां संस्पृष्ठो न भवति. प्रकाशादिवत् ।यथा भास्वरप्रकाशवतः सूर्यस्य प्रकाशोंऽशोभवति तदीयविशेषणत्वात्. तथैव जीवशरीरकस्य परमेश्वरस्यजीवोऽपिविशेषविधयांऽशो भवति। एवं ब्रह्मणो जीवशरीकस्य जीवोंऽशोभवति। तथा च जीवस्यांशत्वेऽपिशरीर गतदोषस्य जीवेन सम्बन्धात् जीवगतदुःखादिदोषेण परेशो न सम्बध्यते किन्तु पुण्यापुण्यसंपादितसुखदुःखादीनां जीव एव सम्बन्धो न तु परमात्मनि तस्मिन् सुखदुःखप्रयोजकयोः पुण्यापुण्ययोरभावादिति दिक् ॥४६॥

यह सूत्रार्थ है। सूत्रघटक जो 'तु' शब्द है वह पूर्वपक्ष का निराकरण परक है। प्रकाशरूप गुणवान् जो अंशुमाली सूर्यादिक हैं उनका जिस तरह प्रकाश अंश एक देश है उसी तरह जीव भी ब्रह्म का शरीर होने से अंश एक देश है। तो ब्रह्म का शरीर जो जीव वह ब्रह्म का अंश होने पर भी जिस तरह जीव विशेषण जो करण कलेवर तदगत वृद्धत्वादि गुण से जीव का सम्बन्ध नहीं होता है। अर्थात् जीव वृद्ध वा युवान् नहीं कहलाता है। उसी तरह ब्रह्म के अंशभूत जीवगत पुण्यपाप प्रयुक्त सुख दुःखादिक से अंशी रूप परमात्मा का सम्बन्ध नहीं होता है। क्योंकि परमेश्वर में दुःखादि का प्रयोजक पुण्यपाप नहीं रहता है वह तो अपहत पाप्मा है ॥ ४६ ॥

स्मरन्ति च ॥ २।३।४७ ॥

"तत्र यः परमात्मासौ स नित्यो निर्गुणः स्मृतः । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवांभसा" [विष्णुपुराण] इत्यादिभिः स्मरन्ति च पराशरप्रभृतयोंऽशिनः परमात्मनो दोषराहित्यम् ॥ ४७ ॥

विवरणम्—अंशिनः परमात्मनोंशजोवगतदुःखादिभिः सम्बन्धो न भवत्यस्मिन्नर्थेऽन्येषामाचार्यादीनामपि संवादं दर्शयितुमुपक्रमते "तत्र यः" इत्यादि । तत्रांशांशिनोर्मध्ये यः परमात्मा सर्वशक्तिमान् जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयनियामकः, असौ तथाभूतः परमात्मा स तु नित्यः सर्वथा नित्य एव तथा निर्गुणः प्राकृतिकसर्वगुणसम्बन्धरहितो यस्मात् तस्मादंशभूतजीवसंपादितकर्मणा तत्फलेन दुःखादिना त्रिकालेऽपि लिप्तः सम्बन्धवान् न भवति । अन्तर्यामितया सर्वेषां भूतानां हृदयेऽवस्थितोपि सन् । अत्रार्थेऽनुरूपं लौकिकं दृष्टान्तं दर्शयति "पद्मपत्रम्" इत्यादि । यथा पद्मपत्रं पुष्करपलाशः सर्वथा जले. ओतप्रोतभवन्नपि जलगतलेपेन लिप्तो न भवति सामर्थ्यातिशयात्स्वभावाद्वा. तथैव परमात्मा सर्वत्र

सारबोधिनी—अंशी जो भगवान् वह स्वकीय अंशभूत जीवगत दुःखादि दोष से सम्बद्ध नहीं होते हैं । प्रकृत में अन्य आचार्यो की संमति बतलाने के लिये पुराणादि वचन का उद्धरण के साथ उपक्रम करते हैं "तत्र यः परमात्मा" इत्यादि । तत्र जीव परमेश्वर के मध्य में जो यह परमात्मा है वह नित्य है । सर्वंथा सर्वदा विनाशरहित है । अर्थात् प्राकृतिक जो गुण हैं तादृश गुणों से रहित हैं । इसलिए जोवकृत जो कर्म अथवा तदीय फल से सम्बन्ध नहीं होते हैं । जिस तरह सर्वदा जल में रहनेवाला भी कमलपत्र जलगत दोष गुण से सम्बन्ध नहीं होता है । तथा जो यह कर्मात्मा जीव है वह मोक्ष बन्धादि से सम्बद्ध होता है । इस प्रकार से पराशरादि महर्षि लोग अंशी परमात्मा में सर्वदोष राहित्य का प्रतिपादन करते हैं । एवम् "अनश्नन्नयो-

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ।२।३।४८॥

जीवस्य ब्रह्मांशत्वे समानेऽपि देहसम्बन्धादनुज्ञापरिहारावुपपद्येते । यथा यज्ञीयाग्नेर्ग्रहणानुज्ञा श्मशानाग्नेः परिहारस्तथा ब्राह्मणादिदेहवतो वेदाध्ययनानुज्ञा शूद्रादिदेहानाम्परिहारः ॥ ४८ ॥

सदावर्तमानोऽपि जीवसंपादितकर्मतत्फलेन सम्बद्धो न भवतीति समुदाहृत पुराणोक्तवचनस्यार्थः । इत्यादिना पराशरप्रभृतयोमहानुभावा अंशिनः परमात्मनो जीवकृतदोषैः सम्बन्धाभावं दर्शयन्ति । तथा "अनश्नन्नन्योभिचाकशीत्याद्यनेकश्रुतयोपि परमात्मनः सर्वदोषसंसर्गाभाव मिच्छन्तीति ॥ ४७ ॥

विवरणम्—ननु यदि सर्वे जीवाः परमपुरुषस्य परमात्मन एवांशभूता स्तदा कस्यचिद्वेदाध्ययनयागादौ कर्मण्यनुज्ञा दृश्यते. कस्यचिज्जीवस्य यागाध्ययनादौ निषेधः स कथमुपपद्यते ब्रह्मांशत्वेन सर्वजीवानां समानत्वादित्याशङ्क्यतत्परिहाराय सूत्रमुत्थापयितुमुपक्रमते "जीवस्य ब्रह्मांशत्वे" इत्यादि । जीवस्य करणकलेवराध्यक्षरूपश्रीरामांशस्य सर्वस्यापि परमात्मनोंऽशतया सदृशत्वेऽपि. तत्तद्देहसम्बन्धस्य विलक्षणतामादाय. अनुज्ञापरिहारयोर्विधिप्रतिषेधशास्त्रयोः सार्थक्यं संभवत्येव ज्योतिरादिवत्—अग्निवदिति । अयं भावः सर्वजीवानां ब्रह्मांशत्वेन तुल्यत्वेऽपि. पुण्यदेहवत्वाद् ब्राह्मणादीनामेवयागादिकरणेसमनुज्ञा नतुपापदेह

ऽभिचाकशीति" इत्यादि श्रुति भी परमेश्वर में दुःखादिक जो कि परमात्मा का अंशभूत जीव का गुण है तादृश गुणों के अभाव का प्रतिपादन करती है इसलिए परमात्मा का अंशरूप जीव से संपादित जो सुखदुःखादिक प्राकृत गुण राशि हैं उनसे परमात्मा को थोडा भी संस्पर्श नहीं होता है । पुण्यपापों से उपार्जित सुखादिक अपहतकामादिक गुणशीलता परमेश्वर में प्रसर्पित नहीं होते हैं । क्योंकि दुःखादिक का कारण पापादिक कर्म भगवान् में नहीं है ।।४७।।

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥ २।३।४९ ॥

परमात्मनोंऽशत्वेऽप्यणुरूपस्य जीवस्य प्रतिशरीरं भिन्नत्वान्नभोग

वतः शूद्रस्येति देहसम्बन्धवलादनुज्ञापरिहारयोरुपपत्ति र्भवति । यथा वह्नित्वेन सर्ववह्नेः समानतायामपि शुचिभूमिष्ठो वह्नि र्यागादिकार्यक्रणाय समाद्रियते, नतु क्रव्यादाग्नेः समादरः । तथैव शुभदेहवतो ब्राह्मणादेर्वेदाध्ययनादौ समनुज्ञा अशुभदेहवतः शूद्रस्य वेदाध्ययनादौ परिहारो निषेध इति । यथा वा पृथिवीत्वेन सर्वपार्थिवस्य वस्तुनः समानत्वेऽपि मण्यादेरादरो नतु मलमुत्रादेस्तद्वत्प्रकृतेपीति ॥ ४८ ॥

सारबोधिनी—यदि जीव मात्र ब्रह्म का अंश है तो अनुज्ञापरिहार की उपपत्ति किस तरह से होगी, एतादृश शङ्का का निराकरण करने के लिए कहते हैं "जीवस्य ब्रह्मांशत्वे" इत्यादि । सभी जीवों में ब्रह्मांशत्व समान है तथापि शुभ ब्राह्मणादि शरीर के सम्बन्ध से ब्राह्मणादिकों के लिए "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" एतादृश विहित अनुज्ञा है । और अशुभ देह सम्बन्ध से "न शूद्राय मतिं दद्यात्" इत्यादिपरिहार हैं । अर्थात् देह सम्बन्ध भेदकृत विधि प्रतिषेध से शास्त्र का समन्वय होता है । जैसे अग्नित्वरूपव्यापक धर्म से वह्नि मात्र की एकता होने पर भी शुचिभूमि में वर्तमान वह्नि का यज्ञादि कर्म के लिए विधान होता है और क्रव्याद श्मशानाग्नि को निषेध किया जाता है । इसी तरह प्रकृत में जीव मात्र को ब्रह्मांशत्वेन समानता होने पर भी शुचिशरीरक ब्रह्मांश के लिए श्रौतस्मार्त कर्म में अनुज्ञा है अशुचिशरीरवान् होनेसे शूद्र के लिए 'न शूद्रा यमतिं दद्यात्' इत्यादि शास्त्र से श्रौतस्मार्त कर्मों में उन शूद्रों का परिहार है । इस प्रकार से जीवमात्र के ब्रह्मांशरूप से एकता होने पर भी तत्तत्स्थलीय अनुज्ञा तथा परिहार की उपपत्ति हो जाती है । अथावा मनुष्यत्वरूप से सबके समान होनेपर भी शुभाशुभ कर्म विशिष्टदेह सम्बन्ध से कोई सुखी कोई दुःखी होता है । इसी तरह प्रकृत स्थल में भी अनुज्ञा परिहार की उपपत्ति होती है ॥४८॥

सांकर्यम् । मतान्तरे तु व्यतिकरः स्यादेवेति ध्येयम् ॥ ४९ ॥

विवरणम्– यथा सर्वजीवानां ब्रह्मांशत्वेनापि देहसम्बन्धादनुज्ञा परिहारौ समर्थितौ. तथा जीवानां ब्रह्मांशत्वेन तुल्यत्वे जीवस्याणु रूपस्य प्रतिशरीरं भेदमादाय भोगसाङ्कर्यस्यापि निराकरणं भवतीति दर्शयितुमुपक्रमते "परमात्मनोंऽशत्वेपीत्यादि । सर्वोऽपि जीवो ब्रह्मां शत्वेन समान इत्येकस्य यो भोगः स अन्यस्यापि स्यादिति चेत् ? जीव मात्रस्याणुत्वेन प्रतिशरीरभिन्नत्वात् । ततश्च प्रतिशरीरभिन्नत्वेनान्य दीयभोगत्वेनान्यभोगवान् न भवतीति । येषां मते जीवो व्यापक स्तेषां जीवस्य सर्वत्र सद्भावादन्यदीयभोगेनान्योऽपि भोगवान् स्या-

सारबोधिनी–जिस प्रकार परमात्मा का अंश सर्वजीवों के होने पर भी विलक्षण विलक्षण शरीर के सम्बन्धरूप व्यावर्तक रहने से अनुज्ञा तथा परिहार की अनुपपत्ति नहीं होती हैं ऐसा प्रतिपादन किया गया गत सूत्र में उसी तरह ब्रह्मांशता का सादृश्य होने पर भी अणुजीवों को तत्तत् शरीर के सम्बन्ध से परस्पर में भोग का सांकर्य नहीं होता है इस बात को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं 'परमात्मनोंऽशत्वेपीत्यादि' परमपुरुष सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परमात्मा का अंश होने पर भी अणु परिमाणवान् जो जीव उस जीव को प्रतिशरीर में भिन्न-भिन्न होने से भोग में सांकर्य नहीं होता है। अर्थात् देवदत्त समवेत सुखदुःख से विष्णुमित्र सम्बन्ध नहीं होता है। क्योंकि अवच्छेदकता सम्बन्ध से सुखादि की उत्पत्ति में तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छेदक को कारणता होती है समवाय सम्बन्ध से सुखादि की उत्पत्ति में तादात्म्य सम्बन्ध से जीव कारण है। तो यहाँ प्रकृत में अवच्छेदक जो शरीर है वह अणु जीव का परस्पर भिन्न है। इसलिए देवदत्त के सुख से यज्ञदत्त सुखी नहीं होता है। नवा यज्ञदत्त के सुखादिक से देवदत्त को सुखी होने की आपत्ति आती है। मतान्तर में अर्थात् जीवात्मा को व्यापक माननेवाले जो नैयायिक तथा वेदान्तैकदेशी हैं उनके मत से आत्मा व्यापक है तो प्रत्येक शरीर से सर्वथा

आभास एव च ॥ २।३।५० ॥

अज्ञानरूपोपाधिस्वीकारेऽपि न दोषमुक्तिर्यतो ब्रह्मणोऽविद्यया जीवभावश्चेत्प्रकाशात्मकस्य तस्य स्वरूपतिरोधाने स्वरूपनाश एव स्यात् । चाच्छ्रुतिविरोधोऽपि ॥ ॥ ५० ॥

देवेतिभोगसांकर्यदोषो नापयाति । अणुवादिनां तु अणुजीवस्य प्रतिशरीरभिन्नत्वान्नान्यदीयसुखदुःखाभ्यां नान्यः सुखी दुःखी वा भवतीति भावः ॥ ४९ ॥

विवरणम्—ननु यथा आकाशस्यैकत्वव्यापकत्वेऽपि घटाद्युपाधिवशात्परिच्छिन्नत्वभेदव्यवहारो तथैवात्मनो व्यापकत्वे एकत्वेऽपि चाज्ञानात्मकोपाधिभेदादेवभेदव्यवस्था तथात्वे भोगसांकर्याभाव इति चेन्न. नित्यस्वप्रकाशात्मकब्रह्मणोऽज्ञानोपहितत्वप्रतिपादको हेतुराभास एव ततश्च प्रकाशस्वरूपस्याज्ञानेन स्वरूपतिरोधाने स्वरूपविनाशे एव पर्यवसानादित्याशयेनोपक्रमते "अज्ञानरूपदोषस्वीकारेपीत्यादि" यदि भोगसांकर्यरूपदोषनिराकरणाय अज्ञानात्मक उपाधिः स्वीक्रियते येनसर्वथोपपादितास्यात्तथापि दोषाद् विनिर्मोक्षो न भवति ।

सर्वदा सम्बन्ध रहता है । अतः सर्वत्र सबको समान रूप से सुख दुःख का अनुभव होना अनिवार्य हो जायगा । इष्टापत्ति तो कह नहीं सकते हैं क्योंकि ऐसा होने से तो कृतप्रणाश तथा अकृताभ्यागम दोष होगा जो कि लोकानुभव तथा शास्त्र प्रमाण से बाधित है । अतः जीव को व्यापक मानना सर्वथा विरुद्ध है । शास्त्रानुकूल अणु परिमाणक जीव को मानना ही उचित है। जिससे भोग साङ्कर्य दोष का निवारण होता है अन्यथा नहीं हो सकता है॥४९॥

सारबोधिनी—जीव को व्यापक होने पर भी अविद्यारूप उपाधिके बलसे भोग सांकर्य दोष का परिहार हो सकता है । जैसे आकाश का

अदृष्टानियमात् ॥ २।३।५१ ॥

देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्ये ब्रह्मण्यदृष्टादिभिरपि व्यवस्था न सं

यतो यदि अज्ञानात्मकोपाधिभेदमादाय परमात्मैव जीवभावमधिगच्छति तदा स्वप्रकाशरूपस्य चेतनस्वरूपस्य तिरोधानं जातमर्थात् स्वरूप-स्यैव विनाशः स्यात्तथा च वरघातायैवकन्योद्वाहितेति न्यायाति क्रमणं न भवति। एवमुपाधिभेदेऽपि उपधेयगतधर्माणां सांकर्यमपरि हृतमेव भवति। तथा "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा" "द्वासुपर्णासयुजा सखाया" "द्वाविमौ पुरुषौलोके क्षरश्चाक्षर एव च "इत्यादि श्रुतिस्मृति विरोधोऽप्यवर्जनीयं परमतेऽतोऽस्मद्भाष्यकारीयमतमेवज्यायानिति दिक् ॥ ५० ॥

एक तथा व्यापक होने पर भी घट करकादि उपाधि भेदसे "घटाकाश करकाकाश:" इत्यादि रूप से भेद व्यवस्था होती है। उसी तरह प्रकृत में भी भेद व्यवस्था होगी। इस प्रकार पूर्वपक्षी का अभिप्राय को जानकर उसका निराकरण करने के लिए उपक्रम करते है 'अज्ञानरूपोपाधिस्वीकारे पीत्यादि' जीव में परस्पर भेद के नियामक अज्ञानरूप उपाधि के स्वीकार करने पर भी भोग सांकर्य दोष का परिहार नहीं होता है। क्योंकि यदि ब्रह्म ही अज्ञान रूप उपाधि के द्वारा जीव भाव को प्राप्त करता है तव तो सर्वथा प्रकाश स्वभाव ब्रह्म का जो स्वरूप उसका तिरोधान होने से स्वकीय स्वरूप का विनाश आवश्यक हो जायगा। तब तो बन्धमोक्ष व्यवस्था ही बिगड़ जायगी और उपाधि के भेद से भेद होने पर भी उपधेयगत जो धर्म है उनमें परस्पर सांकर्य तो निवारित नहीं होता है। तथा अज्ञानवादीयों के पक्ष में 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा' "द्वासुपर्णासयुजासखाया:" "द्वाविमौपुरुषौ लोके क्षर श्चाक्षर एव च" 'क्षर:सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते' इत्यादि श्रुति स्मृतियो का बाध तो व्याज रूप से प्राप्त होता है। इसलिए अणुवाद पक्ष ही ठीक है। नतु जीव का व्यापक अथवा अज्ञान पक्ष ॥५०॥

भवति। यतोऽदृष्टादीनामप्युपाधिप्रयोजकानां तदविशेषात् ॥ ५१ ॥

विवरणम्—ननु यत्समवेतं यददृष्टं पुण्यपापलक्षणं येन संपादितं तादृशधर्माभ्यां तस्यैव भोगो भवेत्. नान्यस्यादृष्टेनान्यस्य स्यादिति. शुभाशुभकर्मणा एव व्यवस्थापकत्वान्नभोगसांकर्यं नवा ब्रह्मणि भोगा पत्तिरितीमां शङ्कां निरसितुमुपक्रमते "देशकालेत्यादि" देशकालवस्तु कृतपरिच्छेदरहिते परमात्मनि. अदृष्टसंपादिताव्यवस्था स्यात्. अर्थात् सर्वपरिच्छेदरहिते परमात्मनि कर्मणोऽभावेन कर्मण स्वव्यवस्थापकत्वान्न ब्रह्मणि कश्चिद्दोष इति न वक्तव्यम् यत आत्मनो व्यापकत्वेन सर्वत्र सम्बन्धसत्त्वादिदं शुभाशुभं कर्म. एतस्यैव नान्यस्येति व्यवस्थाया असंभवात् । तस्मान्न व्यापकपक्षोज्यायानपित्वणुवादपक्ष एव समी चीन इति दिक् ॥ ५१ ॥

सारबोधिनी—जिस पुरुष ने यागादि क्रिया का संपादन करके यादृश अदृष्ट का उपार्जन किया है उस अदृष्ट से उसी पुरूष को भोगादिक प्राप्त होगा क्योंकि अदृष्ट और भोग में सामानाधिकरण्य का नियम है। इस प्रकार से शुभाशुभ कर्म को व्यवस्थापक मान करके भोग सांकर्य तथा ब्रह्म में जो दोष प्राप्त था उसका निराकरण होगा। इस शङ्का का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते है 'देशकालेत्यादि' देशकृत कालकृत तथा वस्तु कृत परिच्छेद से सर्वथा शून्य परमात्मा में अदृष्ट द्वारा व्यवस्था करेंगे, यह संभवित नहीं हैं। क्योंकि अदृष्टादिक जो उपाधि प्रयोजक धर्म हैं वे भी सर्व के लिए समान है। क्योंकि सब आत्मा तो सबको सर्वत्र होने से यह अदृष्ट इसी का हैं अन्य का नहीं है ऐसा नियम नहीं हो सकता है। इस लिए अदृष्ट रूप उपाधि के बल से सुखदुःख की

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥ २।३।५२ ॥

अदृष्टसरूपाभिप्रायविशेषेष्वपि स्वीक्रियमाणेषु न दोषनिर्मुक्तिः। यत उपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तस्यान्यस्य वस्तुनोऽभावात्। तद्विशिष्टम्ब्रह्मैव ॥ ५२ ॥

विवरणम्—ननु एतस्य कर्मणः फलभोगेच्छया इदं कर्मकरोमीत्याकारकाभिप्रायकाभिसन्ध्यपेक्षया क्रियमाणकर्मणः फलं तस्यैव स्यान्न तु तदन्यस्येति न भोगसांकर्यम्. नत्रा ब्रह्मणि कार्य्योपत्तिरितीमां शङ्कां-निराकर्तुमुपक्रमते"अदृष्टसरूप" इत्यादि। अदृष्टीयशुभाशुभकर्मणः सरूपःसमानरूपस्तदनुकूलोयोऽभिप्रायविशेषस्तस्यनियामकतया स्वीक्रियमाणेष्वपि भोगस्य क्रियादि दोषस्य निर्मुक्तिर्नभवति। यत उपाधिव्यतिरिक्तस्यभिन्नस्यपदार्थस्याभावादुपाधिविशिष्टंब्रह्मैवेति ॥५२॥

व्यवस्था नहीं हो सकती है। तस्मात् जीवात्मा को अणुपरिमाण मानने में यह कोई भी दोष नहीं होता हैं। इसलिए अणुपरिमाणवाद ही ठीक है। अतः आत्मा को व्यापक परिमाण नहीं मानना चाहिए। एवं 'वालाग्रशतभागस्य' 'एषोऽणुरात्मा चेतसावेदितव्यः' इत्यादि श्रुतिविरोध भी व्यापक पक्ष में होता है। तस्मात् अणुपरिमाणवाद ही श्रुत्यनुमोदित होने से ठीक है ॥५१॥

सारबोधनी—यदि अदृष्ट शुभाशुभ कर्म के अनुकूल अभिप्राय विशेष रूप अभिसंधि भोगसांकर्याभाव का नियामक रूप से मानें तथापि प्रकृत दोष से उद्धार नहीं होता है। क्योंकि उपाधि तथा ब्रह्म व्यतिरिक्त विभिन्न तो कोई भी पदार्थ नहीं है ॥५२॥

प्रदेशभेदादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥ २।३।५३ ॥

नन्ववच्छेदेऽपि ब्रह्मण्युपहितप्रदेशस्य भेदादनुपहितांशः परिशुद्ध एवेति शक्यते व्यवस्थापयितुमिति चेन्न, उपाधिदेशानामनैयत्यात्सर्वत्र सञ्चरन्नुपाधिरुपहितमेवाखिलं ब्रह्मकुर्यात् । उपहितप्रदेशानामपि ब्रह्मान्तर्भावाद् ब्रह्मैव दोषविशिष्टंस्यात्तस्मादंश एव जीवः ॥ ५३ ॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावंशाधिकरणम् ॥ ९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दाचार्यद्वारकेण
महामहोपाध्यायेत्युपाधिविभूषितेन ब्रह्मज्जिगद्गुरुश्रीरामानन्दा
चार्यरघुवराचार्य वेदान्तकेशरिणा विरचितायां श्री-
श्रीरघुवरीय वृत्तौ (ब्रह्मसूत्रीयवेदान्तवृत्तौ)
द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

विवरणम् - यद्यपि उपहितं ब्रह्मैवजीव इत्युपाधिप्रदेशस्यपरस्परंविभेदात् तदा योऽनुपहितोंऽशः सतु सर्वथाविशुद्ध एव इत्येवं क्रमेण व्यवस्था स्यात्। तथाप्युपाधिदेशानामननुगतत्वेन. सर्वत्र पदार्पणं कुर्वन् उपाधिः सम्पूर्ण ब्रह्मविषयीकुर्यात् । ततश्चोपहितप्रदेशस्यापि ब्रह्मण्येवान्तर्भावात्पूर्वोक्त-दोषस्तदवस्थ एवेति । तस्मात् ब्रह्मणोंऽश एव जीव इति संक्षेपः ५३ ॥

इत्यानन्दभाष्यकारजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यप्रधानपीठाचार्यं
जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य
योगीन्द्रकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्ति
विवरणे द्वितीयाध्यायस्य
तृतीयः पादः

सारबोधिनी—ब्रह्म का उपाधियुक्त होने पर भी ब्रह्म में उपहित जो प्रदेश है वह तो भिन्न भिन्न है । अनुपहित ब्रह्म तो विशुद्ध है । इस प्रकार से पूर्वोक्त सब व्यवस्था हो जायगी । यह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि उपाधि का जो प्रदेश है वह तो नियमित है नहीं । तब सर्वत्र पद प्रवेश करता हुआ उपाधि उपहित ही संपूर्ण ब्रह्म को करेगा । और उपहित जो प्रदेश है वह ब्रह्म में ही अन्तर्भूत हैं । तस्मात्परमात्मा का अंशभूत ही जीव है यह सिद्ध होता है ॥ ५३ ॥

इत्यंशाधिकरणम्

इति स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्यकृतासारबोधिन्यां द्वितीयाध्यायस्यतृतीयःपादः ।

॥ श्रीरामचन्द्राय नमः ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः

। प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

तथा प्राणाः ।२।४।१।

एवं गतेन पादेन जीवस्वरूपं तद्भोगायतनस्थूलदेहारम्भकाकाशादि भूतसंभूतिमवधार्येदानीं सूक्ष्मदेहारम्भकेन्द्रीयादिस्वरूपं विचिन्त्यते । तत्र प्राणानामुत्पत्तिरस्ति न वेति संशयः । "आत्मनः आकाशः सम्भूतः" [तै०२।१।] इत्युत्पत्तिप्रकरणे प्राणोत्पत्तेरश्रवणात् । "ऋषयो वात्र ते अग्रे

विवरणम्—विगतपादे आकाशादीनामुत्पत्तिः परमकारणात् परमात्मनः सकाशादेव जायते इत्येतद्विषयकः श्रुतिविप्रतिषेधो निराकृतः। ततः परं प्राणादीनामुत्पत्तिप्रतिषेधविषयकश्रुतिविप्रतिषेधो निराकर्तुमुपक्रमते"एवं गतेन पादेने" त्यादि ।'द्वितीयाध्यायस्यतृतीयपादेन शरीराध्यक्षभूतजीवस्य स्वरूपं तथा जीवस्यभोगायतनलक्षणस्थूलदेहस्योत्पादकनभः प्रभृतीनां संभूतिं समुत्पत्तिं निर्णीय ततः परं सूक्ष्मदेहोत्पादकेन्द्रियप्राणानां स्वरूपं निर्वक्तुमुपक्रमं करोति। तत्रसूक्ष्मदेहस्योत्पादक प्राणानामुत्पत्तिर्भवति नवेति संशयः । तत्र केचन प्राणानामुत्पत्तिमिच्छन्ति केचन तदुत्पत्तिं नेच्छन्तीतिविप्रतिपत्तेर्विशेषनियामकस्य कस्यचिदभावाद् भवति संशयः। "आत्मन आकाशः संभूतः"इत्यादि

सारबोधिनी—इस प्रकार गत पाद से अर्थात् द्वितीयाध्याय के तृतीय पाद से जीव का स्वरूप तथा जीव का भोगायतन भोग का अधिष्ठान जो स्थूल शरीर तादृश स्थूल शरीरका उत्पादक जो आकाशादि भूत समुदाय उनकी संभूति समुत्पत्ति का निश्चय करके तत पर सूक्ष्म जो देह उसका आरंभक समुत्पादक जो प्राणादिक इन्द्रियप्रभृतिक हैं उनके

सदासीत् तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणा वा व ऋषय इति"[शतप० ६।१।१।] इति प्राणनित्यत्वश्रवणाच्च । नोत्पत्तिरस्तीति पूर्वःपक्षः। अत्राभिधीयते—"एतस्माज्जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च" [मु० २।१।३।]इति श्रुतेर्वियदादिवत्प्राणा उत्पद्यन्त एव । "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्"[ऐ० १।१।१] इत्यादौ सृष्टेः प्रागात्मन एकस्यैवावस्थितिश्रवणाच्च। ऋषिश्रुतावर्षिपदेन परमात्मनो ग्रहणं न प्राणानाम् ।।१ ।।

भूतोत्पत्ति प्रकरणे प्राणोत्पत्तेरदर्शनात् । तथा"प्राणावाव ऋषयः"इत्यादि स्थले प्राणानां नित्यत्वप्रतिपादनात्. प्राणानामुत्पत्तिर्नभवतीति पूर्व पक्षः । उत्तरयति"तथा प्राणाः"अर्थात् आकाशादीनामुत्पत्तिः क्वचिद् दृश्यते. तथैव"एतस्माज्जायते प्राणोमनःसर्वेन्द्रियाणि च"अग्नेर्यथा-क्षुद्राविस्फुलिङ्गा"इत्यादिस्थलेआकाशादिवत् प्राणानामप्युत्पत्तिर्भवत्येवेति। यद्यपि क्वचिदश्रुतं तथापि यत्रोत्पत्तिर्दृश्यते तत्र बाधो न भवति । "प्राणा वाव ऋषयः"इत्यादिस्थले प्राणस्य नित्यता न प्रतिपाद्यते किन्तु प्राणशरीरकस्यपरमात्मन एव नित्यता प्रतिपाद्यते । यतः"आत्मा वा इदमग्ने अग्रे आसी"त्यादिस्थले उत्पत्तेः पूर्वंकेवलं परमात्मन एवावस्थानं श्रूयते नतु तद् व्यतिरिक्तस्यान्यस्यावस्थानं श्रूयते । तस्मात् परमात्मैव

स्वरूपों का विचार करते है । इसमें प्रथमतः संशय होता है कि प्राणों की उत्पत्ति होती है अथवा प्राणादिक नित्य है अतः उनकी उत्पत्ति नहीं होती हैं उस आत्मा परमात्मा से आकाशादिक उत्पन्न हुआ एतादृश तैत्तिरीयोत्पत्ति प्रकरण में प्राण की उत्पत्ति का श्रवण नहीं है । तथा 'वेऋषिलोकउत्पत्ति के पूर्व में सत् थे वे कौन ऋषि हैं ? प्राण ही ऋषि हैं । एवं रूप से शतपथ ब्राह्मण में प्राणका नित्यत्व श्रुत होता है । इसलिए एक तो उत्पत्ति प्रकरण में श्रवण नही है और शतपथ प्रभृतिक स्थल में नित्यत्व का प्रतिपादन होता है अतः आकाशादिवत् प्राण की उत्पत्ति नहीं है किन्तु प्राण नित्य है ऐसा पूर्व

गौण्यसम्भवात् ॥२।४।२॥

एवं तर्हि "आत्मन आकाशःसम्भूतः" इत्युत्पत्तिप्रकरणे प्राणोत्पत्त्यश्रुतत्वादेतस्माज्जायते प्राणः इति श्रुतिर्गौणीस्यादिति शङ्कां

केवलमवस्थितं भवतीति न प्राणो नित्यःकिन्तु आकाशो यथा परमात्मनो जायते तथा प्राणोऽपि तत उत्पद्यते एवेति । अन्यथा एक विज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञापिवाधितास्यादिति समुत्पद्यते एव प्राण इति सिद्धान्तः ॥ १ ॥

विवरणम्—अथ येयंप्राणस्योत्पत्तिप्रतिपादिका'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादिका सा न स्वार्थे मुख्या कुतः ? अन्यत्रोत्पत्तिप्रकरणेऽश्रुतत्वात्. तथात्वे नित्यत्वप्रतिपादकश्रुत्यन्तरबाधाच्चेत्याशङ्कां समाधातुं प्रक्रमते एवं तर्हीत्यादिप्रपञ्चोत्पत्तिप्रतिपादकं प्रकरणम् "तस्माद्वा एतस्मादात्मन

पक्ष का अभिप्राय है । अब इसका उत्तर बतलाते हैं 'इस परम पुरूष परमात्मा से प्राण समुत्पन्न होता है एवं मन भी उसी परमात्मा से उत्पन्न होता है और चक्षुरादिक इन्द्रिय भी समुत्पन्न होते हैं ।" एतादृश श्रुति होने से जिस तरह परमात्मा से आकाशादि प्रपञ्च उत्पन्न होता है उसी तरह प्राण की भी उत्पत्ति परमात्मा से होती है । अतः प्राण नित्य नहीं है । और 'उत्पत्ति के पूर्व में एक आत्मा एक था' इत्यादि स्थल में उत्पत्ति से पूर्व में आत्मा का अवस्थान सुना जाता है 'प्राणा वा व ऋषयः' इत्यादि स्थल में ऋषि पद से प्राण शरीरक परमात्मा का ही ग्रहण होता है किन्तु प्राण का ग्रहण नहीं । तस्मात् जिस तरह आकाशादि प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है परमात्मा से उस तरह उसी परमात्मा से प्राण की भी उत्पत्ति होती है । क्योंकि परमात्मा अखिल जगत का अभिन्न निमित्तोपादन हैं ॥ १ ॥

सारबोधिनी—प्राण का सर्ग होता है ऐसा जो पूर्व सूत्र में कहा

समाधत्ते–गौण्यसम्भवात् । विनिगमनाविरहात्समानश्रुतावुत्पत्तेः श्रवणादे कविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधाच्च गौण्या असम्भव इत्यर्थः ॥२॥

आकाशः संभूतः" इत्यादिकमेव । तादृशप्रकरणे प्राणस्योत्पत्ति.श्रवणं नास्ति। ततश्च या काचित्"एतस्माज्जायते प्राणः"इत्यादि श्रुतिः सा न मुख्यार्थप्रतिपादिका अपितु मञ्चाक्रोशन्तीतिवदौपचारिकी. एवेत्याकारिकां शङ्कां समाधातुमाह सूत्रकारः "गौण्यसंभवात्" न प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी कुतः ? असंभवात् । अर्थात् विनिगमनाविरहात् । अयं भावः एकमेव जायते इति क्रियापदं श्रुतं तस्याकाशे मुख्यतया अन्वयःप्राक्-श्रुत प्राणे गौणीवृत्त्याऽन्वय इतिनसंभवति विरोधात् । समानप्रकरणे सर्वत्र प्राण स्योत्पत्तिश्रवणाच्च । यदि कदाचित्प्राणस्योत्पत्ति र्न स्वीक्रियेत. तदा प्राणस्य ब्रह्मकार्यत्वाभावात्. एकस्मिन परमात्मनि विज्ञाने सर्वं विकारजातं न विज्ञायेतेति एक विज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा बाधितापि

वह ठीक नहीं है । क्योंकि प्रपञ्च के उत्पत्ति प्रतिपादक 'एतस्मादात्मनः आकाशः संभूत' इस प्रकरण में प्राणोत्पत्ति की कोई चर्चा नहीं है तब 'एतस्माज्जायते प्राणोमनःसर्वेन्द्रियाणि च' यह श्रुति "गङ्गायां घोषः" के समान गौणी क्यों न हो ? इस शङ्का का समाधान करने के लिए सूत्रकार कहते हैं 'गौण्यसंभवात्' गौण्याः असंभवो गौण्यसंभवस्तस्मात् । प्राण की उत्पत्ति प्रतिपादिका 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यादि श्रुति नहीं हो सकती है । क्योंकि बहुलतया तत्र तत्र उत्पत्ति प्रकरण में प्राण की उत्पत्ति का श्रवण है । तथा कौन आगम गौण है और कौन आगम मुख्यार्थक है इत्याकारक विनिगमना का अभाव है । एवं यदि प्राण की उत्पत्ति न माना जाय तब तो एक विज्ञान से जो सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा की गयी है उसका भी बाध हो जायगा । इसलिए प्राणोत्पत्ति प्रत

तत्पाक् श्रुतेश्च ।२।४।३।

वाक्प्राणमनसां "अन्नमयं सोम्य ! मन आपो मयः प्राणस्तेजोमयी वाक्" [छा० ६।५।४।] इति श्रुतौ तेजोऽबन्नपूर्वकत्वकथनात्प्राणपदबोध्यानामिन्द्रियाणामुत्पत्तिरस्त्येव ॥ ३ ॥

स्यात् । तस्मात्प्राणानामुत्पादिकाश्रुतिर्न गौणी किन्तु मुख्यैव ततश्चोत्पद्यते एव प्राण इति दिक् ॥ २ ॥

विवरणम्—न केवलम् "एतस्माज्जायते प्राणः" इति श्रुतेरनुरोधादेव प्राणस्योत्पत्तिं वदामोऽपितु इतपूर्वं छान्दोग्यश्रुतौ "अन्नमयं सोम्य मनः" इत्यादि प्रकरणे प्राणोत्पत्तेः श्रवणादित्याशयेनाह "वाक् प्राणमनसां" त्रयाणामपि "अन्नमयं सोम्यमनः" अत्र सर्वेषामुत्पत्तिकथनात्, प्राणस्य तत्सहचरितेन्द्रियाणां चोत्पत्तेः सिद्धत्वान्न कोऽपि पूर्वापरविरोध इति । अत्र सूत्रे भाष्यकारास्तु-इत्थं दर्शयन्ति तथाहि "इतोपि प्राणोत्पत्तिश्रुतिर्मुख्यैव । "एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च । खंवायुर्ज्योतिरापः पृथिवीविश्वस्यधारिणी" इति श्रुतावेकमेव "जायते" इतिपदं सर्वत्रान्वेति तत्र प्राणेष्वेवप्राक्श्रुतम् । खादिषु तुपश्चादन्वेति नहि प्राक्श्रुतस्य पदस्याव्यवहितसमनन्तरभाव्यन्वयस्तद् व्यवहितेष्वेवस्यात् । किञ्चनहो-पादिका 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादि श्रुति गौण नहीं है किन्तु मुख्यार्थक ही है ॥२॥

सारबोधिनी—वक्ष्यमाण कारण से भी सिद्ध होता है कि प्राणोत्पादक जो 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यादि श्रुति मुख्यार्थपरक ही है नतु गौणार्थक । क्योंकि आकाशादि की उत्पत्ति प्रतिपादक जो श्रुति है वह आकाशादि के उत्पत्ति से ही प्राण की उत्पत्ति का भी श्रवण कराती है । 'अन्नमयं सोम्य मनः आपोमयः प्राणस्तेजोमयीवाक्' इत्यादि श्रुति वाक् मन को तेज तथा अन्न पूर्वकत्व का कथन करती है । अतः प्राणपद से बोधित जो इन्द्रिय समुदाय उनकी उत्पत्ति है ऐसा अवश्य मानना चाहिये

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ।२।४।४।

"अन्नमयंहि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्"(छा.-६।५।४) इतिश्रुतौ वाक्प्राणमनसां प्राणशब्दाभिहितानामिन्द्रियाणां परमात्महेतुकतेजोऽबन्नपूर्वकत्वकथनादाकाशादिवदुत्पत्तिरस्त्येव। तथोक्तमहिर्बुध्न्यसंहितायाम्

"ततो लीलार्थमात्मानं बहुकल्पयदीश्वरः ।
अथ प्रधानमसृजत् पुरुषाधिष्ठितं स्वतः ॥
ततो महान्तमव्यक्ताज् जनयामास नारद ।
गुणत्रयात्मकं तस्मादहङ्कारमतः परम् ॥
इन्द्रियाणि दशैतानि ज्ञानकर्मात्मकानि वै ।
मनश्च सात्विकात्तस्मादहङ्काराज्जनार्दनः ॥" इति ।
"इन्द्रियाणि हि जातानि चाहङ्कारात्तु सात्विकात् ।
अनुग्राहकता चाथ राजसाहङ्कृतेरिह ॥१००॥
इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु'इत्येतच्छ्रुतिवाक्यतः ।
विरुद्धैवेन्द्रियाणां नन्वहङ्कारिकता खलु ॥१०१॥
मैवं लयपदाभावाल्लयोनात्रानुषज्यते ।
तन्मात्रेष्विन्द्रियाणां च किन्तु संसर्गितैव हि ॥१०२॥
'इन्द्रियाणि मनश्चापि लीयन्तेऽहङ्कृतौ ततः ।'

कमेव पदं सकृदुच्चरितंक्वचिद्गौणं क्वचिच्चमुख्यं स्यात्, वैरुप्यप्रसङ्गात। तस्मात्प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिर्मुख्या" ॥ ३ ॥

विवरणम्—"तध्देदं तर्ह्य व्याकृतमासीत्" "इन्द्रियाणि हि जातानि प्राण की नित्यता प्रतिपादक वचनों का अर्थ यह नहीं है कि प्राणादिक इन्द्रिय नित्य हैं किन्तु प्राणादि शरीरक परमात्मा नित्य है इस अंश में तात्पर्य हैं। अतः प्राणादि की उत्पत्ति होती है ऐसा ही श्रुति का तात्पर्य है ॥३॥

सारबोधिनी—आकाशादि के समान प्राणादि एकादशेन्द्रियों की उत्पत्ति

पुराणेऽपीन्द्रियाणां हि हेतुताऽहङ्कृताविति ॥१०३॥"

इति च जगद्गुरवः श्रीश्रियानन्दाचार्यसिद्धान्तविजयिनः श्रौतप्रमेयचन्द्रिकायां प्रकृति परिच्छेदे । तथैव जगद्गुरवः श्रीचिदानन्दाचार्य सिद्धान्तवाचस्पतयः प्रमेयोद्देशभास्करे स्वप्रसादिते–

"प्रकृतिर्जडद्रव्यं हि सत्वादित्रिगुणाश्रयः ।
अव्यक्तं सेशसङ्कल्पाद् गुणानां विषमत्वतः ॥४९॥
त्रिधा सत्वादिभेदाच्च जायतेऽव्यक्ततो महान् ।
अहङ्कारस्ततोजातस्त्रिधा सत्वादिभेदतः ॥५०॥
जायत इन्द्रियश्चाथ त्वहङ्काराच्चसात्विकात् ।
ज्ञानकर्मेन्द्रियत्वाभ्यामिन्द्रियं द्विविधं मतम् ॥५१॥" इति
"सात्विकादहङ्कृतेर्जातमिन्द्रियं द्विविधं किल ।
मनः श्रोत्रादिषट् तत्र ज्ञानेन्द्रियं प्रकीर्तितम् ॥"

इति च जगद्गुरवः श्रीअनन्तानन्दाचार्यचरणाश्रुतिसिद्धान्तभास्करे। तथान्यैश्च बहुभिः श्रीसम्प्रदायपूर्वाचार्यद्धाराचार्यप्रभृतिभिः स्वस्वदिव्यप्रबन्धेष्विन्द्रियोत्पत्तिर्वर्णिताविशेषजिघृक्षुभिस्तत एवावगन्तव्यमितिदिक् ॥४॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥१॥

चाहङ्कारात्तुसात्विकात्" "इन्द्रियाणिमनश्चापि लीयतेऽहङ्कृतौ ततः" इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रमाणसिद्धेन्द्रियाणां ब्रह्मणः समुत्पत्तिरस्त्येवेति प्रदर्शयितुमाह"अन्नमयम्"इत्यादि । स्वोक्तौ पूर्वाचार्यादिसम्मतिं-

पर ब्रह्म से ही होती है इस विषय को बतलाने के लिये उपक्रम करते हैं 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' इत्यादि । प्रकृत श्रुति में अन्नमय मन है आपोमय प्राण है तेजोमय वाणी है ऐसा वर्णन हैं अतः अवगत होता है कि प्राणादि एकादशेन्द्रियों की उत्पत्ति परमब्रह्म से होती है । उसी अर्थ को 'ततो लीलां माात्मानम्' आदि आगम वाक्य पुष्ट कर रहा है । 'इन्द्रियाणि हि जातानि'

सप्तगत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ।२।४।५।

तानीन्द्रियाणी सप्तैवोतैकादशेति संशयः। तत्र "सप्त इमेलोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहितास्सप्त सप्त"[मु०२।१।८।] इति सप्तानां गतेरुपलम्भात्। "यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह बुद्धिश्च [का०५।६।१०।]इत्यादौ सप्तानामेव विशेषितत्वाच्च सप्तैवेन्द्रियाणीति पूर्वः पक्षः ॥ ५॥

दर्शयति "इन्द्रियाणि हि जातानी"त्यादि शिष्टमतिरोहितार्थकम् ॥४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

विवरणम्--इन्द्रियाणामुत्पत्तिराकाशादिवदेव ब्रह्मणा जातानीति विचार्य्य तादृशेन्द्रियाणां संख्या सप्त वा एकादशवेत्याकारकः संशयोभवति, यतः क्वचित् सप्तैव निर्दिष्टानि कुत्रचिदेकादश इति. ततश्चोभयविध शब्दश्रवणादन्यतरनिर्णायककारणाभावे भवति संशयः। एतदेव दर्शयितुं प्रक्रमते"तानीन्द्रियाणीत्यादि"तानि चक्षुरादिकानि प्राणपदवाच्यानि आदि पूर्वाचार्य दिव्य प्रबन्धों से इन्द्रियादि की उत्पत्ति तथा लय आदि की स्पष्ट विवेचना कीं गई है। तथा 'प्राणानामाकाशादिवदुत्पत्त्यस्त्येव' ऐसा आचार्यप्रवर जगद्गुरु श्री रामानन्दाचार्यजी लिख रहे हैं अतः इन्द्रियादि की उत्पत्ति में कोई सन्देह नहीं। वृत्तिमें उद्धृत श्लोको की व्याख्या उन उन प्रबन्ध व्याख्यान से ही अवगत करें विस्तार भय से यहाँ नही लिख रहे हैं ॥ ४ ॥

इति प्राणोत्त्पत्त्यपधिकरणम् ।

सारबोधिनी—जिन प्राणादिक इन्द्रियों की आकाशादि के समान ही ब्रह्म से जो कि समस्त जड़ाजड़ जगत का अभिन्नोपादान हैं। उसी परमेश्वर से इन प्राणपद बाच्य इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है ऐसा इससे

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ।२।४।६।

अत्र सिद्धान्तः । तुना पूर्वपक्षोः निवर्त्यते हस्तादयोऽपीन्द्रियाणि सन्ति । जीवोपकारकत्वमेवेन्द्रियत्वन्तच्चवाग्घस्तादीनामपि स्थिते शरीरेऽस्तीत्यतो नैवं न सप्तैवेन्द्रियाणि, किन्तु ' दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैका-

---

सप्तैव—सप्त संख्ययैव समनुगतानि. अथवा एकादशसंख्याशमनुभूयमानानीति संशयाकारः । तत्र तानीन्द्रियाणि सप्तैवेतिपूर्व पक्षः । कस्मात् ? गतेर्विशेषितत्वात्। तत्र सप्ते मे लोका येषु प्राणा निहिताः सप्त सप्त" । तथा"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह बुद्धिश्च न विचेष्टेत" इत्याद्यनेकत्र संख्या प्रतिपादकस्थलेषु सप्तानामेवेन्द्रियाणां विशेषितत्वात् सप्तैव प्राणाः । अर्थात् प्राणपदबोध्यानीन्द्रियाणि। यदितोप्यधिकानि भवेपुस्तेषां स्वरूपप्रदर्शनं कृतं भवेत् नतु तथा अधिकानां निर्देशः क्वचिदपि श्रूतये तस्मात्सप्तैवेति पूर्वपक्षकर्तुराशय इति ॥ ५ ॥

विवरणम्—न केवलं सप्तैवेन्द्रियाणि किन्तु एकादशेन्द्रियाणि तत्र पञ्चज्ञानेन्द्रियाणिरसनादीनि पञ्चकर्मेन्द्रियाणिवागादीनि उभयोर्नियामक मेकादशं मनः,इति कृत्वैकादशेन्द्रियाण्येव नतु सप्तैवेति सप्तत्वप्रतिपादकवचनं नावधारणपरकमित्याशयेन समाधातुं सूत्रमुपस्थापयितुञ्च प्रक्रमते "अत्रसिद्धान्तः"इत्यादि । अत्रेन्द्रियसंख्याविमतिपत्तावेकादेशत्येवसि-

प्रथम सूत्र में कहा गया । अब वे इन्द्रिय कितने संख्या के है इस बात पर विचार करने के लिए उपक्रम करते है । "तानीन्द्रियाणीत्यादि' वे प्राण पद वाच्य इन्द्रिय सात ही हैं अथवा एकादश संख्या के है । ऐसा सन्देश होता है । क्योंकि किसी स्थल में इनकी संख्या सात कही गयी है । और किसी जगह में एकादश कही गयी है । उसमें निश्चायक विशेष कारण के अभाव होने से स्वभावतः सन्देश होता है । एतादृश संशय के बाद पूर्वपक्ष होता है । उसी पूर्वपक्ष को "सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च" इस सूत्र से बतलाते हैं । उसमें "सात संख्या के भूरादि लोकों में गुहाशय सात प्राण है"

दश"[बृ० ३।९।४।] इति श्रुतेरेकादशेन्द्रियाणि । आत्मशब्देनात्र मनो गृह्यते ॥ ६ ॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ सप्तगत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

द्धान्तः । सूत्रघटकस्तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः । स्थितेऽस्मिन्सन्देहे, ज्ञानेन्द्रियव्यतिरिक्तानि पञ्चहस्तादिकान्यपि कर्मेन्द्रियाणि सन्ति । तथा आत्मामनोप्येकादशम्,अतः सप्तैवेति न निर्धारणम् । "दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश"इत्यत्रज्ञानकर्मेन्द्रियैर्मनसाचैका संख्यायाः कीर्तनात् । तदाहुराचार्याः–अस्मिन पुरुषे शरीरसंघातविशिष्टे ये दशप्राणाः ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च पञ्च च कर्मेन्द्रियाणि आत्मा एकादश अत्रात्मपदं मनसो बोधकं तथा पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पञ्च कर्मेन्द्रयाणि वागादीनि मन इत्येतानि मिलित्वा एकादशसंख्यकानि'(आनन्दभाष्यम्)इन्द्रियत्वं च इन्द्रस्य जीवस्य यद् भोगोपकारकं तत्वमेव । तच्च लक्षणमिन्द्रियस्य यथा

इत्यादि श्रुतियों में सात ही प्राणों की गति उपलब्ध होती है । और "जब ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय मन बुद्धि के साथ अवस्थित हो जाते है" इत्यादि श्रुतियो में सात प्रकारक इन्द्रिय का ही अवस्थान को बतलाया है इसलिये सात ही प्राणादिक इन्द्रिय नतु एकादश अथवा आठ नौ दश । ऐसा पूर्वपक्ष वादियों का कथन है ॥ ५ ॥

सारबोधिनी–प्राण अर्थात् इन्द्रियवर्ग सात है अथवा एकादश हैं । एतादृश संशयोत्तर काल में इन्द्रिय वर्ग "यदापञ्चावतिष्ठन्ते" "ज्ञानानि" इत्यादि श्रुति प्रमाण से सिद्ध होमा है कि चक्षुरादिक पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन बुद्धि आन्तर करण यही लोक में इन्द्रिय पद से प्रसिद्ध हैं । अतः सात ही इन्द्रिय हैं नतु हस्तपादादिक भी इन्द्रिय रूप से प्रसिद्ध है । ये सब तो लोक में शरीरावयव से प्रसिद्ध है । एतादृश शङ्का का समाधान करते हैं "अत्र सिद्धान्त" अत्र इस इन्द्रिय संख्या के विषय में सिद्धान्त यह है कि "हस्तादयस्तु" इत्यादि इस वर्तमान शरीर में हाथ प्रभृतिक पाँच कर्मेन्द्रिय तथा

॥ प्राणाणुत्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥

अणवश्च ।२।४।७।

इन्द्रियाख्यप्राणा विभवोऽथवाऽणव इति संशयः। तत्र "त एते सर्व एव समास्सर्वेऽनन्ताः" [बृ० १।५।१३।] इति श्रुतेर्विभव इति पूर्व पक्षः। सिद्धान्तस्तु—"प्राणमनूत्क्रान्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति (बृ.४।४।२)

ज्ञानेन्द्रियपञ्चके तथा कर्मेन्द्रियेषु मनसि च समानमेव तदाहुर्जगद्विजयिनोमहामहोयाध्याया जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरघुवराचार्या गीतार्थ चन्द्रिकायाम्—'इन्द्रियाणि दशैकञ्च' (वि.पु:)इत्यादिवचनप्रामाण्यान्मनस इन्द्रियत्वावगमात्। अत एव शब्दाश्रयान्यत्वे सति आत्मप्रयत्नजन्यव्यापारवत्वरूपजीवात्मोपकरणत्वस्येन्द्रियसामान्यलक्षणस्य मनस्यपि सत्वादिन्द्रियत्वं सुतरांसिद्धम्' (गी.१५-७)तथा''इन्द्रियाणि दशैकञ्चेति गीतावचनादपि यथोक्तसंख्यैवेन्द्रियाणाम्। तदाहुर्भाष्यकाराः—''इन्द्रियाणि दशैकञ्च श्रोत्रत्वक् चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादवायूपस्थाख्यानिपञ्चकर्मेन्द्रियाणि एकं मन उभयेन्द्रियानुग्राहकत्वादित्येकादशेन्द्रियाणि" (आनन्दभाष्यम्)सप्तत्वकथनंतु तेषां विशेषतो गति श्रवणात्। नतु निर्धारणार्थकम्। तस्मादेकादशैवेन्द्रियाणीति सिद्धान्तः॥६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेसप्तगत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

मन भी जब विद्यमान हैं चक्षुरादिक के समान ही जीव के उपभोग में सहायक रूप से तब ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि सात ही इन्द्रिय हैं। "जीवोपकारकत्वमिन्द्रियत्वम्" एतादृश जो इन्द्रिय का लक्षण है तादृश लक्षण लक्षित जब चक्षुरादिक के समान वागादिक भी हैं तब सात ही इन्द्रिय है यह कहना ठीक नहीं है। सूत्र घटक 'तु' शब्द से सात ही इन्द्रिय हैं एतादृश जो पूर्वपक्ष है उसका निराकरण होता है। वाक् पाणि पाद पायु और उपस्थ—ये सब ही इन्द्रिय हैं। इसमें युक्ति बतलाते हैं जीवोपकारकत्व-

इत्युत्क्रान्तेः श्रवणादणव एव प्राणाः ॥ ७ ॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ प्राणाणुत्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥

विवरणम्-आकाशादि प्रपञ्चवत् परमात्मनःसक ाशादेव प्राणस्योत्पत्तिर्भवतीति विचार्य्य स प्राणो व्यापकपरिमाणवान् मध्यमपरिमाणवानथवाऽणुपरिमाणवानिति तदीयपरिमाणविषये विचारयितुमुपक्रमते "इन्द्रियाख्यप्राणा" इत्यादि । मुख्यप्राणसहिताश्चक्षुरादिका ये प्राणास्ते गगनवद्व्यापकाः मध्यमा अणु परिमाणवन्तो वेति संशयः । तत्र "त एते सर्वे एव समाः सर्वेऽनन्ताः" सर्वे एते प्राणाः समानाः सर्वे अनन्ताः, "समःप्लुषिणा समोमसकेन सम एभिःस्त्रिभिर्लोकैः" इत्यादिश्रुतिप्रतिपादिता व्यापकपरिमाणवन्त एव भवन्ति नतु अणवो भवन्तीति पूर्वपक्षः । तमिमं पक्षं निराकर्तुमाह "अणवश्च" सर्वे प्राणा अणुपरिमाणका एव भवन्ति. नतु तदितरपरिमाणवन्तः । यतः तथात्वे श्रुतिप्रसिद्धस्यगमिति" अहंकारोपादानकत्वे सति जीवोपकारकत्वम्" अहंकारोपादानहोकर के जीव का उपकारक जो हो उसको इन्द्रिय कहते हैं । एतादृश इन्द्रियत्व कर्मेन्द्रिय में भी है । अतः ऐसा नहीं कहना चाहिए कि सात ही इन्द्रिय हैं । किन्तु "दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश" इस पुरुषमें ये दश अर्थात् पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पाँच ज्ञानेन्द्रिय और ग्यारहवाँ आत्मा अर्थात् मन ये सब एकादश इन्द्रिय हैं । इस श्रुति में आत्मा शब्द से मन को ग्रहण होता है । नहीं कहो कि तब तो पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय मन तथा बुद्धि—ये बारह संख्या हो जाती है इन्द्रियों की । यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि बुद्धि इन्द्रिय नहीं है । किन्तु वह तो मन का ही निश्चयात्मक वृत्ति विशेष है । तस्मात् इन्द्रिय की संख्या एकादश ही है । इस अर्थ में भगवत् गीता में भी कहा गया है "इन्द्रियाणि दशैकंच पञ्चचेन्द्रिय गोचरा" इति । इसलिए एकादश इन्द्रिय हीं है सात नहीं ॥६॥

इति सप्तगत्यधिकरणम् ॥

श्रेष्ठत्वाधिकरणम् ॥ ४ ॥

श्रेष्ठश्च ।२।४।८।

सर्वेन्द्रियाणां मुख्यप्राणाधीनस्थितिप्रवृत्तिदर्शनात्तस्य श्रेष्ठत्वम् । स च श्रेष्ठः प्राण उत्पद्यते नवेति संशयः। तत्र"आनीदवातं स्वधया तदेकम्"[ऋ० सं ८।७।१७।] इति प्रलयेऽपि प्राणनव्यापारस्य दर्शना·

त्युत्क्रमणादेरसंभवप्रसङ्गात् । नहि व्यापकस्य कथमप्युत्क्रमणादिकं संभवति । श्रुतिस्तु गत्युत्क्रमणादिकम् "प्राणनूत्क्रामन्तं सर्वेप्राणा अनूत्क्रामन्ती"त्यादिनास्त्रयमेवप्रतिपादयति । तस्मात्प्राणा अणव एव न तु मध्यमव्यापकौवेति । किञ्च प्राणो यदि नाणुः स्यात्तदा मरणसमये शरीराद्वहिर्गच्छत् प्राणः पार्श्वस्थैर्दृश्येत. विलाद्वहिर्गच्छन् सर्पादिवत्तस्मादणव एव न व्यापकपरिमाणवन्तः । अतो यदा जीवोऽणुः परमात्मजन्यस्तथैव

सारबोधिनी—परमेश्वर से जायमान जीव संसार में गमनागमन करने से व्यापक परिमाणवान् नहीं है किन्तु अणु परिमाणवान् है । उसी तरह परमेश्वर जनित जीवोपकरणभूत चक्षुरादिक प्राण भी अणु हैं । इसका निश्चय करने के लिए उपक्रम करते है "इन्द्रियाख्य प्राणा विभव" इत्यादि । इन्द्रिय है नाम जिनके एतादश जो प्राण वे सब व्यापक हैं अथवा अणु परिमाण है एतादश संशय होता है । उसमें "त एते सर्वे एव समाः सर्वेअनन्ताः' [ये सब प्राण समान है । तथा सब अनन्त हैं ।] इत्यादि श्रुतियों में प्राणों का विभुत्व का समर्थन देखने में आता हैं। इसलिए प्राण व्यापक है ऐसा पूर्व पक्ष होता हैं । सिद्धान्त वादी इस विषय में कहते हैं कि ये सब प्राण अणु है व्यापक नहीं । क्योंकि प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" इत्यादि श्रुतियों में प्राण का अनूत्क्रमण का प्रतिपादन किया गया है । तो यह अनूत्क्रमण व्यापक परिमाणवान्का असंभवित है इस लिए प्राण सब अणु ही हैं । ऐसा सिद्धान्त वादियो का कथन है यदि कदाचित् मध्यममान मानें तब तो मरण के समय में म्रियमाण पुरुष

च्छ्रेष्ठत्वाच्च नोत्पद्यत इति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु–चोऽप्यर्थः "एतस्माज्जायते प्राणः" [मु०२।१।३] इत्युत्पत्तिश्रवणाच्छ्रेष्ठः प्राणोऽप्युत्पद्यते ॥ ८ ॥

इतिश्रीरघुवरीयवृत्तौश्रेष्ठत्वाधिकरणम् ॥ ४ ॥

जीवोपकरणभूतः सर्वोऽपि प्राणोऽणुः परमेश्वजरन्यश्चेति संक्षेपः ॥७॥

इतिजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे प्राणाणुत्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥

विवरणम्–यानीतराणि चक्षुरादीनि तानि सर्वाणि मुख्यप्राणस्याधिकारे स्थितानि तत्साहाय्येनैवस्वस्वकार्यकराणि भवन्तीति प्राणकलहादिप्रकरणदर्शनेन निश्चितानि. ततश्चेतरसर्वप्राणापेक्षयामुख्यप्राणः श्रेष्ठ इति समधिगतः । तमधिकृत्यविचारः प्रवर्तते, यत् किमयं मुख्य प्राण इतरप्राणादिवदेव ब्रह्मणः सकाशाज्जायते न वेति तत्र "आनीदवातम्" इत्यादिश्रुत्या प्रळयकालेऽपि तदीयव्यापारस्य श्रवणात्. तथा जनिमत्सु-श्रेष्ठत्वमितिनोत्पद्यते मुख्यप्राण इति पूर्वपक्षः । तमिमं पक्षं निराकर्तुमाह "श्रेष्ठश्चेति" सूत्रघटकश्चोप्यर्थकः । यथेतरा मुख्यप्राणाः परमात्मनो जायन्ते तद्वत् मुख्यप्राणोऽपि जायते एव । "एतस्माज्जायते

से निकलता हुआ प्राण पार्श्वस्थ व्यक्तियों से देखाजाना चाहिये । देखने में तो नहीं आता हैं । इसलिए प्राण अणु हैं ॥७॥

इति प्राण अणुत्वाधिकरणम् ॥

सारबोधिनी–मुख्य प्राण चक्षुरादिक इतर प्राणापेक्षया श्रेष्ठ है । क्योंकि इतर सब प्राणों की स्थिति तथा प्रवृत्ति मुख्य प्राण के अधीन है । ऐसा प्राण संबाद प्रकरणादि से सिद्ध हो चुका है । सब प्राणो का नियामक यह मुख्य प्राण इतर प्राणवत् परम कारण से उत्पन्न होता है अथवा नहीं । ऐसा सन्देह होता है ।

वायुक्रियाधिकरणम् । ५॥

नवायुक्रिये पृथगुपदेशात् ।२।४।९।

अयं प्राणो भूतवायुरुतक्रियाविशेषोऽथवा विशिष्टो वायुरिति संशयः लोकव्यवहाराद् भूतवायुरेवाथवोच्छ्वासादिरूपतया क्रियैवेति पूर्वपक्षः। अत्राभिधीयते "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि

प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इत्यादि श्रुत्या आकाशादिवदेव मुख्यप्राणस्याप्युत्पत्तेः श्रवणात् समुत्पद्यते एव मुख्यप्राण इति सिद्धान्तः ॥८॥

इतिजगद्गुरु श्रीरामनन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे श्रेष्ठत्वाधिकरणम् ॥ ४ ॥

विवरणम्–योऽयं पञ्चवृत्त्यात्मको मुख्यः प्राणः स किं भूतवायुस्वरूप एव अथवा उच्छ्वासादिपरिणतः क्रिया विशेष लक्षणः अथवा वायुरेवाध्यात्मदशामानीतः इति संशयः। तत्र "वायुरेवहिलोकानां प्राणः" इत्यादि व्यवहारात् भूतवायुरेवेति पूर्वपक्षे. नायं प्राणो-

तत्र–एतादृश सन्देह होने पर पूर्वपक्ष करते है कि मुख्य प्राण उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि "आनीदवातं स्वधयातदेकम्" इत्यादि श्रुति से यह सिद्ध होता है कि प्रलय काल में भी मुख्य प्राण का व्यापार विद्यमान है यह तब हो सकता है कि मुख्यप्राण को नित्य मानें। अतः मुख्य प्राण की इतर प्राणवत् उत्पत्ति नहीं होती है। ऐसा पूर्वपक्ष का आशय हैं।

सिद्धान्त में कहते हैं "श्रेष्ठश्च" इति। यहाँ च शब्द का अर्थ है अपि अर्थात् जिस तरह इतर प्राण उत्पत्तिमान् हैं उसी तरह श्रेष्ठ मुख्य प्राण भी उत्पन्न होता हैं ऐसा "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इत्यादि श्रुति में प्रतिपादन किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्य विशेषता के कारण से इतर प्राणो के अपेक्षया श्रेष्ठ भी मुख्य प्राण उत्पत्त्यंशमें इतर प्राण के समान ही है। अर्थात् मुख्यप्राण–की भी उत्पत्ति सकल जगदुपादान परमेश्वर से होती ही है ॥८॥

इति श्रेष्ठत्वाधिकरणम् ॥

च। खं वायुर्ज्योतिरापः" [मु० २।१३।] इति भूतवायोः पृथगुपदेशान्नवायुरथवा क्रिया किन्तु ताभ्यां भिन्नो विशिष्टावस्थामापन्नो वायुरिति ॥९॥

भूतवायुरूपो न वा क्रियाविशेषलक्षणः कुतः ताभ्यामेतस्य पृथगुपदेशदर्शनादिति सिद्धान्तं दर्शयितुमुपक्रमते "अयं प्राणो भूतवायुरित्यादि। तत्र संशये त्रयः पक्षाभवन्ति। पूर्वपक्षस्तु प्रथम द्वितीययोरुपपादकः। सिद्धान्तस्तु "एतस्माज्जायते प्राणः" इत्यादि श्रुतिभूतवायुक्रियाभ्यां पार्थक्येन व्यपदेशकरणाद् भूतक्रियाभ्यां विभिन्नो विशिष्टो वाध्यात्मिकदशामापन्नो वायुरेव मुख्यप्राणः। न सर्वथा भिन्नोऽभिन्नो वेति वृत्तेः-संपिण्डितार्थः ॥९॥

सारबोधिनी—अणुत्व तथा श्रेष्ठत्वादि गुण विशिष्ट जो प्राण है वह भूत वायु स्वरूप है अथवा क्रिया विशेष रूप है। या विलक्षण वायुरूप है। ऐसा संशय होता है तो उसमे "वायुरेव प्राणः" वायु ही प्राण है। इत्यादि लौकिक वैदिकोभय साधारण व्यवहार होने से भूत परिगणित वायु ही प्राण है। अथवा श्वासोच्छ्वासादि रूप होने से क्रिया विशेष रूप हैं। क्योंकि एतादृश क्रिया विशेष में प्राणपद का व्यवहार होता है। अतः महाभूत परिणत वायु ही प्राण अथवा श्वासादि क्रियारूप ही प्राण है। यह पूर्व पक्ष हुआ। इसके उत्तर में कहते हैं—प्रकृत प्राण न वायु रूप है नवा क्रिया विशेष है। क्योंकि भूतवायु प्रभृति से प्राण का पृथक् रूप से उपदेश किया है। "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायु ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्यधारिणि" इस श्रुति में पृथिव्यादि भूतों से पार्थक्येन सर्व प्रथम प्राण का कथन किया गया है। यदि यह प्राण भूतादिक में समाविष्ट होता तो भूतों से पार्थक्येन कथन सर्वथा अनुपयुक्त होता। परन्तु श्रुति में पार्थक्येन ग्रहण किया गया है। इसलिय भूत तथा स्वासा क्रिया से भिन्न विशिष्ट अवस्था प्राप्त वायु विशेष ही प्राण है, ऐसा सिद्धान्त हुआ ॥९॥

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ।२।४।१०

ननु यदि वाय्वादिभ्यः पृथगुपदिष्टस्तर्हि वाय्वादिवत्तत्वान्तरं स्यादित्याशङ्काम्परिहरति-चक्षुरादिवत्त्विति । तु शब्दः शङ्कानिवर्तकः । जीवोपकरणैश्चक्षुरादिभिस्सहापदेशादिभ्यो हेतुभ्यश्चक्षुरादिवज्जीवोपकरणमेवायम् ॥१०॥

विवरणम्—ननु प्राणो हि सर्वेन्द्रियापेक्षया श्रेष्ठो वायुक्रियाभ्यां भिन्नश्च ततश्च तेजः प्रभृतिवत्प्राणोऽपितत्वान्तरं भवतु । परिगणितेषु तदन्तर्भावस्याभावादित्यादिशङ्कामुपपाद्य समाधातुमुपक्रमते "ननु यदि" इत्यादि । यद्ययं सर्वेन्द्रियश्रेष्ठः प्राणो वायुप्रभृतितत्वेभ्यः पार्थक्येनोपदिश्यमानोजातस्तदा. यथा तेजः प्रभृतिको धातुस्तत्त्वान्तरं तथा प्राणस्यापि तत्त्वान्तरत्वंस्यादित्याङ्क्य सूत्रेण समाधत्ते-चक्षुरादिवदिति- । सूत्रघटकीभूत स्तु शब्दः पूर्वोक्ततत्वान्तरत्वलक्षणशङ्काया निरास परकः । नायं प्राणः सर्वथा तत्वान्तरम् किन्तु यथा चक्षुरादिकानीन्द्रियाणि जीवस्य भोगात्मककार्ये सम्पाद्यमाने उपकारकाणि भवन्ति. तथा प्राणोपि जीवस्योपभोगात्मकेकार्ये सहकारक एवेति उपकरणत्वात्मक

सारबोधिनी—यदि यह मुख्य प्राणवायु प्रभृतिक भूतों से पार्थक्य रूप से श्रुति द्वारा उपदिश्यमान है । तब तो तेजो धातु को तरह यह मुख्य प्राण भी तत्वान्तर होगा । [मुख्यप्राणस्तत्वान्तरम् परिगणिततत्वैः पृथगुपदिश्यमानत्वात् तेजोधात्वादिवदित्यनुमानेन मुख्यप्राणस्य तत्वान्तरत्वमायातीति ।] एतादृश आशङ्का के उत्तर में कहते हैं "चक्षुरादिकवत्त्विति" । इस सूत्र में जो तु शब्द है वह पूर्वोक्त शङ्का का निराकरण परक है । यह मुख्य प्राण तत्वान्तर नहीं है । क्योंकि जीव को भोगात्मक कार्यो के उत्पादन करने में सहकारी अर्थात् उपकरण रूप जो चक्षुरादिक प्रभृति इन्द्रिय हैं उनके साथ में ही मुख्य प्राण का भी कथन किया गया है । प्रायः समान जातीय का समान जातीय के साथ ही सहपाठ देखा जाता है । तो जिस

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति ।२।४।११।

करणं क्रिया तद्रहितत्वादस्य प्राणस्य न चक्षुरादिवदुपकारकता युज्यत इति दोषस्तु न शङ्क्यः यतश्चोपकारविशेषं शरिरेन्द्रियधारणं हि

समानधर्ममादाय इन्द्रियेणैव सहपरिपठित इति इन्द्रियवदेव न तत्वान्तरम्. किन्तु चक्षुरादिकरणेष्वयं श्रेष्ठ एतावन्मात्रेणैवास्य पार्थक्येनोपदेशो नतु तत्वान्तराभिप्रायेण। एतस्य प्राणस्येतरप्राणापेक्षया श्रेष्ठत्वादिकं प्राण संवादादिषु श्रावितम्। ततश्चेन्द्रियान्तरैः सह पाठात् सजातीयता सिद्धा भवति। ततश्च न तत्वान्तरत्वमिति संक्षेपः ॥ १० ॥

विवरणम्–ननु यत् करणं तत्सर्वंव्यापारविशिष्टमेव भवति, अन्यथा करणत्वमेव न स्यात्, व्यापारवत्कारणमेवकरणमिति लाक्षणिका वदन्ति। ततश्च चक्षुरादयो रूपादिकं स्व स्व व्यापारमासाद्य करणानि-भवन्ति तथैव मुख्यप्राणस्य करणत्वोपपादनाय कोऽपि स्वतंत्रो रूपादि वदेवविषयोऽन्वेष्टव्यः परन्तु अन्विष्यमाणः स्वातन्त्र्येण न कोऽपि लब्धो भवति तदलाभात्कथमिवमुख्यप्राणे करणत्वंस्यादितिशङ्कां समाधातुमुपक्र-मते पूर्वपक्षं कुर्वन्नेव"करणं क्रियेत्यादि"। क्रियते इति करणं क्रियाविष-यादिकं यथा चक्षुरादीना रूपादिकम्, ततश्च तादृशस्वतंत्रक्रियारहित त्वादस्य मुख्यप्राणस्य कथं करणत्वं तदभावाच्च चक्षुरादिवत्कथं जीवो-पकारकत्वमित्याशङ्क्य तां निराकर्तुमाह सूत्रकारः"अकरणत्वादि"त्यादि।'

प्रकार जीवोपकरण चक्षुरादिक परिगणित तत्व हैं भिन्न नहीं हैं । उसी तरह जीव का उपकरण जो मुख्य प्राण है वह भी जीव का भोग में उपकरण है । तो मुख्य प्राण भी स्वतंत्र तत्वान्तर नहीं है यह सिद्ध होता है ॥१०॥

सारबोधिनी—चक्षुरादिक करण हैं तो उनका कार्य रूपादिक विषय होते हैं मुख्य प्राण का तो ऐसा कोई स्वतन्त्र विषय नहीं है । तब यह करण किस तरह कहलाता है ? इस आशङ्का का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं "करणं क्रियेति" [जिससे किया जाय उसको करण

दर्शयति श्रुतिः"यस्मिन्नुत्क्रान्त इदं शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठः"[छा०५।१।७।] इति ॥ ११ ॥

यो यमुपकारकत्वाभावलक्षणो दोषो नसशङ्कनीयो यतः प्रकृतेप्युपकार-विशेषस्य श्रुत्यादिभिः समधिगतत्वात्। चक्षुरादीनां यथा रूपादिप्रकाश कत्वं कार्यं तथैव मुख्यप्राणस्यापि शरीरधारणलक्षणं कार्यं विद्यते एव। प्राणाभावे शरीरधारणकार्यस्यादर्शनात् । चक्षुषोऽभावे रूपदर्शनाभाव-वदेव । तथाहि श्रुतिदर्शयति "यस्मिन्नुत्क्रान्ते इदं शरीरं पापिष्ठतरमि-व दृश्यते स वः श्रेष्ठः" अस्मात् शरीरात् यस्योत्क्रमणेन मृतमिदं शरीरं गन्धाद्यन्वितं सदतिशयेन वीभत्समिव भवति. यस्यात्र संवासेन शरीरं शोभनं भवति. सवै भवतां मध्ये श्रेष्ठतम,इत्यादि क्रमेण प्रजापतेः प्रति पादनानन्तरं तथा कृत्वा प्राणस्य शरीरधारणमिन्द्रियेषु श्रेष्ठत्वं च सर्वोपि ज्ञातवानोति भवत्येव चक्षुरादिवत्मुख्यप्राणस्यापि स्वतन्त्रकार्यं नतु स्वतन्त्र कार्याभाव इति न कोऽपि दोषः प्रसरतोति भावः ॥११॥

कहते हैं ।] अर्थात् क्रिया तो तादृश कार्य रहित होने से यह मुख्य प्राण चक्षुरादि के समान जीवोपकारक किस तरह होगा ? अर्थात् चक्षुरादिवत् जीवोपकारकत्व मुख्य प्राण में नहीं है । इसके उत्तर में कहते है कि एतादृश शङ्का नहीं करना क्योंकि शरीर धारण लक्षण उपकार विशेष मुख्य प्राण में भी है ऐसा श्रुति बतलाती है । तथाहि "जिसके इस शरीर से उत्क्रान्त निकल जाने पर यह कार्य करण संघात लक्षण शरीर जो कि जीव भोगा-विष्ठान है वह पापिष्ठतर—अर्थात अत्यन्त वीभत्स हो जाता है वही आप लोगों के मध्य में श्रेष्ठ—बड़ा है ।" इस श्रुति में चक्षुरादिक करणों का जो कार्य है उससे अतिरिक्त स्वतन्त्र शरीर धारण लक्षण कार्य मुख्य प्राण का है ऐसा कहा गया है । अतः स्वतन्त्र कार्याभाव के कारण मुख्य प्राण में चक्षुरादिकवत् जीवोपकारकता नहीं है ऐसा कहना सर्वथैव अनुचित है ॥११॥

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ।२।४।१२।

प्राणापानादिनामभेदान्निश्वासादिकार्यभेदाच्च तत्वान्तरमेवास्त्विति शङ्कावसरो नास्ति । यतो यथा "कामः सङ्कल्प" इत्यारभ्य "सर्वं मन एव" [बृ०१।५।३।] इति श्रुत्युक्तानां कामादीनां मनोवृत्तिरूपत्वं तथा "प्राणोऽपान" इत्यारभ्य "इत्येतत्सर्वं प्राण एव" [बृ० १.५।३।]इति व्यपदेशात् प्राणवृत्तिरूपत्वमेवास्य न तत्त्वान्तरत्वम् ॥ १२ ॥

इतिश्रीरघुवरीयवृत्तौवायुक्रियाधिकरणम् ॥ ५ ॥

विवरणम्-ननु यथा घटपटादिनामभेदाद् घटपटादीनां यथा भेदो भवति.यथा वा "पृथिवीजलमीत्यादि" नामभेदात्कार्यभेदाच्च पृथिवीजलयोस्तत्वान्तरत्वम् । तथेहापि प्राणापानादिनामभेदात् क्रियाभेदात्स्थान भेदाच्च प्राणादयस्तत्वान्तरमेवेति ये आक्षिपन्ति तेषामयमाक्षेपो न युक्तः । कुतः यथा पृथिवी जलयोः पृथिवीत्वजलत्वाभ्यां भेदे सत्यपि सत्तावत्वेन प्रमेयवत्वेन व्यापकधर्मेणैकत्वव्यपदेशस्तथैव प्रकृते यथा वा कामसङ्कल्पसंशयादीनां पार्थक्येनोपदिश्यमानपरस्परं भेदेऽपि मनोवृत्तित्वेन धर्मेण सर्वेषामेकत्वमेव तथा प्रकृते प्राणादीनां कार्यभेदात्स्थानभेदात्परस्परं सामान्यतो भेदेऽपि प्राणत्वेनाभेदान्नतत्वान्तरत्वमिति सर्वं संगृह्य दर्शयितुमुपक्रमते "प्राणापानादिनामभेदादित्यादि" प्राणापानादीनां परस्परं नामभेदात्तथा ततस्थानक्रियादिभेदादपि पृथिवी जलादिवत्तत्वा

सारबोधिनी—"यह प्राण है, यह अपान है" इत्यादि नाम के भेद होने से तथा कार्य और स्थान का भेद होने से प्राणापानादिक में तत्वान्तरत्व है, एकत्व नहीं । जिस तरह पृथिवी तथा जल इत्याकारक नाम तथा कार्य के भेद होने से पृथिवी जल में तत्वान्तरत्व माना जाता है । इस प्रकार की शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि "पञ्चवृत्तिर्मनोवदिति" जिस तरह काम सङ्कल्प प्रभृतिक मन का धर्म परस्पर भिन्न है । परन्तु "तत्सर्वं

अथाणुत्वाधिकरणम् ॥ ६ ॥

अणुश्च ।२।४।१३।

अयं प्राणो विभुरणुर्वेति संशयः । "प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्" "सम

न्तरत्वमितिवक्तव्यमिति चेत्तत्राह "पञ्चवृत्तिमनोवदिति" यथा "कामःसङ्कल्प" इत्यारभ्य "तत्सर्वं मन एव" इत्यादि श्रुतिप्रतिपादितानां कामादिनां नामकार्ययोर्भेदेपि मनोवृत्तित्वव्यापकधर्मेणैकत्वं न तु तत्त्वान्तरम् तथैव तद्वत् "प्राणोऽपानः" इत्यारभ्य "इत्येतत्सर्वं प्राण एव" इत्यादिश्रुतौ प्राणादीनां भवान्तरभेदमादाय परस्परं भेदेऽपि प्राणवृत्तित्वधर्मेणैकत्वमेव नतु तत्वान्तरत्वमिति. न प्राणापानादीनां परस्परमात्यन्तिकभेदशङ्कनमुचितमिति तत्त्वं पुनरेकमेवेति संक्षेपः । ॥१२॥

इतिजगद्गुरु श्र रामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेवायुक्रियाधिकरणम् ॥ ५ ॥

विवरणम्-सोयं मुख्यप्राणोगगनादिवद्व्यापक इन्द्रियादिवदणुर्वेति संशये"सम एभिस्त्रिभिर्लोकैरि"त्यादि, तथा प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितमिति

मन एव" एतादृश श्रुति व्यपदेश होने से मनोवृत्तित्वेन रूपेण सबकामादिका संगृहित करके एकत्व कहा गया है । उसी तरह "प्राणोऽपानः" यहां से आरंभ करके "तत्सर्वं प्राण एव" इत्यादि प्रकरण से एकत्व का कथन करने से प्राणादिक में अवान्तर भेद होने पर भी प्राणत्व रूप से एकता है । इसलिए इनमें पृथिवी जल के समान तत्वान्तरत्व नहीं है यह सिद्धान्त सिद्ध मार्ग है ॥१२॥

इति वायुक्रियाधिकरणम् ।

सारबोधिनी–इस श्रेष्ठ मुख्य प्राण के परिमाण विशेष की चिन्ता करने के लिए उपक्रम करते हैं "अयं प्राणोविभुरित्यादि" प्राणापानादि प्रभेद भिन्न यह मुख्यप्राणविभु=अर्थात् व्यापक परिमाणवान् है आकाशादि की तरह अथवा चक्षुरादिक के समान अणु परिमाणवान् है । एतादृश संशय होता

एभिस्त्रिभिर्लोकैः [बृ०१।३।२२।] इत्यादिप्रमाणैर्विभुरेवेति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु–"तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति" [बृ०४।४।२।] इत्यादि श्रुतेरणुरेव श्रेष्ठः प्राणः ॥ १३ ॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावणुत्वाधिकरणम् ॥ ६ ॥

श्रुतिबलाच्च व्यापकत्वमेवेत्याकारकशङ्कां समाधातुमुपक्रमते"अयं प्राणो विभुरि"त्यादि । व्यापकोऽणुर्वेति संशयः । विभुरेव "प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्" समः प्लुषिणेत्यारभ्य सम एभिस्त्रिलोकैरित्यादिश्रुतेरिति पूर्व पक्षः । अणुश्चेति सिद्धान्तः । प्राणस्योत्क्रमणश्रवणादस्याणुत्वं सिद्धं भवति. व्यापकत्वे आकाशादिवदुत्क्रमणस्यासंभवात्. तस्मादणुरेवश्रेष्ठः प्राण इति ॥ १३ ॥

इतिजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेऽणुत्वाधिकरणम् ॥ ६ ॥

है। "प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्" प्राण में ही सब पदार्थ प्रतिष्ठित है "समः प्लुषिणा समएभिस्त्रिलोकैः" यह प्राण अति क्षुद्र जीव के समान हैं। मशकादि के समान हस्ती प्रभृति महाजीवों के समान, समस्त त्रिलोक के समान है इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है कि यह प्राण व्यापक परिमाणवान् है। अन्यथा सर्व समत्व अनुपपन्न होगा। ऐसा पूर्वपक्ष होता है। इसके उत्तर में सिद्धान्तवादी कहते हैं "अणुश्च" यह श्रेष्ठ मुख्य प्राण इतर प्राणवत् अणुपरिमाणवान है। व्यापक परिमाणवान् नहीं। क्योंकि "तमुत्क्रामन्तं प्राणोनूत्क्रामति"इस शरीर से जीव के उत्क्रमण करने के बाद उसके पीछे प्राण भी उत्क्रमण करता है। इत्यादि श्रुतियों में प्राण का उत्क्रमण बतलाया गया है। इस से सिद्ध होता है कि प्राण अणु है। यदि व्यापक मानें तो व्यापक में क्रिया नहीं होती है। व्यापक निष्क्रिय कहलाता है। तब प्राण में उत्क्रमणादि तथा गमनागमनादि का अभाव होने से जन्म मरणादि व्यवस्था का विलोप हो जाएगा। इसलिए प्राण विभु नहीं है। किन्तु इतर प्राणवत् अणु ही है ॥१३॥

इत्यणुत्वाधिकरणम् ।

❁ ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम् ॥ ७ ॥ ❁

ज्योतिराद्यधिष्ठानन्तु तदामननात् ।२।४।१४।

मुख्यः प्राण इन्द्रियाणि चेतीमानि स्वायत्तव्यापाराणि, उतान्यायत्तव्यापाराणीति संशये स्वायत्तव्यापारकाणीति पूर्वपक्षः। अत्राभिधीयते-"अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्"[ऐते० २।४।] इत्यादि श्रुतेरग्न्यादिदेवतानां वागाद्यधिष्ठातृतयाऽमननादन्यदेवताधिष्ठितान्येव व्यापारभाञ्जीति ॥ १४ ॥

विवरणम्-अयं मुख्य प्राण एतदन्यश्च प्राणः स्वस्वकार्ये स्वयमेव प्रवर्तमानो भवति. किंवा अन्येन केनचिदधिष्ठितः प्रवर्तते इति संशयो भवति लोके तदुभयदर्शनात् । एतादृशसंशयोत्तरं भवति पूर्वपक्षः तथाहि सर्वोऽपि हि चेतनः स्व स्व कार्ये स्वयमेव प्रवर्तते, कुत्रचिद चेतनमपि स्वयमेव प्रवर्तते. नतु स्वप्रवृत्तौ कमप्यन्यमपेक्षते। तस्मात्स्वाधीनान्येव करणानि चक्षुरादीनि स्वकार्ये प्रवर्तमानानि भवन्तीति पूर्वपक्षोत्तरं ब्रूते"ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु"इत्यादि। "अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्" इत्यादिश्रुत्या वागादिकरणानामग्न्याद्यधिष्ठातृत्व

सारबोधिनी-मुख्य प्राण तथा तदितर जो वागादिक करण समुदाय हैं वे स्वकीय कार्य धारण प्रकाशनादि करने में स्वाधीन व्यापारक हैं । अर्थात् स्वातंत्र्येण स्वकीय कार्य को करते हैं उत अथवा अन्यायत्त व्यापारक हैं अर्थात् स्वेतर के अधीन होकर स्वकीय व्यापार करते हैं। जैसे अस्वाधीन व्यापार रथ का होता है । एतादृश संशय होता है। इस संशय के बाद पूर्वपक्ष होता है कि सभी चेतन स्वकीय कार्य करने में स्वतन्त्र होते हैं। इसलिए चक्षुरादिक जो करण हैं वे लोक भी अपने-अपने कार्य करने में स्वतन्त्र हैं । नतु पराधीन व्यापारक हैं। इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं । "अत्राभिधीयते" इन्द्रियों की प्रवृत्ति स्वाधीन नहीं है किन्तु ज्योतिरादि अधिष्ठानक है। अर्थात् करण ग्रामों को जो प्रवृत्ति होती है वह सब कारण

प्राणवताशब्दात् ।२।४।१५।

अथैवं प्राणादीनां देवतान्तराधिष्ठितत्वे प्राधान्येन जीवसम्बन्धः कथमित्युच्यते प्राणवतेति । देवतान्तराधिष्ठितत्वेऽपि सर्वेषां प्राणादीनां

श्रवणात्. तत्तद्देवतयाऽधिष्ठितान्येव वागादिकानि करणानि स्वकीय कार्ये प्रवर्तमानानि भवन्ति न तु करणानां स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तिः । अन्यथा "अग्निर्वाग्भूत्वा" इत्यादि श्रुतयो निरालंबनाभवेयुरिति । तस्मात्तत्देवताधिष्ठितानामेव करणानां प्रवृत्तिरितिसारः ॥ १४ ॥

विवरणम्—ननु यदि शरिरेऽस्मिन् वहवो देवाः सन्ति तदा तु तेषां देवानामेव भोक्तृत्वं जीवस्य भोक्तृत्वन्त्वपगतमेवेति शङ्कां निराकर्तुमुपक्रमते "अथैवं प्राणादीनाम्" इत्यादि । अथ यदि मुख्यप्राणस्य तथा अग्न्यादि देवों से अधिष्ठित हैं। इसलिए स्वकीय स्वकीय देवताओं से अधिष्ठित होकर के ही स्वकीय कार्य को करते है। क्योंकि अचेतनों की प्रवृत्ति चेतनाधिष्ठान के बिना नहीं देखने में आती है। अश्वादि से अधिष्ठित रथादिक की हो प्रवृत्ति होती है। यद्यपि कुत्रचित् चेतनाधिष्ठान के बिना भी जलादिक जड़ पदार्थों की प्रवृत्ति होती है। तथापि तादृश स्थल में भी परमेश्वराधिष्ठित जलादि का प्रवर्तन होता है । यहाँ भी श्रुति कहती है "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्" अग्नि देववाणी रूप होकर के मुख में प्रविष्ट हो गये। आदित्य चक्षुरूप होकर के प्रविष्ट हुए वायु देव कर्ण होकर के प्रविष्ट हो गये। इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है कि मुख्य प्राण तथा तदितर सकल चक्षुरादिक करणों की प्रवृत्ति तत्तद्देवताधीन है। किन्तु स्वतंत्र प्रवृत्ति नहीं होती है ॥१४॥

सारबोधिनी- यदि इस शरीर में इन्द्रियों का अधिष्ठापक अनेक चेतन देवताओं को मानते है अर्थात् प्राण तथा तदितर इन्द्रियों को देवतान्तर के साथ अधिष्ठित मानते हैं तब तो इन्द्रियों को देवतान्तर के साथ मुख्य रूप

प्राधान्येन जीवसम्बन्धः शब्दादवगम्यते । "अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्"[छा०८।१२।४।] इत्यादि श्रुतिर्जीवस्यैव प्राधान्येन करणैः सम्बन्धमभिधत्ते ॥ १५ ॥

तद्दितर प्राणानां जीवभिन्नदेवतान्तरेणाधिष्ठितत्वं तदा करणानां प्रधान तया भोक्ताजीवेन सम्बन्धः कथं स्यात्. अर्थात् करणानां जीवेन सम्बन्धः कथमपि न संभवेदपितु तेषां सम्बन्धः स्वदेवतया सहैवेत्याकारकशङ्का मपनेतुं सूत्रकारः प्राह "प्राणवता शब्दात्" प्राणवता जीवेन सहैव चक्षुरादि करणानां जीवेन सम्बन्धो नान्येन । कुतः शब्दात् श्रुतिबलात् भगवती श्रुतिस्तथैव प्रतिपादयति । यद्यपि करणाभिमानिन्यो देवताः सन्ति तथापि जीवेन सहैव सम्बन्धो न देवतया यतः करणानां जीवस्योपभोगे उपकरणरूपत्वात् चक्षुरादिद्वारेण जीवः स्वोपार्जितकर्मणां फलं भुङ्क्ते एतत्सर्वंश्रुत्यावगम्यते । तदाह "अथ यो वेदेदमित्यादि । यः अहं गन्धस्य घ्राणं करोमि इति मन्यते स एव आत्मा भोक्ता घ्राणं तु गन्धाय अर्थात् गन्धग्रहणे करणं द्वारभूतम् । एवमहं पश्यामि इति यो विजानाति स आत्मा फलभोक्ता भवति चक्षुस्तु करणमात्रम् । अनया श्रुत्या प्राधान्येनकरणानां जीवेन सहैव सम्बन्धस्य प्रतिपादनात् । देवता करणकोटि प्रविष्टा न तु भोक्तृकोटिप्रविष्टेति न भवति कोऽपि दोषः । तथैवाहु-

से सम्बन्ध होगा, जीव के साथ प्रधान रूप से कैसे सम्बन्ध होगा, और प्रधान्येन सम्बन्ध न होने से जीव में भोक्तृत्व नहीं होगा ? इस शङ्का के समाधान के लिए सूत्रकार कहते हैं "प्राणवता शब्दात्" प्राणवान् जो, एतादृश जीव के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध है । किन्तु देवतान्तर के साथ नहीं, क्योंकि शब्द अर्थात् श्रुति ऐसा ही प्रतिपादन करती है । सभी प्राणों को स्वकीय स्वकीय देवतान्तर से अधिष्ठित होने पर भी प्राणादि को प्राधान्येन जीव के साथ सम्बन्ध है देवतान्तर के साथ नहीं । ऐसा शब्द

तस्य च नित्यत्वात् ।२।४।१६।

जीवसम्बन्धस्य च स्वकर्मफलभोगाय भोगायतनेऽस्मिन् कलेवरे भोक्तृतया नित्यत्वात् । नान्यस्य कस्यापि तथोपपद्यते ॥ १६ ॥

इतिश्रीरघुवरीयवृत्तौ ज्योतिरधिष्ठानाधिकरणम् ॥ ७ ॥

राचार्याः-"अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः" (छा.८।१२।४) इति जीवस्यैव करणग्रामेण सम्बन्धो निश्चीयते तथा च नानेकदेवतानां भोक्तृत्वादिकमापद्यते' इति ॥ १५ ॥

विवरणम्—न केवलं शब्दादेव करणानां जीवात्मनैव प्राधान्येन सम्बन्धोऽपितु यावज्जीवनमेतस्मिन् कलेवरे जीवस्य भोक्तृभावो नियतस्तस्माज्जीवेन सहैव करणानां सम्बन्धो न देवतादिभिः सहेति प्रतिपादयितुमुपक्रमते"जीवसम्बन्धस्य चे" त्यादि । जीवो हि भवपरंपराभिः क्रियमाणकर्मणः फलोपभोगायास्मिन् भोगाधिष्ठानलक्षणे कलेवरे नियत रूपेणावस्थितः । तस्मात् तादृशस्यैव तत्तत्कर्मफलोपभोगो जायते न तदन्यस्य कस्यचिदपि तादृशकर्मफलोपभोगो भवति"ऋतं पिबन्तौ"

से अर्थात् श्रुति से जाना जाता है । तथाहि "अथ यो वेदेदमि"त्यादि । 'मैं सूँघता हूँ' ऐसा जो जानता है, वह आत्मा अर्थात् जीव है । और गन्ध रूप विषय का ग्रहण करने के लिए घ्राण उपकरण है, इत्यादि श्रुति जीव को ही प्रधान रूप से करण के साथ सम्बन्ध बतलाती है । तस्मात् जीव ही चक्षुरादि द्वारा रूपादि विषयों का भोक्ता है । देवतान्तार में भोक्तृत्व नहीं, यह सिद्ध हुआ ॥१५॥

सारबोधिनी—'ऋतं पीवन्तौ' 'द्वासुपर्णा' इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध से पूर्वानेक भवोपार्जित स्व स्व कर्म फल भोगने के लिए प्राप्त इस जीव शरीर के साथ में अनेक कर्म व्यावृत रहते हैं, अतः स्व कर्म फल जीव के साथ नित्य व्यावृत होने से उनके भोग के लिए करणादिकों का जीव के साथ

इन्द्रियाधिकरणम् ॥८॥

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ।२।४।१७।

श्रेष्ठप्राणातिरिक्तास्ते च प्राणा एवोतेन्द्रियाणीति संशये प्राणशब्देन निर्देशात्सर्वे प्राणा एवेति पूर्वःपक्षः। अत्रोच्यते "एतस्माज्जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च [मु०२।१।३।] अत्र प्राणेन्द्रियाणाञ्च पृथग्व्यपदेशाच्छ्रेष्ठप्राणव्यतिरिक्तास्ते प्राणा इन्द्रियाण्येव ॥ १७ ॥

"द्वा सुपर्णा सयुजासखाया" इत्यादि श्रुतेः। तस्माज्जीवेन सहैव कर्मफलोपभोगे उपकरणभूतानामिन्द्रियाणां सम्बन्धो न तु देवान्तरैरितिदिक् ॥ १६ ॥

इतिजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे ज्योतिरधिष्ठानाधिकरणम् ॥७॥

विवरणम्—अत्र श्रेष्ठप्राणभिन्ना ये प्राणास्ते प्राणपदवाच्या अथवा तद्भिन्ना इन्द्रियपदवाच्या इति संशयः। पूर्वपक्षस्तु मुख्यप्राणव्यतिरिक्तोऽपि प्राणपदवाच्य एव कुतः श्रुतौ तथैव तेषामपि व्यवहारदर्शनात्। सिद्धान्तस्तु न ते प्राणपदवाच्या मुख्यप्राणादितरे किन्तु ते इन्द्रियपदवाच्याः श्रुतौ मुख्यप्राणभिन्नरूपेण तेषां व्यवहार दर्शनात् "एतस्माज्जा-

नित्य सम्बन्धित होना अनिवार्य है तो जीव के साथ ही करणादिकों का सम्बन्ध है अन्य के साथ नहीं ॥१६॥ इति ज्योतिरधिकरणम्।

सारबोधिनी—श्रेष्ठ अर्थात् मुख्य प्राण से अतिरिक्त चक्षुरादिक हैं वे प्राणपद वाच्य ही हैं अथवा वे इन्द्रियपद वाच्य हैं। एतादृश संशय होने से पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि प्राण शब्द से चक्षुरादिक का व्यपदेश-कथन होने से सब चक्षुरादिक प्राण पद के ही वाच्य हैं। इसके उत्तर में कहते हैं कि श्रेष्ठ प्राण से भिन्न वे चक्षुरादिक इन्द्रिय हैं। अर्थात् उनमें इन्द्रिय पद वाच्यता ही है। क्योंकि मुख्य प्राण से पृथक् रूप से इन चक्षुरादिकों का कथन किया गया है। "एतस्माज्जायते" उस परमात्मा से मुख्य प्राण उत्पन्न होता है तथा चक्षुरादिक सब इन्द्रियवर्ग उत्पन्न होते हैं। इस श्रुति

भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च ।२।४।१८।

नन्वेवं मुख्यप्राणस्यापीन्द्रियत्वमुपकारकरूपकार्यैक्यात्स्यान्नामभेदस्त्वकिञ्चित्कर इति शङ्कायामाह भेदश्रुतेरिति । "तेह वाचमूचुः" [बृ० १।३।२।]"अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः" इति भिन्नमेव कार्यमभिदधत्या

यते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इत्यादौ प्राणात् पार्थक्येनेन्द्रियाणां परिगणनात् । यदि तान्यपि प्राणपदवाच्यानि एव भवेयुस्तदा पृथक् परिगणनं निरर्थकमेव भवेत् । तस्मात्तानीन्द्रियाणि मुख्यप्राणातिरिक्तत्वेनेन्द्रियपदवाच्यान्येवेति सिद्धान्तः पन्था ॥ १७ ॥

विवरणम्–मुख्यप्राणभिन्नचक्षुरादीनामिन्द्रियत्वम्. मुख्यप्राणस्तु नेन्द्रियः किन्तु तद्व्यतिरिक्त इति पूर्वसूत्रे प्रतिपादितम् । तत्र विचार्यते यत् मुख्यप्राणः कथं नेन्द्रियो यतो जीवोपकारकत्वमेवेन्द्रियमितीन्द्रियलक्षणम्, तत्तु मुख्यप्राणस्यापि विद्यते एवेत्याशङ्कां निराकर्तुमुपक्रमते "नन्वेवं मुख्यप्राणस्यापी"त्यादि । ननु कथं श्रेष्ठप्राणोनेन्द्रियः ? उपकारकत्वलक्षणकार्यैक्यात् । न च नामभेदादुभयोर्भेद इति वाच्यम् ।

में मुख्य प्राण तथा इन्द्रियों का पृथक्–पृथक् रूप से व्यपदेश अर्थात्–कथन किया गया है । इसलिए श्रेष्ठ मुख्य प्राण से अतिरिक्त जो प्राण हैं वे सब चक्षु प्राणादि इन्द्रिय हैं । अर्थात् वे इन्द्रिय पदवाच्य हैं । नतु चक्षुरादिक प्राणपद वाच्य हैं । ऐसा सिद्धान्ती का कथन है ॥१७॥

सारबोधिनी–जीव का जो उपकरण हो उसको इन्द्रिय कहते है एतादृश जो इन्द्रिय का लक्षण है वह तो मुख्य प्राण में भी घटित होता है । क्योंकि चक्षुरादिक के समान मुख्य प्राण भी तो जीव का उपकारक है । एतादृश शङ्का का निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं "भेदश्रुतेरित्यादि "तेहवाचमूचुः" [वे सब वाणी से कहे] "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः इत्यादि स्थल में इन्द्रिय तथा प्राण में भिन्न–भिन्न कार्य का प्रतिपादन

भेदश्रुतेः। सुषुप्ताविन्द्रियोपरम उच्छ्वासादिरूपाया प्राणवृत्तेस्त्वनुपरम इति वैलक्षण्याच्चैकादशेन्द्रियाणि–प्राणादतिरिक्तान्येव ॥ १८ ॥

इतिश्रीरघुवरीयवृत्ताविन्द्रियाधिकरणम् ॥ ८ ॥

उपकारकत्वलक्षणधर्मसत्वेन नामभेदस्याकिञ्चित्करत्वात् । एतादृश शङ्काया निराकरणायाह सूत्रकारः "भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्चेति" तेह वाचमूचुः "अथहेममासन्यंप्राणमूचुः" इत्यादि श्रुतौप्राणस्येन्द्रियाणां च स्वरूपेण कार्येण च भेदश्रवणात् प्राणेन्द्रियौ परस्परं विभिन्नावेव भवतः। किञ्च सुषुप्तिकाले चक्षुरादीन्द्रियाणां वृत्तिविलोपोजायते, प्राणस्यतु श्वासादिवृत्तिर्यथा पूर्वमेवावतिष्ठते एवेतिवृत्तिविरामाभ्यां वैलक्षण्यादपि. चक्षुरादिकान्येकादशेन्द्रियाणि मुख्यप्राणादतिरिक्तान्येवेति सिद्धम् ॥ १८ ॥

इतिजगद्गुरु ..रामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे

इन्द्रियाधिकरणम् । ८ ॥

किया गया है। इसलिए प्राण तथा इन्द्रिय ये दोनों भिन्न हैं। और सुषुप्ति काल में इन्द्रियों का उपराम हो जाता है। और श्वासादि रूप प्राण वृत्ति का अनवरत सञ्चार होता ही रहता है तो एतादृश वैलक्षण्य से सिद्ध होता है कि पाँच चक्षुरादिक ज्ञानेन्द्रिय, पाँच वागादिक कर्मेन्द्रिय और उभय साधारण मन, ये एकादश इन्दिय तथा प्राण ये सब परस्पर भिन्न हैं। अर्थात् एकादश इन्दिय से प्राण भिन्न है। यद्यपि जीवोपकरणत्व रूप समानता है तथापि नामभेद क्रिया भेद तथा वैलक्षण्य होने से इनमें परस्पर भेद सिद्ध होता है। अतः इन्द्रियों से प्राण भिन्न है दोनों एक नहीं यह सिद्ध हुआ ॥१८॥

इतीन्द्रियाधिकरणम् ॥

संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ॥९॥

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ।२।४।१९।

नामरूपव्याकरणं हिरण्यगर्भस्य कर्मेति तच्छरीरस्य ब्रह्मण इति संशये "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्यकरवाणि" [छा०

विवरणम्—एतावता प्रबन्धेनाकाशादिपृथिव्यन्तभूतानामिन्द्रियाणां प्रणानां च सामुष्टिकसर्गं प्रतिपाद्य ततः परं तेषामेव भूतादीनां व्यष्टि प्रातिस्विकरूपेण तत्तत्सर्गमभिधातुमुपक्रमते। तत्र योयं नामरूपादीनां सर्गः स मुख्यजीवकर्तृकः परदेवताकर्तृकोवेति संशयः। तत्र मुख्य जीवकर्तृकमेवेति पूर्वपक्षः। परदेवताकर्तृकमेव प्रकरणपर्यालोचनया सिद्ध्यतिति सिद्धान्तः। तदेतत्सर्वं पिण्डीकृत्यदर्शयितुं प्रक्रमते नामरूपव्याकरणमित्यादि। पृथिवीजलादिकमित्यादिनाम तथा तदीयं यत्स्वरूपं तयोनिर्माणलक्षणं कार्यम् प्रथमजीवस्य हिरण्यगर्भस्य "सवै शरीरी प्रथमः सवैपुरुष उच्यते। आदिकर्त्तासभूतानांब्रह्माग्रेसमवर्तत" इत्यादि श्रुत्या तस्यैव प्रथमत्वात्। अथवा प्रथमजीवशरीरकं परं ब्रह्म तस्य नामरूपव्याकरणात्मकं कार्यमित्याकारकः संशयो जायते। तत्र प्रथमकोटिरितरेषामपरकोटिस्तु सिद्धान्तपथजुषाम्। एकतर पक्षेनिश्चायककारणाभावाद्भवति संशयः। तत्र "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य-

सारबोधिनी—आकाशादि पृथिव्यन्त भूत इन्द्रिय मन और प्राण समष्टि के उत्पत्ति को बतला करके तदनन्तर इन सबके प्रातिस्विक सर्ग की चिन्ता करते हैं। उसमें इन पदार्थों का जो नाम रूप है उसकी उत्पत्ति प्रथम जीव हिरण्य गर्भ से होती है अथवा सर्व जगदुपादान परमात्मा से एतादृश संशय काल में जीव से नाम रूप का व्याकरण होता है। एतादृश पूर्वपक्ष का निराकरण करके इस विषय में सिद्धान्त बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "नामरूपव्याकरणम्" इत्यादि। इन भूत भौतिक पदार्थों का जो नाम रूप का व्याकरणात्मक पृथक्करणात्मक कार्य है वह प्रथम जीव जो

६।३।२।] इति श्रुत्या चतुर्मुखाख्यजीवस्यैवेदं कर्मेति पूर्वःपक्षः ।
अत्राभिधियते–सूत्रे तु शब्दः पक्षनिवर्तकः । "तासां त्रिवृतं त्रिवृत-मेकैकां करवाणि" [छा०६।३।२।] इति त्रिवृत्कुर्वतो ब्रह्मण एव नाम-रूपव्याकरणकर्तृत्वं तथोपदेशात् । "सेयं देवतैक्षत" इत्यारभ्य "तासां

नामरूपेव्याकरवाणि" [अहंपरदेवता स्वाभिन्नेन हिरण्यगर्भाख्यजीव-द्वाराऽन्तरनुप्रविश्य भूतादीनां नामरूपेव्याकरवाणि विस्पष्टां करोमीति] अनया श्रुत्या चतुर्मुखनामकप्रथमजीवस्यैवनामरूपात्मककार्यं प्रतिसाक्षा-त्कर्तृत्वं नतु परब्रह्मणस्तथात्वमिति पूर्वपक्षवादिनः संगिरन्ते । तत्रेदं प्रतिविधीयते "संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तुः" इत्यादि । संज्ञानाममूर्तिस्वरूपं तयोः क्लृप्तिरुत्पत्तिः परमेश्वरादेव नतुजीवात्, तादृशजीवस्य तदानीम भावात् । परमेश्वरकर्तृकत्वे प्राकरणिकश्रुतिरेव प्रमाणमिति सूत्रस्यमु कुलितोर्थः । अत्रसूत्रघटकस्तुशब्दः पूर्वपक्षस्यव्यावृत्तिपरकः ।

हिरण्यगर्भ उसका है अर्थात् नाम रूप व्याकरण विभाग हिरण्यगर्भ कर्तृक है अथवा हिरण्यगर्भ शरीरक जो परब्रह्म तत्कर्तृक पदार्थों का नाम रूप व्याकरण है ऐसा संन्देह होता है । क्योंकि एकतर पक्ष का कोई निश्चायक प्रमाण नहीं है । इसके बाद "अनेन जीवेन तमनाऽनुप्रविश्यनामरूपे व्याकरनाणि" यह जो हिरण्य गर्भ स्वांश भूत जीव है । उसके द्वारा अन्तः अनुप्रविष्ट होकर के सब नाम रूप का संपादन करता हूँ' इत्यादि श्रुति से यह सिद्ध होता है कि यह जो भूतादि पदार्थों का नाम रूप का व्याकरणात्मक कार्य है वह हिरण्य गर्भ कर्तृक है किन्तु परमेश्वर कर्तृक नहीं क्योंकि "अनेन जीवेन" ऐसा कहा है । तस्मात् परमेश्वर कर्तृक नाम रूप व्याकरण कार्य नहीं हैं किन्तु प्रथम जीव हिरण्य गर्भ कर्तृक है । ऐसा पूर्वपक्ष होता है । इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते है "संज्ञा-मूर्तिरित्यादि । नाम रूप व्याकरणात्मक जो कार्य है वह त्रिवृत करण करने वाले परमात्मा का है हिरण्य गर्भ का नहीं क्योंकि शास्त्र में ऐसा हो

त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि [छा० ६।३।२।] इत्यन्तया श्रुत्या नाम-रूपव्याकरणस्य परदेवताकर्तृकत्वोपदेशात् । एतत्कर्मचतुर्मुखादीनां न सम्भवति । तेषां तदानीमभावात् ।।१९।।

"तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' तासां तेजोऽप्पृथिवीनामेकैकां त्रिवृतं त्रिवृतं करवाणि संपादयामि इत्यादि त्रिवृत्करणं कुर्वतः सर्वसमर्थस्य परब्रह्मण एव नामरूपव्याकरणे—कर्तृत्वमित्येवमुपदेश-दर्शनात् । तथा "सेयंदेवतैक्षत" इत्याद्यारभ्य "तासां त्रिवृत्तं त्रिवृतमित्य-न्तश्रुत्या परदेवताया एव नामरूपव्याकरणात्मककार्यं प्रतिकर्तृत्वस्य समु-पदेशदर्शनात् परदेवता कर्तृकमेवेदं नतु चतुर्मुखस्य. तस्य प्रथमजीवस्य तदन्तरमुत्पत्तिसद्भावेन नामरूपव्याकरणात् पूर्वं तदभावात् । तस्मान्नाम-रूपव्याकरणकार्यं न चतुर्मुखस्य किन्तु "प्रत्येकस्य च भूतस्य रामेणा-र्धद्वयं कृतम् । एकैकार्धचतुर्थांशाः स्वेतरार्धेषु योजिताः ।१५६।। उपदेश है । सूत्र में जो 'तु' शब्द है वह नाम रूप व्याकरणात्मक कार्य में हिरण्यगर्भ कर्तृकत्व रूप पूर्वपक्ष का निराकरणपरक है ।

"तासांत्रिवृतंत्रिवृतमेकैकां करवाणि" उन तेज जल पृथिवीओं को एक एक को त्रिवृत् त्रिवृत् करता हूँ' इस श्रुति से यह सिद्ध होता है कि त्रिवृत त्रिवृत् करने वाले जो सर्वज्ञ परमात्मा हैं उन्ही को नाम रूप के व्याकरणात्मक कार्य के प्रति कर्तृत्व है हिरण्य गर्भ को नहीं । क्योंकि यहाँ 'करवाणि' एतादृश उत्तम पुरुष का प्रयोग है उससे परमेश्वर में ही यथोक्त कर्तृत्व प्रतिपन्न होता है । "सेयंदेवतैक्षत" यह जो वह परा देवता है उसने ईक्षण-संकल्प किया" इत्यादि प्रकरण से लेकर के "तासां त्रिवृतं-२ करवाणि" एतदन्त श्रुतियों से सिद्ध होता है कि भूतों का जो नाम रूप व्याकरणात्मक कार्य है तादृश कार्य में पर देवता को ही मुख्य कर्तृत्व है ऐसा उपदेश प्राप्त होता है । नाम रूप व्याकरणात्मक कार्य में हिरण्य गर्भ को कर्तृत्व नही हो सकता है । क्योंकि कारण तो

मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च ।२।४।२०।

ननु "अन्नमशितं त्रेधा विधीयते" [छा० ३।५।१।] इति चतुर्मुखसृष्टपदार्थेषु त्रिवृत्करणस्योपदिष्टत्वाज्जीवकर्तृकमेव नामरूपव्याकरणादिकमित्याह–मांसादि "अन्नमशितमित्यादौ प्राणिभुक्तान्नादेः परिणामप्रकारः प्रोच्यते न तु त्रिवृत्करणम् । अन्यथा पुरीषादणीयस्त्वेन

पञ्चीकृतेषु भूतेषु यदर्धं तस्य नाम तत् । पञ्चीकृतैश्च भूतैश्च रामश्चाण्डं ससर्ज हि॥१५७॥इत्यादिरूपेणजगद्गाचार्य श्रीश्रियानन्दाचार्योक्तेः परमेश्वरस्यैवेतिदिक् ॥१९॥

विवरणम्–अथ ब्रह्माण्डसर्गादनन्तरं हिरन्यगर्भसृष्टजीवेषु त्रिवृत्करणोपदर्शनात् हिरण्यगर्भकर्तृकमेव त्रिवृत्करणं नतु परमेश्वरकर्तृकमित्याकारकशङ्कायानिराकरणायोपक्रमते "ननु अन्नमशितंत्रेधा" इत्यादि यदन्नं जीवेन भक्षितं भवति. तस्य त्रिधापरिणामो भवति । तस्य यः सर्वापेक्षया स्थूलो भागस्तस्यपुरिष इति यो मध्यमोभागस्तस्य मांस इति संज्ञा भवति । अथ योऽणिष्ठोभागस्तस्य मन इति संज्ञा भवति । पूर्व वृत्ति होता है । तो नाम रूप व्याकरण से पूर्व में तो हिरण्य गर्भ की सत्ता नहीं थी । तो हिरण्य गर्भ भी साध्य कुक्षि प्रविष्ट ही है । परमात्मा तो सर्वोपादान है इसलिए भूतोत्पत्ति के पूर्व नाम रूप व्याकरण के पूर्व में सर्वदा उसकी सत्ता विद्यमान है । अतः परमेश्र कर्तृक ही नाम रूप व्याकरण सबका पृथक नाम निर्देश है हिरण्यगर्भ कर्तृक नहीं ॥१९॥

सारबोधिनी–प्रकारान्तर से त्रिवृत्करण को जीवकर्तृ कहने वाले के मत को निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं, "ननु अन्नमशीतम्" इत्यादि । छान्दोग्य के षष्ठाध्याय में आया है कि "पुरुष के द्वारा उपभुज्यमान जो अन्न, उस अन्न का तीन विभाग होता है, उसमें सर्वापेक्षया जो स्थूल भाग है वह पुरीष तदपेक्षया जो मध्यम भाग है वह मांस रूप से परिणत होता है । और सर्वापेक्षया जो अणीयस् भाग है वह

मांसमनसोरप्यतैजसत्वप्रसक्तिरनिवार्या स्यात् । "अन्नमशितम्" इति भूमेरेव त्रैविध्यकथनं विरुध्यते । एवमितरयोरप्तेजसोरपि त्रैविध्याभिधानं विरुध्येत । अतो नात्र त्रिवृत्करणोपदेशस्त्रिवृत्करणन्तु परमात्मकर्तृकमेव ॥२०॥

नायं विभागपरमेश्वरकर्तृकोऽपितु प्रजापतिकर्तृकः तस्मात् हिरण्यगर्भकर्तृकमेवेदं त्रिवृत्करणं नतु परमेश्वरकर्तृकम् । एवं च "अन्नमशितम्" इत्यादि श्रुत्या चतुर्मुखनिर्मितपदार्थजातेषु त्रिवृत्करणस्योपदर्शनात् नामरूपयोर्व्याकरणलक्षणं कार्यं हिरण्यगर्भसंपादितमेव नतु परमेश्वरकर्तृकम्. इत्याशङ्काया निराकरणाय प्राह सूत्रकारः "मांसादिभौमम्" इत्यादि । "अन्नमशितम्" नेदं प्रकरणं त्रिवृत्करणस्योपदेश प्रतिपादनपरकम्, किन्तु जगदन्तर्गतप्राणिभिर्यदन्नं भुक्तं तादृशान्नस्य यः परिणामोजीर्णता. तादृशपरिमाणप्रकार एव केवलं प्रतिपादितो भवति तत्र नतु त्रिवृत्करणस्योपदेशपरकं तत्प्रकरणम् । अन्यथा यदि त्रिवृत्करणं कदाचिदुपदिष्टं भवतीति मन्येत तदा सर्वान्तिमपरिमाण रूपपुरीषादणीयस्त्वेन मांसस्य जलीयत्वतैजसत्वप्रसक्तिः केन कथं

मन रूप में परिणत होता है" तो इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि चतुर्मुख से निर्मित पदार्थों में त्रिवृत्करण का उपदेश किया गया है। इसीलिए प्रथम जीव जो हिरण्य गर्भ है तत्कर्तृक यह नाम रूप का व्याकरण विभाग रूप का कार्य है किन्तु परमेश्वर कर्तृक नहीं एतादृश आशङ्का का निराकरण करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—मांसादिभौममित्यादि । "अन्नमशीत"मित्यादि श्रुति में प्राणि से भुक्त जो अन्न है उसका जो परिणाम तादृश परिणाम के प्रकार का उपदेश किया गया है । नतु त्रिवृत्करण का उपदेश—प्रकार का बोधक वह प्रकरण है । अन्यथा पुरिषापेक्षया अति अणीयस् होने से मांस तथा मन में जलीयत्व तथा तैजसत्व की आपत्ति को किस तरह से निराकरण किया जा सकता है । और

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ।२।४।२१।

ननु यदि त्रिवृत्कृतानामेव परिणामोऽन्नमशितमित्यादावुच्यते तर्हि कथमन्नाद्येकरूपेणाभिधानमित्याशङ्कायामुच्यते । वैशेष्यादिति । तु शब्दः शङ्कामुच्छिनत्ति । भूम्यम्बुतेजसां त्रिवृत्कृतत्वेऽपि स्वभागा-

---

निवारिता स्यात् । तथा "अन्नमसीत" मित्यादिना केवलं पृथिव्या एव त्रैविद्ध्योपपादनं कथमिव विरुद्धं न भवेत् । एवम् तदितरयोर्जलतेजसोरपि त्रैविद्ध्योपपादनं कथं नविरुद्धं स्यात् । तस्मादत्रप्रकरणे नत्रिवृत्करणस्योपदेशः परं त्रिवृत्करणंपरमात्मकर्तृकमेव नतुजीवकर्तृकमितिसिद्धान्तमार्गोनिष्कण्टकः ॥२०॥

विवरणम्-ननु यदि"अन्नमशितम्"अत्रत्रिवृत्कृतानामन्नादीनामेव परिणामस्तदा इयं पृथिवी इदं जलमित्यादि व्यवहारः कथमित्याशङ्का-निराकरणायोपक्रमते"ननु यदि त्रिवृत्कृतानामित्यादि"यदिअन्नमशितमित्यत्रत्रिवृत्कृतानामेव परिणामस्तदा. इदमन्नमित्यादि पार्थक्येन व्यवहारः कथमित्याशङ्कायामाह वैशेष्यादिति यत्र योंऽशोऽधिकस्तत्रतद्व्यवहारोऽतो न कोऽपि दोषः । "पञ्चीकृतेषु भूतेषु यदर्धं तस्य नामतत्" इति "अन्नमशितम्" इससे भूमिमात्र का त्रैविध्य कथन भी विरुद्ध होता है । इसी तरह भूमि से भिन्न जो जल तथा तेज उसका भी त्रैविध्य कथन विरुद्ध होता है । इसलिए "अन्नमशितम्" इस प्रकरण में त्रिवृत्करण का उपदेश नहीं है, किन्तु परिमाणमात्र का कथन है । तस्मात् त्रिवृत्करण तो परमात्मा कर्तृक ही है, जीव कर्त्तृक नहीं ॥२०॥

सारबोधिनी-यदि त्रिवृत् कृत जो अन्नादिक हैं उसीके परिणाम का प्रतिपादन होता है "अन्नमशितम्" इत्यादि स्थल में तब "इयं पृथिवी, इदं जलम्" इत्यादि रूप से कथन कैसे होता है ? इस शङ्का का निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं "वैशेष्यादित्यादि" इस सूत्र में जो तु शब्द

धिक्यादन्नादिवाद इति न दोषः। द्विरुक्तिरध्यायसमाप्त्यर्था ॥ २१ ॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ॥९॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यान्वयप्रतिष्ठित श्रीमदनुभवानन्दाचार्य स्वामिद्वारकेण

ब्रह्मवित्स्वामिजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरघुवराचार्यविरचितायां

श्रीरघुवरीयवृत्तौ (ब्रह्मसूत्रीयवेदान्तवृत्तौ)

द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

श्रौतप्रमेयचन्द्रिकायामाचार्योक्तेः। तु शब्दः पूर्वपक्षनिराकरणपरक इति ॥ २१ ॥

इतिश्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेसंज्ञामूर्त्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ॥९॥

इत्यानन्दभाष्यकारजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यप्रधानपीठाचार्य

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नार्य

योगीन्द्रकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे

द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः

है वह पूर्वशङ्का का निराकरणपरक है। यद्यपि पदार्थ मात्र त्रिवृत्कृत अथवा पञ्चीकृत हैं। सब में सबका अंश है। तथापि जिसमें जिसका अधिक भाग है उस में उसका व्यवहार होता है। जैसे पृथिवी में पृथिवी का अंश आधा भाग है। और जलादि का अंश चतुर्थ भाग अल्प है। इसलिए पृथिवी में अन्यों के भाग होते हुए भी पृथिवी का व्यवहार होता है। इसी तरह अन्य में भी समझना चाहिए त्रिवित्करण तथा पञ्चीकरण को श्रौतप्रमेयचद्रिका तथान्य पूर्वाचार्य कृत प्रबन्धो से समझलें विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखरहे हैं। "तद्वादस्तद्वादः" इस प्रकार द्विर्वचन अध्याय का समाप्ति बोधक है ॥२१॥

इति स्वामी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्यकृत श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे

सारबोधिन्यां द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः

श्रीसीतारामार्पणमस्तु

श्रीसीतारामाभ्यां नमः

॥ अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादःप्रारभ्यते ॥

तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ३।१।१।

अथात्र साधनाध्याये परप्राप्त्युपाये चिन्त्यमाने—उपास्यवस्त्वतिरिक्तविषयविरक्तिसम्पादनायादौ जीवस्य देहान्तरगतिश्चिन्त्यते । तत्र भूत-

---

विवरणम्—प्रथमाध्यायेन सकलवेदान्तानां परमकारणे परब्रह्मण्येव समन्वय इति प्रदर्श्य तत्रोद्भावितविरोधानपिद्वितीयाध्यायेन निराकृत्य परमपुरुषप्राप्तौ तदुपायप्रदर्शनाय तृतीयाध्यायः प्रवर्ततेऽयं च साधनाध्यायः । तत्रानेकेषां विचारणां कुर्वन् प्रथमतः संसाराद्वैराग्यप्रदर्शनाय जीवस्योत्क्रमणादिकान् पदार्थान् चिन्तयिष्यतीत्येतत्सर्वं प्रतिपादयितुं वृत्तिकारः प्रक्रमते "अथात्रसाधनाध्याये" इत्यादि । अथ समन्वयाविरोधाध्यायनिरूपणानन्तरमस्मिन् परप्राप्तावुपायात्मके साधनाध्याये चिन्त्यमाने उपास्यं यत्परमपुरुषात्मकं वस्तु. ततोभिन्नपदार्थेषु साधकानां वैराग्य संपादनाय प्रथमतो जीवस्य देहान्तरप्राप्तिर्विचार्य्यते । तत्र संशयस्य

सारबोधिनी—प्रथमाध्याय से सकल वेदान्त का परमपुरुष में समन्वय है ऐसा बतलाकरके द्वितियध्याय से परोद्भावित दूषण का निराकरण कर इस तृतीय साधनाध्याय से परमपुरुष की प्राप्ति में उपायादि का प्रतिपादन करने के लिए उपक्रम करते हैं "अथात्रसाधनाध्याये" इत्यादि । इसके बाद यह जो साधना नामक तृतीय अध्याय है जो परम पुरुष के प्राप्ति में उपाय का प्रतिपादन परक है, उसमें उपास्य जो परम पुरुष, उससे अतिरिक्त वस्तुओं में वैराग्य बतलाके के लिए प्रथमतः जीव के देहान्तर गति विषय का चिन्ता विचार करने के लिए प्रक्रम करते हैं। उसमें प्राण के आधार भूत जो भूतसूक्ष्म उन भूत सूक्ष्मों से परिवेष्टित

सूक्ष्मैः प्राणाधारभूतैरसंयुक्तोऽयं जीवो देहान्तरं प्रयाति आहो स्वित्तैः सम्परिष्वक्त एवेति संशयः । भूतसूक्ष्माणां देहान्तरेऽपि सौलभ्यादसम्परिष्वक्तः प्रयातीति पूर्वः पक्षः । अत्राभिधीयते—देहान्तरयाने भूतसूक्ष्मैः सम्परिष्वक्त एव प्रयाति । एतच्च प्रश्ननिरूपणाभ्यामवगम्यते । छान्दोग्ये हि पञ्चाग्निविद्यायां श्वेतकेतुम्प्रति प्रवाहणकृतेषु पञ्चप्रश्ने-

---

विचाराङ्गत्वादादौ संशयः प्रदर्श्यते—तत्र भूतसूक्ष्मैरित्यादि । तत्र किमयं जीव एकं शरीरं परित्यज्यान्यत्रजिगमिषुः प्राणानामाधारभूतैर्भूतसूक्ष्मैः सहैवगच्छति—अथवा भूतसूक्ष्ममनादायैवगच्छतीति संशयः । पूर्वपक्षस्तु भूतसूक्ष्ममनादायैवगच्छति । कुतः ? भूतसूक्ष्माणां सर्वत्रसुलभत्वात्, यद्वस्तु सर्वत्रोपलभ्यते नतानादाय प्रस्थितो भवतीति लोकमर्यादा तस्मादनादायैव गच्छतीति पूर्वपक्षाशयः । अत्राभिधीयते—तदन्तरप्रतिपत्तावित्यादि शरीरान्तरप्राप्तौ भूतसूक्ष्मैः परिवेष्टित एव जीवोयाति कुतः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्,प्रश्न प्रतिवचनाभ्यामित्थं निश्चीयते । तथाहि छान्दोग्यश्रुतौ पञ्चाग्निविद्यामधिकृत्य प्रवाहणो राजा श्वेतकेतुं पञ्चप्रश्नान् अपृच्छत् । "वेत्थपञ्चम्यामाहुतौ आपः पुरुषवचसो

युक्त होकर के ही जीव देहान्तर को प्राप्त करताहै अथवा उन भूत सूक्ष्मों से अपरिवेष्टित होकर के जाता है ऐसा संशय होताहै । तब पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि भूतसूक्ष्म तो सर्वत्र सुलभ है तब भूत सूक्ष्म से अपरिवेष्टित होकर के, ही जीव देहान्तर में जाता है । "अत्राभिधीयते" से सिद्धान्त कहते हैं—देहान्तर गमन के समय में भूत सूक्ष्मों से संपरिष्वक्त युक्त ही जीव जाता है । क्योंकि प्रश्न निरूपण से ऐसा जाना जाता है । छान्दोग्य श्रुति में पञ्चाग्नि विद्या के प्रकरण में श्वेतकेतु के प्रति प्रवाहण कृत पाँच प्रश्नों के मध्य में अन्तिम प्रश्न जो है उसमें द्युलोक पर्जन्य पृथिवी पुरुष और स्त्रीरूप पाँच अग्नियों में श्रद्धा [जल] सोमवर्षान्न और

ष्वयमन्तिमः प्रश्नः । अत्र द्युलोकपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषिद्रूपाग्निषु श्रद्धा-सोमवर्षान्नरेतसामाहुतयः प्रोक्ताः । आसु चाहुतिषु श्रद्धापदाभिलप्या-नामपामेवपञ्चम्यामाहुतौ पुरुषशब्दवचनीयत्वमभिहितम् । आभ्यां देहा न्तरं भूतसूक्ष्मैःसम्परिष्वक्त एव जीवो यातीत्यवगम्यते ॥ १ ॥

भवन्तीति" प्रश्नस्योत्तरे प्रदर्शितम् तत्र द्युलोकपर्जन्यपृथिवी पुरुष योषिद्रूपपञ्चाग्निषु श्रद्धा सोमवर्षान्नरेतसामाहुतयः क्रमेण प्रदर्श्य इति तु पञ्चम्यामाहुतौ आपः पुरुषवचसो भवन्तीति प्रतिपादितम् । एतासु आहुतिषु श्रद्धा पदवाच्यसूक्ष्मजलस्यैवान्तिमाहुतौ पुरुषपदवाच्य त्वं कथितम् । एतावता ज्ञायते यत् जलोपलक्षितसर्वभूतसूक्ष्मैः संपरिवेष्टित एव जीवो देहादेहान्तरं याति नतु भूतसूक्ष्मरहितो यातीति । एतत्तत्वं विशेषतः छान्दोग्यस्य पञ्चाग्निविद्याप्रकरणी यानन्दभाष्ये द्रष्टव्यम् । इहतु सूत्रकारोऽति संक्षेपेणैव निवेदितवान् । वृत्तिकारोऽपि वृत्तिकारत्वात्तल्लक्षणं नातिचक्रे विवरणकारत्वेऽपि मया-सोऽध्वा नातिक्रान्तोत्रप्रकरण इति ध्येयम् ॥१॥

रेतस की आहुतियों को बतलाया है। इन आहुतियों में श्रद्धापद बोध्य जल को ही पंचम आहुति में पुरुष पदवाच्यता का कथन किया है। अतः इन प्रश्न प्रतिवचन से सिद्ध होता है कि भूत सूक्ष्मों से संपरिवेष्टित ही जीव देहान्तर को प्राप्त करता है। यद्यपि भूत सूक्ष्म सर्वत्र समुपलब्ध हो सकता है। तथापि पञ्चाग्नि विद्या का जो प्रकरण है, उसका पर्यालोचन करने से सिद्ध होता है कि भूत सूक्ष्मों से परिवेष्टित होकर के ही जीव शरी-रान्तर में जाता है ऐसा सिद्धान्त है ॥१॥

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ।३।१।२।

प्रकृतप्रश्नप्रतिवचनयोरपामेव केवलानां गमनमुक्तं न तुसमस्तानां भूतसूक्ष्माणामित्याशङ्कां समाधत्ते । त्र्यात्मकत्वादिति– तुना चोद्यं निरस्यति । त्रिवृत्कृतानामेवापामत्र प्रश्नप्रतिवचनयोरुक्ति स्तत्रापां भूयस्त्वादप्पदेनोक्तम् ।

विवरणम्—ननु प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां केवलं जलस्यैव गमनं ज्ञायते इतरभूतानामपि गमनं भवतीति कथमवगम्यते तदितरेषां गमनस्याश्रुतत्वात् ! अश्रुतस्यापि गमनेऽविशेषादन्येषामपि नयनं प्रसज्येत इत्याशङ्कां निराकर्तुमुपक्रमते"प्रकृतप्रश्नप्रतिवचनयोरित्यादि । ननु पञ्चाग्निविद्याप्रकरणप्रश्नोत्तरयोर्मध्ये तु केवलस्यैव देहान्तर गमनं प्रतिपादितं तत्कथमत्र त्रयाणां पञ्चानां वा गमनमुच्यते इति केवलजनेन परिवेष्टित एव जीवो देहान्तरं गच्छतीत्याशङ्कां समा

सारबोधिनी—पञ्चाग्नि विद्या के प्रकरण में जो प्रश्न प्रतिवचन है उस में तो केवल जल का ही गमन कहा गया है किन्तु पृथिव्यादि आकाशान्त भूतों का जो सूक्ष्म भूत पद वाच्य हैं उनका गमन नहीं कहा गया है । तब किस तरह से कहते हैं कि सब सूक्ष्म भूतों से युक्त होकरके जीव देहान्तर में जात है ? एतादृश शङ्का का निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं "त्र्यात्मकत्वादिति" प्रकृत सूत्र में जो "तु" शब्द है वह पूर्वपक्ष का निराकरण परक है । प्रकृत में त्रिवृत् कृत अर्थात् पञ्चीकृत जो जल है तादृश जल का ही प्रश्न प्रतिवचन में कथन है । इसलिए पञ्चभूत सूक्ष्मों का गमन होता है ऐसा कहा गया है । यदि पञ्चीकृत जल का ग्रहण है तब "अपाम्" ऐसा क्यों कहा गया ? उत्तर=देहारंभक भूत सूक्ष्म में जल की

"प्रत्येकस्य च भूतस्य रामेणार्धद्वयंकृतम् ।
एकैकार्धचतुर्थांशाः स्वेतरार्धेषु योजिताः ॥१५६॥
पञ्चीकृतेषु भूतेषु यदर्धं तस्म नामतत् ।"

(श्रौतप्रमेयचन्द्रिका) इत्याचार्योक्तेः । प्रसङ्गोक्तत्रिवृत्करणं पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षकमिति तु न विष्मर्तव्यम् ॥२॥

धातुमाह "त्र्यात्मकत्वादिति" सूत्रकारः। अत्र सूत्रे तु शब्दः पूर्वकृत शङ्काया निराकरणपरकः। "तासामेकैकं त्रिवृतं त्रिवृतं करवाणि" छान्दोग्य श्रुत्या सर्वेषां त्रिवृत्कृतत्वात् तैत्तिरीयानुरोधेन सर्वेषां पञ्चीकृतत्वात् प्रकृते अप्पदेन पञ्चानामेव ग्रहणं भवति प्रश्नप्रतिवचनयोः । केवल जलस्य कथनं तु शरीरोत्पत्तौ जलानामाधिक्यात् श्रद्धात आरभ्य रेतोन्तद्रव्याणां जलबहुलत्वादप्पदेन ग्रहणं कृतम् । तस्मात् प्रश्न प्रतिवचनेजलस्यैव कथनं जलस्यभूयस्त्वान्न विरुद्ध्यते अतः पञ्चानां भूतानां देहान्तरे गमनं भवतीति ज्ञातव्यमितिदिक् ॥२॥

अधिकता है। अर्थात् श्रद्धा से लेकर के रेतस् पर्यन्त जो आहवनीय द्रव्य हैं उसमें जल भाग की अधिकता होने से जल का ही नाम ग्रहण किया गया है एतावता जलेतर चार सूक्ष्म भूतों का निराकरण नहीं किया जाता है। जिस तरह सांख्य तंत्र में व्यवहार योग्य जितने पदार्थ हैं वे सब के सब त्रिगुणात्तक हैं। उसी तरह वेदान्त सिद्धान्तमें प्रायः पदार्थ पञ्चीकृत हैं। प्रत्येक पृथिव्यादिक में तदितर चार भूतों का सम्मिश्रण अवश्य ही रहता है। अन्यथा उनका व्यवहार होना ही असंभवित होजाएगा। इस विषय का विशेष विवरण जगद्गुरु श्रीश्रियानन्दाचार्यविरचित श्रौतप्रमेयचन्द्रिका के प्रकृति परिच्छेद तथान्य पूर्वाचार्य प्रबन्ध व्याख्यानमें देखें ॥२॥

प्राणगतेश्च ।३।१।३।

'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति'' [बृ० ६।४।२।] इत्यभिधीयमानं प्राणेन्द्रियाणां गमनं प्राणाद्याधारभूतभूतसूक्ष्मैस्सहैव जीवो यातीत्यवगमयति ॥३॥

विवरणम्–इतश्च प्राणगतिश्रवणेनापि हेतुना जीवेन सह भूतसूक्ष्माणामपिदेहान्तरगमनं ज्ञायते तथाहि तमुत्क्रामन्तं शरीराद्गच्छन्तं जीवं मुख्यप्राणोऽनुयाति प्राणं गच्छन्तं च तदनुसर्वाणीन्द्रियाणि गच्छन्ति प्राणादिनां गमनं स्वाधारभूतसूक्ष्मगमनमन्तराऽनुपपन्नमिति तदन्यथानुपपत्त्या ज्ञायते यत् भूतसूक्ष्मैः प्राणाधारैः सहित एव जीवोदेहान्तरं गच्छति। तथा ''शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि'' इत्यादिश्रुतिस्मृतितोप्यवगम्यते यत् सहैव भूत सूक्ष्मै देहान्तरं यातीत्येतत्सर्वं मनस्याकलय्य प्राह ''तमुत्क्रामन्तम्'' इत्यादि। निगदव्याख्यानेन व्याख्यात एव वृत्तेरक्षरार्थ इति भूयो न वितन्यते ॥३॥

सारबोधिनी–''तमुत्क्रामन्तमित्यादि''शरीर से जीव के जाने से उसके पीछे मुख्यप्राण जाता है और मुख्य प्राण के जाने से उसके अनुयायी इन्द्रियान्तर भी चले जाते हैं'' इस प्रकार से श्रुति में तथा''शरीरं यदवाप्नोति'' जो यह जीव शरीर को प्राप्त करता है और जो इस शरीर को छोड़ता है, तब इन सब इन्द्रियादिक को लेकर के जाता है''ऐसा श्रुति-स्मृतियों में कहा गया है तो यह प्राणादिक का गमनागमन प्राणादि का आधार भूत जो भूत सूक्ष्म हैं उन भूत सूक्ष्मों के साथ ही होता है ऐसा ज्ञात होता है ॥ ३ ॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरितिचेन्न भाक्तत्वात् ।३।१।४।

ननु "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यम्" । [बृ०५।२।१३] इति वागादीन्द्रियाणामग्न्यादिदेवतासु लयस्याभिधानान्न जीवेन सह गमनमिमि चेन्न "ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशाः" [बृ०५।२।१३।] इत्यप्ययमनभ्युपगम्यमानभ्युपगन्तव्यैर्लोमादिभि सहपाठादग्न्यादिषु वागाद्यप्ययं श्रुतिस्तद्देवतासु भाक्तेति ॥४॥

विवरणम्—अथैतावता प्रकरणेन प्राणादयः सूक्ष्मभूतानि च जीवेन सह गच्छन्तीति प्रतिपादितम्. परन्तु तन्न युक्तम्. "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्य" इत्यादि श्रुतौ म्रियमाणपुरुषसम्बन्धिवागादीनां तत्तद्देवतासु लयप्रतिपादनादिति चेन्न. प्रकृतश्रुतेरौपचारिकत्वात्. "वनस्पतीन केशा" इत्यादिश्रुतौ केशादीनां गमनं वनस्पत्यादिषु दर्शितं तत्तु प्रमाणादृष्टम्. तथा "तमुत्क्रामन्तम्" इत्यादि श्रुत्या जीवेन सह गमन प्रतिपादनात् भाक्तत्वमेवेत्याशयेन सूत्रव्याख्यानाय प्रवर्तते "ननु

सारबोधिनी—"ननु यत्रास्येत्यादि" म्रियमाण इस पुरुष का वागिन्द्रिय अग्नि को प्राप्त कर जाता है। अर्थात् वागिन्द्रिय का लय अग्नि देवता में हो जाता है। प्राण का लय वायु में होता है। और चक्षुरिन्द्रिय का लय आदित्य में हो जाता है इत्यादि श्रुति में वागादिक इन्द्रियों का लय अग्न्यादिक देवताओं में कहा गया है। तब जीव के साथ इन लोगों का गमन होता है ऐसा कहना तो ठीक नहीं है। उत्तर— इसी श्रुति में आगे चलकर के कहा गया है कि "ओषधीर्लोमानिवनस्पतीन् केशाः" शरीरस्थ जो लोम हैं उनका लय ओषधियों में होता है। तथा केशों का लय वनस्पतियों में होता है" परन्तु केशलोमादिका अप्यय [लय] ओषधि वनस्पतियों में प्रत्यक्षतः बाधित होने से औपचारिक है। इसी प्रकार अग्न्यादिक देवता में वागादिक का लय प्रतिपादक श्रुति भी भाक्त अर्थात् औपचारिक है। मरणानन्तर वागादिक में देवों का

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ।३।१।५

"देवाः श्रद्धां जुह्वति" [छा०५।४।२।] इति प्रथमाग्नौ श्रद्धाहुतेरुक्ततयाऽबाहुतेरश्रवणात् कथमपां गतिर्जीवेन सहेति चेन्न, "श्रद्धा वा आपः" इत्यादिश्रुतेरत्र श्रद्धाशब्देनाप एवोच्यन्ते अत एवाप्सम्बन्धिनः प्रश्नस्य प्रतिवचनं श्रद्धां जुह्वति इत्यप्त्वेन श्रद्धाया ग्रहण एवोपपद्यते ॥५॥

यत्रास्य पुरुषस्येत्यादि। वृत्तेरक्षरार्थस्तुसर्वोऽप्यतिरोहितार्थक एवेति न पुनस्तत्प्रतन्यते ॥४॥

विवरणम्—ननु प्रथम द्युलोकाग्नौ श्रद्धैवाहवनीयद्रव्यतया श्रुता नतु जलस्य श्रवणं "तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वतीति" श्रवणात् कथं जलपरिवेष्टितो जीवो गच्छतीति. शङ्कां निराकर्तुं प्रक्रमते "देवाः श्रद्धामित्यादि प्रथमेद्युलोकाग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वतीत्यत्र श्रद्धाया एवाहुतिः प्रदर्शिता नतु जलस्य तत्कथमुच्यते जलपरिवेष्टितो जीवो गच्छतीति चेन्न "श्रद्धा वा आपः' इति श्रुत्या श्रद्धा शब्देन जलस्यैव ग्रहणात् । एवं कृतेसत्येव प्रश्नप्रतिवचनयो रुपपत्तिस्वामित्व निवृत्त हो जाता है। एतावन्मात्र में श्रुति का तात्पर्य है लयांश में नहीं ॥४॥

सारबोधिनी—"देवतालोग द्युलोक प्रथम अग्नि में श्रद्धा की आहुति देते हैं" इत्यादि प्रकरण में श्रद्धा को आहुति द्रव्य रूप से ग्रहण किया गया है । और वहाँ जल की चर्चा आहुति द्रव्य के रूप से नहीं की गई है। तब किस तरह से कहते है कि जलादि भूत सूक्ष्म से परिवेष्टित होकर के जीव जाता है ? उत्तर "श्रद्धा वा आपः" "श्रद्धा ही जल है" इत्यादि श्रुत्यन्तर में श्रद्धा का ही जल रूप से कथन किया गया है । इसलिए प्रथम आहुति में भी जल ही आहवनीय द्रव्य हैं । अतएव जल सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में श्रद्धा का हवन देवता करते है इसप्रकार

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ।३।१।६।

नतु "देवाः श्रद्धां जुह्वति' [छा० ५।४।२।] इत्यादिवाक्यादप्संयुक्तस्य जीवस्य गमनं न श्रुतमिति चेन्न, "अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्तदत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति" [छा० ५।१०।३।] इत्यादि वाक्यकदम्बेनेष्टादिकारिणां धूमाध्वना चन्द्रलोकगमनं स्पष्टं प्रतीयते ।६।

र्भवति नान्यथा । तस्मात् श्रद्धापदेन जलस्य ग्रहणात् जलादिसंपरिष्वक्तजीवोगच्छतीति ।।५।।

विवरणम्—अथैवमपि "ते देवाः श्रद्धां जुह्वति" इत्यादिस्थलेपि जल सम्बन्धोनावगम्यते यतः प्रश्नप्रतिवचनयोर्जलाहुतेरश्रवणात्. इत्याशङ्कांनिवर्तयितुमुपक्रमते. "ननु देवा"इत्यादि । प्रश्नप्रतिवचनयोर्जलस्याश्रवणात्कथंजलादिपरिवेष्टितो जीवो गच्छतीतिप्रतिज्ञायते इतिचेन्न. इष्टादिकारिणां तत्प्रतीतेः । अर्थात् ये यागादिकंकुर्वन्ति ते धूममार्गेणचन्द्रलोकं गच्छन्ति. इति चन्द्रलोकगमनं जलसंयुक्तजीवस्यै-

से जल रूप से श्रद्धा का ग्रहण उपपन्न होता है । अन्यथा प्रश्न प्रति वचन में विरूपत्व हो जायगा । इससे सिद्ध होता है कि भूत सूक्ष्म से परिवेष्ठित होकर के ही जीव शरीरान्तर में जाता हैं ।।५।।

सारबोधनी—प्रश्नः—"वे देवता लोग द्यु लोक रूप अग्नि में श्रद्धा का आहुति देते हैं" इस वाक्य से भी तो जलादि भूत सूक्ष्म से संयुक्त जीव का गमन तो प्रतीत नहीं होता है क्योंकि प्रश्न अथवा उत्तर वाक्ययों में जल का नाम नहीं । इसलिए जलाहुति का अश्रवण न होने से किस तरह कहते हैं कि जल संयुक्त जीव का गमन होता है । उत्तर "जो अधिकारी इष्ठापूर्त का अनुष्ठान करते है वे लोग धूम मार्ग को प्राप्त करते है" इत्यादि विधायक वाक्य समुदाय से इष्टादिकारियों का धूम मार्ग से चन्द्रलोक में गमन होता है ऐसा स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है । अर्थात् दर्श पूर्णमासादिक याग कर्मों में दधि प्रभृतिक पदार्थ द्रव द्रव्य होने से

भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति ।३।१।७।

नन्वेवं "तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति" [छा०४।१०।४।] इति देवानां भक्ष्यत्वेनोक्तो जीवः कथम्भवेदित्याशङ्कामपनुदति । वा शब्दः शङ्काव्यावर्तकः । तद्देवानामन्नमित्यादिवचनं नजीवानामदनीयत्वं ते किन्त्वनात्मविदो देवभोगोपकरणतां भजन्त इत्यर्थज्ञापकत्वेन भाक्तम् ।

वगमनं दर्शयति । एतदेवदर्शयति. "अथयइमेग्रामइष्टापूर्तम्" इत्यादि. अथयेऽधिकारिणइष्टापूर्तंकुर्वन्ति ते तादृश कर्मगः फलोपभोगायधूममार्गेण [दक्षिणमार्गेण] चन्द्रलोकं प्राप्नुवन्ति. इति तेषां चन्द्रलोके गमनं ज्ञायते, तस्माज्जलसंयुक्तस्यैवगमनं भवतीति निश्चीयते । तस्माज्जलादिसंयुक्तस्यैवजीवस्य गमनं भवतीति ॥६॥

विवरणम्—ननु एवं हि श्रूयते "सोमोराजातद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति" तथा च फलभोगाय स्वर्गगताइष्टादि कारिणोदेवान्नं भवन्तीति महदनिष्टमापन्नम्. इत्याशङ्कां निवर्तयितुमुपक्रमते "नन्वेवं तद्देवानामन्नमित्यादि" [ते इष्टादिकारिणोदेवानामन्नं भवन्ति] इति स जीवो देवभक्ष्यत्वेन प्रतिपादित इत्यादिकारिकामाशङ्कामपनुदति सूत्रकारः "भाक्तं

जल रूप है । वे जल इष्टादिकारियों को सूक्ष्म रूप से व्याप्त करते हैं । तब वे जल फल देने के लिए स्वर्ग लोक में ले जाते हैं । ऐसा "ते देवाः श्रद्धां जुह्वति" इस वाक्य से कहा जाता है । श्रद्धा पूर्वक आहूयमान जल श्रद्धाख्य आहुति को प्राप्त करके सोमात्मक देह रूप से परिणत होते हैं । इसलिए आहुति रूप जल का सम्बन्ध जीव के साथ है ऐसा जाना जाता है । अतः जलादि संयुक्त जीव का गमन सिद्ध होता है ॥६॥

सारबोधिनी - कर्मफल के उपभोग करने के लिए कर्मकारी स्वर्ग में जाते है । "वह सोमराजा देवताओं का अन्न हो जाता है उसको देवतालोग खाते हैं" इत्यादि श्रुति में कहा है कि वह तो देवताओ का भक्ष्य होता है । तब उस जीव को स्वर्गात्मक कर्म फलका भोग किस तरह से

तथाहि दर्शयति श्रुतिः "यथा पशुरेवं स देवनाम्' [बृ०१।४।१०।] इति देवभोग्यत्वमात्रम्। अतो भूतसूक्ष्मैः सहित एव जीवो देहान्तरम्प्रयाति ॥७॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ॥१॥

वेत्यादि सूत्रम्। अत्र वा शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः। नहि देवा तं भक्षयन्ति किन्तु अनात्मवित्त्वात् ते यज्ञादिकारिणोदेवानामुपभोगयोग्या भवन्ति। तैः सह देवाः स्वेच्छया विहरणं कुर्वन्ति. नतु भक्षणस्यात्र-मुख्योऽर्थोविवक्षितः। तथा सति " न वै देवा अश्नन्ति, एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्तीति' श्रुतिविरोधः। तथा च यथा"पशवोन्नंविषम्" अत्रान्न शब्द उपभोगयोग्यतां दर्शयति तथैव प्रकृते बोध्यम्। यतस्ते यज्ञादि-कारिण आत्मज्ञानरहितास्तस्मात्ते देवभोगा भवन्ति। तस्मात् भूतसूक्ष्मैः परिवृत्त एव जीवो देहान्तरं प्राप्नोतीति सिद्धं भवति ॥७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृत्तौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ॥१॥

मिलता है। इस आशङ्का को दूर करने के लिए सूत्रकार कहते हैं "भाक्तं वा" इत्यादि इस सूत्र में जो 'वा' शब्द है वह पूर्व शङ्का का निराकरण परक है। "तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति" इत्यादिक जो वचन है वे जीव देवता का अदनीय भक्षणीय हैं ऐसा नहीं कहता है। किन्तु वे अनात्मवित् यज्ञकारी लोग देवता के उपभोग में उपकरण हो जाते हैं एतादृश अर्थ का प्रतिपादक होने से "तद्देवानामन्नम्" यह श्रुति भाक्त गौणार्थक है। ऐसा ही श्रुत्यन्तर में कहा है "जैसे पशु है उसी तरह वह देवता का पशु है,, इससे देवभोग्यत्व मात्र का प्रतिपादन होता है। अन्यथा "न हवै देवा अश्नन्ति एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति" इत्यादिश्रुति वाधितार्थक हो जायगी। इसलिए भूत सूक्ष्म से परिवृत होकरके जीव देहान्तर को प्राप्त करता है यह सिद्ध हुआ ॥ ७ ॥

॥ इति तदन्तर प्रतिपत्त्यधिकरणम् ॥

कृतात्ययाधिकरणम् ॥ २ ॥

कृताऽत्ययेनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ।३।१।८।

धूमाध्वना सोमलोकमुपेतानामिष्टादिकारिणां कर्मावसाने ततः प्रत्यावर्तनमाम्नायते। तस्मिन् "यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते" [छा०५ । १०।५।] इत्यत्र संशयः । सोमलोका-

---

विवरणम्—ये जनाः पुण्यकर्मकृत्वा तादृशकर्मणः फलोपभोगाय चन्द्र मण्डलमधिरूढास्ते सर्वकर्मफलोपभोगंकृत्वैव ततोनिवर्तन्ते, अथवा शिष्ट कर्मादयस्ततोनिवर्त्तन्ते । तत्र"यावत्संपातमुषित्वेत्यादि" श्रुतिदर्शनात्सर्वकर्मफलभोगंकृत्वैवनिवर्तन्ते इति पूर्व पक्षः । इत्याकारकशङ्काया निवर्तनायोपक्रमते"धूमाध्वनासोमलोक"मित्यादि । धूमाध्वनाधूममार्गेण दक्षिणमार्गेणेत्यर्थः । सोमलोकं चन्द्रमण्डलमधिरूढाः प्राप्ताः कर्मकारिण स्तेभोक्तव्यकर्मणोऽवसानानन्तरं तेषां चन्द्रमण्डलादावर्तनं भवतीति श्रूतये"यावत्संपातमुषित्वा"इत्यादि श्रुतिभ्यः। तत्र संशयो भवति

सारबोधिनी—भूत सूक्ष्म से परिवेष्टित होकर जीव कर्मफल का उपभोग करने के लिए स्वर्गादिक लोक में जाता है। ऐसा पूर्व में कहा गया है। अब यहाँ यह विचार होता है कि कर्मफल भोग में गया हुआ जीव सब कर्म का भोग करके नीचे आता है अथवा कुछ कर्म शेष लेकर के चन्द्रमण्डल से आता है। इस बात का निश्चय करने के लिए उपक्रम करते हैं"धूमाध्वनासोमलोकमित्यादि" धूममार्ग अर्थात दक्षिण मार्ग से सोमलोक=चन्द्रलोक को प्राप्त किये हुए जो इष्टादिकारी व्यक्ति हैं वे फलभोग करने से कर्म की समाप्ति के बाद चन्द्रलोक से उन इष्टकारियों का पुनरावर्तन होता है, ऐसा कहा गया है। उस स्वर्गलोक में जब तक सुकृत कर्म की सत्ता रहती है तावत्कालपर्यन्त भोगभूमिस्वर्ग में निवास करके जिस मार्ग से चन्द्रलोक को प्राप्त किये थे, उसी मार्ग से पुनः लौटकर के आ जाते है। ऐसा छान्दोग्य में बतलाया गया है। अब यहाँ संशय होता है कि

दवरोही निरनुशयोऽवरोहति सानुशयो वेति । तत्र यावत्सम्पातमुषित्वेति वचनादुपभुक्तसमस्तकर्मफल एवावरोहतीति पूर्वः पक्षः। अत्राभिधीयते—कृतस्य कर्मणोऽत्यये भुक्तशिष्टकर्मवानेवावरोहति । श्रुतिस्मृतिभ्यामयमर्थोऽवसीयते। 'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्यासो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् अथ य इह कपूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां

यतः सानुसया अवरोहन्तिनिरनुशयावेति तत्र"यावत्सम्पातमुषित्वेति वचनात् निरनुशयानामेवावरोहणं भवतीति । कुतः ? श्रुतिप्रामाण्यादेवेति पूर्वपक्षाशयः। एताद्दशपूर्वपक्षस्योत्तरं ब्रूते"कृतात्यये" इत्यादि। कृतस्य=स्वर्गप्राप्त्यर्थं कृतस्य संम्पादितस्य कर्मणाभोगेनात्यये विनाशे जातेऽनुशयवान्भुक्तशिष्टकर्मवानेव ततो निवर्ततेचन्द्रमण्डलात्प्रत्यवरोहति। कुत एतत् ? दृष्टस्मृतिभ्याम्. अत्र दृष्ट पदं श्रुतेर्ग्राहकम् । तथाहि"तद्य इह रमणीयचरणास्ते रमणीयाँयोनिमापद्येरन् ब्राह्मणादि योनिम्. य इह कपूयचरणास्ते कपूयां कुत्सितामेवयोनिमापद्यन्ते

सोमलोक – चन्द्रलोक से नीचे आनेवाले व्यक्ति निरनुशय पुण्यकर्म से रहित होकर के नीचे उतरते हैं अथवा सानुशय – अर्थात् कुछ पुण्य का अवशिष्ट भाग को लेकर के नीचे उतरते हैं ? "तत्र यावत्संपातमिति" [जब तक पुण्यकर्म की सत्ता रहती है तब तक स्वर्ग लोक में निवास करके कर्म के अवसान के वाद पुनः निवृत हो जाता है।] इत्यादि वचन से यह सिद्ध होता है कि समस्त कर्म का फलोपभोग करने के वाद ही वे इष्टादिकारी स्वर्गलोक से नीचे आते है। एतावता निरनुशय होकर के ही पुनरागमन होता है। ऐसा पूर्वपक्ष का अभिप्राय है ।

इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि "कृतात्ययो" इत्यादि। स्वर्गलोक प्रापक कर्म का फलोपभोग हो जाने से जब वह कर्मनष्ट हो जाता है तब भी भुक्तकर्म से अवशिष्ट जो कर्मशेष है तद्वान् ही इष्टादिकारी का पुनरावर्तन होता है। क्योंकि यह बात श्रुतिस्मृति से अवगत होता है। "तद्य इहेत्यादि"

योनीमापद्येरन''[छा०५।१०।७।] इति श्रुतेः''प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेणेत्यारभ्य जन्मप्रतिपद्यन्ते'' [गौतम] इत्यन्तस्मृतेः। अवरोहण-श्चारोहणक्रमेण तद्विपर्ययेण च भवति। तथा च चन्द्रमस आकाशं ततः पितृलोकमिति क्रमेणाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूम इत्यादि तद्वि-पर्ययेण च श्रुत्यनुगुणमवरोहणं निश्चीयते ॥८॥

चाण्डालादियोनिमित्यादि। एवं क्रमेण पुण्यकर्मकारिणां पापकर्म कारिणां च स्वर्गात्प्रत्यवरूढानां पूर्वकर्मयोगात्पुण्यपापात्मकजन्मप्राप्तिं दर्शयति। तथा स्मृतिरपिभवति''वर्णा आश्रमा''श्चेत्यादि गौतमीयेति। अतः सानुशया एव चन्द्रमण्डलादवरोहन्तीति निश्चीयते। यथा पाथे-यमादायगृहान्नगरादिकं गताः पाथेयावशिष्टा एव गृहमावर्तन्ते. तथा प्रकृतेपीति। यावत्सम्पातमुषित्वा' इत्यस्यसकलकर्मभोगानन्तरंनिवर्तन्ते इति नार्थः किन्तु स्वर्गलोकभोक्तव्यानि कर्माणि यानितान्यशेषेण-भुक्तेत्यर्थः अन्यथा''रमणीयां योनिमित्यादीनां बाधः प्रसज्येत। तस्मात्सानुशयानामेवावरोहणं भवतीति निश्चीयते। यथेतमनेवं चेति. कर्मकृत्वाफलभोगाय येन क्रमेणेतोगतास्तद्विपरीतक्रमेणागच्छन्ति।

जो व्यक्ति पुण्यकर्मवाले हैं वे स्वर्गलोक से यहां आकर पुण्य योनि को ब्राह्मणयोनि क्षत्रियादियोनि को प्राप्त करते हैं। और जो कपूयाचरण है अर्थात् जो व्यक्ति कुत्सित कर्म करनेवाले है। वे लोग कुत्सितयोनि को चाण्डालयोनि को, शूकरादियोनि को प्राप्त करते हैं। प्रेत्य—मरने के बाद कर्मफल का अनुभव करके भुक्तावशिष्ट कर्म के बल से विशिष्ट देश जाति कुलरूप आयु सृत वित्त विशिष्ट सुख और मेधावान् जन्म को प्राप्त करते हैं। अतः शेषकर्म से इसका अर्थ होता है कि सानुशय व्यक्ति का ही पुनरावर्तन होता है। ''यावत्संपातम्'' इसका सकल कर्मभोग के अनन्तर में ही पुनरावर्तन होता है यह अर्थ नहीं है। किन्तु स्वर्गलोक में भोक्तव्य जो कर्म हैं उन सबका भोग करके यह अर्थ है। अन्यथा उसको सकल कर्म

चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ३।१।९।

ननु "रमणीयचरणाः" इति श्रुतिर्ब्राह्मणादिजन्मनः कारणभूतं शुद्धाचारमभिधत्ते नत्वनुशयाख्यं भुक्तशिष्टं कर्मेति चेन्न, तच्छ्रुतिः कर्मोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिर्मन्यते ॥९॥

अर्थात् गमनसमये यत् प्रथमम् सोपानम् तदागमनसमये चरमं सोपानम्. तथा गमनसमये यत् चरम् सोपानम्. तदागणनसमये प्रथमं सोपानं भवति। यथा गृहप्रवेशसमये यत् प्रथमं सोपानम्-यच्च चरमं सोपानं तत्, निष्क्रमणसमये चरमं प्रथमं भवतिः प्रथमं च चरमं भवति. तथैव प्रकृतेपि स्वर्गलोकगमनसमये धूमोहि प्रथमः तदिह प्रत्यागमनसमये चरमः। गमनसमये आकाशश्चरमः स इह प्रत्यागमनसमये प्रथमोभवतीति यथेतमनेवंचेति संक्षेपः ॥ ८ ॥

बिवरणम्—ननु "रमणीयचरणाः" इत्यत्र चरणशब्दोहि विशुद्धाचारबोधको नतु भुक्तशिष्टकर्मबोधकः कर्मणस्तस्य भिन्नत्वादित्या फल भोगपरक माने तब तो सकल कर्म का फलोपभोग हो जाने से विनास हो गया। तब उत्तर जन्म का कारण नहीं होने से इस लोक में प्रत्यावर्तन असंभवित हो जायेगा। तब "रमणीयांयोनिमापद्येरन्" तथा "ततः शेषेण इत्यादि श्रुति स्मृति का बाध हो जायेगा इसलिये सानुशय इष्टादिकारियों का ही पुनरावर्तन होता है यह सिद्धान्त हुआ।

और वे इष्टादिकारी जिस क्रम से चन्द्रमण्डल पर आरूढ होते हैं उसी क्रम से उनका अवरोहण होता है अथवा क्रमान्तर से अवरहोण होता है। एतादृश संशय के निराकरण करने के लिये कहते हैं "यथेतमनेवञ्चेति" जिस क्रम से चन्द्रमण्डल जाते हैं। उससे विवरीत क्रम से चन्द्रमण्डल से निवृत्त होते हैं आरोहण में प्रथम श्रुति है धूम तथा चरम है आकाश—तो अवोरहण में प्रथम श्रुत है. आकाश चरम है धूम। जिस तरह उत्पति प्रलय में विपरीत क्रम है। उसी तरह यहाँ भी समझना॥८॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ।३।१।१०।

यदि कर्मण एव चरणश्रुत्याभिधानं न तु स्मार्ताचारस्य तदानर्थक्यमेवा

शङ्कां निराकर्तुमुपक्रमते "ननु रमणीयचरणाः" इत्यादि रमणीयाचरणां रमणीयां योनीमापद्येरनित्यादिश्रुतिर्ब्राह्मणादियोनौजन्मनो हेतुभूतं शुद्धमाचरणं प्रतिपादयति नतु भुक्तशिष्टकर्मण स्वरूपमनुशयनामकंवस्तु प्रतिपादयति यतो विशुद्धाचाररूपार्थे चरणशब्दस्यान्य. वस्थितेरिति चेन्न,अस्याश्चरणश्रुतेःकर्मोपलक्षणत्वादितिकार्ष्णाजिनेराचार्यस्यमतम्, अर्थादयमाचार्यश्चरणशब्दस्यकर्मार्थतामेवमन्यतेऽतो न कोपिदोष इति संक्षेपः ॥९॥

विवरणम्–ननु यदि "रमणीयचरणा" इत्यादिस्थले श्रूयमाणस्य चरणस्यैव शुभाशुभाचारात्मकस्य ब्राह्मणादिश्वशूकरादिसदसद्योनि

सारबोधिनी–" तद्य इह रमणीय चरणा" इत्यादि श्रुति ब्राह्मण क्षत्रियादिक योनियों में जन्म का कारण रूप जो विशुद्धाचार तादृश आचार विशेष का प्रतिपादन करती है नतु अनुशयनामक भुक्तशिष्ट कर्म का कथन करती है। अर्थात् चरण शब्द का अर्थ है आचार। और कर्म तो उससे भिन्न है। तब एकार्थता मानकर के अनुशयवान् का अवरोहण होता है ऐसा आपने किस तरह से कहा? इसके उत्तर में कहते हैं "उपलक्षणार्थे" "तद्य इह रमणीय चरणास्ते रमणीयां योनिमापद्येन्" [जो रमणीय चरण अर्थात् पुण्य कर्मवाले हैं। वे रमणीय अर्थात् शुभ योनि को प्राप्त करते हैं।] इत्यादि श्रुति में जो चरण शब्द है वह कर्म का उपलक्षणार्थक है ऐसा कार्ष्णाजिन नामक आचार्य का कथन है। अर्थात् उक्त आचार्य प्रकृत में चरण शब्द से लक्षणा द्वारा कर्म रूप अर्थ का ही बोध होता है ऐसा कहते हैं इसलिये कोई क्षति नहीं है ॥९॥

सारबोधिनी–यदि "रमणीय चरणाः" इत्यादि चरण श्रुति से शुभाशुभ योनि से प्रापक कर्म का ही प्रतिपादन किया जाता है किन्तु स्मार्त जो

यातमाचारस्येति चेन्न, सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु" इत्याद्यनेकस्मृतेः कर्मण्यधिकृतिसम्पत्तये शुद्धाचारस्यापेक्षितत्वात् ॥१०॥

प्राप्तिकारणत्वेन श्रूयमाणस्यैवानुशयकर्मोपलक्षणकत्वे आचरस्य निरर्थक त्वेन तदुपादानं निरर्थकमेवस्यादित्याशङ्कां निराकर्तुमुपक्रमते यदिकर्मण एव,, इत्यादि। यदि कर्मैव "रमणीयचरणा" इत्यादिश्रुत्याप्रतिपाद्यते नतु स्मार्तस्याचारस्याभिधानं करोति तदास्मार्ताचारस्य नैरर्थक्यमेवस्यात् न चेष्टापत्तिः ? तथा सति "वेदस्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियआत्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्" इत्यादिधर्म परिभाषैवोन्मथितास्यादिति चेन्न तदपेक्षत्वात्। सुखादि कारणीभूतं यदिदं यागादिकं कर्म तादृशकर्मणोविशुद्धाचारादिसंपाद्यतया आचारापेक्षत्वेन नाचारस्यवैयर्थ्यं भवतीति। किं च "सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्य मनर्हः सर्वकर्मसु" इत्याद्यनेकस्मृतिदर्शनात् कर्मणि अधिकारप्राप्त ये शुद्धाचारस्यापेक्षितत्वान्नाचारस्य वैयर्थ्यम्। तथा "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" इत्यातिवचनदर्शनात् धर्मसंपादनायस्मृत्याद्याचारस्यावश्यकत्वप्रदर्शनेन नाचारस्यवैयर्थ्यसंभावनापीति दिक् ॥१०॥

आचार, उसका प्रतिपादन नहीं किया जाता है तब तो स्मार्ताचार सर्वथैव निरर्थक हो जाते हैं। इन आचारों की क्या आवश्यकता रह जाती है। क्योंकि स्मृतियों में आचार को भी अवश्य कर्त्तव्यतया प्रतिपादन किया गया है। इस शङ्का के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि "तदपेक्षत्वात्" अर्थात् सुखादि का कारण रूप जो योगादिक क्रिया है वह शुद्धाचार सापेक्ष है। इसलिये आचार निरर्थक नहीं होता है। तथा "संध्यारहित द्विज सब कर्म में अनधिकारी है। एवं आचारहीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं कर सकता है। इत्यादि अनेक स्मृति के वचन से सिद्ध होता है कि कर्ममात्र में अधिकार प्राप्ति के लिये आचार अवश्य कर्तव्य है। इसलिए चरणपद को उपलक्षणार्थक होने पर भी आचार में वैयर्थ्य दोष नहीं होता है। आचार का पालन संपादन आवश्यक है। ॥१०॥

सुकृतदुष्कृत एवेति तु बादरिः ।३।१।११।

तु शब्दः पूर्वमतव्यावर्तकः मुख्यवृत्त्यैव चरणशब्देन सुकृतदुष्कृते उच्येते "पुण्यं कर्माचरति" इत्यादिप्रयोगदर्शनात् । अतश्चरणशब्दस्य नोपलक्षणविधयाकर्मज्ञापककत्वमिति बादरिराचार्यो मन्यते ॥११॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ कृतात्ययाधिकरणम् ॥२॥

विवरणम्—"रमणीयचरणा" इत्यादिश्रुतौश्रूयमाणश्चरणशब्दो लक्षणया कर्मणि विद्यते इत्याचार्यविशेषस्य कार्ष्णाजिनेर्मतेन समाधानं यत् कृतं तस्य पक्षस्य निराकरणाय मतान्तरं दर्शयितुमुपक्रमते-तु शब्दः इत्यादि । नैतन्मते कर्मकारणताबोधकाचारे चरणशब्दोलाक्षणिकोऽपितुमुख्यवृत्त्यैवसुकृतदुष्कृतयोर्बोधकश्चरणशब्दःकुतः "पुण्यं करोति"इति वाक्यस्थाने धर्मंचरत्ययंमहात्मेत्यादिप्रयोगदर्शनात् मुख्यमेव । मुख्यवृत्त्याप्रयोगसंभवे जघन्यवृत्तेरनाश्रयणीयत्त्वादिति । "सुकृत दुष्कृत"इत्यादिसूत्रे वर्तमानस्तुशब्दः कार्ष्णाजिनिमतेऽनास्थासूचकः मुख्यवृत्त्या शक्तिवृत्त्यैव सुकृतदुष्कृते चरणशब्देन कथिते भवतः यतः पुण्यं कर्माचरतीति प्रयोगस्य लौकिकैः प्रयुज्यमानस्य दर्शनादिति । तस्मान्नचरणशब्दोलक्षणयाऽर्थज्ञापको गङ्गायां घोष इतिवत्. किन्तु शक्त्यै-

सारबोधिनी—चरण शब्द लक्षणा के द्वारा कर्म का बोधक नही है किन्तु शक्ति द्वारा ही शुभाशुभ कर्म का बोधक है। एतादृश बादरि आचार्य के मत को बतलाने के लिये उपक्रम करते हैं"तु शब्दः"इत्यादि । सूत्र में जो तु शब्द है वह पूर्वमत अर्थात् कार्ष्णाजिनि का जो लक्षणावृति से बोधकता है इस मत का व्यावृत्तिपरक है। मुख्यावृत्ति अर्थात् शक्ति लक्षण मुख्यावृति के द्वारा ही चरण शब्द सुकृत दुष्कृत का बोधक है । क्योंकि "पुण्यकर्म चरति" इत्यादि प्रयोग भी देखने में आता है । अर्थात् पुण्यकर्म करनेवाले व्यक्ति के प्रति "पुण्यंचरत्ययं महात्मा" इत्यादि प्रयोग देखने में आता है । इसलिए

॥ अनिष्टादिकार्यधिकरणम् । ३ ॥

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ।३।१।१२

इष्टादिकारिणामिवानिष्टादिकारिणामपि चन्द्रलोकगमनमस्ति न वेति संशये "ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" [कौषी. १।२।] इत्यविशेषेणाभिधानादनिष्टादिकारिणामपि चन्द्रलोक गमनं श्रुतम् ॥१२॥

व चरणशब्देन शुभाशुभकर्मणोर्बोधकत्वमितिवादरेराचार्यस्यमतमिति सैद्धान्तिकाःमन्यन्ते । उचितमेवैतदन्यथागौणीवृत्तेः प्रसंगे सति संभवे लक्षणाश्रयणस्यानौचित्यादिति संक्षेपः ॥११॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे कृतात्ययाधिकरणम् ॥२॥

विवरणम्–पुण्यकर्मकारिणां पुण्यस्य कर्मणः फलोपभोगाय चन्द्रमण्डले गमनं भवति. ततो भोगेन पुण्यकर्मणोऽवसाने गमनविपरीतक्रमेण चन्द्रमण्डलादवरोहणमपि भवतीति विचारितम् । तदनन्तरमशुभकर्मकारिणां गमनागमनादिकं चिन्तयितुमुपक्रमते "इष्टादिकारिणा" मिवेत्यादि । तत्र यथा शुभकर्मकारिणां फलोपभोगाय चन्द्रमण्डले गमनं

चरण शब्द लक्षणावृत्ति से कर्म का ज्ञापक नहीं है किन्तु शक्ति द्वारा ही कर्म का वाचक है । ऐसा बादरि आचार्य मानते हैं । इसलिए लक्षणा का आश्रयण करना युक्त नहीं है ॥ ॥११॥

सारबोधिनी–जो व्यक्ति पुण्यकर्म करनेवाले हैं वे मरने के बाद स्वकीय सुकृत कर्म का फलभोग करने के लिए चन्द्रमडल में जाते हैं । और कर्मफल का भोग करके कर्म के अवसानानन्तर पुनः इस लोक में आते हैं । ऐसा पूर्व प्रकरण में कहा गया है । अब अशुभ कर्म करनेवाले जो हैं उनका गमन चन्द्रलोक में होता है कि नहीं होता है । इस वात का निश्चय करने के लिए उपक्रम करते हैं "इष्टादि कारिणामिवेत्यादि" उसमें इष्टादिकारियों

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गति दर्शनात् ।३।१।१३।

एवं तर्हीष्टानिष्टादिकारिणोरुभयोरविशेषेणैव सोमलोकगतिर्भवे-दित्याशङ्कामपनुदन्नाह---संयमन इति । तुशब्दः शङ्कां निवर्तयति ।

भवति तथा अशुभकर्मकारिणां चन्द्रमण्डले गमनं भवति न वेति संशयः । एतादृशसंशयानन्तरम् "ये वै केचास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" ये केचनपुरुषा इतोमृत्वा गच्छन्ति ते सर्वे चन्द्रमण्डलमेव-प्राप्नुवन्ति. एवं क्रमेण प्रतिपादनात्. इष्टादिकारिणामनिष्टादिकारि-णां च सर्वेषामेव चन्द्रमण्डले गमनं भवत्येवेति श्रुतौसर्वेषामविशेषरूपेण गमनस्य प्रदर्शितत्वात् सर्वे चन्द्रमण्डलं गच्छन्तीति पूर्वपक्षाशयः ॥१२॥

विवरणम्–ननु यदि इष्टादिकारिणामनिष्टादिकारिणामविशेषेण चन्द्रमण्डलं प्रतिगमनं भवति तदा "रमणीयचरणारमणीयांयोनिमाप-द्येरन्" "कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन्"इत्यादिनोभयोःफलभेदः का जिस तरह चन्द्रमंडल में गमन होता है उसी तरह अनिष्टादिकारियों का चन्द्रमंडल में गमन नही होता है, एतादृश संशय होता है । एतादृश संशय के बाद पूर्वपक्षी कहते हैं कि "ये चैके चास्माल्लोकात्" [जो कोई व्यक्ति इस लोक से मर कर जाते है, वे सब चन्द्रमंडल में जाते है।) एतादृश कौषीतकि उपनिषद में इष्टादिकारी अनिष्टदिकारियें का समानरूप से गमन का प्रतिपादन होने से इष्टादिकारी तथा अनिष्टकारी सभी का चन्द्रमंडल में गमन होता ही है। क्योंकि इष्टादिकारी अनिष्टादिकारियें में कोई भेद तो नहीं कहा है। इसलिए चन्द्रमंडल में सब का गमन होता है ऐसा पूर्वपक्ष होता है ॥१२॥

सारबोधिनी–यदि शरीर त्याग के अनन्तर में सबका सोमलोक में गमन होता है तब तो इष्टकर्मकारी तथा अनिष्टकर्मकारी–इन दोनों का

अनिष्टादिकारिणां सोमलोकारोहावरोहौ संयमने यमलोके यमवशवर्ति-तया यामी यातना अनुभूयैव भवतोनेतरथा। "अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनःपुनर्वशमापद्यते मे" [का. ।२।६।] इति यमलोकगते-र्दर्शनात् ॥१३॥

कथं प्रतिपादित इत्याशङ्कांनिराकर्तुमुपक्रमते "एवं तर्हीत्यादि यदि उभयोरेव चन्द्रमण्डले समानरूपेणगमनं भवति. इति शङ्कामपाकुर्वन्सूत्र-कारः प्राह "संयमने तु" इत्यादि। अत्र सूत्रे तु शब्दः पूर्वशङ्कायानिरा-करणपरकः। पापकर्मवतां चन्द्रलोके गमनागमनं च भवतः तत् यमलोके तत्रत्ययमयातनानुभवानन्तरमेव भवतोनान्यथा। यतस्तद्गतिदर्शनात् अयमेव प्रत्यक्षपरिदृश्यमान एव पुत्रकलत्रादि रूपो लोको विद्यते एत-दतिरिक्तः परलोको नास्ति. एवं वदनशीला ये ते वारवारंयमाधिकारे आगच्छन्तीति यमवाक्यादवसीयते। तस्मादनिष्टादिकारिणां सोमलोके

समान रूप से सोमलोक में गमन होगा तब इन दोनों में क्या भेद होगा ? एतादृश आशंका का निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं "संयमने" इत्यादि। इस सूत्र में जो 'तु शब्द है वह पूर्वपक्ष का निराकरणपरक है जो अनिष्ट हिंसादि कर्म को करनेवाले हैं उनका सोमलोक में आरोह तथा अवरोह अर्थात् आवागमन होता है वह संयमन अर्थात् यमलोक में यमराज के अधीन होकर के यमसम्बन्धी जो यातना क्लेश उसका अनुभव करके ही होता है अन्यथा नहीं "यह परिदृश्यमान ही लोक है, परलोक नहीं है ऐसा माननेवाले लौकिक वित्त मोह से प्रमादित होनेवाले अविवेकी लोग वारंवार यमराज के अधीन में आता है" इत्यादि वचनों से सिद्ध होता है कि अनिष्टादिकारी जो लोग हैं वे सव यमलोक में जाते हैं। तथा यमराज के अधीन होकर के तदीय यातना का अनुभव करते हैं। तदनन्तर ही उन लोगों को चन्द्रलोक में गमनागमन होता है अन्यथा नहीं और जो इष्टादिकारी हैं वे लोग तो स्वकृत सुकृत कर्म का फलोपभोग के लिए सीधे

स्मरन्ति च ।३।१।१४।

"सर्वे चैते वशं यान्ति यमस्य भगवन् किल" [वि० पु० ३।१।५। इत्येवं स्मरन्ति च मुनयः ॥१४॥

गमनागमनं नभवति किन्तु तेषां यमलोके एव गमनं भवति स्वकीयदुष्कृत कर्मणो दुखफलोपभोगाय तदाहुराचार्याः "विवेकहीन इमं लोकं नमन्यते शिष्टैरपरिगृहीतत्वात् परलोकमपि न मन्यते विषयवासनापरीतत्वात् तस्मादीदृशदुष्टात्मनः पौनःपुन्येन मम यातनाविषयता भवत्येवेति" (आनन्दभाष्यम् का. २।६।) एवं च न निरर्थकं तेषां गमनं चन्द्रे भवतीति भावः ॥१३॥

विवरण—ये किल अनिष्टादिकारिणो भवन्ति तेषां सर्वेषामेवानिष्टादिकर्मकारिणां जीवानां यमालयेयमराजोऽधीनतां व्यासपराशरादि मुनयः स्मरन्ति स्मृतिपुराणादिग्रन्थेषु । तथाहि "सर्वे चेतै वशंयान्ति यमस्य भगवन् किल" सर्वेचेतैऽनिष्टादिकारिणः स्वकीयपापकर्मणः फलो-
चन्द्रलोक में जाते हैं। तथा यावत् पर्यन्त पुण्यकर्म रहता है तावत् पर्यन्त पुण्य का फलोपभोग कर लेने के बाद पुनः सोमलोक से उतर करके इस लोक में आते हैं। जिस तरह वृक्षपर जो चढ़ता है, वह फल प्राप्त करने के लिए चढ़ता है निरर्थक नहीं। उसी तरह चन्द्रलोक में जो जाता है वह तो पुण्य फल के प्राप्ति के लिए चढ़ेगा, नकि निरर्थक जायगा। अनिष्टकारी को तो चन्द्रलोक में फलोपभोग प्राप्त नही होगा। उसे तो यमलोक में पापकर्म का फलोपभोग करना है। इसलिए अनिष्टकारियों का गमन सोमलोक में नहीं होता है ॥ १३ ॥

सारबोधिनी—जो अनिष्टादि कर्मकारी हैं उनका गमन चन्द्रलोक में नहीं होता है किन्तु अनिष्टादिकारियों का गमनागमन यमलोक में होता है। पाप कर्म का जो अशुभ फल दुःख है, उसका उपभोग करने के लिए इस बात को व्यास प्रभृतिक महामुनियों ने कहा है विष्णुपुराणादिक तत्तत्

अपि च सप्त ३।१।१५।

सप्त नरकान् रौरवादीनपि दुष्कृतभोगस्थानतया स्मरन्ति ॥१५॥

पभोगाय यमस्याधीनताङ्गच्छन्तीत्यर्थः। इत्यादिस्थलेषु अनिष्टादि कारिणां यमाधीनत्वं श्रूयते नतु चन्द्रलोके तेषां गमनं भवतीति भावः ॥ १४ ॥

विवरणम्—न केवलं पापकर्मकारिणां यमाधीनतामेव स्मरन्ति व्यासादिमहर्षयः किन्तु तेषां पापकर्मफलभोगाय रौरवादि असिपत्रवन कुंभीपाकादिसप्तस्थानान्यपि दर्शयन्ति ते इत्येतत्प्रदर्शयति "अपि च सप्त इति। रौरवादि असि पत्रवनकुंभीपाकादिनरकस्थानानि सप्त सन्ति यत्र मृत्वा पापकर्मकारी गच्छति। तथा तत्र स्थले तत्तत् पापानुरूपं फलमनुभवति जन्तुरिति व्यासादिमहर्षयः "यस्त्विह वा एतदहमिति ममेदमिति भूतद्रोहेण केवलं स्वकुटुम्बमेवानुदिनं प्रपुष्णाति स तदिह विहाय स्वयमेव तदशुभेन रौरवे निपतति" "यस्त्विह वा उग्रः

ग्रन्थ में। तथाहि "सर्वे चैते वशं यान्ति यमस्य भगवन् किल" हे भगवन्! ये सब अनिष्टादिकारी व्यक्ति स्वकृत पाप कर्म का फलोपभोग करने के लिए यमराज के अधीन में जाते हैं, अतः इष्टादिकारियों का गमनागमन चन्द्रलोक में नहीं होता है पर अनिष्टादिकारी यमलोक में जाते हैं ॥१४॥

सारबोधिनी—व्यासादिक महर्षियों ने बतलाया कि यमाधिन अनिष्टादि कारियों को पाप कर्म का फलोपभोग करना है। इतना ही नही पाप कर्मियों को पाप कर्म फल भोग के लिए रौरव असिपत्रवन कुंभीपाक शाल्मलीतरु यातनादिक सात स्थानों का भी निर्देश किया है। उन सातों स्थानों में से अन्यतम भोगस्थान को प्राप्त करके यथाकाल यमाधीन होकर के अगत्या उन पापकर्मियों को स्वकीय कर्म का फलोपभोग अवश्यमेव करना पड़ता है। इस स्थिति में पाप कर्मियों को चन्द्रमण्डल में जाकर के कर्मफलोपभोग तो सर्वथैव असंभवित है। क्या कभी भी तामस उल्लूक सूर्यालोक

तत्रापि च तद् व्यापारादविरोधः ।३।१।१६।

ननु रौरवादिनरकेषु कथं यमवशवर्तित्वमित्याह—रौरवादिष्वपि यमकृत एव व्यापारस्तस्मादविरोधः ॥१६॥

पशून् पक्षिणो वा प्राणत उपरन्धयति तमपकरुणं पुरुषादैरपि विगर्हितममुत्र यमानुचराः कुम्भीपाके तप्ततैले उपरन्धयन्ति" (भाग० ५।२६।१०–१३) इत्यादिरूपेण स्मरन्तीति भावः ॥१५॥

विवरणम्—ननु रौरवादिसत्त्वस्थानेषु यमातिरिक्ता एव चित्रगुप्तादया व्यवस्थापकाः श्रूयन्ते. तेषां नियंत्रणे वर्तमाना एव नारकाः फलभोगं कुर्वन्ति नतु तेषु भोगस्थानेषु यमस्य व्यवस्थापकत्वमिति कथं ते नारका यमाधीना इति कथ्यते—इत्याशङ्कांनिराकर्तुमुपक्रमते. 'ननु रौरवादिनरकेषु" इत्यादि । सप्तभोगस्थानेषु रौरवादिषु चित्रगुप्तादि व्यवस्थापकानां शासनस्य श्रूयमाणत्वेन कथंतेषु यमस्य व्यवस्थापकत्वमिति चेत्तत्रापीत्यादि. तत्रापि रौरवादिसप्तस्थानेष्वपि यमस्यैव व्यापा-

से आलोकित स्थल में स्वेच्छया विहार कर सकता है ? वह तमसाच्छन्न-गिरि गुहादिक में ही विहार करता है । इस बात को बतलाने लिए कहते हैं "अपि च सप्तेति" यहाँ स्मरन्ति का अनुवर्तन पूर्वसूत्र से किया जाता है । वे व्यासादिक महर्षिलोक रौरवादिक सात नरक पापफलभोग भूमि के रूप से स्मरण कथन करते हैं ॥१५॥

सारबोधिनी—रौरवादिक जो सात भोगस्थान हैं उस में रौरवादि फल भोग करनेवाले को तो यमाज्ञावशवर्तित्व नहीं है क्योंकि इस सातों स्थान में तो चित्रगुप्तादिक व्यवस्थापक हैं । तो उन लोगों को तो चित्रगुप्तादिकके आज्ञावशवर्तित्व है । इस आशंका के निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं "ननु रौरवादि नरकेषु" इत्यादि । रौरवादि पापफलभोग स्थानों में यमाज्ञावशवर्तित्व कैसे हो सकता है क्योंकि उन सात भोगस्थान का व्यवस्थापक तो चित्रगुप्त प्रभृतिक हैं । इस आशंका का निराकरण करते हुए कहते

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ।३।१।१७।

पञ्चसूत्र्या पूर्वपक्षितस्यानेन सिद्धान्तयति-तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति अनिष्टादिकारिणां न सोमे गतिरुपपद्यते। यतो विद्यायाः कर्मणश्च फलं ब्रह्मप्राप्तिश्चन्द्रप्राप्तिरिति तल्लब्धय एव देवयान

रादविरोधोभवतीति । अयमाशयो यथा तत्तद्राजपालप्रशासितेष्वपि प्रदेशेषु केन्द्रस्याप्रतिहताज्ञाभवति, तथा चित्रगुप्तादीनामपि व्यवस्थापकत्वं यमाधीनमेव यम एव तत्रापि प्रधानशासकश्चित्रगुप्तादयस्त्ववान्तर प्रशासका न स्वतन्त्राः सामन्तादिवदिति । अतः सम्राडिव सर्वत्र प्रशासकत्वं यमस्यैवेति न कश्चिद्विरोधोऽयमादधाति । ततश्च यमाज्ञावशवर्तिनां पापकर्मिणां कथमिव सोमलोके गमनमिति संक्षेपः ॥१६॥

विवरणम्–"अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्" इत्यादिसूत्रादारभ्य "तत्रापिच तद्व्यापारादविरोध"इत्यादिपञ्चसूत्रपर्यन्तसूत्रेभ्यो ये ये पूर्वपक्षाउद्भावितास्तानपूर्वपक्षानुद्भाव्य प्रकृतविषये सिद्धान्तं दर्शयितुमुपक्रमते "विद्याकर्मणो" रित्यादि प्रकृतसूत्रे योयं तु शब्दः स पूर्वपक्षाणां व्याव

हैं तत्रापिचेत्यादि। तत्रापि रौरवादि कुंभीपाकान्त फलभोगस्थानों में भी यमराजा का व्यापार होने से कोई भी विरोध नहीं है। जिस तरह तत्तत्प्रदेश में सामान्त की आज्ञा से शासन होने पर भी सम्राट् के आज्ञावशवर्तित्व का निराकरण नहीं होता है। क्योंकि सम्राट् के आज्ञाधीन सामन्त होते हैं, उसी प्रकार से सातों भोग भूमियों का अवान्तर प्रशासक चित्रगुप्तादिक के होने पर भी मुख्य आज्ञा तो सर्वत्र यमराज का ही है। इसलिए किसी भी प्रकार का विरोध प्रकृत में नहीं होता है ॥१६॥

सारबोधिनी–"अनिष्टादिकारिणामपि" इत्यादि सुत्र से लेकर, "तत्रापि च" इत्यादि पाँच सूत्रों से जो अनिष्टादिकारियों का भी कर्मफल भोग करने के लिए चन्द्रलोक में मरणानन्तर गमन होता है एतादृश पूर्वपक्ष हुआ था। तादृश

पितृयाणयोरुपयोगः । "तद्य इत्थं विदुर्येचेमेऽरण्येश्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति" "अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति" इति प्रकृतत्वात् । एवं च "चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति, इति श्रुतेरिष्टादिकारिणः सर्वे चन्द्रमसमेव गच्छन्तीत्यादिरर्थोयुक्तः ॥१७॥

र्तकः ।अर्थात् तान् पूर्वपक्षान् निरोधतीति । "येके चास्माल्लोकात्पर्यन्ति ते सर्वे चन्द्रमसमेव गच्छन्ति" इमांश्रुतिमवलंव्य ये कथयन्ति. यत् यस्य कस्यापीतोगमनं भवति तस्य सर्वस्यापि चन्द्रलोके गमनमिति. कुत ? सर्वशब्द सामर्थ्यात्. तन्न युक्तम् यतः प्रकृते विद्याकर्मण एवाधिकरणात् । तथाहि नात्र सर्वशब्दबलात् पापकर्मकारिणां चन्द्रलोकगमनं भवति । यतो विद्याया अर्थात् उपासनस्य ब्रह्मलोकप्राप्तिः फलम् तथा इष्टादि शुभकर्मकारिणां चन्द्रलोकप्राप्तिफलमिति तद्फलप्राप्तये एको देवयानमार्गः अपरश्च धूममार्गः । एतादृशमार्गद्वयविरहिता ये तेषामनिष्टादिकारिणां कथमिवचन्द्रगमनं संभवति. ज्ञापकमार्गस्यैव तदर्थमभावात् । कारणमन्तरेण कार्यस्य कथमपि संभवाभावात् । तदेव दर्शयति "तद्य-

पूर्वपक्षका समाधान करने के लिए उपक्रम करते हैं "पञ्चसूत्र्या" इत्यादि। पाँच सूत्रों से जो पूर्वपक्ष हुआ उसका सिद्धान्त प्रकृत सूत्र से करते हैं। "विद्याकर्मणोरितीत्यादि" यह प्रकरण विद्या उपासना तथा सुकृत कर्मपरक है नतु दुष्कृत कर्मपरक। क्योंकि पूर्व प्रकरण में विद्या तथा सुकृत ही प्रकान्त है। इस सूत्र में जो "तु" शब्द है वह पाँच सूत्र समुदाय से जो पूर्वपक्ष किया गया है उसका निराकरणपरक है। जो पुरुष ब्रह्महत्यादि महापातकोपापतकादि अनिष्ट कर्म का संपादन काम क्रोधादिक के बल से करने वाले हैं, वे लोग इस देह के अवसान के बाद चन्द्रलोक में नहीं जाते हैं। क्योंकि विद्या अर्थात् भगवदुपासना तथा इष्टापूर्तादि जो सुकृत कर्म समुदाय हैं उनका यथा क्रम ब्रह्म लोकान्त लोक प्राप्ति-तथा चन्द्रमण्डल प्राप्ति रूपफल कहा गया है।

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥३।१।१८।

ननु पञ्चमाहुतेश्चन्द्रावरोहणपूर्वकदेहारम्भकत्वश्रवणादनिष्टादिकारिणामपि देहारम्भाय चन्द्रगमनमावश्यकमिति शङ्कामपाकरोतिनेति। पापकर्मणां क्षुद्रजन्तूनां देहारम्भाय नपञ्चमाहुत्यपेक्षा। तथोपलब्धेः

इत्थंविदुर्ये चारण्येश्रद्धातप इत्युपासतेऽर्चिषमभि संभवन्ति" अर्थात् उपासकाःसविधानमुपासनं कृत्वा प्रेत्यार्चिरादिमार्गं प्राप्य ब्रह्मलोकमभिगच्छन्ति। "अथ ये इमे ग्रामे इष्टापूर्तंदत्तमित्युपासते ते धूममभि संभवन्ति" इत्यादि वचनेनेष्टादिकारिण इष्टादिकान् कृत्वा प्रेत्य तद्बलेनधूममार्गेणचन्द्रलोकं गच्छन्ति. स्वकृतकर्मफलस्योपभोगाय। एतादृशस्थितौ उभयमार्गपरिभ्रष्टाः पापकारिणस्तेषां चन्द्रमण्डले कथं गमनं स्यात्. अर्थात् कथमप्यनिष्टादिकारिणां चन्द्रलोके गमनं न संभवति। "चन्द्रमसमेवते सर्वे गच्छन्ति" अत्रश्रुतौश्रूयमाणः सर्वशदो न. इष्टादिकारिणामनिष्टादिकारिणां च सर्वेषां बोधकोऽसंभवात्. किन्तु

एतादृश उपर्युक्त फल प्राप्ति के लिए देवयान तथा पितृयाण लक्षण मार्ग का उपभोग होता है। अर्थात् जो उपासना के बल से ब्रह्मलोक में जाते हैं उनके लिए देवयान मार्ग उपयोगी हैं। और जो चन्द्रमण्डल में जाते हैं, उन लोगों के लिए पितृयाण मार्ग उपयोगी होता है। श्रुति भी बतलाती है, जो उपासक इस प्रकार से जानता है अर्थात् उपासना करता है वह मरण के बाद अर्चिरादि मार्ग का अवलंबन करता है। और जो श्रद्धा की उपासना करता है वह अर्चिरादि मार्ग को प्राप्त करके उसके द्वारा ब्रह्मलोक में जाता है। वहाँ स्वकृत-उपासना फल को प्राप्त करता है। और जो ग्राम में अर्थात् ग्रामोपलक्षित गृहस्थाश्रम में इष्टापूर्त और दत्तदानादिक कर्म का अनुष्ठान करते हैं। वे स्वकृत फलोपभोग करने के लिए धूम मार्ग का अवलंबन करके चन्द्रमण्डल में जाकर के कर्मफल का उपभोग करते हैं।" इस प्रकार

अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्यते" [छा०५।१०।८।] इति तृतीयस्थानस्य पापिनोद्युलोकगतेरश्रवणात् पञ्चमाहुतेरनपेक्षाया उपलब्धेः ॥१८॥

इष्टादिकारिणो ये सन्ति ते सर्वे चन्द्रलोकं गच्छन्त्येवेति बोधयति यथा "सर्वब्राह्मणा भोजनीयाः" इत्यत्रपृथिवीस्थितानां सर्वब्राह्मणानां भोजनस्यासंभवात्. ये निमन्त्रितास्ते सर्वे भोजनीया इत्यर्थं कृत्वा सर्वशब्दस्य संकोचः क्रियते तथैव प्रकृते. "ते सर्वे चन्द्रमसमेव गच्छन्ति" एतच्छ्रुतौ, अनिष्टादिकारिणां प्रापकमार्गाभावात्. नेष्टादिकारिणोऽनिष्टादिकारिणश्चसर्वे गच्छन्तीति किन्तु ये इष्टादिकारिणस्तेगच्छन्तीत्यर्थः। तस्मादिष्टादिकारिण इवानिष्टादिकारिणां न कथमपि चन्द्रलोके गमनमिति प्रकरणस्यनिर्गलितोर्थः ॥१७॥

से पूर्व में विद्या कर्म प्रक्रान्त है। इसमें अनिष्टादिकारियों की तो कोई चर्चा ही नहीं है तो अनिष्टादिकारियों के चन्द्रमण्डल में जाने की संभावना ही नहीं है। ऐसा हुआ तब "चन्द्रमसमेवतेसर्वेगच्छन्ति" [वे सब चन्द्रमण्डल में ही जाते हैं।] इस श्रुति में जो सर्व शब्द है उसका यह अर्थ नहीं है कि इष्टादि कारी अनिष्टादिकारी सब चन्द्रमण्डल में जाते हैं। किन्तु जिस तरह "सर्वेब्राह्मणाभोजयितव्याः" यहाँ पृथिवी स्थित जितने ब्राह्मण हैं सब भोजयितव्य हैं। ऐसा अर्थ तो नहीं है असंभव होने से किन्तु जो ब्राह्मण निमंत्रित हैं उन्हीं को भोजन का विधान होता है। उसी तरह प्रकृत में सभी चन्द्रमण्डल में जाते हैं। इसका यह अर्थ है कि इष्टादिकारी जितने होते हैं वे सब के सब चन्द्रमण्डल में शुभ कर्म के फलोपभोग करने के लिए जाते हैं। ऐसा अर्थ ही "ते सर्वे चन्द्रमसं गच्छन्ति' इस श्रुति का उपयुक्त है। ऐसा वृत्तिकार सूत्र तथा श्रुति का अभिप्राय हैं ॥१७॥

विवरण—ननु ये पापकर्मकारिणस्तेषां चन्द्रमण्डले गमनं नभवतीति पूर्वसूत्रे कथितम् परन्तु तत्कथनं न युक्तम् । कुतः ? यतःकलेवरारंभस्य शरीरारंभकत्वस्यकारणत्वात् यदि पापिनां चन्द्रमण्डले गमनाभावस्तदा कथं पुन स्तेषां देहारंभःस्यादिति देहारंभकत्वान्यथाऽनुपपत्त्या चन्द्र मण्डलगमनावश्यकमेवेति शङ्कां समाधातुं प्रक्रमते "ननु पञ्चमाहुते रित्यादि योषालक्षणाग्नौपुरुषवीर्यप्रक्षेपात्मकपञ्चमाहुतेरेवशरीरजनकत्वेन पञ्चमाहुतेश्चचन्द्रमण्डलावरोहणमन्तरेणानुपपत्तेरवश्यमेव पापकर्मकारिणामपि चन्द्रमण्डलगमनं भवत्येवेतीत्याकारकशङ्कायाःसमाधानायाह सूत्रकारः "न तृतीये तथोपलब्धेरिति । ये च पापकर्म कारिणः सन्ति तेषां शरीरारंभाय पञ्चमाहुतिपर्यन्ताहुतीनामावश्यकता नास्ति । कुतः ? तथोपलब्धेः अर्थात् पञ्चमाहुतिपर्यन्ताहुतेरन पेक्षायाः शास्त्रे समुपलभ्यमानत्वस्यदर्शनात् । तथाहि "अथैतयोः

सारबोधिनी—तेरहवें सूत्र में कहा गया है कि जो पापकर्म करने वाले पुरुष हैं वे देवयान अथवा पितृयाण का अधिकारी नहीं हैं । वे लोग चन्द्रलोक में नहीं जाते है किन्तु पापकर्म का फलोपभोग करने के लिए यमलोक में जाते हैं परन्तु यह कहना तो ठीक नहीं है । क्योंकि नवीन कलेवर की प्राप्ति तो चन्द्रमण्डलावरोहणपूर्वक है । और चन्द्रमण्डलावरोहण पञ्चमाहुति प्रयोज्य है । तब अनिष्टकारियों का भी तो नवीव देहारंभ चन्द्रमण्डारोहण विना अनुपपन्न है । प्रयोजक के बिना कयोज्य यथमपि उपपन्न नहीं होता है । ऐसा लोक में देखने में आता है क्या दण्डादि सामग्री के अभाव में कोइ भी व्यक्ति घटादि निर्माण कर सकता है ? तो उसी तरह प्रकृत में अनिष्ट कर्म कारियों को देहारंभ चन्द्रमण्लावरोहण विना अनुपपन्न होने से तदन्यथानुपपत्ति रूप प्रमाण से सिद्ध होता है कि अनिष्टादिकारी को भी चन्द्रमण्डलावरोहण आवश्यक है और चन्द्रमण्डलावरोहण पञ्चमाहुति साध्य है । तब चन्द्रगमन पापियों का नहीं होता है यह कथन सर्वथा असंभ–

पथोः'' इत्यादि । अथ एतयोर्देवयानपितृयाणमार्गयोर्मध्यात् यस्य जन्तोर्न एकेनापि ब्रह्मलोकचन्द्रलोकयो र्गमनं भवति तानीमानि क्षुद्राणि असदावर्तीनि भवन्ति । एतत् तृतीयं देवयानपितृयाण मार्गाभ्यां विभिन्नमप्येकं स्थानं भवति । अर्थात् मार्गद्वयाभ्यां गतना मेव चन्द्रमण्डले गमनं भवति येतु पूर्वोक्तमार्गविकलास्तदर्थमेकमन्य मेव स्थानं भवति तत्र प्रथमादिपञ्चमाहुतेरावश्यकता नास्त्येतादृशा जन्तवोम्रियन्ते तथा चन्द्रमण्डलगमनमन्तरेणैव पुनः समुत्पद्यन्तेऽपि । ये तु मार्गद्वयाभ्यां गतास्तेषां पञ्चमाहुत्यनन्तरं पुनर्देहारंभो भवतीति न सर्वे चन्द्रमण्डलं गच्छन्ति । अत एव यदि सर्वेचन्द्रमण्डलं गच्छे-युस्तदाचन्द्रमण्डलमापूर्यमाणं भवेदिति शङ्कायां 'तेनासौचन्द्रलोको न सम्पूर्यते' इति कथितम् । एतादृशकथनेन ज्ञायते यत् पाप कर्मकारिणो चन्द्रमण्डलगमनं न भवति । तस्मादेव चन्द्रलोकस्य

वित है ? एतादृश शङ्का का निराकण करने के लिए उपक्रम करते है "ननु पञ्चमाहुतेः" इत्यादि । पञ्चम जो आहुति है वह चन्द्रमन्डल में अवरोहण पूर्वक नवीन कलेवर के आरंभ अर्थात् उत्पति में कारण है । तव अनिष्ट कर्म करनेवाले को भी तो शरीरारंभ के लिए चन्द्रगमन अत्यावश्यक है । क्योंकि तदभाव में नवीन शरीर का प्रादुर्भाव होना असंभवित हो जाएगा । अतः पापकर्म करनेवाले को भी चन्द्रलोक में गमन होता है । यद्यपि चन्द्र-मण्डल में गमन शुभकर्म के फलोपभोग का अभाव होने पर भी नवीन देहान्त-रारंभ के लिए चन्द्रगमन आवश्यक है । तब जो आप कहते हो की पापी चन्द्रमंडल में नहीं जाता है किन्तु यमलोक में जाकर पापकर्मजनित यम-यातना का अनुभव करके आता है । यह कथन असंभवित है ? एतादृश आशङ्का का निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं, "न तृतीये तथोपलब्धे'' इति । पापकर्म में निरत क्षुद्र जन्तुओं को नवीन शरीरान्तर के आरंभ अर्थात् उत्पाद के लिये पंचमाहुति की आवश्यकता नहीं है

पूर्तिः कदापि न भवतीति। किञ्च "इति तु पञ्चम्यामाहुतौ पुरुष वचसो भवन्ति आपः" इत्यत्र पुरुषपदस्य मनुष्यपरत्वात् पञ्चमाहुतेर्मनुष्यदेहारंभकत्वमेव भवति न तु क्षुद्रजन्तुशरीरारंभकत्वम् पुरुषपदस्य मनुष्यादावेवशक्तत्वात्। तस्मात् पापकारिणां शरीरारंभाय तृतीयमेव देवयानपितृयानाभ्यामतिरिक्तस्थानम्। न तु पापिनां तेषां शरीरारंभाय चन्द्रमण्डले गमनम्। अतएव "एतत्तृतीयं स्थानमिति कथनमपि सङ्गतं भवति। अन्यथा तादृशकथनमसंभवदुक्तिकमेव भवेत। अतः पापकर्मकारिणो जन्तवो देहारम्भाय न गच्छन्ति चन्द्रमण्डलं किन्तु तृतीयस्थानमवाप्यजायन्ते शरीरान्तर

तब चन्द्रमन्डल पर गमनागमन की आवश्यकता तो सुतरामेव अनुपयुक्त है। क्यों पापकर्मियों को पंचमाहुति की आवश्यकता नहीं है? उसके उत्तर में कहते है "तथोपलब्धे"। पापकर्मीयों को पंचमाहुति की आवश्यकता नहीं है ऐसा शास्त्र में देखने में आता है। अर्थात् पापकर्मियों के लिए देवयान पितृयान मार्ग से अतिरिक्त तृतीय मार्ग बतलाया गया है। तथाहि "अथैतयोरित्यदि" ये जो दो देवयान पितृयान मार्ग हैं इनमें से एक भी मार्ग से नहीं जाते हैं। न देवयान से ब्रह्मलोक में जाता है न वा पितृयान मार्ग से चन्द्रलोक में गमन करता है। एतादृश जो क्षुद्रजन्तु अर्थात् पाप बहुल प्राणी वर्ग है वे असकृत् बारम्बार आवर्तीत होने वाले होते हैं। उत्पन्न होते हैं तथा मरते हैं। यह इन लोगों के लिए देवयान पितृयान से अतिरिक्त स्थान अर्थात् यह तीसरा मार्ग है। इसलिए यदि सभी इष्टानिष्ठकारी चन्द्रमण्डल में जाते हैं तब तो चन्द्रमण्डल को भर जाना चाहिए, इस शंका के उत्तर में कहा कि पापी लोग चन्द्रमण्डल में नहीं जाते हैं इसी कारण से चन्द्रलोक भरता नहीं। इस प्रकार से छान्दोग्य श्रुति में कहा कि तृतीय स्थान पापकर्मकारियो के लिए है। इस प्रकार से तृतीय स्थान के विद्यमान होने से पापकर्मियों की

स्मर्यतेऽपि च लोके ।३।१।१९।

पुण्यात्मनामपि देहारम्भाय न पञ्चमाहुतेर्नैयत्यमस्ति । द्रौपद्यादीनां तदनपेक्षयैव देहारम्भो लोके स्मर्यते ॥१९॥

प्राप्तुं म्रियन्ते मरणमपि प्राप्नुवन्ति न तत्र चन्द्रारोहणावरोहणयोराव-श्यकता । अत एव चन्द्रमण्डले सर्वस्यापि गमने चन्द्रमण्डलं जीवैरा-पूर्णमाणं भवेदिति प्रश्नस्यापि तृतीयस्थानस्यविद्यमानत्वेन न चन्द्रमण्डलपूरस्याणमिति कथनं सङ्गतमेवेति । तस्मान्न पापिनां चन्द्र लोकगमनम् ॥ १८ ॥

विवरणम्-इतः पूर्व सूत्रे पापकर्मकारिणां देहान्तरारंभाय चन्द्रलोक गमनस्यावश्यकता नास्ति. तृतीयस्थानस्यापितत्कृतेर्दर्शनात्. किन्तु ये पुण्यकर्मकर्तारस्तेषांदेहारंभायैव चन्द्रमण्डले गमनं भवति. तत्र च गत्वा-यावत्पुण्यं तावत्तत्रत्यफलोपभोगं कृत्वा येन मार्गेण गतस्तद्विपरीतमार्गेण-पुनः शुभकर्मकचुप्रत्यावर्त्तते इति । परन्तु सर्वेषामेव सुकृतकर्मणांकृतेनायं नियमो यत तदीयदेहारंभाय पञ्चमाहुतेरावश्यकतभवत्येवेति किन्तु पञ्च-गति द्यु लोक में होती है ऐसा नहीं सुना गया है । तस्मात् पञ्चमाहुति की अनपेक्षा की उपलब्धि है और भी देखिए—"इति तु पंचम्यामाहुतौ आपः पुरुष वचसो भवन्ति" [इस प्रकार से पंचमआहुति में वह जल पुरुष पदवाच्य होता है ।" इस प्रकार से मनुष्य शरीर का कारणरूप से पाँच संख्या को कारणरूप से कथन किया गया है । क्षुद्र जन्तु पापी के शरीर का कारणरूप से कथन नहीं है । क्योंकि पुरुष शब्द मनुष्य जाति का वाचक है । इसलिए पापकर्मकारी का चन्द्रलोक गमन नहीं होता है यह सिद्ध हुआ ॥१८॥

सारबोधिनी—जो व्यक्ति नवीन शरीर को प्राप्त करता है. । उस नवीन शरीर के आरम्भ के लिए चन्द्रमण्डलगमन आवश्यक है तो अनिष्टादिकारियों को भी देहारम्भ के लिए चन्द्रमण्डल गमन आवश्यक है । इस शङ्का के उत्तर में

माहुतिमन्तरेणापि बहुनां देहारंभस्यशास्त्रे श्रवणादिति दर्शयितुं प्रक्रमते "पुण्यात्मनामपीत्यादि"। ये च पुण्यकर्मकर्तारस्तेषां सर्वेषामपि नवीन-देहान्तरारंभायावश्यमेव पञ्चमाहुतिर्भवत्येवेति नायमैकान्तिको नियमः। द्रौपदीद्रौण्यादीनामनेकेषां पञ्चमाहुतिर्विनैवदेहान्तरारंभो जात. इति लोके महाभारतादि ग्रन्थेषु बहुलमुपलंभात्। अयं भावः कृतयुगे शरीरारंभाय-आहुतेरावश्यतानासीत्, तत्र केवलामिच्छयैव देहारंभस्यश्रवणात्, यथा ब्रह्मपुत्राः सनकसनन्दनसनातनसनत्कुमाराणामाहुतिमन्तरेणैवशरीरारंभस्य शास्त्रे वर्णनात्। त्रेतायामपि न देहारंभायाहुतेरावश्यकता आसीत्, यथा प्रभृतीनां देहारंभस्य मंत्र संस्कृतजलादिनैवदर्शनात्। किन्तु द्वापरे-योषारूपाग्नौदेहारंभायपञ्चमाहुतेः श्रवणात् कलौ तदर्थं पञ्चमाहुतेरावश्य-कता समभवत्। तत्राप्यनेकेषां द्रौपदीद्रौपदेयादीनां यज्ञकुण्डात्पत्रपुटादेव शरीरारंभो जात इति महाभारतपुराणादौ श्रूयमाणमभूदिति। ततः पर काले ये पुण्यकर्माणःपुण्यप्रकर्षलाभायोपासनायामधिकृतास्ते सविधिमुपा-सनां संपाद्य देवयानमार्गेण ब्रह्मलोकं गच्छन्ति, ये तु इष्टादि कर्मकारि-णस्ते पितृयानमार्गेण चन्द्रमण्डलं गत्वा तत्रत्यं स्वस्वपुण्यानुरूपफलमनु-भूय पुण्यकर्मणामवसाने भुक्तशेषकर्मबलेन पुनःशरीरारंभाय गमनविपरीत

कहा कि पुण्यकर्मकारीयों का चन्द्रमण्डलमें गमन होता है। पापकर्मकारी के लिए देवयानमार्ग और पितृयान से अतिरिक्त एक तृतीय मार्ग है। पापों के द्वारा उन पाप कर्मकारीयों का जन्ममरण होता है। चन्द्रगमन तो केवल पुण्यकर्मकारी का ही होता है ऐसा पूर्वसूत्र में कहा गया है। इस सूत्र में इतनी विशेषता को बतलायेंगे कि पुण्यकर्मकारी का भी चन्द्रगमनपूर्वक शरीराम्भ होता है यह भी कोई नियम नहीं है। इसी बात को बतलाने के लिए उपक्रम करते है "पुण्यात्मनामपित्यादि" जो पुण्य कर्मकरनेवाले हैं उनको भी नवीन देहान्तर के आरम्भ करने के लिए पंचमयोषारूप अग्नि में आहुति हो ऐसा एकान्त नियम नहीं है। क्योंकि द्रौपदी धृष्टद्युम्न

दर्शनाच्च ।३।१।२०।

दर्शनं श्रुतिः "तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवत्याण्डजं जीवजमुद्भिज्यम्" [छा० ६।३।१।] इति। तस्मादुद्भिज्जस्वेदजयोराहुत्यनपेक्षत्वम् दृश्यते ॥२०॥

मार्गेण पुनः शरीरान्तरप्राप्तये पञ्चमाहुतिपर्यन्ताहुतिमपेक्ष्य शरीरान्तरं प्राप्नुवन्ति। तत्रापि सर्वेषां स एव नियम इति न द्रौपद्यादौ पञ्चमाहुतेरभावेऽपि शरीरारंभो जात इति श्रवणात्। यदा तु पुण्यकर्मणां कृतेऽपि नियमावश्यकता नास्ति तदा का कथा पापकर्मकारिणाम्। कथं वा संभवः पापकर्मकारिणां चन्द्रमण्डले गमनमिति दिक् ॥१९॥

विवरणम्—न केवलं पापकर्मिणामाहुत्यनपेक्षत्वम्. किन्तु केषांञ्चिदुद्भिज्जस्वेदजादीनामप्याहुतिनिरपेक्षत्वमेव भवतीति दर्शयितुमुपक्रमते "दर्शनं श्रुतिरित्यादि" सूत्रस्थं दर्शनादिति पदम्, तदर्थः श्रुतिः अर्थात् श्रुतावपि कथितम्. यत् उद्भिज्जस्वेदजजीवानामाहुतेरावश्यकता नास्ति. आहुतिमन्तरेणैवैते जायन्ते। तथा च श्रुतिः "तेषां खल्वेषां भूतानामित्यादि" यानीमानि समुपलभ्यमानानि तेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि करणानि भवन्ति.न न्यूनानि नाप्यधिकानि कारणानि। तत्र प्रथममण्डजम-

द्रोणाचार्य अगस्ति सनकादि के देहारम्भ इन नियमों का व्यभिचार देखने में आता है। महाभारत पुराणादिक में बर्णन किया गया है कि द्रौपदी प्रभृति पुण्यकर्मकारी को पंचमाहुति के बिना देहारम्भ हुआ है ॥१९॥

सारबोधिनी—अपि च छान्दोग्यादि श्रुति में वर्णित उद्भिज्ज स्वेदज जीवों की स्त्री पुरुष का जो विलक्षण संयोग तादृश संयोगरुप पंचम आहुति के विना भी उत्पत्ति देखने आता है। इसलिए सर्वत्र पंचमाहुति के अपेक्षा के बिना भी नवीन देहान्तर का आरम्भ होता है। इस बातको बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "दर्शन श्रुतिरित्यादि" 'दर्शनात्' यह पंचम्यन्त सूत्र घटक जो दर्शन पद है उसका अर्थ है श्रुति। और 'च' शब्द

ण्डाज्जायमानम्. यथा पक्षिपन्नगगृहगोधिकामत्स्यकुर्मादिकानि. एते जीवा अण्डादेव प्रादुर्भवन्ति। द्वितीयं जीवजम् जीवाज्जायमानं जरायुजमित्यर्थः। यथा मनुष्यगवादिपशुमृगनकुलोलूकमूषिकादिकाः। तृतीयमुद्भिज्जम् भूमिमुद्भिद्य जायमानम्, यथा तरुगुल्मलतौषधियूकामशकादिकानि. एते जीवा भूमिमुद्भिद्य जायन्ते। एषु त्रिष्वेव जीवराशीनां सङ्ग्रहो भवतीति। तत्राण्डजजीवयोरुत्पत्तौ पञ्चमाहुतेः कारणता विद्यते किन्तूद्भिज्जजीवानामुत्पत्तौ पञ्चमाहुतेरपेक्षा न भवतीति श्रुतिः स्वयमेव प्रतिपादयति। तस्मात् देहारंभाय पञ्चमाहुतेरपेक्षा तदर्थं पापकर्मिणां चन्द्रगमनञ्चनावश्यकमिति ॥२०॥

अप्यर्थक है। अर्थात् श्रुति भी बतलाती है कि जीवमात्र की उत्पत्ति में पञ्चमाहुति को आवश्यकता नहीं है। "तेषां खल्वेषामित्यादि" जो यह परिदृश्यमान जीवराशि हैं इन सबका तीन ही बीज अर्थात् कारण है। न न्यून है न वा अधिक। उसमें एक आण्डज होते हैं। अर्थात् अण्डा से जायमान होते हैं। जैसे पक्षी, सर्पगृह, गोधिका मत्स्यकुर्म प्रभृति का। द्वितीय विभाग जीवज है। जीव से जायमान अर्थात् जरायुज यथा मनुष्य पशु मृग कुल चूड़ा उल्लुक कानवाले जीवराशि। तृतीय विभाग है उद्भिज्ज. भूमि को भेदित करके उत्पन्न होने वाले यथा वृक्ष गुल्मलता औषधि प्रभृतिक. ये सब भूमि को उद्भिन्न करके उत्पन्न होते हैं। वनस्पति वृक्षादिक भी जीव हैं। क्योंकि शास्त्र में बतलाया गया है कि इनमें भी प्राणवायुका सदभाव है। अतएव, "वृक्षो जातो वृक्षो मृतः" इत्यादि व्यवहार होता है। "गुरुं हूं कृत्य तुङ्कृत्य विप्रान् निर्जित्यवादतः। श्मशाने जायते वृक्षो कङ्क गृद्धोपसेवितः" "नर्मदा तीर संजातः सरलार्जुन पादपाः। नर्मदा तीर संयोगातेऽपि यान्ति परां गतिम्" इत्यादि, तो यहाँ जो तृतीय विभाग के जीवराशि हैं उसमें पञ्चमाहुति की आवश्यता नहीं है तथा संभावना भी नहीं तस्मात् उद्भिज्जस्वेदज में पञ्चमाहुति की अपेक्षा नहीं है ॥२०॥

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ।३।१।२१।

"अण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्" इति श्रुतौ तृतीयेनोद्भिज्जशब्देन संशोकजस्य स्वेदजस्यापि सङ्ग्रहः। अतोऽनिष्टादिकारिणां न सोमलोकगतिरिति ॥२१॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावनिष्टादिकार्यधिकरणम् ॥३॥

विवरणम्–ननु "तेषां खल्वेषां जीवानां त्रिण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति" एतत्कथं सङ्गच्छते ? यतश्चतुर्थस्य संशोकजस्य यूकामशकादेरपि जीवस्य सद्भावात्। अण्डजोद्भिज्जादिस्वनन्तर्भावेन तेषां संग्रहासंभवात्। इति न्यूनतादोषस्य निराकरणाय प्रक्रमते "अण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति"त्यादि। समुदाहृतश्रुतौ यद्यपि त्रयाणामेव ग्रहणं कृतमिति भवति न्यूनतेव. तथापि श्रुतिस्थतृतीयेनोद्भिज्जपदेन संशोकजा अपि जीवाः संगृहीता भवन्त्येव संशोकजा जीवाः केचन जलेन केचनोष्मादिभ्यां जायमाना भवन्ति. नहि यूकामशकादीनामुत्पन्तिः परिगणितकारणका किन्तु जलादिभ्य एव तेषां यथायथं संभव दर्शनेन तेषां श्रुतिस्थोद्भिज्जपदेनैवावरोधः संग्रहो जायते इति न श्रुतौ

सारबोधिनी–इसके पूर्व सूत्र में कहा गया है तीन कारणों से जीवों की उत्पत्ति होने से अण्डज जीवन और उद्भिज्ज नामक जीवों की तीन राशि है। परन्तु यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि यूकामशकादि संशोकज चतुर्थ राशि भी तो विद्यमान हैं। इस प्रकार से प्राप्त जो न्यूनता दोष उसका परिहार करने के लिए कहते हैं। "अण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति श्रुतावित्यादि।" "अण्डजं जीवजम्" इत्यादि श्रुति में जो तृतीय उद्भिज्ज शब्द है वह उपलक्षक है संशोक जीवों का क्योंकि यूकालिक्षादिक जो जीवराशि प्रत्यक्षतः अनुभूयमान हैं ये सब स्वेदादि कारण से जायमान होते हैं। इसलिए तृतीय उद्भिज्ज पद से संशोकजों का संग्रह हो जाने से न्यूनतादि दोष की संभावना श्रुति में नहीं है। क्योंकि सर्व दोष रहित अनन्त कल्याण गुणक

॥ साभाव्यापत्त्यधिकरणम् ॥४॥

तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ।३।१।२२।

इष्टादिकारिणां सोमलोकादवरोहणमित्थं श्रूयते "अथैतमेवाध्वानं

न्यूनतादोषः । श्रुतेः सर्वदोषरहितपरमकारणपरब्रह्मणोनिश्वासरूपत्वेन स्वतः प्रामाण्यस्यान्यत्र प्रसाधनात् यस्यनिश्वसितं वेदा इत्युक्तेः । तस्माद् ये भक्तिप्रपत्तिभ्यां परमेश्वरमुपासते ते तु ब्रह्मलोकगामिनो भवन्ति. ये तु इष्टापूर्तादि शास्त्रविहितकर्मणाधर्माचरणं कुर्वन्ति ते चन्द्रलोकमवाप्य तत्र स्वकृतकर्मणो यथाकालं फलमनुभूय पुनरावृत्तिभाजो भवन्ति । येतु शास्त्रप्रतिषिद्धकर्मकर्तारः पापात्मनस्तेषां चन्द्रमण्डले गमनं न भवति किन्तु तेषां तृतीयोऽयं मार्गः जायस्व मृयस्वेति सिद्धमिति दिक् ॥२१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे अनिष्टादिकार्यधिकरणम् ॥३॥

विवरणम्—ये खलु शुभकर्माणस्ते धूममार्गेण सोमलोकं गच्छन्ति तत्र यावत्पुण्यं तदनुरूपं फलमुपभूज्य कर्मशेषेण पुनस्ततोऽवरोहणं कुर्वन्ति

परमेश्वर से जायमान होने के कारण वेद में स्वतः प्रामाण्य का निर्णय किया गया है । इसके बाद अधिकरण का उपसंहार करने के लिए कहते हैं । "अतोऽनिष्टादिकारिणामित्यादि" इसी कारण से अनिष्टादिकारो जो व्यक्ति हैं उन लोगें का सोमलोक अर्थात् चन्द्रमण्डल में गमन नहीं होता है । अर्थात् उपासक लोग तो उपासना के बल से ब्रह्मलोक में जाते हैं । शास्त्र-विहीत कर्म करने वाले शुभफलोपभोग करने के लिए सोमलोक में जाते हैं । अनिष्टादिकारी नारकादि स्थान को प्राप्त करते है ॥२१॥

॥ इत्यनिष्टादिकार्यधिकरणम् ॥

सारबोधिनी—शुभकर्म करनेवाले व्यक्ति सोमलोक में जाकर के शुभ-फलोपभोग करके जब तक पुण्य कर्म रहता है तावत्काल वहाँ सोमलोक

पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशम्" [छा० ५।१०।५।] इत्यत्र संशयः । किमेषामाकाशादि प्राप्तौ तत्तदोपत्तिरुत तत्सादृश्यमिति । तत्र सोमरूपापत्तिवदाकाशादि रूपापत्तिरिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु-आकाशादिसादृश्यापत्तिरेव । सुखाद्यनुभवाय चन्द्रादिरूपापत्तेरावश्यकत्वम् । आकाशादि प्राप्तौ तु सुखाद्यननुभवात्सादृश्यापत्तिः । अत एव सुखाद्यनुभवाभावोपपत्तेः ॥२२॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ साभाव्यापत्तिरधिकरणम् ॥४॥

एवं पूर्वं कथितम् । इदानीमवरोहणप्रकारं चिन्तयितुमुपक्रमते "इष्टादि कारिणामित्यादि" तत्रावरोहणप्रकार इत्थं श्रूयते "अथेतमेवाध्वानं-पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशम्" इत्यादि श्रुतिः । तत्रैवं संशयो जायते यदा सोमलोकादाकाशे आगच्छति तदा आकाशतादात्म्यमापद्यते. अथवाकाशसमानतां प्राप्नोतीति । तत्राकाशतादात्म्यमेव. वायुर्भूत्वा-धूमो भवतीति श्रवणात् । तस्मादाकाशादितादात्म्यमेव प्राप्नोति श्रुति-

में निवास करके, कर्म समाप्ति के बाद पुनः वहाँ से नीचे आते हैं । इस प्रकार उनका अवरोहण का प्रकार "अथेत मध्वानम्" इत्यादि श्रुति में कहा गया है । उसमें अवरोहण प्रकार के ऊपर विचार करते हुए सूत्र के व्याख्यान करनेके लिए उपक्रम करते हैं "इष्टादि कारिणाम्" इत्यादि । इष्टादिकारी हैं उनका चन्द्रमण्डल से अवरोहण होता है वह इस वक्ष्यमाण प्रकार से सुना जाता है । 'अथेतम ध्वानंपुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशम्. आकाशा द्वायुर्वाभूत्वेत्यादि ।" [सोमलोक में इष्टादि कर्मकारी कर्म फल के उपभोग कर लेने के बाद इसी मार्ग से पुनः अवरोहण करते हैं । यथा सोमलोक से आकाश में आते हैं, आकाश से वायु में आते हैं, वायु होकर के धूमरूप होते हैं, धूमरूप होकर के अभ्र बनते हैं, अभ्ररूप होकर के मेघरूप होकर के प्रविंषत होते हैं ।] इस श्रुत्यर्थ के विषय में संशय होता है कि यह जो इष्टादिकारी हैं उनका आकाशादि के साभा व्यापत्ति अर्थात् आकाशादि के

प्रामाण्यादिति पूर्वपक्षाशयः । तमिमं पूर्वपक्षं निराकर्तुं सूत्रकारः प्राह "तत्स्वाभाव्यापत्ति"रिति । सोमलोकादागच्छन्ननुशयी आकाशसमतामेव भजते नतु आकाशादितादात्म्यं प्राप्नोति । कुतः ? उपपत्तेः अर्थात् सोमलोके सुखानुभवकर्तुं देवादिभावं प्राप्नोति तत्स्वरूपप्राप्तिमन्तरेण सुखाद्यनुभवाभावात् अन्यथा तादृशविलक्षणानुभवो न भवेत् । अवच्छेदकता सम्बन्धेन सुखादिकं प्रति तत्तच्छरीरस्यापि तादात्म्यसम्बन्धेन कारणताया आवश्यकत्वात् । आकाशादितादात्म्य प्राप्तौ तु तादृशविलक्षणसुखाद्यनुभवो न भवेदाकाशादौ घ्राणेन्द्रियाद्यधिष्ठानत्वरूपशरीरत्वाभावात्तस्य च कारणत्वावधारणात् । तस्मादाकाशवाय्वादि तादात्म्यं न लभते किन्तु गौणी वृत्त्याकाशादि समतामेव प्राप्नोतीति । अत एवागमनसमये आकाशादिषु तस्यागन्तुः सुखादीनामनुभवो न

साथ तादात्म्य हो जाता है अथवा आकाशादि के सादृश्य होता है । अर्थात् अति सूक्ष्मतापत्ति होती है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि जिस तरह इष्टादिकारि सोमलोक में जाकर के सोमरूपापति को प्राप्त करता है । उसी तरह आकाशादि स्वरूपापत्ति को ही प्राप्त करता है । यह पूर्वपक्ष का आशय है । इस पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि वह इष्टादिकारी सोमलोक से आकाश में आकर के आकाश के साथ तादात्म्य नही होता है । किन्तु आकाश के समानता को ही प्राप्त करता है । क्योंकि जब तक वह इष्टादि सोम स्वरूपता को प्राप्त नहीं करेगा, तब तक उसको सोमलोक स्थित विलक्षण सुख का अनुभव नहीं होगा । इसलिए सोमस्वरूपापत्ति आवश्यक है । और आकाशदि स्वरूप प्राप्ति होने पर भी तो सुखादि का अनुभव नहीं होता है । अतः आकाशादि के सादृश्य को ही प्राप्त करता है किन्तु आकाशादि तादात्म्य नहीं इसलिए आकाशादि में सुखादि के अनुभवाभाव की उत्पति होती है । क्योंकि शरीर विशिष्ट में ही सुखानुभव होता है ।

नातिचिराधिकरणम् ॥५॥

नातिचिरेण विशेषात् ।३।१।२३।

आकाशादि प्राप्तौ तत्र तत्रातिचिर तत्सादृश्यापत्तिराहोस्विन्नाति चिरमिति संशयः । अतिचिरमिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु "अतो वै खलु दुर्निष्प्रतरम्" [छा० ५।१०।६।] इति व्रीह्यादिभावे चिरेणावस्थानस्य विशिष्योक्तत्वात्तदग्रिमेष्वाकाशादिषु नातिचिरेणावस्थानम् ॥१३॥

इति श्रीरघुवरोयवृत्तौ नातिचिराधिकरणम् ॥५॥

जायते । अत आकाशादिसमतामेव प्राप्नोति नाकाशादितादात्म्यमिति श्रुतिसूत्रसंमतः सिद्धान्तमार्गो निष्कण्टक इति भावः ॥२२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे साभाव्यापत्तिरधिकरणम् ।।४।।

विवरणम्—अयमिष्टादिकारी अवरोहणसमये आकाशादिसादृश्यसम्प्राप्य तदुत्तरं सादृश्यं प्राप्नोतीति पूर्वं प्रतिपादितम् । तादृश सादृश्यमासाद्य तत्तत्स्थलेचिरकालं तदापत्तिं प्राप्नोति, यद्वाऽचिरकालमिति संशये नियामककारणाभावात् चिरकालमित्याशङ्कायाः समाधानाय सूत्रं व्याख्यातुमाह "आकाशादिप्राप्तावित्यादि" । आकाशादि सादृश्य

सुखादि के उत्पति में अवच्छेदकतया शरीर की भी कारणता है । आकाशादिक शरीर नहीं है । ॥२२॥

॥ इति साभाव्यापत्तिरधिकरणम् ॥

सारबोधिनी—जब चन्द्रमण्डल से आकर के इष्टादिकारो आकाशादि सादृश्य को प्राप्त करके समस्थित होता है तब वह आकाशादिक में चिरकाल पर्यन्त रहता है ? ऐसा सन्देह होता है । उसमें पूर्वपक्षवादी कहते है कि चिरकाल तक अवस्थान रहता है । नतु अचिरकाल तक । क्योंकि कोई नियामक विशेष तो है नहीं । इस शङ्का का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं "आकाशादि प्राप्तावित्यादि" आकाशादि भाव प्राप्ति

प्राप्तेः यश्चाकाशादिवर्षणान्तसादृश्यं चिरकालं तत्र तत्रावस्थितो भवतीति संशयानन्तरं नियामककारणाभावादतिचिरकालमवस्थितोभवतीति पूर्वपक्षे सूत्रकारः कथयति "नातिचिरेणेत्यादि। नातिचिरकालं तत्र तत्रावस्थितो भवति किन्तु स्वल्पकालमेव कुतः ? विशेषस्य दर्शनादिति। अर्थात् व्रीहिभावप्राप्तेरनन्तरं विशेषेणनिष्क्रमणस्य तत्र कथनात् "अतो वै दुर्निष्प्रपतरम्" एवं प्रकारेण व्रीहिसादृश्यं सम्प्रातानां व्रीह्यादितो निष्क्रमणस्यातिदुःखेन कथनाद् ज्ञायते यत् तदन्येभ्यो निष्क्रमणस्य सुकरत्वमिति। अतो व्रीह्यादिचिरमवासस्तदन्यत्रस्थलेऽत्यल्पकालमात्रमवस्थानमिति ध्येयम् ॥२३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे नातिचिराधिकरणम् ॥५॥

के अनन्तर वह इष्टादिकारी तत्तत्स्थान में तत्तत्सादृश्यापन्न होकर चिरकाल पर्यन्त अवस्थित रहता है। अथवा अचिर अर्थात् स्वल्प काल पर्यन्त रहता है। एतादृश संशय के बाद पूर्वपक्षवादी कहते है कि आकाशादि सादृश्य चिरकाल पर्यन्त ही रहता है नतु अचिरकाल पर्यन्त। क्योंकि चिरकालावस्थान अथवा अचिरकालावस्थान में कोई नियामक विशेष तो है नही। अतः चिरकालावस्थान ही होता है। यह पूर्वपक्ष होता है इसके सिद्धान्त में कहते है "नातिचिरेणेति" अति चिरकाल पर्यन्त आकाशादि में अवस्थान नही होता है। क्योंकि विशेषता है। तथाहि "अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्" व्रीह्यादिभाव प्राप्ति होने पर उन व्रीह्यादिकों में चिरकाल पर्यन्त रहता है। इस प्रकार से विशेष रूप से अवस्थान का कथन किया गया है। अर्थात् व्रीह्यादिक से निष्क्रमण अति दुष्कर है। तो इससे सिद्ध होता है कि जब व्रीहि प्रभृति में चिरकालावस्थान है तो एतदतिरिक्त पूर्व पूर्व में स्वल्प काल का ही अवस्थान होता है। दीर्घकाल पर्यन्त नही। इस प्रकार से सिद्धान्त का समर्थन किया जाता है। ऐसा भाव सुत्र वृत्तिकार का है ॥२३॥

॥ इति नातिचिराधिकरणम् ॥

अन्याधिष्ठिताधिकरणम् ॥६॥

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ।३।१।२४।

छान्दोग्ये "त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते" [छा० ५।१०।६] इत्यवरोहणश्रुतिरस्ति तत्र किमेषामनुशयवतां जन्माभिधीयत उतान्यजीवाधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु संश्लेषमात्रमिति

विवरणम्—"तिलमाषा जायन्ते" इत्याद्यवरोहणश्रुतौ तादृशानुशयवतां तिलादौ मुख्यमेव जन्म भवति. अथवा आकाशादिवत्तिलादिना संश्लेषमात्रमिति संशये "जायन्ते" इति वचनान्मुख्यमेव जन्मेति शङ्कां समाधातुमाकाशादिवदेव तत्संश्लेषमात्रमिति स्पष्टयितुं चोपक्रमते "छान्दोग्ये" इत्यादि । छान्दोग्यश्रुतौ "त इह व्रीहियवा' [तेऽनुशायिनो व्रीह्यादिरूपेण जायन्ते"] एवं रूपेणावरोहणं श्रुतं भवति । तत्र इष्टादिकारिणां मुख्यमेवजन्मव्रीह्यादिषु भवति. अथवा जीवान्तराधिष्ठितव्रीह्यादिषु तेषामनुशयवतां संश्लेषमात्रं भवतीति संशय योजना । तत्र 'तिलमाषा जायन्ते' इति श्रवणात् मुख्यमेव जन्मानुश-

सारबोधिनी—अनुशयवान् का जन्म तिलादिक में होता है अथवा तिलमाषादि के साथ अनुशयकों का संश्लेष मात्र होता है । इसका निर्णय करने के लिए उपक्रम करते हैं "छान्दोग्ये" इत्यादि । छान्दोग्य में "त इह व्रीहियवा" वे अनुशयवान् यहाँ व्रीहि जो ओषधि वनस्पति [तरु गुल्मलतादिक] तिलमाष उड़द रूप से उत्पन्न होते हैं । एतदर्थक अवरोहण श्रुति उपलब्ध होती है । उसमें अनुशयवान् का मुख्य जन्म होता है । अथवा जीवान्तर से अधिष्ठित व्रीह्यादिक के साथ अनुशयवान् का संश्लेष-सम्बन्ध मात्र होता है ऐसा सन्देह होता है । तो उक्त श्रुति में "जायन्ते" इत्यादि वचन को होने से तिल माषादिक में अनुशयवान् का मुख्य ही

संशयः। "जायन्ते" इति श्रवणाज्जन्मैवेति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु-अन्यैर्जीवैरधिष्ठितेषु व्रीह्यादिष्वाकाशादिवत् संश्लेपमात्रं भवति। यत इष्टापूर्तादेः कर्मणो भुक्ततया तदतिरिक्तस्यानुशयभिन्नस्य फलोपजननयोग्यस्य कर्मणोऽभावाज्जन्मानुपपत्तेरतःसंश्लेपमात्रम् ॥२४॥

यवतामितिपूर्वपक्षाशयः। सिद्धान्तवादिनस्तु जीवान्तराधिष्ठिते. एव तिलमाषादाविष्टादिकारिणां यथाकाशादौ संश्लेषमात्र जायते तथैव जीवान्तराधिष्ठततिलादावपि सम्बन्धमात्रं जायते नतु मुख्यजन्म इति। यत इष्टापूर्तादिकर्मणां फलभोगेन क्षयात्. तदतिरिक्तभोगप्रद कर्मणोऽभावात्कस्य बलेन तिलादावनुशयवतां मुख्यं जन्म स्यादतः पूर्ववत् संश्लेषमात्रमिति। अन्यथा तादृशानुशयवतां व्रीह्यादिषु लूयमानेषु कण्ड्यमानेषु नवं नवं जन्मानेकवारं मरणमपि स्यात् तत्तनोपपद्यते. तादृशजन्ममरणकारणकर्माभावादिति संक्षेपः ॥२४॥

जन्म होता है। ऐसा पूर्वपक्षवादियों का कथन है। इसके उत्तर में कहते हैं कि व्रीह्याद्यवच्छिन्न जीवों के साथ अनुशयवान् का संश्लेष मात्र होता है नतु मुख्य जन्म जिस तरह आकाशादिक में अनुशयवान् का सम्बन्ध मात्र होता है, उसी तरह जीवान्तराधिष्ठित व्रीह्यादि के साथ अनुशयवान् का सम्बन्ध मात्र ही होता है। क्योंकि इष्टापूर्तादिक जो कर्म हैं उनका चन्द्रमण्डल में फलोपभोग होने से विनाश हो गया है और तादृश कर्म से अतिरिक्त भोग प्रद कर्मान्तर तो है नहीं। किस फल जनक कर्म केवल से अनुशयवान् का व्रीह्यादिक में मुख्य जन्म हो सकता है। इसलिए आकाशादिक की तरह अनुशयवान् का जीवान्तराधिष्ठित व्रीहि तिलादि के साथ संश्लेष मात्र होता है मुख्य जन्म नहीं होता है। यह सिद्धान्ती का अभिप्राय है॥ २४॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ।३।१।२५।

नन्वग्निष्टोमादेरिष्टस्य कर्मणो हिंसाऽश्लिष्टतयाऽशुद्धं तदिति तत्फलदुःखभोगाय व्रीह्यादिषु जन्म एव कुतो न स्यादिति चेन्न, यजेतेत्यादिविधिशब्दात्तस्य पुण्यजनकत्वेन दुःखफलत्वाभावात् ॥२५॥

विवरणम् ननु यद्याग्निहोत्रादिकं कर्म तत्र पशुबीजादीनामनेकेषां पशुनां वधकरणेन तादृशहिंसाजनितपापकर्मणां यदशुभं कर्म तादृशं कर्म व्रीह्यादौ तादृशेष्टादिकारिणां जन्मोपपादयिष्यतीति मुख्यमेव जन्मेष्टादिकारिणामितिशङ्कायाः समाधानार्थमुपक्रमते "नन्वग्निष्टोमादेरिष्टस्ये"त्यादि । यदग्निहोत्रमिष्टादिकर्म तस्य पश्वादिवधसंपादिततयाऽत्यन्ताशुद्धम् तादृशानिष्टकर्मणो दुःखोत्पादकत्वं तादृशशुभकर्मणः फलभोगाय व्रीह्यादौ जन्मस्यादिति कथमुच्यते ? व्रीह्यादौ संश्लेषमात्रं भवतीष्टादिकर्तृणामिति चेन्न, शब्दात् अर्थात् यदग्निहोत्रे हिंसादिसंवलितं तत्र वैदिकहिंसायाः "स्वर्गकामो यजेत" इति वेद विहिततया न पापजनकत्वं वेद

सारबोधिनी—वैदिक अग्नि होत्रादि इष्टादि याग में अनेक प्रकारक पशु हिंसा की जाती है तो इष्टादिक कर्म का अशुभ फलभोग करने के लिए इष्टादि कर्मकारियों को व्रीहितिलादिस्थावर में दुःख भोग करने के लिए मुख्य जन्म नहीं होता है । ननु व्रीह्यादि के साथ आकाशादि के समान संश्लेष मात्र इत्यादि शङ्का का समाधान करने के लिए उपक्रम करते हैं "नन्वग्निष्टोमादेरित्यादि । "अग्नीषोमीयंपशुमालभेत" इत्यादिक जो इष्टादिक कर्म है हिंसादि से युक्त होने से, क्योंकि यज्ञों में पशुबीजादिक की हिंसा की जाती है । इसलिए सब कर्म अशुद्ध कर्म है । इन कर्मों से जायमान अशुद्ध ही फल होगा । अतः दुःख फल के उपभोग करने के लिए अनुशयीक को व्रीह्यादिक में मुख्य ही जन्म होगा ननु व्रीह्यादि के साथ संश्लेष ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि "स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत"

रेतः सिग्योगोऽथ ।३।१।२६।

अवरोहतामनुशयिनां व्रीह्यादिभावमुपेत्य रेतः सिग्योगोऽथ श्रूयते "यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तदुभय एव भवति" [छा० ।५।१०।६।] इति । अतो रेतः सिचि यथा योगस्तथा व्रीह्यादिष्वपियोगमात्रमेव ॥२६॥

बोधित्वात् । यदि तादृशं कर्माधर्मजनकं भवेत् तदा तदर्थं लोकानां प्रवृत्त्यभावाद्विधिवाक्यमेव निरर्थकं स्यात्त तथा वेदस्याप्रामाण्यमपि भवेत् । तस्मात वेदविहितहिंसायानाधर्मजनकत्वम् । न च "मा हिंस्यात्सर्वाभूतानीति" वेदवाक्येन वैदिकहिंसाया अप्यधर्मजनकत्वमेवेतिवाच्यम्, "अग्नीसोमीयं पशुमालभेत" इत्यादिविशेषशास्त्रेण, सामान्यशास्त्रस्यबयाधात् । तस्मादग्निहोत्रादिविधिबोधितहिंसाया अनर्थहेतुत्वाभावात् पुण्यजनकत्वमेवेति नेष्टादिकर्तृणां व्रीह्यादौ मुख्यं जन्म भवति किन्तु तत्र संश्लेषमात्रमेवेति । विशेषस्त्वन्यत्रानुसंधेयः ॥२५॥

विवरणम्—ननु रेतः सिंचति यः स रेतसिक् पुरुषस्तादृशपुरुषेणयोगोऽवरोहवतामनुशयिनां भवतीति श्रूयते. तत्र यथा पुरुषेण सहानु-

इत्यादिक जो विधायक वाक्य है उसका पुण्यजनक होने से दुःखफलजनकत्व का अभाव है । अन्यथा वैदिक कर्म भी यदि दुःखफलक हो तब तो उस यागादिक में लोगों की प्रवृत्ति नहीं होने से वेद का प्रामाण्य अस्तमित हो जाएगा, यह तो इष्ट नहीं है । इसलिए वैदिक कर्म पापजनक होने से दुःखदायक नहीं है । यद्यपि "मास्यात्सर्वा भूतानि" यह सामान्य शास्त्र वैदिक हिंसा को भी पाप जनक बतलाता है तथापि "अग्नीषोमीयंपशुमाभेत" इयादि विशेष वाक्य से सामान्य शास्त्र में वैदिक हिंसातिरिक्त हिंसा का ही अधर्म जनकत्व में संकोच किया जाता है । प्रकृत विषय में विशेष चर्चा अन्यत्र करेंगे, ग्रन्थ गौरव भीति से संक्षेप किया है । ॥२५॥

सारबोधिनी—सोमलोक से अवतरित होनेवाले इष्टादिकारियों का "रेतः सिग् योग" अथवा रेतः सिंचन करने वाला पुरुष के साथ सम्बन्ध

योनेः शरीरम् ।३।१।२७।

एवमवरोहतामनुशयिनां योनिप्राप्तिस्ततः शरीरमुत्पद्यते । इदमेवा-

---

शयिनां संश्लेष मात्रं भवति न तादात्म्यभावापत्तिर्भवति तथैव व्रीह्यादिष्वपि तेषां संश्लेषमात्रं भवति नतु तेन तादाम्यमित्याशयवान् सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते "अवरोहतामनुशयिनामित्यादि" चन्द्रमण्डला-दवतरतामिष्टादिकारिणाम्. तदनन्तरं रेतः सिग्य्योऽथकथ्यते छान्दोग्ये यो यो ह्यन्नमत्तियोरेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवतीति. तत्र रेतः सिञ्चति यः स सिक् पुरुषः तेन पुरुषेण सह यथा व्रीह्यादिभावमुप-गतानामिष्टादिकारिणाम् पुरुषेण सह सम्बन्धमात्रं भवति नतु तादात्म्यं भजते तथैव व्रीह्यादिषु संश्लेषमात्रमनुशयिनां नतु तादात्म्यमिति सूत्रवृत्त्योरभिप्रायः ॥२६।

विवरणम्—"इति तु आपः पञ्चम्याहुतौ पुरुषवचसो भवन्तोति" श्रुति प्रतिपादितपुरुषाकारता प्रतिपादनाय तादृशश्रुतेरभिप्रायान्मुख्यजन्म-स्वरूपं दर्शयितुं नतु सर्वत्र संश्लेषमात्रमिति प्रतिपादयितुं च प्रक्रमते होता है नतु पुरुष के साथ तादात्म्य होता है। ऐसा शास्त्र में प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार से इष्टादिकारियें को व्रीह्यादि के साथ सम्बन्ध मात्र होता है। इस बात को बतलाने के लिए सूत्र व्याख्या का उपक्रम करते हैं "अवरोहतामित्यादि" चन्द्रलोक से आते हुए इष्टकारी पुरुषों को रेतसिक् पुरुष के साथ व्रीहि आदि भावानन्तर में सम्बन्ध का कथन "यो यो ह्यन्नमत्ति" इत्यादि छान्दोग्योपनिषद में बतलाया है। तो जिस प्रकार से पुरुष के साथ सम्बन्ध मात्र कहा गया है। उसी प्रकार व्रीह्योदि के साथ संश्लेष मात्र है "नतु तद्भावापत्ति" अर्थात् तादात्म्य नहीं होता है। इसके उपर विस्तार भाष्य विवरण में देखें ॥२६॥

सारबोधिनी—"यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव वभति" ऐसा करने के बाद "तद्य इह रमणोय चरणा" इत्यादि वर्णन किया गया है अतः अनु-

नुशयभोगाय मुख्यं जन्म । तस्मादितः पूर्वमाकाशादिषु संयोगमात्र-मेव ॥२७॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावन्याधिष्ठिताधिकरणम् ॥६॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दाचार्यस्वामिद्वारकेण ब्रह्मवित्स्वामी श्रीजगद्गुरु रामानन्दाचार्य रघुवराचार्येण विरचितायां श्रीरघुवरीयवृत्तौ तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

"एवमवरोहतामनुशयिनामित्यादि" एवं पूर्वोक्तप्रकारेण चन्द्रमण्डला-दवरोहतामनुशयिनामर्थात् इष्टापूर्तादिकर्मकारिणां शेषानुशयबलाद-वरोहतां पुरुषसम्बन्धद्वारायोनौ हुतः सन् नवममासे दशमे वा शरीरम-वाप्यपुष्टः सन् बहिर्निःसरति. एतस्यैवजन्म इति मुख्यं नाम । तादृश मुख्यजन्ममवाप्यानुशयभोगार्थं प्रवर्त्तते । इतः पूर्वमाकाशादिषु समवस्थानं केवलमग्रिमाग्रिमगमनप्रयोजकसम्बन्धमात्रं नतु तत्र मुख्यं जन्मेति-भावः ॥२७॥

॥ इत्यन्याधिष्ठिताधिकरणम् ॥६॥

कृतं विवरणं वृत्तौ श्रीगुरोराज्ञया मया
रघुवर–रमानाथः श्रीरामः संप्रसीदतु ॥१॥

इत्यानन्दभाष्यकार जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य प्रधानपीठाचार्य जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः

॥ श्रीरामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये ॥

शयिदों को अनुशयाख्यमुख्य कर्मयोग के लिए पुरुष द्वारा योनि प्रविष्ट होकर जो जन्म ग्रहण करना पड़ता है वह मुख्य जन्म है, इससे पूर्व के आकाश दिसम्पर्क संश्लेष मात्र है ॥२७॥

॥ श्रीरामचन्द्राय नमः ॥

॥ अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयःपादः ॥

सन्ध्याधिकरणम् ॥१॥

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ।३।२।१।

एवं वैराग्याय जन्मिनो जाग्रदवस्थामवधार्य सम्प्रति स्वप्नावस्थां विचार्यते। बृहदारण्यके "न तत्र रथा न रथयोगा" इत्यारभ्य "अथ

विवरणम्–तृतीयाध्यायीयप्रथमपादे मुमुक्षूणां यावता संसाराद्वैराग्यप्राप्तये पञ्चाग्निविद्यामाश्रित्य केवलकर्ममग्निहोत्रादिकुर्वतामधिकारिणां चन्द्रमण्डलादेव प्रत्यागमनं प्रदर्शितवान्। इतः परमिदमीयद्वितीयपादे तस्यैव जीवस्य वैराग्यपुष्ट्यर्थं स्वप्नावस्थामधिकृत्य किञ्चिद्विचारयितुमारभमाणो वृत्तिकारः प्रक्रमते "एवं वैराग्योत्पादनाय जन्मिन" इत्यादि। एवमिदमीयं प्रथमपादप्रकरणेन संसाराज्जन्ममरणप्रबन्धलक्षणात्. जन्मवतां पुरुषाणां जाग्रदवस्थामाश्रित्य. [तत्रजाग्रदवस्था इन्द्रियजनितज्ञानावस्था. यत्रेन्द्रियादिव्यापारानन्तरं जायमानावस्था. तादृशीमवस्थां सम्यग् निर्णीय सम्प्रतीदानीं स्वप्नावस्थाया विचारः प्रस्तूयते। तत्रेन्द्रियादिव्यापारोपरमे सति जायमाना ज्ञानावस्था स्वप्नावस्था. तादृश्या अवस्थाया विचारः क्रियते इत्यर्थः] तत्र

सारबोधिनी–तृतीयाध्याय के प्रथम पाद में पञ्चाग्नि विद्यादि कर्म मात्र के अनुष्ठाता पुरुष को सोमलोक में गमन तथा कर्मानुकूल उन उन फल का अनुभव करके कष्ट साध्या साध्यावरोहण, पुनः संसार में अनुशयानुमूलक पुनः सोमलोक गमनादि परम्परा को जान करके वैराग्य के उत्पादनार्थ जीव की जाग्रत् अवस्था का तृतीयाध्याय के प्रथम पाद में वर्णन करके उसी जीव के सम्बधवान् सम्बन्ध जनक स्वप्नावस्था को अधिकृत करके कुछ विचार करने के लिए वृत्तिकार उपक्रम करते हैं "एवं वैराग्याय" इत्यादि। एवम् अर्थात् तृतीय प्रथमपादोक्त कथित प्रकार से संसार से

वेशान्ताः पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते सहि तत्र कर्त्ता" [बृ०४।३ १०।] इति स्वप्नमधिकृत्योक्तम् । तत्र संशयः किं स्वाप्निकानामर्थानां स्रष्टा जीव उत परमात्मेति । "सृजत" इति कर्तृत्वं जीवस्यैव हि श्रुतिराहेति पूर्वपक्षः ॥१॥

बृहदारणकचतुर्थाध्यायस्य तृतीयपादस्दशमसूत्रम् "न तत्र रथा न रथयोगा" इत्यादि । तत्र तस्यां स्वप्नावस्थायां रथादिकाः पदार्था न भवन्ति व्यवहारदृष्टिमाश्रित्य. न वा रथयोगा रथचालकाः अश्वादयो वा सन्ति। तथापि स्वप्नावस्थायां रथान् रथयोगानश्वादिकान् पदार्थान् सृजते समुत्पादयति. इत्यारभ्य पुष्करिणी कमलकलादिसहिता—जलाशयाः स्रवन्तीर्नदीः इत्यादिकान् सर्वानेवानुकूलान् प्रतिकूलान पदार्थांश्च सृजते जाग्रद्वदेव समुत्पादयति समुत्पादिताश्च पदार्था अर्थक्रिया समर्था इति प्रतिभान्ति सचेतन इव कश्चित्तेषां कर्ता समुत्पादको भवतीति स्वप्नावस्थामाश्रित्य प्रतिपादनं कृतम् । तत्र संशयो जायते किं स्वाप्निकावस्थायां समुत्पादिताः सत्यवदेव प्रतिभासमानास्तेषां कर्ता कश्चिज्जीव एव भवति उत -अथवा सकलजगत्सर्जकः परमात्मा

तथा जीव जागरिता का निर्णय करके, इसके जीव सम्बन्धी स्वप्नावस्था का विचार करते हैं । बृहदारण्यक श्रुति के चतुर्थ पादस्थ दशम मन्त्र में स्वप्नावस्था को अधिकृत कहा गया कि "उस स्वप्नकाल में न रथ है न वा रथ में जोड़ने वाले घोड़े है ।" यहाँ से प्रक्रम करके उस समय में हृदयान्तस्थान तालाब है न नदी है । परन्तु इन सबको बनाता है । उन वस्तुओं को बनाने वाला है वह कर्त्ता अर्थात् उत्पादक है । अब यहाँ स्वप्नकालिक पदार्थ को देखनेवाला स्वप्नदृक् पुरुष जीव है अथवा सकल जगत् के निर्माण करने में समर्थ भगवान् परमात्मा उन सब पदार्थ को उत्पन्न करते हैं । इसमें "सृजते" इस क्रियावाचक पद से जीव के कर्तृत्व का ही प्रतिपादन

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ।३।२।२।

स्वाप्निकानामर्थानां निर्मातारं चैके शाखिनः प्रत्यगात्मानमेवामनन्ति, "य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः" [का० २।५।८।] इत्यत्र कामपदेन पुत्रादय एवोच्यन्ते ॥ २ ॥

सर्वज्ञः परपुरुषो वेति । तत्र रथादिकान् सृजते इति क्रिययेदमवगम्यते यत् स्वप्नदृक् जीव एव तेषां कर्ता इत्येवं श्रुतिः प्रतिपादयतीति पूर्वपक्षः तत्र प्रथमकोटिर्मायिकानामपरकोटिस्तु सिद्धान्तविदामितिपूर्वपक्षसूत्राभिप्रायः ॥१॥

विवरणम्–एके शाखिनः कामपदवाच्य पुत्रादीनां स्वाप्निकानां निर्माण कर्तारं जीवमेवाहुरित्याशयेन प्राह "स्वाप्निकानामित्यादि" स्वाप्निकानां स्वप्नकाले परिदृश्यमानानां कामपदवाच्यपुत्रादि सकल दृश्यमानपदार्थानां निर्मातारं कर्तारं जीवमेव कथयन्ति । "य एष सुप्तेषु" इत्यादि–य एष पुरुषो जीवः सुप्तेषु स्वप्नावस्थायां जागर्ति स्वयं न स्वपीति किन्तु काम्यमानं पुत्रादिपदार्थजातं निर्माणं कुर्वन्नास्ते ।

श्रुति करती है । इसमें पूर्वपक्ष है मायावादीयों का । उत्तर पक्ष होगा सिद्धांत वादीओं का । ये सब पदार्थ संवृत अन्तःकरण में असंभव होने से वहाँ नहीं है । उन सभी वस्तुओं को जीव ही माया के बल से बनता है ॥१॥

सारबोधिनी–स्वाप्निक पदार्थ का निर्माता जीव है ऐसा अन्य शाखा वाले भी कहते हैं । इस पूर्वपक्ष का समर्थक सूत्रान्तरका उत्थान करने के लिए उपक्रम करते हैं "स्वाप्निकानामर्थानित्यादि" स्वप्न के समय में परिदृश्यमान जो रथ अस्वादिभोग प्रभृतिक वस्तु हैं । उनका बनानेवाला प्रत्यगात्मा जीव ही है इस तरह एक शाखावाले कहते हैं । "य एष इत्यादि" जो यह पुरुष काम्यमान पुत्रादिक पदार्थ का निर्माण करता है, इस

मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येनाभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ।३।२।३।

अत्र सिद्धान्तयति । तु शब्देन पूर्वपक्षो व्यावर्त्यते । स्वप्ने महाश्चर्यकरं रथादिकं परमात्मसृष्टम्, स्वप्नप्रेक्षकैकानुभाव्यत्वेनाशुविनाश्यत्वेन चाश्चर्यरूपत्वम् । एवं प्रकाशयाः सृष्टे सामर्थ्यं शाश्वतिकसत्य-

---

अत्र श्रुतौ काम्यन्ते इति कामा इति पदेन पुत्रादय एवोच्यन्ते । शतायुषः पौत्रानित्यन्य श्रुतौ तथादर्शनादिति ॥ २ ॥

विवरणम्—स्वप्नकाले प्रतिभासमाना रथादिका पदार्थाः ये सन्ति जीवैरूपदृश्यमानास्तेषां कर्ता जीवैव नतु परमात्मा परमात्मजनितत्वे परमात्मसृष्टेराकाशादि सृष्टिवत् सर्व साधारणत्वप्रसङ्गादिति क्रमेण यत्प्रतिपादितं पूर्वपक्षिणा तन्न युक्तं तादृश्यास्ततोऽप्यधिकाश्चर्यरूपायाः सृष्टेः कर्ता सर्वजगतः कर्तुः परमात्मैव । इत्याशयेन सूत्र व्याख्यातुमुपक्रमते "अत्रसिद्धांतयतीत्यादि"प्रकृत सूत्रे यस्तु शब्दः सजीव निर्मिता स्वाप्निक सृष्टिरिति मत व्यावर्तनाय । स्वप्नकाले परमाश्चर्यजनकं यद्यद्वस्तु तेषामपि कर्ता परमात्मैव न तु जीवः । कुतः ? संसारावस्थायां

श्रुति में काम पद से पुत्रादिकों का ग्रहण करता है । "एवं शतायुषः पुत्रपौत्रान्" इत्यादि स्थल में भी कामवाच्यत्व पुत्रादि को बतलाया है ॥२॥

सारबोधिनी—"सन्ध्ये सृष्टिराह हि" इस प्रथम सूत्र तथा "न तत्र रथा न रथयोगा अथ रथान् रथयोगान् पथः सृते" इत्यादि श्रुति सिद्ध स्वाप्निक रथादि स्रवन्ती प्रभृत्यन्त स्वाप्निक पदार्थों की उत्पत्ति होती है । वह स्वाप्निक सृष्टि जीव कर्तृत्व है अथवा परमात्मक है । एतादृश संशय होने के बाद पूर्वपक्षी ने कहा कि संवृतान्तःकरण प्रदेश में अवस्थित रथादि स्वाप्निक पदार्थ का निर्माता जीव है । क्योंकि एक जीव मात्र से अनुभूयमान होता है तथा आशुतर विनाशी है । अतः उन स्वाप्निक पदार्थों का सृजन करने वाले परमात्मा नहीं हैं । क्योंकि परमात्मा निर्मित पदार्थ सर्वसाधारण तथा स्थिर होता है । इत्याकारक पूर्वपक्ष का उत्तर करने के लिये उपक्रम करते

सङ्कल्पस्य मायिनः परमपुरुषस्यैव न जीवस्य । तस्य संसारतः सत्यसङ्कल्पत्वादिगुणजातेनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् । कामं काममित्यपि वाक्यं परपरमेव ॥ ३ ॥

कर्मणाकृतस्य सत्यसङ्कल्पत्वादि गुणानां सर्वेषामनभिव्यक्तिरूपत्वात् । मायापदं न मायिकाभिप्रायार्थकमाश्चर्यकरत्वरूपत्वमेव । "जनकस्यकुले जातादेव मायेव निर्मिता" इत्यादिस्थले आश्चर्यरूपत्वार्थकत्वात । तस्मान्मायिकसृष्टपदार्थाः परमात्मकृता अपि न तदन्य जीवानां परिदृश्यमानमाकाशं तज्जीवादृष्टसहकृतपरमात्मना तेनैव रूपेण सर्जनात् अतीताद्यनेक जन्मान्तरितमपि वस्तु कदाचित्स्वप्नेऽनुभूयमानं भवति तादृश पदार्थ सृष्टि सामर्थ्यमविद्यावृत जीवस्य कथमपि न संभवति । यद्यपि प्रजापति वाक्ये जीवेऽपि सत्यसङ्कल्पादिकागुणाः अनुभूयन्ते । तथापि न ते गुणाः स्वाभाविका जीवस्य संसारकाले तेषामभिभूतत्वात् । अत एव मायापदमत्र महदाश्चर्य परकमेव यतः स्वप्नकाले हैं "अत्र सिद्धान्तयति" इत्यादि । इस पूर्वपक्ष का सिद्धान्त बतलाते हैं सूत्रकार, "माया मात्रमित्यादि" इस सूत्र में जो "तु" शब्द है । वह पूर्व सूत्र द्वय से किया गया जो पूर्वपक्ष. तादृश पूर्वपक्ष का निराकरण करता है । स्वप्न समय में परिदृश्यमान माया मात्र अर्थात् आश्चर्य कारक जो रथादिक पदार्थ हैं वे परमात्मा से ही निर्मित हैं । क्योंकि स्वप्नदृष्ट पदार्थ केवल प्रेक्षक व्यक्ति से ही अनूभूयमान होता है तथा आशुतर झटिति विनाशी है । इसलिए स्वाप्निक सृष्ट पदार्थ आश्चर्य रूप है । माया शब्द मायावादी के अभी मत परक नहीं है । माया शब्द यहाँ आश्चर्य बोध जैसे जनकस्य कुले जाता महामायेव जानकी" स्थल में आश्चर्यत्व का प्रतिपादन किया है । एतादृश महान् आश्चर्य का जनक जो स्वाप्निक सृष्टि, तादृश सृष्टि के उत्पादन करने का सामर्थ्य, शाश्वतिक अर्थात नित्य सत्य सङ्कल्पवान् जो मायी परम पुरुष साकेत विहारी भगवान् श्रीरामचन्द्र जो हैं उनमें यथोक्त

प्रतिभासमानाः स्वप्नद्रष्टृणामेवावभासमाना आशुतरविनाशिनश्च भवन्ति, नतु जाग्रत्कालिकपदार्थवत् स्थिरा अन्येनानुभूयमाना श्चेति । स्वप्नो हि त्रिप्रकारको भवति । संस्कारजनित, शुभाशुभादृष्टजन्यो, रोगादिजन्यश्च । तत्र दिवसे यादृशं वस्तुवारंवारं दृष्टमत्यादरेण तदनुभवः स्वप्नकाले तस्य द्रष्टुरूपजायते । द्वितीयश्चादृष्टानिमित्तक इति सूचकश्चेत्यादि सूत्रव्याख्याने दर्शयिष्यति । तृतीयश्च रोगनिमित्तको यदि यत्र यस्य पित्तधातुमूलको ज्वरादिर्भवति तदा स तत्काले ज्वलन्तमग्निं ज्वलन्तं गृहादिकं पश्यति । कफधातु वैषम्य निमित्तकज्वरादि रोगे जल संतरणादिकं स्वप्नकाले तादृशो जनः पश्यति । वायु निमित्तक ज्वरादिरोगाक्रान्त आकाशे स्वमात्मानं व्योमयानादिकमुत्पन्नं पश्यतीति । परमिदं परिदृश्यमानं स्वाप्निकं वस्तुसत्यसङ्कल्पवता अचिन्त्यरचना शक्ति परमात्मनैव संपादिता भवन्ति न तु जीव कर्तृकास्ते. तेषा जीवानां संसारकाले तिरोहितसत्यसङ्कल्पादि गुणकत्वादिति । यद्यपि स्वप्नसमये स्वयमेव तादृशं रथादिकं पश्यति नान्यस्तथैमनुभवति. न वा तादृशार्थानां स्मृतिरप्यन्येषां भवति । तथापि स्वप्नस्य तादृक्त्वं तत्तज्जैवीयादृष्ट परमात्मना संपादनात् नान्येषां

सामर्थ्य है । किन्तु बद्ध अथवा नित्यमुक्त जीव में नहीं है । [यद्यपि भगवान के प्रसाद से जीव में भो गुणाष्टक का प्रादुर्भाव होता है अमुक समय में, तथापि, "जगद्व्यापार वर्जम्" इस ब्रह्मसूत्र में निर्णय करेंगे कि जगद्व्यापारवर्जित गुण का प्रादुर्भाव होता है ।] जीव का जन्म मरण होने से सत्य सङ्कल्पादिक जो गुण जात. वे सब गुणात्मक समुदाय अनभिव्यक्त रूप है और परम पुरुष में गुणात्मक सर्वदा आविर्भूत रहता है । इसलिए परम पुरुष ही स्वाप्निक पदार्थ समुदाय का सर्जक है । किन्तु अल्पज्ञ जो जीव वह स्वाप्निक रथादि सृष्टि का कर्ता नहीं । यद्यपि अन्य मतवाले स्वाप्निक पदार्थ का सर्जक मानते हैं । और पक्ष की पुष्टि करने में अनेक युक्ति

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्ध विपर्ययौ ।३।२।४।

यद्यपि प्रत्यगात्मनोऽप्यपहत पाप्मत्वादिकं स्वाभाविकं तथापि संसारदशायां परमात्मसङ्कल्पविशेषात्कर्मणस्तिरोहितं तस्मादेव चास्य बन्धमोक्षौ स्तः। तदाह श्रुतिः "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति ।।४।।

तदिति । तस्मात् स्वाप्निकाः पदार्थाः परमेश्वरेणैव निर्मिता भवन्ति नतु जीवेनेति सिद्धान्तः। वस्तुतत जीवकर्तृकत्वेऽपि न कोऽपि दोषो भवति. यतो जीवस्य परमात्मशरीरतया. शरीरवाचकपदानां शरीरिणि पर्यवसाञ्नात्शरीरकृतकार्यस्य स्वाप्निकार्थस्य परमेश्वरकृतत्व संभवात् महता क्लेशेन सूत्रव्याख्यानं न कर्तव्यमिति साम्प्रदायिको यं विषयः ।। ३ ।।

विवरणम्—स्यादेतदस्य जीवस्यापहतपाप्मात्वादिकः गुणाः स्वाभाविका परोपाधिनिर्मित वा ? आद्ये सर्वदा ते जीवे समुपलभ्येरन्। द्वितीयपक्षे कदापि जीवस्य मोक्षो न स्यात्. अपहतपाप्मकत्वकस्योपाधिविनाशाभावे मोक्षस्य दुर्लभत्वापत्तेरित्या शङ्कामपहन्तुमुपक्रमते प्रमाणादि का प्रदर्शन किये हैं। परन्तु श्रुति तथा संमत होने से उपेक्षणीय है। प्रकृत विषय में मतान्तरो का खण्डन मत्कृत श्रीमदानन्दभाष्य की टीका में देखें। यहाँ केवल वृत्ति के अक्षरार्थ मात्र का विवरण किया हूँ पर विद्वेष करण उचित नहीं। विशेष रूप से इन बातों को साम्प्रदायिक व्यक्ति तथा सम्प्रदाय ग्रंथो से जानने का प्रयत्न करे ।।३।।

सारबोधिनी—यदि अपहतपाप्मत्वादिक जो आठ प्रकारके गुण समुदाय हैं वे जीव मै भी स्वाभाविक ही हैं क्योंकि "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इत्यादि बल से तब तो जीव में ये आठों गुण सर्वदा क्यों नही

"यद्यपि" इत्यादि । तत्र प्रथम पक्षमाश्रित्य शङ्कयति । यद्यपि य इमे ऽपहतपाप्मत्वादिकाः कल्याणा अष्ट संख्यकास्ते सर्वेऽपि जीवस्य स्वाभाविका एवेति । न च तेषां सदासत्वे सर्वदा मुक्त एव स्यात् जीवो न तस्य कदाचिदपि बन्ध इति वाच्यम्. सत्यम् जीवस्य ते गुणाः स्वाभाविकास्तथापि यावत्संसारं ते सत्यकामा अष्टौ गुणा जीवस्य पुण्य पापात्मका विद्यावशात्तिरोहिता इव भवन्ति तस्मादेव कारणात् तिरोधान निमित्तको जीवस्य बन्धो भवति तादृश बन्धकालेऽनेक प्रकारकं जन्म जरामरणादि चक्रं नातिक्रामति किन्तु यदा परमपुरुषस्याभिध्यानं तदेक चिन्तनादि लक्षणं संपादयति तदा तादृशामिध्यायेन प्रसन्नो भगवान् तदीयामविद्यां विनाश्यजीवाय बन्धनादितो विमोक्षं समर्पयति एवं च श्रूयते यत्पराभिध्याने जीवस्य मोक्षो भवति तदभावे जीवस्य बन्धो जायते । अर्थात् यदा परमात्मा जीवस्यानुध्यानेन प्रसन्नो भवति तद जीवं संसारात्–परावर्त्य मोक्षं ददाति । तदभावे तु

उपलब्ध होते हैं इस आशय को लेकर के सूत्र का व्याख्यान करने के लिए उपक्रम करते हैं "पराभिध्यानात्तु"इत्यादि । यद्यपि प्रत्यगात्मा जो जीव है तादृश जीवमें भी अपहतपाप्मत्वादिक कल्याण गुण स्वाभाविक ही हैं । अर्थात जीव में ये सब सर्वदा विद्यमान हैं तथापि संसारकालमें परमात्मा का सत्य संकल्प विशेष रूप पुण्य पाप लक्षण कर्म से वे गुणतिरोहित हो जाते हैं । इसी तिरोधान रूप कारण केवल से जीवें को जन्मजरामरणादि लक्षण बन्धन होता है । और परमेश्वर का सतत चिन्तन लक्षण अभिध्यान से बन्धन निवृत्ति लक्षण मोक्ष जो कि भगवद्धाम प्राप्ति लक्षण है प्राप्त होता है इसी प्रकार से श्रुति भी कहती है । "परंज्योतिरित्यादि" परं ज्योति परमात्मा का प्रसाद ग्रहण करके यह स्वकीय जो सत्य संकल्पादिक आठ कल्याण गुण हैं उन से सम्पन्न होता है । और ईश्वर का अनुध्यान नहीं करने से वन्धन में ही पड़ा रहता है । एष एव ह साधु कर्मकार यतितंयमुर्ध्व-

देहयोगाद्वा सोऽपि ।३।२।५।

देवादिदेहसम्बन्धात्प्रलयसमये च सूक्ष्माचित्सम्बन्धादस्य प्रत्यगात्मनः स्वरूपस्य तिरोभावोऽस्ति ॥५॥

बन्धमेव जीवाय प्रयच्छति। तथा च श्रुतिः "परं ज्योतिरुप संपद्य स्वकीय रूपेणापहतपाप्मत्वादिगुणेन संयुक्तो मोक्षमासादयति।" तथा "यदा पश्यः पश्यतेरुत्तम वर्णम्" (म. ।३।१।३) इत्यारभ्य "सोऽभयं प्रतिष्ठां विदन्ते"। तथा "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य जीवस्य भयं भवति" (ते. ।२।७।) इत्यादि। स्वाभाविक पुण्यपाप लक्षणयाऽविद्यया तिरोहितमपि जीवस्य सत्यसङ्कल्पादिकं तिरोहितमिव भवति यदा पराभिध्यानं करोति तदा परमेश्वर प्रसादात् विगताऽविद्यो मोक्ष माप्तो भवतीति (तदस्मिन्नाचार्या :-मुक्तौ हेतुस्तुभक्त्यपरपर्यायं तैलधागवदविच्छन्न भगवत्स्मृतिसन्तानमेव। उक्तश्चसाधनदीपिकायामाचार्यवर्यैर्जगद्गुरु श्री गङ्गाधराचार्यैः:-रामस्य ब्रह्मणोऽनन्यभक्त्यैव मुक्तिराप्यते। भक्ति ध्रुवास्मृतिः सा च विवेकादिकसप्तकात् ॥ इति। ऊचुश्चतथैव भगवन्त. श्री देवानन्दाचार्यचरणा अपि-त्वदीयास्मृतिस्तारिका मृत्युसिन्धोस्तथा विस्मृतिः पातिका तत्र चैव। परं योगिनां हार्दमालम्बनं त्वां श्रये राघवं सच्चिदानन्दरूपम्" इत्यूचुः)।

मुन्निषति. एष एव उ असाधु कर्मकारयति तं यमधोतिनीषति"। यही परम कृपालु भगवान् ईश्वर चिन्तन लक्षण अनुध्यान करनेवाले जीव के द्वारा साधु कर्म करवाते हैं जिस जीव को मोक्ष धाम में ले जाने की इच्छा करते हैं। उसी जीव से अशुभ कर्म करवाते हैं जिस को नरकादि नीच कोटि में ले जाने की इच्छा होती है। "यदा पश्यः पश्यतेरुकमवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्" "यदाह्येवैष एतस्मिन्न दृश्येऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथसोऽभयं गतो भवति" "यदाह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुततेऽथ तस्य भयं भवतीत्यादि श्रुति उक्तविषय समुदाय में प्रमाण हैं ॥४॥

विवरणम्–संसारदशायां जीवस्य सङ्कल्पादि गुणानां तिरोधानं भवतीति पूर्वसूत्रे कथितं. तत्र को हेतुस्तिरोधाने भवतीत्यत्र कारणं प्रदर्शयितुमुपक्रमते "देहादिसम्बन्धादिति" अथ योयं जीवस्वाभाविक गुणानीतिरो भवति। स अनाद्युपचितदेहयोगात्, अर्थात् करणकलेवरादि सम्बन्धवलात्। सर्गसमये देवमनुष्यनारकतिर्यगादि शरीररूपेण परिणतप्रकृतसम्बन्धादिति यावत्. वा शब्देन च सर्वलोक क्षयात्मक प्रलयसमयेऽनभिव्यक्तनामरूपसूक्ष्मदशा प्राप्ताचित्सम्बन्धादेव जैवीय स्वाभाविकगुणानां सतामपि तिरोभावोऽस्ति ॥५॥

सारबोधिनी– देह के सम्बन्ध होने से संसार दशा में स्वभावतः वर्तमान भी जीव में जो सत्य संकल्पादिक गुण उन गुणों का तिरोभाव हो जाता है। परन्तु इसमें कारण का कथन नहीं किया केवल प्रतिज्ञा मात्र है। और केवल प्रतिज्ञा से वस्तु की सिद्धि नहीं होती है। केवल पर्वतो वह्निमान् एतावन्मात्र कथन से पर्वत पक्ष में वह्निमता की सिद्धि नहीं होती है किन्तु हेतु प्रदर्शन द्वारा होता है। प्रकृत में तिरोधान का जो हेतु तादृश हेतु का प्रदर्शन करने के लिए उपक्रम करते हैं "देवादि देहादि सम्बन्धादित्यादि" जीव में विद्यमान सत्य संकल्पादि गुणों का सर्ग समय में देव मनुष्यनारकतिर्यगादि सम्बन्धीकरण कलेवरादि सम्बन्ध से तिरोधान हो जाता है। तथा जन्य द्रव्यादि क्षयात्मक प्रलयकाल में अनभिव्यक्त नाम रूप सूक्ष्मावस्थावस्थ अचित् पदार्थ के सम्बन्ध से इस प्रत्यागात्मा जीव का जो स्वकीय सत्य संकल्पादिक गुण समुदाय हैं उनका तिरोभाव हो जाता है। जिस प्रकार सर्वदा सर्वथा प्रकाश ज्वलनादि गुण विशिष्ट वह्नि स्वरूप का भस्मावच्छन्नता काल में स्वकीय प्रकाशादि गुणों का तिरोभाव हो जाता है। उसी तरह प्रकृत में भी हो जाता है ॥५॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ।३।२।६।

"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने" [छा० ५।१।९।] इत्यादि श्रुतेरयं स्वप्नः शुभाशुभयोः सूचकः । एवमाक्षते तद्विदः "अथ पुरुषं कृष्णं कृष्णादन्तञ्च पश्यति स एनं हन्ति" इति । तस्मात्स्वाप्नानर्थान् परः सृजति न जीवः ॥६॥

इति श्री रघुवरीयवृत्तौ सन्ध्याधिकरणम् ॥१॥

विवरणम्—स्वाप्निका रथादिकः पदार्था जीवसृष्टा न भवन्ति किन्तु सकलजगत्कारणपरमपुरुषोत्पादिता एवेति पूर्वं प्रतिपादिता एवातमेवार्थं द्रढ़यितुं पुनः प्रक्रमते "यदा कर्मसु" इत्यादि । परमात्म सङ्कल्परचिता एव ते पदार्थाः कुतः सूचकत्वात् तद्विद्भिः प्रतिपादनाच्च । तथा हि स्वाप्निको अर्थः शुभाशुभयोः सूचको भवति । तदुक्तम् काम्येषु कर्मसु अनुष्ठानानन्तरं सुप्तः पुरुषोऽनुष्ठाता सधवां विलक्षणां परिचितामपरितां वा पश्यति साक्षात्करोति यदा तदा तस्मिन् कर्मणि समृद्धिमभ्युन्नतिं जानीयात्. अर्थात् क्रियमाणं तत्कर्मावश्यमेव शुभफलकमित्येवं जानी-

सारबोधिनी—स्वाप्निक रथगजादिक परिदृश्य पदार्थ समुदाय जीव संकल्प द्वारा सृष्ट नही है पर सर्वजगदुत्पादक सर्वेश्वर से ही रचित होते हैं। इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए पुनः उपक्रम करते हुए सूत्र का व्याख्यान करते हैं "यदा कर्मसु" इत्यादि । काम्य कर्म का संपादन करता हुआ उपासक वेदी के पास में सो जाता है । उसमें जो स्वप्न देखता है । तादृश काल में विलक्षण सधवा ललना का दर्शन हो तो जानना चा-चाहिए कि मेरा यह शुभ होगा । इत्यादि छान्दोग्य श्रुति में स्वप्नकालिक वस्तु दर्शन को शुभाशुभ का सूचक बतलाया गया है । एवम् तद्विद अर्थात् स्वप्नाध्याय के जाननेवाला व्यक्ति कहते हैं कि यदि काला दाँत-वाला पुरुष को देखे तो वह पुरुष उस द्रष्टा के मृत्युजनक होता है ।

॥ तदभावाधिकरणम् ॥ ॥

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ।३।२।७।

जीवसुषुप्तिस्थानस्य भेदश्रुतिषूपलभ्यते "आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति [छा० ८।६।३।] "य एषोऽन्तर्हृदयाकाशस्तस्मिञ्शेते" [बृ० २।१।१७] "यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा

यादिति छान्दोग्यादि श्रुतिभ्यो ज्ञायतो । तथा तद्विदः स्वप्नाध्यायिनः "कृष्णदन्तं कृष्णवर्णं च परिचितमपरिचितं वा पश्यति तदा द्रष्टु पुरुषस्य मरणं भवतीति शुभाशुभं फलं भवति । एवं स्वप्ने गजारोहणं राजाफलात्मकं शुभसूचकं तादृशं स्वप्नदर्शनं भवति । यदि कदाचित स्वाप्निक पदार्थस्य जीव संकल्पजन्यत्वं भवेत्तदानकोऽपि स्वयं स्वनिष्ठ-करं विधाय पश्येत् । सर्वेश्वरस्तु जोवानुष्ठितात्पीयसो कर्मणां फलमनु-भावयितुं स्वल्पसमयावसानं तज्जीवमात्रानुभवयोग्यान्ननिष्टान. इष्टान् वा पदार्थान् सृजतीति । एतावता मायावादिमतमपास्तमिति दिक् ॥६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्री रघुवरीयवृत्तिविवरणे सन्ध्याधिकरणम् ॥१॥

विवरणम्–जीवस्य जाग्रदवस्थां तथा स्वप्नावस्थाञ्च विचार्य्य सम्प्रति तदीयां तृतीयावस्थां सुषुप्तिं विचारयितुमुपक्रमो भवति,

इस प्रकार अशुभ सूचकत्व भी कहा है इसलिए यह स्वाप्निक पदार्थ जीव संकल्प जनित नहीं है। किन्तु परमेश्वर से ही बनाया जाता है । यदि कदाचित् जीव संकल्प से हो तब तो कोई भी जीव स्वकीयानिष्ट पदार्थों को नहीं बनावे, नवा उस अनिष्टफलक पदार्थ का दर्शन ही करेगा । परमेश्वर तो जीव का जो अशुभ कर्म है उसके बल उसी जीव के लिये से स्वप्नकालिक पदार्थों का सृजन होता कराते हैं । इसलिए स्वाप्निक पदार्थ कर्तृक ही है । ॥६॥

सारबोधिनी–जीव सम्बन्धी जाग्रत्तथा स्वप्नावस्था का विचार करने के सुषुप्ति रूप तृतीयावस्था का विचार करने के लिए उपक्रम करते हैं "जीव सुषुप्ति

सम्पन्नो भवति" [छा० ६।८।१।] "ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते" [बृ० [२।१।१९।] इति । तत्र नाडीब्रह्मपुरीतद्रूपाणां सुषुप्तिस्थानानां विकल्पः समुच्चयो: वेति संशयः । एक सुषुप्तिस्थानेऽनेकश्रुतीनां विभिन्नस्थानाभिधायिनीनामसङ्गत्या विकल्प इति पूर्वपक्षः । अत्राभिधीयते—तत्स्वप्नाभावः सुषुप्तिर्नाडीपुरीतद् ब्रह्मसु युगपद्भवतीति समुच्चय एव । तच्छ्रुतेः तेषां नाडीपुरीतद्ब्रह्मणाश्च सुषुप्तिस्थानत्वेन श्रुतेः प्रासादशयननिकेतनपर्य्यङ्केषु युगपच्छयनवदत्रापि नाडीपुरीतद्ब्रह्मसु शयनमुपपद्यते । कार्यभेदात्समुच्चय एव ॥ ७ ॥

"जीवसुषुप्ति स्थानस्य" इत्यादि । स्वप्नादन्तरं जीवस्य सुषुप्ति र्भवति । तादृशसुषुप्तिविषये श्रुतिषु परस्परं भेदः समुपलभ्यते । तथा हि "आसु तदानाडी सुसृप्तौ भवति"इत्यत्र श्रुतौ नाडीमेव जीवस्यस्थानं प्रतिपादितं भवति । "य एषोऽन्तर्हृदयाकाशस्तस्मिंशेते" अत्र हृदयान्तराकाशः सुषुप्तिमितिप्रतिपादितं भवति" यत्रैतत्पुरुषः स्वपितिनाम सत्ता सोम्य ? तदा सम्पन्नो भवति"अत्र ब्रह्मैव सुषुप्तिस्थानं कथितं भवतीत्यादिक्रमेण सुषुप्तिस्थाने विप्रतिपत्तयो दृश्यन्ते इति । अत्र नाडी ब्रह्मपुरो तत् लक्षणानां सुषुप्तेः स्थानानां विकल्पः समुच्चस्थान भेदस्येत्यादि" जीव का तृतीय सुषुप्ति स्थान है उस विषय में श्रुतियों में प्राप्त करता है"परस्पर मतभेद देखने में आता है। तथाहि "इन नाड़ीयों में सुषुप्ति अवस्था को"जो यह हृदय के अन्तर्वर्ती आकाश है उसमें जीव शयन करता है" "जिस काल में जीव सोता है तब हे सोम्य ! वह जीव परमात्मा में सम्पन्न अर्थात् लीयमान हो जाता है।" "उन नाड़ियों से निकल करके पुरीतति नामक सूक्ष्म नाड़ी में जाकर के शयन करता है" इत्यादिरूपसे स्थान में तो एक शयन रूप से नाड़ी का कथन किया द्वितीय स्थान में पुरीतति नाड़ी को शयन बतलाया तथा तृतीय सुषुप्ति स्थान में रूप से ब्रह्म को बतलाया गया है । यह जो तीन सुषुप्ति का स्थान हैं उनमें विकल्प है

यो वेति संशयो जायते परस्परं भेददर्शनादिति । तत्र प्रदर्शितानां स्थानानां विकल्प एव कुतः ? विभिन्न प्रतिपादिकानां श्रुतीनां समन्वयस्यासंभवादिति पूर्वपक्षाशयः । उत्तरयति-"तदभावोनाडी" इत्यादि । तस्य स्वप्नस्याभावः सुषुप्तिर्युगपदेव नाडीपुरीतति ब्रह्मसु भवतीति समुच्चय पक्ष एव कुतः तच्छ्रुतेः सर्वेषां नाडयाद्यात्मनां सुषुप्तिस्थानत्वेन श्रवणात् । अतः सर्वेषां समुच्चय एव श्रेयान् । अन्यथा सङ्ग्रहो न स्यात् । यथा कश्चिद्राजा राजकुमारो वा प्रासादस्थित कुटीर मध्यगतपर्यंके शयानः राजाप्रासादे शेते कुटीरे शेते पर्यङ्केशेते इति व्यवहारो भवति. यत सर्वेषां प्रासादादीनांशयनात्मैकका- रित्वात्तथैव प्रकृतेऽपि प्रासादस्थानीयम् नाड़ीमात्रं कुटीरस्थानीयं

अर्थात् कभी नाड़ी से में सोता है तो कभी पुरीतति में सोता है और कभी ब्रह्म में सोता है । इसमें सुषुप्ति स्थान एक है । उसमें परस्पर विरुद्ध अनेक श्रुतियों का ऐकमत्य नही हो सकता है । अतः समुच्चय नहीं हो सकता है तो परिशेषात् विकल्प को ही मानना चाहिए । इस प्रकार का पूर्वपक्ष का आशय है । इसका उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं "तदभाव इत्यादि । "तदभावः" उस स्वप्न का अभाव अर्थात् सुषुप्ति नाड़ी में तथा आत्मा में होती है । यह स्वाप्नभावरूप सुषुप्ति नाड़ी पुरीतति और ब्रह्म में युगपत् एक काल में ही होती है । इसलिए इन सबका समुच्चय होना ही उचित है । क्योंकि श्रुति इसी तरह कहती है । नाड़ी पुरीतति और ब्रह्म का सुषुप्ति स्थान रूप से श्रवण होता है । जिस तरह प्रासाद शयन निकेतन स्थान कुटीर और पर्यंक [पलंग में युगवत् शयन होता है । इसी तरह प्रकृत में भी युगपत् एक काल में नाड़ो पुरोतति और ब्रह्म में युगपत् शयन जीव का हो सकता है । अर्थात् जैसे कोई राजा प्रा- साद पर अवस्थित शयन स्थान गत पर्यंक पर सोता है । तो वहाँ कहते हैं कि राजा साहब प्रासाद में सोते हैं । एक कोठरी में सोते हैं । पलंग

अतः प्रबोधोऽस्मात् ।३।२।८।

परमात्मैव जीवस्य साक्षात्सुषुप्तिस्थानम् । अत एवास्मात्प्रबोधः । सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति, इत्युपपद्यते ॥ ८ ॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ तदभावाधिकरणम् ॥ २ ॥

पुरीतत् पर्यंक स्थानीयः परमात्मेत्यवं क्रमेण स सामाञ्जस्यं भवति । तस्मात्सर्वेषां शयनस्थानत्वे श्रुतानां स्थानां समुच्चय एव नतु विकल्पः तथा सतिविकल्प श्रूतिव्याकापप्रसङ्गादिति संक्षेपः ॥ ७ ॥

विवरणम्—परमात्मैव साक्षात्सुषुप्तिस्थानं न नाड्यादिकं तथेति पूर्वं प्रतिपादितम् । इदानीं कारणान्तरेण तमेवार्थं निर्णेतुमुपक्रमते "परमात्मैवेत्यादि" यस्मात् कारणात्परमात्मा सकलनाजड़चेतन सूक्ष्म-स्थूलसाधारणानामाधारभूतः, अत एव अस्मादेव परमात्मनः सकाशात् प्रबोधकाले जीवस्यागमनं पुनरुत्थानं भवतीति श्रुतिभ्योऽवगम्यते । तथा हि श्रुति "सत आगत्य न विदुः सत आगच्छामहे इति" इमे जीवाः

पर सोते हैं। इसी प्रकार प्रकृत में प्रासाद स्थानसम्पन्न नाड़ी मुख है, कुटीर स्थानापन्न पुरीतति नाडी है और पर्यंक स्थानापन्न ब्रह्म है। क्योंकि इन तीनों स्थानों को परस्पर शयन लक्षण एक कार्यकारित्व है। इसलिए इन सुषुप्त स्थानों का परस्पर समुच्चय ही है विकल्प नहीं ऐसा सिद्धान्त पक्ष है ॥७॥

सारबोधिनी—जीव का शयनस्थान परमात्मा है नाड़ी प्रभृति में जीव का शयन नहीं होता है इस तरह से पूर्वसूत्र में कहा है। इसी वस्तु को दृढ़ करने के लिए उपक्रम करते हैं "परमात्मैवेत्यादि" परमात्मा सर्वेश्वर जो कि सकलजड़चेतन का आधार है। वही जीव का साक्षात् सुषुप्ति स्थान है। इसी कारण से इस जीव का इस परमात्मा से ही प्रबोध अर्थात् उत्थान होता है। इस तरह से श्रुति कहती है। "सत आगत्येत्यादि" प्रतिदिन परमात्मा से आकर के भी जीव यह नहीं समझता है कि मैं सत्परमात्मा

कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ॥३॥

स एव तु कर्मानुस्मृति शब्दविधिभ्यः ।३।२।९।

किं सुषुप्त्यनन्तरं यः कश्चिदपि जीव उत्तिष्ठति, आहोस्विद्यः सुप्तः स एवेति संशये सुषुप्त्यवस्थायां ब्रह्मसम्पन्नस्य तस्यैवोत्थानं न सम्भवतीति कश्चिदन्य एवोत्तिष्ठतीति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु

सम्प्रसाद समये परमात्मनि प्रतिदिनं संपद्य तत्र लीनो भूत्वा प्रबोधावस्थायां पुनस्तत आगत्य संभवन्तोऽपि. अहं सतः परमात्मनः सकाशादेवागत इति न जानातीति श्रुति वाक्यमपि सङ्गतं भवति । यदि नाड्यां सङ्गतो भवेत् स्वापकाणे पुरीतति वा तदा प्रकृतश्रुतिर सङ्गता भवेत्. तस्माज्ज्ञायते यत् सम्प्रसादकाले परमात्मन्येव सङ्गतो भवति. पुनश्च प्रबोधसमये तत एवागच्छतीति ॥ ८ ॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे तदभावाधिकरणम् ॥ २ ॥

विवरणम्–सुषुप्तिकाले जीवः सति सम्पन्नो भवति. ततः परदिने पुनरुत्तिष्ठति । तत्र यः सुप्तः तदन्यः कश्चिदुत्तिष्ठति स एव वोत्तिष्ठतीति विचारयितुं प्रक्रमते "किं सुषुप्तावित्यादि" सुषुप्तिकाले सर्वजीवानां ब्रह्मणि सम्पत्तौ सत्यां समुत्थानं यः सुप्त-

से ही आया हूँ" इस श्रुति का भी समन्वय होता है । अन्यथा मै नाड़ी से आया हूँ ऐसा समझे ऐसा तो नहीं होता है । इसलिए जीवसत् परमात्मा में शयन करता है । और परमात्मा से ही पुनरपि जीव का समुत्थान होता है ॥८॥

सारबोधिनी–जीवों को सुषुप्तावस्था में प्रलय के अनन्तर काल में क्या होता है, इस विषय का विचार करने के लिए उपक्रम करते हैं कि-सुषुप्त्यनन्तरम्" इत्यादि । क्या सुषुप्ति के बाद जो कोई जीव प्रबुद्ध होता है अथवा जो जीव ब्रह्म में सो जाता है वही पुनः उत्थान करता है कि अन्य । एतादृश

तुना पक्षो व्यावर्त्यते । सुषुप्तेः प्रागुपार्जितानि कर्माणि तेनैवा-विद्योत्पत्ति भोक्तव्यानीति हेतोः सुषुप्त्यवस्थायाः पूर्वमनुष्ठितानां कार्यणामनुस्मृतेः "यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति" [छा० ६।१०।२।] इति शब्दात्, "आत्मा वा रे द्रष्टव्यः" [बृ० ४।५।६।] इत्यादि विधि-भ्यश्च स एव जीव उत्तिष्ठति ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीरघुवरीयवृत्तौकर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ।३।

स्तदन्यस्य भवति तस्यैववा समुत्थानमित्यत्र संशयो जायते । तत्र यथा जलराशौ प्रक्षिप्ताजलबिन्दवस्तेषामेव पुनस्तादृशराशेः समुद्धरणमशक्यम् तद्वत् ब्रह्ममहोदधौ विलीनो जीव. स्वकीयकरणकलेवरसम्बन्धरहितः स एव तत उत्थातुं समर्थो न भवति. किन्तु यः सुप्तस्तदन्य एव कश्चित्प्रबोधे उत्तिष्ठति. इत्यादि पूर्वपक्षाशयः । एतादृश पूर्वपक्षे सति सिद्धान्तमाह "स एव तु" इत्यादि । अत्र सूत्रे विद्यमानस्तु शब्दः पूर्वपक्षं निराकरोति । सुषुप्तौ यो ब्रह्मणि लीनः स एवोत्तिष्ठति नान्यः कुतः ? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः" सुषुप्तेः येन जीवेन यानि शुभा-शुभकर्माणि समुपार्जितानि तादृशकर्मणां फलं तेनैवोपभोग्यं भविष्यति नान्येन तदुपभोगः संभवति । तथा पूर्वदिने यत्कृतं तस्यानुस्मरणं भव-

संशय के उत्तर में पूर्व पक्ष होता है कि सुषुप्ति अवस्था में ब्रह्म से संपन्न जो हुआ है उसी का उत्थान नहीं हो सकता है किन्तु जो सोता है उससे अन्य ही व्यक्ति जागता है । जैसे मुद्गराशि में प्रक्षिप्त मुदग का उद्धरण उस राशि से नहीं होता है । प्रक्षिप्त मुद्गभिन्न मुद्ग का उद्धरण होता हैं । वैसे ही प्रकृत में जो ब्रह्म में लीन होता हैं उसका प्रबोध न होकर तदन्य जीव का प्रबोध समय में उत्थान होता है । इस प्रश्न के उत्तर में सिद्धान्तवादी कहते हैं "स एव तु" इत्यादि । सूत्रघटक जो 'तु' शब्द है वह पूर्वपक्ष का निराकरणपरक है । सुषुप्ति से पूर्वकाल में उपार्जित कर्म का फलभोग उसी को करना चाहिए । तो सुषुप्ति अवस्था से पूर्वमें अनुष्ठित जो कर्म है उसका

॥ मुग्धाधिकरणम् ॥४॥

मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् ३।२।१०।

मूर्च्छितमधिकृत्य विचार्यते । किं मूर्च्छावस्था जागराद्यवस्थास्वेवान्तर्भूतोतावस्थान्तरमिति संशयेऽवस्थान्तरस्याप्रसिद्ध्या आस्वेवावस्थास्वन्तर्भूतेति पूर्वपक्षः सिद्धान्तस्तु- मूर्च्छिते यावस्था सा मरणा -

---

ति नान्यः स्मर्तुं शक्नोति "नान्यदृष्टंस्मरत्यन्यः"इति नियमात् । तस्मात्पूर्वानुष्ठितकर्मणामनुस्मरणादर्शनात् यः सुप्तः सैवोत्तिष्ठति नान्यः । एवम् "अग्निं जुहोति" "आत्मा वा रे द्रष्टव्यः" इत्यादिशब्दविधिभ्योऽपि निश्चितं भवति यत्. य एव सुप्तः स एवोत्तिष्ठतीति । श्रुतिरपि भवति "यद् यदा भवन्ति तत्तदा भवन्तीति । सुषुप्तेः पूर्वं यो हि यादृशो मनुष्यो वा पश्वादिर्वा भवेत् स एव तदा समुत्थानानन्तरमपि भवतीति। तस्मात् य एव सुप्तः स एवोत्तिष्ठति नान्य इति संक्षिप्तार्थः ॥९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेकर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ॥३॥

विवरणम्—जाग्रदाद्यारभ्य सुषुप्तपर्यन्ताजीवावस्था विचारिता. चतुर्थीयं मुग्धपुरुषस्यावस्थाऽवशिष्यते सा जाग्रदादिष्वेवान्तर्भवति ताभ्यो विलक्षणेति विचारयितुमुपक्रमते "मूर्छितमधिकृत्ये"त्यादि । येयं

अनुस्मरण भी उसी को होगा अन्य को नहीं । "सुषुप्ति के पूर्व जो जैसा रहता है प्रबोध के बाद में भी वह वैसा ही होता है ।" इस से यह सिद्ध होता है कि जो सोता है वही जागता है अन्य नहीं । एवं "आत्मा वारे द्रष्टव्यः" "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि विधायक वाक्य से भी यही तथ्य सिद्ध होता है कि जो सोता है वही पुनः उत्थित होता है ॥९॥

॥ इति कर्मानुस्मृत्यधिकरणम् ॥

सारबोधिनी—जागरित स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्था का वर्णन करके इस के बाद मुर्छावस्था को अधिकृत करने के लिए उपक्रम करते हैं "मूर्छित-

यार्धसम्पत्तिरेव । न ह्यस्याः कासु चिदवस्थास्वन्तर्भावः सम्भवति । आकारादिवैलक्षण्यात् । अतः परिशेषान्मरणायार्धसम्पत्तिरेव मूर्च्छा ॥१०॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौमुग्धाधिकरणम् ॥४॥

मुग्धपुरुषस्य मूर्छावस्था सा जाग्रदादिष्वेवान्तर्भूता भवति. अवस्थान्तरमिति संशयः । तत्रावस्थात्रयेभ्योऽन्यामरणावस्थातोऽपि विभिन्नेति जाग्रदादिष्वेवान्तर्भूतेति पूर्वपक्षः । तमिमं पक्षं निराकर्तुमाह मुग्धे मूर्छिते याऽवस्था दृश्यते सा मरणायार्धसम्पत्तिरेवातो न जाग्रदाद्यवस्थायामन्तर्भावः कथमपि संभवति. कुतस्ताभ्यो वैलक्षण्यात् । जाग्रति मधिकृत्येत्यादि" मूर्छित जो व्यक्ति है उस अवस्था का विचार किया जाता है। क्या यह मूर्छावस्था जगरित स्वप्न और सुषुप्ति रूप तीन अवस्थाएं हैं इन तीनो में से किसी में अन्तर्भूत होता है अथवा जागरितादिवस्था के समान यह भी एक अवस्थान्तर ही है। एतादृश संशय होता है। इसमें तीन जो अवस्थाए हैं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति, इन तीनों में से ही कोई एक अवस्था यह मूर्छा भी है। क्योंकि लोक तथा शास्त्र में तीन ही अवस्थाएं प्रसिद्ध हैं। चौथी तो कोई अवस्था प्रसिद्ध नहीं है। इस लिए इस तीन अवस्थाओं में से किसी एक अवस्था में ही यह मूर्छा का समावेश होता है ऐसा पूर्वपक्ष का अभिप्राय है। इस में सिद्धान्त बतलाते हैं "मुग्धेऽर्धसंपत्तिरित्यादि' मूर्छित व्यक्ति में जो यह अवस्था है वह मरण के लिए अर्धसंपत्तिअर्धमृतावस्था है अतः इस मूर्छावस्था का किसी प्रसिद्धावस्थाओं में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। क्योंकि इस मूर्छावस्था में आकारादि की विलक्षणता हो जाती है। अर्थात् जाग्रत् अवस्था में तो इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है क्योंकि जाग्रत में तो चक्षुरादिकरण द्वारा स्पष्ट रूप से ज्ञान होता है और मूर्छा में चक्षुरादि जनित ज्ञान नहीं होता है। स्वप्नावस्था में भी ज्ञान होता है। इस में ज्ञानादिक नहीं रहते हैं। इसलिए जाग्रत तथा स्वप्न में इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है तथा सुषुप्ति में भी इसका अन्तर्भाव नहीं हो

उभयलिङ्गाधिकरणम् ॥५॥

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ।३।२।११।

एवं विरक्त्यर्थं जीवावस्थास्सन्निरूप्योपेयस्वरूपं विचार्यते । तत्र जागराद्यवस्थावतो जीवस्य यथा दोषास्पदत्वं तथा परस्यापि दोषाश्रयत्वमस्ति नेति संशयः । शरीराधिष्ठितत्वाविशेषात्परस्यापि तथा दोषास्पदत्वमस्त्येवेति पूर्वपक्षः । अत्राभिधीयते—न स्थानतोऽपि पृथिव्यादिषु जीवे चान्तरवस्थितस्यापि परस्य न दोषास्पदत्वम् ।

पश्यति शृणोति च पुरुषो न च मुग्धस्य चाक्षुषादिदर्शनमतो न प्रथमेऽन्तर्भावः । न वा स्वप्ने तत्रापि ज्ञानसद्भावान्मूर्छिते तदभावात् । नापि सुषुप्तावन्तर्भावः सुषुप्तस्य मुखं प्रसन्नं कंपादिरहितं च मूर्छितस्य तु मुखे विकृतिः शरीरे कंपादिकञ्चेति । तस्मात्परिशेषात्मूर्छामरणार्धसम्पत्तिरिति पूर्वविवृतादन्या ॥१०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे मुग्धाधिकरणम् ॥४॥

सकता है । क्योंकि मूर्छित व्यक्ति का नियमत उन्मीलित नेत्र रहता है, भयंकर मुख हो जाता है । और शरीर कंपादिक होता रहता है । परन्तु यह सब लक्षण सुषुप्ति में तो नहीं रहता है । किन्तु सुषुप्ति व्यक्ति में तो निमीलित नेत्र रहता है । मुख प्रसन्न रहता है सतत श्वाशोच्छ्वास चलता रहता है । इस प्रकार से आकारादिक में विलक्षणता होने से सुषुप्त में भी मूर्छा का समावेश नहीं होता है । नवा मरण में ही इसका समावेश होता है । क्योंकि मरण में तो शरीर में प्राण तथा उष्मा का अभाव हो जाता है । और मूर्छा काल में तो शरीर में प्राणादिक उपलब्ध होता है । इस प्रकार से आकारादि की विलक्षणता होने से मूर्छा का समावेश जाग्रदाकि अवस्थाओं में नहीं होता है । अतः परिशेषात् मरण के लिए अर्धसंपत्तिमरणासन्नता मूर्छा है अवस्थान्तर नहीं यह सिद्ध होता है ॥१०॥

यतः सर्वत्र श्रुतिस्मृतिषु निर्दोषत्वकल्याणगुणाश्रयत्वरूपोभयलिङ्गत्वं तस्य प्रसिद्धम् । ताश्च श्रुतिस्मृतयः "अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः" [छा० ८।७।१।] "निरवद्यं निरञ्जनम्" यः सर्वज्ञः सर्ववित्, [मु० १।१।९।] "सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः" [छा० ८।७।१।] "न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा" [गी०] "समस्तहेयरहितम्" [वि० पु०] समस्त कल्याणगुणात्मकोऽसौ (वि. पु.) इत्याद्याः ॥११॥

विवरणम्-जीवस्य संसाराद्वैराग्यार्थं सदोषाणां जीवावस्थानां विचारं कृत्वा सम्प्रति जीवप्राप्यस्य परब्रह्मण उभयलिङ्गता विचाराय प्रक्रमते "एवं विरक्त्यर्थमित्यादि" एवं यथोक्तक्रमेण जीवस्य वैराग्यं संसाराज्जायतामतो दोषदुष्टाः जीवस्य जागरणाद्यवस्था सम्यङ्नि-रुप्य सम्प्रति जीवप्राप्यस्य परब्रह्मण उभयस्वरूपं निर्दोषात्मकं कल्पनादि रूपञ्च विचार्यते । तत्र जीवस्य याऽवस्था जागरि-तादिकाः कथितास्तादृशावस्थानो जीवो यथा दोषवान् भवति तथा जीवान्तर्यामिणः परमेश्वरस्यापि ता अवस्था भवन्ति न वेति संशयः पूर्वपक्षस्तु परमेश्वरस्यापि तादृशावस्थया दोषवत्वं भवत्येव कुतः ? जागरिताद्यवस्थावति देहे परस्याप्यवस्थानादिति । अत्र सिद्धान्तः "न स्था-

सारबोधिनी-पूर्वोक्त प्रकार से जीव को संसार वैराग्य हो इसलिए जीव का जो जाग्रदादिक अवस्था विशेष है उसका समीचीन रूप से नि-रूपण करके जीवप्राप्य जो परमात्मा हैं उनमें उभयस्वरूपत्व है इसका विचार करते हैं । उसमें जाग्रदादिक अवस्थावान् जीव को जिस तरह सकल दोष का आश्रयत्व है । उसी तरह परमात्मा में भी दोष का आश्रयत्व है । अथवा नहीं है । अर्थात् जिस तरह अवस्था प्रयुक्तदोष से जीव का सम्बन्ध होता है, उसी तरह तादृशावस्था प्रयुक्त दोष से परमेश्वर सम्बन्धित होते हैं । अथवा उन दोषों से परमात्मा का सम्बन्ध नहीं होता हैं । इस प्रकार से संशय होता है । जिस तरह जीव शरीर में रहने से अवस्था प्रयुक्त दोषवान् होता है

नत इति । अर्थात् पृथिव्यादिषु जीवादौ विद्यमानस्यापि परस्य न दोषवत्वम् । यस्मात् सर्वत्र श्रुतिस्मृतिषु दोषराहित्यसकलगुणाकरत्वरूपोभयलिङ्गमेव परं ब्रह्मेत्यवगम्यते । अस्मादेव कारणात् पृथिव्यादीनां जोवस्यान्तर्यामितयाऽवस्थापनतोऽपि जीववत् परब्रह्मणोऽवस्थाप्रयुक्ता दोषा न भवन्ति । किन्तूभयलिङ्गत्वं परस्येति ।

ता काः श्रुतयः स्मृतयश्च याभिः परब्रह्मण उभयलिङ्गत्वं भवतीति जिज्ञासायां तां तां श्रुतिं स्मृतिञ्च दर्शयति "अपहतपाप्मेत्यादि" [पुण्यपापादिलक्षणसर्वप्रकारकशुभाशुभकर्मफलरहितः परमेश्वरः] विजरो वृद्धावस्थया रहितः । "विमृत्युः" यतः कर्मजराभ्यां रहितोऽत एव-मृत्युभयरहितोऽपि "निरवद्यं निरञ्जनम्" अवद्यं पापं तेन रहितम्-अञ्जनं दुःखं तद्रहितम्" यः सर्वविषयकज्ञानवान् स सर्वविषयकविशेषतो विज्ञानवान्, "सत्यः कामः सङ्कल्पो यस्य तादृशः, हे अर्जुन ! मां सर्वजगतो नियन्तारं कर्माणि पुण्यपापादिकानि न लिंपन्ति.तथा में कर्म-

उसी तरह सर्वत्र परमेश्वर के भी अवस्थित होने से तादृश दोषवत्व है ही इस प्रकार से पूर्वपक्ष होता है । उसका निराकरण करने के लिए कहते हैं "न स्थानतोपीत्यादि" स्थान से अर्थात् पृथिव्यादिक में तथा जीव में अन्तर्यामी रूप से परमात्मा को अवस्थित होने पर भी परमात्मा में अवस्था प्रयुक्त दोषाश्रयत्व नहीं है । क्योंकि सर्वत्र अर्थात् सकल श्रुति स्मृति में निर्दोषत्व तथा सकल कल्याण गुणाश्रयत्व रूप उभयलिङ्गत्व परमेश्वर में प्रसिद्ध है । जिन श्रुतिस्मृतियों में उभयलिङ्गत्व प्रसिद्ध है उन श्रुतिस्मृतियों को बतलाते हैं । "जो परमात्मा अपहत पापवाले हैं । जरा वृद्धावस्था तथा मृत्युभय से रहित है।" 'परमात्मा सकल दोष से सर्वप्रकारक दुःख से रहित है।' "जो सर्वपदार्थ विषयक सामान्यतः ज्ञानवान् है । तथा सर्वविषयक विशेष रूप से भी ज्ञानवान है "वह परमात्मासत्यकामसत्यसङ्कल्पवान् हैं" हे अर्जुन ! सर्वेश्वर मुझ में कर्मों का लेप संसर्ग नहीं होता है तथा मुझको कर्मफलों

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ।३।२।१२।

ननु जीवस्याऽप्युभयलिङ्गत्वमुक्तं प्रजापतिवाक्ये तथापि देवमनुष्याद्यवस्थाभेदात्तस्य दोषाश्रयत्वमस्त्येव । एवमेव परस्यापि दोषास्पदत्वं स्यादेवेति चेन्न, प्रत्येकमतद्वचनात् । "एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" [बृ ३।७।३।] इत्येवं रूपेण शरीरत्वेन प्रत्येकमुक्त्वा तत्रामृतत्वप्रतिपादनाद्दोषराहित्यमेवावगम्यते । जीवस्याविद्यया तिरोहित स्वरूपत्वात्पुण्यपापरूपकर्मफलभोगादि दोषास्सम्भवन्त्येव ॥१२॥

फलविषयिणीच्छापि नास्ति" "समस्ता ये हेयगुणास्तैरहितम्" असौ परमात्मा सकलकल्याणगुणवान्" इत्यादिकाः । निर्दोषत्वसकलहेय प्रत्यनीककल्याणगुणाश्रयत्वरूपोभयलिङ्गत्वं परमेश्वरस्य दर्शयन्ति । अतः पृथिव्यादीनां जीवस्य चान्तर्यामितयाऽवस्थानतोऽपि पर ब्रह्मणो जीवस्येव जगत् स्वप्नाद्यवस्था प्रयुक्ता दोषा न संभवन्तीति दिक् ॥११॥

विवरणम्—प्रकृतविषये पुनराशङ्क्य समाधत्ते 'ननु जीवस्यापीत्यादि' ननु यथा परस्य ब्रह्मणो यथोभयलिङ्गत्वं कथितं तथैव प्रजापति वाक्ये-जीवस्याप्युभयलिङ्गत्वं कथितमेवेति जीवस्य यथोभयलिङ्गत्वेऽपि दोषाश्रयत्वं तथैव परस्यापि दोषवत्वमवर्जनीयमेवायातीति, तथापि देवमनु-

की स्पृहा है । "यह परमेश्वर समस्त हेय गुणों से रहित हैं।" "यह परमात्मा सकलकल्याणगुणों का आश्रय है" । इससे यह सिद्ध होता है कि परमेश्वर में सकल दोषराहित्य तथा समस्त कल्याण गुणवत्वरूप उभयलिङ्गत्व होने से जीव की तरह दोषवत्व परमेश्वर में नहीं है यानी अवस्था प्रयुक्त दोषवान् परमेश्वर नहीं हैं ॥११॥

सारबोधिनी—"एष त आमान्तर्याम्यमृतः" इत्यादि 'प्रजापति वाक्यमें जीव को भी तो उभयलिङ्गत्व का प्रतिपादन किया गया है । तब परमेश्वर ही में उभय लिङ्गत्व है जीव में नहीं, यह कथन तो अयुक्त ही है एतादृशशङ्का करके उसका समाधान करने के लिए उपक्रम करते हैं "ननु जीवस-

ष्यादितत्तदेवस्यावस्थाभेदात्तदाश्रिततत्तद्दोषस्य संभवाज्जीवा दोषवन्तो भवन्त्येव । न च यथा जीवस्य तत्तद्देहसम्बन्धाददोषवत्वं तथैव परस्यापि सर्वान्तर्यामितया तत्सम्बन्धस्य विद्यमानत्वेन तस्यापि दोषवत्वं स्यादेवेति चेन्न "प्रत्येकमतद्वचनादिति" । परस्य शरीररूपेण ये पृथिव्यादयः कथितास्तेषु प्रत्येकमादाय परस्य दोषराहित्यस्य श्रुतौ प्रतिपादनान्न परस्य कथमपि तादृशदोषवत्वमिति ।

यद्यपि जीवे स्वावच्छिन्नभोगवत्वसम्बन्धेन शरीरसम्बन्धः परस्मिन् तु तदन्तर्यामितया शरीरसम्बन्ध इत्युभयत्रापि उभयलिङ्गत्वमुभयत्र वा दोषवत्वं स्यादेवेति तथापि स्वावच्छिन्नभोगवत्वलक्षणसम्बन्धस्यैव दोषवत्वप्रयोजकत्वेन. परमेश्वरे तादृशविलक्षणसम्बन्धेन देह सम्बन्धाभावान्न तत्र दोषास्पदत्वम्. जीवे च तादृश सम्बन्धेन शरीर

यापीत्यादि" यद्यपि "एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत" इस प्रजापति वाक्य में जीव में भी उभयलिङ्गत्व अर्थात् दोषराहित्य तथा सर्वगुणाकरत्व का प्रतिपादन किया गया है । तब जीव में दोषाश्रयत्व है और परमात्मा में दोषाश्रयत्व नहीं है । यह कथन तो अयुक्त होता है । तथापि "देवमनुष्यतिर्यगादि अवस्था के भेद होने से जीव में दोषाश्रयत्व है ही तब तो सर्वान्तर्यामी रूप से पृथिव्यादि सर्व शरीरक होने से पर में भी अवस्था प्रयुक्त दोष तो होना चाहिए । एतादृश शङ्का का निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं "प्रत्येकमतद्वचनादिति" परमात्मा का शरीर रूप से जो पृथिव्यादिक कहा गया है उनमें से एक को लेकर परमेश्वर में दोष सम्बन्धित्व का श्रुति में प्रतिपादन किया गया है । "एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी तथा अमृत स्वरूप है" । इस प्रकार से परमात्मा का शरीर रूप से पृथिव्यादिक पदार्थ का कथन करके उस परमात्मा में अमृतत्वादि कल्याण गुणत्व का कथन किया है । इससे जानता हूँ कि परमात्मा सर्वदोष रहित है । यद्यपि भगवदंश होने से जीव में भी तो अमृतत्वादिक धर्म हैं तथापि

अपि चैवमेके ।३।२।१३।

अपि चैवं जीवस्य दोषभागित्वं परस्य तद्राहित्यमेके शाखिनोऽभिदधते "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" [मु० ३।१।१।] इति ॥१३॥

सम्बन्धाद्दोषवत्वं भवत्येवेत्याशयेनाह "एष ते आत्मेत्यादि" यद्यपि जीवस्यापि भगवदंशत्वेनामृतत्वादि गुणानां संभवस्तथापि जीवस्य परमात्म सङ्कल्पेनाविद्याया तिरोहितामृतत्वादि गुणकत्वेन विलक्षणसम्बन्धप्रयोजकशुभाशुभकर्मफलसुखदुःखादिभोगसम्बन्धरूपदोषस्यावश्यं भावात् । परस्मिंस्तु नैवमत एव परमेश्वरे दुःखादि लक्षणदोषाणामसंभव एवेति । जीवस्त्वविद्ययातिरोहितामृतत्वादिगुणको नैवं पर इति न परमेश्वरे दोषवत्वमपि तु जीवे एवेति संक्षेपः ॥१२॥

विवरणम्—न केवलं बृहदारण्यकश्रुतावेव जीवस्य शुभाशुभात्मक दोषभागित्वं परमेश्वरस्य तादृशराहित्यं प्रतिपाद्यतेऽपितु मुण्डकादिष्वपि तथैवैके प्रतिपादयन्तीति दर्शयितुं प्रक्रमते "अपि चैवं जीवस्येत्यादि" एके मुण्डकशाखाध्येतारोपि जीवस्य दोषभागित्वं परमेश्वरस्य तु सर्वदोष

जीव अनादि स्वकर्मजनित अविद्या से तिरोहित स्वरूप वाला है। इसलिए पुण्य पाप रूप जो शुभाशुभ कर्म हैं उनका फल स्वरूप लौकिक सुख तथा दुःख भोगरूप दोष तो होता ही है। अर्थात् जीव तो अविद्या से तिरोहित स्वरूपवान् होने से स्वकृत कर्म प्रयुक्त फलभोगरूप दोष का सम्बन्धी होता है। परमेश्वर में किसी भी प्रकार का दोष नहीं होने से वह सर्व दोष रहितत्व तथा सर्व कल्याण गुणाकरत्व लक्षण उभयलिङ्गक है ॥१२॥

सारबोधिनी—केवल बृहदारण्यक से ही यह सिद्ध है कि जीव दोष भागी है और परमात्मा सर्वदोष रहित है ऐसा नहीं मुण्डकादि श्रुति से भी यह सिद्ध होता है। उसी वस्तु को पुनः प्रतिपादन करने के लिए उपक्रम करते हैं "अपि चैवं जीवस्य' इत्यादि । और भी देखिए कि जीव को सर्वदोष भागित्व तथा परमात्मा में सर्वदोषराहित्यत्व को एक शाखाध्यायी लोग

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।३।२।१४।

ननु जीववदीश्वरस्यापि शरीरित्वेन नामरूपभाक्त्वात्कर्मफलभोक्तृत्वमवर्जनीयं स्यादिति चेन्न परस्य प्रधानत्वान्नामरूपभाक्त्वेऽपि जीववत्कर्मकृतनामरूपराहित्यान्न तत्फलभोगित्वमिति शुद्धमेव तत् ॥१४॥

रहितत्वं कथयन्ति । तथाहि "द्वा सुपर्णावित्यादि" [एकस्मिन् शरीर लक्षणवृक्षे सयुजौसखायौ भिन्नवदेव समानतां भजमानौ द्वौ सुपक्षौ शोभनपक्षयुक्तौ जीवेशौ तिष्ठतः । तयोर्द्वयोर्मध्ये एको जीवः स्वावच्छिन्न भोगत्वसंबन्धेन देहविशिष्टो स्वकृतकर्मफलं सुखादिकं यथा स्यात् तथा अत्ति अनुभवति । तत्रैव शरीरेऽन्तर्यामितया विद्यमानोऽप्यन्यः परमेश्वरः सर्वदोषरहितत्वेनानश्नन् कर्मभोगरहित एववरीवर्ति"] अयं मन्त्रः स्पष्टतया जीवस्य दोषवत्वं परस्य तद्रहितत्वं प्रतिपादयतीतिवृत्तेर्भावार्थः ॥१३॥

विवरणम्—ननु यथा जीवो हि शरीरी तथा परमेश्वरोऽपि शरीरीति जीववदेव परमेश्वरस्य कर्मफलभोक्तृत्वं स्यादित्याशङ्क्य समाधातुमुपक्रमते "ननु जीववदीश्वरस्यापि" इति । जीवो हि शरीरव-

कहते है" । "द्वा सुपर्णा इत्यादि । शरीर रूप एक वृक्ष के ऊपर में समान स्वभाव वाले दो पक्षी जीव और परमेश्वर अधिष्ठित हैं । उसमें एक जो पक्षी जीव वह तो कर्मफल का भोग करता है । तथा अन्य जो पक्षी परमेश्वर वह कर्मफल का भोग नहीं करते हुए भी प्रकाशवान् हो रहे हैं। इत्यादि क्रम से बतलाया गया है। अतः स्पष्ट है कि परमेश्वर में उभयलिङ्गता है ॥१३॥

सारबोधिनी—जिस तरह जीव शरीरी होने से नामरूपादिमान् है और नामरूपवान् होने से स्वकृत कर्मफल का भोक्ता होता है। उसी

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ।३।२।१५।

"सत्यं ज्ञानम्" "ज्योतिषां ज्योति" रित्यादि श्रुतीनामवैयर्थ्याय प्रकाशस्वरूपं ब्रह्म सदपि 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' [मु० १।१।९] इत्यादि श्रुतीनामवैयर्थ्याय कल्याणगुणाकरत्वमप्यक्षतमित्युभयलिङ्गत्वमेव परस्य ॥१५॥

त्वात्, नामरूपवान् भवति, तथा नामरूपवत्वादेव कर्मफलस्य भोक्ता भवति । तथा परमेश्वरस्यापि देहवत्वात् कर्मफलभोक्तृत्वमापद्यते एवेत्याशङ्क्याह—अरूपवदेवेत्यादि । देवादि शरीरादिषु शरीरित्वेन रूपेण विद्यमानमपि परं ब्रह्म अरूपवदेव—पुण्यपापकर्ममूलकनामरूपरहितमेव । तत्प्रधानत्वात्, जीवेभ्य उत्कृष्टत्वात्, जीवो हि नामरूपवान् भवति, कर्मपराधीनत्वात्, न तथा कर्मकृतनामरूपधारीत्वेन स्वतन्त्रत्वात् । ततश्च नामरूपवत्वेऽपि परमेश्वरस्य न कर्मफलभोक्तृत्वं जीवस्य तु कर्मपराधीनतया तदुपभोक्तृत्वमिति संक्षेपः ॥१४॥

विवरणम्—ननु यदि अरूपं परं ब्रह्म तदा रूपवत्वप्रतिपादकश्रुतीनां का गतिरित्याशङ्क्य समाधातुमुपक्रमते "सत्यं ज्ञानम्" इत्यादि ।
तरह परमेश्वर भी शरीरी है । तब तो परमेश्वर को भी कर्मफल भोक्तृत्व होना चाहिए । इस प्रश्न के उत्तर में कहते है । परमेश्वर नामरूप रहित जैसा ही है । क्योंकि प्रधान होने से अर्थात् जीवापेक्षया अत्यन्त उत्कृष्ट होने से । जीव में जो नाम रूपधारित्व है वह कर्मकृत है । तो कर्म पराधीन होने से जीव कर्मफल का भोक्ता है । परन्तु परमेश्वर तो कर्माधीन नाम रूप नहीं है । इसलिए लोकोत्तर शरीरवान् होने पर भी कर्मफल का भोक्ता नही होते है किन्तु सर्वथा विशुद्ध रहते हुए जीव के कर्म का अनुरूप फलदायक होते है । इसका विशेष विचार भाष्य विवरण में देखें ॥१४॥

सारबोधिनी—"अस्थूलमनणु" "अपहतपाप्मा" इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है कि भगवान् सर्वदोषरहित हैं । परन्तु कल्याण गुणकत्वादि

आह च तन्मात्रम् ।३।२।१६।

"सत्यं ज्ञानम्" इति वाक्यं प्रकाशमात्रं ब्रह्मेत्यभिदधदपि तस्य स्वाभाविककल्याणगुणाकरत्वं न वारयति ॥१६॥

यथा "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" 'प्रज्ञानं ब्रह्म' "तद्देवाज्योतिषां ज्योतिः" इत्यादि श्रुतीनां वैयर्थ्यं न भवतु. तथैतासां प्रामाण्यात् परब्रह्मणः प्रकाशस्वरूपता सिद्ध्यति । तथैव 'य सर्वज्ञः स सर्ववित्' सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः" इत्यादि श्रुतीनामवैयर्थ्यात् तत्प्रामाण्याच्च. परब्रह्मणि कल्याणगुणाकरत्वं सर्वथा दोषराहित्यश्चावगतं भवति । तस्मात् सर्वदोषरहितत्वं सर्वकल्याणगुणवत्वमित्युभयलिङ्गमेव परं ब्रह्म । जीवस्य तु कर्मपराधीनत्वेन दुःखादिदोषवत्वमेवेति न तस्योभयलिङ्गत्वमिति न जीववत् परमेश्वरस्य कर्मफलभोगादिप्रसक्तिर्भवतीति ॥१५॥

विवरणम्–ननु सत्यं ज्ञानमित्यादि श्रुतिः परब्रह्मणः प्रकाशस्वरूपतामेव दर्शयति न तु कल्याणगुणाकरत्वमिति कथं कथितमुभयलिङ्गकं परब्रह्मेत्याशङ्क्य समाधातुमुपक्रमते "आह च तन्मात्रमिति" सूत्रम् ।

धर्मवत्ता का साधक तो कोई भी प्राण नहीं है ? इस आशङ्का आ समाधान करने के लिए उपक्रम करते हैं "सत्यं ज्ञानम्" इत्यादि । जिस तरह "सत्यं ज्ञानम्" अनेक श्रुति के बल से पर ब्रह्म प्रकाश अर्थात् ज्ञान स्वरूप है ऐसा सिद्ध होता है । उसी तरह "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" इत्यादि श्रुति के बल से हेयप्रत्यनीक अनेक कल्याण गुणाकरत्व की भी सिद्धि होती है । तस्मात् पर ब्रह्म में उभयलिङ्गत्व सिद्ध होता है ॥१५॥

सारबोधिनी–यद्यपि "सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादि वेदान्त पर ब्रह्म प्रकाशमात्र स्वरूपक है ऐसा प्रतिपादन करता है । तथापि परब्रह्म लोकोत्तर अनन्तदिव्यगुणों का आकार है इस बात का निराकरण नहीं करता है । क्योंकि इन वाक्यों का विधान अंशमात्र में तात्पर्य है नतु निषे-

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ।३।२।१७।

"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" [श्वे० ६।९।] "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इत्यादि वेदान्तगणो दर्शयति निर्दोषत्वं कल्याणगुणाकरत्वं च ब्रह्मणः। स्मर्यतेऽपि च "सर्वज्ञः सर्वकृत्सर्वशक्तिज्ञानबलर्द्धिमान्। अन्यूनश्चाप्यवृद्धिश्च स्वाधीनो नादिमान् वशी" [वि० पु० ५।१।४७।] इत्यादिषु तथा ॥ १७ ॥

"सत्यं ज्ञानमनन्तम्" इत्यादि वेदान्तवाक्यं यद्यपि परब्रह्म प्रकाशमात्रस्वरूपकमित्येवं प्रतिपादयन्नपि परब्रह्मणोऽनन्तकल्याणगुणाकरत्वं न प्रतिबध्नाति, "आहु र्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धुं विपश्चित इति नियमादिति ॥ १६ ॥

विवरणम्—निर्दोषत्वकल्याणगुणाकरत्वं परब्रह्मण इति द्योतयितुं सूत्रान्तरमुपन्यस्यति "दर्शयति च" इत्यादि। "निष्कलं निष्क्रियं-शान्तम्" "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" "पतिं पतीनाम्" न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" "भीषाऽस्माद्वातः पवते" इत्यादि वेदान्तगणः परब्रह्मणि सर्वदोषराहित्यं तथा परब्रह्मणि हेय-

घांश में। क्योंकि प्रत्यक्ष के समान स्वार्थावलोकन करने में उत्तरानपेक्षवेदान्त शास्त्र प्रमाण विधायक मात्र होता है निषेध करनेवाला नहीं "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वाक्य स्वर्गकामनावान् पुरुष के लिए याग का विधान करता है। तदितर का निषेधक नहीं होता है। इसी तरह "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि वाक्य पर ब्रह्म में प्रकाश मात्र का विधान करता है। पर अनन्तकल्याण गुणाकरत्व का निषेधक नहीं है ॥ १६ ॥

सारबोधिनी—परमेश्वर में किसी भी प्रकार का दोष नहीं है तथा भगवान् अनन्त कल्याण गुण का निधान है इस प्रकार से जो पूर्व पूर्वतर सूत्रों में कहा है उसी को दृढ़ करने के लिए पुनः सून्त्रातर का उपक्रम किया जाता है "निष्कलम्" इत्यादि। [कलाओं दोषों से रहित तथा लौकिक

प्रत्यनीक अनन्तकल्याणगुणवत्वं च प्रदर्शयति । एवं स्मृतेऽपि च गीतादि स्मृतिषु "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम्" "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः" पुराणरत्नेऽपि कथितम् "सर्वज्ञः सर्वकृदित्यादि" [स भगवान् सर्वज्ञः सर्वविज्जड़ादिपदार्थविषयकज्ञानवात् तथा, "सर्वकृत्" सर्वेषां जड़ा जड़ानां कर्ता । तथा सर्वोत्पादकविलक्षणशक्तिमान् ज्ञानबलऋद्धिमांश्च । अन्यूँनो न कुतश्चिदपि न्यूनः । तथा वृद्धिरहितः सर्वदैकरूप इत्यर्थः । स्वाधीनः सर्वतन्त्र स्वतन्त्र । तथा न आदिमान् कारणवर्जितः । वशी सर्वं वस्तु स्ववशे स्थापयतीति वशी सर्वस्य वशकर्तेत्यर्थः । एतादृशो हि भगवान् श्रीराम इति] इत्यादि सर्वश्रुतिस्मृतिषु भगवतः परात्पर ब्रह्मणो निर्दोषत्वं हेयप्रत्यनीककल्याणगुणाकरत्वञ्च प्रतिपादयति । तस्मात् परमेश्वरे निर्दोषत्वात् सर्वकल्याणगुणाकरत्वाच्चपृथिव्यादिस्थान प्रयुक्तदोषाणां समावेशो न भवतीति ध्येयम् ॥ १७ ॥

क्रिया शून्य है ।] "सर्वज्ञ हैं, वह भगवान् सर्ववित् विशेष रूप से सब पदार्थ के ज्ञाता हैं । परमेश्वर में करण कलेवर नहीं है" इत्यादिक जो वेदान्त समुदाय है भगवान् श्रीराम में सर्व प्रकारक दोष के अभाव का प्रतिपादन करते हैं । और गीतादिक में भी प्रतिपादन किया है कि भगवान् सर्वदोष रहित हैं तथा हेय प्रत्यनीक अनन्तकल्याण गुणों का निधान है । एवं विष्णुपुराण के ५।१।४७ श्लोक में भी कहा है । [वह भगवान् सर्वज्ञ है । सब जड़–चेतन पदार्थ का उत्पादन करनेवाले हैं । सर्वप्रकारक शक्तिमान् हैं । तथा ज्ञानबल समृद्धिमान् हैं । किसी की भी अपेक्षा से न्यून नहीं हैं । तथा वृद्धि रहित हैं । अर्थात् उपचय अपचय से रहित सर्वदा एक स्वरूपवान् शाश्वत हैं । स्वाधीन तथा कारण रहित हैं । और अपने अधिकार में सब को व्यवस्थित करके रखनेवाले हैं"] इत्यादि अनेक स्मृतियों में कहा गया है कि परमेश्वर में निर्दोषत्व तथा सर्वकल्याण गुणाश्रयत्व है अतः ईश्वर में द्वैयता की कल्पना अबुद्धिमत्ता पूर्ण है ॥१७॥

अत एव चोपमासूर्यकादिवत् ।३।२।१८।

परस्य स्वाभाविकोभयलिङ्गत्वेन पृथिव्यादिष्ववस्थितस्यापि न स्थानकृतदोष लेशः। अत एव शास्त्रेषु, आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत् तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान्" [याज्ञः ३।१।४।] इत्युपमा दीयते ॥१८॥

विवरणम्—अन्तर्यामितया सर्वत्रावस्थितस्यापि परब्रह्मण उभयलिङ्गत्वे स्थानकृतदोषो न भवति. अत एव परमात्मा जलसूर्यकोणोपमितो भवतीतीममर्थं प्रतिपादयितुमुपक्रमते "परस्य स्वाभाविकेत्यादि परस्य परमात्मानः स्वाभाविका अर्थात् साहजिकोभयलिङ्गवत्वे. पृथिव्यादिस्थानेष्वन्तर्यामितया प्रविष्टस्यापि स्थानकृततत्तदाधारसम्बन्धप्रयुक्तदोषो न जायते । अतएवैषः परमात्मा जलसूर्यकोपमानेनोपमितः । अयमाशयः यथा भगवान् सविता एक एव नानाजलादिभाजने प्रतिबिम्बतोऽनेकवद्भाति. नतु तस्य जलादि सम्बन्धप्रयुक्तदोषो जायते. यथा वा व्यापकतया सर्वत्रघटादावनुप्रविष्टोप्याकाशो घटादिस्थानकृतसम्बन्धजनितदोषेण लिप्तो न भवति. तथैवान्तर्यामितया सर्वत्र पृथिव्यादिषु वर्तमानोऽपि तत्तत्स्थानकृतदोषान्न दुष्यति । तदुक्तं गीतायाम् "यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं" इत्यादि तदाहुराचार्याः— "देहगतगुणदोषैर्न सम्बद्ध्यते इत्यर्थः" इति । तथैव वृत्तिकारा अपि— "अतिविशुद्धस्य चैतन्यरूपस्यात्मनः संसर्गजनितगुणदोषाश्रयत्वं न

सारबोधिनी—पूर्व प्रकृत पदार्थ को दृढ करने के लिए सूत्रान्तर को बतलाते हैं "अत एव चोपमेत्यादि" परमात्मा स्वभाव से उभय लिङ्गक है अर्थात दोषरहितत्व तथा अनेक कल्याणगुणविशिष्टत्व होने से अन्तर्यामित्व रूप से पृथिव्यादिक में अवस्थित होने पर भी स्थानकृतदोष का सम्बन्ध नहीं होता है । इसलिए शास्त्र में परमात्मा को जल सूर्य की

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ।३।२।१९।

तु शब्दश्चोद्यं द्योतयति । यथार्थतोऽम्बुन्यवस्थितो भानुर्भ्रान्त्या भासते न तथाऽनवस्थितः परः । स तु यः पृथिव्यां तिष्ठन्नित्यादिश्रुतिभिर्यथार्थतोऽवस्थित इतिकथं दृष्टान्तदार्ष्टान्तयोःसाम्यम् ॥ १९ ॥

जातु सम्भवतीति भावः" इति । अत एव शास्त्रेषु, "आकाशमेकं हित्यादि यथैकोप्याकाशो घटादि स्थानमेदाद्भिभिन्न इव प्रतिभाति नतु वस्तुतो भिन्न उपाधिबलेन. तथैकःसर्वत्रावस्थितोऽपि परमात्माजलाधारेष्वंशुमानिव प्रतिभाति नतु स्थान दोषप्रयुक्तदोषवान् भवति । इत्येवं क्रमेणोपमा दीयते । एवम् "एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् । यथा वा एकएव चन्द्रोदुष्टचक्षुषा अनेकवत् प्रतिभासमानोपि नानेको भवति तथैवात्मापीतिवृत्त्यभिप्रायः ॥ १८ ॥

विवरणम्—"अंबुवदग्रहणात्तु" इत्यत्र विद्यमानस्तुशब्दः प्रश्नमर्थमुपस्थापयति. तथा अंबुवदित्यत्र. अम्बुनि इति सप्तम्यन्तांबुपदात्. वतिः प्रत्ययो विद्यते, ततश्च यथाजलादौ यथार्थरूपेणाविद्यमान एव सूर्यः भ्रमरूपेण जलेऽवस्थित इव प्रतिभासितो भवति शुक्तौ उपमा दी गयी है । जैसे एक ही आकाश घटादिक पदार्थों में पृथक् की तरह भासित होता है । वैसे ही परमात्मा स्थानकृत भेद से भिन्न–भिन्न के समान भासित होते हैं । अथवा जलरूप आधार में सूर्य अनेक तरह से भासित होते हैं ॥१८॥

सारबोधिनी—सूत्र में स्थित जोतु शब्द है वह पूर्व पक्ष का द्योतक है । पूर्वपक्ष के स्वरूप का कथन करते हैं जिस तरह यथार्थ रूप से जल में सूर्य विद्यमान नहीं है किन्तु शुक्तिका में रजत के समान भ्रम पूर्वक जल में भासित होता है । पर इस प्रकार पृथिव्यादिक में परमात्मा तो अविद्यमान नहीं है । परमात्मा तो "य पृथिव्यां तिष्ठन्" यश्चक्षुषि तिष्ठत्" इत्यादि

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवं दर्शनाच्च ।३।२।२०।

चोद्यं परिहरति । सलिलावलम्बितभानोर्न तद्गतवृद्धिह्रासभाक्त्वं वास्तविकम् नवा जलीयशैत्यादिधर्मसम्बन्धः । एवं परमात्मनः पृथिव्याद्यन्तरवस्थितस्यापि न तदीयधर्मैः सम्बन्ध इत्येतावतैव दृष्टान्तदार्ष्टान्तयोः सामञ्जस्यान्नोभयलिङ्गत्वे किञ्चिद्बाधकम् ॥२०॥

रजतवदिति । परमेश्वरः पृथिव्यादौ न भ्रान्त्याऽवभासते. किन्तु "यः पृथिव्यां तिष्ठन् यश्चक्षुषि तिष्ठन्" इत्याद्यन्तर्यामिश्रुतिभिर्यथार्थतोऽवस्थित एव तथावभासते. इति कथं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः समत्वमुच्यते. इत्येवं पूर्वपक्षो भवति ॥ १९ ॥

विवरणम्—चोद्यं पूर्वपक्षस्य समाधानं करोति वृद्धिह्रासादीत्यादि । प्रतिबिंबरूपेण जलान्तर्गतस्य सूर्यस्य जलगतवृद्धिह्रासभाक्त्वं न भवति. नवा जलीयशैत्यादिधर्मेण सूर्यस्य सम्बन्धो भवति । तथा परमात्मनोऽन्तर्यामितया सर्वत्र लघुदीर्घादिस्थानेष्ववस्थितस्यापि न तदीयधर्मादिना सम्बन्धो जायते । एतदंशेनैव प्रकृते उभयोः समानतामादाय

श्रुतियों से यथार्थतः अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र विद्यमान ही है । तब दृष्टान्त जल सूर्यके तथा दार्ष्टान्तिक परमात्मा में समानता नहीं है । तब जल सूर्य के तरह यह दृष्टान्त किस तरह से युक्त कहते हैं । ऐसा पूर्व पक्ष होता है ॥ १९ ॥

सारबोधिनी—पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं "वृद्धिह्रासेत्यादि" जिस तरह जलादिक में प्रतिबिम्बित सूर्यचन्द्र को जलगतवृद्धिह्रास वास्तविक नहीं है । नवा जल का धर्म जो शैत्यादिक उन धर्मों के साथ सूर्य का कोई सम्बन्ध होता है । इसी तरह पृथिवी चक्षुरादिक उच्चनीचस्थानों में सर्वान्तर्यामि तया सर्वत्र अवस्थित भी परमात्मा में पृथिव्यादि धर्मों से सम्बन्ध नहीं होता है । एतावन्मात्र हो प्रकृत में दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक में समानता है ।

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः।३।२।२१

ननु "नेति नेती" त्यखिलप्रपञ्चस्य निषेधेन निर्विशेषं ब्रह्मा-वतिष्ठत इति नोभयलिङ्गता सम्भवतीत्याह-प्रकृतैतावत्त्वमिति-"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च" [बृ० २।३।१।] इत्यादिना सादरं यद् ब्रह्मरूपमुक्तं तस्यैव नेति नेतीत्यादिना निषेधे श्रुतेर्विसंवादितापत्तिरनिवार्या स्यादतो नेति नेतीतिवाक्यं प्रकृतैतावत्त्वं ब्रह्मणः प्रतिषेधति-यत्पूर्वं प्रकृतं तद्ब्रह्मैतावन्मात्रं नेति "नेति नेति" इत्यनेनेयत्ता निषिध्यते। ततो ब्रवीति च भूयः। यतस्ततः पूर्वोक्तादभूयो

दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावः कथितः। सर्वथासमत्वे दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक भाव एव न स्यात् कुत्रापि. सर्वधर्मसमताया असंभवात्। तस्मात् परब्रह्मण उभयलिङ्गत्वे न किञ्चिद्बाधकमितिदिक् ॥२०॥

विवरणम्-अथ 'नेतिनेतीत्यादि' श्रुत्यापरमात्मनि निष्प्रपञ्चतायाः प्रतिपादनात् निर्विशेषमेव. तत्कथमुच्यते उभयलिङ्गकमित्याशङ्कां समाधातुमुपक्रमते 'ननुनेतिनेतीत्यादिना ननु नेतिनेतीत्यादिना परमात्मनि निखिलप्रपञ्चस्य निराकरणेन निर्विशेषमेव ब्रह्मस्यात् तत्कथमुच्यते उभयलिङ्गकं ब्रह्मेत्याशङ्कानिराकरणायाहसूत्रकारः 'प्रकृतैतावत्वमिति' सर्वथा साम्य में ही यदि दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक भाव मानें तब तो सर्वथा समानता का असंभवित होने से किसी भी स्थल में दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक भाव नहीं होगा। इसलिए परमात्मा को स्वाभाविक उभयलिङ्गक होने में कोई बाधक नहीं है ॥ २० ॥

सारबोधिनी-"नेति नेति" इत्यादि श्रुति से अखिल प्रपञ्च का निराकरण करने से निर्विशेष मात्र ही अवशिष्ट रह जाता है तब ब्रह्म में उभयलिङ्गत्व किस तरह से आप कहते हैं? इस शङ्का का समाधान करने के लिए सूत्रकार कहते हैं "प्रकृतैतावत्त्वमित्यादि" द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे" इत्यादि श्रुति से जो कि मूर्तामूर्तविशिष्ट ब्रह्म का रूप द्वय कहा गया है। उसी

गुणजातं ब्रवीति "नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति" [बृ० २।३।६] परब्रह्मणः श्रीरामात्स्वरूपतोगुणतश्चोत्कृष्टमन्यन्नास्तीत्यर्थः। 'सत्यस्य सत्यम्' इति च तस्य नामधेयम्। प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम्" इति च तन्निरूक्तिः। प्राणशब्देन तद्विशिष्टजीवात्मानो गृह्यन्ते। तेभ्योऽप्यस्य परमात्मनोऽकर्मवश्यत्वेन सत्यत्वात्। जीवस्य तु न तथेत्युच्यते। तस्मादुभयलिङ्गमेव ब्रह्म ॥२१॥

अयमर्थः 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपम्' इत्यादिश्रुत्या यद्ब्रह्मणो रूपद्वयं कथितं तस्यैवनिराकरणं करोति नेतिनेतीति श्रुतिः। यदुक्तं रूपद्वयवत्वं तावन्मात्रं न ब्रह्मेति, इयत्ताया एव निराकरणम्। यतस्ततो ब्रवीति च भूयः अर्थात् ब्रह्मणोऽपेक्षयाऽन्यत् उत्कृष्टो किमपि-नास्तीत्यर्थः। नतु निर्विशेषं ब्रह्मेति यतः पुनरेव सत्यस्य सत्यमित्यादिना विलक्षणरूपवत्वं दर्शयति। तत्र सत्यस्येतिनामधेयं तस्य। तथा प्राणावा सत्यमितिनिरुक्तिः परब्रह्मणः। तत्र प्राणवतो जीवस्य रूप द्वय का "नेति नेति" इत्यादि से यदि निराकरण करें तब तो श्रुति में विसंवादित्व रूप दोष होगा। अतः "नेतिनेति" से प्रकृत जो ब्रह्म का एतावत्व है उसका निराकरण होता है। अर्थात् पूर्व में जो प्रकृत ब्रह्म है वह एतावन्मात्र नहीं हैं। इसलिए "नेतिनेति" इस वाक्य से ब्रह्म की इयत्तामात्र का निषेध होता है। उसके बाद पुनः ब्रह्मधर्म का कथन किया गया है। अर्थात् पूर्वोक्त गुण से अतिरिक्त भी गुण समुदाय का कथन किया गया है "नह्येतस्मादित्यादि" परब्रह्म श्रीरामजी से स्वरूपतः अथवा गुण से उत्कृष्ट अन्य कोई नहीं है। यह अर्थ उक्त श्रुति का है। "सत्यस्य सत्यम्" यह उसका नामधेय है। और "प्राणावैसत्यम् तेषामेवसत्यम्" यह उसका निर्वचन हैं। यहाँ प्राण शब्द से प्राणविशिष्ट जीव का ग्रहण होता है। तादृश जीव से भी इस परमात्मा की सत्यता है। क्योंकि परमात्मा कर्माधीन न होने से सर्वापेक्षया अति श्रेष्ठ हैं। जीव

तदव्यक्तमाह हि ।३।२।२२।

ननु "नेति नेती" त्यनूद्यमानं सविशेषं निषिध्य सन्मात्रं निर्विशेषमेव ब्रह्म प्रत्यक्षेण गृह्यते इत्याशङ्काम्परिहरति । तद् ब्रह्माव्यक्तमेव न प्रमाणान्तरगम्यमिति हि शास्त्रमाह–"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा" [मु० ३।१।८।] इति ॥ २२ ॥

ग्रहणं तादृशमोक्षापेक्षयापि ब्रह्मण उत्कृष्टत्वं प्रतिपादयति अकर्मवश्यत्वेन सर्वापेक्षया परं ब्रह्मण उत्कृष्टत्वात् । जीवस्तु न सर्वोत्कृष्टः कर्मपराधीनत्वात् । तस्मात् परं ब्रह्मोभयलिङ्गकमेवेतिसिद्धान्तः ॥२१॥

विवरणम्–परं ब्रह्म प्रत्यक्षविषयो भवति नवेति संशय्य भवतीति पूर्वपक्षनिराकरणायोपक्रमते "ननु नेतीत्यादि" नेतिनेतीत्यादिनाऽनुद्यमानं सविशेषं निराकृत्य सन्मात्रस्वरूपं निर्विशेषं ब्रह्म सन् घट इत्यादि प्रत्यक्षेण गृहीतं भवतीत्याकारकशङ्कां परिहाराय प्राह सूत्रकारः "तदव्यक्तमाह हि" वेदान्तवाक्यप्रतिपाद्यं यद् ब्रह्म तद व्यक्तमेव अर्थात् प्रत्यक्षादिप्रमाणेन विदितं न भवति. तत् शास्त्र-

में तो ऐसा नहीं जीव तो कर्म के अधीन हैं । इसलिए पर ब्रह्म को उभयलिङ्गक होने में कोई बाधक नहीं है अतः उभयलिङ्गक ब्रह्म हैं यह सिद्ध होता है । ननु निर्विशेष ब्रह्म ॥२१॥

सारबोधिनी–"नेति नेति" इत्यादि वाक्य से अनुद्यमान जो सविशेष ब्रह्म उसका निषेध करके निर्विशेष सत्ता मात्र स्वरूप ब्रह्म केवल प्रत्यक्षादि प्रमाण से गृहीत होता है यह जो पूर्वपक्ष है उसका निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते है "तदव्यक्तमाह हि" मुक्त पुरुष से प्राप्त होने के योग्य जो ब्रह्म वह अव्यक्त है अर्थात् प्रमाणान्तर से गृहीत नहीं होते हैं। इस बात का शास्त्र स्वयमेव कथन करता है "वह ब्रह्म चक्षुरिन्द्रिय द्वारा गृहीत नहीं होता है अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय ज्ञान का विषय नहीं होता

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।३।२।२३।

प्रमाणान्तरागोचरस्यापि ब्रह्मणो निरतिशयप्रेम्णा समाराधने सति साक्षात्कारो भवत्येव । एतच्च "ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तम्पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" [मु॰ ३।१।८।] "दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" [का॰ १।३।१२।] "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" [मु॰ ३।२।३।] "भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप" [गी॰ ११] इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यामवगम्यते ॥ २३ ॥

मेवावेदयति "न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा" "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादिकमिति ॥ २२ ॥

विवरणम् ननु यदि परमात्मा नभवेत्प्रमाणान्तरस्य विषयस्तदा परमेश्वरस्य साक्षात्कारो न भवेत्कस्यापीति परमेश्वरसाक्षात्कार जनितमोक्षकथा सर्वथैवास्तमियादित्याशंकासमाधातुं प्रक्रमते "प्रमाणान्तरागोचरस्यापीत्यादि" सत्यं परमात्मा प्रमाणान्तरागोचरस्तथापि संराधने प्रेमपूर्वकतदेकचिन्तने तस्य साक्षात्कारो जायते एव । कुत एतज्ज्ञायते ? तत्राह प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । तत्र प्रत्यक्षं श्रुतिः प्रत्यक्षवत्स्वार्थावबोधने प्रमाणान्तरानपेक्षत्वात् । अनुमानं स्मृतिः स्वार्थावबोधनेस्वेतरश्रुत्यपेक्षत्वात् ततश्च प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुति

है तथा वाणी के द्वारा भी प्रकाशित नहीं होता है क्योंकि वाणी का विषय नहीं है ।।२२।।

सारबोधिनी—यदि भगवान् का साक्षात्कार किसी को नहीं होता है तब तो भगवत्साक्षात्कार जनित मोक्ष भी किसी को नहीं होगा । इस स्थिती में मोक्ष प्रतिपादक शास्त्रों का वैयर्थ्य हो जाना स्वाभाविक है इस शङ्का का समाधान करने के लिए उपक्रम करते हैं "प्रमाणान्तरागोचरस्यापीत्यादि" यद्यपि भगवान् श्रीसीतानाथ प्रमाणान्तर का विषय नहीं होते हैं तथापि

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ।३।२।२४

समुपासनात्मके कर्मण्यभ्यासात्प्रकाशो दर्शनं यथाभूत्तथा प्रकाशादिवन्मूर्तामूर्तादिविशिष्टत्वमप्यविशेषेण प्रतीयते । "अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति" [बृ० १।४ १०।] इति श्रुतेरतो न मूर्तादिप्रपञ्चनिषेधः किन्तु प्रकृतैतावत्त्वस्यैव ॥ २४ ॥

स्मृतिभ्यामयमर्थो निश्चायते एवेति । तत्र श्रुतयः "तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्" क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इत्यादिकाः । स्मृतयः "भक्त्यात्वनन्यया शक्यमहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन" इत्यादिकाः । अयंभावः सचायं परमेश्वरसाक्षात्कारः श्रवणमननसहकृतेन्द्रियेण जायते इत्येकः पक्षः । शब्दादेव साक्षात्कारो भवतीति द्वितीयः पक्षः । संराधने प्रेमपूर्वकतदेकचिन्तने कृते सति भगवत्साक्षात्कारो जायते इति साम्प्रदायिको विषय इति संक्षेपः ॥ २३ ॥

संराधन में अर्थात् प्रेमपूर्वक आराधन करने पर उनका साक्षात्कार भक्तों को होता है । "एकनिष्ठ ज्ञान केवल से विशुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष ध्यान करता हुआ भगवान् का साक्षात्कार करता है" "सूक्ष्म तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा सूक्ष्मदर्शी लोग भगवान् को देखते हैं' जिसके उपर भगवान् की कृपा होती है वही व्यक्ति भगवान् का साक्षात्कार करता है। "हे अर्जुन, अनन्य भक्ति के द्वारा भक्त भगवान् को प्राप्त करता है । इत्यादि प्रत्यक्षानुमान अर्थात् श्रुति स्मृति के द्वारा सिद्ध होता है । सूत्र में प्रत्यक्ष तथा अनुमानपद श्रुति स्मृति का बोधक है । स्वार्थावबोधन करने में इतरानपेक्षत्व रूप प्रत्यक्षता श्रुति में है । तथा स्वार्थावबोधन में इतरसापेक्षत्व रूप अनुमानत्व स्मृतिओं में है । तब यह अर्थ होता है कि श्रुति स्मृति के द्वारा प्रेम पूर्वक आराधन करने से भगवान् का सक्षात्कार होता है अन्यथा नहीं ॥२३॥

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ।३।२।२५

अतः प्रोक्तहेतुभिरनन्तेन दिव्यकल्याणगुणगणेन नित्ययोगो ब्रह्मणोऽस्त्येव । तथा हि सत्युभयलिङ्गत्वमपि सिद्धम् ॥ २५ ॥

इति श्री रघुवरीयवृत्तावुभयलिङ्गाधिकरणम् ॥५॥

विवरणम्—वक्ष्यमाण प्रकारेणापिमूर्तामूर्तादिविशिष्टस्य प्रतिषेधो न भवति किन्तु प्रकृतैतावत्त्वस्यैवेति दर्शयितुमुपक्रमते "समुपासनात्मके" इत्यादि समुपासनात्मके कर्मणि भक्तस्याभ्यासात् प्रागल्भ्यात् प्रकाशो भगवतो दर्शनं येन प्रकारेणाभूत् तथा प्रकाशादिवदेव मूर्तामूर्तवैशिष्ट्य-मपि भगवतो ज्ञायते एव । अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति" इत्यादि श्रुत्या सिद्ध्यति. तस्मात् नेतिनेत्यादि श्रुत्यामूर्तादि प्रपञ्चस्यनिषेधो न भवति किन्तु प्रकृतेयत्ताया एव केवलं निषेधो जायते । अर्थात् विशेष-णांशस्य.प्रतिषेधो न तु विशेष्यांशस्येति सर्वमवदातमिति दिक् ॥२४॥

विवरणम्—अधिकरणप्रतिपादितार्थमुपसंहरन्नाह "अतः प्रोक्त"

सारबोधिनी—कर्म में अर्थात् उपासना रूप कर्म में अभ्यास करने से भगवान के स्वरूप का साक्षात्कार जिस तरह से होता है उसी तरह मूर्त अमूर्तादि गुण विशिष्टत्व भी अविशेष रूप से भगवान् में प्रतीत होता है। अर्थात् श्रुति में कहा गया है कि ब्रह्म साक्षात्कारवान् वामदेवादिक को परमात्म दर्शन होने पर प्रकाशादि के समान ज्ञान आनन्दादि विशिष्ट का साक्षात्कार हुआ, तब यह सिद्ध हुआ कि आनन्दादिक ब्रह्म का गुण है। उसी तरह मूर्तादि गुणविशिष्टत्व भी ब्रह्म का गुण है ऐसा जाना जाता है। "मैं मनु हुआ, मैं सूर्यरूप हो गया हूँ।" इसलिए "नेतिनेति" इत्यादि श्रुति से मूर्तादि प्रपञ्च का निषेध नहीं किया जाता है। किन्तु प्रकृत जो इयत्ता-तावन्मात्र का निषेध होता है। अर्थात् ब्रह्म इयत्ता विशिष्ट नहीं है। और वामदेवादिक को ज्ञान आनन्दादिक गुण संराधान कर्म के अभ्यास से ही उपलब्ध हुआ है ॥२४॥

अहिकुण्डलाधिकरणम् ॥६॥

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ।३।२।२६।

एवं चिदचिदात्मकमूर्तामूर्तप्रपञ्चस्य ब्रह्मपरत्वे केन प्रकारेण तस्य ब्रह्मरूपतेति विचार्यते । तत्र "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" [श्वे० ४।९।] इति भेदव्यपदेशात् "तत्त्वमसि" इति चाभेदव्यपदेशात्संशयः किं ब्रह्मणोऽचिद्रूपेण परिणामोऽथवा प्रभाप्रभावदेकजातियोगेनोतजीववद्ब्रह्मशरीरतया तद्विशेषणत्वेनेति । तत्र

इत्यादि । अतः पूर्वकथितहेतुभिः अनन्तेन सत्यकामसत्यकामादि विविधकल्याणगुणेन ब्रह्मणो नित्ययोगः संभवत्येव । अर्थात् सर्वदा हि भगवान् संख्यातीतकल्याणगुणैः सम्पृक्त एव भवतीति । तथा च सर्वदोषरहितत्वकल्याणगुणाकरत्वलक्षणोभयलिङ्गकत्वं ब्रह्मेति सिद्धं भवतीति परमार्थः ॥ २५ ॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्री रघुवरीयवृत्तावुभयलिङ्गाधिकरणम् ॥५॥

सारबोधिनी—अतः पूर्वोक्त हेतुओं से सिद्ध होता है कि अनन्तदिव्य कल्याण गुणगण से परब्रह्म का नित्य योग है। अर्थात् भगवान् में सर्वदा कल्याण गुण रहता है, जब कल्याण गुणवत्ता है तब ब्रह्म को उभयलिङ्गक होने में कोई क्षति नहीं है सर्व प्रकारक दोष रहितत्व तथा अनन्त कल्याण गुणक ब्रह्म हैं ॥२५॥

सारबोधिनी—पूर्व कथित प्रकार से चिदचिदात्मक अर्थात् जड़ चेतन लक्षण सकल मूर्तामूर्त लक्षण प्रपञ्च को ब्रह्मरूपत्व का प्रतिपादन किया गया है । तो किस प्रकार से जड़ चेतन पदार्थ ब्रह्मरूप है इस बात का विचार करते हैं । "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" [माया का आश्रयभूत परमात्मा जड़ चेतनात्मक सकल प्रपञ्च को बनाते हैं ।] इत्यादि स्थल में जन्यजनक भाव का प्रदर्शन होने से भेद का प्रतिपादन होता है । तथा "तत्त्वमसि"

श्रुतिषु भेदाभेदव्यपदेशादहेः कुण्डलभाववद्ब्रह्मैवाचिद्रूपेण परिणमत इति प्रथम पक्षः ।। २६ ।।

विवरणम्- ननु "द्वे वाव ब्रह्मणोरूपेमूर्तञ्चामूर्तञ्च" अनया खलु- मूर्तामूर्तपदार्थस्य ब्रह्मपरत्वं प्रदर्शितम्. तत्र कथं तयोर्ब्रह्मरूपत्वं कथंवा जडचेतनयोर्विशेषणत्वमिति ब्रह्मणो जड़चेतनस्वरूपविषये विचारणायोपक्रमते "एवं चिदचिदात्मकेत्यादि" एवं=पूर्वोक्तप्रकारेण जड़-चेतनलक्षणमूर्तामूर्तप्रपञ्चसमुदायस्य परमात्मरूपत्वे केन रूपेण तस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्म रूपत्वमिति विचारयितुं यतते । तत्र "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्योमायया संनिरुद्ध" इत्यादौज- न्यजनकयोर्भेदव्यपदेशस्य दर्शनात् तथा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" तत्व मसीत्यादौ. तयोरभेदप्रतिपादनात्संशयोजायते. यत् किं ब्रह्मवाचिद्रू-पेण परिणमते. अथवा- प्रकाशप्रकाशाश्रययोरेकजातीयतया किं वा यथा जीवोब्रह्मशरीरं तद्वत् विशेषणत्वम् । तत्र श्रुत्यादौ भेदाभेदयोरुभययोः प्रतिपादनात् सर्पस्य कुण्डलभाववत् ब्रह्मण एवाचिद्रूपेण परिणामो भव- तीति प्रथमः पूर्वपक्ष इति ॥ २६ ॥

इत्यादि शास्त्र से अभेद का कथन किया है । इससे अभेद व्यपदेश होने से संशय होता है कि क्या ब्रह्म का ही अचित् अर्थात् जड़ रूप से परिणाम होता है । अथवा प्रकाशतया प्रकाशाश्रय सूर्य का जिस तरह एक जातीयक होने से अथवा जीव जिस तरह ब्रह्म का शरीर है उसी तरह ब्रह्म का विशेषण रूप से ब्रह्मरूपत्व है । तो इसमें श्रुति में कहीं भेद बतलाया है । तथा तत्वमसीत्यादि स्थल में अभेद कहा गया है । तो भेदाभेदः उभय का प्रतिपादन होने से सर्प का जिस तरह कुण्डलभाव होता है उसी तरह ब्रह्म ही अचित् आकाशादि जड़ रूप से परिणमित होता है ऐसा प्रथम पक्ष होता है ॥ २६ ॥

प्रकाशाश्रयवद्वातेजस्त्वात् ।३।२।२७

वेति पक्षव्यावृत्ती—यथा तेजस्त्वरूपेण जातियोगात्प्रकाशतदाश्रययोरभेदो भेदश्चेत्युभयं व्यपदिश्यते । एवमचिद्ब्रह्मणोरप्युभयव्यपदेशः ॥ २७ ॥

पूर्ववद्वा ।३।२।२८।

वेत्युभयपक्षपरिवृत्तौ—यथा पूर्वत्र "अंशो नानाव्यपेशात्"। [ब्र० सू०] "प्रकाशादिवत्तु नैवं परः" [ब्र० सू०] इत्युभयव्यपदेशसिद्धये निर्दोषत्वाय च पृथक्सिद्धविशेषणतयात्मनोंशत्वमुक्तम् । तथैवाचिद्वस्तुनोऽपि पृथक्सिद्ध्यनर्हविशेषणतया शरीरादिवद्भेदाभेदव्यपदेशः सम्यगुपपद्यते ॥ २८ ॥

विवरणम् —अस्मिन् सूत्रे यो वा शब्दः स प्रथमपक्षस्य निवर्तकः अर्थान्न जड़परमात्मनोरभेदः । यतः परमात्मनो यदि जड़रूपेण परिणामः स्यात्तदाजड़वद् ब्रह्मणोऽपि विकारित्वं प्रसज्येत, ततश्च परमात्मनो निर्दोषत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधः स्यात् । अतो यथा सूर्यस्य प्रकाशस्तथा तादृशप्रकाशात्मकगुणस्याश्रयः सूर्यस्तयो प्रकाश प्रकाशवतोः तेजस्त्वरूपेणैकजातीयत्वादभेदः स्वरूपतश्चोभयोर्भेदः तथैवाचित प्रपञ्चस्यापि परमात्मरूपत्वमिति ॥ २७ ॥

विवरणम्—अत्रसूत्रघटकोवाशब्दः पूर्वप्रदर्शितपक्षद्वयस्यनिराकरणपरकः । पूर्वमुभयभेदाभेदोपदेशसिद्ध्यर्थम् , अंशोनानाव्यपदेशादित्यत्र तथा प्रकाशादिवत्तुनैवपरः' इत्यादौ च भेदाभेदोदर्शितः ।

सारबोधिनी—इस सूत्र में जो वा शब्द हैं वह प्रथम पक्ष का निराकरण परक है । जिस तरह तेजस्त्व रूप एक जातीयक होने से प्रकाश तथा प्रकाश का आश्रय जो सूर्यादिक, इन दोनों में अंशतः भेद भी है तथा अभेद भी होता है । उसी तरह जड़ प्रपञ्च तथा परमात्मा में भी भेदाभेद का व्यवहार होता हैं ॥ २७ ॥

प्रतिषेधाच्च ।३।२।२९।

"नास्य जरयैतज्जीर्यति' [छा० ८।१।५।] इत्यादिभिरचिद्धर्माणां प्रतिषेधान्न निर्दोषत्वहानिः । तथाचांशांशित्वेऽचिद्वस्तुनो न कोऽपि दोषः ॥ २९ ॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावहिकुण्डलाधिकरणम् ॥६॥

यथाजीवोह्यपृथक् सिद्धविशेषणतया परमात्मनोंऽशस्तैवजड़प्रपञ्चोप्यपृथक् सिद्धविशेषणतया परमात्मनोंऽश एव । यद्यपि जड़ांशस्यविकारित्वात्परमात्मनोऽपि विकारित्वं प्राप्तं भवति. तथापि तत्र विशेषणांशस्यविकारित्वेऽपि विशिष्टघटकविशेष्यांशस्याविकारित्वान्नकोऽपि दोषः "रामस्य परिणामोहि चिदचिद्द्वारको जगत्" (श्रौतप्रमेयचन्द्रिका ४४) तथा "ब्रह्मणः परिणामोहि प्रकारद्वारको जगत् । विकारित्वं ततो द्वारे प्रकृतिपुरुषद्वये । स्वरूपे च स्वभावे च विकारः प्रकृतेः खलु । स्वभाव एव जीवस्य विकारः स्वीकृतो बुधैः ॥ ब्रह्मणस्तु विकारो यन्न स्वरूपस्वभावयोः" (परिणामविमर्शः १०–११–१२) इत्याचार्योक्तेः । तस्माज्जीववज्जड़प्रपञ्चोऽपि भगवदंश इति उभयो स्वरूपस्यभेदाद्भेदव्यवहारो भवति. तथा विशिष्टस्यैकत्वादभेदव्यवहारोऽपि भवतीति सर्वमवदातम् ॥ २८ ॥

सारबोधिनी –इस सूत्र में जो 'वा' शब्द है वह पूर्व प्रदर्शितपक्षद्वय का व्यावर्तक है । जैसे पहले "अंशोनानाव्यपदेशात्" इस सूत्र में तथा 'प्रकाशादिवत्तुनैवंपरः' इस सूत्र में उभय व्यपदेश के सिद्धि के लिए तथा परमात्मा में निर्दोषता के सिद्धि के लिए जीवको अपृथक् सिद्ध विशेषणता रूप से परमात्मा का अंश कह करके उभय व्यपदेश का समर्थन किया गया है । उसी अपृथक् सिद्ध विशेषणतया जड़ प्रपञ्च भी परमात्मा का विशेषण अंश है । अतएव उभय व्यपदेश का समर्थन किया जाता है ॥२८॥

❀ प ाधिकरणम् ।।७।। ❀

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ।३।२।३०।

एवमुभयलिङ्गत्वविशिष्टं जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणं ब्रह्मैवेत्यवधारितम् अथेदानीं तत्परत्वे विचार्यते । तत्रास्मादपि किञ्चित्तत्त्वं परमस्ति न वेति संशयः । तत्रास्मादपि परं तत्वमस्ति "अथ य आत्मा स सेतुः" [छा० ८।४।१।] "एतं सेतुं तीर्त्वा" [छा० ८।४।२।] "चतुष्पाद्ब्रह्म" [छा० ३।१८।२।] "अमृतस्यैष सेतुः"

विवरणम्–ननु जड़ादिप्रपञ्चस्यापि परमात्मविशेषणत्वे तद्गतधर्मस्य ब्रह्मणि संक्रमणेन परमात्मनो विकारित्वप्रसङ्ग इति शङ्कां समाधातुमुपक्रमते "नास्यजरयेत्यादि" अस्यशरीरादेः सम्बन्धि जरयावार्द्धक्येनायंपरमात्माजीर्णो न भवति तथा "सवा एषमहानजः" इत्यादि श्रुतिभिः प्रपञ्चगतधर्माणां परमात्मनि निराकरणात्. परमात्मनि निर्दोषतायाहानिर्न भवति । विशेषणांशस्यविकारित्वेऽपि विशेष्यांशस्यविकारित्वाभावात । अतो जड़ादिप्रपञ्चस्यांशाशित्वे न कोऽपि दोषः संभवतीति । एतत्तत्वं अंशोनानाव्यपदेशादित्यत्र प्रपञ्चितमतस्तत एव सम्यज्ज्ञेयमितिदिक् ।। २९ ।।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे अहिकुण्डलाधिकरणम् ।।६।।

सारबोधिनी–अचित्पदार्थ को परमात्मा का विशेषण मानें तब तो परमात्मा में विकारित्व दोष की आपत्ति होगी ? इस शङ्का का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं । 'नास्य जरयेत्यादि' इस शरीरादि सम्बन्धी जरा से ये परमात्मा बद्ध नहीं होते हैं । इत्यादि शास्त्रों से अचित् धर्मों का परमात्मा में प्रतिषेध होने से परमात्मा में विकारित्व दोष की आपत्ति नहीं होती है । अतः जड़ पदार्थ के साथ परमात्मा को अंशाशीभाव मानने पर कोई भी दोष नहीं होता है ।।२९।।

मु० २।२।५।] "परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" [मु० ३।३।८।] "ततो यदुत्तरतरम्" इत्यादि श्रुतिभिः सेतुत्व, तरितव्यत्व, परिमितत्व, प्रापकत्व, भेदव्यपदेशेभ्य एतस्मादन्यत्परमस्तीत्यवगम्यत इति पूर्वः पक्षः ॥ ३० ॥

विवरणम्–एतावता प्रबन्धेनोभयलिङ्कं ब्रह्मजगतोऽभिन्नमित्तकारणं भवतीति विचारितम् । तत एतस्मादप्यन्यत् किमपि तत्त्वान्तरमस्तिनवेति विचारयितुं पूर्वपक्षमुपस्थापयितुमुपक्रमते "एवमुभयलिङ्गत्वविशिष्टमित्यादि" एवं पूर्वोक्त प्रकारेण निर्दोषत्वानेककल्याणगुणाधिकरणत्वलक्षणत्वविशिष्टं परं ब्रह्मैव निखिलस्य जङ्गजङ्गमात्मकस्य जगतोऽभिन्ननिमित्तकारणमितिनिर्णीतम् । अथानन्तरं तद्विषये एव किञ्चिदन्यदपि विचार्यते । तत्रैतस्मादन्यत् किमप्युत्कृष्टं तत्वान्तरमस्तिनवेति संशयः । उभयलिङ्गकात्परमात्मनोऽप्य-

सारबोधिनी–एवं पूर्वोक्त प्रकार से निर्दोषत्व कल्याण गुणाकरत्व लक्षण उभय लिङ्गत्व विशिष्ट परं ब्रह्म जड़चेतन सूक्ष्म स्थूल साधारण प्रपञ्च का अभिन्न निमित्तोपादन कारण है इस बात का निश्चय किया गया है। अब इसके बाद तादृश ब्रह्म से परतत्व का विचार किया जाता है। उस विचारणीय विषय में शंसय होता है कि सकल जगत का जो अभिन्न निमित्तोपादान ब्रह्म है उससे भिन्न तथा उससे विशिष्ट कोई अन्य तत्वान्तर है अथवा नहीं। उसमें पूर्वपक्ष के रूप में सूत्र हैं 'परमत' इत्यादि। उभयलिङ्ग ब्रह्म से भी अन्य विशिष्ट कोई तत्वान्तर है। क्योंकि सेत्वादि व्यपदेश होता है। तथाहि "अथ य आत्मा सेतुः' इस श्रुति से सेतुरूप से प्रतिपादित आत्मा में "एवं सेतुं तीर्त्वा' इस श्रुति से तरितव्यत्व का प्रतिपादन किया गया हैं इससे यह सिद्ध होता है कि पार करके जिसको प्राप्त करेगा वह इससे भिन्न हैं। "चतुष्पाद ब्रह्म' चार पैर वाला ब्रह्म हैं। इसमें उन्मान तथा परिमितत्व का कथन है। इससे यह सिद्ध होता है कि इससे पर कोई अपरिमित

सामान्यात्तु ।३।२।३१।

अत्राभिधीयते सिद्धान्तः । तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः । एषां लोकानामसम्भेदाय [छा० ८।४।१।] इति तस्मिन्नेव वाक्येऽखिल-जगन्मर्यादाव्यवस्थापकत्वेन परब्रह्मणः प्रसिद्धसेतुवद्व्यपदेशः न तरितव्यत्वेन । तरतिरत्र प्राप्तिवचनः ॥ ३१ ॥

न्यत्किञ्चितत्वान्तरमस्ति. कुतः ? । "सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः" तथाहि "अथ य आत्मा स सेतुः" "एतं सेतुं तीर्त्वा" "चतुष्पाद् ब्रह्म" अमृतस्य सेतुः" इत्यादि श्रुतयः सेतुत्वसंतरितव्यत्व परिमितत्वभेदव्यपदेशं प्रतिपादयन्ति एभिकारणैर्ज्ञायते यत्: एतस्मादुभयलिङ्गकाद्ब्रह्मणोकिमप्यन्यत् तत्वान्तरमस्त्येवेति पूर्वपक्षाशय इति पूर्वपक्ष सूत्रम् ॥ ३० ॥

विवरणम्—पूर्वकथितशङ्कायाः प्रतिवचने सिद्धान्तं प्रतिपादयति अत्रेत्यादि । सूत्रे यस्तु शब्दः स पूर्वपक्षनिवृत्तिपरकः । "ससेतुंतीर्त्वा" इति मंत्रस्य पूर्वभागे "एषां लोकानामसंभेदाय" इति वाक्ये समस्तजगतो मर्यादाव्यवस्थापकतयाः प्रसिद्धसेतुवद्ब्रह्मणः कथनमस्ति

तत्व है जिसको प्राप्त करेगा यह प्रतीत होता है । "अमृतस्यैष सेतुः' इससे अमृत का प्रापक सेतु शब्द प्रतिपाद्य से अन्य कोई प्राप्य है । ऐसा प्राप्य प्रापक सम्बन्ध से जाना जाता है । और "परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इस प्रकार से भेद व्यपदेश भी है । इससे सिद्ध होता है कि परब्रह्म से भिन्न कोई तत्वान्तर अवश्य है, ऐसा पूर्वपक्ष का अभिप्राय है ॥३०॥

सारबोधिनी—इस पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं । अत्रेत्यादि सूत्र में जो तु शब्द है वह पूर्वपक्ष का निराकरण परक है । "एषां लोकानामसंभेदाय" इस प्रकार से "सेतुं तीर्त्वा" इस वाक्य में सम्पूर्ण जंगम जगत् को जो मर्यादा उसके व्यवस्थापक के रूप से परब्रह्म

बुद्ध्यर्थः पादवत् ।३।२।३२।

"चतुष्पाद्ब्रह्म" इत्युन्मानव्यपदेश उपासनार्थः । वाक्पादः चक्षुः पाद इतिवत् ॥ ३२ ॥

नतु तदितरत्र प्राप्त्यर्थे सेतुशब्दः । नतु तरितव्यत्वेन तत्प्रयोगः प्राप्तावपि तृधातोः प्रयोगदर्शनात् । यथा व्याकरणशास्त्रं तीर्त्वापदं जानातीत्यत्र । तस्मान्मर्यादाव्यवस्थापकमेव ब्रह्म, नतु तदितरत्र-प्राप्तिमभिदधाति ॥ ३१ ॥

विवरणम्–"महतो महीयान्" "आकाशवत्सर्वगतश्चनित्यः" इत्यादि स्थले श्रुतस्यापरिमितस्य परमात्मनः सर्वजगन्निदानस्ययोयमुन्मान-व्यपदेशः "चतुष्पाद्ब्रह्म" इत्यत्रसतस्यबुद्ध्यर्थः । अर्थात् उपासनार्थ एव पादवत् । यतः परमात्मप्रतीकस्य श्रोतादेरुपासनायैव पादत्वेन व्यपदेशः शास्त्रे कृतस्तद्वदिहापीति ॥३२॥

में प्रसिद्ध सेतु शब्द का व्यपदेश किया गया है । अर्थात् भगवान् सकल जगत् की मर्यादा का व्यवस्थापक हैं । जैसे लौकिक सेतु जल मर्यादा का व्यवस्थापक होता है । अन्यथा जलधर्म भी तेज प्रभृति में जाता तो तरित-व्यत्वेन तदितर में प्राप्ति बोधक सेतु शब्द नहीं है । क्योंकि ब्रह्म से कोई भी पर नहीं हैं । जैसे व्याकरणं तीर्त्वा इस जगह में प्राप्तव्यर्थक है तृधातु उसी तरह प्रकृत में भी तृधातु प्राप्तव्यर्थक ही है । नतु ब्रह्म व्यतिरिक्त अन्यपदार्थान्तर का बोधक ॥३१॥

सारबोधिनी–"चतुष्पाद् ब्रह्म" इस स्थल में जो उन्मान व्यपदेश है वह परमात्मा की उपासना के लिए है । "चतुः पादः वाक् पादः" इत्या-दिवत् । अपरिच्छिन्न जगत्कारण परमात्मा में जो उन्मान व्यपदेश मानप्रदर्शन वह तादृश परमात्मा के उपासनार्थक है ॥३२॥

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ।३।२।३३।

अपरिच्छिन्नस्यापि परब्रह्मणोऽनुचिन्तनार्थं प्रतिपन्नस्थानैः परिच्छिन्नत्वं सम्भवति, गवाक्षावस्थितप्रकाशादिवत् ॥३३॥

उपपत्तेश्च ।३।२।३४।

"अमृतस्यैष सेतु" रितिप्रापकत्वव्यपदेशोऽप्युपेये ब्रह्मणि "यमेवैष वृणुते स तेन लभ्यः" इत्यादिश्रुतिभिः स्वस्यैव प्रापकत्वेन सुतरां सङ्गच्छते ॥३४॥

विवरणम्—नन्वेवं स्वतोगुणतोऽपरिच्छिन्नसर्वव्यापकस्य परमात्मन उपासनार्थमपि कथमुन्मानादिव्यपदेशः संभवतीतिशङ्कासमाधानमयमुपक्रमः 'अपरिच्छिन्नस्यापीत्यादि' यद्यपि स्वतः सर्वव्यापके ब्रह्मणि-तस्मिन्नुन्मानव्यपदेशो न संभवति तथापि स्थानविशेषात्तत्संभवः । तथाहि, पृथिव्यादि स्थानविशेषसम्बन्धात् ध्यानार्थमुन्मानादिकं संभवति । यथा सर्वतो विस्तृतस्यापि सूर्यादिप्रकाशस्य गवाक्षादिपरिच्छिन्नोपाध्यन्तत्वेन परिच्छिन्नत्वदर्शनवदिहापि तत्संभवादिति ॥३३॥

सारबोधिनी—स्वतस्तथा गुण द्वारा अपरिच्छिन्न जो परमात्मा है उनसे उपासना के लिए भी उन्मानादि व्यपदेश किस तरह से हो सकता है एतादृश शङ्का का समाधान करने के लिए उपक्रम करते हैं "अपरिच्छिन्नस्यापीत्यादि" यद्यपि परमात्मा सर्वथा अपरिच्छिन्न स्वभाववान् है । इसलिए उन्मान व्यपदेश संभवित नहीं हो सकता है । तथापि अनुचिन्तन अर्थात् अनुसंधानकरने के लिए पृथिव्यादि स्थान के द्वारा परमात्मा में परिच्छिन्नत्व भी संभवित है । जैसे सर्वत्रावस्थित प्रकाश घटादिक परिच्छिन्नोपाधि के अन्तर्गत होने से परिच्छिन्नत्व व्यवहार होता है । यथा सर्व व्यापक आकाश है तथापि घटादि परिच्छिन्न उपाधि के बल से घटाकाशादि रूप परिच्छिन्नत्व व्यवहार होता है । इसी तरह परमात्मा में परिच्छिन्न स्थान के बल से परिच्छिन्नत्व व्यवहार संभवित है । विशेष विवरण अन्यत्र देखें ॥३३॥

तथान्यप्रतिषेधात् ।३।२।३५।

"यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्" [श्वे०६।९।] इत्यादिश्रुतिभिरस्मात्परस्यान्यस्य प्रतिषेधान्नान्यदितः परं तत्वम् ॥३५॥

विवरणम्—अमृतत्वस्यैष सेतुः, इत्येवं प्रापकसम्बन्धदर्शनादितः परमप्यस्तीति न वक्तव्यम् यतः प्रापकत्वव्यपदेशस्याप्युपेये परमात्मनि संभवात् । यतः "नायमात्मा प्रवचनेनलभ्यः" इत्यादिना कारणान्तरप्रतिषेधं कृत्वा "यमैवेषवृणुते" इत्यादिना स्वस्यैव प्रापकत्वेनोपपत्तिसंभवादिति ॥३४॥

विवरणम्-"परात्परं पुरुषमुपैतिदिव्यम्" इत्यादिस्थले भेदव्यपदेशादुभयलिङ्गकादपि परः कश्चिदस्तीति प्रथमं कथितं तन्निरासायोपक्रमते "यस्मात्पर" मित्यादिश्रुतिभिः प्राप्यस्यास्मात्परस्यान्यस्य प्रतिषेधात्. इतोऽन्यत्परं तत्वं किमपि नास्ति. नवा एतस्मात्समोऽधिको वा परः कश्चिदस्तीतिभावः ॥३५॥

सारबोधिनी—अमृतत्वस्यैष सेतुः, इत्यादि श्रुति से प्रापक सम्बन्ध का व्यपदेश होने से उभयलिङ्गक ब्रह्म से भी अन्य कोई पर है यह जो पूर्वपक्ष किया था वह ठीक नहीं है । क्योंकि, "नायात्माप्रवचनेन लभ्यः" इत्यादि से उपायान्तर का प्रतिषेध करके "यमैवैष वृणुते तेनलभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुतेतनूस्वाम्" इस प्रकार से प्राप्य लक्षण परमात्मा के स्वप्राप्ति में अनन्योपायत्व का श्रवण होने से स्व में भी उपायत्व तथा उपेयत्व उपपन्न होता है। अर्थात् स्व को ही स्व का प्रापकत्व है यह संगत होता है ॥३४॥

सारबोधिनी—भेद व्यपदेश से सिद्ध होता है कि उभयलिङ्गक ब्रह्म से अतिरिक्त कोई अन्य परतरतत्व है उस शङ्का का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं "यस्मात्परं ना परमित्यादि" [जिस उभयलिङ्गक ब्रह्म से परतत्व कोई अन्य नहीं है । तथा उस ब्रह्म के समान कोई अन्य नहीं है ।] इत्यादि श्रुति से यह सिद्ध होता है कि इस उभयलिङ्गक ब्रह्म से अतिरिक्त

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ।३।२।३६।

"तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" [श्वे० ।३।९।] "नित्यं विभुं सर्वगतम्" [मु० १।१।६।] "विश्वव्यापी राघवो यस्तदानीम्" [रा० पू० ता०] इत्यायामशब्देभ्यः सर्वव्याप्तिवाचिशब्देभ्योऽनेन परमपुरुषेण सर्वस्य व्याप्तत्वमवगम्यते तस्माद् "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" [तै०] "सीतारामौ तन्मयावत्र पूज्यौ जातान्याभ्यां भुवनानि सप्त" (रा० पू० ता०) इत्यादिश्रुतिभिरभिहिताज्जगन्निमित्तोपादानकारणभूतादस्मात्परमपुरुषात्परं किमपि नास्तीति सिद्धम् ॥३६॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ पराधिकरणम् ॥७॥

विवरणम्—ब्रह्मभिन्नस्यान्यस्य "यस्मात् परंनापरमस्तिकिञ्चिदि"त्यादिना प्रतिषेधात् परमात्मनः सर्वगतत्वं सिद्ध्यति तथा सर्वतः परत्वमपि सिद्धमेव भवतीति दर्शयितुमुपक्रमते "तेनेदं पूर्णम्" इत्यादि । तेन पुरुषेण परमात्मना परिदृश्यमानं सकलं जड़चेतनात्मकं जगत्पूर्णं व्याप्तमाकाशेन घटादिवदिति । नित्यं-प्रागभावाप्रतियोगित्वरूपम् । विभुं-विशेषेण देवमनुष्याद्यनेकरूपेण भवतीति व्यापकम् । सर्वगतं सर्वमूर्त-

कोई अन्य तत्वान्तर नहीं है । किन्तु यही परमात्मा सबसे उत्कृष्ट तत्व है। तथा मुमुक्षुओं से प्राप्ति करने के योग्य है । एतादृश ब्रह्म की उपासना करके ही भक्ति प्रपत्ति के द्वारा भक्त साकेतनिवासी होते हैं ॥३५॥

सारबोधिनी—उस परमात्मा परम पुरुष से यह परिदृश्यमान स्थावर जङ्गमात्मक सकल जगत् पूर्ण है अर्थात् सर्वतः अन्तर्बहिः रूप से व्याप्त है। वह परमात्मा परम पुरुष है व्यापक तथा सर्वगत है वे भगवान् श्रीराघव विश्व सकल जगत् को व्याप्त करके अवस्थित हैं । इत्यादिक जो आयाम अर्थात् सर्वव्यापकता प्रतिपादक शब्द राशि हैं इन शब्दों के द्वारा वह परम पुरुष सर्वज्ञ परमात्मा श्रीराम सभी पदार्थों में व्याप्त जाना जाता है। अर्थात् परमात्मा सर्व व्यापक हैं । इसी कारण से "यतोवा" जिस महा

फलाधिकरणम् ॥८॥

फलमत उपपत्तेः ।३।२।३७।

एवं निरङ्कुशैश्वर्यशालिनः परमात्मन एव सर्वपरत्वमभिधाय फलदत्वमपि तस्यैवेति विचिन्त्यते । तत्रेष्टादिकर्मण एवापूर्वद्वारा फलमुपजायत उतानुष्ठितकर्मणः प्रीतात्परमपुरुषादितिसंशये लोके तत्तत्कर्मसम-

---

संयोगित्वम् । "यो विश्वव्यापी राघवः सर्वं चराचरात्मकं विश्वमभिव्याप्य वर्तते" । इत्यादि सर्वव्याप्तिवाचिभ्य आयामशब्दादिभ्यः, अनेन सर्वज्ञपरमपुरुषेण भगवता श्रीरामेण सर्वस्य चराचरात्मकस्य जगतो व्याप्तत्वमिति ज्ञायते । तस्मात् कारणात् "यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति" पूज्याविभौ सीतारामौ याभ्यां सीतारामाभ्यां भूरादिकानि सप्तभुवनानि समुत्पन्नानि भवन्तीति । इत्यादि श्रुतिस्मृतिप्रतिपादितो यो जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूपः परमात्मा श्रीराम एतस्मात्परमात्मनः परमपुरुषादन्यत्परं किमपि तत्वान्तरं नास्तीति सिद्धं भवति । अर्थात् सर्वेभ्यः समुत्कृष्टः सर्वेश्वरः श्रीजानकीजानिरेवेतिदिक् ॥३६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे पराधिकरणम् ॥७॥

पुरुष से ये सकल भूतवर्ग समुत्पन्न होते हैं तथा उत्पन्न होकर के उसी में अवस्थित है । तथा प्रलय के समय में उसी परमात्मा परम पुरुष में प्रलीयमान हो जाते हैं । "सीतारामावित्यादि" [भगवान् श्री सीताराम ही इस जगत् में सर्व पूज्य हैं । जिनके द्वारा ये भूरादिक सातों भुवन उत्पन्न होते हैं । इत्यादि श्रुति स्मृतियों से प्रतिपादित तथा जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण परमात्मा श्रीराम से अन्य कोई परमोत्कृष्ट तत्वान्तर नहीं है ऐसा सिद्ध होता है ॥ ३६ ॥

सारबोधिनी—एवं—यथोक्त प्रकार से निरंकुश ऐश्वर्यशाली परमात्मा

नन्तरं स्वत एव फलनिष्पत्तिदर्शनात् कर्मण एव फलमिति पूर्वःपक्षः। अत्राभिधीयते ऐहिकामुष्मिकापवर्गादिफलमतः परमात्मन एवावाप्यते। आशुविनाशिभिरसम्बद्धैरचेतनैश्च कर्मभिः फलं नोत्पत्तुमीष्टे। परमात्मनस्त्वनन्यभक्तिप्रीतात्स्वाभाविकज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजः समन्वितात्कर्मफलं जीवस्योपपद्यते ॥३७॥

विवरणम्—एतावता प्रबन्धेन प्रापकस्य जीवजातस्योपासनासिद्ध्यर्थं तत्स्वरूपं वर्णयित्वा जीवप्राप्यस्य परमपुरुषस्योभयलिङ्गत्वमपि प्रतिपाद्यानन्तरं समुपासकस्य स्वर्गापवर्गादिफलसिद्धिरपि परमपुरुषादेव भवतीति विनिर्णेतुमुपक्रमते "एवं निरङ्कुशैश्वर्यशालिन" इत्यादि। एवं यथोक्तप्रकारेण निरङ्कुशैश्वर्यशालिनो अप्रतिहताज्ञस्य परमपुरुष परमात्मन एव सर्वापेक्षयोत्कृष्टत्वं प्रतिपाद्य अग्निहोत्रादिसर्वकर्मफलप्रदाता स एव परमात्मेति विचार्यते। तत्र यानीमानि कर्माणि यागादीनि तानि अपूर्वद्वारा स्वयमेव फलजनकानि भवन्ति अथवा संपादितकर्मभ्यः समाराधितः परमात्मैव कर्मणः फलजनको भवतीति संशयः। तत्र लोकेकृषिवाणिज्यादिकर्मसंपादनानन्तरं स्वत एव फलोत्पत्तिदर्शनात् केवलकर्मण एव फलजनकत्वमिति पूर्वपक्षः। अत्र प्रतिविधीयते=

ही सर्व के अपेक्षा से श्रेष्ठ हैं। इस बात का प्रतिपादन करके अग्निहोत्रादि कर्म का फल प्रदाता भी तादृश परमेश्वर ही हैं। इस बात का विचार करते हैं। इस विषय में प्रथमतः संशय होता है कि अग्निहोत्रादिक जो क्रिया कलाप हैं उससे ही अपूर्व रूप व्यापार द्वारा स्वर्गादि फल की प्राप्ति होती है अथवा अनुष्ठित तादृश कर्मों से सन्तुष्ट जो परम पुरुष—परमात्मा तादृश परमात्मा से तत्तत् फल की प्राप्ति होती है। एतादृश संशय के बाद पूर्वपक्ष होता है कि लोक में देखने में आता है कि तत्तत् कृष्यादि कर्म करने के बादस्वत एव फल की उत्पत्ति होती है इसलिए कर्म से ही फल प्राप्ति होती है ऐसा पूर्वपक्ष है। एता-

श्रुतत्वाच्च ।३।२।३८।

"सवा एष महानज आत्मान्नादो वसुदानः" [बृ०४।४।२४।] इति कर्मफलं परमात्मैव प्रयच्छतीति श्रूयते ॥३८॥

इह लौकिकपारलौकिकस्वर्गापवर्गात्मकं यत् फलम्, तत् अतः परमपुरुषपरमात्मन एव सकाशाज्जायते, क्षणप्रध्वंसिव्यापाररहितकर्मणा तदसंभवान्नहि व्यापाररहितश्चिरविनष्टः फलदाने समर्थः स्यात् । न चापूर्वात्मकव्यापारमादाय तत एव फलोत्पत्तिरितिवाच्यं कर्मणामचेतनत्वात् । नहि अचेतनश्चेतनाननधिष्ठितः कार्यं कर्तुं समर्थः । तस्मान्न कर्मणः फलजनकत्वं संभवति । परमात्मातु विलक्षणबलादिभिः संयुतोऽनन्यभक्तिप्रीतोभक्ताय स्वर्गापवर्गफलं ददातीति सर्वं समञ्जसमिति ॥३७॥

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं कि—अत्राभिधीयते, इत्यादि । सकल जगत् कारण सर्व समर्थ परमात्मा से ही इह लौकिक तथा पारलौकिक जो स्वर्ग अपवर्गादि रूपफल है उसकी प्राप्ति होती है । क्योंकि क्षण मात्र में विनष्ट होनेवाला तथा निर्व्यापारक अचेतन जो कर्म तादृश जो क्रिया कलाप उससे फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । यदि कहो कि यागादिक कर्म यद्यपि विनष्ट हो गया तथापि तादृश कर्म स्वजन्य अपूर्वात्मक व्यापार द्वारा स्वर्गादि फल का जनक होगा । जैसे दण्डादि रूप कारण स्वजन्य चक्र भ्रमिरूप व्यापार द्वारा घटादि कार्य का जनक होता है तो यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि अपूर्व भी तो अचेतन जड़ है । और जड़ पदार्थ चेतन से सम्बद्ध हुए बिना स्वतन्त्र रूप से कार्य का जनक नहीं होता है । परमात्मा तो स्वाभाविक ज्ञानशक्ति बलैश्वर्य वीर्य तेजादि से युक्त है । वे अनन्य भक्ति से प्रसन्न होकर के जीवों को तत्तत्कर्म के फलों को देते है । इसलिए ऐहिक पारलौकिक स्वर्गापवर्गादि सकल फल को देनेवाले परमात्मा ही है किन्तु जड़ कर्म

धर्म जैमिनिरत एव ।३।२।३९।

लोके कृषियज्ञादिकर्मणां साक्षात्परंपरया वा फलोपलब्धिर्दृश्यते । "पुण्यः पुण्येन कर्मणा पापः पापेन" "अथ खलु क्रतुरस्मिल्लोके भवति तथेतः प्रेत्य भवति" [छा० ३।१४।१।] "रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन्" (छा०५।१०।७) इत्यतः श्रुत्युपपत्तिभ्यामेव इष्टोपासनादिरूपधर्मादेव फलं जायत इति जैमिनिर्मन्यते ॥३९॥

विवरणम्—यावन्ति कर्मफलानि स्वर्गापवर्गादिकानि तेषां दाता परमात्मैव भवति नान्यः कश्चित्फलप्रदादेतिश्रुतौ श्रूयते । तदेव दर्शयति-श्रुतत्वादिति । "स वा एष" इत्यादि स वा खलु महानजोऽयं परमात्मा यश्चानन्दादिसकलकल्याणगुणवान् सर्वदोषरहितश्च स एव वसुदानः ऐहिकधनादिफलस्यापवर्गादिफलजातस्य दाता भवति । इत्येवं श्रुतौ श्रवणात् सकलफलदाता परमात्मैवेति विनिश्चयः ॥३८॥

विवरणम्—"रमणीय चरणा रमणीयांयोनिमापद्येरन्" "पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवती"त्यादि श्रुत्युपपत्तिभ्याम् लोके योयत्कर्मकरोति तस्यैव तत्फलंभवत्यकुर्वतोनेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कर्मण एवापूर्वद्वाराफलजनकत्वम् । यद्यपि कर्मक्षणिकत्वमाशुविनाशित्वञ्च तथापि अदृष्टं व्यापा-

तथा जड़ जो अदृष्ट उससे फल निष्पत्ति नहीं होती है ॥ ३७ ॥

सारबोधिनी—सर्व कर्म के फल को देनेवाले परमात्मा ही हैं ऐसा "सवा एष" वही सर्व व्यापक सर्व समर्थ आनन्द सत्यादि कल्याण गुणक परमात्मा वसुदान है, अर्थात् सकल कर्मफल को देनेवाले हैं, इत्यादि श्रुतियों में सुनने में आता है । इसलिए परमात्मा ही सकल फल को देनेवाले हैं यह सिद्ध होता है किन्तु कर्म से स्वतः फलोत्पत्ति नहीं होती है ॥३८ ॥

सारबोधिनी—लोक में देखने में आता है कि कृषिवाणिज्य यागादिक जो इष्टादिक कर्म है उसी से साक्षात्परंपरया वा फल की उपलब्धि होती है । जो कर्म—यागादिक करता है उसी को तज्जन्यफलोपलब्धि होती है ।

पूर्वन्तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ।३।२।४०।

तुरुक्तपक्षं निवर्तयति । पूर्वमुक्तं परमात्मानमेव फलदं भगवान् बादरायणो मन्यते । हेतुव्यपदेशात् । "वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति" [यजु०] इति वायुशरीरकस्य परमात्मन एव फलप्रदत्वव्यपदेशात् । "यो वायौ तिष्ठन्नित्यादिश्रुतेर्वायौ परमपुरुषस्यावस्थानात् । एवञ्च विध्यंशेऽपेक्षिते फलोपलब्धिप्रकारे वाक्यशेषेणैव सिद्धे नान्यथा कल्पनीय इति परमात्मन एव फलमुपपद्यते ॥४०॥

रीकृत्य तथा संभवात् । तदुक्तम् "चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विनेति । तस्मात्कर्मण एव फलजनकत्वं नतु परमेश्वरस्य तथात्वमिति जैमिनेराचार्यस्यमतमिति । एतत्सर्वमभिप्रेत्यसूत्रंव्याख्यातुमुपक्रमते "लोके कृषियज्ञादीत्यादि" कृषिवाणिज्यादिकर्मणां यागादिस्वर्गादिफलकानां कर्मणामेव साक्षात् परंपरया वा फलजनकत्वमवसीयते तथा पुण्यः पुण्येन कर्मणेत्यादिश्रुत्युपपत्तिभ्याम्—यागोपासनादिलक्षणधर्मादेवफलप्राप्ति र्न तु परमेश्वरादिति वृत्त्यर्थः ॥३९॥

विवरणम्—कः फलप्रद इति विषये जैमिनेर्मतं पूर्वपक्षरूपेणदर्शयित्वा सिद्धान्तपक्षरूपेण आचार्यबादरायणस्य मतं दर्शयिमुपक्रमते पूर्वन्तु-इत्यादि । सूत्रघटकस्तु शब्द. उपदर्शितजैमिनेर्मतमपवदति. पूर्वमुक्तोयः

कर्म नहीं करनेवाले को तज्जनित कर्मफल नहीं प्राप्त होता है । इस अन्वय व्यतिरेक से तथा "पुण्यः पुण्येन कर्मणा" इत्यादि श्रुत्युपपत्ति से इष्ट कर्म तथा उपासनादि लक्षण धर्म से तत्तत्फल की प्राप्ति होती है । नतु परमेश्वर से फल प्राप्ति होती है ऐसा आचार्य जैमिनि का मत है ॥३९॥

सारबोधिनी—प्रकृत सूत्र में जो "तु" शब्द है वह आचार्य जैमिनी के मत का निराकरण परक है । "फलमतः" इत्यादि सूत्र में कथित जो परम पुरुष परमात्मा उन परम पुरुष को ही भगवान् आचार्य बादरायण सर्व कर्म का फल प्रदाता मानते हैं । क्योंकि हेतु का व्यपदेश है "वायु-

स्मर्यते च ।३।२।४१।

'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्'' [गी०७।२२] इति स्मर्यते च परमात्मन एव फलम् ॥४१॥

इति फलाधिकरणम् ।८।

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठित श्रीमदनुभवानन्दाचार्यस्वामीद्वारकेण ब्रह्मविज्जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीरघुवरीयवृत्तौ (ब्रह्मसूत्रीयवृत्तौ) तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

परमात्मा सर्वशक्तिमान् स एव यागादिकर्मणां फलप्रद इति बादरायणिराचार्यो मन्यते । कुतः ? हेतुव्यपदेशात् ''वायुमेवस्वेनभागेन'' इति । अत्र वायुशरीरकस्य परमात्मन एव फलजनकत्वस्य प्रतिपादनात् । वायुशरीरक आत्मा इत्यत्र किं प्रमाणमिति जिज्ञासायां प्रमाणं दर्शयितुमाह ''यो वायौ तिष्ठन्'' इत्यादिश्रुतिरेवमानम् । ततश्च वायुशरीरकपरमात्मा सर्वेश्वर एव सर्वकर्मफलप्रदो नतु जडस्य तज्जनकतेतिबादरायणमतमिति संक्षेपः ॥४०॥

मेवेत्यादि'' [वायु को ही वायु भाग से यजन करता है ।] और वही वायु इस याग कर्ता को फल देता है । इस श्रुति में वायु शरीरक परमात्मा को ही फल प्रदत्व का प्रतिपादन किया गया है । वायु शरीरक परमपुरुष हैं इसमें प्रमाण श्रुति को बतलाते हैं ''यो वायौ तिष्ठन्'' इत्यादि श्रुति में बतलाया है कि परम पुरुष का अवस्थान पृथिव्यादिवत् वायु में भी है । ऐसा हुआ तब विध्यंश में फलोपलब्धि प्रकार के अपेक्षित होने से अन्यथा कल्पना नहीं करना चाहिए'' इस रीति से परमपुरुष में ही फलजनकत्व उत्पन्न होता है । कर्म अथवा कर्मजन्य अपूर्व का अचेतन होने से यथावत् फल जनकत्व नहीं हो सकता है । परमात्मा तो स्व

विवरणम्—गीतादिस्मृतिषु परमात्मन एव सर्वकर्मफलप्रदातृत्वं स्मर्यते । "स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।

लभते च ततः कामान् मयैवविहितान्हितानित्यादि । तदाहुर्विवृत्तिकाराः– यतः सर्वफलदातृत्वं मय्येवविद्यते निरङ्कुशैश्वर्यशक्तिशालित्वान्नतु तया देवतया स्वातन्त्र्येण तस्मै स्वभक्ताय क्षोदीयोऽपि फलं दातुं शक्यं तस्या मत्पारतन्त्र्यात्" (गी० ७।२२) तस्मात् सर्वकर्मफलप्रदाता भगवान् श्रीराम एवेति ॥४१॥

इति फलाधिकरणम् ।८।

इत्यानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यप्रधानपीठाचार्यजगद्गुरु
श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृत्तौ श्री रघुवरीय-
वृत्तिविवरणे तृतीयाध्यास्य द्वितीय पादः ।

प्रकाश रूप शर्व शक्तिमान हैं । इसलिए परमपुरुष में यथावत् फलजनकत्व हो सकता है ॥ ४० ॥

सारबोधिनी—परमात्मा ही सर्व कर्म के फलों को देनेवाले हैं । किन्तु जड़ जो कर्म उसको अथ च कर्मजनित जो अर्चन अदृष्टादिक उसको यथावत् फलजनकत्व नहीं है । इसी बात को गीतादि स्मृतियों में प्रतिपादन किया गया है "लभते च ततः" इत्यादि में ॥ ४१ ॥

इति फलाधिकरणम् ॥
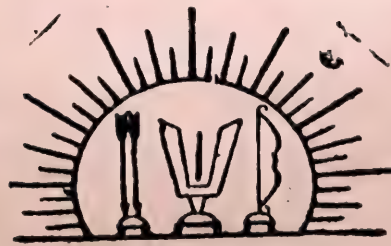
॥ श्रीरामचन्द्राय नमः ॥

॥ अथ तृतीयाध्यास्य तृतीयः पादः प्रारभ्यते ॥

सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ।१।

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ।३।३।१।

अथानेन पादेन ब्रह्मोपास्तौ गुणोपसंहारादिनिर्णयाय विद्याभेदाभेदौ विचार्येते । किं विभिन्नेषु वेदान्तेषु श्रुतानां दहरादिविद्यानामेकत्वं नानात्वं वेति संशयः । तत्र प्रकरणान्तरस्याविशेषश्रुतेश्च विद्याभेदकत्वाद्भिन्नविद्यात्वमिति पूर्वः पक्षः । अत्राभिधीयते--"विद्यात्" इत्यादिविधीनां फलसंयोगरूपसमाख्यानाञ्चाविशेषात्सर्वेषु वेदान्तेषु दहरादिविद्यानामेकत्वमेव ॥१॥

विवरणम्-"अथेति"अथ इदमीय द्वितीयाध्यायान्तविषयाणां निरूपणान्तरमनेन तृतीयपादेन ब्रह्मोपासनायां गुणानामुपसंहारादीनां निर्णयं कर्तुं विद्यायाभेदोऽभेदश्च परस्परं विचारितो भवतीत्यर्थः । तत्र प्रतिवेदान्तं भिन्न-भिन्न प्रकरणे विभिन्नशाखासु श्रुताः या दहरशाण्डिल्यादिका विद्यास्ताः सर्वा एकैव अथवा शाखाभेदात्प्रकरभेदात् भिन्नाभिन्ना एवेति संशयः । तत्र यदि एकैव चेत्साविद्या तदा प्रकरणा-

सारबोधिनी—तृतीयाध्याय के द्वितीयपाद का निरूपण करने के बाद तदीय इस तृतीयपाद से ब्रह्मोपासना में गुणों का उपसंहारादि निश्चय करने के लिए विद्या का भेद तथा अभेद का विचार किया जाता है । अर्थात् तत्तत् शाखा में श्रुतजो दहर वैश्वानरादि विद्याएँ हैं उनमें परस्पर भेद है अथवा सर्वत्र श्रूयमाण वे विद्याएं अभिन्न हैं ? तत्र सर्वत्र विद्या का भेद ही है । क्योंकि प्रकरणान्तर विद्या का भेदक है । यदि प्रकार भेद होने पर भी विद्या को अभिन्न मानें तब तो प्रकरणान्तर में उसका पुनः कथन निरर्थक हो जायगा । इसलिए एक शाखा में कथित जो विद्या है वह शाखान्तर में कथित विद्या से भिन्न ही है । ऐसा पूर्वपक्ष

भेदान्नेति चेदेकस्यामपि ।३।३।२।

प्रकरणभेदान्न विद्यैक्यमितिचेन्न, एकस्यामपि विद्यायां प्रतिपत्तृभेदात्प्रकरणान्तरमुपपद्यते । अत एव पुनः श्रवणस्याप्यर्थवत्त्वम् ।।२।।

न्तरे पुनस्तत्कथनंनिरर्थकमेवस्यात् । तस्मात् प्रकरणभेदाद्विभिन्नैव साविद्येति पूर्वः पक्षः । एतादृश पूर्वपक्षस्य निराकरणमाह सर्ववेदान्त प्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् । विद्यात् , उपासीत. इत्यादिविधिवाक्यानां फलसंयोगः समाख्यानाम् च तुल्यम् । अर्थात एक शाखीय दहरविद्याया यत् ब्रह्म प्राप्तिफलं तदेवफलमपरत्रदहरविद्यायाः । तथैकशाखायां या समाख्या सैव प्रकरणान्तरेऽपि. तस्मात् प्रकरणभेदेऽपि सर्वत्रोच्यमानादहरवैश्वानरादिविद्या एकैवत न परस्परं विभिन्नेति ।। १ ।।

विवरणम्–प्रकरणान्तरस्य विद्याभेदकारणत्वं पूर्वं प्रतिपादितं तदेवानुद्यपरिहर्तुमुपक्रमते "प्रकरणभेदादित्यादि" प्रकरभेदाद्विधेयस्य भेदाच्च विद्याया एकत्वं न स्यात्, यदि कदाचिदुभयत्रविद्यैकैवभवेत् होता है । एतादृश पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं सर्व वेदान्त प्रत्ययमित्यादि" "विद्यात्–उपासीत" इत्यादि जो विधि वाक्य हैं उनका फल संयोग तथा समाख्या अर्थात् नाम एक है इसलिए सर्वत्र कथित वह विद्या भी एक ही है अनेक नहीं । क्योंकि दोनों जगह एक ही ब्रह्म प्राप्ति रूप फल है । तथा नाम भी दोनों जगह एक ही है । अतः फलसंयोग तथा समाख्या के एक होने से उभयत्रापि विद्या एक ही है । केवल प्रकरण भेद विद्या भेद का नियामक नहीं है । तस्मात् सब विद्या एक है ।। १ ।।

सारबोधिनी–प्रकरणान्तर विद्या भेद में कारण है ऐसा जो पहले कहा था उसी का अनुवाद करके निराकरण करने के लिए उपक्रम करते है "प्रकरणभेदादित्यादि" प्रकरण का भेद होने से विद्या में एकत्व नहीं होगा ! ऐसा मत कहना क्योंकि एक भी विद्या में प्रतिपत्ता अर्थात्

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्चतन्नियमः ।३।३।३।

आथर्वणिकानां शिरोव्रतस्य "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्" [मु० ३।२।१०।] इति विद्योपदेशाङ्गत्वेन नियमो विद्यां भिनत्तीत्यत आह—स्वाध्यायस्येति—स्वाध्यायस्यैवाङ्गत्वं शिरोव्रतस्य न विद्यायाः । वेद व्रतोपदेशग्रन्थे तथात्वेन स्वाध्यायाङ्ग-

---

तदा प्रकरणान्तरनिर्माणं निरर्थकमेव भवेदिति चेन्न, एकविद्यायामपि प्रतिपन्नभेदात्—अर्थात् कर्तुर्भेदात्प्रकरणान्तरस्य संभवात् । यदि कदाचिदेकस्मिन्नेव कर्तरि प्रकरणान्तरं भवेत्तदा विधेयभेदाद्विद्याभेदोभवेत्, नत्वेवं तस्मान्नविद्याभेदोऽपितु विद्यैक्यमेवेति दिक् ॥ २ ॥

विवरणम्—एवं विद्यैकत्वव्यवस्थानेऽपि नसव्यवस्था सिद्ध्यति विद्याभेदप्रतिपादकस्य दर्शनादित्याशयेनाह "आथर्वणिकानामित्यादि" अथर्वशाखाध्येतृणाम् "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तुचीर्णम्" [येन यथा विधिवत् शिरोव्रतं संपादितम् तादृशाधिकारिणे एव एता ब्रह्मविद्या वदेदर्थात् तादृशविद्याया स्तादृशायैवोपदेशः करणीय

कर्ता के भेद होने से प्रकरणान्तर हो सकता है । अर्थात् एक ही शाखा में यदि उपासक भिन्न भिन्न है तो वह प्रकरणान्तर हो सकता है । इसलिए प्रकरणान्तर विद्या भेद का कारण नहीं है । इसलिए पुनः पुनः कथन भी प्रयोजनवान् होता है निरर्थक नहीं । इसलिए प्रकरण भेद विद्या भेद का नियामक नहीं है ॥ २ ॥

सारबोधिनी—अथर्वशाखाध्यायी के लिए शिरोव्रत का विधान किया गया है "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यामित्यादि" [उसी व्यक्ति को इस ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया जाय जिसने यथाविधि शिरोव्रत का अनुष्ठान कर लिया हो ।] इस प्रकार से ब्रह्म विद्या के उपदेश में शिरोव्रत को अङ्ग रूप में कहा गया है । अन्यत्र शिरोव्रत का विधान तो नहीं है । जहाँ विधान

त्वेन शिरोव्रतं समामनन्ति "नैतदचीर्णव्रतोऽधीते" [मु० ३।२।११।] इत्यध्ययनशब्दाधिकारादवगम्यते । श्रुतौ ब्रह्मविद्यामिति ब्रह्मशब्दस्य वेदपरत्वात् । यथा सवहोमास्तत्रैवानुष्ठेया नत्वन्यत्र तथा शिरोव्रतमध्ययन एवेति नियमः ॥ ३ ॥

इत्यर्थः] अत्र शिरोव्रतविशेषस्य विद्याया उपदेशाङ्गत्वेनोपदेपः कृतः । अन्येषांतु न विद्याङ्गत्वेन शिरोव्रतस्योपदेशः ततश्च विद्याविशेषे शिरोविधानादन्यत्रतस्य व्रतस्याविधानाद्भवत्येव विद्याभेदः । इत्याशङ्कांनिराकर्तुं सूत्रमुदाहरति "स्वाध्यायस्येत्यादि" तत्र स्वाध्यायोवेदस्याध्ययनम् । तादृशवेदाध्ययनस्यैवाङ्गं शिरोव्रतम् । न विद्याया अङ्गम् । यतोव्रतोपदेशप्रतिपादकग्रंथविशेषे वेदाध्ययनाङ्गत्वेनैव शिरोव्रतस्य कथनात् "नैतदचीर्णव्रतोऽधीते" इति श्रुतेः । अध्ययनशब्दस्याधिकारात् ज्ञायते ।

नहीं है तदपेक्षया यहाँ विलक्षणता का प्रतिपादन होने से विद्या में भेद मानना चाहिए तब विद्या में आप एकत्व का प्रतिपादन किस तरह से करते है ? इस शङ्का के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं "स्वाध्यायस्य" इत्यादि । स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन का ही अङ्ग शिरोव्रत है किन्तु ब्रह्म विद्या का अङ्ग नहीं । वेद व्रत का उपदेशक ग्रन्थ में तथात्वेन अर्थात् स्वाध्याय—वेदाध्ययन के अङ्ग रूप से शिरोव्रत का विधान किया गया है । "नैतदचीर्ण"इत्यादि [जिसने यथाविधि शिरोव्रत का अनुष्ठान नहीं किया है वह इसका अध्ययन न करे । किन्तु जिसने शिरोव्रत किया है वही इसका अध्ययन करें ।] यहाँ अध्ययन शब्द का अधिकार से जाना जाता है कि वेदाध्ययन में शिरोव्रत अङ्ग है । विद्या का अङ्ग शिरोव्रत नहीं है । श्रुति में कथित ब्रह्मविद्या में जो ब्रह्म शब्द है वह परमपुरुष का बोधक नहीं है । किन्तु वहाँ ब्रह्म शब्द वेद परक है । जैसे "ब्रह्मोज्झम्" वेदेत्यादि । यहाँ ब्रह्म शब्द वेद परक है तद्वत् । सववदिति जैसे सब होम सब सम्बन्धी सात सुर्य प्रभृतिक शतौदन पर्यन्त सात होम का

दर्शयति च ।३।३।४।

श्रुतिरेव दर्शयति । "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" [का०२।१५।] इति सर्ववेदान्तवेद्यस्य ब्रह्मण एकत्वेन तदुपासनभूतानां सर्वासां विद्यानामेकत्वम् ॥४॥

तेषामेव ब्रह्मविद्यां वदेदित्यत्रब्रह्मशब्दोवेदपरकः ब्रह्मोज्झामित्यादिवत् । यथा सवसम्बन्धिनो होमाः सौर्यप्रभृतिकाः शतौदन्यपर्यन्ताः आथर्वणोक्तैकाग्निसम्बन्धितया तत्रैवानुष्ठीते नतु शाखान्तरे तद्वदिहापि शिरोव्रतस्याथर्वणिकशाखाध्ययने एव नियमो नतु तदन्यत्रेति न कोऽपि विरोधः । तस्मात् विद्याया एकत्वमेव नतु शाखाभेदेन विद्याभिन्नत्वमिति संक्षेपः ॥३॥

विवरणम्—न केवलं युक्त्यैव सर्वविद्यानामेकत्वम्, किन्तु श्रुतिबलेनापि सर्ववेदान्तविद्यानां तथात्वं सिद्ध्यतीति तदेव प्रतिपादयति "श्रुतिरेवेति" श्रुतिमुदाहरति "सर्ववेदा" इति "सर्ववेदायत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तोब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्पदं संग्रहेणब्रवीमि" इत्यादि श्रुतिः सर्ववेदान्तादिवेद्यस्य परमात्मन एकत्वं

अनुष्ठान होता है । पर शाखान्तर में सव होम का विधान नहीं है । वैसे ही शिरोव्रत का विधान अथर्व शाखाध्ययन में ही है ब्रह्म विद्या में शिरोव्रत का नियम नहीं है । अतः विद्या में एकत्व सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

सारबोधिनी—सर्व वेदान्त विद्या एक ही है किन्तु शाखा भेद होने से वेदान्त विद्या भिन्न नहीं है इस बात को श्रुति स्वयमेव बतलाती है । "सर्ववेदा" इत्यादि [जिस पद को अर्थात् प्राप्य जिस पदार्थ को ब्रह्म को सव वेद बतलाते हैं] यह श्रुति सर्व वेदान्त वेद्य ब्रह्म को एकत्व रूप से प्रतिपादन करती है । तो परमात्मा की उपासनास्वरूप सब विद्या में एकत्व ही है । अर्थात् सब वेदान्त विद्या एक है ॥ ४ ॥

उपसंहारेऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ।३।३।५।

चोऽवधारणे । समाने विद्यैक्ये सति वेदान्तरोक्तानां गुणानामन्यत्राप्युपसंहारेविधिशेषवत्कर्तव्यः । यतस्तेषां विद्याङ्गत्वेनोपकाररूपार्थाभेदात् ॥५॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ॥१॥

प्रतिपादयतीति तत्प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मण एकत्वकथनात् ब्रह्मोपासना लक्षणानां सर्वासामपि विद्यानामेकत्वमेवेति ॥४॥

विवरणम्–पूर्वोक्तप्रकारेण सर्ववेदान्तविद्यानामेकत्वंस्थिरीकृत्यसर्वविद्यायाः प्रयोजनं दर्शियति "उपसंहार" इत्यादि सूत्रम् । अत्र सूत्रघटकश्चकारोऽवधरणार्थकः । एवम्–अर्थात् सर्ववेदान्ते वैश्वानरशाण्डिल्यादिप्रभृतिकोपासनस्यसमानत्वे अन्यशाखागतगुणानामन्यत्रशाखान्तरीयविद्यायामप्युपसंहारः करणीय एव । यतोऽर्थाभेदात् गुणानां विद्याया अङ्गत्वात् । तदुपकारलक्षणप्रयोजनस्य समानत्वात् । अर्थादेकत्रवेदान्ते कथितानाङ्गुणानां तदन्यत्राप्युसंहारः कर्तव्यः एवेति । विधिशेषवत् । अर्थादग्निहोत्रं जुहुयादित्यत्रविधिशेषाणामग्निहोत्रधर्माणां सर्वत्र समानत्वादन्यत्रापि उपसंहारोभवति तथाऽत्रापिकर्त्तव्य एवोपसंहार इति ॥५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे सर्ववेदान्त
प्रत्ययाधिकरणम् ॥१॥

सारबोधिनी–पूर्व प्रकरण से ब्रह्म प्रतिपादक विद्याओं में एकत्व का स्थिर करके उसका प्रयोजन को बतलाते है "उपसंहारे" इत्यादि । सूत्र में जो 'च' शब्द है वह अवधारणार्थक है । जब सब विद्याओं की समानता है तब वेदान्तर में कथित जो गुण है उनका अन्य शाखागत विद्याओं में भी उपसंहार अर्थात् संग्रह करना चाहिए विधिशेष की तरह । क्योंकि उन गुणों के विद्या का अङ्ग होने से उपकारकत्व रूप प्रयोजन

अन्यथात्वाधिकरणम् ॥२॥

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्न विशेषात् ।३।३।६।

छान्दोग्यबृहदारण्यकयोरुद्गीथविद्याम्नायते । तयोर्विद्ययोरैक्यमुत विद्याभेद इति संशयः । तत्र पूर्वपक्षी सिद्धान्तपक्षमनुद्य खण्डयति । द्वयोरप्युपनिषदोः कर्तृकर्मत्वभेदो दृश्यते । तथा च कारणभेदेनोपास्यभेदाद्विद्याभेद इति चेन्नोभयत्र चोदनादिविशेषाभावादेकैव विद्येति पूर्वः पक्षः ॥६॥

विवरणम्—बृहदारण्यके "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः" (बृ०१।३।७) इत्यादिनोद्गीथविद्याकथ्यते, छान्दोग्ये च "य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे" (छा०१।२।७) इति तत्रापि सैवोद्गीथविद्याश्रुतेति तयोरैक्यं परस्परं भेदोवेति संशयः । तत्र पूर्वपक्ष स्थापयति सिद्धान्तखण्डनेन विद्याद्वये एकत्र प्राणस्य कर्तृतया व्यपदेशोऽपरत्रकर्मतया व्यपदेश इतिव्यपदेशभेदादभेद इति तन्न अविशेषात्. द्वयोरुद्गीथत्वेन समानत्वाद्विद्यैक्यमिति. पूर्वपक्षमुपपादयितुमुपक्रमते "छान्दोग्यबृहदारण्यक" इत्यादि । छान्दोग्ये बृहदारण्यकेचोद्गीथविद्याया समान ही है । अर्थात् जिस तरह "अग्निहोत्रं जुहुयात्" यहाँ विधि शेष जो अग्नि होत्र का धर्म अग्नि होत्र है उसके एक होने से सर्वत्र उसका उपसंहार किया जाता है । उसी तरह प्रकृत में भी विद्या का अङ्ग जो गुणजात है उनका शाखान्तरगत विद्या में उपसंहार होता है यह सिद्धान्त है ॥५॥

इति सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ॥

सारबोधिनी—छादोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषद में उद्गीथ विद्या कही गयी है । "य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे" "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः" इति । वहाँ दोनों विद्या में एकता है अथवा दोनों परस्पर भिन्न हैं । एतादृश संशय होता है । इस विषय में पूर्वपक्षवादी सिद्धान्त पक्ष का प्रतिपादन करके खण्डन करता है कि दोनों उपनिषदों में एक

नवा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वात् ।३।३।७।

समाधीयते–सूत्रे नवेति शब्दौ पूर्वपक्षं व्यावर्तयतः । प्रकरणभेदात् । छान्दोग्ये "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" [छा० १।९।१।] इत्युद्गीथावयवभूतप्रणवोपासनं विद्यते । वाजसनेयके तु "हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययामः" [बृ० ३।३।१।] इत्युद्गीथोपासनम् । तत्र रूपप्रकरणयोर्भेदाद्विद्याभेदः । यथोद्गीथोपासने समानशाखास्थेऽपि हिरण्यमयत्वदृष्टः परोवरीयस्त्वादिदृष्टिर्भिद्यते तद्वत् ॥७॥

उपक्रमो दृश्यते । तत्रतयोर्विद्ययोरेकत्वं परस्परंभेदोवेति संययोजायते । तत्र पूर्वपक्षवादी सिद्धान्ततयानुवादपूर्वकं खण्डयति, तत्रोपनिषद्द्वये. एकत्र प्राणस्य कर्तृतया व्यपदेशः "मुख्यः प्राण" इति । अन्यत्र "अथ हेममासन्यंप्राणमूचु"रितिकर्मतयाव्यपदेश इति कर्मकर्तृतया व्यपदेशात्. तथा च कारणभेदेनोपास्ययोर्भेदात् विद्याभेद इति चेन्न–चोदनादिविशेषस्यद्वयोरुपनिषदोः समानत्वाद्विद्यैक्यमिति ॥६॥

विवरणम्–पूर्वपक्षं समाधातुमुपक्रमते–"समाधीयते" इति अत्र सूत्रघटकौ न तथा वा शब्दौ पूर्वपक्षस्य निराकरणं कुरुतः । नात्रविद्ययोरेकत्वं मन्तव्यम् ? कुतः प्रकरणभेदात् । तत्र प्रकरणभेदमेवदर्शयति

जगह तो प्राण को कर्त्ता कहा है और दूसरे जगह प्राण को कर्म रूप से कहा है तो कारण के भेद होने से विद्या भेद होना चाहिए ऐसा मत कहना क्योंकि अविशेष अर्थात् समानता दोनो जगह में वाक्य का है । अर्थात् चोदनादि विशेष का अभाव होने से विद्या में एकता ही मानना उचित है । किन्तु दोनों विद्याओं में परस्पर भेद कहना ठीक नहीं है । क्योंकि भेद करनेवाला कोई विशेष कारण नहीं है ॥ ६ ॥

सारबोधिनी–प्रकृत विषय में सिद्धान्तवादी समाधान करते हैं । इस सूत्र में जो न शब्द तथा वा शब्द हैं वे पूर्वपक्ष का निराकरण परक है । यहाँ दोनों विद्याओं में परस्पर एकता नहीं कह सकते हैं । क्योंकि दोनों

सञ्ज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ।३।३।८।

उद्गीथविद्येति सञ्ज्ञाया उभयत्रैक्याद्विद्याया ऐक्यमुक्तञ्चेत्तदैक्यन्तु विधेयभेदेऽप्यस्त्येव । यथा नित्याग्निहोत्रे कुण्डपायिनामयनाग्निहोत्रे चैकसञ्ज्ञायामपि कर्मभेदः ॥८॥

तथाहि "छान्दोग्यप्रकरणे" "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" अत्रोद्गीथावयवस्य प्रणवस्य अर्थात्–ओंकारस्योपासना प्रतिपादिता भवति. तथा वाजसनेयबृहदारण्यके "हन्तासुरान यज्ञ उद्गीथेनात्ययामः" अत्रोद्गीथस्योपासनं श्रूयते । इति तत्र उपासना स्वरूपस्य प्रकरणस्य च परस्परं भेदात्. विद्याया अपि परस्परं भेद एवावश्यकः । यथोद्गोथोपासने एकैकशाखोये हिरण्यमयत्वदृष्टिः परोवरीयस्त्व दृष्ट्यपेक्षया भिद्यते तद्वत् । यदा तु समानशाखायामपिदृष्टिभेदाद्विद्या भेदस्तदा प्रकरणान्तरस्थविद्यायां तु कथैव केति । ततश्च प्रकरणभेदादुभयत्रापिविभिन्नैवविद्येति सिद्धान्तो नतु विद्यैक्यमिति ॥७॥

का प्रकरण भिन्न–भिन्न है । इसलिए प्रकरण भेद होने से विद्याओं में एकता नहीं है । प्रकरण भेद का उपपादन करते है छान्दोग्य में "ओम् इत्याकारक प्रणव का उद्गीथ रूप से उपासन करना" इस प्रकार से उद्गीथ का अवयव रूप प्रणव अर्थात् ओंकार का उपासन है । और वाजसनेयक बृहदारण्यक में "इस यज्ञ में असुरों का उद्गीथ से अतिक्रमण करूँगा" इस प्रकार से उद्गीथ की उपासना कहा गया है । तो यहाँ स्वरूप तथा प्रकरण का परस्पर भेद है, इसलिए विद्या का भेद मानना ही चाहिए । जिस तरह एक शाखास्थित उद्गीथ की उपासना में हिरणमयत्व दृष्टि से परोवरीयस्त्व दृष्टि भिन्न हो जाती है । उसी तरह प्रकृत में भी विद्या भेद है ॥ ७ ॥

सारबोधिनी–छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक में दोनो जगह उद्गीथ इस नाम की एकता होने से एकत्व जो कहा है वह तो विधेय में भेद होने

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ।३।३।९।

छान्दोग्ये प्रथमाऽध्यायेऽग्रेऽपि चोद्गीथावयवस्य प्रणवस्योपास्यतया "उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे" [छा० १।२।७।] इति मध्येऽपि तदुपास्यत्वव्याप्तेश्च । तथा चोद्गीथावयवभूतः प्रणव एव प्राणदृष्ट्योपास्यश्छन्दोगैर्वाजिभिस्तूद्गीथकर्तोद्गाता प्राणदृष्ट्योपास्य इति विधेयभेदात्प्रकरणभेदाच्चात्र विद्याभेद एव ॥९॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावन्यथात्वाधिकरणम् ॥२॥

विवरणम्—प्रकरणभेदेऽपिनामाभेदाद्विद्यैक्यंस्यादित्याशङ्क्य प्रकारान्तरेण भेदसंपादनायोपक्रमते "उद्गीथविद्येत्यादि प्रकरणभेदेऽपि छान्दोग्यबृहदारण्यकयोर्नामभेदाभावात्, विद्याया एकत्वमेव मन्तव्यं तदुक्तमुभयत्रापि विधेयस्यभेदोतिष्ठत्येव । यथा नैयमिकाग्निहोत्रे तथा कुण्डपायिनामयनगतकर्मणि, अग्निहोत्रशब्दस्य समानत्वेऽप्येकत्रनित्योहोमोमुख्योऽपरत्र तु सादृश्याद्गौण इत्युभयत्रापि कर्मभेद एव तत्र यथा नामभेदाभावेऽपिभेदस्तथा प्रकृतेऽपीतिदिक् ॥८॥

विवरणम्—छान्दोग्यश्रुतेः प्रथमेऽध्याये तथा तत्रैवाग्रिमस्थलेऽपि उद्गीथस्यावयवभूतोऽर्थात् एकदेशप्रणव एवोपास्यतयाश्रुतोविद्यते. पर भी संज्ञैकत्व हो सकता है । जैसे नित्याग्निहोत्र में तथा कुण्डपायी के अयनगत अग्नि होत्र में अग्निहोत्र इत्याकारक नाम की एकता होने पर भी कर्म भिन्न ही होता है । अर्थात् नित्याग्नि होत्र में अग्नि होत्र शब्द मुख्य है । और कुण्डपायी के अयनगत अग्नि होत्र में अग्नि होत्र शब्द गौण है । अतः संज्ञा की एकता होने पर भी कर्म भेद होता है । वैसे ही प्रकृत में उद्गीथ नाम के समान होने पर भी कर्म भेद होता है ॥ ८ ॥

सारबोधिनी—छान्दोग्योपनिषत् के प्रथमाध्याय में तथा आगे भी उद्गीथ के एकदेश जो प्रणव है वह प्रणव उपास्य रूप से कहा गया है । तथा मध्य मध्य में भी "उद्गीथ का उपासन किया" इस प्रकार से उद्गीथ

❀ सर्वाभेदाधिकरणम् ॥३॥ ❀

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ।३।३।१०।

छन्दोगैर्वाजिभिः कौषीतकिभिश्च "यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठञ्च वेद" (छा०५।१।१] इत्यादिवचनैः प्राणविद्यासमाम्नायते तत्राद्ययोर्द्वयोः प्राणविद्यायाः कौषीतकिनाञ्च प्राणविद्याया भेदोऽभेदोवेति संशयः । आद्ययोर्द्वयोर्ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यादिविशिष्टस्य प्राणस्य वशिष्ठत्वादि-

---

तथा मध्ये मध्येऽपि प्रणवस्यैवोपास्यत्वव्याप्तिर्विद्यते । तथा च छन्दोगैः प्रणवप्राणदृष्ट्योपासितोभवति । बृहदारण्यकेतु उद्गीथस्योद्गानकर्तोद्गाता प्राणदृष्ट्योपासितोभवति । एवं चोभयत्रविधेयस्य परस्परं भेदात्तथा प्रकरणस्यापि परस्परं भेदात्. अत्र विद्याया भेद एव ज्यायानिति ॥९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेऽन्यथात्वाधिकरणम् ॥२॥

विवरणम्—छान्दोग्ये "बृहदारण्यके श्वेताश्वतरे च. प्राणविद्या कथ्यते । तत्राद्ये द्वये "जेष्ठं च श्रेष्ठं च वेद" इत्यादिक्रमेणवसिष्ठत्वादिका गुणाः प्रतिपादिताः तत्र सर्वेषां प्राणविद्या एका विभिन्नावेति

का अवयवभूत प्रणव में ही उपास्यत्व है । तब छान्दोग में उद्गीथ का अवयवभूत प्रणव ओंकार ही प्राण दृष्टि से उपासनीय है । और बृहदारण्यक में तो उद्गीथ का उद्गान करनेवाला उदगाता प्राणदृष्टि से उपास्य है ऐसा कहा गया है । इसलिए दोनों जगह में विधेय का भेद है तथा प्रकरण का भी भेद होने से दोनों विद्या परस्पर भिन्न हैं । एक नहीं ॥ ९ ॥

इत्यन्यथात्वाधिकरणम् ।

सारबोधिनी—छान्दोग्य शाखाध्यायी वाजसनेयक तथा कौषीतकि शाखावालों ने "जो इस प्राण के ज्येष्ठत्व तथा श्रेष्ठत्व गुणविशिष्ट को जानता है अर्थात् उपासन करता है" इत्यादि वचनों से प्राणविद्या का प्रतिपादन किया

गुणवत्त्वमपि विद्यते । कौषीतकिनां तदभावस्तस्माद्रूपभेदाद्विद्या भेद इति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु—ज्यैष्ठ्योपपादनस्य सर्वत्राभेदात् कौषीतकिप्राणविद्यायामपि वागादिनां स्थितेः कार्यस्य प्राणकारणकत्वेनैवोक्तत्वाद्वागादिस्थकार्यसामर्थ्यरूपवसिष्ठत्वादिसम्बन्धित्वमस्त्येवेति विद्यैक्यमतो वसिष्ठत्वादिगुणास्तत्रोपसंहार्या एव ॥१०॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ सर्वाभेदाधिकरणम् ॥३॥

संशयः । तत्रभिन्नैव कुतः कौषीतकिनां प्राणविद्यायां वसिष्ठत्वादि गुणानामकथनादिति रूपभेदाद्विद्याभेद इति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तेतु विद्याया अभेद एव यतः कौषीतकिनामपिवसिष्ठत्वादिगुणानामुपसंहारः कर्तव्य एव । यतः वागादीनां स्थितिकारणत्वस्य प्राणेऽन्यथाऽसंभवादित्याशयेनोपक्रमते "छान्दोग्ये वाजिभिरित्यादि । वृत्तेरक्षरार्थस्त्वतिरोहित इति नेहप्रतन्यते ॥१०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे सर्वाभेदाधिकरणम् ॥३॥

है। उसमें प्रथम जो दो हैं छन्दोग तथा वाजसनेय इनकी जो प्राण विद्या है उसमें तथा कौषीतकि की जो प्राण विद्या है उसमें भेद है अथवा कोई भेद नहीं है । अर्थात् तत्र कथित प्राण विद्या सब पृथक्-पृथक् हैं अथवा एक ही हैं ऐसा संशय होता है । उसमें प्रथम दो पक्षों में तो ज्येष्ठ श्रेष्ठ प्राण में वसिष्ठत्व गुण का विधान है परन्तु कौषीतकि प्राण विद्या में तो वसिष्ठत्व गुण का अभाव है । इसलिए तद्रूप का भेद होने से यह प्राण विद्या भिन्न-भिन्न हैं ऐसा पूर्व पक्ष होता है । उसके उत्तर में सिद्धान्तवादी कहते हैं "सर्वाभेदादित्यादि" ज्येष्ठत्व श्रेष्ठत्व गुण का कथन तो सर्वत्र अभिन्न रूप से है । कौषीतकि प्राण विद्या में भी वागादि इन्द्रिय का जो स्थित्यात्मक कार्य है वह प्राणकारणक है ऐसा कहा गया है । तो वागादि का जो स्थित्यात्मक कार्य है तत्सामर्थ्य रूप वसिष्ठत्व गुण सम्बन्ध

आनन्दाद्यधिकरणम् ॥४॥

आनन्दादयः प्रधानस्य ।३।३।११।

ब्रह्मस्वरूपनिरूपकाणां सत्यज्ञानानन्दादिगुणानां सर्वविद्यासूपसंहृतिरस्ति नवेति संशयः । प्रकरणेऽनधीतानुपसंहारे प्रमाणाभावान्नोपसंहृतिरिति पूर्वः पक्षः । अत्राभिधीयते--प्रधानस्य गुणिनः सर्वविद्यास्वभेदात्तन्निरूपकाणामानन्दादिनां सर्वत्रोपसंहृतिः कार्या । यतो ब्रह्मस्वरूपस्य तन्निरूपकाणां गुणानाञ्च नित्यत्वात्तैर्विना ब्रह्मानुसन्धानानुपपत्तेः ॥११॥

विवरणम्—येन गुणेन विना गुणिनो विचारो न जायतेतिगुणिगुणोऽनुसंधाने तादृशगुणानां विचार आवश्यक इति कृत्वोपक्रमते "ब्रह्मस्वरूपनिरूपकाणामित्यादि" ब्रह्मणः परमात्मनो ये सत्यानन्दादिका गुणाः सन्ति तेषां गुणानां सर्वासु ब्रह्मविद्यासूपसंहारः कर्त्तव्यो नवेति संशयः । न कर्त्तव्यो यतः प्रकरणेऽधीतानामेवोपसंहारो नतु तत्रा-

अवश्य है । इसलिए सब प्राण विद्या एक ही है । इसी कारण से कौषीतकि में यद्यपि वसिष्ठत्व गुण का कथन नहीं है तथापि कौषीतकि प्राण विद्या में भी वसिष्ठत्व गुण का उपसंहार किया जाता है । इसलिए तीनों जगह की प्राण विद्या एक ही है परस्पर भिन्न—भिन्न नहीं ॥ १० ॥

इति सर्वाभेदाधिकरणम् ॥

सारबोधिनी—परमात्मा स्वरूप के निरूपण करने में उपयोगी जो सत्यज्ञान और आनन्दादिक गुणजात हैं उनका सर्व ब्रह्म विद्या में उपसंहार होता है अथवा नहीं ऐसा संशय होता है । उसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं जो गुण जहाँ श्रूयमाण है उनका ही संग्रह होगा, नतु प्रकरण में अनधीत गुणों का उपसंहार होगा क्योंकि अनधीत गुणों का उपसंहार करने में कोई भी प्रमाण नहीं है ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं "आनन्दादयः प्रधानस्येति" प्रधान जो

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ।३।३।१२।

प्रियशिरस्त्वादीनां स्वरूपकनिरूपकगुणत्वाभावादप्राप्तिर्यतस्तेषां पुरुषविधत्वनिरूपणमात्रोपयोगित्वात् । शिरः पक्षादिभेदे हि ब्रह्मण

ऽप्रतिपादितानाम् तथात्वे सर्वत्र सर्वगुणोपसंहारः स्यादितिपूर्वपक्षः। इति पूर्वपक्षाशयमाकलय्योत्तरयति "आनन्दादयः" इत्यादि । प्रधानस्य गुणगता ये सत्यज्ञानादिकाः गुणाः सन्ति तेषामुपसंहारोऽवश्यमेव कर्त्तव्यः । कुतः ? गुणस्वरूपनिरूपणंविना गुणवतां निरूपणानुपपत्तेः नहि दण्डस्वरूपमजानतो दण्डी पुरुष इति दण्डवत्तयापुरुषानु सन्धानं जायमानं क्वचिद्दृष्टम् । यतोऽत्र ब्रह्मणोऽनुसन्धानंप्रकृतं तदेव ब्रह्मसर्वविद्यायामस्तीतिगुणमन्तरेण परमात्मस्वरूपानुसन्धानं नस्यात्तस्मात्सर्वत्रगुणोपसंहार आवश्यक एवेति संक्षेपः ॥११॥

विवरणम् — ननु ब्रह्मस्वरूपनिरूपणपरकाणां सत्यादि गुणानां सर्वत्रोपसंहारश्चेत्तदा प्रियशिरस्त्वादिका अपि ब्रह्मगुणा ब्रह्म स्वरूपनि-गुणी परमात्मा है उनका सभी ब्रह्मविद्या में अभेद है ब्रह्म स्वरूप का निरूपक जो सत्यानन्दादिक गुण समुदाय हैं, उन गुणों का सर्वत्र उपसंहार करना आवश्यक है । क्योंकि ब्रह्म का रूप ही ब्रह्म स्वरूप का निरूपक है । वे दोनों सर्वथा नित्य हैं और गुण के विना गुणी का निरूपण नहीं हो सकता है । यथा दण्ड स्वरूप निरूपण के विना दण्डी स्वरूपनिरूपणवत् । एवं गुण निरूपण के विना परमात्मा का अनुसंधान नहीं हो सकता है । इसलिए परमात्म स्वरूप के निरूपण करने में उपयोगी सब सत्यानन्दादिक गुणों का सर्वब्रह्म विद्या में उपसंहार अवश्य करना चाहिए ॥ ११ ॥

सारबोधिनी–जिस तरह सत्यज्ञानादिक परमात्म स्वरूप का निरूपण परक है उसी तरह प्रिय शिरस्त्वादिक भी तो परमात्मा का निरूपणपरक है । तो इनका भी सर्व ब्रह्मविद्या में उपसंहार करना चाहिए एतादृश आशंका

उपचयापचयौ स्याताम् । तथा सति ब्रह्मणस्सविकारित्वापत्तेर्निर्विकार श्रुतिविरोधः स्यात् ॥१२॥

रूपणपरका इति तेषामपि सर्वत्रोपसंहारः स्यादित्याशङ्क्य तन्निराकरणायोपक्रमते निराकरण मुखेन "प्रियशिरस्त्वादीनामित्यादि ब्रह्मणः स्वरूपनिरूपणपरकत्वेनोदाहृता ये प्रियस्त्वादयो गुणास्ते न ब्रह्म स्वरूपनिरूपणपरकाः। अतस्तेषां तत्स्वरूपकनिरूपकत्वाभावात् तेषां न ब्रह्मस्वरूपनिरूपणे तात्पर्यम् । किन्तु पुरुषविधत्वनिरूपणमात्र एवोपयोगित्वं यतः शिरः पक्षादि भेदे सत्येव ब्रह्मण उपचयापचयौ भवेताम् । न च सर्वशरीरकस्य तदपीष्टमेवेति वाच्यम् तथा सति ब्रह्मणो निर्विकारित्वप्रतिपादकश्रुतेर्वैयर्थ्यमेवापतेत् । तस्मान्नब्रह्मस्वरूपनिरूपणपरकाः प्रियशिरस्त्वादिकागुणाः । अतो न तेषामुपसंहारचर्चेति ॥१२॥

के निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं, "प्रियशिरस्त्वादीनामित्यादि" प्रियशिरस्त्वादिक जो गुण हैं वे परमात्मा के स्वरूप निरूपण परक गुण नहीं है। इसलिये प्रियशिरस्त्वादिक गुणों को प्राप्ति अर्थात् प्रियशिरस्त्वादिक गुणों का उपसंहार सर्वत्र ब्रह्मविद्या में नहीं होता है। क्योंकि प्रियशिरस्त्वादिक जो गुण हैं वे तो केवल परमात्मा में पुरुषाकारत्व मात्र अंश के निरूपण करने में ही उपयोगी हैं। किन्तु परमात्मा को स्वरूप निरूपणोपकारक नहीं क्योंकि शिरपक्षादिक का परस्पर भेद होने से परमात्मा में उपचय तथा अपचय रूप दोष हो जायगा। यदि कहो कि उपचय तथा अपचय भी परमात्मा में होता है तब तो परमात्मा में निर्विकारत्व प्रतिपादक जो श्रुति समुदाय है "अपहताप्मा" इत्यादिक उनका विरोध हो जायगा इसलिये प्रियशिरस्त्वादि जो गुण हैं वे परमात्मा का स्वरूप निरूपण परक नहीं इसलिए सर्वब्रह्मविद्या में प्रिय शिरस्त्वादिक गुणों का उपसं-हार नहीं होता है। सत्यज्ञानादिक गुण जो परमात्मा का स्वरूप निरू-

इतरेत्वर्थसामान्यात् ।३।३।१३।

इतरे सत्यज्ञानानन्दादयस्तु ब्रह्मरूपवन्नित्याः स्वाभाविकाश्चेति तेषां सर्वविद्यासूपसंहृतिरपेक्षितैव ॥१३॥

विवरणम्--यथा प्रियशिरस्त्वादिका गुणा न ब्रह्मस्वरूपनिरूपणका इति तेषां सर्वत्र ब्रह्मविद्यायामुपसंहारो न भवति तथा सत्यादिगुणानामपि न सर्वत्र परमात्मविद्यामुपसंहारः स्यादित्याशङ्कां निराकर्तुमुपक्रमते "इतरे सत्यादय इत्यादि" इतरे प्रियशिरस्त्वाद्यतिरिक्ताः सत्यज्ञानादिका गुणाः यथा ब्रह्मस्वरूपं नित्यं तथा सत्यज्ञानानन्दादिकागुणा नित्याः स्वाभाविकाश्च भवन्तीति तस्मादेव कारणात् सत्यादिगुणानां ब्रह्मस्वरूपनिरूपणपरकत्वात्तेषां सर्वत्र ब्रह्म विद्यायामुपसंहारोऽवश्यमेवापेक्षितः प्रियशिरस्त्वादीनां तु परोपाधिकत्वान्न ब्रह्मस्वरूपनिरूपणपरकत्वं न वा सर्वत्र परमात्मविद्यायामुपसंहारोभवतीति सर्वं समञ्जसम् ॥१३॥

पण परक है इसलिए इन सत्यादिक गुणों का सर्वत्र ब्रह्मविद्या में उपसंहार होता है॥ १२ ॥

सारबोधिनी–जैसे प्रियशिरस्त्वादिक गुणों का सर्वत्र ब्रह्मविद्या में उपसंहार नही होता है वैसे ही सत्यज्ञानादिक गुणों का भी उपसंहार नहीं होना चाहिए ? इस शङ्का का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं "इतरेसत्यज्ञानानन्दादय" इत्यादि । इतर अर्थात् प्रिय शिरस्त्वादि गुणों से अतिरिक्त जो सत्यज्ञान और आनन्दादिक गुणसमुदाय हैं वे तो ब्रह्मस्वरूप के समान नित्य हैं तथा स्वाभाविक भी हैं। इसलिए सामान्यज्ञानादिक गुणों का सर्वत्र परमात्मा विद्या में ब्रह्मस्वरूपवत्. उन सत्यादिक गुणों का उपसंहार अवश्य अपेक्षित है । न तु प्रियशिरस्त्वादिकगुणवत् अनपेक्षितत्व हैं। इसलिए किसी प्रकार के आक्षेप का अवकाश नहीं है॥१३॥

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ।३।३।१४।

प्रियशिरस्त्वादीनां निरूपणन्तूपासनासिद्ध्यर्थमनुचिन्तनायैव प्रयोजनान्तराभावात् ॥१४॥

आत्मशब्दाच्च ।३।३।१५।

"अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः" [तै.२।३।] इत्यात्मशब्दादात्मनश्च शिरः पक्षाद्यसम्भवान्न तेषां ब्रह्मस्वरूपगुणत्वम् ॥ १५॥

विवरणम्—— ननु यदि प्रियशिरस्त्वादिका धर्मा न ब्रह्मस्वरूप निरूपणपरास्तर्हि तेषां निरूपणं कथं कृतमिति शङ्काया निराकरणायोपक्रमते "प्रियशिरस्त्वादीनामित्यादि" शास्त्रे प्रियशिरस्त्वादि धर्माणां यन्निरूपणं कृतं तत्तूपासना सिद्ध्यर्थम् । अर्थात् तेन रूपेण परमात्मनोऽनुचिन्तनार्थं ध्यानमात्रार्थम् । यतस्तदितरप्रयोजनस्याभावात् । अर्थादनुचिन्तनमात्रमेव प्रियशिरस्त्वादीनां निरूपणं ध्यानातिरिक्तप्रयोजनस्याभावादतो न तेषां सर्वत्रोपसंहारो भवतीति ॥१४॥

विवरणम्—"अन्योन्तर आत्मानन्दमय" इत्यादि श्रुत्यन्तरे आत्मशब्दस्य कथनात् परमात्मनश्चशिरःपाणिपादाद्यवयवस्य "अपाणि

सारबोधिनी—यदि प्रियशिरस्त्वादिक धर्म ब्रह्म स्वरूप निरूपण परक नहीं है तब इन धर्मों का कथन क्यों किया गया ? इस शङ्का का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं "प्रियशिरस्त्वादीनामित्यादि" प्रियशिरस्त्वादि गुणों का जो कथन किया गया है उसका तात्पर्य है कि उपासक सुख पूर्वक भगवान् का अनुचिन्तन कर सके तदतिरिक्त कोई भी अन्य यहाँ प्रयोजन नहीं है । यदि प्रियशिरस्त्वादि गुणवत्ता का विधान किया जाय तब तो परमात्मा में निर्विकारिता प्रातिपादक श्रुतियों का विरोध होगा ये सब विशेषण अनुचिन्तन के लिए प्रयुक्त हैं ॥१४॥

सारबोधिनी—"अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः" इस श्रुति में आत्मशब्द से परमात्मा का ग्रहण होता है । और परमात्मा में मस्तक पादादि लक्षण

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ।३।३।१६।

'अन्योन्तर आत्मानन्दमयः "[तै०२।५।] अत्रात्मशब्देन परब्रह्मण एव गृहीतिः । इतरवत् । "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यत्रात्म-

---

पादो जवनो गृहीता" इत्यादौ प्रतिषेधेनासंभवात् प्रियशिरस्त्वादि गुणानां न परमात्मगुणत्वमतो न तदादाय काचिदापत्तिरिति। यदिदं शिरः पाण्यादीनां निराकरणं तस्य तत् प्राकृतिकगुणजातानामेव न तु लोकोत्तरगुणानामित्यवधेयम् । दिव्यदेहगुणाख्याय साञ्जनेयाय शेषिणे । सानुजाय ससीताय रामाय ब्रह्मणे नमः ॥ इत्याचार्योक्तेः ॥ १५ ॥

विवरणम्–अथ प्राणमयमनोमयादि स्थले अनात्मन्यपि मनोमयादिषु आत्मशब्दस्य प्रयोगदर्शनात् "अन्योन्तर आत्मानन्दमय" इत्यत्र परिपठितात्मशब्दस्य परमात्मवाचकत्वं कथं स्यादित्याशङ्कायाः समाधाना अवयव का अभाव है "अपाणिपादो जवनो गृहीता" इत्यादि श्रुति से ऐसा सिद्ध होता हैं। इसलिए प्रियशिरस्त्वादिक जो हैं वह परमात्मा का गुण नहीं है। परमात्मा का हस्तपादादिक अवयव नहीं हैं। इस कथन का यह तात्पर्य है कि सकल साधारण के समान प्राकृतिक गुणवत्व नहीं है। लोकोत्तर अनन्त कल्याण गुणादिक तो ब्रह्म श्रीराम में ही है। क्योंकि दिव्यदेह दिव्य अत्र दिव्यगुण वाले जगज्जननी श्रीसीताजी, श्रीभरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न तथा श्रीहनुमानजी सहित परब्रह्म श्रीरामचन्द्रजी को मैं नमस्कार करता हू ऐसा आचार्य प्रवर श्रीश्रियानन्दाचार्यजीने श्रौतप्रमेयचन्द्रिका में कहा है ॥ १५ ॥

सारबोधिनी–प्राणमय मनोमय इत्यादि स्थल में तो अनात्मप्राणादिक में भी आत्मशब्द का प्रयोग देखने में आता है तो अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः" इस स्थल में आत्मशब्द परमात्मा का वाचक है यह किस युक्ति से कहते हैं। इस शङ्का का निराकरण तथा सूत्रव्याख्यान करने के लिए उपक्रम करते हैं 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः" इत्यादि। "अन्योन्तर आत्म

शब्देन परमात्मन एव ग्रहणं तद्वत् । एतच्चैतदर्थकादुत्तरात् "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय" [तै०।२।६] इत्यादिवाक्यादवगम्यते ॥१६॥

योपक्रमते "आत्मगृहीतिरित्यादि" सूत्रम् । "अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय" इत्यादि श्रुतिघटक आत्मशब्दः परमात्मन एव वाचको भवति नतु जड़स्य चेतनान्तरस्य वा । अर्थादत्रात्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणं भवति। कथम् ? इतरवत्-यथा 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' अत्रात्मशब्दः परमात्मन एव वाचकः प्रकरणस्यात्मनः सत्वात् । तथैव प्रकृतेप्यात्म शब्द परमात्मन एवग्राहकः । एतच्चोत्तरवाक्यादवगम्यते । तथाहि "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय" [सःपरमात्मा कामना सङ्कल्पं कृतवान् यदहमेकोऽपि अनेक जड़चेतनात्मकनामरूपेण परिणतः स्यामित्यर्थः] अत्र यथा बहुभवनस्य परमात्मकर्मत्वेनात्मशब्दः परमात्मवाचक एव यतस्तदन्यस्मिन् बहुभवनस्यासंभवात् । तथैव प्रकृतेप्यात्मशब्दः परमात्मन एव वाचकः। ततश्चात्मनः शिरः पादाद्यसंभवेन न प्रियशिरस्त्वादीनां परमात्मगुणत्वमिति ॥ १६ ॥

नन्दमय" यहाँ आत्मशब्द से परमकारण भूत परमात्मा का ही ग्रहण होता है इतर के समान अर्थात् "आत्मा वा इदमग्र आसीत्" [इसस्थावर जङ्गमात्मक जगत् के पूर्व में केवल परमात्मा ही थे।]इस श्रुति में जिस तरह आत्म शब्द ब्रह्म का ही वाचक है न तु जीव का अथवा जड़ प्रपञ्च का बोधक क्योंकि स्वोत्पत्ति के पूर्व में स्व की सत्ता युक्ति सिद्ध नहीं है और कारण की सत्ता तो कार्यसत्ता के पूर्वकालिक होती है। इसीतरह प्रकृत में भी आत्मशब्द परमात्मा का ही वाचक है। यह वस्तु एतदर्थक उत्तर श्रुति से जाना जाता है। तथाहि "सो कामयत बहुस्यां प्रजायेय" उस परमात्मा परब्रह्मने संकल्प किया कि एक भी मैं अनेक रूप से परिणत हो जाऊँ इत्यादि वाक्य से समझा जाता है। इसलिए "अन्योन्तर आत्मानन्दमयः" यहां भी आत्मशब्द परमात्मा का ही बोधक है ॥१६॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ।३।३।१७।

प्रथमाधीतेऽष्वनात्मपदार्थेषु प्राणमयादिष्वप्यात्मशब्दान्वयात्कथमुत्तरवाक्यान्निर्णय इति चेत् "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः [तै०।२।२।] इति प्रकृतस्यात्मन एवानन्दमयपदं यावदवधारणात्स्यादेव निर्णयः । तस्मात्प्रियशिरस्त्वादीनामनात्मधर्मत्वान्न सर्वत्रोपसंहृतिः ॥१७॥

इति श्री रघुवरीयवृत्तावानन्दाधिकरणम् ॥४॥

विवरणम्- ननु पूर्वकालिकप्राणादिष्वेवात्मशब्दप्रयोगदर्शनात् कथं प्रकृते आत्मशब्दस्य परमात्मवाचकत्वमित्याशङ्काया निराकरणायोपक्रमते " प्रथमाधीतेषु" इत्यादि । प्रथमाधीतेषु अन्नमयप्राणमयबुद्धिमयपर्यन्तेष्वनात्मसुप्राणमयादिषु जडेष्वात्मशब्दस्यान्वयदर्शनात् सम्बन्धदर्शनेन कथमुच्यते यदुत्तरवाक्यादात्मशब्दस्य परमात्मवाचकत्वनिर्णय इति चेत् तस्माद्वाएतस्मादित्यादिना प्रकृतस्य परमात्मन एवावधारणान्निर्णयो भवत्येवेति । तस्मात् प्रियशिरस्त्वादिका नात्मधर्माः किन्तु जड़धर्मा अतस्तेषां ब्रह्मविद्यासु नोपसंहारः परन्तु सत्यानन्दादीनामेव सर्वब्रह्मविद्यासूपसंहार इतिध्येयम् ॥ १७ ॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेआनन्दाद्यधिकरणम् ॥४॥

सारबोधिनी—अन्नमयादि कोश के अन्तर्गत जो प्रथम कथित अनात्मपदार्थ प्राणमयादिक है उनमें आत्म शब्द का अन्वय अर्थात् प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव लक्षण सम्बन्ध होने से किस तरह आप कहते हैं कि उत्तर वाक्य से आत्मशब्द का परमात्म विषयता का निर्णय होता है ? उत्तर="तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्यादि श्रुति से प्रकृत जो परमात्मा है उसी में आनन्दमय पद का निर्धारण होने से प्रकृत आत्मपद से परमात्मा का ही निर्णय होता है । इसलिए प्रियशिरस्त्वादिक अनात्मधर्म होने से सर्वत्र

कार्याख्यानाधिकरणम् ॥५॥

कार्याख्यानादपूर्वम् ।३।३।१८।

प्राणोपास्त्यनन्तरं छान्दोग्ये "तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्भुको ह वासोभवत्यनग्नो भवति" [छा०५।२।२।] इति श्रूयते। एतत्तात्पर्यकं वाक्यं बृहदारण्यकेऽप्याम्नायते। तत्रायं संशय किमिहाचमनं विधीयत उतापां प्राणवासस्त्वानुस-

---

विवरणम्—छान्दोग्य श्रुतौ प्राणस्योपासनाया अनन्तरं प्रतिपादितं यत् 'तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लंभुकोह वासोभवत्यनग्नो भवतीति'। तथा एतदाशयकमेव वचनं बृहदारण्यक श्रुतावपि श्रूयते। तत्र नियामकहेतोरभावाद्भवति संशयः। किमत्राचामनस्य विधानमथवा आचमनीय जलानां प्राणस्य वस्त्रत्वप्रतिपादनमिति। "तत्राचामेत्" इत्यादिविधिश्रुत्याचमनस्यैव विधेयत्वमिति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तीप्राह "कार्याख्यानादपूर्वमिति अयंभावः अप्राप्तेशास्त्रम-

परमात्मविद्या में प्रियशिरस्त्वादिकादि धर्मो का उपसंहार नहीं होता है। किन्तु सत्यज्ञानानन्दादिक गुणों का ही सर्वत्र उपसंहार है॥१७॥

इत्यानन्दाधिकरणम्

सारबोधिनी—प्राणोपासना के अनन्तर में छान्दोग्य श्रुति में "तस्माद्वा-एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भि; परिदधातिलंभुकोश्वासो भवत्यनग्नो-भवतीति" ऐसा सुनने में आता है। तथा इसीप्रकार से बृहदारण्यक श्रुति में भी प्राणोपासना के प्रकरण में कहा गया है। उसमें संशय होता है कि क्या यहाँ आचमन का विधान किया जाता है। अथवा आचमनीय जल में प्राण वस्त्रत्व का अनुचिन्तन करने का विधान है। उसमे "आचामेत्" इस प्रकार से विधिवाक्य के होने से आचमन को विधान किया जाता है। नतु आचमनीय जल में प्राणवस्त्रत्व का अनुचिन्तन क्योकि तादृशानुचिन्तन का कोई भी विधायक नहीं है। यह पूर्वपक्ष होता है। इस

न्धानम् । प्राणविद्याङ्गतयाचमनं "आचामेदिति विधिप्रत्ययाद्विधीयत इति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु "अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्" इति न्यायादाचारप्राप्तमाचमनमनूद्याचमनीयानामपां प्राणवासस्त्वानुसन्धानमप्राप्तमेवात्र विधीयते ॥१८॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ कार्याख्यानाधिकरणम् ॥५॥

र्थवत् अप्राप्तस्य वस्तुनः प्रापकत्वादेशात्तस्यार्थवत्वं भवतीति. प्राप्तप्रापकत्वे त्वनुवादं तद्भवति । अप्राप्त प्रापको वेदमार्गौ विधिरिति नियमात् अत्र चाचमनस्याचारप्राप्ततया तस्य विधाने शास्त्रमर्थवन्नस्यादतः आचार प्राप्ताचमनस्यानुवादं कृत्वाऽचमनीयजले प्राणवस्त्रत्वस्यैवविधानं भवति। आचमनीयजले प्राणस्य वस्त्रत्वानुचिन्तनमेवफलमेवंच शास्त्रमपि सार्थकम्-ततश्चाप्राप्तस्य प्राणवस्त्रत्वस्याचमनीयजले कल्पनेन जले वस्त्रत्वकल्पनां क्रियते इति ॥१८॥

इति जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्री रघुवरीयवृत्तिविवरणे कार्याख्यानाधिकरणम् ॥५॥

पूर्व पक्ष के उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि "कार्याख्यानादपूर्वमिति" "अप्राप्तेशास्त्रमर्थवद्भवति" प्रमाणान्तर से अप्राप्त पदार्थ का प्रापक होने से ही शास्त्र अर्थवान प्रयोजनवान् होता है। यहाँ तो आचार्य से "आचामेदुपवीति" इस नियम से आचमन तो प्राप्त ही है। तो तादृश आचमन का विधान करने में शास्त्र का प्रयोजन नहीं होता है अतः शास्त्र के अर्थवत्व सिद्धि के लिए आचार्य प्राप्त आचमन का अनुवाद करके तादृश आचमनीय जल में प्राणवस्त्रत्व का अनुचिन्तन किया जाता है। एतादृशानुचिन्तन किसी शास्त्र से प्राप्त नहीं है। तादृश अप्राप्त वस्तु का प्रतिपादन करने से शास्त्र अर्थवान् भी होता है। इसलिए आचार प्राप्त आचमनीय जल में वस्त्र का अनुसंधान किया जाता है। ननु आचमन का विधान ॥१८॥ इतिकार्याख्यानाधिकरणम्

समानाधिकरणम् ॥६॥

समान एवञ्चाभेदात् ।३।३।१९।

वाजसनेयकेऽग्निरहस्ये "स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपं सत्यसङ्कल्पमाकाशात्मानः" इतिश्रूयते । एवं बृहदारण्यकेऽपि "मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यम्" [बृ० ५।६।१।] इत्याम्नायते । किमियमुभयत्राम्नाताशाण्डिल्यविद्या भिन्नैवोताभिन्नेति संशयः । तत्र रूपभेदाद्भेद इति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु -- मनोमयत्वादिके समाने सति विधैक्यमेव एवञ्च वशित्वादेः सत्यसङ्कल्पत्वादिगुणाभेदान्न रूपभेदः ॥१९॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ समानाधिकरणम् ॥६॥

विवरणम्—बृहदारण्यकीयवाजसनेयि शाखयोः शाण्डिल्यविद्यासमाख्याता. तत्रोभयोर्भिन्नत्वमभिन्नत्वं वेति संशयरूपभेदाद्भिन्नत्वमिति पूर्वपक्षे वशित्वादिगुणानां सत्यसङ्कल्पत्वादिगुणभिन्नत्वेन रूपाभेदात्तयोरेकत्वमेवेति सिद्धान्तं दर्शयितुमुपक्रमते "वाजसनेयकेऽग्निरहस्ये" इत्यादि । वाजसनेयिकाग्निरहस्यप्रकरणे "स उपासकोमनोमयत्वादि सत्यसङ्कल्पान्त गुणकमात्मानमुपासीत" एवं रूपेणोपासना श्रूयते । तथा बृहदारण्यकेऽपि "मनोमयत्वादि गुणक आत्मा" इति प्रतिपाद्यते । अत्रोभयत्रप्रतिपादिताशाण्डिल्यविद्या परस्परं विभिन्ना एकैवेति संशयः।

सारबोधिनी—वाजसनेयि शाखा के अग्नि रहस्य में "मनोमय प्राण शरीरभारूप सत्य सङ्कल्पवत्वादिगुणक आत्मा का उपासन करे" ऐसा कहा गया है । और बृहदारण्यक में भी "मनोमय यह पुरुष है प्रकाशरूपसत्य सङ्कल्पादिमान हैं ।" ऐसा कहा गया है तो क्या यहाँ कही गयी शाण्डिल्य विद्या विभिन्न है ? अथवा एकरूप ऐसा सन्देह होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि दोनों जगह में रूप का भेद है और रूप

सम्बन्धाधिकरणम् ॥७॥

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ३।३।२०।

"य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षिन्" [बृ० ५।५।१।] इत्युपक्रम्य बृहदारण्यके सत्यस्य ब्रह्मण आदित्यमण्डलेऽक्षणि चोपास्योत्वमुक्त्वा "तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतम्" "तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मम्" [बृ०।५।५।३।] इति द्वे रहस्यनामनी श्रूयेते। तत्र संशयः। तयोर्यथाश्रुतं नियतं स्थानमुत स्थानद्वयेऽप्युभयोरुपसंहार इति। द्वयोरपि स्थानयोः सत्यपुरुषस्यैवोपास्यत्व,द्रूपाभेदाद्विद्यैक्यादुभयोरुपसंहार इति पूर्वपक्षः ॥२०॥

तत्ररूपभेदस्य कर्मभेदप्रयोजकत्वेनोभयत्ररूपभेदाद्भिन्नैव विद्येतिपूर्वपक्षाशयः। सिद्धान्तीप्राह "समाने" इत्यादि। मनोमयत्वादि गुणानां समाने सत्युभयत्रविद्ययोरेकत्वमेव। तथा च वशित्वादेःसत्यसङ्कल्पत्वादि गुणानामभेदात्भेदकरूपाभावेनैकत्वमेवेति ॥१९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीय वृत्तिविवरणे समानाधिकरणम् ॥६॥

भेद कर्म भेद का नियामक है। अतः रूप भेद होने से दोनों जगह विद्या का भेद ही है इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं "समाने" इत्यादि। मनोमयत्वादि गुणों को उभयत्र समानत्ता अर्थात् एकत्व होने से विद्या में एकता मानना ही ठीक है। ऐसा हुआ तब वशित्वादिक गुणों को सत्यसङ्कल्पत्वादि गुणो के साथ अभेद होने से रूप में भेद नहीं है। अतः विद्या में भी भेद नहीं होता है ॥१९॥

इतिसमानाधिकरणम् ॥

सारबोधिनी—जो पुरुष आदित्यमण्डल में देखने में आता है और जो यह पुरुष दक्षिण नेत्र में देखने में आता है। इस प्रकार से प्रारंभ करके बृहदारण्यक श्रुति में सत्यपरब्रह्म को आदित्यमण्डल तथा दक्षिण नेत्र

न वा विशेषात् ।३।३।२१।

एवं पूर्वपक्षिते सिद्धान्तयति। न द्वयोरुपसंहृतिर्द्वयोरुपास्य भेदात्। आदित्यादिस्थानयोर्भेदेन रूपभेदे विद्याभेदात् ॥२१॥

विवरणम्-"य एतस्मिन्मण्डले पुरुषः" इत्युपक्रम्यबृहदारण्यक श्रुतौ परब्रह्मण आदित्यमण्डले दक्षिणनेत्रे चोपास्यत्वं प्रदर्श्य तस्य रहस्यं लाभद्वयं कथितम्। "तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतम् "तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मम्" इत्येवं क्रमेण रहस्यात्मकनामद्वयं कथितवान्। तत्र संशयो जायते यत् तयोर्यथा श्रुतमेवस्थानम् अथवा द्वयोः स्थानयोर्गुणोपसंहार इति। तत्र स्थानद्वयेप्यैकस्यैवोपास्यत्वस्य श्रवणाद्रूपाभेदादुभयत्र गुणोपसंहार एवेति पूर्वपक्षः ॥२०॥

विवरणम्-- पूर्वकथितप्रकारेण पूर्वपक्षे जाते सिद्धान्तयति "न वेत्यादि" विद्याया एकत्वान्नामद्वयस्योभयपुरुषे उपसंहार इति न में उपास्यत्व का कथन करके "उसका अहः यह आधिदैवत नाम है।" तथा उसका "उपनिषत् मै हूँ" इस प्रकार से अध्यात्म रूप का कथन किया गया है। इस प्रकार से दो रहस्य नाम है ऐसा सुनने में आता है। उसमें यह सन्देह होता है कि उन दोनों का यथाकथित ही स्थान है अथवा स्थान द्वय में दोनों का उपसंहार होता है। उसमें पूर्व पक्ष वादी कहते हैं कि आदित्यमण्डल तथा दक्षिण नेत्ररूप दोनों में एक ही सत्य परमपुरुष उपास्य होने से रूप में तो कोई भेद नहीं हैं तो विद्या के एक होने से दोनों गुण का दोनो जगह उपसंहार होना चाहिए क्योंकि रूप भेद हीं उपसंहार का बाधक है। और प्रकृत में तो रूप भेद नहीं है। इसलिये दोनों जगह उपसंहार होता है ॥२०॥

सारबोधिनी-इस प्रकार से पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती कहते हैं कि एक विद्या में जो गुण कहा गया है उसका उपसंहार अन्यत्र नहीं हो सकता है। क्योंकि उभयस्थान स्थित उपास्य में भेद है। आदित्य स्थान तथा

दर्शयति च ।३।३।२२।

विद्याभेदेन गुणानुपसंहृतिं दर्शयति च श्रुतिः । तस्यैतस्य तदेवरूपं यदमुष्यरूपम्" [छा० १।७।५।] इति रूपातिदेशेन । स्वतोऽप्राप्ते ह्यतिदेशः ॥२२॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ सम्बन्धाधिकरणम् ॥७॥

वक्तव्यं यतो विशेषस्य श्रूयमाणत्वात् । अर्थात् उभयत्रादित्यमण्डले दक्षिणनेत्र चोपास्ययोर्भेदात् । आदित्यमण्डलनेत्ररूपस्थानभेदेन रूपभेदे विद्याभेदस्यावश्यकत्वादिति ॥२१॥

विवरणम्—विद्याया भेदे गुणानामन्यत्रोपसंहारो न भवतीति स्वयमेव दर्शयतीत्याशयेनोपक्रमते विद्याभेदेनेत्यादि । सतिविद्याभेदे गुणोपसंहारो न भवतीत्यर्थः । अपि च विद्यान्तरे सूर्यमण्डलस्थपुरूषस्य हिरण्यश्मश्रुत्वादिरूपप्रतिपाद्य तादृशस्य नेत्रस्थपुरुषेऽतिदेशं करोति "तस्यैतदेवरूपम्" स्वतोऽप्राप्तस्यैववस्तुनोऽतिदेशोभवति अतोऽतिदेशाज्ज्ञायते यत् विद्याया भेदः भेदाच्च गुणोपसंहारो न भवतीतिसंक्षेपः ॥२२।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे सम्बन्धाधिकरणम् ॥७॥

दक्षिण नेत्र लक्षण स्थान के भेद होने से रूप में भेद होता है। और रूप भेद होने से विद्या में भेद है। इसलिए उभयगुण का उभय में उपसंहार नहीं होता है वे दोनों भिन्न है ॥ २१ ॥

सारबोधिनी—विद्या के भेद होने से गुणोपसंहार नहीं होता है। इस बातको श्रुति स्वयं बतलाती है उसे "दर्शयति च " इस सूत्र के द्वारा बतलाते हैं। विद्यान्तर में सूर्यमण्डलस्थ पुरुष का हिरण्यश्मश्रुत्व रूप को बतला करके श्रुति कहती है कि 'तस्यैतस्य तदेवरूपम्' [इस नेत्रस्थ पुरुष का वही रूप है जो रूप आदित्यमण्डलस्थ पुरुष का है] इस प्रकार रूप के अतिदेश द्वारा जिसमें जो वस्तु स्वतः प्राप्त नहीं रहती है उसी में उसका

सम्भृत्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ।३।३।२३

तैत्तिरीयके "ब्रह्मज्येष्ठा वीर्यासम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान" इत्यादि श्रूयते । तत्र संशयः । सम्भृतिद्युव्याप्त्यादिगुणानां सर्वविद्यास्वुपसंहृतिरुतविशेषोपासन एवेति । अनारभ्याधीतत्वेनैषां सर्वत्रोपसंहृतिरिति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु- द्युव्याप्तिसामर्थ्यान्नाल्पस्थानीयविद्यास्वुपसंहृतिरपितु सम्भृत्यादिगुणकं विशिष्टस्थाननियतमेवोपासनमिदम् ॥२३॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ सम्भृत्यधिकरणम् ॥८॥

विवरणम्- विद्यान्तरं प्रस्तौति "तैत्तिरीयके" इत्यादि । तैत्तिरीयशाखायां "ब्रह्मज्येष्ठावीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे" इत्यादि श्रूयते । तत्र संशयो संभवति यत् ये इमे संभूतिद्युव्याप्तिकादिगुणाः सन्ति तेषां गुणानां शाण्डिल्यादिविद्यायामुपसंहारो भवति अथवा न विद्यान्तरमेवेदमिति । तत्रानारभ्याधीतत्वात् सर्वविद्यास्वुपसंहारःप्रदर्शितगुणानामिति पूर्व

प्रकरणान्तर से अतिदेश [आनयन] किया जाता है तो अतिदेश होने से सिद्ध होता है कि विद्या भिन्न - भिन्न हैं। और जब विद्या का भेद है तब गुणोपसंहार कैसे हो सकता है ॥ २२ ॥

सारबोधिनी–तैत्तिरीयक शाखा में "ब्रह्मज्येष्ठवीर्या संभृतानि" इत्यादि संभृत्यादि गुणक उपासन सुनने में आता है। इसमें संशय होता है कि यह जो संभृति द्युव्यापित्वादि गुण हैं इन गुणों का शाण्डिल्यादि सर्व विद्या में उपसंहार होता है। अथवा नहीं या यह यथोक्त गुणवाला एक विशिष्ट उपासनान्तर है । उसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि यह संभृत्यादि गुण अनारभ्याधीत है अर्थात् सामान्य रूप से इनका कथन किया है अतः इन सब गुणों का शाण्डिल्यादि सर्व उपासन में उपसंहार होना चाहिए। क्योंकि यदि ये गुण विशिष्ट स्थानादि से नियत होते तब रूप भेद होने से यह विद्यान्तर

॥ पुरुषविद्याधिकरणम् ॥ ९ ॥

पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नात् ।३।३।२४

छान्दोग्यतैत्तिरीयकयोः समाम्नाता पुरुषविद्यैकैवोत भिन्नेति संशयः। पुरुषविद्येति समाख्यया विद्यैक्यमिति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु - पुरुषविद्यायामपि रूपफलादिभेदाद्विद्याभेदः। तथाहि—पुरुषादेर्यज्ञादिकल्पनं

पक्षः। तत्र सिद्धान्तं सूत्रेण दर्शयति "संभृती"त्यादियद्यपि अनारभ्याधीतः अर्थात् सामान्यरूपेण कथिता इमे गुणाः तथापि द्युसंभृतिद्युव्याप्तत्वादिगुणानां सामर्थ्यादल्पस्थानीयविद्यासुनोपसंहारः किन्तु संभृतिद्युव्याप्तत्वादिगुणकमुपासनान्तरमेवेदमिति नैतेषां गुणानां सर्वविद्यायामुपसंहारः। प्रकृतोपासनस्यविशिष्टस्थाननियतत्वेन विभिन्नैवेयं विद्यारूपभेदात्। तत्वाच्चनान्यत्रोपसंहार इति ॥ २३ ॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्री रघुवरीयवृत्तिविवरणे सम्भृत्यधिकरणम् ॥८॥

विवरणम्—छान्दोग्योपनिषदि पुरुषविद्या कथिता "पुरुषोवाव यज्ञः" इत्यादिना। तैत्तिरीयकेऽपि पुरुषविद्याश्रुता " तस्यैवं पुरुषस्ययज्ञ-

कहलाता पर रूप भेद नहीं है। इसलिए इन गुणों का सर्वविद्या में उपसंहार होना चाहिए यह पूर्वपक्ष का आशय है। सिद्धान्तवादी कहते हैं संभृत्यादि द्युव्याप्त्यादि के सामर्थ्य से अल्पस्थानीय विद्याओं में इन गुणों का उपसंहार नहीं होता है। क्योंकि संभृति गुणवाला विशिष्ट स्थान से नियत यह एक विद्यान्तर है। यह महास्थान नियत उपासनान्तर ही है। जब विशिष्ट स्थानीय संभृत्यादि गुणवाला यह उपासनान्तर है तब रूप भेद होने से संभृत्यादि गुणों का सर्व शाण्डिल्यादि विद्याओं में उपसंहार नहीं होता है ॥२३॥

इति संभृत्याधिकरणम् ॥

सारबोधिनी—छान्दोग्योपनिषत् में तथा तैत्तिरीयकोपनिषद् में पुरुष विद्या नाम के विद्या का कथन है 'पुरुषोवावयज्ञः' इत्यादि। तथा 'तस्यैवं

छान्दोग्ये कृतमस्ति न तथा तैत्तिरोय इति रूपभेदः। एवं छान्दोग्ये ह्यायुःप्राप्तिरूपं फलमुक्तं तैत्तिरीये तु ब्रह्मप्राप्तिरूपं तदिति फलसंयोगभेदस्तथा च विद्याभेदान्न तत्रान्यत्र श्रुतानां गुणानामुपसंहृतिः ॥२४॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ पुरुषविद्याधिकरणम् ॥ ९ ॥

स्येत्यादि प्रकरणेन। ततः सन्देहः किमयंपुरुषविद्या सामानाविभिन्नावेति। तत्र पुरुषविद्येति समाख्यायाः समानत्वादेकैवविद्येति पूर्व पक्षः। सिद्धान्तस्तु समाख्याया एकत्वेऽपिरूपफलभेदादीनां सत्वात् विद्याभेद एवेत्याशयमाविष्कर्तुंप्रक्रमते"छान्दोग्यतैत्तिरीकयोरित्यादि।" छान्दोग्योपनिषदि. तैत्तिरीयोपनिषदि च पुरुषविद्या श्रूयते तत्र छान्दोग्ये "पुरुषोवाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि" इत्यादि। एवं तैत्तिरीयके "तस्यैवं विदुषोयज्ञस्य" इत्यादि। अत्रोभयत्रविद्यैक्यं तद्भेदोवेति संशयः। तत्र पुरुषविद्येति समाख्यायाः अर्थान्नाम्नः समानत्वादेकैववि-

विदुषोयज्ञस्य' इत्यादि। तो सन्देह होता है उभयस्थल में कथित जो पुरुष विद्याएं हैं वे एक हैं अथवा विभिन्न। इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि दोनों विद्याएं एक ही हैं क्योंकि दोनों का नाम अर्थात् सामाख्या एक ही है। छान्दोग्य में पुरुष विद्या ऐसा नाम है तथा तैत्तिरीयक में भी यही नाम है। तो नाम का एकत्व होने से उभयत्र पुरुष विद्या एक ही है। इस पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्तवादी कहते हैं कि 'पुरुषविद्यायामपीत्यादि सूत्र। अर्थात् एक शाखीय पुरुष विद्या में भी रूप फल प्रभृति के भेद होनेसे जब विद्या भेद हो जाता है। तब शाखान्तरीय पुरुष विद्यामें भेद होना यह तो स्वतः सिद्ध ही है तथाहि छान्दोग्योपनिषद् में पुरुष में यज्ञ की कल्पना की गई है पर तैत्तिरीयक में पुरुष में यज्ञ को कल्पना नहीं, तो इस प्रकार से उभयत्ररूप का भेद है तथा रूपभेद विद्या प्रयोजक है एवं छान्दोग्य में एतादृश विद्या का उपासक व्यक्ति के पूर्णायु प्राप्ति रूपफल कहा गया है और तैत्तिरीयक में आयु

द्येति पूर्व पक्षः । सिद्धान्तवादी कथयति पुरुष निद्यायामित्यादि सूत्रम् । यदा खलु पुरुषविद्यायामपि रूपफलादिभेदाद्विद्याया भेदोभवतिसती शाखायाम्.तदा का कथा विभिन्नशाखास्थितविद्यायामिति । छान्दोग्ये पुरुषस्य यज्ञादिककल्पनमकरोत्. न तत् शाखान्तरे. तस्मादुभयोरूप भेद एवं फलं छान्दोग्ये ह्यायुषः प्राप्तिर्दर्शितो तैत्तिरीयकेतु ब्रह्मप्राप्ति रेवफलं प्रदर्शितवानित्येवमुभयत्र फलभेदोऽपि दर्शितः । इति रूपफला भ्यां भेदाद्विद्ययोर्भेद विद्याभेदेचान्यत्र श्रुतानां गुणानां कथमन्यतो पसंहारः स्यात् । तस्मात् रूपफलभेदाद्विद्याभेदो विद्याभेदाच्च नान्यत्रश्रुतानां गुणानामन्यत्रोपसंहार इति सूत्रवृत्त्योरभिप्राय इति संक्षेपः ॥ २४ ॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे पुरुषविद्याधिकरणम् ॥९॥

प्राप्ति फल न कह करके "फलवान् के समीप में जो अफलवान् है वह फलवान् का अंग होता है।" इस न्याय से तादृश विद्योपासक को साक्षात् ब्रह्म प्राप्ति लक्षणफल का ही प्रतिपादन किया है तो इस प्रकार से फल संयोग भी भिन्न है। इस स्थिति में जहाँ रूप तथा फल संयोग का भेद है तब विद्या की एकता किस तरह से हो सकती है अतः उभय शास्त्रीय विद्या का भेद सिद्ध होता है। और जब विद्या का भेद हुआ तब एक जगह में श्रूयमाण जो गुण है उसका उपसंहार किस तरह से हो सकता है। अर्थात् एक स्थल में श्रूयमाणा गुणों का अन्य स्थल में उपसंहार नहीं हो सकता है। क्योंकि विद्या का भेद है और उसके भेद में रूप तथा फल भेद प्रयोजक होता है वह प्रकृत में विद्यमान है। अतः दोनो विद्याएं भिन्न हैं। अतएव एकत्र श्रूयमाण गुण का अन्यत्रोपसंहार नहीं होगा ॥ २४ ॥

इति पुरुषविद्याधिकणम् ॥

❁ वेधाद्यधिकरणम् ॥१०॥ ❁

वेधाद्यर्थभेदात् ।३।३।२५।

"शुक्रं प्रविध्य "हृदयं प्रविध्य" "शन्नो मित्रः" देवा हवै सत्रं निषेदुः "देवः सवितः" इत्यादिमन्त्रानाथर्वणिकतैत्तिरीयप्रभृतयः स्वोपनिषदारम्भे पठन्ति । तत्र संशयः किमेषां मन्त्राणां विद्याङ्गत्वमस्ति न वेति । विद्यासन्निधावाम्नानाद्विद्याङ्गत्वमिति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु–"शुक्रं प्रविध्य हृदयं प्रविध्ये" ति सामर्थ्यादभिचारादिष्वेतेषां विनियोगवत्–"शन्नो मित्रः इत्यादीनामप्यध्ययने विनियोगः सामर्थ्यादेव । नत्वेतेषां विद्याङ्गत्वमिति न सर्वत्रोपसंहृतिरिति ॥ २५॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ वेधाद्यधिकरणम् ॥१०॥

विवरणम्–"शुक्रं प्रविध्य "शन्नो मित्रः" इत्यादिका मन्त्रा स्तत्तदुपनिषदारंभे परिपठिताः। तेषां विद्याङ्गत्वं संभवति? इति संशयः । विद्यासंनिधौपाठाद्विद्याङ्गत्वमिति पूर्वपक्षः । विद्यासंन्निधौकथितानामेतेषां स्वसामर्थ्यात् "शुक्रं प्रविध्य" इत्यादिकानामभिचाराख्येयागेऽङ्गत्वं "शन्नो मित्रः" इत्यध्ययने विनियोगान्न विद्याङ्गत्वमित्याशयमादाय सूत्रं व्याख्यातुं प्रक्रमते "शुक्रंप्रविध्य" इत्यादि । "शुक्रं प्रविध्य" इत्यादिकान् मन्त्रान् तत्तत्शाखाध्यायिनः स्वकीय स्वकीय उपनिषदः प्रारम्भकाले परिपठन्ति । तत्रायं संशयो भवति यदिमे मन्त्राविद्याङ्गत्वं भजन्ति नवेति । तत्रविद्यासमीपे परिपठितानामेतेषां विद्याङ्गत्वं संभवत्येवेति पूर्वपक्ष वादिनः संगिरन्ते । तमिमं पक्षं

सारबोधिनी–शुक्रं प्रविध्य" इत्यादि मन्त्र को आथर्वणिक तैत्तिरीय प्रभृति सर्वशाखाध्यायी लोक अपने - अपने उपनिषद के आरंभ में पढ़ते हैं । तो इसमें सन्देह होता है ये यथोक्त मन्त्र समुदाय विद्या के अङ्ग हैं अथवा नहीं। इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि विद्या के प्रकरण में इन सब "शुक्रं प्रविध्य" "शन्नो मित्रः" मन्त्रों का पाठ होने से पाठ प्रमाण से ये सब मन्त्र विद्या

॥ हान्यधिकरणम् ॥११॥

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दः स्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥ ।३।३।२६।

आथर्वणिकाः "तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" [मु०।३।१।३।] इति समामनन्ति । शाट्यायनिनः तस्य पुत्रादायमुपयन्ति "सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्" इति । कौषीत-

---

निराकर्तुमाह "वेधाद्यर्थभेदादिति" अयंभावः "शुक्रं प्रविध्य" "हृदयं प्रविध्य" इत्यादिमन्त्राणां स्वकीयसामर्थ्यबलात् "श्येनेनाभिचरन् यजेत" इत्याद्यभिचारयज्ञस्यैवाङ्गत्वं ननु विद्यारंभे परिपाठेऽपि विद्याङ्गत्वं सामर्थ्याभावादिति । तथा "शन्नो मित्रः" इत्यादीनां पूर्ववत् न विद्याङ्गत्वमपितु स्वकीयशाखाध्ययनाङ्गत्वमेवेति । ततश्च तादृशानां तेषां न सर्वत्रोपसंहारस्य चर्चाऽपि प्रादुर्भवतीति ॥२५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे वेधाद्यधिकरणम् ॥१०॥

के अङ्ग हैं । इसके उत्तर में सिद्धान्त कहते हैं "वेधाद्यर्थ भेदादिति" अर्थात् जैसे "शुक्रं प्रविध्य " इन मन्त्रों का स्वकीय सामर्थ्य से "शत्रुमारणकामः श्येनेनाभिचरन् यजेत" इत्यादि अभिचारयागाङ्गत्व है । उसी तरह " शन्नो मित्रः" इत्यादिक मन्त्र का भी तदीयशाखा के अध्ययन में अङ्ग है । पर ये सब मन्त्र विद्या के समीप में परिपठित होने पर भी सामर्थ्याभाव से विद्या के अङ्ग नहीं है । इसलिए विद्या मात्र में इनका उपसंहार करना उचित नहीं ॥ २५॥

इति वेधाद्यधिकरणम् ॥

सारबोधिनी—मुमुक्षु पुरुष का जो सुकृत दुष्कृत है उसका विनाश तथा अन्यत्र प्रवेश का विकल्प है अथवा समुच्चय होता है । इसका निर्णय करने के लिए उपक्रम करते है "आथर्वणिकाः " इत्यादि । आथर्वणिक लोग

किनस्तु-" तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते" तस्य प्रिया ज्ञातयः "सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुस्कृतम्" (कौ.१।४) इति अत्रपुण्यापुण्ययोर्हानिः प्रथमे वाक्ये विमुक्तयोस्तयोरन्यत्र प्रवेशो द्वितीये तृतीये तु तयोर्हानिरन्यत्र प्रवेशश्चेत्युभयमभिधीयते। यत्रहान्युपायनोभयचिन्तनानां विकल्पः समुच्चययो वेति संशयः। भेदेनैकैकस्याम्नानाद्विकल्प एवेति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु-सूत्रे तु शब्दः परिवृत्तौ। उपायनशब्दस्य हानिवाक्यशेषत्वात्, द्वाभ्यामप्येकार्थौ विधीयत इति समुच्चय एव। विभिन्नस्थानिकानां वाक्यानामपि परस्परं शेषशेषिभावो भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह- कुशाः।

विवरणम्-मोक्षं जिगमिषोर्मुनेः सुकृतदुष्कृतयोः क्वचित्हानमात्रं श्रूयते, क्वचित्तयोरन्यत्रगमनं श्रूयते क्वचिदुभयं श्रूयते इति। तत्र हानोपायनानुचिन्तनयोर्विकल्पः समुच्चयो वेति संशय्य भेदपूर्वकमेकत्र कथनाद्विकल्प इति पूर्वपक्षं कृत्वा उपायनशब्दस्य हानिशेषत्वमङ्गीकृत्यतयोः समुच्चय एवेति सदृष्टान्तं प्रदर्शयितुमुपक्रमते "आथर्वणिका" इत्यादि। अथर्वणशाखाध्येतारो वक्ष्यमाणप्रकारेण कथयन्ति

वह तत्त्वज्ञानी विद्वान् पुण्य पापकर्म का निवास करके सर्वपाप रहित होने से सर्वक्लेश रहित होकर के परमेश्वर के साथ परम समता को प्राप्त करता है" ऐसा कहते हैं। और शाट्यायनि लोग 'उसके दायभाग को पुत्र प्राप्त करता है सुकृत को मित्र वर्ग लेते हैं और पापकर्म को शत्रुवर्ग लेते हैं" ऐसा कहते हैं। और कौषीतकि शाखावाले 'वह सुकृत दुष्कृत को विनष्ट कर देता है उसके प्रिय ज्ञाति लोग सुकृत को ले लेते हैं और जो अप्रिय ज्ञाति वर्ग हैं वे पापकृत्य का ग्रहण करते हैं" यहाँ पुण्यपाप का हानि होती है ऐसा प्रथम वाक्य आथर्वणिक शाखा वाक्य में सुना जाता है। तथा द्वितीयशाट्यायनि वाक्य में विभक्त पुण्यपाप का अन्यत्र गमन होता है। और तृतीय कौषीतकि वाक्य में सुकृत दुष्कृत का विनाश तथा अन्यत्र गमन

यथा "कुशाः वानस्पत्याः" इत्यादिवाक्यस्य "औदुम्बर्यः कुशाः" इति भिन्नदेशस्थवाक्यशेषत्वम् । यथा "देवासुराणां छन्दोभिः" इति वाक्यस्य "देवच्छन्दांसि पूर्वम्" इति स्थानान्तरीयं क्रमपरवाक्यम्। यथा "हिरण्येन षोडशिनस्तोत्रमुपाकरोति' इति वाक्यस्य प्रदेशान्तरस्थ "समयाविषिते सूर्ये षोडशिनस्तोत्रमुपाकरोति" इति वाक्यम् ।

यत्तदामोक्षाव्यवहितपूर्वकाले विद्वान परमात्म स्वरूपभिज्ञ उपासकः पुण्यपापे शुभाशुभकर्मणी विधूय पुण्यपापकर्मणो विनाशं कृत्वा "निरञ्जनः" सर्वक्लेशरहितो भूत्वा परमं विलक्षणं साम्यं गुणाष्टका विर्भावात् परमेश्वरसादृश्यमुपैति प्राप्नोति अर्थात् सर्वदुःखादिरहितः सन् भगवतो रामस्य साकेतधामं प्रति समुपसर्पति विमुक्तोभवतीत्यर्थः । तथाशाट्यायनिनस्तु इत्थमुदाहरन्ति । "तस्य शरीरादुत्क्रामत उपासकस्यदायभागादिकं पुत्रकलत्रादय उपयन्ति प्राप्नुवन्ति तथा सुहृदो मित्रवर्गाः साधुकृत्यमभुक्तपुण्यमुपगच्छन्ति. द्विषन्तोऽमित्रवर्गाः पापकृत्यं पापमधिगच्छन्ति इति । कौषीतकिशाखिनस्तु "तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते " पुण्यपापयोर्विनाशो जायते. प्रियाज्ञातयः पुत्रादिकाः सुकृतं

यह दोनों सुनने में आता है तो जिस स्थलमें हानि उपायन दोनों का श्रवण है उस स्थानमें उभय के अनुचिन्तन में विकल्प होता है अथवा समुच्चय ऐसा सन्देह होता है । यहाँ पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि भेद पूर्वक एक एक कथन होने से विकल्प ही है समुच्चय नहीं । क्योंकि समुच्चय माने तब तो भेद पूर्वक कथन असंगत हो जायगा । इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते है 'हानौ तु " इत्यादि । इस सूत्र में जो 'तु' शब्द है वह विकल्पात्मक पूर्वपक्ष का निराकरणपरक है । यहाँ उपायन शब्द हानि वाक्यका शेष है अर्थात् अङ्ग है । और अङ्गहीन वाक्य है उपायन वाक्यहीन वाक्यका अङ्ग है । हानवाक्य तथा उपायनवाक्य दोनो ही एक ही अर्थ के प्रतिपादक हैं । अतः इन दोनों का एक कार्य कारित्व है । इसलिए हान उपायन का समुच्चय है परस्पर

यथा च "ऋत्विज उपगायन्ति" इति वाक्यस्य "नाध्वर्युरुपगायेत्" इति वाक्यम् । एवमत्राप्युपायनवाक्यस्य हानिवाक्यशेषत्वम् । तदुक्तम् "अपितु वाक्यशेषः स्यादित्यादिना पूर्वतन्त्रे ॥२६॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ हान्यधिकरणम् ॥११॥

तदीयं पुण्यं प्राप्नुवन्ति । अप्रियाद्वेष्टारः पापकृत्यमपुण्यमुपगच्छन्ति प्राप्नुवन्तीति । तत्राथर्वणिकानां सुकृतदुष्कृतयोर्हानिः श्रूयते द्वितीये शाट्यायनिवाक्ये तयोः सुकृतदुष्कृतयोः पुत्रादावन्यत्रवा गमनमात्रं तृतीये कौषीतकिवाक्ये सुकृतस्यदुष्कृतस्य च हानिरन्यत्रगमनमित्युभयं श्रुतं भवति। तत्र यत्र हान्युपायनयोरुभयोरप्यनुचिन्तनं तत्रोभयोश्चिन्तनयोर्विकल्पः समुच्चयो वा भवतीति संशयो जायते । तत्रहानि चिन्तनोपायनचिन्तनयोर्भेदेन. एकस्यैकस्य च पार्थक्येन प्रतिपादनाद्विकल्प एव कर्त्तव्य इति पूर्वपक्षाशयः । तत्र सिद्धान्तवादी कथयति "हानौतूपायनेत्यादि" अत्र सूत्रघटकस्तु शब्दो विकल्प इति पूर्वपक्षस्य निवर्तको भवति अर्थात् नात्र हान्युपायनचिन्तनयो विंकल्पोऽपितु समुच्चय एव । कुतः ? हानौतु उपायनशब्दशेषत्वात्—अर्थात् उपायनशब्दस्तु हानिशब्दस्याङ्गभूत एव यतो हान्युपायनयोरेकार्थकारित्वादतः समुच्चय विकल्प नहीं । क्योंकि विकल्प में अनेक दोष होते है । जिनका निरूपण पूर्वतन्त्र में किया गया है विशेष जिघृक्षु व्यक्ति पूर्वतन्त्र से ही इस विषय को जान लें । यहाँ तो अक्षर का अर्थमात्र किया गया है । विभिन्न देश में स्थित वाक्यों का विभिन्न देशस्थित वाक्य के साथ परस्पर शेषशेषी अङ्गागीभाव होता है । इसमें सूत्रकार अनुरूप दृष्टान्त बतलाते है "कुशा" इत्यादि । जिस तरह "कुशावानस्पत्याः" [कुशावनस्पति सम्बन्धी होता है ।] इस वाक्य को "औदुम्बर्यः कुशाः"[कुशा उदुम्बर गूलर सम्बधी है ।] इस विभिन्न देशस्थ वाक्य का शेष होता है । यथावा "देवासुराणां छन्दोभिः " [देव तथा असुरों को छन्द के द्वारा"] इस वाक्य का "देवच्छंदासि पूर्वम्"

एव युक्तः। विभिन्नस्थानवर्तिनामपि वाक्यानां परस्परं शेषशेषिभावस्य दर्शनात्। एतस्मिन्नर्थेदृष्टान्त स्त्रयमेवसूत्रकारदर्शयति "कुशाच्छन्दः" इत्यादि। अयंभावः यथा "कुशावानस्पत्याः" इत्यस्यशेषोभवति "औदुंवर्यः कुशाः" इति विभिन्नदेशस्थानिकः। यथावा "देवासुराणां छन्दोभिः" अस्य वाक्यस्याङ्गभावं भजते "देवच्छन्दांसि पूर्वम्" इतिस्थानान्तरीयं क्रमबोधकं वाक्यम्। यथा वा "हिरण्येन षोडशिनस्तोत्रमुपाकरोति" अस्यवाक्यस्याङ्गभावं भजते "समयाविषिते सूर्येषोडशिनस्तोत्रमुपाकरोतीति वाक्यम्। यथा वा "ऋत्विज उपगायन्ति" अस्यवाक्ये "नाध्वर्युरुपगायेत्' इतिवाक्यमङ्गभावं भजते। यथा प्रदर्शितवाक्यानां विभिन्नदेशान्तरीयवाक्योऽङ्गो भवति तथैव प्रकृतेऽपि हानिवाक्यशेषत्वमेवोपायनवाक्यस्य भवति। तस्मादत्र समुच्चय एव भवति नतु परस्परं विकल्प इति न कोपि दोषः पदमादधातीति। तदुक्तं समानतन्त्रजैमिनीये "अपितु वाक्य शेषः स्यादन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्" इति ॥२६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे हान्यधिकरणम् ॥११॥

[देवताओं का छन्द पूर्व में होता है।] इस विभिन्न देशस्थित वाक्य का अङ्ग होता है जो वाक्य के क्रम बोधक है तथा उसका अङ्ग होता है। तथा जिस तरह "हिरण्येनषोडशिनस्तोत्रमुपाकरोति" इस वाक्य का प्रदेशान्तर में स्थित "समयाविषितेसुर्येषोडशिनमुपाकरोति" यह वाक्य अङ्ग होता है। यथावा "ऋत्विजउपगायन्ति" इस वाक्य का "नाध्वर्युरुपगायेत्" यह वाक्य अङ्ग होता है। इसी तरह से प्रकृत में भी उपायन शब्द हानवाक्य का शेष अङ्ग होता है इसलिए कोई भी दोष नहीं होता है। जैमिनी मीमांसा में भी इस बातका "अपितु वाक्य शेष स्यात्" इत्यादि प्रकरण में स्पष्टीकरण किया है। इस विषय को वहीं देखें ॥२६॥

इतिहान्याधिकरणम् ॥

॥ साम्परायाधिकरणम् ॥१२॥

साम्पराये तर्तव्याभावात्तथाह्यन्ये ।३।३।२७

पुण्यापुण्ययोर्यद्धानादिचिन्तनं तद्देहावसानेऽध्वनि चानुष्टेयमुत देहावसान एवेति संशयः । तत्र छान्दोग्ये "अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्" [छा०८।१।१३।] इति देहावसाने हानं श्रूयते । कौषीतकिनस्तु– "स एतं देवयानं पन्थानमित्यारभ्य तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते" [कौ० ५।३।४।] इत्यध्वनि समामनन्ति । अतो वचनबलाद्देहावसानेऽध्वनि च तच्चिन्तनमिति पूर्वः पक्षः । अत्राभिधीयते–"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" [मु०२।२।८] "स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" [छा०७–।२६।२।] इत्यादि श्रुतिभिर्देहावसान एव विदुषः पुण्यपापयोर्हानचिन्तनम् । "तस्य तावदेव चिरम्" [छा०६।१४।२।] इति श्रुतेर्विदुषो यो ब्रह्मप्राप्तिमन्तरेण पुण्यापुण्ययोर्भोक्तव्ययोरभावात् ॥२७॥

विवरणम्–तत्वज्ञानिनः पुण्यपापयोर्यद्धानादिचिन्तनं तत् देहावसानेमार्गेचोभयत्रापि अथवा केवलं देहावसान समये एवेति संशयः । वचनबलादुभयत्रापिचिन्तनीयमिति पूर्वपक्षः । तर्तव्याभावाद्देहावसानेति सिद्धान्तस्तमिमं सर्वपक्षं पिण्डिकृत्य दर्शयितुमुपक्रमते "पुण्यापुण्ययोरीत्यादि" पुण्यापुण्ययोः सुकृतदुष्कृतहानोपायनयोरनुचिन्तनं कर्त्तव्यमिति पूर्वं प्रकृतम् । तद्देहावसाने मार्गे उभयत्रापि वा कर्त्तव्य-

सारबोधिनी–पुण्य कर्म तथा पाप कर्मका जो हान तथा उपायन का अनुचिन्तन है वह देहावसान में तथा गन्तव्य मार्ग में उभयस्थल में अनुचिन्तन है अथवा केवल देहावसान कालमें ही हानोपायन का अनुचिन्तन अनुष्ठेय है एतादृश संशय होता है इस विषय में छान्दोग्य श्रुति में "अश्व जिस तरह रोमस्थित कस्मलता का परित्याग करता है उसी तरह पाप का परित्याग करके" कहा है । तो यहाँ देहावसान काल में हान का प्रतिपादन है । तथा कौषीतक में "वह इस देवयान मार्ग को" यहाँ

छन्दत उभयविरोधात् ।३।३।२८।

ब्रह्मोपासनसामर्थ्याद्देहावसान एव पुण्यापुण्ययोर्हानचिन्तनमिति निश्चिते सति " अश्व इव रोमाणि विधूय" " तस्य तावदेव " इत्युभयश्रुत्यविरोधात् " तत्सुकृत दुष्कृते धुनुते" [कौ०५।३।४।] इति वाक्यखण्डः "एतं देवयान" मितिवाक्यखण्डाच्छन्दतो नेयः ।।२८।।

मिति संशयः । तत्र छान्दोग्यप्रकरणे "अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्" अत देहावसाने तयोर्हानिं श्रूयते । कौषीकितिनां तु "स एतं देवयानं पन्थानम्" इत्यारभ्य मार्गेतयोर्हानं कथयन्ति । इत्यादि वचनानां प्रामाण्यादुभयत्रापि तदनुचिन्तनमिति प्रथमः पक्षः । सिद्धान्तस्तु " साम्परायतर्तव्याभावादिति" अयमर्थः "क्षीयन्तेचास्य कर्माणि स्मृतिलम्भे" इत्यादिवचनप्रामाण्यात् तर्तव्ययोर्भोक्तव्ययोः शुभाशुभयोरभावेन देहावसानकाले एव पुण्यापुण्ययोर्हानानुचिन्तनं कर्त्तव्यम् । यदि कदाचिदेहावसानात् परकाले मार्गे भोक्तव्यं किञ्चिदवशिष्टं भवेत्तदामार्गे हानोपायनयोरनुचिन्तनं संभवेदपि नतु तथा वर्तते । अतो मार्गे नानुचिन्तनमिति सिद्धान्तः ।।२७।।

से लेकर के "वह सुकृत दुष्कृत को विनष्ट करता है' ऐसा कहा है । अतः तत्तत् वचन के वल से देहावसान तथा मार्ग में उभय में हान तथा उपायन का अनुचिन्तन प्राप्त होता है ऐसा पूर्वपक्ष होता है ।

इस प्रश्न के उत्तर में सिद्धान्ती कहते है 'तर्तव्याभावादिति' उन तत्वज्ञानियों का कर्म विनष्ट हो जाता है । तथा स्मृति प्राप्ति के अनन्तर सर्वग्रन्थियों का विनाश हो जाता है " इत्यादि श्रुतियों से यह सिद्ध होता है कि देह के अवसान काल में ही पुण्यपाप के हानादि का अनुचिन्तन करना चाहिए मार्ग में नहीं । क्योंकि विद्वान् में ब्रह्म प्राप्ति से अतिरिक्त पुण्यपाप कर्म के भोक्तव्यत्व का अवशेष नहीं रहता है । इसलिए मार्ग में तदनुचिन्तन नहीं है किन्तु देहावसान काल में ही तदनुचिन्तन है ।। २७।।

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ।३।३।२९।

अत्र शङ्कते । अर्चिरादिगतेरुपपत्तये देहादुत्क्रमणेऽध्वनि च पुण्यादेर्हानिचिन्तनमावश्यकम् । अन्यथा देहवियोगकाल एवाशेषकर्मक्षये लिङ्गदेहस्यापि विनाशे गत्यसम्भवाद् गतिश्रुतेर्विरोधः ॥२९॥

विवरणम्—उभय श्रुत्यनुरोधादविरोधाच्चेतरवाक्यखण्डः छन्दतोयथेच्छपायोजनीय इत्याशयेनोपक्रमते "ब्रह्मोपासनेत्यादि" ब्रह्मणः परमात्मन उपासनन्तत्सामर्थ्यात् यदा देहस्यावसानं जायते तदैव सुकृतदुष्कृतयोर्हानोपायनचिन्तनं कर्त्तव्यमित्यस्यार्थस्य निश्चये जाते "अश्व इव रोमाणि" तस्य तावदेव चिरमित्याद्युभय श्रुत्योरविरोधात् "सुकृतदुष्कृते धुनुते "इत्यादिकौषीतकि वाक्यावयवो यथेच्छं योजनीय इति संपिण्डितार्थोवृत्तेरिति भावः ॥२८॥

विवरणम्— ननु शरीरस्यावसाने समये विरजानदीसन्तरणसमये च उभयप्रकारेण शुभाशुभसकलकर्मणा विनाशे जाते सति देवयान मार्गस्य सार्थकता संभवति अन्यथा देहावसानसमये एव सर्वकर्मणां विनाशे स्थूलदेहवत् सूक्ष्मदेहस्यापि विनाशात् गमनानुपपत्तेरर्चिरादि गमनश्रुतिविरोधः स्यादित्याशयेनाह "अत्र शङ्कते" इत्यादि । अर्चिरा-

सारबोधिनी—ब्रह्मोपासना के सामर्थ्य से देह के वियोग काल में पुण्यापुण्य अर्थात् शुभाशुभ कर्म का अनुचिन्तन करना चाहिए यह विषय जब निश्चित हो गया तब "अश्व इव रोमाणि विधूय" तथा "तस्य तावदेव चिरम" इन दोनों श्रुति का कोई विरोध नहीं होने से "तत्सुकृत दुष्कृते धूनुते" इत्यादि श्रुति का जो वाक्यदेश है उसका तथा, देवयान पन्थानम्" इस वाक्यका यथाभिलषित अर्थ करने में भी कोई क्षति नहीं है ॥२८॥

सारबोधिनी—अर्चिरादि गति के उपपत्ति के लिए शरीर से उत्क्रमण समय में तथा देवयानादिक मार्ग में पुण्यपाप का अनुचिन्तन आवश्यक

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ।३।३।३०।

परिहरति । देहावसानेऽशेषकर्मक्षयेऽपि विदुषोऽर्चिरादिपन्था उपपन्नः "स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" [छा० ७।२५।-२।] इत्यादिश्रुतेरकर्मलभ्यार्थानामुपलब्धेः । लोकवदिति दृष्टान्तः यथा लोके राजभृत्यानामयत्नेनापि दुर्लभपदार्थानामुपलब्धिस्तद्वदत्रापि-बोध्यम् ॥३०॥

दिमार्गस्योपपत्त्यर्थम् देहादुत्क्रमणसमये तथा देवयानादिमार्गे च पुण्यादेर्हानानुचिन्तनमावश्यकमन्यथा स्थूलकलेवरस्य विनाशसमये सर्वकर्मणां विनाशे सूक्ष्मशरीरस्यापि विनाशे न गमनस्यासंभवात् गतिप्रतिपादक-श्रुतेर्विरोधस्यात् इत्येवं शङ्काकर्तुरभिप्रायः ॥२९॥

विवरणम्--तमियमाक्षेपं परिहरति "उपपन्न" इत्यादि । स्थूलकलेवरस्य विनाशकाले सर्वकर्मणां विनाशो यद्यपि विदुषामभवत् तथापि देवयानादि मार्गानुपपद्यते एव अर्थात् देवयानमार्गेण योऽर्थःप्रयोजनं उपलब्धव्यः सोऽर्थः भवत्येव । तत्र श्रुतिमुदाहरति "स स्वराड् भवति तस्य

है। अन्यथा शरीर के अवसान काल में ही सर्व शुभाशुभ कर्म का विनाश हो जाने से स्थूल शरीर के तरह सूक्ष्म शरीर का भी विनाश हो जायगा । तब गमन किस प्रकार से होगा ! और गमन जब अनुपपन्न है तब तो गतिप्रतिपादक जो श्रुति समुदाय हैं उनसे विरोध होगा । इस प्रकार से शङ्का पक्षका अभिप्राय है ॥ २९ ॥

सारबोधिनी—पूर्व शङ्का का निराकरण करने के लिए कहते हैं "उपपन्न" इत्यादि । शरीर के अवसान काल में अशेष समस्त शुभाशुभ कर्म का विनाश हो जाने पर भी विद्वान् श्रीरामोपासक पुरुष का अर्चिरादिक मार्ग उपपन्न होता है । "स स्वराड् भवति" इत्यादि श्रुति का निर्देश होने से तत्त्वज्ञानियों को अकर्मलभ्य सब पदार्थ प्राप्त होते हैं विद्वान् उपासक के अर्थ प्राप्ति में भगवत्प्रसन्नता मात्र कारण है वहाँ लौकिक सामग्री की अपेक्षा नहीं रहती

यावदधिकारमवस्थितिरधिकारिकाणाम् ।३।३।३१।

ननु वसिष्ठादिज्ञानिनां कथं देहान्तरप्राप्तिर्दुःखानुभवश्चेति शङ्कामपनुदति यावदिति । ब्रह्मोपासनया प्रनष्टकर्मणां देहावसानेऽर्चिरादिमार्गमनुसृतानामेवाशेषकर्मविनिवृत्तिः । वसिष्ठादीनामाधिकारिकाणान्तु यावदधिकारमवस्थितिर्नार्चिरादिगतिरस्ति । समाप्तेऽधिकारे हि तेषामर्चिरादिगत्या मोक्षः । प्रारब्धस्य कर्मणः फलन्त्ववश्यं भोक्तव्यमिति नियमः ॥३१॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ साम्परायाधिकरणम् ॥१२॥

सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" लोकानामर्थप्राप्तिकर्मबलेन भवति विदुषस्तु न कर्मणालभ्योऽपि तु भगवत्प्रसादादेव भवति । यथा लोके महताप्रयत्नेनाप्यसाध्यंकार्यराजसेवकादीनामयत्नैनेवोपलब्ध भवति तथा प्रकृतेऽपि श्रीरामोपासकानां सर्वार्थोपलब्धिरिति बोध्यम् ॥३०॥

विवरणम्—ननु ब्रह्मविद्यया यदि सकलकर्मणां विनाशो भवति तदा वसिष्ठादीनां कथं जन्मान्तरानुभवः कथं वा तत्र दुःखानुभव इत्याशङ्कां समाधातुमुपक्रमते "ननु वसिष्ठादीत्यादि ।" यदि तत्वज्ञानिनामशेषकर्मक्षयो भवति ब्रह्मविद्याबलेन तदा ज्ञानित्वेन प्रसिद्धादिमहामुनीनां

है । इसलिए देवयानादिक मार्ग भी उपपन्न होता है । लोकवत् यह दृष्टान्त है—जैसे लोक में अन्य द्वारा महत्प्रयत्न साध्य भी प्रयोजन राज सेवकों को अयत्न सिद्ध होता है । उसी तरह प्रकृत में भी समझना चाहिए ॥३०॥

सारबोधिनी—यदि ब्रह्म ज्ञान के बल से अशेष शुभाशुभ कर्म का विनाश होकर मुक्त हो जाता है तब तत्वज्ञानीरूप से प्रसिद्ध जो वशिष्ठ प्रभृतिक महामुनि हैं उन लोगों को शरीरान्तर की प्राप्ति कैसे होती है, तथा नवीन देह प्राप्तिमूलक अनेक प्रकारक दुःखादिक का अनुभव कैसे होता है । इस आशंका का निराकरण करने के लिए कहते हैं "यावदधिकारमित्यादि" जिन्होंने ब्रह्मोपासन करके सकल कर्म का उपासना बल से विनष्ट कर लिया

अनियमाधिकरणम् ॥१३॥

अनियमः सर्वेषामनुरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ।३।३।३२॥

उपकोसलादिविद्यास्वर्चिरादिगतिराम्नातेति तन्निष्ठानामेवार्चिरादिगत्या मोक्षावाप्तिरुत सर्वेषां ब्रह्मोपासनवतामिति संशयेऽन्येषामर्चिरा

कथं देहान्तरप्राप्तिः कथं वा तज्जनित दुःखाद्यनुभवश्चेति शङ्कापनोदनायाह "यावदधिकारमिति ।" यद्यपि ब्रह्मविद्याबलेन तत्वज्ञानिनां सर्वकर्मक्षयान्तरमर्चिरादिमार्गेण गमनं भवति विमुक्तश्च भवति । तथापि य इमे वसिष्ठाद्या आधिकारिकपुरुषाःपरमेश्वरेण तत्तदधिकारे नियोजिता तेषां यावदधिकारमत्रैवावस्थितिर्भवति नतु ते देवयानादि पथा गच्छन्ति किन्तु इहैव स्वाधिकारोचितकर्माणि कुर्वन्ति । समाप्तेत्वधिकारे देवयानगत्या मुक्ता भवन्ति । यतः नाभुक्तं क्षीयते कर्मकल्पकोटिशतैरपीत्यादि श्रुत्या प्रारब्धकर्मणां फलभोगेनैव समाप्तिरिति नियमेन प्रारब्धफलभोगं कुर्वन्त्येवेति ॥३१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेसाम्परायाधिकरणम् ॥१२॥

है तादृश महानुभाव शरीर विनाश के बाद अर्चिरादि मार्ग का अनुसरण करके सर्व कर्म से निवृत्ति हो जाते है, अर्थात् मुक्त हो जाते हैं । परन्तु वसिष्ठ प्रभृतिक जो आधिकारिक पुरुष हैं अर्थात् परमेश्वर के द्वारा तत्तत् अधिकार में नियुक्त हैं । उनका तो अधिकार पर्यन्त अवस्थान रहता है, अतः उन लोगों को अर्चिरादि मार्ग से गमन नहीं होता है । और जब उनका अधिकार काल समाप्त हो जाता है उसके बाद अर्चिरादि मार्ग द्वारा जाकर के साकेतधाम को प्राप्त करते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं । क्योंकि "नाभुक्तं क्षीयते कर्मकल्पकोटिशतैरपि" इत्यादि श्रुति से यह सिद्ध होता है कि प्रारब्ध कर्म का विनाश फलभोग करने से ही होता है । इसलिए प्रारब्ध कर्म पर्यन्त उन ज्ञानियों का भी शरीरावस्थान रहता ही है । संचित क्रियमाण

र्दिगत्या प्रमाणाभावात्तन्निष्ठानामेवेति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु–सर्वो-पासनवतां तथैव गन्तव्यत्वात्तन्निष्ठानामेवेत्यनियमः । तथा सति "ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिषम्" [बृ०६।२।१५।] इति श्रुत्या "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः" इत्यादिस्मृत्या चाविरोधः ॥३२॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावनियमाधिकरणम् ॥१३॥

विवरणम्–यस्यां विद्यायामर्चिरादिमार्गः श्रुतस्तद्विद्यावतामेव तेन यथा ब्रह्म लोकगमनं भवति. तदन्येषामपि वेति संशय्य तेषामेवेति पूर्वपक्षं कृत्वा श्रुतिस्मृतीनामर्थवत्वाय सर्वविद्यावतामर्चिरादि पथैव गमनं तथात्वे श्रुतिस्मृत्योर्विरोधो न भवतीति सिद्धान्तं दर्शयितुमुपक्रमते "उपकोसलादीत्यादि ।"

उपकोसलविद्यायामर्चिरादिमार्गः प्रतिपादितः । इति तादृशविद्या नुशीलीनामेवार्चिरादिगत्या ब्रह्मलोके गमनं भवति अथवा यथाकया

कर्म का ही ब्रह्मज्ञान से विनाश होता है । प्रारब्ध का तो भोग से ही विनाश होता है ब्रह्मज्ञान से नहीं इसका विशेष विचार अन्यत्र देखिए ॥३१॥

सारबोधिनी–उपकोसलादि विद्याओं में अर्चिरादि मार्ग का कथन किया गया है अर्थात् उपकोसल विद्या का जो अनुशीलन करते हैं उनका अर्चिरादि मार्ग से गमन होता है ऐसा उस प्रकरण में कहा गया है । तो उपकोसल विद्यावान को ही अर्चिरादिमार्ग के द्वारा जाने से ब्रह्मलोक प्राप्तिरूप मोक्ष प्राप्त होता है अथवा सभी उपासनावान् को अर्चिरादि मार्ग द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है ऐसा संशय होता है । तब इस विषय में पूर्व पक्षवादी कहते हैं कि अन्य विद्या का अनुशीलनवाले जो हैं उनका अर्चिरादि मार्ग से गमन होता है इसमें कोई प्रमाण तो नहीं है । इसलिए उपकोसलादि विद्यावान उपासक का ही अर्चिरादि मार्ग से गमन होता है । इस पूर्व पक्ष के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं "अनियम" इत्यादि । सभी विद्यावान् का गमन अर्चि-

पि विद्यया ब्रह्मोपासनं कुर्वतां तादृशार्चिरादि मार्गेण गमनं भवतीति संशयः। तत्र विद्यान्तरानुशीलनकर्तृणामर्चिरादिपथागमनं भवतीत्यत्र प्रमाणाभावादुपकोसलादिविद्यावतामेवार्चिरादिना गमनमिति पूर्वे पक्षः। सिद्धान्तमाह "अनियमः" इत्यादि सूत्रम्। ये केचनोपासका यां यामुपासनं कुर्वन्ति तेषां सर्वेषामपि गमनमर्चिरादि मार्गेणैव भवति नतु उपकोसलविद्यानुशीलिनामेवेति नियमः तथा सत्यनियमे सति "ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते" इत्यादि श्रुत्या "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः" गी.।८।२४। इत्याद्यनेक स्मृत्या च न कोऽपि विरोधः अग्न्यादिशब्दास्तत्तदभिमानिदेवलक्षणकास्तथा च तद्य इत्थं विदुर्येचेमेरण्ये श्रद्धा त। इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति इत्यादि श्रुतिदर्शितार्चिरादिक्रम एवात्राभिप्रेतः। अत्रास्मिन्नर्चिरादिमार्गे प्रयाता ब्रह्मविदोजना ब्रह्मपरमव्योम्नि परमपुरुषं प्राप्नुवन्ति। न चैते पुनरावर्त्तन्त इति भावः। तथोक्तं श्रीरामचिन्तनरत्ने—निवार्यभवसम्बन्धमर्चिरादिपथेन हि। स्वधामानुभवौ दत्वा नित्यां सेवां ददाति च ॥२३॥ (गीतानन्दभाष्यम् ८।२४) इत्यादिरूपेण श्रीसम्प्रदायाचार्या आहुरस्मिन् प्रकरणेऽतोन्यथैतासां विरोधः स्यादेवेति ध्येयम् ॥३२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेऽनियमाधिकरणम् ।१३॥

रादि मार्ग से ही होता है। ऐसा सिद्धान्त होने से उपकोसलादि विद्यावान् का ही अर्चिरादि द्वारा गमन मोक्ष होता है ऐसा कोई नियम नहीं है। सर्व विद्यावान् का अर्चिरादि मार्ग से गमन होता है ऐसा मानने से श्रुति स्मृति का कोई विरोध नहीं होता है। इस विषय में "ये चामी अरण्ये" इत्यादि श्रुति तथा "अग्निज्योति रहः" इत्यादि स्मृति भी प्रमाण है। अन्यथा पूर्वोवत श्रुति स्मृति से विरोध होगा ॥३२॥

॥ अक्षरध्यधिकरणम् ॥१४॥

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ३।३।३३।

बृहदारण्यके-"एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वह्रस्वदीर्घम् " [बृ० ३।८।८।] इति श्रूयते। "अथपरा" इत्युपक्रम्य मुण्डकेऽपि चैवं श्रूयते। अत्रास्थूलत्वादीनां गुणानां तत्रैव चिन्तनमुत सर्वासु विद्यासूपसंहृतिरिति संशयः। प्रकरणभेदात्तत्रैव चिन्तनमिति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु-अस्थूलत्वादीनामानन्दादिवद् ब्रह्मस्वरूपानुसन्धानोपयोगित्वात्सर्वासु विद्यासूपसंहृतिः कार्या। सर्वत्राक्षरब्रह्मविद्यायाः समानत्वादस्थूलत्वादेर्ब्रह्मस्वरूपे सद्भावाच्च। यथोपसद्गुणभूतमन्त्रस्योपसदनुवर्तित्वेनोपांसुगुणत्वम् तद्वत् ॥३३॥

विवरणम् बृहदारण्यकादौ श्रूयमाणानां ब्रह्मगुणानामस्थूलत्वादीनां सर्वविद्यासूपसंहारो भवति, अथवा यत्र यस्य श्रवणं तत्रैव तस्योपयोग इति संशय्य. यत्र श्रवणं तत्रैवोपसंहारः प्रकरण भेदादिति पूर्वपक्षं कृत्वा

सारबोधिनी--बृहदारण्योपनिषद् में "हे गार्गि ! इस अक्षर को ब्राह्मण लोग "अस्थूल अनणु अह्रस्व अदीर्घ "इत्यादि गुण विशिष्ट कहते हैं इत्यादि गुण का श्रवण होता है। तथा मुण्डकोपनिषद में भी "अथ परायया तदक्षरमधिगम्यते" इत्यादि उपक्रम करके अद्रेश्यत्वादि गुण का कथन किया गया है। अब यहाँ संशय होता है यह जो अस्थूलत्वादिक गुण है उन गुणों का उसी प्रकरण में अनुचिन्तन किया जाय अथवा सर्व ब्रह्मविद्या में इन गुणों का उपसंहार किया जाय॥ पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि प्रकरण के भेद होने से जिस गुण का जिस प्रकरण में श्रवण है उसका उसी प्रकरण में अनुचिन्तन करना चाहिए प्रकरणान्तर में नहीं इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं "अक्षरधियांत्ववरोधः" इत्यादि। आनन्दादिक ब्रह्म गुण की तरह जिस के ब्रह्म अनुसंधान में उपयोगित्व है उसी तरह अस्थूलत्वादिक भी ब्रह्मानुसन्धान में

इयदामननात् ।३।३।३४।

अस्थूलत्वादिविशिष्टमानन्दादिकमेव सर्वत्रोपसंहर्तव्यम् ।
इयद्गुणविशिष्टस्यैव ब्रह्मस्वरूपस्यामननात् ॥ ३४ ॥
इति श्रीरघुवरीयवृत्तावक्षरध्यधिकरणम् ॥ १४ ॥

अस्थूलत्वादीनामानन्दादिवद्ब्रह्मगुणत्वेन ब्रह्मनुसंधानोपयोगितया सर्वत्र ब्रह्मविद्यासूपसंहारः – औपसदवदित्याशयमाविष्कर्तुमुपक्रमते "बृहदारण्यके" इत्यादि । बृहदारण्यकश्रुतौ "एतद्वैतदक्षरं गार्गिब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमित्यादि" तथा मुण्डकेऽपि श्रुतम् "अथ परायया तदक्षरमधिगम्यते अत्रास्थूलत्वादिका ये गुणाः कथितास्तेषां तत्रैवानुसंधानं कर्त्तव्यम्. सर्वासु वा ब्रह्मविद्यासूपसंहारः कर्त्तव्य इति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु "अक्षरधियामवरोध" इत्यादि । अस्थूलत्वादिका ये ब्रह्मगुणाः कथितास्तेषामानन्दादिवद् ब्रह्मगुणत्वात् आनन्दादीनां यथा ब्रह्मणोऽनुसंधाने तदुपासनायामुपयोगस्तथा अस्थूलत्वादीनामपि ब्रह्मगुणत्वात्. सर्वत्र तदनुसंधानोपयोगीतया तेषां सर्वब्रह्मविद्यासूपसंहारः कर्त्तव्यः । औपसदवत् । यथा जामदग्न्यचतुरात्रपुरोडाश्युपसद्गुणभूतस्यमन्त्रस्य प्रधानानुवर्तितयोपांसुगुणत्वम्, तथैवात्रापि बोध्यम् । तस्मादा-

उपयोगी है । इसलिए अस्थूलत्वादि गुणों का सर्व ब्रह्म विद्या में उपसंहार अवश्य करना चाहिए । क्योंकि सर्व विद्या में ध्येय ब्रह्म स्वरूप एक है । तब ब्रह्म का गुण भी तो ब्रह्म को छोड़ करके अन्यत्र नहीं रह सकता है । जैसे कपाल का गुण कपाल को छोड़ करके अन्यत्र नही रहता है । अतः ब्रह्मगुग अस्थूलत्वादिकों का सर्व ब्रह्म विद्या में उपसंहार होता है । औपसद के समान यह दृष्टान्त है । जिस तरह जामदग्न्यादि पुरोडास लक्षण कर्म का गुण भूत जो मन्त्र है वह प्रधान का अनुवर्ती होने से उपांशु याग का भी अङ्ग है । इसी तरह प्रकृत में प्रधानभूत ब्रह्म का जो अस्थूलत्वादिक एक जगह में श्रूयमाणगुण है उनका सर्वत्र ब्रह्म विद्या में उपसंहार होता है ॥३३॥

॥ अन्तरत्वाधिकरणम् ॥ १५ ॥

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् ।३।३।३५।

बृहदारण्यके–"यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्व" [बृ. ३।४।१।] इत्युषस्तप्रश्नस्तदुत्तरम् "यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः" इत्यादिकमाम्नायते । एवं तत्रैव कहोलस्यापि

नन्दादि गुणवदस्थूलत्वादि गुणानामपि सर्वब्रह्मविद्यासूपसंहारः कर्त्तव्य एवेति सिद्धान्तः ॥३३॥

विवरणम्–ननु तर्हि "सर्वकर्मा सर्वगन्धः" इत्यादि श्रुतिप्रतिपादितानां गुणानां सर्वप्रधानभूतब्रह्मगुणत्वात्तेषामपि सर्वब्रह्मविद्यासूपसंहारः स्यादिति चेत्तत्राह "अस्थूलत्वादीत्यादि" अस्थूलत्वादिविशेषितमानन्दादिकमेव सर्वत्रोपसंहर्तव्यम् । यत एतावद्गुणविशिष्टस्यैव ब्रह्मस्वरूपस्यानुसंधेयतया प्रतिपादनात् प्रत्यगात्मव्यावृत्तस्ययावद्गुणविशिष्टस्य ब्रह्मण उपासनं न संभवति तावतामेवोपसंहारः कर्त्तव्यो नान्येषां प्रधाने वर्तमानानाम् ।तेषां तु प्रतिविद्यमेव व्यवस्थितिरिति॥३४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेऽक्षराधिकरणम् ॥१४ ॥

सारबोधिनी–यदि प्रधानवृत्ति गुणों का सर्व ब्रह्म विद्याओं में उपसंहार होता है तब तो "सर्वकर्मा सर्वगन्धः" इत्यादि ब्रह्म गुण का भी सर्वत्र उपसंहार होना चाहिए। इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि अस्थूलत्वादि गुण सहित आनन्दादिक ब्रह्म गुणों का ही सर्व विद्याओं में उपसंहार करना चाहिए। क्योंकि एतावद् गुणविशिष्ट ब्रह्म का अनुसन्धेयता का प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् जीव व्यावृत्त यावद् गुण विशिष्ट ब्रह्म का अनुसंधान संभवित न हो तावत् गुण का ही सर्वत्र उपसंहार करना चाहिए अन्य गुणों का नहीं ॥३४॥

प्रश्नस्तदुत्तरञ्च। तत्र संशयः। किमुभयत्रविद्याभेद उत विद्यैक्यमिति उत्तरगतप्रकारभेदाद्द्विधा भेद इति पूर्वपक्षः। अत्राभिधीयते— "यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म" [बृ. ३।४।१।] इति ब्रह्मविषयक एवोभयत्र प्रश्नः। तदुत्तरञ्च सर्वप्राणिप्राणनकर्तृत्वाशनायाद्यतीतत्वादिकञ्च ब्रह्मण्येव सम्यगुपपद्यते। एवञ्च रूपभेदाभावान्न विद्याभेदः। सूत्रे विद्या भेदमाशङ्क्य नोपदेशवदिति समाधीयते। यथा सद्विद्यायां मुहुर्मुहुः प्रश्नोत्तरयोर्विद्यमानयोरपि न विद्याभेदस्तद्वत् ॥ ३५ ॥

विवरणम्—बृहदारण्यकश्रुतौ उषस्तस्य प्रश्नो विद्यते "यत्साक्षाद-परोक्षाद् ब्रह्म" इत्यादि तादृशप्रश्नस्योत्तरं दत्तवान् याज्ञवल्क्यः "यः प्राणेन प्राणिति" इत्यादि। एवं कहोलस्यापि प्रश्नः परमात्मविषय-कस्तदुत्तरञ्च प्रश्नानुरूपमेव। तत्र संशयो जायते यदुभयत्रविद्यायाः परस्परं भेदो विद्यतेऽथवाऽभेद इति। तत्र पूर्वपक्षी विद्याभेदं प्रति पादयति यत उत्तरवाक्यतः प्रकारभेदात्। अत्राभिधीयते—"यत्सा-क्षादपरोक्षाद् ब्रह्म" इत्यादिनोभयत्र ब्रह्मविषयक एव प्रश्न इति उत्तर ञ्च सर्वप्राणिनः प्राणकर्तृत्वं तथा अशनायादिधर्म राहित्यं प्रतिपादि-

सारबोधिनी--बृहदारण्यक श्रुति में "जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा सर्वान्तर है, उसका कथन करिये" इस प्रकार से उषस्तने याज्ञवल्क्य से पूछा। उसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा "जो प्राणों से प्राणित होता है वह सर्वान्तर आत्मा है" इत्यादिक कहा गया है। इसी प्रकार से कहोल ब्राह्मण में कहोल ने ब्रह्म के विषय में प्रश्न किया तथा पूर्वोक्त रूप से याज्ञ-वल्क्य ने उत्तर भी दिया तो यहाँ संशय होता है कि "क्या यहाँ दोनों जगह में विद्या भिन्न है अथवा एक ही "पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि दोनों जगह उत्तर के प्रकार में भेद है अर्थात् उषस्त ब्राह्मण में देहादि भिन्न जीव स्वरूप का प्रतिपादन है और द्वितीय में अशनायादि रहित जीव विलक्षण परमात्मा के स्वरूप का प्रतिपादन है। इस प्रकार से रूप भेद होने से विद्या में भेद

व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवत् ।३।३।३६।

प्रष्टृभेदादुत्तरभेदाच्च विद्याभेदेनावश्यं भाव्यमित्याशङ्कामपाकरोति व्यतिहार इति । द्वयोः प्रश्नयोरैक्यरूप्यादेकविषयत्वे निश्चिते प्रतिवचनगतबुद्धिपरिवृत्तिः कार्या । उषस्तेनाशनायाद्यतीतत्वधीः कार्या । कहोलेन प्राणनादिहेतुत्वधीः कार्या । यथेतरत्र सद्विद्यादिषु प्रश्नप्रतिवचनपरम्परा विद्यमानाप्येकमेव वेद्यं ब्रह्म गमयति । एवमत्रापि प्रश्नप्रतिवचनयोर्वैविध्येऽपि प्राकरणिकानि वाक्यानि ब्रह्मैव विशिषन्ति ।। ३६ ।।

तम् तदेतत्सर्वमुख्यवृत्त्यापरमात्मन्येव संभवति नतु जीवे जोवस्य पराधीनत्वात् । तथा च प्रकृते रूपभेदस्याभावान्न विद्याभेदः, रूपभेदसत्येवविद्याभेदस्य संभवात् । न च तर्हि विद्याया एकत्वे पुनर्वचनंद्विरुक्तिमापादयेदिति वाच्यम् सद्विद्यावददोषात् । अर्थात् यथा सद्विद्यायां-मुहुर्मुहुः प्रश्नस्तदुत्तरं च न पुनरुक्तिमापादयति कुतः उपास्यस्य दृढ़ता संपादनात् । यथा "अहो रूपं भगवतः" "अहो रूपं भगवतः" इत्यत्र सत्यपिद्विर्वचनेनपुनरुक्तिः किन्तूपास्यस्य दृढ़तां जनयति न न्यूनत्वं प्रकृतेऽपिद्विर्वचने न पुनरुक्तिः किन्तूपास्यस्य दृढ़तां जनयति न न्यूनत्वं तद्वत् प्रकृतेऽपिद्विर्वचनमिति ।।३५ ।।

विवरणम्--ननु यदा प्रश्नकर्ता उषस्तिस्तथा कहोलश्च भिन्नस्तदा तयोः प्रश्नप्रतिवचनयोर्भेद स्यात् प्रष्टृभेदस्य तद्भेदकत्वादित्याशंक्य है । इसके उत्तर में कहते हैं "अत्राभिधीयते "जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है इस प्रकार से दोनों जगह ब्रह्म विषयक ही प्रश्न है, और उसका उत्तर है जो सर्व प्राणन कर्तृत्व तथा अशनायादि रहितत्व वह समीचीनरूप से ब्रह्म में धटता है । जीव में जो सर्वान्तरत्व है वह तो आपेक्षिक है । ऐसा हुआ तब रूप भेद के अभाव होने से विद्या में भेद नहीं है किन्तु एकता ही है । इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं "उपदेशवत्" जैसे सद्विद्या में उपास्य के एक होने से प्रश्न की आवृत्ति तथा उत्तर की आवृत्ति-वारंवार कथन उपास्य

सैव हि सत्यादयः ।३।३।३७।

"सेयं देवतैक्षत" इति प्रकृता सत्र परा देवतोत्तरत्र प्रतिपाद्यते । अतः "तत्सत्यं स आत्मा" [छा०६।८।७।] इत्यादि प्रतिवचनेषु त एव सत्यादय उपसंह्रियन्ते ॥३७॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावन्तरत्वाधिकरणम् ॥१५॥

तन्निराकरणायोपक्रमते "प्रष्टृभेदादुत्तरभेदाच्चेत्यादि" प्रष्टुः कहोलस्य तथोषस्तस्य भेदाद्विद्याभेदस्यादेवेत्यत आह, "व्यतिहार" इत्यादि सूत्रम् । यदाद्वयोः प्रश्नयोर्ब्रह्मविषयत्वादेकविद्यत्वमित्यवधारितं तदा प्रतिवचने बुद्धेः परावर्तनमवश्यमेव कर्त्तव्यम् । अर्थात् उषस्तेनाशनाया-द्यतीतत्वबुद्धिरुपास्ये कर्त्तव्या, कहोलेन च प्राणनादिकारणत्वबुद्धिः स्वोपास्येकर्त्तव्या, एतावतैवोभयोरुपपत्तिः संभवति । यथा सद्विद्या प्रकरणे सर्वाण्यपि प्रश्नप्रतिवचनानि प्रतिपाद्य परमात्मविषकाण्येवेति निश्चितं तथा प्रकृतेऽपि सर्वंबोध्यम् ॥ ३६ ॥

अर्थ को दृढ करता है । उसी तरह प्रकृत में भी प्रश्न तथा उत्तर जो है वह उपास्य की दृढता संपादक है । अतः प्रकृत में उपास्य के अभेद होने से विद्या एक ही है भेद नहीं ॥३५॥

सारबोधिनी—प्रश्न करनेवालों का भेद होने से तथा उत्तर का भेद होने से विद्या में अवश्यमेव भेद होना चाहिए । इस प्रश्न का निराकरण करने के लिए कहते हैं "व्यतिहार" इत्यादि । उषस्त तथा कहोल इन दोनों को जब एक ब्रह्म विषयत्व का निश्चय हो गया तब उत्तर में जो बुद्धि है, उसमें हेरफेर करना चाहिए । अर्थात् उषस्त को चाहिए कि अशनायादि रहितत्व बुद्धि उपास्य में करें, तथा कहोल को चाहिए कि परमकारण ब्रह्म में प्राणनादि कारणता की बुद्धि का संपादन करें । जैसे सद्विद्या में प्रतिप्रश्न तथा प्रतिवचन अर्थात् उत्तर की परंपरा रहते हुए भी एक ही उपास्य ब्रह्म को समझता है । उसी तरह प्रकृत में भी अर्थात् उषस्त कहोल संवाद में भी

कामाद्यधिकरणम् ॥१६॥

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ।३।३।३८।

छान्दोग्ये–"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे" इत्यारभ्य "एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युः" [८।१।५।] इति श्रूयते । बृहदारण्यके च "स वा एष महानज आत्मा" इत्यारभ्य "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" [बृ०४।४।२२।] इति । किमत्र विद्या भिद्यते नवेति संशयः । तत्र रूपभेदाद्विद्याभेद इति पूर्वपक्षः । अत्राभिधीयते—छान्दोग्ये–सत्य-

---

विवरणम्–ननु कथमुच्यते दृष्टान्ते सद्विद्यायामुपास्यस्यैकरूपत्वं यतः सद्विद्यायामपि प्रश्नप्रतिवचनयोर्भेदात् । इत्याशङ्क्य तन्निराकरणाय प्रक्रमते "सेयं देवतैक्षत" इत्यादि । "सेयं देवता ऐक्षत" इत्यत्र सत्पदाभिलभ्य सर्वेषामदि कारण परा देवता. सैव तत्रापि परामृश्यते । तथा ये सत्यादयो गुणास्तत्रापि दृश्यन्ते. इति प्रतिपाद्यस्यैकत्वात्सत्यादीनामुपसंहारो भवति। तस्माद भेदकारणाभावान्न विद्यासु पार्थक्यमिति ॥३७॥

विवरणम्–छान्दोग्ये बृहदारण्यके च प्रकारभेदेन परमात्मनः प्रतिपादनात् विद्याया भेदोऽस्ति नवेति संशय्य रूपभेदाद्विद्याभेद इति पूर्वपक्षं

प्रश्न प्रतिवचन के अनेकता होने पर भी प्राकरणिक सकल वाक्य एक ही परम कारण पर ब्रह्म विषयक है । अतः उपास्य में भेद नही होने से विद्या में भेद नहीं है ॥३६॥

सारबोधिनी–"सेयं देवतैक्षत" यहाँ पूर्ववाक्य में प्रकृत जो परादेवता है उसी का उत्तर वाक्य में अर्थात् "तत्सत्यं स आत्मा" इस वाक्य में भी प्रतिपादन किया गया है । अतः विद्या के भेद का कारण का अभाव होने से विद्या में एकता ही है भेद नहीं ॥३७॥

सारबोधिनी–छान्दोग्य प्रकरण में "जो इस ब्रह्म पुर हृदय में विद्यमान है" इत्यादि से आरंभ करके "यह परमात्मा अपहतपाप्मा है जरा मृत्यु से

सङ्कल्पसत्यकामहृदयान्तरवर्तित्वादिविशिष्टः परमात्मोपास्य इति प्राकरणिकवाक्यादवगम्यते। वाजिनां वाक्येऽपि वशीत्वादीनां सत्यसङ्कल्पत्वरूपतयाऽऽकाशान्तरवर्तित्वस्य च विद्यमानतयोभयत्रैक एव परमात्मोपास्य इति रूपाभेदाद्विद्यैक्यम् ॥३८॥

कृत्वा उपास्याभेदेनद्विद्यैक्यम्. यदत्र गुणभेदो लक्षितो भवति तदन्यत्रोपसंहारेण सामञ्जस्यादिति क्रमेण विद्यैक्यमिति सिद्धान्तमावेदयितुमुपक्रमते "छान्दोग्ये" इत्यादि। छान्दोग्यप्रकरणे अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे" इत्यारभ्य "एष आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादिकं कथितम्. तथा बृहदारण्यके "सवामहानजः" इत्यादिकं कथितम्। तदात्र संशयो जायते विद्या भिन्नाऽभिन्नेति। तत्र पूर्वपक्षवादी कथयति रूपभेदाद्विभेद एवेति अत्रोत्तरम्-अत्राभिधीयते-इत्यादि। छान्दोग्य श्रुतौ सत्य सङ्कल्प सत्यकामत्वादि गुण विशिष्टपरमात्मन उपास्यत्वं प्रदर्शितम्, इति तत्रत्य

रहित है।" इस तरह से प्रतिपादन किया गया है। और वृहदारण्यक प्रकरण में "वह सर्व प्रसिद्ध आत्मा महान् अर्थात् व्यापक है" इस प्रकार से आरंभ करके "सबको अपने वश में रखनेवाले हैं सब कोई शान अर्थात् नियंत्रण करनेवाले हैं" इस तरह से प्रतिपादन किया है। अब यहाँ सन्देह होता है कि छान्दोग्य तथा वृहदारण्यकीय विद्यायें भिन्न हैं अथवा एक ही। इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि परस्पर ये दोनों विद्याए भिन्न हैं क्योंकि दोनों जगह रूप भिन्न है। छान्दोग्य में तो अपहत पाप्मत्वादि गुणक परमात्मा को उपास्य बतलाया है। और वृहदारण्यक में वशित्वादि गुण विशिष्ट परमात्मा को उपास्य रूप से प्रतिपादन किया है। इस प्रकार से रूप भेद का प्रतिपादन होने से विद्यायें भिन्न हैं। उत्तर में कहते हैं कि यहाँ रूप भेद नहीं है जिससे कि विद्या का भेद हो क्योंकि छान्दोग्य में जो गुण श्रुत है उनका वृहदारण्यक में उपसंहार करना चाहिए। छान्दोग्य में सत्यसङ्कल्पसत्यकाम हृदयान्तर्वर्तित्वादि गुण विशिष्ट परमात्मा उपास्य रूप से कहे जाते हैं ऐसा

आदरादलोपः ।३।३।३९।

वशित्वसत्यकामत्वादीनां "नेह नानास्ति किञ्चन" [बृ०४।४।१९] "नेति नेति"[छा०८।१२।३।] इत्यादि श्रुतिवाक्येभ्यो न लोपः [निषेधः] यतस्तेषां प्रमाणान्तराप्राप्तानामादरेण श्रुत्या विधानात् । आदरविहित प्रतिषेधे श्रुतेरसाङ्गत्यं स्यात्तस्मान्निषेधवाक्येन ब्रह्मात्मकनानात्वमेव निषिध्यत इत्येव युक्तम् तदाहुरानन्दभाष्यकाराः–"इहास्मिन द्रष्टव्ये परब्रह्मणि किञ्चन नानात्वं नास्ति । नानाशब्दो भावप्रधानकत्वान्नानात्मपरको यस्मिन् पञ्च पञ्चजना इति मन्त्रप्रतिपादिते परब्रह्मणि नानात्वं भेदो नास्ति । लेशतोऽपि तत्र भेदस्यावकाशो न भवतीति" [बृ०आनन्दभाष्यम् ।४।४।१०।) ॥३९॥

प्राकरणिकवाक्येभ्यो ज्ञायते । एवं बृहदारण्यकीय वाक्येऽपि वशित्वादीनां सत्यसङ्कल्पत्वादि स्वरूपतया प्रतिपादनात्, तथा आकाशान्तर्वर्तित्वस्य परमेश्वरे सद्भावात्कथमुभयत्र भेदः स्यादपितु उभयत्राप्यभिन्न एव परमात्मोपास्यतया विनिर्दिश्यते, इति परमात्मरूपस्योभयता भिन्नत्वात्कथं विद्याभेदः स्यादित्याशय, ॥३८॥

विवरणम्–ननु "नेह नानास्ति किञ्चन" "नेति नेति" इत्यादि श्रुत्या ब्रह्मव्यक्तिरिक्तस्यबाध प्रतिपादनेन सत्यवशित्वादि गुणानामपि तदीय प्रकरण वाक्य से निश्चित होता है । तथा बृहदारण्यकीय वाक्य में वशित्वादि गुणों को सत्य सङ्कल्पादिक रूप से तथा आकाशान्तर्वर्तित्व का परमात्मा में विद्यमान होने से दोनों जगह एक ही परमात्मा उपास्य । हैं इस प्रकार से रूपों में भेद नहीं होने से–भेदक रूप का अभाव होने से दोनों जगह एक ही विद्या है ॥३८॥

सारबोधिनी–परम ब्रह्म में रहनेवाले जो सत्यकामत्वादिक अनन्य साधारण गुण जात है उनका "नेह नानास्ति किञ्चन" [उस पर ब्रह्म श्रीराम में नाना कोई भी वस्तु नहीं हैं ।] तथा "नेति नेति" इत्यादि श्रुति वाक्य से

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ।३।३।४०।

मुक्तस्य ब्रह्मसम्पत्त्यनन्तरं तत एव हेतोः पितृलोकादिवचनान्न तत्सांसारिकफलमपि तु मुक्तेरेव फलम् । एष सम्प्रसाद" इत्यादिवचनादतो विद्यैक्यात्सत्यकामत्वादीनामतानुसन्धानमावश्यकम् ।।४० ।

इति श्रीरघुवरीय वृत्तौ कामाद्यधिकरणम् ।।१६।।

बाधात् कथं बाधित गुणविशिष्ट परमात्मोपासनं मोक्षफलायस्यादित्याशङ्कायां निराकरणाय प्रक्रमते "वशित्वसत्यकामत्वादीत्यादि" वशित्वसत्यकामत्वादिकाये ब्रह्मणोऽनन्य साधारणा गुणाः श्रुतिभिः प्रतिपादिताः सन्ति. तेषां गुणानाम् "नेह नानास्ति किञ्चन" [इह सर्वसमुपास्यमाने परब्रह्मणि श्रीरामे नानाकिञ्चनमपि नानावस्तुजातं न विद्यते] तथा "नेति नेति" इत्यादि श्रुतिभिर्विलोपो निषेधो न भवति । कुतः? श्रुत्यैवादरेण ब्रह्मणि प्रतिपादनात् । यदि श्रुतिः स्वयमेवैतान् तत्र प्रतिपाद्य तेषां निषेधं कदाचित्प्रतिपादयेत् तदा विरुद्धार्थं प्रतिपादकत्वेन श्रुतेरप्रामाण्यं प्रसज्येत । न च तदिष्टम् । तस्मान्निषेध वाक्येन ब्रह्म भिन्नवस्तूनामेव निषेधो भवति नतु श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मासाधारणवशित्वसत्यसङ्कल्पत्वादीनामिति । विशेषस्तु जिज्ञासाधिकरणादेव ज्ञातव्य । एतेन मायावादिमतं निराकृतं भवति । तन्मते श्रुतेः प्रामाण्यं कथमिति ध्येयम् ।।३९।।

विलोप अर्थात् निषेध नहीं होता है । क्योंकि-आदरात्-अर्थात् प्रमाणान्तर से अप्राप्त उन गुणों का श्रुति ने आदरपूर्वक विधान किया है । यदि आदर पूर्वक स्व विहित वस्तु का श्रुति स्वयं निषेध करे तब तो श्रुति में परस्पर विरुद्धार्थ प्रतिपादकत्व होने से अप्रामाण्य होगा । इसलिए निषेध वाक्य से ब्रह्मात्मक इतर पदार्थों का निषेध किया जाता है नतु श्रुति प्राप्त गुणों का निषेध ऐसा मानना ही युक्ति युक्त तथा श्रुतिस्मृति और भाष्यकार वचन सम्मत है ।।३९।।

@तन्निर्धारणानियमाधिकरणम् ॥१७॥@

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेःपृथग्घ्यप्रतिबन्धःफलम्।३।३।४१

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" [छा० १।१।१।] इत्युद्गीथाद्युपासने छान्दोग्ये श्रूयते। तन्नियमेनानुष्ठेयमुतानियमेनेति संशयः। "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" [छा० १।१।१०।] इति श्रूयमाणफलस्यपृथगभिधानायोगात्क्रत्वर्थतया निय-

---

विवरणम्-अथ सगुणोपासनस्य "स यदि पितृलोककामो भवति तदा सङ्कल्पादेवेत्यादि वचनात् संसारफलत्वेनाशेषक्लेशनिवृत्ति भगवत्प्राप्तिलक्षणमोक्षफलत्वं नास्तीति ब्रह्म प्राप्तिमिच्छतोपासकेन सगुण परमात्मन उपासनं नैव कर्तव्यमिति सत्यकामादि गुणानां ब्रह्मविद्यासु नोपसंहार इत्याशङ्कां निराकर्तुं प्रक्रमते "मुक्तस्येत्यादि।" सूत्र उपस्थितिरूपस्थानम्। तस्मिन् ब्रह्मोपासनायां प्रहीणकर्मबन्धनानन्तरं ब्रह्म संपत्तिः स्वकीयरूपस्याविर्भावश्च भवति। अतो ब्रह्म संपत्तेरनन्तरमेव तद्वचनात् पितृलोकादि प्राप्तिकथनात् न ब्रह्म संसारफलत्वमपितु मोक्षफलत्वमेव। यत "एष संप्रसाद" इत्यादिनामुक्तस्यैव ब्रह्म संपत्तिकथनात् सत्यकामत्वादीनां मोक्षोपयोगित्वाद्विद्यासुपसंहारः कर्त्तव्य एवेति भावः ॥४०॥

इति जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्री रघुवरीयवृत्तिविवरणेकामाद्यधिकरणम् ॥१६॥

सारबोधिनी-मुक्त पुरुष को ब्रह्म संपत्ति के बाद में ही पितृलोकादि प्राप्ति का कथन होने से सगुणोपासना सांसारिक फल नहीं है किन्तु मुक्ति का ही कारण है यह "एष संप्रसाद" इत्यादि वचन से जाना जाता है। इसलिए विद्या की एकता होने से सत्यकामत्वादिक गुणो का सर्व विद्या में अवश्यमेव उपसंहार करना चाहिए ॥४०॥

मेनानुष्ठेयमिति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु "तेनोभौ कुरुतो यश्चैत देवं वेद यश्च नवेद" [छा०१।१।१०] इत्युद्गीथमननुष्ठितवतोऽपिक्रत्वनुष्ठानदर्शनात् स्वर्गादिरूपक्रतुफलाच्च वीर्यवत्तरत्वादिफलकं पृथगेवोद्गीथोपासनमित्यनियमः ॥४१॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ तन्निर्धारणानियमाधिकरणम् ॥१७॥

विवरणम्-अथ छान्दोग्ये कर्माङ्गाश्रयमुद्गीथोपासनं श्रूयते. तदिदमुपासनं कर्मनियमेन कर्त्तव्यमथवा अनियेनेमेति संशय्य "यदेव विद्यायाकरोतीत्यादिना "फलस्य श्रूयमाणत्वान्नियमेन कर्त्तव्य मित्याशङ्कां निरसितुं सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते "ओमित्येतदक्षरमित्यादि" "ओमित्यक्षरमुद्गीथमुपासीत" इत्यादिना छान्दोग्ये श्रूयमाणं कर्माङ्गमुपासनं नियमेन कर्त्तव्यमथवानेति संशयः। तत्र फलस्य पार्थक्येनाकथनात् कर्माङ्गतयानियमत एवोपासनमिति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तं प्रतिपादयति "तन्निर्धारणानियमः" इति निर्धारणश्चध्यानापरपर्यायमुपासनमेव तस्य कर्मणि न नियमेनोपादानम्, कुतः? तद्दृष्टेः। अर्थात् "तेनोभौकुरुतः" इत्यादिनोद्गीथोपासनमकुर्वतोऽपि विदुषः कर्माङ्गतयाऽनुष्ठानदर्शनात्. स्वर्गादिफलस्यातिरिक्तदर्शनाच्च. पृथगेवेदमुद्गीथोपासनमिति न नियमः ॥४१॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेतन्निर्धारणानियमाधिकरणम् ॥१७॥

सारबोधिनी—"ओम्" इत्याकारक उद्गीथ का उपासन करना चाहिए इस प्रकार से छान्दोग्य में उद्गीथोपासन सुना गया है जो कि कर्म का अङ्गभूत है। इस में संशय होता है कि यह उपासन कर्म में नियम पूर्वक कर्त्तव्य है अथवा गोदोहनवत् अनियम से "यदेवविद्यया करोति तदेववीर्यवत्तरं भवति" इत्यादि से श्रूयमाण जो फल उसका पृथक् कथन न होकर यागार्थक होने से नियम से ही अनुष्ठान करना चाहिए ऐसा पूर्वपक्षवादी कहते हैं।

प्रदानाधिकरणम ॥१८॥

प्रदानवदेव तदुक्तम् ।३।३।४२।

"तद्य इहात्मानमनुविद्यव्रजन्त्येतांश्च सत्यान कामान्" [छा०८।१।६।] इति छान्दोग्ये दहराकाशपदवाच्यपरमात्मन उपासनं विधाय तदन्तर्वर्त्तिसत्यकामत्वादिगुणानामप्युपासनं विहितम् । तत्र गुणचिन्तने तद्गुणविशिष्टस्य परमपुरुषस्य चिन्तनमावर्तनीयं न वेति संशयः। गुणचिन्तनेऽपि तद्गुणिचिन्तनस्य न प्रयोजनमिति न परमात्मचिन्तनमा-

---

विवरणम्—अथ "आत्मानमनुविद्यव्रजन्ति सत्यान् कामान्" इति छान्दोग्ये परमपुरुषस्य परमात्मन उपासनं कथितं तथा तदीयगुणानामप्यनुचिन्तनं पार्थक्येन प्रतिपादितम् । तत्र गुणचिन्तने तादृश गुणविशिष्टतया गुणिनः परमात्मनोऽपि चिन्तनं पुनः पुनः कर्त्तव्यं नवेति संशय्य प्रथमगुणविशिष्टपरमात्मनोऽनुचिन्तने जाते तस्यैकत्वादनुचिन्तनं कृतमेवातः पुनस्तच्चिन्तनमनावश्यकमेव विशिष्टस्य शुद्धादनतिरिक्त-

इसमें सिद्धान्ती कहते हैं कि "तन्निर्धारणानियमः" अर्थात् "येनोभौ कुरुतः यश्चैतदेवंवेदयश्च न वेद" इत्यादि से जो उपासन करता है और जो उपासन नहीं करता है इस प्रकार से उद्गीथ का उपासन नहीं करनेवालों को भी क्रत्वर्थ अनुष्ठान देखने में आता है। तथा स्वर्गादि रूप से अतिरिक्त वीर्यवत्वादि फलक पृथक् यह उद्गीथोपासन है। इसलिए कोई नियम नहीं है॥४१॥

सारबोधिनी—"इहात्मानमनुविद्य" इस प्रकार छान्दोग्य प्रकरण में दहराकाश पद वाच्य परमात्मा के उपासना का विधान करके परमात्म वृत्ति सत्यकामत्वादि गुण का भी उपासन बतलाया है। उसमें गुण का अनुचिन्तन करने में तादृश गुण विशिष्ट परमात्मा का अनुचिन्तन पुनः करना अथवा तद्गुण विशिष्ट तया परमात्मानुचिन्तन करने कि आवश्यकता नहीं ऐसा सन्देह होता है। जब गुण का अनुचिन्तन हुआ तब तादृश गुण विशिष्ट परमात्मा का पुनः अनुचिन्तन करने की कोई आवश्यकता नहीं है इसलिए पुनः पर-

वर्तनीयमिति पूर्वपक्षः। अत्र सिद्धान्तः यथा—"इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपेत्" "इन्द्रायाधिराजाय" "इन्द्रायस्वराज्ञे" इत्यादाविन्द्रस्य तत्तद् गुणविशिष्टतयाऽकारभेदात्प्रदानावृत्तिर्भवति तद्वदेवात्रापि तत्तद् गुणविशिष्टस्योपास्यस्यावृत्तिः कर्त्तव्या। तदुक्तं सङ्कर्षे—"नाना वा देवता पृथक्त्वात्" इति ॥४२॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ प्रदानाधिकरणम् ॥१८॥

त्वादिति पूर्वपक्षं कृत्वा विशिष्टस्य शुद्धादतिरिक्त न्यायेन एक गुणविशिष्टस्यानुचिन्तने कृतेऽपि तदपरगुणविशिष्टस्य परमात्मनो भिन्नत्वात् पुनस्तच्चिन्तनार्थमवश्यमेव पुनरनुचिन्तनं कर्त्तव्यमेवेत्याशयेनोपक्रमते "तद्य इहात्मान मनुविद्य"त्यादि। आत्मानं परमात्मान उपासनं कृत्वा-पुनस्तदनुचिन्तनं प्रतिपादितम्। तदा तद् गुणविशिष्टस्यगुणिनः पुनरपि तद्गुणोपासनं कर्त्तव्यमिति संशयः। तत्र गुणचिन्तने कृते तदीयगुणीनोऽप्युपासनस्य संपन्नत्वात् पुनरनुचिन्तनं निरर्थकमेवेति पूर्वपक्षः। तत्र सिद्धान्तः प्रदानवदिति। अर्थात् यथा "इन्द्रायराज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपेत्" "इन्द्रायस्वराज्ञे" इत्यादौ गुणभेदेन विशेष्यस्येन्द्रस्यभेदात् पुनः पुनर्निर्वापनं भेदं कृत्वा कृतम्। तथैव प्रकृतेऽपि गुणविशिष्टस्य परमात्मनोभिन्नत्वेन प्रतिगुणानुचिन्तने तत्तद्गुणविशिष्टस्य परमात्मनोभिन्नत्वात्पुनस्तदनुचिन्तनं विधेयमेव विशिष्टस्य शुद्धादतिरिक्तत्वात्। अन्यथा सत्तावान गुण इतिवत् विशिष्टसत्तावान् गुण

मात्मानुचिन्तन करने का कोई प्रयोजन नहीं ऐसा पूर्वपक्ष होता है ॥ इसके उत्तर में कहते हैं सिद्धान्तवादो "प्रदानवदित्यादि" तथाहि जिस तरह "इन्द्रायराज्ञे पुरोडास में एकादश कपालं निर्वपेत्" "इन्द्रायाधिराजाय" "इन्द्राय स्वराज्ञे" इत्यादि स्थल में इन्द्र रूप विशेष के एक होने पर भी तत्तदगुण विशिष्टत्वेन आकार भेद होने से प्रदान की आवृत्ति होतो है। उसी तरह प्रकृत में भो उपास्य परमेश्वर के अभेद होने पर भो तादृश तादृश गुण विशिष्ट उपास्य

॥ लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥१९॥

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ।३।३।४३।

"मनश्चितो वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चितः श्रोतचितः कर्मचितोऽग्निचितः" इति वाजसनेयकेऽग्निरहस्ये श्रूयते । अत्र संशयः किमेतेऽग्नयः क्रियामयक्रत्वङ्गभूता उत विद्यामयक्रत्वङ्गभूता इति । तत्र कर्मप्रकरणाम्नातत्वात्क्रत्वङ्गभूता एवेति पूर्वपक्षः । अत्राभिधीयते—"प्रकरणेऽस्मिन् भूयांसि लिङ्गानि विद्यामयत्वं द्योतयन्ति । तस्माद्विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेवैतेषामग्नीनाम् । लिङ्गं हि प्रकरणाद्बलीयस्तदप्युक्तं पूर्वतन्त्रे श्रुतिलिङ्गवाक्येत्यादिसूत्रेण ॥४३॥

इति प्रतीतिरपि स्यादिति । तदुक्तं पूर्वतन्त्रे "नाना वा देवता पृथक्त्वात्" इत्यादि ॥४२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेप्रदानाधिकरणम् ॥१८॥

विवरणम्—वाजसनेयकीयाग्निरहस्यप्रकरणे "मनश्चितोवाक्चितः इत्यादिकाः श्रूयन्ते तत्रतेऽग्नयः क्रियामयक्रतोरङ्गभूता अथवा विद्यामयक्रतोरङ्गभूता इत्येवं संशयो भवति । ततस्तत्र पूर्वपक्षी पूर्वपक्षमुत्था-

परमात्मा का उपासन आवश्यक है । ऐसाहि पूर्व तन्त्र में भी कहा गया है "नाना वा देवता" इत्यादि । विशेषण के भेद से देवता का भेद माना गया है । तद्वत् यहाँ भी विशेषण के भेद से उपास्य का भेद मानने पर उपासनानुवृत्ति आवश्यक है ॥४२॥

सारबोधिनी—"मनश्चितो वाक्चितः" इत्यादि वाजसनेयक अग्नि रहस्य में सांपादिक मनश्चितादि अग्नि का श्रवण है । उसमें संशय होता है कि ये जो मनश्चितादिक अग्नि हैं वे कर्मात्मक क्रतु का अङ्गभूत हैं अथवा विद्यामय क्रतु का अङ्गभूत हैं । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि कर्म के प्रकरण में इन अग्नियों का प्रतिपादन होने से क्रियामय क्रतु का ही अङ्गभूत हैं

पूर्वविकल्प प्रकरणात्स्यात्क्रिया मानसवत् ।३।३।४४।

अत्राशङ्कते । पूर्वस्य क्रियामयस्याग्नेः प्रकरणादयं मनश्चिताद्यग्निर्विकल्पः स्यात्तत्र मानसवदिति निदर्शनम् । यथा द्वादशाहे विद्यारूपस्यापि मानसग्रहस्य प्रकरणात्क्रत्वङ्गता भवति तद्वत् ॥४४॥

पयति, कर्म प्रकरणे एते कथिता इति क्रियामयाङ्गभूता एवेति । तत्र सिद्धान्तं प्रतिपादयति, "लिङ्गभूयस्त्वादित्यादि । नहि क्रियामय क्रत्वङ्गत्वमेतेषां किन्तु विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेव कुतः ? लिङ्गभूयस्त्वात् । अर्थात् एतस्मिन प्रकरणेऽनेके हेतवः सन्ति एतेषां विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेवप्रतिपादयन्ति तच्च लिङ्गप्रकरणापेक्षया प्रवलम् । तदाहुः पूर्वतन्त्रे "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्" इत्यादि सूत्रेण । ततश्च प्रकरणापेक्षया लिङ्गस्य प्राबल्येन विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेवेति निश्चयः ॥४३॥

विवरणम्—पुनरप्याशङ्कते पूर्वपक्षवादी । अयं मनश्चिताद्यग्निर्नस्वतंत्रः किन्तु क्रिया अर्थात् क्रियामयक्रतोरेव अङ्गः "इष्टकाभि रग्निं नतु विद्यामय क्रतु का अङ्ग । इस शङ्का का निराकरण करने के लिए सिद्धान्तवादी कहते हैं कि "लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धीत्यादि" इस प्रकरण में अनेक लिङ्ग इस प्रकार के विद्यमान हैं जो मनश्चितादिक अग्नि को विद्यामय क्रतु का ही अङ्ग बतलाते हैं पर कर्ममय क्रतु का अङ्ग नहीं । अर्थात् कर्मक्रतु का अङ्गत्व प्रतिपादक प्रकरण प्रमाण है और विद्यामयक्रत्वङ्ग प्रतिपादक लिङ्ग प्रमाण है । लिङ्ग तथा प्रकरण प्रमाण में लिङ्ग प्रमाण ही वलवान् होता है । इस बात का स्पष्टीकरण पूर्वतन्त्र के बलाबल प्रकरण में किया है । "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थान समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम्" इत्यादि सूत्र में । इसलिए मनश्चितादिक अग्नि विद्यामय क्रतु का ही अङ्ग है नतु कर्ममय क्रतु का अङ्ग । इस बलावल का विचार अन्यत्र किया जायगा ॥४३॥

अतिदेशाच्च ।३।३।४५।

"तेषामेवैकोऽग्निस्तावान् यावानसौ पूर्वः" इति मानसाग्नीनां सादृश्यातिदेशाच्च क्रियामयक्रत्वङ्गत्वं प्रतीयते ॥४५॥

चिनुते" इति पूर्वप्रकृतस्य क्रियामयस्याग्निदेवाय मनः सङ्कल्पस्याग्ने संकल्पलक्षणस्याग्ने रेव मनः सङ्कल्पात्मकोमनश्चिताद्यग्निर्विकल्पः प्रकरणप्रमाणात् स्यात् । दृष्टान्तो मानसवदिति यथा द्वादशाहे दशमेऽहनीति वाक्ये विद्यारूपस्यापि मानसग्रहस्य क्रियायाः प्रकरणात्तद्वत् अत्रापीत्याशयेनाह "अत्राशङ्कते" इत्यादि । वृत्तेरक्षरार्थस्त्वतिरोहितम् ॥४४॥

विवरणम्—य एते मनश्चितादिका अग्नयस्ते तेषामेवैकोऽग्निस्तावाद्यावानसौ पूर्वं इति पूर्वेष्टिकाग्निना मनश्चितादीनां सादृश्यदर्शनादतिदेशाच्चैतेषां मनश्चिताद्यग्नीनां क्रियामयक्रतोरेवाङ्गत्वम् नतु विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमित्याशयं मनसि निधायोपक्रमते तेषामेवैकोग्निरित्यादि निगदव्याख्यानेन व्याख्याता भवति वृत्तिः ॥४५॥

सारबोधिनी—अब यहाँ पूर्वपक्षवादी शङ्का करते हैं कि पूर्व अर्थात् क्रियामय अग्नि का प्रकरण के समीन यह दृष्टान्त है । जिस तरह द्वादशाह में "दशमेऽहनि" इस वाक्य में विद्या रूप जो मानस ग्रह है उसका क्रिया के प्रकरण होने से क्रियामय क्रतु का अङ्ग होता है । उसी तरह प्रकृत में भी क्रियामय क्रतु का ही अङ्ग है ॥४४॥

सारबोधिनी—"उन सब में से ही यह एक अग्नि है उतना बड़ा ही जितना पूर्व है ।" इस अतिदेश वाक्य से तथा सादृश्य से सिद्ध होता है कि यह मनश्चितादिक अग्नि क्रियामय क्रतु का अङ्ग है । नतु विद्या का अङ्ग ऐसा प्रतीत होता है ॥४५॥

सारबोधिनी—प्रकृत सूत्र में जो 'तु' शब्द है वह पूर्व शङ्का का निराकरण परक है । ये जो मनश्चितादिक अग्नि हैं नतु कर्ममय क्रतु का

विद्यैव तु निर्धारणाद्दर्शनाच्च ।३।३।४६।

तु शब्दः शङ्कानिवर्तकः। मनश्चितादयोऽग्नयो विद्यामयक्रत्वङ्गभूता एव । "ते हैते विद्याचित एव" इत निर्धारणात् । तद्धि विद्यामयक्रत्वन्वयेन विद्यामयत्वख्यापनाय । मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त इत्यादौ विद्यामयक्रतोर्दर्शनाच्च ॥४६॥

श्रुत्यादिबलियस्त्वाच्च न बाधः ।३।३।४७।

श्रुतिलिङ्गवाक्यानां प्रकरणाद्बलीयस्त्वात्तैरवगतस्यास्य विद्यामयक्र-

---

विवरणम्—प्रकृतसूत्रे यस्तु शब्दः स पूर्वशङ्कायानिवृत्तिपरकः। य इमे मनश्चितादिका अग्नयस्ते विद्यामयक्रतोरेवाङ्गभूता न तु कर्ममयक्रतोरङ्गभूता इति । कुतः ? निर्धारणात् । निर्धारणंचैवं श्रूयते "ते हैते विद्याचित एव" ते एते मनश्चितादिका अग्नयो विद्याचितक्रतोरङ्गभूता एवेति । इत्थं निर्धारणं मनश्चिताद्यग्नीनां विद्यामयक्रत्वङ्गभूतत्वमेव प्रतिपादयति नतु कर्ममयक्रत्वङ्गत्वमिति। तथा "तद्दर्शनाच्च" मनसैव तु ग्रहा अगृह्यन्त" इत्यादिदर्शनादपि विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेव दृश्यते नतु कर्ममयक्रत्वङ्गत्वमिति । तस्मान्मनश्चितादयोविद्यामयकर्माङ्गभूता एव नतु कर्ममयक्रत्वङ्गभूता इति ॥४६॥

अङ्ग । क्योंकि—"ते हैते विद्याचित एव" इस प्रकार से यह निर्धारित है । यह जो निर्धारण है उसका विद्यामय क्रतु के साथ अन्वय होने से मनश्चितादिक अग्नि को विद्यामय क्रतु का शेष अर्थात् अङ्गत्व बतलाता है नतु कर्ममयक्रतु का अङ्ग ।

एवं "मन सैषुग्रहा अगृह्यन्त" "मनसास्तुवन्त" इत्यादि स्थल में विद्यामय क्रतु को अङ्गी बतलाया है और मनश्चितादिक अग्नि को तादृशाङ्गी का शेष रूप प्रतिपादन किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनश्चितादिक अग्नि विद्यामय क्रतु का ही अङ्ग है नतु कर्ममय क्रतु का अङ्ग ॥४६॥

त्वङ्गत्वमेव । न प्रकरणेन बाधः । प्रत्यक्षश्रुतिस्तावत् "ते हैते विद्याचित एव इति" लिङ्गवाक्ये "तान् हैतानेवंविदे" इत्यादिवाक्ये स्पष्ट दृश्येत इति ॥४७॥

विवरणम्-अथ क्रियामयक्रतुप्रकरणपठितानां मनश्चिताद्यग्नीनां क्रियामयक्रत्वङ्गत्वमेवस्यात्प्रकरणप्रमाणबलात् न तु विद्यामयक्रतुपुप्रवेशाद्विद्यारूपत्वं स्यादित्याशङ्कानिराकरणायोपक्रमते "श्रुतिलिङ्गवाक्यादीनामित्यादि" अयंभावः=श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां बलवत्त्वदुर्बलत्व प्रतिपादकानां मध्ये सर्वापेक्षया श्रुतेर्बलीयस्त्वं तदपेक्षया तदुत्तरवर्त्तिनां दौर्बल्यमिति प्रकृतविषये सर्वप्रबलश्रुत्यादि संभवेन श्रुत्या सर्वस्यबाधो भवति नतु प्रकरण प्रमाणानां हीनेन श्रुत्यादेर्बाधः । ततश्च प्रबल श्रुतिबलात् मनश्चितादीनां विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेव नतु क्रियामयक्रत्वङ्गत्वं मनश्चितादीनामिति । तत्र प्रत्यक्ष श्रुति "ते हैतेविद्याचित एव" तथा लिङ्गमपि प्रमाणं मनश्चितादीनां विद्यामयक्रत्वङ्गत्वे "तान् हैतान् एवं विदे" इत्यादि । तस्मान्मनश्चितादयो विद्यामयक्रतुशेषा एव नतु क्रियामयक्रत्वङ्गभूता इति ॥४७॥

सारबोधिनी-क्रियामय क्रतु के प्रकरण में पठित जो मनश्चितादिक अग्नि है उसको प्रकरण प्रमाण के बल से क्रियामय क्रतु का ही अङ्ग होना चाहिए नतु विद्यामय क्रतु का अङ्ग होना चाहिए । क्योंकि विद्यामय क्रतु के अङ्ग होने में प्रकरण प्रमाण बाधक होगा एतादृश शङ्का का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं "श्रुतिलिङ्गवाक्यानामित्यादि" श्रुतिलिङ्गवाक्य प्रमाण प्रकरण प्रमाणापेक्षयाबलवान् है तो श्रुत्यादिक प्रमाण से निश्चित मनश्चितादिक को विद्यामय क्रतु का ही अङ्गत्व होता है । किन्तु प्रकरण प्रमाण से बाध नहीं होता है । इसमें प्रत्यक्ष श्रुति है "ते हैते विद्याचित एव" तथा लिङ्ग वाक्य है । "तान् हैतानेवंविदे" इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट देखने में आता है । अतःश्चितादिक विद्यामय क्रतु का अङ्ग होता है नतु क्रियामय क्रतु का अङ्ग ॥४७॥

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ।३।३।४८।

"मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त" इत्यादिस्थले विधिपदाश्रवणात् फलसम्बन्धाश्रवणाच्च न विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमिति शङ्कायामाह अन्विति । मनसैष्वित्यादिक्रत्वनुबन्धात् । श्रुत्यादिभ्यश्च विद्यामयक्रतुविधिः कल्पनीय यथा दहरविद्यादीनां पृथक्त्वं तथात्रापि । "यदेव विद्यया करोति' [छा० १।१।१०] इत्यनुवादसरूपेऽपि विधिर्दृष्टः । तदुक्तं जैमिनीये–वचनानि त्वपूर्वत्वात् [जै० सू०] इति ॥४८॥

विवरणम्–ननुमनश्चितादिवह्नीनां कथं विद्यामयक्रत्वङ्गत्वं स्यात् यतः पार्थक्येन फलसंबन्धस्याभावात् तथा विधायकलिङ्गादिपदाभावाच्चेत्यादि शङ्कानिराकरणायोपक्रमते "मनसैषुग्रहा" इत्यादि । मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त" इत्यादि स्थले विधायकपदानां तव्यत्तव्यानीयरलिङ्लोडादीनामभावात् तथा पार्थक्येन फलसम्बन्धस्याप्यभावात् मनश्चितादीनां विद्यामयक्रतोरङ्गत्वं कथं स्यादत आह अनुबंधादिभ्यः इत्यादि । यद्यपि मनसैषुग्रहा अगृह्यन्त इत्यादि स्थले विधायकलिङ्ादि प्रत्ययो नास्ति नवा पार्थक्येन फलसम्बन्धश्च तथापि अगृह्यन्त इतिक्रत्वनुबन्धात् विद्यामयक्रत्वङ्गत्वविधेः कल्पनमावश्यकम् । यथा दहरविद्यायां क्रियामयत्वात् पृथक्त्वं कल्प्यते तथा प्रकृतेऽपि बोध्यम् । एवमनुव-

सारबोधिनी–"मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त" इत्यादि स्थल में विधि पद का श्रवण होने से तथा फल सम्बन्ध का अभाव होने से मनश्चितादि को विद्यामयक्रतु का अङ्गत्व कैसे होगा ? इस शङ्का का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं "अनुबन्धादिभ्यः" इत्यादि "मनसैषु अगृह्यन्त" इत्यादि क्रतु के अनुबन्ध से तथा श्रुत्यादि प्रमाण से मनश्चितादिक में विद्यामय क्रत्वङ्गत्व विधि की कल्पना करनी चाहिए । जैसे विद्या में पृथक् फल सम्बन्ध की कल्पना की जाती है । उसी तरह प्रकृत

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ।३।३।४९।

अतिदेशमात्रेण नैषामिष्टकचिताग्निसादृश्यमङ्गीकार्यम् । अतिदेशस्य तु सामान्येन केनचिद्धर्मेणाप्युपलब्धेः । "स एष मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले" इत्यादौ सर्व संहारकारित्वमात्रेण मृत्युवदतिदेशेन यथा न मण्डलपुरुषस्य तल्लोकापत्तिरति दिश्यते, तथैवात्राप्यतिदेशमात्रम् ॥४९॥

न्धवाक्येऽपि क्वचिद्विधिर्भवतीति दृश्यते यथा यदेव विद्यया करोति अर्थात् यदेव विद्यया करोतीत्यविधिसरूपेऽपि विधि र्भवति तथाऽत्रापि । तदत्र जैमिनीयं वाक्यम् वचनानित्वपूर्वत्वादिति ॥४८॥

विवरणम्-नन्वतिदेशात् मनश्चिताद्यग्नीनां क्रियामयाक्रित्वङ्गत्वंस्यात्तत्राह न सामान्यादपि इत्यादि । नहि अतिदेशमात्रेण मनश्चितादीनां सादृश्यं संभवति कमपि धर्मविशेषमादाय तस्यापि संभवात् । यथा 'स एव मृत्युर्यएष एतस्मिन्मण्डले' इत्यादि स्थले मृत्युवत् सर्वसंहारकारित्वधर्ममात्रेणातिदेशो भवति तथा प्रकृतेऽपि फलसामान्येनाप्यनिदेशस्य संभवादिति भावः ॥४९॥

में भी श्रुत्यादि प्रमाण से विधि कल्पना आवश्यक हैं। विधि सरूप "यदेव विद्याया करोति" इत्यादिक स्थल में भी विधि होती है यथा जैमिनी में कहा है "वचनानित्वपूर्वत्वादित्यादि ॥४८॥

सारबोधिनी—अति देशमात्र से मनश्चितादिको क्रियामय अग्नि का सादृश्य मानना उचित नहीं क्योंकि अतिदेश तो सामान्य किसी धर्म को लेकर भी उपपन्न हो सकता है। जैसे "वह प्रसिद्ध यह मृत्यु की तरह सर्व संहारकारित्व मात्र से अतिदेश होता है। तब तो मण्डल पुरुष को तादृश लोक प्राप्ति नहीं होती है। उसी तरह से प्रकृत में भी अतिदेश मात्र है ॥४९॥

परेणच शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ।३।३।५०।

"अयं वाव लोक एषोऽग्निचितः" "एतत्सर्वमभिसम्पद्यते" इति ब्राह्मणेण मनश्चिताद्यग्निवाचकस्य शब्दस्य भिन्नफलविद्यामयप्रतिपादकत्वमस्ति । सम्पादनीयाग्न्यङ्गानां भूयस्त्वेनैषां क्रियाप्रकरणे सम्बन्धः ॥५०॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥१८॥

आत्मनः शरीरभावाधिकरणम् ॥२०॥

एक आत्मनः शरीरे भावात् ।३।३।५१।

पूर्वमुपास्योपासकोपासनानां स्वरूपज्ञानमावश्यकमित्यभिहितम् । तत्रोपास्यशरीरनिविष्टोपासकस्य कर्तृत्वादिविशिष्टमेव रूपमनुसन्धेयमुता-

---

विवरणम्—ननु यदि मनश्चितादीनां विद्यामयक्रतोरङ्गत्वं तदा क्रियाक्रमाङ्गप्रकरणे कथं पाठ इत्यादि शङ्कां निराकर्तुमाह "परेण च शब्दस्य" इत्यादि सूत्रम् । "अयं वाव लोक" इत्यादि ब्राह्मणेन मनश्चितादि, अग्निवाचकस्य शब्दस्य विभिन्नफलविद्यामय प्रतिपादकत्वमस्ति । क्रियामयक्रतुप्रकरणे पाठस्तु संपादनीयाङ्गानां भूयस्त्वात् । अतो न कश्चिद्विरोधः । तस्मान्नमनश्चितादीनां कर्ममयक्रत्वङ्गत्वमपितु विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेवेति ध्येयम् ॥५०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥१९॥

सारबोधिनी—"अयं वाव लोक" इत्यादि के प्रामाण्य से मनश्चितादि अग्निवाचक शब्द विभिन्नक विद्यालय का प्रतिपादक है । क्रियामय क्रतु प्रकरण पाठ तो सम्पादनीय अङ्गों के अधिकता के कारण से है । अतः मनश्चितादि में कर्ममय क्रत्वङ्गत्व नहीं है पर विद्यामय क्रत्वङ्गत्व ही है ॥५०॥

सारबोधिनी—पहले उपास्य परमात्मा उपासक अधिकारी तथा उपासना लक्षण विद्या का स्वरूपज्ञान आवश्यक है । क्योंकि इन पदार्थों के

पहतपाप्मत्वादिगुणकं वास्तविकमिति संशयः। तत्र पूर्वपक्षः। शरीरस्थितस्यैवानुसन्धेयतया कर्तृत्वादि विशिष्टस्यैवात्मतया परोपास्य इत्येके ॥५१॥

व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्नतूपलब्धिवत् ।३।३।५२

सांसारिकादात्मनो व्यतिरेकोऽपहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टः शुद्ध एवानुसन्धेयो न कर्तृत्वादिविशिष्टः तथा विशुद्धस्वरूपोपासनभावभावि-

---

विवरणम्—आत्मेत्युपगच्छन्तीति. अग्रिमसूत्रे यो हि विचारः प्रस्तूयेत. तद्विषयमवलंब्यैवात्र विचारयितुमुपक्रमते "पूर्वमुपास्येत्यादि" वृत्तिः। उपासनातः पूर्वमुपास्यस्य परमेश्वरस्य तथोपासकस्याधिकारिण एवमुपासनायाः स्वरूपज्ञानमत्यावश्यकम्. तद्विनोपासनाया असंभवादिति पूर्वं कथितम् । तस्योपास्यपरमेश्वरशरीरान्तर्गतस्य कर्तृत्व भोक्तृत्वादिविशिष्टमेव स्वरूपमुपासनाविषयीभूतमनुचिन्तनीयम् , अथवा प्रजापतिवाक्यप्रतिपादितापहतपाप्मत्वादिकं समुपास्यमिति संशयो भवति। तत्र शरीरावस्थितस्यैवानुचिन्तनीयतया. कर्तृत्वादि धर्मविशिष्टस्यैवात्मरूपेणानुसंधानं कर्तव्यमित्येके पूर्वपक्षयन्ति ॥५१॥

स्वरूपज्ञान हुये बिना उपासनादिक सब असंभवित हो जायगा। उसमें उपास्य जो परमात्मा उसके शरीर विशिष्ट उपासक का कर्तृत्व भोक्तृत्व धर्म विशिष्ट जो स्वरूप है वही अनुसंधेय है अथवा प्रजापति वाक्य प्रतिपादित जो अपहतपाप्मत्वादिक वास्तविक स्वरूप है तादृश गुण विशिष्ट रूप से आत्मा अनुचिन्तनीय हैं ऐसा संशय होता है। इसमें पूर्वपक्ष होता है कि शरीर में अवस्थित आत्मा ही अनुसंधेय होने से कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्म विशिष्ट का ही आत्म रूप से उपासन करना चाहिए इस प्रकार से एक कहते हैं ॥५१॥

सारबोधिनी—पूर्वसूत्रकृत पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्तवादी कहते हैं "व्यतिरेक" इत्यादि सूत्रम्। सांसारिक कर्तृत्वादि धर्म विशिष्ट आत्मा से

त्वादपहतपाप्मत्वादिगुणकस्यात्मनः "यथा क्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति" [छा० ३।१४।१।] इति श्रुतेः। यथा ब्रह्मानुसन्धानेन ब्रह्मस्वरूपोपलब्धिस्तद्वदात्मोपलब्धिरपि ज्ञेया ॥५२॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावात्मनः शरीरभावाधिकरणम् ॥२०॥

विवरणम्–पूर्वसूत्रकृतपूर्वपक्षं निराकर्तुं सिद्धान्तमाह "सांसारिकादात्मन" इत्यादि। यो यं कर्तृत्वधर्मविशिष्टः सांसारी आत्मा स नोपासनीयः किन्तु सांसारिकात्मनो भिन्नोऽपहतपाप्मत्वादिगुणकः परमात्मा स एव तु मुमुक्षुभिरुपास्यः। अस्य वास्तविकं यत्स्वरूपं तदेवोपासनायामनुसन्धातव्यम्, कुतः ? तद्भावभावित्वात्। "यथाक्रतुरस्मिल्लोके भवति तथेतः प्रेत्यभवतीत्यादि श्रुतेः। स्मृतिरपि भवति "यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजयन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः" इत्यादि। तत्र दृष्टान्तमाह "उपलब्धिवत्" यथा यादृश रूपेणैव ब्रह्मण उपलब्धिः साक्षात्कारो जायते, तथैव प्रकृतोपासानायामपि ज्ञातव्यमिति ॥५२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेआत्मनःशरीरभावाधिकरणम् ॥२०॥

अतिरिक्त अपहतपाप्मत्वादिक गुण विशिष्ट विशुद्ध परमात्मा ही उपासना में अनुचिन्तनीय हैं। किन्तु कर्तृत्वादि गुण विशिष्ट आत्मा उपासनीय नहीं। विशुद्ध स्वरूप की उपासना भाव से भावित होने से अपहतपाप्मत्व गुण वाला आत्मा ही समुपासनीय है। इस विषय को "यथा क्रतुरस्मिन्नित्यादि एवम् "यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते" इत्यादि स्मृति भी कहती है। दृष्टान्त बतलाते हैं "उपलब्धिवत्" जिस तरह ब्रह्म का अनुसंधान करने से ब्रह्म स्वरूप की उपलब्धि होती है। उसी तरह आत्मा की भी उपलब्धि होती है ऐसा समझना ॥५२॥

॥अङ्गावबद्धाधिकरणम् ॥२१॥

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ।३।३।५३।

छान्दोग्ये—"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" [छा० १।१।१।] इति श्रूयते । अत्रेमा उपासनाः समाम्नातशाखास्वेव सम्बध्यन्त उत सर्वासु शाखास्विति संशयः । प्रतिशाखं स्वरादिभेदादुद्गीथादयस्तच्छाखास्वेव सम्बध्यन्त इति पूर्वपक्षः । अत्राभिधीयते—उद्गीथाद्यङ्गाश्रिता उपासना यत्र श्रूयन्ते न तासु शाखास्वेव सम्बध्यन्तेऽपि तूद्गीथजातीयत्वाविशेषात्सर्वासु शाखासु सम्बध्यन्त इत्युद्गीथव्यक्तिभेदेऽपि न दोषः ॥५३॥

विवरणम्—"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" इति छान्दोग्ये क्रत्वङ्गभूता उपासनाः श्रूयन्ते । तत्रैता उपासनाशाखाभेदाद्भिन्ना अथवा यत्र या श्रुतास्तदन्यत्रापि तासां सम्बन्ध इति संशयः । तत्र पूर्वपक्षवादिनः प्रत्यवतिष्ठन्ते स्वरादिभेदेन भेदात् तदीयशाखायामेव सम्बन्धो नान्यत्रेति । तत्राभिधीयते—अङ्गावबद्धा उपासना न शाखाभेदेन भिन्नाः । यद्यपि स्वरूपतस्तासां भेदेऽपि उद्गीथत्वजात्या सर्वासां समानत्वेनैकत्वात् सर्वत्र सर्वासां सम्न्ध इत्याशयेन सूत्रव्याख्यातुमुपक्रमते "छान्दोग्ये" इत्यादि. निगदव्याख्यानेन व्याख्यातैववृत्तिः ॥५३॥

सारबोधिनी—छान्दोग्य श्रुति में "ओमित्येतदक्षरमुदगीथमुपासीत" इस प्रकार से उदगीथोपासना का प्रतिपादन किया गया है। उसमें संदेह होता है क्रिया जो उपासना है वह जिस शाखा में कही गयी है। उसीमें उसका सम्बन्ध है अथवा एक जगह में जो श्रुत है उसका अन्यत्र भी सम्बन्ध होता है। इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि प्रति शाखा में स्वरादि का भेद होने से जो जहाँ श्रूयमाण है उसका सम्बन्ध वही है। अन्यत्र नहीं। सिद्धान्तवादी उत्तर में कहते हैं कि "अङ्गावबद्धा" इत्यादि। सूत्रघटक जो तु शब्द है वह पूर्वपक्ष का व्यावर्तक है। उदगीथ की अङ्गाश्रित

मन्त्रादिवद्वाविरोधः ।३।३।५४

यथैकैकशाखोदितानामपि मन्त्राणां सर्वशाखासु क्रतोरेकत्वेन तत्र तत्र सम्बन्धस्तद्वदत्रापीत्यविरोधः ॥५४॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावङ्गावबद्धाधिकरणम् ॥२१॥

भूमज्यायस्त्वधिकरणम् ॥२२॥

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ।३।३।५५।

छान्दोग्ये-पञ्चमप्रपाठके वैश्वानरविद्याम्नायते । तत्र किं व्यस्तस्योपासनमुत समस्तस्येति संशयः । व्यस्तोपासनस्यासकृत्प्रशंसितत्वा-

---

विवरणम्—यथैकशाखागतमन्त्रस्यान्यत्रापि समुपयोगो भवति तथैवैकशाखागताङ्गावबद्धोपासनानामन्यत्रापि सम्बन्धोऽविरोध एवेत्याशयेनोपक्रमते "यथैकैकेत्यादि" अतिरोहितार्थत्वाद्वृत्त्यक्षरेण व्याख्यातः ॥५४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेऽङ्गावबद्धाधिकरणम् ॥२१॥

विवरणम्—छान्दोग्योपनिषदि वैश्वानर विद्या कथिता. तस्यां वैश्वानरस्य व्यस्तस्य समस्तस्य चोपासनं प्रतिपादितम् । तदुपासनं व्यस्तस्य

उपासना जहाँ जो श्रूयमाण है उसी शाखा में सम्बन्ध होता है ऐसा नहीं। यद्यपि स्वरूपतः प्रतिशाखामें भेद है । तथापि उद्गीथत्वरूप से सबके एक होने से एक जगह में कथित जो उपासना उसका सर्वत्र सम्बन्ध होने में कोई क्षति नहीं है । अतः एकत्र कथित का सर्वत्र सम्बन्ध होता है ॥५३॥

सारबोधिनी—जैसे एकशाखागत मन्त्रों का अन्यान्यप्रकरणों में उपयोग होता है क्रतुत्वेन सब क्रतु के एक होने से वैसे ही एक सखागत अङ्गावबद्ध उपासना का भी अन्यत्र सम्बन्ध होने में कोई विरोध नहीं है ॥५४॥

सारबोधिनी—छान्दोग्योपनिषत् के पञ्चमाध्याय में वैश्वानर विद्या का प्रतिपादन किया गया है उसमें यह संशय होता है कि प्रतिनियता-

त्फलादेशाच्च तस्यैवोपासनमिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु—व्यस्तोपासनं मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इत्यादिभिर्विनिन्द्य द्युलोकादित्यवाय्वाकाशपृथिवीषु मूर्धचक्षुः प्राणसन्देहबस्तिपादरूपावयवत्वमुक्ता "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति" [छा०५।१८।१।] इति पूर्वोदितावयवसमूहविशिष्टस्य समस्तस्यैव त्रैलोक्यशरीरस्य वैश्वानरात्मन उपा-

---

समस्तस्य वा कर्तव्यमिति संशयो जायते । तत्र व्यस्तोपासनस्य प्रशंसनात् पार्थक्ये न फलविशेषस्य प्रतिपादनाच्च व्यस्तोपासनमेव कर्तव्यं न तु समस्तोपासनमिति पूर्वपक्षः व्यस्तोपासने निन्दादर्शनात् फलविशेषस्य समस्तोपासने दर्शनाच्च समस्तोपासनमेव विधेयमिति दर्शयितुं सूत्रं व्याख्यानाय चोपक्रमते "छान्दोग्ये पञ्चम प्रपाठके" इत्यादि छान्दोग्यीयपञ्चमाध्याये वैश्वानरविद्या प्रस्तुता । तत्र वैश्वानरीयावयवस्य समस्तावयव संयुतस्य वोपासनमिति संशयः । तत्र व्यस्तोपासनस्य प्रशंसा दर्शनात्पार्थक्येन फलविशेषस्यदर्शनाच्च "यत्प्रशंस्यते तदेव विधी-

वयव संयुक्त वैश्वानर का उपासन प्रतिपादित है अथवा समस्तावयव सहित वैश्वानर का उपासन प्रतिपादित है । इसमें पूर्वपक्षवादी का कथन है कि व्यस्तोपासना की वारम्वार प्रशंसा की गई है । तथा फलविशेष का प्रतिपादन भी किया गया है । जिसकी प्रशंसा की जाती है । उसीका विधान होता है, इस न्याय से व्यस्तोपासना ही प्रकृत में अभिलषित है । पर समस्तोपासना का विधान नहीं है । इस पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्तवादी कहते हैं । "भूम्नः क्रतुवत्" इत्यादि सूत्र । "आपका मस्तक गिर गया होता यदि हमारे पास नहीं आये होते" इत्यादि प्रकरण से व्यस्तोपासना की निन्दा करके द्युलोक आदित्य वायु आकाश और पृथिवी में मूर्धा चक्षु प्राण सन्देह हस्तीपाद लक्षण अवयव का प्रतिपादन करके

सनमभिहितम् । "तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" "य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति" [छा०५।२४।३।] इति श्रूयमाणं च महत्फलं समस्तस्यैव वैश्वानरस्योपासने सम्भवति । व्यस्तवाक्येषु फलश्रुतिस्तु —दर्शपूर्णमासादेः क्रतोः समस्तस्यैव प्रयोगो न व्यस्तानां प्रयाजादीनां तद्वत् ॥५५॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ॥२२॥

यते" इति न्यायात्फलविशेषस्य व्यस्तोपासने दर्शनाच्च व्यस्तोपासन मेव कर्त्तव्यमिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तीप्राह "भूम्नः क्रतुवदित्यादि सूत्रम् । भूम्नः समस्तावयव संयुतस्यैव वैश्वानरस्योपासनं कर्त्तव्यम्, नतु व्यस्तस्य यतो व्यस्तोपासनस्य 'मूर्द्धाते' इत्यादिना निन्दां प्रदर्श्य "यस्त्वेतमेवम्" इत्यादिना समस्तस्यैव तस्योपासनायाः शास्त्रे प्रतिपाद नात् । एतदेव वृत्तिकारो दर्शयति "सिद्धान्तस्तु" इत्यादि "मूर्द्धा तेव्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्यदि"त्यादिना व्यस्तोपासनं विनिन्द्य द्युलोकादिपादान्तमवयवं कथयित्वा "यस्त्वेतमेवम्=सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति" इति पूर्वकथितावयव संयुक्तस्य त्रैलोक्यकलेवरयुक्तस्यैव वैश्वानरस्योपासनं "जो एतादृश वैश्वानर आत्मा का उपासन करता है वह लोक सब भूतों में और सर्व आत्माओं में अन्न को प्राप्त करता है" इस प्रकार से पूर्व कथित अवयव समुदाय से युक्त त्रैलोक शरीरक जो वैश्वानर आत्मा है उसी का उपासन का प्रतिपादन किया हैं । जिस तरह इषीका तूल [रुई] है, उसको अग्नि में देने पर सर्वथा विनष्ट हो जाता है, उसी तरह वैश्वानर आत्मा को उपासन करनेवाले उपासक का सब पाप कर्म विनष्ट हो जाता है" और ""जो उपासक इस प्रकार से जान करके अग्नि होत्र हवन करता है" इस प्रकार से श्रूयमाण जो महाफल है वह समस्तावयव संयुत वैश्वानर के उपासन करने पर ही संभवित हो सकता है । किन्तु व्यस्तावयव सहकृत उपासना से एतादृश महत्वफल नहीं हो सकता है । एक एक अवयव संयुत वैश्वानर के उपासन में जो फल का कथन किया

॥ शब्दादिभेदाधिकरणम् ॥२३॥

नाना शब्दादिभेदात् ।३।३।५६।

अत्र मुक्तिफलिकाः सद्विद्यादयो विषयतया गृह्यन्ते । तत्र किमा-सामेकविद्यात्वमुत नानात्वमिति संशयः । वेद्यस्य ब्रह्मणः फलस्यैक्या

विहितवान् । तथा "यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयते" इत्यादिना प्रकर-णेन समस्तोपासनस्य फलविशेषस्यापि शास्त्रे प्रतिपादनं कृतवान् । यथा समस्तोपासनस्य प्रशंसनं फलविशेषस्य च प्रतिपादनमकरोन्न तथा व्यस्तो-पासनस्य प्रशंसनं फलं वा प्रतिपादितवान् किन्तु निन्दामात्रमेवाकरोत् । अतो न व्यस्तोपासनं प्रकरणगम्यं भवति किन्तु समस्तोपासनमेव विधे-यमिति प्रकरणार्थो निष्पद्यते ॥५५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ॥२२॥

विवरणम्—परमपुरुषधामश्रीसाकेतप्राप्तिलक्षणमोक्षफलिका इमा वैश्वानरादिका विद्या यस्यामभिन्नाभिन्नावेति संशयः । तत्र ज्ञातव्यस्य

गया है वह तो जैसे समस्त दर्शपौर्णमास के प्रयोग में फल होता है तद्वत् है । न कि मात्र प्रयाज के अनुष्ठान से वह फल प्राप्त होता है । उसी तरह प्रकृत में जानना चाहिए । इसलिए प्रकृत में समस्तावयव सह-कृत वैशनर का ही उपासन अभिमत है न तु व्यस्तोपासन ॥५५॥

इति भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ॥

सारबोधिनी—यहाँ मोक्षफलक सद्विद्या वैश्वानरादिक विद्याओं को अधि-कृत करके विचार करते हैं । ये जो वैश्वानरादिक विद्याएँ हैं वे परस्पर भिन्न हैं अथवा अभिन्न । एतादृश्य संशय होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि विद्यावेद्य जो परम पुरुष वह एक है तथा सर्व विद्याओं का फल प्राप्तव्य मोक्ष है वह भी अभिन्न है अतः ये सब विद्याएँ एक ही हैं परस्पर भिन्न नहीं । इसमें सिद्धान्ती कहते हैं "नाना" अर्थात् सब विद्याएँ परस्पर भिन्न है । यद्यपि प्राप्य तथा फल का ऐक्य है तथापि शब्दान्तर

देकविद्यात्वमेवेति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु--शब्दान्तराद्यनुबन्धभेदात्प्रकारभेदे विद्याभेद एव सिद्ध्यति। क्वचित्सच्छब्दः क्वचिद्भूमशब्दः क्वचिदपहतपाप्मशब्दः। एवमभ्याससंख्यागुणादीनामपि भेदो ज्ञातव्यः ॥५६॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ शब्दादिभेदाधिकरणम् ॥२३॥

परमपुरुषस्य तथा फलस्य चाभेदाद्विद्याया अभेद इति पूर्वपक्षः। अनुबन्ध संख्यादीनां भेदाद्विद्यायाः परस्परं भेद एवेति सिद्धान्तं दर्शयितुं सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते "अत्र सद्विद्यादीनामित्यादि।" अत्र मोक्षात्मक फलजनिका अनेकावैश्वानरादिकाविद्याः श्रूयन्ते। ता एता एका एवानेकावेति संशयः। तत्र विद्यावेद्यस्य परमपुरुष श्रीरामस्यैकत्वाद् फलाभेदाच्चसर्वा अभिन्ना एवेति पूर्वपक्षाशयः। नाना सर्वा अपि विद्याः परस्परं भिन्ना भिन्ना एव। यद्यपि वेद्यस्य फलस्य चैक्यम् तथापि शब्दान्तरसंख्याद्यनुबन्धानां भेदाद्विद्याया भेद एवेति सिद्धान्ताशयः। एतदेव दर्शयति क्वचित्सच्छब्द इत्यादिना। सूत्राक्षरार्थोऽतिरोहितः।.५६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्री रघुवरीयवृत्तिविवरणे शब्दादिभेदाधिकरणम् ॥२३॥

संख्या गुणादिक लक्षण अनुबन्ध का भेद होने से विद्याएँ भिन्न हैं। शब्दान्तरादि अनुबन्ध के भेद होने से प्रकार का भेद होता है। इसलिए विद्या में परस्पर भेद सिद्ध होता है। किसी स्थल में सदादि शब्द हैं। किसी स्थल में भूमा शब्द है। किसी स्थल में अपहत पाप्मादिक शब्द हैं। इसी तरह अभ्यास संख्या गुण और प्रकरणादि का भेद होने से विद्या भिन्न भिन्न हैं अभिन्न नहीं ॥५६॥

इति शब्द भेदाधिकरणम ॥

सारबोधिनी—उपासना में सद्विद्या तथा दहरादिक विद्याओं का समुच्चय है अथवा विकल्प। अर्थात् एक उपासक सब विद्याओं का अनुष्ठान

॥ विकल्पाधिकरणम् ॥२४॥

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ।३।३।५७।

अत्र सद्विद्यादीनां किमेकस्मिन्नुपासके समुच्चय उत विकल्प इति संशये स्वर्गादिफलाधिक्यायैकस्मिन्नप्यर्थिनि ज्योतिष्टोमादि साधनानां यथा समुच्चयस्तद्वदत्रापि विद्यासमुच्चयः स्यादिति पूर्वपक्षः। अत्राभिधीयते--सर्वासां ब्रह्मोपासनानां ब्रह्मावाप्तिरेवाविशिष्टफलमाम्नायते। न तत्राधिक्यं सम्भवतीति विकल्प एव सर्वासाम् ॥५७॥

विवरणम्--ननु यथा ज्योतिष्टोमयागगतानुष्ठानानन्तरं तेनैवाधिकारिणा फलाधिक्याय कर्मान्तरानुष्ठानं क्रियते एवं प्रकृते फलाधिक्य प्राप्तये सर्वा दहरादिका विद्यायाः समुच्चयस्यान्नतुविकल्प इतीमां शङ्कां निराकर्तुमुपक्रमते "अत्र सद्विद्यादीनामित्यादि। अत्र सदादि दहरादिकानां समुच्चयो विकल्पो वेति संशयः। अर्थात् सर्वापिविद्या एकेनैव समुपासनीया अथवैकेन एका अपरेण तदन्या वेति। तत्र यथा एकेनकृतोप्येको यागः फलाधिक्याय तेनैवतदन्योऽपियागः क्रियतेऽधिक प्राप्तये तथैवेहापि फलाधिक्य प्राप्तये विद्यान्तरमपि समुपासनीयमिति पूर्वपक्षे सर्वासां ब्रह्मविद्यानां ब्रह्म प्राप्तिरूपफलस्य समानत्वादेकोपासने करे अथवा एक एक विद्या का अनुष्ठान करे और अपर उपासक अपर विद्या का अनुष्ठान करे। ऐसा संशय होता है। स्वर्गादि फल के अधिकता के लिए जिस तरह एक ही अनुष्ठाता ज्योतिष्टोमादिक अनेक याग का अनुष्ठान करता है अर्थात् कर्म का समुच्चय होता है। उसी तरह यहाँ भी विद्याओं का समुच्चय हो है इस प्रकार पूर्व पक्षवादी का कथन है। इसके उत्तर में कहते हैं कि सर्व परम पुरुषोपासना का ब्रह्म प्राप्ति रूप फल एक ही है। उसमें तो कोई भी न्यूनाधिक भाव नहीं है। इसलिए सर्व विद्याओं का समुच्चय नहीं है किन्तु विकल्प मानना ही ठीक है। याग स्थल में तो सब याग का फल भिन्न-भिन्न है। इसलिए समुच्चय बाधक नहीं है। अतः समु-

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ।३।३।५८।

काम्यास्तु विद्या यथाकामं समुच्चीयेरन् विकल्पेरन् वा न तत्राग्रहो यतस्तत्फलस्यापरिमितत्वाभावात् ॥५८॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ विकल्पाधिकरणम् ॥२४॥

नैव प्राप्तफलः स्यात्ततश्च विद्यान्तरानुष्ठानं निरर्थकमेवेति न समुच्चयो विद्यानामपितु विकल्प एवेति वृत्तेर्मुकुलितार्थः ॥५७॥

विवरणम्—ब्रह्म प्राप्तिफलानां दहरादिविद्यानां विकल्प एव न तु समुच्चयः इति पूर्वसूत्रे प्रतिपादितम् । परन्तु या विद्या न ब्रह्म प्राप्ति फला किन्तु तदतिरिक्त स्वर्गादि फलजनिका तासां काम्य विद्यानां समुच्चयो विकल्पो वेति संशय्य यथेच्छं तासां समुच्चयो विकल्पो वा कर्त्तव्यः । कुतः काम्य विद्यानां परिमितफलत्वान्नतुनित्य निरतिशयफलजनकत्वमित्याशयेन सूत्र व्याख्यानायोपक्रमते "काम्यास्तु विद्या यथा काममित्यादि" यतः काम्य विद्यानां फलस्य परिमितत्वान्न नित्यफलजनकत्वमतस्तासां समुच्चये विकल्पे वा नाग्रहो विधेयः परन्तु यथेच्छमेव कर्तव्यमिति वृत्तेरभिप्रायः ॥५८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृत्तौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे विकल्पाधिकरणम् ॥२४॥

च्चय संभवित है । तो विकल्प नहीं होता है । प्रकृत में तो फल भेद का अभाव होने से विकल्प ही उचित है समुच्चय नहीं ॥५७॥

सारबोधिनी—दहरादि विद्याओं में समुच्चय नहीं है किन्तु विकल्प है ऐसा पूर्व सूत्र में कहा गया है । किन्तु जो विद्या काम्यफलक है उनमें समुच्चय है या विकल्प । इस संशय के निराकरण करने के लिए कहते हैं "काम्यास्तु यथा कामम्" इत्यादि । काम्य अर्थात् अनित्यफलक जो विद्याएँ हैं उनका समुच्चय हो अथवा विकल्प इसमें कोई विशेष आग्रह नहीं करना है

॥ यथाश्रयाभावाधिकरणम् ॥२५॥

अङ्गेषुयथाश्रयभावः ।३।३।५९॥

ओमीत्येतदक्षरमुद्गीदमुपासीत" [छा० १।१।१] इति कर्माङ्गाश्रयाणां विद्यानां क्रतुषूद्गीथादिवत्क्रत्वर्थतया नियतोपादेयत्वमुत पुरुषार्थतयानुष्ठीयमानानाङ्गोदोहनादीनामिव यथाकाममिति संशयः। तत्र नियतोपादेयत्वमिति पूर्वपक्षः। यत उपासन वाक्ये गोदोहनादिषु यथाफलं श्रूयते तथा पृथक् फलश्रुति र्न विद्यते। "यदेवविद्ययेतिश्रुतफलस्यत्वर्थवादत्वात् ॥५९॥

विवरणम्—कर्माङ्गाश्रितविद्यानाङ्गोदोहनादिवदनियतमुपादानं कथितम् तत्संभवति नवेति संशये उच्यते "अङ्गेषु यथाश्रयभावः" इति उद्गीथाद्यङ्गष्वाश्रितानामुपासनानां येन प्रकारेण यथाश्रयभावो नियमे-

क्योंकि ब्रह्म प्राप्तिफलक विद्या का तो विकल्प होता है सबके अनुष्ठान का कोई विशेष फल नहीं और अनित्य फलक में तो चाहें तो समुच्चय हो अथवा विकल्प हो इसमें कोई विशेष आग्रह करना निरर्थक है। क्योंकि काम्यफलक उपासना का तो फल नित्य नहीं है अनित्य है अतः विशेष आग्रह उचित नहीं ॥५८॥

सारबोधिनी— "ओमितीत्यादि" ओम् इत्याकारक अक्षर का उद्गीथ वुद्धि से उपासन करना चाहिए इस प्रकार से छान्दोग्य श्रुति में कर्माङ्गाश्रित विद्या का उद्गीथ के सदृश ही क्रत्वर्थक होने से इन उपासना का नियमतः उपादेयत्व है अथवा पुरुषार्थ रूप से अनुष्ठीयमान जो "चमसेनापः प्रणयेत गोदोहनेन पशुकामस्य" इत्यादि वाक्य बोधित गोदोहन रूप कर्म में यथा काम उपादान होता है। अर्थात् पशु कामना यदि हो तब ही गोदोहन से जल प्रणयन करे" इत्यादि के समान अनियम है एतादृश सन्देह होता है इसमें पूर्वपक्ष वादी कहते हैं कि "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इत्यादि वाक्य से फल श्रवण होने से नियमत ही उपादान

शिष्टेश्च ।३।३।६०।

"उद्गीथमुपासीत" इति शिष्टेर्विधानादुपासनानां क्रत्वङ्गभाव एवातो नियतोपादेयत्वम् ॥६०॥

नोपादानं तथैव प्रकृतेऽपि नियमेनैवोपादानमिति दर्शयितुमुपक्रमते "ओमित्येदक्षरमित्यादिवृत्तिः"। कर्माङ्गाश्रितविद्यानां कर्मणो यत्फलं तदेव फलं नेतरं तस्य फलम्, अश्रुतेः। नहि तस्य पार्थक्येन फलं श्रुतम् येन तस्य गोदोहनवत् अनियमेनोपादानं भवेत्। यद्यपि "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति" फलान्तरश्रवणमिव विद्यते तथापि तादृशवाक्यस्यार्थवादत्वेन प्रशंसामात्रतयापि चारितार्थ्य संभवेन विधायकत्वाभावादितिदिक् ॥५९॥

विवरणम्—"उद्गीथमुपासीत" इत्यादिनोपासनानां विद्यानां यदा तथा तदाश्रितानामुपासनां विधानादङ्गभाव एवेत्याशयेनाह "शिष्टेरिति" अतिरोहितार्थो वृत्तिग्रन्थ इति न पुन स्तन्यते ।६०॥

होना चाहिए। उत्तर= गोदोहनादिक अनियम कर्म में जैसे फलका पार्थक्येन श्रवण है उस तरह उपासना वाक्यमें पार्थक्येन फल श्रवण नहीं सुना गया है। यद्यपि "विद्यया करोति" इत्यादिक में फल श्रवण श्रुत है तथापि "यदेव विद्यया" इत्यादिक वाक्य प्रशंसापरक है इसलिए यह अर्थवाद है यह विधायक वाक्य "स्वर्गकामोयजेत" के समान नहीं है, अपितु 'अग्निर्हिमस्यभेषजम्" इस वाक्य के समान अनुवादक अर्थवाद है। इसलिए उपादेयत्व नहीं ॥५९॥

सारबोधिनी— "उद्गीथ का उपासन करना चाहिए" एतादृश शिष्ट शासन अर्थात् विधान होने से जितना उपासन है वह सब क्रतु का अङ्ग है तो क्रतु का अङ्गभूत होने से नियमतः उपादेयत्व उपासन में सिद्ध होता है गो दोहनादिवत् अनियतत्वनहिं ॥६०॥

समाहारात् ।३।३।६१।

"होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति" [छा० १।५।५।] इत्युपासनसमाहारादुपासनस्य नियतोपादेयत्वं सिद्ध्यति ॥६१॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ।३।३।६२।

"तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते" "ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायतीति" [छा० १।१।९।] इत्युपासनगुणस्य साधारण्यश्रुतेरुपासननैयत्यमवगम्यतेऽतोऽत्रोपादाननियम इति चतुर्भिस्सूत्रैरभिहितः पूर्वपक्षः ॥६२॥

विवरणम्—न केवलं शिष्टे विधानादेवोपासनस्य नियमत उपादेयत्वं सिद्ध्यति अपि तु समाहारादपि तस्य तथात्वं सिद्ध्यतीति दर्शयितुमुपक्रमते "होतृषदनादित्यादि" ऋग्वेदादौ कथितस्य प्रणवोंकारस्य तथा सामादौ कथितस्योद्गीथस्यैकत्वदृष्ट्योपासने फलविशेषं प्रतिपादयति "होतृषदनाद्धैवापि" इत्यादि । प्रकृत श्रुतौ उपासनसमाहारस्य श्रवणादुपासनस्य नियमत उपादेयत्वं सिद्धमेवेति ॥६१॥

विवरणम्—समाहारादि नैवोपासनस्य नियमतोपादेयत्वमपि तु गुणसाधारण्यादपि तस्य तथात्वं सिध्यतीति दर्शयितुमुपक्रमते "तेनेयं

सारबोधिननी—केवल विधान होने के कारण से ही उपासना में नियमत उपादेयता की सिद्धि होती है ऐसा नहीं किन्तु समाहार से भी उपासन में नियमत उपादेयत्व सिद्ध होता है । इस बात को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "होतृषदनादित्यादि" ऋग्वेद प्रतिपादित प्रणव का तथा सामवेद प्रतिपादित उद्गीथ का एकत्वोपासन के फल को बतलाते हुए कहते हैं "होतृषदन" इत्यादि । इस प्रकार से उपासना का समाहार होने से उपासन में नियमत उपादेयता की सिद्धि होती है ॥६१॥

सारबोधिनी— गुण के साधारण श्रवण से भी उपासना में नियमत उपादेयता की सिद्धि को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "तेनेयं त्रयी"

नवा तत्सहभावाश्रुतेः ।३।३।६३।

एवमभिहितैश्चतुर्भिस्सूत्रैः पूर्वपक्षं विधायानेन समाधत्ते । न वोद्गीथाश्रयोपासनानां क्रतुषूपादाननियमोऽस्ति । यतस्तत्राङ्गभावरूपसहभावस्याश्रुतेः । "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" [छा० १।१।१०] इत्युपासनस्य वीर्यवत्तरत्वरूपफलजनकतया गोदोहनादिवत्क्रत्वङ्गत्वाभावात् ॥६३॥

त्रयी विद्येत्यादि' उपासनाश्रयभूतस्य प्रणवस्य तथोपासना गुणस्य "तेनेयं त्रयी विद्यते" इत्यादिनोपासना गुणस्य साधारण्य श्रवणादुपासनाया नियमत उपादेयत्वं सिद्धं भवतीति पूर्वचतुर्भिः सूत्रैः पूर्वपक्षः प्रदर्शित इति ॥६२॥

विवरणम्–एवं पूर्वसूत्रैश्चतुर्भिः कृतस्य पूर्वपक्षस्य निरासाय सिद्धान्तं दर्शयितुमाह "न वा तत्सहभावाश्रुतेरिति । सूत्रघटको वा शब्दस्त्वर्थकः स च पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । उद्गीथाश्रितोपासनाया अङ्गवत् सहभावनियमो नास्ति कुतः ? तत्सहभावस्य शास्त्रे श्रवणाभावात् । "यदेव विद्यया करोति" इत्यादि शास्त्रेणोपासनस्य वीर्यवत्तरत्व लक्षणफलोत्पादकत्वेन गोदोहनवत् क्रत्वंगत्वाभावादिति ॥६३॥

इत्यादि । उपासना का आश्रय लक्षण जो ओंकार तथा उपासना का जो गुण उसका "तेनेयं त्रयी विद्यते" इत्यादि वाक्यों से साधारणता का श्रवण होने से उपासन में नियमत उपादेयता की सिद्धि होती है यह हुआ पूर्व पक्षः ॥६२॥

सारबोधिनी– इस प्रकार कथित पूर्व चार सूत्र से पूर्वपक्ष करके इस सूत्र से उसका समाधान करते हैं "नवातत्सहभावाश्रुतेः" इति । सूत्र में जो "वा" शब्द है वह 'तु' के अर्थ में है अतः वह पूर्व पक्ष का निराकरणपरक है । उद्गीथाश्रित जो जो उपासन उसका क्रतु में नियमत उपादान का नियमन है । क्योंकि अङ्गाङ्गीभाव रूप सहभाव का श्रवण

दर्शनाच्च ।३।३।६४।

एवं विद्ध्वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति [छा० ४। १७।१०।] एवं ब्रह्मणो वेदनेनैव सर्वेषां रक्षणमुपदिशन्ती श्रुतिरुद्गातृप्रभृतीनां वेदनस्यानङ्गतां प्रकटयतीत्युपासनोपादेयत्वानियमः सिध्यति ॥६४॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दाचार्यद्वारकेण जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्योपाधिधारिणा महामहोपाध्यायब्रह्मविरस्वामि श्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीरघुवरीयवृत्तौ तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

विवरणम्—अङ्गाश्रितोपासनानां समुच्चयाभावः श्रुतिषु दृष्टः तस्मान्नोपासनस्योपादाननियम इति दर्शयितुमुपक्रमते "दर्शनादिति" "एवं विद्ध्वै ब्रह्मा" इत्यादि श्रुतिर्ब्रह्मणोवेदनेनैवान्येषां रक्षणं प्रतिपादयन्ती तदन्येषामुद्गातृप्रभृतीनामनङ्गतामेव दर्शयतीति नोपासनस्योपादेयतानियम इति संक्षेपः ॥३४॥

इत्यानन्दभाष्यकारजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यपीठाचार्यजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीय वृत्तिविवरणे तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः

नहीं है । तथा "यदेव विद्यया करोति" इस प्रकार उपासना को वीर्यवत्तरत्व रूप फलजनक होने से गोदोहनवत् क्रत्वङ्गत्व का अभाव है ॥६३॥

सारबोधिनी—"एवं विद्ध्वै" इत्यादि श्रुति ब्रह्मवेदन से यजमानादि के रक्षण को प्रतिपादन करती हुई उद्गाता प्रभृति को वेदन के अनंगता को कहती है इसलिए उपासन के उपादानता में अनियम सिद्ध होता है ।६४।

इति स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्य कृतसारबोधिनीमें तृतीयाध्याय का तृतीय पाद

श्रीरामचन्द्राय नमः ॥

॥ अथ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

पुरुषार्थाधिकरणम् ॥१॥

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥३।४।१।

विद्याभेदाभेदविचारं परिसमाप्य पुरुषार्थविचारोऽधुना प्रस्तूयते। किमयं पुरुषार्थः कर्मण उत विद्याया इति संशयः। तत्र कर्मण इति पूर्व-

---

विवरणम्—शाखान्तरस्थितविद्यायाभेदोऽभेदोवेति विचारं परिसमाप्य विद्याप्रयोज्यमोक्षे विद्यया जनकत्वं कर्मणो वेतिसंशय्य "यदेव विद्यया करोति" इत्यादि श्रुतिभ्यः "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" इत्यादि स्मृत्या कर्मणा पूर्वापरदुरितकर्मणां विनाशात् प्रारब्धस्य च कर्मणो भोगादेव विनाशादयत्नसिद्धो मोक्ष इति कर्मण एव मोक्ष जनकत्वमिति पूर्वपक्षं निराकृत्य श्रीबादरायणमतेन ज्ञानादेव विद्यया एव मोक्ष इति सिधान्तपक्षस्थापयितुमुपक्रमते "विद्याभेदाभेदविचारं

सारबोधिनी—शाखान्तर स्थित विद्या से शाखान्तर स्थि विद्या भिन्न है अथवा अभिन्न है इत्यादि विचार को तृतीयाध्यायीय तृतीयपाद से विचार करके अब मोक्षरूप परम पुरुषार्थ को अधिकृत करके विचारते हैं। अर्थात पूर्व पादोक्त विद्या से मोक्ष होता है अथवा अग्नि होत्रादि कर्म से मोक्ष होता है इत्यादि विचार प्रस्तुल करते हैं क्या यह जो पुरुषार्थ-मोक्ष है जो कि बन्धन निवृत्ति-निरतिशयानन्द स्वरूप है वह अग्नि होत्रादि कर्म के द्वारा होता है अथवा परम पुरुष के ज्ञान से प्राप्त होता है। अर्थात मोक्ष जन्य पदार्थ है तो इसका कारण कर्म है अथवा तत्त्वज्ञान है? शंसय होता है निश्चायक कारण के अभाव होने से। इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि अग्निहोत्रादि कर्म से मोक्ष होता है क्योंकि "यदेव विद्याया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इत्यादि श्रुति से सर्व कर्म में विद्याका विनियोग होने से विद्या कर्म का अङ्ग है। यद्यपि तत्त्वमस्यादि

पक्षः। अत्राभिधीयते—सिद्धान्तः 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' "तमेव-विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" [तै० आ०] इत्यादि श्रुतिभ्यो विद्यायाः पुरुषार्थ इति भगवान् वादरायणो मन्यते ॥१॥

परिसमाप्येत्यादि" शाखान्तरस्थितविद्यया शाखान्तरस्थितविद्याया-भेदोभवत्यभेदो वेतीति तृतीयेन विचार्य्य ततः परं विचारितयाऽनया विद्यया मोक्षो भवति अथवा केवलेन कर्मणा ज्योतिष्टोमादिना मोक्षो भवतीति संशयः। तत्र पूर्वपक्षवादीप्रत्यवतिष्ठते केवलेन कर्मणैव मोक्षो-भवति यतः "यदेवविद्यया' इत्यादि श्रुत्या "कर्मणैव हि संसिद्धिमा-स्थिता जनकादयः" इति स्मृत्या तथोपपत्त्या च कर्मण एव मोक्ष जनकत्वमिति कर्मणो मोक्षजनकतेति "तमियं पूर्वपक्षं निराकर्तुमाह सूत्रकारः "पुरुषार्थोऽतः" इत्यादि। अतोऽस्मात्पूर्वविचारितोपासनातो ज्ञानापरपर्यायात् एव पुरुषार्थो नित्यनिरतिशयानन्दावाप्तिलक्षणमोक्षो जायते। कुतः? शब्दात्, आगमप्रमाणात् 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' "तमे-

श्रुति ज्ञान से मोक्ष का प्रतिपादन करती है तथापि पूर्वोक्त श्रुति कर्म का अङ्ग जो कर्त्ता जीव है उसके संस्कार द्वारा उपयुक्त है। इसलिए कर्माङ्ग होने से कर्म द्वारा ही मोक्ष होता है ऐसा पूर्वपक्ष का अभिप्राय है। इस पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्त बतलाते हैं "पुरुषार्थोऽतः" इत्यादि। इस ब्रह्म विद्या से ही मोक्ष लक्षण पुरुषार्थ सिद्ध होता है किन्तु कर्म से मोक्ष नहीं। इसमें हेतु बतलाते हैं "शब्दात्" शब्द आगम वाक्य इसका पुष्टीकरण करता है। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" ब्रह्मज्ञानी मोक्ष प्राप्त करता है। "तमेवविदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (उस जगत्कारण परमात्मा को जान करके ही मोक्ष प्राप्त करता है ज्ञान से अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग मोक्ष के लिए नहीं है।) "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" ब्रह्मज्ञानी मोक्ष को प्राप्त करता है। इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञान

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः।३।४।२।

पूर्वपक्षी परिचोदयति। "तत्त्वमसी"त्यादि सामानाधिकरण्येन कर्मसु कर्तृतयावस्थितस्यात्मनो वास्तविकस्वरूपावेदकत्वादौपनिषदानां

वविदित्वाऽतिमृत्युमेति" इत्याद्यागमवाक्यानि ज्ञानस्यैवमोक्षजनकतां प्रतिपादयन्ति न तु कर्मणां तथात्वम् ब्रह्मविदित्यादि वाक्यं ब्रह्मज्ञानिनमुद्दिश्यमोक्षस्य विधानं करोति। तत्रोद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्वेतत्प्रयोज्यत्वं च विधेये मोक्ष विहितं भवति। यथा "धान्येन धनवानित्यत्रोद्देश्यतावच्छेदकधनप्रयोज्यत्व धनकालावच्छिन्नत्वं च सुखे सिद्ध्यति, धनाभावे धनावच्छेदककालाभावे सुखस्यादर्शनात्। तथैव प्रकृते उद्देश्यतावच्छेदकज्ञानसत्त्वे एव मोक्षो नान्यथा। तस्माज्ज्ञानजन्यत्वमेव मोक्षस्य न तु कर्ममात्रजन्यत्वमिति बादरायणाचार्यस्य मतमेव सिद्धान्तमतमिति दिक् ॥१॥

ही मोक्ष का जनक है। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" यहाँ ब्रह्मवित् को उद्देश करके मोक्ष का विधान होता है ब्रह्मवित ब्रह्मज्ञानवान् उद्देश हुआ। उद्देश्यता वच्छेदक ब्रह्मज्ञान है। क्योंकि उद्देश अंश वह विशेषण है। और एक नियम है 'उद्देश्यतावच्छेदकान्यावच्छिन्नत्वका तथा उद्देश्यतावच्छेदक प्रयोज्यत्व का विधेयांश में भान होता है। तो उद्देश्यतावच्छेदक जो ब्रह्मज्ञान तत्प्रयोज्यत्व का मोक्ष में सिद्ध होने से मोक्ष ज्ञानजन्य है ऐसा सिद्ध होता है। जिस प्रकार से ज्ञान में मोक्षजनकता का प्रतिवादक वाक्य है। एतादृश वाक्य कर्म से मोक्षजनकता का प्रतिपादक वाक्य नहीं है। "कर्मणैव हिसंसिद्धिमास्थिताजनकादयः" इत्यादि स्मृति वाक्य तो "चित्तशुद्धिमतां ज्ञानिनामपि कर्मानुष्ठानमावश्यकम्" (गीतानन्दभाष्य ३।२०) तथा "ज्ञान योगनिरतानामपि कर्मयोगमनुतिष्ठतामेव. मोक्षोपलब्धिर्नतु कर्मपरित्यागेन" (गीतार्थ चन्द्रिका) इत्यादि रूप से आचार्य व्याख्यानानुसन्धानसे कर्मज्ञान सहकृत ज्ञानयोग से ही मुक्ति अभिप्रेत है अतः कोईदोष नहीं। प्रकृत

श्रद्धानामिति कर्तृसंस्कारजनकतया विद्यायाः कर्मशेषत्वात्पुरुषार्थवादस्तत्र-र्थवादो यथान्येषु द्रव्यसंस्कारकेषु फलश्रुतिरर्थवादस्तद्वदिति जैमिनिर्मन्यते ॥२॥

विवरणम्—जैमिनिस्तु पूर्वमीमांसाचार्यः तत्त्वमस्यादि वाक्यावगत स्वरूपस्य जीवस्य कर्मकर्तृतयाऽवगतस्य कर्माङ्गत्वेन तदीयविद्याया अधि-पुरुष संस्कारार्थतयोपयोगात्कर्माङ्गत्वमेव ब्रह्मविद्याया इति पूर्वपक्षं सिद्धान्ते दर्शयितुमुपक्रमते "पूर्वपक्षी परिचोदयतीत्यादि" "तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि स्थले सामानाधिकरण्येनाग्निहोत्रादि क्रियायां कर्तृरूपेण व्यवस्थितस्य जोवात्मनो वास्तविकं यत्स्वाभाविकं रूपं तदावेद-कत्वमेववेदान्तवाक्यानामिति कर्तृत्वस्य जीवस्य संस्कारजनकत्वात् कर्मशेषत्वमेवात्मविद्यानामिति पुरुषार्थवाद एवार्थवादः। यथा आज्यादि संस्कारजनकेष्वन्यकर्मसु फलश्रुतिरर्थवाद एव। एवमेव प्रकृतेऽपि फलश्रुतिरर्थवाद एव। अतः कर्माङ्गत्वमेव विद्याया मन्यते ॥२॥

प्रकरणमें विशेष चर्चा हम गीता भाष्यार्थचन्द्रिका विवरणमें करेंगे ॥१॥

सारबोधिनी— पूर्वपक्षी पुनः प्रश्न करते हैं पथम सूत्र में जो सिद्धान्त किया गया है उस विषय में "तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मासि" इत्यादि स्थल में जीव तथा ब्रह्म का सामानाधिकरण्य का दर्शन होने से अग्नि होत्रादिकर्म में कर्ता रूप से अवस्थित जो आत्मा है तादृश जोवात्मा का वास्तविक जो स्वरूप है तादृश स्वरूप बोधक औपनिषद्वाक्य है अतः कर्ता जो जीव उसका संस्कारार्थक होने से ब्रह्म विद्या कर्म का ही अङ्ग है। अतः यहाँ पुरुषार्थवाद रूप अर्थवाद है। जैसे आज्यादि द्रव्य का संस्कारक वाक्य में फल श्रवण अर्थवाद रूप है इसी तरह प्रकृत में भी फल श्रवण अर्थवाद रूप ही है। इसलिए ब्रह्म विद्या कर्माङ्ग है। अतः कर्मजन्य है मोक्ष न तु ब्रह्मविद्या जन्य ऐसा आचार्य जैमिनि का मत है ॥२॥

आचारदर्शनात् ।३।४।३।

"यक्षमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि" [छा. ५।११।६।] इति ब्रह्मविदामाचारदर्शनाद्विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् ॥३॥

तच्छ्रुतेश्च ।३।४।४।

"यदेव विद्यया करोति" [छा. १।१।१०।] इति साक्षाच्छ्रुतेश्च विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् ॥४॥

विवरणम्-"जनकोहवैदेहोबहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे" (बृ. ३।१।१) इत्यादिस्थले ब्रह्मज्ञानवतामाचारदर्शनाद्विद्यायाः कर्माङ्गत्वमेवेति पुनः प्रश्नयति "यक्षमाणो वै" इत्यादि। हे भगवन् यज्ञं कुर्वाणोऽहमस्मि तथा" "जनको ब्रह्मज्ञानी यज्ञं कृतवान्" एवं रूपेण ब्रह्मविदामपि कर्म दर्शनात् ब्रह्मविद्या कर्मणोऽङ्गमेवेति प्रश्नार्थः ॥३॥

विवरणम्-न केवलमाचारादि दर्शनादेव विद्यायाः कर्माङ्गत्वमपितु शास्त्रमपि विद्यायाः कर्माङ्गत्वं बोधयति। "यदेव विद्यया करोतीत्यादि" श्रुतेरितिदर्शयितुमुपक्रमते "तच्छ्रुतेरिति" सूत्रम्। तस्या ब्रह्म विद्यायाः कर्माङ्गता बोधकप्रत्यक्षश्रुतेर्दर्शनात्। "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदाकरोति तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति" प्रत्यक्ष श्रुतिर्गमयति ब्रह्म-

सारबोधिनी-"हे भगवन् मैं यज्ञ करनेवाला हूँ" "ब्रह्मज्ञानी विदेह यानि जनक महराज ने बहु दक्षिणाक याग से यजन किया" इत्यादि प्रकरण में ब्रह्मज्ञानी का आचार देखने में आता है। इसलिए ब्रह्मविद्या कर्म का ही अङ्ग है। अतः कर्म से ही मोक्ष होता है ॥३॥

सारबोधिनी- "यदेव विद्ययेत्यादि" जो पदार्थ विद्या द्वारा श्रद्धा उपनिषदादि के द्वारा किया जाता है वह वीर्यवत्तर होता है अर्थात् जिस कर्म का जो स्वाभाविक फल जनकता है उस कर्म का अनुष्ठान यदि विद्या पूर्वक किया जाय तो वह कर्म अक्षय्य फल जनक होता है। जैसे पारद-मिश्रित काष्ठौषधि अमोघफलक होता है। इस प्रकार से अङ्गत्व प्रतिपादक

समन्वारम्भणात् ।३।४।५।

"तं विद्याकर्मणीसमन्वारभेते" [बृ. ४।४।२।] इति श्रुतिर्विद्याकर्मणोरेकाधिकरण्यं बोधयन्ती कर्माङ्गत्वं विद्याया ग्राहयति ।।५।।

विद्याया कर्मशेषत्वमिति । यद्यपि प्रकरण प्रमाणेन उद्गीथमात्रविषयत्वं तथापि बलाबलप्रतिपादकप्रमाणेषु श्रुतेः सर्वतोबलीयस्त्वेन प्रकरण प्राप्तस्यापि ..तिप्रमाणेन बाधनात् विद्यायाः कर्माङ्गत्वं निर्बाधमेव । विशेष विचारोबलाबलाधिकरणे द्रष्टव्यः ।।४।।

विवरणम्-न केवलं प्रत्यक्षश्रुत्या विद्यायाः कर्माङ्गत्वमपितुसमन्वारंभणादपि ब्रह्मविद्यायाः कर्माङ्गत्वमिति बोधयितुमुपक्रमते "समन्वारंभणादिति सूत्रम् । अयं भावः समुपासकं तं विद्याकर्मणीसमन्वारभेते" इति श्रुतिर्विद्याकर्मणोरेकाधिकरण्यं प्रतिपादयति । तत्सामानाधिकरण्यं शेषशेषिभावं विना नानुपपद्यते इति तदन्यथानुपपत्त्या विद्यायाः कर्माङ्गत्वं सिद्धं भवतीति विद्याकर्मशेषरूपैवेति पूर्वपक्षानुयायिनः ।।५।।

साक्षात् श्रुति प्रमाण से सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या कर्म का अङ्ग है । यद्यपि प्रकरण प्रमाण से उद्गीथ कर्ममात्र विषयकत्व कह सकते हैं । तथापि प्रकरणापेक्षया श्रुति प्रमाण से बलवान होने से विद्या में कर्माङ्गत्व सिद्ध होता है ।।४।।

सारबोधिनी- "उस उपासक को विद्या कर्म अन्वारंभित होते हैं" यह कम में सामानाधिकरण्य का प्रतिपादन करती है । यह दोनों में जो सामानाधिकरण्य है वह विद्या कर्म के अङ्गाङ्गीभाव के विना अनुपपन्न है । इसलिए अन्यथानुपपत्ति रूप प्रमाण से विद्या में कर्म शेषत्व सिद्ध होता है । इस प्रकार समन्वारंभण हेतु से ब्रह्मविद्या कर्म का अङ्ग है । अतः कर्म से ही पुरुषार्थ सिद्धि होती है न तु केवल ज्ञान से यह पूर्व मीमांसक का अभिप्राय है ।।५।।

तद्वतो विधानात् ।३।४।६।

वेदार्थज्ञानवतः कर्मण्यधिकारस्य विधानात् "आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य "कुटुम्बे शुचौ देशे" [छा. ८।१५।१।] अतोऽपि विद्याया कर्माङ्गत्वम् ॥६॥

नियमाच्च ।३।४।७।

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीवीषेच्छतं समाः" [ईशा.] इति विदुषोऽपि कर्मानुष्ठानस्य नियमात् कर्मणः पुरुषार्थः । जरामर्यवादोऽपीम मेवार्थं दृढ़यति ॥७॥

विवरणम्—अधीत्यस्नायादित्यादि नियमेन वेदार्थविज्ञानवतः पुरुषस्यैव समावर्तनादिकर्मण्यधिकारदर्शनेन विद्यायाः कर्माङ्गतयैव मोक्षादि फलजनकत्वं नतु स्वातन्त्र्येण फलजनकत्वमिति दर्शयितुमुपक्रमते "वेदार्थज्ञानवत" इत्यादि । यो हि अधिकारी वेदं गुरुमुखाद्यथाविधि अधीत्यवेदार्थं विजानाति तदनन्तरमेव तस्य समावर्तनगृहस्थकर्मण्यधिकारो भवति । तदुक्तम् आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधिगुरुकार्यं सम्पाद्य ततः समावर्तनादि कार्यं कुर्यात् । अत्रवेदार्थज्ञानवत एव सर्वकर्मस्वधिकारप्रतिपादनेन ब्रह्मविद्यायाः कर्माङ्गविधयैव फलजनकत्वं नतु स्वातन्त्र्येण फलजनकत्वमिति सिद्धं भवति ॥६॥

सारबोधिनी— जो व्यक्ति द्विजाति वेदात्मक शब्दराशि के गुरुभाव से ग्रहणानन्तर वेदार्थवान् है । तादृश द्विजाति को ही समावर्तनादिक सकल कर्म में अधिकार का विधान है । "आचार्य कुल से वेदका अध्ययन करके विधिपूर्वक गुरु का कार्य करके तथा समावर्तन करके "कुटुम्ब के बीच पवित्र देश में" इत्यादि का विधान है । इससे यह सिद्ध होता है कि विद्या मात्र कर्म का अङ्ग है । तो कर्म का अङ्गभूत जो विद्या वही स्वकीय फल के उत्पादन करने में समर्थ है । न तु स्वातन्त्र्येण विद्या को फलजनकत्व हैं । तस्मात् कर्माङ्गत्व विद्या में सिद्ध होता है ॥६॥

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ।३।४।८।

तुशब्दात्पक्षनिवृत्तिः । विद्यात एव पुरुषार्थो न तु कर्मणः । कर्मकर्तृ जीवादधिकस्य परमात्मनो वेद्यतयोपदेशात् । श्रुतिषु भगवदुपासनात्म-

---

विवरणम्—अपि च नियमादपि हेतो ब्रह्म विद्यायाः कर्माङ्गत्वमेवसिद्ध्यति नतु स्वातन्त्र्येण फलजनकत्वं संभवतीति दर्शयति "नियमादिति सूत्रेण । अयंभावः "कुर्वन्नेवेह कर्माणी"त्यादिशास्त्रं विज्ञानवतामपि यावज्जीवनं कर्मानुष्ठानं शास्ति । तथा "जरामर्यं हवै एतत्सत्रं यदग्नि होत्रम्" इत्यादिना यावज्जीवनं कर्माचारनियमदर्शनात् विद्यासहकृत कर्मणः सकाशादेव पुरुषार्थो मोक्षो भवति नतु केवलया विद्यया मोक्षो जायते इति पूर्वपक्षस्याभिप्रायः संक्षेपः ॥७॥

विवरणम्—एवं पूर्वोदितसूत्रसमुहैः कृतस्य पूर्वपक्षस्य निराकरणायसिद्धान्तप्रदर्शनायचोपक्रमते "तुशब्दादित्यादि" अधिकोपदेशादिति सूत्रेयस्तुशब्दः स पूर्वप्रदर्शितपूर्वपक्षस्य निराकरणपरकः । अर्थात् कर्म-

सारबोधिनी— "इस कर्माधिकारी मनुष्य लोक में कर्म जो अग्नि होत्रादिक हैं उनका अनुष्ठान करते हुए ही सौ वर्ष पर्यन्त जीवन की इच्छा करना" तथा "आमरण कर्मानुष्ठान करना चाहिए" इत्यादि श्रुति से विद्वान् के लिए भी यावज्जीवन कर्मानुष्ठान का नियम होने से विद्या सहित कर्म में ही मोक्षजनकत्व है । किन्तु केवल विद्या में मोक्षजनकत्व नहीं । जरामर्य वाद जो है वह भी इसी अर्थ को सिद्ध करता है । अर्थात् कर्म का अङ्ग भूत होकर के ही विद्या में पुरुषार्थ जनकत्व है केवल विद्या में मोक्ष जनकत्व नहीं । इस प्रकार से पूर्व मीमांसक का पूर्वपक्ष होता है उत्तर अष्टम सूत्र से होगा ॥७॥

सारबोधिनी— कर्म करनेवाला जो उपासक जीव तदपेक्षया अधिक भिन्न भक्त मनोरथ पूरक उपास्य परमात्मा का वेदान्त शास्त्र में प्रतिपादन होने से परमेश्वरोपासनात्मक विद्या से मोक्ष होता है न तु मात्र कर्म से मोक्ष

कविद्याया विषयो हि परमात्मोपदिश्यते । अतो विद्ययैव पुरुषार्थ इति भगवतो बादरायणस्य मतम् ॥८॥

णामोक्षोजायते नतु विद्यातस्तस्याः कर्मशेषत्वादिति मतं न सम्यक् किन्तु भगवदुपासनात्मिकया विद्ययैव मोक्षसंभवात् । कुतः ? अधिकोपदेशात् । अयमाशयः वेदान्तशास्त्र उपासनादिक कर्मकर्तुर्जीवादधिकस्य भिन्नस्योपास्यतयोपासकमनोरथपूरकस्य परमकृपालोर्भगवतः पार्थक्येनोपदेशात् । कथमित्थमितिचेत् तद्दर्शनात् वेदान्तशास्त्रे तथैव प्रतिपादनात् । तथाहि "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" "तरतिशोकमात्मवित्" "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय" इत्यादि श्रुत्या "ज्ञानं लब्ध्वापरांशान्तिमचिरेणाधिगच्छती"त्यादि स्मृत्या च ब्रह्मोपासनात्मक विद्याया एव मोक्षजनकत्वस्य प्रतिपादनात् । नतु कर्मणः सकाशात्पुरुषार्थ इति । तस्माद्ब्रह्मानुभवलक्षस्य परमपुरुषार्थस्यमोक्षस्य साधनं ब्रह्मविद्या एव "तस्माद्ब्रह्मानुभवलक्षणस्य फलस्यावाप्तिर्विद्यात एवेति" आचार्योक्तेः ॥८॥

ऐसा बादरायण का मत है यह सूत्रार्थ है । इस सूत्र में जो तु शब्द है वह कर्म से मोक्ष होता है विद्या से मोक्ष नहीं होता है विद्या तो कर्म का अङ्ग है एतादश जो पूर्वपक्ष था उसका निराकरणपरक है । परमेश्वरोपासनात्मक विद्या से मोक्ष होता है । क्योंकि उपासनादिक कर्म का कर्त्ता जो जीवात्मा उससे अधिक अर्थात् परमात्मा का वेद्य रूप से उपदेश किया गया है । श्रुति में भगवान् की उपासना रूप जो विद्या तादश विद्या का विषय अर्थात् उपासना रूप क्रिया का कर्म परम पुरुष भक्त मनोरथपूरक भगवान् श्रीरामचन्द्र का ही उपदेश किया है । अर्थात् "तमेव विदित्वा" "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" "तरतिशोकमात्मवित्" इत्यादि श्रुति तथा "तमेव शरणं गच्छ" "ज्ञानंलब्ध्वापरांशान्तिमचिरेणाधिगच्छति" इत्यादि प्रमाण से सिद्ध होता है कि भगवदुपासना रूप विद्या से ही ब्रह्मानुभव लक्षण नित्य-

तुल्यन्तु दर्शनम् ।३।४।९।

कर्मणो विद्याङ्गत्वेऽपि-आचारदर्शनं तुल्यम् । कर्मणां प्राधान्येत्वनाचारस्यापि दर्शनादिति भावः । "विद्वांस आहुः ऋषयःकावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे" इत्यादावाचाराभावदर्शनात् । निष्कामकर्मणां विद्याङ्गत्वादनुष्ठानं नतु फलकामनोपचितकर्मणामिति विवेकः ॥९॥

विवरणम्—ननु यथा जनकादीनामाचारदर्शनं विद्यायाः कर्माङ्गत्वे प्रयोजकं तथैव तदन्येषां मुनीनामाचाराभावोऽपि दृश्यते तदुक्तं कावेषादि ऋषिभिः "किमर्थावयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे" । तस्माद्राचारदर्शनस्य तुल्यत्वान्न विद्यायाः कर्माङ्गत्वप्रयोजकमित्यभिप्रायेणोपक्रमते सूत्रव्याख्यानं "कर्मणोविद्याङ्गत्वेऽपीत्यादि" अग्निहोत्रादिकर्मणोविद्याशेषत्वेऽप्याचारदर्शनसमानमेव । कर्मणां प्राधान्येतु कावषेयादि काविद्वांसः प्राहुः "किमर्थावयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे" इत्यादि स्थले आचाराभावस्यापि दर्शनात् । अयंभावः ये जनकादयो-ज्ञानिनस्तेषां कर्मणि प्रवृत्तिर्लोक सङ्ग्रहाय । मुमुक्षुणां सकामकर्मतु विद्या विरोधितया त्याग एव अथवा लोक सङ्ग्रहार्था प्रवृत्तिः । निष्का-
निरतिशयात्मक सुखानुभव स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है । केवल कर्म से पुरुषार्थ लक्षण मोक्ष सिद्ध नहिं होता है ॥८॥

सारबोधिनी— यदि कर्म को विद्या का अङ्ग मानते हैं तो इस पक्ष में भी आचार दर्शन समान-समान हो है क्योंकि कर्म को प्रधानता में आचार भाव देखने में आता है "कावषेयादिक ऋषियों ने कहा कि हम क्यों अध्ययन करें ?" इत्यादिक स्थल में देखते हैं कि ज्ञानियों का आचाराभाव हैं । निष्काम कर्म का विद्याङ्ग रूप से अनुष्ठान किया जाता है । फल कामना से अनुष्ठान नहीं अर्थात् जो व्यक्ति मुमुक्षु है वह तो सकाम कर्म को विद्या विरोधी होने से उसका परित्याग करता है । और निष्काम

असार्वत्रिकी ।३।४।१०

"यदेव विद्ययेति" श्रुतिरसार्वत्रिकी-एकामुद्गीथविद्यामेव गोचरी करोति। श्रुतौ यत्तत्पदयोः स्वारस्यादिति नेयं श्रुतिर्विद्यायाः कर्माङ्गत्वं साधयितुमिष्टे ॥१०॥

मकर्मणस्तु विद्याङ्गतयातदनुष्ठानमिति न कोऽपि विरोधः। यदि विद्या कदाचित्कर्मशेषरूपाभवेत्तदा मुमुक्षुणां कर्मत्यागः कथमपि न स्यात् ततश्चत्याग प्रतिपादकश्रुतेर्वैयर्थ्यमेवभवेदिति ॥९॥

विवरणम्—पूर्वं श्रुतिरेव विद्यायाः कर्माङ्गत्वं बोधयति इति तन्निराकरणायाह "असार्वत्रिकीति" सूत्रम् "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति श्रुतिः सर्वत्र विद्यायाः कर्माङ्गभावं न प्रतिपादयति किन्तु प्रकृतायामुद्गीथविद्यायामेव कुतः ?"यदेव विद्यया करोति तदेव" इत्यत्रयत् तत् पदयोः समाहारात्. यत्तत्पदं प्रतिव्यक्तिविश्रान्तं भवति नतु सर्ववस्तुसङ्ग्राहकम्। तस्मात् "यदेव विद्यया करोति" इत्यादि श्रुतिर्न सर्वविद्यायाः कर्माङ्गत्वं बोधयति किन्त्वेकामेवोद्गीथ विद्यां कर्माङ्गभावं विषयीकरोति। अतः एकविषयकत्वमेव प्रकृतश्रुतिर्नतु सर्वविद्याविषयकत्वमिति ज्ञेयम् ॥१०॥

जो कर्म है उसका अनुष्ठान करता है विद्या के सहकारिता रूप से। इस लिए कोई विद्वान् कर्म करते हैं कोई विद्वान् कर्म नहीं करते हैं तो कर्मानुष्ठान तथा कर्मत्याग में कोई विरोध नहीं है ॥९॥

सारबोधिनी— श्रुति द्वारा सिद्ध होता है कि "विद्या कर्म का अङ्ग है" यह जो पूर्वपक्ष था उसका निराकरण करने के लिए कहते हैं "असार्वत्रिकी" यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति" यह जो श्रुति है वह यत् किञ्चित् विद्या को ही कर्म के अङ्गभावत्व को प्रतिपादन करती है। न तु सर्व विद्या में कर्माङ्गभाव का प्रतिपादिका है। क्योंकि इस श्रुति में यत् पद का श्रवण है। यत् और तत्पद प्रत्येक

विभागः शतवत् ।३।४।११।

"तं विद्या कर्मणि समन्वारभेते" [बृ० ४।४।२।] इत्यत्रोभयोर्विद्याकर्मणो भिन्नफलत्वाद्विभाग एवास्ति। विद्या कर्मचेत्युभेपार्थक्येन स्वस्वफलाय समन्वारभेते। यथा द्वाभ्यां द्विशते दीयमाने समविभागे चैकैकस्मै शतंशतं दीयते तद्वत् ॥११॥

विवरणम्—समन्वारंभणात् विद्यायाः कर्माङ्गत्वं पूर्वमाशङ्कितं तन्निराकरणाय प्राह "विभागः शतवत्" अयंभावः यथा आभ्यां शतं दीयतामिति कथिते समविभागं कृत्वा एकस्मै पञ्चाशत् प्रदीयते. तथाऽन्यस्मैपञ्चाशत् दीयते तथैव प्रकृतेपि विभागो ज्ञातव्यः।अर्थात् विद्यावन्तं विद्या स्वफलं ददातिकर्मानुष्ठातारञ्च कर्मस्य फलं प्रयच्छति नतु विद्याकर्मानुष्ठातारं क्रम विद्यावते चान्यत् फलं प्रयच्छतीति विद्याकर्मणोर्विभागो ज्ञातव्यो नतु मिलित्वाफलजनत्वमिति न कोपि दोषः ॥११॥

व्यक्ति में विश्रान्त होता है। अतः "यदेव विद्यया" इत्यादि श्रुति विद्या मात्र में कर्माङ्गता का बोधन नहीं करती है, किन्तु मात्र उद्गीथ विद्या में कर्माङ्गत्व कहती है ॥१०॥

सारबोधिनी— समन्वारंभण हेतु से विद्या को कर्माङ्गत्व है ऐसा जो प्रश्न किया था, उसके समाधान में कहते हैं "विभागः शतवत्" उसको विद्या तथा कर्म के भिन्न-भिन्न फलक होने से विभाग है। मिलित्वा दोनों मिलकर फलजनकता नहीं है। यदि मिल करके फलजनकत्व होता तब विद्या को कर्म के अङ्गत्व का प्रश्न उपस्थित होता। "शतवत्" जैसे दो व्यक्ति को दो सौ रुपये देने का हो समान रूप से तो वहाँ एकएक को एक एक सौ दिया जाता है। इसी प्रकार से यहाँ विद्या कर्म को पार्थक्य रूप से ही फलजनकत्व है। अतः किसी प्रकार का कोई दोष नहीं होता है ॥११॥

अध्ययनमात्रवतः ।३।४।१२।

"अचार्यकुलाद्वेदमधीत्य" इति श्रौतवाक्येऽध्ययनमात्रवतः कर्मण्यधिकारविधानान्नविद्यायाः कर्माङ्गत्वम् ॥१२॥

नाविशेषात् ।३।४।१३।

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि" [ईशा०] श्रुतिर्न केवलं कर्मण विनियुङ्क्ते। विशेषाभावात्। किन्तु "ईशावास्यमिद" मिति विद्याप्रकरणात् कर्मणो विद्याङ्गत्वमेव सिध्यति ॥१३॥

विवरणम्—पूर्वं यदुक्तं विद्यावत एव कर्मण्यधिकारदर्शनाद्विद्याकर्मणोऽङ्गमिति तन्निरासाय प्राह "अध्ययन मात्रवतः" इति। "आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य" इत्यादिश्रौतवाक्ये कर्मज्ञावत एव कर्मण्यधिकारः प्रदर्शितः, यतः कर्मज्ञानाभावे कर्मानुष्ठानस्याशक्यत्वात्। नतु विद्यावत एव कर्मानुष्ठानं विद्यारहितानामपितदनुष्ठानदर्शनात्। तस्मात्सामान्यतो ब्रह्मविद्या न कर्माङ्गमिति व्यवस्थितमित्यन्यत्रविस्तरः ॥१२॥

"विवरणम्—कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यादि श्रौतवचनमेकतरपक्षे नियामकविशेषहेतोरभावात्. यावज्जीवनं कर्मानुष्ठानं प्रदर्शयतीति विद्याकर्मणोऽङ्गमिति यदाशङ्कितं तन्निराकरणाय प्राह "नाविशेषादिति

सारबोधिनी— विद्यावान् को कर्म में अधिकार दर्शन होने से विद्या कर्म का अङ्ग है ऐसा जो पहले पूर्वपक्ष किया था उसका निराकरण करने के लिए कहते हैं "अध्ययन मात्रवतः" इति। "आचार्य कुल से वेदका अध्ययन करके समावर्तन करे" इत्यादि श्रौत वाक्य है। उसमें अध्ययन ज्ञानवान् मात्र व्यक्ति के लिए कर्म अग्निहोत्रादिक में अधिकार का प्रतिपादन किया गया है। क्योंकि कर्म स्वरूपवान् के बिना कर्म का अनुष्ठान अशक्य है। न तु विद्या के बिना कर्मानुष्ठान में असंभावना है। क्योंकि उपासना रहित व्यक्ति का भी कर्म में प्रवृत्ति होती है। इसलिए विद्या कर्म का अङ्ग नहीं है ॥१२॥

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ।३।४।१४।

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इति वाक्येन 'ईशावास्यमिदं' इति प्रकृताया विद्यायाः स्तुतये कर्मानुष्ठानेऽनुमतिर्दीयते । यदेतस्या विद्याया एतादृङ्माहात्म्यं यत्कर्म कुर्वन्नपि कर्ता दोषैर्नलिप्यत इति ॥१४॥

सूत्रम् । "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इति योऽयं नियमः सकेवलकर्मविषयक एवेति न कुतः? अविशेषात् अयं नियमः फल साधनायेति स्वातन्त्र्येण कर्मविषयक एवेति न तत्र कश्चिद्विशेषोहेतुरिति । अत्र तु मोक्षात्मक फल प्राप्तेः कारणीभूताया विद्यायाः कर्माणि अङ्गानीत्येव प्रतिपादितानि भवन्ति । तस्मान्नविद्या कर्मणोऽङ्गमपितु कर्मैव विद्याङ्गमिति सम्प्रदायविदांमार्गः ॥१३॥

विवरणम्—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यादि वाक्यं न विद्यायाः कर्माङ्गत्वं प्रतिपादयमि किन्तु प्रकृताया ब्रह्मविद्यायाः स्तुत्यर्थमिदं वाक्यं तदर्थमेव कर्मानुमतिर्दीयते, इत्याशयेनाह "स्तुतयेऽनुमतिर्वा" ईशावा-

सारबोधिनी— "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यादि श्रौत वाक्य "विशेषाभावात् यावज्जीवन कर्मानुष्ठान का प्रतिपादन करता है" इस प्रकार से पूर्व में पूर्वपक्ष किया था उसका निराकरण करने के लिए कहते हैं "नाविशेषात्" इति सूत्रम् । पूर्वोक्त नियम को केवल कर्म विषयत्व उपपन्न नहीं है । क्योंकि अविशेषात्-फल साधन के लिए स्वतंत्र रूप से कर्म विषयक यह नियम है इसमें कोई विशेष नियम नहीं है । इसलिए विद्या कर्म का अङ्ग नहीं है । प्रत्युत प्रकृत वाक्य में मोक्ष रूप फल प्राप्ति में कारणीभूत विद्या का अङ्गभूत कर्म का विधान है । अर्थात् विद्याका अङ्गभूत कर्म है न तु विद्या कर्म का अङ्ग है । ऐसा साम्प्रदायिक आचार्य तथा वेद का मार्ग है ॥१३॥

सारबोधिनी— "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यादि वाक्य विद्यामें कर्माङ्गता का प्रतिपादक नहीं है किन्तु वह विद्या का स्तावक वचन है । कर्म प्रति-

कामकारेण चैके ।३।४।१५।

"किम्प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति" [बृ० ४।४।२२] इत्येके शाखिनो विदुषः स्वेच्छया कर्मप्रधानस्य गार्हस्थस्य-त्यागमधीयाना विद्यायाः प्राधान्यममिदधते ॥१५॥

स्यम्" इत्यादि प्रकरणेन प्रक्रान्ता या ब्रह्मविद्या तादृशब्रह्मविद्यायाः स्तावकम् कुर्वन्नित्यादि वाक्यम् । एतादृशी महाभागेयं ब्रह्मविद्या यस्याः प्रभावेण कर्मानुष्ठानं कुर्वतामपि ज्ञानिनां शुभाशुभकर्माणि बन्ध-जनकानि न भवन्ति । यथा भर्जितानि गोधूमादिबीजान्यङ्कुरजनकानि न भवन्ति तथैव ज्ञानिनाऽनुष्ठितान्यपि कर्माणि विद्यातापेन तप्तानि न कर्मफलाय भवन्तीति "न मय्या वेशितधियां कामः कामाय कल्पते भर्जिता क्वथिता धाना प्रायोबीजाय नेष्यते" इति भगवदुक्तेः ॥१४॥

विवरणम्—न केवलं विद्यास्तुत्यर्थं कर्मानुष्ठाने अनुमति प्रदानेन विद्यायाः कर्माङ्गत्वप्रतिषेधः । किन्तु वक्ष्यमाणप्रकारेणापि विद्याया न

पादक वाक्य का तात्पर्य यह है कि "ईशावास्यम्" इत्यादि प्रकरण से प्रतिपादित जो ब्रह्म विद्या है वह एतादृश महत्त्वशालिनी है कि जिसके बल से अनुष्ठित भी कर्म स्वकीय फल दान में समर्थ नहीं होता है । इस आशय को लेकर कहते हैं, "स्तुतयेऽनुमतिर्वा" इति सूत्रम् । "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इस वाक्य के अर्थ का सिद्धान्त मार्ग में भी योजित किया जाता है । 'वा' शब्द जो सूत्र घटक है उसका अवधारण—निश्चय अर्थ है अर्थात् निश्च-यार्थक वा शब्द है । "ईशावास्यमिदं सर्वम्" इस प्रकरण से प्रकान्त जो ब्रह्म विद्या है उसके स्तुत्यर्थ के लिए कर्मानुष्टान में अनुमति प्रदायक तात्पर्य यह कि इस महाविद्या का ऐसा महात्म्य है कि तत्त्वज्ञानी नियत कर्मानुष्ठान करके भी कर्मफल से लिप्त नहीं होता है ॥१४॥

सारबोधिनी— तत्वज्ञानी कर्मानुष्ठान करते हुए भी कर्मफल से सम्बद्ध नहीं होता है ब्रह्म विद्या के बल से । इस प्रकार से विद्या का स्तावक

उपमर्दञ्च ।३।४।१६।

"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" [मु० २।२।८।]
विद्यया कृत्स्नकर्मविनाशश्चाधीयते । अतो न कर्मणः प्राधान्यम् ॥१६॥

कर्माङ्गत्वमिति प्रतिपादनाय प्राह "कामकारेणेत्यादि" एकेशाखाध्यायिनः तत्त्वज्ञानिनां कर्मप्रधानस्य गृहस्थाश्रमस्य परित्यागमेव प्रतिपादयन्ति तथाहि "किं प्रजया करिष्याम" इत्यादि । प्रजाभिः पुत्रकलत्रपौत्रादिभिरस्माकं विरक्तसंसाराणां किं प्रयोजनम्, अर्थान्नास्ति प्रयोजनं येनायं लोक आत्मलोको वा साधितो नस्यात्" इत्येवं रूपेण तत्त्वज्ञानवतां कर्मप्रचुरकस्य गृहस्थजीवनस्य परित्यागं प्रतिपाद्य विद्याया एव प्राधान्यं प्रतिपादयन्ति । अतो न ब्रह्मविद्यायाः कर्माङ्गत्वम् ॥१५॥

विवरणम्—वक्ष्यमाण प्रकारेणापि विद्यायाः कर्माङ्गत्वं न भवति प्रत्युत सैव प्रधाना तदेव दर्शयति "उपमर्दञ्चेति" सूत्रेण । "भिद्यते

कर्मानुमति है न तु कर्म का विधान परक है । अतः विद्या में प्रधानता की सिद्धि होती है पर विद्या कर्म का अङ्ग नहीं है ऐसा कहा गया एवं वक्ष्यमाण हेतु से भी विद्या कर्म का अङ्ग नहीं है इस बात को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं कि "किं प्रजया" इत्यादि । प्रजा से अर्थात् प्रजोपलक्षित गृहस्थाश्रम से हमलोगों को कोई प्रयोजन नहीं है । जिससे न यह लोक सिद्ध होगा नवा आत्म लोक की सिद्धि संभवित है । इस प्रकार से एक शाखाध्यायी विद्वान् को स्वेच्छया कर्म प्रधानक गृहस्थाश्रम के त्याग का ही प्रतिपादन करते हुए ब्रह्म विद्या में प्रधानता का प्रतिपादन करते हुए ब्रह्म विद्या में प्रधानता का प्रतिपादन करते हैं । एतावता यह सिद्ध होता है कि विद्या प्रधान है कर्म का अङ्ग नहीं । अतः विद्या को कर्म शेषता का प्रतिपादन अयुक्त है ॥१५॥

सारबोधिनी— वक्ष्यमाण प्रकार से भी सिद्ध होता है कि विद्या कर्म का अङ्ग नहीं है "उपमर्दञ्चेति" क्षीयन्ते चास्येत्यादि" वृत्ति-ध्यान द्वारा

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ।३।४।१७।

विरक्ताश्रमेषु ब्रह्मविद्यायाः प्राधान्यान्न सा कर्माङ्गताम्भजते । ननूर्ध्वरेतः पदबोध्यविरक्ताश्रमा एव न सन्ति । यतः "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" [आ० श्रौ० ३।१४।८।]" जरामर्यं हवं एतत्सत्रमित्यादि प्रमाणैरग्निहोत्रादिगृहस्थकर्मणां यावज्जीवनमनुष्ठेयता प्रतीयत इति चेन्ना-

---

हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्व संशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" [तस्मिन् कल्याण गुणके भगवति दृष्टे दर्शनसमानाकारतां प्रापिते सति अस्योपासकस्य कर्माणि सर्वाण्यपि क्षीयमाणानि भवन्ति तथा हृदयग्रन्थयः समस्ता अपि भिद्यमानाः भवन्ति संशयाश्च-छिन्ना भवन्ति इत्यर्थः] इत्यादि श्रुत्या "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । छीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे (भागवत १।२।२१) इति स्मृत्या च विद्या द्वारा विदुषः सर्वकर्मणां विनाशं प्रतिपादयन्ति । अतः कर्मणां नात्र प्राधान्यं संभवति यदि विद्याकर्मणोः सहभावो भवेत् तदा एकस्य प्राधान्यमपरस्य च गौणत्वं संभवेत्. परन्त्वत्र विद्याकर्मणोर्नाश्यनाशकभावएवश्रुतिस्मृत्या प्रतिपादित स्तत्कथमिवतयोः प्राधन्य-गौणभावः । तस्मान्न विद्याया गौणत्वं प्राधान्यञ्च कर्मण इति ॥१६॥

विषयी कृत परमात्मा के होने से उपासक का जो अज्ञानरूप हृदय ग्रन्थि है वह वनिष्ट हो जाती है तथा सर्व संशयछिद्यमान छिन्न हो जाते हैं एवं जितना कोई कर्म समुदाय हैं वे सब विनष्ट हो जाते हैं" । इत्यादि श्रुति से यह सिद्ध होता है कि विद्या से सर्व कर्म का विनाश होता है । इसलिए कर्म का प्राधान्य नहीं है । जहाँ अङ्गाङ्गीभाव होता है, उसी स्थल में प्राधान्य गौण भाव की संभावना होती है । जहाँ विनाश्य विनाशकभाव है उसमें गौण मुख्यत्व की चर्चा ही निरर्थक है ॥ १६ ॥

सारबोधिनी— वक्ष्यमाण प्रकार से भी सिद्ध होता है कि विद्या कर्म का अङ्ग नहीं है । "ऊर्ध्वरेतः सु" इत्यादि । ऊर्ध्वरेतसः अर्थात् विरक्ता-

म्नायिके शब्दे ह्यूर्ध्वरेतसामाश्रमाणामुपलम्भात् । "त्रयो धर्मस्कन्धाः" [छा० २।२३।१।] "तपः श्रद्धेये ह्युपवसन्त्यरण्ये" [मु० १।२।११।] "एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति" [बृ०४।४।२२।] "ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' [जाबा० ४] इति । यावज्जीवश्रुतिर्गृहिपरा ॥१७॥

विवरणम्–वक्ष्यमाणप्रकारेणापि न विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् । ऊर्ध्वरेतः सुतदाराख्याश्रमेषु विद्यायाः सत्वात् । तत्र विद्याया एव प्राधान्यमित्याशयेनाह "विरक्ताश्रमेषु" इत्यादि । विरक्ताश्रमेषु प्रव्रज्याश्रमेषु ब्रह्मविद्याया एव प्राधान्यं श्रूयते इति सा ब्रह्मविद्यायाः न कर्मणोऽङ्गम् ।

ननु यदि गृहस्थाश्रमातिरिक्तः कश्चित् सन्यासाश्रमोभवेत्तदातत्र विद्यायाः प्राधान्यं भवेत् किन्तु तादृशाश्रमस्तुनैव विद्यते । यतः "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहयात्" "जरामर्यं हवै" इत्यादि प्रमाणशेखरै गृहस्थाश्रमकर्मणामेव जीवनपर्यन्तमनुष्ठेयतायाः प्रतिपादनादिति चेन्मैवम्, वैदिकशब्दे तादृशाश्रमस्य विधानश्रवणात् । तथाहि "त्रयोधर्मस्कन्धाः" "तपः श्रद्धयेह्युपवसन्त्यरण्ये""ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्" इत्यादौ

श्रम में ब्रह्मविद्या का प्राधान्य होने से उसमें सकाम कर्मानुष्ठान का अभाव होने से ब्रह्मविद्या कर्म का अङ्ग नहीं पर ब्रह्मविद्या स्वतन्त्र है । अब यहाँ प्रश्न होता है कि गृहस्थाश्रम से अतिरिक्त ऊर्ध्वरेतस पदबोध्य विरक्ताश्रम ही नहीं है जिसमें ब्रह्मविद्या की प्रधानता हो । क्योंकि "यावज्जीवनम्" श्रुति तथा "जरामर्य हवै" इत्यादि श्रुति प्रमाण से गृहस्थ कर्मका यावज्जीवन पर्यन्त अनुष्ठेयता का विधान किया गया है । इसलिए विरक्ताश्रम नामक कोई अतिरिक्त आश्रमान्तर ही नहीं है । जिसमें विद्या की प्रधानता सिद्ध हो । उत्तर= यह पूर्वपक्ष ठीक नहीं है क्योंकि "त्रयोधर्म स्कन्धाः" "तपः श्रद्धयेह्युपवसन्त्यरण्ये" "एतमेव प्रव्राजिनः" इत्यादि स्थल में गृहस्थाश्रम से अतिरिक्त विरक्ताश्रम भी उपलब्ध होता है । यह विरक्ताश्रम वैदिक शब्द में उपलब्ध है । तथैव 'चत्वार आश्रमाः" इत्यादि रूप से आगम

परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि ।३।४।१८।

"त्रयो धर्मस्कन्धा"इत्यादिशब्दा न विरक्ताश्रमान् विदधते विध्यभावात किन्तु ब्रह्मनिष्ठतां स्तुवन्तः परामर्शं [अनुवादं] कुर्वन्ति । न केवलं विध्यभावोऽपित्वपवदत्यपि हि श्रुतिराश्रमान्तरम् । 'वीरहा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" [यजु० १।५।२।] प्रजातन्तुं माव्यवच्छेत्सीः' इति । इत्येतज्जैमिनिर्मन्यते ॥१८॥

यावज्जीवं कर्मानुष्ठानश्रुतिस्तु वैराग्यरहितानामेव गृहस्थानां कर्मणोऽवश्यकर्तव्यतां दर्शयति । नतु आश्रमान्तरस्य निराकरणं करोति । अतएव "यदहरेवविरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदित्यादि श्रुतीनां "चत्वार आश्रमास्तत्र वैष्णवानां महात्मनाम् । सन्यासो वानप्रस्थश्च गार्हस्थ्यं ब्रह्मचर्यकम्" (वशिष्ठसंहिता,) इत्यादिस्मृतीनाञ्च सार्थक्यं सामंजस्यञ्च भवतीति संक्षेपः ॥१७॥

विवरणम्–नतु "त्रयोधर्मस्कन्धाः" इत्यादि श्रुतयो विरक्ताश्रमस्य विधानं न कुर्वन्ति यतस्तत्रविधायकप्रत्ययाभावात्. किन्तु ब्रह्मसंस्थत्वस्य स्तुतयेऽनुवादमात्रं कुर्वन्ति नकेवलं विधायकत्वाभावमेव किन्तु "वीरहा" इत्यादिश्रुतिविरक्ताश्रमस्य निषेधमपिकरोतीति जैमिनेरा-

शास्त्र में (वशिष्ठ संहिता) सांगोपाङ्गचारो आश्रमों का वर्णन मिलता है यावज्जीवन कर्म प्रतिपादक श्रुति वैराग्य रहित व्यक्ति के लिए है न तु वैराग्यवान् के लिए । अत एव "यदहरेव विरजेत्" इत्यादि श्रुति सार्थक एवं समञ्जस होती है ॥ १७ ॥

सारबोधिनी– "त्रयोहि धर्मस्कन्धा" इत्यादिक श्रौत शब्द है वह गृहस्थाश्रमातिरिक्त विरक्ताश्रम का विधान नहीं करता है क्योंकि तव्य तव्यत् अनियर् लिङ्लोडादि विधायक "यजेत" "जुहुयात्" इत्यादिवत् नहीं है । किन्तु ये पूर्वोक्त वाक्य ब्रह्म संस्थत्व का स्तावक वचन होता हुआ अनुवादक मात्र है विधायक वाक्य नहीं । इतना ही नहीं किन्तु "वीरहा

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ।३।४।१९।

यथा गृहस्थाश्रमस्यानुष्ठेयत्वं तथैव तत्साम्यादाश्रमान्तरस्याप्यनुष्ठेयत्वं भगवान् बादरायणो मन्यते तथाहि–"त्रयो धर्मस्कन्धा" यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः" [छा० २।२३।१।] इत्यनेनत्रयोऽपि धर्मसाधकचातुराश्रम्यरूपाऽध्वानः सन्तीत्युच्यते । श्रुतौकायक्लेशरूपतपः शब्देन वनस्थयत्या-

---

चार्यस्यमतमिति दर्शयितुमुपक्रमते "त्रयोधर्मस्कन्धा" इत्यादि । अवतरणेनैव व्याख्यातेयं वृत्तिः ॥१८॥

विवरणम्–येन प्रकारेण गृहस्थाश्रमस्यावश्यमेवानुष्ठेयत्वं तेनैव प्रक्रमेण वानप्रस्थसन्यासयोरप्यवश्यानुष्ठेयत्वमेव सर्वेषामाश्रमाणां-साम्यश्रवणात् "एतादृशं बादरायणमतमाविष्कर्तुं सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते "यथा गृहस्थाश्रमस्येत्यादि" यथा प्रथमाश्रमस्यावश्यकमनुष्ठानं संभवति योऽग्निमुद्वासयते" "प्रजातन्तुं माव्यवच्छेत्सीः" इत्यादि वाक्य यावज्जीवन कर्मानुष्ठान का प्रतिपादन करता हुआ विरक्ताश्रम का निराकरण करता है । ऐसी आचार्य जैमिनि की मान्यता है ॥१८॥

सारबोधिनी– जैसे गृहस्थाश्रम अवश्यानुष्ठेय हैं उसी तरह से तत्समान होने से गृहस्थाश्रमेतर विरक्ताश्रमादि भी अवश्यानुष्ठेय हैं ऐसा आचार्य भगवान् श्री बादरायण मानते हैं । तथाहि "तीनधर्मस्कन्धः" अर्थात् तीन धर्म साधक मार्ग है यज्ञ अध्ययन और दान इसमें प्रथम तप है, द्वितीय ब्रह्मचारी आचार्य कुल वासी और तृतीय वह है जो आजीवन आचार्यकुल में निवास करता है सभी ये पुण्य श्लोक होते हैं । उसमें जो ब्रह्मसंस्थ है वह अमृतत्व को प्राप्त करता है । इस छान्दोग्य श्रुति वाक्य से धर्म का साधक चार आश्रम रूप चार धर्म का मार्ग बतलाया गया है । इस श्रुति में काय क्लेश रूप तप शब्द से वानप्रस्थ तथा यत्याश्रम अर्थात् सन्यासाश्रम का ग्रहण होता है । ये चारो ही आश्रम पुण्य श्लोक भागी हैं । परन्तु

श्रमौ गृह्येते । एते चत्वारोऽप्याश्रमाः पुण्यलोकभागिनः परन्त्वेषु यस्य ब्रह्मणि निष्ठा वर्तते स विद्वानमृतत्वं प्राप्नोति । एतदेवोक्तं पुराणरत्ने "एकान्तिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो हि ये । तेषां तत्परमं स्थानं यद्वै पश्यन्ति सूरयः । [वि० १।६।३९।] इति । एवं विद्याब्रह्मसंस्थितिः सद्गुरुचरणरजोजुषा केनचिद्विरक्तेनैव भगवदनन्यभक्त्यैव लभ्या । अनेन विरक्ताश्रमाणामुत्तमफलप्रापकत्वाद्गृहस्थाश्रमाच्छ्रैष्ठ्यमुक्तम्भवति ॥१९॥

तेनैव रूपेण चतुर्थस्य विरक्ताश्रमापरपर्यायस्यापिपरमावश्यकमेवानुष्ठानम् । कुतः ? उभयोरपि समानत्वश्रवणादित्येवं भगवान् बादरायण श्रीसम्प्रदायाचार्योमन्यते । तथाहि "त्रयोधर्मस्कन्धाः" इत्यादिस्थले गृहस्थाश्रमादारभ्य सन्यासपर्यन्ताश्रमचतुष्टयस्य निरूपणंकृतम् तत्र यथा यज्ञाध्ययनदानादीनामनुष्ठानमावश्यकमिति प्रथमाश्रम आवश्यक एवं

इनमें से जिसको ब्रह्म में निष्ठा है, वह विद्वान् उपासक परम पुरुष का एकान्त भक्ति द्वारा उपासना करता है, वह भगवान् की कृपा से अमृतत्व निरतिशय सुखात्मक परम धाम प्राप्ति रूप मोक्ष को प्राप्त करता है। इस विषय को पुराणरत्न में भी कहा है "जो सदा एकान्त में निवास करने वाले तथा ब्रह्म का ध्यान करनेवाले योगी हैं उन लोगों को ही वह परम स्थान प्राप्त होता है जिस निरामय एकान्त सुख स्वरूप स्थान को योगी लोग सदा साक्षात्कार करते हैं।" इस प्रकार की जो ब्रह्म संस्थिति है वह सदगुरु के चरण सेवक विरक्त महापुरुष को ही उन की कृपा तथा अनन्य भगवान् की भक्ति से ही प्राप्त होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि विरक्ताश्रम को उत्तम फल का प्रापक होने से गृहस्थाश्रम की अपेक्षया विरक्त श्रीवैष्णवाश्रम में श्रेष्टता का प्रतिपादन किया गया है। अतः गृहस्थाश्रम के समान विरक्ताश्रम भी अवश्यानुष्ठेय है मुक्ति प्राप्ति की इच्छा वालों के लिये। इसकी विशेष चर्चा अन्यत्र करेंगे ॥ १९ ॥

विधिर्वा धारणवत् ।३।४।२०।

"त्रयो धर्मस्कन्धाः" इत्यादेर्विधित्वमेवेति सनिदर्शनमुपपाद्यते । वेत्यवधारणे । सर्वाश्रमाणां विधिरेवात्र वाक्ये वर्तते नानुवादः । यथा "अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति" इति वाक्येऽनुवादम्परिहायाऽप्राप्तत्वादुपरिधारणस्य विधिराश्रीयते । उक्तञ्चैतत्पू-

---

तपसा भगवन्तं समाराध्य तदनुकंपयामोक्षप्राप्तये विरक्ताश्रमस्याप्यव श्यानुष्ठेयत्वमेवेति धर्मसाधकास्त्रयो मार्गाः प्रदर्शिता भवन्ति शास्त्रे । तत्र चतुर्णामपि आश्रमाणां मार्गत्रये एवान्तर्भाव । धर्मसाधकत्वं यद्यपि सर्वेषां तथापि सर्वापेक्षया सन्यासस्य प्राथम्यं यतस्तत्र भगवद् भजनस्य निर्विघ्नतयानुष्ठानसंभवात् । प्रकृतोपात्ता श्रवणचर्चाविशेषतात्तु वृत्तिकृदुनिबद्ध वर्णव्यवस्थानानामकप्रवन्धतोऽनुसन्धेयः ॥१९॥

विवरणम्—"त्रयो धर्मस्कन्धाः" इत्यादि वाक्यं न विधायकम् यतो विधायकप्रत्ययाभावादपित्वनुवादमात्रम्, यदि यदाशङ्कितं तस्य निराकरणाय विधित्व व्यवस्थापनाय चोपक्रमते "विधिर्वेत्यादि"

सारबोधिनी—पूर्व में कहा गया था कि" त्रयो धर्मस्कन्धाः" इत्यादि वाक्य विधायक नहीं है किन्तु अनुवादक है । क्योंकि इस वाक्य में विधायक प्रत्यय का अभाव है । इस शंका का निराकरण करने के लिए तथा सूत्र व्याख्यान करने के लिए उपक्रम करते हैं "त्रयोधर्मस्कन्धाः" इत्यादि । "त्रयोधर्मस्कन्धाः" इत्यादि जो वाक्य है वह विधायक है । इस बात को दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हैं "विधिर्वा धारणवत्" इस सूत्र में जो वा शब्द है वह अवधारणार्थक है 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इस वाक्य में सब आश्रम की विधि है अनुवाद नहीं । जैसे 'अधस्तात्' इत्यादि । अधः प्रदेश में समिध का धारण करता है । ऊपर देशमें देवताओं के लिए धारण करता है' इस वाक्य में अनुवादकता को छोड़ करके अप्राप्त होने से उपरिधारण में वर्तमानापदेश

र्वतन्त्रे "विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्" [जै० सू० ३।४।१५।] इति । एवञ्च "त्रयो धर्मस्कन्धाः" इति विधिवाक्यमेव ।

अत्रेदं विचार्यते । ननु "जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणै ऋणवान् जायते यज्ञेन देवेभ्य प्रजया पितृभ्यः स्वाध्यायेन ऋषिभ्यश्च इति" 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् । अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः" [मनु० ६।३५।] अत्र मोक्षपदं चतुर्थाश्रमपरम् । "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" [यजुः १।५।२। "आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः" [तै १।११।१।] जरामर्यं हवै एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ जरया वाह्येव तस्मान्मुच्यते मृत्युना वा" यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति (आ. श्रौ० ३।१४।८।) इत्यादि श्रुतिस्मृतिभिश्च विरक्ताश्रमपदवोध्यस्य कस्यचिदाश्रमस्यैवाभावात् । कथञ्चिदङ्गीकारेऽपि ब्रह्मचर्याद्याश्रमत्रयमनुष्ठायैव तस्यानुष्ठानम्प्राप्नोतीति चेन्न "ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत् गृहीभूत्वा वनीभवेत् वनीभूत्वा प्रव्रजेत् यदिवेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्

सूत्रम् । अत्र वा शब्दोऽवधारणार्थकः । सर्वाश्रमाणामस्मिन् वाक्ये विधिरेवा श्रीयते नानुवादः । न चानेकाश्रमाणां विधाने वाक्यभेददोषः स्यादिति वाच्यम् वाक्यभेदस्येष्टत्वात् । एकवाक्यत्व प्रतीतौ सत्यामपि तत्त्या-होने पर भी विधायकता ही माना गया है । इस बात का स्पष्टीकरण 'विधिस्तुधारणेऽपूर्वत्वात्' इस प्रकरण में किया गया है । इसलिए 'त्रयोधर्मस्कन्धाः' यहाँ विद्या की ही प्रधानता होने से विद्या कर्मका अङ्ग नहीं है । किन्तु कर्म ही विद्या का अङ्ग है यह सिद्ध हुआ ।

इस विषय पर प्रसङ्ग प्राप्त कुछ विचार करने के लिए वृत्तिकार कहते हैं 'अत्रेदं विचार्यते' इत्यादि । इस प्रकृत विषय पर कुछ विचार किया जाता है । प्रश्न—'जन्म प्राप्त करता हुआ ही ब्राह्मण तीन ऋण से ऋणवान्

(जावा० ४) इति जाबालश्रुत्यनुरोधेनाश्रमग्रहणस्यैच्छिकत्वात् । ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वेत्यभिदधती श्रुतिर्विरक्ता श्रमपूर्ववर्त्तिनां त्रयाणामाश्रमाणान्तु न तथाऽनुष्ठेयत्वं यथा तूर्याश्रम स्येति स्पष्टयति । दृढ़यति च यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् इत्य- नेन तमेवार्थम् । अत एव त्रयो धर्मस्कन्धा इति श्रुतौ एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति इति फलं ब्रुवतीश्रुतिपूर्वाश्रमाणां केवलं सुखसाधनत्वमन्त्याश्रमस्य तु निश्रेयसफलकत्वमिति फलतारतम्यमुप दिशति । एवञ्च जायमानो हेत्यादि ब्राह्मण वाक्यानि ऋणानोतिमनुवाक्या नि च गृहस्थाश्रममधिकृत्यैव प्रवृत्तानीति वेदितव्यम् । विरक्ताश्रम निष्ठो भगवच्छरणागतिधर्ममनुतिष्ठन् विरक्तौ नैषां वचसां विषयः । स तु

गेनापूर्वविधौ दृष्टान्तं दर्शयति, "धारणवत्" यथा "अधस्तात् समिधं धारयन्" इत्यत्र ज्ञायमानापि, एकवाक्यतात्यज्यनं, विधीयते च स्रुग्दण्ड स्योपरिसमिधोधारणमपूर्वार्थत्वरूपेण तथैव प्रकृतेऽपि विधिरेव नानुवादः । तस्माद्विरक्ताश्रमेषु ब्रह्मविद्याया विधानात् न विद्यायाः कर्माङ्गत्वमपितु

होता है' 'यज्ञ से देवों का; प्रजा पुत्र से पितरों का; और स्वाध्याय वेदाध्य- यन से ऋषियों का' तीनों प्रकार के ऋण को चुका कर मन को मोक्ष में लगावे अर्थात् ऋणत्रय के अपाकरण करने के बाद ही मोक्ष के लिए प्रयत्न करे । ऋणत्रय का निराकरण किये बिना मोक्ष के लिए प्रयत्न करनेवाला अधः पतित होता है । इस मनु वचन में मोक्षपद चतुर्थ विरक्ताश्रम का बोधक है । 'वह वीरहा है जो अग्नि का परित्याग करता है' । आचार्य के लिए धन का आहरण करके प्रजातन्तु का व्यवच्छेद न करे अर्थात् गृहस्थाश्रम का परित्याग न करे' 'यह दर्शपूर्ण अग्निहोत्र यावज्जोवन अनुष्ठातव्य है' इस दर्शपूर्णमास को करनेवाला जरा तथा मृत्यु से विमुक्त हो जाता है' 'याव- ज्जीवन अग्निहोत्र करे' इत्यादि श्रुति स्मृति से यह सिद्ध होता है कि विरक्ता-

तुर्याश्रमप्रधानधर्मपरमपुरुषानुरक्तियुक्तत्वाच्छ्रेष्ठतमः। अत एव "देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्"। इति भागवतोक्तं सङ्गच्छते। अनन्यभक्तविरक्तवैष्णवानां पिण्डोदकश्राद्धादिकरणमप्यनावश्यकम्। अवश्यानुष्ठेयेन श्रीवैष्णवाराधनेनैवाखिलविधेयस्य सामञ्जस्यादित्यलं प्रसक्तचिन्तया। अतः कर्मणो विद्याङ्गत्वं विद्यातश्च पुरुषार्थ इत्येव रमणीयः पन्थाः ॥२०॥ इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ पुरुषार्थाधिकरणम्॥१॥

कर्मैव विद्याङ्गम्। तादृशकर्मसहितब्रह्मविद्यया परमपुरुषार्थो मोक्ष इति संक्षेपः ॥२०॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचायरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे पुरुषार्थाधिकरणम् ॥१॥

श्रम पद बोध्य कोई आश्रम नहीं है। कथंचित् चतुर्थाश्रम को माना भी जाय तब ब्रह्मचर्यादि आश्रम त्रय का अनुष्ठान करके ही चतुर्थाश्रम का अनुष्ठान प्राप्त होता है। इस तरह पूर्वमीमांसक का पूर्वपक्ष होता है।

उत्तर—ब्रह्मचर्यावस्था का परित्याग करके गृहस्थाश्रम का आश्रय करें; गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करें और वानप्रस्थ के बाद सन्यासाश्रम का आश्रय लेवें" अथवा ब्रह्मचर्यावस्था से ही सन्यास में जाय, गृहस्थाश्रम से ही सन्यासाश्रम में जाय अथवा वानप्रस्थ से सन्यासी बनें" "जब वैराग्य सम्पन्न हो तब प्रव्रज्या का ग्रहण करें" इत्यादि जाबालिक श्रुति के अनुरोध से यह सिद्ध होता है कि आश्रम ग्रहण ऐच्छिक है। "ब्रह्मचर्य से ही प्रव्रज्या लेवें, गृहस्थ से अथवा वानप्रस्थ से सन्यास ग्रहण करें इस प्रकार से कहती हुई जाबाल श्रुति विरक्ताश्रम के पूर्ववर्ती जो ब्रह्मचर्य गृहस्थी और वानप्रस्थ रूप अवस्था त्रय हैं उनमें उस प्रकार के अनुष्ठेयता का प्रतिपादन करती है। यादृश अनुष्ठेयता का प्रतिपादन चतुर्थ विरक्ताश्रम को कहती है। इसी बात को "यदहरेव विरजेत्" इस वाक्य से दृढ़ किया गया है॥

स्तुतिमात्राधिकरणम् ।२॥

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ।३।४।२१।

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" इति प्रकृत्य श्रूयते "स एव रसानां रसतमः" [छ० १।१।३।] इत्यादि तत्र संशयः। किमेतादृशेषु वाक्येषु स्तुतिमात्रं वर्तत उतोपासनायां दृष्टिविधिरितिक्रत्वङ्गोद्गीथसम्बन्धित्वेनोपादानाद्रसतमत्वादीनां "इयमेव जुहुरि"तिवत्स्तुतिमात्रत्वमिति पूर्वपक्षः। अत्राभिधीयते- स्तुतिमात्रं जुह्वादिविधिरिवोदगीथादिविधेरत्राभावादुद्गीथादिषु रसतमत्वादेरप्राप्तत्वाच्च तद् दृष्टिविधेरेवाश्रयणीयः ॥२१॥

विवरणम्- "उद्गीथमुपासीत" इत्याद्युपासनायां रसतमत्वादीनां व्यपदेशो विद्यते. तत्र रसतमत्वादिकं स्तुतिमात्रमुद्गीथस्य अथवा तादृश गुणविधानमिति संशयः। तत्र स्तुतिमात्रमिति पूर्वपक्षः "इयमेव जुहुरादित्य" इत्यादि वदिति। सिद्धान्तस्तु रसतमत्वादीनां कर्माङ्गोपासनायां प्रमाणान्तरेणाप्राप्तत्वाद्विधिरेव. अप्राप्तप्रापकस्य विधित्वात्। इत्याशयेन सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते, ओमित्येदक्षरमित्यादि। ॥२१॥

अतएव "त्रयो धर्मस्कन्धाः" इस श्रुति में "ये सब पुण्य लोकभागो होते है" तथा "ब्रह्मसंस्था अमृतत्व को प्राप्त करता है" इस प्रकार से फल को बतलाती हुई श्रुति पूर्व आश्रमत्रय में केवल सुख साधनता का प्रतिपादन करती हुई तथा विरक्ताश्रम में निःश्रेयसरूप फल जनकता का प्रतिपादन करती हुई फल में तारतम्य न्यून तथा अधिकता का उपदेश करती है। ऐसा है तब "जायमानोह्" इत्यादि ब्राह्मण वाक्य तथा "ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य" इत्यादि मनुवाक्य गृहस्थाश्रम को अधिकृत करके प्रवृत्त है ऐसा जानना चाहिए "विरक्ताश्रम में रहनेवाले भगवान् के शरणागति धर्म का अनुष्ठान करनेवाले व्यक्ति के विषय में इन सब वचनों का योग नहीं है। अन्तिम जो

भावशब्दाच्च ।३।४।२२।

"उद्गीथमुपासीत" इति विधिशब्दाच्च रसतमत्वादिदृष्टिविधिरेवात्र वाक्य इति ।।२२।।

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ स्तुतिमात्राधिकरणम् ।।२।।

विवरणम्– "उद्गीथमुपासीत" इत्यत्र रसतमत्वादीनां विधिरेवाश्रयितव्य इति कथितम् । अतः परं विधेयत्वमेव स्फुटयितुमाह "भाव- आश्रम है वह तो परम पुरुषानुराग युक्त होने से श्रेष्ठतम है । अतएव" देवर्षिभूतात" इत्यादि भागवतोक्त कथन भी संगत होता है ।।

भगवान के अनन्य भक्त जो विरक्त वैष्णव हैं उनको पिण्डोदक तर्पण श्राद्धादिक भी आवश्यक कोटि में नहीं हैं । अवश्यानुष्ठेय जो श्रीवैष्णव धर्म है, उसका आराधन करने से ही समस्त कल्याण की प्राप्ति हो जाती है (श्रीवैष्णव धर्म के विषय में जगदगुरु श्रीरामानन्दाचार्यकृत श्रीवैष्णव मताब्जभास्कर के प्रभा किरण टका में मैंने विशेष चर्चा की है अतः विशेषार्थिओं को वहीं देखना चाहिये । तथा जगद्गुरु श्रीतनतुलसीदासाचार्य जीकी धर्म शिक्षावली ज गु. श्रीलाहारामाचार्य जी को श्रीवैष्णव धर्मपीयूष और ज. गु. श्रीपीपाचार्य जी का श्रीवैष्णव धर्म मङ्गलादि ग्रन्थों का अनुसन्धान करना चाहिये । अतः कर्म विद्या का अङ्ग है और तादृश विद्या से परमपुरुषार्थ–मोक्ष की सिद्धि होती है ऐसा मानना ही युक्त है ।।२०।।

सारबोधिनी–"ओम् इत्याकारक अक्षर का उद्गीथ रूप से उपासना करना इस प्रकार से उद्गीथ प्रकरण में सुनने में आता है कि "यह रसों के मध्य में रसतम है" इत्यादि । अब इसमें संशय होता है कि क्या इन वाक्यों में स्तुतिमात्र है अथवा उपासना में गुण का विधान । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि क्रत्वङ्ग उद्गीथ सम्बन्ध रूप से उपादान होने से रसतमत्वादि कथन "इयमेव जुहुरादित्यः" इत्यादि वत् स्तुतिमात्र है । उत्तर कहते हैं जुहू के समान उद्गीथ में विधि का अभाव होने से तथा रसतमत्व का प्रापक शास्त्रों के अभाव होने से प्रकृत में रसतमत्व का विधि ही माना है ।।२१।।

पारिप्लवार्थाधिकरणम् ॥३॥

परिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ।३।४।२३।

उपनिषत्सु " प्रतर्दनो हवै दैवोदासिः" [कौ० ३।१।] एवं विधा आख्यायिकाः श्रूयन्ते । ताश्च पारिप्लवार्था, उताभ्यर्णाधीतविद्याविशेषाभिधानार्था इति संशयः । "आख्यानानि शंसन्तीति" वाक्येन समस्ता-

---

शब्दादिति" सूत्रम् । "उद्गीथमुपासीत" "सामोपासीत" इत्यादि विधायक शब्दस्य विद्यमानत्वाद पूर्वत्वाच्च प्रकृते विधेराश्रयणमेव युक्तमिति भावः ।।२२।।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्ति विवरणे स्तुतिमात्राधिकरणम् ।।२।।

विवरणम्– उपनिषत्सु "याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुः" इत्येवमाद्या-अनेका आख्यायिकाः श्रूयन्ते । एता आख्यायिका पारिप्लवार्था अथवा विद्यास्तुत्यर्था इति संशयः । तत्र पारिप्लवार्थाः, यत आख्यानानिशंसन्तीत्यादि सर्वाख्यानानां पारिप्लवविनियोगादिति पूर्वपक्षः । सिद्धा-

सारबोधिनी–"उद्गीथमुपासीत" इस स्थल में रसतमत्व के विधि का ही आश्रयण करना चाहिये ऐसा जो पूर्व में कहा गया है उसीका स्पष्टीकरण करने के लिए कहते हैं "भाव शब्दाच्च" अर्थात् "उद्गीथमुपासीत" सामोपासीत" इत्यादि विधायक शब्दों का सद्भाव होने से तथा प्रमाणान्तर से अप्राप्त होने के कारण प्रकृत में रसतमत्वादि विधि को ही मानना उचित है ॥२२॥

सारबोधिनी–उपनिषद में "दैवोदासि प्रतर्दनहवै" याज्ञवल्क्य की दो पत्नियां थी ऐसे अनेक प्रकार की आख्यायिकायें देखने में आती हैं ये आख्यायिकाएं कथा मात्र है अथवा समीपस्थ विद्या के स्तावक हैं ऐसा सन्देह होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि "आख्यानानि शंसन्ति" इस वाक्य से सभी आख्यानों का पारिप्लव में ही विनियोग होता है । पारिप्लव कहते हैं

नामाख्यानानां पारिप्लवे विनियोगः। पारिप्लवश्चाश्वमेधे कथोपकथनमिति पूर्वपक्षः। अत्राभिधीयते- नैव पारिप्लवार्थान्यौपनिषदान्याख्यानानि "मनुर्वैवस्वतो राजा" इत्यादीनामेव तत्र विशेषितत्वादिति तत्र विनियोगः ॥२३॥

तथा चैकवाक्योपबन्धात् ।३।४।२४।

औपनिषदाख्यायिकानान्तु "आत्मा वा रे द्रष्टव्यः" [बृ० ४।५।६।] इत्यादिविद्यैकवाक्यत्वात्तच्छेषत्वमेव ॥२४॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ पारिप्लवार्थाधिकरणम् ॥३॥

न्तस्तु- "मनुर्वैवस्वतो राजा" इत्यादिकासाश्विदेवकथानां पारिप्लवशेषत्वेन विनियोगान्न वेदान्तकथानां पारिप्लवे विनियोग इत्याशयवान् वृत्तिकारः सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते "उपनिषत्सु" इत्यादि। उपनिषत्प्रकरणे "दैवोदासिः" इत्यादिका अनेका आख्यायिकाः श्रूयन्ते ताश्चाख्यायिकाः कथनोपकथनमात्रम् अथवा विद्या स्तुत्यर्था इति संशयः। तत्र "आख्यानानिशंसन्तीति वाक्यादिना समस्तकथानां परिप्लवे विनियोग इति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु- अश्वमेध प्रकरणे " मनुर्वैवश्वतो राजा " इत्यादिना आख्यानविशेषानामेव संकीर्तनात् नौपनिषदाख्यानानां पारिप्लवार्थतेति ॥२३॥

विवरणम्- ननु यदि औपनिषदकथानां न पारिप्लवशेषत्वं तदा कथोपकथन को। इस पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि उपनिषद का आख्यान कथोपकथन मात्र नहीं हैं। क्योंकि अश्वमेध प्रकरण में "मनुर्वैवस्वतो राजा" इत्यादि आख्यान विशेष को पारिप्लव शेषरूप से कथन किया गया है। इसलिए वेदान्त प्रकरणस्थ जो आख्यायिकाएं है वे सब संनिहित विद्या के प्रस्तावक हैं कथोपकथन मात्र नहीं ॥२३॥

सारबोधिनी—यदि वेदान्तीय आख्यायिका को पारिप्लव शेषता नहीं है तब इस वेदान्तीय कथानक को क्या आवश्यकता है। इस जिज्ञासा के उत्तर

॥ अग्नीन्धनाद्यधिकरणम् ॥४॥

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ।३।४।२५।

विद्यया पुरुषार्थ इति निश्चित्य प्रसङ्गागतञ्च परिसमाप्य तादृशविद्यावन्तः प्राधान्येनोर्ध्वरेतस आश्रमिण एवेत्यपि निरचायि । इदानीमूर्ध्वरेतस्सु स्थिता विद्याऽग्निहोत्रादिकर्मापेक्षा तदनपेक्षा वेति संशयः ।

किमर्थिकामिदमाख्यायिकेत्याशङ्कायामाह " तथाचैकेत्यादि " सूत्रम् । येयं वेदान्ते आख्यायिकास्ता "आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" इत्यादि विधिवाक्येन सहैकवाक्यत्वात् तादृशवाक्यस्य शेषत्वमेव समाख्यायिकानामिति संक्षेपः ॥२४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे पारिप्लवार्थाधिकरणम् ॥३॥

विवरणम्- स्वतन्त्राब्रह्मविद्या पुरुषार्थप्राप्तौ हेतुरिति विचार्य्य प्रसङ्गागतञ्च विचारं परिसमाप्य पुरुषार्थाधिकरणस्य फलं प्रदर्शयितुमुपक्रमते "विद्याया पुरुषार्थ इतीत्यादि । स्वतन्त्रया ब्रह्मविद्यया ब्रह्मप्राप्तमें कहते है "तथाचैकेत्यादि" सूत्रम् । उपनिषद में पारिप्लवित जो आख्यायिका है । उसकी "आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि विधिवाक्य के साथ एक वाक्यता होने से तादृश दर्शन विधायक शास्त्र का अङ्ग है । इसलिए विद्या का स्तावक होने से तादृश आख्यादिका में सार्थकता है ॥२४॥

सारबोधिनी—ब्रह्म विद्या से ब्रह्म प्राप्ति लक्षण पुरूषार्थ की सिद्धि होती है इस प्रकार से निश्चय करके और प्रसङ्गागत तदन्य वस्तुओं का भी विचार कर तादृश ब्रह्मविद्यावान् प्रधानत ऊर्ध्वरेतस अर्थात् विरक्ताश्रमवाले ही होते हैं इसका भी निश्चय किया गया । इन विरक्ताश्रमी में विद्यमान जो ब्रह्मविद्या वह अग्निहोत्रादिक कर्म सापेक्ष है अथवा कर्मानपेक्ष है । ऐसा संशय होता है । उसमें "तमेतेवेदानुवचनेन', इत्यादि वाक्यों से सब आश्रमियों का अवि-

सर्वेषामाश्रमाणामविशेषाद्विरक्ताश्रमिष्वप्यग्निहोत्रादिकर्मापेक्षैवेति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु- यत ऊर्ध्वरेतस आश्रमिणः "एवमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्त प्रव्रजन्ति" इत्याद्यनेकश्रुतिभ्यो विद्यावत्वादग्नीन्धनादिकर्मानपेक्षैव विद्या। आश्रमकर्मापेक्षा तु वर्तत एव ॥२५॥

इति श्री रघुवरीयवृत्तावग्नीन्धनाद्यधिकरणम् ॥४॥

रूपपुरुषार्थो भवतीति पूर्वप्रकरणेन विनिश्चित्य प्रसङ्गागतं किमप्यन्यदपि समाप्य तादृशविद्यावन्तः प्राधान्येन विरक्ताश्रमिण एवेत्यपि विनिश्चितम्। एषां विद्यायाः कर्मापेक्षा भवति न वेति संशयः। तत्र सा विद्या कर्मापेक्षैवेति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु " एतमेवेत्याद्यनेकश्रुतिभ्यो विद्यावत्वाधिगमान्न सा कर्मापेक्षेति। तथाप्याश्रमकर्मापेक्षातु भवत्येति निष्कर्षः ॥२५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे-अग्नीन्धनाद्यधिकरणम् ॥४॥

शेष श्रवण होने से विरक्तनिष्ठ ब्रह्म विद्या भी अग्निहोत्रादिक कर्म सापेक्ष है ऐसा पूर्वपक्ष होता है। सिद्धान्ती कहते है कि "एतमेव" इत्याद्यनेक श्रुतियों में ही विद्यावत्व का श्रवण होने से यह ब्रह्मविद्या कर्म सापेक्ष नहीं है। क्योंकि जब ब्रह्मविद्या सम्पन्न हो जाती है तब उसमें कर्म की अपेक्षा नहीं। परन्तु जो आश्रमविहित कर्म तथा नित्य नैमित्तिक कर्म है उन कर्मों की आवश्यकता तो है ही। क्योंकि अभियुक्तों ने कहा है "नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणोदुरितक्षयम् ज्ञानं च विमलीकुर्वनभ्यासेन तु पाचयेत्। अभ्यासात्पक्वविज्ञानः सायुज्यं लभते नरः" इति ॥२५॥

सर्वापेक्षाधिकरणम् ॥५॥

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ।३।४।२६।

विरक्तवद् गृहस्थेष्वपि कर्मानपेक्षैव विद्योत कर्मापेक्षेति संशयः। आश्रमित्वाविशेषाद्गृहस्थेऽपि कर्मानपेक्षैव विद्येति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु- "तमेतंवेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" [बृ० ४।४।२२ इति यज्ञादिकर्मणां विद्याङ्गत्वेन श्रवणात्। नित्यनैमित्तिकादिसर्वकर्मापेक्षैव गृहस्थे विद्या। यथा गतिसाधनभूतोऽश्वः प्रग्रहादिपरिकरापेक्षस्तद्वत् ॥२६॥

इति श्री रघुवरीयवृत्तौ सर्वापेक्षाधिकरणम् ॥५॥

विवरणम्- ननु किमिय ब्रह्मविद्यायाःस्वोत्पत्तौ यज्ञादिकर्मापेक्षा भवति न वेति संशयः। यथेयं स्वफले मोक्षेन कर्मापेक्षा तद्वत् स्वोत्पत्तावप्यनपेक्षैवेति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु सर्वकर्मापेक्षैवस्वोत्पत्तौ न तु स्वफलोत्पत्तौ, कुतः? यज्ञादि श्रुतेः, अर्थात् "तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि वाक्येन सर्वेषां ब्रह्मचर्याद्याश्रमकर्मणां विद्योत्पत्तौ साधनत्वश्रवणात्। परन्तु यथा स्वोत्पत्तौ कर्मापेक्षा विद्याया न तथा स्वफलमोक्षोत्पत्तौ तत्र दृष्टान्तमाह, "अश्ववत्" यथा अश्वो योग्यत्वाद्रथचर्यायामेव विनियोज्यते

सारबोधिनी–जैसे विरक्ताश्रम में ब्रह्मविद्या कर्मानपेक्ष है उसी तरह गृहस्थाश्रमियों के लिये भी ब्रह्मविद्या कर्मानपेक्ष है अथवा कर्म सापेक्ष। एतादृश संशय होता है। इसमें पूर्वपक्षवादी कहते है कि जिस तरह आश्रमित्व विरक्त में है उसी तरह से गृहस्थ में है, तो जब विरक्त में कर्मनिरपेक्ष ब्रह्मविद्या है तब उसी तरह गृहस्थ में भी ब्रह्मविद्या कर्मनिरपेक्ष हो है। "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाविविदिसन्ति यज्ञेन" इत्यादि वाक्य से यज्ञादिक कर्म विद्या का अङ्ग है ऐसा सिद्ध होता है। इसलिए गृहस्थाश्रमियों में जो विद्या है वह कर्म सापेक्ष है। जैसे गति गमन में साधनीभूत जो अश्व उसको परिग्रहादि की अपेक्षा होती है। उसी तरह प्रकृत में भी समझना चाहिये।

शमदमाद्यधिकरणम् ॥६॥

शमदमाद्युपेतस्स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषा-मवश्यानुष्ठेयत्वात् ।३।४।२७॥

प्रासङ्गिकमेव विचिन्त्यते किं गृहस्थो विद्याभिवृद्धये शमदमाद्युपेतस्यान्नवेति संशयः । तत्र विशिष्टकर्माननुतिष्ठद्भिर्विरक्ताश्रमिभिरेव शमदमादयोऽनुष्टेया नतु करणकलेवरव्यापारसाध्यकर्मासक्तैर्गृहस्थैरिति पूर्वपक्ष । सिद्धान्तस्तु यद्यपि गृहस्था विहित कर्मसु व्यापृतस्तथापि

नतुहलाकर्षणे कुतः ? योग्यताया अभावात् । एवं विद्या योग्यत्वात् स्वोत्पत्तावेव कर्मापेक्षा न तु स्वफलोत्पत्तौ ॥ एतत्सर्वं विमृश्य दर्शयति "विरक्तवत् गृहस्थेऽप्येत्यादि" प्रकरणेन । अवतरणेनैव वृत्तिग्रन्थोव्याख्यात इति नेह भूयः प्रयत्यते ॥२६॥

इति जगद्गुरु रामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिव्याख्याने सर्वापेक्षाधिकरणम् ॥५॥

ब्रह्मविद्या का स्वोत्पत्ति में यज्ञादि कर्म सापेक्ष है या नहीं ऐसा संशय होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी का कहना है कि यथा विद्या कार्य मोक्ष में कर्म की अपेक्षा नहीं है उसी तरह विद्योत्पत्ति में भी कर्म की अपेक्षा नहीं है । ऐसा पूर्वपक्ष होता है । इसके उत्तर में कहते है सर्वापेक्षेत्यादि" अर्थात् विद्योत्पत्ति में सब आश्रम कर्मकी अपेक्षा रखते है । क्योंकि "तमेतं वेदानुवचनेन इत्यादि वचन से यज्ञादि कर्म को साधकत्व प्रतिपादन किया गया है । जैसे योग्य होने से अश्वरथचर्या में नियुक्त होता है । पर हलाकर्षण में नहीं, उसी तरह से प्रकृत में भी समझना चाहिये ॥२६॥

सारबोधिनी–प्रासंगिक अर्थात् विद्या के साधन विषय का ही विचार करते है क्या गृहस्थ विद्या की अभिवृद्धि करने के लिए विद्या का अन्तरङ्ग साधन जो शमदमादिक है उन का अनुष्ठान करे अथवा नहीं यह संशय

शमदमाद्युपेतस्स्यात् "तस्मादेवं विच्छान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुस्समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्" [बृ० ६।४।३३] इत्यादि विधेर्विद्याङ्गतया तदभिवृद्धये शमदमादोनामवश्यानुष्ठेयत्वात् ।।२७।।

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ शमदमाद्यधिकरणम् ।।६।।

विवरणम्= विद्योत्पत्तौ वहिरङ्गसाधनं यज्ञादिकमन्तरङ्गकारणं तु शमादिकम् । तत्र गृहस्थेनान्तरङ्गसाधनमनुष्ठेयं नवेति संशयः । गृहस्थेनान्तरङ्गसाधनं नानुष्ठेयं कुतः ? तद्विरोधिसाधनानुष्ठाने गृहस्थस्यव्यापृतत्वादिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु गृहस्थोपि शामाद्युपेतः स्यात् । यद्यपि गृहस्थो यज्ञादिकर्मसुविनियुक्तत्वेन यज्ञादिष्वासक्तस्तथापि विद्यार्थी गृहस्थः शमाद्युपेतः स्यादेव "तस्मादेवं विच्छान्त" इत्यादि श्रुतेरित्याशयं हृदिनिधाय सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते "प्रासङ्गिकमेव विचिन्त्यते' इत्यादि । प्रासङ्गिकं विद्यासाधनविषये विचारः क्रियते । किं गृहस्थोऽधिकारी विद्याया अभिवृद्धये शमदमादिभिर्युक्तः स्यान्नवेति संशयः । तत्र विरक्तैरेव शमादयोऽनुष्ठेयानतु गृहस्थैः कुतः ? तद्विरुद्धकर्मणि व्यापृतत्वादिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु स्यादेवशमादियुक्तोऽपि सः । यद्यपि स्वाश्रमविहितकर्मसु गृहस्थो व्यासक्त स्तथापि

होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि विशेष कर्मों के अनुष्ठान न करने वाले जो विरक्ताश्रमी है वे ही शमदमादिक का अनुष्ठान करें । किन्तु शरीरेन्द्रियादिक का व्यापार तत्साध्य बहिरङ्ग कर्म में सर्वदा आसक्त रहने से तद्विरुद्ध शमादिक के अनुष्ठान में गृहस्थ का अधिकार नहीं है ।

सिद्धान्त=यद्यपि गृहस्थ स्वाश्रमविहित कर्म में सर्वदा आसक्त रहता है तथापि शमदमादि अन्तरङ्ग साधन से युक्त हो सकता है "तस्मादेवम्–पश्येत्" इत्यादि विधि वाक्य बाधित शमादि विद्या का अङ्ग होने से तादृश विद्या—वृद्धि के लिए शमदमादि साधन का अनुष्ठान आवश्यक है ।।२७।।

❦ सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ॥७॥ ❦

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥३।४।२८॥

"न हवा एवं विदि किञ्चनानन्नं भवति" [छा० ५।२।१।] इत्येवं रूपेण छान्दोग्यादिषु प्राणविदः सर्वान्नानुमतिरस्ति सा च सार्वदिकी ज्ञेयोत प्राणात्यय एवेति संशयः। सामान्योपदेशात्सार्वदिकीति पूर्व

शमदमादिषट्कसंपत्त्यायुक्तः स्यादेव "तस्मादेव शान्तोदान्तः" इत्यादि श्रुतेर्विद्याङ्गतया शमाद्यनुष्ठानस्यावश्यकत्वादित्याशयः ॥२७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ

श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेशमदमाद्यधिकरणम् ॥६॥

विवरणम्= प्राणोपासकस्य कृते कीटपतङ्गादि सर्वमन्नमदनीयत्व रूपेण श्रुतम् तत सर्वदा कालविशेषे वेति संशयः। सर्वदेति पूर्वपक्ष विशेषस्याश्रवणात्। सिद्धान्तस्तु प्राणविदामपि प्राणात्यये एव तथात्वं नतु सर्वदा तेषामपिकामचारस्य चाक्रायणप्रकरणे दर्शनादित्याशयेन सूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते "न हवा एवं विदि" इत्यादि। प्राणोपासके पुरुषे अनन्नं न किञ्चिदपि भवतीत्येवं रूपेण विदः सर्वान्नान्नस्यानुमतिः श्रूयते साचा

सारबोधिनी—जो प्राण के उपासक विद्वान् हैं उनके लिए कोई भी अनन्न नहीं है। अर्थात् उसके लिए सब पदार्थ अदनीय ही हैं। इस प्रकार से छान्दोग्यादिक श्रुति में सर्वान्न की अनुमति कही गयी है। तो यह अनुमति सर्व कालिक है अथवा प्राणात्यय उपस्थित होने पर ही है। ऐसा सन्देह होता है। इसमें पूर्वपक्षवादी कहते है कि सामान्य रूप से कथन किया गया है अतः सर्वकालिन सर्वान्नानुमति है। इसमें सिद्धान्ती कहते है. "सर्वान्नानुमतिश्चेत्यादि" सूत्र घटक जो च शब्द है वह अवधारणार्थक है। अर्थात् प्राणोपासक के लिये जो सर्वान्नानुमति है वह प्राणात्ययापत्ति काल में ही हैं सर्वदा

पक्षः। अत्राभिधीयते—चोवधारणे प्राणात्ययापत्तावेव सर्वान्नानुमति-रस्ति। तद्दर्शनात्। श्रुतौ प्राणात्ययापत्तावेव ब्रह्मविन्मुनिरिभ्योच्छिष्टान् कुल्माषान् भुक्तवानित्याख्यायिका दृश्यते। तस्मात्प्राणात्ययापत्तावेव प्राणविदस्सर्वान्नानुमतिर्न सर्वदा ॥२८।

अबाधाच्च ।३।४।२९।

"आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः" [छा०७।२६।२।] इत्याहारशुद्धिश्रुतेरबाधान्न प्राणविदः सर्वान्नानुमतिः ॥२९॥

नुमतिः सार्वदिकी कालविशेषनियंत्रितावेति संशये सामान्यरूपेण कथ-नात्सार्वदिकीति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु उषस्ति इभ्यसंवाददर्शनेन प्राणा-त्यये एवोपासकानामपि तदनुमतिर्न सर्वदेति। अतः प्राणात्यये एव उपा-सकानामपि तदनुमतिर्न तु सर्वदा कामचारेणेति ध्येयम् ॥२८॥

विवरणम्—श्रुतेरबाधादपि हेतोः नानापदि प्राणविदोऽपि सर्वान्ना-नुमतिरेतद्दर्शयितुं सूत्रव्याख्यानाय चोपक्रमते "आहारशुद्धावित्यादि" आहारस्य भोजनस्य शुद्धौ सत्यामेवसत्वस्यान्तःकरणस्य शुद्धिर्भवति तथा मनसः विशुद्धितायामेवस्थिरामतिर्जायते इति। अर्थात् यदि भोजनं विशुद्धं भवेत्तदैव मनसः शुद्धिता भवति मनसः शुद्धितायां बुद्धेर्नैर्मल्यंस्या-दितिभोजनशुद्धावेव सर्वविशुद्धं स्यात् भोजनाशुद्धौ सर्वं विप्लवेत। एवं क्रमेणाहारशुद्धिश्रुतेरबाधान्न प्राणोपासकस्य सर्वान्नानुमतिः ॥२९॥

के लिए नहीं क्योंकि श्रुति में प्राणात्यय काल में ही ब्रह्मज्ञानी मुनि उषस्ति के महावत से उच्छिष्ट उदड की याचना करके भोजन किया ऐसी आख्यायिका है। इसलिए प्राणात्ययापत्ति प्राण संकट काल में हो सर्वान्नानुमति है सर्वदा के लिए नहीं ॥२८॥

अपि च स्मर्यते ।३।४।३०।

"प्राणसंशयमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः । लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा" । इति च प्राणात्ययापत्तावेव सर्वान्नीनत्वं स्मर्यते ॥३०॥

विवरणम्=न केवलमबाधादेव प्राणात्ययापत्तावेव तत्त्वविदां सर्वान्नानुमतिरपि तु स्मृतावपि स्मर्यते प्राणात्यये सर्वान्नानुमतिरिति दर्शयति "अपि च स्मर्यते" इति सूत्रम् । समुपस्थिते प्राणसंकटे यः कश्चिज्जन यतस्ततः शुद्धाशुद्धव्यक्तिभ्योऽन्नं प्राप्यतमन्नमत्ति तथा विधः पुरुषः कुत्सितान्नभक्षणजनितपापेन कथमपि लिप्तो न भवतीत्यर्थ स्मृतेः । अतो न सर्वदा सर्वान्न भक्षणेऽनुमतिरिति भावः ॥३०॥

सारबोधिनी—आपत्तिकाल व्यतिरिक्त काल में तत्वावित् को भी सर्वान्नानुमति नहीं है । क्योंकि "आहार की विशुद्धि होने से सत्व अर्थात् अन्तकरण विशुद्ध हाता है और अन्तः करण के विशुद्ध होने से स्मरण ज्ञान में नैर्मल्य होता है" इत्यादि आहार के विशुद्धिता बोधक जो श्रुति है उसका अबाध होने से भी प्राणोपासक को भी प्राणात्यय व्यतिरिक्त काल में सर्वान्नानुमति नहीं है ऐसा सिद्ध होता है ॥२९॥

सारबोधिनी—स्मृति में भी कहा गया है कि आपत्तिकाल में ही यादृश यत्र कुत्रचित् अन्न भक्षण में दोष नहीं नतु सर्वदा सर्वानुमति है--प्राण संकट प्राप्त किया हुआ पुरूष यदि यत्र कुत्रचित् प्राप्त अन्न भक्षण करता है तो तादृशान्न भक्षण जनित पाप से लिप्त नहीं होता है जल से कमलपत्र के समान" इत्यादि स्मृति में प्राणात्ययापत्ति में ही सर्वान्न भक्षण का विधान है नतु सर्वकालिक सर्वान्न भक्षण का विधाने यानि आपत्तिकाल में ही सर्वान्न भक्षण का नैमित्तिक विधान है सर्वदा के लिये नहीं ॥३०॥

शब्दश्चातो कामचारे ।३।४।३१।

"तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्" इति स्वेच्छाचारस्य निषेधकः शब्दोऽस्ति अतः प्राणसंशय एव सर्वान्नानुमतिर्न सर्वदेति सिद्धम् ।३१।।

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ।।७।।

विवरणम्–ब्राह्मणो मदिरांपीत्वा ब्राह्मण्यादेवहीयते, "तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्" इत्यादि शब्दः कामचारे स्वेच्छाचारे प्रतिषेधको विद्यते. तस्मात् प्राणात्ययापत्तावेव विदुषां सर्वान्नानुमति नतु सर्वकाले सर्वत्र सर्वान्नानुमतीति दर्शयितुमुपक्रमते "शब्दश्चात" इत्यादि सूत्रम् ब्राह्मणो-जात्या ब्राह्मणो विद्वान् अविवेको वा सुराम् "गौडीमाध्वीचपैष्टी चेत्यादि प्रतिपादितमद्यमनापदि. शास्त्राविहितं नपिबेदित्यादि शास्त्रेण ऐच्छिकपानान्नभक्षणादेर्निषेधात्. सर्वान्नस्य नो विधानं, विधाने प्रायश्चित्तश्रवणात् यद्यपि "त्रैवार्षिकाधिकान्नोयः सहि सो-मपीबेद्द्विजः" इत्यादिशास्त्रेण शास्त्रविहितसुरापानादिविधिः क्रियते तथापि सर्ववाक्यानां महावाक्यबोधनसमये परस्परान्वयाय नैमि-त्तिकप्रायश्चित्तस्य श्रवणात् । यथा "यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत्सोऽग्नयेक्षामवतेऽष्टाकपालं निर्वपेदित्यादि नैमित्तिकप्रायश्चि-त्तादिति । तस्माद्विदुषामपि प्राणात्ययापत्तावेव सर्वान्नानुमतिर्नतु सर्वकाले सर्वदाऽस्वेच्छया सर्वान्नानुमतिरिति ।।३१।।

इति जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्ति विवरणेसर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ।।७।।

सरबोधिनी—सुरापान करने से ब्राह्मण पतित होता है । अतः तादृश-पातित्य का निराकरण करने के लिए शास्त्र में प्रायश्चित्त का विधान किया गया है । इस लिए जाति ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो अथवा अविद्वान् हो वह सुरापान न करें" इत्यादि शास्त्र स्वेच्छाचार का प्रतिषेधक विद्यमान है इसलिए विद्वान् के लिए भी प्राणात्ययापत्ति में ही सर्वान्नभक्षण की अनुमति है नतु सर्वदा सर्वत्र सर्वान्नभक्षण का विधान ।।३१।।

विहितत्वाधिकरणम् ॥८॥

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ३।४।३२।

यज्ञाद्यङ्गिका विद्येत्युक्तम् । तत्र तद्यज्ञादिकं विद्यारहिताश्रमस्यापि कर्मोत सविद्याश्रमकर्मेति संशयः । तत्र केवलाश्रमकर्मत्वे नित्यानित्यसंयोगविरोधान्नकेवलाश्रमकर्मत्वमिति पूर्वः पक्षः । अत्राभिधीयते–"यावज्जी-

---

विवरणम्–"सर्वापेक्षेत्यादि" सूत्रे यज्ञादीनि कर्माणि विद्यायाः अङ्गभूतानीति प्रतिपादितम् । तानि यज्ञादीनि विरक्ताश्रमभिन्नस्याङ्गभूतानि नवेति संशयः । तत्र तेषामङ्गत्वे नित्यानित्यसंयोगविरोधः स्यादिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु विहितत्वादित्यादि सूत्रम् । केवलाश्रमिणामप्यनुष्ठेयानि यावज्जीवमित्यादि श्रुतेः । विरोधपरिहारस्तु विभिन्न कर्तृकत्वादित्याशयेन सूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते, "यज्ञाद्यङ्गिकाविद्येत्युक्तमित्यादि । विद्याया अङ्गं यज्ञादिकमिति पूर्वमुक्तम् तद्‌यज्ञादिकम्. गृह-

सारबोधिनी–"विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन" इत्यादि श्रुति से यज्ञाद्यङ्गवती विद्या है यह "सर्वापेक्षा इत्यादि सूत्र में निश्चत किया गया है । उसमें याज्ञदानादिक जो कर्म हैं वे विद्या रहित गृहस्थाश्रम का भी है अथवा विरक्ताश्रम अर्थात् विद्यावान् आश्रम मात्र का याज्ञोदिक कर्म है ऐसा संशय होता है । उसमें यदि केवल आश्रम का यज्ञदानादिक कर्म हो तब तो नित्यानित्य संयोग का विरोध होगा । इसलिए केवल आश्रम का यज्ञदानादिक कर्म नहीं है ऐसा पूर्वपक्ष होता है । तब सिद्धान्तवादी कहते हैं कि "विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापीति" सूत्रम् । "यावत् जीवन अग्निहोत्र कर्म का संपादन करे" इत्यादि शास्त्र से यज्ञादिक का विधान होने से विद्या रहित अर्थात् गृहस्थाश्रम का भी यज्ञदानादिक कर्म है । यदि एक ही कर्त्ता एक ही विनियोग से उभयाङ्गत्व हो तब नित्यानित्य संयोग विरोध होता पर प्रकृत में तो "ब्राह्मणाविविदिषन्ति यज्ञेन" इस श्रुति से मुमुक्षु का अधिकार होने से विनियोग में पार्थक्य है । अतः नित्यानित्य संयोग का विरोध नहो होता है । इसी विषय

त्वमग्निहोत्रं जुहोति" इति विहितत्वाद्विद्याविधुराश्रमस्यापि तत्कर्म । विरोधस्तु—"तमेतं वेदानुवचनेनेति विनियोगपृथक्त्वेन परिहृतो भवति तस्मात्सविद्याश्रमकर्मवत्केवलाश्रमकर्मापि तदिति तैरप्यनुष्ठेयम् ॥३२॥

सहकारित्वेन च ।३।४।३३।

मुमुक्षुभिरपि "तमेतं वेदानुवचनेनेति" विद्याङ्गत्वेन श्रुतत्वाद्विद्यासहकारित्वेन यज्ञादिकर्मानुष्ठेयमेव ॥३३॥

स्थाश्रमस्यापि भवति अथवा विरक्ताश्रमवत एवेति संशयः। तत्र केवलाश्रमकर्मत्वेनित्यानित्यसंयोग विरोधः स्यादतो न केवलाश्रमकर्मत्वमिति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु यावज्जीवश्रुतिविहितत्वात् विद्यारहितगृहस्थाश्रमस्यापि तदावश्यकमेव। पूर्वविरोधपरिहारस्तु कर्तृभेदेनाप्युपपद्यते एव । अतोविद्याश्रमकर्मवत् केवलाश्रमकर्माप्यनुष्ठेयमेवेति निष्कर्षः ॥३२॥

विवरणम्—"तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि श्रुतिभिर्यज्ञदानादि कर्मणां विद्याङ्गत्वेन विधानात् निष्कामतया क्रियमाणस्य यज्ञादेरन्तः कर णपवित्रादिद्वारा विद्यासहकारितया मुमुक्षुणापि तानि यज्ञादिकान्यवश्य मेवानुष्ठेयानीत्याधिकारिभेदज्ञापनेन विरोधस्यनिराकरणं कृतवान् सूत्र को वृत्तिकार कहते हैं "विरोधस्तु" इत्यादि । विरोध तो "तमेतं वेदानुवचनेन" "तमेतम्" इत्यादि वचन से विनयोग का पार्थक्य होने से विरोध का परिहार हो जाता है । अतः विद्या सहित आश्रम के समान केवल आश्रम का भी कर्म यज्ञदानादिक में समानता होने से यज्ञदानादिक अवश्य अनुष्ठेय है ॥३२॥

सारबोधिनी—तमेतं वेदानुवचसेनविदिषन्ति ब्राह्मणायज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इत्यादि शास्त्र से विद्या का अङ्ग रूप से यज्ञादानादिक का विधान होने से तथा निष्काम रूप से क्रियमाण यज्ञादिक कर्म अन्तःकरण पवित्रता

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ।३।४।३४।

उभयत्र विनियुक्ता अपि यज्ञादयस्त एवोभयत्र प्रत्यभिज्ञानाख्यलिङ्गादतो न कर्मभेदः ॥३४॥

कारः । "खादिरो यूपोभवति" "खादिरंवीर्यकामस्य" इत्येकस्य वस्तुनः यज्ञार्थत्वेननित्यत्वम् वीर्यार्थत्वेनानित्यत्वमिति यथा विरोधो न भवति तथा प्रकृतेऽप्येकस्यैव यज्ञादेरधिकारिभेदान्नविरोध इत्याशयेनाह "मुमुक्षुभिरपीत्यादि" ॥३३॥

विवरणम्-भवतु यज्ञादिकर्मणां विद्याद्यर्थत्वमाश्रमार्थत्वं वा सर्वथापि त एवयज्ञादयः प्रतीयन्ते इति न कर्मभेदो भवतीति तत्राह "उभयत्रविनियुक्ता अपीत्यादि" उभयत्रविद्यार्थत्वे केवलाश्रमार्थत्वेवा विनियुज्यमाना यज्ञदानादयः उभयत्र प्रत्यभिज्ञानलिङ्गात [त एव यज्ञादिकाः] प्रत्यभिज्ञानबलेन प्रतीयमानत्वान्न कर्मभेदो भवतीतिभावः ॥३४॥

के द्वारा विद्या का सहकारो होने से मुमुक्षु को भी यज्ञादिक कर्म अवश्य अनुष्ठेय है ॥३३॥

सारबोधिनी--यज्ञदानतप स्वाध्यायादिक विद्यार्थक हो अथवा आश्रमार्थ कहो दोनों ही पक्षों में "त एवेमे यज्ञादय" वही ये यज्ञदानादिक है इत्याकारक प्रत्यभिज्ञान के अभेद होने से "त एवामीकेशाः" इत्यादि प्रत्यभिज्ञान की तरह एकता का ज्ञान होने से यज्ञादिक कर्म में कोई भेद नहीं होता है। इस अभिप्राय से सूत्र का व्याख्यान करने के लिए उपक्रम करते हैं "उभयत्रविनियुक्ता अपीत्यादि" उभय में अर्थात् विद्यार्थत्व आश्रमार्थता में विनियुज्यमान भी यज्ञदानतप प्रभृतिक दोनों जगह "ते एव यज्ञादय" इस प्रत्यभिज्ञान के बल से प्रतीयमान होने से यज्ञादिक कर्म में अभेद सिद्ध होता है यानि कर्म में भेद नहीं होता है। क्योंकि कर्म भेद का प्रतिपादक जो शब्द बुद्धि से संख्या गुणादिक प्रमाण है वह प्रकृत में नहीं है अतः कर्मभेदक प्रमाण के अभाव होने से कर्मभिन्न नहीं होता है ॥३४॥

अनभिभवञ्च दर्शयति ।३।४।३५।

यज्ञादिकर्मानुष्ठानेन "धर्मेण पापमपनुदति" [तै० ना०] इति विद्याया अनभिभवमुत्पत्तिप्रतिबन्धाभावं च दर्शयति । प्रात्यहिकयज्ञाद्यनुष्ठानेन चित्तशुद्धावुत्कृष्टविद्योत्पद्यतेऽतः सर्वाश्रमिभिरनुष्ठेयम् ॥३५॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ विहितत्वाधिकरणम् ॥८॥

विवरण–विद्याया उत्पत्तौ ये प्रतिबन्धका अनिष्टकर्मादिकाः पदार्थाः सन्ति तेषामभिभवाभावं श्रुतिः प्रतिपादयति "धर्मेणपापमपनुदति" तस्मात्कर्मणामनुष्ठानेनान्तःकरणविशुद्धतायां समुत्कृष्टा विद्योत्पद्यते इत्याशयेनोपक्रमते "यज्ञादिकर्मानुष्ठानेनेत्यादि" विद्याया समुत्पत्तौ ये प्रतिबन्धकाः पापादिकाः सन्तितेषामभावम् "धर्मेणपापमपनुदति" इत्यादि श्रुतिर्दर्शयति, अर्थात् नित्यनैमित्तिककर्मणामनुष्ठानात् पाप कर्म विनष्यति. तदभावात्. अप्रतिहतचित्तशुद्धिद्वारा विद्या समुत्पद्यते । एवं च प्रात्यहिकयज्ञादिकर्मणामनुष्ठानेन चित्तस्य शुद्धौजातायाम प्रतिहताविद्यासमुत्पद्यते । अतः सर्वैरपि आश्रमिभिरवश्यमेव कर्मणां यागादि प्रभृतीनामनुष्ठानं विधेयमिति ॥३५॥

इति जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे विहितत्वाधिकरणम् ॥८॥

सारबोधिनी–नित्यनैमित्तिक जो यज्ञ दानादिक कर्म हैं उनका अनुष्ठान सब आश्रमिओं कों अवश्य करना चाहिए । इस आशय को लेकर के सूत्रावतरण करने के लिए उपक्रम करते है "यज्ञादिक कर्मानुष्ठानेनेत्यादि" "धर्म से पाप का अपनोदन निराकरण करता है" इत्यादि श्रुति कहती है कि यज्ञदानादिक का अनुष्ठान द्वारा विद्या का अनभिभव अर्थात् विद्या की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक जो पाप कर्म उस कर्म के अभाव का प्रतिपादन होता है । अर्थात् प्रात्यहिक जो नित्य नैमित्तिक यागदानादिक कर्म हैं उनका अनुष्ठान करने से पाप का अभाव होता है और पाप का नाश होने से अन्तःकरण

विधुराधिकरणम् ।।९।।

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ।३।४।३६।

प्रासङ्गिकं विचिन्त्यते । आश्रमविधुराणां विद्यायामधिकारोऽस्ति न वेति संशयः । आश्रमधर्मत्वाद्विद्याया अनाश्रमिणां नास्त्यधिकार इति

विवरणम्—सर्वापेक्षेत्यादि सूत्रेणाश्रमधर्माणां यागादीनां विद्यासहायकत्वमस्तीति पूर्वं कथितम् । ततः परं ये चाश्रमरहितास्तेषां ब्रह्मविद्यायामधिकारो भवति नवेति संशयः । यज्ञेन दानेनेत्यादिना साश्रमाणामेवविद्यासाधनत्वश्रवणादाश्रमरहितानां नास्त्यधिकारो विद्यायामिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु तेषामप्यधिकारः कुतो रैक्वादीनामपिविद्यया मोक्षश्रवणादित्याशनेनोपक्रमते "प्रासङ्गिकं विचिन्त्यते:" इत्यादि । प्रसङ्गप्राप्तमिदं विचार्यते । आश्रमरहितानां विधुरपुरुषाणां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति नवेति पूर्वपक्षाशयः । तत्र "यज्ञेनदानेनतपसा" इत्यादि शास्त्रेण, आश्रमकर्मणामेव यज्ञदानादिकर्मणां विद्यासाधनत्वस्य श्रवणात्तेषामेवाश्रमवतां विद्यायामदिकार इति भावः । एवं पूर्वपक्षिते उत्तरं प्रतिपादयति "अन्तराचापीत्यादि सूत्रम् । अत्र सूत्रघटकस्तु शब्दः

पवित्र होता है । तदनन्तरपवित्रान्तःकरण में मोक्षोपयोगी विलक्षण साक्षात्कारात्मक विद्या उत्पन्न होती है । तदनन्तर मोक्ष प्रादुर्भूत होता है । इसलिए अकामेनापि सब आश्रमवासियों का कर्त्तव्य है कि यागादि कर्म का अनुष्ठान अवश्यमेव करना चाहिए । अतः कर्मानुष्ठान आवश्यक है ।।३५ ।

सारबोधिनी—आश्रम सम्बन्धी जो यज्ञादिक कर्म हैं वे विद्या का सहायक हैं ऐसा "सर्वापेक्षा" इत्यादि सूत्र में पहले कहा गया है । अब यहाँ सन्देह होता है आश्रमरहित पुरुषों का विद्या में अधिकार है अथवा नहीं तो इस विषय पर विचार करने के लिए उपक्रम करते हैं "प्रासङ्गिकं विचिन्त्यते इत्याति । प्रसङ्ग प्राप्त वस्तुओं का विचार किया जाता है । तथाहि आश्रम

पूर्वः पक्षः। अत्राभिधीयते। तुना पक्षपरिवृत्तिः। चोऽवधारणे-दृश्यते हि रैक्वभीष्मादीनामनाश्रमित्वेऽपि विद्यानिष्ठत्वम् ॥३६॥

पूर्वपक्षं व्यावर्तयति तथा "च" शब्दोनिश्चयार्थकः आश्रमं विनावर्तमानस्यापि पुरुषस्य विद्यायामस्त्येवाधिकारः कुतः? तद्दृष्टेः। अर्थादाश्रममन्तरेण विद्यमानानामपि रैक्वभीष्मादीनां विद्यानिष्ठत्वदर्शनात्। अर्थात्तेषामपि विद्यया मोक्षोजात इति श्रुतौ श्रुतत्वा त्तेषामपि ब्रह्मविद्यायामस्ति प्रवेश इति निश्चीयते। कथमन्यथा तेषां विद्याया अभावे मोक्षः स्यात्। अतः आश्रमिणोऽनाश्रमिणो वा विद्यायामधिकृता एवेति सिद्धान्ताशयः ॥३६॥

धर्म जो यज्ञ दानादिक है वे विद्या का साधन है तो आश्रम रहित जो पुरुष हैं उनको विद्या में अधिकार है अथवा नहीं ऐसा सन्देह होता है। इसमें पूर्वपक्षवादी कहते है कि "यज्ञनदानेन" इत्यादि शास्त्र से आश्रम धर्म युक्त विद्या को ही मोक्षोपयोगी होने से आश्रम रहित को विद्या में अधिकार नहीं है। इसके उत्तर में सूत्रकार कहते है ,'अन्तराचापितु तद्दृष्टे' इस सूत्र में जो 'तु' शब्द है वह पूर्वपक्ष का निराकरणपरक है। और च शब्द निर्णयार्थक है। आश्रम के बिना वर्तमान जो व्यक्ति हैं उनको भी विद्या में अधिकार है क्यों? श्रुति में कहा गया है कि आश्रम रहित रैक्व भीष्म प्रभृतिक महापुरुष हुये हैं वे लोग भी विद्यानिष्ठ थे। अतः आश्रमवान अथवा आश्रमरहित सभी को ब्रह्मविद्या में अधिकार है। अन्यथा आश्रमरहित होने के कारण विद्या में अधिकार न होने से उनको विद्या नहीं होती, और विद्या के न होने से विद्या का कार्य मोक्ष भी नहीं होता। तो उन लोगों को जो मोक्ष प्राप्ति का कथन शास्त्र में है उसके असंगत होने से शास्त्र प्रामाण्य को व्याघात हो जायगा, इसलिए आश्रमी हो अथवा अनाश्रमी ब्रह्म विद्या में सभी को अधिकार है ॥३६॥

अपि च स्मर्यते ३।४।३७।

"जप्येनापि च संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः" [मनु.] इत्यनाश्रमिणामपि स्मर्यते विद्यासिद्धिः ॥३७॥

विशेषानुग्रहश्च ।३।४।३८।

अनाश्रमिणां धर्मविशेषैरपि विद्याया अनुग्रहः श्रूयते "तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यात्" [प्र०१।१०] इति ॥३८॥

विवरणम्- भवतु नाम कदाचिदाश्रमरहितानां यज्ञादिद्वारा विद्याया अभावः परन्तु "जप्येनापि च संसिद्ध्येद्" इति जपमात्रेणापि आश्रमरहितानां संसिद्धिं दर्शयति मनुः। अतएवाश्रमरहितोऽपि जपादिमात्रेण संसिद्धिं लभत एवेत्याह "जप्येनापीत्यादि। जाति ब्राह्मणो जपमात्रेणापि संसद्धिं लभते तदतिरिक्तं यागादिकं करोतु वा न करोतु इत्याशयः तस्मादाश्रमी तदाश्रमरहितानां वा विद्यायामधिकारोऽस्त्येव ॥३७॥

विवरणम्—आश्रमरहितानां प्रकारान्तरेणापि विद्याया अनुग्रहो भवतीतिशास्त्रे श्रूयते तदेवशास्त्रम् दर्शयितुमाह "अनाश्रमिणामित्यादि। येचाश्रमरहिता स्तेषां धर्मविशेषैरपि विद्यायाः साहाय्यं भवतीति शास्त्रे श्रूयते

सारबोधिनी—ब्राह्मण जपमात्र से भी सिद्धि को प्राप्त करता है इसमें सन्देह नहीं अतः तदतिरिक्त कर्म करे अथवा न करे जपनिष्ठ होने से विद्या जनित सिद्धि प्राप्ति में कोई आपत्ति नहीं अतः आश्रम रहितों को भी विद्या में अधिकार है ॥३७॥

सारबोधनी—किंच आश्रमी का धर्म जो जप उपवासादि साधन उससे रहितों को भी विद्या का अनुग्रह अर्थात् प्राप्ति होती है ऐसा श्रुति में उपलब्ध होता है चान्द्रायण कृच्छ्र चान्द्रायण अष्टविध मैथुन परित्यागात्मक ब्रह्मचर्य से आस्तिक्य बुद्धि रूप श्रद्धा तथा विद्या से आत्मा का अन्वेषण करें। इत्यादि श्रुति

अतस्त्वितरज्ज्यायोलिङ्गाच्च ।३।४।३९।

अतोऽनाश्रमित्वाद्धर्मसाधनाविधावाश्रमित्वं ज्यायः लिङ्गात्स्मृतेश्च "अनाश्रमी नतिष्ठेत्तु दिनमेकमपि द्विजः"[दक्ष.] इति। एतेनाश्रमिणां मृतभार्याणाञ्च विद्यानुष्ठानम्पुनर्दारसंग्रहश्चापद्धर्म इति गम्यते ॥३९।

इति श्रीरघुरीयवृत्तौ विधुराधिकारणम् ॥९॥

तथाहि- "तपोभिश्चान्द्रायणादिभिर्ब्रह्मचर्येणाष्टविधमैथुनसेवनपरिवर्जितेनश्रद्धया आस्तिक्यबुद्ध्याः परमात्मनोऽन्वेषणं कुर्यादित्यर्थः। अनया श्रुत्या ज्ञायते यत् आश्रमविरहितानामपि भवति विद्याजनितमोक्षः ॥३८।

विवरणम्— यदि विद्यायामाश्रमिणामनाश्रमिणाच्चोभयोरपि समानाधिकारस्तदातयोः को विशेषस्तत्राह"अतस्त्वितरज्ज्यायः" इत्यादि अतः योयमनाश्रमी तदपेक्षया धर्मसाधनानुष्ठाने इतरः आश्रमवान् ज्यायः श्रेष्ठः यत आश्रमिणामनेकप्रकारकज्ञानसाधनेष्वधिकारात्। अर्थादनेक विधं ज्ञानसाधनमुपादाय विद्यायाः साधनमादायविद्योपार्जन संभवादनाश्रमिणान्त्वेकमेवज्ञानसाधनमतोऽनाश्रम्यापेक्षया आश्रमवन्तोऽतोवश्रेष्ठाः तथा लिङ्गाच्च "अनाश्रमीनतिष्ठेत्तुदिनमेकमपिद्विजः ब्राह्मणादिर्द्विजातिरेकमपि दिनमाश्रमरहितो भूत्वा नतिष्ठेत् तथा "संवत्सरपर्यन्तंमनाश्रमीभूत्वाकृच्छ्रमेकंचान्द्रायणं प्रायश्चित्तं कुर्यादि" से आश्रमरहित व्यक्ति को विद्या का अनुग्रह सुनने में आया। तस्मात् आश्रमी अनाश्रमी सभी को विद्या में अधिकार है ॥३८॥

सारबोधनी- यदि आश्रमी तथा निराश्रमी को समान रूप से विद्या में अधिकार है तब इन दोनों में क्या विशेषता रही इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं कि "अतस्तु" इत्यादि अनाश्रमी के अपेक्षा से धर्म साधन विधि में आश्रमी श्रेष्ठ है। क्योंकि आश्रमी को अनेक प्रकारक विद्या साधन में अधि-

तद्भूताधिकरणम् ॥१०॥

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपा भावेभ्यः ।३।४।४०।

स्वाश्रमधर्मभ्रष्टानां नैष्ठिकवनस्थयतीनां विधुरादिवद्विद्याधिकारोऽस्तिनवेति संशयः । जपादिभिस्तेषां शुद्धिसम्भवादस्त्येवाधिकार

त्यादिस्मार्तलिङ्गाच्च ज्ञायते यदनाश्रमिपुरुषादाश्रमिपुरुषो ज्यायानित्येवं तयोर्वैशिष्ट्यमिति संक्षिप्तोभावः ॥३९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ श्रीरघुवरीयवृत्ति विवरणे विधुराधिकरणम् ॥९॥

विवरणम्— आश्रमरहितस्यगृहस्थविधुरस्यविद्यायामधिकारोऽस्ति न वेति संशय्य गृहस्थविधुरस्य जपादिना शुद्धिसंभवेन ब्रह्मविद्याया मधिकारः प्रदर्शितः । सम्प्रति स्वाश्रमपरिभ्रष्टानां नैष्ठिकवनस्थसंन्यासिनां विद्यायामधिकारोऽस्ति नवेति संशयः । जपादिनामेतेषामपिशुद्धिसंभवेन विद्यायामधिकारोऽस्त्येव गृहविधुरवदिति पूर्वपक्षः । आश्रमभ्रष्टानामेतेषामनाश्रमित्वान्नास्त्यधिकार इति कार है इतर को नहीं । तथा स्मार्तलिङ्ग "अनाश्रमी नतिष्ठेत्तु" इत्यादि स्मृति से भी अनाश्रमी के अपेक्षा से आश्रमित्व में विशेषता है । मृतभार्य गृहस्थ को पुनः दार संग्रह आपत् धर्म है ॥३९॥

सारबोधनी—आश्रम रहीत जो गृहस्त विधुर उसको जपादि द्वारा ब्रह्म विद्या में अधिकार है ऐसा पूर्व में कहा गया है । इसके बाद आश्रम परिभ्रष्ट जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी वानप्रस्थ तथा सन्यासियों को ब्रह्म विद्या में अधिकार है अथवा नहीं । इस बात का विचार करने के लिए तथा सूत्र का व्याख्यान करने के लिए उपक्रम करते हैं "स्वाश्रमधर्म भ्रष्टानामित्यादि" स्वकीय स्वकीय धर्म से परिभ्रष्ट जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी वानप्रस्थ सन्यासी हैं उनको गृहस्थाश्रम परि-

इति पूर्वः पक्षः। अत्राभिधीयते—तुः पक्षनिवर्तकः। स्वाश्रमाच्युतानां नैष्ठिकादीनामनाश्रमितया स्थितिर्न सम्भवति। यतो नैष्ठिकधर्माभावेभ्यः शास्त्रैर्नियमात् "अत्यन्तमात्मनमाचार्यकुलेऽवसादयन्"[छा०।२

सिद्धान्तं प्रतिपादयितु सूत्रं व्याख्यातुश्चोपक्रमते "स्वाश्रमभ्रष्टानामित्यादि"। स्वकीयाश्रमपरिभ्रष्टानां नैष्ठिकब्रह्मचारिवानप्रस्थसन्यासिनां विद्यायां गृहस्थविधुरवदधिकारो ब्रह्मविद्यायां संभवति अथवा एतेषामधिकारो नेति संशयः। यथा गृहस्थविधुरयोर्जपादिना शुद्धिसंभवेन भवत्येवैतेषां परिभ्रष्टादीनामिति पूर्वपक्षाशयः। अत्र प्रतिविधीयते-तद्भूतस्ये-त्यादिसूत्रम्। सूत्रघटकस्तुशब्दः अधिकारेऽस्तीति पूर्वपक्षनिवृत्तिपरकः। तद्भूतस्य-नैष्ठिकादि उत्तमाश्रमस्थस्य नैष्ठिकादेः अतद्भावोऽभावः अर्थात्-आश्रमराहित्येनावस्थानं कथमपि न संभवति। कुतः ? तद्रूपाभावेभ्यो नियमात् परिभ्रष्टानां नैष्ठिकानां नैष्ठिकादिधर्माभावाः शास्त्रैः प्रतिपादिता इति जैमिनेर्मतापि बादरायणस्य संयतत्वात् "अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्" "अरण्यमियान्न ततः पुनरेयात्" "संन्यस्याग्निं न पुनरा-

भ्रष्ट विधुर के समान ब्रह्म विद्या में अधिकार है अथवा नहीं एतादृश सन्देह होता है। जैसे आश्रम रहित विधुरादिक को जपादि कर्मान्तर से विशुद्ध होने से ब्रह्म विद्या में अधिकार है। उसी तरह जपादि द्वारा विशुद्धि होने से नैष्ठिक भ्रष्टों को भी विशुद्ध होने से ब्रह्म विद्या में अधिकार है ऐसा पूर्वपक्ष होता है। इसमें सिद्धान्तवादि कहते है कि "तद्भूतस्येत्यादि" सूत्रम्। सूत्रघटक जो 'तु' शब्द है वह परिभ्रष्ट नैष्ठिकादिक को भी अधिकार है इस पक्ष का निराकरण परक है। स्वकीय स्वकीय आश्रम परिभ्रष्ट नैष्ठिक ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यासियों को आश्रम परिभ्रष्ट होकर के स्थित रहना असंभवित है। क्योंकि नैष्ठिक धर्माभाव शास्त्रों में है। तथाहि "यावज्जीवन आचार्यकुल में निवास करता हुआ" गृहस्थाश्रम के बाद अरण्य में जाय। पुनः उससे लौटकर

२।३।१] "अरण्यमियात्ततोन पुनरेयात्, "संन्यस्याग्निं न पुनरावर्तयेत्" (य.का.) इति नैष्ठिकवनस्थविरक्तानां नियमात्। तस्मादाश्रमाच्च्युतानां नैष्ठिकादीनां न विद्यायामधिकारः ॥४०॥

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ।३।४।४१।

नैष्ठिकाद्यधिकारोक्तप्रायश्चित्तमप्येषु न सम्भवति। यतस्तेषां स्वाश्रमधर्मात्पतनं स्मर्यते। "आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः।

वर्तयेत् 'इत्यादिना शास्त्रेण तेषां नियमनात्। प्रायश्चित्तादिना विशोध्य नैष्ठिकस्य पुनराश्रमविधानं तु न नैष्ठिकब्रह्मचारीविषयकमपितूपकुर्वाणविषयकमेव। तत आश्रमपरिभ्रष्ठानां नैष्ठिकादीनामाश्रमाभावाद् ब्रह्मविद्यायां नास्त्येवाधिकार इति संक्षेपः ॥४०॥

विवरणम्—ननु यदा गृहस्थः पतितः प्रायश्चित्तेन विशुद्ध्यति तथैव पतितो नैष्ठिकादिराधिकारिकप्रायश्चित्तादिना विशुद्धो ब्रह्मविद्यायामधिकृतो भवेदित्याशङ्कां निराकर्तुं सूत्रव्याख्यानतउपक्रतते "नैष्ठिकाद्यधिकारोक्त" इत्यादि। नैष्ठिकाद्यधिकारोक्तमपि प्रायश्चित्तं तेषां न संभवति

आवे नहीं" अग्नि का न्यास अर्थात् परित्याग करके पुनः आश्रमान्तर में न आवे" इस प्रकार नैष्ठिकवनस्थ तथा संन्यासियों का नियम देखने में आता है इस लिए स्वकीय आश्रम परिभ्रष्टों को अनाश्रमी होने से ब्रह्म विद्या में अधिकार नहीं ॥४०॥

सारबोधिनी—नैष्ठिकवानप्रस्थ संन्यासियों के लिये जो प्रायश्चित का विधान है। 'वह स्वाश्रमी ब्रह्मचारी के लिए नहीं है। किन्तु उपकुर्वाण विषयक है। इस बात को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "नैष्ठिकाद्यधिकारोक्त" इत्यादि। नैष्ठिकादि ब्रह्मचारो के अधिकारोक्त जो प्रायश्चित्त का कथन है वह इन सबके विषय में संभवित नही हो सकता है। क्योंकि स्वाश्रम धर्म से परि भ्रष्ट का तो पतन ही सुना गया है संहिता स्मृत्यादिक में "सन्यासिनो

प्रायश्चित्तं न पश्यामि" [आग्नेयः १६।५।२३।] तदत्राचार्याः "नस्त्रियं परिगृह्णीयाद् विरक्तो वैष्णवः क्वचित्। मन्वादित्स्मृतिशास्त्रेषु तन्निषेधस्य शासनात् ।। विवाहे तु कृते सस्यादारूढपतितो ध्रुवम् । आरूढपतितस्यार्थे प्रायश्चित्तं नविद्यते ।। प्रच्युतो नैष्ठिकाद्धर्मादात्महापि प्रकीर्तितः । मठाध्यक्षत्वदीक्षादौ बहिष्कार्यो स यत्नतः ।। व्यासेन ब्रह्मविद्यातो बहि-

---

येन स कदाचित् शुद्धिमियात् । यदपि तेषां प्रायश्चित्तविधानं तन्न नैष्ठिकादिपरकं किन्तूपकुर्वाणब्रह्मचारिविषयकमेव । तदुक्तं स्मृतौ "आरूढो नैष्ठिकं धर्मम्" नैष्ठिकधर्ममारूढोद्विजातिर्यदि कारणवशात् ततः परिच्युतोभवेत्तदातस्य प्रायश्चित्तं नास्ति येन कृतप्रायश्चित्तः स आत्मधाती विशुद्धोभवेदित्याग्नेयवचनात् "विवाहेतु कृते स स्यादारूढपतितो ध्रुवम्,आरूढपतितस्यार्थे प्रायश्चित्तं नविद्यते" इत्याद्याचार्योक्तेश्च यत्तुतेषां प्रायश्चित्तविधानं तत्तु=उपकुर्वाणब्रह्मचारिणमभिप्रेत्योक्तं नतु नैष्ठिकब्रह्मचारिणम् । द्विविधोहि ब्रह्मचारी उपकुर्वाणो नैष्ठिकश्च । तत्र प्रायश्चित्ता-गृहस्थत्वे त्वारूढपतनं भवेत् । आरूढपतितस्यात्र प्रायश्चित्तं नविद्यते" इह भ्रष्टाधिकारोहि गर्हितो मान वर्जितः । मृतोहि नरकं गच्छत्यारूढपतितो यतिः ।। ब्रह्मचर्यव्रतं रक्ष्यं गृहस्थान्याश्रमन्त्रये, तदभावेहि तत्स्थानामारूढपतनं भवेत् । भ्रष्टाश्चाश्रमधर्मेभ्य आरूढपतिताश्चये । स्वाधिकाराद्बहिष्कार्या नृपैश्चधार्मिकैश्चते" (वशिष्ठसहिता) जो द्विजातिक नैष्ठिक धर्म का स्वीकार करके यदि कारणवस से प्रच्यवित हो जाय तो उसका कोई प्रायश्चित नहीं है। जिसमें कि वह आत्महा विशुद्ध होवे" इत्यादि प्रकार से प्रायश्चित्त के अभाव का प्रतिपादन किया है। अधिकारिक प्रायश्चित्त का जो विधान है वह उपकुर्वाण ब्रह्मचारी विषयक है। नतु नैष्ठिक ब्रह्मचारी विषयक है। ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं उपकुर्वाण तथा नैष्ठिक। जो यथा नियम यथा समय गुरुकुल में वेदाध्ययन करके आश्रमान्तर का स्वीकार करे वह प्रथम है।

कारोऽस्य सूचितः । शिष्टा यज्ञादिकार्येषु वर्जयन्ति तथा विधम् ॥ विरक्तै र्वैष्णवैस्तमादारूढपतितो नहि । व्यवहारेषु योक्तव्यस्तत्संसर्गोऽपि पापकृत्॥" (श्रीवैष्णवमताब्जभास्करः ५।५–६–७–८–९।) इत्यतः पतितस्य प्रायश्चित्तायोगात् । आधिकारिकं प्रायश्चित्तन्त्वौपकुर्वाणिकं बोध्यम् ॥४१॥

उपपूर्वमपीत्येके भावमशनवत्तदुक्तम् ।३।४।४२।

नैष्ठिकादीनां ब्रह्मचर्यात्प्रच्युतावुपपातकमस्ति तत्र प्रायश्चित्ताभावमे-

---

दिना प्रथम एव संशुद्धो भवति द्वितीयस्तु कारणवशात्कदाचित्पतितो-भवेत्तदासर्वदा पतित एव भवति नतु कदाचिदपि विशुद्धो भवति येन कदाचिद् विशुद्धः सन् ब्रह्मविद्यायामधिकृतो भवेत् "परदारा नगन्तव्याः परधर्मो भयावहः। कदाचिदपिनो कुर्याद्विरक्तो हि गृहस्थताम् । यत स्तस्याश्चशास्त्रेषु प्रायश्चित्तं नविद्यते ॥" (श्रीवैष्णवधर्मपीयूषम् २३।२४) इत्याचार्योक्तेः स्वाश्रमपरिभ्रष्टानामेतेषामनाममित्वान्न कथमपि तत्र ब्रह्मविद्यायामधिकारो भवति । आधुनिकपतितसंन्यासिवदितिबोध्यम् । विशेषस्त्वन्यत्रानुसंधेयः ॥४१॥

विवरणम्—प्रकृतविषये मतान्तरं दर्शयति "उपपूर्वमपीत्यादि" एके आचार्याः नैष्ठिकादीनां ब्रह्मचर्यात् प्रच्युतौ न महापातकत्वमपितूपपातकत्व तथा यावज्जीवन आचार्य कुल में निवास करके शरीर को छोड़ता है वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाता है। उसमें किसी कारण से परिभ्रष्ट हो जाय तो प्रायश्चित्त करके विशुद्ध होता है वह प्रथम है। और द्वितीय यदि किसी कारण से विभ्रष्ट हो जाता है तो वह पतित हो रह जाता है उसका कोई भी प्रायश्चित्त नहीं है । ऐसा बादरायण तथा जैमिनी आदि सवपूर्वाचार्यो का मत है परिभ्रष्ट नैष्ठिकादि का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है ॥४१॥

के धर्मविदो मन्यन्ते । यथा मध्वशनेनैष्ठिकोपकुर्वाणयोरुभयोरपि प्राय श्चित्तेन शुद्धिस्तद्वच्छुद्धौ स्यादेव विद्याधिकारः । तदुक्तम्—"उत्तरेषां चैतदविरोधि" [गौ० १।३।४।] इति ॥४२॥

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ।३।४।४३।

तुना मतव्यावृत्तिः । नैष्ठिकादेरुपपातकित्वे महापातकित्वे वोभय-थापि ब्रह्मोपासनलक्षणविद्यातो बहिर्भाव एव । "प्रायश्चित्तं न पश्यामि

मेवमन्यन्ते तत्र प्रायश्चित्तकरणेन विशुद्धौ जातायां विद्याधिकारोभ वत्येव । यथामधुभक्षणेद्वयोरपिब्रह्मचारिणोः प्रायश्चित्ताद्विशुद्धिर्जायते तद्वत् प्रकृतेऽपिभवतीति वृत्तेर्भावः ॥४२॥

विवरणम्—स्वाश्रमपरिभ्रष्टनैष्ठिकानामुपपातकं महापादकं वा भवतु कृतप्रायश्चित्ता वा भवन्तु तथापि तेषां ब्रह्मविद्यायां नास्त्यधिकारः "प्रायश्चित्तं न पश्चामी" त्यादिस्मृतेः । तथा शिष्टानामाचारोऽपि यत्

सारबोधिनी—नैष्ठिक ब्रह्मचारी स्वाश्रम से परिभ्रष्ठ होने पर पतित हो जाता है इसलिए ब्रह्मविद्या में इन लोगों का अधिकार नहीं है ऐसा जो पूर्वसूत्र में कहा गया है इस विषय में मतान्तर बतलाते है "उपपूर्वमपीत्यादि" नैष्ठिक ब्रह्मचारी यदि ब्रह्मचर्य से पतित हो तो उसको महापातक नहीं है किन्तु उप-पातक है । अतः इस विषय में एकधर्मवित् कहते हैं कि इसका प्रायश्चित्त होता है । जैसे मधुभक्षण में नैष्ठिक उपकुर्वाण इन दोनों को प्रायश्चित्त कहा गया है । तथा उस प्रायश्चित को करने से उन दोनों को शुद्धिता होती है । शुद्ध होने पर ब्रह्मविद्या में पतित नैष्ठिकों का अधिकार हो जाता है । इसविषयको "उत्तरेषांतदविरोधि" इस सूत्र में गौतमने स्पष्ट किया है अतः उपपातकत्वेन प्रायश्चित्तहोजानेसे पतितों का ब्रह्मविद्या में अधिकार है ऐसा एक देशीमत है ॥४२॥

सारबोधिनी—स्वाश्रम से परिभ्रष्ट जो नैष्ठिक ब्रह्मचारीप्रभृतिक हैं उनका

येन शुध्येत्स आत्महा" [आग्येने० १६।५।२३]' वसन्नावसथेभिक्षुर्मैथुनं यदि सेवते । तस्यावसथनाशः स्यात्कुलान्यपि हि कृन्तति" [दक्ष० ७।४१।] "सन्यासिनो गृहस्थत्वे त्वारूढपतनं भवेत् । आरूढपतनस्यात्र प्रायश्चित्तं नविद्यते ॥३९॥ ब्रह्मचर्यव्रतं रक्ष्यं गृहस्थान्याश्रमत्रये । तद-भावे हि तत्स्थानादारूढपतनं भवेत् ।४१।। (वशिष्ठसंहिता) "विवाहेतु कृते सस्यादारूढपतितो ध्रुवम् । आरूढपतितस्यार्थे प्रायश्चित्तं नवि-

---

तान् "व्यासेन ब्रह्मविद्यातो बहिष्कारोऽस्य सूचितः । शिष्टा यज्ञादि-कार्येषु वर्जयन्ति तथाविधम् ॥ (श्रीवैष्णवमताब्जभास्करः ५।८) इत्यादिरूपेण यज्ञादिकर्मणि न प्रवेशयन्तीत्याशयेनोपक्रमते "तुनामत व्यावृत्तिरित्यादि बहिस्तूभयथापीत्यादि सूत्रघटकस्तु शब्दः पूर्वपक्षं व्याव-र्तयति । नैष्ठिकादि ब्रह्मचारिणामुपपातकं वा भवतु उभयथापि तेषां ब्रह्म-उपपातकहो अथवा महापातक दोनो प्रकारसे तथा कृत प्रायश्चित्त हो अथवा अकृत प्रायश्चित्तक उभयथा. वे ब्रह्मविद्याधिकार से वहिर्भूत हो है । क्योंकि "प्रायश्चित्तं न पश्यामि" इत्यादि शास्त्रो में उनका सर्वथा निषेध किया गया है । तथा शिष्टों का आचार भी देखने में आता है कि तादश व्यक्ति को शिष्ट महापुरुष यज्ञादिक कर्म में प्रविष्ट नही करते हैं" इस अभिप्राय से सूत्र व्याख्यान करने के लिए उपक्रम करते हैं "तुना पक्ष व्यावृत्तिरित्यादि" इस सूत्र में जो तुशब्द है वह पूर्वपक्ष का निराकरण परक है । आश्रम परिभ्रष्ट नैष्ठिक प्रभृतिक उपपातकी हो अथवा महापातकी हो उभयथा उपासना लक्षण ब्रह्म विद्या में उनका बहिर्भाव ही है । क्योंकि तादश प्रायश्चित्त का शास्त्र में श्रवण नहीं है जिससे कि वह आत्मघाती विशुद्ध हो तथा स्वकीय आश्रम में निवास करता हुआ भिक्षुक यदि मैथुन सेवन करता है तब उसका आश्रमित्व विनष्ट हो जाता है । तथा वह कपने कुल आश्रम के मूल को काट देता है" इत्यादि स्मृति प्रमाणों से शिष्ट लोक परिभ्रष्ट नैष्ठिक को यदि

घते ॥ (श्रीवैष्णावमताब्जभास्करः ५।६) इत्यादिस्मृतेः कृतप्रायश्चित्तानपि तान् शिष्टा यागादिकर्मसु वर्जयन्ति । भिक्षुश्च विरक्ताश्रम्येव । अतो नास्त्येव तेषां ब्रह्मविद्यायामधिकारः ॥४३॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ तद्भुताधिकरणम् ॥१०॥

स्वाम्यधिकरणम् ॥११॥

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ।३।४।४४।

उद्गीथाद्युपासनानि यजमानकर्तृकाण्युतर्त्विक्कर्तृकाणीति संशयः । तत्र पूर्वः पक्षः । स्वामिनो यजमानस्यैव फलश्रुतेस्तत्कर्तृकाणीतिआत्रेयो मन्यते ॥४४॥

विद्यातोबहिर्भाव एव "प्रायश्चित्तमित्यादि स्मृतिषु तथा दर्शनात् । एवं कृत प्रायश्चित्तानामप्येषां यागादि कर्मणि न प्रवेशयन्ति शिष्टाः किन्तु तेषां सर्वत्र बहिर्भाव एव भवतीति सूत्रवृत्त्योः संक्षिप्ताभिप्रायः ॥४३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ श्रीरघुवरीय वृत्ति विवरणे तद्भुताधिकरणम् ॥१०॥

विवरणम्=उद्गीथाद्यङ्गोपासनानि यजमानानुष्ठेयानि अथवा ब्राह्मणेन निर्वर्त्यानि इति संशयः । तत्र "शास्त्रदेशितं फलमनुष्ठातरि" इति शास्त्रात् यः कर्त्ता सफलभोक्तेतिन्यायाद् यजमानेनैवानुष्ठेयानीति प्रायश्चित्त किया भी हो तथापि यागादि कर्म में प्रविष्ट नहीं करते हैं । यहाँ भिक्षुक शब्द का अर्थ विरक्ताश्रमी है । इसलिए स्वाश्रम परिभ्रष्ट नैष्ठिक प्रभृतिक को ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है । प्रायश्चित्त से विशुद्ध ब्रह्मचारी का प्रवेश विद्या में है । यह जो कथन है वह उपकुर्वाण ब्रह्मचारी के लिए है । अतः स्वाश्रम भ्रष्ट का उपासना लक्षण ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है यह सिद्धहुआ ॥४३॥

सारबोधिनी—जो यह अङ्गाश्रितोद्गीथादिक उपासना है वह यजमान कर्तृक है या ऋत्विजादिकर्तृक है । अर्थात् यह सब उपासना यजमान स्वयं करें अथवा ब्राह्मणों से ऐसा संशय होता है । इसमें आचार्य

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रियते ।३।४।४५।

समाधत्ते ऋत्विक्कर्मोद्गीथाद्युपासनम् । यतो यजमानेनर्त्विक् परिक्रियते । स्वफलप्राप्तिसाधनभूतसाङ्गक्रतुसम्पादनाय परिक्रीतर्त्विगनुष्ठितस्यापि क्रतोः फलं यजमानगाम्येवेतिन फलश्रुतेरपि विरोधः ॥४५॥

पूर्वपक्षं दर्शयितुमुपक्रमते "उद्गीथाद्युपासनानीत्यादि । यानीमान्यङ्गाश्रितोद्गीथोपासनादिकानि तानि यजमानेन संपादनीयानि अथवा ऋत्विग्भिर्विधेयानीति संशयः । भवति तत्र पूर्वपक्षः उपासनस्वामिनो यजमानस्यैवोपासनजनितफलभोक्तृत्वश्रवणेन यः करोति स एव फलभोक्तेति लौकिकन्यायात् । शास्त्रदेशितं फलमनुष्ठातरीतिशास्त्रे नियमात् यजमानकर्तृकाण्येवतान्युपासनानीत्यात्रेय आचार्याभिमतमिति पूर्वपक्षः ॥४४॥

विवरणम्—पूर्वसूत्रकृतपूर्वपक्षस्य समाधानंदातुमुपक्रमते "समाधत्ते इत्यादि । यद्यपि उद्गीथाद्युपासनमृत्विजासंपादितं भवति तथापितत्कर्म यजमानसंपादितमेव कुतः ! दक्षिणायास्तावत्कालं ब्राह्मणः परिक्रीतो भवति' परिक्रीतेन तेन ब्राह्मणेन यद्यत्कृतं भवतितत्सर्वं यजमानकृतमेवेति । अतो ब्राह्मणादि कृतमपि कर्म यजमानेनैव कृतमिति यजआत्रेय कहते हैं जो कार्य करता है वही फल का भोक्ता होता है ऐसा लौकिक न्याय है तथा जो शास्त्र प्रदर्शित कर्म है उसका फल अनुष्ठाता को ही मिलता है । इत्यादि प्रमाण से सिद्ध होता है कि यजमान कर्तृक ही है ॥४४॥

सरबोधिनी—पूर्वसुत्र कृत जो पूर्वपक्ष है उसका समाधान करने के लिए तथा उत्तर सूत्र का अभिप्राय को अभिव्यक्त करने के लिए उपक्रम करते हैं "समाधत्ते" इत्यादि । यद्यपि उद्गीथादिक अङ्गाश्रितोपासन ऋत्विक् का कर्म है । अर्थात् यजमानेतर ऋत्विक् से संपाद्यमान होता है तथापि वह यजमान कर्म है अर्थात् यजमान कर्तृक ही है ऐसा मानना चाहिए । क्योंकि यावत् काल पर्यन्त कर्म किया जाता है तावत् काल के लिए यजमान से ऋत्विक्

सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ॥१२॥

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ।३।४।४६।

"तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विंद्य बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यंच

मान एव फलं प्राप्नोति । अतो न कर्तृत्वफलभोक्तृत्वयो वैधिकरण्यशङ्का भवतीति औडुलोमिराचार्यो मन्यते । तस्मान्न कोऽपि पूर्वापरयोर्विरोधो जायते प्रकृतमतमेव सूत्रकृन्मतमितिज्ञेयम् ॥४५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य कृत्तौ रामप्रपन्नाचार्य श्रीरघुवरीय वृत्ति विवरणे स्वाम्यधिकरणम् ॥११॥

विवरणम्—बृहदारण्यकश्रुतौ "तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विंद्य" इत्यादिकं श्रूयते । तत्र मौनस्य विधानमनुवादोवेति संशयः । तत्र मौन दक्षिणा द्वारा परिक्रीत हो जाता है । अतः कर्मफल प्राप्ति के लिए साधनीभूत अङ्ग सहित कर्मका संपादन के लिए खरीदा गया जो ऋगादिक ब्राह्मण समुदाय उनसे संपादित जो याग तादृश याग का जो फल है वह फल यजमानगत ही होता है । इसलिए फलश्रुति में कोई भी विरोध नहीं होता है । अर्थात् यद्यपि कर्म को यजमानेतर ब्राह्मण संपादित होने से कर्तृत्व फलभोक्तृत्व का वैयधिकरण्य प्रतिभासित होता है । तथापि यजमान से दक्षिणा द्वारा परिक्रीत ऋत्विक् कृत कर्म का फलभोक्ता यजमान के होने से वैयधिकरण्य नहीं होता है अपितु सामानाधिकरण्य ही होता है । इसलिए कोई भी पूर्वापर विरोध नहीं है । ऐसा औडुलोमी आचार्य का मत है और यही मत सिद्धान्त सिद्ध भी है । अन्यथा मात्र यजमान से संपादन असंभव होने से अश्वमेधादिक याग प्रतिपादक शास्त्र का प्रामाण्यभञ्जित हो जायगा तथा उन सबका उपदेश भी व्यर्थ हो जायगा ॥४५॥

सारबोधिनी—बृहदारण्यक श्रुति में "तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विंद्य" "ब्राह्मण पाण्डित्य को प्राप्त करके बाल्य रूप से रहे तथा बाल्य पाण्डित्य को

पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः" [बृ० ३।५।१।] अत्र विद्यासहकारितया मौनमनूद्यत उत विधीयत इति संशयः। "अथ मुनिरित्यत्र विधिशब्दाभावान्मौनस्य ज्ञानविशेषाज्ज्ञानस्य च पूर्वं विधानादत्र मौनमनुद्यत इति पूर्वः पक्षः। अत्राभिधीयते-तद्वतो विद्यावतः पाण्डित्य बाल्यवत्तृतीयमिदमपूर्वं विद्यासहकार्यन्तरं मौनं विधीयते। पक्षेण मुनिशब्दस्य मानसजपादिवदन्तःकरणधर्मत्वेन प्रकृष्टमननात्मके निदिध्यासने प्रसिद्धत्वादाश्रमविध्यादिवदेवात्र निदिध्यासनात्मकस्य मौनस्य विधिः ॥४६॥

विधायकप्रत्ययाभावात् मौनस्य न विधानं किन्तु पूर्वप्रदर्शितज्ञानस्यानुवादमात्रमेवेति पूर्वपक्षः। उत्तरस्तु निदिध्यासनात्मकस्य मौनस्य पूर्वापेक्षया विलक्षणतया प्रकारान्तरेणाप्राप्तस्य विधिरेवेति दर्शयितुमुपक्रमते "तस्माद् ब्राह्मणः" इत्यादि। तत्र विद्यायाः सहकारितया मौनस्यानुवादो विधानं वेति संशयः। मुनिरित्यत्रविधायकप्रत्ययाभावादनुवाद एव न तस्य विधिरिति पूर्वपक्षः। बाल्यपाण्डित्यवत् तृतीयस्य मौनस्यविधिरेव। निदिध्यासनलक्षणस्याप्राप्तत्वाद्विध्युत्तरमितिदिक् ॥४६॥

प्राप्त करके मुनि होवे" इस तरह से सुनने में आता है। इसमें पण्डित्यवत् मौन का विधान है अथवा मौन का अनुवाद है। ऐसा संशय होता है। इस प्रकार संदिग्धवस्तु का निश्चय करने के लिए उपक्रण करते हैं "तस्माद् ब्राह्मणः" इत्यादि यहां विद्या के सहकारी रूप से मौन का अनुवाद होता है। अथवा मौन का विधान है। ऐसा संशय होता है। इसमें पूर्व पक्षवादी करते हैं कि "मुनिः" यहाँ विधायक कोई प्रत्यय नहीं है। और मौन को ज्ञान विशेष रूप होने से तथा सामान्य रूप से ज्ञान का पूर्व विधान हो गया है तब प्रकृत में मौन का अनुवादमात्र है। इस प्रश्न का उत्तर सूत्र से करते हैं। विद्यावान् उपासक को बाल्य पाण्डित्य की तरह तृतीय यह प्रमाणान्तर से अप्राप्त विद्या का सह कारीपाण्डित्यादिक से भिन्न विद्या सहकारी मुनित्व का विधान ही किया जाता

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ।३।४।४७।

अविशेषेण कृत्स्नेष्वाश्रमिषु विद्यायाः सद्भावाद् गृहस्थेनोपसंहारः "अभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे" इत्यारभ्य "स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" [छा० ८।१५।१] इत्येतत्सर्वाश्रमिपरः । विद्यानिष्ठगृहिणोऽपि ब्रह्मावाप्तिः किमुत विरक्ताश्रमिभ्य इति ॥४७॥

विवरणम्=ननु यदीयं ब्रह्मप्राप्तौ सादनीभूताब्रह्मविद्या सर्वाश्रमि साधारणा मौनादि सहकृता समुत्पद्यते तदा "सखल्वेवं वर्तयन्" इत्यादिना गृहस्थाश्रमेणत्रोपसंहारः कथं कृत इत्याशङ्कांनिवर्तयितुमाह "कृत्स्नभावात्तु" इत्यादि सूत्रम् । अत्र तु शब्दः पूर्वपक्षनिराकरणपरकः । यदा खलु सर्वाश्रमिषु साधारणो विद्यायाः सद्भावः तदा गृहस्थाश्रमित्वेनोपसंहारोयो विद्यते स उपलक्षकः सन् सर्वाश्रमित्वेनोपसंहरति । यदाखलु गृहस्थानामपि विद्या प्राप्तिस्तदा का कथा विरक्ताश्रमनिष्ठानामितिकै-

है । एक पक्ष में मुनिशब्द मानसजपादि के समान अन्तः करण का धर्म है । अतः प्रकृष्ट मनन लक्षण निदिध्यासन में प्रसिद्ध आश्रम विधि के समान यहाँ निदिध्यासन लक्षण मौन का विधान ही है किन्तु अनुवाद नहीं । क्योंकि प्राप्त प्रापक को अनुवादक कहते हैं । प्रकृत में यह मनन पूर्व प्राप्त नहीं है किन्तु अपूर्व है । विशेष विवरण भाष्य में देखें ॥४६॥

सारबोधिनी–यदि गृहस्थादिक सभी आश्रमों में मौन सह कृत ब्रह्म प्राप्ति लक्षण मोक्ष में साधनीभूता ब्रह्म विद्या का उपदेश है तब "स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषम्" इत्यादि प्रकरण से गृहस्थाश्रम निष्ठत्वेन उपसंहार किस तरह से किया गया है" इस शङ्का का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं "अविशेषेण" इत्यादि । जब समान रूप से सभी आश्रमियो में ब्रह्म विद्या का सद्भाव है जो ब्रह्मविद्या मोक्ष का कारण है । तब गृहस्थाश्रम को लेकर के

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ।३।४।४८।

"तस्माद् ब्राह्मणा" इति वाक्ये "अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" [बृ० ३।५।१।] इति विरक्तधर्मेणोपसंहारोऽखिलाश्रमधर्मसंग्रहार्थः । मौनवदितरेषां यज्ञाद्याश्रमधर्माणामुपदेशात् ।।४८।।

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ।।१२।।

मुतिकन्यायात् विरक्ताश्रमिणामपि ब्रह्मावाप्तिर्भवत्येवेति । एतत्सर्वमभिप्रेत्य "अविशेषेण कृत्स्नेष्वाश्रमिषु" इत्यादिना वृत्तिकारः प्रोक्तवान् ।।४७।।

विवरणम्-यथा अविशेषेण सर्वाश्रमिषु विद्यया: सद्भावेन गृहस्थेनोपसंहारस्तथैवान्यत्र विरक्ताश्रमिपरत्वेनोपसंहारः "तस्माद् ब्राह्मणाः" इति वाक्ये "भिक्षाचर्यं चरन्ति" इत्यादिना विरक्तधर्मेणोपसंहारः कृतः । सचोपसहारः सर्वाश्रमिपरक एवोपलक्षणतया. इत्येतद्दर्शयितुमुपक्रमते "तस्माद् ब्राह्मणाः" इति वाक्ये भिक्षाचर्यं चरन्ति" एवं जो समावर्तन करके पवित्र कुटुम्ब तथा पवित्र देश में" इत्यादि से लेकर के "वह इस प्रकार यावज्जीवन करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है और पुनः उसका संसार में आवर्तन नहीं होता है" इस प्रकार गृहस्थाश्रमित्वेन जो उपसंहार वचन है वह सर्व आश्रमियों का उपलक्षणपरक है । जब विद्या निष्ठ गृहस्थ को भी विद्या द्वारा मोक्ष होता है । तब विरक्ताश्रमि को मोक्ष होगा इसमें तो कहना ही क्या है ? अर्थात् विद्योत्पत्ति द्वारा सन्यासाश्रमविरक्ताश्रमनिष्ठों को तो मोक्ष अवश्यमेव होगा ।।४७।।

सारबोधिनी—"तस्माद ब्राह्मणः" इस वाक्य में "अथभिक्षाचर्यं चरन्ति" इत्यादि क्रम से जो विरक्त धर्म से उपसंहार किया गया है वह अखिल धर्म के संग्रह के लिए किया गया है । मौन की तरह इतर जो यज्ञादिक आश्रम धर्म है उनका उपदेश होने से ।।४८।।

॥ अनाविष्काराधिकरणम् ॥१३॥

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ।३।४।४९।

प्रोक्तवाक्ये "बाल्येन तिष्ठासेत्" [वृ०] इति श्रूयते । तत्र बालस्य कर्मस्वाभाविकं सर्वं विदुषोपादेयमुत स्वभावानाविष्काररूपं विशिष्टं कर्मैवेति संशयः । बाल्येनेत्यविशेषणोक्तत्वात्कामचारादिकं सर्वमुपादेयमिति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु—स्वमाहात्म्यानाविष्कार एव विद्यामन्वेतीति स एव ग्राह्यः । अन्येषां विद्याविरोधित्वेनान्वयायोगात् । तदेवोक्तं "नाविरतो दुश्चरितात्" [का०] इत्यादिभिः ॥४९॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावनाविष्काराधिकरणम् ॥१३॥

प्रकारेण विरक्तधर्मेण य. उपसंहारः कृतः सचोपलक्षणतया सर्वेषां धर्मणामुपसंहारतयैव कृतः यतः इतरेषां यज्ञाद्याश्रमधर्माणां मौनवदेवोपदेश दर्शनादिति ॥४८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य वृत्तौ श्रीरघुवरीय वृत्तिविवरणे सहकार्यन्तरविध्यधिकारणम् ॥१२॥

विवरणम्— 'तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्" इत्यादिब्रह्मज्ञानिनां स्वस्मिन् बालभावमाविष्करणीयमिति श्रूयते । तत्र बालकस्य सर्वमेवकर्म अनुकरणीयं यत्किञ्चिद्वेति संशयः । सर्वमेवानुकरणीयमविशेषादिति पूर्व पक्षः । विशेषमेव बालकर्म विदुषानुकरणीयमिति मानापमानादिकमेव संग्राह्यं न तु विद्या विरोधिकामचारादिकमनुकरणीयम् । उपमानोपमेयभावश्च यत् किञ्चिद्धर्मसादृश्यमादायैव

सारबोधिनी—प्रोक्त वाक्य में अर्थात् "तस्माद् ब्राह्मणो पाण्डित्यंनिर्विद्य" इस वाक्य में "बाल्येन तिष्ठासेत्" ऐसा सुनने में आया है । उसमें बालक का जो कर्म है मानापमान रहितत्व स्वेच्छाचारित्वादिक उन सबका विद्वान् ग्रहण अर्थात् आचरण करें । अथवा स्वभाव का अनाविष्कार रूप जो विशिष्ट कर्म है उसीका आचरण करें, ऐसा सन्देह होता है । उसमें बाल्येन इसमें

॥ ऐहिकाधिकरणम् ॥ ॥१४॥

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ।३।४।५०॥

किमिहैव जन्मनि विद्योत्पद्यते उत जन्मान्तरेऽपीति संशयः । अवि-

---

नतुसर्वधर्मसादृश्यमादाय तथा सति सादृश्यस्यैव कुत्रापि संभवाभावादि-स्याशयेनोपक्रमते "प्रोक्त वाक्ये "बाल्येन तिष्ठासेत्" इति श्रूयते" इत्यादि । तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेदिति" श्रूयते । तत्र बालकस्य यत्कर्ममानापमानराहित्यं स्वेच्छा विहरणादित-त्सर्वमनुकरणीयं विशेषकमैवेतिसंशयः । तत्र बाल्येनेति सामान्य कथनात्सर्वमेवादेयमिति पूर्वपक्षः स्वोकीयमाहात्म्यस्यानाविष्कार एव विद्यानुकूल इति तस्यैव ग्रहणं कर्त्तव्य नतुविद्याविरोधिनो ग्रहणमिति सिद्धान्तः ॥४९॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य कृतौ श्रीरघुवरीयवृत्ति विवरणेऽनाविष्काराधिकारणाम् ॥१३॥

विवरणम्— किमियं विद्या अनुष्ठितकर्मणा अस्मिन्नेवजन्मनि अर्थात् यच्छरीरावच्छेदेन कर्मकृतं तच्छरीरावच्छेदेन जायते शरीरान्त-अविशेषेण कथन होने से काम चारादिक सर्व कर्म का आचरण करें इस प्रकार से पूर्वपक्ष होता है । इसमे सिद्धान्त वादी कहते हैं कि स्वभाव के अनावि-ष्कार का ही विद्या में अन्वय होने की संभावना होने से उसीका ग्रहण करना चाहिए । किन्तु एतदतिरिक्त जो स्वेच्छा चरणादिक धर्म है उनको विद्या विरोधी होने से तम प्रकाश के समान अन्वय असंभवित है । इस विषय को अन्यत्र भी कहा है "नाविरतोदुश्चरितात्" (का. २।२४) इत्यादि प्रकरण से विद्वान् उसी कर्म का संग्रह तथा आचरण करें जो विद्या विरोधि न हो, नवा लोकाचार विरुद्ध हो । अन्यथा स्वेच्छाचारित्व होने से तत्त्वज्ञानी तथातदितर में क्या विशेषता रहेगी ॥४९॥

सारबोधिनी—कर्म द्वारा होनेवाला जो विद्यारूपफल वह जिस शरीर से कर्म किया जाता है उसी शरीर से विद्योदय होता है । अथवा शरीरान्तर से वह फल प्राप्त होता है । एतादृश संशय को निराकरण करके सिद्धान्त में

मन्नेव जन्मनि विद्योत्पत्तीच्छयानुष्ठितकर्मभिरिहैव विद्योदयः स्यादिति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु अप्रस्तुते प्रबलकर्मान्तरप्रतिबन्धेऽनन्तरं विद्योदयफलं तदभावे त्विहैवेति। तद्दर्शनात्। "यदेव विद्यया करोति" इत्युद्गीथविद्यावतः कर्मणोऽप्रतिबन्धस्य दर्शनादनियम एव विद्योदयफलस्य ॥५०॥

श्रीरघुवराचार्यवृत्तावैहिकाधिकरणम् ॥१४॥

रावच्छेदेन वेति संशयः। इहैवफलं जायते कर्मणि प्रवृत्तिदर्शनादिहैवतत्फलेनापि भाव्यं कृष्यादिकर्मवदिति पूर्वपक्षाशयः। यद्याचरितंकर्मप्रतिबन्धरहितं भवेत् तदा इहैव तदीयफलं जायते कृष्यादिवदिति यदातु सप्रतिबन्धको भवेत्तदा जन्मान्तरेतदीयं फलं भवति वामदेवादिवदिति न कोपि नियमः इहैवपरत्रवेति सिद्धान्तं दर्शयितुमुपक्रमते "किमीहैवजन्मनीत्यादि" वृत्तिः। यच्छरीरावच्छेदेन कर्मकृतं तच्छरीरावच्छेदेनैवविद्यारूपं फलमुत्पद्यते. अथवा शरीरान्तरावच्छेदेनापीति संशयः अनुष्ठितकर्मणा. इहैवफलं जायतामितीच्छयाकर्मणि प्रवृत्तिदर्शनात् एतज्जन्मन्येवफलंस्यात् कृष्यादिवाणिज्यादिवदिति पूर्वपक्षाशयः। सिद्धाअनियम है इसका प्रतिपादन करने के लिए उपक्रम करते हैं " किमि हैव जन्मनि" इत्यादि। क्या इसी जन्म में विद्या की उत्पत्ति होती है अथवा जन्मान्तर में भी अर्थात् जिस शरीर से कर्म का अनुष्ठान किया जाता है उसी शरीर में विद्या लक्षण फल होता है अथवा शरीरान्तर में विद्या लक्षण फल प्रादुर्भूत होता है ऐसा संशय होता है इसी जन्म में मुझको विद्या हो इस इच्छा से अनुष्ठित कर्म से इसी शरीर में विद्या की उत्पत्ति होती है। कृषि वाणिज्यादिक कर्म की तरह। इसप्रकार से पूर्वपक्ष होता है इसमें सिद्धान्तवादी कहते हैं कि यदि प्रबल प्रतिबन्धक कर्मान्तर का सद्भाव रहता है तब तो वह कृत कर्म का जन्मान्तर में फलोदय होता है। यदि कोइ प्रतिबन्धक न रहे तब इस जन्म में ही विद्या रूप फल प्राप्त होता है। क्योंकि ऐसा देखने में

मुक्तिफलाधिकरणम् ।।१५।।

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ।३।४।५१।

किमुत्पन्नविद्यस्येहैव जन्मनि मुक्तिफलमुतजन्मान्तरेऽपीति संशयः तत्र तस्यां विद्योत्पत्ताविहैव मुक्तिफलमिति पूर्वः पक्षः सिद्धान्तस्तु यथै-

---

न्तस्तु- "अप्रस्तुत" इत्यादि । अप्रस्तुते प्रबलकर्मान्तरप्रतिबन्धकस्य-सत्वेविद्यमानतायां जन्मान्तरावच्छेदेन फलमुपजायते. तदभावेतुविद्य मानजन्मन्येवेति । यथा वामदेवस्य जन्मान्तरे फलं जातम्. अन्येषा बहू नामिहैवेति नकोपि नियम इति संक्षेपः ।।५०।।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य श्रीरघुवरीयवृत्तौ विवरणे ऐहिकाधिकारणम् ।।१४।।

विवरणम्- ननु यस्मिन् जन्मनि विद्याया उत्पत्तिर्जायते तस्मिन्नेव जन्मनि विदुषो मोक्षफलं समुत्पद्यते अथवा जन्मान्तरे मोक्षो जायते इति संशयः। तत्र कारणसत्वे कार्यमवश्यं भवतीति नियमाद्यदैव यत्र विद्या संजाता तत्रैव जन्मनि मोक्षो नतु जन्मान्तरे विलंबे कारणाभावादिति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु सत्यपिकारणसद्भावे प्रतिबन्धकसत्वेकार्यं न भवति. यथा दाहकारणवह्नीन्धनादिसत्वेऽपि प्रतिबन्धक चन्द्रकान्तमणिसत्वे दाहो न भवति । चन्द्रकान्तमण्यभावेतु दाहो जायते तथैव प्रकृते प्रबलप्रतिबन्धकाभावे यदा विद्यायाः सद्भावस्तदैव मो-

आया है। जैसे वामदेव को जन्मान्तर में फल प्राप्त हुआ है। तथा उद्दालकादि विद्यावान् को तो प्रतिबंधक का अभाव होने से इसी जन्म में फलोदय होता है। इसलिए इस विषय में अनियम है। कोई विशेष नियम नहीं कि इसी जन्म में फलोदय हो या पर जन्म में ।।५०।।

सारबोधनी-जिस महापुरुष को जिस जन्म में विद्या की उत्पत्ति होती है उसी जन्म में विद्या बल से मोक्ष रूप फल होता है अथवा तादृश विद्या

कस्मिन्नेव जन्मनि प्रबलकर्मप्रतिबन्धाभावस्तदभावो वाविद्योदयं तदनुदयञ्च कुरुतस्तथैवाविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपायां विद्यायामिहैव मुक्ति:

क्षोऽन्यथा तु न तस्मिन् जन्मनि किन्तु जन्मान्तरेइति वेदान्तानियम-एवेत्याशयेन सूत्रव्याख्यातुमुपक्रमते "किमुत्पन्नविद्यस्यैव" इत्यादि। पुष्कलकर्मकारणसद्भावेनास्य पुरुषधौरेयस्य विद्या यत्र जन्मनि समुत्पन्ना. तस्मिन्नेव जन्मनि तस्य विद्यारूपकारणसद्भावे मोक्षात्मकंफलं जायते अथवा जन्मान्रे अनुष्ठितवाजपेयादिवदिति संशयः तत्र कारणसमवधाने कारणात्कार्यस्यावश्य सद्भाव इति नियमात् यस्मिन् जन्मनि विद्या जातातस्मिन्नेव जन्मनि तस्य फलं जायते वाणीज्यादिकर्मवदिति पूर्वपक्षाशयः। सिद्धान्तस्तु यस्मिन् जन्मनि विद्या जायते तस्मिन् जन्मनि कश्चित्प्रतिबन्धकोन भवेत् तदा तत्रैव जन्मनि फलं मोक्षः प्रतिबन्धकसत्वेतु जन्मान्तरे मोक्षःकारणसद्भावादितः प्रकृतेप्यनियम एव। यथा सत्यपितन्तुतन्तुवायादिकारणकलापे प्रतिबन्धकसद्भावेपटोत्पत्तिर्न जायते. प्रतिबन्धकाभावे तु तेनैव कारणकलापेन पटादिकार्यसमुत्पद्यमानं भवतीति नियमाभावस्तद्वत् प्रकृतेऽप्य

केवल से तदग्रिम जन्म में मोक्ष रूप फल की उत्पत्ति होती है ऐसा संशय होता है। मोक्ष का कारण विद्या का इस जन्म में सद्भाव होने से उसी जन्म में मोक्ष रूप कार्य होगा नतु जन्मान्तर में क्योंकि विलम्ब का प्रयोजक कोई नहीं है ऐसा पूर्वपक्ष होता है। सिद्धान्तवादी कहते हैं कि जिस तरह एक ही जन्म में प्रबल प्रतिबन्धक कर्म का अभाव होने से विद्या का उदय होता है। और प्रतिबन्ध का भाव अर्थात् प्रतिबन्धक रहने से विद्या नहीं होती है। उसी तरह तैलधारावत अविच्छिन्न स्मरण रूप विद्या का सद्भाव से उसी जन्म में मोक्ष होता है। अन्यथा जन्मान्तर में मोक्ष होता है। तो विद्या की तरह मोक्ष फल में भी अनियम है। "स्मृतिलंभे" इस प्रकरण से कर्म ग्रन्थी के

फलमन्यथा जन्मान्तरेऽपीत्यनियमः। "स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" [छा० ७।२६।२] इति कर्मग्रन्थिमुक्तिहेतोरवधृतेरिति ॥५१॥

इति मुक्तिफलाधिकरणम् ॥१५॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यान्वय प्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दाचार्य
द्वारकेण महामहोपाध्यायाद्यनेकोपाधिविभूषितेन
जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरघुवराचार्यवेदान्तके
सरिणा विरचितायां श्रीरघुवरीयवृत्तौ
तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः

नियम एवेति भावः। कुत एवं तत्राह 'तदवस्थावधृतेः" अर्थात् "स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" इत्यादिना स्मृते ग्रन्थिमोक्षे प्रतिकारत्वावधारणात् विद्यामोक्षयोः कार्यकारणभावविचारोऽन्यत्रानुसन्धेय इति दिक् ॥५१।

इति मुक्तिफलाधिकरणम् ॥१५॥

इत्यानन्दभाष्यकारजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यपीठाचार्यजगद्गुरुरामानन्दाचार्यराम
प्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे तृतीयाध्यायस्य चतुर्थपादः ॥

अभाव में स्मरण की कारणता का निश्चय किया गया है। अतः प्रकृत में अनियम है प्रसंगोपात्त इस जन्म में भी मुक्ति हो सकती है जन्मान्तर में भी ॥५१॥

इति स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य कृत सारबोधिनी में तृतीयाध्याय का चातुर्थपाद

॥श्रीरामार्पणमस्तु॥

रामो ब्रह्म परात्परं श्रुतिमतं भक्त्यैव निः श्रेयसं
शेषा येन च शेषिणो रघुपतेर्जीवा इति स्वीकृतम्।
श्रौतं युक्तियुतं मतं खलु विशिष्टाद्वैतकं यस्य सः
श्री बोधायनवृत्तिकृद्विजयतां बोधायनः शाश्वतम् ॥

श्रियः श्रियै नमः

अथ चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः

आवृत्त्यधिकरणम् ॥१॥

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।४।१।१।

अतीतैस्त्रिभिरध्यायैश्चिदचिच्छरीरकस्यापहतपाप्मनो दिव्यगुणधाम्नः परब्रह्मणः श्रीरामस्य स्वरूपमुपासनात्मकविद्याश्चाभ्यधायि। अथानेन तुरीयाध्यायेनोपासनफले कलनीयेऽनेन प्रथमाधिकरणेनोपास-

---

विवरणम्= गतप्रकरणेन परमात्मशरीरलक्षणयोर्जड़चिदात्मक पदार्थयोः स्वरूपं तथाचिदचितोः शरीरिरूपस्य परमपुरुषस्यानन्तदिव्य गुणालङ्कृतस्य च स्वरूपप्रदर्शनं कृतवान्। तथा मोक्षप्रसाधनमुपासन पदवोध्यविद्यास्वरूपमपि निर्णीतवान्, प्रसङ्गागतमन्यदपिकिञ्चिद्विचिन्तितम्। सम्प्रति विद्यास्वरूपं निर्णेतुमुपक्रमते "अतीतै स्त्रिभिरध्यायैः" इत्यादि। प्रथमादितृतीयाध्यायान्ताध्यायैर्जड़चेतनशरीरकस्य निरस्त समस्तदोषस्य दिव्यगुणाकरस्य परमपुरुषस्य भगवतः श्रीसीतानाथस्य कृपापारावारस्य वास्तविकं स्वरूपं तत्प्रापिकामुपासनात्मकविद्याश्च प्रोक्त वान्। ततः परमनेन चतुर्थाध्यायेनोपासनं तत्फलंच विचारयितुमुपासनानुष्ठानं च निश्चेतु प्रयतते "आवृत्तिः" इत्यादि। "आत्मावारेद्रष्टव्यः" श्रोतव्यो मन्तव्यः "तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति" "ब्रह्मविदाप्नोति परम्"

सारबोधिनी—अतीत प्रथम द्वितीय और तृतीय अध्याय से भगवान् का शेष रूप जो जड़ चेतन पदार्थजात है उसका तथा स्थूल सूक्ष्म साधारण जड़ चेतन शरीरक सर्व जगत् का उपादान कारण अपहत पाप्मत्वादि दिव्यानेक कल्याण गुणका पारावार परम ब्रह्म परमपुरुष भगवान् श्रीरामजी का जो वास्तविक स्वरूप है उसका और तदीय उपासनात्मक संसार विनाशक परम सुख प्राप्ति लक्षण मोक्ष का जनक विद्या है तादृशविद्याके स्वरूप का भी कथन

नानुष्ठानं निर्णीयते। "आत्माऽरे द्रष्टव्यः" [बृ० ४।५।६।] "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" [तै० १।१।] "तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति" [श्वे. ३।८।] इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मप्राप्त्युपायतयोपदिष्टस्य ध्यानादेः सकृदनुष्ठानं कार्यमुतावृत्तिरिति संशयः। सकृदनुष्ठानेऽपि शास्त्रार्थस्य साफल्या-

---

इत्याद्यनेकश्रुत्यादिषु परब्रह्मणः प्राप्तौध्यानवेदनादिकं साधनतयासमुपदिष्टमवलोक्यते तत् ध्यानादिकं सकृदेवानुष्ठेयम्। यथा दर्शपूर्णमासादौ प्रयाजाद्यनुष्ठानमथवा अनेकशस्तदनुष्ठानमवघातादिवदिति संशयः। तत्र सकृदेवानुष्ठान कार्यं तेनैव शास्त्रार्थस्य कृतत्वाद् यथा दर्शपूर्णमासाद्यङ्गभूतस्यानुष्ठानं सकृदेव कृतंसत् फलाय पर्याप्तं भवति नतु तदनुष्ठानमनेकशः क्रियते तथात्वे सकृत्कथितेऽनेकशोनुष्ठाने कर्मवैगुण्याद्यैव भवति नतु कर्म सहकारि। तथैवात्राप्यावर्तनस्याश्रुतत्वेनावर्तनकरणे फलवैगुण्यंस्यादिति सकृदेवावृत्तिः करणीयेति पूर्वपक्षः।

तत्र सिद्धान्तं दर्शयति "आवृत्तिरसकृदुपदेशात् इति। तत्र ध्यानादेर्मोक्षकारणस्यावर्तनमेव करणीयम् कुतः! असकृदुपदेशात्। अर्थात् प्रत्ययस्यवारंवारमनुसन्धानं करणीयं तत्वमस्यादिवाक्यस्यावृत्तिदर्शनात् अर्थात् निदिध्यासनादिकं दृष्टफलकम् तत्फलं यावन्न प्राप्तं भवति तावत्पर्यन्तं तत्कारणंनिदिध्यासनमनुष्ठेयम् यथातण्डुलनिष्पादकावघातस्यानु

किया गया है। इसके बाद इस चतुर्थ अध्याय से उपासना तथा तदीय फलजो मोक्ष उसके स्वरूप का विचार में प्रथमतः इस प्रथम अधिकरण से अर्थात् चतुर्थाध्याय के प्रथम पादान्तर्गत प्रथमाधिकरण से उपासना अनुष्ठान का निर्णय करते हैं। "आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यस्तत्साक्षात्कारः कर्त्तव्यः" [हे।! मैत्रेयी यह परमात्मा श्रुतिजनित शाब्दज्ञान का विषय करने योग्य है। मनन करने के योग्य है। तथा निदिध्यासन—अविच्छिन्न तैलधारावत् ध्यान विषय कर्तव्य अर्थात् ध्यान करने योग्य है। तदनन्तर साक्षात्कार का विषय है"] ब्रह्मविदाप्नोति परम्" [जो ब्रह्मज्ञानवान् पुरुष है वह उस पर

त्सकृदेवेति पूर्वः पक्षः। अत्राभिधीयते–"निदिध्यासितव्यः" [बृ० ४।५।६।] "आत्मानमेव लोकमुपासीत" [बृ० १।४।१५।] इत्याद्युपदेशाद्वेदनापरपर्यायस्योपासनस्यासकृदनुष्ठानं कार्यम्। "उपास्यविषयिणीस्मृ-

---

ष्ठानम्। नतु प्रयाजादिवत्सकृदनुष्ठानंप्रयाजादेरदृष्टफलकत्वादत इहासकृदनुष्ठानस्यावश्यकत्वात्। एतदेव दर्शयति "वेदनापरपर्यायस्य इत्यादि। वेदनस्वरूपस्योपासनस्य वारंवारमनुष्ठानं कर्त्तव्यमेव। कुतः ? तैलधारावदविच्छिन्नसंतानरूपस्य समुपासनस्य एकवारमनुष्ठानस्यासंभवादतो वेदनमसकृदेवयथाभवेत्तथा अनुष्ठेयमिति। अदृष्टफलके प्रयाजादौसकृदनुष्ठानेनापि फलसंभवात्तथानुष्ठीयते दृष्टफलके तु समुपासनेयावत्फलं न जायते तावदेवानुष्ठानं कर्त्तव्यमवघातादिवदिति। "निर्णीत एवायमर्थो भगवता बोधायनेन पूर्वपक्षोपन्यास पूर्वकप्रतिवचननिचयैः। तथाहि सकृत्प्रत्ययं कुर्याच्छब्दार्थस्य कृतत्वात् प्रयाजादिवत् (बो. वृ.) इत्यादिना पूर्वपक्षमुपन्यस्यसमाहितम् "सिद्धं तूपासनशब्दात्" (बो. वृ.) वेदनमेवोपासनमित्यप्युक्तम् "वेदनमुपासनं स्यात्तद्विषये श्रवणात्" (बो. वृ.) इति। उपासनं तु ध्रुवानुस्मृतिरूपमित्यभिहितम् "उपासनं स्याद्ध्रुवानुस्मृति दर्शनान्नि-

ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करता है।] "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" इत्यादि। [उस जगत्कारण परमात्मा को जान करके अति मृत्यु मोक्ष को प्राप्त करता है। इस परमात्मा के ज्ञान से अतिरिक्त अन्य कोई भी मोक्ष प्राप्तिका उपाय नहीं है।] पूर्व प्रदर्शित इन श्रुतियों से सिद्ध होता है कि ध्यानादिक ब्रह्म प्राप्ति में कारण है अब यहाँ संशय होता है कि इन ध्यानादिक का जो अनुष्ठान है वह एक बार करना चाहिए अथवा वारंवार करना चाहिए। अर्थात् जिस तरह दर्शपूर्णमास याग में प्रयाज का अनुष्ठान एक बार करने से ही फल सिद्धि होने से सकृदेव प्रायाजादिक का अनुष्ठान किया जाता है। उसी तरह ध्यानादिक का अनुष्ठान सकृदेव करना चाहिए अथवा तण्डुल निष्पादक अवघात के समान वारंवार अनुष्ठान करना चाहिए यावत् पर्यन्त फल सिद्धि हो।

तिरेव तत्र तत्रोपासनवेदनादिपदैरभिधीयते वेदनोपासने च समानप्रकरणाधीतत्वात्समानार्थक एवेत्यावृत्तिः कर्तव्ये" त्याचार्योक्तेः। अविच्छिन्नस्मरणात्मकस्योपासनस्य सकृदनुष्ठानासम्भवाद्वेदनमप्यसकृदेवेति तात्पर्यम् ॥१॥

र्वचनाच्च" (बो. वृ.) इति। साच ध्रुवानुस्मृतिः साधनसप्तकादेवेत्युदीरितम् "तल्लब्धिर्विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्यः सम्भवान्निर्वचनाच्च"(बो. वृ.) (आनन्दभाष्यम् १।१।१)। इति व्याख्यातश्चपरमार्षश्रीपुरुषोत्तमाचार्यबोधायनवाक्यजातं जगद्गुरुश्रीगङ्गाधराचार्ययतिसम्राजा–

"जात्याश्रयनिमित्तैर्यद्दुष्टमन्नं भवेन्नहि।
तस्माद्देहस्य संशुद्धिर्विवेकः कथ्यते बुधैः॥
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धेषु विषयेषु यः।
अनादरः स तत्त्वज्ञै र्विमोकः परिकीर्तितः॥
शुभाश्रयस्य यच्चात्र संशीलनं पुनः पुनः।
अभ्यासः साधनं तद्धि योगध्यानोपकारकम्॥
यथाशक्ति हि पञ्चानां यज्ञानां महतां तथा।
आश्रमान्तरधर्माणामनुष्ठानं क्रिया मता॥

इसमें पूर्वपक्षवादी कहते है कि "ब्राह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि वेदान्त वाक्य से परम पुरुष के वेदनमात्र को ब्रह्म प्राप्ति के कारणता का श्रवण होने से "ज्योतिष्ठोमादि" याग के सदृश सकृदेव वेदनादिक का अनुष्ठान करना चाहिए। क्योंकि सकृदनुष्ठान करने से ही विधायक शास्त्र का चरितार्थत्व हो जाता है। तब प्रत्ययावृत्ति निष्फल है। निष्फल का अनुष्ठान शास्त्र प्रतिषिद्ध होने से क्रिया में वैगुण्य का ही जनक होगा क्रिया का सहायक नहीं इसलिए सकृदेव अनुष्ठान करना चाहिए ऐसा पूर्व पक्ष का अभिप्राय है॥

एतादृश प्रश्न के उत्तर में सिद्धान्तवादी कहते हैं "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इति सूत्रम्। ब्रह्म प्राप्ति में कारणीभूत जो ध्यान वेदनादिक है उनका

लिङ्गाच्च ।४।१।२।

वेदनस्यासकृदनुष्ठेयता "अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः [गी०] "मां ध्यायन्त उपासते" [गी०] "तद्रूपप्रत्यये चैका सन्ततिश्चान्यनिस्पृहा । तद्ध्यानम्" [वि० पु० ६।७।९१] इत्यादिस्मृतेरप्यत्रगम्यते ॥२॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावावृत्त्यधिकरणम ॥१॥

अहिंसा चानभिध्या च सत्यार्जवे तथा दया ।
दानं चैतानि कल्याणतयाऽऽम्नातानि सूरिभिः ॥
शोकभीतिनिमित्तेनावसादश्चित्तदीनता ।
तदभावो हि सम्प्रोक्तोऽनवसादो महात्मभिः ॥
उद्धर्षः खलुसन्तोषा ऽनुद्धर्षस्तद्विपर्ययः ।
शोकवच्चाति सन्तोषे मनः शैथिल्यहेतुता ॥"
इत्यादिरूपेण तस्मात्प्रत्ययावृत्तिः करणीयेति सिद्धान्तः ॥१॥

विवरणम्— न केवलमुपदेशादेव वेदनादेरसकृदनुवर्तनं विधेयमपितु लिङ्गादपिहेतोरसकृदनुवर्तनं कर्तव्यमेवेति दर्शयितुमुपक्रमते "वेदनस्या आवर्तन करना चाहिए । क्योंकि इस आवर्तन में दृष्ट—ब्रह्म साक्षात्कारात्मक फलजनकत्व है । तत्वमस्यादि स्थल में असकृत् आवर्तन का ही उपदेश किया गया है । "निदिध्यासितव्यः" यहाँ निदिध्यासन पद असकृत ध्यानार्थक है । असकृत ध्यान के बिना ब्रह्म साक्षात्कार रूप फल असंभवित है । उपास्य विषयक स्मरण ही वेदन पदबोध्य है । इसी बात को पूर्वाचार्यों के उद्धरणपूर्वक बतलाते हैं "अत्राभिधीयते" इत्यादि "निदिध्यासितव्यः" "आत्मानमेव लोकमुपासित" इत्यादि उपदेश से वेदनका अपर पर्याय उपासन का असकृत् अनुष्ठान करना चाहिए । क्योंकि अविच्छिन्न स्मरणात्मक उपासना का सकृदनुष्ठान असंभवित है अतः वेदन भी बार—बार ही होना चाहिए इसी अंश में तात्पर्य है इसविषय में आनन्दमयाद्यधिकरण जिज्ञासाधिकरण विवरणमें विशेषचर्चा किया हैं अतः विशेषार्थियों को वही देखना चाहिये ॥१॥

आत्मत्वोपासनाधिकरणम् ॥२॥

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ।४।१।३।

पूर्वोदित ब्रह्मोपासनं किमुपासकेन भिन्नत्वधिया विधेयमुत स्वात्मधियेति संशयः । तत्रोपासकस्य जीवस्य "ज्ञाज्ञौद्वावजावीशानीशौ"

सकृदनुष्ठेयमित्यादि" 'योहि उपासकोऽनन्यमनस्कोभूत्वाममोपासनंकरोति मदीय स्मरणमेव बिभर्त्ति" "मां ध्यायन्त उपासनं कुर्वन्ति" "तपरत्यये चक्रा" इत्यादि पुराणरत्नस्मृतिबलाच्चासकृदनुष्ठानं विधेयमितिगम्यते "अनेन सततानुस्मरणात्मिकाभक्तिरेव सुलभोपायः पूर्वमुपदर्शितेषूपायेष्वाराधनाधिक्यमित्युक्तं भवति" इत्याचार्योक्तेः, तस्माद्वेदनादेरसकृदनुष्ठानं कर्त्तव्यमेव तदभावेसाक्षात्कारात्मक फलस्य मोक्षस्य चासंभवात् ॥२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे आवृत्त्यधिकरणम् ॥१॥

विवरणम्- परमात्मप्रापकस्य वेदनस्यासकृदनुष्ठानं कर्त्तव्यमिति व्यवस्थितम् । तत्रोपासनमुपास्योपासकयोर्भेदपूर्वकं विधेयमभेदपूर्वकं वा । तत्राद्येऽभेदप्रतिपादकतत्त्वमस्यादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गात् ।

सारबोधिनी- वेदन का वारंवार अनुष्ठेयता निम्नाङ्कितलिङ्गों से बतलाते हैं अनन्यचित्त होकर के जो उपासक मेरा सतत स्मरण करता है हे पार्थ ! उस उपासक के लिए मैं अति सुलभ होताहूँ । अर्थात् अति सरलतया वह मुझे प्राप्त कर लेता है । जो मेरा ध्यान करता हुआ उपासन करता है उसको मैं संसार से उद्धार कर देता हूँ" "भगवान् के रूप का अनन्य स्मरण करे; अन्य विषय में स्पृहा रहित होवें" इत्यादि स्मृतियों से भी सिद्ध होता है कि वेदनादिका असकृदनुष्ठान करना चाहिए ॥२॥

[श्वे० १।९।] "अधिकन्तु भेदनिर्देशात्" [ब्र० सू०] "शारीरश्चोभयेऽपिहि भेदेनैनमधीयते" [ब्र० सू० १।२।११।] इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्ब्रह्मभिन्नत्वेनावगमाद्भिन्नत्वेनोपासनीयमिति पूर्वः पक्षः। अत्राभिधीयते उपासितुरन्यदपि ब्रह्मोपासनवेलायां स्वात्मतयैवोपासकेनोपास्यम्।

द्वितीये "ज्ञा ज्ञा" वित्यादि भेदप्रतिपादकश्रुतिविरोधप्रसङ्गाच्च नहि भवति सर्वथाऽभेदे उपास्योपासकभावः, इत्यालोच्योपासकभाव दर्शयितुं सूत्रव्याख्यानं च कर्तुमुपक्रमते 'पूर्वोदित ब्रह्मोपासन मित्यादि वृत्तिः। इदञ्चीयप्रथमद्वितीयसूत्रप्रदर्शितं यदुपासनम्. तदुपासनमुपासकेन उपास्योपासकयोर्भेदबुद्ध्यानुष्ठेयम्. अथवा उपास्योपासकयोरभेदं कृत्वा तदुपासनीयमिति संशयः। तत्र संशयोपस्थापककोटिद्वयो विद्यमानत्वात्। तत्र भेदकोटेरुपस्थापको भेदप्रतिपादको ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ-अधिकन्तु भेदनिर्देशादित्यादिवेदभागः, अभेदकोटेरप्युपस्था

सारबोधिनी--ब्रह्मोपासन मोक्षफलक है इस बात का निश्चय किया गया है। तो निदिध्यासन काल में उपासक उपास्य को स्वभेदेन उपासना करे अथवा स्व के साथ अभेद पूर्वक उपासना करे इसका निश्चय करने के लिए उपक्रम करते हैं कि "पूर्वोदित ब्रह्मोपासनमित्यादि--उपासक ब्रह्म का उपासन करें मोक्ष प्राप्ति के लिए। ऐसा जो पूर्व में ब्रह्मोपासन का कथन किया गया वह उपासक उपास्य परमात्मा को स्व से भिन्न समझ कर के उपासना करे अथवा परम पुरुष को स्व से अभिन्न समझ करके उपासना करें? ऐसा संशय होता है। क्योंकि "द्वासुपर्णा" इत्यादि से भेद प्रतिपादित है और "तत्त्वमसि" इत्यादि श्रुति से अभेद का प्रतिपादन होता है। अतः उभय कोटि का उपस्थापन होने से भेदाभेद विषयक संशय होता है। इसमें पूर्व पक्षवादी कहते हैंकि "परमात्मा तथा अज्ञ जीव ये दो हैं जो कि ईश अनीश तथा अज हैं" "अधिकंतु भेद निर्देशात्" "शारीरश्चोभयेपि" इत्यादि। [जीव से भिन्न परमात्मा है"] इत्यादि श्रुति स्मृति से यह सिद्ध होता है कि उपासक जीव ब्रह्म

पूर्वोपासकाश्चैवमुपगच्छन्ति "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि" इति । अभ्युपगमन्त्येमं ज्ञापयन्ति वेदान्ताः स्पष्टम् । "एतदात्म्यमिदं सर्वम्" [छा० ६।८।४।] "यस्यात्मा शरीरम्" [बृ०।१।४।१०] "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" [बृ०-१।४।१०] इत्यादयः । तस्मादुपासितुरात्मतयैवोपास्यं ब्रह्मेति ॥३॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावात्वोपासनाधिकारणम् ॥२॥

पक्षस्तत्वमस्यादि वेदभाग एवेति भवति संशयः । तत्र "ज्ञा ज्ञौ' "अधिकन्तु भेदनिर्देशात्"इत्यादि श्रुतिभिरुपासकस्य जीवस्य परमेश्वराद्भेदप्रतिपादनेन भेदरूपेणवोपास्योपासकभाव इतिपूर्वपक्षाशयः ।

एवं विधे सिद्धान्ती प्राह 'आत्मेतीत्यादि" उपास्योपासकयोरभेदमादायैवोपासनं विधेयम्. यद्यपि ज्ञाज्ञावित्यादिनोभयोर्भेद एव सिद्धो भवति तथापि उपासनसमये "तत्वमस्यादि" वेदान्तबलेनाभेदपुरस्कृत्यैवोपासनं विधेयम् । यद्यपि स्वभावतः स्वरूपतो भिन्नमेवोपास्यस्तथापि उपासनाकालेऽभेद बुद्धि कृत्वोपासना कर्त्तव्येत्याशयः । एवमेव पूर्वोपासकाः कुर्वन्तोऽभवन् । 'त्वं वाऽहमस्मि अहं वै त्वमसि" इत्यादि श्रुतिजातोद्घोषयन्ति । इममेव सिद्धान्तम् "ऐतदात्म्यम्" "यस्यात्मा शरीरम्" इत्यादिवेदान्ताः प्रतिपादयन्ति । तस्मादुपासकेन उपास्येन सहाभेदमादायैवोपासनं कर्त्तव्यमिति ।

में भेद होने से भिन्नत्व रूप से ही उपासक ब्रह्म का उपासना करें । क्योंकि यदि कदाचित् जीव ब्रह्म में अभेद माना जाय तब उपाशक भाव का ही विलोप हो जायगा । क्योंकि एक में कौन उपास्य होगा और कौन उपासक होगा । अतः उपास्य परम पुरुष को स्वसे भिन्न मान करके ही उपासन करें ऐसा पूर्वपक्षका अभिप्राय है ।अब इसमें सिद्धान्ती उत्तर करते हैं "अत्राभिधीयते" इत्यादि । यद्यपि यह सिद्ध है कि उपास्य परम पुरुष उपासक से भिन्न है अन्यथा उपास्य उपासक भाव का विलोप हो जायगा । तथापि उपासना के समय में

प्रतिकाधिकरणम् ॥३॥

न प्रतिके न हि सः ।४।१।४।

उपनिषत्सु "मनो ब्रह्मेत्युपासीत" [छा० ६।१८।१।] इत्यादिप्रतीकोपासनमपि दृश्यते । तत्रायं संशयो यदत्राप्यात्मत्वेनोपासनं विधेयं नवा ? उपासितुरात्मतया ब्रह्मोपासनस्य पूर्वाधिकरणे निश्चितत्वात्तत्मा

यद्यपि अत्यन्ताभेदे उपास्योपासकभावो न संभवति लोकविरोधात् युक्तिविरोधाच्च तथापि नात्रैकान्तिकोऽभेदः किन्तु शरीरशरीरिभावेनेवातोऽविरोधः । भवति हि देवदत्तस्य स्वशरीरेण सहाभेदः सच न व्यवहारप्रतिबन्धकः । इत्यन्यत्रविस्तरः ॥३।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे आत्मत्वोपासनाधिकारणम् ॥२॥

विवरणम्- वेदान्तशास्त्रे "मनोब्रह्मेत्युपासीत" इत्यादिकं प्रतीकोपासनं श्रूयते. तत्र मनः प्रभृतिके प्रतीके उपासकेन आत्मबुद्धिः कर्तव्या अथवा तत्रात्मबुद्धिर्नकर्त्तव्येति संशयो जायते । तत्र सर्वोपासनानां समत्वात् प्रतीके मनः प्रभृतिके आत्मबुद्धिरेव कर्त्तव्येति पूर्वपक्षः । प्रतीके स्वरूप से ही उपासक उपास्य की उपासना करें । क्योंकि पूर्वकालिक उपासक लोग इसी प्रकार से मानते हैं "हे भगवन ! आप ही मैं हूँ; मेरा स्वरूप ही तुम्हारा स्वरूप है" इत्यादि इस बात को वेदान्त स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करता है । "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" 'यस्यात्मा शरीरम्" इत्यादि । इसलिए उपासक के आत्मा रूप से ही उपास्य ब्रह्म उपासनीय है यह सिद्ध होता है । जीव परमेश्वर में जो अभेद है वह शरीरशरीभाव से है नतु एकान्ततः अभेद । एकान्ताभेद ही उपास्योपासकभाव का विरोधी होता है । अभेद मात्र विरोधी नहीं होता है । विशेष विवरण अन्यत्र देखें ॥३॥

सुबोधिनी—उपनिषत्-वेदान्त शास्त्र में "मनो ब्रह्मेत्युपासीत" मन का ब्रह्मरूप से उपासन करना चाहिए इत्यादि रूप से प्रतीकोपासना का विधान

मान्येनात्राप्यात्मतयैवोपासनं विधेयमिमि पूर्वः पक्षः। अत्राभिधीयते-प्रतिकेनात्मत्वेनोपासनं विधेयम्। यतः स प्रतिकोनोपासितुरात्मा। तस्मात्प्रतीके केवलं ब्रह्मदृष्टिः कर्त्तव्या। उपासनन्तु प्रतीकस्यैव ॥४॥

मनस्यादौनात्मबुद्धिः कर्त्तव्या यतः प्रतीकोनोपासकस्यात्मा। तस्मान्न तत्र प्रतीके आत्मबुद्धिरिति सिद्धान्तं दर्शयितुमुपक्रमते "उपनिषत्सु" इत्यादिवृत्तिः। उपनिषत्सुवेदान्तग्रन्थेषु "मनोब्रह्मेत्युपासीत" [मनसि ब्रह्मकार्यब्रह्मबुद्धिः कर्तव्येत्यर्थः] इत्यादि क्रमेण प्रतीकोपासना श्रूयते। तत्रोपासनस्य सर्वत्र समानरूपत्वेन अत्रापि उपासकेन स्वात्मरूपेणैवोपासनं कर्त्तव्यं भेदेनवोपासनमिति संशयः। तत्र यः उपासकः सः स्वात्मरूपेणैवोपासनं कुर्यादिति पूर्वाधिकरणे विनिश्चितत्वादत्रापि तेनैव रूपेणोपासनं कर्तव्यमिति पूर्वपक्षाशयः। प्रतीकस्य मनः प्रभृतिकस्योपासकभिन्नतया न तथात्वेनोपासनं किन्तु भेदेनैव यतः उपासकभिन्नत्वात्प्रतीकस्येति सिद्धान्तः। केवलमत्र प्रतीकस्यब्रह्मबुद्ध्योपासनं विधेयमिति संक्षेपः ॥४॥

देखने में आता है। उसमें यह संशय होता है कि यहां भी उपासक स्वात्म स्वरूप से उपासना करे अथवा स्वभिन्न रूप से मन प्रभृतिक में ब्रह्मोपासन करे इसमें उपासक स्वरूप से ब्रह्म का उपासन करे ऐसा पूर्व अधिकरण में निश्चित हुआ है। तो प्रकृत में उपासना का समत्व सिद्धयर्थ प्रतीक में आत्म रूप से ही उपासना करना चाहिए। इस पूर्वपक्ष में सिद्धान्तवादी कहते हैं की मन आदिक प्रतीक में आत्म भिन्न स्वरूप से अर्थात् उपासक स्वभिन्न रूप से उपासन करें। क्योंकि वह मनः प्रभृतिक जो प्रतीक है वह उपासक का स्वरूप नहीं है किन्तु उपासक से भिन्न है। इसलिए प्रतीक मनः प्रभृतिक में केवल ब्रह्म बुद्धि का संपादन करें। उपासना तो यहां केवल मन का ही है। ॥४॥

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ।४।१।५

अत्रापकृष्टे मनसि ब्रह्मदृष्टिरेव कर्त्तव्या न तु ब्रह्मणि मनोदृष्टिः । अपकृष्टे ह्युत्कृष्टधीः साधीयसी ॥५॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ प्रतीकाधिकरणम् ॥३॥

विवरणम्— "मनोब्रह्मेत्युपासीत" इत्यत्रमनसो ब्रह्मणश्च समान विभक्तिनिर्देशान्मनसि ब्रह्मदृष्टिः कर्त्तव्या ब्रह्मणि वा मनोदृष्टिः कर्त्तव्येति संशयमपाकर्तुमुपक्रमते "अत्राऽपकृष्टे" इत्यादि । मनोब्रह्मण मध्येमनोऽपकृष्टम्. ब्रह्मचोत्कृष्टमिति. अपकृष्टे उत्कृष्ट बुद्धिः कर्तव्येति लोकप्रवादात्. मनसिहीने उत्कृष्टस्य ब्रह्मण एव दृष्टिः कर्त्तव्या. न तु वैपरीत्येन दृष्टिः करणीयेति । दृश्यते राजामात्येराजदृष्टिः कृता फलाय भवति. न तु राजनि क्रियमाणा अमात्यबुद्धिः फलाय. किन्तु विपरीत फलप्रदैवेति. तथैव मनस्यपकृष्टे कृता ब्रह्मबुद्धिः श्रेयसे स्यात्. न तु ब्रह्मणि क्रियमाणमनोबुद्धिः फलवती स्यात् । अतोऽपकृष्टे मनसि ब्रह्मबुद्धिः करणीया. न तु ब्रह्मणि मनोदृष्टिः करणीयेति ।५॥

इति जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यगतप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेप्रतीकाधिकरणम् ॥३॥

सारबोधिनी—पूर्व में "मनो ब्रह्मेत्युपासीत" [मन में ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए"] ऐसा कहा गया है । इसमें संदेह होता है कि मन में ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए अथवा ब्रह्म में मनोदृष्टि का संपादन करना चाहिए । एतादृश संशय के निराकरण करने के लिए कहते हैं "ब्रह्मदृष्टि रुत्कर्षात्" अर्थात् मन में ब्रह्म दृष्टि करना चाहिए । क्योंकि उत्कर्ष होने से हीन मन में उत्कृष्ट ब्रह्म का भावना करनी चाहिए । यहां अपकृष्ट हीन मन में उत्कृष्ट ब्रह्म दृष्टि ही उचित है नतु उत्कृष्ट ब्रह्म में अपकृष्ट मनोदृष्टि का विधान क्योंकि अपकृष्ट में उत्कृष्ट बुद्धि फलवती होती है । अभिप्राय यह है कि मन आदि की अपेक्षा ब्रह्म उत्कृष्ट है । इसलिए मन आदिक में ब्रह्मदृष्टि का विधान उत्तम फलद होगा । नतु उत्कृष्ट ब्रह्म में हीन मनोदृष्टि फलद होगी । अतः मन आदि प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि करना चाहिए नतु ब्रह्म में मनोदृष्टि का संपादन करना ॥५॥

आदित्यादिमत्यधिकरणम् ॥४॥

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ।४।१।६।

कर्माङ्गनिर्दिष्टेषूपासनेषु "य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत" [छा० १।३।१।] इत्यादिषु संशयः । किमादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टिरुतोद्गीथादिष्वादित्यदृष्टिरिति । तत्र "फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्" इति न्यायादादीत्यादीनामपकृष्टत्वादुद्गीथादीनां फलित्वेनोत्कृष्टत्वादादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टिर्विधेयेति पूर्वपक्षः । अत्राभिधीयते—उद्गीथादिष्वङ्गेष्वादित्यादिदृष्टिरेव विधेया । यतः कर्मभिस्समाराधिताया देवतायाः फलप्रदायित्वेनोत्कृष्टत्वात् ॥६॥

इति श्रीरघुरोयवृत्तावादित्यादिमत्यधिकरणम् ॥४॥

विवरणम्— ननु "य एवासौ तपतितमुद्गीथमुपासीत" इत्यादि कर्माङ्गोपासनायां संशयोभवति. किमत्रादित्ये उद्गीथदृष्टिः करणीयाः उद्गीथेआदित्यदृष्टिरिति । तत्रोद्गीथस्य कर्मरूपत्वेन फलवत्वात् "फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमिति" न्यायात् आदित्येउद्गीथदृष्टिः कर्तव्येति पूर्वपक्षः । तत्रादित्यादिदृष्ट्या संस्कृतोद्गीथस्याधिकता संपादनार्थमादित्यमतिरेव कर्माङ्गे कर्त्तव्येति सिद्धान्तं दर्शयितुमुपक्रमते "कर्माङ्गनिर्दिष्टेषू" इत्यादि । आदित्ये उद्गीथदृष्टिरथवोद्गीथे आदित्यदृष्टिरिति संशये फलवतोऽफलंतदङ्गमितिन्यायादादित्ये कर्मबुद्धिरेव कर्त्तव्येति पूर्वप-

सारबोधिनी—कर्म के अङ्ग भूत उपासना में "यएवासौतपति तमुद्गीथमुपासीत" [जो यह तपित हो रहा है उसका उद्गीथ रूप से उपासना करना चाहिए ।] इत्यादि स्थल में संशय होता है कि क्या आदित्य में उद्गीथ रूप कर्माङ्ग में आदित्यादि दृष्टि का संपादन करें । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते है कि "फलवान् के समीप में जो अफलवान् रहता है वह अफलवान् फलवान् का अङ्ग होता है" इसन्याय से आदित्यादिक को अपकृष्ट होने से तथा उद्गीथ को उत्कृष्ट होने से हीन आदित्य में उत्कृष्ट उद्गीथ दृष्टि का ही विधान करना

आसीनाधिकरणम् ॥५॥

आसीनः सम्भवात् ।४।१।७॥

एतच्चोपासनं शयानो गच्छन्नासीनो वेत्यनियमेन यथा कथञ्चिद्विदध्यादासीन एव वेति संशयः। तत्रोपासनस्य मनोविधेयतया यथाकथञ्चिदप्यनुष्ठेयमिति पूर्वपक्षः। अत्राभिधीयते—चित्तैकाग्र्यमन्तरेणोपासनस्यासम्भवादासीनस्यैव तद्भवादासीन एव ब्रह्मोपासनं विदध्यादिति ॥७॥

क्षाशयः। तत्रोद्गीथे आदित्यमतिरेवन्याय्या, कर्मणा आराधिता देवता फलाधिक्याय भवतीति देवताया उत्कृष्टत्वेन तन्मतिरेव कर्माङ्गे कर्त्तव्येति सिद्धान्तः ॥६॥

इति जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे आदित्यादिमत्यधिकरणम् ॥४॥

विवरणम्— ननु मोक्षकारणीभूतमुपासनम्, तद्वेदनध्याननिदिध्यासनादिबोध्यम्। तदुपासनं तिष्ठन् कुर्यादासीनः शयानो वा कुर्यादिति संशयः। तत्रोपासनस्य मानसिकत्वात्, तत्र च स्थितेरनियम इति यथा-

चाहिए इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते है कि उद्गीथादिक कर्माङ्ग में आदित्य बुद्धि का ही संपादन करना चाहिए। क्योंकि कर्म से आराधीत जो देवता है वह फल का प्रदातृ होती है इसलिए वह उत्कृष्ट है, उत्कृष्ट दृष्टि अपकृष्ट में करनी चाहिए इसलिए उद्गीथ रूप कर्माङ्ग में आदित्य दृष्टि का विधान करना ही समुचित है ॥६॥

सारबोधिनी—मोक्ष का कारण वेदननिदिध्यासनाद्यपरपर्याय उपासन है ऐसा पूर्व में कहा गया है। एत दश जो उपासन उसका अनुष्ठान सोकरके करें बैठ के करें अथवा आसीन करें ऐसा संशय होता है। इसमें पूर्वपक्ष वादी कहते हैं कि ध्यान उपासनादिक जो हैं वे मन का धर्म है अर्थात मन से संपादित होते है तो उसमें मन की स्थिति आवश्यक है किन्तु शरीरादि स्थिती की कोई आवश्यकता नहीं होने से यथा कथंचित् उपासना करें समा-

ध्यानाच्च ।४।१।८।

"ततस्तु तं पश्यते निश्चलं ध्यायमानः" [मु०] इत्युपासनस्य ध्यानरूपत्वादासीनस्यैव निश्चलध्यानत्वादासीन एव तदनुतिष्ठेत् ।८।

कथञ्चिदुपासनं कुर्यान्नत्वासीन एवेत्याशङ्कामपनेतुमुपक्रमते "एतच्चोपासनम्" इत्यादि वृत्तिः । एतत् अर्थान्मोक्षकारणीभूतं ध्यानवेदनाद्यपरपर्यायमुपासनं शयानस्तिष्ठन्नासीनोवाकुर्यादिति संशयः । तत्र निधिध्यासनापरपर्यायस्योपासनस्य मनोधर्मतया मनसः स्थितिरेवान्वेषणीयाः शरीरस्थितेरनावश्यकत्वेन यथाकथञ्चिदेवोपासनं विधेयम्. न तु समासीन एव कुर्यादिति पूर्वपक्षाशयः ।

अत्रोत्तरम्– आसीन इत्यादि । आसीनस्यैवोपासनं तथैव संभवादन्यथा विक्षेपापत्तेः । अयंभावः उपासनं चित्तैकाग्र्यमन्तरेणानुपपन्नम्. मनस एकाग्रताचासीनस्यैव भवति गमनादिकं कुर्वतश्चित्तविक्षेपस्य दर्शनात् । तस्मादासीन एव ब्रह्मण उपासनं कुर्यान्नतुतिष्ठन्शयानोवेति ७

विवरणम्–"निदिध्यासितव्यः" "ततस्तु तं पश्यते निश्चलंध्यायमानः" इत्यादिश्रुतिभ्य उपासनं ध्यानमितिप्रतिपादितम् । निश्चलध्यानंचासीनस्यैव संभवति. अन्यथाविक्षेपस्यापि संभवात् । सजातीय सीन होकर के ही उपासना करे ऐसा कोई नियम नहीं है । इसके उत्तर में कहते हैं "आसीतः संभवात्" आसीन होकर के ही उपासना करे–क्योंकि ऐसा करने पर ही वह संभव हैं । अर्थात् चित्त की एकाग्रता के बिना उपासना असंभवित है और एकाग्रता आसीन पुरुष को ही होती है । सोनेवाले को निद्रा ग्रस्त होना स्वाभाविक है । चलने फिरने से चित्त में चंचलता होती है । इसलिए आसीन होकर के ही ब्रह्मोपासन करना चाहिए । अतएव आसनादि के नियम का आगे प्रतिपादन करेगें वह भी संगत होता है । ।।७।।

सारबोधिनी–"निदिध्यासितव्यः" "ततस्तुतं पश्यते निश्चलं ध्यायमानः" [उस परमात्मा का श्रवण मननोत्तर काल में निदिध्यासन अर्थात्

अचलत्वं चापेक्ष्य ।४।१।९।

ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षम् (छा० ७।६।१) इत्यादिषु पृथिव्यादेरचलत्व चापेक्ष्य ध्यानमुक्तम् । ध्यानोपासनयोश्चैकार्थ्यादच-लत्वमुपासनेऽप्यावश्यकम् तच्चासीनस्यैवेत्यासीनः ॥९॥

प्रत्ययप्रवाहरूपस्य विजातीय प्रत्ययप्रवाहरहितत्वसंभवोन सचलस्यापितु निश्चलस्यैव स्यात् । नैश्चल्यं चासीनस्यैव न तु चलतः शयानस्य वा तस्मादासीन एव ब्रह्मोपासनं कुर्यादिति ॥८॥

विवरणम्– "ध्यायतीवपृथिवीत्यादि" इत्यादिस्थले निश्चलत्वात्पृथिवीपर्वतादिस्थिराणां ध्यानं प्रतिपादनं कृतम्. तच्चध्यानं नत्वचलत्वापेक्षमिति तदन्यत्रापिध्यायमानत्वं निश्चलस्यैव । अतो निश्चलस्यैवध्यानमिति सिद्धं ततश्च यदिदमुपासनं तदासीनस्यैव न तु चलतः तिष्ठतोवेति हृदयम् ॥९॥

ध्यान करना"] [निश्चल होकर के परमात्मा का ध्यान करनेवाला उपासक उस परमात्मा को देखता है अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार करता है ।] इत्यादि स्थल में उपासना को ध्यान रूपता का प्रतिपादन किया गया है । और आसीन व्यक्ति को ही निश्चल ध्यान हो सकता है । इसलिए आसीन जो व्यक्ति है । वही मोक्ष प्रयोजनक ध्यानोपासना का अनुष्ठान करे ॥८॥

सारबोधिनी–"ध्यायतीव पृथिवीत्यादि" पृथिवी ध्यान करती है । पर्वत ध्यान करता है ,,इत्यादि वेदस्थल में तथा "ध्यायतिवकः" इत्यादि लौकिक स्थल में जो ध्यान का कथन है वह निश्चल पृथिव्यादिक में अचलत्वापेक्ष ध्यान कहा गया है । ध्यान तथा उपासक समानार्थक है । इसलिए उपासना में भी अचलत्व आवश्यक है । अतः समासीन उपासक ही ब्रह्म का उपासन करे यह सिद्ध होता है । न तु चलता हुआ शयन करता हुआ वा पुरुष उपासना करे क्योंकि आसीन व्यतिरिक्त में अचलत्व सर्वथा असंभवित है ॥९॥

स्मरन्ति च ।४।१।१०।

"उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये" [गी०६।१२] इति स्मरन्ति च तत्वविदस्समासीनस्यैव ध्यानम् ॥१०॥

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।४।१।११।

यस्मिन् देशे काले वा चित्तैकाग्र्यं तस्मिन्नेव देशे काले चोपासनमनुतिष्ठेत् । यतोऽत्र देशकालयोर्विशेषाश्रुतत्वात् ॥११॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावासीनाधिकरणम् ॥५॥

विवरणम्– गीतादिस्मृतिषु आसीनपुरुषस्यैव ध्यानमुपासनापरपर्यायं विधेयमिति प्रतिपादयन्ति "शुचौदेशे प्रतिष्ठाप्य." "तत्रैकाग्रंमनः कृत्वा इत्यादिना । यदि नियमविशेषो न स्यादनियमेनैवध्यानमभिलषितं भवेत्तदागीतादिस्मृतिवाक्यानांस्पष्टमेव वैयर्थ्यं भवेत् । तदाहुरानन्दभाष्यकाराः– तत्रासने सुसुख सिद्धासनाद्यासन प्रभेदेष्वन्यतमेन चिरस्थितिसाधनयोग्येन उपविश्यैव न पुनरुत्थाय शयित्वा वा तिष्ठतश्चित्तवैयग्र्यधौव्याच्छयानस्य च निन्द्रातन्द्रादिसम्भवात्" इति । तस्मादासीनस्यैवोपासनविधानं न तु चलतः शयानस्यवेति भावः ॥१०॥

विवरणम्– ननु मोक्षसाधनंमुपासनमुपासकेन कर्त्तव्यम्, तदुपासनं कस्मिन् देशे कस्मिन् काले वा कर्त्तव्यम् इति जिज्ञासायामाह "यत्रै-

सारबोधिनी–[पवित्र देश में वस्त्र मृगचर्म कुशादिकासन अत्यन्त उन्नत तथा अत्यन्त नीचस्थिर आसन को प्रतिष्ठित करके उस आसन पर एकाग्र मनको करके कायिक वाचिक मानसिक क्रिया को संयत करके मनके पवित्रता के लिए योगाभ्यास करें"] इत्यादि स्थल में तत्ववेत्ताओं ने कहा है कि आसीन पुरुष योगाभ्यास करे । इससे सिद्ध होता है कि ध्यान लक्षण जो ब्रह्मोपासन है उसको आसीन व्यक्ति ही करे । न तु चलते फिरते अथवा सोते हुये चलते फिरते सोते हुए व्यक्ति से ध्यान असंभवित भी है । अतः बैठकर ही ध्यानोपासन करें ॥१०॥

॥ आप्रयाणाधिकरणम् ॥६॥

आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम् ।४।१।१२।

एतद्ब्रह्मोपासनमेकस्मिन्नहन्यसकृद्विधेयमाप्रयाणादनंदिनं वेति

काग्रतेत्यादि" सूत्रम् । यत्र यस्मिन् देशे यत्र काले वा चित्तस्यमनस- उपास्योन्मुखता भवेत्. तस्मिन्नेव काले ध्यानानुष्ठानं कर्त्तव्यम्, न तु अमुकदेशेऽमुकब्राह्ममुहूर्त्तादिकाले वा तदनुष्ठानमिति । यतोदेशकालादि विधाने विशेषस्याश्रवणात् । यद्यपि "समेशुचौशर्करावन्हिबालुका विवर्जिते" इत्यादिनादेशकालयोविशेषतः कथनं कृतं तथापि एतद्वचन मनस एकाग्रता प्रयोजकदेशकालमेव कथयति. न तु देशविशेषस्य कालविशेषस्य वाग्रहं करोति । तस्माद्यत्र देशे काले वा मनस एकाग्रताभवेत्तत्रैव देशे काले वा ध्यानलक्षणमुपासन विधेयमिति भावः ॥११॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य कृत्तौ श्रीरघुवर्य वृत्ति विवरणे आसीनाधिकरणम् ॥५॥

विवरणम्–यदिदं मोक्षसाधनं ध्यानापरपर्यायमुपासनं तत् यदाकदाचिदेकदिनमेवानुष्ठेयमथवा यावज्जीवनप्रतिदिनं तादृशमुपासनं विधे-

सारबोधिनी–उपासक पुरुष बैठ करके मोक्ष कारण ध्यान लक्षण उपासना का अनुष्ठान करें ऐसा पूर्वपक्ष में कहा है । परन्तु अनुष्ठान मात्र देश काल सापेक्ष होता है तो किस देश में तथा किस काल में बैठ करके उपासना का अनुष्ठान करें । एतादृश जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं "यत्रैकाग्रता" इत्यादि सूत्रम् । जिस देश में तथा जिस काल में मन की एकाग्रता सम्पन्न हो उसी देश में उसी काल में उपासनानुष्ठान करे उपवेशन के समान कोई देश काल में विशेष नियम नहीं है । क्योंकि देशकाल के विषय में कोई विशेषता का श्रवण नहीं है। यद्यपि "समेशुचौशर्करावह्निवालुका विवर्जिते" इत्यादिस्थल में देश विशेष का श्रवण है तथापि वह बचन मन की एकाग्रता मात्र का विधानपरक है । देश काल विशेषता का विधान परक नहीं है ॥११॥

सारबोधनी– मोक्ष का कारण रूप जो ब्रह्मोपासन है वह एक ही दिन में बारंबार करना चाहिए अथवा प्रयाण पर्यन्त. अर्थात् यावज्जीवन प्रतिदिन

-संशयः । तत्रैकवासरेऽप्यसकृदनुष्ठिते शास्त्रस्य चारितार्थ्यान्नानवरतमिति पूर्वःपक्षः । अत्राभिधीयते-"स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषम् [छा० ८।१५।१।] इत्यादि श्रुतिभ्यो देहस्थितिदृष्टत्वादामरणमहर्दिवमुपासनं विधेयम् ॥१२॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावाप्रयाणाधिकरणम् ॥६॥

यमिति संशयः । तत्र पूर्वपक्षस्तु यदाकदाचित् कियत्कालमेवानुष्ठेयं नतु यावज्जीवनं तावतैवशास्त्रार्थस्य संपादितत्वात्प्रयाजादिवदिति । सिद्धान्तस्तु "स खल्वेवं वर्तयन्" इत्यादि श्रुतेः प्रयाणपर्यन्तं प्रतिदिनमेवोपासनमनुष्ठेयम् । तथा आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तयेति वृद्धस्मरणादपि तथानुष्ठेयमिति दर्शयितुमुपक्रमते "एतद्ब्रह्मोपासनमित्यादि" एतद्ब्रह्मोपासनम्=मोक्षकारणीभूतं ब्रह्मध्यानमेकदिवसे एवानुष्ठेयम्, अथवा प्रयाणपर्यन्तं यावज्जीवनं प्रतिदिनमनुष्ठेयमितिसंशयः । तत्रैकदिनेवारंवारानुष्ठाने कृते उपासना प्रतिपादकशास्त्रस्य प्रयाजादिवच्चरितार्थत्वान्नमुहुर्मुहुर्विधेयमुपासनमिति पूर्वपक्षाशयः । अत्रोत्तरम् "स उपासको यावदायुषमुपासनमावर्तयेदित्यर्थक श्रुत्यादौ यावत् कालं शरीरस्थितिस्तावत्कालपर्यन्तम् मरणपर्यन्तमित्यर्थः । अहर्दिवं प्रतिदिनं ब्रह्मोपासनं कर्त्तव्यमेव । नत्वनेकवारमेकदिने एव कर्त्तव्यं "सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्वात्सल्यजलधेर्भगवतः श्रीरामस्यस्वभाव एवैष यत् स प्रार्थित एव ब्रह्मोपासन करना चाहिए—ऐसा संदेह होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि एक ही दिन वारम्बार उपासना का अनुष्ठान करने से भी जब उपासना विधायक शास्त्र की चरितार्थता हो जाती है तब यावज्जीवन प्रतिदिन तादृशोपासन का अनुष्ठान निरर्थक है । जैसे एक बार एक दिन में प्रयाजानुष्ठान करने से ही स्वर्गादि फल की सिद्धी की संभावना होने से प्रतिदिन प्रयाजानुष्ठान नहीं किया जाता है उसी तरह प्रकृत में भी समझना चाहिए । एतादृश पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं कि "आप्रयाणात्" इत्यादि सूत्र । जो यह ब्रह्मोपासन है वह प्रयाण पर्यन्त=यावज्जीवन प्रतिदिन अनुष्ठेय है । क्योंकि शास्त्र में याव-

॥ तदधिगमाधिकरणम् ॥७॥

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ।४।१।१३।

अथोपासनफले विचिन्त्यमाने संशयः। किमुपासनरूपविद्ययाघनाशो भवति न वेति । तत्रानिष्टफलजनकस्य "नाभुक्तं क्षीयते कर्म"

मत्रं करोतीत्युपायत्वप्रार्थनाऽवश्यकर्तव्येत्यपिध्येयम् । सेयमुपायत्वप्रार्थनैव प्रपत्तिः । प्रारब्धातिरिक्तकर्मनिवर्त्तकोऽसकृदाप्रयाणादनुष्ठेयश्च भक्तियोगः 'अन्त काले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् । यः प्रयाति मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः। "इत्यादिभगवद्वचनप्रामाण्यादन्तिमस्मृतिमपेक्षते "। (गीतानन्दभाष्यम् १८।६६) इत्याचार्योक्तेः अस्मत्तन्त्रे भक्तिप्रपत्युपासनादिकाः समपर्याया इतिनविस्मर्त्तव्यमितिदिक् ॥१२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ श्रीरघुवरीयवृत्ति विवरणे आप्रयाणाधिकरणम् ॥६॥

विवरणम्—एतावता प्रबन्धेनावशिष्टः विद्यायाः स्वरूपमेव विचारितम्. ततः परं विद्यायाः फलं किमिति तद्विषये विचारः प्रस्तूयते । ज्जीवन प्रतिदिन अनुष्ठान करना चाहिए ऐसा देखने में आता है । "स खल्वेवम्" इत्यादि, वह उपासक याज्जीवन उपासना का आवर्तन करता हुआ" इत्यादि श्रुति में यावद्देह धारण है तावत् काल पर्यन्त उपाना का आवर्तन देखने में आया है । इसलिए याज्जीवन उपासना का प्रतिदिन अनुष्ठान करना चाहिए । अदृष्ट फलक प्रयाजादिक का अनुष्ठान एक बार करने पर भी शास्त्र की चरितार्थता हो सकती है । किन्तु दृष्टफलक उपासन में तो यथा शास्त्र प्रतिदिन यावज्जीवन अनुष्ठान होना चाहिए ऐसा शास्त्र तथा आचार्य का मत है ॥१२॥

सारबोधनी— ब्रह्मोपासना का क्या फल है इसका विचार करने पर संशय होता है कि यह जो ब्रह्मोपासना रूप ब्रह्म विद्या है तादृश विद्या से

इत्यादिशास्त्रबलादुपासनेन विनाशासम्भवाद्भोक्तव्यत्वमापततीतिपूर्वः पक्षः। अत्राभिधीयते "एवं विदिपापं कर्म नश्लिष्यते" [छा० ४।१४।३।] "एवं हास्य सर्वे पाप्मानः विदूयन्ते" [छा०५ २४।३।] 'क्षीयन्ते चास्य

तत्र ब्रह्मज्ञानिनां विद्या फलस्य विरुद्धं यत् पापलक्षणं तस्य विनाशो भवति नवेतिसंशयः। अर्थाद् ब्रह्मविद्ययापापस्य विनाशो भवति नवेति संशयः। तत्र विद्यया पापस्य विनाशो न भवति. यतः 'नामुक्तं क्षोयते कर्मकल्पकोटिशतैरपि" 'कदाचित्स्वकृतं कर्मकूटस्थमिह तिष्ठति। मज्जमानस्य संसारे यावद्दुःखातिगो भवेत्' [यावत् कालं कर्मणां भोगो न जायते तावत्काल किं बहुना कल्पकोटि शतैरपि तस्य विनाशो न जायते अर्थात् भोगानन्तरमेव कर्मणां विनाशो भवति 'इत्यादि श्रुत्याफलभोगादेवकृतकर्मणां विनाश इति पूर्वपक्षः। उत्तरं तु कृतमपिकर्म ब्रह्मविद्ययाविनश्यत्येव 'सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इत्यादिश्रुतिवलादिति दर्शयितुमुपक्रमते "अथोपासन फले" इत्यादि। उपासनाया यत्फलं ब्रह्मावाप्तिस्तद्विचारे प्रस्तुते संशयो जायते। उपासनलक्षणविद्यया ब्रह्मविन्निष्ठस्य पापकर्मणो विनाशोभवति नवेति। तत्र शास्त्राविहितब्रह्महननसुरापानादिजनि-

ब्रह्मज्ञानी में जो पाप कर्म है उसका विनाश होता है अथवा नहीं होता है। अनिष्टकर्म ब्राह्मण हनन सुरापानादिक उससे संपादित जोपाप, उसका "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" इत्यादि शास्त्र के वल से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मोपासना से विनाश नहीं होता है अवश्य भोक्तव्यत्व ही तादृश कर्म में है। इस पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं कि "तदधिगमे" इत्यादि सूत्रम् तदधिगमे=अर्थात् ब्रह्मविद्या की प्राप्ति हो जाने से "उत्तरपूर्वयोः" उत्तर तथा पूर्व अघ पाप का अश्लेष सम्बन्धाभाव तथा विनाश हो जाता है। उत्तर ब्रह्मविद्या के बाद होने वाला तथा पूर्व अर्थात् ब्रह्मविद्योत्पत्ति के पूर्व कालिक संचितदुष्कृत का सम्बन्धाभाव तथा विनाश हो जाता है। उत्तर कर्म

कर्माणि" [मु०२।२।८।] इति व्यपदेशाद्विद्याधिगमेनतन्महिम्नोत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ विदुषोऽवश्यम्भवतः "नाभुक्तमितिवचनन्तु प्रारब्धपरमिति न तेन कश्चिद्विरोधः ॥१३॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ तदधिगमाधिकरणम् ॥७॥

तपापकर्मणांविद्ययाविनाशोभवति. "नाभुक्तंक्षीयते कर्मकल्पकोटिशतैरपि" इत्यादिशास्त्रेण कृतकर्मणां फलभोगादेव विनाशश्रवणादकृतभोगस्य पापकर्मणोविद्ययाविनाशासंभवादितिपूर्वपक्षः।

तत्रोत्तरमाह "तदधिगमे" इत्यादि. तदधिगमे ब्रह्मविद्यायाः प्राप्त्यनन्तरं विद्याबलात्, उत्तरकालिकपापकर्मणामश्लेषः संबन्धाभावः। पूर्वकर्मणामर्थात् तत्वज्ञानात् पूर्वकालेजातानां पापकर्मणां विनाशो जायते एव। कुतः? तद्व्यपदेशात् शास्त्रे तथैव प्रतिपादनादिति सूत्रार्थः। एतदेव विभज्यदर्शयति "अत्राभिधीयते" इति। शास्त्रमेवोदाहरति "एवंविदीत्यादि" यथा इषिकातूलं वह्नौप्रक्षिप्तं समूलं विनश्यति. तथैव एवं विदि ब्रह्मज्ञानिनि यानि कर्माणि सन्तितानिविद्यारूपवह्निबलाद्विनष्टानि भवन्तीत्यर्थः

तथा "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इत्यादि पूर्वसञ्चितकर्मणां विनाशं प्रतिपादयन्ति श्रुतयः। एवं पुष्करपलाशः कमलपत्रं जले यथा श्लिष्टं न

का सदा प्रागभाव ही रहता हैं और पूर्व कर्म का तत्व ज्ञान से विनाश हो जाता है। क्यों ऐसा होता है? इसके उत्तर में कहते है' 'तद्व्यपदेशात्'' वेदान्तशास्त्र में ऐसा ही प्रतीपादन किया गया है। तादृश श्रुति को बतलाते है "यथा पुष्कर पलाश आपोनश्लिष्यन्त एवमेवविदि कर्मनश्लिष्यते" "तद्यथेषिकांतूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवंह्यस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" "क्षीयन्ते चास्यकर्माणि" इत्यादि [जैसे कमल में जल का श्लेष नहीं होता है। उसी तरह तत्त्वज्ञानियो में पापकर्म का श्लेष नहीं होता हैं। ईषीकातूल अग्नि

भवति तथैव. ब्रह्मज्ञानिनि पापकर्माश्लिष्टं भवतीति. उत्तरपापकर्मणः संश्लेषाभावं दर्शयन्ति। यद्यपि "नामुक्तं क्षीयते" इत्यादि वचन विरोधः स्यात्. तथापि समुदाहृतवचनस्य तद् दृढतायामेवतात्पर्यम्। अश्लेषविनाशप्रतिपादकवचनानि तु कर्मणि या फलोत्पादकता शक्तिर्विद्यते. तादृशशक्तेर्विनाशसामर्थ्यं तथोत्पत्तिनिवारकसामर्थ्यञ्चब्रह्मविद्यायां विद्यते इत्यभिप्राककानि। ततश्चोभयोर्भिन्नविषयत्वेन प्रतिवध्यप्रतिप्रतिबन्धकभावो न भवति. हिंसा अहिंसा प्रतिपादकवचनवदिति। केचन "ना भुक्तम्" इति वचनंप्रारब्धकर्मपरकत्वं तस्य च भोगादेव क्षय इत्यर्थं प्रतिपादयन्ति तद्भाष्यकाराशयविरोधादुपेक्ष्यम् तथाहि तत्राचार्याः "अत्र दुरितकर्मणां फलानुकूलाशक्तिश्च

में देने पर जैसे नष्ट हो जाता है। उसी तरह तत्वज्ञान रूप अग्नि से पाप नष्ट हो जाता है। अर्थात् स्वकीय फल का उत्पादन करने में असमर्थ हो जाता है भंजित चणकादि बीज की तरह"। जिसने उस परमात्मा का साक्षत्कार कर लिया उसको हृदय ग्रन्थी टूट जाती हैं। तथा सभी प्रकार के मनोगत संशय विकल्प विनष्ट हो जाते हैं और सभी कर्म भी विनष्ट हो जाते हैं तत्वज्ञानसे इत्यादि व्यपदेश से सिद्ध होता है विद्या की प्राप्ति होने से विद्या बल से उत्तर पूर्व पाप कर्म का विनाश हो जाता है यह विनाश अवश्य भावी है। "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" [अभुक्तकर्म का करोड़ो वर्ष में विनाश नहीं होता है'] यह जो वचन है वह प्रारब्ध कर्म परक है अर्थात कर्म तीन प्रकार का होता है सञ्चित, क्रियमाण तथा प्रारब्ध। इसमें तत्वज्ञान होने से प्रथम दो कर्म तो नष्ट हो जाते हैं। परन्तु तृतीय जो प्रारब्ध कर्म है उसका विनाश तो फल भोग करने से ही होता है अतएव प्रारब्ध कर्म का भोग करने के लिए तत्वज्ञानी का शरीरावस्थान तथा कायव्यूहादिक आवश्यक होता है तो "नाभुक्तम्" इत्यादि जो वचन है वह मात्र प्रारब्ध कर्म परक है। इसलिए पूर्वापर वचनों में विरोध नहीं होता हैं। भगवदनुकम्पादी कर्मबन्धन है वह

इतराधिकरणम् ॥८॥

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ।४।१।१४।

अथेतरस्य सुकृतस्याप्येवमसंश्लेषविनाशावुपपद्येते नवेति संशये सुकृतकर्मणो विदुष इष्टत्वेनाश्लेषविनाशाविति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु–

भगवदनुकम्पयैव। तस्याश्च भगवद्भजनादिरूपया भगवत्प्रियतमया विद्यया निवारणमुत्पत्तेरवरोधश्च" इति ॥१३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे तदधिगमाधिकरणम् ॥७॥

विवरणम्—समुत्पन्नब्रह्मविद्यस्य विदुषो ब्रह्मविद्यावलात् पापकर्मणामश्लेषविनाशौ भवत इति पूर्वं प्रतिपादितम् तत्र यथा पापकर्मणः संसारजनकत्वेन तद्विनाश आवश्यक एवं पुण्य कर्मणामपि संसारजनकत्वेन पापवत् पुण्यस्यापि विनाशो भवति नवेति संशयः तत्र पुण्यकर्मणां सुखजनकत्वेन तत्त्वज्ञानिनामपि तस्यावश्यकत्वान्न पुण्यकर्मविनाश इति पूर्वपक्षः। उत्तरंतु यथापापं कर्ममोक्षविरोधितया तदीयहानमावश्यकं

अनन्य निष्ठ ज्ञानि भक्तों के लिये यत्किञ्चित्कर होता है भगवदनुकम्पा प्राप्त जन सब कर्म बन्धन रहित होते है अतः प्रकृत प्रसङ्ग में कोई विरोधाभास नहीं है ॥१३॥

सारबोधिनी–तत्व ज्ञानियों का जो पाप कर्म है वह तत्व ज्ञान के वल से विनष्ट हो जाता है। ऐसा पूर्व में कहा है। यदि पाप कर्म मोक्ष प्रतिबन्धक है तो पुण्य कर्म भी मोक्ष प्रतिबन्धक है। तो इस पुण्यकर्म का तत्वज्ञान से विनाश होता है अथवा नहीं ऐसा संशय होता है। इसमें पूर्वपक्ष वादि कहते हैं कि पाप कर्म तो मोक्ष का विरोधी है इसलिए तत्व ज्ञान से भले ही उसका विनाश हो किन्तु सुकृत कर्म तो मोक्ष का प्रतिकूल नही है। अपितु सहायक ही है। तब तत्त्वज्ञानियों का जो पुण्यकर्म है उसका विनाश नहीं होता है।

विद्याफलमोक्षविरोधितया सुकृतकर्मणोऽप्यश्लेषविनाशावघवदेवोपपद्येते। "तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते" [कौ० १।४।] इति सुकृतेऽप्यघवद्व्य

तथा पुण्य कर्मणामपि सुखात्मकसंसारजनकत्वेन मोक्षप्रतिकूलत्वात्त स्यापीपापवद्विनाशः आवश्यक एवेत्याशयेन सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते "अथेतरस्य सुकृतस्याप्येवमेवमित्यादि" अथेतरस्य पापकर्मभिन्नस्य सुकृताख्यकर्मणः पापवदेव अश्लेषविनाशौ भवतो न वा अर्थात् तत्वज्ञानिनां विद्यावलाद् यथा पापकर्मविनश्यति तथा तेषां यत् सुकर्म पुण्याख्यं सुखजनकं कर्म तस्य तत्त्वज्ञानाग्निनाविनाशो जायते नवेति पूर्व पक्षाशयः। सिद्धान्तयति "इतरस्याप्येवमित्यादि" सूत्रम्। एवं यथा तत्त्वज्ञानिनां तत्त्वज्ञानेन पापं कर्मापगतं विनष्टं भवति एवमेव इतरस्य पापेतरस्य पापभिन्नस्य सुखजनकस्यापि पुण्यकर्मणोऽश्लेषोविनाशश्च-भवत्येव। यथा पापं कर्मदुःखसंवलितसंसारजनकतया मोक्षं प्रतिबध्नन् मोक्षविरोधि भवति ततश्चमोक्षविरोधित्वात्पापस्याश्लेषविनाशावावश्यकावेव तथैव सुकृतकर्मापि सुखात्मकसंसारजनकतया मोक्ष प्रतिकूलत्वात्तदीयविनाशोप्यावश्यक एवेति। एतावानेव विशेषो यदेकं दुःखात्मकसंसारजनकतयामोक्ष प्रतिबन्धकम् अपरं तु सुखात्मकसंसार जनकतयाकोक्षप्रतिबन्धकम्। प्रतिबन्धकत्वमुभययोः सममेव लौह

इसके उत्तर में कहते हैं कि "इतरस्यापीत्यादि" सुत्रम्। जिस तरह तत्त्व ज्ञान से मोक्ष बाधक कर्म का विनाश होता है उसी तरह पुण्य कर्म का भी विनाश होता है। क्योंकि " सुकृत दुष्कृते धुनुते" इस श्रुति में पापकर्म के समान पुण्य कर्म का विनाश प्रतिपादन किया गया है। इसी वस्तु को बतलाने के लिए कहते है " विद्या फल मोक्ष विरोधितयेत्यादि" ब्रह्म विद्या का फल है मोक्ष तादृश मोक्ष का विरोधि होने से पाप की तरह तत्त्वज्ञानि निष्ठ सुकृत कर्म का जो कि स्वर्गादि फल का जनक है उसका भी पापवत् अश्लेष विनाश होता ही है। क्योंकि "तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते" [तत्त्वज्ञानिनिष्ठ पुण्य

पदेशाविद्यानुगुणवृष्टयन्नफलस्य सुकृतस्य तु तदानोमविनष्टत्वेन शरीरपातानन्तरमसंश्लेषो भवति ॥१४॥

इति श्री रघुवरीयवृत्तावितराधिकरणम् ॥८॥

सुवर्णनिर्मितशृङ्खलेतिवत् । यथालोहमयोशृङ्खला लोकान् प्रतिबन्धाति तथैव स्वर्णशृङ्खलापितान् प्रतिबध्नात्येव बन्धकर्तृत्वयोरुभयत्रापिसमानत्वात् । तदुक्तम् "काम कुलकलङ्काय कुलजातापिकामिनी । शृङ्खला स्वर्णजातापि बन्धनाय न संशयः" इति । तस्मात् पापकर्मवत् पुण्यकर्मणामपि अश्लेषविनाशौ भवत एव । श्रुतिरपि द्वयोर्विनाशं प्रतिपादयति "तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते" इति । ननु यदि तत्त्वज्ञानिनां सुकृतदुष्कृतयोरुभयोरपिविनाशस्तदा शरीरधारणं कथं स्यादित्यत आह "पातेतु" तत्वज्ञानादनन्तरमपि विद्यानुगुणफलकस्य सुकृतस्य तदानींसत्वं विद्यत एव यदातु शरीरपातो जायते तदैव सुकृतकर्मणाश्लेषविनाशौ भवतः । अतो न भवति कोऽपि विरोधः पूर्वापरप्रकरणयोरिति । यद्यपि बन्धजनकत्वेनोभयोः समत्वं तथापि एकस्य तावदवस्थानं यावत् देहपातोन भवति देहपाते तु सुकृतस्याप्यश्लेषविनाशौ भवत एव तत्त्वज्ञानिनामिति भावः ॥१४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य कृतौ श्रीरघुवरीयवृत्ति विवरणे इतराधिकारणम् ॥८॥

पाप दोनों का विनाश होता है"] इस श्रुति से पाप की तरह सुकृत का भी विनाश का प्रतिपादन किया गया है । परन्तु ब्रह्मविद्या का अनुगुण अर्थात् सहायक जो सुवृष्टि तथा अन्नादि फलक जो सुकृत उसका उस समय में विनाश न होकर शरीर पात के बाद में अश्लेष और विनाश होता है । अर्थात् दुःख जनक जो पाप उसका तो विनाश शरीरावस्थान काल में ही हो जाता है । और विद्या सहायक जो सुकृत कर्म हैं । उसका अश्लेष विनाश तो शरीर पात के अनन्तर में होता है ॥१४॥

अनारब्धकार्याधिकरणम् ॥९॥

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ।४।१।१५।

विद्याधिगमेनाखिलसुकृतदुष्कृतयोर्विनाशो भवत्युतानारब्धकार्ययोरिति संशये "सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि"

विवरणम्= इतः पूर्वप्रकरणे ब्रह्मोपासकानां यानि पूर्वकर्माणि तानि सर्वाण्यपि ब्रह्मविद्यया गतानि भवन्तीति प्रतिपादितम् । तत्र प्रारब्धकर्मसहितानां सर्वेषां विनाशो भवति । अथवा प्रारब्धेतरकर्मणामेव विनाशो जायते इति संशयो भवति तत्र क्षीयन्ते चास्यकर्माणीत्यादिश्रुतिबलात्सर्वेषां विनाश इति पूर्वपक्षे सिद्धान्तं द्योतयितुमाह "अनारब्धकार्ये" इत्यादि सूत्रम् । प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तकर्मणामेव विद्यया विनाशः । "तस्य तावदेव चिरम्" इत्यादि श्रुत्या विनाशक शास्त्रे संकोचादित्याशयं परिष्कर्तुमुपक्रमते "विद्याधिगमेन ब्रह्मविद्यायाः प्राप्तौसत्यां सर्वेषामारब्धकार्याणामनारब्धकार्याणां सुकृतदुष्कृतानां कर्मणां विनाशो जायते अथवा अनारब्धकार्याणामेव विनाशो जायते इति

सारबोधनी–"क्षीयन्तेचास्य कर्माणितस्मिन् दृष्टे परावरे" इत्याद श्रुति से सिद्ध हुवाकि उपासक को ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होने से कर्म का विनाश है । परन्तु इसमें संशय होता है कि कर्म तीन प्रकार के होते है । एक संचित क्रियमाण तथा प्रारब्ध कर्म तो इन सब कर्मो का बिना विद्या से होता है । कथवा प्रारब्धेतर कर्म का विनाश होता है । इसमें पूर्वपक्ष वादी कहते हैं कि "सर्वेपाप्मानः प्रदूयन्ते" "क्षीयन्तेचास्य कर्माणि [इस विद्यावान पुरुष का पुण्यपाप लक्षण कर्म प्रनष्ट हो जाता हैं। उस परमात्मा का साक्षात्कार जिस को हो गया है उस उपासक का सकल कर्म विनष्ट हो जाता है ।] इत्यादि श्रुति वचन से सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञानी का अशेष कर्म का क्षय हो जाता हैं विद्या के बल से सिद्धान्तस्तु "तस्य तावदेवचिरं यावन्नविमोक्ष्येऽथसंपत्स्ये" [उसविद्यावान को भी मोक्ष होने में विलंब रहता है जब तक कि शरीरपात नहीं होता है जब इस शरीर का पतन हो जाता है तब मोक्ष प्राप्त होता

इत्यादिवचनैरशेषकर्मक्षय इति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु–विदुषोऽपि "तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" [छा०६।१४।२।] इति देहपातावधिविशेषश्रवणाद्विद्योत्पत्तेः प्राचीने अनारब्धकार्ये सुकृतदुष्कृते एव विनश्यतः ॥१५॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावनारब्धकार्याधिकरणम् ॥९॥

संशयः। तत्र "सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" [अस्यब्रह्मज्ञानिनो यानि कर्माणि तानि सर्वाण्यपि विद्याबलेन विनष्टानि भवन्ति"] इत्यादि वचनेषु सर्वपदसमभिव्याहृतकर्मपदसमभिहारात् विदुषां सर्वकर्मणामेव क्षयो जायते इति पूर्वपक्षाशयः।

सिद्धान्तस्तु' 'अनारब्धकार्ये" इत्यादि सूत्रम्। अनारब्धकार्यकसञ्चितपुण्यपापयोरेव विद्यया विनाशो जायते नतु प्रारब्धकार्ययो विद्यया विनाशो भवति। कुत? तदवधेः आरब्धकार्यकयो पुण्यपापयोः शरीर पातपर्यन्तावधेः "तस्यतावदेव चिरम्" इत्यादि श्रुत्या प्रतिपादनात्। तस्माद्विद्यया सञ्चितकर्मणामेव विनाशो नत्वितरस्य ॥१५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ श्रीरघुवरीय
वृत्ति विवरणे अनारब्धकार्याधिकरणम् ॥९॥

है"] इत्यादि वचनों से शरीरपात का अवधिरूप विशेष का श्रवण होने से विद्या उत्पत्ति के पूर्व कालिक अनारब्धकार्यक जो पुण्य पाप रूप कर्म है उन्हीं का विद्या बल से विनाश होता है। किन्तु प्रारब्ध कर्म का नहीं यद्यपिशास्त्र में सुनने में आता है कि विद्वान् का अशेष कर्म विनष्ट हो जाता है। तथापि प्रारब्धेतर कर्म का विनाश होता है ऐसा मानना चाहिए। अन्यथा विद्योत्तर काल में शरीर धारक कर्म का अभाव होने से "तस्यतावदेव चिरम्" इत्यादि श्रुति से शरीरपात का जो अवधि श्रुत है वह असंगत हो जायगा। अतः ब्रह्मविद्या से संचित क्रियमाण कर्म का ही विनाश होता है प्रारब्ध कर्म का नहीं अन्यथा "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" इत्यादि श्रुति का बाध तथा शरीरक कर्म का अभाव होने से शरीरपात का अवधि श्रवण भी असंगत हो जायगा। तथैव सूत्रोक्त कथन भी समंजस होता है। ॥१५॥

॥ अग्निहोत्राद्यधिकरणम् ॥१०॥

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ।४।१।१६।

पुण्यस्याप्यसंश्लेषविनाशावभिहितावितरस्येति सूत्रेण । एवञ्चाग्निहोत्रादीनामपि पुण्यत्वाविशेषादिह विचिन्त्यते । नित्यनैमित्तिकरूपाणि-अग्निहोत्रादीन्याश्रमकर्माणि ब्रह्मविदानुष्ठेयानि न वेति संशयः ।

विवरणम्= अनारब्धशरीरेन्द्रियादिकार्थाणां विद्यया विनाशो जायते इति पूर्वं प्रतिपादितम् । तत्राग्निहोत्रादिनित्यनैमित्तिकाश्रम कर्मणां कर्मत्वाविशेषात् तेषामपि विद्यया विनाशो भवति नवेति संशयः । अग्निहोत्रादीनामपि कर्मत्वाविशेषाद्विनाशो भवत्येवेति न तदाचरणं ब्रह्मविदाकर्त्तव्यमिति पूर्वः पक्षः ।

सिद्धान्तस्तु अग्निहोत्रादिकंतु कर्मकर्त्तव्यमेव तादृशकर्मतु विद्या कार्याय इति दर्शयितुमुपक्रमते "पुण्यस्याप्यसंश्लेषविनाशावित्यादि" पुण्यस्यापि कर्मणोऽश्संलेषविनाशौ विद्यावलेन भवतीति प्रतिपादितम् "इतरस्याप्येवमसंश्लेष" इत्यादि सूत्रे । तत्राग्निहोत्रादिनित्यनैमित्तिकाणां पुण्यकर्मत्वाविशेषात् तस्यापि विनाशो भवति न वेति विचार्य्यते ।

सारबोधिनी—ब्रह्मविद्यावान का जो पुण्य कर्म है उसका भी अश्लेष तथा विनाश हो जाता है ऐसा "इतरस्याप्येवमश्लेषः" इत्यादि सूत्रमें प्रतिपादन किया है । ऐसा हुआ तव तो नित्य नैमित्तिक जो वर्णाश्रम विहित अग्निहोत्रादिक कर्म हैं वे भी तो पुण्य कर्म है तो उनके विषय में यहाँ विचार करते है । नित्य नैमित्तिक लक्षण जो अग्नि होत्रादिक वर्णाश्रम विहित कर्म हैं उनका अनुष्ठानब्रह्मज्ञानी करें अथवा न करें ऐसा संशय होता है ।

इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि अनारब्ध कार्यक जो पुण्य तथा पाप कर्म इन दोनों का विनाश विद्या से होता है ऐसा "अनारब्ध कार्ये" इत्यादिक सूत्र में प्रतिपादन किया । तो नित्य कर्म भी तो अनारब्ध कार्यक है नित्याग्नि होत्रादिक कर्म का भी विनाश हो तो तदनुष्ठान ब्रह्मज्ञानीको नहीं करना चाहिए

अनारब्धकार्ययो सुकृतदुष्कृतयोरुभयोरपि विनाशश्रवणान्नानुष्ठेयानीति पूर्वः पक्षः। अत्राभिधीयते—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" [बृ०४।४।२२।] इत्यादि श्रुतिषु तदनुष्ठितिदर्शनादवश्यमनुष्ठेयानि। यतस्तेषां विद्योन्नतिकरत्वेन तदानुगुण्यम् ॥१६॥

तत्र नित्यनैमित्तिकान्यग्निहोत्रादि वर्णाश्रमकर्माणि ब्रह्मविदा अनुष्ठेयानि नवेति संशयः। तत्र यदा सर्वकर्मविनष्टं भवति तदा कर्मत्वस्याग्निहोत्रादावपि सत्वेन ब्रह्मविदा नित्यान्यपि आश्रमकर्माणि नानुष्ठेयानीति पूर्वः पक्षः। तमिमं पूर्वपक्षं निराकर्तुमाह "अत्राभिधीयते" इत्यादि। अग्निहोत्रादिवन्नित्यमाश्रमकर्म तत् विद्याया यत्कार्यं तादृशकारित्वादनुष्ठेयमेव कुतः! तद्दर्शनात् तमेतमित्यादिना तदनुष्ठेयताया प्रतिपादनात्। तथाहि "तमेतमित्यादि" ["तमेतं परमात्मानं ब्राह्मणाः वेदानुवचनेन स्वाध्याय कर्मणा यज्ञेन दानेन तथा शरीराविरोधितपसा वेदितुमिच्छन्ति"] इत्यादि श्रुतिषु यज्ञादीनामनुष्ठानकर्त्तव्यतायाः प्रतिपादनात् विद्या सहकारिभूतानि कर्माण्यवश्यमेवानुष्ठेयानीति। यत एतेषामग्निहोत्रादीनां विद्या सहकारितया विद्यानुगुण्यमेव। तस्मात्पूर्वोदितानि नित्यनैमित्तिकाश्रमकर्माणि विद्यावतापि नहेयानि किन्तु

इस प्रश्न का उत्तर करने के तथा सूत्र व्याख्यान करने के लिए कहते है "अत्राभिधीयते" इत्यादि। "तमेतमित्यादि" [जड़चेतन शरीरी उस परमात्मा को ब्राह्मण लोग वेदानुवचन स्वाध्याय से यज्ञदान और शरीराविरोध तपस्या के द्वारा जानने की इच्छा करते है"] इत्यादिक श्रुति में अग्नि होत्रादिक विद्या सहायक कर्मों का अनुष्ठान देखने में आता है। इसलिए इन कर्मों का अनुष्ठान ब्रह्मज्ञानी को भी अवश्यमेव करना चाहिए। क्योंकि ये सब नित्य नैमित्तिक आश्रम कर्म जो है वे विद्या के उन्नति में सहायक हैं। इसलिए ये विद्या के अनुगुण ही है विरोधि नहीं। प्राचीनाचार्यों ने भी कहा है "नित्य-

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ।४।१।१७।

अग्निहोत्रादेः सुकृतस्य विद्योन्नतिफलार्थमनुष्ठेयताचेत् "तस्य पुत्राः दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्" इति वचनस्य क्व प्रसर इत्यभिधीयते—अग्निहोत्रादि रूपायाः साधुकृत्यायाः अन्यापि साधुकृत्याविदुषोऽस्त्येव। यस्याश्च विनियोजकमेकेषां शाखिनां सुहृदः साधुकृत्यामिति वचनम्। बलवत्कमविरुद्धफलयोर्विद्योत्पत्तेः पूर्वोत्तरवर्त्तिनोरुभयोरपि सुकृतदुष्कृतयोः सुहृद्द्विषत्सूपयानं सूपपादम् ॥१७॥

अहरहः कर्त्तव्यान्येव। यदपि केचनानाकलितशास्त्रहृदया नैतानि कर्त्तव्यानि किन्तु ज्ञानादिमात्र पुरष्कृत्यैतानि त्यजन्ति ते प्रकृतविषयेमुग्धाएवेति ध्येयम्—"विद्योत्पत्यर्थमहरहरप्यग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठेयमन्यथावर्णाश्रमधर्मविलोपे कल्मषमानसस्य विद्योत्पत्तिरेव नस्यादतो विद्यार्थत्वेन तदनुष्टानमावश्यकम्" इत्याचार्योक्तेः ॥१६॥

विवरणम्—ननु नित्यनैमित्तिकाग्निहोत्रादिकं यदि विद्योन्नतौ सहायकं तदा "तस्य पुत्रा दायमुपयान्ति" इत्यादिवचनानां कुत्रावसर इत्याशङ्कायां सूत्रोपन्यासायोपक्रमते "अग्निहोत्रादेः सुकृतस्य" इत्यादि। यदि नित्याग्निहोत्रादेः कर्मणोर्विद्याया उन्नत्यै अनुष्ठानमानैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्। ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तुयाचयेदिति अन्यथा प्रात्यहिक क्रियमाणदुरितादिकर्म से प्रतिबन्ध होने से कदाचित् विद्या का विनाश हो जायगा अथवा ह्रास तो होगा ही। इसलिए वर्णाश्रम विहित नित्यनैमित्तिक अग्नि होत्रादिक कर्म तो अवश्यानुष्ठेय हैं विद्वानों से भी ॥१६॥

सारबोधिनी—यदि अग्नि होत्रादिक जो सुकृत कर्म है उनको विद्योन्नति में प्रयोजन मानते हैं तब उस ब्रह्मवेत्ता का पुत्र उसके धनादिक को लेता है मित्र वर्ग सत्कर्म को लेते हैं और दुस्कर्म को शत्रु वर्ग ले लेते हैं।" इत्यादि

यदेव विद्ययेति हि ।४।१।१८।

"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" [छा० १।१।१०।] इति ह्युद्गीथविद्यायाः प्रबलकर्मान्तराप्रतिबद्धफलत्वमुक्तम् ।।१८।।

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावग्निहोत्राद्यधिकरणम् ।।१०।।

वश्यकं तदा "तत्र पुत्रादायम्" इत्यादि वचनानां का गतिरित्यत आह "अत" इत्यादि । अतः अग्निहोत्रादि साधुकृत्यायाः अपेक्षया तदन्यापि साधुकृत्याविदुषामस्त्येव अग्निहोत्रादिकर्मणां तदन्योपलक्षकत्वात् । यस्या अन्यायाः साधुकृत्यायाविनियोजकं वचनम् "साधुकृत्येत्यादिकमन्येषांशाखिनामिति । विद्यापूर्वकालिकयोरुभयोरपि सुकृत दुष्कृतयोः सुहृदादौ गमनं भवतीति न पूर्वापरयोः कश्चिद्विरोधः ।।१७।।

विवरणम्—ननु यत् किमपिकर्मतत्सर्वमपि प्रतिबन्धकाभावे सत्येव फलं जनयति नतु प्रतिबन्धकसद्भावे । यथा प्रतिबन्धकसत्वे वह्निर्न दाहात्मककार्यमुत्पादयति यदातु प्रतिबन्धकचन्द्रकान्तमणेरभावो भवति अथवा प्रतिबन्धकसद्भावेऽपि समुत्तेजकसूर्यकान्तमणिमन्त्रादीनां सम्बन्धो भवति तथा कार्यं दाहात्मकं जनयति तथैव प्रकृते उद्गीथादिकं कर्म तदैवफलं जनयति यदा कश्चित्प्रतिबन्धकोन भवेत् अथवा

वचन का समर्थन किस तरह से होगा ? इस शङ्का के समाधान में कहते है कि अग्नि होत्रादि रूप जो साधु कृत्य है उनके अतिरिक्त भी साधुकृत्य ब्रह्मवेत्ता में हैं । जिनका विनियोजक वचन "तस्य पुत्रादायम्" इत्यादि एक शाखाध्यायी का है । बलवान् कर्म से अवरुद्धफलक विद्योत्पत्ति से पूर्वकालिक सुकृत दुष्कृत का गमन मित्र शत्रु में होता है ।।१७।।

सारबोधनी— "जो कर्म विद्या श्रद्धा और उपनिषद सहकार से किया जाता है वह कर्म वीर्यवत्तर होता है । स्वाभाविक जो कार्य जनक सामर्थ्य है उससे अत्यधिक कार्य कारित्व हो जाता है । जैसे पारदमिश्रित काष्ठौषधि

इतरक्षपणाधिकरणम् ॥११॥

भोगेनत्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यते ।४।१।१९।

अनारब्धकार्ययोः पुण्यापुण्ययोर्गतिरुक्ता । ताभ्यामितरे प्रारब्धकार्ये पुण्यापुण्ये किं विद्यानिदानदेहान्ते अथवा वर्तमानदेहान्ते देहान्तरान्ते

कस्यचित्सहकारकस्य सद्भावो भवेत् । "यदेव विद्यया करोति" इत्यादि श्रुतिरुद्गीथकर्मणि प्रतिबन्धकसद्भावेऽपि प्रतिबन्धकं बलहीनं कुर्वन्ती समुत्तेजयति फलदानायोद्गीथकर्मादिकम् । अतः कर्मप्रकरणेऽपि विद्याया उपयोगं दर्शयितुमुपक्रमते "यदेवविद्ययेत्यादि" यद्यत् कर्म करोति तत्तत्कर्म यदिविद्यया विद्या सहकारेण श्रद्धादिसहकारेण वा संपादितं भवति तदा तदेवाल्पफलकमपि बहुफलकं भवतीत्यर्थः । इत्यादिना उद्गीथप्रकरणे कथितविद्यायाः प्रबलकर्मान्तरेण प्रतिबद्धफलकत्वमुक्तं भवति । अयमाशयः कर्म तु स्वकार्यसर्वमपि करोति परन्तु यदि केनचित् कारणेन कर्मप्रतिबद्धं भवति तदातत्कर्मस्वफलेन जनयति तत्र प्रतिबन्धकाभावं संपादयति विद्या अथवा कर्मसमुत्तेजिका भवति विद्या सूर्यकान्तमणिर्यथा चन्द्रकान्तमणिसद्भावेपिदाहाय वह्निं समुत्तेजयति । तथैव प्रकृते विद्यायाः प्रबलकर्मान्तरप्रतिबद्धकर्मणः सहायकत्वं भवति अथवा प्रतिबन्धकापनयने हेतुर्भवतीति ॥१८॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे अग्निहोत्राधिकरणम् ॥१०॥

में होता है" । इस छान्दोग्य श्रुति में उद्गीथ विद्या को प्रबल कर्मान्तर से अतिप्रतिबद्धफलकत्व कहा गया है । अर्थात् विद्या कर्म में जो प्रतिबन्धक कर्मान्तर है उसका निरास करती है अथवा प्रकृत कर्म को सहकार करके उत्तेजिका होती है । जैसे सूर्यकान्त मणि दाहक कार्य में होता है ॥१८॥

सारबोधिनी—अनारब्ध कार्यक जो संचित क्रियमाण शुभाशुभ कर्म है उनका ब्रह्मविद्या से अश्लेष विनाश हो जाता है ऐसा पूर्वरंश में प्रतिपादन

चेत्यनियम इति संशयः । "तस्य तावदेवचिरम्" इत्यभिधानाद्वर्तमान-देहान्ते एवेति नियम इति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु—इतरे—प्रारब्धकार्ये पुण्यापुण्ये उभे भोगेन क्षपयित्वाऽनन्तरमेव ब्रह्मसम्पद्यते । फलाय परिणते ते वर्तमानैकदेहभोग्ये स्यातां तदा तदन्ते ब्रह्मसम्पत्तिरनेकदेहभोग्ये चेदनेकदेहान्ते ब्रह्मसम्पत्तिरित्यनियमः । प्रारब्धफले पुण्यापुण्ये

विवरणम्—अनारब्धफलकयोः सञ्चितक्रियमाणयोः शुभाशुभकर्मणोरश्लेषविनाशौ इति चिन्तितम् । अतः परमारब्धकार्ययोः शुभाशुभकर्मणोर्गतिचिन्तनोपक्रमते "अनारब्धकार्ययोरित्यादि" अनारब्धकार्ययोः अनुत्पादितशरीरफलकयोः सञ्चितक्रियमाणशुभाशुभकर्मणोब्रह्मविद्ययाऽश्लेषविनाशौ भवत इति पूर्वप्रकरणे तद्गतिं कथयित्वा ताभ्यां कर्मभ्यामितरे प्रारब्धशरीरकार्ये शुभाशुभकर्मणी विद्यमानशरीरेजायेते, अथवा वर्तमानदेहस्यावसाने शरीरान्तरेवा जायेते इत्यनियमे इत्येवमेव संशयः ।

तत्र "तस्यतावदेवचिरंयावन्नविमोक्ष्ये" एवं क्रमेण कथनात् वर्तमान शरीरस्यावसाने एव भवतीत्येव नियम इति पूर्वपक्षाशयः । एतादृश पूर्व पक्षनिरासायाह, "भोगेनत्वितरे" इत्यादि सूत्रम् । इतरे अनारब्धकार्य क्रिया गया है । इसके बाद पूर्वोक्त कर्म से भिन्न जो आरब्ध कार्यक पुण्यापुण्य का फलोदय विद्या का निदान जो देह उसके अन्त में होता हैं अथवा वर्तमान देहान्त में या देहान्तर में होता है एतादृश अनियम है, ऐसा संशय होता है । "उसके लिए उपासक का तब तक ही विलंब होता है जब तक प्रारब्धकर्म का भोग से नाश नहीं होता है उसके बाद ब्रह्म संपन्न हो जाता है" इस प्रकार से श्रुति में कहा गया । अतः वर्तमान देह के अवसान में मोक्ष होता है यही नियम है ऐसा पूर्वपक्ष वादी कहते हैं । इसके उत्तर में सिद्धान्त वादी कहते है कि "भोगेन" इत्यादि सूत्रम् संचित क्रियमाण कर्म से भिन्न जो प्रारब्ध कार्यक शुभा-शुभ कर्म उसका भोग से विनाश करके उसके बाद

भोगेनैव क्षयं नेये इत्येव नियमः। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" [छा० ६।१४।२।] इति श्रुयेः ॥१९॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यान्वयप्रतिष्ठित श्रीमदनुभवानन्दाचार्य स्वामी द्वारकेण ब्रह्मवित्स्वामि श्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीरघुवरीय वृत्तौ चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

ककर्मापेक्षयातिरिक्ते प्रारब्धकार्यकपुण्यापुण्यात्मकशुभाशुभकर्मणी ते उभेऽपि भोगेन क्षपयित्वा तदनन्तरं ब्रह्मसंपद्यते मुक्तो भवतीत्यर्थः। फलदानाय प्रवर्तमानयोस्तयोः पुण्यापुण्ययोर्यदि वर्तमानशरीरावच्छेदेनैव भोगः स्यात्तदा तादृशशरीरस्यैवावसाने मोक्षो भवति। अथ यद्यनेक शरीरेणोपभोगयोग्येतादृशकर्मणो तदाऽनेकशरीरान्तरे एव मोक्ष इत्येतस्मिन् न नियमः। प्रारब्धफलकयोः शुभाशुभकर्मणो भोगेनैवक्षयो जायते इत्येव नियमः "तस्यतावदेवचिरमिति" श्रुतेः। विशेषस्तुमोक्ष प्रस्तावे द्रष्टव्यः ॥१९॥

इतीतरक्षपणाधिकरणम् ॥११॥

इत्यानन्दभाष्कार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठाचार्य जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्र कृतौ श्रीरघुवरीयवृत्ति विवरणेचतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः।

तुरन्त ब्रह्म संपत्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाता है। क्योंकि प्रारब्ध कर्म जो कि फल के लिए परिणत है वह यदि वर्तमान शरीर से ही उपभोग योग्य हो तब तो उस शरीर के अन्त में ब्रह्म संपत्ति होती है। अथ यदि वह कर्म अनेक देह से भोग करने के योग्य हो तब तो अनेक देह के अवसान में ही मोक्ष होता है। इस प्रकार से अनियम ही है ऐसा जानना चाहिए। पर प्रारब्धफलक पुण्यापुण्य के उपभोग से ही क्षय होता है यही नियम है। क्योंकि "तस्यतादेव चिरम्" ऐसा श्रुति कहती है ॥१९॥

इति स्वामीरामेश्वरानन्दाचार्यकृत सारबोधिनी टीका के चतुर्थाध्याय में 'प्रथमपाद

श्रीसीतारामार्पणमस्तु

॥ अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

वागधिकरणम् ॥१॥

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ।४।२।१।

ब्रह्मविदः समुत्क्रान्तिरिदानीमुच्यते । "अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्" [छा०६।८।६] श्रुतिरियं वाग्वृत्तेर्मनसि सम्पत्तिमभिधत्तेऽथवा वागिन्द्रि-

---

विवरणम्—इदमीयप्रथमपादे ब्रह्मज्ञानेनानारब्धकार्याणां कर्मणां क्षयो भवति आरब्धकार्याणां कर्मणाञ्चभोगेन विनाशं कृत्वा चरमशरीर मपहायोपासको मोक्षमधिगच्छतीति प्रतिपादितम् । तत्र मोक्षं कथं भवतीत्यपेक्षायां देवयानेन पथागत्वामुक्तो भवतीति कथयितुं प्रथमत उत्क्रान्ति प्रकारदर्शनायोपक्रमते "ब्रह्मविदः समुत्क्रान्तिः" इत्यादि । कर्मक्षपणानन्तरं ब्रह्मविदोऽस्माच्छरीरात्समुक्रान्तिर्भवति उत्क्रान्तिं कृत्वा-गत्वाच साकेतं मुक्तपदभाग् भवतीति । तत्र तादृशोत्क्रान्तेः क्रमः प्रदर्शितश्रुतौतद्दर्शयति "अस्य सोम्य पुरुषस्य" इत्यादि । हे सोम्य प्रियदर्शन ! प्रयतो म्रियमाणस्य पुरुषस्य मरन्मुखस्यजीवस्येत्यर्थः । वागि-

सारबोधिनी—चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में ब्रह्म विद्या तथा भोग में संचित क्रियमाण तथा प्रारब्ध कर्म का विनाश करके देहपात के बाद ब्रह्मज्ञानी मोक्ष प्राप्त करता है ऐसा कहा गया है । उसमें मोक्ष किस प्रकार से होता है इस जिज्ञासा के उत्तर में कहेंगे कि देवयान मार्ग से परम पद को प्राप्त करके मुक्त होते हैं इस बात को कहने के लिए द्वितीयपाद के आदि में उत्क्रमण प्रकार को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "ब्रह्मविदः सत्मुक्रान्तिरित्यादि" जो ब्रह्म ज्ञानी हैं उनका इस शरीरसे उत्क्रमण किस तरह होता है ! इस बात को अब बतलाते हैं "अस्यसोम्य" इत्यादि । हे सोम्य ! मरने के समय में पुरुष का वागिन्द्रिय मन में संपद्यमान होता है । अर्थात् वागिन्द्रिय का प्रलय [विलक्षण संयोग] मन में होता है । मन का प्रलय प्राण में होता है । और

यस्येति संशयः। वाचोऽनुपादाने मनसि वाग्वृत्तिरेव सम्पद्यत इति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु वागिन्द्रियमेव मनसि सम्पद्यते। उपरतायामपि वाचि मनोव्यापारस्य दर्शनात्। "वाङ्मनसि सम्पद्यते" इति साक्षाच्छब्दाच्च। अत्र वाचोमनः सम्पत्तिर्विलक्षणसंयोग एवेतिज्ञेयम् ॥१॥

न्द्रियं मनसि सम्पन्नं भवति मनश्चप्राणे सम्पन्नं भवति प्राणश्च पर देवतायां संपन्नो भवति" इत्येव छान्दोग्यश्रुतौ श्रूयते। तत्र वाग्वृत्तेर्मनसि लयः संपत्तिर्भवति अथवा वागिन्द्रियस्यैव मनसिसंपत्तिरिति संशयः तत्रोपादानकारणे एव कार्यस्यलयो भवति नत्वनुपादानेकस्यापिलयः। न भवति मनो वागिन्द्रियस्योपादानं तस्मान्न मनसि वाचोलयः किन्तु वाक्पदमत्रलक्षणयावाग्वृत्तेरुपलक्षकमितिवाग्वृत्तेरेवमनसिगमनमिति पूर्वपक्षाशयः।

सिद्धान्तस्तु "वाङ्मनसीत्यादि" नवाग्वृत्तेर्मनसि लयः किन्तु वागिन्द्रियस्यैव मनसि संपत्तिर्भवति। कुतः! दर्शनात् शब्दाच्च वागेवमनसिसंयुज्यतिष्ठतीति दर्शनात् स्वापादिकाले उपरतेऽपि वागिन्द्रिये मनसः प्रवृत्तिर्दृश्यते तत्राह शब्दादिति। "वाङ्मनसि संपद्यते" इति-

प्राण का प्रलय पर देवता में होता है। यह श्रुति वाणी की वृत्ति का मन में प्रलय कहती है अथवा वागिन्द्रिय का मन में प्रलय होता है ऐसा संशय होता है,"उपादान कारण में कार्य का लय होता है" ऐसा नियम है तो वागिन्द्रिय का उपादान तो मन नहीं है तब मन में वागिन्द्रिय का प्रलय नहीं होता है किन्तु वागिन्द्रिय की जो वृत्ति है उसका ही मन में प्रलय होता है ऐसा पूर्वपक्ष का अभिप्राय हैं इसमें सिद्धान्ती कहते हैं कि वागिन्द्रिय का ही मन में प्रलय होता हैं। क्योंकि वाणी के उपरत होने पर भी मन का व्यापार देखने में आता है। और वाणी की संपत्ति मनमें होती हैं ऐसा साक्षात् शब्द कहता है। वागिन्द्रिय का उपादान कारण तो मन नहीं है तब वागिन्द्रिय का प्रलय मन में नहीं होगा। इस शङ्का का निराकरण करने के लिए कहते है "अत्र

अत एव सर्वाण्यनु ।४।२।२।

यतो मनसि वाचो विलक्षणसंयोगो नतु लयः । अत एव मनसोऽनुपादानत्वेऽपि वाचमनु सर्वाणीन्द्रियाणि सम्पद्यते । तथा च श्रुतिः "इन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैरिति" ॥२॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ वागधिकरणम् ॥१॥

श्रुतौ वागिन्द्रियस्यैव संपत्तिरभिधीयते नतु वृत्तिमात्रस्य लयः स्वरूपेण वागिन्द्रियस्य सद्भावे प्रमाणाभावान्नवृत्तिमात्रलय इति । यद्यपि उपादानकारणे एवकार्यस्य लय इति नियमः तथापि अत्र संपत्तिशब्दस्य लय इत्यर्थो न किन्तु विलक्षणसंयोगात्मक एव लयः तथा चैतादृशलयस्याकारणेपि संभवान्नकोपिदोषपदमादधाति । तस्माद्वागिन्द्रियस्य स्वरूपत एव मनसि विलयो जायते समुत्क्रमणसमये नतुवाग् वृत्तिमात्रस्येति संक्षेपः ॥१॥

विवरणम्—यतोवागिन्द्रियस्य न प्रलयोऽपितु विलक्षणसंयोग एव भवति अतएव वागिन्द्यप्रलयानन्तरं सर्वेषां तदतिरिक्तानामपीन्द्रियाणां मनसि प्रलयप्रतिपादनं श्रुतिसमर्थितं सङ्गच्छते । अन्यथा श्रुति प्रतिपादितं तदसङ्गतं स्यादित्याशयेन सूत्रव्याख्यातुमुपक्रमते "यतोमवाचो मनः संपत्तिरित्यादि" यहाँ वागिन्द्रिय का मन में संपत्ति होती हैं इसका अर्थ यह हैं कि मन के साथ वागिन्द्रिय का विलक्षण संयोग होता है । एतादृश विलक्षण संयोग स्वरूप प्रलय उपादानेतर पदार्थ के साथ होने में कोई आपत्ति नहीं हैं । इसलिए लक्षण वृत्ति से वागिन्द्रिय वृत्ति परकत्व मानने में गौरव होता है अतः वागवृत्ति का मन में प्रलय होता हैं यह पक्ष ठीक नहीहैं किन्तु विलक्षण संयोग लक्षण प्रलय मन में वागिन्द्रिय का होता है यही पक्ष उचित है ॥१॥

सारबोधिनी—वागिन्द्रिय का अनुपादान रूपमन में विलक्षण संयोग होता है ऐसा मान लिया गया अतएव वागिन्द्रिय के संयोगानन्तर तद तिरिक्त सब

मनोऽधिकरणम् ॥२॥

तन्मनः प्राण उत्तरात् ।४।२।३।

सर्वेन्द्रियसंयुक्तस्य मनसः प्राणे लयः संयोगो वेति संशयः । तत्रा-"न्नमयं हि सोम्यमनः"[छा०] इत्यन्नकार्यत्वान्मनसोऽन्नस्यच 'ताः अन्नमसृजन्त" इत्यप्कार्यत्वात् "आपो मयः प्राणः" इति प्राणस्याप्य-

---

नसित्राचः" इत्यादि । मनसि वागिन्द्रियस्यविलक्षणसंयोग एव लयस्ता-दृशसंयोगार्थक एव संपत्तिशब्दः अतएव वागिन्द्रियानन्तरं सर्वेन्द्रि-याणां तत्र मनसि विलक्षणसंयोगलक्षणप्रलयकथनं श्रुतिसमर्थितं सङ्गतं भवतीति ॥२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यकृत्तौ श्रीरघुवरीयवृत्ति विवरणे वागधिकारणम् ॥१॥

विवरणम्—सर्वेषामिन्द्रियाणां संपत्याधारभूतस्य मनसः प्राणे लयः संयोगमात्रंवेति संशयः । तत्र मनसः पृथिवीकार्यत्वात्पृथिव्याश्चजलज-न्यत्वात् प्राणस्यापिजलात्मकत्वेन जलपरिणामेप्राणेमनसोलय एव न संयोग इति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु अत्रापि संयोग एव नतुलयोमनसोऽह ङ्कारजन्यत्वेन जलादिजन्यत्वाभावात् कारणे एव कार्यस्य लय इतिनिय-मात्तत्र लक्षणायां गौरवाच्चेत्यादिकं दर्शयितुमुपक्रमते "सर्वेन्द्रियसंयुक्त स्य" इत्यादि । सर्वैरेव वागादीन्द्रियैः सह विलक्षणसंयोगशालिनोमनसः इन्द्रियों का संयोग लक्षण प्रलय जो श्रुति में कहा गया है वह भी संगत होता है । यदि प्रलयशब्द का यथा श्रुत प्रलय रूप ही अर्थमाने तव तो प्रलय नहीं होने से तद्बोधक श्रुति व्याहतार्थक हो जाती । अतः विलक्षण संयोग मन प्रभृति में होता है ऐसा मानना ही ठीक है । किन्तु वागूवृत्ति का प्रलय कथन उचित नहीं ॥२॥

सारबोधनी—सर्व वागादिक इन्द्रिय से संयुक्त जो मन है उनका प्राण में लय होता है अथवा संयोगमात्र होता है ऐसा संशय होता हैं । इसमें पूर्व पक्षवादी कहते है कि "अन्नमयं हि सोम्य मनः" इत्यादि श्रुति से अन्न कार्यत्व

स्वश्रवणात्प्राणप्रकृतिकाप्सुपरम्परया मनोलय इति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु–मनसः प्राणे विलक्षणसंयोगमात्रं न लयः। यतस्तस्याहंकारिकत्वात्। अबाप्यायितप्राणस्य भौतिकत्वान्न तत्रलयः सम्भवति। स्वकारण एव लय इति सिद्धान्तात् ॥३॥

इति रघुवरीयवृत्तो मनोधिकरणम् ॥२॥

"मनः प्राणे" इत्युत्तरवाक्येनप्राणेऽलयः संयोगोवेति संशयः। तत्र "अन्न मयंसोम्यमनः" इत्यादिना मनसोऽन्नविकारत्वादन्नस्य च जलप्रकृतिकत्वेन प्राणस्यापितत्प्रकृतिकत्वेन परपरया स्वकारणे प्राणे मनसोलय एव न तु संयोग इति पूर्वपक्षाशयः। तमिमं पक्षं निराकर्तु सूत्रव्याख्यातुं चोपक्रमते सिद्धान्ती तन्मनः प्राण उत्तरादितिसूत्रम्। तस्य मनसः प्राणे संयोगमात्रं भवति नतु लयः कुतः? कारणे एव कार्यस्य लयदर्शनात्. न तु मनसः कारणं जलादिकमहङ्कारजन्यत्वात्तस्य। अकारणे लयार्थं लक्षणाश्रयणे गौरवात्। जलादिना प्राणस्याप्यायनमात्रं भवति प्राणस्तु भौतिकोऽतोन तत्र मनसोलय इति ॥३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे मनोऽधिकरणम् ॥२॥

मन में अवगत होता है और अन्न जो है उसमें "ताः अन्नमसृजन्त" इत्यादि श्रुति से जल कार्यत्व है। और "आपोमयः प्राण" इस श्रुति से प्राण में जलीयत्व का श्रवण है। अतः प्राण का कारण जल में परंपरया मन का लय होता है किन्तु संयोग मात्र नहीं इसमें सिद्धान्ती कहते हैं इस मनका प्राणमें संयोग मात्र होता है लय नहीं क्योंकि मन जो है वह अहंकार प्रकृतिक है। और जलाप्यायित प्राणतो भौतिक है तो भौतिक प्राणमें अभौतिक मनका लय नहीं हो सकता है। कार्यमात्र स्वकीयोपादान कारणमेंही लीयमान होता है अकारण में उनका लय नहीं होता है। किन्तु यथा कथंचित् संयोगमात्र होता है। और पूर्वपक्षी के कथनानुसार मन में लक्षणा का आश्रयणा करने से गौरव भी

अध्यक्षाधिकरणम् ॥३॥

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ।४।२।४।

"प्राणस्तेजसि" इत्युत्तरवाक्ये स प्राणस्तेजसि सम्पद्यतेऽथवा जीव इति संशयः । "प्राणस्तेजसीति व्यपदेशात्तेजस्येवेति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु-सः सर्वेन्द्रियमनोविशिष्टः प्राणोऽध्यक्षेऽखिलकरणाध्यक्षे जीवे सम्पद्यते ।"एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायान्ति"

विवरणम्-"प्राणस्तेजसि तेजः परस्यामिति" श्रुतेः समस्तेन्द्रिय विशिष्टस्य प्राणस्य तेजसि सम्पत्तिर्भवति, अथवा तादृशस्यप्राणस्य करणकलेवराध्यक्षे संपत्तिर्भवतीति संशयः । तत्र "प्राणस्तेजसीति" साक्षात् श्रवणात् तेजस्येव प्राणस्य संपत्तिरिति पूर्वपक्षाशयः। तमियं पूर्वपक्षं निरसितुं सूत्रव्याख्यानाय चोपक्रमते "प्राणस्तेजसीत्युत्तरवाक्ये" इत्यादि । योयं वागादीन्द्रियसंयुक्तप्राणः स किं तेजसि संपन्नोभवत्यथवा करणकलेवराध्यक्षे जीवात्मनि संपद्यते इति संशयः। तत्र "प्राणस्तेजसीति श्रुत्या प्रतिपादनात्तेजस्येव प्राणस्य लय इति ।

होता है। इसलिए सर्वेन्द्रिय संयुक्त मन का प्राण में संयोग मात्र होता है लय नहीं । लय मानने में अनेक दोष होते हैं ॥३॥

सारबोधिनी-वागादि इन्द्रिय संयुक्त जो प्राण है वह संपन्न होता है अग्रिम तत्व में मिलता है इत्यादि वाक्य से जाना जाता है । अब यहाँ संशय होता है कि वह प्राण तेज में सम्पन्न हो जाता है अथवा शरीरेन्द्रियादिक का अध्यक्ष जो जीव है उसमें सम्पन्न होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि "प्राणस्तेजसि" ऐसा श्रुति वाक्य होने से प्राण का तेज में ही प्रलय होता है नतु शरीराध्यक्ष जीव में। एतादृश शङ्का का समाधान में कहते हैं कि "सोध्यक्षे" इत्यादि सूत्रम् । सर्व इन्द्रिय तथा मन से संयुक्त जो प्राण है वह अध्यक्ष में अर्थात् समस्त इन्द्रियादिकरण का अध्यक्ष स्वामी जीव में संपद्यमान होता है । अर्थात् जीव में प्राण का लय होता है किन्तु तेज में नहीं । तेज में

[बृ०४।३।३८।] "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति" [बृ०४।४।२।] "कस्मिन् वा प्रतिष्ठास्यामि" [प्र०६।३।] इत्यादिश्रुतिभिः प्राणस्य जीव एवोपगमोत्क्रान्तिप्रतिष्ठादीनामभिधानात्। "मनःप्राणे" इतिश्रौत वाक्यानन्तरं"प्राणस्तेजसीति" वाक्यस्य सङ्गतिस्त्वनेकप्रामाणानुरोधात् प्राणः स्वाध्यक्षे जीवे संयुज्य तेजसि संयुज्यत इत्येवं क्रमेण बोध्या ॥४॥

श्रीरघुवरीयवृत्तावध्यक्षाधिकरणम् ॥३॥

तमियं पूर्वपक्षं निरसितुमाह सोध्यक्षे इत्यादि सः सर्ववागादीन्द्रियमनोभ्यां विशिष्टः प्राणः अध्यक्षे सकलकरणकलेवरस्वामिनि संपन्नोभवति कुतः ? तदुपगमादिभ्यः। अर्थात् "एवमेवमात्मानमन्तकाले" इत्यादि श्रुतिः प्राणस्य जीवे एव संपत्तिर्दर्शयति। न च यदि प्राणस्य जीवेलय स्तदाः प्राणस्तेजसीति वचनस्य का गतिरिति वाच्यम् परंपरयापितत्समन्वयसंभवात्। यथा गङ्गया संयुज्य यमुनाया गङ्गाद्वारेण सागरगमनेऽपि यमुनया सागरं गम्यते इति तथैव प्रकृते जीवद्वारेणपरे संपद्यमानः प्राणस्तेजसीति वाक्यस्य समन्वयसंभवात्। तस्मादिन्द्रियादिसंयुतस्य

लय क्यों नहीं होता है ? क्यों जीव में ही लय होता है। इस जिज्ञासा के उत्तर में कहतेहैं "एवमेव" इत्यादि "इस प्रकार इस जीवात्मा में अन्त काल में सब प्राण संपन्न हो जाते हैं"। उस जीव के इस शरीर से निकलते प्राण भी शरीर से निकल जाता है।" "किसके इस शरीर में प्रतिष्ठित रहने से मैं प्रतिष्ठित हूँगा" इत्यादि श्रुतियों से जीव में ही प्राण का गमन उत्क्रमण प्रतिष्ठादिक का कथन किया गया है। इमसे सिद्ध होता है कि प्राण का लय जीव में होता है किन्तु तेज में नहीं॥ "मनः प्राणे" "मन प्राण में अभि संपन्न होता है"इस प्रकार का जो श्रुति वाक्य है तादृश वाक्य के अनन्तर में "प्राणस्तेजसि"इस वाक्य की संगति अनेक प्रमाण के अनुरोध से प्राण स्वकीय अध्यक्ष जीवात्मामें संयुक्त होकरके तेज में संयुक्त होता है इस क्रम से उसका

भूताधिकरणम् ॥४॥

भूतेषु तच्छ्रुते ।४।२।५।

"प्राणस्तेजसि" इति जीवसंयुक्तस्य प्राणस्य तेजोमात्रे संयोगोऽभिधीयते उत समस्तेषु भूतेष्विति संशये–तेजसीति विशेषाभिधानात्तेजोमात्र इति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु "पृथिवीमयः" [बृ०४।४।५।] इत्यादिश्रुते जीवस्य भूतमयत्वव्यपदेशात् तासां त्रिवृतमित्यादिश्रुतेश्च तेजः प्रभृतिभूतानां त्रिवृत्कृतत्वेन केवलस्य तेजसोऽनवस्थानात्समस्तेष्वेव भूतेषु संयोगः ॥५॥

प्राणस्यजीवे करणकलेवराध्यक्षे एव संपत्तिर्भवति न तु साक्षात्तेजसीति बोध्यम् ॥४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यं कृतौ
श्री रघुवरीयवृत्तिविवरणेऽध्यक्षाधिकरणम् ॥३॥

विवरणम्–जीवसंपरिष्वक्तप्राणस्य तेजसि संपत्तिर्भवतीति पूर्व सूत्रे प्रतिपादितम् सेयं संपत्ति स्तेजसि केवले भवति अथवा तेजोपलक्षितसर्व भूतेषु भवतीति संशयः। तत्र तेजसीति श्रुतत्वात्केवले तेजसीति पूर्व पक्षः। श्रुतिषुश्रुतत्वात् सर्वभूतेष्वेवेति सिद्धान्तं दर्शयितुमुपक्रमते "प्राणस्तेजसि" इति जीवसंयुक्तस्येत्यादि। प्राणस्तेजसीति व्वाक्यात् जीव सहकृतस्य प्राणस्य तेजसि संपत्तिर्भवतीति श्रूयते। तत्र संशयो जायते तादृशप्राणस्य तेजोमात्रे संपत्तिर्भवति. अथवा तेजः प्रभृतिकसर्वभूतेषु समन्वय होता है ऐसा समझना चाहिए। इससे यह सिद्धहोता है कि साक्षात् योग तो प्राण का जीव में होता हैं अन्य द्वारा तेज में संयोग होता है। अतः श्रुति में कोई भी विरोध नहीं होता है ॥४॥

सारबोधिनी—"प्राणस्तेजसि" इस वाक्य में कहा गया कि जीव संयुक्त प्राण का तेजमें लय होता है अथवा भूत समूह में प्राण का लय होता है। इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि "प्राणस्तेजसि" यहाँ विशेष रूपसे तेज का प्रति–

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ।४।२।६।

एकस्मिन्नपि सम्पत्तौ "पृथिवीमयः" इत्यादिश्रुतेरुपपत्तिस्तु न सम्भवति। एकस्य भूतस्य कार्याक्षमत्वात् "पञ्चीकृतैश्च भूतैश्च रामश्चाण्डं ससर्जहि" इत्याद्याचार्योक्तेः त्रिवृत्कृतस्यैव कार्योपयोगित्वात्।

संपत्तिर्जायत इति संशयः। तत्र तेजसीति विशेषरूपेण तेजसः कथना तेजोमात्रे एव संपत्तिरिति पूर्वपक्षाशयः। "पृथिवीमय आपोमयः" इत्यादिश्रुतौ जीवस्य सर्वभूयत्वस्य सर्वभूतमयत्वप्रतिपादनात् त्रिवृत्करणश्रुतेश्च एकैकमात्रस्य कार्यकारणासामर्थ्यस्य "प्रत्येकस्य च भूतस्य रामेणार्धद्वयं कृतम्। एकैकार्धचतुर्थांशाः स्वेतरार्धेषुयोजिताः। पञ्चीकृतेषु भूतेषु यदर्धं तस्य नामतत्। पञ्चीकृतैश्च भूतैश्च रामश्चाण्ड ससर्ज हि॥" (श्रौतप्रमेयचन्द्रिकायाः प्रकृतिपरिच्छेदे १५६–१५७) इत्याद्याचार्यदिव्यप्रबन्धेपुराणादौ च प्रतिपादनात्सर्वभूतेष्वेव संयोगो जायते इति सिद्धान्तः। वृत्तेरक्षरार्थस्त्वतिरोहित एवेति नप्रपञ्च्यते॥५॥

विवरणम्–ननु क्रमशः सत्संपत्ति संभवेऽपि, "पृथिवीमय" इत्यादि श्रुतेरुपपत्तिसंभवे कथं तत्परित्याग इत्याशङ्कामपनेतुमुपक्रमते "एक

पादक शब्द है अन्य भूतोंका उपस्थापक तो कोई है नहीं इसलिए तेजोमात्र में प्राण का प्रलय होता है। किंतु सर्व भूतोंमें प्राणका लय नहीं ऐसा पूर्वपक्षका आशय है। इस पूर्वपक्ष के निराकरण में कहते है "भूतेषुतच्छ्रुतेः" '-सर्वभूतों में प्राण का लय होता है। क्योंकि श्रुति में ऐसा ही प्रतिपादन किया गया है। तथाहि "यह आत्मा पृथिवीमय, जलमन, तेजोमय है" और "तासांत्रिवृतं त्रिवृतंकरवाणि" इत्यादि श्रुति से तेज प्रभृतिक भूतों का त्रिवृत्करण होने से और केवल तेज का अनवस्थान होने से सर्वभूतो में ही जीव संयुक्त प्राण का विलक्षण संयोग रूपलय होता है॥५॥

सारबोधनी–क्रमिक–एक–एक भूत में संपत्ति [लय] मानने पर भी तो "पृथिवीमयः आपोमयः" इत्यादि श्रुति का समन्वय होने की संभावना जब हो

तृवृत्करणञ्च पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणमिति तत्वम् श्रुतिस्मृतीममर्थं दर्शयत "तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकस्य करवाणि" [छा० ६।३।३।] समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः" [वि. पु. १।२।६२।] अतो भूतविशिष्टस्यैव तेजसोऽत्रग्रहणम् ॥६॥

इति श्रीरघुरीयवृत्तौभूताधिकरणम् ॥४॥

स्मिन्नपीत्यादि" एकैकभूते संपत्तेः स्वीकारे पृथिवीमय इत्यादि श्रुतेरुपपत्तिर्न समर्थिता स्यात्. यतः त्रिवृत्करणरहितस्यभूतस्यातिसूक्ष्मत्वेन- विशिष्यकार्योत्पादनसामर्थ्यस्यासंभवात् यथाखलुभूतंत्रिवृतंकृतंभवति तदैव तस्य कार्योत्पादकत्वं भवति नान्यथा। इममेवार्थं विशिष्यश्रुति स्मृतीसमर्थयतः "तासांत्रिवृतमित्यादि" समेत्यान्योन्यसंयोगंपरस्परेत्यादि. नाभावीया अपिते भूतनिकराः पृथक् भूता एकैकशः संहतिं विना- कार्योत्पादनेऽसमर्थाः परस्परसंयोगमादायैव सृष्टिलक्षणं कार्यं कुर्वन्ति।

सकती है तब समस्त भूत में संपत्ति मानने की क्या आवश्यकता है। इस शङ्का का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते हैं "एकस्मिन्नपि संपत्तौ" इत्यादि वृत्तिः। सूत्रमुदाहरति "नैकस्मिन्निति" एक एकभूत में संपत्ती नही हो सकती है इस बात को श्रुतिस्मृति प्रतिपादन करती है। प्रत्येक भूतों में संपत्तिलय मनाने पर "पृथिवो मय आपोमयः" इत्यादि श्रुति की उपपत्ति नही हो सकती है क्योंयि अत्रिवृतकृत प्रत्येक भूत में कार्य की क्षमता नहीं है। अत्रिवृत प्रत्येक भूत अतिसूक्ष्म है अतः त्रिवृतकृत पञ्चीकृत भूत में ही कार्यजनकत्व हैं। "तासांत्रिवृतमिति"। "इन पृथिवी जलतेज में से एक एक को त्रिवृत त्रिवृत करता हूँ" अनेक प्रकारक वीर्य संयुक्त भी पृथक् पृथक् रूप से व्यवस्थित होने से संहति परस्पर सहकार के विना प्रजा की सृष्टि में समर्थ नहीं हो सके तब "पञ्ची कृतैश्च भूतैश्च रामश्चाण्डं ससर्ज हि" इत्यादि रूपसे जगदगुरु श्री श्रियानन्दाचार्योक्त प्रकार से भगवान श्रीरामचन्द्र जी ने पञ्चीकृत भूतों के परस्पर संयोग से ब्रह्माण्ड की सर्जना की। इसलिए भूतान्तर विशिष्ट

आसृत्युपक्रमाधिकरणम् ॥५॥

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वञ्चानुपोष्य ।४।२।७।

किमियमुत्क्रान्तिरविदुष एवाहोस्विद्विद्वदविदुषोरुभयोः समानेति संशयः। तत्र "अत्र ब्रह्म समश्नुते" [का० २।६।१४] इति ब्रह्मविदोऽत्रैव ब्रह्मप्राप्तिश्रवणादविदुष एवेयमुत्क्रान्तिरिति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु–गत्युपक्रमात्प्राक्–नाडीप्रवेशात्प्राक्विद्वदविदुषोः समानेयमुत्-

---

तस्मादत्रसर्वभूतविशिष्टतेज एव प्रकृते ग्रहणं नतु विशिष्यैकस्य इति ॥६॥

इति जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे भूताधिकरणम् ॥४॥

विवरणम्–ननु यदिदमुत्क्रमणं तत् अविदुषामेव भवति अथवा विदुषामुभयोः साम्यमिति संशयः। तत्र "अत्र ब्रह्म समश्नुते" इत्यादि वचनात् विदुषस्तत्प्रतिषेधेनाविदुष एवोत्क्रमणं भवति नतु विदुष इति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु "शतंचैकेत्यादि" वचनात् विदुषामपि नाडीप्रवेशश्रवणेन विदुषोऽपिनाडीद्वारा समुत्क्रमणं भवत्येवेति दर्शयितुमुपक्रमते "किमियमुत्क्रान्ति रित्यादि" यदिदमुत्क्रमणं शरीराद्भवतीति श्रुतं तद विदुष एव अथवोभयो रपि समानेति संशयः।

तेज का ही यहाँ ग्रहण होता है। अर्थात् भूतान्तर विशिष्ट तेज में ही प्राण का परंपरया विलक्षण संयोग रूपलय होता है ॥६॥

सरबोधिनी—शरीर प्रापण समय में करणग्राम जो उत्क्रमण का प्रतिपादन किया गया है वह केवल अज्ञानी का होता है। अथवा ब्रह्मज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों का समान रूप से होता है एतादृश संशय होता है। उसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि "अत्रब्रह्म समश्नुते" [ब्रह्मज्ञानीय हीं ब्रह्म को प्राप्त कर जाता है।] इत्यादि श्रुति से ब्रह्मज्ञानी को यहां ब्रह्मप्राप्ति का श्रवण होने से यह उत्क्रमण केवल अविद्वान् का ही होता है किन्तु ब्रह्मज्ञानी का नहीं। इस

क्रान्तिः विदुषोऽपि मूर्धन्यनाडीप्रवेशस्य श्रुतत्वात् "शतं चैका" [का०- २।६।१६।] "अथमर्त्योऽमृतोभवत्यत्रब्रह्मसमश्नुते" (का. २।६।१४) इतिश्रुतिस्तु ब्रह्मविदोऽत्रैवामृतप्राप्ति नाभिधत्ते। किन्तूपासनसमये शरीरेन्द्रियसम्बन्धसत्व एव। विद्यासामर्थ्यादुत्तरपूर्वाघविनाशे दुःखाननुभवादमृतत्वसाम्यम्। अयमर्थो "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः" [का० २।६।१४।] इति प्रकृतश्रुतेः पूर्वार्धपर्यालोचनया निश्चीयते ॥७॥

पूर्वपक्षाशयस्तु "अत्र ब्रह्म समश्नुते:" इत्यादिना ब्रह्मज्ञानिनामत्रैवामृतत्वप्राप्तिश्रवणेनेयमुत्क्रान्तिर्ब्रह्मज्ञानिभिन्नानामेवनतुब्रह्मज्ञानिनामिति। तत्र सिद्धान्तयति समाना चेयमिति सूत्रम्। ब्रह्मज्ञानिनामपि आसृत्युपक्रमात्समानैवोत्क्रान्तिर्नत्वविदुष एव। शतं चेकेत्यादि वचनेन मूर्धन्यनाडीप्रवेशस्य विदुषामपि श्रवणात्। उत्क्रान्तेरभावेनाड़ीप्रवेशस्यनैरर्थक्यप्रसंगात्। देहवतोऽमृतत्वश्रवणं तु दुःखहेतुभूतकर्मणोविनाशेनामृतत्वप्रतिपादनेनौपचारिकमेव। एतदेवाक्षेपसमाधानाभ्यां वृत्तिकारः स्पष्टयति "अथमर्त्योऽमृतोभवतीत्यादिना" "अत्र ब्रह्म समश्नुते" इत्यादिश्रुतिरत्रैवविदुषोब्रह्मप्राप्ति न प्रतिपादयति. किन्तु समुपासन समये करणकलेवरसम्बन्धसमये दुःखकारणपापनिवृत्या दुःखस्यान-

पूर्वपक्ष के उत्तर में लिखते हैं कि "समानावेत्यादि" विद्वान तथा अविद्वान् को समान ही उत्क्रान्ति होती है। इसीका स्पष्टीकरण करते हैं। सिद्धान्तस्तु—इस प्रकरण से-नाड़ी प्रवेश से पूर्व में विद्वान् तथा अविद्वान् को समान ही उत्क्रमण होता है। क्योंकि मूर्धन्य नाड़ी में प्रवेश विद्वान् का भी 'शतञ्चैका' इत्यादि स्थल में प्रतिपादान किया गया है। अतः विद्वान् अविद्वान् दोनों का समान ही उत्क्रमण होता है ऐसा निश्चित होता है "अथमर्त्योऽमृतोभवत्यत्रब्रह्म समश्नुते" इत्याति श्रुति ब्रह्मज्ञानी को यहीं अमृत प्राप्ति का प्रतिपादन नहीं करती है। किन्तु उपासना काल में शरीरेन्द्रिय के सम्बन्ध सद्भाव में ही

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ।४।२।८।

अर्चिरादिगत्या ब्रह्मलोकप्राप्तिरपीतिस्तावत्पर्यन्तं संसारस्याभिधानात् "तस्य तावदेव" "धूत्वाशरीरमकृतं कृतात्मा" [छा०८।१६।१] इति । अतस्तदमृतत्वं शरीरसम्बन्धसत्व एव ॥८॥

नुभवादमृतत्वसमतामेव दर्शयति. दुःखाभावस्यामृतत्वे उपचाराद-भावस्याधिकरणात्मकत्वात् । नायमर्थकपोलकल्पितः किन्तु "यदा सर्वे प्रमुच्यन्त" इत्यादिश्रुत्यर्थपर्यालोचनया प्राप्तोभवति । तस्मात् प्रकृतमिदमुत्क्रमणं ब्रह्मज्ञानिनां तद्भिन्नानां च समानमेव भवति, उपपत्तेः श्रुतेः "नाड्या मूर्धन्यया चाथोत्क्रामति हृदयात्किल । शरीरान्निर्गतो भक्त ऊर्ध्वं याति च रश्मिभिः" इत्यादिरूपेण जगद्गुरु श्रीरामेश्वरानन्दाचार्योक्तप्रकारेण स्मृतश्च तत्र तत्र प्रदर्शितत्वादिति संक्षेपो विस्तरोऽन्यत्रानुसंधातव्यः ॥७॥

विवरणम्– "अत्र ब्रह्मसमश्नुते" इत्यत्र. त्रल् प्रत्ययान्त इदं पद समानाभिहारात्. यदमृतत्वं न तत्साकेतप्राप्तिलक्षणं किन्तु उपासनाधिकरणशरीरसम्बन्धकालिकं दुःखाभावात्मकमौपचारिकमेव एतादृशममृतत्वं

विद्या के बल से उत्तर पूर्वपाप का विनाश हो जाने से दुःख का अनुभव नहीं होते से अमृतत्व के समता का प्रतिपादन करती है । अभाव अधिकरण स्वरूप होता है ऐसा नियम होने से दुःखाभाव सुख में उपचरित है । यह अर्थ "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" इस श्रुत्यर्थ का विचार करने से निश्चित होता है । अतः विद्वान् तथा ब्रह्मज्ञानी भिन्न सभी व्यक्ति का शरीर से उत्क्रमण समान रूप से ही होता है । इस विषय पर तात्विक विचार सारस्वत सार्वभौम जगद्गुरु श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य प्रणीत श्रीरामप्राप्तिपद्धति तथा उसके विवरण में देखें ॥७॥

सारबोधिनी—वास्तविक अमृतत्व की प्राप्ति परित्यक्त देह संबन्ध व्यक्ति को ही होती है । ब्रह्मलोक पर्यन्त में जो अमृतत्व है वह तो आपेक्षिक औप--

देह संबन्धमेव सूचयतीति दर्शयितुमुपक्रमते "अर्चिरादिगत्येत्यादि" अर्चिरादिगत्या देवयानमार्गेण यावत्पर्यन्तं ब्रह्मप्राप्तिरूपा अपीतिस्तावत्कालपर्यन्तं शरीरसंबन्धलक्षणसंसारस्याभिधानात् संसारसंबन्धस्य वर्तमानत्वमेव । यतः "तस्य तावदेवचिरंयावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्यते" तथा "धूत्वाशरीरमकृतं कृतात्मा" इत्यादि श्रुतेः । तस्मादेतादृशं यद मृतत्वं न तत् वास्तविकममृतत्वं किन्तु शरीरसम्बन्धकालिकमेव । परममृतलाभस्य संसारगतेः उत्तरकाले एव श्रुतिस्मृतियुक्त्यादिभिर्विनिश्चितत्वादितिदिक् ॥८॥

चारिक अमृतत्व है । क्योंकि ब्रह्मलोक पर्यन्त संसारावस्था ही है । इस बात को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "अर्चिरादि गत्येत्यादि" अर्चिरादि गति अर्थात् देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक प्राप्ति लक्षण अपीति यावत्कालपर्यं होती है तावत्काल पर्यन्त संसार का ही कथन किया गया है । अर्थात् ब्रह्मलोक पर्यन्त संसार है । एतावत्काल पर्यन्त जो अमृतत्व का श्रवण है वह आपेक्षिक औपचारिक है । वास्तविक अमृतत्व तो देहपातकालिक है । क्योंकि "उसको तावत् काल पर्यन्त ही विलंब है । यावत् काल पर्यन्त शरीरपात नहीं होता है । और शरीरपात के अनन्तर वास्तविक शान्ति को प्राप्त करता है । "प्राकृत शरीर का विनाश करके कृतात्मा पुरुष अकृत अनौपचारिक वास्तविक अमृतत्व मोक्ष को प्राप्त करता है । इत्यादि क्रम से श्रुति कहती है । श्रीराम प्राप्ति पद्धति आदि स्मृतिभी विरजास्नानान्त दिव्य देह प्राप्ति अनन्तर अमृतत्वरूप मोक्ष का निरूपण करती हैं तथैव अन्य आचार्यों की अनेक युक्तियां भी प्रकृत मत पोषक हैं अतस्तादृश ब्रह्मलोक पर्यन्त का जो अमृतत्व हैं शरीर सम्बन्ध कालिक ही हैं नतु परममोक्ष लक्षण अमृतत्व स्वरूप यह सिद्ध होता हैं प्रकृत विषय में जगद्गुरु श्री हनुमदाचार्य प्रसादित परमगति मीमांसा अनुसन्धेय है ॥८॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ।४।२।९।

ब्रह्मविदोऽप्यर्चिरादिमार्गेण गमनरूपात्प्रमाणतः "तम्प्रति ब्रूयात् [कौ०] इति चन्द्रमसा संवादेन करणकलेवरवत्त्वस्योपलब्धेश्च सूक्ष्मशरीरसम्बन्धो विद्यत एव ।।९।।

नोपमर्देनातः ।४।२।१०।

अतो "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" इति काठक वचः शरीरसम्बन्धस्य विनाशे नामृतत्वं नाभिधत्ते ।।१०।।

विवरणम्— ननु ब्रह्मलोकगतानां शरीरेन्द्रियादि संबन्धसत्वेनास्ति किमपि प्रमाणम्, ततश्च प्रमाणाभावान्नास्ति तेषां शरीरसंबन्ध इत्याशङ्कामपाकर्तुमुपक्रमते "ब्रह्मविदोऽप्यर्चिरादिमार्गे". इत्यादि ब्रह्मविदामपि क्रमिकमुक्तौ. सूक्ष्मशरीरस्य संबन्धो भवत्येव. यतः प्रमाणेन तथोपलभ्यमानत्वात् । देवयानपथागमनकाले चन्द्रलोकगतानां ब्रह्मविदां चन्द्रेण सह संवादः श्रूयते "तं प्रति ब्रूयादिति" प्रकरणेन प्रमाणजातं भवति ब्रह्मविदां सूक्ष्मशरीरसद्भावे । ततश्च तेषां सूक्ष्मशरीरसंबन्धे प्रमाणाभावोनेतिदिक् ।।९।।

सारबोधिनी—ब्रह्मलोक प्राप्त ज्ञानियों का शरी सम्बन्ध होने में कोई प्रमाण नहीं होने से सूक्ष्मादि शरीर की स्थिति किस तरह से माने इस शङ्का का समाधान करने के लिए उपक्रम करते हैं "ब्रह्मविदोपीत्यादि" ब्रह्मज्ञानी का अर्चिरादि—उत्तर मार्ग से गमन होता है यह गमन रूप प्रमाण से अर्थात् उस ब्रह्मज्ञानी का चन्द्रलोक में चन्द्रमा के साथ परस्पर वार्तालाप-संवाद श्रुति श्रुत है उससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मज्ञानी का सूक्ष्म शरीर संबन्ध अवश्य है अतः शरीर संबन्ध में प्रमाणाभाव का कथन स्वरूपासिद्ध है । किन्तु प्रमाणतः सूक्ष्म शरीर का सम्बन्द व्यवस्थित होता है ।।९।।

सारबोधिनी="जब हृदय में रहने वाली कामनायें निवृत्ति हो जातो है तब वह मर्त्य अमृत हो जाता है । और यहीं ब्रह्म को प्राप्त कर जाता

अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ।४।२।११।

अस्य सूक्ष्मदेहस्यैवोष्णरूपो धर्मो न स्थूलदेहस्य सचायं कदाचिन्मुमुर्षोर्विदुषशरीर उपलभ्यते । अष्मादुष्मणोऽवगम्यते यत्सूक्ष्मशरीरविशिष्ट एव विद्वानुत्क्रामति ॥११॥

विवरणम्—ननु "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायस्य हृदिश्रिताः । अथमर्त्योऽमृतोभवति. अत्र ब्रह्मसमश्नुते" इत्यादिवचनं ब्रह्मविदां शरीर संबन्धमपोह्यब्रह्मविदोऽमृतत्वप्राप्तिं प्रतिपादयति तत्कथमुच्यते यत्. ब्रह्मविदोऽपि शरीरसम्बन्धोस्तीति शङ्कांनिराशायोपक्रमते "अतो यदा इत्यादि । अर्चिरादि मार्गेण प्रस्थितब्रह्मविदांमध्ये चन्द्रलोके चन्द्रमसा संवादः दर्शनरूपप्रमाणेन यदा शरीरसम्बन्धो ज्ञायते तदा तादृशप्रमाणादेव. काठकश्रुतिः शरीरसम्बन्धं विनाश्यामृतत्वं न प्रतिपादयति किन्तु ब्रह्मलोकप्राप्तानां दुःखाभावेनामृतत्वसादृश्यमात्रमेव प्रतिपादयति । अतो न कोपि दोषः । सूत्रार्थस्तु. अतोगमनरूपप्रमाणात् काठकं वचः शरीरविनाशपूर्वकममृतत्वं नाभिदधाति किन्तु तत्सादृश्यमात्रं गमयतीति ॥१०॥

है" यह जो वचन है वह ब्रह्म शरीर सम्बन्ध का अभाव प्रतिपादन करता है तब शरीर सम्बन्ध है ऐसा आप किस तरह कहते हैं । इस शङ्का का निराकरण करने के लिए कहते हैं "चन्द्रलोक में चन्द्रमा के साथ ज्ञानि का संवाद होता है तादृश प्रमाण से सिद्ध होता है कि ब्रह्मज्ञानी का सूक्ष्म शरीर सम्बन्ध है । तब यह जो काठक वचन "अथमर्त्योऽमृतोभवति" शरीर विनाश पूर्वक अमृतत्व का प्रतिपादन नहीं करता है । किन्तु सूक्ष्मादि शरीर सम्बन्ध काल में पापकर्म के अभाव होने से दुःखाभावानुभवरूप अमृतत्व की समानता मात्र का प्रतिपादन करता है ॥१०॥

सारबोधिनी— उत्क्रमण के समय में विद्वान् का सूक्ष्म शरीर के साथ संबन्ध रहता है इस बात को बतलाने के लिए कहते है "अस्यैवच" इत्यादि

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्स्पष्टोह्येकेषाम् ।४।२।१२।

नतु ब्रह्मविदउत्क्रान्तिर्न सम्भवति "अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामोन तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" [बृ०४।४।६।] इत्यादिभिः प्रतिषेधादिति चेन्न, शारीरात्प्राणोत्क्रान्तेरयं प्रतिषेधो न तु शरीरात् । यतश्चायमर्थ एकेषां माध्यन्दिनानामाम्नाये स्पष्ट एवाभिधीयते "योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति" [बृ०४।४।६।] अत्र तच्छब्देन शरीरमभिधाय तस्मात्प्राणोत्क्रान्तेः प्रतिषेधः स्पष्ट एव ॥१२॥

विवरणम्—ननु उत्क्रमणसमये विदुषां सूक्ष्मशरीरसम्बन्धो विद्यते तत्र किं प्रमाणमिति शङ्कानिराशायाह "अस्यैवचेत्यादि" अस्य सूक्ष्मदेहस्यैव. उष्मारूपोधर्म उपलभ्यते, स्थुलदेहस्य नायं धर्मः सूक्ष्मदेहाभावे स्थुलदेहे उष्मणोऽनुपलब्धेः । इत्यन्वय व्यतिरेकाभ्यां न स्थुलस्य धर्मः किन्तु सूक्ष्मस्यैव । इत्थं भूत उष्मा कदाचिन्मरणसमयेमुमुर्षोः ब्रह्मविदः शरीरे समुपलभ्यते तस्मात्सूक्ष्मशरीरविशिष्ट एव विद्वानुत्क्रामतीति समानमेवोत्क्रमणं विदुषामविदुषां चेति सिद्धम् ॥११॥

इस सूक्ष्म शरीर का हो उष्मा रूप धर्म है किन्तु वह स्थूल देह का धर्म नहीं ऐसा अन्वय व्यतिरेक से सिद्ध होता है । क्योकि सूक्ष्म देह की सत्ता में उष्मा की उपलब्धि नहीं होती है । एतादृश सूक्ष्म शरीर का धर्म रूप जो उष्मा है वह कदाचित् मरणोन्मुख विद्वान् के शरीर में उपलब्ध होता है । तो इस उष्मा की उपलब्धि से सिद्ध होता है कि सूक्ष्म शरीर से विशिष्ट ही विद्वान् का उत्क्रमण होता है । इससे यह भी सिद्ध होता है विद्वान् तथा अविद्वान् का उत्क्रमण समान रूप से ही होता है इसमें भेद नहीं ॥११॥

सारबोधिनी—जो ब्रह्मज्ञानी है उसका उत्क्रमण नहीं हो सकता है क्यों कि "जो कामनावान् नहीं है निष्काम आप्तकाम है उसका उत्क्रमण नही होता है किन्तु ब्रह्मसदृश होकर के ब्रह्म में लीयमान हो जाता है" इत्यादि शास्त्र

स्मर्यते च ।४।२।१३।

ब्रह्म विदो मूर्धन्यया नाड्यागमनं "ऊर्ध्वमेकस्थितस्तेषां यो भित्वा सूर्यमण्डलम् । ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परांगतिम्" [याज्ञ०१६७]

नाडया मूर्धन्यया चाथोत्क्रामति हृदयात्किल ।
शरीरान्निर्गतो भक्त ऊर्ध्वं यात्यर्करश्मिभिः ॥
निदाघे चोष्मतासत्वान्निशायाश्चापि रश्मयः ।
अर्चयन्त्यर्चिरादिस्थं पुमांसमातिवाहिकाः ॥

विवरणम्—ब्रह्मविदामिदमुत्क्रमणं न संभवतीत्याशङ्क्य तन्निराकरणायोपक्रमते "ननु ब्रह्मविदउत्क्रान्तिरित्यादि" पूर्वशरीराज्जीवस्योत्क्रान्तिर्भवतीत्यभिधाय. ब्रह्मज्ञानिनस्तादृशमुत्क्रमणं न भवति "नतस्य प्रणा उत्क्रामन्ति" इत्यादिना समुत्क्रमणाभावस्य प्रतिपादनादितिचेन्न. योयमुत्क्रमणप्रतिषेधः स शारीरात् नतु शरीरात् शरीरादुत्क्रमणं जीवस्य भवति. यदि ब्रह्मविदोमरणसमये शरीरादुत्क्रमणं तदा मरणसंभवेन ब्रह्मलोकपर्यन्तगमनं मोक्षोवा न संभवेदतः शरीरादुक्रमणं न संभवति अयमर्थ "योऽकामो निष्काम" इत्यादौ स्पष्ट रूपेण प्रतिपादितः । तस्माद् शरीरेन्द्रियाध्यक्षाज्जीवादेवोत्क्रमण प्रतिषेधो न तु शरीरादिति विदुषामविदुषां समानमेवोत्क्रमणं न तत्राल्पीयानप्युभयोर्भेदः ॥१२॥

से ब्रह्मज्ञानी के उत्क्रमण का प्रतिषेध किया गया है । इस शंका के समाधानमें कहते है " शारीरादित्यादि " "नतस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" यह जो निषेध करता है वह शारीर शरीरेन्द्रियाध्यक्ष जीव से उत्क्रमण का निषेध है । किन्तु शरीर से उत्क्रमण का प्रतिषेध नहीं किया गया है ! यह अर्थ माध्यदिन शाखा में स्पष्ट रूप से कहा है । " जो अकाम निष्काम आप्तकाम आत्मकामनावान् है उसके प्राण का उत्क्रमण नहीं होता है । इसश्रुति में 'तत्' शब्द से शरीर का कथन करके उस शारीर से प्राणोत्क्रमण का प्रतिषेध स्पष्ट रूप से किया गया है ॥१२॥

दिनं तत्रार्चिषोऽहश्च शुक्लं पक्षं च गच्छति ।
समेति शुक्लपक्षात्स उत्तरायणमेव हि ॥
तस्मात् संवत्सरं तस्माद् वायुं वायोश्च भास्करम् ।
सूर्याद्विधु विधोश्चाथ विद्युतं वरुणं ततः ॥
ततश्चेन्द्रं ततो धातृलोकं गच्छत्युपासकः ।
अतिक्रामति पश्चाद् भूम्याद्यावरणसप्तकम् ॥

विवरणम्—यो हि ब्रह्मज्ञानी तस्यापि मूर्धन्यनाडी द्वारागमनं भवति इति स्मृतिषु बहुलतुपलभ्यत एव तथाहि "ऊर्ध्वमेकः स्थित" इत्यादि तेषामुत्क्रमणकर्तृणां मध्ये एको महाप्रभावशाली समुपासक ऊर्ध्वं सर्वत उपरिस्थितो यो हि सूर्यस्य मण्डलं भित्वा सूर्यमण्डलस्य भेदनं कृत्वा तत ऊर्ध्वं गतः सन् ब्रह्मलोकमतिक्रम्य हिरण्यगर्भलोकं संमतिक्रम्य पराङ्गतिं साकेतनिवासलक्षणां गतिं मोक्षरूपां याति प्राप्नोतीत्यर्थः ।

सम्प्राप्नोती ततश्चायं प्राकृतेतरगोपुरम् ।
वैकुण्ठनगरस्याप्तिर्भवत्यस्य ततः परम् ॥
भवत्ययं च तत्र श्रीनारायणाभिनन्दितः ।
गोलोकस्याथ सम्प्राप्तिर्भवत्यस्य महात्मनः ॥
भवत्यसौ हि तत्राथ श्रीकृष्णेनानुमोदितः ।
ततः साकेतलोकस्य प्राप्नोत्ययश्च गोपुरम् ॥

सारबोधिनी—जो ब्रह्मज्ञानी है उनका भी गमन मूर्धन्यनाड़ी द्वारा होता है जैसे अविद्वान् व्यक्तियों का उत्क्रमण होता है उसी तरह यह विषय विष्णुपुराण श्रीरामप्राप्तिपद्धति आदि पूर्वाचार्य प्रबन्धों में प्रसिद्ध है । "ऊर्ध्वमेक स्थितम्" इत्यादि "तेषाम्" उत्क्रमण करनेवालों के मध्य में एक का उपासक सूर्यमण्डल का भेदन करके ब्रह्मलोक को प्राप्त कर पुनः ब्रह्मलोक का भी

उल्लङ्घ्य प्रकृतिं सोऽथ विरजामवगाहते ।
ततः सूक्ष्माच्छरीराद्धि विश्लिष्टश्च भवत्यसौ ॥
प्रादुर्भवत्यथो चास्यानघत्वादिगुणाष्टकम् ।
अमानवकरस्पर्शो भवत्यस्य ततः परम् ॥
श्रीमद्रामस्य सङ्कल्पाद् दिव्यदेहो भवत्यसौ ।
कालकाल्येतरे दिव्ये देशे प्राप्तो भवत्यथ ॥

(श्रीबोधायनमतादर्शः ९२८-९३५) इत्यादिरूपेण स्मर्यते एव ॥१३॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावासृत्युपक्रमाधिकरणम् ॥५॥

ब्रह्मविष्णुमहेशाद्यैर्देवैः स्तुत च वन्दितम् ।
वेदैर्निवेदितं चाथ श्रीरामेणाभिनन्दितम् ॥
समृद्धं परमं दीप्तं सर्वथा चाथ सर्वदा ।
परात्परमयोध्यं च सुषमासागरं शुभम् ॥
अयोध्यानगरं चासौ सम्प्राप्नोति ततः परम् ।
(श्रीरामप्राप्तिपद्धतिः)

इत्यादि स्मृत्या ज्ञायते यत् ब्रह्मविदां गमनं भवत्येवेति । अविद्वानिवविदुषोऽपि नाडीद्वारागमनदर्शनेनोभयोरपि समानमेवोत्क्रमणमिति भावः ॥१३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे आसृत्युपक्रमाधिकरणम् ॥५॥

अतिक्रमण करके साकेत प्राप्ति लक्षण परमगति को प्राप्त करता है । इस प्रकार से स्मृतियों में श्रवण होता हैं इसलिए अविद्वान् की तरह विद्वान् ब्रह्मज्ञानी का उत्क्रमण होता हैं । इससे सिद्ध हुआ कि उत्क्रमण विद्वान् अविद्वान् दोनों का होता हैं ॥१३॥

इत्यासृत्युपक्रमाधिकरणम् ॥

❀ परसम्पत्त्यधिकरणम् ॥८॥ ❀

तानि परे तथाह्याह ।४।२।१४।

तानि प्राणेन्द्रियजीवसहितानि भूतसूक्ष्माणि किं स्वफलभोगाय यथास्थानं यथाकर्मोपयान्ति आहोस्वित्परे ब्रह्मणि सम्पद्यन्त इति संशये कर्मफलभोगाय तदनुगुणस्थानं लोकान्तरं गच्छन्तीति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु–उत्क्रममाणस्य विदुषस्तानि परे ब्रह्मणि सम्पद्यन्ते तथा श्रुतिरप्याह "तेजः परस्यां देवतायाम्" [छा० ६।८।६। इति]॥६॥

इति रघुवरीयवृत्तो परसम्पत्त्यधिकरणम् ॥६॥

विवरणम्–यानीमानि प्राणेन्द्रियजीवसहितानि सूक्ष्मभूतानि विदुष उत्क्रममाणानि भवन्ति तान्युत्क्रम्य पुनः कर्मफलोपभोगाय लोकान्तरं गच्छन्ति अथवा परे ब्रह्मणि संपद्यमानानि भवन्तीति संशयः। कर्मबलात्तानि तथा विधानि सूक्ष्मभूतानि कर्मफलभोगाय लोकान्तरमेव गच्छन्ति नतु परे ब्रह्मणि संपद्यमानानि भवन्तीति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु "तेजः परस्यां देवताया" मित्यादि श्रुतौ श्रुतानि भूतानि विदुषो ब्रह्मण्येव संपद्यमानानि भवन्तीति दर्शयितुमाह "तानिप्राणेन्द्रियजीवसहितानीत्यादि" पूर्वप्रकरणे इन्द्रियप्राणसहितजीवस्योत्क्रमण समये सूक्ष्म भूतेषु संपत्तिः कथिता तानि तथा विधानि कर्मफलोपभोगाय लोकान्तरं गच्छन्ति अथवा परब्रह्मणि समनुगतानि भवन्तीति संशये। तत्र पूर्वोपार्जित कर्मबलात्तानि तथा विधानि सूक्ष्मभूतानि कर्मफलभोग करणाय लोकान्तरमेव गच्छन्ति, अन्यथा फलभोगासंभवेनाकृतभोगस्य

सारबोधिनी–करण प्राण सहित जीव का उत्क्रमण समय से तेजः प्रभृतिक सूक्ष्मभूतों में संपत्ति होती है ऐसा पूर्वमें कहा गया है। वे जीव सहित सूक्ष्म भूत क्या फल भोग करने के लिए लोकान्तर में कर्म केवल से जाते हैं अथवा परम ब्रह्म परमात्मा में संपन्न हो जाते हैं ऐसा संशय होता है। इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि वे सब सूक्ष्मभूत कर्मफल का भोग करने

अविभागधिकरणम् ॥७॥

अविभागो वचनात् ।४।२।१५।

सा चेयं परदेवता सम्पत्तिः स्वकारणे लय उताविभाग रुपैवेति संशये । परमात्मनः परमकारणतया तत्रोक्ता सम्पत्तिस्तस्मिल्लय एवस्यादिति

विनाशासंभवादिति पूर्वपक्षाशयः । तमिमं पूर्वपक्षं निराकर्तुं सिद्धान्तं दर्शयितुश्चाह "तानिपरे" इत्यादि उत्क्रमणं कुर्वतो विदुषस्तानि सूक्ष्म भूतानि परे ब्रह्मण्येव सम्पद्यमानानि भवंति नतु कर्मफलोपभोगाय लोकान्तरं गच्छन्ति श्रुत्या तथैव प्रतिपादनात् । तथाहि "लयप्रवाहे सर्वस्यान्ते प्रतिपादितं "तेजः परस्यां देवतायाम्" प्राणेन्द्रियजीव समनुगतानि सूक्ष्मभूतानि परस्यां देवतायां संपद्यमानानि भवन्तीति । अर्थात् यानि पूर्वोक्तनि सूक्ष्मभूतानि तानि सर्वाणि पर ब्रह्मण्ये वलीयमानानि भवन्ति पर ब्रह्मविदःकिञ्च तानि कर्मफलभोगाय नालं ब्रह्मविद्यया-भर्जितशक्तिकत्वात् "न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते । भर्जिता क्वथिताधाना प्रायो वीजायमनेष्यते" इति भगवदुक्तेः । तस्मान्न तेषां सूक्ष्म भूतानामन्यफलकत्वामिति दिक् ॥१४॥

इति जगद्गुरुश्रीरामनन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे परसम्पत्त्यधिकरणम् ॥६॥

के लिए कर्मानुकूल लोकान्तर में जाते है । इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि "तानि परे" इत्यादि। वे भूतसूक्ष्म सब परम पुरुष सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्र में संपद्यमान हो जाते हैं । क्योंकि "तेजः परस्यां देवतायाम्" इस श्रुति में ऐसा ही कहा है इसी बात को कहते है—"सिद्धान्तः" इत्यादि । उत्क्रमण करनेवाले जो ब्रह्मज्ञानी हैं उनका संबन्धी जो भूत सूक्ष्म है वे पर देवता परम पुरुष में संपद्यमान हो जाते है ऐसा ही श्रुति कहती है । तेज भूत सूक्ष्म पर देवता में संपन्न हो जाते है ।" इत्यादि छान्दोग्य में ॥१४॥

इति परसंपत्यधिकरणम् ॥

पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु—"तेजः परस्यां देवतायां" इति वाक्येऽपि "सम्पद्यते" इत्यस्यान्वयः। तथा चात्र सम्पत्तिर्विलक्षण संयोग एवेति प्राङ्निर्णीतम्। स एव संयोगविशेषः प्रकृते भवतीति ॥१५॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावविभागाधिकरणम् ॥७॥

विवरणम्—यं यं परदेवतायां सूक्ष्मभूतानां संपत्तिः साकारेण कार्यस्य लयरूपा अथवा वाङ्मनसीतिवत् विलक्षण संयोगरूपैवेति संशयः। तत्र परमपुरुषस्य सकल कारणत्वात्तत्र भूतानामन्तर्भावः कार्यस्य कारणापत्तिरेव न तु विलक्षण संयोग इति पूर्वपक्षः। तमियं पूर्वपक्षं निरसितुमुपक्रमते "साचे यं परदेवता संपत्तिरित्यादि। याचेयं सूक्ष्मभूतानां परदेवतायां संपत्तिः सा किं कारणे कार्यस्य लयरूपा अथवा वाङ्मनसीतिवद विभागरूपेति संशयः। तत्र परमात्मनः सकलकारणत्वात् कारणे कार्याणां लयरूपैवेति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु" अविभागः इत्यादि। परदेवतायां सूक्ष्मभूतानामविभागो विलक्षण संयोगोवाङ्मन सीतिवत्। कुतः ? तेजः परस्योदेवतायामीति वचनात्। अस्मिन् छान्दोग्य वाक्ये संपद्यते इत्यस्यान्वयः करणीयः ततश्च संपत्तिरिति वचनेन विलक्षण संयोग एव प्रतिपादितो भवति नतु लयापत्तिरिति पूर्व

सारबोधिनी—इन्द्रिय प्राण सहित जीव का भूत सूक्ष्म में लय होता है तादृश सूक्ष्मभूतों का परादेवता में संपत्ति होती है ऐसा पूर्वमें कहा गया है। इसमें यह संशय होता है कि इन सूक्ष्मभूतों का जो सत् परादेवता में संपत्ति है वह कारण में कार्य के लय समान लयरूप है अथवा परादेवता में संयोग रूप संपत्ति है। इसमें पूर्वपक्षवादी कहते है कि यह परादेवता परम कारण अर्थात सब पदार्थ का निदान कारण है। इसलिए पृथिव्यादि कार्य का जैसे स्वकारण जलादिक में लय होता है। उसी तरह सूक्ष्म भूतों का परादेवता में लयरूप ही संपति होती है। इसके उत्तर में सिद्धान्तवादी कहते है "अविभाग" इत्यादि सूक्ष्म भूतों का परादेवता में अविभाग विभागा रूप विलक्षण संयोग

तदोकोऽधिकरणम् ॥८॥

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्चहार्दानुगृहीतः शताधिकया ।४।२।१६।

नाडीप्रवेशात्प्राग्विद्वदविदुषोः समानैवेयमुत्क्रान्तिरित्यवधारितम् ।

निर्णीतत्वात् । 'वैलक्षण्यञ्चात्र पृथग्व्यवहारानर्हत्वमेव' इत्याचार्योक्तेर्नामरूप विभागानर्हत्वलक्षणमिति ध्येयम् । तस्मान्न कारणे कार्यस्य लयः संपत्तिरपितु विलक्षण संयोग एव ॥१५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेऽविभागाधिकरणम् ॥७॥

विवरणम्--विदुषोऽविदुश्चनाडी प्रवेशात्पूर्वमुत्क्रान्तिरुभयोः समानैवेति "समानाचेत्यादि" सूत्रे प्रतिपादितमिति तत्रैव किंचिद्विचार्यते । तत्र "शतं चैका हृदयस्य" इत्यादि श्रुतिर्विदुषामविदुषां च समानमेवोत्क्रमणं विदधाति अथवा सुषुम्नानाड्या विदुषां तदन्यया चनाड्याऽविदुषामुत्क्रमणं भवतीति संशयः । तत्र सुषुम्नानाड्या अतिसूक्ष्माया

हो होता है । "तेजः परस्यां देवतायाम्" इस वाक्य में संपद्यते इसका अन्वय किया जाता है तब यह अर्थ होता है कि संपत्ति शब्द का अर्थ विलक्षण संयोग हैं यहां विलक्षण संयोग "पृथग् व्यवहारानर्हत्वरूप ही है" इसका पूर्व में ही निश्चय किया गया है । तादृश विलक्षण संयोग विशेष रूप ही सत्संपत्ति विवक्षित है किन्तु कारण में कार्य काल रूप नहीं ॥१५॥

इत्यविभागधिकरणम् ॥

सारबोधिनी—नाडी प्रवेश से पूर्व में ब्रह्मज्ञानी इन दोनों का समान ही उत्क्रमण होता है ऐसा "समानाचासृत्युपक्रमादित्याधि" सूत्र में निश्चय किया गया है किन्तु इन दोनों को नाडी प्रवेश करने कोई विशेष है उस विशेषता का विचार करते हैं । [एक सौ एक इस हृदय प्रदेश नाडीयां है उनमें से

किन्तु नाडोप्रवेशेऽस्तिकश्चिद्विशेषः स इदानीं विचिन्त्यते । "शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति" [का० २।६।१६] इतीयं श्रुतिर्विद्वदविदुषोरुत्क्रान्ति यया कयापि नाड्याभिधत्तऽत विदुषः शताधिकया

असर्वज्ञ दुर्विज्ञेयत्वेन यया कयाचिदेव सर्वेषां गमनमिति पूर्वपक्षः । उपासको हि भगवत्कृपानुगृहीतो ब्रह्मविद्याबलात्सुषुम्नां नाडीं सूक्ष्मा सुविविच्य प्रकाशित द्वारो मूर्धन्यनाडी द्वारेणोत्क्रमणं करोतीति सिद्धान्तं दर्शयितुमुपक्रमते "नाडीप्रवेशादित्यादि" समानैवोत्क्रान्तिर्भवति तत्वज्ञानिनां तद्भिन्नानामपीति समानाचासृत्युप इत्यादि सूत्रेषु विचिन्तितम् । तत्र "शतं चैकमित्यादि" [हृदयमध्ये एकाधिकं नाडीशतं भवति तासां नाडीनामेकाधिक शतानां मध्यादेका सुषुम्ना नाडी मूर्धानं विदार्य्य परिगता तयैकया उर्ध्वंगच्छन्नुपासकोऽमृतत्वं श्रीसाकेताख्यं दिव्यधाम प्रा-

एक को छोड़ करके पुनः उन नाडोयों में से प्रत्येक का सौ सौ शाखानाडी है । पुनः शाखा नाड़ियों का प्रतिशाखानाडो अनेक है] उन एक सौ एक नाडियों में से एक सुषुम्नानाडी मस्तक के ऊपर से निकली हुई । उस एक नाडी से ऊपर उत्क्रमण करनेवाला परमेश्वर कृपानुगृहीत उपासक अमृतत्व श्री साकेत प्राप्तिरूप परम पद को प्राप्त करता है । और उस प्रधान से अतिरिक्त जो सौ नाडो हैं उनके द्वारा उत्क्रमण करनेवाला अविद्वान् अनेक प्रकारक संसारगति को प्राप्त करता है"] यह श्रुति ब्रह्मज्ञानी तथा तदन्य इन दोनों के उत्क्रमण का जिस किसी नाडो से होने का प्रतिपादन करतो है । अथवा विद्वान् को तो शताधिक मूर्धन्य नाडी से ही उत्क्रमण बतलातो है और अविद्वान् के उत्क्रमण को तदन्य नाडी के द्वारा नियमित बतलाती है ऐसा संशय होता है । इसमें पूर्वपक्षवादो कहते है कि अति सूक्ष्म अनेक नाड़ी के समुदाय में से मूर्धन्याति सूक्ष्म नाडो का विवेक असर्वज्ञदुर्विज्ञेय होने से जिस किसी नाडीयों से उत्क्रमण होता है । अतः कोई नियम नहीं है कि विद्वान् का

मूर्धन्याख्यया नाड्यैवाविदुषस्त्वन्याभिरेवेति नियमेनेति संशयः। अति सूक्ष्मानेकनाडीसमवाये मूर्धन्यनाडी विवेकस्यासम्भवाद्यया कयापि नाड्योत्क्रान्तिरित्यनियम इति पूर्वपक्षः। अत्राभिधीयते- ब्रह्मविदस्तु शताधिकया मूर्धन्ययानाड्यैवोत्क्रान्तिस्ततोऽन्यस्यान्याभिरेवेति नियः-

---

प्नोति तदन्ययागच्छन्नविद्वान् उत्क्रमण मात्रमिति] इयंश्रुति येनकेनापि-नाडीद्वारेणोभयोरुत्क्रान्ति प्रतिपादयति अथवा विदुषां मूर्धन्ययासमुत्क्रान्तिर्दर्शयति तद्भिन्नानां तु तदन्यनाड्योत्क्रमणं प्रतिपादयतीति संशयः। पूर्वपक्षस्तु सर्वासामेव सूक्ष्मत्वात् सुषुम्नायास्ततोप्यतिसूक्ष्मत्वेना सर्वज्ञ-दुर्विज्ञेयत्वेन यया कया चिदेवनाड्या सर्वेषामुत्क्रमणं भवतीति। तत्र सिद्धान्तमित्थम् ब्रह्मविदां मूर्धन्य नाड्यासमुत्क्रमणं भवति तदन्येसा-मुत्क्रमतां तदन्याभिर्नाडीभिरुत्क्रमणमिति। न चाति सूक्ष्मनाडीषु सूक्ष्मातिसूक्ष्मायाः प्रथमनाड्या स्ततोप्यति सूक्ष्मत्वेना सर्वज्ञदुर्विज्ञेयत्वेन

अमुक नाडी से उत्क्रमण होता है और अविद्वान् का अमुक नाडी से ही होता है।

इसमें सिद्धान्तवादी कहते है कि जो ब्रह्मज्ञानी परम पुरुष के उपासक है उनका उत्क्रमण परमात्मा का अनुग्रह सहकृत ब्रह्मविद्या केवल से शताधिक मूर्धन्य नाडी के द्वारा ही होता है। और जो ब्रह्मज्ञानी से भिन्न है उनका उत्क्रमण मूर्धन्य नाडी से भिन्न जो नाडी तादृश नाडियों के द्वारा होता है ऐसा ही नियम है। क्यों कि ब्रह्मविद्या के सामर्थ्य से तथा "मैं परमात्मा का शेष हूँ" इत्याकारक अनुस्मरण से अति प्रसन्न परम पुरुष से अनुगृहीत उपा-सक को हृदय प्रदेश के अग्रिम भाग में एक प्रकार का प्रकाश होता है। तादृश प्रकाश से प्रकाशित द्वार होकर के विद्वान् ब्रह्मज्ञानी पुरुष शताधिक मूर्धन्य नाडी का विवेचन करके उस विवेचित सुषुम्ना द्वारा उत्क्रमण करता है। अवि-द्वान् पुरुष तो परमात्मा का अनुग्रह तथा ब्रह्मविद्या बल के अभाव होने के

म्यते। ब्रह्मविद्यासामर्थ्यात्परमात्मनः शेषत्वानुस्मरणाच्च प्रीतेन हार्देन परमपुरुषेणानुगृहीतस्योपासकस्य हृदयाग्रप्रकाशनं जायते। तथा च तत्प्रकाशितद्वारो विद्वान् शताधिकां मूर्धन्यनाडीं विविच्य तयैवोत्क्रामति ॥१६॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौतदोकोऽधिकरणम् ॥८॥

कथं तया गमनमिति वाच्यम् विद्यासामर्थ्यात् भगवत् कृपानुगृहीत उपासको विद्यामाहात्म्येन सूक्ष्मामपि तां ना सुविविच्यावगत्यमूर्धन्यया प्रकाशितद्वारो गच्छतीति। एवं च परमपुरुषस्यानुग्रहेण जीवस्य निवासस्थान हृदयं तदग्रे प्रकाशो जायते तेन प्रकाशितद्वारो जीव उपासको मूर्धन्यामवगत्य तया गमनं करोति। अविद्वांस्तु भगवत्कृपा विरहितोऽप्राप्तविद्यासामर्थ्यश्चमूर्धन्यभिन्ननाडी द्वारा गच्छन् न आप्नोति परंपदमतः संसारभागेव भवतीति ॥१६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य कृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे तदोकोऽधिकरणम् ॥८॥

कारण सूक्ष्म नाडियों का विवेचन तथा प्रकाश के अभाव होने से यदा कर्म जिस किसी नाडी के द्वारा गमन होता है प्रधान नाडी से गमन नहीं तदन्य नाड़ियों से गमन होने के कारण विभिन्न योनि प्राप्ति लक्षण स्थावरान्त अधोगति ही होती। किन्तु परमपद की प्राप्ति रूप मोक्ष नहीं होता है। सूत्रार्थस्तु ब्रह्मज्ञानी को शताधिक मूर्धन्य नाडी से उत्क्रमण होता है और अविद्वान् को तादतर नाडी द्वारा उत्क्रमण होता है यद्यपि सूक्ष्म शताधिक नाडी असर्वज्ञदुर्विज्ञेय है। तथापि परमात्मा के उपासनारूप विद्या के सामर्थ्य से तथा परमात्मा के अनुग्रह से जीव का निवासस्थान हृदय के अग्रभाग में एक प्रकार का विलक्षण प्रकाश होता है। उस प्रकाश से प्रकाशित द्वार ब्रह्मज्ञानी सुषुम्ना नाडी को जानकर उसके द्वारा गमन करता है। इसलिए कोई क्षति नहीं होती है ॥१६॥

इति तदोकोऽधिकरणम् ॥८॥

॥ रश्म्यनुसाराधिकरणम ॥९॥

रश्म्यनुसारी ।४।२।१७।

"अथ यत्रैतस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते" [छा० ८।६।५।] इत्यत्रप्रकाशमन्तरेणाप्युत्क्रान्तिरुतरश्म्यनुसारेणैवेति संशयः। प्रकृतश्रुतेः पक्षान्तरे चारितार्थ्येन प्रकाराणान्तरेणाप्युत्क्रान्तिः सम्भवतीति पूर्वपक्षः। अत्राभिधीयते "एतैरेव रश्मिभिः" इत्वधारणाद्रश्म्यनुसार्येव विद्वानुत्क्रामति ॥१७॥

विवरणम्– शताधिकया नाड्या शरीरान्निर्गतो ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मलोकात्मकोर्ध्वस्थानमुपगच्छतीति श्रूयते "अथ यत्रै तस्मात् शरीरात्" इति श्रूतेः। अत्र प्रकारान्तरेणापि गतिर्भवति अथवा रश्म्यनुसारेणैवेति संशयः। तत्र रश्म्यनुसारेणैव भवतीति नियमाभावात्प्रकारान्तरेणापि संभविष्यतीति पूर्वपक्षकर्तुराशयः। सिद्धान्तस्तुरश्म्यनुसारेणैव भवति. एव शब्द सामर्थ्यात् यदि प्रकारान्तरेणापि गमनं भवेत्तदा श्रुतावेव शब्दोपादानं नतरामसङ्गतं भवेदित्याशयेन सूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते"अथ यत्रैतस्मादित्यादि""अथ यदेत्यादि" [अथ यदा यस्मिन्काले अयं जीवः शरीरादुत्क्रामति शरीरं परित्यजोर्ध्वं गच्छति. तदा एतैरेवरश्मिभिः अर्थात् रश्मिद्वारेणैव तत ऊर्ध्वं गच्छतीत्यर्थः] अत्र प्रकाशं विनापि गमनं भवति. अथवा रश्म्यनुसारेणैवगमनं भवतीति संशयः। तत्र समुदाहृतश्रुतेः पक्षान्तरे चारितार्थ्येनः अर्थात् प्रकाशन्तरेणापि प्रकृतः श्रुतेः समन्वय संभवात्. प्रकाशमन्तरेणापि गमनं संभवतीति पूर्वपक्षाशयः।

सारबोधिनी–जब उपासक इस शरीर से उत्क्रान्त होता है तब इन रश्मियों के द्वारा ही इस शरीर से ऊपर जाता है। यहाँ प्रकाश के अभाव में ही उत्क्रमण करता है अथवा रश्मि के अनुसार से ही ऊर्ध्व गमन करता है ऐसा संशय होता है। इसमें पुर्वपक्षवादी कहते हैं कि "अथ यत्रै तस्मात्" यह जो प्रकृत श्रुति है उसका पक्षान्तर में चरितार्थ होने से प्रकारान्तर से भी

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ।४।२।१८।

ननु नाडीरश्मिसम्बन्धस्याहन्येव सत्वादहनिमृतस्य रश्म्यनुसारित्वं निशि नेति चेन्न नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात् । तथा च दर्शयति श्रुतिः "आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ता

सिद्धान्तस्तु रश्म्यनुसारो एव भवतीति । कुतः ? एतैरैवरश्मिभिः" इत्यत्र एव पदोपदानात् रश्म्यनुसारेणैव यदा तदा गमनं भवति न तु प्रकाशमन्तरेण गमनं भवति विदुषः । अर्थात् यदा विद्वानुत्क्रामति तदा प्रकाशसाहाय्यमादायैव गच्छति. न तु प्रकाशमन्तरेण तदीयं गमनं भवति. एतत् श्रुतिस्थैवकारेण विदितं भवतीति सुष्ठूक्तंरश्म्यनुसारीति हृदयम् ॥१७॥

विवरणम्—ननु दिवसे नाड्या सह सम्बन्धो भवति तदा दिने यस्य मरणं तस्यैव नाडीरश्मिसम्बन्धः स्यात् तद्वारा चोर्ध्वगमनम्, परन्तु यस्तु रात्रौ मृतः तत्र रश्मीनामभावात्. न स्यान्नाडीरश्मि संबन्धस्तदभावात् कथं रात्रौ मृतस्य तथाविधमुत्क्रमणमित्याशङ्कायां अपनोदनाय सूत्रव्याख्यानमुखेनोपक्रमते "ननु नाडीरश्मि संबन्धस्येत्यादि" ननु उत्क्रमण संभवित है । इसके सिद्धान्त में कहते है "रश्मम्यनुसारीति" प्रकृतश्रुति में " अथैतैरेवरश्मिभिः इस प्रकार अब धारणार्थक एव पद का उपादान होने से विद्वान् रश्म्यनुसारी ही उत्क्रमण कहता है प्रकारान्तर से नहिं । यदि प्रकारान्तर से भी उत्क्रमण अभिमत होता तब तो प्रकृत श्रुति में एव पद का उपादान निरर्थक हो जाता । अतः रश्म्यनुसारी ही विद्वान् का उत्क्रमण होता है ऐसा सिद्ध हुआ । विशेष विवरण अन्यत्र देखें ॥१७॥

सारबोधिनी—नाडी तथा रश्मि का जो सम्बन्ध है वह तो दिन में ही रहता है । तो जिसका मरण दिन में होता है उसी को रश्म्यनुसारित्व हो

रात्रावप्यादित्यरश्मयो भवन्त्येव । ग्रीष्मर्तुशर्वर्यामुष्मोपलब्धेस्तदानीमपि-रश्मिसद्भावः शक्यत एव निश्चेतुम् ॥१८॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौरश्म्यनुसाराधिकरणम् ॥९॥

नाडीरश्मिसंबन्धस्यादिवसे एव सद्भाव तत्र मृतस्य रश्म्यनुसारित्वं भवतु नाम परन्तु रात्रौ मृतस्य रश्मिसंबन्धाभावेन कथमूर्ध्वगमनं स्यादिति चेन्न नाडीरश्मिसंबन्धस्य यावद्देहभावित्वात् अर्थात् यावत्कालं देहस्तावत्पर्यन्तं रश्मि संबन्धो भवत्येव । अतो तादृश संबन्धाभावो नैव ज्ञातुं शक्नोति । श्रुतिरपि तथा प्रतिपादयति "आभ्यो नाडीभ्य इत्यादि" ननु रात्रौ नास्ति रश्मिरिति कथं तत्संबन्धः स्यादिति वाच्यम्. तत्रापि तस्य सद्भावात् निदाघीयनिशायां रश्मिगुणस्यौष्ण्यस्य सर्वानुभवसिद्धत्वेन गुणिनोऽभावे गुणसद्भावस्यानुपपत्तेरिति तत्रापि रश्मिसद्भावः, तत्सद्भावे च नाडीरश्मिसंबन्धस्तस्तद्द्वारोर्ध्वगमनमिति सर्वं समञ्जसम् ॥१८

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे रश्म्यानुसाराधिकरणम् ॥९॥

सकता है परजो रात में मरता है उसका तो रश्म्यनुसारित्व कैसे होगा ! इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि नाडो रश्मि का जो संबन्ध है वह यावत् देह-भावी है । अर्थात् यावत् पर्यन्त शरीर का सद्भाव है तावत्पर्यन्त रश्मि संबन्ध रहता है । इस बात को श्रुति भी कहती है "आभ्यो नाडीभ्य इत्यादि" । रात में तो सूर्य का किरण हीं यही होता हैं । तब रश्म्यनुसारित्वेन गमन किस तरह होगा ! निदाघकालिक रात्रि में गरमी की उपलब्धि होने से रश्मि का सद्भाव सिद्ध होता है । । कहीं शीताधिक्य से उष्णता की उपलब्धि नहीं होती है तो भी सर्वदा सर्वत्र किरण का सद्भाव सिद्ध होता है । इसलिए रश्म्यनुसारि ही विद्वान् का गमन होता है यह सिद्ध हुआ ॥१८॥

इति रश्म्यनुसारादिकरणम् ॥९॥

दक्षिणायनाधिकरणम् ॥१०॥

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ।४।२।१९।

ब्रह्मविदो दक्षिणायने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिर्भवति न वेति संशयः । "अथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसस्सायुज्यं गच्छति" [तै० ना०] इतीयं श्रुतिर्दक्षिणायने मृतस्य चन्द्रलोकावाप्ति-

---

विवरणम्— ननु मरणेन कस्यापि प्रतिनियतं यदमुकस्यमरणममुकायने एव भवेदिति. ततश्च यदि कश्चिद् ब्रह्मज्ञानी दक्षिणायने मरणमवाप्नोति तदा तादृश ब्रह्मविदो प्राप्तिर्भवति ब्रह्मणो न वेति संशयः । तत्र दक्षिणायने मृतस्य पितृयाणपथागतस्य चन्द्रलोके यावत्पुण्यं विभूतिमनुभूयपुण्य समाप्तौ पुनरावर्तनं भवतीति श्रूयते ततश्च दक्षिणायने मृतो ब्रह्मज्ञानी चन्द्रमण्डलमवाप्य तत्रैव विभूत्यनुभवं करिष्यति ततश्च पुनः संसारमण्डलमेवायास्यति. न तु तस्य ब्रह्मविदोमोक्ष प्राप्तिर्भविष्यतीति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु संसारजनक पुण्यपापकर्मणां तत्वज्ञानेन विनाशित्वात् कारणाभावादेव न भवति संसार प्राप्तिरपितु "मामुपेत्य पुनर्जन्मदुःखालयम शाश्वतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गता" इत्यादि वचनप्रमाणात् ब्रह्मज्ञानि महोदयानां ब्रह्मप्राप्तिरेव भवति न तु संसारगमनमिति सिद्धान्तं दर्शयितुमुपक्रमते "ब्रह्मविदो दक्षिणायने" इत्यादि ।

सारबोधिनी—जो ब्रह्मज्ञानी दक्षिणायन में मरता है उसको परमपद प्राप्त होता है अथवा नहीं ऐसा सन्देह होता है । "अथ यो दक्षिणो" जो पुरुष दक्षिणायन में मरता है वह पितृयाण अर्थात् दक्षिण मार्ग को प्राप्त करके चन्द्र सायुज्य को प्राप्त करता है । अर्थात् चन्दमण्डल को प्राप्त करके तत्रत्य विभूतियों का अनुभव करता है" और कर्म भोग करने के बाद पुनः उसका पुनरावर्तन होता है ऐसा सुनने में आता है । अतएव ब्रह्मोपासनावान् भीष्म प्रभृति

माह । तत्र गतानाञ्च पुनरावृत्तिरस्त्येवेति न ब्रह्मप्राप्तिरिति पूर्वपक्षः । अत्राभिधीयते– संसृतिप्राप्तिहेत्वभावादेव दक्षिणायनमृतस्यापि ब्रह्मप्राप्तिर्भवत्येव ॥१९॥

दक्षिणायने कर्कादारभ्य धनुः संक्रान्तिलक्षणकाल विशेषेमृर्ति प्राप्तस्य ब्रह्मज्ञानिनो ब्रह्मप्राप्तिर्भवति नवेति संशयः । तत्र "यः कश्चित्पुरुषो दक्षिणायने मरणमवाप्नोति स पितृयाणमार्गेण । चन्द्रमण्डले तत्रत्यां विभूतिमनुभवितुं चन्द्रमण्डलमवाप्नोति" इयं श्रुतिर्दक्षिणायने गतस्य चन्द्रलोकप्राप्तिं प्रतिपादयति । स चन्द्रमण्डले यावत्संपातमुषित्वा पापपुण्ययोर्भोगेन विनाशे संसारमधिगच्छतीति न दक्षिणायने मृतस्य ब्रह्मज्ञानिनो मोक्षप्राप्तिर्भवतीति पूर्वपक्षाशयः । सिद्धान्तयति "अतश्चायनेऽपि दक्षिणे" इति. संसारप्रापकधर्माधर्मयोरभावाद्दक्षिणायने मृतस्यापि ब्रह्मज्ञानिनो मोक्षप्राप्तिर्भवत्येवेति । कदाचिद्दक्षिणायने मृतस्यापि ब्रह्मज्ञानिनः पितृयाणेन यथा चन्द्रमण्डलं भवेदपि तथापि चन्द्रमण्डलगतानामविदुषामेव ततः पुनरावर्तनं भवति न तु ब्रह्मज्ञानिनामपि चन्द्रमण्डलादागमनम् । तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमवाप्नोतीति श्रुतिबलेन. तत्र गतो ब्रह्मज्ञानी कियत्कालं विश्रम्यार्चिरादिमार्गेण गच्छन् परमपदमेवाप्नोति यतः संसारकारणधर्मादीनामभावात् । यद्यपि ब्रह्मज्ञानिनामपि भीष्मादीनामुत्तरमार्गस्य प्रतीक्षणं श्रुतम् । तथापि तस्य प्राशस्त्यमात्रबोधकत्वम् । ततश्च ब्रह्मज्ञानी दक्षिणायने उत्तरायणे वा यत्र कुत्रापि मरणं को उत्तरायण का प्रतीक्षण करना पड़ा हैं । इसलिए दक्षिणायन में मृत ब्रह्मज्ञानी को मोक्ष नहीं होता है ऐसा पूर्वपक्ष का अभिप्राय है ।

इसके उत्तर में कहते हैं "अतश्चायनेपीति" दक्षिणायन में मृत को ब्रह्मज्ञानी उसको भी मोक्ष प्राप्त होता ही है । दक्षिणमार्ग से चन्दमण्डल को प्राप्त किया हुआ अविद्वान् का ही पुनरावर्तन होता है । आत्मज्ञानी का पुनराबर्तन नहीं होता है । क्योंकि संसार का कारण जो कर्म उसका विनास हो जाने से अर्चिरादि मार्ग से जा करके परम पद को प्राप्त करता है । भीष्मादिक ने जो उत्तरायण का प्रतीक्षण किया था वह केवल उत्तरायण का प्रशंसन मात्र है । अतः दक्षिणायन में मृत ब्रह्मज्ञानी को मोक्ष अवश्य होता है ॥१९॥

योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैते ।४।२।२०।

"यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः" [गी० ८] इत्यादिभिर्वाक्यैस्तु ब्रह्मविदः प्रत्यनुदिनमेते उभे स्मृति स्मर्तव्ये स्मर्यते न तु मरणकालविशेषं व्यवस्थाप्यते ॥२०॥

इति श्री रघुवरीयवृत्तौ दक्षिणायनाधिकरणम् ॥१०॥

श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यान्वयप्रतिष्ठित श्रीमदनुभवानन्दाचार्य स्वामी द्वारकेण ब्रह्मवित्स्वामि श्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीरघुवरीय वृत्तौ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

प्राप्नोतु नाम तथापि तस्य ब्रह्मप्राप्तिरवश्यमेव भवतीति न तत्र संशयावकाशः ॥१९॥

विवरणम्—ननु स्मृतिषु उत्तरकालस्यानावृत्तौ कारणता प्रतिपादिता तस्याः संगतिः मुमुक्षुणां दक्षिणायनेनापि गतिलाभे कथं स्यादित्यत आह "यत्रकाले" इत्यादि । यत्रकाले आवृत्तिमनावृत्तिं च गच्छन्तीति वाक्यं न कालबोधकमपितु तदभिमानिदेवतापरकमतो न कालनियमः । अपितूत्तरमार्गस्य दिनाद्यभिमानोनीदेवतापरकत्वेन मार्गस्य तदभिमानि देवताया एव मुख्यत्वात् । तस्माद्दक्षिणायने मृतस्यापि ब्रह्मोपासकस्य मोक्षप्राप्तिर्भवत्येवेति संक्षेपः ॥२०॥

इत्यानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दार्यपीठाचार्य जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य योगीन्द्रकृतौ श्रीरघुवरीय वृत्ति विवरणे चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयपादः ॥

॥ श्रीहनुमते नमः ॥

सारबोधिनी—"जिस काल विशेष में योगी लोग आवर्तन अनावर्तन को प्राप्त करते हैं" इत्यादि वाक्यों से ब्रह्मज्ञानी के लिए प्रतिदिन स्मर्तव्य दोनों प्रकारक सृती मार्गों का प्रतिपादन है । किन्तु मरण काल विशेष का व्यवस्थापन नहीं किया जाता है । इसलिए दक्षिणायन में मृत भी ब्रह्मज्ञानियों को मोक्ष की प्राप्ति अवश्य ही होती है । "यत्र कालेत्वनावृत्तिम्" इत्यादि स्मृति मार्ग का व्यवस्थापक है काल का नहीं ॥२०॥

इति दक्षिणायनाधिकरणम् ॥

स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य कृत श्रीरघुवरीयवृत्ति सारबोधिनीमें चतुर्थाध्याय द्वितीयपाद पूर्ण हुआ ।

॥ श्रीआचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीरामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये

॥ अथ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

अर्चिराधिकरणम् ॥१॥

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ।४।३।१।

परमपुरुषोपासनया विनष्टबन्धनस्य विदुष उत्क्रान्ति प्रदर्शिता । तदुत्तराध्वनोऽधुना निर्णयः क्रियते । ब्रह्मधामजिगमिषोविदुषोऽनेकश्रुतिष्वनेकप्रकारेणाम्नातेष्वध्वसु येन केनाप्यध्वना गमनमुतार्चिरादिनैवाध्वनेति संशयः । तत्र श्रुतिषु गौणमुख्यभेदाभावात्स्वातन्त्र्येणाभिधीयमा-

---

विवरणम्—अत्रातीत प्रकरणेन ब्रह्मविदः केन प्रकारेण समुत्क्रमणं भवतीति विचारितवान् । तत्र केन प्रकारेण कथमिव गमनं भवतीति विचारयितुमुपक्रमः । तत्र तत्तत्स्थानेषु अनेक प्रकारको मार्गप्रतिपादितः । तत्र भिन्न-भिन्न प्रकरणे प्रतिपादनात् भिन्नोभिन्नो मार्गोऽथवा अनेकविशेषणविशिष्ट एक एवार्चिरादिमार्ग इति संशयः । तत्र भिन्न प्रकरणे समाम्नानात्प्रकारभेदाच्च भिन्नभिन्न एव गमनमार्ग इति पूर्व पक्षाशयः । सिद्धान्तस्तु प्रकरणभेदेऽपि गन्तव्यस्य ब्रह्मण एकत्वादादित्यादिमार्गदेवतानामेकत्वात् स एवार्चिरादिमार्ग इति प्रत्यभिज्ञानाच्चैक एव मार्गोऽनेकविशेषणविशिष्ट इति दर्शयितुमुपक्रमते "परमपुरुषोपास-

सारबोधिनी—गत प्रकरण से परमपुरुष साक्षात्कारवान् पुरुष के उत्क्रमण प्रकार का वर्णन किया गया है । इसके बाद जिस मार्ग द्वारा परम पुरुष की प्राप्ति होती है उस मार्ग का विचार किया गया । उस विषय को लेकर के छान्दोग्य में कहा है कि "तेर्चिषमभिसंभवन्ति" [वह उपासक अर्चिरादिमार्ग को प्राप्त करता है । "एवम् अथैतैरश्मिभिः" वह वह उपासक इस सूर्य के रश्मि द्वारा ऊपर जाता है"] यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति" [जब यह उपासक व्यक्ति इस लोक से प्रयाण करता है तब वह वायु में जाता है"] इत्यादि प्रकार से विभिन्न श्रुतियों में भिन्न-भिन्न मार्ग का वर्णन

नेष्वध्वसु येन केनापि गमनमिति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु– अर्चिरादि-नैकेनैवाध्वना गतिः। प्रकारभेदेऽपि सर्वत्रार्चिरादिरेवाध्वा ब्रह्मविदो गन्तु-मभिधीयते। सर्वेष्वभिधीयमानेष्वध्वसु नैयत्येनादित्यादीनां दर्शनात्स

नयेत्यादि" अथ परम पुरुषस्योपासनयाविनष्ट शुभाशुभकर्मबन्धनस्य ब्रह्मज्ञानिन उत्क्रमणंकथं केन प्रकारेण च भवतीति प्रतिपादितम्। तद-नन्तरं केन मार्गेण ब्रह्मज्ञानिनो गमनं भवतीति विचारः प्रस्तूयते। तत्र ब्रह्मणः श्री साकेताधिपते लोकं विलक्षणं स्थानजिगमिषुणामुपासकाना-मनेकश्रुतिषु विभिन्नप्रकारेण विभिन्नो मार्गः प्रदर्शितः। तेषु येन केनापि मार्गेण गमनं भवति अथवा अर्चिरादिनामार्गविशेषेणैकेनैव पथा-गमनं भवति ब्रह्मविदामिति संशयः। तत्रानेकासु श्रुतिषु गौणमुख्यादि भेदाभाव कथनात् येन केनापि मार्गेण गमनं भवति न तु प्रतिनियतः कश्चिन्मार्गविशेष इति पूर्वपक्षकर्तुराशयः।

किया गया है। तो ब्रह्मज्ञानी का गमन किस मार्ग से होता है। इसका निश्चय करने के लिए तथा सूत्र का व्याख्यान करने के लिए वृत्तिकार उपक्रम करते है "परमपुरुषोपासनया" इत्यादि। परमपुरुष भगवान् श्री सीताकान्त की उपा-सना करने से विनिष्ट है शुभाशुभ कर्म बन्धन जिनका एतादृश जो उपासक उनका इस शरीर से उत्क्रमण होता है इस बात का प्रतिपादन गत प्रकरण में किया गया है। उसके बाद उन उपासकों का गमन किस मार्ग से होता है उसका निर्णय किया जाता है। ब्रह्मधाम श्री सीताधिपति का जो अप्राकृत साकेत लोक में गमन करने की इच्छावान् जो उपासक है विद्वान् महापुरुष के लिए छान्दोग्य वृहदारण्यकादिक अनेक श्रुतियों में अनेक प्रकार से कथित जो अनेक मार्ग है जैसे कहीं अर्चिरमार्ग कहा है। कहीं उससे भिन्न मार्गान्तर का प्रकारान्तर का वर्णन किया है तो इन अनेक मार्गों में से किस मार्ग से [illegible] होता है अथवा प्रतिनियत अर्चिरादि रूप एक मार्ग से ही सबका गमन होता

एवायमर्चिरादिरध्वेति प्रत्यभिज्ञानात् । तस्मात्सर्वत्रार्चिरादिरेक एवा-ध्वेत्यनेनैवोपासकस्य गतिः ॥१॥

श्रीरघुवरीयवृत्तावर्चिराद्यधिकरणम् ॥१॥

एवं पूर्वपक्षिते सिद्धान्ती प्राह "अर्चिरादिनेति" अनेक विशेषण विशिष्टोऽर्चिराद्यक एव मार्ग सर्वत्र श्रुतिषु प्रतिपादितः । अतः सर्वोपि ब्रह्मवित् एकेनैवार्चिरादि मार्गेण ब्रह्मपदं प्राप्नोति । कुतः ? तत्प्रथितेः एक एवार्चिरादिमार्गः सर्वत्र प्रथितः प्रसिद्ध इति । न च प्रकरणभेदा-न्मार्गभेदः स्यादिति वाच्यम् सर्वश्रुतीनां मार्गप्रतिपादिनीनामेकवाक्य त्वेनैकथात् । प्राप्तव्यस्य परमपुरुषस्यैकत्वेनमार्गस्याप्येकत्वमेवनत्व-नैकयमिति । एतदेव वृत्तिकारः प्रदर्शयति "सिद्धान्तस्तु" इत्यादिना । अर्चिराद्येकेनैवमार्गेण ब्रह्मविदां गतिर्भवति । यद्यपि प्रकारप्रकरणयो-र्भेदस्तथापि एक एवार्चिरादिको मार्गः सर्वश्रुति सुकथितः । यतोऽभि-

है । इस प्रकार से मार्ग के विषय में संशय होता है । इस विषय में श्रुतियों में तो अमुक मार्ग मुख्य है और अमुक मार्ग गौण है ऐसा तो कहा है नही तब स्वतंत्र रूप से उन अनेक मार्गों में से जानेवाला पुरुष स्वेच्छया जिस किसी एक मार्ग से ही गमन करेगा । क्योंकि नियामक खास कोई कारण नहीं है ऐसा पूर्व पक्षवादी कहते हैं । अर्थात् नियामक विशेष हेतु के अभाव से गमन होता है ऐसा कोई नियम नही हैं ॥ इस प्रश्न के उत्तर में सिद्धान्तवादी कहते हैं "अर्चिरादिनेति" अनेक विशेषण विशिष्ट एक ही मार्ग है । जो कि सर्वत्र प्रतिपादित हुआ हैं । इसलिए सभी ब्रह्मज्ञानी एक अर्चिरादि मार्ग से ही गमन करते हैं नतु अनेक मार्ग से नवा अनेक मार्ग से तत्तत् पुरुषो का गमन होता हैं । क्यों ? एक यही अर्चिरादि मार्ग अनेक श्रुतियो में प्रतिपादन हुआ है इसी बात को वृत्तिकार करते हैं सिद्धान्तस्तु=इत्यादि प्रकरण से अर्चिरादि रूप एक ही मार्ग से सब ब्रह्मज्ञानियो का गमन होता हैं । यद्यपि मार्ग के विषय में प्रकार भेद तत्तत् स्थान में उपलब्ध होता है जिससे कि

वाय्वधिकरणम् ॥२॥

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ।४।३।२।

अर्चिरादिगतौ क्रमभेदः समाधीयते । "मासेभ्यः संवत्सरं संव-

मानिदेशानां सर्वत्र दर्शनादयमर्चिरादिरिति प्रत्यभिज्ञानाच्चेत्यर्थः । तस्मादेक एवार्चिरादिमार्गस्ते नैव मार्गेण ब्रह्मविदाङ्गमनमिति सर्वसिद्धान्तसिद्धो मार्गः ॥१॥

इति जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेऽर्चिराद्याधिकरणम् ॥१॥

अनेक मार्ग को मानना ऐसा प्रतिभासित होता है तथापि सर्वत्र एक ही अनेक विशेषण विशिष्ट अर्चिरादिक मार्ग ब्रह्मज्ञानो के ऊर्ध्वगमन के लिए शास्त्र में प्रतिपादित हुआ है । क्योकि प्रतिपाद्यमान सभी मार्गों में नियमतः आभिमानिक आदित्यादि देवो का कथन हुआ है । और स एवायमर्चिरादि मार्गः वही यह अर्चिरादिक मार्ग है इस तरह से प्रत्यभिज्ञान होता है वह प्रत्यभिज्ञान एकत्व का समर्थक रोता है । जैसे "सोयं देवदत्तः" इत्यादि प्रत्यभिज्ञा गम एकत्व का समर्थक है । यद्यपि "ते एवामी केशाः" इत्यादि स्थल में प्रत्यक्ष विरोध होने से व्यक्तिगत एकत्व प्रत्यभिज्ञान नहो होता है । तथापि विशेष धर्म द्वारा अन्तत एकत्व ही समर्थित होता है । प्रकृत में भी इसी तरह प्रत्यभिज्ञान मार्गगत एकत्व का व्यवस्थापक होता है । इसलिए अनेक श्रुतियो में मार्ग का अनेकत्व यद्यपि आपात दृष्टि से प्रतिभासित होता है तथापि सर्वश्रुति की एक वाक्यता होने से मार्गो में एकत्व ही सिद्ध होता है । अतः सर्वत्र अर्चिरादिक एक ही मार्ग हैं । और उसी एक मार्ग द्वारा उपासक ब्रह्मज्ञानी का गमन होता है यह सिद्ध हुआ । मार्ग विषयक अनेकत्व आपात दृष्टि से ही प्रतिभासित होता हैं । परन्तु वस्तुतः अनेकत्व नही हैं एक ही मार्ग से तत्वज्ञानी का उत्क्रमण होता हैं यह सार हैं ॥१॥

इत्यर्चिराद्यधिकरणम् ॥१॥

त्सरादित्यम्'' [छा०।४।१५।५] इतिच्छन्दोगाः समामनन्ति अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकम्'' [कौ० १।३] इति ''मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्'' [बृ०६।२।१५] ''स वायुमागच्छति'' [बृ० ५।१०।१] इति च वाजसनेयिनः। अत्र देवलोकवायुशब्दाभ्यां भिन्नार्थौऽभिधीयते। देवलोकं गत्वा वायुमुपासको गच्छत्युत देवलोकवायुशब्दयोरेक

विवरणम्--योऽयमर्चिरादिमार्ग ऊर्ध्वगमनाय ब्रह्मविदाम् स एक एवेति पूर्वनिर्धारितः परन्तु प्रकारभेदो भवतीति या शङ्का कृता तस्या निवारणायोपक्रमते=''अर्चिरादिगतावित्यादि'' अर्चिरादिगतौ क्रमभेदाद्यो मार्गभेदः शङ्कितस्तस्य क्रमभेदस्य समाधानं करोतीत्यर्थः। मार्गभेदको यो क्रमभेदस्तमेव दर्शयति ''मासेभ्यः'' इत्यादि द्वादशमासेभ्यश्चैत्रादारभ्य फाल्गुनान्तेभ्यस्त्रयोदशमासेभ्यो वा, अथवा चैत्रसंक्रान्तित आरभ्य कुम्भसंक्रान्ति सौर्यमासेभ्योऽनन्तरं सम्वत्सरं मासावयविनम्काय

सारबोधिनी—अर्चिरादिक जो ब्रह्मधाम के गमन का मार्ग कहा गया है उसके विषय में विभिन्न श्रुतियों में जो क्रमभेद उपलब्ध होता है उसकी व्यवस्था करने के लिए उपक्रम करते हैं अर्चिरादिगतावित्यादि'' अर्चिरादिक मार्ग के विषय में श्रुतियों में जो परस्पर भेद प्रतिभास होता है उसका समाधान इस सूत्र से किया जाता है। ''वह उपासक मास से संवत्सर मासावयवी कालात्मक वर्ष में जाता है और संवत्सर से आदित्य में जाता है''] इस प्रकार से छान्दोग्य श्रुति में कहा गया है। ''अग्निलोक में वह उपासक आता है; वह वायुलोक में आता है'' वह उपासक मास से देवलोक में जाता है। देवलोक से आदित्य में जाता है। इस प्रकार से बृहदारण्यक में कहा है। तथा ''वह वायु में आता है'' इस प्रकार से वाजसनेयीशाखा में कहा गया है। यहाँ श्रुतियों में वायु तथा देवलोक शब्द परस्पर विभिन्न अर्थ का कथन करता है। अर्थात् वायु शब्द का अर्थ वायु और लोक शब्द का अर्थ है देवता सम्बन्धी लोक विशेष। इस प्रकार से ये दोनों शब्द विभिन्नार्थ का प्रतिपादक

एवार्थ इति संशये-तयोर्विभिन्नार्थकत्वाद्यथारुचि गच्छतीति पूर्वपक्षः सिद्धान्तस्तु -संवत्सरादूर्ध्वं वायुमागच्छन्ति देवानां लोक इत्यविशेष०-ष्टि त्पत्तौ देवलोक शब्दोऽपि वायुपरस्तथा वायुमिति विशेषरूपेण च वायु-मेवाभिधत्तेऽतः संवत्सरादूर्ध्वं वायुमागच्छति ॥२॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ वाय्वधिकरणम् ॥२॥

विशेर गच्छति ततश्चमास समुदायि वर्षान्तरमादित्यलोकगच्छत्युपासक इत्येवं क्रमेण छन्दोगाः प्रतिपादयन्ति । अग्निलोकमित्यादि स उपा-सकोऽग्निलोकं गच्छति ततो वायुं गच्छति । अत्राग्निलोकाद्वायुगमनं प्रतिपादयति । अन्यत्र मासेभ्योदेवलोकं गच्छति देवलोकाच्चादित्यं गच्छति स वायुं गच्छति । अत्र देवलोको भिन्नः वायुश्चभिन्नो नत्वेकः । तत्र देवलोकं गत्वोपासको गच्छति अथवा देवलोकवायु शब्दौ समा-नार्थकाविति संशयः । तत्र वायुलोकयोर्विभिन्नार्थ प्रतिपादकत्वात् यथे-च्छया गच्छतीति पूर्वपक्षाशयः । सिद्धान्तस्तु वायुमिति स उपासकः संवत्सरादनन्तरं वायु गच्छति कुतः ? अविशेषविशेषाभ्याम् एकत्र है न तु समानार्थक है जिससे विरोध नहीं होता है । अब यहाँ संशय होता है कि वह उपासक देवलोक में जाकर के वायु में जाता है । अथवा देवलोक तथा वायु-यह दोनो समानार्थक है । एतादृश संशय के बाद पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि देवलोक तथा वायुशब्द को विभिन्नार्थक होने से स्वेच्छया गमन होता उपासकों का । इस पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्तवादी कहते हैं "वायुमब्द-दित्यादि" वह उपासक संवत्सर के बाद वायु में जाता है । क्योंकि अविशेष और विशेष से अर्थात् "देवानां लोको देवलोकः" इस व्युत्पत्तिसे देवलोक शब्द वायु का भी बोधक होता है । क्योंकि वायु भी तो देव ही । तथा "स वायु-मागच्छति" इत्यादि वाक्य से साक्षादेव वायु का बोध होता है । यद्यपि देव-लोक शब्द सामान्य देवत्वरूप से देवत्वाक्रान्त वायु को समझता है तथापि "वायुमागच्छति" इत्यादि शब्द प्रतिपदोक्त रूप से वायु का बोधक हैं । इस

वरुणाधिकरणम् ॥३॥

तडितोऽधिवरुणः सम्बन्धात् ।४।३।३।

कौषीतकिनां ब्राह्मणे श्रूयते "स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्र-

---

संवत्सरानन्तरं वायुं गच्छति अन्यत्र तदनन्तं देवलोकं गच्छति तत्रोभयत्रापि वायोरेव ग्रहणम्। देवलोक शब्दोऽपि वायोरेव बोधकः । देवानां लोक इत्यादिव्युत्पत्या वायोरपि देवत्वात्। अन्यत्र च वायुशब्देनैववायोर्ग्रहणम् । अतः संवत्सरानन्तरम् विशेषाविशेषाभ्यां वायोरेवग्रहणमिति तस्मादुभयत्रापिवायोरेवसम्पर्कं मिति न कोऽपि क्रमविरोधः ॥२॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्ति विवरणे वाय्वधिकरणम् ॥२॥

लिए वायु समभिव्याहार देवलोक शब्द भी सामान्य रूप से वायु का ही बोधक हैं।

इसी वस्तु का स्पष्टीकरण करते हैं "सिद्धान्तस्तु" इत्यादि संवत्सर के बाद वह उपासक वायु में जाता है। क्योंकि "देवानां लोको देवलोकः" इस प्रकार की व्युत्पत्ति से देवलोक शब्द भी वायु का भी बोधक है। तथा "वायु गच्छति" इस प्रकार से विशेष रूप से भी श्रुति वायु का ही कथन करती है। इसलिए संवत्सर के बाद वह उपासक वायु में जाता है यह सिद्ध होता है। इति वाय्वधिकरणम् ॥

सारबोधनी—कौषीतकि ब्राह्मण में सुनने में आता है कि "वह ब्रह्मविद्योपासक देवयान मार्गको प्राप्त करके अग्निलोक को प्राप्त करता है। उसके बाद वायुलोकको प्राप्त करता है। तदनन्तर वरुण लोक उससे आदित्य लोकको प्राप्त कर इन्द्रलोकसे प्रजापति लोकको प्राप्त करता है। प्रजापति लोकके बाद परम प्राप्य ब्रह्मलोक श्री साकेत धामको प्राप्त करता है"] इत्यादिक श्रुति में श्रुत जो वरुण है उसका वायु के बाद में निवेश होता

लोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्" [कौषी० १।३] इत्यादिषु श्रुतीनां वरुणादीनां वायोरूर्ध्वं निवेश आहोस्वित्तडित इति संशये--पाठक्रममादृत्य वायुलोकादूर्ध्वं वरुणादीनां निवेश इति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु--तडिद्वरुणयोर्मेघस्थत्वेन सम्बन्धात्तडित ऊर्ध्वमेव वरुणादीनां निवेशः ॥३॥

इति श्रीरघुवरीय वृत्तौ वरुणाधिकरणम् ॥३॥

विवरणम्—अर्चिरादिमार्गविषये तथा तदन्तर्गत वायु विषयक क्रमभेदविषये शङ्कां निराकृत्य वरुणविषयकक्रमभेदं निराकर्तुमुपक्रमते "कौषीतकिनां ब्राह्मणे" इत्यादि। "स एतं देवयानमित्यारभ्य स ब्रह्मलोकमित्यन्तं श्रूयते कौषीतकिनां ब्राह्मणे। तत्र पाठक्रममाश्रित्य वायोरनन्तरं वरुणस्य निवेशोऽथवा तडितोऽनन्तरं वरुणस्य निवेश इति संशयः। तत्र विद्युतोऽनन्तरं वरुणस्य निवेशासंभवाद् वायोरनन्तरमेव वरुणस्य निवेश इति पूर्वपक्षः। तमिमं पूर्वपक्षं निराकरोति "तडितोधि" इत्यादि। पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलवत्वेन तडितोऽनन्तरमेव वरुणस्य सम्बन्धस्तथा तडिद्वरुणयोर्मेघस्थत्वाच्च तदत्र श्रीआनन्दभाष्य-

है अथवा तड़ित के बाद में वरुण लोक का निवेश होता है ऐसा संशय होता है। एतादश संशय के बाद पूर्वपक्षी कहते हैं कि पाठक्रम के अपेक्षा से वायु लोक के बाद ही वरुण का निवेश होता है। सिद्धान्तवादी कहते हैं कि तडित और वरुण यह दोनों मेघ स्थित हैं तो मेघ स्थितत्व साधर्म्य से तडित के बाद ही वरुण का सम्बन्ध होता है। ननु वायु के बाद वरुण का सम्बन्ध यद्यपि पाठक्रम की अपेक्षा से वायु के बाद वरुण का सम्बन्ध अपेक्षित है तथापि पाठापेक्षया अर्थक्रम बलवान् होता है। जैसे "अग्निहोत्र जुहोति यवागू पचति" इस स्थल में पाठक्रम से यदि हवन प्रथमतः कर लेवें तो यवाम् पा का निरर्थक हो जायगा। इसलिए अर्थक्रम से प्रथमतः यवागू का पाक किया जाता है। तदनन्तर कारण रूप यवागू से हवन किया जाता है। तभी

आतिवाहिकाधिकरणम् ।।४।।

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ।४।३।४।

एतेऽर्चिरादयः किमध्वलक्षणभूता उतगमयितार इति संशयेऽध्वनो लक्षणभूता एवेमे । दृश्यत एवलोक एवं विधोऽध्वलक्षणानि सूचय-

---

काराः "ततश्चायं क्रमः सम्पन्नः नाडीरश्मिप्रवेशानन्तरमर्चिषमर्चि-षोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षादुत्तरायणमासांस्तेभ्यः सम्वत्सरं सम्वत्सराद्वायुं वायोरादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो वैद्युतं वैद्युताद्वारुणं वारुणादैन्द्रमैन्द्राद्धातृलोकं धातृलोकाद्विरजां तत्र स्नात्वा श्रीसाकेतलोकद्वारम्" इति ॥३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्री रघुवरीयवृत्तिविवरणे वरुणाधिकरणम् ॥३॥

विवरणम्—ननु एतेऽर्चिरादयो मार्गस्य चिह्नरूपा अचेतनाः अथवा गमयितारः सचेतना इति संशयः। तत्रा चेतनाश्चिह्नभूता एव मार्ग-स्येति पूर्वपक्षः। "स एनान् ब्रह्म गमयतीति श्रुते रतिवाहिका ब्रह्म-यवागूपाक सफल होता है । अन्यथा हवनार्थक जो यवागू उसका सम्पादन सर्वथा व्यर्थ होगा तथा तन्मूलक हवन भी नहीं हो सकेगा । अतः पाठक्रमा-पेक्षया अर्थ क्रम बलवान् है । यह मानने से यवागूपाक तथा हवन दोनों की सम्पत्ति होती है । इसी तरह प्रकृत में तडित वरुण को मेघस्थित होने से अर्थ क्रम को लेकर के तडित के बाद वरुण का सम्बन्ध होता है । नतु पाठ-क्रम से वायु के बाद वरुण का सम्बन्ध विशेष अन्यत्र देखें ॥३॥

इति वरुणाधिकरणम् ॥

सारबोधिनी—अर्चिरादि मार्ग तथा उसके क्रम विषय में जो विप्रतिपत्ति थी उसका निराकरण करके अब वे अर्चिरादिक मार्ग स्थान का चिह्नभूत अचेतन वस्तु है । अथवा अर्चिरादिक ब्रह्म के प्रति गमयिता चेतन विशेष है । इसका निर्णय करने के लिए उपक्रम करते हैं "एतेऽर्चिरादयः" इत्यादि ।

न्नुपदेशो देशान्तरं जिगमिषून्प्रति तथाऽध्वलक्षणभूता एवार्चिरादय इति पूर्वपक्षः । अत्राभिधीयते । ब्रह्मप्रेप्सूनामेतेऽर्चिरादयो गमयितार एव "स एनान्ब्रह्म गमयति" [छा० ४।१५।६] इत्युत्तरवाक्यस्थलिङ्गादवगम्यते । अर्चिरादयोऽत्र तत्तदधिष्ठातृदेवता एवेति तासां गमयितृत्वं सुतरां सम्भवति ॥४॥

नियुक्ता स चेतना एव नतु अचेतना इति सिद्धान्तं मनसि कृत्य सूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते "एतेऽर्चिरादय इत्यादि" य एतेऽर्चिरादयः पूर्वमुक्तास्ते मार्गस्य चिह्नभूता अचेतनाः सन्ति अथवा ब्रह्मजिगमिषूणां गमयितारः स चेतना देवा इति संशयः । तत्र मार्गस्य लक्षण भूता एवार्चिरादयः लोकेमार्गस्थानस्यैव प्रयोगदर्शनादिति पूर्वपक्षाशयः । अत्रोत्तरम् "आतिवाहिकाः" इत्यादि । एतेऽर्चिरादयः आतिवाहिका ब्रह्म जिगमिषूणां गमयितारः सचेतनाः पुरुषा एव कुतः ? तल्लिङ्गात् सचेतनानां पुरुषाणामेव लिङ्गस्य दर्शनात् "स एनान् ब्रह्म गमयतीत्यादि वाक्येन चेतनस्य गमयितु निर्देश दर्शनात् नहि मुख्यवृत्त्याऽचेतने

ये जो पूर्वकथित अर्चिरादिक है वे क्या मार्गका नाम विशेष है अथवा ये लोग ब्रह्मधाम के प्रतिजिगमिषु जो उपासक उनको ब्रह्म पर्यन्त पहुचानेवाले चेतन विशेष हैं ऐसा सन्देह होता है । इसमें पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि ये अर्चिरादिक मार्ग का चिह्न विशेष है लोक में भी एतादृश मार्ग के लक्षण को सूचित करते हुवे उपदेश दिया जाता है। देशान्तर में जानेवालो के लिए उसी तरह प्रकृत में भी ये अर्चिरादिक मार्ग का ही चिह्न विशेष है ऐसा पूर्वपक्ष का अभिप्राय है । इसके समाधान में कहते हैं "आतिवाहिका इत्यादि" ये अर्चिरादिक अतिवाहिक अर्थात् ले जानेवाले चेतन विशेष हैं । क्योंकि चेतन का ही लिङ्गविशेष है । ब्रह्म प्राप्ति की इच्छावान को पहुँचानेवाले चेतन हैं "स एनान् ब्रह्म गमयति" एतादृश उत्तर वाक्य से सिद्ध होता है । क्योंकि मुख्यवृत्ति से गमयितृत्व चेतन में ही होता है अचेतन में नहीं । यहाँ अर्चिरादिक

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ।४।३।५।

ननु "स एनानिति श्रुतिविद्युल्लोकादूर्ध्वमाब्रह्मातिवाहिकतयाऽमानवं पुरुषमभिधत्त इति तत उपरितनानान्त्वातिवाहिकत्वं कथमिति चेत्ततो विद्युत ऊर्ध्वमाब्रह्म वैद्युतामानवेनातिवाहिके नैव प्राप्यते । स एनान्ब्रह्मगमयति" [छा० ४।१५।६] इति श्रुतेः । वरुणादीनान्त्वनुग्राहकत्वम् ।।५।।

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावातिवाहिकाधिकरणम् ।।४।।

गमयितृत्वं किन्तु सचेतने एव तथात्वम् । तस्मादेतेऽर्चिरादयो देव विशेषा एवातिवाहिकाः न तु मार्गचिह्नभूता इति स्थितम् ।।४।।

विवरणम्—ननु वैद्युत पुरुषोऽमानवः सविद्युत आरभ्य ब्रह्मप्राप्ति पर्यन्तमुपासकानां ब्रह्मप्रापकतया आतिवाहिको भवतु नाम किन्तु वैद्युतात्पूर्ववर्तिनोये ते तु नामानवास्ततः कथं तेषां वरुणादीनामातिवाहिकत्वम्, न च ते वरुणादयोऽमानवाः "स एनान् ब्रह्मगमयतीत्यादिना-वैद्युत आरभ्यैवामानवत्वस्य श्रवणादिति न वरुणादीनां पूर्ववर्तिनामातिवाहिकत्वमित्याशङ्क्य समाधातुमुपक्रमते "ननु स एनातीत्यादि" "स एनान् ब्रह्म गमयति" इत्यादि श्रुतिः विद्युल्लोकादनन्तरंकमप्यमानव-पुरुषब्रह्मलोकपर्यन्तमातिवाहिक रूपेणप्रापकं प्रापयति नतु विद्युल्लोकात्पूर्ववर्तिनामानवतया आतिवाहकत्वं दर्शयतीति कथं तेषां वरुणादीनां पदत्ततदधिष्ठातृ देवता का सूचक है और देवता सचेतन होते हैं। इसलिए अर्चिरादिक पद गमयिता चेतनपरक है । नतु मार्ग का चिह्न रूप है ।।४।।

सारबोधिनी—वह विद्युत अमानव पुरुष ब्रह्मोपासक को ब्रह्मलोक में ले जाता है यह श्रुति तो विद्युत लोक से ब्रह्मपर्यन्त प्राप्त करता है तो वैद्युत से पूर्ववर्ति जो वरुणादिक हैं उनमें तो आतिवाहिकत्व सिद्ध नहीं होता है । इस शङ्का का समाधान करने के लिए उपक्रम करते हैं "ननु स एनानित्यादि" "स एनान् ब्रह्मगमयति" यह श्रुति विद्यूत लोक से आगे ब्रह्मपर्यन्त आतिवाहिक

कार्याधिकरणम् ॥५॥

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ।४।३।६।

अर्चिरादेरध्वनो विदुषो गमनमित्यभिहितम् । अथात्र संशयः किमयमर्चिरादिको गणः कार्यं ब्रह्मोपासीनान्नयत्याहोस्वित् परब्रह्मोपासीनान् ब्रह्मात्मकतया प्रत्यगात्मानमुपासीनांश्चेति । तत्र कार्यं हिरण्यगर्भमुपासीनान्नयतीति बादरिर्मन्यते । यतः परिच्छिन्नस्य परब्रह्मण उपासकस्य देशविशेषे गतिः सम्भवति ॥६॥

तत्पूर्ववतिनामातिवाहिकत्वमित्यत आह "वैद्युतेनैवेत्यादि" सूत्रम् । वैद्युतेन विद्युल्लोकादागते नामानवेनातिवाहिक पुरुषविशेषेण तत ऊर्ध्वं ब्रह्मोपासकानां तत्साहाय्येन ब्रह्मपर्यन्तं गमनं भवति कुतः ? तथैव श्रुतौ श्रवणात् "स एनान् ब्रह्मगमयतीति श्रुतेः । यद्यपि पूर्वोक्तरीत्या वरुणादिषु नातिवाहिकत्वं तथापि तेषां पदातिवाहिकत्वं तत्तु अमानवातिवाहकस्यानुग्राहक तयोपचारतयैव भवति ननु मुख्य रूपेण । दृश्यते लोकेऽनुग्राहकेऽपि तथा प्रयोगः ॥५॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यकृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे अतिवाहिकाधिकरणम् ॥४॥

विवरणम्—ब्रह्मोपासकानामर्चिरादि मार्गेण गमनं तथाऽर्चिरादिकस्य स्वरूपमपीतः पूर्वविचारितम् । अतः परं संशयो भवति यत् योय रूप से अमानव पुरुप का प्रतिपादन करती है । तब वैद्युत से पूर्ववर्ती वरुणादिक में आतिवाहिकत्व किस तरह से होता है । इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं "वैद्युतेनैव" इत्यादि सूत्रों विद्युत लोक के आगे ब्रह्मपर्यन्त विद्युत सम्बन्धी अमानव आतिवाहिक पुरुष ब्रह्मोपासक को ले जाता है । क्योंकि "स एनान् ब्रह्म गमयति" इस प्रकार श्रुति में श्रुत है । वरुणादिक में जो आतिवाहिकत्व है वह आतिवाहिक अमानव पुरुष का सहायक है । इसलिए औपचारिक रूप से आतिवाहिकत्व है मुख्य रूप से नहीं ॥५॥

इत्यतिवाहकाधिकरणम् ।

विशेषितत्वाच्च ।४।३।७।

"पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान गमयति" [बृ० ६।२।१५] "प्रजापते समां वेश्म प्रपद्ये" [छा० ८।१४।१] इत्यादिषु कार्यस्य हिरण्यगर्भस्यैव प्राप्यतया विशेषितत्वात् कार्योपासीनान्नयतीति ।।७।।

मर्चिरादिको गणः स कार्यब्रह्मोपासकान् कार्यब्रह्मगमयति अथवा परं ब्रह्मोपासकान् परं गमयतीति । तत्र कार्य ब्रह्मोपासकस्य कार्यब्रह्मप्रदे- रामर्चिरादिकोगण प्रापयतीति दर्शयितुमुपक्रमते "अर्चिरादेरध्वन" इत्यादि अर्चिरादि मार्गेण ब्रह्मविदां गमनं तथाऽर्चिरादीनां स्वरूपं च विचारितम् तदनन्तरं संशयो जायते योऽयंमचिरादिगण स किं कार्यब्रह्मो- पासकस्य कार्यं ब्रह्मगमयति अथवा परब्रह्मोपासकस्य परमेव ब्रह्म गमयतीति । तत्र बादरिराचार्यः एवं प्रतिपादयति यत् कार्य ब्रह्मो- पासकान् कार्य ब्रह्मैवावगमयति यतः कार्यस्य ब्रह्मणः परिच्छिन्न त्वात् परिच्छिन्नदेशविशेषे गमनं संभवति परब्रह्मगस्तु व्याप- कत्वेन तत्र गमना संभवात् व्यापकस्य सर्वत्रावस्थितत्वेन तद्गतेरसंभ- वादिति पूर्वपक्षसूत्रम् ॥६॥

सारबोधिनी—जो ब्रह्मज्ञानी हैं उनका गमन अर्चिरादि मार्ग से होता है ऐसा कहा गया । तथा अर्चिरादि मार्गका स्वरूप का भी निरूपण किया गया । अब इसमें संशय होता है कि जो यह अर्चिरादिक गण है वह कार्य ब्रह्म का उपासक जो हैं उनको कार्य ब्रह्म तक पहुँचाता है । अथव परब्रह्म का उपासना करनेवाले को परब्रह्म तक पहुँचाता है । तथा ब्रह्म रूप से प्रत्य- गात्मा का उपासना करनेवाले को ब्रह्मगमन करता है । इसमें बादरी आचार्य कहते है कि कार्य ब्रह्मके उपासन करनेवाले को कार्य ब्रह्म तक पहुँचाता है । क्योंकि परिच्छिन्न ब्रह्म के उपासकको देश विशेषमें गमन हो सकता है । परन्तु सर्वगत सर्वात्मभूत परब्रह्म के प्राप्ति के लिए गमन तो सर्वथा अनुप- पन्न है ॥६॥

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ।४।३।८।

"स एनान् ब्रह्म गमयति" [छा०४।१५।६] इति हिरण्यगर्भस्य प्रथमकार्यत्वेन सामीप्याद् ब्रह्मपदेन व्यपदेशः ॥८॥

विवरणम्-'पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान् गमयतीति' श्रुतिरपि कार्यब्रह्मणः प्राप्तिमेव तदुपासकस्य प्रतिपादयतीति तदेवोपपादयितुमुपक्रमते पुरुषोऽमानवः" इत्यादि। अमानवः कश्चित् पुरुषः समभ्येत्य ब्रह्मोपासकान् ब्रह्मलोकान् गमयति तथा "प्रजापतेः समांवेश्म" इत्यादि स्थलेषु कार्यहिरण्यगर्भ ब्रह्मण एव प्राप्यत्वं प्रदर्शितम्। अतः कार्य ब्रह्मोपासकान् एवार्चिरादिगणः प्रापयति नतु परम पुरुषमिति॥७॥

विवरणम्-ननु यदि हिरण्यगर्भ एव प्राप्यतया श्रुतस्तदा तस्य ब्रह्मत्वाभावात् कथं ब्रह्मपदेन तस्य हिरण्यस्य निर्देशः कृतः? नहि तत् पदं मुख्य वृत्या हिरण्यगर्भं बोधयति किन्तु परम पुरुषमेवाभिधत्ते इत्याशङ्कायानिरासायाह "सामीप्यात्तु" इत्यादि परमपुरुषो हि प्रथमतो हिरण्य-

सारबोधिनी-"विद्युत लोक में एक अमानव पुरुष उपासक पुरुष के समीप में आकर के उस उपासक को ब्रह्मलोक में पहुँचाता है।" इस श्रुति में ब्रह्मलोक पदोत्तर बहुवचन का प्रयोग समझाता है कि ब्रह्मलोक अनेक है तो परब्रह्म का लोक तो अनेक नहीं है। इससे परिशेषात् सिद्ध होता है कि कार्य ब्रह्म का लोक ही ब्रह्मलोक है। क्योंकि कार्य ब्रह्म हिरण्य गर्भ ब्रह्माण्ड के भेद से अनेक हैं। एवम् प्रजायतेः समांवेश्म" इत्यादि श्रुति भी बतलाती है कि कार्य जो हिरण्यगर्भ वही प्राप्य है तो तादृश हिरण्यगर्भ को प्राप्यत्व रूप से कथन किया है। इससे सिद्ध होता है कि कार्यब्रह्म की जो उपासना करता हैं उस उपासक को अर्चिरादिक गण कार्य ब्रह्मलोक में ले जाते है।७।

सारबोधिनी—यदि हिरण्यगर्भ प्राप्य है उपासक से तब उस हिरण्यगर्भ में ब्रह्मशब्द का व्यपदेश किस तरह होगा? क्योंकि हिरण्य गर्भ तो ब्रह्म नहीं है ब्रह्म तो परम पुरुष ही है। अतः ब्रह्मनिर्देश अन्यथानुपपन्न होकर के मुख्य

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ।४।३।९।

नन्वेवं कार्यब्रह्मलोकगतानां पुनरावृत्तिः "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन !" [गी० ८।१६] इत्यादि शास्त्रेणोच्यते । कथं

गर्भमेवोत्पादयति ततश्चतद्वारान्याञ्जनयति, इति प्रथमतत्वेन तस्य ब्र[illegible] ब्रमादं यथा कथञ्चितनपि बोधयतीत्याशयेन सूत्र व्याख्यानायोपक्रमते "स एनानित्यादि" स अमानवः पुरुष एनान् स मुपासकान् ब्रह्मलोकं गमयतीत्यत्र ब्रह्मपदम् प्रथम कार्यत्वेन हिरण्यगर्भ बोधयतीति कुतः मुख्य ब्रह्मणोऽतिसमीपस्थत्वात् हिरण्यगर्भस्यप्रथम-कार्यत्वादिप्रथमजत्वेन परम पुरुषस्याति समीपस्थत्वेन ब्रह्मपदेन हिरण्यगर्भस्यापि ग्रहणं भवतीत्यतो हिरण्यगर्भस्यापि ब्रह्मपदेन व्यपदेशोजायते इति ॥८॥

विवरणम्—ननु ये पुण्यकर्मवलात् कार्यं हिरण्यगर्भलोकं गच्छति तस्य "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन !" इत्यादि शास्त्रेण तस्य पुनरावृत्तिः श्रूयते तदा कथमुच्यते यत् हिरण्यगर्भलोकमविरादि ब्रह्म में ही प्राप्यत्व को समजाता है। इस शंका के समाधान में कहते हैं, "सामीप्यात्तु" इत्यादि । हिरण्यगर्भ परम पुरुष का प्रथम कार्य है तो कार्यत्व रूप से परमब्रह्म के अति समीपस्थ होने से ब्रह्मपद से हिरण्यगर्भ का भी बोध तथा व्यपदेश अर्थात् शब्द व्यवहार भी होता है । इस अभिप्राय को लेकरके सूत्र का व्याख्यान करने के लिए उपक्रम करते हैं "स एनानित्यादि" हिरण्य-गर्भ परमपुरुष का प्रथम कार्य है इसलिए परमपुरुष का प्राथमिक कार्य होने से तत्समीपस्थ होने से हिरण्यगर्भ में भी ब्रह्मपद का व्यपदेश अर्थात् व्यवहार होता है । तादृश व्यवहार में कोई भी क्षति नहीं है ॥८॥

सारबोधनी—जो उपासक उपासना के फल से हिरण्यगर्भ लोक में जाते हैं उनका तो पुनरावर्तन सुना जाता है "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः" इत्यादि अर्थात् ब्रह्मलोक पर्यन्त लोकों का पुनरावर्तन होता है । तब तदन्त वर्त्तियों

तर्हि तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" [का० २।६।१६] इत्यादि श्रुतिष्वमृतत्वाभिधानं सङ्गच्छेतेत्याह–कार्यब्रह्मलोकस्य विनाशे तल्लोकाध्यक्षेण सह प्राप्तपूर्णविद्योऽतः परब्रह्मधाम गच्छति । "ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे" [मु० ३।२।६] इत्यभिधानात् ॥९॥

मार्गेण गतस्यामृतत्वमिति तद् विरुद्धमेव भवतीति शङ्कायाः निरासायोच्यते "कार्यात्यये" इत्यादि यो हि उपासनाबलात्कार्यब्रह्मलोकं गच्छति स तावत्कालं यावत्पर्यन्तं कार्यहिरण्यगर्भस्याधिकार समाप्तिर्न भवति तत्र प्रतीक्षते अधिकारसमाप्तौ तत्रैवोत्पन्न तत्त्वज्ञान तल्लोकाध्यक्षेण सहैव परमपदं पुनरावृत्तिरहितं प्राप्नोति "ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परंपदमिति श्रवणात् । ततश्च तादृश क्रममोक्षं प्राप्त उपासकः पुनरावृत्ति वर्जितममृतत्वमेतीत्याशयेनोपक्रमते "नन्वेवं कार्यब्रह्मत्यादि" ननु पूर्वकथित प्रकारेण ये कार्यब्रह्मलोके गतास्तेषां कथं मोक्षः यतः कार्यब्रह्मलोकगतानाम् "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन !" इत्यादिना पुनरावृत्ति श्रवणात् । तत्कथमुच्यते यत् उपासनया अर्चिरादिमार्गेण कार्य ब्रह्मलोकं प्राप्यते मुक्ता भवन्तीति शङ्कायामाह "कार्यात्यये" इत्यादि सूत्रम् । तत्र कार्यस्य हिरण्यगर्भस्य अत्ययेऽधिकार समाप्ति लक्षणस्यात्ययेऽवसाने सति तदध्यक्षेण तल्लोकाध्यक्षेण कार्यब्रह्मणा सहैव ते उपासका अपि परमपदं प्राप्नु-

का पुनरावर्तन तो स्वाभाविक है । इस स्थिति में कार्य ब्रह्म लोकगत उपासक को अमृतत्व की प्राप्ति होती है यह कथन तो सर्वथा अनुपयोगी होता है । इस शङ्का का समाधान सूत्रकार करते हैं 'कार्यात्यये" इत्यादि । कार्यब्रह्मलोक का अत्यय विनाश होने पर उस लोक का अध्यक्ष जो हिरण्यगर्भ उसके साथ हिरण्यगर्भ द्वारा प्राप्त है परिपूर्ण ब्रह्म विद्या जिनको ऐसे जो उपासक गण हैं वे हिरण्यगर्भ के साथ ही परमधाम का प्राप्ति लक्षण मोक्ष प्राप्त कर जाते हैं । वे उपासक लोग परान्तकाल में अर्थात् पर जो हिरण्यगर्भ उनका

स्मृतेश्च ।४।३।१०।

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति पर पदम्। इति स्मृतेश्च ॥१०॥

वन्ति यथा प्रथमतः समुत्पन्न विद्यः कार्य हिरण्यगर्भो मुक्तो भवति तथा तत्समये कार्यब्रह्मणः सकाशात्प्राप्तविद्या उपासका अपि परमपदं प्राप्नुवन्ति न तेषां पुनरावृत्तिर्भवति किन्तु निरतिशय पुनरावृत्तिलक्षण-रहितं परमधामं प्रविशन्ति। "ते ब्रह्मलोके तुपरान्त काले परामृताः परि मुच्यन्ति सर्वे" इत्यादि शास्त्रेण कार्य हिरण्यगर्भ लोकप्राप्तानामपि पुन-रावृत्ति विवर्जित परमधामप्राप्तेरभिधनादिति ॥९॥

विवरणम्—पूर्वसूत्र कथितोऽर्थः पुराणादि स्मृतिबलेनापि व्यव-स्थापितो भवतीति दर्शयितुमुपक्रमते "ब्रह्मणा सह ते सर्वे" प्रतिसञ्चरे प्रलये प्राप्त सति ते तल्लोकवासिनो ये उपासकास्ते सर्वेऽपि कार्यब्रह्मणा सहैव परस्य कार्यब्रह्मणोऽन्तेऽवसाने कृतात्मानः ब्रह्मोपदेशात् प्राप्तब्रह्म-विद्यावन्तः परंपदं मोक्षं प्रविशन्ति परमधामात्मकं मोक्षं प्राप्नुवन्तीति स्मृति प्रामाण्यादपि पूर्वोक्तोऽर्थः प्रसाधितो भवतीति भावः ॥१०॥

अधिकार समाप्ति लक्षण अन्त काल में परमअमृत स्वरूप होकरके मुक्त हो जाते हैं अर्थात् सर्वथा संसार बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। "उनका आवा-गमन नहीं होता है" इत्यादि शास्त्र से अर्चिरादि मार्ग द्वारा ब्रह्मलोकगत उपासक मुक्त हो जाते हैं" ऐसा कहा गया है। अतः अन्ततः तल्लोकगत जीव मुक्त होते है इसमें दो मत नहीं ॥९॥

सारबोधिनी-पूर्वसूत्र प्रतिपादित अर्थ का स्मृत्यादि प्रमाण से प्रामाणित करने के लिए उपक्रम करते हैं "ब्रह्मणा सहेत्यादि" प्रतिसंचरकार्य हिरण्यगर्भ का अवमान लक्षण प्रलय प्राप्त होने पर वे सब उपासक लोग कार्य हिरण्य-गर्भ के साथ-साथ ब्रह्म द्वारा प्राप्त विद्या होकर के परम पद में प्रविष्ट होते हैं अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर जाते हैं।': इत्यादि स्मृतियों से सिद्ध होता

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ।४।३।११।

"स एनान् ब्रह्म गमयति" इत्यादिषु ब्रह्मशब्दस्य मुख्यत्वात् परमेव ब्रह्म गमयति इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। ब्रह्मलोकशब्दः कर्मधारयसमासबलेन ब्रह्माभिन्नलोकपरः। किञ्च ब्रह्मणोऽपि श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धधामास्त्येव तत्रैवार्चिरादिगणो गमयति ॥११॥

विवरणम्--ब्रह्मलोक इत्यत्र ब्रह्मणोलोको ब्रह्मलोक इति न षष्ठी तत्पुरुषः किन्तु नीलोत्पलवत् कर्मधारय एव तथा च ब्रह्मपदेन मुख्यस्यैव ब्रह्मणो ग्रहणम् तथा च ब्रह्मात्मकलोक एव ब्रह्मलोकस्तत्र प्रथमोपस्थितत्वात्परमेव ब्रह्मपदेन गृह्यते नतु कार्यब्रह्मणो ग्रहणं येन पूर्वोक्तापत्तिरुदोषादिति क्रमेण ब्रह्मपदेन मुख्यस्यैव ग्रहणं भवतीति जैमिनिराचार्यो मन्यते इति दर्शयितुं प्रक्रमते "स एनानित्यादि" स अमानवः पुरुष एनानुपासकान् ब्रह्मगमयति इत्यादि श्रुतिषु श्रूयमाणो ब्रह्मशब्दो मुख्यमेव ब्रह्मावगमयति एवं हि जैमिन्याचार्यस्य मतमिति। न च ब्रह्मलोक इत्यत्र षष्ठीतत्पुरुष समासेन ब्रह्म सम्बन्धीलोकप्रसिद्ध इति कथं तद् ग्रहणमिति वाच्यम् नीलमुत्पलमित्यत्र कर्मधारये यथा नीलाभि-

है कि कार्य हिरण्यगर्भ लोक को विनाशी होने पर भी तादृश लोकगत जो उपासक वे नित्यनिरतिशय ब्रह्मधाम को जो कि पुनरावृत्ति रहित है प्राप्त करते हैं ।।१०।।

सारबोधिनी--"स एनानित्यादि वह अर्चिरादि आतिवाहिक गण इस उपासक को ब्रह्मलोक में प्राप्त करता है।" इत्यादि श्रुति में श्रूयमाण जो ब्रह्मशब्द है वह कार्य हिरण्यगर्भ का बोधक नहीं है। किन्तु मुख्य ब्रह्म का ही बोधक है। और ब्रह्मलोक में ही उपासक को ले जाता है ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है। नहीं कहो कि परब्रह्म तो व्यापक है तो उसका तो लोक अप्रसिद्ध है ऐसा मत कहना क्योंकि ब्रह्मलोक में षष्ठी तत्पुरुष

दर्शनाच्च ।४।३।१२।

"एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" [छा० ८।३।४] इत्यर्चिरादिना परप्राप्तेर्दर्शनाच्च ॥१२॥

न्नमुत्पलम् तथैव प्रकृते कर्मधारयसमासेन ब्रह्माभिन्नलोकस्यैव ग्रहणात् तस्यैव च प्रसिद्धत्वात् । अथवा मुख्यस्यापि ब्रह्मणो लोकः स्वेच्छा निर्मिताप्राकृतसाकेतनामकः श्रुतिस्मृतिपुरादिष्ववगत एव अतो न तस्य लोकोऽप्रसिद्धः । तस्मात् मुख्य ब्रह्मण एवात्र ग्रहणम् तादृश ब्रह्मात्मके ब्रह्मसम्बन्धिनि वा लोके अर्चिरादीको गण उपासकान् गमयतीति जैमिनेराचार्यस्य मतमिति ॥११॥

विवरणम्—न केवलं स्मृत्यादाववार्चिरादि मार्गेण गतानां परब्रह्मप्राप्तिर्भवति किन्तु श्रुतिप्रमाणेनापि परमपुरुषप्राप्तिः सिद्ध्यत्युपासकानामिति दर्शयति दर्शनादिति सूत्रेण । एषः सम्प्रसादो जीवः परिदृश्यमानकलेवरात् समुत्थाय निष्क्रम्यार्चिरादि मार्गेण परंज्योतिः परमब्रह्मवा

समास नहीं है । जिससे कि व्यापक का लोक अप्रसिद्ध हो किन्तु "नीलोत्पलम्" के जैसे कर्मधारय समास करने पर नीलाभिन्न उत्पलवत् प्रकृत में भी ब्रह्माभिन्न लोक हो अर्थ है। इसलिए अप्रसिद्धि का संभव नहीं है। अथवा श्रुतिस्मृति में ब्रह्म का भी अप्राकृत लोकोत्तर साकेतधाम प्रसिद्ध है उसी अप्राकृत ब्रह्मलोक में अर्चिरादिगण उपासक को ले जाते हैं ॥११॥

सारबोधिनी—सुषुम्नानाडी के द्वारा शरीर से निर्गत जो उपासक वह अर्चिरादिमार्ग के द्वारा पर ब्रह्म को प्राप्त करता है। इस बात को श्रुति स्वयमेव प्रतिपादन करती है "एष सम्प्रसाद" इत्यादि । यह सम्प्रसाद जीव परिदृश्यमान पाँच भौतिक भोगाधिष्ठान कलेवर से उत्क्रमित होकर के अर्चिरादि द्वारा परं ज्योति परम ब्रह्म को प्राप्त करके स्वकीय रूप से अर्थात् आविर्भूत गुणाष्टक से अभिनिष्पन्न होता है। अर्थात् परमधाम साकेत को

न च कार्ये प्रत्यभिसन्धिः ।४।३।१३।

यत्तूक्तं "प्रजापतेः समां वेश्म प्रपद्ये" [छा॰ ८।१४।१] इति कार्यं ब्रह्मणः प्राप्तेः सङ्कल्प इति। तदपि न कार्ये हिरण्यगर्भे प्रत्यभिसन्धिः किन्तु वाक्यशेषे "यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्" [छा॰ ८।१४।१] इति सर्वात्मभावाभिसन्धानात् परब्रह्मण्येव सोऽभिसन्धिरिति परं ब्रह्मोपासीनान्नयतीति जैमिनिः ॥१३॥

संपद्य सम्प्राप्य स्वकीयरूपेणः आविर्भूतगुणाष्टकेनाभिनिष्पद्यमानो भवतीति कथयन्ति इति देवयानपथा प्रस्थितानां परमपुरुषप्राप्तिः सिद्ध्यतीति ॥१२॥

विवरणम्—"प्रजापतेः समां वेश्म प्रपद्ये" इत्यादि श्रुत्या अर्चिरादि मार्गेण गत उपासक कार्य ब्रह्मलोकमेव गच्छति तत्रैवार्चिरादिको गणस्तं नयति न तु परमब्रह्मधाम गमयतीति यदुक्तं तन्मतं निराकर्तुं प्रक्रमते "न च कार्ये" इत्यादि योऽयं कार्यब्रह्मणि प्रत्यभिसन्धिः प्रदर्शितः सोऽपि परस्मिन्नेव ज्ञातव्यः कुतः तस्याभिसन्धानकर्तुरुपासकस्य सर्वा-

प्राप्त करके संसार बन्धन से विमुक्त हो जाता है। जन्ममरण प्रबन्धशील जगत् से निवृत्त होकर के पुनरावर्तन रहित परमधाम नित्य सुखात्मक मोक्ष को प्राप्त करता है ॥१२॥

सारबोधिनी—"प्रजापतेः समां वेश्म प्रपद्ये" [प्रजापति कार्य हिरण्यगर्भ-उसकी सभाको प्राप्त करूँ"] इत्यादि श्रुति से यह सिद्ध होता है कि उपासक को कार्य ब्रह्म प्राप्ति विषयक हो संकल्प है इसलिए अर्चिरादिक गण उपासक को कार्य हिरण्यगर्भ लोक में ले जाता है ऐसा जो कहा था ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि कार्य जो हिरण्यगर्भ है तत्प्राप्ति विषयक प्रत्यभिसन्धि सङ्कल्प उपासक का नहीं है क्योंकि "यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्" इस वाक्य शेष में उपासक का सर्वात्म भाव का हो सङ्कल्प है। उपासक को ऐसा ज्ञात होता है। इसलिए उपासक का जो सङ्कल्प है वह परम

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा च दोषा-त्तत्क्रतुश्च ॥ ।४ ।३।१४।

भगवान् बादरायणोऽत्र सिद्धान्तयति । प्रतीकालम्बनव्यतिरिक्तानर्चिरादिगणो नयतीति । कार्यमुपासीनानिति पक्षे "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय" इत्यस्याः श्रुतेर्विरोधः परमेवोपासीनानिति पक्षे "तद्य इत्थं विदुर्येचेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" इति श्रुतिर्विरुध्यते। एवमुभयथा च दोषात् परमुपासीनान् केवलमात्मानं ब्रह्मात्मकत्वेनोपासीनाञ्च नयतीत्येव नियमः । 'यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" [छा० ३।१४।१] इति तत्क्रतुन्यायात् यथोपास्ते तथैः प्नोतीति नियमात् ॥१४॥

त्मभावस्यैवाभिसन्धानमिति "यशोऽहं भवामि ब्राह्मणा नामिति वाक्य-शेषेणावगमात् । तस्मादर्चिरादिको गणो ब्रह्मोपासकान् परमब्रह्मलोकं नयतीति जैमिनेराचार्यस्य मतम् ॥१३॥

विवरणम्—एतावता प्रकरणेन जैमिनेर्मतं प्रदर्श्य स्वमतेन सिद्धान्तं दर्शयितुं भगवतो बादरायणस्य मतं दर्शयति सूत्र व्याख्यानाय "भगवान् बादरायणः" इत्यादि ये च प्रतीकालंबनव्यतिरिक्तोपासकास्तानेवार्चिरादिकगणो नयतीति भगवतो बादरायणस्य मतमिति । नतु प्रतीकालंबनान् कार्यं ब्रह्मोपासकानेवार्चिरादि गणो नयतीति नियमः । किन्तु ये परमपुरुषमुपासते प्रकृतिवियुक्तस्वरूपं प्रत्यगात्मानं ब्रह्मरूपतया समुपासते एतादृशानेव प्रापयतीत्येव नियमः । यतः पूर्वोक्तनियमद्वयेऽपि ब्रह्म प्राप्ति विषयक ही है न तु कार्य हिरण्यगर्भ प्राप्ति विषयक तस्मात् परब्रह्म का उपासक व्यक्ति को अर्चिरादिक गण परब्रह्म में प्राप्त करता है न तु कार्य ब्रह्मलोक में ले जाता है । ऐसा जैमिनी आचार्य का मत है ॥१३॥

सारबोधिनी—इस विषय में भगवान् बादरायण सिद्धान्त कहते हैं प्रतीकालंबन व्यतिरिक्त उपासक को अर्चिरादिगण ब्रह्म प्राप्ति कराते है कार्य ब्रह्म

विशेषञ्च दर्शयति ।४।३।१५।

"यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति" (छा० ७।१।५) इत्यादि श्रुतिर्नामादि प्राणपर्यन्त प्रतीकोपासकानां गतिमनपेक्ष्य परिमितमेव फलविशेषं दर्शयति ततः परब्रह्म भगवच्छ्रीरामोपासकान् प्रकृतिवियुक्तब्रह्मात्मकत्वेन स्वात्मोपासकाँश्चार्चिरादिरतिवाहिकगणो नयतीति सिद्धम् । तथैवाहुः सिद्धान्तसार्वभौमा जगद्गुरु श्रीपूर्णानन्दाचार्याः स्वप्रसादिते श्रीबोधायनमतादर्शे—

"अनादिकालतो बद्धा जीवा दैवाख्यकर्मणा ।
अत्र कर्माणि कुर्वन्ति भुञ्जन्ति तत्फलानि च ॥९०६॥

दोषदर्शनात् । तथाहि कार्यब्रह्मोपासकान् नयतीति पक्षे "अस्माच्छरीरात्समुत्थायेत्यादि श्रुतिविरोधो भवति परमेव ब्रह्मोपासीनान् नयतीति द्वितीयपक्षे पञ्चाग्नि विद्योपासकानामप्यर्चिरादिना गतिर्भवतीति प्रतिपादक "तद्य इत्थं विदुरित्यादि" श्रुतिविरोधः स्यात् तस्मात् प्रतीकालंबनव्यतिरिक्तानेव नयतीत्ययमेव नियमः साधीयान् । तं यथा यथोपासते, इत्यादि तत्क्रतुन्यायेनैव व्यवस्थेति । एतदेव सर्वं विभज्य सूत्रं दर्शयति "कार्यमुपासीनानीति । पक्षद्वयमपि दर्शयति" "तद्य इत्थं विदुरित्यादि" अन्यत्सर्वं सुगमम् ॥१४॥

के उपासक को अर्चिरादिगण प्रापक है इस पक्ष में "यह सम्प्रसाद जीव इस शरीर से उत्क्रान्त होकर के" इस श्रुति का विरोध होता है । परमब्रह्म के उपासक को प्राप्त करता है इस पक्ष में "तद्य इत्थं विदुः" इत्यादि श्रुति का विरोध होता है । इस तरह दोनों पक्षों में दोष होने से परम पुरुष के उपासना करनेवाले को और केवल आत्मा को ब्रह्मरूप से उपासना करनेवाले को अर्चिरादिक गण ले जाते हैं यही नियम है । "यथा क्रतुः" इस तत्क्रतुन्याय से जो जिस प्रकार उपासना करता है वह तादृश फल को प्राप्त करता है यही अनुगत नियम है ॥१४॥

बद्धाश्च गुणमय्या ते दैव्या श्रीराममायया ।
ज्ञानप्रकाशसङ्कोचं प्राप्ताश्च प्राकृता नराः ॥९०७॥
वदन्ति मलिनाः स्वांश्च संसारिणोऽज्ञता युतान् ।
नानायोनिषु सञ्जाता देहात्मभ्रमकारिणः ॥९०८॥
रामाधीनत्वशून्यस्व स्वातन्त्र्यमतिशालिनः ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवानिति ॥९०९॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये इत्यज्ञानविमोहिताः ॥९१०॥
स्वकर्मणः फलस्याथ स्वतन्त्रं च फलप्रदम् ।
रामतुल्यं हि मन्यन्ते रामभिन्नं सुरासुरम् ॥९११॥
तापत्रयेण सन्तप्ता अनाथा दुःखिनस्ततः
रामानुकम्पया जाताः सत्सङ्गरुचयस्तथा ॥९१२॥
सद्गुरुञ्च प्रपन्ना ये राममन्त्रेण दीक्षिताः ।
स्मरन्तो ब्रह्मरामं ते देहं व्यक्त्वार्चिरादिना ॥९१३॥
रामधाम्नि गताश्चाथ श्रीरामगुणसंयुताः ।
नित्यानन्तसुखं प्राप्ता दुःखमूलविवर्जिताः ९१४॥
रामानुभवकर्तारो भोगसाम्यं गतास्तथा ।
ज्ञानसङ्कोच शून्याश्च जगद्व्यापारवर्जिताः ॥९१५॥
सर्वलोकसुसञ्चारा रामकैङ्कर्य कारकाः ।
तेषां मुक्तिमवाप्तानां कर्मबन्धः पुनर्नहि ।९१६॥"
इत्यादि रूपेण ॥१५॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौ कार्याधिकरणम् ॥५॥

इतिश्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वय प्रतिष्ठित श्रीमदनुभवानन्दाचार्य द्वारकेण ब्रह्मविरस्वामि जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरघुवराचार्यं विरचितायां श्रीरघुवरीय वृत्तौ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

॥ श्रीसीतारामार्पणमस्तु ॥

विवरणम्—नामादि प्राणान्त प्रतीकोपासकानां गतिविशेषप्रदर्शनाय प्राह "यावन्नाम्नो गत" मित्यादि। अन्य स्वपूर्वाचार्यसम्मतिं दर्शयति 'तथैवाहु' रिति शिष्टं स्पष्टम् ॥१५॥

इति कार्याधिकरणम् ॥५॥

इत्यानन्दभाष्यकारजगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यप्रधानपीठाचार्यजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्रकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे चतुर्थाध्यायस्यतृतीयः पादः

॥ श्रीसीतारामार्पणमस्तु ॥

सारबोधिनी-"यावन्नाम्ना गतम्" इत्यादि श्रुति नाम से लेकर प्राणपर्यन्त प्रतीकोपासनका विशेष फलवतलाती है। इसलिये परब्रह्म भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के अनन्यनिष्ठ होकर उपासना करने वाले जीव को अर्चिरादि मार्ग से अतिवाहिक गण दिव्य श्रीसाकेतधाम में ले जाते हैं यह सिद्ध होता है। श्रीसाकेतगामी जीव को भगवत्सेवक कैसे श्रीसाकेतधाम में ले जाते हैं उसका क्या स्वरूप है इस विषय का विशेष ज्ञान के लिये जगद्गुरु श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य कृत 'श्रीरामप्राप्ति पद्धतिः' तथा उसकी टीका तथा आनन्दभाष्य के चतुर्थाध्याय तृतीय पाद का मेरा हिन्दी विवरण और पण्डित सम्राट् स्वामी श्रीवैष्णवाचार्यजी का 'अर्चिरादिप्रकाश' में देखें ॥१५॥

इति कार्याधिकरणम्

स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य कृत सारबोधिनी में चतुर्थाध्याय का तृतीय पाद पूर्ण हुआ।

॥ श्री हनुमते नमः ॥

श्रियः श्रियै नमः

॥ अथ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

सम्पद्याविर्भावाधिकरणम् ॥१॥

सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् ।४।४।१।

"एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" [छा० ८।१२।२।] अत्रापूर्वरूपेण सम्बन्ध उतस्वाभाविकस्यैव रूपस्याविर्भाव इति संशयः। कर्म साध्यदेवादिरूपवद्विद्यासाध्येनापूर्वेण रूपेण सम्बन्धः "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति"

विवरणम्—गतपादेन ब्रह्मोपासकानामर्चिरादिमार्गेण पुनरावृत्ति रहितं गमनं भवतीति कथितं तथा तेन गमनेन ब्रह्म प्राप्तिर्भवतीति प्रतिपाद्य मुक्तस्य पुरुषस्य कीदृशमैश्वर्यं भवतीति निर्णेतुमयमुपक्रमः क्रियते। तत्रपरं ज्योतिरूपसंपद्याभिनिष्पद्यते इति विषयवाक्यम्। तत्र ब्रह्मनिष्पन्नस्य जीवस्य कर्मसाध्यदेवरूपादि निष्पत्तिवत् विद्या साध्य केनापि रूपेण सम्बन्धो जायते अथवा स्वाभाविकरूपस्य ब्रह्मसंपत्याऽविर्भावो जायते। तत्र कर्मसाध्यदेवादिरूपप्राप्तिवत् विद्यासाध्यरूपेण सम्बन्ध एवेति पूर्वपक्षं निराकर्तुमुपक्रमते 'एवमेवैष" इत्यादि। एव

सारबोधिनी—जो ब्रह्मज्ञानी है उनका अर्चिरादि मार्ग से गमन पुनरावृत्ति रहित होता है तथा उनको ब्रह्म की प्राप्ति होती है इस बात का प्रतिपादन करके मुक्तजीवों को जो ऐश्वर्य प्राप्त होता है उसका निर्णय करने के लिए उपक्रम करते हैं "एवमेवैष" इत्यादि "इस प्रकार से यह संप्रसादजीव इस प्रत्यक्ष शरीर कलेवर से उत्क्रान्त होकर के परमज्योतिः स्वरूप पर ब्रह्म को उपसम्पन्न होकर के स्वकीय रूप से अभिनिष्पन्न होता है" यहाँ परम ज्योति में अभिनिष्पन्न जीव को कर्म साध्य देवादि स्वरूप प्राप्ति के समान अभिनिष्पत्ति होती है? अथवा ब्रह्म विद्या से साध्य किसी अपूर्व से सम्बन्ध होता है ऐसा संशय होता है। उसमें कर्मसाध्यदेवादि रूप प्राप्ति के समान

इत्यादि श्रुतेः परंज्योतिरूपसम्पन्नस्यानन्दित्वमप्यत्र श्रूयते । अत एवाभिनिष्पद्यत इत्यपि सङ्गच्छते । अतोऽपूर्वेण सम्बन्ध इति पूर्वपक्षः । अत्राभिधीयते–'स्वेन रूपेण" इति रूपविशेषणतयाभिधानात् कर्मरूपाविद्यातिरोहितस्य स्वाभाविकजीवरूपस्य परंज्योतिरूपसम्पद्याविर्भावोऽत्राभिधीयते ॥१॥

मनेन प्रकारेण एष सम्प्रसादो जीव. एतस्मात् देहात्समुत्थाय समुत्क्रम्य परमपुरुषं प्राप्य स्वकीयेन स्वाभाविकरूपेणाभिनिष्पन्नो भवतीति श्रुति वाक्यं विषयः । तत्र किं कर्मसाध्यदेवादिस्वरूपनिष्पत्तिजीवस्यविद्यासाध्यरूपेण सम्बन्धो जायते अथवा विद्यावलेन स्वस्वरूपस्याविर्भावो भवतीति । तत्र कर्मसाध्यदेवादि रूपप्राप्तिवदिहापि विद्यासाध्यापूर्वात्मकरूपेण सम्बन्ध एव जीवस्य भवति न तु स्वस्वरूपाविर्भावो भवति अतएव रसं लब्ध्वाऽनन्दोभवतीति श्रुत्या परमपुरुषसंपन्नस्यानन्दप्राप्तिर्भवतीति श्रूयते. अतोविद्यासाध्येन केनचिदपूर्वेण सम्बन्ध एव भवति न तु स्वस्वरूपस्याविर्भाव इति पूर्वपक्षः ॥

अत्राभिधीयते संपद्याविर्भाव इति । कर्मफलस्यानित्यत्वेननात्र स दृष्टान्त उपयुज्यते किन्तु प्रकृते उपासनाबलेन कर्मात्मकाविद्ययातिरोहित रूपस्य जीवस्य तादृशतिरोधान निवृत्यास्वस्वरूपस्याविर्भाव एव

विद्या साध्य किसी अपूर्व से सम्बन्ध होता है, "यह रस को प्राप्त करके आनन्दित होता है" इत्यादि श्रुति से परम ज्योति में उपसंपन्न जीव को आनन्दित्व सुना गया है। अत एव "अभिनिष्पद्यते" यह कथन भी संगत होता है। इसलिए विद्यावल से किसी अपूर्व के साथ ही जीव को सम्बन्ध होता है ऐसा पूर्वपक्ष होता है। इसके उत्तर में कहते है "संपद्याविर्भाव इति" ब्रह्म में संपन्न होने के बाद जीव का स्वरूप से आविर्भाव होता है। क्योंकि 'स्वेन शब्दात्' यहाँ 'स्वेन रूपेण' इत्याकारक विशेषण रूपसे स्वशब्द से कथन किया गया है। इसलिए कर्मलक्षण अविद्या से तिरोहित जो जीव का स्वकीय

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ।४।४।२।

"एतन्त्वेवते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि" [छा०८।९।३] इति जागरिताद्यवस्थातिरोधानमुक्तस्यैव वक्तव्यत्वेन प्रत्यभिज्ञानात्स्वाभाविक रूपस्यैवाविर्भाव इति निश्चीयते ॥२॥

जायते न तु अपूर्वाकारस्योत्पत्तिर्भवतीति । कुतः ? एवम् तत्राह स्वेन-शब्दात् "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति रूपस्य विशेषणेन्न स्वेनेति कथनादागन्तुकरूपस्य व्यावृत्तिदर्शनात् । एतदेव दर्शयति अत्राभिधीयते स्वेन इत्यस्य रूपविशेषविशेषणतया कथनात् स्वाभाविकजीवरूपस्यै वाविर्भाव भवति. परसंपत्या न तु अपूर्वस्य लाभो भवति ॥१॥

विवरणम्—ननु यस्ययत्स्वरूपं तत्तस्य नित्यप्राप्तमेव यथा जलस्य शैत्यं यथा वा वन्हेरौष्ण्यम् तदाकः पूर्वावस्थात उत्तरावस्थाया विशेषः। येन "उपसंपद्यस्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" इति वचनं सार्थकं भवेदित्याशङ्काया निरासाय प्रक्रमते "एतंत्वेव" इत्यादि ।

गुण है उसका परम ज्योति में संपत्ति के बाद आविर्भाव होता है इस बात का यहाँ कथन किया गया है । तस्मात् विद्या के बल से अविद्या रूप प्रतिबन्धक का तिरोधान पूर्वक स्वरूप का आविर्भाव होता है नतु किसी अपूर्व का सम्बन्ध ॥१॥

सारबोधिनी—जिसका जो स्वरूप है वह तो नित्य प्राप्ति ही है यथा अग्नि का "औष्ण्य जलकाशैत्य" तो जीव की जो पूर्वावस्था है उसकी अपेक्षा से क्या विशेषता है । जो कि "परज्योति को उपसम्पन्न होकर के स्वस्वरूप से अभिनिष्पन्न होता है" इत्यादि वचन सार्थक होगा ? एतादृश पूर्व पक्षका निराकरण करते हुए सूत्र का व्याख्यान करने के लिए उपक्रम करते है "एतन्त्वेवते" इत्यादि । [इस प्रकृत आत्मा का ही मैं तुमको पुनः कथन करूँगा"] इत्यादि श्रुति से जाग्रत्स्वप्न सुषुप्ति रूप जो अवस्थात्रय तद्रूप जो तिरोधान. तादृश तिरोधान रहित आत्मा का वक्तव्यता रूप से प्रत्यभिज्ञान होने से स्वा-

अयमाशयः "स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" इति वचनेन अविद्यात्मक कर्म सम्बन्धप्रयुक्तशरीरादिसर्वानर्थवियुक्तः स्वाभाविकरूपेण युक्तः समवस्थित इति कथ्यते। मुक्तेः पूर्वं जीवोजागराद्यवस्थयाकलुषितः संसारीचासीत् पूर्वावस्थायाम्। इदानीं तु कर्मलक्षणाविद्याकृतं यत् स्वरूपस्य तिरोधानं तादृशतिरोधाननिराकरणपूर्वकस्वकीयस्वरूप-स्याविर्भावरूप एव विशेषः। अयमेव विशेषः स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते इत्यस्यविषयः कुत एतत्! प्रतिज्ञानादिति एतदेवविवृणोति "एतन्त्वे-वेत्यादि" एनं प्रकृतमात्मानं ते पुनरपि कथयामीति वाक्यं श्रौतं जीवस्य जागरिताद्यवस्थानलक्षणतिरोधानरहितस्यैव तदीय स्वाभाविकरूपस्य प्रतिपाद्यत्वेन प्रत्यभिज्ञानात् जीवस्य यत् स्वाभा-विकस्वरूपम् तादृशस्यैव मोक्षावस्थायामाविर्भावो भवतीति निर्णी-यतेऽतो भवत्येव पूर्वावस्थात उत्तरावस्थाया वैलक्षण्यम् गृहस्थतः परि-

भाविक जो अपहतपाप्मात्वादिक रूप है जीव का तादृश स्वाभाविक स्वरूप का ही ब्रह्म संपत्ति से आविर्भाव होता है। ननु इससे अतिरिक्त किसी रूपकी प्राप्ति होती है। ऐसा निश्चय किया जाता है। कहने का अभिप्राय तो यह है कि बद्ध तथा मुक्त जीव के स्वरूप अर्थात् विशेष्य अंश में कोई भी फेरफार नहीं होता है। किन्तु संसारावस्थ जीव में जो विशेषणांश है संसार उसका ब्रह्मविद्या से विनाश होता है। तथा प्राप्त भी जो स्वरूप जो कि तिरोहित था स्वकर्म बल से उसका तिरोधान निवृत्ति होने पर स्वगुणाष्टक आविर्भाव हो जाता है। तो शिखी विनष्ट इसके समान विशेषणांश मात्र का विनाश होता है। "नासतो विद्यते भावः" इसन्याय से यथा वा विस्मृत पदार्थ का पुनः प्राप्ति होने से प्राप्त ही होता है उसी तरह आत्मा का जो नित्य प्राप्त ही स्वरूप है वह अविद्या तिरोधान से आविर्भूत मात्र होता है पर समुत्पन्न नहीं क्योंकि सत्कार्यवाद में अभूतपूर्व नवीन की उत्पत्ति तथा विद्यमान का अभाव नहीं होता है। प्रकृत में विशेष विवरण अन्यत्र देखें ।।२।।

आत्मा प्रकरणात् ।४।४।३।

"य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकः" [छा०८।७।१] इत्यादिप्रकरणात्, अयमात्मापहतपाप्मात्वादिगुणक एव निश्चित कर्मरूपाविद्यया तु संसारदशायां तिरोहितस्वरूपतां गतः। एतद्विशुद्धस्वरूपस्यैव "एतन्त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि" इति प्रतिज्ञानात् ॥३॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौसम्पद्याविर्भावाधिकरणम् ॥१॥

व्राजकावस्थायाः। तत्र विशेष्यसमत्वेऽपि विशेषणस्यावस्थारूपस्य तिरोभावाविर्भाववदिति ॥२॥

विवरणम्—ननु यस्य जीवात्मनः स्वेनरूपेणाभिनिष्पत्तिः कथिता तस्यात्मनो वास्तविकं स्वरूपं किंशब्दवाच्यं किं लक्षणकं चेति दर्शयितुमुपक्रमते "य आत्मा" इत्यादि यश्य प्रकृतो जीवात्मास्वस्वरूपेणापहतपाप्मत्वादि गुणवानेव। कुतः ? प्रकरणात्तथा निश्चीयते "अयमात्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोक" इत्यादिप्रकरणेन जीवात्मनः स्वरूपस्य तत्तत्प्रकरणेन विनिश्चयः कृत एवेति। अयंभावः तत्त्वज्ञानोत्पत्तेः पूर्वंकर्मलक्षणाविद्याजीवस्तिरोहितस्वरूपोऽनेकविध-

सारबोधिनी—"जो आत्मा अपहत पाप्मा है, जरा रहित है, मरण शोकादि रहित है" इत्यादि प्रकरण से यह जीवात्मा अपहत पाप्मात्वादिक गुणवाला है ऐसा ही निश्चित हैं। परन्तु जीव का वह विशुद्ध स्वरूप कर्मलक्षण अविद्या के बल से तिरोहित हो जाता है। एतादृश विशुद्ध स्वरूपक जीवत्मा का ही "एतन्त्वेवते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि" इत्यादि से कथन किया है। यद्यपि जीव सर्वथा विशुद्ध गुणवाला सर्वदा रहता है। तथा प संसार काल में शुभाशुभ कर्म के बल से जीव का वह स्वरूप तिरोहित रहता है। पुनः भगवान् का उपासन रूप विद्या के बल से कर्म बन्धन का विनाश होने से उसका प्रादुर्भाव होता है जिसका नाम मोक्ष है। यही विशेषता उभयकाल

॥ अविभागेनदृष्टत्वाधिकरणम् ॥२॥

अविभागेन दृष्टत्वात् ।४।४।४।

आविर्भूतस्वरूपोऽयमात्मा परमात्मानं विभक्तमनुभवत्युत स्वात्मत-यैवाविभागेनेति संशयः। तत्र "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" [मु० ३।

योनिषु विपरिवर्तमानः संसारीति कथ्यते। यदा तु स एव जीवो भगवदुपासनावशेन शरीरं परित्यज्यार्चिरादिना यथा परमपुरुषं संपद्य कर्मतिरोधानस्य निवर्तनेनाविर्भूतस्वरूपोभवन मुक्त इति कथ्यते। आनन्दादिका ये गुणा स्वभावभूतास्तेऽविद्यादशायां तिरोहिता अभवन् ते एव गुणा अपगते कर्मबन्धने पुनराविर्भूता भवन्ति "तथा हेयगुण-ध्वंसादवबोधादयो गुणः। प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हिते" (वि.ध. १०४।४७) इत्यादिरूपेण पुराणादावप्येवमेव प्रतिपा-दनात्। एतत्सर्वं मनसि कृत्याह "य आत्मा" इत्यादि "य आत्मा" इत्यादि प्रकरणाज्जीवात्मनो विशुद्धस्वरूपस्य निर्णयो भवति स एव स्वरूपविशेषोऽविद्यया कर्मलक्षणया संसारकाले तिरोहित इव भवति। एतादृशतिरोधानस्य विद्यया निवृत्तेरनन्तरं पुनः स्वरूपप्राप्तौ मुक्त इति कथ्यते। एतादृश विशुद्ध गुणविशिष्टस्यैवात्मनः "एतन्त्वेव-भूयोऽव्याख्यास्यामि" इत्यादिना प्रतिपादनादिति संक्षेपः ॥३॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य कृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे सम्पद्याविर्भावाधिकरणम् ॥१॥

में जीव का है। जैसे अयस्कान्त मणिमल युक्त होने पर आकर्षणादि कार्य को नहीं करता है। घर्षण प्रक्रिया से मल का विनाश हो जाने से पुनः स्वरूप विशिष्ट होकर के आकर्षण कार्य को करता है। उसी तरह प्रकृत में भी पूर्व-परावस्था मात्र में भेद है। स्वरूपांश में भेद नहीं होता है। ऐसा आत्मा प्रकरणात् इस सूत्र का आशय है ॥३॥

सारबोधिनी—मोक्षकाल में जीव परमात्मा को स्व से भिन्न रूप से देखता

१।३।] "सह ब्रह्मणा विपश्चिता" [तै०आ० १।२।] इत्यादिश्रुतिभ्यो विभक्तमेवेति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु—"अहं ब्रह्मास्मि" य आत्मनि तिष्ठन्नित्यादिश्रुतिभिरात्मशरीरभावेनाविभक्ततयैवात्मानमनुभवतीति॥४॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावविभागेनदृष्टाधिकरणम् ॥२॥

विवरणम्-योयं विनिर्मुक्तकर्मबन्धनो मोक्षप्राप्तो जीवः स तद्-दशायां परमात्मानं स्वविभक्तया पश्यति अथवा स्वेनाविभक्ततया पश्यतीति संशयः। तत्र जीवेशभेदस्य नित्यत्वेन श्रुतौ जीवस्य ब्रह्म-समता प्रतिपादनेन समत्वस्य च भेदनियतत्वेन स्वस्माद्भिन्नतयैव परमात्मानं पश्यतीति पूर्वपक्षः। "यः आत्मनि तिष्ठन्, तत्वमसि, अहं ब्रह्मास्मीत्यादि' श्रुत्या शरीरशरीरिभावेनोभयोर्व्यवस्थितत्वेन. तद्भावस्यचाभेदघटिततया स्वाभिन्नतयैव मोक्षकाले परमात्मानं मुक्तोजीवो जानातीति सिद्धान्तं दर्शयितुमुपक्रमते "आविर्भूतस्वरूपो-यमाऽस्येत्यादि" योयमाविर्भूतस्वरूपो जीवात्मा समोक्षकाले परमा-त्मानं मुक्तप्राप्यं साकेताधिपतिं स्वस्माद्भेदेन तदा पश्यति. अथवा स्वात्मतया स्वस्वरूपाभेदेन तादृशात्मानं परमपुरुषं पश्यतीति संशया-कारः। तत्र "निरञ्जनः" सर्वदुःखरहितो जीवः परमात्मना परमसाम्य-मुपैति प्राप्नोतित्यादि श्रुत्या तथा "सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इत्यादि श्रुत्या च परमसमतायाः प्रतिपादनात् परमसमत्वस्य च भेद घटि

है अथवा अविभाग रूप से देखता है। इत्यादि संशय का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते है "आविर्भूत स्वरूप" इत्यादि। जिसका ब्रह्मविद्याके प्रभाव से स्वकीय स्वरूप आविर्भूत हो गया है एतादृश जो जीव वह सर्व कारण पर-मात्मा को स्व से विभाग पूर्वक अनुभव करता है। अथवा स्वात्मा रूप से अविभाग पूर्वक अनुभव करता है एतादृश संशय होता है। इसमें पूर्वपक्षवादी कहते है कि "निरञ्जनः" सर्वदुःख रहित मोक्षावस्था में परमात्मा के परम-समता को प्राप्त कर जाता है" "तथा विद्वान् ब्रह्म परम पुरुष के साथ"

॥ ब्रह्माधिकरणम् ॥३॥

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।४।४।५।

अपहतपाप्मत्वादिगुणाश्रयो जीव उतचैतन्यमात्रोऽथवोभयमिति संशयः। "य आत्मापहतपाप्मा" [छा० ८।७।१] इति श्रुतेरपहतपाप्म-

---

त्वात् स्वस्माद्विभक्तमेव परमात्मानमनुभवतीति पूर्वपक्षाशयः। तदीयसमाधाने कथयति "अविभागेनैवेत्यादि' मोक्षावस्थायां जीवः परमात्मानं स्वाभेदेनैव पश्यति कुतः? तथा दृष्टत्वात् "अहं ब्रह्मास्मी-त्यादि" श्रुतौ अविभागेनैव दर्शनादित्याशयं दर्शयति सिद्धान्तस्तु इत्यादिना। "अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसीत्यादि" श्रुतिजीवपरात्मनोर-भेदं दर्शयति "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादि श्रुतिर्जीवपरेशयोः शरीरशरीरिभावं दर्शयति न चायं शरीरशरीरिभावोभेदे घटते अपितु तादात्म्ये सत्येव घटते "व्याप्यस्य व्यापकापृथक्सिद्धदेश्च व्याप्यव्या-पकयोरविभागेन स्थित्युपपत्तेः" इत्याचार्योक्तेः तस्मादविभागेनैव जीवस्तदामोक्षकाले परमात्मानमनुभवतीति सिद्धान्तसिद्धोभागः ॥४॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे ऽविभागेनदृष्टत्वाधिकरणम् ॥२॥

विवरणम्—परज्योतिरूपसंपद्यनिवृत्तकर्मबन्धनस्य जीवस्य स्वरूप-स्याविर्भावो भवतीति पूर्वं प्रतिपादितम्। तत्र येन स्वरूपेणाविर्भूय तिष्ठति

इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि विभागपूर्वक ही अनुभव करता है। क्योंकि परमसमत्व जहाँ होता है उस स्थल में भेद अवश्य रहता है। अत जीवमोक्ष समय में विभाग पूर्वक ही परमात्मा को देखता है। अविभाग पूर्वक नहीं यह हुआ पूर्वपक्ष। इसके उत्तर में सिद्धान्तस्तु—"अहं ब्रह्मास्मि" ["मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ"] "जो आत्मा में रहता हुआ" इत्यादि श्रुतियों से शरीर शरीरिभाव का प्रति-पादन किया गया है। अतः अविभाग रूप से ही जीव परमात्मा का अनुभव करता है ॥४॥

त्वादिगुणाश्रय एवेति प्रथमः पक्षः। "विज्ञान घन एवेति श्रुतेश्च चैतन्यमात्र एवेत्यपरः पक्षः। एवं पक्षद्वयं पूर्वपक्षतयोपन्यस्यानेन सूत्रेण प्रथमं जैमिनीमतमभिधीयते। दहरवाक्यगतानामपहतपाप्मत्वादि ब्रह्मगुणानामेव भूयो जीवगुणतयोपन्यासात् "जक्षन् क्रीडन् रममाणः" इति सत्यसङ्कल्पादयोऽपि तस्मिन् सन्तीति जैमिनिर्मन्यते ॥५॥

तादृशस्वरूपस्य मतभेदेनेदानीं विचारः क्रियते। किमयं जीवोऽपहतपाप्मत्वादिगुणैराविर्भूय तिष्ठति अथवा चैतन्यरूपेण अथवोभय स्वरूपेणेति संशयः। तत्र अपहतपाप्मत्वादिरूपेण तिष्ठतीति जैमिनेराचार्यस्य मतं पूर्वपक्षतया दर्शयितुमुपक्रमते "अपहतपाप्मत्वादिगुणाश्रय" इत्यादि। अपहतपाप्मत्वादिगुणानामाश्रयो मुक्तावस्थो जीवोऽथवा चैतन्यमात्र गुणवान् अथवा तदुभयरूपक इति संशयः। तत्र प्रथमः पक्षः अपहतपाप्मत्वादिगुणाश्रयकः "विज्ञानघन एवेति श्रुतेः, चैतन्यमात्र गुणक इति द्वितीय पक्षः। अनेन प्रकारेण पक्षद्वयं दर्शयित्वा

सरबोधिनी—परम ज्योति को उपसम्पन्न होने के बाद सकल कर्मबन्धन विमुक्त जीव का स्वस्वरूप का आविर्भाव होता है ऐसा पूर्व में कहा गया है। उसमें जिस स्वरूप से आविर्भूत होकर के रहता है। तादृश स्वरूप का मतभेद से विचार करने के लिए उपक्रम करते है। मुक्तावस्थ जो जीव है वह अपहतपाप्मत्व गुण का आश्रय है अथवा चैतन्य मात्र स्वरूपक है या उभयात्मक है ऐसा संशय होता है। उसमें "जो आत्मा अपहत पाप्मा है" एतादृश श्रुति से सिद्ध होता है कि मुक्तावस्था जीव अपहत पाप्मत्व गुण का आश्रय है यह प्रथम पक्ष है। "विज्ञानघन स्वरूप जीव है" इसश्रुति से यह सिद्ध होता है कि चैतन्य मात्र स्वरूपक मुक्तावस्था जीवात्मा है। यह एक अन्य पक्ष है। इस प्रकार से पक्ष द्वय को पूर्वपक्ष रूप से कथन करके इस सूत्र से प्रथम जैमिनि मत को बतलाते हैं "ब्रह्मणेत्यादि" मुक्तावस्थ जीव ब्रह्म सम्बन्धी गुण से युक्त होता है। क्योंकि श्रुति में उसी प्रकार से कथन किया हैं। इसीका

चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ।४।४।६।

"प्रज्ञानघन एव" [बृ० ४.५।१३।] इत्यादि श्रुते चैतन्यमात्रोऽयं जीव इत्यौडुलोमिर्मन्यते ।।६।।

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ।४।४।७।

चैतन्यमात्रस्वरूपस्यापि जीवस्यापहतपाप्मत्वादिगुणानामुक्तश्रुत्योपन्यासात्तदाश्रयत्वमपि स्वाभाविकमेव चैतन्यप्रकाशकत्वादपहतपाप्मत्वादीनां परस्परमविरोधं भगवान बादरायणोऽभिधत्त इति ।।७।।

इति रघुवरोयवृत्तो ब्रह्माधिकरणम् ।।३।।

प्रथमं जैमिनिमतं पूर्वपक्षरूपेण दर्शयति ब्राह्मेणापहतपाप्मत्वादि रूपेणावस्थितोभवति उपन्यासादिभ्य इति । एतदेव दर्शयति दहरवाक्यगतापहतपाप्मकत्वादिगुणानां जीवगुणतया प्रतिपादनात् । तथा सत्यसङ्कल्पादिका अपि गुणास्तस्मिन् जीवे सन्तीति जैमिनेर्मतसंक्षेपः।।५।।

विवरणम्-जैमिनेमतं प्रदर्श्याचार्यान्तरस्य पूर्वपक्षरुपेणोपस्थापितं प्रदर्शयितुमुपक्रमते "प्रज्ञानघन" इत्यादि "प्रज्ञानघन" इत्यादिश्रुतिवलादात्मनो जीवस्यापि चैतन्यमात्र स्वरूपत्वमित्यौडुलोमिनामकाचार्यस्य मतमिति तदेवं ज्ञानमात्रस्वरूपक एव जीवस्तदावतिष्ठते इति संक्षेपो द्वितीयस्य ।।६।।

स्पष्टीकरण करते हैं दहरवाक्यगत जो अपहत पाप्मत्वादिक ब्राह्मगुण है उसी का पुनः जीवगुणरूप से उपन्यास किया गया है । एवम् "जक्षन् क्रीडन्रममाण इत्यादि श्रुति से मुक्तावस्थ जीव में सत्य सङ्कल्पादिक भी गुण है ऐसा जैमिनी आचार्य का मत है ।।५।।

सारबोधिनी—जैमिनी मत का प्रदर्शन करके आचार्यन्तर का मत वतलाते हैं "प्रज्ञानघनः" इत्यादि श्रुति के वल से सिद्ध होता है कि जीव विज्ञानमात्र स्वरूपक है। ऐसा आचार्य औडुलोमि का मत है । एतादृश पक्ष द्वय का प्रदर्शन किया गया ।।६।।

सङ्कल्पाधिकरणम् ॥४॥

सङ्कल्पादेवतु तच्छ्रुतेः ।४।४।८।

एवमुक्तप्रकरणे "स तत्र पर्य्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभि-र्यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा" इत्यादि श्रूयते । तत्र संशयः किमेतेषामुपस्थिति

विवरणम्—तत्र पूर्वोक्त प्रकारेण मतद्वयं प्रदर्श्य भगवान् बादरायणः सिद्धान्तमतं स्वमतं प्रदर्शयति सूत्रेण तद्व्याख्यानायोपक्रमते "चैत-न्यमात्रस्वरूपस्येत्यादि" यद्यपि जीवोहि चैतन्यमात्रस्वरूपस्तथापि अपह-तपाप्मत्वादीनां श्रुतिप्रतिपातिदानामपि तेषां तदाश्रयत्वेन न कोऽपि विरोधः। ज्ञानं हि प्रकाशकं प्रकाश्यं च तदितरगुणादिकं न भवति प्रकाश्ययो विरोधः। विरोधस्तु पाप्मत्वविज्ञानयोरिति श्रुति प्रामाण्या-दपहतपाप्मत्वादि गुणाश्रयमपिज्ञानवत् जीवस्य स्वाभाविकमेव। चैत-न्यापहतपाप्मत्वादीनां परस्परमविरोधादित्युभयगुणाश्रयत्वं स्वाभा-विकमेवेति बादरायणस्यमतमिति सर्वं समञ्जसम् ॥७॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणेब्रह्माधिकरणम् ॥३॥

सारबोधिनी—पूर्वोक्त क्रम से मतद्वय प्रकृत में बतला करके बादरायण स्वकीय मत का सिद्धान्त रूप से बतलाते है "एवमपीत्यादि" सूत्रम् । जीवा-त्माको विज्ञानमात्र स्वरूपत्व होने पर भो अपहतपाप्मत्वादिक जो प्रकरणापगत गुण हैं उनको जीव में रहने में कोई विरोध नहीं है ऐसा बादरायण आचार्य मानते है ॥

सूत्रार्थ का स्पष्टीकरण करते है "चैतन्यमात्रेत्यादि" जीव चैतन्यमात्र स्वरूप हैं तथापि श्रुति प्रतिपादित अपहतपाप्मत्वादिगुण का आश्रयत्व भी जीव में स्वाभाविक हैं । चैतन्य प्रकाश्य होने से अपहतपाप्मत्वादिकगुणों का परस्पर में कोई विरोध नहीं हैं । ऐसा भगवान बादरायण आचार्य कहते है । इस तरह से प्रकृत विषय का सिद्धान्त होता है ॥७॥

मुक्तात्मनः प्रयत्नान्तरसापेक्षोत ब्रह्मण इव सत्यसङ्कल्पादेवेति। निखिलस्यापि कार्यस्य प्रयत्नसाध्यतया प्रयत्नान्तरसापेक्षैवोपस्थिति-रिति पूर्वपक्षः। अत्राभिधीयते-"स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति" [छा० ८।२।१] इति श्रुतेः सङ्कल्पा-देव प्रयत्नान्तरनैरपेक्ष्येणैव पित्रादीनामुपस्थितिः ॥८॥

विवरणम्—ब्रह्म संपत्त्यनन्तरं मुक्तात्मनः सत्यसङ्कल्पादिका गुणाः प्रादुर्भवन्तीति कथितम्। ततश्च समुक्तात्मासङ्कल्पसिद्धान् पदार्थान-नुभवति इति छान्दोग्ये कथितं "स तत्र पर्येतीत्यादि" प्रकरणेन। तत्र संशयो जायते यत् ते पदार्थाः जीवस्य प्रयत्नसाध्याः सङ्कल्पमात्र साध्यावेति। तत्र प्रयत्न साध्या एव कार्यमात्रं प्रयत्नजनकत्वनियमे-नात्रापि तथैव भवितव्यमिति प्रथमः पक्षः। श्रुतिप्रतिपादितत्वात् सङ्कल्पादेवेति सिद्धान्तः। एतत्सर्वं पिण्डीकृत्यदर्शयितुमुपक्रमते "एवं मुक्त प्रकरणे" इत्यादि। मुक्तजीवस्य प्रकरणे छान्दोग्यादिके। स तत्र पर्येत्यादि। य एते साङ्कल्पिकाः पदार्थाः समुपस्थिता भवन्ति तत्र

सारबोधिनी—ब्रह्म संपत्ति के अनन्तर में मुक्तात्मा को अपहतपाप्मक-त्वादि सत्यसंकल्पत्वान्त गुणों का आविर्भाव होता है ऐसा पूर्व में कहा गया है। एवं मुक्त जीव के प्रकरण में "स तत्र पर्येति" "वह मुक्त जीव स्त्री के अश्वयानादिक के द्वारा क्रीडा विहार करता है" इत्यादि छान्दोग्यादिक प्रक-रण में कहा गया है। इसमें संशय होता है कि ये जो सांकल्पिक पदार्थों की उपस्थिति होती वह मुक्त पुरुष के प्रयत्न से होती है। अथवा जिस तरह ब्रह्म को संकल्प मात्र से पदार्थों की उपस्थितो होती है उसी तरह मुक्त जीव को भी संकल्पमात्र से अनुभवनोय पदार्थ उपस्थित हो जाता है। इसमें पूर्वपक्ष-वादो कहते हैं कि कार्यमात्र जो उत्पन्न होता है उसमें प्रयत्न की आवश्य-कता होती है। जैसे घटादि कार्य की उत्पत्ति में कुलाल का प्रयत्नजनक होता है "यत्कार्यंतत्प्रयत्नजन्यं यथा घटः" ऐसी व्याप्ति है। तो घट कुलालादि

अत एव चानन्याधिपतिः ।४।४।९।

अतः सत्यसङ्कल्पादेवानन्याधीपतित्वमस्य सिद्धम् । अन्यत्कर्मादिकमस्याधिपत्यं न भजते । एवमपि परमात्मनियाम्यता नापैति ॥९॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तौसंकल्पाधिकरणम् ॥४॥

मुक्तात्मनः प्रयत्नस्यावश्यकताभवति अथवा सङ्कल्पादेव ते जायन्ते इत्थं संशयो भवति । तत्र कार्यमात्रं प्रतिप्रयत्नस्य जनकताया घटादिका कार्यस्थले दर्शनात् यत्कार्यं तत्प्रयत्नजन्यमितिव्याप्तेरिहापि मुक्तात्मप्रयत्नजन्यत्वमेतेषामिति पूर्वपक्षः । उत्तरयति "सङ्कल्पादेवेत्यादि" स यदि पितृलोककामो भवतीति श्रुतौ सङ्कल्पमात्रस्य साधकत्वदर्शनेन मुक्तस्य सङ्कल्पमात्रे ते पदार्था उपस्थिता भवन्ति न तु मुक्त प्रयत्न साध्यताश्रुतिविरोधात् । यद्यत् कार्यं तत्प्रयत्नजन्यमिति व्याप्तिस्तु-पारमेश्वरप्रयत्ने नैव सावकाशता भवतीति संक्षेपः ॥८॥

दृष्टान्त से सिद्ध होता है कि यानादि पदार्थों की जो उपस्थिति होती है वह मुक्त पुरुष के प्रयन्न साध्य है । नतु ब्रह्म दृष्टान्त से संकल्पमात्रजन्य है ऐसा पर्वपक्ष होता है । इसके उत्तर में कहते है :"सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः" पुरुष के संकल्पमात्र से अनुभव योग्य पदार्थों की उपस्थिति हो जाती है क्योंकि श्रुति कहती है कि संकल्पमात्र से पदार्थ उपस्थित होता है। तादृश श्रुति को उदाहृत करते हैं "अत्राभिधीयते" इत्यादि ग्रन्थ से वह मुक्त पुरुष यदि पितृलोक कामनावान् होता हैं तो संकल्प मात्र से पितरलोक उपस्थित हो जाते हैं" इस श्रुति में "संकल्पादेव" यहाँ एव शब्द के होने से वह एवकार संकल्पेतर प्रयत्नान्तर का निराकरण करता है, अर्थात् मुक्त जीव के सङ्कल्प से प्रयत्नान्तर निरपेक्ष होकर के ही पित्रादिक अनुभव योग्य पदार्थ उपस्थित हो जाते हैं उसमें प्रयत्नान्तर की आवश्यकता नहीं होती है । "यत्कार्यं तत्प्रयत्नजन्यम्" यह व्याप्ति सामान्य रूप से लौकिक कार्यपरक है । उसका समावेश प्रकृत में नहीं है । मुक्त जीव के उपर भगवत्कृपा रहने से सब कार्य हो जाता है ॥८॥

अभावाधिकरणम् ॥५॥

अभावं बादरिराह ह्येवम् ।४।४।१०।

मुक्तस्य सङ्कल्पसत्व इन्द्रियसत्ताभ्युपेतैव स्यादिति तद्विषये चिन्त्यते । किं मुक्तजीवस्य करणकलेवरादिकमस्ति न वेति संशयः ।

विवरणम्–यस्मात् कारणात् मुक्तोजीवः परमेश्वरकृपाप्राप्त सत्य सङ्कल्पवान् भवति अत एतस्मादेव कारणादयं मुक्तो जीवऽनन्याधिपतिर्भवति अस्य नोऽस्योऽपि अन्यस्य परमेश्वरव्यतिरिक्तस्य पुरुषान्तरस्य शुभाशुभकर्मणोवा आधिपत्यं नियामकत्वं न भवति स्वकीयसङ्कल्प मात्रेणैव सर्वं कर्तुमुत्सहते । तत्र नान्योऽस्याधिपतिर्भवतीत्यस्य परमेश्वर व्यतिरिक्तोऽधिपतिर्न भवतीत्यर्थः परमेश्वरस्य नियामकतातुनिवारिता न भवति । यत एवायमनन्याधिपति एव "स्वराड्भवतीति" श्रुतिरपि तस्य परमेश्वरव्यतिरिक्तस्याधिपत्यं निवारयतीत्याशयेन सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते अतः सत्यसङ्कल्पादेवेत्यादि" । अवतरण ग्रन्थेनैव विदितार्थतावृत्तिः ॥९॥

इति जगद्गुरुश्रीरामनन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे संकल्पाधिकरणम् ॥४॥

विवरणम्– सत्यसङ्कल्पादिको गुणोमुक्तस्य विद्यते इति पूर्वं

सारबोधिनी–यह मुक्त जीव परमेश्वर कृपा प्राप्त सत्य संकल्पवान् होता है। अतः यह मुक्त जीव अनन्याधिपति होता है। अर्थात् परमेश्वर से अतिरिक्त अन्य कोई जीवान्तर अथवा शुभाशुभ कर्मादिक इसका अधिपति नियामक नहीं होता है।

अतएव मुक्त जीव स्वराट् कहलाता है। एतावता परमेश्वर की नियामकता तो नहीं जाती है। क्योंकि एतादृश सत्य संकल्पवत्व भी तो परमेश्वर की कृपा से ही प्राप्त हुआ है। अतः परमेश्वर व्यतिरिक्त का आधिपत्य मुक्त जीव में नहीं होता है। ॥९॥

"न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति" [छा०८।१२।१] इत्यादि श्रुतिषु शरीराभावदर्शनान्न करणकलेवरादिकं मुक्तस्य बादरिर्मन्यत इति पूर्वपक्षः ॥१०॥

कथितम्. सच गुण इन्द्रियशरीरसाध्य इति मुक्तस्य शरीरेन्द्रियादिकं भवति न वेति विचारः क्रियते। यो हि मुक्त जीवस्तस्य सत्यसङ्कल्पादि सत्वस्य स्वीकारे ततः पूर्वं शरीरादिकमस्ति न वेति संशयः। तत्र 'असरीरंवावसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः" इत्यादौ शरीराभावस्य प्रतिपादनात् करण कलेवरादिकं न भवतीति बादरेराचार्यस्य पूर्वपक्षो भवतीत्येतद्दर्शयितुमुपक्रमते "मुक्तस्य सत्यसंकल्पसत्वे" इत्यादि। सङ्कल्पसद्भावो गमयति करणसत्त्वमिति तद्विचार प्रस्तूयते। किमस्मदादिवत् मुक्तजीवस्य मोक्षदशायां शरीरेन्द्रियादिकं भवति न वेति। यतः शरीरेन्द्रियविशिष्टस्यैव जीवस्य भोगो भवति. तदभावे भोगादर्शनात्। स च भोगो मुक्ते दृश्यते इति तस्यापिकरणकलेवरादिकमस्तीति प्रथमकोटिः। किन्तु "असरीरंवावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः"

सारबोधिनी—मुक्त जीव का जब सत्य संकल्प है तब उसमें इन्द्रिय सत्ता को अवश्य मानना चाहिए इस प्रकार से उस विषय में विचार करते हैं। जो जीव संसार राहित्य रूप मोक्ष को प्राप्त कर लिया है उसका संसारान्तर्गत के तरह करण कलेवर हैं अथवा नहीं ऐसा संशय होता है। जब इन्द्रिय का कार्य संकल्प है तब इन्द्रियादिक को होना चाहिये इस युक्ति से इन्द्रियादिक का सद्भाव सिद्ध होता है। और संसार निवृत्त हो गया तब संसारावयव करण कलेवर का सद्भाव कैसे हो सकता है ? इसलिए करण कलेवर का असद्भाव प्राप्त होता है इस प्रकार से उभय कोटि का उपस्थापक होने से संशय होता है कि "करणकलेवरस्य सद्भावो भवति नवेति" इसमें बादरि आचार्य द्वितीय कोटि को मान करके कहते हैं कि "नवैसशरीस्य" इत्यादि श्रुति मोक्ष दशा में मुक्तजीव का करण कलेवर नहीं है ऐसा प्रतिपादन

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ।४।४।११।

"स एकधा भवति त्रिधा भवति" [छा०७।२६।२।] इति विविध-रूपेण भवनं श्रुतिरभिधत्ते। तच्च कलेवरमन्तरेण न सम्भवतीति मुक्तात्मनः करणादिभावं जैमिनिर्मन्यते ॥११॥

इत्यादि श्रुत्यामुक्तस्य शरीराभावप्रतिपादनात्. तत्सहकृतेन्द्रियस्याप्यभाव एवेति द्वितीयकोटिमेवपूर्वपक्षतया व्यवस्थापयति बादरिराचार्य इति ॥१०॥

विवरणम्- "स एकधाभवतीत्यादि" श्रुत्यामुक्तजीवस्यानेकरूपेण भवनस्य प्रतिपादनेन, तस्यानेक भवनस्य करणकलेवरमन्तरेणासंभवेन मुक्तात्मनोऽपि करणादि सद्भावमेव स्वीकरोति जैमिनीराचार्य इति। कार्यस्य सङ्कल्पस्य शरीरेन्द्रियमन्तरेणासंभवादिति निवेदयितुमुपक्रमते "स एकधेत्यादि" स एकधा भवतीत्यादि श्रुतिरनेकरूपेण भवनं करती है। और मोक्षदशा में करणादि सहभाव प्रतिपादक प्रबल प्रमाण नहीं है। अतः मुक्तजीव का करण कलेवर नहीं है ऐसा मानते हैं। यही प्रकृत में पूर्वपक्ष होता है कि मुक्त जीव का करण कलेवर नहीं है ॥१०॥

साबोधिनी—जैमिनि आचार्य कहते हैं कि मैं मुक्त जीन का शरीरे न्द्रिय सद्भाव मानता हूँ उनका अभिप्राय यह है कि "स एकधा भवति" इत्यादि श्रुति से अनेक भवन का प्रतिपादन किया है वह अनेक प्रकारक भवन शरीरेन्द्रियादि के बिना असंभवित है। अतः करण कलेवर के सद्भाव की इच्छा करते है "अशरीरंवावसन्तम्" इत्यादि श्रुति जो शरीराभाव का प्रतिपादन करती है। उसका अभिप्राय यह कि मुक्तजीव का कर्म शुभाशुभ लक्षण है। तादृश कर्म जनित शरीरादिक नहीं है। तो कर्मकृत शरीर के अभाव का प्रतिपादन किया जाता है। किन्तु सत्य सङ्कल्पादिक शरीर के अभाव का प्रतिपादन करने में तात्पर्य नहीं है। इसी विषय का वर्णन किया है "सएकधा" इत्यादि ग्रन्थ से—"वह मुक्त जीव एक रूप से तीन रूप से अनेक रूप होता

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ।४।४।१२।

अतः सङ्कल्पादेव करणादिमत्वं तद्रहितत्वञ्चेत्युभयविधं मुक्तात्मानं भगवान् बादरायणो मन्यते । यथा द्वादशाहस्य सत्रत्वमहीनत्वञ्च विधिवैलक्षण्यात्तथा सङ्कल्पवैलक्षण्यादुभयविधमपि युक्तम् ॥१२॥

कथयति तदनेकरूपत्वं करणकलेवरमन्तरेणासंभवतीति तत् सद्भावं मुक्तस्य प्रतिपादयतीति जैमिनेर्मतम् ॥११॥

विवरणम्—उक्तक्रमेण बादरेः जैमिनेश्चमतद्वयं मुक्तस्य शरीरेन्द्रियविषये प्रदर्श्य स्वकीयं सिद्धान्तं दर्शयितुं बादरायणस्य सिद्धान्तमुपक्रमते "अतः सङ्कल्पादेवेत्यादि" सङ्कल्पबलादेवमुक्तस्य शरीरादिकं तदभावमपीच्छति यथा विधिशास्त्रबलात् द्वादशाहस्य सत्रत्वमपरविधिबलादहीनत्वमपि भवति । तथैव प्रकृते शरीरादि साहित्यं तदभावमपि प्रतिपादयति बादरायण इति भावं प्रदर्शयति अतः सङ्कल्परूपकारणादेवकरणकलेवरादिमत्वं तदभाववत्वमपि मुक्तात्मनो भवतीति बादरायणः कथयति । "द्वादशाहवदिति द्वादशाहमृद्धि कामा उपेहै:' इस प्रका से अनेक रूप से भवन का प्रतिपादन श्रुति करती है तो यह अनेक प्रकार का जो भवन होना है वह करण कलेवर के बिना नहीं हो सकता है इसलिए मुक्तात्मा का करणादि के सद्भाव को जैमिनि मानते है ॥११॥

सारबोधिनी-पूर्वोक्त प्रकार से बादरि तथा जैमिनि का मतद्वय बतला कर के सिद्धान्त को बतलाते हैं बादरायणजी । उस विषय को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं "अतः सङ्कल्पादित्यादि" मुक्त जीव के संकल्पबल से करण कलेवरत्व भी होता है । तथा विलक्षण तादृश संकल्प के बल से करण कलेवर अभाव भी होता है । इस तरह उभय रूपत्व मुक्त जीव का भगवान् बादरायण मानते है द्वादशाह के समान जैसे "द्वादशाह मृद्धिकामा" प्रजाकामंयाजयेत्" इत्यादि शास्त्र के बल से अहीनत्व होता है । तो उभय प्रकारक शास्त्र के वल से एक में ही उभयविधत्व होता है । इसीलिऐ प्रकृत में उभय

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ।४।४।१३।।

मुक्तस्य तन्वभावदशायां स्वप्नभोगवद्भगवत्प्रदत्तैर्भोगोपकरणैरेव भोगोपपत्तेः ।।१३।।

युरिति द्वादशाहस्य सत्रत्वम् द्वादशाहेन प्रजाकामयाजयेदित्यादि विधि-वाक्येन तस्यैवाहीनत्वमपि भवति तथैव सत्यसङ्कल्पबलान्मुक्तस्य करण-कलेवरादिमत्त्वम् तथा तदभाववत्त्वमपीति सिद्धान्तः ।।१२।।

विवरणम् - ननु शरीरेन्द्रियजन्यस्य भोगस्य कलेवरकरणाभावे भोगोपपत्तिर्मुक्तस्य कथं स्यादित्याशङ्कानिरासाय तदुपपादयितुमुपक्रमते "मुक्तस्यतन्वभावेत्यादि" तन्वभावदशायां मुक्तस्य योयं भोगो भवति न स भोगोमुक्तशरीरेन्द्रियत्वेन किन्तु भगवत् कृपापात्रस्य मुक्त जीवस्य परमेश्वरप्रदत्तशरीरेन्द्रियैर्भोग्यैश्च भोगोपपत्तिर्भवति । यथा स्वप्नसमये स्वप्नद्रष्टुर्जीवस्य स्वकीयकरणग्रामस्योपसमेऽपि परप्रदत्त-करणादिभिर्भोगोजायते तथैवमुक्तस्यापि स्वकीयकरणादेरसत्वेऽपि-

प्रकरण संकल्प के बल से मुक्त जीव में करण कलेवरवत्व भी होता है। तथा करण कलेवराभाववत्व की भी सिद्धि होती है। इसीलिए कोई अनुपपत्ति नहीं होती है ।।१२।।

सारबोधिनी—भोग में शरीरेन्द्रिय की कारणता है जब कारणता है तब मुक्त जीव का करण कलेवर के अभाव में भोग किस तरह से होगा। इस आशंका का निराकरण करने के लिए तथा सूत्र व्याख्यान करने के लिए कहते हैं "मुक्तस्यतन्वभावेत्यादि" मुक्त पुरुष को शरीराभाव काल में जैसे शरीरादिक का अभाव होने पर भी भोग विहित है। उसी तरह भगवान् के अनुग्रह प्राप्त शरीरेन्द्रियादिक के द्वारा भी मुक्त पुरुष को भोग संभव है। स्वकीयशरीर से ही भोग होता है यह लौकिक स्थल में ही नियम है अलौकिक में नहीं। अतः अन्य प्रदत्त शरीरादिक से भी मुक्त जीव को भोग होने में कोई क्षति नहीं है ।।१३।।

भावे जाग्रद्वत् ।४।४।१४।।

करणकलेवरादिसद्भावे तु मुक्तात्मा जाग्रत्पुरुषभोगवत् पितृलोका-दिभोगाननुभवति। यथा परात्परः कमलासनेशानाद्यखिलदिविषद्व-न्द्याङ्घ्रिपद्मोभयविभूतिपतिर्भगवान् श्रीरामचन्द्रः स्वसङ्कल्पेनाध्यवनि-मण्डलं देवानां पूरयोध्येत्याम्नायसमधिगतमहिमसाकेतापरनामधेयायो-ध्याधाम्नि, नमदमरनरभूपालमालामौलिमुकुटमणिमरीचिनिकरनीराजित चरणारविन्दश्रीमद्दशस्यन्दननन्दनतामासाद्य बाल्येऽनल्पकल्पपादप-स्थलकमलकिसलयप्रसूनचयविरचित-विचित्रसुरभिसरयूशीतलसलिलक ल्लोलमिल-दनिलचलद-लकराजिराजि-तकपोलमण्डलद्युतिमण्डितकुण्डलप्र भयाशेषदिशां तिमिरमुदस्यन्निजजनसुलभनरलीलारसमनुभवति तथा मुक्तोऽपि परेशलीलान्तः पातिपितृलोकादिकं स्वीयसङ्कल्पबलादुत्पाद्य तैस्सहाभिनवललितलीलामाकलयति ।।१४।

परेशप्रदत्तैरेवकरणकलेवरैर्भोगोभवतीति शरीरादीनामभावे मोक्षदशायां मुक्तस्य भोगोपपत्तिरिति संक्षेपः ।।१३।।

विवरणम्- यथा जाग्रज्जीवः करणकलेवरसद्भावे भोगमनुभवति तथैव सत्यसङ्कल्पबलेन प्राप्तकरणग्रामो मुक्तः स्वप्नविलक्षणं भोगमनु-भवति करणादिप्राप्तिस्तु भगवत्प्रसादादिति । एतत्सर्वं दर्शयितुमुप-

सारबोधिनि—करण कलेवर इन्द्रियग्राम शरीर के सद्भाव में मुक्तजीव-जाग्रत् कालिक भोग के सामान स्वप्न विलक्षण पितृलोमादि भोग का अनुभव करता है। जैसे परात्पर भगवान् श्रीरामचन्द्र. ब्रह्मामहादेवादि निखिल देव समूह से वन्दित चरण कमल उभय विभूति के स्वामी संकल्प के बल से इस पृथिवी मंडल में देवताओं का नगर अयोध्या में वेद समधिगत महिमा युक्त साकेता पर नामक दिव्य धाम अयोध्या में नमस्कार करनेवाले देव मनुष्य राजाओं के समुदाय के मुकुटमणि के किरण समुदाय से पूनित चरणारविन्द श्रीदशरथ राजा के पुत्रत्व को प्राप्त करके बाल्यावस्था में अनेक कल्पवृक्ष सम्मन्धी कम-

प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति ।४।४।१५।

मुक्त्यवस्थायामप्यणुस्वरूपस्य जीवात्मन एकदेशस्थितप्रदीपस्य यथा स्वप्रभया देशान्तरसम्बन्धस्तथा देहान्तरदेशान्तरसम्बन्धो व्यवहारश्चोपपद्यते । तथा हि दर्शयति श्रुतिः "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवस्स विज्ञेयः सचानन्त्यायकल्पते"।(श्वे०५।९)

क्रमते "करणकलेवरादीत्यादि" मुक्तात्मा करणकलेवरादिसद्भावे जाग्रत्पुरुषभोगवदेव पितृलोकादिभोगं स्वप्नविलक्षणमनुभवति । यथा परेशः श्रीरामचन्द्रः स्वसङ्कल्पेन विविधभावानुत्पाद्य स्वलीलारसमनुभवति तद्वदेवेति वृत्तिग्रन्थाशयोऽर्थस्तु स्वमनीषयैवावगन्तव्यः दार्शनिक प्रबन्धे केवलशब्दार्थविवरणस्यानादेयत्वात् ॥१४॥

विवरणम्–ननु जीवस्याणुपरिमाणयुक्तत्वात् एकधा त्रिधेत्यादि श्रुतिकथितविविधशरीरेषु सम्बन्धाभावात्कथमनेक शरीरेण मुक्तजीवस्य भोगः स्यादित्याशङ्का निराकरणाय प्रक्रमते "मुक्त्यवस्थायामित्यादि यपि जीवोणुपरिमाणवान् तथापि यथा गृहैकदेशेवर्तमानो प्रदीपः स्वप्रभया सकलगेहं प्रकाशयति यथा वा हृदय प्रदेशगतोऽपि

लवत् किसलय पुष्प समुदाय से सुशोभित कपोलमण्डल किरण से मण्डितकुण्डल प्रभा से अशेष दिशा के अन्धकार को दुर करके स्वकीय भक्तजन सुलभलीलारस का अनुभव करते हैं । उसी तरह मुक्त पुरुष भी भगवान् की लीला के अन्तर्गत पितृलोकादिक को अपने संकल्प के बल से उत्पन्न करके उसके साथ अभिनव लीला का अनुभव करता है ॥१४॥

सारबोधिनी–जीवात्मा के अणु होने से "सएकधात्रिधाभवति" इत्यादि श्रुति से कथित अनेक शरीर में सम्बन्ध नहीं होने से मुक्तात्मा अनेक शरीर से भोग करता है यह कथन अनुपयुक्त है । इस शंका का निराकरण करने के लिए उपक्रम करते है "मुक्त्यवस्थायामित्यादि" मोक्षावस्था में अणु स्वरूप जीवात्मा का एकदेश में अवस्थित प्रदीप का जैसे स्वप्रभा से देशान्तर के साथ

"एषोणुरात्मैष द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिमानतः ।
अणुश्च चेतनो जीवो द्रव्यरूपो मतो बुधैः ॥
'आत्मानिष्क्रामती'त्येवमुत्क्रान्तिश्चात्मनः श्रुता ।
गमनाच्चन्द्रलोके च जीवेगतिससीरिता ॥
'तस्माल्लोकात्पुनः' श्चैवमागतिस्वात्मनः श्रुतौ ।
एवमुत्क्रान्तिगत्यादेर्जीवोऽणुर्मन्यते बुधैः ॥"
(श्रीबोधायनमतादर्शः ८६०–८६२) इत्यादिस्मृतिरपिसङ्ग्राह्याः
इति सङ्कल्पेनैव मुक्तात्मनस्सर्वमुपपद्यते ॥१५॥

जीवः सकलशरीरे चैतन्यव्याप्ति करोति तथैव देहान्तरेऽपि चैतन्यद्वारा व्याप्ति करोतीत्यतोमुक्तस्यापि विविधशरीरेसम्बन्धो भवतीति नकोपि दोषः । एतदेव दर्शयति यथागृहैकदेशेस्थितो दीपः स्वप्रभयासकलगेहं प्रकाशयति तथा मोक्षावस्थायामणुरपि जीवश्चैतन्यद्वारा देहान्तर देशान्तरस्यापि ज्ञानेन सम्बन्धं करोति । तथाहि श्रुति स्मृतयः–बाला-ग्रेस्यादि" ततश्च स्वकीय संकल्पेनैव मुक्तात्मनः सर्वमपि सम्पन्नं भवतीति न कोऽपि दोषः ।

अयंभावः यद्यपि बद्धजीवानामनाद्यविद्यया संकुचित ज्ञानस्वभावत्वा द्देहान्तरे चैतन्यद्वारा व्याप्ति न करोति स्वकीयदेहेतु सर्वत्र व्याप्ति सम्बन्ध होता है उसी तरह जीव का भी देशान्तद तथा देशान्तर के साथ सम्बन्ध और व्यवहार भी उत्पन्न होता है। श्रुति स्मृति भी इसी प्रकार से कहते हैं "बाल के अग्रभाग के अग्रभाग को शतधा कल्पना किया जाय । उसका एक भाग जीव है। तथा वह गमन शील और अनन्त है अतः इस प्रकार संकल्प से ही मुक्तात्मा का सब व्यवहार सिद्ध होता है । बद्ध जीव अनादिकर्म के वल से संकुचित ज्ञानवान है । इसलिए बद्ध जीव का देहान्तर में चेतना का सम्बन्ध नहीं होता है । स्वकीय देह में तो सर्वत्र सम्बन्ध होता है । मुक्त जीव का तो परमात्मा की उपासना से कर्म बन्धन नष्ट हो गया

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ।४।४।१६।

कथंतर्हि "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्" [बृ० ४।३।२१।] इति मुक्तात्माभिधायिनी श्रुतिः सङ्गच्छतामित्यतोऽभिधत्ते स्वाप्ययेति । नोदीरितश्रुतिर्मुक्तात्मानं गोचरयति । अपितु सुषुप्तिमरणयोरन्यतरापेक्षमिदं श्रुतिवाक्यम् । आविष्कृतं हि स्वाप्ययसम्पत्त्योर्निःसंज्ञत्वमुक्तौ च सर्वज्ञत्वं श्रुत्या । "नाहं खल्वयं भगव एवं सम्प्रत्यात्मानं जानाति" [छा० ८।११।२।] इति सुषुप्तौ "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति" [बृ० २।४।१२।] इति मरणे । "सवा एष दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके" [छा० ८।१२।५।] इति स्पष्टमेवमुक्तौ सुषुप्तिमरणविलक्षणं ज्ञानवत्त्वमाविष्कृतम् ॥१६॥

इति श्रीरघुवरीयवृत्तावभावाधिकरणम् ॥५॥

करोत्येवानुभवसिद्धत्वात् । मुक्तजीवात्मनांतु परमपुरुषस्योपासनया प्रक्षीणकर्मबन्धनत्वेनासङ्कुचितज्ञानत्वात् स्वकीयदेहवद्देहान्तरेऽपि व्याप्तिं साधयति तेन सर्वोऽपि व्यवहारो निराकुलो भवतीति संक्षेपः ।१५

विवरणम्—ननु मुक्तौ बाह्याभ्यन्तरज्ञानस्याभावम् "प्राज्ञेनानात्म संपरिष्वक्त" इत्यादिश्रुतिः प्रतिपादयति तत्कथं मुक्तस्य सर्वज्ञ-

है इसलिए असंकुचित ज्ञानवान् होने से स्वदेहवत् देहान्तर में उसका सम्बन्ध होता है इसलिए सब व्यवहार होता है ॥१५॥

सारबोधनी—"प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः"इत्यादि श्रुति तो मुक्त पुरुष में बाह्य आभ्यतर वस्तु विषयक ज्ञानाभाव का प्रतियादान करती है तब मुक्त पुरुष सर्व विषयक ज्ञानवत्व रूप सर्वज्ञत्व किस तरह से हो सकता है । इत्याकारक शंका का समाधान करने के लिए प्रक्रम करते हैं "कथंतर्हीत्यादि" प्राज्ञ परमात्मा से संपरिष्वक्त होकर के न कुछ वाह्य वस्तु को जानता है । नवा आन्तर किसी वस्तु को जानता है" यह श्रुति मुक्तात्मा में ज्ञानाभाव का

जगद्व्यापारवर्जनाधिकरणम् ॥६॥

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ।४।४।१७

मुक्तस्य सत्यसङ्कल्पत्वमुक्त्वाऽन्यदपि विचार्यते । किं मुक्तस्य जगद्रचनादिव्यापारोऽप्यस्ति, उत केवलं ब्रह्मानुभव एवेति संशयः ।

त्वमित्याशङ्कां निराकर्तुमुपक्रमते "कथंतर्हीत्यादि" परमात्मानं संपरिष्वक्तो जीवो न किञ्चनबाह्यं विजानाति नवा आन्तरमिति श्रुतिमुक्तस्य ज्ञानाभावमिच्छति तत्कथं मुक्तस्य सर्वज्ञत्वमित्याशङ्क्यसमाधत्ते- "स्वाप्ययेत्यादि यदिदं ज्ञानाभावप्रतिपादकं वचनं न तन्मुक्ते ज्ञानाभावं प्रतिपादयति किन्तु सुषुप्तिकाले मरणकाले च ज्ञानाभावं दर्शयति । मोक्षेतु "रमते य एते ब्रह्मलोके" इति श्रुतिः सर्वज्ञतामेव मुक्तस्य प्रतिपादयतीति ध्येयम् । १६॥

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्य कृतौ
श्री रघुवरीयवृत्तिविवरणेऽभावाधिकरणम् ॥५॥

प्रतिपादन करती है तो इसकी संगति किस तरह से होगी ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं "स्वाप्यय संपत्त्योरित्यादि" उक्त श्रुति मुक्तात्मा में ज्ञानाभाव का प्रतिपादन नहीं करती है । किन्तु सुषुप्ति में तथा मरण में जीव के ज्ञानाभाव प्रतिपादन करती है । क्योंकि मरण तथा सुषुप्ति में निःसंज्ञकत्व तथा सर्वज्ञत्व प्रतिपादन किया है । "हे भगवन् मैं सम्प्रति आत्मा को नहीं जानता हूं" यह श्रुति सुषुप्ति में । "एतेभ्यो भूतेभ्य" इत्यादि श्रुति मरण में ज्ञानाभाव कहती है । "सवा एष दिव्येन चक्षुषा" इत्यादि श्रुति स्पष्ट रूप से सुषुप्ति मरण से विलक्षण ज्ञानवत्व का मोक्ष में प्रतिपादन करती है । अर्थात् संकल्प वश से मोक्ष में ज्ञानवत्व रूपसर्वज्ञत्व का प्रतिपादन करती है ॥१६॥

सारबोधिनी—मुक्त पुरुष सत्य संकल्पवान् होते हैं इसका कथन करके प्रसंगात् मुक्त के विषय में कुछ और भी पदार्थ का विचार करते है । क्या

"निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" [मु०३।१।३] इत्यादिवचनैर्जगद्रचनादिव्यापारोऽपीति पूर्वपक्षः। अत्राभिधीयते–सृष्ट्यादिव्यापारवाक्येषु ब्रह्मण एकस्यैव श्रवणात् जगद्रचनादिव्यापारं विहाय ब्रह्मानुभवादिरूपे सुख एव मुक्तस्य साम्यम्। एतच्च सृष्टिप्रकरणादवगम्यते। तत्र मुक्तस्य सन्निधानं न श्रूयतेऽतोऽसन्निहितत्वादप्यवगम्यते ॥१७॥

विवरणम्–मुक्तो जीवः सत्यसङ्कल्पबलेन जगदुत्पत्यादिकमपि करोति अथवा तदतिरिक्तब्रह्मानुभवमात्रमिति संशयः। तत्र परमेश्वरस्य परमसमतामुपगतोमुक्तो जगद्रचनामपि करोतीति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु जगदुत्पत्यादिप्रकरणे समुत्पादकतया मुक्तस्याश्रवणात् असंनिहितत्वाच्च जगद्रचनाव्यापारवर्जितं ब्रह्मानुभवमात्रं करोतीति दर्शयितुमुपक्रमते "मुक्तस्य सत्यसङ्कल्पत्वमित्यादि" जगद्रचनाव्यापारवर्जितमेव परमैश्वर्यसत्यसङ्कल्पबलान्मुक्तस्य भवति प्रकरणात् असंनिहितत्वाच्चेति सूत्रार्थः। मुक्तोहि सत्यसङ्कल्पवान्भवतीति कथयित्वा तस्यान्यत् जगद्रचनादिव्यापारो भवति नवेति विचार्यते। तत्र मुक्तपुरुषस्य जगद्रचनाव्यापारो भवति अथवा केवलं ब्रह्मानुभव एवेति संशयः। तत्र"निरञ्जनः" इत्यादि श्रुत्या परमेश्वरेणातिसाम्यतायाः श्रुतत्वात परेशवत् मुक्तोपि जगतोरचनां करोतीति पूर्वपक्षः। "अत्राभिधीयते" इति

मुक्त पुरुष जगत रचनादि व्यापार भी करता है! अथवा केवल मुक्त पुरुष ब्रह्म का अनुभव ही करता है ऐसा सन्देह होता है। उसमें "मुक्त पुरुष परमेश्वर के साथ परम समता को प्राप्त कर जाता है।" इत्यादि वचन से सिद्ध होता है कि जगत रचना का व्यापार भी करता है ऐसा पूर्वपक्ष होता है। समाधान=सृष्टि प्रतिपादक वाक्य में कर्त्ता रूप से ब्रह्म का ही श्रवण होने से जगत् रचना व्यापार को छोड़ करके ब्रह्मानुभव रूप सुखानुभव मात्र में परमेश्वर के साथ मुक्त पुरुष की समता है। यह "यतोवा इमानि" इत्यादि सृष्टि प्रकरण से ज्ञात होता है। उस सृष्टि प्रकरण में मुक्त की चर्चा नहीं है। अतः

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ।४।४।१८।

ननु "तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" [छा० ७।२५।२] इत्यादि श्रुतिभिर्मुक्तस्य जगद्व्यापारो व्यपदिश्यत इति चेन्न, परमात्मना लोकशासनाधिकारे नियुक्त प्रजापतिलोकस्थभोगेषु मुक्तस्य कामचारत्वं हि तादृशवचनैरभिधीयते । यतस्तत्र कामचारो भवतीत्यादिरूपैव वचनरचना दृश्यते नतु नियमयतीत्यादिरूपा ॥१८॥

"यतो वा इमानि" इत्यादिसृष्टिप्रकरणे सृष्ट्यादिकारणरूपेण परमेश्वरस्यैव जगद्रचयितृत्वेन श्रवणान् जगद्रचनां परित्यज्य केवलं ब्रह्मानुभवे एव मुक्तस्य सामर्थ्यं "जगद्व्यापारवर्जं समानोऽज्योतिषा" (बो.वृ.) इति वृत्तिकारोक्तेरिति सिद्धान्तः ॥१७॥

विवरणम्—ननु "तस्य सर्व लोकेषु कामचारो भवतीत्यादि" श्रुतिः प्रत्यक्षत एव मुक्तस्य सर्वत्र कामचारं दर्शयन्ती तस्य मुक्तस्य सर्वैश्वर्यवत्वं प्रतिपादयतीति चेन्न "आधिकारिक मण्डलोक्तेः" परमात्मना अधिकारे नियुक्ता ये प्रजापतयस्तेषां लोकस्थविभूतिभोगकामचारत्वं प्रतिपादयति नतु नियमयितृत्वमपि मुक्तस्य दर्शयतीति न कोऽपि दोष इत्याशयेन सूत्रव्याख्यानायोपक्रमते "ननु तस्येत्यादि" तस्य सर्वेषु-

असंनिहितत्व हेतु से भी यह जाना जाता है जगद्व्यापारातिरिक्त में ही ईश्वर समता जीव को है । तथैव जगद्व्यापार वर्जं समानो ज्योतिषा यह वृत्तिकार वाक्य भी इसी का पोषक है ॥१७॥

सारबोधिनी—"तस्य सर्वेषु लोकेषु" इति श्रुति मुक्त पुरुष को जगत् रचना विषयक व्यापार का प्रतिपादन करती है ऐसा मत कहना, क्योंकि वह परमात्मा से लोकशासन के अधिकार में नियुक्त जो प्रजापति आदि है उन प्रजापति आदि लोकस्थ जो भाग तादृश भोग में मुक्त पुरुष की स्वेच्छाचारिता होती है । इस बात का प्रतिपादन करती है । उन प्रजापति आदि लोक

विकारावर्त्ति च तथाहि स्थितिमाह ।४।४।१९।

नन्वेवं संसारिजीववन्मुक्तस्यापि क्षयिष्णु लोकसुखभोक्तृतया तद्भोग्यमनित्यं स्यान्मुक्तस्य पुनर्जन्मजरामरणादियातनाः स्युरिति चोद्यं समाधत्ते–विकारवर्त्तिमुक्तो विनिर्मुक्तसमस्तविकारं :दिव्यानन्दगुणाकूपारं परमात्मानमक्षय्यधाम्न्यवस्थितानन्दविशिष्टमनुभवति तदीयलीला विभूत्यन्तर्गतांश्च कामानपि । तथाहि दिव्यगुणधाम्नि परस्मिन्नात्मन्यनुभवितुर्मुक्तस्य स्थितिमाह श्रुतिः "अथ ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये" [तै० २।७] "रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति [तै० २।७] इति ॥१९॥

लोकेषु इत्यादि श्रुतिर्मुक्तपुरुषाणां जगद्रचनाव्यापारं प्रत्यक्षतएव प्रतिपादयतीति चेन्न परमात्मनालोकशासनकर्मणिनियुक्ता ये पुरुषास्तदीयलोकेष्वेवमुक्तस्य कामचारादिमत्वं ज्ञापयति न तु तस्य सर्वनियामकत्व रूपपारमैश्वर्यमपि ज्ञापयतीति संक्षेपः ॥१८॥

विवरणम्–यथाबद्धविकारान्तर्गतभोगस्य भोगं करोति तद्वत् मुक्तस्यापि तथात्वे मुक्तस्य भोग्यमपि विनाशशीलं स्यादित्याशङ्क्य समा-

में मुक्तों की कामचारिता होती है एसी ही वाक्य रचना देखने में आती है। सर्व नियामकत्व मुक्त में है ऐसी वाक्य रचना नहीं देखने में आती है। इसलिए मुक्त पुरुष में सर्व जगदुपादानत्व सर्वनियामकत्व नहीं है । किन्तु ब्रह्मरूप सुख का अनुभव मात्र में ही समता होती है ॥१८॥

सारबोधनी—पूर्वोक्त क्रम से संसारी जीव के समान मुक्त पुरुष को भी उत्पादविनाशशाली सुख का भोक्ता होने से तदीय जो भोग्य है वह तो अनित्य होगा तब तो मुक्त पुरुष को मोक्ष के बाद भी जन्ममरण व्याधि प्रभृतिक अनेक प्रकारक क्लेश का अनुभव होगा । तब एतादृश मोक्ष के लिए कौन स्वस्थात्मा मोक्षार्थ प्रयत्न करेगा । शास्त्र से ज्ञात होता है कि मोक्ष सुख स्व-

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ।४।४।२०।

जगद्रचनादयो व्यापाराः परब्रह्मण एव न मुक्तात्मनः । एवमेव श्रुतिस्मृतीदर्शयतः । "स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत" [तै० २।६] "एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः"

धातुमाह "नन्वेवं संसारिजीववदित्यादि" यथा संसारीजीवो विकारान्तर्गतभोगं करोति इति तस्य भोग्यं विनाशि तथा मुक्तस्यापि तादृशभोग्यकर्तृत्वे न तदीयभोगस्याप्यनित्यतास्यादिति तदामुक्तस्य जन्ममरणादिभयान्निवृत्तिर्नस्यादिति शङ्कां समाधातुमाह सूत्रकारः "विकारावर्त्तिचेत्यादि" विकारे वर्तमानोऽपिमुक्तः सर्वविकारवर्जितं परमात्मानं दिव्यगुणसागरमक्षयसाकेतानन्दविशिष्टमेवानुभवति तदीयलीला विभूतौ वर्तमानान् कामांश्चापिभुङ्क्ते । एतदेव श्रुतिरपि दर्शयति 'रसो वै सः' इत्यादीति ॥१९॥

विवरणम्—योयं जगद्रचनादि व्यापारः सर्वनियामकत्वादिकं स सर्वोऽपि व्यापारः परमेश्वरस्यैव नतु तदतिरिक्तस्य बद्धस्य मुक्तस्य नित्यमुक्तस्य वा भवति । इयमर्थं श्रुतिस्मृत्यादयः प्रतिपादयन्ति तदेव

र्गादि सुख के समान अनित्य तो नहीं किन्तु मोक्ष तो नित्य है । इत्याकारक शंका का निराकरण करने के लिए कहते हैं "विकारवर्त्तिचेत्यादि" विकार के अन्तर्वर्त्तीमुक्त पुरुष विनिर्मुक्त है सकल विकार जिसमें लोकोत्तर दिव्यानेक कल्याणगुण गण का सागरोपम परमात्मा परम पुरुष सकल जगत् का नियामक नित्य निरतिशय स्थान साकेत में अवस्थित आनन्द विशिष्ट परमात्मा का अनुभव करता है । तथा सकल नियामक भगवान् की जो लीला विभूति है उसके अन्तर्गत सकल कमनीय विषयों का भी अनुभव करता है । तथाहि दिव्य गुण के धाम पर आत्मा में तादृश अनुभव करने वाले मुक्त पुरुष की स्थिति को श्रुति स्वयं कहती है "वह अदृश्य परमात्मा रस स्वरूप है" उसका लाभ करके यह आनन्दित होता है ।" इत्यादिक ॥१९॥

[बृ० ३।८।९] "अहं सर्वस्य प्रभवोमत्तः सर्वं प्रवर्तते" [गी० १०।८] "जगत्सृष्ट्यादयो लीलाममेव राघवस्य च" (वसिष्ठसंहिता २२) "दृष्टि-निक्षेपमात्रेण यो लोकान् सृजति प्रभुः" (वाल्मीकिसंहिता ४९) इत्यादि श्रुतिस्मृतयः परमात्मन एवैकस्य जगद्रचनानियमनादिकर्तृत्वमभिदधुर्न-मुक्तात्मनः ॥२०॥

दर्शयितुमुपक्रमते "जगद्रचनादयोऽव्यापाराः" इत्यादि योयं सर्वजगतो-रचनाव्यापारः स सर्व एव परमेश्वरस्यैव नतु मुक्तात्मनो भवतीति श्रुति स्मृती प्रतिपादयतः। तथाहि "स परमात्मा तपस्तप्त्वा विचारं कृत्वा-परिदृश्यमानं सर्वं जगदुत्पादयामास। हे गार्गि अस्यैव परमात्मनः प्रशासने सूर्यादयो वर्तन्ते। अस्यैव भयेन सूर्यादिकानियतकालं सर्वं कुर्वन्ति" अहमेव सर्वस्योत्पादकोनान्योमदतिरिक्तो जगत उत्पादक इति तथा "त्रातारौ दीनदासानां सृष्टिसंहारकारिणौ। तामेव जानकीं वित्तजननीमात्मनां पराम्॥ श्रीरामं पितरं वित्त सत्यं ह्येतद्वचोमम। दृष्टिनिक्षेपमात्रेण यो लोकान् सृजति प्रभुः" (वाल्मीकीसंहिता) इत्या-

सारबोधिनी–स्थूल सूक्ष्म जड़चेतन साधारण जो जगत् उसका रचना व्यापार पर ब्रह्म का ही है किन्तु किसी मुक्तात्मा का यह व्यापार नहीं है। इस बात को श्रुति स्मृति समुदाय प्रतिपादन करते है। सूत्र में जो प्रत्यक्ष पद है वह श्रुति बोधक है। क्योंकि जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण स्वप्रामाण्य में इतर प्रमाणा-नपेक्ष है उसी तरह श्रुति भी स्वप्राणाण्य में प्रत्यक्ष सापेक्ष है इसी तरह स्मृति भी स्वप्रामाण्य में अनुमान स्वप्रामाण्य में श्रुति सापेक्ष है। इसलिए सूत्र घटक अनुमान पद स्मृति का बोधक है। तथाहि "उस परमात्मा ने विचार करके इस स्थावर जंगम जगत् का उत्पादन किया"। हे गार्गि उस पुरुष के प्रशासन में रह करके सूर्यचन्द्रमादि स्वकीय व्यापार को अतंद्रित रूप से करते हैं" "मुझ परमात्मा से सकल जगत् उत्पन्न होता है" इत्यादि श्रुतिस्मृतिगण केवल एक परमात्मा को ही सर्वजगत्कर्तृत्व तथा सर्वनियामकत्व

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ।४।४।२१।

परमात्मना सह साम्यन्तु मुक्तात्मनो भोगमात्र एव श्रूयते ,'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" [तै० २।१] इति । तदपि भोगैश्वर्यसाम्यं परसङ्कल्पायत्तमेव न स्वातन्त्र्येणेति मुक्तैश्वर्यं जगद्रचनादिव्यापारवर्जितमेव ॥२१॥

दयः । एताः श्रुतिस्मृतयः परमात्मन एवैकस्य जगद्रचनाव्यापारं सर्वनियामकत्वं च प्रदर्शयन्तीति तस्मान्नजीवे तत्वम् ॥२०॥

विवरणम्—ननु यदि जगद्रचना व्यापारो मुक्तस्य न भवति तदा परमात्मसमत्वंमुक्तस्योच्यमानं कथं सङ्गच्छते इत्याशङ्कां निराकर्तुमुपक्रमते "परमात्मना सहेत्यादि "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादिना यत् परमसमतां बोधयति श्रुतिस्तद् भोगमात्रे परमसाम्यं न तु जगद्रचनादावपि तत्वम् "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति श्रुतेः एतदपि भोगैश्वर्यं साम्यमुक्तस्य परमात्मसङ्कल्पाधीनमेव न तु स्वातन्त्र्येण भवति । अतो मुक्तस्ययदैश्वर्यं तत् रचनाव्यापाररहितमेवेति न कोऽपि दोष इति संक्षेपः ॥२१॥

विवरणन्-ननु यथा क्षय्यसुखात्मकस्वर्गात् स्वर्गीजनः पुण्य समाप्तौ निवर्तते 'क्षीणेपुण्येमर्त्यलोकं विषन्ति' इति गीतोक्तेस्तथा

का प्रतिपादन करते है । किन्तु मुक्त में रचनादि व्यापार का प्रतिपादन नहीं करती हैं ॥२०॥

साबोधिनि—परमात्मा के साथ जो मुक्त का समत्व प्रतिपादन किय गया है वह भोग मात्र के अंश में ही परम समत्व है क्योंकि श्रुति "सह ब्रह्मणाविपश्चित" इस प्रकार से कहती है । यह जो भोगैश्वर्य में परमशमता है वह भी परमात्मा संकल्प के अधीन ही है । किन्तु स्वतंत्र रूप से नहीं इसलिए मुक्त पुरुष का जो ऐश्वर्यं है वह जगत् रचना व्यापार वर्जित है यह सिद्ध हुआ ॥२१॥

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ।४।४।२२

सर्वस्वतन्त्रस्य परमात्मनो नियन्तृतया स्वेच्छया कर्हिचिन्मुक्तमपि जगति पुनरावर्तयेदिति शङ्कामपाकरोति–अनावृत्तिरिति । "स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते" [छा० ८।१५।१] "मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानः" [गी० ८।१५] इत्यादि वैदिकस्मार्तशब्देभ्योऽवगम्यते । यन्मि

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रो भगवान् कमपिमुक्तं मोक्षान्निवर्तयिष्यति इत्याशङ्कां निराकर्त्तुमुपक्रमते "सर्वतन्त्र स्वतन्त्रस्येत्यादि" भगवान् हि सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सकदाचिन्मुक्तमपि संसारे पुनरावर्तयेदित्याशङ्कां समाधत्ते सूत्रकारः "अनावृत्तिरित्यादि" यद्यपि सर्वेश्वर श्रीरामकर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुञ्च स्वतन्त्रस्तथापिस्वानन्यभक्त्या समाराधितं भक्तं स्वधाम्निसमा-

सारबोधिनि—ईश्वर के सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होने से कभी मुक्त जीव को संसार में वास के लिये भेज सकते हैं इसका उत्तर अनावृत्तिःशब्दात् इस सूत्र से देते है। "स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते' 'मामुपेत्यपुनर्जन्म दुखालयमशाश्चतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानः" इत्यादि श्रुति स्मृति वचनो से यह अवगत होता है कि मुक्त व्यक्ति की पुनरावृत्ति नहीं होती है। तो फिर

परान्नारायणाच्चापि कृष्णात्परतरादपि ।
यो वै परतमः श्रीमान् रामो दाशरथिः स्वराट् ।।

इत्यादिरूप से आगमोपवर्णित सर्व पर सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्र जी जो कि निरङ्कुशैश्वर्य शाली परमकारुणिक शरणागतवत्सल हैं अपने आश्रय में आये प्रपन्नजन को अपने दिव्यधाम श्रीसाकेत में प्रेम पूर्वक ले आकर वहाँ से कैसे वापस मर्त्यभू में भेज सकते है ? यदि ऐसा हुआ तो

द्विः शरान्नाभिसन्धत्ते द्विस्थापयति नाश्रितान् ।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नाभिभाषते ।। (श्रीरामायण)

रङ्कुशैश्वर्यशक्तिशाली परमकारुणिकः परमपुरुषः शरणागतवत्सलः श्रीरामः स्वाश्रितप्रपन्नजनं निजभुवनसाकेतापरपर्यायमक्षयधामप्रेम्णा समानीय न पुनर्निवर्तयति। अत एवेयं चरमप्रतिज्ञापि सङ्गच्छते।

गतं न पुनरावर्तयति यतः प्रमाणशेखरवेदस्तथैव प्रतिपादयति "न स पुनरावर्तते" इति "मामुपेत्य पुनर्जन्मदुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः"। इत्यादि स्मृतिरपि मुक्तस्यानावृत्ति मेवदर्शयति। नहि भक्तवत्सलो भगवान् श्रीरामचन्द्रः कमपि भक्तं पुनरावर्त्तयति तदैव "सकृदेव प्रपन्नाय" इत्यादि तदीय प्रतिज्ञापि सङ्गताभवति तथैवाहुः श्रीआनन्दभाष्यकाराः—यतः स्मर्यते स्वाश्रितजनमनन्यभक्तमुद्दिश्य तस्य परमकारुणिकस्य परमपुरुषस्य सर्वस्मादुत्कृष्टे

भगवान् श्रीराम की इस प्रतिज्ञा की क्या दशा होगी? क्या सर्वेश्वर श्रीराम स्वाश्रित को पुनः त्याग देंगे! नहि नहि कभी नहीं यविकुल चक्र चूडामणि जगद्गुरु श्रीतुलसीदासजी के शब्दो में सुनिये शरणागतवत्सल श्रीरामचन्द्र जी क्या कह रहे है--

कोटिविप्रबध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजऊँ नहि ताहू॥
आवत देखि सक्ति अतिघोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा॥
तुरत बिभीषन पाछें मेला। सनमुख राम सहेउ सोइ सेला॥

तो क्या स्वाश्रित जन का थोडा भी दुख सहन न करने वाले श्रीराम अपने धाम श्रीअयोध्या से मर्त्यलोक में प्रपन्नों को पुनः भेजेगे? सम्भव नहिं यदि ऐसा हुआ तो....

स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीजनविटादवद्धैकदारव्रते
लीलावेणुलसत्करात्त्रिभुवनत्राणाय चापस्पृशि।
चौर्याकृष्टवधुजनात्परिणतौ कीटादि मुक्तिप्रदे
व्यावृत्तं मम यादवाद्रघुपतौ चेतः स्वयं धावति॥

जगद्गुरु श्रीरामभद्राचार्य जी की कीटादि मुक्तिप्रदे इस उक्ति की क्या-

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥ इति ॥
सूत्रावृत्तिः शास्त्रसमाप्तिं गमयति ॥२२॥

इति जगद्व्यापारवर्जाधिकरणम् ॥६॥

यत्प्रतिज्ञा "अप्यहं जीवितं जह्याम्" (श्रीरा. आ. १०।१८) इति ।

यतः–"परान्नारायणाच्चापि कृष्णात्परतरादपि ।
यो वै परतमः श्रीमान् रामोदाशरथिः स्वराट् ॥
यस्यानन्तावताराश्च कला अंशाविभूतयः ।
आवेशाविष्णुब्रह्मेशाः परब्रह्मस्वरूपभाः ॥
स एव सच्चिदानन्दो विभूतिद्वयनायकः ।
वात्सल्याद्यद्भुतानन्तकल्याणगुणवारिधिः ॥"

दशा होगी जब कि कीट पतङ्गों को मुक्ति दे देते है स्वप्रपन्न मानव को देकर वापस लेंगे कीटों के बराबर भी मान का मूल्य नहिं ! इनना ही नहीं

सुरोऽसुरोवाप्यथवानरोऽनरः सर्वात्मनायः सुकृतज्ञ मुत्तमम् ।
भजेतरामं मनुजाकृतिं हरिं य उत्तरान्ननयत्कोशलान् दिवम् ॥

श्रीव्यासजी को इस भागवतोक्त उक्ति की ओर भी देखें ! सर्वात्म भाव से श्रीरामाश्रितों को सुर असुर नर वानरादि कोई हो सब को वे स्वसाकेताद्यदिव्यधाम में ले गये है। सर्व मुक्ति प्रद परमदयालु की दया क्षीण हो जायगी जो पुनः अधः पात कर देंगे ! तब तो सर्वेश्वर श्रीराम की इस दिव्य प्रतिज्ञा की क्या दशा होगी ?

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

इस प्रतिज्ञा वाक्य का सारांश यह है--जो मानव एक बार भी हे श्रीराम मै आप का हूं मेरी आप रक्षा करें इस प्रकार याचना करता है उसे मैं सर्व-भूतों से अभय कर देता हूं यह मेरा व्रत है । इस मन्त्र का सर्व शास्त्रानुकूल

अस्तिद्वारावतीधाम धरान्तः पतिशोभनः ।
शृङ्गराग्रामसर्वस्वः सर्वसम्पद्विभूषितः ॥१॥
आतिथेयीं दधद्वृत्तिं बटुभिर्वैष्णवैर्वृतः ।
मठः शेषाभिधोदिव्योगुणवज्जनमण्डितः ॥२॥

इत्यादिरूपेण वशिष्ठसंहितोक्तेर्नकदापि स्वाश्रितान् परावर्तयति सर्वेश्वरश्रीराम इति सर्वं निरवद्यम् । सूत्रावृत्तिग्रन्थसमाप्तिद्योतन परेतिशम् ।२२।

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्यकृतौ श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे
जगद्व्यापारवर्जनाधिकरणम् ॥६॥

विवरणम्—ग्रन्थान्ते वृत्तिग्रन्थप्रयोजनप्रदर्शनपूर्वकं स्वं परिचाय यतिः-अस्तीत्यादिपञ्चभिः श्लोकैः । सर्वसम्पद्विभूषितः शृङ्गराग्राम श्रीशृङ्गपुराभिधनगरसर्वस्वस्वरूपः –

मध्ये मार्गपरिश्रान्तो विश्रामं प्राप्य शृङ्गिणः
आश्रमे परमारामे कृष्णोवचनमब्रवीत् ॥
त्वया संस्थापितां मूर्तिं विश्रामद्वारकापतेः ।
अदृष्ट्वा द्वारका यात्रा नराणां निष्फला भवेत् ॥
यथा व्यासमनालोक्य काशीयात्रा हि निष्फला ।
तथैव द्वारकायात्रा ऋतेऽत्राऽगनाद् भवेत् ॥

इत्यादिरूपेण श्रीकृष्णेनैव प्रसंशितत्वेन सर्वशोभायुक्तः मुक्ति प्रदायकसप्तपुरीष्वन्यतमधामविश्रामद्वारिकेति नाम्ना प्रसिद्धोऽस्ति विशद विवेचन मैंने श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर की प्रभा कीरण नामक टीका में किया है अतः विशेषार्थियों को वही देखना चाहिए अतः भगवद्दिव्यधाम साकेत प्राप्ति रूप मुक्तात्मा की पुनरावृत्ति नहीं होती है यह सर्वशास्त्र सम्मत है । सूत्र की आवृत्ति ग्रन्थ समाप्ति सूचक है ॥२२॥

इति जगद्व्यापारवर्जाधिकरणम्

तत्रस्थितस्तदध्यक्षो ब्रह्मविद्याविशारदः ।
श्रीमद्रघुवराचार्योविरक्तः शास्त्रवित्तमः ॥३॥
मातङ्गग्रहनिध्यब्जमिते वैक्रमवत्सरे ।
व्यरोरचदिमां वृत्तिं वेदान्तार्थप्रकाशिकाम् ॥४॥

भारतपश्चिमदिशि यत्र गुणव्रजजनमण्डितः आतिथेयीं वृत्तिं दधद्नानादिगन्तागतसाङ्गवेदाध्ययनशीलबटुभिः श्रीवैष्णवैश्चवृतः सर्वदा संकुलः श्री रामानन्दाचार्यपीठत्वेन विश्वेऽतिप्रसिद्धताङ्गतो मठः छात्रादिनिलय इति शास्त्रचरितार्थकः श्रीशेषमठाभिधोदिव्यः पीठः सञ्चकास्ति । तदध्यक्षः श्रीरामानन्दाचार्यपीठाचार्यः-

यतेन्द्रियः शुचिः शुद्धवेशधृक् सुकुलोद्भवः ।
सदाचारपरोनम्रः शास्त्रज्ञो देशनापटुः ॥
विरक्तधर्मनिरतोध्यानाभ्यासी सुबुद्धिमान् ।
निग्रहेऽनुग्रहेचैव समर्थो देशिकोमतः ॥

इत्यादिरूपेण श्रीवैष्णवमताब्जभास्करे जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यचरणदिव्यादेशनिदर्शनभूतः शास्त्रवित्तमोविरक्तोब्रह्मविद्याविशारदः सर्वश्रियायुक्तो "जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य" इत्युपाधिविभूषित श्रीरघुवराचार्यस्तत्रस्थितोऽस्ति श्रीसम्प्रदायस्योनचत्वारिंशत्तमाचार्यत्वेन वर्तत इत्यर्थः । तेनैव वेदान्तार्थप्रकाशिका श्रीमदाचार्यप्रसादितानन्द-

सारबोधिनी—अन्त में पांच श्लोकों से आचार्यजी अपना स्वल्प परिचय लिखते हुए ग्रन्थ को श्रीरामार्पण करते हैं--भारत वसुन्धरा के पश्चिम भाग में मोक्ष दायी पुरीयों में से एक सर्व सम्पत्ति से विभूषित शृङ्गपुर गाँव का सर्वस्व भूत श्रीविश्राम द्वारका नामक दिव्य धाम है जहाँ आतिथेयी वृत्ति को धारण किये सांग वेदाध्ययन शील नाना देशागत वैष्णव बटुओं से युक्त गुणिजनों से सर्वदा शोभित श्रीशेषमठ नामक दिव्य धाम संशोभित है । उसी श्री रामानन्द पीठ के आचार्य ब्रह्मविद्या विशारद सर्व शास्त्रविद विरक्त शिरो-

अनयाजानकीजानिर्निदानं जगतः परम् ।
वृत्तिकृज्जीवनप्राणः श्रीरामस्तोषमाप्नुयात् ॥५॥

इति श्रीमद्भगवज्जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यान्वयप्रतिष्ठित जगद्गुरु श्रीमदनुभवानन्दाचार्य द्वारकेण प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यदिव्यसिंहासनाधिष्ठितोनचत्वारिंशत्तमाचार्येण ब्रह्मविज्जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीरघुवरीयवृत्तौ (ब्रह्मसूत्रीयवेदान्तवृत्तौ) चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः । श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।

भाष्यार्थप्रकाशनपरा मातङ्गग्रहनिध्यब्ज (१९९४) मिते वैक्रमाब्दे इमां श्रीसम्प्रदायसर्वस्वभूतानखिलपूर्वाचार्यानुगृहीतवेदान्तप्रबन्धार्थप्रकाशनपरां यथार्थनामिकां वृत्तिं व्यरीरचत् । तया च वृत्तिकृज्जीवनप्राणो जगतः परमनिदानं श्रीजानकीजानिः श्रीरामस्तोषमाप्नुयात् । ॥१-५॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यान्वयप्रतिष्ठित श्रीमदनुभवानन्दाचार्यद्वारकमहामहोपाध्यायाद्यनेकोपाधिसमलङ्कृत् जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य विरुदभाग् ब्रह्मवित्स्वामि श्रीरघुवराचार्य वेदान्तकेसरिप्रधानसच्छिष्य प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य प्रधानपीठ शङ्कुधारावारणिस्थानन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यपीठाचार्य जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यरामप्रपन्नाचार्ययोगीन्द्र कृतिसु श्रीरघुवरीयवृत्तिविवरणे तात्पर्यदीपाख्ये चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

॥ श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ॥

मणि महामहोपाध्याय जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रघुवराचार्य वेदान्त केसरी जी ने सर्व पूर्वाचार्य के वेदान्तनिबन्धार्थ को प्रकाशित करने वाली इस श्रीरघुवरीय वृत्ति को विक्रम सम्बत १९९४ में रचना की, इससे वृत्तिकारके (मेरे) जीवन प्राण जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण श्रीजानकी जी के स्वामी श्रीरामचन्द्र जी सन्तुष्ट हों ।

श्रीमद्रामचन्द्रचरणौशरणं प्रपद्ये

इति जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य रामप्रपन्नाचार्य कृपापात्र स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य कृत श्रीरघुवरीय वृत्ति सारबोधिनी में चतुर्थाध्याय का चतुर्थपाद

श्रीरामाय नमोनमः